पौष सं. २००१
जनवरी १९४५

विषयसूची।

१ वीर सैनिकोंका अनूठा बल — १
२ वेद पढनेकी सुविधा — ७
३ अमृतका धागा
संपादक — ३
४ सांख्य दर्शनका सूक्ष्म बल
पं. धारेश्वर — १३
५ चैत्रका वेदांक — २०
६ हम इन सापोंको जानते थे
श्री. रमेश वेदी, — २१
७ सहशिक्षण
पं. देवराजजी — ३३

संपादक
पं. श्रीपाद दामोदर सातवळेकर

सहसंपादक
पं. दयानंद गणेश धारेश्वर, B A
स्वाध्याय-मण्डल, औंध

वार्षिक मूल्य
म. ऑ. से ५) रु.; वी. पी. से ५।≈) रु.
विदेशके लिये १५ शिलिंग।
एक अंकका मू. ॥) रु.

क्रमांक ३०१

सन १९४५ का कैलेंडर

श्री. ना. स. भाव्ये सन १९४५ का कैलेंडर					जानेवारी ऑक्टो-बर	मे	ऑगस्ट	फेब्रुवारी मार्च नोव्हेंबर	जून	सप्टेंबर डिसेंबर	एप्रील जुलई
१	८	१५	२२	२९	सोमवार	मंगल	बुध	गुरु	शुक्र	शनि	रवि
२	९	१६	२३	३०	मंगल-	बुध	गुरु	शुक्र	शनि	रवि	सोम
३	१०	१७	२४	३१	बुधवार	गुरु	शुक्र	शनि	रवि	सोम	मंगल
४	११	१८	२५		गुरुवार	शुक्र	शनि	रवि	सोम	मंगल	बुध
५	१२	१९	२६		शुक्रवार	शनि	रवि	सोम	मंगल	बुध	गुरु
६	१३	२०	२७		शनिवार	रवि	सोम	मंगल	बुध	गुरु	शुक्र
७	१४	२१	२८		रविवार	सोम	मंगल	बुध	गुरु	शुक्र	शनि

क्रमाङ्क ३०१

वर्ष २६ : : : : अङ्क १

पौष संवत् २००१

जनवरी १९४५

सर्वोपरि श्रेष्ठ वीर सैनिकोंका अनूठा बल

मरुतो यद्ध वो बलं जनाँ अचुच्यवीतन । गिरीँरचुच्यवीतन ॥
को वो वर्षिष्ठ आ नरो दिवश्च ग्मश्च धूतयः । यत् सीमन्तं न धूनुथ ॥

(ऋ० १।३७।१२, ६)

" मरनेतक डटकर लडनेवाले, पौरुषके पुंजीभूत ज्वाल हे शूर सैनिको ! तुममें जो बल मौजूद है वह शत्रुदलके लोगोंको अवश्यमेव उनकी जगहसे हटादेता है और अनोखी बात यह है कि राहमें रोडे अटकानेके लिए, तुम्हारी अविरत प्रगतिमें बाधा डालनेके लिये जो पहाडी टीले उठ खडे हों उन्हें भी तुम्हारा बल स्थानच्युत कर डालता है "

" नेता बने वीर मरुतो ! तुम अपने प्रबल पराक्रमसे द्युलोक तथा भूलोक दोनोंको विचलित एवं विकम्पित कर देते हो । तुम जैसे वीर सैनिकोंमें सर्वोपरि शूर भला कौन है ? जो तुम सभी शत्रुको इसी भांति डगमग हिला देते हो और लडखडाते छोड देते हो जैसे कि पवनका प्रबलतम झोंका पेडकी पत्तियोंको बलपूर्वक झकझोरने लगता है। "

वीर सैनिकोंको यह अत्यन्त उचित है कि वे अपने भीतर विद्यमान सामर्थ्य तथा बलको चरम सीमा तक बढाते जायँ। शूर सैनिकोंकी क्षमता तथा बढा चढा बल इतना प्रचण्ड रहे कि उसके सम्मुख किसी भी शत्रुको टिकना नितान्त असंभव हो जाय, रणबाँकुरे सैनिक शत्रुदलको अवश्यमेव पददलित करें तथा शत्रुसैन्य विध्वंसनकी राहमें जो रुकावटें उठखडी हों उन्हें विनष्ट कर दें। यदि वैसा मौका आ जाय तो बडे बडे पहाडोंको भी उखाड फेंक दें; मतलब यही है कि शत्रुदलके दांत खट्टे हो उनके छक्के छूट जायँ। राष्ट्रके वीर नवयुवक ऐसे प्रबल पराक्रमी बनें कि उनके वीररसपूर्ण कृत्योंसे सभी शत्रु थर्रा उठें और दुश्मनोंके हौसले पस्त हो जायँ। उत्साही नवयुवक इतने कर्मण्य हों कि विरोधी दलको आराम लेनेके लिए एक क्षणभरका भी समय न मिले। इस भांति लगातार दुश्मनोंपर हमले चढानेसे उन्हें आमूलचूल उखाड फेंकना सुगम होता है और निस्सन्देह विजयी बननेका यही अमोघ तथा एकमेव साधन है। इसमें सफलता प्राप्त करनेके लिए अपने भीतर विद्यमान हरतरहके सामर्थ्यको बढाते रहना नितान्त आवश्यक है

घर बैठे वेद पढनेकी सुविधा

भारतीय संस्कृति तथा सभ्यताका मूलाधार एवं आदिस्रोत वेद है। सभी स्मृतिग्रन्थोंकी नींव वेदके अतिरिक्त और कुछ नहीं। इसी कारण भारतीय जनताको प्रमुखतया वेदका स्वाध्याय करके वेदके संदेशसे और वैदिक दृष्टिकोणसे भलीभांति परिचित होना अत्यन्त अनिवार्य है। वेदका नित्य स्वाध्याय करते रहें तोही ठीक विदित हो सकता है कि जीवनकी सभी अवस्थाओंमें हमें वेद मन्त्रोंके सन्देशसे क्या लाभ हो सकता है और वर्तमानकी विविध जटिल समस्याओंको किस ढंगसे हल किया जा सकता है एवं सभी तरहकी दुरूह उलझनोंको सुलझाना कैसे सुगमतया सुसंभव है।

आज दिन शिक्षित भारतीय वेदोंसे स्वयं परिचित रहना तो दूर रहा किन्तु भ्रम पूर्ण धारणाएँ बनाये बैठे दीखपडते हैं। इस शोचनीय दशाको सुशीघ्र सुधारना चाहिये। सुशिक्षित भारतवासी ध्यानमें रखें कि अपने धर्म ग्रन्थोंका अध्ययन स्वयं ही करना ठीक है। अपनी सभ्यता, संस्कृति एवं धर्मके बारेमें विदेशी विद्वान् क्या कहते हैं सो पढकर वैदेशिक जनताकी धारणाके आधारपर भारतीय सभ्यता एव धर्मके सिद्धान्तोंके संबंधमें बुरा भला मत निर्धारित करना कदापि वांछनीय नहीं है। सबसे अच्छा उपाय यही है कि संस्कृतिके मूलाधार ग्रन्थोंका अध्ययन करना स्वयं ही शुरु करें, उनमें प्रदर्शित विचारोंका ठीक परिचय प्राप्त करें, यथेष्ट मनन करें और तदुपरान्त उसके संबंधमें जो कुछ भी अपनी राय बने तथा जैसे विचारतरंग अपने अन्तस्तलमें उमडने लगें उन्हे व्यक्त करते रहें।

अपनी सभ्यता एवं संस्कृतिकी नींव बने हुए धर्मग्रन्थों के सम्बन्धमें मनमें निरा आदर रहना उचित है किन्तु उतनाही पर्याप्त नहीं। उन ग्रन्थोंमें प्रतिपादित विषयकी जानकारी प्राप्त करके बोधपूर्वक गौरव एवं आदरके भाव मनमें जागृत रखना अत्यन्त अभीष्ट है। इसलिए, शिक्षा संपन्न भारतीयोंका ध्यान वेदोंके प्रति तीव्रतया आकर्षित करने तथा बडी दिलचस्पीसे उन्हें वेद पढनेमें प्रवृत्त करने के हेतुसे वेद मन्त्रोंके सुबोध संग्रह अनुवाद एवं टिप्पणियोंसमेत प्रकाशित करना उचित है। स्वाध्यायमण्डल इस दिशामें यथाशक्ति प्रयत्न कररहा है और 'वेद-परिचय' तथा 'वेद-प्रवेश' परीक्षाके पुस्तक तैयार करके प्रकाशित किये हैं। इनकी सहायतासे स्थान स्थानमें वेदप्रेमी सज्जन घरबैठे ही प्रतिदिन एक घंटाही क्यों न सही, परन्तु मनोयोगपूर्वक वेदका स्वाध्याय करते हुए न्यूनातिन्यून पांच वर्षोंमें वेद-पारंगत बनकर वैदिक विचारधारामें सानन्द अवगाहन करनेकी क्षमता बढासकते हैं।

'वेद-परिचय' और 'वेद-प्रवेश' के ग्रन्थोंका अध्ययन होनेपर ८०० वेद मन्त्रोंका ज्ञान पाठकोंको हो सकता है। इसके पश्चात् 'वेद-प्राज्ञ' 'वेदविशारद' तथा 'वेद-पारंगत' परीक्षाओंके पुस्तक लिखे जारहे हैं जिनमें लगभग ८००० मन्त्रोंका आशय यथासंभव पाठकोंके सम्मुख खोलने की चेष्टा भरसक की जायगी। इन पुस्तकोंमें मन्त्र, उनके पद, अन्वय, अर्थ, भावार्थ, मानवधर्म, टिप्पणी तथा विस्तृत प्रस्तावना देखनेको मिलेगी।

हमें पूर्ण आशा है कि यद्यपि अबतक वेद बन्द पुस्तक माने जाते थे तथापि आगे चलकर पूर्वोक्त पुस्तकोंके प्रकाशित होनेपर वैदिक विचारधारासे अन्तस्तलको आप्लावित करना असंभव नहीं किंतु अतीव सुगम प्रतीत होने लगेगा। आज इस बातकी बडी आवश्यकता है कि वेद ग्रन्थ निरी श्रद्धाके विषय न बने रहें किन्तु वर्तमानकालीन पेचीदे सवालोंके हल करनेमें भलीभांति पथप्रदर्शक हो जायँ। यदि भारतीय जनता आधुनिक विकट परिस्थितियोंमें वेदका सन्देश जानना चाहे तथा वैदिक विचारके सुप्रकाशसे जीवनयात्राका मार्ग आलोकित करनेकी लालसा रखे तो, अतिश्रद्धाके कारण यूं मानना कि वेदका अर्थ असंभव है, जल्द छोडदे और ध्यानपूर्वक वेदका नित्य स्वाध्याय करना प्रारम्भ करे। इसमें सहायता तथा सुगमता होनेके लिए वेदके सुबोध ग्रन्थ लिखकर प्रकाशित किये जारहे हैं। अब पाठकोंको उचित है कि वे वेदकी अमर वाणी द्वारा जो कहा है उसकी अनुभूति लेने लगें।

द. ग. घारेश्वर

सर्वत्र फैला हुआ अमृतका धागा

सब लोग जानते हैं कि, कपास या ऊनका सूत्र या धागा बनता है, इस सूत्रसे नाना प्रकारके कपडे बनते हैं, उन कपडोंसे नाना प्रकारके कुडते, कमीज, कोट, साफे धोतियाँ, रुमाल, चद्दरें आदि अनेक वस्त्र बनाये जाते हैं, जो सब मनुष्य पहनते हैं। मूल एक कपास या ऊनके सूत्रकाही यह विविध रूप है। इन धागोंको नाना रंगोंमें रंगानेसे उनमें और अधिक विचित्रता उत्पन्न होती है। यह विचित्रता यहांतक बढती है कि एकका कार्य दूसरा कर ही नहीं सकता। साफा कुडतेका और कुडता पाजामेका कार्य कर नहीं सकता। तथापि ये सब वस्त्र एकही कपास या ऊन के धागेके बने होते हैं, इसमें संदेह नहीं है। कपास या ऊन का सूत्र इन सबमें ओतप्रोत भरा रहता है।

कोई मूढही ऐसा कहेगा कि, चूंकि कुडता पाजामेका कार्य नहीं कर सकता इसलिए ये दोनों वस्त्र मूलतः ही भिन्न भिन्न हैं। परन्तु जिसको पता है कि, इन सब विभिन्न वस्त्रोंका मूल एकही कपास है, वह जानता है कि, यद्यपि कुडता, पाजामा और साफा विभिन्न हैं, तथापि उन सबमें कपास रूपी एकही सत् है, उसी एक 'सत्' ने ये विभिन्न रूप धारण कर लिये हैं। और वही उनमें ओतप्रोत हो रहा है।

वेदमें यह विषय अनेक स्थानोंपर सुस्पष्ट हुआ है, उनमें से अथर्ववेद काण्ड २ सूक्त १ का विचार इस लेखमें करना है। पाठक इसका मनन करें और सदेश्य तत्वज्ञान के वैदिक सिद्धान्तको ठीक प्रकारसे जाननेका यत्न करें।

परमधाम

(अथर्ववेद २।१)

[वेनः। ब्रह्म, आत्मा। त्रिष्टुप्, ३ जगती]

वेनस्तत् पश्यत् परमं गुहा यद् यत्र विश्वं भवत्येकरूपम्। इदं पृश्निरदुहज्जायमानाः स्वर्विदो अभ्यनूषत व्राः॥ १ ॥

(वा. य. ३२।८; तै. आ. १०।१।३, महाना २।३)

(वेनः तत् परमं अपश्यत्) ज्ञानी मनुष्यने उस परम तत्वको देख लिया, (यत् गुहा) जो गुप्त है और (यत्र विश्वं एकरूपं भवति) जिसमें संपूर्ण विश्व एकरूप अर्थात् एक स्वरूपवाला होता है। (पृश्निः इदं अदुहत्) नाना वर्णवाली [उसी की निज प्रकृति] ने यह [संपूर्ण विश्व अपनेमेंसे) दुहकर बाहर निकाला है, (जायमानाः स्वर्विदः) उन्नत होनेवाले लोग आत्मतत्वको जानते हुए (व्राः) समूहमें रहकर (अभि अनूषत) विशेष रीतिसे उसीका वर्णन करते हैं।

वा० यजु० में यह मन्त्र निम्नलिखित प्रकार है-

वेनस्तत् पश्यन्निहितं गुहा सद् यत्र विश्वं भवत्येकनीडम्। तस्मिन्निदं सं च वि चैति सर्वं स ओतः प्रोतश्च विभूः प्रजासु ॥ ८ ॥

(वा. य. ३२।८)

(वेनः तत् पश्यत्) ज्ञानी मनुष्यने उसे देख लिया, जो (सत् गुहा निहितं) एक सत् गुप्त रीतिसे सर्वत्र भर रहा है और (यत्र विश्वं एकनीडं भवति) जिसमें सपूर्ण विश्व एक घोसला जैसा होता है, (तस्मिन् इदं सर्वं सं एति च वि एति) उसमें यह सब विश्व मिल जाता है और उससे पृथक् भी होता है, (सः विभूः प्रजासु ओतः प्रोत. च) वह विभू परमात्मा सब प्रजाओंमें ओतप्रोत भरा है।

इस मन्त्रका तैत्तिरीय आरण्यकका पाठ भी अब देखिये-

वेनस्तत् पश्यन् विश्वा भुवनानि विद्वान् यत्र विश्वं भवत्येकनीलम्। यस्मिन्निदं स च वि चैकं स ओतः प्रोतश्च विभु प्रजासु ॥

(तै० आ० १०।१।३; महानारा. १।३)

(विश्वा भुवनानि विद्वान्) सब भुवनोंको जाननेवाला ज्ञानी (यत्र विश्वं एकनीडं भवति) जहां संपूर्ण विश्व एक घोसलेके समान होता है, (तत् वेनः पश्यन्) उस एक सत्को देखता है। (यस्मिन् इदं सं च वि च) जिसमें यह सब विश्व एकरूप होता है और विभक्त

भी होता रहता है, वह (एकं विभु) एक ही व्यापक सत् है और (सः प्रजासु ओतः प्रोतःच) वह प्रभु सब प्रजाओंमें ओतप्रोत हुआ है।

ये तीनों मन्त्र प्रायः एक जैसे ही हैं और जो इनके पाठभेद हैं, वे एक दूसरेके पोषक हैं। देखिये इस मन्त्रमें क्या कहा है-

(१) वेनः तत् परमं अपश्यत्, यत् गुहा। ज्ञानी ही वह परम श्रेष्ठ आत्मतत्त्व जानता है, जो सर्वत्र गुप्त है, अर्थात् जो प्रकट नहीं है। (सत् गुहा निहितं) वह जो एक ही सत् है, वह सर्वत्र गुप्त है। वह छिपा पडा है। (तत् विश्वा भुवनानि विद्वान्) वही एक सब भुवनोंके रूपमें है ऐसा ज्ञानी जानता है, अर्थात् अज्ञानी ऐसा नहीं जानता। अज्ञानी मानता है कि ये सब भुवन उससे पृथक् हैं, परन्तु ज्ञानीही जानता है कि, वही एक सत् इन सब भुवनोंके रूपोंमें, स्वयं अव्यक्त और गुप्त होता हुआ, सब भुवनोंके रूपोंमें प्रकट और व्यक्त होता है। यह कैसा है इसका स्पष्टीकरण आगे देखिए-

(२) यत्र विश्वं एकरूपं भवति। यत्र विश्वं एकनीडं भवति। जिस एक सत्में यह सब विश्व एक रूप हो जाता है, जिसमें यह विश्व एक छोटेसे घोंसलेके समान होता है। विश्वमें तो विविध रूप हैं, विभिन्न आकार हैं, अनंत शकलें हैं, नाना प्रकारकी आकृतियाँ हैं। परंतु उस एक सत्में यह सब विविधता नष्ट होकर वहां इस समूचे विश्वकी एकरूपता हो जाती है।

इसके लिए एक उदाहरण लेना चाहिए सुवर्णके अनेक आभूषण बनाये हैं। इन आभूषणोंके नाना प्रकारके रूप और आकृतियां हैं। ये आकृतियाँ और रूप विविध होते हुए भी 'सुवर्ण' की दृष्टीसे वे एकरूप ही हैं। मिट्टीके अनेक बर्तन बने हैं, इनके विविध आकार हैं। वे विविध आकार रखते हुए भी ' मिट्टी ' के रूपमें वे सब आकार एकरूप होजाते हैं। इसी तरह एक सत् तत्वके ये सब विविधरूप होकर यह विश्व बना है। विश्वके ये नाना रूप रहते हुए भी ' सत् ' रूपसे यह सब विश्व एकरूप ही है। मिश्रीके अनेक खिलोने बनाये, तो उनके विविध आकार रहते हुए भी मिश्रीके एक ही रूपमें वे विलीन रहते हैं।

यहां स्मरण रहे कि जो विश्व इस समय दीख रहा है, वह वैसा का वैसाही सद्रूप है। जैसे मिश्रीके खिलोने मिश्रीके रूपमें विलीन रहते हैं। जैसे विश्व है वैसा का वैसा ही सत् के रूपमें विलीन है। कई लोग समझते हैं कि प्रलयमें ही यह विश्व सद्रूपमें विलीन होता है और जगत् की अवस्थामें विलीन नहीं रहता। ऐसा समझना बडी भारी भूल है। जिस तरह लकडीके मेज कुर्सी अलमारी आदि पदार्थ लकडीके रूपमें सदा विलीन रहतेही हैं आकारोंके टूटनेकी जरूरत नहीं, इसी तरह यह विश्व उस सत्में सदा विलीन ही है।

(३) यस्मिन् इदं सर्वं सं च वि च एति।

यस्मिन् इदं एकं विभु सं च वि च ॥=जिसमें यह सब विश्व मिल भी जाता है, और व्यक्त भी होता रहता है। जिसमें यह एक विभु तत्व एक रूप भी होता है और विविधरूप भी होता रहता है। इसके समझनेके लिए ऊपरके ही उदाहरण देखिये। सब बर्तन ' मिट्टी ' के एक रूपमें (सं) मिले भी रहते हैं और (वि) विविध आकारोंकी शकलोंमें प्रकट भी रहते हैं। कपासके या सूतके रूपमें सब कपडे एक रूप हुए भी सदा रहते हैं और विविध आकारोंमें विविधता पाये भी रहते हैं। एकता पानेके लिए विविधता हटायी नहीं जाती। क्योंकि एक सूतके रूपसे सब विश्व एक रूप है ही; परन्तु विविध वस्तु ओंकी दृष्टीसे उसमें विविधता है। विविधता और एक रूपता एक साथ ही है। एक रूपमें विविधता और विविधता में एकरूपता है। पाठक उदाहरणोंको देखकर इस मन्त्रके ज्ञानको समझनेका यत्न करें। विविधता मिटानेके लिये विश्वरूपकी शकलोंको तोडनेकी जरूरत नहीं है। सुवर्णकी दृष्टीसे सब आभूषण एकरूप ही हैं, परन्तु सुवर्ण की दृष्टीसे वे एकरूप होते हुए भी आभूषणोंकी दृष्टीसे उनमें विविधता है। (इदं एकं विभु सं वि च) यह एक ही विभु सत्तत्व एकरूपभी है और विविधरूप भी है। इसका आशय उक्त प्रकार समझना चाहिये। यही बात शेष मन्त्र भागमें वेद ही समझा देता है।

(४) स विभुः प्रजासु ओतःप्रोतःच=वह सर्व व्यापक प्रभु सब प्रजाओंमें ओतप्रोत हुआ है। यहां 'प्रजा' पद सब स्थिरचर संसारका बोधक लेना चाहिये, क्योंकि पूर्वापर सम्बन्ध वैसा स्पष्ट दीखता है अर्थात् सब विश्वमें वह प्रभु

ओतप्रोत भरा है। कपडेमें जो लंबाईके लंबे धागे होते हैं उनका नाम ' ओत ' है और चौडाईके जो छोटे धागे होते हैं उनका नाम ' प्रोत ' है। ' सः विभूः ओतः प्रोतः च ' वह परमात्मा ओतप्रोत है, इसका स्पष्ट अर्थ यही है कि परमात्माही स्वयं कपाससे सूत्र बननेके समान सूत्रात्मा बना है और इस विश्वरूपी कपडेमें लंबाईके और चौडाईके धागोंके समान वह इस संसारमें ओत प्रोत भरा है।

कपासका या ऊनका सूत्र कपडेमें ओतप्रोत भरा है इसका अर्थ यही होता है कि सूतका ही वह कपडा बना है। इसीतरह वह विभू परमात्मा इस संसारमें ओतप्रोत भरा है इसका यही अर्थ है कि उसी परमात्मा रूपी धागेसे यह संसारका वस्त्र बना है। कपडेमें जैसा सूत्रके विना दूसरा कुछभी और पदार्थ नहीं होता, ठीक इस तरह इस संसारमें भी परमात्माके सूत्रको छोडकर दूसरा कोई पदार्थ नहीं है, अतः अकेले परमात्माका ही यह संसार बना है। अथवा यूं कहो कि परमात्माही संसार रूप होकर हमारे सम्मुख खडा है, अथवा जो सामने दीखता है अथवा सामने है वह सब परमात्मा ही परमात्मा है। दूसरा कुछ भी यहां नहीं है।

सदैक्यवादका तत्त्व समझनेके लिए यह 'ओतः प्रोतः च विभूः' ये पद अत्यंत उपयोगी हैं। पाठक इन पदोंका अत्यंत विचार करें और इस तत्त्वको समझ लें।

(५) पृश्निः इदं अदुहत् पृश्नि अर्थात् चितकबरी विविधरंगरूपोंवाली गौ इस विश्वरूपी दूधको दूह देती है। यहांका ' पृश्नि ' पद अनेक रंगोंवाली वस्तुका बोधक है। निःसंदेह यह प्रकृति ही है। परन्तु ईश्वरसे यह भिन्न वस्तु नहीं है। यह ईश्वरकी ही प्रकृति है। यदि ऐसा न माना जाय, तो (१) यह विश्व उस ईश्वरमें एकरूप होता है, (२) वह व्यापक प्रभु इस विश्वमें ओतप्रोत भरा है आदि वर्णन असंगत हो जाता है, विशेषतः परमेश्वरका इस विश्वमें ओतप्रोत होना इसी बातकी सिद्धि कर रहा है कि परमेश्वररूप एक ही सद्वस्तुका यह विश्व बना है, जिस तरह कपासके सूत्रसे कपडा बनता है। कपासमें सूत्र बनने और कपडा बननेकी शक्ति है। इस शक्तिका नाम ही प्रकृति है। ' प्र-कृति ' का अर्थ ' विशेष कृति करनेकी शक्ति ' है। परमेश्वर नामक एक ही सद्वस्तुमें वह अतुलनीय प्रचण्ड निजशक्ति है, जिससे यह विश्व बनता है। अभिन्न-निमित्त-उपादान-कारण इसका नाम है। निमित्त और उपादान कारण यहां विभिन्न नहीं है। एक ईश्वर विश्वका उपादान कारण भी है और निमित्त कारण भी है। इस तरह प्रकृति और प्रकृतिसे विश्वका निर्माण-कर्ता एकही ईश्वर है। परमेश्वर इस विश्वका निर्माण करता है वह अपनी ही निज प्रकृतिसे विश्व उत्पन्न करता है। अपनी प्रकृतिसे अर्थात् अपनी विशेष कार्य करनेकी निजशक्तिसे वह विश्वकी उत्पत्ति करता है। अपनी शक्ति अपनेसे विभिन्न नहीं होती। प्रकृति तो शक्ति है, शक्ति गुण है, वह गुणी ईश्वरसे कदापि पृथक् नहीं है। गुण और गुणी एक ही है। इस तरह एकता माननेसे ही १. तत्र विश्वं एकरूपं भवति, उसमें सब विश्व एक रूप होता है, और (२) सः विभूः ओतः प्रोतः च, वह विभु ईश्वर सबमें ओतप्रोत है इन मन्त्रभागोंकी संगति ठीक तरह लग सकती है। यदि वह सबमें ओतप्रोत है, तब तो सब विश्व उसीका बना है। इसी कारण सब विश्व उसमें एकरूप होता है।

सूत्र कपडेमें, कपास सूत्रमें, मिट्टी घडोंमें ओतप्रोत होती है क्योंकि उसी पदार्थके ये बने हैं। इसी तरह ईश्वरके ही यह सारा विश्व बना है और वह ईश्वरके द्वारा बना है इसीलिये इसमें ईश्वर ओतप्रोत है। ओतप्रोत ये पद कपडोंमें धागोंको ही लगते हैं। विश्वमें जो ईश्वरकी सर्व व्यापकता है वह कपडेमें सूत्र और सूत्रमें कपास जैसी है। घडेमें पानी जैसी अथवा लोहेमें उष्णताके समान नहीं है। यही विशेष सूक्ष्म रीतिसे समझनेकी बात है। जिस समय सब ईश्वरकी सर्वव्यापकताका पता ठीक तरह लगेगा, उस समय सब शंकाएं दूर होंगी और परमेश्वरही विश्वरूप है इसका पता लग जायगा।

पृश्निने अपनेमेंसे विश्वरूपी दूध निकाला है। यह अपने मेंसे निकाला है। पृश्नि परमेश्वर शक्ति है, वही शक्ति विश्वका निर्माण करती है। शक्तिमान और शक्ति दो वस्तु नहीं होती, एक ही वस्तु होती है। इसका तात्पर्य यही है कि शक्तिमान् परमेश्वर अपनी शक्तिसे अपनेमेंसे इस विश्वका सृजन करता है और इसमें वह ओतप्रोत भरा

रहता है जैसे कपडेमें धागा भरा रहता है।

यदि कपडेमेंसे धागा सबका सब निकाल लें, तो कपडा वहां नहीं रहेगा, इसी तरह विश्वमेंसे ईश्वरको पृथक् कर दें, तो विश्व नामकी कोई वस्तु वहां रहेगी नहीं। क्योंकि ईश्वरका ही रूप यह विश्व है। जिसका जो रूप होगा वह उसके पृथक् होनेसे नहीं रहेगा। अतः ईश्वरको हटा दिया तो विश्वरूप भी नहीं रहेगा।

इससे विश्व ही ईश्वरका रूप है यह बात सिद्ध हुई और जो लोग विश्वको ईश्वरसे सर्वथा पृथक् मानते हैं, वह उनका भ्रम या अज्ञान है, यह भी सिद्ध हुआ तथा ईश्वर और उसकी कृति अथवा प्रकृति उससे पृथक् नहीं है, तथा प्रकृति पुरुष मिलकर ही ईश्वर है, यह सब इससे सिद्ध हुआ है।

(६) जायमानाः व्राः स्वर्विदः अभ्यनूषत=उस से उत्पन्न होनेवाले समूहमें रहनेवाले मनुष्य इस आत्मतत्व को जानकर ही उसका ठीक ठीक वर्णन करते हैं। संघमें रह कर उस प्रभुका वर्णन करते हैं अथवा वही सब कुछ होनेसे जो भी वर्णन ज्ञानीजन करते हैं, वह प्रभुका ही वर्णन होता है। इसमें ' व्राः ' पद है, यह समूहका वाचक है। " व्राः अभ्यनूषत "=सामुदायिक उपासना करते हैं, समुदायमें प्रभुकी उपासना करते हैं। अकेले उपासना नहीं करते, किन्तु समुदायमें इकट्ठे होकर ही प्रभुके गुणगान गाते हैं।

सब मानव समाज प्रभुकाही रूप है, इसलिये सब को मिलकर ही उपासना करना योग्य है। गायत्री मन्त्र उपासनाका उत्तम मंत्र है, इसमें 'धीमहि' हम सब मिलकर ध्यान करते हैं, ऐसा सामुदायिक-उपासनाका सूचक पद ही है। ' यः नः धियः प्रचोदयात्=जो प्रभु हम सब की बुद्धियोंको प्रेरित करता है, या प्रेरित करे, यहां भी सबकी बुद्धियोंको प्रेरणा है न कि किसी एककी। इस तरह यह गायत्री मन्त्र सामुदायिक उपासनाका सूचक है।

इस मन्त्रमें ' व्राः ' पद समुदायका ही वाचक है, अतः यह पद मानवोंके सामुदायिक जीवन की सूचना देता है।

समानं योनिं अभ्यनूषत व्राः (ऋ. १०।१२३।१)

एक ही मूल कारणका वर्णन सब लोग मिलकर करते हैं। यह ऋग्वेदका पाठ है।

तज्जानतीः अभ्यनूषत व्राः (ऋ. ४।१।१६)

उसको जाननेवाली प्रजा उसके तत्वका वर्णन करती है इस तरह ऋग्वेदमें मन्त्र भाग हैं।

इस मन्त्रका पिप्पलाद संहिताका पाठ अब देखिये-

वेनास्तत् पश्यन्त परमं पदं यत्र विश्वं भवत्येकनीडम्। इदं धेनुरदुहज्जायमानाः स्वर्विदो अभ्यनूषत व्रा ॥ (अथर्व पिप्पलाद सं. २।६।१)

(वेना. पश्यन्त तत् परमं पदं) अनेक विद्वान् उस परम पदको देखते हैं जिसमें संपूर्ण विश्व एक घोसलेके समान होता है। (धेनुः इदं अदुहत्) गौने दुहकर यह विश्व उत्पन्न किया, इससे उत्पन्न होनेवाले आत्मज्ञानी समूहोंमें रहकर इसकी स्तुति प्रार्थना उपासना करते हैं।

इसका अर्थ प्रायः समान ही है। परन्तु यहां ' वेन' पद बहुवचनमें है। पृश्निके स्थानपर धेनु पद है। इसी तरह ' गुहा ' के स्थानपर ' पद ' है। शेष समान है। इस मन्त्रने और इस मन्त्रके पाठभेदोंने निम्नलिखित सिद्धान्त कहे हैं-

(अ) एक सत् है वह गुप्त है, छिपा है, व्यक्त नहीं है

(आ) सब विश्व इसी सत्में एकरूप होकर रहता है अर्थात् वह सत् ही यह विश्व बना है,

(इ) सब विश्व मिलकर एक ही घर है, यहां दूसरा कोई नहीं है,

(ई) इसी एक सत्में सब विश्व एकरूप भी है और विविध रूपभी है अर्थात् विविधरूप रहता हुआ ही वह विश्व सद्रूप भी है

(उ) वह प्रभु भी इस विश्वमें ओतप्रोत भरा है, जैसे कपडेमें सूत्र।

(ऊ) ईश्वरी शक्ति ईश्वरसे इस विश्वका सृजन करती है।

(ऋ) आत्मज्ञानी विद्वान् सब मिलकर उसीकी उपासना करते हैं अब द्वितीय मन्त्र देखिये-

प्र तद् वोचेदमृतस्य विद्वान् गन्धर्वो धाम परमं गुहा यत्। त्रीणि पदानि निहिता गुहास्य

यस्तानि वेद स पितुष्पितासत् ॥ १ ॥
(पिप्प० २।६।२; य० वा० सं० ३२-९; तै. आ. १०-१-३. महाना० १-४)

(अमृतस्य विद्वान्) अमृततत्त्वरूपी आत्मतत्त्वको जानने वाला और (गन्-धर्वः) ज्ञानमयी वाणीका धारण करने वाला ज्ञाता, (यत् परमं धाम गुहा) जो परम आत्मरूप स्थान गुप्त है, (तत् प्र वोचेत्) उसके विषयमें प्रवचन करे। (अस्य त्रीणि पदानि गुहा निहिता) इसके तीन पद गुप्त रखे हैं [और एकही पद विश्वरूपमें प्रकट है], (य तानि वेद) जो उन्हें जानता है, (सः पितुः पिता असत्) वह पिताका पिता अर्थात् ज्ञाताका भी गुरु होता है।

प्र तद् वोचेदमृतं नु विद्वान् गन्धर्वो धाम परमं गुहा सत्। वा० य० ३२-९

प्र तद् वोचे अमृतं नु विद्वान् गन्धर्वो नाम निहितं गुहासु ॥ त्रीणि पदा निहिता गुहासु यस्तद्वेद सवितुः पितासत् ॥

महानारा. १-४ तै० आ० १०-१-३

(७) अमृतस्य विद्वान् गन्धर्वः, यत् परमं धाम गुहा, तत् प्र वोचेत्। अमर आत्माका ज्ञान प्राप्त कर ज्ञानी वक्ता ही, उस गुप्त परम धामका प्रवचन करे। अर्थात् दूसरा कोई उसका व्याख्यान कर नहीं सकता। एकही आत्मा है और वह अमर है, वह सर्वत्र गुप्त है, उसका स्थान सर्व श्रेष्ठ है, वह सबमें ओतप्रोत भरा है, जैसे कपडेमें धागा होता है उसीतरह वह सबमें है, सब विश्व इसीमें मिलाभी है और पृथक् विविधरूप भी होता है, इत्यादि पूर्व मंत्रमें कहा तत्त्व ज्ञान यथावत् जानना और उसका प्रवचन यथावत् करना यह विशेष विज्ञानी ही कर सकता है।

(८) अस्य त्रीणि पदा गुहा निहितानि इसके तीन भाग गुप्त हैं और केवल इसका चौथा भाग ही इस विश्वके रूपमें प्रकट होता है। पुरुषसूक्तमें ऐसा ही कहा है-

पादोऽस्य विश्वा भूतानि त्रिपादस्यामृतं दिवि ॥
काण्व. ३५।४ ; अथर्व. १९।४।२ ; तै. आ. ३-१२-२
ऋ. १०.९०.३ ; वा. य. ३१-४

'इसका एक भाग ये सब भूत हैं और इसके तीन भाग द्युलोकमें अमर हैं।' यही आशय इस मन्त्र-भागने यहां बताया है। यहां एक भाग और तीन भाग ये उपलक्षणात्मक वर्णन हैं। यह विश्व अति अल्पभागसे हुआ है और शेष भाग बडाही विशाल है, सबका सब प्रभु विश्वरूप बना नहीं है, इतना बतानेके लिए ही यह वर्णन हुआ है।

त्रीणि पदा गुहा निहितानि। अथर्व. २।१।२
त्रिपादस्यामृत दिवि। ऋ. १०।९०।४

दो मंत्र कितने समान तत्त्वज्ञानका वर्णन करते हैं यह देखने योग्य है। द्युलोकमें अमर तीन भाग हैं और तीन भाग गुप्त हैं, इन दोनोंका आशय एक ही है।

(९) यः तानि वेद स पितुः पिता असत्। जो उन तीन भागोंको जानता है, अर्थात् विश्वरूप बने इस चौथे भागको भी जो जानता है, वह पिताका पिता अर्थात् अति विशेष ज्ञानी होता है। पिता ज्ञानी होता है, पिता गुरुको भी कहते हैं। पिताका पिता ज्ञानीका ज्ञानी ही है। इस ज्ञानका इतना महत्व है। अतः सबको यह ज्ञान प्राप्त करना चाहिये।

अब अगला मन्त्र देखिये—

स नः पिता जनिता स उत बन्धुर्धामानि वेद भुवनानि विश्वा। यो देवानां नामध एक एव तं संप्रश्नं भुवना यन्ति सर्वा ॥ ३ ॥

(पाठभेदेन वा. य. ३२-१०; तै. आ. १०-१-४, महाना. ४. काठक १८.१; ऋ.१०.८२.३; वा. य. १७.२७, तै. सं. ४.६.२ १ मै. २.१०.३६

(सः नः पिता) वह हमारा पिता है, हमारा रक्षक वही है, वही (जनिता) हमारा जनक है, (उत सः बन्धुः) और वही हमारा भाई भी है। वही (विश्वा भुवनानि धामानि वेद) सब भुवनों और स्थानोंको जानता है। (यः देवानां नामधः) जो सब देवोंके नामोंको धारण करता है अर्थात् इन्द्रादि देवोंके सब नाम इसीके गुण बोधक नाम होते हैं, वह (एकः एव) एकही देव है। (तं संप्रश्नं) उस उत्तम रीतिसे पूछने योग्य अर्थात् वर्णन

करने योग्य देवके प्रति (सर्वा भुवना यन्ति) सब भुवन पहुँचते हैं, उसीको प्राप्त करते हैं, सब भुवन उसीका गुणगान करते हैं।

इस मंत्रके पाठ अन्यान्य संहिताओंमें ऐसे हैं-

स नो बन्धुर्जनिता स विधाता धामानि वेद भुवनानि विश्वा । यत्र देवा अमृतमानशाना-स्तृतीये धामन्नध्यैरयन्त ॥

काण्व ३५-२९, वा य. ३२.१० महाना. ४ तै. आ. १०-१-४

यो नः पिता जनिता यो विधाता धामानि वेद भुवनानि विश्वा । यो देवानां नामध एक एव तं संप्रश्नं भुवना यन्त्यन्या ॥

ऋ. १०।८२।३, वा. य. १७।२७; काण्व. १८।२७

यो नः पिता जनिता यो विधर्ता यो नः सतो अभ्या सज्जजान । यो देवानां नामध एक एव तं संप्रश्नं भुवना यन्त्यन्या ॥ मै. सं. २।१०।२६

यो नः पिता जनिता यो विधाता यो नः सतो अभ्या सन्निनाय । यो देवानां नामधा एको अस्ति तं संप्रश्नं भुवना यन्त्यन्या॥ काठक. १८।१५

ये पाठ-भेद अर्थकी दृष्टिसे बडे उपकारक हैं, अतः इनका भाव अब देखिये— (सः, य , नः पिता, जनिता बन्धुः) वह प्रभु हम सबका रक्षक, जनक और भाई है, (स: विधाता, विधर्ता) वह इस सबका निर्माणकर्ता है और धारणकर्ता भी है । (सः विश्वा भुवनानि धामानि वेद) वह प्रभु सब भुवनों और स्थानोंको जानता है अर्थात् वह सर्वज्ञ है । जो भी उत्पन्न हुआ है वह 'भुवन' कहलाता है, उन सबको वह जानता है । (यः नः सतः सत् अभि आ जजान, अभि आ निनाय) जो प्रभु हम सबके लिये सत्से सत्को सब प्रकार उत्पन्न करता है तथा सभी प्रकारसे हमारे लिये पास ले आता है । (यः देवानां नामधः, एक एव, अस्ति) जो सब देवोंके नाम धारण करता हुए अकेलाही एक है, तथा (यत्र अमृतं आनशाना. देवाः) जिसमें अमृतको प्राप्त करते हुए सब देव (तृतीये धामन् अधि ऐरयन्त) तृतीय स्थानमें रहे हैं । (तं संप्रश्नं अन्या भुवना यन्ति) उस अच्छीतरह वर्णन करने योग्य प्रभुके पास सर्व भुवन पहुंचते हैं ।

(१०) सः नः जनिता, पिता, बन्धुः विधाता, विधर्ता=वह प्रभु हम सबका जनक, पिता, रक्षक, और भाई, निर्माता और धारणकर्ता है । इस तरह अन्यत्र भी कहा है ' आदिति माता, स पिता, स पुत्रः.. अदितिः पञ्चजनाः आदितिर्जातमदितिर्जनित्वं । (ऋ. १।८९।१०) अदिति ही माता, पिता, पुत्र, सब पांचों प्रकारके लोग, तथा भूत, भविष्यके सभी पदार्थ हैं । अर्थात् अखण्डित प्रभु ही सब कुछ है । इससे स्पष्ट है कि जनक, पिता, पुत्र, भाई, आदि सभी संबंधीजन तथा सब जनता, सब लोग भी वही है । कोई मनुष्य हो अथवा कोई संबंधी हो, वह प्रभुका ही रूप है । माता पिताको तो देवता मानना ही चाहिये। 'मातृदेवो भव, पितृदेवो भव, आचार्यदेवो भव, अतिथि देवो भव' इत्यादि आदेश इसी मन्त्रानुसार दिये गये हैं । ' भूदेव ' ज्ञानदेव ब्राह्मण हैं, ' क्षत्रदेव ' राजपुरुष हैं, ' धनदेव ' वैश्य हैं ' कर्मदेव ' शूद्र हैं और ' वनदेव ' निषाद हैं, पूर्वोक्त स्थानमें पञ्चजनोंको प्रभुका रूप बताया है तदनुरोधसे इस तरह पांचों प्रकारके लोग प्रभुके स्वरूप हुए हैं । घरमें माता, पिता, भाई, बहिन, पुत्र आदि भी देव हैं । इस तरह घरमें और राष्ट्रमें ये देव हैं । इससे पता लग सकता है कि इन सबसे हमारा बर्ताव कैसा होना चाहिए । प्रभुके साथ जितने उत्तम सम्मानसे बर्ताव किया जाना योग्य है, उतने ही आदरसे इनके साथ बर्ताव करना चाहिए । जिस दिन एक मनुष्य दूसरे मानवके साथ ऐसा परम आदरयुक्त बर्ताव करने लगेगा, उसी दिन यह मंत्र मनुष्योंके समक्षमें आया और आचरणमें आया ऐसा समझना योग्य है । तब तक ये मंत्र केवल पाठमें ही रहेंगे। वेद चाहता तो यह है कि मनुष्यका मनुष्यके साथ बर्ताव ऐसा परम आदरसे हो जैसा मनुष्यका प्रभुके साथ होना संभव है । वह प्रभु ही माता, पिता, बंधु, मित्र, पडौसी, नागरिक और सारी जनता है। यह वेदका उपदेश आचरणमें लानेके लिए ही है । और आचरणमें लानेका अर्थ यही है कि इनके साथ प्रभुके साथ जैसा बर्ताव करना चाहिए, वैसा ही किया जावे, अर्थात् सब प्रकारके छल कपट आचरणसे दूर होने चाहिएं और सरल तथा आदर पूर्वक आचरण होना चाहिए।

' विधाता ' का अर्थ ' निर्माण करनेवाला, उत्पन्न करनेवाला ' है और ' विधर्ता ' का अर्थ ' धारण करनेवाला ' है।

(११) सः विश्वा भुवनानि धामानि वेद= वह सब भुवनों और स्थानोंको जानता है। वह सबका निर्माता और धारण-कर्ता है, इसीलिए सबको यथावत् जाननेवालाभी वही है। उसको अज्ञात ऐसा कुछभी नहीं है। वह मातृवत् सबपर प्रेम करता है, पितृवत् सबका पालन करता है, बन्धुवत् सबकी सहायता करता है, पुत्रवत् सबके साथ रहता है, ये सब गुण प्रभुमें विद्यमान हैं। अतः सब प्रकारके नातेसे वह सबके साथ यथायोग्य बर्ताव करता है। अतः सबको यथावत् वह जानता है। कोई उसको धोखा नहीं दे सकता। यह जानकर सबको अपने आचारका सुधार करना योग्य है।

(१२) यः देवानां नामधः, नामधा, एक एव अस्ति=वह सब देवताओंके नाम लेता है, अर्थात् सब देवोंके नाम इसी प्रभुके नाम होते हैं, ऐसा यह प्रभु एक ही है। अग्नि, वायु, जल, सूर्य, चन्द्र, इंद्र आदि जितनेभी देवताओंके नाम हैं वे सबके सब नाम इसीके नाम हैं, क्योंकि उन नामोंसे जिन गुणोंका वर्णन होता है, वे सब गुण इसीमें हैं। ' एकं सत् विप्रा बहुधा वदन्ति अग्निं यमं मातरिश्वानं आहुः ' (ऋ. १।१६४।४६) वह एक ही सत् वस्तु है, उसीका ज्ञानी जन अग्नि, यम, मातरिश्वा आदि अनेक प्रकारसे वर्णन करते हैं। इस मंत्रमें जो कहा है, वही उक्त मंत्रभागमें कहा है। उसी एकके अनेक नाम हैं। वेदमें जितनी भी देवताएं हैं, उन सब देवताओंके नाम इसीके नाम हैं। यदि यह बात समझमें आगयी तो 'सर्वे वेदा यत् पदं आमनन्ति। (कठउ२।१२।१५) सब वेद उस एक पदका ही वर्णन करते हैं, तथा ' वेदैश्च सर्वैरहं एव वेद्यः।' (गीता१५.१५.) सब वेदों द्वारा प्रभु का ही वर्णन हो रहा है, इनका भाव समझमें आजायगा। यदि सब देवोंके नाम एकही प्रभुके नाम हैं, तब तो यह बात सत्यही है कि सभी वेदमंत्र उसी प्रभुका वर्णन कर रहे हैं। वेदमें केवल प्रभुकाही वर्णन है यह बात यहां इस तरह सिद्ध हुई।

(१३) तं संप्रश्नं अन्या भुवना यन्ति=उस सम्यक् रीतिसे वर्णन करने योग्य प्रभुके पास सब अन्य भुवन पहुंचते हैं, अर्थात् उसीको प्राप्त होते हैं अथवा उसीको सदा प्राप्त हैं। ' सं प्रश्न ' जिसके विषयमें प्रश्न पूछे जाते हैं, वह ' प्रश्न ' है और जिसके विषयमें सबके द्वारा मिलकर और बडे आदरसे प्रश्न पूछे जाते हैं वह ' संप्रश्न ' है। प्रभु ऐसा है, क्योंकि वही अद्भुत और बडा सामर्थ्यवान् है। गीतामें इसीके विषयमें कहा है-

> आश्चर्यवत् पश्यति कश्चिदेनं, आश्चर्यवद्वदति तथैव चान्यः। आश्चर्यवच्चैवमन्यः शृणोति, श्रुत्वाऽप्येन वेद न चैव कश्चित्॥
>
> भ० गी० २।२९

' कोई इसको आश्चर्ययुक्त जैसा देखता है, दूसरा कोई आश्चर्ययुक्त जैसा इसका वर्णन करता है, तीसरा कोई आश्चर्ययुक्त होकर इसका वर्णन सुनता है, कोई सुनकर भी इसको यथावत् नहीं जानता। ' यही भाव ' तं संप्रश्नं ' पदमें है। सभी आश्चर्य और सभी अद्भुतता प्रभुमें है। वह आश्चर्यमय है।

(१४) यत्र तृतीये धामन्, अमृतमानशाना देवाः, अध्यैरयन्त=जहां तृतीय धाममें, जहां स्वर्गधाममें, अमरताका उपभोग करते हुए देव रहते हैं, वही प्रभुका स्वर्गस्थान है। भूमि, अन्तरिक्ष और द्यौ ये तीन धाम हैं; और द्युलोकमें सब देव अमृतका अनुभव करते हुए रहते हैं। भूलोकमें मृत्युका अनुभव है, यहां मृत्यु अर्थात् परिवर्तन होता रहता है। स्वर्गमें एकही साम्यावस्था है, वह अपरिवर्तनीय अवस्था है, अतः वह सुखमय स्थिति है। भूलोक प्रथम धाम है, अन्तरिक्षलोक द्वितीय धाम है और द्युलोक तृतीय धाम है। तीन पाद ऐसा भी इनका वर्णन वेदमें है।

> इदं विष्णुर्वि चक्रमे त्रेधा नि दधे पदम्।
> समूळहमस्य पांसुरे ॥ १७ ॥
> त्रीणि पदा वि चक्रमे विष्णुर्गोपा अदाभ्यः ॥१८॥
> तद्विष्णोः परमं पदं सदा पश्यन्ति सूरयः।
> दिवीव चक्षुराततम् ॥२०॥ (ऋ० १।२२।१७,१८,२०)

' इस विष्णुने तीन स्थानोंपर अपने तीन पांव रखे हैं, उनमें बीचका पांव गुप्त- न दीखनेवाला- है। न दबने

वाला संरक्षक विष्णु ये तीन पांव रखता है। विष्णुका वह परम-पद सदा ज्ञानी ही द्युलोकमें सूर्यके समान देखते हैं।

यहां भूमिपर एक, अन्तरिक्षमें दूसरा और द्युलोकमें तीसरा ऐसे तीन पांव विष्णुने रखे हैं ऐसा कहा है। द्युलोक का पाँव परम पद कहलाता है। अन्तरिक्षमें जो इसका पांव है वह गुप्त है। इससे 'तृतीय धाम' द्युलोक है यह बात स्पष्ट हो जायगी। वहीं सब देव अमरपनका अनुभव करते हैं, अमर जीवनका अनुभव यहीं होता है। मनुष्य भी सुकृतविशेषसे यहां अमर जीवनका लाभ करता है। अब चतुर्थ मन्त्र देखिये—

परि द्यावा पृथिवी सद्य आयमुपातिष्ठे प्रथमजामृतस्य। वाचमिव वक्तरि भुवनेष्ठा धास्युरेष नन्वेषो अग्निः ॥ ४॥

(द्यावा- पृथिवी सद्यः परि आयम्) द्युलोकसे पृथिवी लोक तकका सब विश्व तत्कालही सब ओरसे मैं घूम आया हूं। और अब मैं (ऋतस्य प्रथमजां उपातिष्ठे) ऋतके पहिले प्रवर्तकके पास ठहरा हूं। (वक्तरि वाचं इव) जैसी वक्तामें वाणी रहती है, इस तरह वह आत्मा (भुवने-स्थाः) इस विश्वमें है, (एषः धास्युः) यही सबका पोषण-कर्ता है, और (ननु अग्निः एषः) निश्चयसे अग्नि भी यही है। इस मंत्रके पाठभेद ये हैं—

परि द्यावापृथिवी सद्य इत्वा परि लोकान् परि दिशः परि स्व। ऋतस्य तन्तुं विततं विचृत्य तदपश्यत् तदभवत् तदासीत् ॥

वा० य० ३२।१२; काण्व ३५।९

(द्यावा पृथिवी सद्यः इत्वा) द्युलोक और पृथ्वीपरसे तत्काल भ्रमण करके तथा (लोकान् दिशः स्वः परि इत्वा) सब लोकलोकान्तरों सब दिशाओं तथा प्रकाशलोकोंके चारों ओर निरीक्षण करके, (ऋतस्य तन्तुं विततं विचृत्य) सत्य के धागेको उस सूत्रात्माको ही, सर्वत्र फैला हुआ देखकर, उस देखनेवालेने (तत् अपश्यत्) उस आत्माको देख लिया, तब (तत् अभवत्) वह वही आत्मा बन गया, क्योंकि (तत् आसीत्) पहिले वह आत्मारूपही था। जब साधकने सर्वत्र सूक्ष्म निरीक्षण किया, तब उसको सर्वत्र एक ही आत्मा सूत्ररूपसे सब विश्वरूपी कपडेमें फैला है ऐसा प्रतीत हुआ तब उसने उस आत्माको सर्वत्र अनुभव किया और वैसा अनुभव करते हुए वह स्वयं आत्मारूप ही बन गया।

(१५) द्यावा-पृथिवी सद्यः परि आयम्। द्यावा पृथिवी सद्यः परि इत्वा, लोकान् दिशः स्वः च परि इत्वा। = द्युलोकसे पृथ्वीतक जितनेभी लोक लोकान्तर, दिशा उपदिशाएं, तथा जो भी वस्तुमात्र हैं, जो प्रकाशित होनेवाले पदार्थ हैं उन सबका निरीक्षण किया। यह निरीक्षण एक वस्तुका निरीक्षण करनेसे उस जातिके सब पदार्थोंका निरीक्षण होता है, इस रीतिसे किया। जैसे मिट्टीके नाना प्रकारके पात्र हों, परन्तु उनमें एकही मृत्तिका है, लोहेके नाना प्रकारके पदार्थ हों परन्तु उनमें एक ही लोहा है। इस तरह निरीक्षण हो सकता है। (छां. उ. ६।१।४-६) विश्वमें जितने पदार्थ हैं उतने सब देखनेकी जरूरत नहीं है। जिस तरह चावलोंके हण्डेमेंसे एक दो चावल पके हैं ऐसा मालूम होनेसे सब हण्डे भरके चावल पक गये हैं ऐसा प्रतीत होता है, सब चावल देखने की जरूरत नहीं होती, इसी तरह मनुष्य संपूर्ण विश्व का यहींसे निरीक्षण कर सकता है।

आजकल प्रकाश किरणका पृथक्करण करनेके (स्पेक्ट्रम्) अनेक यन्त्र तैयार हुए हैं। इन यन्त्रोंसे संपूर्ण लोकलोकान्तरोंमें क्या क्या है इसका पता यहां बैठकर लगाया जा सकता है। इसी तरह मनुष्य यहाँ बैठकर संपूर्ण विश्वका पता लगाता है। सद्गुरु इसको इसका मार्ग बता सकता है। यह मार्ग उपनिषदोंमें बताया है, जिसका उल्लेख ऊपर किया गया है। किसी वस्तुका निरीक्षण करनेसे उस जाति का निरीक्षण होता है (छां० उ० ६।१।४-६) इस रीतिसे सब विश्वका निरीक्षण यहांसे ही किया जा सकता है।

(१६) ऋतस्य प्रथमजां उपातिष्ठे। ऋतस्य तन्तुं विततं विचृत्य। = सत्यके प्रथम उत्पन्न हुएकी उपासना की, सत्यके सूत्रको चारों ओर फैला हुआ देख लिया। सब विश्वका निरीक्षण करनेसे पता लगा कि एक ही सूत्रात्मा सब विश्वमें फैला है और इससे विश्वरूपी कपडा बन गया है। प्रथम मन्त्रके विवरणमें बताया ही है कि (सः ओतः प्रोतः च विभूः प्रजासु। वा० य० ३२।८) वह सब प्रजाओंमें ओतप्रोत है। वह प्रभु सब

विश्वमें ओतप्रोत है। विश्वरूपी कपडेमें लंबाईके और चौडाईके धागे इस प्रभुके सूत्रात्माकेही हैं। जिस तरह कपडेमें धागोंके विना कुछ भी नहीं होता है उसी तरह इस विश्वमें ईश्वर ही ईश्वर है, दूसरा कुछ भी नहीं है। जहां सूक्ष्म रीतिसे देखो वहां (ऋतस्य प्रथमजाः, ऋतस्य तन्तुः) सत्य स्वरूपी परमात्मासे निकला सूत्र आत्मा ही है ऐसा दिखाई देता है। यही सम्यक् दर्शन है।

१७.वक्तरि वाचं इव भुवने ष्ठा धास्युः एषः अग्निः।

जिस तरह वक्तामें वाणी होती है, अथवा वक्तासे वाणी निकलती है, इसी तरह परमात्मासे यह सूत्रात्मा निकलता है, जो भुवनोंमें रहता है, अथवा जिससे भुवन बने हैं, यह अग्नि है, अग्निके समान सर्वत्र रहता हुआ सब का धारण पोषण करता है। वक्तामें वाणीके समान परमात्मामें यह सूत्र है जिससे यह विश्व बना है ऐसा यहां कहा है। वक्तामें वाणी वक्ताका स्वरूप ही है, पृथक् नहीं होती। वक्तासे वाणी कभी पृथक् नहीं रहती, वाणीसे भी वक्ता पृथक् नहीं होता। इसी तरह परमात्मासे सूत्रात्मा का संबंध है। जैसा कपाससे सूत और सूत्रसे कपडा बनता है, ठीक इस तरह परमात्मासे सूत्रात्मा और सूत्रात्मासे विश्व बना है। जिस तरह वाणी वक्तासे पृथक नहीं होती, ठीक इसतरह सूत्रात्मा परमात्मासे पृथक् नहीं और यह विश्व भी उसी तरह परमात्मासे पृथक् नहीं है। जिस तरह कपडेमें धागा और धागेमें कपास रहता है, इस तरह इस विश्वमें परमात्मा ओतप्रोत है। इस तरह यह परमात्म भुवनोंमें स्थिर है, यही सबका धारक है।

(१८) तत् अपश्यत्, तत् अभवत्, तत् आसीत् जब साधकने उस ब्रह्मको देखा, तब वह ब्रह्मरूप बना, क्योंकि वह पहिलेसे ही ब्रह्मरूप था। इस विषयमें एक कल्पित उदाहरण लेते हैं। कपासने सूत्र देखा और विचार किया, तो कपासको पता लगा कि सूत्र कपास ही का बना है, सूत्र कपास ही है, यह कोई अपूर्व ज्ञान नहीं था, क्योंकि वास्तविक दृष्टिसे सूत्र कपास रूप ही है। स्वयं कपासको पता लगा कि मैं ही सूत्रके रूपमें रहता हूं। इसी तरह धागेको पता लगा कि मैं ही कपडे का रूप ले कर बस रहा हूं। यह उन्होंने देखा, तब वह तद्रूप हुआ क्योंकि पहिलेसे ही वह वैसा था। अतः कहा है कि

'ब्रह्म वेद ब्रह्मैव भवति (मुण्डक ३।२।९) ब्रह्मविदाप्नोति परं।' (तै. उ. २,११) ब्रह्मविद्ब्रह्मणि स्थितः (ध्यान ६; गीता ५।२०) ब्रह्म विद्वान् ब्रह्मैवाभिप्रैति। (कौ. उ. १।४)=ब्रह्मका ज्ञाता स्वयं ब्रह्म बनता है। ब्रह्म जाननेवाला परब्रह्मको प्राप्त करता है। ब्रह्म जाननेसे वह ब्रह्ममें रहता है। ब्रह्मको जाननेसे ब्रह्मको प्राप्त होता है। पूर्वोक्त वेद मन्त्रका आशय इन वचनोंमें यथावत् आया है। 'इसने उसको देखा, तब स्वयं वैसा बना, क्योंकि पहिलेसे ही वह वैसा था।' सब विश्व ब्रह्मरूप है। जब कोई ब्रह्मको जानता है, तब वह अपने आपको भी ब्रह्मरूप अनुभव करता है, इसीका अर्थ वह स्वयं ब्रह्म बनता है। ब्रह्म बननेका तात्पर्य ब्रह्म न होता हुआ ब्रह्म बना ऐसा नहीं है, परन्तु वह पहिलेसे ही ब्रह्मरूप था, उसने अपना स्वरूप सत्य रीतिसे जान लिया और स्वयं मैं ब्रह्मरूप ही था यह उसको ज्ञान हुआ। जो जैसा था उसने अपने सत्य स्वरूपको पहचाना, इतना ही इसका तात्पर्य है।

अब अन्तिम मन्त्र देखिये-

परि विश्वा भुवनान्यायमृतस्य तन्तुं विततं दृशे कम्। यत्र देवा अमृतमानशानाः समाने योनावध्यैरयन्त ॥ ५ ॥

(विश्वा भुवनानि) सब भुवनोंके चारों ओर (ऋतस्य विततं कं तन्तुं दृशे) सत्यके फैले हुए सुखमय धागेको देखनेके लिए ही (परि आयं) मैं घूम आया हूँ। (यत्र) जहां (अमृत आनशानाः देवाः) अमृतको प्राप्त करनेवाले देव (समाने योनौ) एकही उस आश्रय स्थानमें (अधि ऐरयन्त) पहुंचते हैं।

इस मंत्रका उत्तरार्ध तृतीय मत्रके विवरणमें दिये वा० य. के मन्त्रके उत्तरार्धके समानही है अतः इसका आशय वहां बताया जैसा समझना योग्य है। 'तृतीये धामन्' के स्थानमें इस मन्त्रमें 'समाने योनौ' ये पद हैं। दोनोंका आशय एकही है। तृतीय धाम ही स्वर्गधाम है और वही सबका उत्पत्तिस्थान समान ही है। शेष मंत्रभागका आशय तृतीय मंत्रके विवरणमें है।

'ऋतस्य विततं कं तन्तुं दृशे विश्वा भुवनानि परि आयं

*

सत्य वा ऋत स्वरूप परमात्माका सर्वत्र फैला हुआ धागा जो इस विश्वभरमें फैला है, उसको देखनेके लिए मैंने सब भुवनोंका निरीक्षण किया है और अन्तमें वही सूत्रात्मा सर्वत्र फैला है ऐसा मैने अनुभव किया। तब मेरा निश्चय हुआ है कि वही परमात्मा इस विश्वमें ओतप्रोत हुआ है, जैसा कपडेमें सूत्र ओतप्रोत हुआ होता है।

इस तरह परमात्मतत्व ही विश्वरूप धारण करके यहां सर्वत्र हमारे सामने खडा है, यह सदैक्य सिद्धान्त इस अथर्व-वेदके सूक्तमें कहा है। पाठक इसका मनन करें और सदैक्य सिद्धान्त को अपनावे। यदि पाठक यह सिद्धान्त मानेंगे तो निःसन्देह द्वैतपर आश्रित सब व्यवहार सदैक्यके सिद्धान्तानुसार उनको बदलने होंगे। यह कैसे किया जा सकता है इसका विचार हम आगे करेंगे। यहाँ केवल वैदिक सदैक्यवादका सिद्धान्त ही अतिस्पष्ट करना है। वह इस सूक्तके विवरणसे किया है

सांख्यदर्शनका सूक्ष्म बल

तथा वेदान्तपर इसका गंभीर प्रभाव

(लेखक- प्राध्यापक गणेश अनन्त धारेश्वर, बी. ए. भूतपूर्व संस्कृताेपाध्याय, उस्मानिया विश्वविद्यालय, हैद्राबाद दक्षिण)

(अनुवादक- श्री पं. द. ग धारेश्वर, बी. ए., औंध)

इतिहासमें इस बातके पर्याप्त उदाहरण देखनेको मिलते हैं कि किसभाँति अतर्क्य एवं सूक्ष्म ढंगसे विजित लोग विजेताओंपर विजय पालेते हैं। इतिहासके छात्र जानतेही हैं कि पददलित तथा पराजित अतः नम्र यूनानने कैसे अपने गर्वोन्नत विजेता रोमकोभी शीश झुकानेमें प्रवृत्त किया। ठीक उसीतरह, विनम्र बनाये गये सांख्यने समय पाकर गर्वित तथा विजयी वेदान्तको विनत करडाला है। वेदान्तकी यह सगर्व घोषणा है कि उसने सांख्यको परास्त किया पर हम यही पूछना चाहते हैं कि वह तनिक अपने अन्तस्तलकी जाँचपडताल करके देख ले तो विदित होगा कि सांख्य प्रतिपादित सिद्धान्तोंसे वह स्वयं कितना प्रभावित हो उठा है। वास्तविक बात यही है कि पगपगपर वेदान्तमें सांख्यकी झलक दीख पडती है अर्थात् यह बात ऐसी ही है कि मदोद्धत होकर एक वीर शतसंख्याक शत्रु दलोंको पछाड दे, पर अन्ततोगत्वा खुदही किसी नायिकाके सम्मुख नतमस्तक बन बैठे। वेदान्त साभिमान कहता है कि अन्य सभी दर्शनोंको उसने विजित करडाला है, इस लिए वह सर्वोपरि है, लेकिन सांख्यके चरणोंपर उसे झुकजाना ही पडा। इससे स्पष्ट है कि सांख्यका बल कितना है तथा उसकी मोहकता कितने अलक्षित प्रकारसे कार्य करती है। अस्तु, सांख्यदर्शनका यह अलक्षित मोहकत्व किस ढंगका है तथा वेदान्त दर्शन भी किस गहराईतक इससे प्रभावित हो चुका है इसकी चर्चा इस लेखमें की जायगी।

सांख्यदर्शनकी विशेषताएँ इस प्रकारकी हैं- पुरुष-प्रकृति रूपी द्वैत कल्पना, पुरुष निर्गुण निष्क्रिय निस्सङ्ग है ऐसा मानना, प्रकृति सगुण सक्रिय-ससङ्ग एवं त्रिगुणात्मिका है ऐसा समझना और उत्क्रान्तिवाद एवं प्रलयवादमें विश्वास रखना तथा सांख्यान्तर्गत एक पन्थकी धारणाके अनुसार ईश्वर (शासक-परमात्मा) के बारेमें अज्ञेयवाद का आश्रय लेना।

अब अद्वैत वेदान्तकी विशेषताओंपर दृष्टिपात कीजिए तो पता चलेगा कि ' परमात्मा-जीवात्मा-प्रकृति रूपसे ब्रह्म या पुरुषकी त्रिविध कल्पना करना, पुरुष (ब्रह्म) निर्गुण निष्क्रिय निस्सङ्ग है ऐसा समझना, ईश्वर-जीव प्रकृति की सगुण-सक्रिय-ससङ्ग कल्पना करना, उत्पत्ति एवं प्रलय की कल्पना तथा ब्रह्म माया सिद्धान्तके अनुसार ईश्वरवाद का सहारा लेना इसमें अन्तर्भूत है।

साम्य तथा वैषम्य

अब दोनों दर्शनोंके मध्य जो समता तथा विषमता है उसे समझ लेना कोई कठिन बात नहीं क्योंकि ऊपर जो कहा है उससे स्पष्ट होता है कि दोनोंमें ही समता अत्यधिक है और विभिन्नता बहुतही थोडी है। हमारा ख्याल है कि ऐसा बेशक कहा जा सकता है, वेदान्त और तथाकथित अद्वैत वेदान्तमें भी सांख्यदर्शन पूर्णतया व्याप्त है एवं वेदान्तकी अत्यन्त गहराईमें भी सांख्यकी झलक दीख पडती है।

यदि आस्तिकवादसे प्रभावित लोग कहने लगें कि वेदान्तने सांख्यको पराभूत किया है तो उधर अज्ञेय-वादी लोग भी इतने ही आवेशसे प्रतिपादन करते हैं कि सांख्यने वेदान्तपर प्रभुत्व प्रस्थापित कर रखा है। इतनाही नहीं किन्तु ये अज्ञेयवादी जब कहते हैं कि आगे चलकर जो सांख्य नामसे विदित हुआ वही उपनिषदों एवं कुछ वैदिक सूक्तोंका भी जिनमें ऋग्वेदके दशममंडलस्थ प्रथित नासदीय सूक्तका समावेश है, वास्तविक मूलभूत वेदान्त है तब कहना पडेगा कि सचाई इनके पक्षमें पायी जाती है।

यहां प्रारम्भमेंही एक बात स्पष्ट करनी चाहिए कि सांख्य अज्ञेयवादी है नकि नास्तिक। ईश्वर (परमात्मा) के शासकपनके संबंधमें जैन, बौद्ध तथा कुछ वैदिक सूक्तों और उपनिषदोंके समान ही सांख्यभी अज्ञेयवादका सहारा लेता है एवं उनके तुल्यही अवर्णनीय, अखंडतया केवल तथा अविशेष ब्रह्ममें विश्वास रखता है।

सांख्य यदि सत्व—रज—तमसे युक्त होनेसे प्रकृतिको त्रिगुणात्मिका मानता है तो इधर वेदान्तभी अपने ब्रह्मको त्रिगुणात्मक रूपमें मानलेता है जैसे, सात्त्विक ईश्वर, राजसिक जीव एवं तामसिक प्रकृति। यहाँ हमें स्पष्ट प्रतीत होता है कि किसतरह सांख्यके त्रिगुणतत्वको वेदान्त अपने केवल ब्रह्मपर लागू करता है तथा सांख्य प्रकृतितकही इसे सीमित करलेता है और माध्व (द्वैत) वेदान्तवाले जीवोंके वर्णनमेंभी इसका उपयोग करने लगते हैं। इसलिए स्पष्ट हुआ कि त्रिगुणतत्व सांख्यकी दृष्टिमें प्रकृतिमें दृग्गोचर होता है तो माध्वमतानुयायी जीवोंमें इसका प्रभाव देखलेते हैं और वेदान्तके अनुसार ब्रह्मभी इससे मुक्त नहीं।

इसलिए अद्वैत वेदान्तका अनुसरण करनेवालोंको इस बातपर गर्व करनेका कोई कारण नहीं कि उन्होंने सांख्यपर विजय प्राप्त कर ली है क्योंकि वे खुद सांख्यद्वारा विजित हुए दीख पडते हैं।

वास्तवमें सांख्य एवं वेदान्त दोनोंकी मूलभूत कल्पनाएँ एकही हैं क्योंकि दोनोंका मूल उत्स एकही है जो कि वेद है जिसके बारेमें प्रोफेसर मैक्समूलर तक कहते हैं, कि 'मानवी मनकी सभी संभवनीय छटाएं अकृत्रिम ढंगसे वेदमें प्रतिबिम्बित हुई हैं।' वेद तो सभी सत्य विद्याओं तथा बुद्धिका आदिस्रोत है और मानवने विभिन्न युगोंमें विविध तरीकोंसे वेदका आशय जानने एवं उसके प्रमुख सिद्धान्तोंको समझनेके जो प्रयत्न किए थे उन्हींके फलस्वरूप हमें सांख्य, योग, वेदान्त आदि अलगअलग पथ प्राप्त हुए हैं। हमने देखा है कि सांख्य तथा वेदान्त दोनोंमें, एकं सत्के संबधमें द्वैत, त्रैतकी विविध कल्पनाएँ और अज्ञेयवाद एवं आस्तिकवादकी उत्क्रान्ति तथा प्रलय विषयक धारणाएं समानरूपसे पायी जाती हैं क्योंकि दोनोंने ये कल्पनाएं समान आदि स्रोत याने वेदसेही उद्धृत की हैं। दोनों दर्शनोंमें जो भिन्नता है वह यही कि इन मूलभूत कल्पनाओंको या तत्वोंको आपाततः विभिन्न वस्तुओंपर आरोपित किया है। उदाहरणार्थ, सांख्य दर्शन अपनी त्रैगुण्य कल्पनाको प्रकृतितक सीमित रखता है तो माध्व मतानुयायी द्वैत वेदान्ती लोग जीवोंके लिए भी यह कल्पना प्रयुक्त हो सकती है, ऐसा मानते हैं, और शांकर मतानुयायी इसी त्रैगुण्य विषयक तत्वको ईश्वर-जीव-प्रकृति रूपसे ब्रह्मपर भी आरोपित करते हैं, जोकि कुछ कुछ खिश्चियन मतके तुल्य दीख पडता है जिसमें पिता, पुत्र एवं आत्मा रूपसे ईश्वरको त्रिविध माना है।

कठोपनिषद्के अतिरमणीय दृष्टान्तमें, जहां कि वाजश्रवस् (पिता, परमात्मा) नचिकेतस् (पुत्र, जीवात्मा और यम (नियम) द्वारा बडे अच्छे ढंगसे अद्वैत वेदान्त के तथा तत्तुल्य ईसाई धर्मके भी परमात्माके त्रिविध रूप की कल्पना दी गयी है, यही कल्पना प्रमुख है। इस भांति हम देखते हैं कि न केवल भारतमें ही किन्तु भारत के बाहर भी परमात्मविषयक यही त्रिविध रूपताका सिद्धान्त बाह्यत. विभिन्न प्रतीयमान पृथक् मतों तथा पन्थोंमें अभिव्यक्त होता है और ध्यानमें रहे कि वे सभी मतमतांतर वेदरूपी एक ही स्रोतसे फूट निकले हैं। सायणाचार्यका भी यही कथन है कि कठोपनिषद्का नचिकेतसका दृष्टांत वेदसे ही उद्धृत है इन सभी उदाहरणोंमें मूल तत्वोंकी ओर देखनेसे कोई विभिन्नता नहीं प्रतीत होती है, हाँ अलग अलग मत किस तरह इन तत्वों को प्रयुक्त करते हैं सो देख ले तो विभिन्नताका बोध होता है।

जहांतक हमें पता है, आजतक किसी लेखकने सांख्य, वेदान्त, खिश्चियानिटि, माध्वमत आदिमें विद्यमान इन समानताओंका विवरण करनेके लिए अपनी लेखनी उठायी हो ऐसा नहीं प्रतीत होता है। उलटे, असंख्य लेखकोंने उनमें मौजूद विभिन्नताओंपर खूब बल दिया है। ऐसे लेखक हैं जो संसारके सामने मुक्त कंठसे उद्घोषित करते हैं 'सांख्य तथा अद्वैत वेदान्त तुल्य विसदृश मत शायद ही कहीं हों।' किन्तु हमने अभी देखा है, विभिन्नता कितनी न्यून है और दोनों कितने समान हैं। हमारी निगाहमें तो गलत-फहमीके दलदलमें फँसी हुई इन दोनों

ही प्रणालियोंके सिद्धान्तोंमें अत्यन्त अल्प विभेद दिखाई देता है। सांख्य वेदान्तमें इतनाही प्रविष्ट है जितना वेदान्तका प्रभाव सांख्यपर पड़ा हुआ है। यदि वेदान्तने सांख्यपर विजय प्राप्त की हो तो इधर वेदान्तभी सांख्य से उतनाही प्रभावित तथा विजित है।

एक दृष्टिकोणसे देखें तो वेद, उपनिषद्, सांख्य, वेदान्त, गीता, खिश्चियानिटी सभी अग्नॉस्टिक (Agnostic) याने-अज्ञेयवादी हैं तथा दूसरे दृष्टिकोणसे देखने लगें तो फिर सभी आस्तिकवादी या (Theistic) थीइस्टिक हैं। ऐसी दशामें क्या कारण है, कोई किसी एकको चुनकर उसकी अवहेलना करने लगे तथा दूसरोंको उच्चासन पर बिठाने लग जाय, क्यूंकर भला वेदको अनेक दैवतवादी मानकर तिरस्कार दर्शाये और सांख्य एवं वेदान्तको क्रमशः नास्तिक एवं सर्वेश्वरवादी मानने लगे? यदि हम उनका उचित अध्ययन करने लग जायँ तो हमें साफ विदित होगा कि वे सभी एकही मौलिक उत्स एवं आदि स्रोत अर्थात् वेदसे निस्सृत हुए हैं और चूँकि वही संसार का आद्य एवं गंभीरतम धर्मग्रन्थ है इस लिए संदेहके लिए जगह नहीं रहती है।

इसभाँति अपने विषयको सामान्यतया प्रस्तुत कर अब हम कुछ विस्तारपूर्वक विवेचन करने लगेंगे। ऋ० १।१६४ में २०वाँ मन्त्र

द्वा सुपर्णा सयुजा सखाया समानं वृक्षं परि षस्वजाते।
तयोरन्यः पिप्पलं स्वाद्वत्ति, अनश्नन्नन्यो अभि चाकशीति ॥

साफ तौरसे परमात्मा, जीवात्मा एवं प्रकृति रूप त्रैतकी सूचना देता है। वेदमें इस त्रैतका विवरण है अतः उसे त्रयी विद्या कहते हैं। वेद शब्दका अर्थ है ज्ञान, विद्या, दर्शन, बोध जिसका स्वरूप त्रिविध है क्योंकि एक सत्, ब्रह्म या पुरुषके तीन प्रकारों याने परमात्मा, जीवगण एव जड या प्रकृतिके संबंधमें जानकारी वेदमें दी गयी है। अद्वैत वेदान्तियोंकी धारणाके अनुसार, एकही सत् या ब्रह्मनके केवल स्वरूप, स्तर, दशा, प्रकार हमें ईश्वर-जीव-प्रकृतिके रूपमें दीख पडते हैं। अतः इस सिद्धान्तके अनुसार ब्रह्म दो रूपोंवाला है 'द्वे वाव ब्रह्मणो रूपे मूर्तं चैवामूर्तं च।' एक सत्‌ही इन विविधरूपोंमें प्रकट हुआ है, ऐसा उनका विश्वास है। बिलकुल वही त्रैत हमें सांख्य दर्शनकी प्रकृतिमें उपलब्ध होता है जोकि सत्त्व-रज-तम रूपसे त्रिगुणात्मिका है। यदि सांख्य प्रतिपादित प्रकृति त्रिगुणात्मिका है तो इधर अद्वैत वेदान्तियों तथा सद्वैक्यवादियोंका ब्रह्मभी ठीक त्रिविध है। ऋग्वेदस्थ वालखिल्यमंत्रके 'एकं वा इदं वि बभूव सर्वम्' वचनके बलबूतेपर सांख्य दर्शन प्रकृतिविषयक विचारधाराको प्रतिपादित करता है। एक प्रकृतिही इस विविधतामय विश्वमें उत्क्रान्त या परिणमित हुई है, यही सांख्य तत्त्व है। अद्वैत वेदान्ती और सद्वैक्यवादी 'एकं' से संपूर्ण अविकल ब्रह्म मानते हैं, जो कि अपनी शक्तियोंका विकास करके विश्वरूपमें अभिव्यक्त हुआ है ठीक उसीतरह जैसे कि एक छोटेसे बीजका अविकल विकास तथा वर्धन होनेपर पुष्पफलभारावनम्र महापादपका दर्शन होता है।

ध्यानमें रहे कि मूलभूत कल्पनामें कोई भेद नहीं; एकाकीही वृद्धि एवं उत्क्रान्ति हो विविधतानुप्राणित विश्वक सृजन होता है। हाँ, यह बात सच है कि सांख्य एवं वेदान्त सिर्फ ऊपरऊपरसे विभिन्न प्रतीत होनेवाली सत्ताओं याने प्रकृति तथा ब्रह्मको, उक्त मौलिक कल्पना लागू करते हैं, इसकारण विभिन्न जानपडते हैं। अतः स्पष्ट हुआ कि एकही ऋग्वेदीय कल्पनाके आधारपर सांख्य दर्शन तथा वेदान्त दर्शन टिके हैं यद्यपि प्रत्येक अपनी वैशिष्ट्यपूर्ण धारणाके अनुकूल उसका स्पष्टीकरण एवं विवरण करता है। अस्तु।

अब दूसरा एक ऋग्वेद वचन देखें 'आनीदवातं स्वधया तदेकम्' ऋ १०-१२९-२ वह एकही, स्वधासे युक्त होकर, सहजतया हलचल करता रहा, आन्दोलित बना रहा। जिस समय विश्व प्रलयावस्थामें था तब वह एक सत् या ब्रह्म अथव परमात्मा कहो; स्वधाके साथ रहकर शक्यता, संभाव्यतासे पूर्णतया आन्दोलित, थर्राता रहा। यही उस वचनका, जो कि विख्यात नासदीय सूक्तमें है, भाव है। उत्क्रान्तिमय युगमें विश्व वास्तवरूपमें रहता है लेकिन प्रलयावस्थामें संसार संभवनीयदशा (Potentiality) में रहता है और जगत्‌की इसी शक्यताकी हालतको बतानेके लिए वेद अधिक स्पष्ट स्वधा शब्दका प्रयोग करता है। स्वधाका अक्षरशः आशय है अपनेमें रखा हुआ (Self—Deposit); जैसे युद्ध छिडनेके समय जनता

नरेशके निकट जाकर अपनी मूल्यवान् चीजोंको उसके यहाँ हिफाजतके साथ अमानतके तौरपर रखदेती है ठीक वैसेही यह समूचा विश्वभी सभी असंख्य जीवोंके साथ उत्क्रान्ति युगके अन्तमें परमात्माके निकट मानो उसकी सुरक्षामें अमानत रखा जाता है। एक स्वधा शब्दकी सहायतासे यह सब बडे सुन्दर ढंगसे सुझाया है।

परन्तु अद्वैत वेदान्ती लोगोंकी धारणाके अनुसार स्वधा का भाव है शक्ति तथा सामर्थ्य। उस वैदिक वचन का अर्थ वे यूं करते हैं- वह एक अपनी शक्तिसे परिपूर्ण बनकर निर्वात ढंगसे श्वसन करता रहा। पर इस अर्थमें कोई भव्य आशय नहीं है, कोई गंभीर अर्थ नहीं, काव्यमय प्रतिभाकी झांकी नहीं, उच्चतम कल्पनाकी झलक नहीं, नाही सर्वोपरि धारणाही है यद्यपि स्वधामें ये सभी अन्तर्निगूढ हैं। यह बिल्कुलही अकाव्यमय, अप्रभ, मामूली है। ध्यानमें रहे जबकि इस उच्च सूक्तका हरएक शब्द गंभीरतम आशयसे लबालब भरा हुआ हो तो क्या यह एक स्वधा अपवाद हो सकता है? सिर्फ इतना कहना कि 'तब परमात्मा शक्तिमान बन कर स्थित रहा' क्या है? क्या परमपिता परमात्मा अब शक्तिसंपन्न नहीं है? क्या प्रलयकालमें ही परमेश्वर शक्तिमान् बना रहता है?

इसी प्रथित नासदीय सूक्तके पंचम मंत्रमें भी स्वधा शब्द दुहराया है जिससे प्रतीत होता है कि उसका आशय यही है, प्रकृति कर्मयुक्त जीवोंके साथ ब्रह्म या परमेश्वर में संभाव्य रूपमें निवास करती है। पंचम मन्त्रमें है '**स्वधा अवस्तात् प्रयतिः परस्तात्**' जिसका अर्थ है 'संभवनीय रूपमें विद्यमान यह विश्व प्रयति याने उत्क्रान्त होते हुए विश्वके निम्न भागमें था अर्थात् इसका आधार बना था। प्रयतिका ठीक अर्थ है विकास, उत्क्रांति और स्वधाका भाव है अपने अन्दर सब खींच रखना, अपने भीतर अमानतके तौरपर सब कुछ रखलेना। दूसरे शब्दोंमें यूं कह सकते हैं कि दोनों ही शब्द संसारके वास्तविक अस्तित्वकी उत्क्रान्तिमय परिपाटी तथा विश्वके संभवनीय अस्तित्वके प्रलयक्रम का निर्देश करते हैं।

इस तरह यह सूक्त भी अद्वैत वेदान्तिनकी पुष्टि न करता हुआ या तो सांख्यका पृष्ठपोषण करके अज्ञेयवादी है अथवा आस्तिकवादका समर्थन करता है। हमारी रायमें तो यह अज्ञेयवादीसे भी अपेक्षाकृत अधिक आस्तिकवादी है। साधारणतया ऐसा माना जाता है कि इस प्रथितयश सूक्तका जो यह अंतिम मंत्र है-

> इयं विसृष्टिर्यत आ बभूव यदि वा दधे यदि वा न। यो अस्याध्यक्षः परमे व्योमन् त्सो अङ्ग वेद यदि वा न वेद ॥

वह अज्ञेयवादसे प्रभावित होकर बनाया है किन्तु हमारी धारणा है कि इसका सामान्य आशय आस्तिकवादकी ही छटा दर्शाता है। कारण यही है कि मंत्रक हार्द यूं है "भला यह उत्क्रांति पूर्ण परिपाटी कहांसे निकल पडी है? क्या यह स्वावलंबनभावसे अनुस्यूत है या नहीं? जो सर्वोपरि अन्तरालमें इस सबका अधिष्ठाता बन चुका है वह अवश्यमेव सारी यह जानकारी रखता है, भला हम कैसे कहें कि वह इसका परिचय नहीं रखता है' इससे सूर्यप्रकाशवत् सुस्पष्ट है कि यह अत्युत्कृष्ट सूक्त वास्तवमें एकेश्वरवादसे प्रभावित द्रष्टाओंने देखा था न कि पाश्चिमात्य वैदिकज्ञोंकी धारणाके अनुसार अज्ञेयवादियोंकी यह रचना है।

अब पुरुष सूक्तका थोडासा विचार करना ठीक है। लोग समझते हैं कि वह सर्वेश्वरवाद या सैद्धेश्वरवादका प्रबल पृष्ठपोषक है जो कि नितान्त सत्य है, लेकिन कई मानते हैं कि वह सिर्फ एकेश्वरवाद का ही वास्तवमें प्रतिपादन करता है। सिवा इसके यह बात ध्यानमें रखनी चाहिये कि इस सूक्तसे यह अति स्पष्ट होता है कि परमात्मा केवल अदृश्य है यह कल्पना अधूरी सचाई है, देखो '**सहस्रशीर्षा पुरुषः सहस्राक्षः सहस्रपात्**' इसका सच्चा अर्थ यह है कि **पुरुष पुरिवस्** याने विश्व की नगरीमें रहनेवाला यह परमात्मा या ब्रह्म अथवा एक सत् अनेक मस्तकों, नेत्रों और पैरोंवाले मानवी समाजके रूपमें व्यक्त हो विद्यमान है। भला यह कैसे अदृश्य हो सकता है? मतलब यही है कि समूचा मानव समाज विश्वरूप परमात्माका ही एक छोटासा अंश है। यही बात ऋग्वेद में अन्यत्र अधिक बलपूर्वक कही है—

> विश्वतश्चक्षुरुत विश्वतोमुखो विश्वतो बाहुरुत विश्वतस्पात्। ... देव एकः॥ (ऋ० १०।८१।३)

क्या ही अच्छा हो यदि परमात्मा निराकारही है ऐसा

प्रतिपादन करनेवाले तनिक इस मन्त्रपर विचार करें। अस्तु।

हाँ, जो लोग ऐसा मानते हैं कि जिस तरह देहमें जीवात्मा निवास करता है ठीक वैसेही इस विश्वरूपी देह में परमात्मा छिपा पड़ा है, उनकी दृष्टिमें यह सूक्त एकेश्वर वादका ही बलपूर्वक प्रतिपादन करता है क्योंकि एक परमात्मा सबमें अन्तर्भूत हो सबके ऊपर उठता है ऐसा भाव इसमें झलकता है। जिसे आंग्लभाषामें (pantheism) नाम दिया है उसमें सर्वोपरि भावका अभाव दीख पड़ता है। पर पुरुषसूक्तमें दोनों कल्पनाओंपर प्रकाशपुंजका प्रखर प्रक्षेपण किया है इसलिए ऐसा कहने में कोई संशय नहीं कि यह अत्युत्कृष्ट सूक्त एकेश्वरवादका श्रेष्ठ उदाहरण है। ऐसा कहनेवालोंसे हम यही निवेदन करेंगे कि वे-

पुरुष एवेदं सर्वं यत् भूतं यच्च भव्यम्। तथा त्रिपादूर्ध्वमुदैत्पुरुषः पादो अस्येहाभवत्पुन ।

पर सोचने लगें। तुरन्त उनका अन्तःकरण इस आलोक रेखासे आलोकित हो उठेगा कि यह सारा ही विश्व उसी पुरुष, एक सत्, परमात्माका स्वरूप है, अन्य किसीका नहीं। अतः हम बलपूर्वक तथा निस्सन्देह कह सकते हैं कि वेदके पुरुष सूक्तमें जोकि चारों संहिताओंमें न्यूनाधिक पाठभेदसे विद्यमान है एकेश्वरवाद तथा सदैक्यवाद दोनों ही मौजूद है। वह साफ बतलाता है कि पुरुष, परमात्मा ब्रह्म जो कुछ कहो एकही है तथा वही इस विशाल, असीम प्रतीत होनेवाले विश्वके रूपमें हमारे सम्मुख खड़ा है। सचमुच विभिन्नतासे अनुस्यूत एकता (diversified unity but not unrelated diversity) का जो यह अनुपम भव्य प्रदर्शन वेदमें है वह अन्यत्र सुदुर्लभ है। और इसीलिए अत्यन्त विचारणीय एवं विलोकनीय है।

अब दूसरा एक सुप्रसिद्ध वेदवचन तथा वेदप्रतिपादन लीजिए- '**एकं सत् विप्राः बहुधा वदन्ति**' याने विद्वान् एवं विशेषज्ञ लोग एक अस्तित्ववानको अनेक प्रकारोंसे प्रशंसित करते हैं। हो सकता है कि कइयोंकी रायमें यहभी विशुद्ध एवं स्पष्ट तौरसे एकेश्वरवाद (monotheism) का ही संकेत करता है परन्तु यही साधारणतया प्रतीत होता है, सर्वेश्वरतत्व (pantheism) का प्रतिपादन इस वचनसे होता है। इसका सरल आशय है कि ईश्वर, सर्वोपरि, परम आत्मा अस्तित्ववान् है वह एक ही है यद्यपि विद्वान् ऋषि तथा द्रष्टा विविध नामोंकी ओटमें, जैसे, अग्नि, इन्द्र, मित्र, वरुण आदि, उसकी प्रशंसा करते हैं, बखान करते हैं। अर्थात् संसारके अग्नि आदि विविध वस्तुजात उसी एक सत्के रूप हैं और वह एक सत् अपनी शक्ति, बुद्धिमत्ता, प्रीतिसुधा, लावण्यमयता तथा उत्कृष्टताकी संपूर्ण अभिव्यंजना करनेके लिए इस दृश्य सुविशाल विश्वरूपमें प्रकट हुआ है इसीलिए वेदमें चाहे अग्निका प्रभावोत्पादक वर्णन हो या इन्द्रका चित्त *स्तिमित करनेवाला चित्रण हो या अश्विनौ मित्रावरुणा आदि* देवताओंका अनूठा बखान हो, सभी एक सतकी विचित्रता परही अतिरमणीय प्रकाशपुञ्जका प्रक्षेपण करते हैं। इन्द्र उसकी असीम सामर्थ्यका अनोखा चित्रण है तो अग्नि उसकी बुद्धिमत्ता एवं प्रकाशकी सजीव मूर्ति है, मित्र तथा वरुण उसके प्रेम लालित्य एवं उत्कृष्टताका चित्र खड़े करते हैं। यह वचनभी एकेश्वरवाद एवं विश्वरूप बने हुए परमेश्वरका बलपूर्वक प्रतिपादन करता है।

इसतरह यदि हम निष्पक्षपाततया जाँचपड़ताल करने लगे तो विदित होता है कि वेद बहुदेवतावादका पृष्ठपोषक नहीं किन्तु स्पष्टतया एकेश्वरवादका समर्थन करता हुआ दर्शाता है कि वह एक ईश्वरही, जिसे पुरुष, ब्रह्म परम आत्मा या एकं सत् कहो तोभी मतलब एकही है, इस विश्वरूपमें परिणत हो गया है। हमें ऊपरऊपरसे विश्वमें पृथक्ताका, जड़ चेतन या भलाई बुराईका भलेही आभास हो पर वह सभी परमात्मासे अत्यन्त विभिन्न, पृथक् नहीं किन्तु उसी एक सत्का अभेद्य अटूट अखंड रूप है। यदि मानव जातिके लिए जो कि विभिन्नता, द्वैतकी दलदलमें बुरी तरह फँसगयी है वेदका कोई एक सर्वोपरि मननीय एवं कार्यरूपमें परिणत करनेयोग्य सन्देश या उपदेश हो तो यही सदैक्यवाद या विविधतामय एकताके दर्शन एवं अनुभूतिका है। जबतक मानवजाति इस वेदके सर्वश्रेष्ठ सन्देश (Unity in diversity, or diversified

unity) को भलीभाँति हृदयंगम न करेगी तबतक महासमरादि भीषण संकटोंसे छुटकारा पाकर इसी विश्वको स्वर्गधाम बनानेका सुखद दृश्य देखना उसके भाग्यमें बदा नहीं। अस्तु।

ऊपर हमने यू प्रतिपादन किया था कि एक अर्थमें सभी दर्शन, मत, वेद, उपनिषत्, सांख्य, वेदान्त, गीता आदि अज्ञेयवादी हैं। इसके बारेमें तनिक विवरण करना ठीक होगा। उपर्युक्त सभी मानते हैं कि परमात्मा तो सर्वोपरि अज्ञेय है अत मानवको सिर्फ उस परब्रह्मकी तनिकसी झांकी ही मिल सकती है। सभी प्रणालियोंकी निगाहमें प्रमुखतया तथा वास्तविकरूपसे परमात्मा ज्ञातुमशक्यही है इसलिए सबका एकमत्य है वह परमेश्वर अथाह है और इस अर्थमें लें तो सभी मत या दर्शन न्यूनाधिक मात्रामें अज्ञेयवादी ही ठहरते हैं। तो फिर भला लोग क्यूंकर कम ज्यादा अनुपातमें पाये जानेवाली इस विभिन्नताको जोकि नितान्त नगण्य एवं उपेक्षणीय है, लेकर परस्पर सिरफुडौवल करने बैठे? हम चाहें जितनी चेष्टा करलें लेकिन हमारे लिए परमात्माको पूर्णतया जानना असंभव है और इस सच्ची बातसे सभी मत पन्थ एवं दर्शन पूर्णतया सहमत हैं। यही कारण है कि प्राध्यापक मोक्षमूलरभट्टजी मुक्तकठसे स्वीकार करते हैं कि

' मानवी अन्तस्तलकी सभी संभवनीय छटाओंका स्वाभाविक प्रतिबिम्ब वेदमें पाया जाता है। '

इसभाँति वेदका अविरत स्वाध्याय करते समय हमें विदित हुआ कि मानवी मनकी अद्भुत रचनाकी मृदु छटाएँ तथा आभाएँ वेदमें निर्विवादतया चित्रित की गयी हैं। मानव जातिके उसी एकमेव अति पुरातन धर्म ग्रन्थसेही, समान दिव्य गन्तव्यस्थलकी ओर यात्रा करतेसमय सभीको तुल्य पथपरसे अग्रगामी होनेपर अपनी अपनी क्षमता एवं सुविकासके अनुसार स्फूर्ति एवं आदेश प्राप्त हुए हैं। संभव है कि ऐसी हालतमें एक, दूसरेकी अपेक्षा किन्हीं अशोंतक अग्रभागमें अवस्थित रहे परन्तु सिर्फ इसी भेदके बलबूतेपर गर्वित हो उठनेका तनिकभी कारण नहीं। इसी वजहसे वेद अन्तिम सूक्तमें सबसे सविनय विनति करता है-

स गच्छध्वं सं वदध्वं स वो मनांसि जानताम्।
देवा भागं यथा पूर्वे सजानाना उपासते ॥
समानो मन्त्रः समितिः समानी समानं मनः
सह चित्तमेषाम्। समानं मंत्रमभि मन्त्रये वः
समानेन वो हविषा जुहोमि॥
समानी व आकूतिः समाना हृदयानि वः।
समानमस्तु वो मनो यथा वः सुसहासति ॥
ऋ. १०।१९१।२,३,४

सिद्धम्

(लेखक–श्री वासुदेवशरण अग्रवाल)

पतंजलिके महाभाष्य के अनुसार सिद्ध शब्दके कई अर्थ हैं। उनमें एक अर्थ नित्य है। सिद्ध और नित्य पर्याय वाची हैं। सिद्ध या नित्यका विवेक ही आर्य विचारशास्त्र की सबसे बड़ी विशेषता है। सिद्धको प्राप्त करनेका आग्रह ही आर्य जीवनको अन्य सभ्यताओंकी जीवन परिपाटीसे सदाके लिये अलग करता है। नित्यका ध्यान जहाँ हमसे ओझल हो जाता है वहां हम अनित्य या मृत्युके मुखमें चले जाते हैं। अनित्य जीवन वही है जिसे आर्य शास्त्रों में 'मृत्युके फैले हुए पाश' कहा है। अनेक प्रकारके विषय-भोग धन और मानके नाना भाँतिके प्रलोभन, जिनके वशीभूत होकर हम अपनी दक्ष इंद्रियोंके तेजको जर्जर कर डालते हैं, सब अनित्य हैं। उनकी जितनी भी आराधना की जाय उससे हम नित्य तत्वके निकट पहुँचनेके स्थानमें और दूर जा पड़ते हैं। केन्द्र नित्य है, परिधि अनित्य है। आत्म-तत्व केन्द्र है, और सब ससार केन्द्रके चारों ओर फैली हुई परिधि या घेरेकी तरह है। परिधि घटने बढनेवाली चंचल होती है। वह फूलती है और सिकुड़ती है, पर उससे वृत्तके सारभाग या तात्विक मूल्यमें कुछ भी अन्तर नहीं पड़ता। केन्द्र सदा स्थिर, एक रूप, एक रस बना रहता है। वही वस्तुतः वृत्तका ध्रुव या नित्यबिन्दु है। केन्द्रको ही वैदिक परिभाषामें 'हृदय' कहा गया है। वैदिक परिभाषाएँ संकेतमय होती थीं। 'हृदय' शब्द भी गूढ संकेतसे भरा हुआ है। उपनिषदोंके अनुसार 'हृ' 'द' 'य' इन तीन अक्षरोंसे 'हृदय' बनता है। ये तीन अक्षर विश्व की तीन मूल प्रवृत्तियोंके द्योतक हैं। केन्द्रसे बाहरकी ओर फेंकनेकी (Centrifugal) जो प्रवृत्ति है उसका प्रतीक 'हृ' अक्षर है। बाहरसे भीतर लानेकी आदान प्रदान प्रवृत्ति (Centripetal) को बतानेवाला 'द' अक्षर है। आदान और विसर्ग ये दोनों धाराएं मनुष्य शरीरमें और सृष्टिकी अन्य सब प्रक्रियाओंमें बराबर मौजूद रहती हैं। वे आपसमें टकराती हैं और एक दूसरेको जीतकर हावी होना चाहती हैं। इन दोनों शक्तिओंको नियन्त्रण या नियमन में रखनेवाली जो तीसरी संयम–प्रधान शक्ति है उसका संकेत 'य' अक्षर है। इस प्रकार हमारा सारा जीवनचक्र हृ+द+य इन तीन धाराओंके बल पर टिका हुआ है। बालपनमें आदानकी शक्ति बलवती होती है। वृद्धा-वस्थामें विसर्गकी शक्तिसे आदानकी शक्ति दब जाती है। यौवन इन दोनोंके बराबर संतुलनकी दशा है।

प्रत्येक व्यक्तिका जो हृदय–संस्थान है उसमें निरन्तर ये तीनों प्रवृत्तियां कार्य करती रहती हैं। नित्य पदार्थ या नित्य तत्वकी ओर जब हम बढ़ते हैं तब आदानकी शक्तिको हम पुष्ट करते हैं। विसर्गकी प्रवृत्तिके वशीभूत होकर हम नाश या क्षयकी ओर झपटते हैं। जीवनमें जो पाप वृत्तियां हैं उनका सबन्ध क्षय या नाशशील धर्मों से है। विषयोंके भोगभी क्षय धर्मसे युक्त है। वे अनित्य हैं। नित्य वस्तुको जानने और अनुभवमे लानेका जो सुख है वह विषय सुखसे विलक्षण है। जो पापमें लीन रहता है उसकी शक्तियां क्षयिष्णु बनी रहती हैं। जहाँ जीवनी शक्ति क्षीण होती है वहां अमृत सुखका अनुभव नहीं होता। जिस व्यक्तिका हृदय--चक्र शक्तिके क्षयसे ग्रसित है उसके लिए मृत्युका द्वार है।

आर्य सभ्यताके निर्माताओंने नित्य और सिद्ध पदार्थों का ज्ञान प्राप्त करनेमें प्राण मन और कर्म की मूल्यवान् आहुति दी। उसके द्वारा जो अनुभव उन्हें मिला वह जीवनसे दूर किसी गुफामें बन्द होनेके लिए, केवल कुतूहल या कहने सुननेके लिए न था। आर्य जीवन–पद्धतिमें ऐसी सक्रिय और सशक्त जीवन–विधिका उपदेश बराबर दिया गया है जिसके आश्रयसे मनुष्य अनित्यसे बचकर नित्य अमृत सुखकी प्राप्ति कर सके और जीवनके ध्रुव अविचाली बिन्दुपर धीरताके साथ अपने पैर टेक सके॥

चैत्रका ' वेदाङ्क '

आगामी चैत्र का अङ्क वैदिक धर्मका विशेष अङ्क होगा मासिक " वैदिक-धर्म " को प्रारंभ होकर २५ वर्ष हो चुके, अत ३०० वां अक अथवा ३०१ अंक एक सहस्रपृष्ठोंका ' वेदाङ्क ' मुद्रित करनेका हमारा विचार बहुत समयसे था। परन्तु आजकी कागज मिलनेकी कठिनाईकी दुर्घटना इसमें बाधा उत्पन्न कर रही है और इसके लिए कोई उपाय भी नहीं हो सकता। इसलिये हमने विशेषाङ्कका विचार छोड ही दिया था।

हमारा विचार यह भी था कि स्वाध्याय-मण्डलका, उसकी २५ वर्षकी आयु होनेके कारण रजत जयन्ती का उत्सव, मनाये, जो स्वाध्याय मण्डलके प्रति पालक, सहायक, पोषक, ग्राहक तथा हितेच्छु हैं उनको यहां बुलायें और दो दिन व्याख्यानादि द्वारा उत्सव मनायें तथा आगे करनेके कार्यका सबको परिचय दें। पर यह उत्सव भी अनेक सामयिक कारणोसे स्थगित करना पड़ा है। ये कारण सबको विदित हैं और आजकी अवस्था भी सब जानते ही हैं।

स्वाध्यायमण्डल का उत्सव और वैदिक धर्म का सहस्र पृष्ठोंका विशेष अक एकही समय होनेवाले थे। परन्तु आज की परिस्थिति इसमे बाधक हो रही है।

समयकी अव्यवस्थाके कारण कुछ बन नहीं सकता इस का निश्चय होने कारण हमने ऊपरकी दोनों कल्पनाएं स्थगित की थीं और किसीसे उस विषयमें बाततक भी नही की थी।

परन्तु हमारे कई पाठक कई महिनोंसे छोटासा विशेषाङ्क निकालने की प्रेरणा कर रहे हैं। और हमारे ना करने पर भी उनका आग्रह चलही रहा है। इसलिये २५ वर्ष होनेके स्मरण के लिये हमने ८० पृष्ठोंका वैदिक धर्मका विशेषाङ्क आगामी चैत्र में निकालनेका निश्चय किया है।

इसमें केवल वेदके संबंधके ही सब लेख होंगे, किसी अन्य विषयके लेख इसमें नहीं होंगे। विशेषतः वेद के धर्मसे व्यवहार किस तरह से होगा यह मुख्यतः इस अक द्वारा बताया जायगा। वेदका धर्म केवल बातचीत अथवा चर्चा का धर्म नहीं है। यह व्यवहारमें आनेका धर्म है, वेद का संदेश व्यवहारमे लाना ही, अनुष्ठान करना है। यह किस तरह बनेगा वह इस अंक द्वारा बताया जायगा।

हम यह चाहते हैं कि शीघ्र युद्ध समाप्त हो जाय और पूर्ववत् पर्याप्त प्रमाणमें कागज मिलने लगे। ऐसा अवसर आनेपर हम सहस्र पृष्ठोंका विशेषाङ्क पाठकोंको अवश्य देंगे। इस समय तो कागजके अभावके कारण हमारे अन्यान्य ग्रंथ भी रुके पडे हैं। इस समय हमें अच्छा कागज मिलना ही बद हो गया है। यह सुविधा जिस समय होनेवाली होगी उस समय हो, पर आज सद्यः स्थितिमें चैत्र का अक ही वेदांक निकालेंगे। आगे जो होनेवाला होगा वह होगा।

जो ग्राहक इस अंक को मगाना चाहें वे १) एक रु. भेजकर मंगा सकते हैं। वैदिक धर्मके ग्राहकोंको तो यह मिलेगा ही, यह स्वतंत्र रूपसे भी संग्राह्य होगा और इसके लेख अपना स्थायी महत्त्व रखेंगे। आशा है, पाठक इससे लाभ उठायेंगे।

संपादक ' वैदिकधर्म "
स्वाध्याय मण्डल, औंध जि. सातारा

हम इन सांपोंको जानते थे ।

(लेखक- श्री० रमेश बेदी, हिमालय हर्बल इंस्टिट्यूट, बादामी-बाग लाहोर)

प्राचीन कालमें जंगलों और पहाडोंमें आचार्योंके आश्रम हुआ करते थे। वहां जाकर विद्यार्थी शास्त्रोंका अध्ययन करते थे। उन्हें प्रकृतिमें ही अनेक प्रकारके सांप दर्शन दे जाते थे। आचार्य लोग इन्हें प्रत्यक्ष कराके उनके सम्बन्ध में ज्ञातव्य बातें बता दिया करते थे।

आयुर्वेदमें जिस तरह वनस्पतियों और खनिजोंका विस्तारसे वर्णन है और प्रत्येक द्रव्यका परिचय, गुण, धर्म आदि इस तरहसे लिखे हैं कि उससे आजभी हम उस द्रव्यके बारेमें बहुत कुछ जान जाते हैं, ऐसा सांपोंके बारेमें नहीं मिलता। सुश्रुत आदिने सांपोंकी जातियोंका परिगणन तो किया है लेकिन उनके स्वरूप ज्ञानकी ओर ये हमें कोई संकेत नहीं देते। सांकेतिक वर्णनके अभावमें सुश्रुत, व्यास आदिकी लिखी सांपोंकी जातियोंको पहिचाननेके लिए हमारे पास कोई साधन नही है।

जिन परिस्थितियोंमें उस समय शास्त्रोंका अध्ययन होता था उन परिस्थितियोंमें भले ही इतना लिखना पर्याप्त हो परन्तु इस समय तो यह ज्ञान बिलकुल अधूरा ही कहा जा सकता है। सर्पविद्याको सीखनेकी बहुत अधिक आवश्यकता है इसलिये हमें इस ओर ध्यान देकर अपने ग्रन्थो के सर्पविद्या विषयक अध्यायोंका परिशोध करना चाहिए। आयुर्वेदकी किसी संस्थासे सम्बन्धित एक सर्पशाला होनी चाहिए जिसमें विविध जातियोंके सांप रखे जायँ और उन्हें प्राचीन ग्रन्थोंकी जातियोंसे मिलान करके उनका स्वरूप ज्ञान और उनकी आदतोंका ठीक—ठीक वर्णन व्यवस्थित तरीकेसे आयुर्वेदके प्रकाशमें किया जाय। हमारे ग्रन्थोंकी सर्पदंश चिकित्सा भी फलप्रद नहीं कही जाती। इसलिए प्रस्तावित सर्पशालामें हमे इस बातकी भी छानबीन करनी चाहिए। नवीन खोजे सर्पविषको नानाविध रोगोंमें उपयोगी घोषित कर रही हैं। हमारे ग्रन्थोंमें सर्पविषके गुण लिखे हैं उनकी उपयोगिता को दिखाते हुए हमें भी नयी खोजोंकी ओर बढना चाहिए।

आयुर्वेदके आचार्य इन जातियोंको जानते थे

सुश्रुतको कुल अट्ठासी× जातियां मालूम थीं। उसने इन्हें पाच भेदोंमें बाँटा है, दर्वीकर मण्डली; राजिमन्त, निर्विष, और वैकरन्ज।*

दर्वीकरोंकी जातियां

१ कृष्ण सर्प—काला नाग

२ महाकृष्ण सर्प—बहुत अधिक काला।

३ कृष्णोदर—काले पेटवाला।

४ श्वेत कपोत—सफेद कबूतरके रंगका।

५ महा कपोत—सफेद कपोतकी बडी किस्म।

६ बलाहक—वर्षा ऋतुमें बादलोंके समय भूमिपर घूमने वाला।

७ महा सर्प—बडा नाग, शेष नाग

८ शंख पाल—

९ लोहिताक्ष—लाल आंखवाला।

१० गवेधुक—गवेधुक नामकी घासमें रहने वाला।

× अशीतिस्त्वेव सर्पाणां भिद्यते पंचधा तु सा। दर्वीकरो मण्डलिनो राजिमन्तस्तथैव च ॥

*निर्विषा वैकरञ्जाश्च त्रिविधास्ते पुनः स्मृताः। दर्वीकरा मण्डलिनो राजिमन्तश्च पन्नगाः ॥

तेषु दर्वीकरा ज्ञेया विंशतिः षट् च पन्नगाः। द्वाविंशतिर्मण्डलिनो राजिमन्तस्तथा दश ॥

निर्विषा द्वादश ज्ञेया वैकरञ्जास्त्रयस्तथा। वैकरञ्जोद्भवः सप्त चित्रामण्डलिराजिलाः ॥

*तत्र दर्वीकराः कृष्णसर्पो, महा कृष्णः कृष्णोदरः श्वेतकपोतो महाकपोतो, बलाहको, महासर्प, शंखपालो लोहिताक्षो गवेधुकः परिसर्पः खण्डफणो ककुदः पद्मो महापद्मो दर्भपुष्पो दधिमुख पुण्डरीको भ्रुकुटीमुखो विष्करो पुष्पाभिकीर्णो गिरिसर्पः ऋजुसर्पः श्वेतोदरो महाशिरा अलगर्दो आशीविष इति। सुश्रुत कल्प. अ. ४;३३-३४ ' ॥

११ परिसर्प-कुण्डलियोंमें बैठनेवाला।
१२ खण्डफण-वह फनियर जिसके फनपर चिन्ह होता है। चिन्हसे मानों फन अलग-अलग खण्डोंमें विभक्त होगया हो।
१३ ककुद-पहाडकी चोटी (ककुद) पर रहने वाला।
१४ पद्म-जिसके फनपर कमल फूलका निशान हो। अथवा कमलके तालाबोंका निवास।
१५ महापद्म-बडा पद्म
१६ दर्भपुष्प—दाभके फूलोंमें रहनेवाला या दाभके फूलोंके रंगवाला।
१७ दधिमुख-दूध दहीका चटोरा
१८ पुण्डरीक-फणपर लाल कमलका चिन्ह हो या कमल के तालाबोंमें रहनेवाला।
१९ भ्रकुटीमुख-मुहपर जैसे सदा त्योरी चढी रहती है।
२० विष्कर- जमीनको कुरेदकर अथवा आहार ढूढने वाले मुर्गी आदि पक्षियोंको खानेवाला।
२१ पुष्पाभिकीर्ण-फूलोंसे घिरी हुई जगहपर रहनेवाला अथवा जिसका शरीर फूलोंसे चित्रित हो।
२२ गिरिसर्प-पहाडोंका निवासी।
२३ ऋजुसर्प-सरल स्वभाव-सीधासांप।
२४ श्वेतोदर-सफेद पेटवाला।
२५ महाशिर- बडे सिरवाला।
२६ अलगर्द-पागल कुत्ते (अलक्) की तरह काटने (अर्द) वाला। आपटेने इसे काला नाग लिखा है।
२७ आशीविष-तालुमें विष धारण करनेवाला।

तेरहवीं सदीके एक विष-वैद्य नारायण शर्माको× फनियरों-की यद्यपि२६जातियां मालूम थीं, लेकिन उसकी अधिक जा-तियां ऐसी हैं जो सुश्रुतके सांपोंमें नहीं आयीं। वे निम्न हैं।

२८ श्वेत-सफेद फनियर
२९ सर्वकृष्ण—जिस फनियरकी सारी चमडी काले रंग की है।
३० काकोदर--कौएकी तरह पेट वाला
३१ महाकर्ण
३२ कुलत्थक
३३ गिरिकर्ण
३४ वात-कर्ण
३५ चीर-कर्ण
३६ भृटीमुख
३७ कपोत-कबूतर पारावत (सं-७१) देखें।
३८ लोहित-लाल रंगका फनियर।
३९ वेपथु–प्रवेपन (सं. ३१९) से शायद कुछ साम्य हो।
४० महदर्दक
४१ कुण्डनाश
४२ महाहि--बडा फनियर।
४३ कुक्कुट— मुर्गे खानेवाला। आदतोंमें विष्किर (सं. २०) से कुछ सादृश्य जान पडता है।
४४ तृणशोषक—कौडिये सांपोंमें भी यह आया है (सं ९४ देखें)
४५ तिन्तिरि-सं २८३ देखें
४६ विचित्रकुसुम-रंग बिरंगे फूलोंमें रहनेवाला।
४७ अखण्ड—इसके फनके ऊपरका निशान खण्डित नहीं होता। पूरा होता है।

नारायण शर्माके निम्न फनियर सुश्रुतने गिना दिये हैं:- कृष्ण, शंखपाल; बलाहक, महापद्म; परिसर्प और दर्भपुष्प।

मण्डलियोंकी जातियां☙

४८ आदर्शमण्डल-रसल मण्डकी है जिसकी की पीठ पर

× कृष्णः श्वेतः शंखपालः सर्वकृष्णो बलाहकः। काकोदरो महाकर्णो महापद्म कुलत्थकौ॥
गिरिकर्णो वातकर्णश्चीरकर्णो भृटीमुखः। कपोतो लोहितश्चाथ वेपथुर्महदर्दकः॥
कुण्डिनाशो महाहिश्च कुक्कुटस्तृणशोषकः। तिन्तिरिः परिसर्पश्च विचित्रकुसुमस्तथा॥
अखण्डो दर्भपुष्पश्चेत्येते षड् विंशदीरिताः। विषवैद्यकम्। पटल२; ४१-४४

☙ मण्डलिनस्तु आदर्शमण्डलः श्वेतमण्डलो रक्तमण्डलश्चित्रमण्डलः पृषतो रोध्रपुष्पो मिलिंदको गोनस वृद्ध गोनसः पनसो महापनसो वेणु पत्रकः शिशुको मदन- पालिंदिरः पिंगलास्तन्तुकापुष्प- पाण्डुः षडंगोऽग्निको बभ्रु कषायः कलुषः पारावतो हस्ताभरणश्चित्रक एणीपद इति।

सु० क० अ० ४;३५।

आदर्श मण्डल (Typical patches) होते हैं।
४९ श्वेतमण्डल—जिसकी पीठपर गोल-गोल सफेद चकत्ते हों।
५० रक्त मण्डल-चकत्तोंका रंग लाल हो।
५१ चित्र मण्डल-रंग बिरंगे चकत्ते हों।
५२ पृषत बिन्दु हों।
५३ रोध्रपुष्प-लोधके फूलका रंग या आकृतिवाला।
५४ मिलिन्दक
५५ गोनस-गोरिव नासिका अस्य, जिसकी नासिका गौकी नाककी तरह है। अथवा भूमि (गो) के अन्दर छिद्रों (नासिका) में रहनेवाला।
५६ वृद्ध गोनस बडा गोनस।
५७ पनस-कांटेकी तरह तेज दान्तोंवाला। पनस कॉंटा।
५८ महा पनस-बडा पनस। अथवा जिसके विषदन्त बहुत बडे हों।
५९ वेणुपत्रक-बांसके पत्तेकी तरह चपटा।
६० शिशुक-शिशुक नामक वृक्षपर मिलनेवाला।
६१ मदन-वसन्त ऋतु (मदन) में निकलनेवाला।
६२ पालिंदिर
६३ पिंगल-भूरे रंगका।
६४ तन्तुका-पुष्प-सरसोंके फूलके रंगका।
६५ पाण्डु-मटमैले सफेद रगका।
६६ षडग
६७ अग्निक-जिसके काटनेसे पैत्तिक लक्षण प्रकट होते हैं।
६८ बभ्रु-मटियाला पीला।
६९ कषाय-पीले रंगका।
७० कलुष-पापी।
७१ पारावत-कबूतरके रंगका या कबूतर खानेवाला
७२ हस्ताभरण-शिवजीके हाथका आभूषण।
७३ चित्रक-चितकबरा।
७४ एणीपद-इतना छोटा कि हिरणी (एणी) के पैरोंके नीचे कुचला जाय। अथवा नदी (एणी) के पास मिलनेवाला।

मण्डलियोंकी ये सत्ताईस जातियां होती हैं। सुश्रुत ने पहले इनकी बाईस जातियां कहीं हैं। आदर्शमण्डली श्वेतमण्डली, रक्तमण्डल और चित्र मण्डलको एकही जाती की उपजातीयां (Sub-species) समझ लें तो इन चारके स्थान पर एकही संख्या गिनी जायगी। इसी तरह गोनस और वृद्धगोनसकी जगह एक और पनस तथा महा पनसकी जगह एक जाति गिननेसे बाईस जातियां ही बनती हैं।

नारायण शर्माने मण्डलियोंके जो सोलह भेद लिखे हैं[1] उनमेंसे श्वेत रक्त ये दो मण्डलीही सुश्रुतके मण्डलियोंमें आये हैं। निम्नलिखित जातियां सुश्रुत नहीं जानते थे।

७५ कुष्ठ मण्डली-जिसकी खालपर कोढ के-से चकत्ते हों
७६ कुटिल-टेढा
७७ महा मण्डली-मण्डालियोंमें सबसे बडा रसल मण्डली Russelles viper है। अध्याय पांच देखे।
७८ भ्रममण्डली-इस मण्डलीका भ्रम किसी दूसरी जातिके सांपसे हो सकता है।
७९ सूचि मण्डली-जिस मण्डलीके दान्त सुईकी तरह लम्बे और तेज हों।
८० तीक्ष्ण मण्डली-तेज दांतों वाला अथवा जिसका विष बहुत तीक्ष्ण है।
८१ कृष्ण मण्डली—काले रंगका मण्डली। अथवा जिसके मण्डलोंका रंग काला हो।
८२ पिशाच-दुष्ट
८३ हेम-सोनेके रंगका
८४ विसर्पग-रेंगने (सर्प) में विशेष (वि) कुशल।
८५ पीतनेत्र-इसकी आंखका रंग पीला होता है।
८६ रागमण्डली-रंग विरंग। अथवा जिसे संगीत (राग) से अनुरक्ति हो।
८७ कुम्भमण्डली-जिसका शरीर या पेट फूलकर घडे की तरह (कुम्भ) बन गया हो।

---

१ श्वेतश्च कुष्ठकुटिलौ महाश्च भ्रमसूचिनौ। तीक्ष्णकृष्णौ पिशाचश्च हेमश्चाथ विसर्पगः॥
पीतनेत्रौ रागकुम्भावसृक् शोफावितीरिताः। षोडशैतेः ....॥
विषवैद्यकम् प. ३; ३९।४०

८८ शोफ मण्डलि शोफ युक्त स्थानकी तरह जिसका शरीर फूला हुआ है। अथवा जिसके दंशमें शोफ विशेष रूपसे प्रगट होती है।

राजिमन्तोंकी जातियां ?

८९ पुण्डरीक-संख्या १८ देखें।

९० अंगुल राजि-अंगुलीकी मोटाईके बराबर चौडी रेखाएं जिसपर हों अथवा एक-एक अंगुलके फासले पर रेखाएं हों, परिचित कौडिया सांप हो सकता है।

९१ राजि चित्र-रेखाओंसे चित्रित धारी क्षर।

९२ बिन्दु राजि-रेखाएँ छोटे छोटे बिन्दुओंसे बनी हों। धारियोंके बीचमें बिन्दु हों।

९३ कर्दमक-दलदलवाले प्रदेशोंमें वा कीचडमें रहने वाला।

९४ तृणशोषक-प्रचलित विश्वासके अनुसार इतना जहरील कि अपने विषसे या फूत्कारसे घासको भी सुखा दे।

९५ सर्षपक—सरसों जैसी छोटी—छोटी बिन्दिओं वाला

९६ श्वेतहनु-सफेद ठोडी वाला।

९७ दर्भ पुष्पक-स० १६ देखें।

९८ चक्रक—जिसके शरीरपर चक्रकी तरह गोल निशान हो।

९९ गोधूमक-गोधूलि वेला (सायंकाल) में बाहर निकलनेवाला। अथवा गौओंके पैरोंसे बनी नरम धूल वाली सडकोंपर सायकाल लौटने वाला। ये आदते कौडियों में होती हैं

१०० किक्किपाद—चातक पक्षियों (किक्कि) को खाने (साद) वाला।

सुश्रुतने राजिमन्तोंकी दस जातियां लिखी हैं; परन्तु ये बारह होगई है। राजि चित्र, अंगुल राजि और बिन्दु राजिको एक ही जातिकी उप जातियां माननेसे ये दस हो जाती हैं।

नारायण शर्माने राजिल सांप तेरह×गिनाये हैं, उनमेंसे पुण्डरीक, कर्दम, तृणशोष, श्वेत हनु और चक्रकको सुश्रुत भी जानते थे। इसने जिन नये राजिल सांपोंका पता लगाया था उनके नाम ये हैं:-

१०१ अहिराज-सांपोंका राजा।

१०२ चित्रक- चितकबरा

१०३ सर्षप-मर्षपक (सं) का अपभ्रंश होसकता है। अथवा सांपोंको खाने (व पीने वाला। कौडियेमें यह आदत होती है

१०४ लोध्र पुष्प-सं. ३३ देखें।

१०५ कल

१०६ अक्षनाग

१०७ लोहिताक्ष-स ९ देखें।

१०८ कुन्तिसार

१०९ कृष्ण राज-काला सर्प राज।

केरल देशके एक लेखक (तेहरवी सदी) ने भी राजिल सांपोंकी तेरह जातियां लिखी हैं। उसकी लिखी; पुण्डरीक, चित्रक कर्दम, तृणशोष सर्षप लोध्र पुष्प, चक्रक, लोहिताक्ष और कुन्तिसार जातियां नारायण शर्माने गिनाई हैं। इसका अहि श्रेष्ठ नामक राजिल सांप नारायण शर्मा के अहिराजसे मिलता है निम्न जातियां पहले नहीं आयीं। :—

११० अलर्क या अलक।

१११ श्वतपिंछ या श्वेतपिंजा।

---

१ राजिमन्तस्तु पुण्डरीको राजीचित्रांगुलराजीबिन्दुराजिः कर्दमकस्तृणशोषकः सर्षपक. श्वेतहनुर्दर्भपुष्पकः चक्रको गोधूमकः किक्किसद् इति। सु० क० अ ४, ३६।

× त्रयोदशात्र राजिलाः ......। कथ्यन्ते संप्रदायेन देशिकेश हितेच्छया ॥
पुण्डरीको अहिराजश्च चित्रकः कर्दमस्तथा। तृणशोषः सर्षपश्च लोध्र पुष्पस्तथा कलः ॥
श्वेतहन्वाक्षनागश्च लोहिताक्षश्च चक्रक। कुन्तिसारः कृष्णराज इत्थं संज्ञास्त्रयोदश ॥
विषवैद्यकम, प. ४, २०-२२।

* पुण्डरीकाहिश्रेष्ठचित्रककरमर्दाहितृणशोषसर्षपाहि लोध्रपुष्पालक श्वेत पिंजा लोहिताक्ष चक्रक कुन्तिसार कृष्ण राजि राजिला इति राजिल भेदाः।

विजवैद्यकम १० ६।

१११ कृष्ण राजि-काले रेखाओंवाला।

चरक, सुश्रुत, वाग्भट्टने विषैले सांपोंके तीन समूहोंमें राजिमान सांप गिनाये हैं। दर्वीकर और मण्डली इन दो-समूहोंको हम क्रमशः फनवाले सांपों (Cobras) और वाइपरीडी वंशके सांपोंके रूपमें जानते हैं। चिकने रंग बिरंगे या अनेक प्रकारकी तिरछी अथवा सिधी रेखाओंसे चित्रित१ राजिमन्त सांप शायद कौडिये हैं। सुश्रुतने दर्वीकर और राजिमन्त दोनों प्रकारके सांपोंके विषके लिए एक सा लिखी हैं२ जिससे मालूम होता है कि इन दोनोंके विषका कार्य एक समान ही है। फनियर और कौडियेके विषका शरीरपर कार्य एक जैसा ही है। इस बातसे भी हमें पता चलता है कि राजिमन्त सांप कौडियेही होंगे। कालिदासका यह कथन ठीक नहीं प्रतीत होता कि बडे बडे सांपोंपर अपना जोर दिखानेवाले गरुड को क्या राजिल सांपोंपर भी जोर दिखानेको रह गये हैं ?३ इससे तो राजिमन्त निर्विष मालूम पडते हैं पर वास्तवमें ये विषैले सांप हैं।

निर्विष सांपोंकी जातियां×

११३ गलगोली—जिसमें विषकी ग्रन्थि (गोली) गल-गई है।

११४ शूक पत्र-जौके आवरण (शूक) आगेसे पतला और पीछसे मोटा।

११५ अजगर-वैज्ञानिकोंका अजगर (Python) गण।

११६ दिव्यक-चन्दन (दिव्य) पर रहनेवाला।

११७ वर्षाहिक-वर्षा कालमें निकलनेवाला।

११८ पुष्प शकली-जिसके शरीरके विविध भागों (शकल) पर फूल चित्रित हो।

११९ ज्योतिरथ-ध्रुव तारेके सदश।

१२० क्षीरिका पुष्पक-खीरनीके फूलके रंगका।

१२१ अहिपातक-सांपोंसे गिरे हुए अर्थात् अविकसित सांप। टारफ्लोपिडी वंशके सांप हो सकते हैं।

१२२ अन्धाहिक-भूमिमें गडने वाले छोटे अन्धे सांप।

१२३ गौराहिक-सफेद सांप।

१२४ वृक्षेशय-वृक्षों और वनस्पतियोंपर रहनेवाले सांप।

वृद्ध वाग्भट्टने निर्विषोंकी सोलह जातियां लिखी हैं; दिव्यक, अजगर, सर्प, पताक, वृक्षशायिक, शकली पुष्पक, क्षीरी, लासीनी, क्षारसाहिक, वर्षाहिक, ज्योतिरथ, शुकवक्त्र, बलाहक, गजभक्ष, प्लुव, उद्वाही॰ इनमेंसे ये जातियां सुश्रुतकी गणनामें नहीं आईं।

१२५ सर्प-सरकनेवाला

१२६ पताक-उछल-उछलकर चलनेवाला (उत्पतति) अथवा जो जमीनपर ही पडा रहे। सुस्त सांप।

१२७ लासीन-लिपट जानेवाला

१२८ क्षारसाहिक—ऊसर जमीन (क्षार) में पाया जानेवाला।

१२९ शुकवक्त्र-तोतेकी चोंचकी तरह जिसका मुख नोकीला हो।

---

१ (क) स्निग्धाविविध वर्णाभिस्तिर्यगूर्ध्वंच राजिभिः। चित्रिता इव ये यान्ति राजिमन्तस्तु ते स्मृताः ॥
(सुश्रुत. क० ; अ. ४; २३। और अ० सं०, उ. अ० ४१।)

ख–बिन्दु लेखा विचित्राङ्गः पन्नगः स्यात्तु राजिमान्। च० चि० अ० २३, १२४।

२ देखिये सु: क. अ. ५.; ७४।

३ किं महोरग विसर्प विक्रमो राजिलेषु गरुडः प्रवर्तते। रघु० सर्ग ११. श्लोक २७।

× निर्विषास्तु गलगोली शूक पत्रोऽजगरो दिव्यको वर्षाहिको पुष्प शकली ज्योतिरथ क्षीरिकापुष्पकोहिपातको गौराहिको वृक्षेशय इति। सु. क. अ. ४; ३६।

॰ दिव्यकोऽजगरः सर्पः पताको वृक्षशायिकः। शकली पुष्पकः क्षीरी लासीनी क्षारसाहिक ॥
वर्षाहिको ज्योतिरथः शुकवक्त्रो बलाहकः। गजभक्ष. प्लवोद्वाही निर्विषाः षोडशाहयः ॥
अ० स० ३. अ० ४१।

१३० बलाहक-सुश्रुतके विषैले दर्वीकरोंमें इस नामका एक सांप है सं ६ देखें।

१३१ गजमक्ष-हाथीको खा जानेवाला।

१३२ प्लव-तैरनेवाला। जलीय सांप हो सकता है।

१३३ उद्वाही-पूंछको जमीनपर टेक कर जो अधिक ऊपर उठसके।

वृक्षशायिक, शकली पुष्पक, और क्षीरी सांप सुश्रुतके वृक्षेशय पुष्पशकली और क्षीरिका पुष्पकसे क्रमशः मिलते हैं। इसलिए इनकी अलग गणना यहां नहीं की गई।

वैकरञ्जोंकी जातियां ×

१३४ माकुलिः- फनियर और मण्डलीके संयोगसे उत्पन्न।

१३५ पोटगल— कौडिये और मण्डलीके संयोगसे उत्पन्न।

१३६ स्निग्धराजि- चिकनी धारियोंवाला। फनियर और कौडियेके संयोगसे उत्पन्न।

१३७ दिव्येलक- इलायची (एलक) के फलकी तरह जिस का मुख हो। ऐसा श्रेष्ठ (दिव्य) या निर्विष सांप

१३८ रोध्र पुष्पक- सं ३३ देखें।

१३९ राजि चित्रक- चितकबरी धारियोंवाला।

१४० पोटगल- नडों और सरकण्डों (पोटगल) के झुण्डों में रहनेवाला।

१४१ पुष्पाभिकीर्ण- सं. २१ देखें।

१४२ दर्भ पुष्प फनियर सापोंमें भी इस नामका सांप है।

१४३ वेल्लितक- घूमनेवाला सांप

दोगलों की (२१) इक्कीस जातियां नारायण शर्माने लिखी हैं।

..... मिश्राणामेक विंशतिः ॥ २१ ॥

नि. वै० ४ पटल १: २१ ॥

वेदोंमें ऋग् यजु. और सामकी अपेक्षा अथर्ववेदमें सांपोके विषयमें ज्ञान मिलता है। सांपोंकी जो जातियां वेदोंमें हैं उनमेंसे अनेक अपेक्षाकृत नये लिखे गये संस्कृत ग्रन्थोंमें नहीं उपलब्ध होतीं। इससे विपरीत संस्कृत ग्रन्थोंमें वर्णित सांपोंके अनेक नाम वेदोंमें दिखाई नहीं देते। निम्नलिखित जातियोंके नाम वैदिक साहित्यमें आये हैं—

१५५ अंग्य (ऋ. १.१९१.७) अंगोपर लिपट जानेवाला।

१५६ अंस्य (ऋ.१.१८१.७) कन्धे या बाहुपर लिपटनेवाला।

१५७ अघाश्व (अ. १०,४,१०) अघ पाप, अशूङ् व्याप्तौ। जो जीव पापसे व्याप्त हैं। पापही पाप करता है। अथवा घोडे (अश्व) को मारनेवाला (आ हन्ती-ति अघ.)।

अजगर (अ. ११-२. २५. २०,१२९,१७)- बकरे (अज) को निगल (गद्‌गल) लेनेसे इस सांपका नाम अजगर पडा। अजां गिरति।

१५८ अदष्टञ्ह (ऋ. १.१९१ ४)

१५९ अपोदक- (अ. ५, १३, ६) जलके बाहिर रहने वाला भूसर्प

१६० अपोक (अ. ५.१३.६) घरेलू सांप। अथवा घरों (ओक्) में न (अप) रहनेवाला।

१६१ अरस (अ. ५.१३ ६)- हलका विषैला सांप।

१६२ अलीक (अ. ५ १३.५)- छोटा सांप। अथवा झूठा सांप (Pseudo snake)। क्रमिक विकास में जो अभी पूर्ण रूपसे सांप नहीं बन पाया है।

१६३ असिक्नि (अ ५. १३ ७)-काली सर्पिणी।

१६४ असित (अ. ३ २७ १ अ. ५. १३ ५). जो सफेद (सित) नहीं है। अर्थात् काला सांप है।

१६५ अहि (ऋ. ६.१०७.७, अ. १०.४.९) घातक सांप। आ हन्ति इति।

१६६ आलिगी (अ. ५ १३.७)- इकट्ठा रहनेका जिसका स्वभाव है। मण्डली सांपोंके अन्तर्गत है।

आशीविष (ए. ब्रा. ६ १)- जिसके मुखके अन्दर विष रहता है। सुश्रुतने इसे फनियर सांपोंमें गिनाया है, (सं. २७ देखें)

× वैकरञ्जास्तु त्रयाणां दर्वीकरादिनां व्यतिकरजाताः। तद्यथा माकुलिः, पोटगलः स्निग्ध राजिरिति। तत्र कृष्ण सर्पेण गोनस्यां वैपरीत्येन वा जातो माकुलिः (राजिलेन गोनस्यां वैपरीत्येन वा जातः पोटगलः कृष्ण सर्पेण राजिमत्यां वैपरीत्येन वा जात स्निग्ध राजिरिति। तेषामाद्यस्य पितृवद्विषोत्कर्षो द्वयो मातृवदित्येके।

त्रयाणां वैकरञ्जानां पुनर्दिव्येलकरोध्रपुष्पकराजिचित्रकाः पोटगलः पुष्पाभिकीर्णो दर्भपुष्पो वेल्लितकः सप्त तेषामा-द्यास्त्रयः राजिलवत् शेषा मण्डलिवत् एवमेतेषां सर्पाणामशीतिरिति ॥ (सु० क० अ० ४। ३८।४१)

१६७ उपतृण्य- (अ. ५.१३.५) घासमें रहनेवाला तृण सर्प (grass snake)

१६८ उरुगूळा- (अ. ५.१३.८) बहुत (उरु) क्रियाशील (गुरी उंधमने)। मण्डली वंशके अन्तर्गत है

१६९ कंकत (ऋ. १.१९१.१)- कंघी जैसे बड़े और पैने जिसके दांत हैं

१७० कंक पर्व (अ ७ ५६.१)

१७१ कनिक्रत (अ १० ४.१३) संख्या १६ से मिलता है

१७२ कर्णा (अ.५.१३.९) वह सांप जिसमें श्रवण शक्ति उन्नत हो गई है अथवा शायद पहले कोई कानवाली जाती रही हो।

१७३ करिक्रत (अ. १०.४.१३)- क्री-क्री करनेवाला ब्यासके कर्कर सांपसे मिलता है। सं. २२८ से मिलता है

१७४ कल्माषग्रीव (अ)- गरदन हरी (कल्मष) हो

१७५ कसर्णील (अ. १०.४.५) कासमें रहनेवाला नीला सांप

१७६ कुषराय (ऋ. १ १९१.३) छोटे (कु) सरकण्डों (शर) में छिपनेवाला।

१७७ कैरात (अ. ५ १३ ५)- कौडिया सांप होगा जिसे भारतमें बहुत सी जगहोंपर कैरत कहा जाता है।

१७८ जूर्णी (अ. २ २४ ५)- बूढी सांपनी। बहुत देरतक कोई जीनेवाली जाति है।

१७९ तिरश्चिराजि (अ. १०.४ १३) तिरछी रेखाओं वाला, आयुर्वैदिक लेखकोंका राजिमान हो सकता है

१८० तिरश्चीनराजी (मै. सं २ १३ २१.) संख्या १७९ देखें।

१८१ तैमात (अ ५.१३.६।५.१८ ४) जल (तिमता। तिमु आर्द्री भावे) में रहनेवाला।

१८२ दर्भास- (ऋ. १.१९१.३) दर्भ (दाभ घास) में रहनेवाला।

१८३ दर्वि (अ. १०.१.१३) फनियर। आयुर्वैदिक लेखकोंका दर्वीकर होगा।

१८४ दर्वी (अ. १०.४.१३) संख्या १८३ देखें।

१८५ दशोनसी (अ. १०.४.१७) दंशसे नाश करनेवाला सम्भवतः यह शब्द शेष नाग के लिए प्रयुक्त हुआ है जिसके दंशसे मृत्यु बहुत शीघ्र होती है।

१८९ नाग (शत ब्रा. ११.२.७ १२) फनियर।

१९० नीचीन (अ. ७५ ६ ५) जो गरदनको उपर न उठा सकता हो। नीचे रखता हो।

१९१ प्रकंकत (ऋ. १ १९१ ७) फूर्सा (Achis carinata) के शल्कोंकी तुलना आरेके दांतोंसे (अंग्रेजी नाम Saw sealed viper) की जाती है। सम्भवतः यह फूर्सा है।

१९२ पृदाकु (अ. १०४.५) आखु पृन, चूहे खानेवाला सांप। धींवा (Ptyas गण का सांप या अजगर हो सकता है।

१९३ पृश्‍न (अ ५.१३ ५) चितकबरा सांप।

१९४ पिपील (ऋ. १०.१६.६) पीले रंगका।

१९५ बभ्रु (अ. ५.१३.५) सं ४८ देखें।

बभ्रु (अ. ५ १३ ६) भूरे रंगवाला सांप। सं ४८।

१९६ महानाग (शत. ब्रा. ११.२७ १२) शेषनाग हो सकता है।

१९७ मौञ्ज (ऋ. १.१९१ ३) मूंज घास या मूंज पर्वतमें रहनेवाला।

१९८ रथर्वी (अ. १० ४.५) थर्वतिः गतिकर्मा, चंचल सांप। अथवा रथके पीछे भागकर चोट करनेवाला। अध्याय ४ में फोर्ड कारका पीछा करके हमला करनेका एक उदाहरण शेषनाग सांपका दिया है। इसलिए यह शेषनाग या घोडा पिछाड (धामन) सांप हो सकता है।

१९९ लोहिताही (तै. सं ५ ५.१४ १; मै. स. ३ १४ १२ वा सं. २४ ३१) लाल सांप जिसके काटनेसे शरीरके सब रास्तोंसे खून निकलने लगता है। मण्डली सांपोंके विष लक्षण देखिए।

२०० वाहस (तै. सं. ५ ५ १३ १, मै स ३ १४.१५, वा सं. २४.३४) वाह स्यति, गति को रोकनेवाला। खानेसे पहले शिकारको मार कर उनकी गतियोंको बन्द कर देता है।

२०१ विक्रिणी (अ. ५.१३.७) जिसका अलग रहनेका स्वभाव है। मण्डली वंशके अन्तर्गत है।

२०२ विद्युत (अ. ५.५.६.२) कुटिल सांप।

२०३ बैरिण (ऋ १.१९१-३ कछारमें रहनेवाला।
२०४ शराय (ऋ. १.१९१.३) सरकण्डों (शर) के झाडोंका निवासी।
२०५ शर्कोट (अ. ७.५८५) सरकण्डों (शर) में जिसने घर (कोट) बनाया है।
२०६ श्वित्र (अ. १०.४.५१३ तै. सं. ५.५.१०.२) सफेद सांप (या जिसके शरीर पर श्वित्र कुष्ठकी तरह सफेद धब्बे हों।
२०७ सतीन कंकत (ऋ. १.१९१.१) जल (सतीन) में रहनेवाला ककत। सर्प (ऋ. १०.६.६) वाग्भट्ट (सं. ७९) में इसे निर्विष सांपोंमें गिनाया है।
२०८ साम्रासह (अ. २०.११८) युग्म सर्प। द्विशिरी सांप शीर्षकमें देखे।
२०९ सूचीक (ऋ. १.१९१७) मुंह पतला और नोकदार सा हो।
२१० शरभ (अ. ९२४.१) सोये हुए (शेर)-पर हमला (रभ आरम्भ) कर देनेवाला।
२११ शेरभक (अ ९.२४१) सं. २१० देखें।
२१२ शेवृध (अ. ९२४.१)
२१३ शेवृधक (अ. २.२४.१)
२१४ सैर्य (ऋ. १ १९१ ३) जो हल (सीर) चले खेतों में कीडे खाने पहुंच जाता है।
२१५ स्वज (अ. ७३५८, १०४१०) स्वयं जायते। अण्डेको फोडकर स्वयं बाहिर निकल आता है।

सांपोंकी सबसे अधिक जातियां मालूम थीं

महाभारतके आदि पर्वमें आस्तिक पर्व है। उसके पैंतीसवें अध्यायमें सांपोंकी निम्न लिखित जातियोंके नाम आये हैं *

२१६ शेष- शेषनाग
२१७ वासुकी- वसुकस्यापत्यम्, वसुकका पुत्र समुद्रीय सांप
२१८ ऐरावत- इरावती नदीके आसपास मिलनेवाला।
२१९ तक्षक
२२० कर्कोटक- इसका नाम दृष्टि विष भी है, जिसे देखनेसे ही व्यक्तिपर विषका असर होने लगता है।
२२१ धनंजय- धन जीतनेवाला। फनियरके लिये प्रसिद्ध है कि वह गाडे हुए धनकी रक्षा करता है।
२२२ कालीय- ताजे पानीका सांप। कृष्णने जिस कालिया का हनन किया था कलेण्डरोंमें उसके अनेक फन दिखाये जाते हैं इससे यह फणधर सांपोंमें मालूम होता है।
२२३ मणिनाग- जिसके मस्तकमें मणि हो।
२२४ आपूरण- भरे हुए बदन वाला। सरक मण्डलीका शरीर ऐसाही होता है।
२२५ पिंजरक- आपूरणसे विपरीत। चरबी और मांस जिसपर कम है। ऐसा पतला सांप, जैसे ढांचा ही नजर आता हो।
२२६ एलापत्रक- फनियर सांपोंमें फन एलायचीके पत्तेकी तरह फैलकर खडा हो जाता है।
२२७ वामन- वमन स्वभाव। कुछ डरपोक सांप, खिलाये गये पदार्थको वमन कर देते हैं। अथवा छोटा सांप
२२८ नील- काला सांप। सांपोंकी अनेक जातियोंका रंग काला हो सकता है। असित (सं. १०७) से मिलता है।
२२९ अनील- सफेद रंगके अनेक प्रकारके सांप हो सकते है। श्वित्र (सं. १४६) से मिलता है।
२३० कल्माष- हरा सांप
२३१ शबला- चितकबरा सांप
२३२ आर्यक-
२३३ उग्रक- उग्र स्वभाव। शेष नाग, धामन आदि कोई सांप तेज मिजाज होते हैं।

---

*बहुत्वान्नामधेयानि पन्नगानां तपोधन। न कीर्तयिष्ये सर्वेषां प्राधान्येन तु मे शृणु॥
शेषः प्रथमतो जातो वासुकिस्तदनन्तरम्। ऐरावतस्तक्षकश्च कर्कोटक धनंजयौ॥
कालियो मणिनागश्च नागश्च पूरणस्तथा। नागस्था पिंजरकएलापत्रोऽथ वामनः॥
नीला नीलौ तथा नागौ कल्माष शबलौतथा। आर्यकश्चोग्रकश्च नाग कलश पोतकः॥
सुमनाख्यो दधिमुखस्तथा विमल पिण्डकः। आप्तः कोटरकश्चैव शङ्खो वालिशिखस्तथा॥

२३४ कलशपोतक-जो घडो या नौका आदि पानीके आश्रयोंमें रहना पसन्द करें।

२३५ सुमन-- मनको सुन्दर लगनेवाला अथवा फूलों का वासी। दधिमुख- सुश्रुत के फणधर सांपोंमें आ गया है (सं. १७)

२३६ विमलपिण्डक- सफेद या साफ सुथरा शरीर जिस का है।

२३७ आप्त- जलका वासी।

२३८ कोटरक- जिसका घर वृक्षकी खोहमें है।

२३९ शंख- शरीर पर शंखके समान निशान हों।

२४० वालिशिख- चोटीके बालकी तरह पतला और लंबा

२४१ *निष्ठानक-- जिसका एक जगह स्थिर रहनेका स्वभाव है।

२४२ हेमगुह- हेमः गुहः यस्य। सोनेके खजानेपर रहने वाला। अथवा जो सरदियों (हिम) में गुहाके अन्दर चला जाय।

२४३ नहुष- मनुष्योंके संपर्कमें अर्थात् नगरोंमें पाया जानेवाला। पिंगल- सुश्रुत के मण्डली सांपोंमें (सं. ४३) में आ गया है।

२४४ बाह्य कर्ण- जिस जीवके कान शरीरको छोडकर बाहिर निकल गये हैं। अथवा पहले शायद कोई ऐसी जाति रही हो जिसके कान बाहिर नजर आये

२४५ हस्तिपद- हाथीको मारनेके लिये शेषनाग उसके पैरके नाखूनके नीचे कोमल भाग पर डसता है। या हाथीके पैरके नीचे रौंधा जानेवाला सांप।

२४६ मुद्गर पिण्डक- मुद्गरकी तरह जिसका मोटा शरीर है

२४७ कंबल- जल (कं) जिसका बल है। शत्रुसे डरकर जो पानीमें छिप जाय।

२४८ अश्वतर- घोडेसे अधिक वेगवान, घोडा पछाड।

२४९ कालीयक- सं २२२ देखें।
पद्म- सुश्रतके फणी सांपोंमें (सं. १४) आ गया है।

२५० वृत्त-- घेरा बनाकर कुण्डलीमें बैठना जिसका स्वभाव है।

२५१ संवर्तक- जो अच्छी तरह कुण्डलियां मार ले।

२५२ शंखमुख- शंखके मुखकी तरह जिसका मुख है।

२५३ कूष्माण्डक- पेठेकी बेलीका निवासी या पेठेके रंगका।

२५४ क्षेमक- नाश (क्षेमा करनेवाला।

२५५ पिण्डारक।

२५६ करवीर- कनेरके आसपास मिलनेवाला।

२५७ पुष्पदंष्ट्र- जो फूलोंमेंसे काटता है।

२५८ बिल्वक- बिलमें रहनेवाला या बिल वृक्षका निवासी

२५९ बिल्वमण्डर- बिलकी मिट्टीमें जिसका घर है।

२६० मूषकाद- चूहे खानेवाला (पृदाकू सं. १९१) से मिलता है।

२६१ शंखशिरा— जिसके सिरपर शंख का निशान हो।

२६२ पूर्ण भद्र— बिलकुल भला मानस।

२६३ हरिद्रक- हल्दीके रंगका पीला सांप।

२६४ अपराजित- विना धारियोंवाला।

२६५ ज्योतिक– जिसके शरीरका कोई भाग चमकता हो।

---

*निष्ठानको हेमगुहो नहुषः पिङ्गलस्तथा। बाह्यकर्णो हस्तिपदस्तथा मुद्गर पिण्डकः॥
कंबलाश्वतरौ चापि नाग. कालीयकस्तथा। वृत्त संवर्तकौ नागौ द्वौ च पद्माविति श्रुतौ॥
नागः शंख मुखश्चैव तथा कूष्माण्डकोऽपरः। क्षेमकश्च तथा नागो नाग पिण्डारक स्तथा॥
करवीरः पुष्प दंष्ट्रो बिल्वको बिल्व पाण्डुरः। मूषकादः शंखशिराः पूर्ण भद्रो हरिद्रकः॥
अपराजितो ज्योतिकश्च पन्नग. श्रीवहस्तथा। कौरव्यो धृतराष्ट्रश्च शंखपिण्डश्च वीर्यवान्॥
विरजाश्च सुबाहुश्च शालि पिण्डश्च वीर्यवान्। हस्तिपिण्ड: पिठरकः सुमुखः कौणपाशनः॥
कुठरः कुञ्जरश्चैव तथा नागः प्रभाकरः। कुमुदः कुमुदाक्षश्च तित्तिरिर्हलिकस्तथा॥
कर्दमश्च महानागो नागश्च बहुमूलकः। कर्कराकर्करौ नागौ कुण्डोदर महोदरौ॥
एते प्राधान्यतो नागाः कीर्तिता द्विजसत्तम। म. भा. आदिपर्वे आस्तिकपर्वे अ. ३५,४-१७)

अथवा दीपकी ज्योतिमें रहनेवाले कीडों और मेंढकों को खानेवाला।

२६६ पन्नग- पादाभ्यां न गच्छति, पैरोंके बगैर चलनेवाला

२६७ श्रीवह- सुन्दर सांप।

२६८ कौरव्य- कुरु प्रदेश (देहली, अम्बाला) का निवासी।

२६९ धृतराष्ट्र

२७० शंखपिण्ड- पीठपर शंखके निशान हों।

२७१ विरजा- बगैर धारियोंवाला।

२७२ सुबाहु- जिसकी भुजाएं या टांगोंके अवशेष स्पष्ट नजर आते हैं। जैसे अजगर और बोआ सांपोंमें

२७३ शालिपिण्ड- पीठपर शालि धान्यों जैसे छोटे छोटे निशान हों।

२७४ हस्तिपिण्ड- हाथीकी चमडीकी तरह जिसकी खाल कडी है।

२७५ पिठरक- जो रसोई घरोंके आस पास रहता है।

२७६ सुमुख- जिसका मुख सुन्दर है।

२७७ कौणपाशन- प्राणियोंके शरीर (कौणप) को खाने (अशन) वाला।

२७८ कुठर- कुल्हाडे (कुठार) के फलककी तरह चपटी पूंछवाले समुद्रीय सांप।

२७९ कुञ्जर- हाथीको कहते हैं।

२८० प्रभाकर—चमकीला सांप।

२८१ कुमुद— जो कमलिनियोंमें मिलता है।

२८२ कुमुदाक्ष- कमलनीके सदृश आंखोंवाला।

२८३ तित्तिरि— जो सांप तीतरका शिकार बन जाय। अथवा टिटीरि पक्षीसे शायद इसका कोई सादृश्य या सम्बन्ध हो।

२८४ हलिक... सैर्य (सं. २१४) से मिलता है। महा नाग— बडा सांप। अजगर या शेष नाग हो सकता है (सं. १९६ देखें।)

२८५ कर्दम— कीचड (कर्दम) वाले दलदली स्थानों में मिलनेवाला।

२८६ बहुमूलक– जडोंमें छिपकर रहनेवाला

२८७ कर्कर– कर-कर ध्वनि करनेवाला, रैटल स्नेक (Rattle snake) होगा।

२८८ अकर्कर– जो करः कर न करता हो।

२८९ कुण्डोदर— हौज (कुण्ड) के समान आयतनके पेटवाला। अथवा पेटका जल कुण्डमें डालकर बैठनेवाला।

२९० महोदर– बडे पेटवाला अजगर।

सौति सांपोंकी हजारों जातियोंको जानता था। इस प्रकरण में उसने मुख्य सांप ही गिनाये हैं×।

जनमेजयके नागयज्ञमें भूमण्डलके प्राय. सब सांपोंकी आहुति देदी गयी थी। सर्प सत्रमें भस्म किये गये सांपों की संख्या निसन्देह बहुत अधिक होनी चाहिए। उनमेंसे कुछ नाम सौतिको याद थे। * उन्हें उसने पांच वंशों और नब्बे जातियोंमें रखा है। वासुकिकी पन्द्रह जातियां तक्षककी अठारह जातियां, ऐरावतकी दस जातियां, कौरव्य

× बहुत्वान्नामधेयानामितरे नानुकीर्तिताः। एतेषां प्रसवो यश्च प्रसवस्य च संततिः ॥
असंख्येयेमेति मत्वा तान्न ब्रवीमि तपोधन। बहूनीह सहस्राणि प्रयुक्तान्यर्बुदानि च ॥
अशक्यान्येव संख्यातुं पन्नगानां तपोधन ॥ म. भा. आ० प.; अ. ३५,१७.१९

* यथा स्मृति तु नामानि पन्नगानां निबोध मे। उच्यमानानि मुख्यानां हुतानां जातवेदसि ॥
वासुकिकुलजातांस्तु प्राधान्येन निबोध मे। नील रक्तान्सितान्घोरान्महाकायान्विषोल्बणान् ।
अवशान्मातृवाग्दण्डपीडिता न्कृपणान्हुतान्। कोटिशो मानसः पूर्णः शल पालो हलीयकः।
पिच्छलो कौणपश्चक्रः काल वेगः प्रकालनः। हिरण्यबाहु शरण. कक्षकः कालदन्तक. ॥
एते वासुकिजाः नागाः प्रविष्टा हव्य वाहने। अन्ये च बहवो विप्र तथा वै कुल सम्भवाः ॥
प्रदीप्ताग्नौ हुताः सर्वे घोररूपा महाबलाः। तक्षकस्य कुले जातान्प्रवक्ष्यामि निबोध तान् ॥
पुच्छाण्डको मण्डलकः पिण्ड सेक्ता रमेणकः। उच्छिखः शरभो भृङ्गो बिल्वतेजा विरोहणः ॥
शिली शतकरो मूकः सुकुमार; प्रवेपनः। मुद्गरः शिशुरोमा च सुरोमा च महाहनु. ॥
एते तक्षकजाः नागाः प्रविष्टा हव्यवाहनम् ॥

की दस जातियां और धृतराष्ट्रकी सैंतीस जातियां । इनके नाम ये हैं :—

वासुकी वंशके सांप

२९१ कोटिश- पुराने किलों (कोट) में सोनेवाला । या देर (कोटि) तक सोनेवाला ।

२९२ मानस- धैर्यवान् । अथवा मानस सरोवरका सांप ?

२९३ पूर्ण- भरे हुए बदन वाला (सं २२४) अथवा क्रमिक विकासमें जो पूर्णता प्राप्त हो गया है, अलीक (सं १६२) से विपरीत ।

२९४ शल- हिंस्र प्रकृतिवाला ।

२९५ पाल- अण्डे, बच्चोंको पालनेवाला ।

२९६ हलीमक- हल चली हुई (हली) भूमिमें गति (मक) करनेवाला । खेतोंका निवासी

२९७ पिच्छल- लसीला विष उगलनेवाला या दलदली (पिच्छला) भूमिका सांप । अथवा मार्गपर जाते हुए को रोकने (पिच्छ) वाला।

२९८ कौणप- सं. २७७ देखें ।

२९९ चक्र- फुर्ता सांप होगा जो चक्रमें चलता है ।

३०० कालवेग— जिसके विषका वेग ठहर-ठहर कर आता है ; या जिसके विषका वेग एकदम मौत (काल) ला दे । अथवा समय (काल) की तरह वेगवान् अत्यन्त फुर्तीला सांप ।

३०१ प्रकालन- जल्दी मौत (काल) लानेवाला, यमरूप

३०२ हिरण्यबाहु- जिसके पार्श्व (बाहु) चमकीले (हिरण्य) हों ।

३०३ शरण- घरके अन्दर रहनेवाला ।

३०४ कक्षक— सूखे वनमें रहनेवाला

३०५ काल दन्तक— जिसके दाँत साक्षात् यम (काल) रूप हैं । या जिसकी दाढका रंग काला है ।

तक्षक वंशके सांप

३०६ पुच्छाण्डक— पूँछसे अण्डे देनेवाला ।

३०७ मण्डलक— मण्डलोंवाला छोटा (क) सांप ।

३०८ पिण्ड सेक्ता— शरीर (पिण्ड) से अण्डोंको सेने का गुण जिसमें विशेष है । अण्डे सेते हुए अजगरके शरीरका तापमान ऊंचा चला जाता है ।

३०९ रभेणक- हिरण (एणक) जैसा वेगवान् (रभस वेग या हिरणोंको पकडनेवाला ।

३१० उच्छिख- सिर (शिखा) को ऊंचा उठा सकता हो । जैसे फनवाले सांप ।

३११ शरभ- शल (सं. २९४) की तरह प्रतीत होता है। शल (शर) इव भाति ।

३१२ भृङ्ग- जिसमें टेढापन अधिक है। अथवा जो टूट जानेपर भी (भृङ्ग) देर तक जीवित रहता है ।

३१३ बिल्व तेजा- जिसका तेज बिल्व वृक्षमें है । कांटेदार होनेसे उसमें जो अपनेको सुरक्षित समझता है ।

३१४ विरोहण- वृक्षोंपर चढ जानेवाला ।

३१५ शिली- पहाडोंपर रहनेवाला ।

३१६ शलकर— छिलकों (शलक) वाला, जिसमें छिलके अधिक विशिष्ट है ।

३१७ मूक- गूंगा जो फूत्कार न करे।

३१८ सुकुमार— नाजुक सांप ।

३१९ प्रवेपन- जिसके विषसे कपकंपी हो ।

३२० मुद्गर- मुद्गर पिण्डक (सं. २४६) की उपजाति हो सकती है ।

३२१ शिशुरोमा— छिलके इतने छोटे हों कि छोटे छोटे रोमों (रोम) या रोम कूपकी तरह नजर आते हों

३२२ सुरोमा— जिसके सूक्ष्म छिलके सुन्दर लगते हों ।

३२३ महाहनु— बडी ठोडीवाला ।

ऐरावत वंशके सांप

पारावत ×- सुश्रुतके मण्डली सांपोंमें (सं. ५१) आया है ।

३२४ पारिपत्र— विन्ध्य पर्वतके एक भागको कहते हैं

× पारावतः पारिपात्रः पाण्डरो हरिणः कृशः । विहङ्ग शरभो मोद प्रमोदः संहतापनः ॥
ऐरावत कुलादेते प्रविष्टा हव्य वाहनम् । कौरव्य कुलजातानाग्न्श्रृणु मे त्वं द्विजोत्तम ॥
एरका कुण्डलको वेणी वेणीस्कन्धः कुमारकः । बाहुक शृंगवेरश्च धूर्तकः प्रातरातकौ ॥
कौरव्य कुल जातास्त्वेते प्रविष्टा हव्यवाहनम् । धृतराष्ट्र कुलेजातान्श्रृणु नागान्यथातथा ॥

३१५ पाण्डर- कुन्द फूल (पाण्डर) से जिसका कुछ सम्बन्ध या सादृश्य है।

३१६ हरिण- हरा सांप।

३१७ कृश- पतले सिकुडे शरीरवाला। आपूरण (सं. २२४) और पूर्ण (सं २९३) से विपरीत।

३१८ विहङ्ग- पक्षियोंको खानेवाला या पक्षियोंकी तरह उडनेवाला।

३१९ शरभ- (स. ३११ देखें।

३३० मोद — मस्त रहनेवाला।

३३१ प्रमोद-खूब मस्त।

३३२ संहतापन- चोट (संहन) लगाकर (डस कर) ताप चढा देनेवाला।

कौरव्य वंशके सांप

३३३ एरक- एरका घासमें रहनेवाला।

३३४ कुण्डलक-शरीरको कुण्डलोंमें लपेट लेनेवाला।

३३५ वेणी- बाजेपर नाचनेवाला। बेन् वादित्र बादते। अथवा स्त्रीकी गुत (वेणी) की तरह लम्बा और काला।

३३६ वेणी स्कन्ध-कन्धेपर रख दिया जाये तो बिलकुल गुत ही मालूम देता है। अथवा जिस सांपके पार्श्वों (स्कन्ध) गुथी हुई गुत (वेणी) जैसी लकीरें हों।

३३७ कुमारक- खेलनेवाला (कुमार-क्रीडायाम्) अथवा वह सांप जिसमें काम वासना अधिक हो।

३३८ बाहुक- भुजा (बाहु) के आधारवाला। या भुजा पर लिपट जानेवाला।

३३९ श्रृंगवेर- जिसमें सींगकी तरह कोई रचना हो। श्रृंगम इव वेश्म अवयवं यस्य। श्रृंग मण्डली (Horned viper) हो सकता है।

३४० धूर्तक- धूर्त स्वभाव-खोटा सांप।

३४१ प्रातर—जिसमें तैरने की सामर्थ्य अधिक है।

३४२ आतक—आतंक का अपभ्रंश? जिसे देखनेसे भय पैदा हो अथवा जीवनको दुःखदायी (तकि कृच्छ्रं जीवने) बना देनेवाला।

३४३ शङ्कुकर्ण-शङ्कु (खूंटे) की तरह जिसके कान हैं। श्रृंग मण्डलीमें (सं. ३३९) सींगही, जैसे खूंटे या कानकी तरह नजर आते हों। पिठरक—(सं. २६५) देखें।

३४४ कुठार-सं. २७८ देखे।

३४५ मुखसेचक—मुखके विषसे घावको सींचनेवाला।

३३६ पूर्णाङ्गद—शिवके बाहुका बडा (पूर्ण) आभूषण (अङ्गद)।

३४७ पूर्णमुख-जिसका मुख खूब बडा हो।

३४८ प्रहास कपोल भाग ऐसे उभरे हुए हो जैसे कि वह हँस रहा हो।

३४९ शकुनि-पक्षी (शकुनी) की तरह उडनेवाला।

३५० दरि-दर्विका वा निकलकर दरि तो नहीं रहगया?

कीर्त्यमानान्यथा ब्रह्मन्वातवेगान्विषोल्बणान्। शङ्कुकर्णः पिठरकः कुठार मुखसेचकौ॥
पूर्णांगदः पूर्ण मुखः प्रहासः शकुनिः दरिः। अमाहठः कामठक सुषेणो मानसोऽव्ययः॥
अष्टावक्रः कोमलकः श्वसनो मौनवेपगः। भैरवो मुण्डवेदाङ्गः पिशंगश्चोद्पारकः॥
ऋषभो वेगवान्नागः पिण्डारक महाहनू। रक्ताङ्गः सर्वसारङ्ग : समृद्धपुटवासकौ॥
वराहको वीरणकः सुचित्रश्चित्रवेगिक. । पराशरस्तरुणको मणिस्कन्धस्तथाऽरुणिः॥
इति नागा यथा ब्रह्मन् कीर्त्तिताः कीर्ति वर्धनाः। प्रधान्येन बहुत्वा न सर्वे परिकीर्तिताः॥
एतेषां प्रसवो पश्य प्रसवस्य च सन्ततिः।
न शक्यं परिसंख्यातुं ये दीप्तं पावकं गताः। कालानिलविषघोराः हुताः शत सहस्रशः॥
महाकाया महावेगा शैलश्रृङ्ग समुच्छ्रयाः। योजनायामविस्तारा द्वियोजन समायता.॥
कामरूपाः कामबला दीप्तानलविषोल्बणाः। दग्धास्तत्र महासत्रे ब्रह्म दण्ड निपीडिताः॥

महा. भा. आदि. प; आ. प; अ. ५७

३५१ अमाहठ- घर (अमा) में जिनका जोर (हठ) चलें । घरेलू सांप ।
३५२ कामठक- कर्मठका अपभ्रंश । चुस्त सांप । या घरों (मठ) में न रहनेवाला । इधर-उधर घूमने फिरनेसे यह अधिक कर्मठ (चुस्त) होगा ।
३५३ सुषेण- अच्छा लडाका ।
३५४ मानस- सं. २८२ देखें ।
३५५ अव्यय- जिनका ह्रास (व्यय) कभी न हो; दीर्घ जीवी ।
३५६ अष्टावक्र- शरीरपर आठ टेढी रेखाएं हों । या आठ (८) की तरह टेढी स्थितिमें जो अपने शरीरको कर लेता है । अंग्रेजीके (8) की तरह तो फूंसी कुण्डली मारता है ।
३५७ कोमलक- गुदगुदा (कोमल) छोट (क) सांप ।
३५८ श्वसन- श्वासोच्छ्वास जिसका अधिक स्पष्ट है ।
३५९ मौन वेपग- मौन या मूक (सं. ३१६) जातिका सांप है । और कांपता हुआ सा (वेप) चलता (ग) है ।
३६० भैरव- भय देनेवाला । अथवा जिसका शब्द (रव) भय उत्पन्न करता है ।
३६१ मुण्ड वेदाङ्ग- जिसके स्थिर (मुण्ड) में ज्ञान (वेद) का अङ्ग-मस्तिष्क है ।
३६२ पिशङ्ग- कमल फूलकी पराग धूति (पिशङ्ग) के समान जिसका रंग पीला है ।
३६३ उदपारक- जो पानी (उद्) को पार कर जाये ।
३६४ ऋषभ- श्रेष्ठ (ऋषभ) सांप ।
पिण्डारक- सं. २५५ ।
महाहनू- सं. ३२३ देखें ।
३६५ रक्ताङ्ग- लाल रंगवाला ।
३६६ सर्व सारङ्ग- सब ओरसे सारंगके रंगवाला । सारंगके अर्थ हैं- कोयल, मोर, राजहंस, पपीहा, भौंरा, हाथी, बादल हिरणादि ।
३६७ समृद्धपुट- जिसकी पीठ पट्टी (पट) की तरह चपटी है । अमरसिंहका दीर्घ पृष्ठ (सं. ३९८) हो सकता है । या मोटी केंचुलीवाला । सांपका वस्त्र (पट) केंचुली ही होता है ।
३६८ वासक- वासेके अन्दर रहनेवाला । या जिसमेंसे कोई (वास) गन्ध आती हो ।
३६९ वराहक- छोटे (क) सूअर (वराह) को निगल जानेवाला ।
३७० वीरणक- खस (वीरण) की जडोंके अन्दर रहनेवाला छोटा (क) सांप ।
३७१ सुचित्र- सुन्दर चितकबरा सांप ।
३७२ चित्रवेगिक- विचित्र चाल चलनेवाला, या जिसके विष वेग विचित्र प्रकारके होते हैं ।
३७३ पाराशर- जिसका बाण (सांपका शर- उसके दांत हैं) बाहर (परे) निकल गया है । जो काटे नही । अथवा जो बहुत (परा) बूढा (शीर्ण) हो गया है ।
३७४ तरुणक- छोटा सांप ।
३७५ मणि स्कन्ध- पीठ या पार्श्वों पर जिसके मणिके निशान हों ।
३७६ आरुणि- लाल रंगवाला ।

अमरसिंह इन जातियोंको जानता था
अमर कोषमें × निम्न सांपोंके नाम आये हैं

३७७ काद्रवेयस्- कद्रवा अपत्यानि- कद्रुके बच्चे ।
३७८ अनन्त- असीम लम्बाईका सांप ।

× नागाः काद्रवेयस्...
शेषोऽनन्तो वासुकिस्तु सर्पराजोऽथ गोनसे । तिलित्सः स्यादजगरे शयुर्वाहस इत्युभौ ।
अलगर्दो जलव्यालः समौ राजिलडुण्डुभौ । मालुधानो मातुलाहिः निर्मुक्तो मुक्तकञ्चुकः ।
सर्पः पृदाकुर्भुजगो भुजंगोऽहिर्भुजंगमः । आशीविषो विषधरश्चक्री व्यालः सरीसृपः ।
कुण्डली गूढपाच्चक्षुः श्रवाः काकोदरः फणी । दर्वीकरो दीर्घपृष्ठो दन्दशूको बिलेशयः ।
उरगः पन्नगो भोगी जिह्मगः पवनाशनः । लेलिहानो द्विरसनो गोकर्णः कञ्चुकी तथा ।
कुम्भीनसः फणधरो हरिर्भोगधरस्तथा । (अमरकोष पातालभोग ८।४-९ (१) ।

३७९ तिलित्स- तिल-गतौ। विचित्र गतिवाला सांप।
३८० शयु- शेतेऽत्यर्थम्। बहुत अधिक सोनेवाला सांप। जैसे अजगर।
३८१ जल व्याल- पानी का सांप।
३८२ राजिल- राजिं देहे लाति। धारीदार सांप।
३८३ डुंडुभ- डुण्डु भाषते। डुण्डु अवाज करनेवाला।
३८४ मालुधान- मालु मातुलारण्यौषधि तत्र धनमस्य। मातुल नामकी कूटीके पास रहनेवाला।
३८५ भुजग- भुजेन कौटिलेन गच्छति। टेढा मेढा चलनेवाला।
३८६ भुजंग- सं. ३८५ देखें।
३८७ भुजंगम- सं. ३८५ देखे।
३८८ विषधर- विषैला सांप।
३८९ चक्री- फूर्सा सांप होगा जो चक्रमें चलता है। सं. ९८ और २९९ देखे।
३९० व्याल- व्याडनं हन्तुमुद्युतः, चोट करनेके लिये तय्यार।
३९१ सरीसृप- रंगनेवाला।
३९२ कुण्डली- सं. ३३४ देखें।
३९३ गूढपाद- गूढा पादा अस्य। जिस जीवके पैर छिप गए हैं।
३९४ चक्षुश्रवः- आंखोंसे सुननेवाला।
३९५ काकोदर- पेटमें विष धारण करनेवाला। काकोलं विषमुदरे यस्य। ऐसे सांप होते हैं जिनकी विष ग्रन्थियां सिरमें न होकर पेटमें होती हैं।
३९६ फणी- फणवाला सांप।
३९७ दर्वीकर- कडछी की तरह फनवाला। सं. १८३ और १८४ देखें।
३९८ दीर्घ पृष्ठ- बडी पीठवाला (सं. ३६७) देखें।
३९९ दन्दशूक- बुरी तरह काटनेवाला। गर्हितं दशति।
४०० बिलेशय- बिलमें सोनेवाला।
४०१ उरग- छाती (उर) से चलने (ग) वाला।
४०२ भोगी- सांप, भोग-योनि जीवोंमें है। अथवा जमीन के अन्दर रहनेवाला। पाताल, भोगी वर्गमें अमरसिंहने सांपोका वर्णन किया है।
४०३ भोगधर- सं. ४०२ देखें।
४०४ जिह्मग- टेढा मेडा चलनेवाला। जिह्मं वक्रं गच्छति।
४०५ पवनाशन- वायु खाकर रहनेवाला।
४०६ लेलिहान- जीभसे चाटता हुआ सा स्पर्शज्ञान आदि करता है।
४०७ द्विरसन- जीभ दो भागोंमें विभक्त होती है।
४०८ गोकर्ण- जिसकी वाणी (गो) के अंग कानका काम करते हैं। सांप मुखके हिस्सोंसे सुनता है।
४०९ कंचुकी- केंचुलीवाला जीव।
४१० कुम्भीनस- नाक घडेकी तरह हो।
४११ फणधर- सं. ३९६ देखें।
४१२ हरि- जीवनको हरनेवाला।

अमर कोषके निम्नलिखित नाम पहले आ चुके हैं। इसलिए उन्हें हमने दुबारा नहीं गिनाया। अहिः। सं. १६५। आशीविष सं. १७। पन्नग सं. २६६। नाग सं. १९९। शेष सं. २१६। गोनस. सं. ५५। अजगर सं. ११५। वाहस सं. २००। अलगर्द सं. २६। सर्प सं. १२५। पृदाकु सं. १९२।

+ सुमन्तुको ये सांप मालूम थे

वासुकि सं. २१७। तक्षक सं. २१९। कालिय सं. २२२। एरावत सं २१८। धृतराष्ट्र सं. २६९। कर्कोटक सं. २२०। धनञ्जय सं. २२१। अनन्त ३७८। पद्म सं. १४। कंबल- सं. २४७। और ४१३- मणिभद्रक- मणिवाला भलासांप।

+ वासुकि तक्षकश्चैव कालियो मणिभद्रकः। एरावतो धृतराष्ट्रः कर्कोटक धनञ्जयौ।
(भ० पु० ब्राह्मपर्व पञ्चमीकल्प अ० ३२;२)

अनन्तं वासुकिं शंखं पद्मं कंबलमेव च। तथा कर्कोटकं नागं नागमश्वतरं नृप।
धृतराष्ट्रं शंखपालं कालियं तक्षकं तथा। पिंगकं च तथा नागं......। (भ० पु० ब्राह्मपर्व० अ० ३२,५१-५३)

× गरुडोपनिषद्‌में सांपोंके ये नाम हैं

अनन्त सं. ३७८। वासुकि सं. २१७। तक्षक सं. २१९। पद्म सं. १४। महा पद्म सं. १५। शंख-सं. २३९। नाग सं. १८९। और

४१४ कार्कोट- सं. २२०

४१५ गुलिक- गोली (ग्रन्थि) वाला। सविस होना चाहिए।

४१६ पौंड्रकालिक- दक्षिणमें पौंड्र नामका एक देश स्वतंत्र राज्य था। पौंड्र देशमें रहनेवाला काले रंगका बरसातमें विचरनेवाला सांप।

४१७ एला पुत्रक- सं. २२६ देखें।

दिव्य सांप

संस्कृत लेखकोंने सांपोंके दो मोठे विभाग किये हैं।+ पहले विभागमें जमीनपर रहनेवाले भूसर्प हैं। इन्हें वे भौमसर्प कहते हैं। इनका परिगणन हमने पिछले पृष्ठोंपर किया है। दूसरे विभागमें द्यु लोकमें रहनेवाले सांप आते हैं। जिन्हे वे दिव्य सर्प नाम देते हैं। यह कहना कठिन है कि दिव्य सर्पोंसे उनका किन सांपोंसे अभिप्राय है।

सुश्रुत दिव्य सांपोंकी संख्या असंख्य समझते थे। अपने ग्रन्थमें उन्होंने वासुकि और तक्षक ये दोही गिनाये हैं। * दूसरे कई लेखकोंने इन्हें भूसर्पोंमें गिनाया है। वासुकि तक्षक और अनन्तके अतिरिक्त वाग्भट्टने † निम्न लिखित दिव्य सर्प नये गिनाये हैं।

४१८ सगर- सिन्धु सर्प (Sea snake) होगा।

४१९ सगरालय- जिसका घर (आलय) समुद्र (सगर) है।

४२० नन्द-

४२१ उपनन्द-

प्राणि शास्त्रके आधुनिक विद्वानोंके अनुसार भारतकी सीमाओंके अन्दर तीनसौ तीस जातियां मिलती हैं। संस्कृत साहित्यमें वर्णित सांपोंकी जातियां हमने चारसौ इक्कीस गिनाई हैं। इनमेंसे कुछ नाम निश्चित रूपसे एक दूसरेके पर्यायवाची हो सकते हैं। उन्हें कम कर दिया जाय तो वह संख्या प्रायः आधुनिक विज्ञान सम्मत हो जाती है।

मेरी इच्छा थी कि प्रत्येक जातिका अधिक विशद परिचय देता जिसमें उसका वैज्ञानिक (लैटिन) नाम और चित्र भी रहता। इससे निबन्ध बहुत बडा हो जाता और मुझे भय था कि 'वैदिक धर्म' के सम्पादक महोदय तब इसके लिये अपने आदरणीय पत्रमें स्थान निकालनेमें संकोच करते। इसलिये बहुत संक्षेपमें ही विषयका प्रतिपादन किया है। यदि विद्वानोंने रुचि दिखाई और किसी सज्जनने इसे पुस्तकाकार छपवाना चाहा तो मुझे प्रसन्नता होगी।

मैं चाहता हूँ कि विद्वज्जन इस निबन्धपर आलोचना करें। गुरुकुल विश्व विद्यालय कांगडीके भूतपूर्व वेदोपाध्याय श्री पंडित विश्वनाथजी विद्यालङ्कारने मुझे बहुत सहायता दी है, उनका तथा जिन ग्रन्थोंसे मुझे कुछ भी सहायता मिली है, सबका कृतज्ञ हूं।

× अनन्तो वामकटको यज्ञ सूत्रं तु वासुकि। तक्षका कटिसूत्रं तु हारः कार्कोट उच्यते।
पद्मो दक्षिण कर्णो तु महापद्मस्तु वामके।
शङ्खः शिर प्रदेशे तु गुलिकस्तु भुजान्तरे। पौण्ड्र कालिक नागाभ्यां चामराभ्यां सुनिर्जितम्।
एला पुत्रक नागाद्यैः सेव्यमानं मुदान्वितम्। (ग. उ. २-४)

\+ दिव्य भौम विभागेन द्विविधा पन्नगाः स्मृता.। (आ सं. उ. अ. ४१)

* असंख्या वासुकि श्रेष्ठा विख्यातास्तक्षकादयः। महीधराश्च नागेन्द्रा हुताग्निसमतेजसः।
ये चाप्यजस्रं गर्जन्ति-वर्षन्ति च तपन्ति च। ससागर गिरिद्वीपा यैरियं धार्यते मही।
क्रुद्धा निश्वास दृष्टिभ्यां ये हन्युरखिलं जगत्। (सु. क. अ. ४)

† वासुकिः तक्षकोऽनन्तः सगरः सगरालयः। तथा नन्दोपनन्दाद्याः समिद्धाग्नि समप्रभा।
दिव्या गर्जन्ति वर्षन्ति द्योतन्ते द्योतयन्ति ते। धारयन्ति जगत्कृत्स्नं कुर्युः क्रुद्धाश्च भस्मसात्। (आ. सं उ. ४१)

सहशिक्षण

(ले०- श्री० देवराज विद्यावाचस्पति)

प्राक्कथन

सहशिक्षणका नाम सुनते ही बहुतसे लोग घबरा जाते है। वे समझते हैं कि सहशिक्षणका प्रचार होते ही देश रसातलको पहुंच जावेगा, धर्मकर्म सब नष्टभ्रष्ट हो जावेंगे और स्वेच्छाचारिता बढ जावेगी। दूसरी ओर ऐसे भी अनेक मनुष्य है जो सहशिक्षणका नाम सुनते ही फूले नहीं समाते। वे समझते हैं कि शिक्षाके द्वारा भारतका उत्थान हो सकता है तो इसी पद्धतिसे हो सकता है। स्त्री जातिपर शताब्दियो से होते हुए अत्याचारोंका शोध हो सकता है तो इसी प्रणाली से हो सकता है। स्त्री पुरुषके समानाधिकारका प्रश्न इसी प्रकार हल हो सकता है। वैवाहिक सम्बन्धोंका अधिकार, यश और धनके प्रलोभनोंमें पडे हुए, मातापिताओंने ले रक्खा है। इसके कारण वैवाहिक सम्बन्धोंमें भारी विषमता उत्पन्न हो गई है। विवाहितोंको आजीवन कष्टमे रहना पडता है, अनेक प्रकारकी सामाजिक उलझनें उत्पन्न हो गई है, अनेक प्रकारके पाप समाजमें खडे होगये हैं। यदि इन सबका शोध न हो सकता है तो सहशिक्षण पद्धतिसे आसानीसे हो सकता है।

वस्तुतः सहशिक्षणका प्रश्न बडा पेचीदा है। भारत वर्षमें इस पद्धतिका प्रचार बढ रहा है, कुछ शताब्दी पूर्व संसारमे कहीं भी यह पद्धति नहीं थी। आवश्यकताके अनुसार इस पद्धतिको अपनाया गया और इसका प्रसार किया गया। मजबूरी सब कुछ करा देती है। यदि भारतवर्षके लिये इस पद्धतिकी आवश्यकता अनुभव की जायगी तो इसका प्रसार अवश्य होगा तथा इसके अच्छे और बुरे परिणाम भी उत्पन्न होंगे। विचारकोंको इस विषयपर गहराईसे विचार करना चाहिए। इस निबन्धमें अनेक ग्रन्थों और लेखकोंके लेखोंके आधारपर यथाशक्ति विस्तृत विचार किया गया है। आशा है विचारशील पाठक विचार करके इस विषयका सफल क्रियात्मक मार्ग निकालनेका प्रयत्न करेंगे।

सहशिक्षणके प्रश्नकी उत्पत्तिका कारण

देखनेसे प्रतीत होता है कि सम्पूर्ण विश्वकी प्रगति एकता की ओर है। भारतकी प्रगति विविध प्रकारके भेदोंको मिटाकर तीव्रतासे एकताकी ओर हो रही है। देशभेद, भाषाभेद, व्यवहारभेद, जातिभेद, संस्कृतिभेद आदि विविध भेदोंको दूर किया जा रहा है। भारतकी पराधीनताको दूर करनेमें ये भेद बाधक अनुभव किये जा रहे है। इन भेदोंको दूर करनेमें शिक्षा मुख्य साधन है। भारतीय जनता, जो अधिकतर ग्रामोमें बसी हुई है, शिक्षाकी कमीके कारण न तो पराधीनताके कारणोंको ठीक ठीक समझ सकती है और न उनके दूर करनेका पूरा पूरा प्रयत्न कर सकती है। इसी कारण शिक्षा प्रचारके लिये तीव्रतासे प्रयत्न किया जा रहा है।

नर नारी भेदसे मनुष्य समाज दो भागोंमे विभक्त है। भारत देशके मानवसमाजको शिक्षित करनेके लिये स्त्री और पुरुष दोनोंकी शिक्षाका प्रचार आवश्यक है। वर्तमान राजनैतिक स्थिति बाधित कर रही है कि, स्त्री और पुरुष दोनों की शिक्षाका प्रचार अति शीघ्र होना चाहिए। शिक्षाकी कमीके कारण, विभिन्न रूपोंमें बटे हुए विस्तृत भारत देशमें राजनैतिक आन्दोलन किसी अंशमें भी जोर नहीं पकडता। इसलिये भारतीय स्वतन्त्रताके लिये स्त्रीपुरुष दोनोंकी शिक्षाका प्रचार अति शीघ्र होना आवश्यक हो रहा है।

जिस गवर्मेण्टके पञ्जेसे भारतीय समाज छूटना चाहता है उस गवर्मेण्टके हाथमें भारतीय धन और सेना पूरी तरह से फंसे हुए है। इनको जैसा चाहे करनेका गवर्मेण्टको पूरा अधिकार है, और किसीको इनपर अधिकार नहीं है। गवर्मेण्ट अपना शासन स्थिर और प्रबल रखनेके लिये अपनी अर्थ नीति इस प्रकार रखती है कि, जिससे भारतकी दरिद्रता अधिक अधिक बढती जाती है। दरिद्र भारत अपनी स्वतन्त्रताके लिये जिस मार्गमें भी प्रयत्न करनेके लिये उद्यत होता है उसी मार्गमें असफल होता है। इसी कारण शिक्षा प्रचारके लिये शिक्षणालयोंकी स्थापना अतिमन्द गतिसे हो रही है। गवर्मेण्टके स्कूल कालिजोंकी शिक्षा भारतके लिये अनुपयोगी सिद्ध हो चुकी है। यूनीवर्सिटियोंके कॉन्वो-

केशनल एड्मिज (दीक्षान्त अभिभाषण) को पढनेसे एक ही आवाज निकलती प्रतीत होती है कि, यूनीवर्सिटिकी शिक्षा भारतके लिये अनुपयोगी है। यूनीवर्सिटियोंसे शिक्षित हुए भारतीय शिक्षित बेकारोंकी संख्या प्रतिदिन बढ रही है। गवमेण्टके पास इतने स्थान नौकरियोंके लिये नहीं हैं कि सब शिक्षितोंको स्थान देसके। शिक्षाके साथ साथ गृह उद्योगोंका शिक्षण शायद गवर्मेण्टको इसलिये अभीष्ट न हो कि उसके कारण विदेशी व्यापारको हानि पहुंच सकती है। ग्रामोंकी अशिक्षित जनतामें ग्रामोद्योग शिक्षण के प्रति सहायता देनेमें गवर्मेण्ट अधिक विरुद्ध नहीं है। इस प्रकारकी सहायतासे ग्रामीण जनता गवर्मेण्टकी कृतज्ञ रहते हुए आन्दोलनकारी बननेसे रुकी रह सकती है। शिक्षा से भारतीयोंमें अपने अधिकारोंको समझना और उनके लिये लडनेका भाव जागृत हो जाता है। इसलिये शिक्षाके साथ साथ उद्योगका शिक्षण गवर्मेण्टको अभीष्ट प्रतीत नहीं होता।

इन सब कारणोंसे आवश्यक है कि जनता की ओरसे ऐसे शिक्षणालय स्थापित किये जावें जिनमें शिक्षा, उद्योग और कला तीनोंका शिक्षण रहे। भारतीय जनता इस बात को अच्छे प्रकार समझ चुकी है कि पुरुषों और स्त्रियों दोनोंके लिये ऐसे शिक्षणालयोंकी आवश्यकता है। शिक्षणालयोंके लिये मांग तीव्र है, परन्तु दरिद्रभारत केवल पुरुषोंके लिये भी पर्याप्त शिक्षणालयोंको स्थापित करनेमें असमर्थ है स्त्रियोंके शिक्षणालयोंकी तो बात ही पृथक् है। असमर्थता का कारण यह है कि भारतके लिये अनुपयोगी यूनीवर्सिटियों की शिक्षाके लिये करोडों रुपये भारतीयोंको देने ही पडते हैं। सफल और उच्चश्रेणीके भारतीय स्वतंत्र शिक्षणालयोंको चलानेमें भी भारतीयोंको बहुत अधिक दान और मासिक शुल्क देना पडता है। इन कारणोंसे गरीब भारतीय लोगोंमें शिक्षाका प्रचार नहीं हो पाता है।

इस क्रान्तिके युगमें क्रान्तिमें तीव्रता लानेके लिये स्त्री-शिक्षाकी आवश्यकता अत्यंत तीव्रतासे अनुभव की जा रही है। गृहस्थ जीवनको सफलताके साथ चलानेके लिये आवश्यक हो गया है कि पतिपत्नी दोनों ही धन कमानेमें पूर्ण प्रयत्नके साथ लग जावें। धन कमानेके धन्धोंमें और नौकरियां करनेमें स्त्रियां मांग पेश करती हैं कि जो स्थान पुरुषोंको दिये जाते हैं वे स्त्रियोंको भी दिये जाने चाहिये क्योंकि स्त्रियां वे सब काम धन्धे कर सकती हैं जो पुरुष कर सकते हैं। पुरुषोंकी अपेक्षा स्त्रियां कार्य करनेमें किसी अंशमें कम नहीं हैं। पुरुषोंके साथ मुकाबिलेमें आकर स्त्रियां उस सब उच्च शिक्षाको ग्रहण करनेके लिये अपने आपको योग्य बताती हैं जिसे ग्रहण करके पुरुष अधिकसे अधिक धन प्राप्त करनेमें समर्थ होते हैं और उस शिक्षाको प्राप्त करनेमें समर्थ स्त्रियां सन्नद्ध भी हो चुकी हैं। जिस विशेष उच्च शिक्षा प्राप्त करनेका प्रबन्ध भारतमें नहीं है उसके लिये विदेशमें पदार्पण करनेमें भी पीछे नहीं हैं।

इसके अतिरिक्त अनेक विद्वान्, भारतीय ढङ्गोंके आधारपर शिक्षाके प्रश्नपर विचार करनेवाले सहशिक्षणके विरुद्ध हैं। स्त्रियोंको स्त्रियोंके द्वारा ही शिक्षा दी जावे इसके लिये प्राथमिक, माध्यमिक और उच्च शिक्षा दे सकनेवाली विविध योग्यतावाली शिक्षित स्त्रियोंकी आवश्यकता अत्यधिक वेगसे बढ रही है। समझदार और सम्पन्न स्त्रियां धन कमाने और शिक्षा प्रचारकी दृष्टिसे उच्च शिक्षा प्राप्त करनेके लिये तत्पर हो रही है। वे पृथक् शिक्षणालय न प्राप्त करके पुरुषोंके साथ ही शिक्षा प्राप्त करती है और सहशिक्षणकी पक्षपातिनी हो रही हैं। इन कारणों और प्रवृत्तियों तथा भारतीय सामाजिक स्थितिको ध्यानमें रखकर विचारकोंके मनमें प्रश्न उठता है कि भारतमें सहशिक्षण होना चाहिये वा नहीं।

सहशिक्षणमें बाधक कारण

आवश्यकताके अनुसार भारतीय बालाओंकी सहशिक्षण में उठती हुई वृत्तिको देखकर पहिलेसे ही सावधान रहनेवाले युवकोंमें सहशिक्षणके बाधक कारणोंकी तरफ दृष्टि गई है। उन्होंने बाधक कारणोंकी परिगणना की है, और उनके हल करनेकी युक्तियां भी निकाली हैं। वे इस प्रकार परिगणना करते हैं—

१. सहशिक्षणसे प्रत्यक्ष ही व्यभिचारकी भावना उत्पन्न होती है। जिससे कोमल हृदया कन्याओंके चरित्रका नाश होते देर नहीं लगती। कन्यायें यदि चरित्रसे गिर जाती हैं तो फिर उनमें विद्यमान गुण विपरीत दिशामें पलटकर उन्हें अत्यन्त भयंकर बना देते हैं। स्त्रीको उन्नत बनाने-

वाले त्याग, सहनशीलता, सरलता, तप, सेवा आदि अनेक आदर्श गुण हैं जिनको विकसित करनेकी शिक्षा कन्याओंने अपने शिक्षण कालमें ग्रहण करनी होती है। इन्हीं गुणोंके कारण वे महान् पुरुषोंकी माताएँ बनती है। इन गुणोंके विकासमें सहशिक्षा बाधक है। अत. सहशिक्षण उचित नहीं है।

२. स्त्री-पुरुषके शरीरका संगठन ही ऐसा है कि उनमें एक दूसरेको आकर्षित करनेकी विलक्षण शक्ति मौजूद है। अतः नित्य समीप रहकर संयम रखना असम्भवसा है। प्राचीन कालके तपोवनमें निर्मल वातावरणमें रहनेवाले जैमिनी, पराशर सरीखे मुनि, न्यूटन और मिल्टन जैसे विवेकी पुरुष, और वर्तमान कालके बडे बडे साधक पुरुष भी जब संसर्ग दोषसे इन्द्रिय संयम नही कर सके, तब विलासभवनरूप सिनेमाओंमें जानेवाले, अश्लील उपन्यास पढनेवाले, तन मन, और वाणीसे सदा श्रृङ्गारका मनन करनेवाले, मौज, शौक तथा उच्छृङ्खलताके आदर्शको लक्ष्य-माननेवाले भोगवादको प्रश्रय देनेवाली केवल अर्थकरी विद्याके क्षेत्र कालेजोमें पढनेवाले और अनियंत्रित आचरणके केन्द्रस्थान छात्रावासोंमें निवास करनेवाले विलासिताके पुतले युवक युवतियोंसे इंद्रिय संयमकी आशा करना अपने आप को धोखा देना है। इस कारण सहशिक्षण नहीं होना चाहिए।

३. प्राचीन कालमें गुरुकुलोंमें गुरुकन्याओंके साथ भाई बहिनके नाते ब्रह्मचारी रहा करते थे। गुरुकुलोंमें अत्यंत कठोर नियम होते थे। सभी बातोंमें संयम था। आजकलके कालिज-होस्टलोंकी तरह विलासिता और स्त्री पुरुषकी परस्पर काम वृत्ति जगानेवाले साधन वहा नहीं होते थे। इतनेपर भी कच देवयानीके इतिहासके अनुसार आकर्षण होनेकी सम्भावना थी ही। इस कारण आजकल सहशिक्षण नहीं होना चाहिए।

४. सहशिक्षणके कारण स्त्री पुरुषोंमें रतिका भाव विशेष प्रबल हो जाता है। लग्न प्रायः रत्यर्थ होते हैं। इसी कारण फिर संतति नियमन जैसे कृत्रिम और अनिष्ट उपायोंकी योजना प्रारंभ हो जाती है। इन उपायोंसे जातिमें दौर्बल्य और दु.ख दारिद्य क्रमशः बढता जाता है। दुर्बल जातिमें भीरुता और क्रोधकी वृद्धि होती है। इसका परिणाम जाति पतन और पराधीनता स्पष्ट होते हैं। इस कारण सहशिक्षण नहीं होना चाहिए।

सहशिक्षणके विरुद्ध अनेक युक्तियां है जिनसे सहशिक्षण अनुचित और अयुक्त प्रतीत होता है।

५ स्त्रियोंमें पुरुषोंके जितनी प्रखर बुद्धि नहीं होती। इसलिये स्त्रियोंके लिये पृथक् शिक्षणालयोंकी आवश्यकता है कि, जहां वे विषयको यथेष्ट कालमें ठीक ठीक समझ सकें।

६. शालाओंमें जो विषय सिखलाये जा रहे हैं वे लड-कियोंको अखरे पडते हैं। इसलिये लडकियोंको पढाये जाने योग्य विषय पढानेके लिये पृथक् शालाये होनी चाहिये।

७ लडकियोंकी ग्रहण धारण शक्ति पुरुषोंकी अपेक्षा प्रमाणमें कम होती है, अतः लडकियोंको विषय ग्रहण करानेके लिये पृथक् पाठशालाये होनी चाहिए।

८. जिन कामोंमें बुद्धिका प्रयोग विशेष होता है उन कामोंके लिये स्त्रियां बनाई ही नही गई हैं। अतः उनके योग्य कार्योंको उन्हे सिखानेके लिये पृथक् शालाएं चाहिए।

९. स्त्रियां अधिक भावुक होती हैं और पुरुष अधिक बुद्धि प्रधान होते हैं। इसलिए स्त्रियोंकी केलवणीमें हृदयका विकास करनेवाले तत्व अधिक प्रमाणमें होनेके कारण तथा पुरुषोंकी केलवणीमें बुद्धि बढानेवाले तत्व अधिक प्रमाणमें होनेके कारण दोनोंकी शालाएं पृथक् पृथक् होनी चाहिए।

१० स्त्रियां घरेलू कामकाजके लिये होती हैं अत उन्हें कला, संगीत, सीना, गूंथना इत्यादि विषय सिखाने होते हैं। गणित, संस्कृत जैसे विषय उनके लिए अनुपयोगी होनेके कारण छोड देने होते है। इसी कारण स्त्रियोंकी केलवणीका अभ्यास क्रम जान बूझकर हलका रक्खा जाता है। चूंकि स्त्रियोंके जिम्मे घरका काम तथा बालपोषण अधिक मात्रामें है अतः उनकी केलवणी पुरुषोंकी केलवणीकी अपेक्षा भिन्न प्रकारकी होनी ही चाहिए। इस कारण दोनोंके शिक्षणालय पृथक् पृथक् होने चाहिए।

११. स्त्रियोंकी केलवणीमें कुछ ऐसे तत्व रहते हैं जिनकी जरूरत पुरुषोंको नहीं पडती और पुरुषोंकी केलवणीमें कुछ ऐसे तत्व रहते हैं जिनकी स्त्रियोंको जरूरत नहीं पडती अत. दोनोंकी शिक्षण शालाएं पृथक् पृथक् होनी चाहिए।

१२. Educational Year Book १९२९, p. ३०१ में जर्मनीकी Ministry of Education की विज्ञप्तिका

उल्लेख है कि- प्रतिदिन विकसित हुए कुमारके विकासका क्रम, विकास पाती कुमारीके क्रमकी अपेक्षा बिलकुल पृथक् हैं। जातीय और बौद्धिक पक्वताके समय केवल एक ही प्रकारकी शिक्षाके लिए उनको इकट्ठा रखना यह दोनों जातियोंके लिए निश्चित अनुपकारक है। जिन वर्षोंमें लडकों की अपेक्षा लडकियां शिक्षणके प्रेम और विचारके अनोखे रूपमें जोड देने योग्य होती है और जब सामाजिक जीवन की भिन्न भिन्न प्रकारकी तडप उनमें जगती है तब दोनोंमें से एकको भी उनकी प्राप्तव्य वस्तु नहीं मिलती।

१३. लडके और लडकियोंके शारीरिक और मानसिक भेद तथा दोनोंमें ज्ञान ग्रहण करनेकी सामर्थ्यका मात्रा भेद शिक्षाविज्ञोंको उनके शिक्षणालय पृथक् पृथक् स्थापित करने के लिये बाधित करता है। इन्हीं कारणोंसे विशेष विषयोंके सम्बन्धमें उनका अभ्यासक्रम पृथक् पृथक् करना पडता है। इसलिये सहशिक्षण ठीक नहीं।

१४ लडकिया प्रायः छोटेपनसे ही अपने विवाह संबंधमें सोचती रहती है, मानो विवाह ही उनके जीवनका प्रधान लक्ष्य हो। विवाह संबन्धको सफल बनानेके लिये वे अपने पतिके घर संगीत, चित्रकला, रङ्गसाजी, घरके काम काज, प्राणिविज्ञान, स्वास्थ्यविज्ञान, पाकशास्त्र, सूचीकर्म, रजककर्म इत्यादि काम सीखती हैं। इस प्रकार लडके और लडकियों के अपने जीवन लक्ष्योंमें अत्यंत भेद होनेसे दोनोंका शिक्षण पृथक् पृथक् होना चाहिए।

१५ समाजमें स्त्रियोंके स्थानकी हीनता, वर्ण सम्बन्धी रीतिरिवाजोंके दृढ बन्धन, विधवा विवाहका प्रायः अभाव दोषयुक्त पर्दा प्रथाका महत्व इत्यादि कारण सहशिक्षणमें बाधक हैं। अतः सह शिक्षण न होना चाहिए।

१६ हिन्दू मुसलमानोंमें वैमनस्य और मुसलमानोंमें पर्दा प्रथाकी अत्यधिकताके कारण भी सहशिक्षण नहीं होना चाहिए।

१७. धार्मिक और सामाजिक रीतिरिवाजों तथा मन्तव्यों की रक्षा साम्प्रदायिक आधारपर स्त्रियोंके पृथक् शिक्षणालयोंके होनेसे ही होसकती है, अतः सहशिक्षण नहीं होना चाहिए।

१८. सहशिक्षणसे जातीय भेदभावोंके नष्ट हो जानेकी संभावना है और दूर देशस्थोंमें प्रेमबंध हो जानेके कारण विवाह सम्बन्धी खर्चोंको निभाना कठिन है अतः सहशिक्षण नहीं होना चाहिए।

१९. अमेरिकासे प्रकाशित फिजिकल कल्चरमें, न्यूयार्क सिटीकी साल्वेशन आर्मीके मैटर्निटि होमके, एड्ज्यूटैंट एमिली लेअर्डने प्रकाशित किया है कि 'आजकल अविवाहित माताएं ४२ प्रतिशतक १३ से १७ वर्षकी बीचकी उम्रकी स्कूलकी लडकियां होती हैं'। भारत जैसे गरम देशमें जवानी ठण्डे देशोंकी अपेक्षा कुछ शीघ्र आरम्भ हो जाती है इसीके साथ प्रजननका भावभी शीघ्र जागृत हो जाता है अतः सहशिक्षणके भावी दुष्परिणामोंको ध्यानमें रखकर यही कहना पडता है कि सहशिक्षण नहीं होना चाहिए।

२०. इग्लैंडमे बोर्ड ऑफ एज्युकेशनकी कन्सल्टेटिव कमिटीके सामने सहशिक्षण स्कूलके सुप्रसिद्ध हैडमास्टरने कहा कि लडकियोंमें अधिक दबाव डालना ठीक नहीं है क्योंकि लडके और लडकियां समान गतिसे प्रगति नहीं कर सकते है।

२१. शिक्षकोंका अनुभव है कि लडके और लडकियोंको इकट्ठा पढाना अधिक कठिन है अलग अलग पढाना उतना कठिन नहीं है। इसलिये सहशिक्षण ठीक नहीं है।

२२. कठोर शासनप्रणाली लडकोंके लिये जहां अनुकूल भी होती है वहां लडकियोंके लिये सर्वथा प्रतिकूल मालूम पडी है।

२३. अभी हालमें बडौदेकी कन्या विद्यार्थियोंने बडौदा यूनीवर्सिटी कमिशनके कमिशनरोंके सामने स्वयं कहा है कि लडकियोंके लिये स्कूल और कालिज पृथक् पृथक् होने चाहिए। बडौदाकी कन्या विद्यार्थियोंके समान बनारस हिंदू यूनीवर्सिटी और अलाहाबाद यूनीवर्सिटीकी कन्या विद्यार्थी भी कालिजोंमें सहशिक्षणके विरुद्ध हैं।

२४. सहशिक्षणमें विद्यार्थी पारस्परिक आकर्षणसे विशेष प्रभावित रहनेके कारण गहरे ज्ञानको प्राप्त करनेमें असमर्थ हो जाते हैं, इस कारण पृथक् शिक्षण आवश्यक है। युवावस्था प्रारंभ होनेपर तो सहशिक्षण होना ही नहीं चाहिए।

२५. सहशिक्षणके द्वारा लडकोंमें कुछ स्त्रीत्व और लडकियोंमें कुछ पुरुषत्वके आजानेकी सम्भावना है अतः दोनों

की शिक्षा पृथक् होनी चाहिए।

२६. लडकियोंको अधिक बलवान् लडकोंकी नजर लग जानेसे उनके व्यक्तित्वकी हानि होती है। पृथक् शिक्षणालयोंमें लडकियोंमें प्रसुप्त शक्तियोंको आसानीसे जागृत और पुष्ट किया जा सकता है।

२७. लडके और लडकियोंमें प्रजन सम्बन्धी भेदके कारण लडकियोंका कार्यक्षेत्र लडकोंके कार्यक्षेत्रकी अपेक्षा सर्वथा भिन्न होनेसे दोनोंका अभ्यासक्रम और शिक्षण सर्वथा पृथक् होना चाहिए।

२८. लडकियोंका घरेलू कार्योंके क्रियात्मक अभ्यासके लिए अपना बहुतसा समय लगाना पडता है अतः दोनोंका शिक्षण पृथक् पृथक् होना चाहिए।

२९. दोनोंके नियंत्रणमें अत्यधिक भेद होनेसे न दोनोंको इकट्ठा रखना उचित है और न इकट्ठा पढाना।

३० प्राय. देखा जाता है कि सहशिक्षणमें लडकियोंको अपनी बहुतसी इच्छायें लडकोंके कारण दबा देनी पडती हैं। इसलिये सहशिक्षण नहीं होना चाहिये।

इस प्रकार सहशिक्षणके विरुद्ध युक्तियां दिखलाते हुए भारत वर्षमें विद्यमान् वे सामाजिक प्रथायें और कुरीतियां भी दिखला दी गई है जिनके कारण सहशिक्षणमें बाधा उपस्थित होती है। इसके अतिरिक्त सहशिक्षणके अनेक दोष दिखलाये गये हैं जिनके कारण सहशिक्षण उचित नहीं जंचता है।

सह शिक्षणके विरुद्ध पक्षकी युक्तियोंका खंडन

१ मनुष्योंका सौन्दर्यके प्रति प्रेम स्वाभाविक है। बालाओंमें प्राय सौन्दर्य होता ही है। यदि सौन्दर्य प्रेमके कारण व्यभिचारकी प्रवृत्ति होती है तो बालकोंका बालकोंके प्रति सौंदर्य प्रेम उत्पन्न होकर जो सहवासकी प्रवृत्ति होती है उस प्रवृत्तिके कारण क्या लडकोंमें भी पृथक् शिक्षणका प्रबन्ध नहीं करना चाहिये। निरीक्षणसे सिद्ध है कि यह आवश्यक नहीं है कि एकको जिसके प्रति आकर्षण है दूसरेको भी उसके प्रति आकर्षण हो। यही हालत लडकियोंमें परस्पर और लडके लडकियोंमें परस्पर है। इस कारण दोष दूर करनेके लिये पृथक् शालायें खोलना यह उत्तम उपाय नहीं है क्योंकि दोष और उसका हेतु तब भी बने रहते हैं। उत्तम उपाय तो सत् शिक्षा, सदुपदेश, विलासिताकी सामग्रीका न रखने देना, व्यभिचारसे होनेवाली हानियोंका परिज्ञान, गहरा विचार, तप और श्रम है। यदि इन उपायोंका यथोचित मात्रामें प्रयोग किया जाय तो न तो सह.शिक्षणमें हानि रहती है और न सहशिक्षणमें कोई दोष। वस्तुतः ठीक उपायोंके ठीक रीतिसे प्रयोगमें न लानेसे हानि है, सहशिक्षणसे नहीं।

२ स्त्री केवल स्त्री होनेसे आकर्षक नहीं होती जबतक कि आकर्षक भावोंका विकास उसके शरीरमें न हुआ हो। आकर्षणका कारण आकर्षक भाव हैं। यदि उन भावोंका विकास पुरुषके शरीरमें होगा तो पुरुषका शरीर भी आकर्षक हो जावेगा। आकर्षक शरीरवाले पुरुषोंको शालामें रखते हुए जो उपाय किये जावेंगे वे सहशिक्षणमें भी वर्ते जा सकते हैं।

३ बाप बेटी, मा बेटा, भाई बहिनमें जैसे मर्यादित निस्संकोच भाव रहता है वैसे गुरुशिष्या, शिष्य शिक्षिका, विद्यार्थी और विद्यार्थिनी तथा अन्य सहकारी स्त्री पुरुषोंमें भी परस्पर व्यवहारमें मर्यादित निःसंकोच भाव रह सकता है और रहना चाहिए भी। जो बाप वा भाई बेटी वा बहिन का हाथ झुलावे, उसके साथ अकेला बैठे, उसको बाई ओर बिठावे, प्रेमके वेगमें उसे चुम्बन करे, वस्त्रहीन दशामें देखते हुए विचारमें पडे तो वह बहुत नीच मनुष्य होना चाहिये। यदि वहां वह निर्विकारिता और निस्संकोचता अनुभव कर सके तो दूसरे स्थानमें अनुभव नहीं कर सकेगा इसमें कुछ कारण नहीं है। इस प्रकार जैसे वह अपनी पुत्री वा बहिनसे बर्ते वैसे ही अपनी शिष्या और स्त्री मित्रके साथ निस्संकोच व्यवहार रखनेकी आदत डाले। इस प्रकार व्यवहार रखते हुए सहशिक्षणमें कोई बाधा नहीं रह सकती।

४ स्त्री पुरुषोंमें रतिभावकी विशेष प्रबलताके लिये सहशिक्षण आवश्यक कारण नहीं माना जा सकता, क्योंकि भारतमें सहशिक्षणका विशेष प्रचार न होते हुए भी स्त्री पुरुषोंमें रतिका भाव विशेष प्रबल है। इसीका परिणाम यह है कि भारतमें अनमेल विवाह विवाह विशेष प्रचलित रहे हैं। यद्यपि आर्थिक कारण भी हैं तथापि इसे प्रबल कारण माननेसे इन्कार नहीं किया जा सकता। इसी प्रकार

बहु पत्नीक विवाह इसीको सूचित करता है। घरोंमें विधवाएं प्रायः अपनी काम वासनाको तृप्त करनेके लिये रक्खी जाती है। इसी लिए वैधव्य जीवनकी निन्दा और विधवाओंके प्रति उपालम्भ होते हैं। इसलिये रतिभावकी प्रवलताके प्रति सहशिक्षणको दोष नहीं दिया जा सकता किन्तु अन्य सामाजिक कुरीतियोंको दोष दिया जा सकता है।

५ इतिहास और आजकलके विचारकोंके अनुभव इस बातमें साक्षी हैं कि स्त्रियोंमें पुरुषोंके समान ही प्रखर बुद्धि होती है। जो स्त्रियां विशेष बुद्धिवाली निकल आती हैं वे इस बातको सूचित करती हैं कि यदि स्त्रियोंके लिये हीन भावना छोडकर पुरुषोंके समान ही उच्च शिक्षाका वातावरण पैदा किया जाय तो स्त्रियोंमें भी पुरुषोंके समान बुद्धिका विकास दीखेगा इसमें कुछ सन्देह नहीं।

६ पुरुषोंने अपने स्वार्थके कारण स्त्रियोंको घरके उद्योग धन्धोमें फंसा रक्खा है और समझ लिया है कि वे उच्च शिक्षा प्राप्त नही कर सकतीं, उनकी बुद्धि थोडी होती है। उनके हृदय कोमल होते है। वस्तुतः पुरुषोंके समान उनको भी अवसर दिया जाय तो वे भी उसी प्रकार बुद्धिमें तीव्र हो सकती हैं। स्त्रियोंकी भावुकता और पुरुषोंकी बुद्धिका परस्पर लाभ देनेके लिये दोनोंकी सहशिक्षा होनी चाहिये।

७ गृहव्यवस्था और बालपोषणका नाम मातापिता दोनों के लिये अनिवार्य और आवश्यक समझा जाना चाहिए। छोटी उमरसे ही इस धर्मका भाव उन्हें करानेके लिये सहशिक्षण आवश्यक है।

८. कार्यक्षेत्रको पूर्ण करनेके लिये लडके लडकियोंमें विद्यमान स्वाभाविक भेदकी जितनी मात्रा आवश्यक है उतनी मात्रा लडके लडकियोके योग्य परिचयसे दोनोंको सहशिक्षण संस्थामें ही प्राप्त हो सकती है जिससे दोनों एक दूसरेके ठीक ठीक सहायक हो सकते है, अतः भिन्न भिन्न कार्य क्षेत्रके विचारसे दोनोंमें ऊंच नीचकी भावना पैदा करना भूल है, क्योंकि इस प्रकार समाजकी हानि होती है।

९. सहशिक्षणमें सबसे अधिक मुख्य प्रश्न विचारनेका यह है कि लडके लडकियोंमें उत्पन्न होते हुए प्रजन वेगों (Sexual impulses) का सुप्रमाणमें योग्य विकास कैसे हो। प्रजन वेगोंका विकास उत्तम रीतिसे हो, स्त्री पुरुषका मिश्रण समाजको सुन्दर बनावे यह देखना शिक्षण शास्त्रीका काम है। हृदय और मनको अधिकसे अधिक निर्मल बनानेके लिए पवित्रतम वातावरण पैदा करना पडता है। पवित्र वातावरण होते हुए सहशिक्षण होनेमें कोई दोष नहीं है।

१०. स्त्रियोंमें बुद्धिका विकास कम है इसलिए सहशिक्षण न होना चाहिए यह भी युक्ति ठीक प्रतीत नहीं होती, क्योंकि जिसको बुद्धिके विकासका अवसर मिलेगा उसीकी बुद्धिका विकास होगा अन्यका नहीं। यदि पुरुषोंको भी बुद्धिके विकासके लिये अवसर न दिया जावे तो उनकी बुद्धि भी मन्द पड जावेगी इसीलिये स्त्री और पुरुषोंको सबको बुद्धिके विकासके लिये एक जैसा अवसर देना चाहिये जो अवसर ठीक ठीक सहशिक्षणमें प्राप्त हो सकता है।

११. अभ्यास करनेसे लडकियां वे सब विषय पढ सकती हैं जिन्हे लडके पढते हैं और उनकी ग्रहण शक्ति भी अभ्यास से बढ सकती है। जिन लडकोंमें ग्रहण शक्ति कम है और जो प्रायः घरेलू कामकाजमें लगे रहते हैं उनसे तमाम पुरुष जातिके लिये जिस प्रकार ऐसा परिणाम नहीं निकाला जा सकता उसी प्रकार कुछ लडकियोंको वैसा देखकर और दूसरी ओर उनको अवसर न देकर सम्पूर्ण स्त्री जातिके लिये वैसा परिणाम नहीं निकाला जा सकता, इसी प्रकार कुछ लडकियोंको वैसा देखकर और दूसरी ओर उनको अवसर न देकर सम्पूर्ण स्त्री जातिके लिये वैसा परिणाम नहीं निकाला जा सकता अत. सहशिक्षणमें कुछ आपत्ति नहीं है।

१२ सामाजिक सदाचारकी पवित्रता जितनी अधिक उन्नत होती जाती है उतनी अधिक स्त्रीपुरुषोंकी शिक्षा विषयक प्रश्नकी विषमता लुप्त होती जाती है क्योंकि एकके संपूर्ण विषयोंकी जानकारीकी आवश्यकता दूसरेको होती है। सामाजिक सदाचारकी पवित्रताकी उन्नति सहशिक्षणकी सहायतासे होती है, अतः सहशिक्षण होना चाहिए।

१३. १९२९ की Educational year book में जर्मनीकी ministry of education की विज्ञप्ति अधिक प्रामाणिक नहीं मालूम होती क्योंकि उसके बादसे जर्मनीमें लगातार सहशिक्षणकी वृद्धि होती चली आरही है। माध्यमिक शालाओंका बडा भाग सहशिक्षणको नहीं मानता तो

भी बर्लिनकी कार्लमार्क्स स्कूल, ओडन वाल्ड स्कूल और स्टटगार्टकी वाल्डौर्फ स्कूल जैसी प्रायोगिक शालाओंने जर्मन प्रजाको सहशिक्षणकी तरफ ध्यान दिलानेमें विजय प्राप्त की है। संकुचित विचारवाले मां बाप और उग्र सुधारकोंके बीचमें समाधान रूपसे ये संस्थायें खडी हैं तो भी सह-शिक्षणका कार्य बढता ही जा रहा है। बर्लिन विद्यापीठके डा० हबनरने कहा था कि, सिद्धांतकी दृष्टिसे हमारे यहा सहशिक्षण नहीं है परन्तु कार्यमें सहशिक्षण चालू है, क्योंकि छोटे छोटे ग्रामोंमें लडके लडकियोंके पृथक् स्कूल खोलने अशक्य हैं। विद्यापीठ, औद्योगिक महाविद्यालय और अध्यापन मंदिरोंमें तो सहशिक्षण है ही, प्रश्न केवल माध्यमिक शालाओंके लिये ही है, जहां यह क्रमश: बढ रहा है।

१४. कन्याओंको शिक्षा देना बहुत कालसे बन्द रहा है इस कारण सहशिक्षणमें बाधा प्रतीत होती है, परन्तु जैसे जैसे कन्याओंका शिक्षण बढता जायगा वैसे वैसे सहशिक्षण में बाधा हटती जायगी।

१५. लडकियोंमें छोटेपनसे ही विवाह सम्बन्धी विचार उत्पन्न होनेका कारण सामाजिक दुरवस्था है और बाल-विवाहकी कुरीति है। इनको निवारण करते हुए सहशिक्षण की बाधा नही रहेगी। सहशिक्षणसे इनके निवारणमें भी मदद मिलेगी, क्योंकि लडकोंके साथ प्रतिस्पर्धामें आनेसे लडकियां बालविवाहके चक्रमें पडनेसे बचेंगी।

१६. सामाजिक कुरीतियां ही यदि सहशिक्षणमें बाधक हैं तो उन्हें दूर करना आवश्यक है। कुरीतियोंको हटाते हुए सहशिक्षण होना ही चाहिए।

१७. हिन्दू और मुसलमानोंके लडके जैसे इकट्ठे शिक्षा पासकते हैं वैसे लडकियां भी साथ ही शिक्षा पासकती है। समान शिक्षाके द्वारा हिन्दू मुसलमानोंके लडका लडकियोंके शिक्षित हो जानेपर पारस्परिक वैमनस्यके लुप्त हो जानेकी संभावना है।

१८. पृथक् शिक्षणालयोंके होनेसे यदि साम्प्रदायिकता पुष्ट होती है तब तो सहशिक्षण अवश्य ही होना चाहिये। क्योंकि साम्प्रदायिकताका लुप्त होना अभीष्ट ही है।

१९. सहशिक्षणसे दूर दूर देशोंमें विवाहके कारण उत्पन्न होंगे, वास्तविक मानसिक अनुकूलता होसकेगी और विवाह के संबंधमें अनावश्यक बहुतसी ऐसी प्रथायें नष्ट हो जावेगी जो विवाह करनेवालोंके लिये बोझ रूप हो रही ही हैं।

२०. प्रारंभमें सहशिक्षणका परिणाम ऐसा हो सकता है कि स्कूलोंमें अनेक अविवाहित मातायें होजावें, परन्तु जैसे जैसे सामाजिक सदाचारका माप उन्नत होता जाता है और देशके प्रति कर्तव्य बुद्धि बढती जाती है वैसे वैसे सह-शिक्षणकी हानियां लुप्त होती जाती हैं।

२१. शिक्षा दबावसे नही दी जानी चाहिए। वह तो स्वाभाविक मानसिक विकास है, अतः सहशिक्षणसे दोनोंके शिक्षणमें कोई अनौचित्य नहीं है।

२२. भारतीय समाजके दूषित होनेके कारण कन्याओंकी ओरसे कहीं कही पृथक् शिक्षणालयोंके लिये अपील प्रकट होती है, परन्तु सामाजिक संशोधन होनेपर पृथक् शिक्षणालयोंके लिये अपीलकी सम्भावना नहीं रहती। दोष सह-शिक्षणमें नहीं है किंतु दूषित समाजमें है।

२३. पारस्परिक आकर्षणका दोष तो पृथक् शालाओंमें भी है। तो क्या लडकोंका साथ मिलकर रहना और शिक्षा पाना सब बन्द कर देना चाहिए। इसके दूर करनेका उपाय सहशिक्षणका अभाव नहीं है किंतु दूषित हानिकारक प्रेमसे वृत्तिको मोडकर पारस्परिक सहायक प्रेमकी ओर रुचि उत्पन्न करना है तब सहशिक्षणसे हानि नहीं होगी किंतु लाभ होगा। लाभ यह कि लडकियोंमें लडकोंके साथ शिक्षा पानेसे कुछ दृढता, साहस और कठोरता आजावेगी और लडकोंमें कुछ कोमल भावोंका भी विकास हो जावेगा।

२४ शिक्षणालयोंमें छोटे वा कमजोर लडकोंका व्यक्तित्व बडे लडकोंसे दबा रहता है, इसी प्रकार शुरु शुरुमें सम्भावना है कि लडकियोंके व्यक्तित्व पर कुछ असर पडे परन्तु लडकियोंके प्रति सम्मानकी दृष्टि लडकियोंको उभारेगी, ही दबायगी नहीं। इसलिये व्यक्तित्वके दब जानेके कारण को लेकर सहशिक्षण पद्धतिमें दोष नहीं हो सकता।

२५. दोनोंका वास पृथक् पृथक् रखते हुए अनेक कार्योंमें दोनों इकट्ठे रहने चाहिए कि जिससे उन्हें कार्योंमें पारस्परिक सहायताकी आदत पडे और एक दूसरेके कार्योंको करनेमें हिचकिचावे नहीं।

२६. सहशिक्षण होते हुए भी लडकियोंको अनेक कार्योंमें पृथक् भी रखना चाहिए जिससे उनकी व्यक्तिगत अनेक प्रकारकी उचित इच्छाओंके विकासमें बाधा न आवे।

संसारमें सहशिक्षणका विकास

Main from Encyclopaedia Britanica 11th Edition.

एक ही संस्थामें एक ही श्रेणीमें पुरुषों और स्त्रियोंका इकट्ठे शिक्षा पानेका नाम सहशिक्षण है। सहशिक्षणके विविध लक्षण किये गये हैं। सबसे अधिक गहरा लक्षण यह किया गया है कि जब लडके और लडकियोंको समान विषय पढाये जावे, एक ही समय पढाये जावे, एक ही स्थानमें पढाये जावें, एक ही अध्यापक पढानेवाले हों, पढानेका तरीका दोनोंके लिये एक ही हो, दोनोंके लिये समान नियम काममें लाये जाते हों, तब उस शिक्षण प्रणालीका नाम सहशिक्षण है। ऐसा सहशिक्षण इस बातको मानकर चलता है कि लडके और लडकियोंमें कोई भेद नहीं है। बहुतसे लोग जो शरीरोंमें, मनोंमें और आवश्यकताओंमें स्पष्ट भेदका अनुभव करते है वे कहते हैं कि उनमें अनेक प्रकारकी समानताओंको लक्ष्यमें रखकर बहुतसे विद्याभ्यासमें, खेलोंमें और सामाजिक जीवनमें उन्हे इकट्ठा करके इस प्रकार शिक्षा देनी चाहिये कि वह उनकी अपनी अपनी विशेषताओंके अनुकूल पडे।

सहशिक्षणकी प्रणाली यूरोपमें न थी। यह नवीन शिक्षा-प्रणाली है। युद्ध और धर्मके निमित्त पहिले मनुष्यों और लडकोको ही शिक्षा दी जाती थी। ईसाकी प्रथम शताब्दिमें ग्रीसमें लडकोंके लिये स्कूल होते थे। फ्रान्स और जर्मनीमें चौथी शताब्दिमें उसी प्रकारके स्कूल खुले। ६ ठी सदीके अन्तमें इंग्लैंडमें भी स्कूल जारी हुए। यूरोपमें कई घरानोंमें लडकोंको घरोंमें ही शिक्षा दी जाती थी। हजार वर्षसे कुछ अधिक पहिले भिन्न भिन्न प्रकारसे लडकियोंपर शिक्षा का परीक्षण किया गया। तब लडकियोंको या तो घरोंमेंही शिक्षा दी जाती थी या पृथक् शिक्षणालयोंमें धनी लोग घरोंमेंही शिक्षा देते थे। घरोंमें अपने भाइयोके साथ ही जवान लडकियां भी शिक्षा ग्रहण करती थी। यद्यपि तत्कालीन अनेक शिक्षक लडकियोंको लडकोंके साथ ही शिक्षणालयोंमें शिक्षा देनेके पक्षमें थे।

जबतक यह विचार फैला रहा कि स्त्रियां घरमें सजावट के लिये और मनुष्य के दिल बहलावके लिये सुन्दर खिलौनोंके रूपमें हैं और शिक्षा उन्हें मनुष्यके लिये कम उपयोगी और कम अनुकूल कर देगी तबतक उन्हे बहुत ही थोडी शिक्षा दी जाती थी। सामाजिक, आर्थिक और धार्मिक अवस्थाओंके साथ साथ स्त्रियोकी स्थितिमें भी परिवर्तन आया, तब सब देशोंमें लडकोंके लिये शिक्षा देनेके अवसर उपस्थित किये गये तथा लडकियोंके लिये शिक्षा किस प्रकार दी जावे केवल ढङ्ग मालूम करनेका प्रश्न रह गया। कुछ अपवादोको छोडकर पृथक् पृथक् शिक्षणालय स्थापित होगये। आर्थिक कष्टके कारण लडकियोंको लडकोंके स्कूलोंमें ही भर्ती किया जाने लगा और प्रारम्भिक शिक्षाके छोटे छोटे स्कूल दोनोंको इकट्ठा पढानेके लिये स्थापित हुए। १७वीं शताब्दीमें स्कॉटलैंडमें नियमित रूपसे प्रारम्भिक शिक्षा सहशिक्षाके रूपमें प्रारम्भ होगयी, यद्यपि इससे पहिले भी पैरिश स्कूलोंमें लडके लडकियां साथ पढते थे।

१९ वी शताब्दीमें स्त्रियोंने मांग पेश की कि हमें भी अपने भाइयोंके बराबर शिक्षा दी जानी चाहिये। स्त्रियां अनेक स्थानोंमें समान शिक्षाके लिये लडीं तबसे सहशिक्षणका प्रश्न एक विचारणीय प्रश्न बन गया, विशेष तया यूरोप और एशियामें जहां कि मौलिक परिवर्तन बहुत धीरे धीरे हुआ करते हैं। यद्यपि बहुतसे देशोंमें सहशिक्षणको गवर्मेण्टने स्वीकार कर लिया है परन्तु अभीतक इसका विशेष विस्तार नही हुआ है।

१८७० में इंग्लेंडमें स्त्रियोंमें उच्चशिक्षाके लिये तीव्र उत्कण्ठा उत्पन्न हुई। १८७४ में Girton और Newnham कालिजोंने उनकी इच्छा पूर्ण नही की, इसपर मुख्याध्यापिकाओंके संघने तीव्र आन्दोलन खडा किया कि, कालिजोंमें हमें प्रवेश किया जाय और इंग्लैंडकी यूनीवर्सिटियोंकी डिग्रियां दी जावें, विशेषतया ऑक्सफोर्ड और कैंब्रिजकी डिग्रियां।

१९. वीं शताब्दीके प्रारम्भमें फ्रांसमें बाधित शिक्षाकी स्थापना की गई। १८६७ से नियम हुआ कि जिस ग्रामकी संख्या ५०० से ऊपर है वहां कन्या पाठशाला खोल दी जावे।। इस समय फ्रांसमें २०००० स्कूल सहशिक्षणके जारी हो चुके थे। इनमें मध्यम श्रेणीके बालक शिक्षा पाते थे। १३ वर्षकी आयुके पश्चात् बालक पृथक् पृथक् शिक्ष-

णालयोंमें कर दिये जाते थे। कितनी ही यूनीवर्सिटियां स्त्रियोंको प्रवेश कर लेती थीं। बस, फ्रांसमें इतने तक सह-शिक्षणका प्रचार हुआ।

जर्मनीमें प्रारंभिक बाधित शिक्षाका प्रचार होते हुए छोटे छोटे शहरोंमें सहशिक्षणके स्कूलोंका प्रचार रहा। देशमें एक सत्तात्मक राज्य (Monarchy) हट जानेके पश्चात् सामाजिक राजनैतिक और शिक्षण संबंधी बहुतसे परिवर्तन हुए। स्त्रियोंमें उच्चशिक्षणको प्राप्त करनेकी तीव्र अभि-लाषा उत्पन्न हुई। महायुद्ध तक जर्मनीमें सहशिक्षण पद्धति को लेकर यूनीवर्सिटियां स्थापित नही हुई थीं। इस कारण बहुतसी पुरानी यूनीवर्सिटियोंने ही स्त्रियोंको भर्ती कर लिया।

पूर्वीय देशोंमें स्त्रियोंको किसी भी शिक्षाके योग्य नहीं समझा जाता था। हजारों वर्ष पुरानी प्रथा, विभिन्न सम्प्र-दायोंके और जातियोंके परस्पर पेचीदा सम्बन्धवाली समाज रचनाके कारण स्त्रीशिक्षाकी प्रगति अत्यन्त मन्द है। चीनमें रोमन कैथोलिक और अमेरिकन प्रोटेस्टन्ट मिशनरियोंने १९ वीं शताब्दीमें मिशन स्कूल स्थापित किया। इन स्कूलों के कारण स्त्री समाजमें शिक्षाका प्रचार प्रारम्भ हुआ। सह-शिक्षणका तो प्रायः अभाव ही है।

जापानने ७९४ ई० में लडकोंके लिये पहिला स्कूल स्थापित किया। आधी उन्नीसवीं शताब्दीके पश्चात् लडकियों की शिक्षाके लिये भी ध्यान दिया। फ्यूडल सिस्टम हटजा-नेपर यूनाइटिड स्टेट्स तथा यूरोपकी शिक्षा पद्धतिका अध्ययन करके जापानी सरकारने १८७१ ई० में स्व-बा-धित विशेष प्रकारकी शिक्षा, एकही शिक्षणालयमें लडके लडकियोंके लिये, आरम्भ की। १२ वर्षकी उम्रके पश्चात् बच्चोंको पृथक् पृथक् शिक्षणालयों (High schools) में भेज दिया जाता था। जापानी स्त्रियां युनाइटिड स्टेट्स की स्त्रियोंके संसर्गमें प्रायः रहीं क्योंकि शिक्षाके लिये वहां जाती रहीं। उन्होंने जापानमें स्त्री शिक्षाके सम्बन्धमें विशेष सुविधाओंके लिये मांग पेश की। बडी संख्यामें उन्होंने राजकीय यूनीवर्सिटियोंमें जाना प्रारम्भ किया। ये यूनीव-र्सिटियां उनके लिये १९२० में खोली गई थीं। स्वतंत्र यूनीवर्सिटियोंने भी इसका अनुकरण करना आरम्भ किया।

भारतवर्षमें शिक्षाका प्रश्न बडा पेचीदा है। यहां विभिन्न विरुद्ध मंतव्य रखनेवाले सम्प्रदायोंका प्रचार, जातियोंका संघर्ष, बाल विवाह, बाल वैधव्य, आर्थिक सकट, सुयोग्य शिक्षकोंका अभाव, युवकोंमें देशप्रेमकी कमी, ये सब कारण शिक्षा प्रचारमें बाधक हो रहे हैं। १९२८ में एक प्रति-शतक लडकियां पठित थीं और १.०३ प्र श. विद्याध्ययन कर रहीं थीं। आर्थिक दुरवस्थाके कारण सहशिक्षण प्रामों तक ही सीमित है। लडकियोंके लिये ग्रामोंमें जहांतक हो सकता है पृथक् पाठ शालायें जारी की जा रही है। लड-कियोंके कालिजोंमें हजारसे भी कम लडकियां अध्ययन कर रही हैं। कई सौ लडकियां कुमारोंके कालिजोंमें भी जा रही है, कुछ उद्योग शिक्षणालयोंमें शिक्षा पा रही है। लडकियोंकी शिक्षाके लिये बहुत कम ध्यान है, सहशिक्षण की तरफ तो ध्यान नही सा है। परन्तु धीरे धीरे दोनों तरफ ध्यान बढ रहा है।

इटलीमें महायुद्धके पश्चात् स्त्री शिक्षाके सम्बन्धमें बहुत अधिक परिवर्तन हुए है। बहुतसी स्त्रियोंको पुरुषोंका काम संभालनेके लिये बाधित किया गया। जब समझा गया कि इन्हें प्रारंभिक शिक्षणकी आवश्यकता है तब उन्हें लडकोंके हाईस्कूलोंमें भेज दिया गया। जब कि संख्या बढ गई तो इटलीके पास पृथक् स्कूल चलानेके लिये न समय था और न धन। इसका परिणाम यह हुआ कि इटलीमें लडकोंके हाईस्कूलोमें सहशिक्षण स्थिर हो गया। स्त्रियोंकी यूनीवर्सिटी शिक्षाके लिये बहुतसी यूनीवर्सिटियां खुलनी प्रारंभ हो गई।

दक्षिण अमेरिकामे सहशिक्षणकी प्रगति बहुत मन्द है। इसके अनेक कारण है। वहां राजनैतिक और आर्थिक परिवर्तन बहुत हुए हैं। भिन्न भिन्न प्रदेशोंमें और उनके छोटे छोटे भागोंमें सम्बन्ध रखनेकी बहुत कठिनता उपस्थित हुई है क्यों-कि प्रदेश बहुत दूर दूर है। जनसंख्या अल्प है। स्थानोंके वर्णन मिलते नहीं। स्त्रीशिक्षाका विरोध है। कहीं कहीं सह-शिक्षण अल्प मात्रामें पाया जाता है, परन्तु अभीतक अपनाया नहीं गया। अर्जेन्टाइनाने किसी कदर १८६८ सन्से सहशिक्षण की तरफ वृत्ति दिखलाई है, जब कि उत्तरीय अमेरिकासे प्रेसीडैन्टसे चलाये गए तरीके और अध्यापक यहां स्वीकार कर लिये गए थे। लगभग आधे स्कूलोंमें अब तो सहशि-क्षण चलता है। ब्राजीलमे १८८९ सन्में रिपब्लिककी

स्थापना हुई तबसे ३ प्र० श० जन संख्या स्कूलोंमें जाने लगी, इन स्कूलोंमे कहीं कहीं सहशिक्षण भी चलता है। अर्जेन्टाइनाके दक्षिण भागमे कुछ लेटिन अमेरिकन यूनीव-र्सिटियां है जिनका सम्बन्ध मैक्सिकोकी यूनीवर्सिटिके साथ है, ये पुरुषोंके लिये ही स्थापित की गई थीं, परन्तु अब स्त्रियां भी भर्ती कर ली जाती है।

यूनाइटिडस्टेट्समें शिक्षाके अन्दर सहशिक्षणने विशेष महत्व प्राप्त किया है। रिवोल्यूशनरी वारमें नये विचार प्राप्त हुए। सिविलवारने स्त्रियोंके लिये अध्यापनका कार्य सौंप दिया। महायुद्धने स्त्रियोंकी आर्थिक राजनैतिक और सामा-जिक अवस्थामे आश्चर्यजनक परिवर्तन कर दिये–उनके लिये सैकडों रोजगार खोल दिये जो पहिले बन्द थे। १९२६ सनमें ९७ प्र० श० जनसंख्यामें सहशिक्षणका प्रचार हो गया। २५८८५९ ऐसे स्कूलोंमें २४७४१४६८ विद्यार्थी शिक्षा पाते थे। बाल शिक्षासे लेकर कालिजकी शिक्षा तक सब शिक्षामें सहशिक्षण पद्धति हो गई। प्राय. सभी यूनी-वर्सिटियोंने प्रत्येक विषयके लिये सहशिक्षण पद्धति स्वीकार करली है। स्त्री ग्रेज्यूएट्सकी चौथी पीढीमें आकर वे सब आक्षेप दूर हो गए हैं जो प्रारंभमें उठाये जाते थे। सह-शिक्षण पद्धतिके परिणामसे ऐसा ही अनुभव प्राप्त हुआ है।

कैनाडामें भी यूनाइटिड् स्टेट्सके समान ही परिणाम निकला है। डेनमार्कमें भी अनेक घरानोंकी सलाहसे सह-शिक्षण प्रारंभ हो चुका है, पृथक् पृथक् शालाये भी हैं, स्कैन्डीनेवियन देशोंमें, हॉलैंडमे, बैल्जियममें, स्विट्जर लैंडमें सार्वजनिक स्कूलोंमें किसी कदर सहशिक्षण चल पड़ा है।

सहशिक्षणके विकासका सार

पहिले समयमे युक्तियां दी जाती थीं कि सहशिक्षणसे पुरुषोंमें स्त्रीत्व और स्त्रियोमें पुरुषत्व उत्पन्न हो जावेगा; स्त्रियां स्वभावसे ही कमजोर होती हैं, उनमें शारीरिक बल और मानसिक शक्ति उच्च शिक्षाके लिए कम होती हैं, वे मनुष्योंके साथ साथ प्रगति करनेमें सर्वथा अयोग्य और असमर्थ हैं। ये सब युक्तियां बार बार अशुद्ध साबित हो चुकी है। अन्य आक्षेप शताब्दियोसे चली आरही प्रथाओं के आधारपर हैं जिनमें जातियोंका पारस्परिक भेद है और समाजमें मनुष्योंकी भिन्न भिन्न हैसियतके अनुसार मिथ्या-भिमान मूलक पक्षपात है। प्रथा और पक्षपात अब भी यथा संभव पृथक् पृथक् शिक्षणालयोंके पक्षमें हैं।

पिछले ५० वर्षोंमें गवर्मेण्टके स्वरूपमें हुए हुए परिव-र्तनोंने शिक्षण सिद्धांतोंपर बहुत प्रभाव डाला है, तो भी सहशिक्षण और पृथक् शिक्षण चलानेके उत्तमोत्तम तरीकों के सम्बन्धमें निश्चित परिणाम प्राप्त नहीं हुए हैं। मानसिक निद्रा विज्ञान और मनोविज्ञानकी उन्नतिके साथ साथ कुछ शिक्षक फिर अन्दाज लगा रहे हैं कि स्त्रीपुरुषोंको पृथक् पृथक् क्यों न कर दिया जाय, कमसे कम कौमार कालके कुछ वर्षोंमें तो कर ही दिया जावे, जब कि कई क्षेत्रोंमें उनमें स्वाभाविक पृथक्ता पाई जाती है। यूनाइटिड स्टेट्स और कैनाडामें सभी सार्वजनिक शिक्षणालयोंमें सहशिक्षण हो चुका है। सहशिक्षणकी इतनी अधिक अच्छी प्रगति और कहीं नहीं हुई।

भारतमें सहशिक्षणकी संभावना

संसारमें सहशिक्षणके विकासका अवलोकन करनेसे यह परिणाम निकलता है कि भारतसे भिन्न अन्य देशोंमें भी पहले सहशिक्षण नहीं था, जहां अब दीख रहा है। वहां भी लोग स्त्रीशिक्षाके विरुद्ध थे। वहां स्त्रियोंको केवल अपने दिल बहलावका साधन समझते थे तथा उन्हे घरोंकी सजा-वटका सामान समझते थे। शिक्षा देनेसे स्त्रियां इस प्रकार पुरुषोंके काबूमें नहीं रह सकती थी अतः स्त्रियोंकी शिक्षा का विरोध था।

भारत वर्षमें भी ठीक इसी प्रकारकी हालत है। स्त्रियां घरकी भूषण, संतानोत्पत्तिकर्म और दिल बहलावका साधन समझी जाती हैं। घरोंमें युवती विधवायें अपनी दुर्दशा देखकर घरको छोड बैठती हैं और वेश्या वृत्तिको ग्रहण कर लेती हैं। अन्य देशोंमें राज नैतिक, आर्थिक और सामाजिक अवस्थाओंमें परिवर्तन हो जानेके कारण स्त्रियोंको भी उन कार्योंमें डाला जाने लगा जिनको केवल पुरुष ही किया करते थे। कार्योंको ठीक प्रकारसे संपादन करनेके लिये उन्हें शिक्षा भी दी जाने लगी। स्त्रियोंने शिक्षाके क्षेत्रमें प्रवेश करके अनुभव कर लिया कि वे पुरुषोंके समान शिक्षा ग्रहण कर सकती हैं उनके समान ही कार्य कर सकती हैं तथा खुलेनपमें रहकर कुदरतका आनन्द लेनेका उनका उतना ही अधिकार है जितना पुरुषोंका इसलिये

उन्होंने शिक्षाके क्षेत्रमें प्रवेश करके समान शिक्षा और समान अधिकारके लिये तीव्र याचना की और क्रांति करदी।

भारत देश भी इस समय आर्थिक, राजनैतिक और सामाजिक कुप्रथाओंके कष्टमें पडा हुआ है। स्त्री पुरुष बालक बालिका सभी मेहनत करते हैं तो कुटुम्बके पालन पोषणका काम चलता है। अपनी आजीविकाकी खातिर पुरुषोंके प्रत्येक काम धन्धेमें स्त्रियां स्थान ग्रहण करती चली जा रही हैं, स्त्रियां इस प्रकारकी प्रगतिसे पुरुषोंके बनाये हुए सामाजिक बन्धनोंको काट काटकर क्रांति पैदा कर रही हैं। भारत वर्षका पुराना इतिहास स्त्रियोंके सामने लक्ष्मी बाई, सीता, सावित्री, कुन्ती, लीलावती, दमयन्ती, केकयी, गार्गी, मैत्रेयी, मण्डन मिश्रकी स्त्री इत्यादि ऐसे उदाहरण पेश करता है कि जिससे स्त्रियां सचमुच यह समझने लगती हैं कि शारीरिक और मानसिक क्षेत्रके किसी भी विषयमें कार्य करनेके लिये योग्यता प्राप्त करनेमें स्त्रियां पुरुषोंसे कम नही हैं यद्यपि भारत वर्षमें सामाजिक कुप्रथाओंके बंधन शास्त्रीय आधारोंपर पुष्ट किये जाते हैं परन्तु उनके विरुद्ध अनुभव और उदाहरण उपस्थित होनेपर केवल उन बन्धनों के विरुद्ध ही क्रांति नहीं हो रही किन्तु उन शास्त्रोंके विरुद्ध भी क्रांति होने लगी है जो शास्त्र इस प्रकारकी दासत्व बुद्धि बनानेका आदेश देते हैं।

भारत वर्षमें इस समय राजनैतिक क्रांतिको लक्ष्य करके बडे बडे दिमाग लग रहे हैं। इस क्रांतिके लिये सामाजिक और आर्थिक अवस्थाओंमें भी क्रांतिकी आवश्यकता समझी जा रही है और कुछ प्रयत्न भी आरम्भ हो चुका है। किसी देशमें पूर्ण और उत्तम रूपसे सफल क्रांति होनेके लिये आवश्यक है कि उस देशके स्त्रीपुरुष पर्याप्त मात्रामें सुशिक्षित हों और मिलकर सहोद्योगके साथ क्रांति करें। इस कार्यको शीघ्रसे शीघ्र करनेके लिये आवश्यक है कि स्त्रीपुरुष सभीमें शीघ्रसे शीघ्र शिक्षाका प्रचार हो। भारतवर्षमें इतना धन नहीं है कि स्त्रीपुरुषोंके पृथक् पृथक् शिक्षणालय साधारण शिक्षासे लेकर उच्चतम शिक्षातक स्थापित किये जा सकें। शिक्षक और शिक्षिका भी अल्प हैं। विदेशी गवर्मेण्ट अपने आवश्यक खर्चोंको कम कर नहीं सकती, अतः आवश्यकता अनुभव की जा रही है कि सहशिक्षा जारी की जावे और थोडेही शिक्षक शिक्षकाओंसे कार्य निकाला जावे।

सहशिक्षणके दोषोंके परिहारार्थ उपाय

मर्यादामें रहनेसे कोई जटिल समस्या उत्पन्न नहीं होती। मर्यादा भंगके दो कारण है- १ अस्वाभाविक मर्यादाका बांधना, २ उचित मर्यादाकी उपेक्षा। अतः अस्वाभाविक मर्यादा न बांधनेसे और उचित मर्यादाकी उपेक्षा न करनेसे कोई जटिल समस्या उत्पन्न नही होती।

स्त्री पुरुषमें भेद लिंग भेद है योनी भेद नहीं, क्योंकि इनमें सजातीयता विद्यमान है। लिंग भेद बिनाकारणके नहीं है किन्तु सृष्टि नियमके अनुसार है। यह भेद प्रकृतिने ही निर्माण किया है। इसको बिना माने आचार रखनेका प्रयत्न अनुचित है। आचारपर लिंग भेदका असर पडता है। जिस प्रकार प्रकृति मनुष्यको चलावें वैसा ही चलना ठीक नही है। अमर्यादित पशुके समान प्रकृतिके अनुसार चलना मनुष्यका धर्म नहीं। मनुष्य बिलकुल अप्राकृत भी नहीं है कि सर्व प्राणियोंके साधारण नियम इसपर लागू न हों। मनुष्य प्रकृतिका एक बालक है। वह प्रकृतिको संस्कृत और विकृत कर सकता है। अन्य प्राणियोंके समान इसमें स्त्री पुरुषका भेद है। यह भेद गाय घोडेके समान नहीं किन्तु गाय बैलके समान है।

प्रकृतिको छेडनेसे एक अंशसे वह विकृत होती है और एक अंशसे वह संस्कृत होती है। विकृत प्रकृति बुरा परिणाम लाती है और संस्कृत प्रकृति अच्छा परिणाम लाती है। प्रकृतिके प्रत्येक रूपमें दोनों अंश रहते हैं। स्त्री पुरुषमें अविकार प्रेम भी सिद्ध हो सकता है। यह प्रेम संस्कृतिसे निर्मित है, प्रकृतिगत नहीं। इसलिये देखनेमें आता है कि भाई बहिन, माता पुत्र, पितापुत्रीके प्रेममें भी विकृति आजाती है, अतः इसके लिये भी मर्यादा करनी पडती है। लाखोंमेंसे एक आध व्यक्तिको छोडकर सबको कभी न कभी विजातीय परिचय और स्पर्शकी वासना उत्पन्न होती ही है। प्रजा तन्तुकी धाराको अविच्छिन्न रखनेके लिये यह वासनाका क्रम इस प्रकार है- परिचय, परिचयात्मक स्पर्श और सम्भोग। पशु कपडे और घरसे रहित है अतः उनकी वासना प्राकृतिक है- स्वाभाविक-नियमित है। मर्यादित परिचयसे सद्भावनाओंका पोषण होता है, स्पर्श सेवाके लिये होता है और संभोग दोषहीन होता है। मर्यादा शून्य हुआ परिचय और स्पर्श विलासी

भावनाओंको पुष्ट करता है और व्यभिचार तथा वर्ण संकरतामें बदल जाता है। मर्यादा न बांधकर यदि अत्यत निषेध किया जाय तो प्रकृतिकी प्रेरणा विकृत मार्ग ले लेती है। इस प्रकार सहशिक्षाका प्रश्न यह स्त्री पुरुषके परिचय स्पर्श और संभोगकी मर्यादाका ही एक अंश है। इसमें शिक्षक और शिष्या तथा शिक्षिका और शिष्यके सहवासकी और स्पर्शकी वैसे ही स्त्री पुरुषकी मैत्रीकी और सहकार्यकी भी समस्या है।

ब्रह्मचर्याश्रम काल जीवनमें बडे महत्वका है, परन्तु ब्रह्मचारीका जन्म गृहस्थाश्रमसे ही होता है। इसलिये गृहस्थकी पवित्रताका आश्रय ब्रह्मचारीकी पवित्रता है। ब्रह्मचारीको जितनी पवित्रता गृहस्थाश्रमसे मिलेगी समाजका निर्माण उतना ही पवित्र होगा। पतिव्रत और पत्नीव्रतका आदर्श शिथिल होगा तो प्रजामें शुद्ध ब्रह्मचारी बहुत तैयार नहीं हो सकते। यदि पुरुषोंमें अधिक परिमाणमें पत्नीव्रतकी और मनुष्यनकी भावना मंद हो तो उत्तम शीलवाली स्त्रियां उत्पन्न नहीं हो सकतीं।

अब्रह्मचर्यके दोष सहशिक्षणकी संस्थाओंमेंसे ही उत्पन्न नहीं होते किन्तु केवल लडके और केवल लडकियोंकी पाठशालासे भी उत्पन्न होते है और कुटुम्बसे भी उत्पन्न होते हैं। पुरुषके स्खलनोंकी तरफ समाजको इतनी घृणा नहीं जितनी स्त्रियोंके स्खलनोंकी ओर है। प्राचीन कालसे वेश्या वृत्ति यह राजमान्य और समाजमान्य धन्धा माना जाता है। वाममार्गने व्यभिचारको साधनाका एक अंग माना है। वेदान्ती लोग भी बहुत बार इसका समर्थन करते है। भक्तिमार्ग भी इसको पुष्ट करता है। जिन धन्धोंमें शरीर स्पर्श अनिवार्य होता है सेवाके वे धन्धे स्त्रियोंके समझे जाते हैं– रजवाडोंमें दासियां, हस्पतालोंमें नर्से, स्नान गृहोंमें मालिश करनेवाली। इस प्रकार हम देखते हैं कि, सामाजिक प्रथायें भी अब्रह्मचर्यके दोषको पुष्ट करनेमें पर्याप्त सहायक है। सामाजिक दुष्ट प्रथाओंमें पली हुई मनोवृत्तियां लिङ्ग भेदकी परवाह नहीं करती हैं। अतएव सहशिक्षणसे भिन्न संस्थाओंमें भी अब्रह्मचर्य संबंधी दुष्ट वृत्तियां जागृत हो जाती है। इन दुष्ट वृत्तियोंसे बचनेके लिये विचारकोंने अनेक उपाय उपस्थित किये हैं।

१. पहिला उपाय ऋष्यश्रृङ्गने उपस्थित किया है। ऋष्यश्रृङ्ग कहते हैं कि दोषकी जड विजातीयताके भानमें है। वहांसे दुष्ट हुई वृत्ति सजातीयमें भी लागू होती है। इसलिये बालकको प्रारम्भसे ही ऐसी अवस्थामें रखना चाहिए कि मानो उसके लिये स्त्री जातिका अस्तित्व ही दुनियामें नहीं है। इसका अभिप्राय है कि अज्ञानमें रहते हुए परहेज में रहना। इसमें विजातीयका दर्शन ही नहीं होता। स्त्रियों का पर्दा व घूंघट कुछ इसी विचारके कारण विजातीय दर्शन को रोकनेके लिये सहायक हो सकता है। ऋष्यश्रृङ्गके इस उपायका यह अभिप्राय प्रतीत होता है कि अब्रह्मचर्य संबंधी वृत्तियोंको जो भी पदार्थ जागृत व उत्तेजित कर सकते हों उनको संसर्गमें ही न आने देना।

२. दूसरा उपाय- विकारका अस्तित्व माननेसे ही विकार का निर्माण होता है, ऐसा मानकर विकारके अस्तित्वसे ही इनकार करना। जैसी निर्दोषता दो तीन वर्षके बालकोंमें होती है वैसी निर्दोषता सदा रह सकती है। जैसे दो तीन वर्षके बालकोंके व्यवहारपर लिंग भानकी दृष्टिसे कोई अंकुश नहीं वैसे बडी उमरमें भी पवित्रताके लिये अंकुश रखनेकी आवश्यकता नहीं है।

३ तीसरा उपाय- पहिले दोनों उपाय मनोवैज्ञानिक दृष्टिसे विचार किये जानेपर अव्यवहार्य हैं। दोनों उपाय व्यवहार्य मध्यम मार्गको छोडकर परले सिरेकी बात करते हैं। दोनों सीमाओंके बीचमें मध्यम मार्गसे ही शुद्धि और संस्कारिताकी पुष्टि हो सकती हैं। जो कुटुंब या व्यक्ति प्रलोभनोंमें फंसे नहीं अथवा फंसकर निकल गए हैं उनके उदाहरणोंपर दृष्टि डालनेसे स्पष्ट हो जावेगा कि उत्तम संस्कारोंको उत्पन्न करनेवाली मर्यादा पालनकी आवश्यकता है। केवल मनको उत्तम बनानेका सिद्धांत शरीरको ठीक नहीं बना सकता। केवल शरीरके स्थूल नियमोंका पालन मनको बिगडनेसे बचा नहीं सकता और अन्तको शरीरके बिगडनेसे भी बचा नहीं सकता। शुद्ध संस्कारोंसे मनका संस्कार और उत्तम नियमोंका पालन ये दोनों ही स्वीकार करने पडते हैं।

संस्कारों और नियमोंकी परिगणना

स्त्री और पुरुष दोनोंका शरीर एक पवित्र वस्तु है। उसमें उस आत्मा और परमात्माका निवास है जिसके अद्-

भुत चमत्कार संसारमें दृष्टिगोचर हो रहे हैं। इसको प्रयोजन बिना स्पर्शसे दूषित नहीं करना चाहिये। स्त्रीको पुरुषका वा पुरुषको स्त्रीका इतना ही नहीं किंतु स्त्रीको स्त्रीका वा पुरुषको पुरुषका स्पर्श भी व्यर्थ न करना चाहिए। आवश्यकताके बिना किसीका भी स्पर्श अनुचित लगनेका स्वभाव होना चाहिए। व्यर्थ ही किसीसे भिड पडनेकी, हाथ पकड लेनेकी, गलेमें हाथ डालनेकी इत्यादि आदतें खराब अशिष्ट समझनी चाहिए। स्थान होते हुए अडकर बैठनेकी रीति असभ्य समझनी चाहिए। चुम्बन क्रिया बहुतसे स्थानोंमें अनुचित और गन्दी किया है। छोटे बालकोंको सब कोई चुम्बन करते हैं, परन्तु बालकोंसे सुननेसे मालूम पडता है कि माताके सिवा किसीका भी चुम्बन उन्हें मुश्किलसे ही अच्छा लगता है। बात इतनी है कि औरोंके चुम्बनको वे सहन कर लेते हैं। बालक अपने बडोंको देखकर चुम्बन लेना सीखते हैं। बेसमझ बालक दूसरेका चुम्बन लेते समय कभी बटका भी भर लेता है। परन्तु अपना चुम्बन लेना बालकोंको मुश्किलसे ही पसंद आता है। चाहे जिसका चुम्बन लेना वा चाहे जिसे चुम्बन लेने देना इस विषयमें अरुचि उत्पन्न करनी चाहिए। बालकोंको सहन करनेकी फरज न डालनी चाहिए। यह नियम सबके लिये एकसा है, क्योंकि यह संस्कार सबके लिये आवश्यक है। ऐसी हालतमें मनुष्य तभी पडता है जब वह किसीके संसर्गमें आकर विषयका ध्यान करता हुआ आसक्त हो जाता है। आसक्ति की हालतमें वह बेकाबू हो जाता है, उसका संयम छूट जाता है और तब वह चुम्बन आदि विषय भोगकी क्रिया कर ही डालता है। अति परिचित स्पर्श यह अर्ध संभोग ही है। पूर्ण संभोगके लिये एक व्यक्ति और अर्ध संभोगके लिये दूसरी एक वा अनेक व्यक्तियां यह पवित्र जीवन नहीं है। अपने शरीरको परिचितोंसे आपत्तिके बिना एक को ही स्पर्श करने देनेका अधिकार है— पति वा पत्नीको। प्रत्येक स्त्री पुरुषको ऐसी अपेक्षा रखनेका अधिकार है कि किसीको अपनेसे स्पर्श न करने दें, तभी वे पवित्र रहसकते हैं। इस प्रकारका संयम और संभोग समाजके लिये हित कारक होगा। मा बेटा, पिता पुत्री, भाई बहिनके सहवासमें पुष्ट हुआ प्रेम उत्तम प्रकारका प्रेम संबंध है। यह सहवास भी विशेष कारणके बिना नहीं होना चाहिए। आवश्यकता बिना स्पर्श न हो इस प्रकार मर्यादामें रहते हुए ही गुरु शिष्या, शिष्य। शिक्षिका, विद्यार्थी विद्यार्थिनीका परस्पर परिचयमें आना हानिकर नहीं है। जहां ऐसी मर्यादा नहीं वहां विजातीय परिचय भयपद है।

चौथा उपाय— चूँकि सामाजिक दुष्ट प्रथाओंके कारण अब्रह्मचर्य संबंधी मनोवृत्तियां जागृत होती है, अत सामाजिक प्रथाओंके संशोधनसे भी मनोवृत्तियोंमे सुधार किया जा सकता है। मनोवृत्तियोंमें विकार अपने परायेके भेदको लेकर होता है, तथा गृहस्थके झंझटोंमें फंसे रहकर सकुचित क्षेत्रमें बंद रहनेसे भी होता है। समय समयपर अपना दिल बहलाव करनेके लिये तथा मिथ्याभिमानसे उत्पन्न अपने बडप्पनको दिखलानेके लिये बडी शान शौकतसे सजधज कर स्त्री पुरुष बाहिर निकलते है और सैर करते है, परस्पर आकर्षण प्रत्याकर्षणके साथ एक दूसरेको मुग्ध करते हैं। इस प्रकारसे लोगोंमे ऐसे ऐसे फैशनोंके आविष्कारोंकी तरफ हर वक्त मन दौडता रहता है जो अधिक अधिक लुभानेवाले हों। इन कारणोंके दूर करनेसे अब्रह्मचर्य संबंधी मनोवृत्तियोंके जागृत होनेमें कमी आसकती है।

पांचवां उपाय— कई लोगोंका विचार है कि लिंगभान (Sex consciousness) का स्फुरण होना ही विकार का कारण है, विजातीय परिचय वा स्पर्श विकारका कारण नहीं है। विजातीय परिचय वा स्पर्श न भी हो तो भी मामूली बातसे ही इसका भान उत्पन्न हो आता है। परिचय और स्पर्शकी आदत पड जानेके बाद पुरुष वा स्त्रीको स्वयम् ही ख्याल नहीं आता तथा विकारका अनुभव नहीं होता।

अब्रह्मचर्य संबंधी दोषोंको दूर करनेके लिये यह उपाय कहा तो जाता है परन्तु वस्तुतः यह उपाय नहीं है। मनुष्यों के जीवनोंमें अवस्था विशेषके आनेपर लिंगभान स्वतः होता है। विजातीय परिचय और स्पर्श बालकपनसे साधारण रहते हुए भी लिंगभान होता ही है। इतना ही नहीं किंतु सजातीय स्पर्शभी अब्रह्मचर्य संबंधी अनेक दोषोंको उत्पन्न करता है। इसलिये यह कहना ठीक नहीं कि स्पर्श की आदत पड जानेके बाद पुरुष वा स्त्रीका ख्याल ही नहीं

आता और विकारका अनुभव ही नहीं होता। सामाजिक जीवनमें रहते हुए मनुष्यके शारीरिक और मानसिक विकासमें ब्रह्मचर्य, गृहस्थ, वानप्रस्थ और संन्यास ये चार अवस्थायें आती ही हैं। इनके कर्तव्योंका पालन करनेकी उचित शिक्षा प्राप्त करनेके लिये लिंगभान आवश्यक है। लिंगभानके साथ साथ यदि मनुष्योंको मर्यादामें रहनेकी आदत डलवाई जाय तो मर्यादामें रहकर मनुष्य अब्रह्मचर्यके दोषोंसे बच सकते हैं अन्यथा नहीं। इसलिये मर्यादा पालन तो उपाय है परंतु लिंगभानका स्फुरण न होने देना उपाय नहीं है, क्योंकि समयपर लिंगभानका स्फुरण होता ही है उससे बचा नही जा सकता।

छठा उपाय— अनेक मनुष्य समझते हैं कि वैवाहिक सम्बन्धको जितना टाला जा सके उतना ही अच्छा है, अथवा इस सम्बन्धको बिलकुल अमर्यादित कर दिया जाय, अथवा और कुछ नहीं तो यह सम्बन्ध अस्थिर ही कर दिया जाय ऐसा करनेसे मनुष्य अब्रह्मचर्यके दोषोंसे बच सकता है।

ऐसा समझना भूल है। आर्थिक जबाबदारीसे तङ्ग आए हुए लोगोंकी तरफसे प्राय. ऐसी आवाज उठती है, वस्तुतः वैवाहिक व्यवस्थाको जितना ढीला किया जावेगा उतनाही अधिक समाज अव्यवस्थित हो जावेगा। बालकपनसे लेकर वृद्धतक सम्पूर्ण जीवन व्यवस्था टूट जावेगी। इसलिये वैवाहिक व्यवस्थाका तोडना अब्रह्मचर्यके दोषोंका उपाय नहीं है प्रत्युत मर्यादा पालन सच्चा उपाय है।

मर्यादाका पालन करनेवाला संस्कारी गृहस्थ अपने घरको एक पवित्र स्थान समझता है। मर्यादित गृहस्थका गृहस्थाश्रममें सन्तानोत्पत्ति कर्म पवित्रकर्मकी भावनासे युक्त है। ऐसे संस्कारी गृहस्थोंके बालकोंके स्खलनकी संभावना प्रायः नहीं रहती। ऐसे घरोंमें सब कार्य स्पष्ट पवित्रताके साथ होता है। पवित्रताका ऐसा आदर्श शालामें भी होना चाहिये— शिक्षक लडकियोंको अपनी पुत्रीके समान देखे, विद्यार्थी अपनी माता या बहिनके समान देखे। यह भावना न हो तो शालामें मलिनता अवश्य उत्पन्न हो जाती है।

पचीस तीस वर्ष तक ब्रह्मचर्यपूर्वक नहीं रहा जा सकता यह भ्रम छुडा देना चाहिए। गृहस्थाश्रममें पडना पतन है या शरम देनेवाली वस्तु है ऐसा संस्कार डालना भी ठीक नहीं है। संभोग करनेसे अनाचार होता है यह भावना भी मिथ्या है। धर्मसे अविरुद्ध कामोपभोगकी शिक्षा मिले इस प्रकारका संस्कार डालना चाहिए। धर्माविरुद्ध कामकी शर्त यह है कि विवाहसे पहिले किसी स्त्री पुरुषकी ओर कामातुर दृष्टि होना पाप है, तथा कामातुर दृष्टिसे किसीको स्पर्श करना यह भी पाप है। जिस स्पर्शकी आवश्यकता नहीं वह स्पर्श कर्तव्यरूप न होनेसे नहीं करना चाहिए। इस प्रकार अपनी पवित्रताको न बिगाडनेवाले शारीरिक धर्मके अविरोधी संभोगसे धार्मिक प्रजा निर्माण करनेके लिये विवाह होता है। अतः काम विह्वल होकर स्त्रीको या पतिको ढुंढवानेकी अथवा किसी स्त्री वा पुरुषपर कामातुर होकर उसके साथ विवाहका निश्चय करनेकी प्रवृत्ति यह संस्कृति नहीं विकृति है। यदि समाजके गृहस्थाश्रममें धर्मविरुद्ध कामका अभाव हो तो नैष्ठिक ब्रह्मचर्यकी महिमा गाना यह नितान्त काल्पनिक पदार्थ है। परन्तु जिस समाजमें इस प्रकारके धार्मिक संस्कार विद्यमान हैं उस समाजके स्त्री पुरुषोंमें सहशिक्षणकी संस्था चल सकती है इसमें कुछ सन्देह नहीं है।

सहशिक्षणकी समस्याका हल

जो कुछ पहिले लिखा जा चुका है उससे भी इस विषयपर काफी प्रकाश पडता है। अब इस विषयपर अधिक प्रकाश डाला जाता है।

शिक्षाप्रणालीमें सहशिक्षणके सम्बन्धमें विचारकोंके भारी मतभेद हैं। अनेक शिक्षण शास्त्री सहशिक्षणको जाति और कुलके पतनका साधन समझते हैं। उनमेंसे कुछ अर्थ और सुगमताकी दृष्टिसे इस पतनकी उपेक्षा कर जाते हैं। ऐसे भी अनेक हैं जो सहशिक्षणके आदर्शोंके साथ अपना मनोयोग रखते हुए भी कुछ व्यावहारिक कठिनाइयोंका हल इस पद्धतिसे असंभवसा समझते हैं।

अस्तु! प्रारम्भिक शिक्षा अर्थात् १२ वर्ष की उमर तक सहशिक्षणके विषयमें प्राय किसीका मतभेद नहीं है। सहशिक्षणके द्वारा लडके लडकियोंमें अनुचित व्यवहार उत्पन्न होता ही है यह ख्याल गलत है। इस विषयमें एलिज बैथ फिशकी साक्षी ध्यान देने योग्य है। एलिज बैथ फिश किसी समय उस स्कॉटलैन्डके एज्यूकेशन एकेडेमीके प्रधान रह

चुकी हैं जहां बहुत वर्षोंसे सहशिक्षण प्रणाली चल रही है। वे कहती हैं, 'ऐसी बहुत ही कम अवस्थायें हैं जिनमें लडके लडकी सार्वजनिक नियमोंकी मर्यादाको उलंघन करनेके दोषके भागी बनते हैं। विद्यालयमें, क्रीडा क्षेत्रमें, सभाओंमें, साहित्य सम्मेलनोंमें और वादविवादोंमें वे खुले तौरपर मिलते हैं। इसमें कोई सन्देह नहीं कि लडके लडकियोंमें कई बार तीव्र आकर्षण और गाढ प्रेम उत्पन्न हो जाता है और उसके कारण वे जीवनभरके साथी बन जाते हैं। परन्तु ये घटनायें स्कूलके लिये दोषजनक नहीं हैं।' सह शिक्षणके द्वारा लडके लडकियोंका पारस्परिक गाढ परिचय विवाहोपयोगी प्रेममें आगे जाकर बाधक हो जाता है यह विचार भी अशुद्ध है, क्योंकि विवाहोपयोगी प्रेमको जो प्रभाव कम कर सकते हैं वे प्रभाव स्वभावोंके बदल जानेसे अपने आप दूर हो जाते हैं।

लडकोंकी अपेक्षा लडकियोंके दिमाग कमजोर होते है इस कारण सहशिक्षण छोडकर उन्हे भिन्न भिन्न विषय पढानेकी युक्ति भी ठीक नहीं है, क्योंकि देखा जाता है कि कई विषयोंमें लडकियां लडकोंकी अपेक्षा भी अधिक होशियार होती हैं। प्रौ० थौर्नडिकने परीक्षणोंसे पता लगाया है कि लडकियोंका लडकोंके साथ मुकाबलेमें बराबर रहना लडकियोंकी कमजोर बुद्धियोंपर अधिक दबाव डालनेका परिणाम नहीं है, किंतु परमेश्वरसे उन्हे दी गई विशेष देनका परिणाम है। कई विषयोंमे लडके लडकियोकी अपेक्षा अधिक होशियार होते है और कइयोंमें लडकियां लडकोंकी अपेक्षा अधिक होशियार होती हैं। इसका कारण रुचि भेद है न कि बुद्धि भेद। यह भी ध्यान देनेकी बात है कि लडकोंकी ग्रहण शक्तिमें पारस्परिक भेद उस भेदसे बहुत अधिक है जो लडकों और लडकियोंकी ग्रहण शक्तिमें परस्पर पाया जाता है। शिक्षाकी दृष्टिसे दोनों जातियोंके व्यक्तियोंके भेदोंका औसतन भेद आपसमें, *किसी भी जातिके व्यक्तियोंमें विद्यमान भेदोंकी अपेक्षा* बहुत कम है।

हैडो कमिटीकी रिपोर्ट देखनेसे पता लगता है कि बहुतसी लडकियां कुछ अधिक उम्रमें परीक्षायें पास करतीं हैं और पढाईके अन्तर (Periods) तो सभी लडकियोंके लिए छोटे होने चाहिये। इस अनुभवके बढते जानेके कारण अनेक क्रियात्मक कठिनाइयोंके होते हुए भी सहशिक्षाको कोई नुकसान नही है।

सहशिक्षाको पुष्ट करते हुए भी निम्नलिखित विषयोंकी ओर ध्यान देना पडता है कि लडकियोंका शालामें अभ्यासक्रम तो पृथक् ही होना चाहिए। क्योंकि इस उम्रमें क्रमशः लडकियों और लडकोंके शरीरोंकी वृद्धि की गति बढ जाती है।

२. इसी आयुपर तारुण्यका आरम्भ होता है।

३. शरीरकी रचनामें फर्क पड जाता है।

४. लडकियोंके रक्तमें हीमोग्लोबीन की मात्रा कम होने लगती है।

तरुण लडकियां मानसिक सामर्थ्यमें परिवर्तन आनेके बाद दिमाग पर बडा दबाव अनुभव करती हैं तथा लडकों की अपेक्षा कार्यमें अधिक चिंतित रहने लगती है।

पृथक् शिक्षणके पक्षपाती कहते हैं कि लडकियोंको पृथक् स्कूलोंमें जो स्वतन्त्रता रहती है वह सहशिक्षण-स्कूलोंमें नहीं रहती, अतः सहशिक्षण स्कूलोंको सफल बनानेके लिये लडकियोंकी आवश्यकताओंको पूरा करना चाहिए। उन्हें गायन कला, सिलाईका काम आदि कार्य सीखनेके लिये तथा खेल खेलनेके लिये, शारीरिक व्यायाम करनेके लिये विशेष रूपमें पृथक् प्रबन्ध होना चाहिये। इसके अतिरिक्त बहुतसी लडकियोंको घरमें जाकर भोजन पकानेमें तथा बच्चोंको संभालनेमें माताकी मदद करनी पडती है इससे उन्हे लडकोंके मुकाबिलेमें नुकसान उठाना पडता है, सहशिक्षण संस्थाओंमें इसका भी ध्यान रखना चाहिए। यद्यपि इस प्रकारकी घरेलू सहायताके लिये विशेष अवसर उन लडकियोंको मिल सकता है जो किसी भी छात्रावासमें नहीं रहतीं, पढकर सीधा घर चली जाती हैं।

पृथक् स्कूलके छात्रावासमें या सहशिक्षणके छात्रावासमें जो लडकियां नियत रूपसे रहती हैं उन्हें ऐसा अवसर नही मिल सकता, तथापि इस विषयकी उपेक्षा नही की जा सकती। छात्रावासमें जो लडके वा लडकियां रहते हैं वे भी भोजन पकानेका काम क्रमशः यदि ग्रुप सिस्टममें करें, तो आसानीसे सीख सकते हैं और अध्यापक तथा अध्यापिकाओंके बालकोंको संभालते हुए संभालनेका काम भी आसानीसे सीख सकते हैं। पाठशाला तथा छात्रा-

वासके अन्दरके कामोंके लिये यदि कोई नौकर न रक्खा जाय तो लडके लडकियोंको घरके सभी काम करनेकी आदत उत्पन्न हो सकती है। सामाजिक कार्योंको करते हुए मातापिता अपने घरके कामोंकी सहायताके लिये सेवक रखकर काम करवाते हैं। सामाजिकता (Sociability) सीखनेके लिये लडके लडकियोंके सहशिक्षणालयमें ही रहना उपयोगी है। इस प्रकार सहशिक्षण' स्कूलोंमें भी लडके और लडकियां घरेलू कामोंको करनेकी आदतसे वञ्चित नहीं रह सकते।

लडकियोंको प्रायः वैवाहिक जीवन बिताना पडता है, कमानेकी फिक्रमें वे प्रायः नहीं पडती, अतः केवल परीक्षाके उद्देश्यसे उन्हें पाठविधिका बोझ संभालना पडता है। ऐसी हालतें उन देशोंमें प्रायः हो सकती है जिन देशोंकी आर्थिक अवस्था बहुत उन्नत हो, आदमीके थोडे कमानेसे ही संपूर्ण परिवारका खर्च निभ सकता हो। भारत अब दरिद्र देश है। यहां एकके कमा लेनेसे सम्पूर्ण परिवारका खर्च नहीं चलता। परिवारके सब सदस्य कमानेमें लगे रहते हैं तब भी प्राय खर्च नहीं निकलता। यह हालत स्पष्टतया लडके और लडकियोंके सामने शिक्षणालयोंमें रखनी चाहिए। उससे लडकियां केवल परीक्षाके उद्देश्यसे अध्ययन नहीं करेंगी। आर्थिक बोझको समझकर शीघ्र विवाह न होंगे और न अधिक सन्तानें होंगी। इस प्रकार पढने पढानेके लक्ष्यको स्पष्ट रखनेके बाद इस समस्याका हल आसानीसे हो जाता है।

इस प्रकारकी जिम्मेवारीको समझनेपर सहशिक्षणमें लडके और लडकियोंके पारस्परिक संबंधके अनेक दोष रुक जाते है, उठने ही नहीं पाते। थोडे ही खर्चसे काम चल सके इस आधारको लेकर प्रारंभिक शिक्षा देनेमें सहशिक्षाका विरोध शीघ्रताके साथ कम होता जा रहा है। आशा है इसका प्रभाव हाइस्कूलोंमें सहशिक्षणकी सफलता पर भी पडेगा।

गरीब लोगोंमें युवक नरनारी परस्पर पर्याप्त मिलते जुलते है, परन्तु उच्च शिक्षित मनुष्य इसे अच्छी निगाहसे नहीं देखते। गरीब लोगोंमें पारस्परिक मेलजोल रहनेके कारण सहशिक्षण आसानीसे जारी हो सकता है। भारतवर्ष अधिकतर गरीब ग्रमीण लोगोंका देश है। इसलिए इनमें शिक्षाका शीघ्र प्रसार करनेके लिए सहशिक्षण की आवश्यकता है और इनमें इसके प्रचलित होनेके लिए अधिक कठिनताओंके पडनेकी संभावना नहीं है। थोडेसे धनिक लोग, जो सच्चे श्रमरूप धनके अभावमें भ्रमके कारण अपने आपको धनी समझे हुए हैं और गरीब लोगोंमें विद्यमान मेलजोलको अच्छी निगाहसे नहीं देखते। परन्तु वे नहीं समझते कि भारत वर्षमें चलता हुआ गरीबीका चक्र जिस प्रकार गरीबोंको बाधित कर रहा है कि वे सहशिक्षणके द्वारा आसानीसे शिक्षा ग्रहण करें इसी प्रकार अन्योंकोभी सहशिक्षणके द्वारा शिक्षाग्रहण करनेके लिए बाधित करेगा इसमें जरा भी संदेह नहीं है। इस प्रकार मजबूरीकी हालत में भारतमेंसे वे सब प्रथायें शनैः लुप्तप्राय हो जावेंगी जो सहशिक्षणमें बाधक हैं। सहशिक्षामें विशेष बाधक चार प्रथायें निम्नलिखित हैं.—

१. स्त्री शिक्षाका विरोध।

२. पर्दा सिस्टम।

३. गरीब लोगोंमें जवान स्त्री पुरुषोंके परस्पर मिलने जुलनेको बुरी निगाहसे देखना।

४. पृथक् स्कूलोंके द्वारा ही उच्चशिक्षा दिये जानेका हठ।

सहशिक्षाको सफल बनानेके लिये आवश्यक है कि निम्नलिखित पर विशेष ध्यान दिया जाय।

१. सहशिक्षाके स्कूलोंके प्रबंधका तरीका साधारणसे भिन्न है। अननुभवी मनुष्य ऐसी संस्थामें ठीक कार्य नहीं कर सकते जिनमें लडके अधिक हों और लडकियां कम, क्योंकि लडकियां लडकोंके सामने प्रश्न पूछनेमें सकुचाती हैं। इसलिये सहशिक्षण संस्थाओंमें व्यवस्था करनेवाले और पढाने वाले विशेष अनुभवी होने चाहिये, साथ ही लडकियोंकी संख्या अधिक होनी चाहिए और लडकोंकी कम।

२. सहशिक्षणके हाइस्कूलोंमें तो अवश्य ही इस नियम का पालन होना चाहिये कि अधिक लडकोंके साथ थोडी लडकियां पुरुषोंके द्वारा शिक्षा न पावें।

३. सहशिक्षामें बाधक, पीछे बताये हुए, चार कारणोंसे उत्तमसे उत्तम सहशिक्षण लडकियोंकी शिक्षाके प्रसारमें रुकावटका ही काम करेगा। मद्रासमें जहां लडकोंके स्कूलोंमें लडकियां अधिक तादादमें पढती हैं और लडकियोंके स्कू-

लोंमें लडकोंकी संख्या कम होती है वहां भी देहाती स्कूलोंमें लडकियोंकी उपस्थिति की संख्या बहुत कम हो जाती है। इनमें अनेक लडकियां स्कूलमे केवल इस कारण जाती हैं, क्योंकि वे स्कूल लडकियोंके हैं। सहशिक्षाके स्कूलोंमें वे उस मात्रामें नहीं खींची जा सकतीं। सहशिक्षाके स्कूलोंमें लडकियोंको अधिक मात्रामें खैंचनेका एकही उपाय है कि उनके लिये रसोईका काम, सिलाईका काम, शारीरिक व्यायाम, खेल आदि सिखानेका विशेष पृथक् प्रबन्ध हो। इन कार्योंके लिये पृथक् शिक्षणालय खोलनेके स्थानमें पृथक् श्रेणियां चलाना आवश्यक और उत्तम है।

४. मातापिता लडकियोंको लडकियोंके हाईस्कूलोंमें भेजना अधिक पसन्द करते हैं। मद्रासमें ७२ स्थानोंमेंसे केवल २७ स्थानोमे ही, जहां लडकियोंके हाईस्कूल हैं, लडकियां लडकोंके स्कूलोंमें पाई जाती थीं। लडकियोंके स्कूलोंमें जो उनका बल होता था उसके मुकाबलेमें लडकों के स्कूलोंमें उनका बल बहुत कम होता था। कालिजोंमेंभी यही हालत है। लडकियोंके कालिजोंमें अधिक लडकियां हैं और लडकोंके कालिजोंमें कम, जब कि लडकोंके कालिजोंमें लडकियोंके लिये काफी सुविधायें भी हैं। इस दृष्टांतसे सह शिक्षणके संचालकोंको थोडे निरुत्साहित होनेकी भी आवश्यकता नहीं है। क्योंकि भारतकी सामाजिक स्थिति स्त्रीशिक्षाके जहां सर्वथा विपरीत थी वहां आज मद्रासका उदाहरण बतलाता है कि जितनी मात्रामें सहशिक्षणका प्रचार इस दरिद्र भारतमें हुआ है वह इस बातका साक्षी है कि अनेक प्रकारकी असुविधाओंके होते हुए भी भारतीय सामाजिक स्थिति सहशिक्षणके सर्वथा प्रतिकूल नहीं है, जितनीसी प्रतिकूल है भी वह भी सावधानताके साथ प्रगति करते हुए सर्वथा लुप्त हो जावेगी।

५. यह ठीक है कि सहशिक्षाके स्कूलोंकी अपेक्षा लडकियोंके पृथक् स्कूलोंमें जाति शिक्षण (Sex-instruction या गृहस्थाश्रम धर्म), सलाईका काम तथा गृहकार्य आदिकी शिक्षा और लडकियोंके लिये परीक्षा की तैयारी का लंबा काल तथा पढाईके छोटे अन्तरकी सुविधा आसानीसे हो सकती है, परन्तु पृथक् शिक्षणालयके लिये यह युक्ति पर्याप्त नहीं है, क्योंकि इन आवश्यकताओंका हल पृथक् श्रेणीकरणसे हो जाता है। परन्तु लडकियोंकी मानसिक और आत्मिक शक्तियोंकी विशेषता बताती है कि उसके लिये उन्हें जितना सुअवसर सहशिक्षण संस्थाओंमें प्राप्त हो सकता है उतना पृथक् शिक्षण संस्थाओंमें नहीं, अतः लडकियोंकी विशेष उन्नतिके लिये सहशिक्षण संस्थायें अनुकूल ही हैं प्रतिकूल नहीं। इसके अतिरिक्त जिन विषयोंको विशेष सिखलानेकी आवश्यकता हो उनके सिखानेके लिये पृथक् श्रेणी स्थापित करनेसे ही कार्य निकल सकता है, थोडेसेके लिये पृथक् शिक्षण संस्था खोलनेकी आवश्यकता नहीं है, इसके अतिरिक्त पृथक् स्कूल कालिज खोलना बहुत खर्चीला है।

६. सहशिक्षणके लिये आवश्यक है कि स्कूल बोर्डिङ्गोंकी अधिक वृद्धि की जाय। स्कूल-बोर्डिङ्ग लडके लडकियोंके पृथक् पृथक् रक्खे जावे, सहशिक्षण संस्थाओंके द्वारा प्रत्येक जातिको दूसरेके दृष्टिबिन्दु समझनेका अच्छा मौका मिलता है। जाति संबन्धी क्रियात्मक मनोविज्ञानके अध्ययनका इससे अच्छा दूसरा तरीका नही है।

७. भारतकी गवर्मेण्टकी शिक्षा संबन्धी १९२७-३२ की रिपोर्ट बतलाती है कि डी० पी० आई० विहार सहशिक्षणका प्रसार इसलिये आवश्यक समझते हैं कि गरीब प्रांत में शिक्षाके प्रसारका और कोई भी तरीका नहीं है। परन्तु साथ ही वे कहते हैं कि स्कूलोंमें लडकियोंकी अच्छी संख्या हो जानेपर उनकी शारीरिक शिक्षाके लिये पृथक् स्त्री शिक्षिका रखनी आवश्यक है।

८. हाईस्कूलोंमें सहशिक्षणको उत्तेजन देनेके लिये इस बातपर फिर बल दिया जाता है कि लडके लडकियोंके लिए पाठविधि समान रखते हुए उनके जाति (Sex) भेदकी दृष्टिसे लडकियोंको सलाईका काम, पाकशास्त्र और गृह प्रबन्धकी शिक्षा देनी आवश्यक है तथा लडकोंको भिन्न भिन्न प्रकारका श्रमका काम सिखाना आवश्यक है, इसी प्रकार लडके लडकियोंको उनके शारीरिक रचना भेदके अनुसार भिन्न भिन्न प्रकारका शारीरिक व्यायाम सिखाना आवश्यक है।

९. ऐसे स्कूलोंमें जिनमें लडके लडकियोंकी संख्या प्रायः तुल्य है, जहां अध्यापक लडकियोंको और अध्यापिका लडकोंको भी पढाते हैं वहां लडकोंके साथ ही लडकियोंको श्रम तथा घरेलू कार्य कराने चाहिए।

१०. यह कहा जा चुका है परन्तु फिर भी कहा जाता है कि हाईस्कूलोंमें और प्रारंभिक उच्च शिक्षणालयोंमें अर्थात् ११ से १६ वर्षकी उम्र तक लडकियोंका पृथक् शिक्षणालय स्थापित करनेके स्थानमें पृथक् विभाग स्थापित कर देना चाहिए। ऐसा करना सहशिक्षणको क्रियात्मक रूप देनेमें अच्छा सहायक होगा।

११. दस ग्यारह वर्षकी आयुतक सहशिक्षण द्वारा प्रारंभिक शिक्षा देनेमें तो प्रायः किसीको विप्रतिपत्ति नहीं है तथापि लडके लडकियोंके लिये छोटे छोटे साप्ताहिक पृथक् शिक्षणके दो स्कूल खोलनेके स्थानमें दो अध्यापकों द्वारा सहशिक्षणका एक सुदृढ स्कूल चलाया जाना अधिक श्रेयस्कर है।

१२ भारतमें शिक्षा १९२७-३२ (Education in India 1927--32) में दर्शाया है कि शिक्षणालयोंमें अध्यापिकाओंके कम होनेसे लडकियोंकी संख्या कम हो जाती है, अतः सभी शिक्षणालयोंमें यह आवश्यक है कि अध्यापन कार्य करनेवालोंमें अध्यापिकाओंकी संख्या बडे परिमाणमें रहनी चाहिए। इससे लडकियोंको अधिक रक्षा मिलती है तथा किसी प्रकारकी अधिक हानि होनेकी संभावना नहीं रहती।

१३ सहशिक्षणको सफल बनानेके लिये आवश्यक है कि लडकोंके प्रारंभिक शिक्षणालय खोलनेके स्थानमें लडकियोंके प्रारंभिक शिक्षणालय खोलकर सहशिक्षणको पुष्ट किया जाय।

१४ कालिजमें आनेसे पहिले विद्यार्थी नाजुक हालतसे गुजर चुकते हैं। कालिजोंमें कोर्स एक ही रहे परन्तु आश्रम पृथक् होने चाहिए। साधारण सामाजिक जीवनके परिचयके लिये उन्हें अवसर देना चाहिए। कालिजोंमें भी अध्यापन कार्यकर्ताओंका वर्ग मिश्रित हो।

१५. सब शिक्षक निर्माण संस्थाओं (Training colleges) में सहशिक्षण तो होना ही चाहिए साथ ही इन संस्थाओंको ध्यानपूर्वक चलनेके लिये उत्तम योग्यतावाले, अनुभवी और मनोवैज्ञानिक दृष्टिसे कार्योंको देखनेकी योग्यतासे सम्पन्न व्यक्ति होवें।

१६ शिक्षक निर्माण संस्थाओंका साधारण नियम तो सहशिक्षणका ही होना चाहिए। परन्तु आवश्यकतानुसार पृथक् आश्रम तथा पृथक् श्रेणियां भी हो सकती हैं।

१७. सहशिक्षणको उत्तम रूपसे उत्तेजना देनेके लिये आवश्यक है कि सहशिक्षणके जिन स्कूलों और कालिजोंमें इंगलंड तथा अन्य देशोंकी अत्युत्तम सहशिक्षण संस्थाओंमें तैयार हुए (Trained) भारतीय अध्यापकों और अध्यापिकाओंकी मात्रा अधिक हो उन स्कूलों और कालिजोंको राज्य (State) की ओरसे विशेष सहायता मिले।

१८ मनोवैज्ञानिक अध्यापकोंको भिन्न भिन्न प्रकारके स्कूलोंके लडकों और लडकियोंकी बुद्धियों और वृत्तियोंकी परस्पर तुलना कर करके परिणाम निकालते रहना चाहिए कि शिक्षा ग्रहण करनेवालोंमें भिन्न भिन्न उमरोंमें क्या क्या फरक प्रकट होते हैं।

१९. भिन्न भिन्न उमरोंके और भिन्न भिन्न योग्यताके विद्यार्थियोंको भिन्न भिन्न पद्धतिसे शिक्षा देना अधिक लाभ प्रद होता है। इन पद्धतियोंमें मौन्टेसरी शिक्षण पद्धति प्रारंभिक शिक्षाके लिये उपयोगी है। इस पद्धतिके द्वारा छोटे बालकोंको खेल खेलमें स्वतन्त्रताके साथ वस्तुओंके नाम तोल रंगरूप आदिका ज्ञान प्राप्त कराया जाता है। बालकों की इंद्रियोंकी शक्ति और कई अंशोंमें मानसिक शक्ति बढाने के लिये तथा बालकोंको यथार्थ ज्ञान प्राप्त करनेके योग्य बनानेके लिये मौन्टेसरी पद्धति विशेष उपयोगी है। इस पद्धतिके द्वारा बालकोंको पढाईका बोझ अनुभव नहीं होता।

मध्यम दर्जेके विद्यार्थियोंको डाल्टन शिक्षण पद्धतिसे शिक्षा देना उपयोगी है। डाल्टन शिक्षण पद्धतिमें यह विशेषता है कि समय विभागका बन्धन और घण्टीकी पाबन्दी शिक्षार्थियोंके लिये नहीं रक्खी जाती। शिक्षार्थियोंके लिये पढाईका वह कुल विषय नियत रहता है जिसको उन्होंने तैयार करना है और उसका समय भी नियत रहता है कि जितने समयमें तैयार करना है। इस पद्धतिमें विद्यार्थि अपनी जिम्मेवारीपर सम्पूर्ण विषयको तैयार करता है। जितने विषयके लिये जितना समय नियत है उतने समयमें ही उतना विषय तैयार करना पडता है। समय विस्तृत होनेसे शिक्षार्थी रोज रोजके समय पत्रक और घण्टी के बन्धनसे मुक्त रहता है। रोज रोजके बन्धनसे मुक्त रहने में ही विद्यार्थी बडी भारी स्वतन्त्रता अनुभव करता है। इस स्वातन्त्र्य सिद्धांतमें किसी खास समयपर किसी खास

विषयका अभ्यास अभीष्ट नहीं है। इस योजनाके स्वातन्त्र्य का अर्थ स्वच्छन्दता वा अव्यवस्था नहीं है। वही व्यक्ति सच्चा स्वतन्त्र है जो दूसरोंको खुला स्वातन्त्र्य प्रदान कर सकता है। किसीके उन्नतिके मार्गमें रुकावट न बनना ही स्वातन्त्र्य प्रदान करना है। डाल्टन पद्धतिमें विद्यार्थी अपनी उन्नतिके मार्गमें रुकावट अनुभव नहीं करता अतः अपने आपको स्वतंत्र समझता है। यदि इस पद्धतिमें किसी विषयमें पूर्ण उन्नत बननेके लिये अभ्यासक्रम तो नियत कर दिया जाय परन्तु उसे पूरा करनेमें समयका प्रतिबन्ध न रक्खा जावे तो विद्यार्थियोंको और भी अधिक स्वातन्त्र्यका अनुभव हो सकता है। बुद्धियोंकी विषमताके कारण किसी भी विषयमें पूर्ण उन्नत होनेके लिये समान समयका लगना असंभव है, इस कारण समयका बंधन बाधना अयुक्त है। परन्तु कमसे कम समयमें अधिकसे अधिक कार्य उत्तमसे उत्तम रूपमें विद्यार्थी करे इसके लिये उनमें परस्पर स्पर्धा (Competition) उत्पन्न करनी चाहिए। स्पर्धा उत्पन्न होनेसे विद्यार्थियोंकी बुद्धियोंमें तीव्रता आ जावेगी जिससे कार्य उत्तम और शीघ्र होगा।

डाल्टन पद्धतिमें विद्यार्थियोंके स्वातंत्र्यका विघात न होनेके कारण उनकी अन्तर्हित शक्तियोंके विकासको पूरी तरहसे अवसर प्राप्त हो जाता है तथा शक्तियोंके कुमार्गमें जानेसे जिन दुष्परिणामोंके उत्पन्न होनेकी संभावना रहती है जिन्हें दुर्गुण वा समाजके विघातक काम भी कहते हैं वे दुष्परिणाम उत्पन्न नहीं होने पाते, क्योंकि शक्तिको ठीक रास्तेपर लानेका प्रयत्न विद्यार्थीको अपने अनुभवके आधारपर करना होता है। जिस शिक्षण पद्धतिमें विद्यार्थी अपने अनुभवके आधारपर उन्नति करता है वह शिक्षण पद्धति उत्तम है। परन्तु सर्वथा अपने ही पिछले अनुभवपर आश्रित रहनेसे मनुष्यका कार्य नहीं चलता, क्योंकि सब प्रकारकी अवस्थायें सब मनुष्योंके सामने उपस्थित नहीं होतीं जिससे कि मनुष्य पूर्ण अनुभवी हो जावे। अतः उत्तमताके साथ कार्य सिद्धिके लिये मनुष्यको अपने पिछले अनुभवके साथ दूसरोंके भी पिछले अनुभवसे लाभ उठाना होता है। विभिन्न प्रकारकी अवस्थाओंके सम्मुख रखते हुए विविध परिणामोंसे परिचित करानेका नाम ही ज्ञान प्राप्त कराना या शिक्षण है। यह शिक्षण ऐसा कला पूर्ण होना चाहिए कि विद्यार्थीको ऐसा अनुभव न हो कि किसी बातको जबरदस्ती उससे मनवाया जा रहा है, प्रत्युत वह ऐसा अनुभव करे कि ज्ञान स्वतः ही उसके अन्दरसे प्रकट हो रहा है। ऐसा अनुभव करते हुए विद्यार्थीमें स्वयं स्फूर्ति उत्पन्न हो जाती है। डाल्टन शिक्षण पद्धति वह उत्तम पद्धति है जिसके द्वारा विद्यार्थीमें स्वयं स्फूर्ति उत्पन्न होती है। स्वयं स्फूर्तिका उत्पन्न होना विद्यार्थीकी आत्माका विकसित होना है।

डाल्टन शिक्षण पद्धतिकी तीसरी बडी भारी विशेषता "सामाजिक सहकार" है। शाला सामाजिक जीवनकी उत्तम तैयारीके रूपमें होती है। विद्यार्थी एक दूसरेको सहायता देते एक दूसरेसे बहुत कुछ सीखते सिखाते हैं। इससे वे सामाजिक बनते हैं। कौटुम्बिक जीवनके भावका उत्पन्न होना यह इस पद्धतिकी विशेषता है। कौटुम्बिक जीवनके कारण एक एक व्यक्ति अपने आपको समाजका अङ्ग समझता है। समाजके प्रति अपने आपको जबाबदार समझता है। वह यह भी समझता है कि समाज उसका बहिष्कार कर सकता है। इस पद्धतिमें विद्यार्थी जिस नियम को पालनेमें तत्पर होता है उसके कारण तथा परिणामसे वह खबरदार होता है। इस प्रकार डाल्टन शिक्षण पद्धति हाईस्कूलोंके लिये उत्तम है, परन्तु कालिजोंके विद्यार्थियोंके लिये प्रोजेक्ट शिक्षा पद्धति ही विशेष उपयोगी है। कालिजके विद्यार्थियोंको एक एक विषयके साथ जीवनका संबंध बतलाया जाता है कि जीवनके लिये उनका क्या प्रयोजन है। विद्यार्थी उन प्रयोजनोंको दृष्टिमें रखकर विविध प्रकार का ज्ञान ग्रहण करता है। इतिहास और साहित्य सिखानेके लिये अभिनय पद्धति अत्यन्त उपयोगी है। इस पद्धतिके द्वारा वे भाव विद्यार्थिओंके हृदयोंपर अङ्कित हो जाते हैं जिन भावोंके लिये वे इतिहास और साहित्यको पढते हैं। सहशिक्षण संस्थाओंमें इसी पद्धतिसे ये विषय सुगमतासे सिखलाये जा सकते हैं।

सहशिक्षण शालाओंमें बालकोंका अवकाशका समय ठीक प्रकारसे बीते इसके लिये बालचर पद्धति है। इसके द्वारा बालकको खेलखेलमें बहुतसी जीवनोपयोगी धर्म शिक्षा संबंधी बातोंका ज्ञान हो जाता है तथा आदत पड जाती है।

२०. शिक्षण कलाकी बडी भारी विशेषता तथा उत्तमता

यह है कि बालक ऊब न जावें, शिक्षाका बोझ अनुभव न करें। शिक्षाको काम न समझकर खेल खेलमें शिक्षा देनेका अर्थ यह है कि :-

१. बालक अपने व्यक्तिगत अनुभवके आधारपर शिक्षा ग्रहण करे।

२. वे ऐसा अनुभव करे कि ज्ञान उनमें ठूंसा नहीं जा रहा है किंतु स्वयं उनके अन्दरसे प्रकट हो रहा है।

३. विद्यार्थी ज्ञानको बाहिरसे आया हुआ बोझ न समझें किंतु स्वतंत्र आत्माका क्रमिक विकास समझे।

४. क्रमिक विकासको अनुभव करता हुआ विद्यार्थी बालक अपने शिक्षकका भक्त बन जाता है।

५. बालकका भक्तिभाव इस बातकी पहिचान है कि बालक विकासके मार्गमें है।

६. जो बालक अपने आपको विकासके मार्गमें अनुभव नहीं करता उसमें भक्तिभाव उत्पन्न नहीं होता।

प्राचीन कालमें विद्यार्थीको क्रियात्मक रूपसे उसके अपने अनुभवके आधारपर ऊंचेसे ऊंचे ज्ञानके सिद्धांतोंकी शिक्षा दी जाया करती थी। आजकल उस पद्धतिका बालक भी भिन्न भिन्न अवस्थाओंके अनुकूल भिन्न भिन्न प्रकारकी शिक्षा पद्धतियोंके रूपमें विकास हुआ है। शिक्षा पद्धतिके उन सम्पूर्ण सिद्धांतोंको मिलाकर, जो सिद्धांत सर्व पद्धतियोंमें श्रेष्ठ हैं, जो शिक्षणपद्धति होती है उसका नाम गुरुकुल शिक्षा पद्धति है। वर्तमान भारतके लिये गुरुकुल शिक्षा पद्धतिसे बढकर दूसरा साधन उन्नतिके लिये समझना कठिन है। वर्तमानकालीन दरिद्र भारतकी सामाजिक सुधार इस पद्धतिसे विशेष हो सकता है। सहशिक्षण पद्धति के दोषोंसे बचनेके लिये पूर्वोक्त निर्देशोंका अनुसरण किया जाय तो इस पद्धतिके द्वारा सामाजिक उन्नतिमें बडी सहायता मिल सकती है इसमें जरा भी सन्देह नहीं है। भारतीयोंके जीवनका छोटा छोटा अंश भी बिलकुल पराश्रयी हुआ पडा है। बालकपनसे ही स्वाश्रयी जीवनका नितान्त अभाव है। इसके परिणाममें सम्पूर्ण भारत समष्टिरूपमें स्वावलम्बनको सर्वथा खोचुका है। निर्दिष्ट प्रकारसे चलाई गई सहशिक्षण पद्धति प्रारंभसे ही बालकोंके जीवनोंको स्वावलम्बी बनाती है, जिसका परिणाम भारतके समष्टि जीवनका स्वावलंबी बन जाना है।

दैवत-संहिता ।

प्रथम भाग तैयार है । द्वितीय भाग छप रहा है ।

आज वेद की जो संहिताएँ उपलब्ध हैं, उन में प्रत्येक देवता के मन्त्र इधरउधर बिखरे हुए पाये जाते हैं । एक ही जगह उन मंत्रों को इकट्ठा करके यह **दैवत-संहिता** बनवायी गयी है । प्रथम भाग में निम्न लिखित ४ देवताओंके मंत्र हैं-

देवता	मंत्रसंख्या	पृष्ठसंख्या	मूल्य	डाकव्यय.
१ **अग्निदेवता**	२४८३	३४६	३) रु.	।।।)
२ **इंद्रदेवता**	३३६३	३७६	३) रु.	।।।)
३ **सोमदेवता**	१२६१	१५०	२) रु.	।।)
४ **मरुद्देवता**	४६४	७२	१) रु	।।)

इस प्रथम भाग का मू. ६) रु. और डा. व्य. १।।) है ।

इस में प्रत्येक देवता के मूल मन्त्र, पुनरुक्त-मंत्रसूची, उपमासूची, विशेषणसूची तथा अकारानुक्रम से मंत्रोंकी अनुक्रमणिका का समावेश तो है, परंतु कभी कभी उत्तरपदसूची या निपातदेवतासूची इस भाँति अन्य भी सूचीयाँ दी गयी हैं । इन सभी सूचीयों से स्वाध्यायशील पाठकों को बडी भारी सुविधा होगी ।

संपूर्ण दैवतसंहिताके इसी भाँति तीन विभाग होनेवाले हैं और प्रत्येक विभाग का मूल्य ६) रु. तथा डा. व्य. १।।) है । पाठक ऐसे दुर्लभ ग्रन्थ का संग्रह अवश्य करें । ऐसे ग्रन्थ बारबार मुद्रित करना संभव नहीं और इतने सस्ते मूल्य में भी ये ग्रन्थ देना असंभव ही है ।

वेदकी संहिताएं ।

वेद की चार संहिताओंका मूल्य यह है-

	मूल्य	डाकव्यय
१ **ऋग्वेद** (द्वितीय संस्करण)	६)	डा० व्य० १।)
२ **यजुर्वेद**	२।।)	,, ,, ।।)
३ **सामवेद**	३।।)	डा० व्य० ।।।)
४ **अथर्ववेद** (द्वितीय संस्करण)	६)	,, ,, १)

इन चारों संहिताओंका मूल्य १८) रु. और डा. व्य. ३) है अर्थात् कुल मूल्य २१) रु. है । परन्तु पेशगी म० आ० से सहूलियतका मू० १८) रु० है, तथा डा० व्यय माफ है । इसलिए डाकसे मंगानेवाले १५) पंद्रह रु० पेशगी भेजें ।

यजुर्वेद की निम्नलिखित चारों संहिताओं का मूल्य यह है- ।

	मूल्य	डाकव्यय
१ **काण्व संहिता** (तैयार है)	४)	डा० व्य० ।।।)
२ **तैत्तिरीय संहिता**	६)	,, ,, १)
३ **काठक संहिता** (तैयार है)	६)	डा० व्य १)
४ **मैत्रायणी संहिता** ,,	६)	,, ,, १)

वेदकी इन चारों संहिताओं का मूल्य २२) है, डा. व्य. ३।।) है अर्थात् २५।।) डा. व्य. समेत है । परंतु जो ग्राहक पेशगी मूल्य भेजकर ग्राहक बनेंगे, उनको ये चारों संहिताएं २२) रु० में दी जायगीं । डाकव्यय माफ होगा ।

– मंत्री, स्वाध्याय-मण्डल, औंध, (जि० सातारा)

Regd. No. B. 1463

मुद्रक और प्रकाशक- व० श्री० सातवळेकर, भारत-मुद्रणालय, औंध.

माघ सं. २००१
फेब्रुआरि १९४५

विषयसूची।

१ सबकी तेजस्विता बढे ५३
धर्मका संस्थापन ५४
३ डॉ॰ आंबेडकरका अवतारकार्य संपादक ५६
४ गीताका प्रथम अध्याय पं. आठवले ७१
५ डा. अंबेडकरका गीता और वेदपर घोर कटाक्ष! पं. ऋदवेभु ८३
६ पुनर्जन्म पं. ऋभुदेव ८४
७ बाइबल और कुर्आनमें सूर्योपासना पं. गोरेजी, औंध ८७

संपादक
पं. श्रीपाद दामोदर सातवळेकर

सहसंपादक
पं. दयानंद गणेश धारेश्वर, B. A.
स्वाध्याय-मण्डल, औंध

वार्षिक मूल्य
म. ऑ. से ५) रु.; वी. पी. से ५।=) रु.
विदेशके लिये १५ शिलिंग।
एक अंकका मू. ॥) रु.

क्रमांक ३०२

स्वाध्याय-मण्डल, औंध (जि० सातारा) की हिंदी पुस्तकें ।

१ ऋग्वेद-संहिता मू. ६) डा.व्य. १।)
२ यजुर्वेद-संहिता २॥) ॥)
३ सामवेद " ३॥) ।॥)
४ अथर्ववेद " ६) १)
५ काण्व-संहिता ४) ॥=)
६ मैत्रायणी सं० ६) १)
७ काठक सं० ६) १)
८ दैवत-संहिता १ म भाग ६) १॥)

मरुद्देवता-(पदपाठ, अन्वय, अर्थ)
१ समन्वय, मंत्र-संग्रह तथा हिंदी अनुवाद मू. ७) १॥)
२ मंत्र-संग्रह तथा हिंदी अनुवाद ५) १)
३ हिंदी अनुवाद ४) ॥।)
४ मंत्रसमन्वय तथा मंत्रसूची ३) ॥)

संपूर्ण महाभारत ७५)
महाभारतसमालोचना (१-२) १॥) ॥)
संपूर्ण वाल्मीकि रामायण ३०) ६।)
भगवद्गीता (पुरुषार्थबोधिनी) १०) १॥)
गीता-समन्वय २) ॥)
,, श्लोकार्धसूची ॥=) =)

अथर्ववेदका सुबोध भाष्य । २४) ४॥)
संस्कृतपाठमाला । ७॥) ॥=)
वै. यज्ञसंस्था भाग १ १) ।)
छूत और अछूत (१-२ भाग) २) ॥)

योगसाधनमाला ।
१ वै. प्राणविद्या । ।॥) =)
२ योगके आसन । (सचित्र) २॥) ।≡)
३ ब्रह्मचर्य । १॥) ।-)
४ योगसाधनकी तैयारी । १) ।-)
५ सूर्यभेदन-व्यायाम ॥।) =)

यजुर्वेद अ. ३६ शांतिका उपाय ॥।) ≡)
शतपथबोधामृत ।=) -)
वैदिक संपत्ति (समाप्त है) ६) १।)
अक्षरविज्ञान १) ।=)

देवतापरिचय-ग्रंथमाला
१ रुद्रदेवतापरिचय ॥) =)
२ ऋग्वेदमें रुद्रदेवता ॥=) ॥।)
३ देवताविचार ≡) ≡)
४ अग्निविद्या २) १॥)

बालकधर्मशिक्षा
१ भाग १ =) तथा भाग २ ≡) =)
२ वैदिक पाठमाला प्रथम पुस्तक ।) -)

आगमनिबंधमाला ।
१ वैदिक राज्यपद्धति ।=) -)
२ मानवी आयुष्य ।) -)
३ वैदिक सभ्यता ।॥) ≡)
४ वैदिक स्वराज्यकी महिमा ॥=) =)
५ वैदिक सर्पविद्या ॥=) =)
६ शिवसंकल्पका विजय ॥=) =)
७ वेदमें चर्खा ॥=) =)
८ तर्कसे वेदका अर्थ ॥=) =)
९ वेदमें रोगजंतुशास्त्र ।) -)
१० वेदमें लोहेके कारखाने ॥) -)
११ वेदमें कृषिविद्या ।) ।-)
१२ ब्रह्मचर्यका विघ्न =) -)
१३ इंद्रशक्तिका विकास ॥।) =)

उपनिषद्-माला।
१ ईशोपनिषद् १॥) २ केन उपनिषद् १॥) ।-)

१ वेदपरिचय- (परीक्षाकी पाठविधि)
१ भाग १ ला १॥) ॥)
२ ,, २ रा १॥) ॥)
३ ,, ३ रा १॥) ॥)
२ वेदप्रवेश (परीक्षाकी पाठविधि) ५) ।॥)
३ गीता-लेखमाला ५ भाग ६) १॥)
४ गीता-समीक्षा =) -)
५ सायणकी भगवद्गीता १ भाग १) ।=)
६ सूर्य-नमस्कार ।॥) =)
७ ऋगर्थ-दीपिका (पं. जयदेव शर्मा) ४) ॥)
८ Sun Adoration १) ।=)

वैदिकधर्म

क्रमाङ्क ३०२

वर्ष २६ | माघ संवत् २००१ | फेब्रुवरी १९४५ | अङ्क २

सबकी तेजस्विता बढे, सारी जनताका प्रेम प्राप्त हो

रुचं नो धेहि ब्राह्मणेषु रुचं राजसु नस्कृधि ।
रुचं विश्येषु शूद्रेषु मयि धेहि रुचा रुचम् ॥ (वाज० यजु० १८।४८)
प्रियं मा कृणु देवेषु प्रियं राजसु मा कृणु ।
प्रियं सर्वस्य पश्यत उत शूद्र उतार्ये ॥ (अथर्व० १९।६२।१)

" हमारे ब्राह्मणवर्गोंमें तेजस्विताकी प्राणप्रतिष्ठा कर, हमारा क्षत्रिय वर्ग एवं नरेशगण आभामय बने ऐसी आयोजना कर । और हमारे वैश्यश्रेणीके तथा शूद्रसंघके लोग तेज:पुञ्ज एवं कान्तिमान् हों ऐसा भी प्रबंध किया जाय । इस भाँतिका तेज मुझमें बढने लगे, यही मेरी लालसा है । "

" मैं देवोंमें प्रिय बनूँ और शासकगणके लोग भी मुझको प्रेमभरी निगाहसे देखने लगें । चाहे निम्न श्रेणीके हों अथवा उच्च श्रेणीके हों, सबका मैं प्रेमपात्र बन जाऊँ । " अर्थात् जनताका कोई विभाग हीन, दीन दशामें न रहने पाय और सम्पूर्ण मानवसमाजका आदर एवं सम्मान प्राप्त हो जाय ।

हमारे राष्ट्रमें जो ज्ञान एवं विद्यावृद्धिके पुनीत कार्यमें निरत हैं, जो शूरवीर होकर देशरक्षाके स्पृहणीय कार्यमें आत्मार्पण करनेको उद्यत होते हैं, जो पुरुष देशकी आर्थिक तथा सांपत्तिक दशाको प्रगतिशील बनाये रखते हैं और जो शिल्पी एवं कर्मचारी दलमें प्रवेश पाकर अपना कार्य सफलतापूर्वक निभाते हैं इन सबमें उच्च कोटिका तेज बढता रहे । प्रत्येक मानवकी यह अमर साध रहे कि वह जिस भूविभागमें रहता है उसमें एक भी निस्तेज दशामें न पडा रहनेपाय । ज्ञानी एवं शिक्षित वर्गमें तेजस्वी ज्ञान, वीर पुरुषों एवं शासकोंमें प्रभावजनक शौर्य, अर्थोत्पादन कार्यमें लगे मानवोंमें उत्पादनशक्तिकी विपुलता और वृद्धि तथा कर्मचारीगणके मानवोंकी निजकार्यकुशलता हमेशा बढने लगे । इस तरह मेरे राष्ट्रमें निवास करनेवाले सभी लोग कर्मण्य, तेज:पुंज और अपनी ही अथक चेष्टासे प्रगतिशील बननेकी क्षमता रखने-वाले हों ।

धर्मका संस्थापन

भारतवर्षमें तथा अखिल संसारमें 'धर्मसंस्थापन' हो जाय इस पवित्र उद्देश्यसे प्रेरित होकर भगवान् श्रीकृष्णजी महाराजने भगवद्गीता बतलायी थी और उन्होंने इसी पुनीत ध्येयको कार्यरूपमें परिणत करनेके लिये कार्यक्षेत्रपर पदार्पण किया था। कुछ लोगोंके अन्तस्तलमें ऐसा सन्देह उठ खडा होता है कि, पारसी, यहुदी, ईसाई, इस्लाम या हिन्दुधर्मकी प्राणप्रतिष्ठा करने जैसे ही क्या भगवान् योगीराज श्रीकृष्णचंद्रजीका यह कार्य था। ऐसी पूछताछ करनेवाले सज्जनोंको ध्यानमें रखना चाहिये कि यहाँपर 'धर्म' शब्दका आशय मत, पन्थ, रिलिजन् (Religion) ऐसा बिलकुल नहीं है क्योंकि पुरुषोत्तम श्रीकृष्णजीने इस ढंगसे मतमतान्तरोंको अस्तित्वमें लानेकी चेष्टा कभी नहीं की थी और वैसा उनका उद्देश्यभी सुतरां नहीं था।

यह महत्त्वपूर्ण बात कभी आँखोंसे ओझल न होनी चाहिये कि वीर अर्जुन तथा आनन्दकन्द भगवान श्रीकृष्ण दोनोंही क्षत्रिय थे। भूमंडलपरसे बुराईको मिटानेके लिये अथक चेष्टा करनेवाले इन दो क्षत्रियोंके मध्य जो वार्तालाप हुआ वही गीतामें ग्रथित है और यह ग्रन्थरत्न क्षत्रिय परंपरामें प्रचलित था क्योंकि गीताके चौथे अध्याय के प्रारम्भमें ही गीताकी परंपरा बतायी गयी है। इस निवेदनमें कहा है कि 'मैंने विवस्वान्को यह योग बताया था और विवस्वान्जीने मनुसे यही कहा था। पश्चात् मनुमहाराजने इक्ष्वाकुको इस योगकी दीक्षा दे डाली और इस तरह कई श्रेष्ठ नरेशोंको इसका अध्ययन करनेका सुअवसर प्राप्त हुआ। किंतु बहुत समयके बीत जानेपर वह लगभग मिटही गया ऐसा प्रतीत होने लगा। अब मैं फिर तुझे इसी का उपदेश कर रहा हूँ'। (गीता. ४।१-३) ध्यानमें रहे कि ये सारे क्षत्रिय ही हैं और क्षत्रियके सिवा किसी अन्यका इसमें प्रवेशही नहीं है। प्रजापालनके गुरुतर कार्यका बोझ विष्णुके कंधोंपर रखा था और उन्होंने इस योगका भलीभाँति ज्ञान प्राप्त करके तदनुसार प्रजापालनका कार्य जारी रखा था। विष्णु, विवस्वान, मनु, इक्ष्वाकु तथा अन्य भी कई उच्च कोटिके नरेश प्रजापालन प्रबंधकी इस जानकारीको रखते थे। श्रीकृष्ण महाराजका प्रयत्न यही था कि ऐसे सर्वोपरि ज्ञानकी झलक वीर अर्जुनको प्राप्त हो।

यहाँपर गीताके लिये 'योग' शब्द रखा है जिसका आशय 'राज्य शासन सुचारु रूपसे चलानेकी आयोजना' (Administration of a Nation) इतनाही है न कि ध्यानधारणान्तर्गत योग। 'योजना' सूचित करनेके लिये 'योग' शब्दका प्रयोग किया है। मानव समाजका राजनैतिक एवं आर्थिक शासन बिना रुकावट तथा विघ्नबाधाओंके भलीभाँति चलसके इसलिये किस योजनाका आश्रय लेना चाहिये सो बतानेके उद्देश्यसे गीताने 'योग' पदका प्रयोग किया है।

इसी मतलबसे 'धर्म' शब्दका भी प्रयोग किया है। 'कानून, सुव्यवस्था, अनुशासन, राज्यप्रबंध, जनताका पालन' ये अर्थ 'धर्म' तथा 'योग' शब्दोंसे सुझाये हैं। राष्ट्रकी दशा समाधानकारक ढंगसे प्रगतिशील रहे और राष्ट्रीय सुस्थितिमें अडचन उत्पन्न न हो इसलिए चार प्रकारके कार्योंकी ओर पर्याप्त ध्यान देना अत्यन्त आवश्यक है। (१) ज्ञान विज्ञानका यथोचित प्रचार एवं वर्धन, (२) राज्यका संरक्षण (राज्यके भीतर संरक्षणका प्रबंध तथा बाहरसे हमला चढानेवाले शत्रुदलसे जूझनेकी व्यवस्था) (३) कृषिकर्म तथा औद्योगिक क्षेत्रमें सुधार प्रस्तुत करके प्रचुर मात्रामें धनधान्यका उत्पादन करना तथा व्यावसायिक एवं व्यापारिक उन्नति प्रतिपल प्रगतिशील रहे ऐसी आयोजना और (४) भाँतिभाँतिकी कलाओंका प्रबंध, यही वह चतुर्विध कार्यक्रम है। इस पुरोगमको कार्यान्वित करनेमें रुकावट न हो, अनावश्यक तथा हानिकर चढाऊपरी, होड या स्पर्धाको तनिकभी स्थान न मिले, उचित काम करचुकनेपर उचित दाम देनेका प्रबंध होकर हरएक मानव तथा नागरिकका योगक्षेम समाधानकारक रीतिसे चलता रहे और जघन्य एवं घातक प्रतिस्पर्धासे किसी नागरिकको क्षति उठानी न पडे इस हेतुसे जो कुछ भी अनिवार्यरूपसे करना है वह इस धर्मसंस्थापनमें समा जाता है। यह बात कभी न भूलनी चाहिये कि गीतामें

जिस आशयसे ' धर्मसंस्थापन ' पद प्रयुक्त है वह राज्य-शासन प्रबंधका वाचक है नकि सिर्फ मंदिरोंमें जाकर उच्च-स्वरमें नाम घोष करने या परमात्मभजनमें तल्लीन होने किंवा एकान्त वनप्रदेशमें जाकर ध्यानमग्न हो बैठनेकी सूचना देनेवाला है ।

ऊपर जिस क्षत्रिय-परंपराका निर्देश किया गया है उसमें निर्दिष्ट सभी नरेश प्रजापालन दक्ष होनेके कारणही प्रथित-यश बनचुके थे और मानवी जीवनयात्रासे पूर्णतया अलिप्त रहकर एकान्तवासमें दिन बितानेकी लालसा उनमें नहींके बराबर थी । मनु विरचित मनुस्मृति आज दिन हमें उप-लब्ध है जिससे विदित होता है कि राज्य प्रबंध किस ढंगसे चलाना चाहिये इस संबंधमें उस प्राचीन युगके नरेश कैसे सतर्क एवं सचेष्ट रहा करते थे । इसी ढंगके अनुशास-नसे प्रभावित होकर अन्य नरेशोंनेभी प्रजापालनका कार्य जारी रखा था । यही योग है और धर्मसंस्थापनभी इसके अतिरिक्त और कुछ नहीं । योग तथा धर्म शब्दोंसे केवल सीमित अर्थ लेना छोडकर व्यापक दृष्टि कोणसे विशाल तात्पर्य एवं आशयकी झाँकी लेने लगें तो ही विदित हो सकता है कि मानवोंकी सर्वांगीण प्रगतिकी सूचना किस तरह ये शब्द देते हैं ।

जिस समय राष्ट्र तथा मानवसंघकी आर्थिक व्यवस्था में विकृति, विषमता एवं बिगाड पैदा होने लगता है तब निश्चित समझना चाहिये कि ' धर्मग्लानि ' का युग आ पहुँचा है । आर्थिक दशा समाधानकारक न रही तो धर्मका सुरक्षित रहना नितान्त असंभव है । वर्तमान कालमें स्पष्ट दिखाई देता है कि विश्वव्यापी प्रचण्ड समरके फलस्वरूप धर्मग्लानि किस भयानक अनुपातमें मानवी संघोंमें प्रसृत हो रही है । कुछ लोग भलेही कोट्यधीश एवं धनाढ्य बने हों किंतु दूसरी ओर लक्षावधि मानव भूख तथा अन्य विविध आपदाओंके भीषण चँगुलमें फँसगये और उनके प्राणपखेरू सदाके लिये उडगये, यह न भूलना चाहिये । यही धर्मग्लानिका सच्चा स्वरूप है और ऐसी शोचनीय दशाके प्रचलित होनेपर धर्मका शुद्ध, वास्तविक रूप भला कैसे अक्षुण्ण रह सकता है ? शासकगण एवं नरेशका सर्व प्रथम कर्तव्य यही है कि वह इस धर्मग्लानिको हटानेके लिये प्राणपणसे चेष्टा करने लगे और धर्मकी व्यवस्था अर्था-त्ही अर्थकी व्यवस्था या आर्थिक प्रणाली निर्दोष तथा असमानताके कलंकसे यथासंभव अछूती बनाये रखनेकी कोशिश करते रहे । धर्मसंस्थापनकोही किन्हीं अंशोंमें आर्थिक सुप्रबंध या Economic adjustment कहनेमें कोई हर्ज नहीं । यद्यपि अर्थ की अपेक्षा मूल शब्द धर्म अधिक व्यापक है तथापि उसमें यह आशय या भाव प्रमुखतया अन्तर्भूत है ।

भगवद्गीताका विचार करते समय यह धारणा अवश्य मनमें रखनी चाहिये कि गीताके बतलाये सिद्धान्त मानव समाजके दैनंदिन व्यवहारमें अनुस्यूत होनेके लिए हैं । राष्ट्रका शासन प्रबंध सुचारु रूपसे चलाया जासके तथा व्यर्थकी स्पर्धा और वर्गकलहमें प्रजा तथा शासकोंकी शक्ति निरर्थक बर्बाद न होने पाय, इसी श्रेष्ठ एवं सराहनीय ध्येय और आदर्शोंको कार्यरूपमें परिणत करनेके लिए गीता ग्रन्थका सृजन हुआ है, यह बात कोई न भूले और क्षण-भरभी इसे आँखोंसे ओझल होने न दे ।
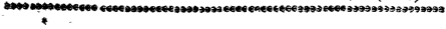
डाक्टर अम्बेडकरका अवतार-कार्य

कुछ समय पहले वायसरायमहोदयकी कार्यकारिणी समितिके मजदूर- सचिव पदको विभूषित करनेवाले डाक्टर बी. आर. अम्बेडकरजीने मद्रासमें अभिभाषण देते समय गीता तथा वेद जैसे मानवमात्रके लिए आदरणीय धर्मग्रन्थों के संबंधमें कुत्सामय एवं गर्हणीय मनोभावोंको व्यक्त किया था तथा तत्पश्चात् थियोसोफिकल सोसायटीके विख्यात अध्यक्ष डाक्टर अरुंडेल और मद्रप्रान्तके दूसरे एक प्रथितयश नेता सर सी. पी. रामस्वामी अय्यरनेभी उनका कडा निषेध किया; यहाँतक कि अरुंडेल महोदयजीने स्पष्ट शब्दोंमें माँग पेश की- ' इस ढंगकी अनुदार वक्तृता देनेवालेको वायसरायके सचिव मंडलसे हटाना चाहिये ' और सर अय्यरने प्रतिवाद करतेवक्त कहा कि ' मेरी समझमेंही नहीं आता, किस तरह भारतसरकारने जिनकी नियुक्ति की है ऐसा बडा अधिकारीही स्वयं ऐसी वक्तृता देसकता है, जिससे देशवासी जनताके धार्मिक भावोंकी रक्षा करनेकी जो भारत सरकारकी नीति है उसपर तुषारपात हो जाय। मैं पूछना चाहता हूं कि समूचे राष्ट्रकी, उसकी संस्कृतिकी, शताब्दियोंसे प्रचलित उसकी पवित्र ज्ञानधाराकी तौहीन करनेका साहस सरकारके वेतनभोगी कर्मचारी या सेवकमें भला कैसे पैदा हो सकता है ? '

इसके बाद पूना नगरीमें श्री. राजभोजजीके यहाँ चायकी पार्टीमें सम्मिलित होकर वहाँपर उपस्थित सौ- डेढसौ श्रोताओंके सम्मुख भाषण करते समय डॉक्टर अम्बेडकरने साफ उद्घोषित किया ' यह तो मेरा अवतार कृत्य है ' अर्थात् डाक्टर महाशय स्वयं ' अवतार ' हैं और उन्होंने सिर्फ इसीलिए नरदेहमें अवतार लिया है कि वेद एवं गीता के बारेमें जो कुछभी अज्ञान तिमिर आज दिन जनतामें प्रसृत है वह साराका सारा हट जाय और सभी लोग विशेषतः हरिजन सदश पिछडी जातिके लोग समूचे सत्यकी जानकारी प्राप्त कर लाभान्वित हो उठें।

क्याही अच्छा होता, यदि इसी अवसरपर आवेशपूर्ण वक्तृता देते हुए वे यहभी स्पष्ट कर देते कि, यह अवतार भला किसका है, क्योंकि अवतार कई प्रकारके होते हैं। जिस तरह मर्यादापुरुषोत्तम भगवान श्रीरामचंद्रजी विष्णुके अवतार थे ठीक वैसेही वानरभी विविध देवोंके अवतार थे और उनके प्रतिस्पर्धी राक्षसभी अवतार थे। पुराणोंमें यह लिखा हुआ पाया जाता है कि विशिष्ट देवताने विशिष्ट अवतार ले लिया था। इस ढंगसे यदि स्वयं डाक्टरजी किसके अवतार हैं सो उद्घोषित करनेकी वे ठान लें, तो उनके भक्तों एवं अनुयायियोंपर बडा भारी उपकार अवश्य होगा।

डाक्टर महोदयजीके कथनानुसार वे स्वयं अवतार हैं और गीताके संबंधमें वे जो कुछ भी कहचुके हैं वह सारा उस अवतारका सन्देश है, पर डाक्टरजी ध्यानमें रखें कि, पुराणोंमें लिखे अनुसार, अवतार हमेशाही सत्कृत्य करते हों ऐसी बात बिलकुल नहीं है क्योंकि बुद्धावतारके बारेमें कई पुराणोंमें यूं लिखा है ' जनता भ्रमकी खाईमें गिरपडे इस हेतुसे बुद्धावतार हुआ था और उन्होंने अपनी उपदेशवाणीसे जनताको सत्यधर्मसे कोसों दूर रखकर भ्रमपूर्ण दशामें रखनेका कार्य निष्पन्न किया। ' दशावतारोंमें जिसे स्थान मिला उस बुद्धावतारका कार्य यही था कि जनता सत्यके आलोकसे दूर रहकर भ्रमिष्ट बन जाय। मतलब यही है कि इस अवतारके कथन पर विश्वास रखनाभी ठीक नहीं जँचता है। अतएव अब प्रश्न ऐसा उठखडा होता है कि डाक्टर अम्बेडकरजीने इस नरदेहमें जो यह अवतार धारण कर लिया है, भला उसका उद्देश्य क्या है ? यदि कहीं बुद्धके समानही इनका उद्देश्य हो तो यही कहना ठीक जान पडता है कि कोई इनपर विश्वास न रखे। डाक्टरजीकी वक्तृताका जो सारांश समाचारपत्रमें प्रकाशित हुआ है उससे यही प्रतीत होता है, इसलिए हमें यहाँपर इतनीही सूचना देनी है कि इनके हरिजन-श्रोता बहुतही सावधानचित्त होकर यह भाषण सुन लें तथा पढभी लें।

तिलक, गान्धीजी और अंबेडकर

लगभग पंद्रह वर्षोंतक डाक्टर अंबेडकरने गीताका

अध्ययन किया और इतने लंबे अध्ययनके उपरान्त उनके अन्तस्तलमें जो स्फूर्तिगंगा उमड पडी वही उनकी वक्तृता के रूपमें प्रकट हुई है। महात्मा गान्धीजीने पचास साल-तक गीताध्ययन प्रचलित रखा और उन्हें प्रतीत हुआ कि पथप्रदर्शकके नाते गीताकी योग्यता निस्सन्देह बहुत बडी है। आजभी उनकी यह धारणा ज्योंकि त्यों बनी है। लोकमान्य तिलक महोदयजीनेभी पैंतालीस संवत्सरों तक गीताका अध्ययन किया था जिसके परिणामस्वरूप उन्हे उसमें कर्मयोगकी झलक देखनेको मिली। लोकमान्य विरचित ' गीता-रहस्य ' आज दिन भी तिलक महोदय-जीके विचारोंपर अच्छा प्रकाश डालता है और वह मार्ग-दर्शक भी अवश्य है। म. गान्धीजी तो गीता वचनके आलोकमें अपना आचरण जाँचलेनेकी चेष्टा प्रायः प्रतिदिन ही करते हैं और कहतेभी हैं कि ऐसा करते हुए उन्हें प्रायः असफलताओंके सम्मुखीन होना पडता है।

कहनेका आशय इतनाही है कि एक ओर तो महात्माजी गीताको अपना ध्येयग्रन्थ मानते हैं तो दूसरी ओर डाक्टर जी अपनेको अवतार समझकर श्रोतृवृन्दके सम्मुख बिना किसी आनाकानीके उच्चस्वरसे उद्घोषित करते हैं कि गीतामें उच्चकोटिके तत्त्वज्ञानकी लेशमात्रभी झाँकी नहीं मिलती है!! अब खुद डा. आंबेडकर ही बतलानेकी कृपा करें कि वर्तमान कालकी जनता महात्माजीके कथनपर विश्वास रखेगी या डाक्टर आंबेडकरके कथनको आँखें मूँदकर ग्रहण कर लेगी? महात्माजी सतर्क एवं सचेष्ट हैं कि अपने आचरणको गीतोपदेशकी कसौटीपर परख लें किंतु डाक्टर अंबेडकर गीताका सिर्फ तिरस्कार एवं दिल्लगी करते हुए भी उल्टे यूं दर्शानेकी कोशिश करते हैं कि वे उस तरह केवल मजाक नहीं करते हैं। पाठक स्वयं सोचलें कि लोकमान्य तिलकजी, महात्मा गान्धीजी और डाक्टर अंबेडकरमेंसे किनके कथनपर विश्वास रखना उचित है?

दूसरी एक महत्त्वपूर्ण बात ऐसी है कि संसारकी प्रायः सभी भाषाओंमें अबतक गीताके कई अनुवाद किये जा चुके हैं तथा वे सभी महान् आत्माओंने केवलमात्र स्वयं प्रेरणा से प्रेरित होकर किये हैं। अब अपने आपको अवतार समझ लेनेकी ढिठाई करनेवाले इन महाशयको सर्वप्रथम सोच लेना चाहिये कि, यदि सचमुच गीता नितान्त त्याज्य एवं परिहरणीय ग्रन्थ हो तो भला इसके इतने अनुवाद कैसे किये गये? गीताके संबंधमें कहते हुए डाक्टर अंबेडकर अपनी राय यूं व्यक्त करते हैं—

ग्वालोंकी गाथा, पँवाडा या पद्यमय कथा

१. गाथाके रूपमें गोपाल जातिमें गीताका प्रचलन था और उसमें धर्म एवं तत्त्वज्ञानका अभाव था तथा उसमें ६० श्लोक मौजूद थे।

२. उसीमें चार थिगलियाँ लगाकर वर्तमानकालकी गीताका सृजन किया।

३. आगे चलकर जनता कृष्णको परमात्मातुल्य मानने लगी और उसकी सराहनामें तल्लीन बनने लगी जिसके कारण भक्तिमार्गके प्रचारका सूत्रपात हुआ।

डा० अंबेडकर सप्रमाण दर्शायँ कि ये मूल ६० श्लोक कौनसे हैं तथा उनपर कौनसी थिगलियाँ लगायी हैं। शोक-की बात है कि इतने विद्वान होनेपर भी ये निराधार वल्गना एवं निरर्गल प्रलाप करनेमें हिचकिचाते नहीं। आगे चलकर ये अवतार ऐसे स्पष्ट तौरपर कहते हैं कि--

४. जबतक तुम इस ग्रन्थको प्रमाणभूत मानोगे तबतक तुम्हारा उद्धार होना संभव नहीं।

५. इस गीतामें शूद्र जातिकी अवहेलना तथा निन्दा की गयी है।

स्वराज्यके प्राप्त करनेमें गीताकी सहायता

इतिहासके पन्ने पलटकर अतीतकी झाँकी लेनेपर हमें विदित होता है कि वीर अर्जुनने गीताका प्रामाण्य पूर्णतया स्वीकार कर लिया और गीतानिर्दिष्ट उपदेशके अनुसार आचरण किया था, तभी वह अपने शत्रुदलको परास्त एवं मटियामेट करनेमें तथा छीना हुआ स्व-राज्य पुनरपि प्राप्त करनेमें सराहनीय सफलता पा सका। अर्थात् ही, प्रतिस्प-र्धी एवं विरोधी गुटको धराशायी करके स्वराज्यका सानन्द उपभोग लेनेमें गीताका पथप्रदर्शन कितना लाभ दायक है या हो सकता है इस विषयमें तनिकभी सन्देह करनेकी आवश्यकता नहीं है। यदि डा० अंबेडकरजीके अनुयायी तथा श्रोतादलमेंसे किसीके भी शत्रु हों, और अगर उन्हें अपना विलुप्त स्वराज्य फिरसे प्राप्त करना हो तथा शत्रुदल विध्वंसनके गुरुतर कार्यमें स्पृहणीय सफलता पाकर विजयी

बननेकी अमर साध सतत अन्तस्तलमें जाग्रत हो, तो गीताके उपदेशसे भलीभाँति परिचित रहकर तदनुसार बर्ताव रखना उनके लिए नितान्त आवश्यक है। गीताके संबंधमें एक महत्वपूर्ण बात यह है कि उसके उपदेशको कार्यरूपमें परिणत करनेसे ही पाण्डवोंको अपना गुमाया हुआ स्वराज्य पुनः प्राप्त करना संभव हुआ। होसकता है कि डाक्टर अंबेडकरकी वैसी इच्छा न हो और शायद विदेशी शासनकी छत्रछायामें रहकरही बडी बडी तनख्वाह देनेवाली नौकरियाँ हासिल करना उनका प्रमुख ध्येय रहे। स्यात् इसी कारण से ऐसा उन्हें प्रतीत होता है कि स्वराज्य दिलानेमें अमूल्य सहायता देनेहारे तथा शत्रुदलको परास्त करनेकी प्रेरणा दिलमें उपजानेवाले इस गीताग्रन्थकी ओर उनके हरिजन बंधुओंका ध्यान आकर्षित न होने पाय। कौन कहसके, किंतु क्या डाक्टर अंबेडकर ऐसा तो नहीं सोचते होंगे कि, अगर हरिजन मनोयोगपूर्वक गीताका अध्ययन करने लगें तो वे अपना गँवाया हुआ स्वराज्य पानेके लिए प्रचण्ड आन्दोलन करेंगे और तदुपरान्त सस्कारकी क्रोधाग्नि भभक उठेगी, तो फिर अपना पद अक्षुण्ण भला कैसे रह सकता है? डा अंबेडकरने जो मिथ्या विधान गीताके संबंधमें किये हैं उनका विचार सबको और विशेषतया हरिजनोंको ध्यानपूर्वक करना चाहिये। अस्तु, अब हमें गीताके उपदेशपर तनिक दृष्टिपात करना चाहिये।

समदृष्टिका विकास

विद्याविनयसंपन्ने ब्राह्मणे गवि हस्तिनि।
शुनि चैव श्वपाके च पण्डिताः समदर्शिनः॥
(गी. ५।१८)

(Look equally on a Brahmana and an outcast who eats dog flesh) पंडित वे हैं जो शिक्षासंपन्न ब्राह्मण तथा कुत्तेके मांस खानेवाले चाण्डालको भी समदृष्टिसे देखनेकी क्षमता रखते हैं।

वर्तमानकालमें जो हिन्दुधर्म भारतमें प्रचलित है वह ब्राह्मण तथा चाण्डाल दोनोंको समदृष्टिसे नहीं देखता है इसकारण यदि डा० अम्बेडकर अपने उचित और धधकते क्रोधाग्निकी लपटोंमें हिन्दुधर्म तथा हिन्दुजातिको भस्मसात् करना चाहें तो कुछ हर्ज नहीं। वे भलेही अपने प्रखर टीकासे इस समयके प्रचलित हिन्दुओंकी सामाजिक व्यवस्थाको विदीर्ण एवं विशीर्ण करदें, परन्तु क्याही अचम्भेकी बात है कि समबुद्धि एवं सम दृष्टिका उपदेश करनेवाली गीतापरही वे क्रोधके मारे टूट पडते हैं !! भला इसे सुलझानेका कोई मार्गभी तो है ? समदृष्टि न रखनी चाहिये ऐसी शायद डाक्टर अंबेडकरकी राय हो तो बात दूसरी है, किन्तु यह सरासर असंभव है ऐसा प्रतीत होता है। गीताके उपर्युक्त उपदेशके अनुसार महात्मा गान्धीजी कहते हैं, सबपर सम दृष्टि रखो। भारतीय राष्ट्रीय सभा, हिन्दुमहासभा, राष्ट्रीय स्वयंसेवक संघ, आर्यसमाज तथा अन्यभी कई संस्थाएँ समदृष्टि रखनेवाले हिन्दुओंकी प्रस्थापित की हुई हैं। राष्ट्रसभाके विधायक कार्यक्रममें अस्पृश्यता निवारण तथा समदृष्टिको अवश्य स्थान दिया गया है। सच बात तो यह है, यह सब देखकर डाक्टर अंबेडकरको प्रसन्नता होनी चाहिये थी और इन संस्थाओंमें कार्य करनेवाले हिन्दु, गीता निर्दिष्ट समदृष्टि उपदेशको आत्मसात् करनेकी सराहनीय चेष्टामें सोत्साह संलग्न हैं, अतः उनका दिल हराभरा होना चाहिये था। विषमदृष्टिके दूषित कलंकको जितनाभी जल्द हो सके उतना मिटानेकी जो यह स्तुत्य कोशिश होरही है उससे प्रसन्नचेता होना तो दूर रहा किंतु गीतोक्त समदृष्टिके उपदेशकी प्रशंसा करनेकी बात भी उनके ध्यानमें न आयी। भला ऐसा क्यों हो ? क्रोधवश होकर ये कहते हैं कि गीतामें शूद्रजाति एवं अछूतोंकी निन्दा पायी जाती है और मानों निम्नश्रेणी एवं दलित वर्गका विनाश करनेका बीडा गीताने उठाया है !! ऐसा प्रतिपादन करनेका कुछ भी कारण हमें नहीं दिखाई देता है। अचम्भा होता है कि डाक्टर अंबेडकर जैसे विद्वान् भला क्यूंकर ऐसा निराधार विधान करने लगें? गीताकी समदृष्टि मानव व्यवहारमें दीख पडे तो क्या डा. अांबेडकरको कुछ क्षति उठानी पडेगी ?

प्रत्येकको यह निस्सन्देह मान्य करना पडेगा कि गीतामें सभी मानवोंको 'ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य, शूद्र तथा चांडालको समदृष्टिसे देखो' ऐसा बतलाया है और वैसेही ऊपर बतलायी संस्थाओंमें कार्य करनेवाले हिन्दु समदृष्टिसे प्रभावित होकर आचरण करते हैं तथा समदृष्टिके आदर्शके अनुसार बर्ताव रखनेकी चेष्टामें निरत तो अवश्य हैं, यह भी सबको मानना पडेगा इसमें संशय नहीं। ऐसी

दशामें डाक्टर महोदयको यह क्या सूझी है कि वे अपने हरिजन भाइयोंसे कहते हैं कि, तुम गीताके इस उपदेशको न मानो । यदि तुम गीताका उपदेश मान्य समझोगे तो तुम्हें हानि उठानी पड़ेगी, इस ढंगका भाषण वे भला क्यों करते हैं ? क्या इससे ऐसा समझने लगें कि हिन्दुजातिमें समदृष्टिका उदय होने लगे तो हरिजन भाइयोंको भीषण क्षति या हानि उठानी पड़ेगी ? इस सवालकी कुछ अधिक छानबीन करनी चाहिये ।

समदृष्टिसे हरिजन भाइयोंकी हानि (?)

अच्छा, तो ऐसा मानलें कि गीतामें कहे ढंगसे समदृष्टिको हिन्दुजातिने अपनाया, अस्पृश्यता निवारण कार्यमें ऊपर कही विविध संस्थाओंको सफलता मिली और समूचे भारतभरमें एकभी अछूत न रहा तथा विद्वान ब्राह्मण एवं चाण्डालभी समत्वकी भूमिकापर अवस्थित हुए और व्यवहारमेंभी सम दशाकी अनुभूति लेते रहे तो आज हिन्दु जातिमें अछूत तथा पिछड़ी हुई जातिकी हैसियतसे जो सहूलियतें उन्हें मिलरही हैं उनसे हरिजन वंचित रहेंगे तथा अछूतोंके अग्रणी नेताके तौरपर डा० अंबेडकरको कानूनसे जो अधिकार मिले हैं वे सभी नगण्य एवं निरर्थक ठहरेंगे। यदि हिन्दुजातिमें इसभाँति समभाव फैलने लग जाय तो अंबेडकर सभी अछूतोंके साथ उस विशाल जातिमें विलीन होंगे, तत्पश्चात् स्वतंत्र गुटके नेताकी या प्रतिनिधिकी हैसियतसे उनका कोई अस्तित्वही न रहेगा । हाँ, ऐसी स्पृहणीय स्थितिके अस्तित्वमें आनेपर डा० अंबेडकर एक कठिनाईके सम्मुखीन जरूर होंगे; वह यही है कि समूची हिन्दुजातिमें केवल योग्यताके बलबूतेपर लोकप्रियता प्राप्त करके अग्रगामी नेता बनना कोई आसान काम तो बिलकुल नहीं । समूची हिन्दुजातिके नेतापदपर आसीन होना बड़ा विकट कार्य है और इधर अंबेडकरमें इतनी क्षमता या बड़प्पन नहीं है कि वे महात्मागांधी, पं० जवाहरलाल नेहरू सदृश महान व्यक्तियोंकी मालिकामें बैठ सकें ।

गीताने जो समताकी सिखावन दी है उसे यदि हिन्दुजाति स्वीकारकर अपनाने लगे और कार्यरूपमेंभी परिणत करदे, तो हरिजनोंका जो इसतरह नुकसान होनेवाला है उससे डा० अंबेडकर भलीभाँति परिचित हैं । अतएव वे बलपूर्वक उद्घोषित कररहे हैं कि शूद्र तथा चंडाल सदृश जातियोंका घात करनेवाली गीता है । यह प्रतिपादन सच प्रतीत होने लगता है जबकि हम आजदिन हरिजनोंको उपलब्ध सहूलियतोंको ध्यानमें रखकर सोचने लगते हैं ।

किन्तु अखिल मानव जातिकी दृष्टिसे सोचनेलगें तो यह स्पष्टतया विदित होगा कि, सभी मानव समान हैं ऐसा तत्वही सदैव सर्वोपरि रहेगा । कहनेका मतलब यही है कि गीताका तत्त्वज्ञान हानिकारक नहीं है यदि मानवतापर उसे लागू करदें, किन्तु दुःखकी बात है कि डा० अंबेडकर मानवताकी दृष्टिसे गीताके प्रतिपादित सिद्धान्तोंका विचार नहीं करते । आज ब्रिटिश शासनने भारतीय जनताका संगठन न होनेपाय इस हेतुसे जो विधान देशपर लाददिया है उसके कारण दलितवर्ग को जो अधिकार प्राप्त हुए हैं तथा उनसे अपने ज्ञातिबंधुओं को जो प्रत्यक्ष आर्थिक लाभ होरहा है वही सदाके लिऐ सुरक्षित एवं अक्षुण्ण कैसे रहे इस चिन्तासे प्रभावित होकर डाक्टर अंबेडकर संकीर्ण दृष्टिकोणसे गीताका निरीक्षण कररहे हैं । यह बात बिलकुल सच है कि जहाँतक पिछड़ी जातियोंकी वर्तमान सुविधाओं तथा सहूलियतोंकी सुरक्षाका सवाल है, गीताप्रतिपादित समदृष्टिका प्रचलन होनेपर उन्हे अवश्यमेव हानि उठानी पड़ेगी। यदि कहीं गीतामें बतलायी समदृष्टिको कार्यरूपमें परिणत करनेके स्पृहणीय कार्यमें हिन्दुजातिको आशातीत सफलता मिलजाय, तो हरिजनों को सांप्रत विदेशी सत्ता एवं शासनकी छत्रछायामें जो विशेष अधिकार प्राप्त होचुके हैं उनकी जड़परही प्रबल कुठाराघात होगा, यह बात वैदेशिक सत्ताकी कृपासे उच्चासन विभूषित करनेवाले डाक्टरसाहब भला कैसे भूलसकते हैं ?

शाश्वत कल्याणका मार्ग

हरिजनभाई जब अंबेडकरजीके विधानोंपर सोचनेलगें तो उन्हें उचित है कि वे अपने वर्तमान लाभ तथा शाश्वतिक हित दोनोंपर भलीभाँति सोचें और इस समय होनेवाले लाभसे चौंधियाकर विशाल एवं स्थायी हितको छिनभरभी आँखोंसे ओझल होने न दें । ऐसा करनेपर उन्हें अवश्य प्रतीत होगा कि, वर्तमान कालीन विशेष लाभको दृष्टिमें रखकर गीता अस्पृश्यता जारी रखनेका उपदेश नहीं करती है किन्तु समदृष्टिके तत्वको उद्घोषित करती है, इसकारण यद्यपि इन्हें क्षतिग्रस्त होना पड़ता हो, तोभी न केवल अखिल

हिन्दुओंकेही अपितु समूचे मानवोंके भी हरिजनभाई समकक्ष हैं ऐसा प्रतिपादन करके उनके शाश्वत कल्याणको बलपूर्वक जनताके सम्मुख रखनेका शुभ कार्य गीताने संपन्न किया है अतः उन्हें गीताके प्रति अतीव कृतज्ञ रहना चाहिये।

डाक्टर अंबेडकरकी विद्वत्ता अवश्यही अत्यन्त प्रगाढ है, किन्तु उनकी राय ऐसी दीखपडती है कि हिन्दुजातिमें हरिजनोंका संघ सदाके लिए अछूतपनकी कालिख लगाये बैठा रहे। समताकी भूमिकापर अछूत लोग अन्य हिन्दुओंमें हिल मिल न जायँ ऐसी इच्छा डाक्टरसाहबके दिलमें उमडती हुई दिखाई देती है, क्योंकि यदि वे अलग रहें तोही उनके विशिष्ट प्रतिनिधिकी हैसियतसे डाक्टरसाहब जैसे कुछ व्यक्तियोंको बडी बडी तनख्वाह की जगह मिलसकती है। यह तो अत्यन्त स्पष्ट है और अगर गीताके उपदेशको सार्वत्रिक मान्यता मिलगयी तो एक परिणाम जरूर यह होनेवाला है कि उन जैसे बुद्धिमान् पुरुषोंका गौरव एवं मानसम्मान घटजायगा। इसी कारण वे इस बातपर बहुत अधिक जोर देरहे हैं कि गीता जैसा सालनेवाला कांटा जल्दही दूर हटाया जाय। जो गीता सबका प्रेम संपादन करचुकी है वह डाक्टरमहोदयको क्यों अप्रिय हुई है इसका प्रमुख कारण यही बताया जासकता है। जो लोग इनके भाषण पढते या सुनते हों वे इस सद्यःलाभको ध्यानमें रखें तो यह पहेली सुलझायी जासकती है। औरभी एक बात देखनेयोग्य है--

पिछडे हुए लोगोंकी उन्नति

अपि चेत्सुदुराचारो भजते मामनन्यभाक्।
साधुरेव स मंतव्यः सम्यग्व्यवसितो हि सः॥३०
मां हि पार्थ व्यपाश्रित्य येऽपि स्युः पापयोनयः।
स्त्रियो वैश्यास्तथा शूद्रास्तेऽपि यान्ति परां गतिम्॥ ३२॥ (गीता ९)

" यदि कोई मानव प्रारंभमें दुराचरण करनेवाला हो, पापी परिवार या हीन, जघन्य कुलमें पैदा हुआ हो और उसीतरह वैश्यश्रेणीके, शूद्रवर्गके लोग तथा नारियाँही क्यों न हों, जब वे मेरे कथनके अनुसार अपना बर्ताव रखेंगे तो अवश्य उच्च दशाका उपभोग लेनेलगेंगे। " इससे स्पष्ट होता है कि गीता कभी ऐसा मानने को तैयार नहीं कि जो नीच जाति या श्रेणीमें किंवा पापमय जीवन बितानेवाले परिवारमें जन्म लेते हों वे हमेशाही शोचनीय, हीन, पिछडी दशामें रहें। सभी लोगोंके लिए गीताने समानरूपसे प्रगतिका राजपथ उन्मुक्त तथा खुला रखछोडा है। इसी कारणसे हरकोई चिन्तनशील पुरुष गीताकी मुक्तकंठसे सराहना करने लगता है।

अठारहवीं शताब्दिके अन्तमें फ्रान्सके विख्यात राज्यविप्लवने संसारके सम्मुख तीन महत्त्वपूर्ण सिद्धान्त स्वतंत्रता (Liberty), समता (Equality) और बंधुभाव (Fraternity) के रूपमें रखे थे ऐसी सर्वसाधारण धारणा प्रचलित है। उपर्युक्त दो गीतास्थ अवतरणोंमें 'समदृष्टि तथा अपनी चरम उन्नति कर लेनेकी स्वतंत्रता' दोनों ही स्पष्ट तौरसे प्रदान की गयी दीख पडती हैं। रहा बन्धुभावका तीसरा तत्त्व सो 'वसुधैव कुटुम्बक' माननेवाली हिन्दुजातिको पृथक् बताया जाय ऐसी बात नहीं है। ध्यानमें रहे कि चाहे जितनी उन्नति तथा प्रगति करलेनेकी स्वतंत्रता गीताने समूचे हरिजनों और दलित श्रेणीके लोगों को दे रखी है। किन्तु आंबेडकरकी चाह है कि हरिजनभाई इसी स्वतंत्रताके सुखद फलोंसे वंचित रखे जायँ, अतः वे उनसे कह रहे हैं कि, देखो भाई अगर कहीं तुम गीता का धर्म मानने लगो तो तुम्हें क्षतिग्रस्त होना पडेगा। इस क्षतिग्रस्तताका स्वरूप जैसे कि हमने ऊपर दर्शाया उस तरह, भारतका संगठन होनेके बजाय विघटन हो इस हेतुसे ब्रिटिश शासकों एवं सत्ताधारियोंने जो विधान तैयार कर दिया है उसके कृपाकटाक्षसे हरिजनोंको जो कुछ भी आज मिल रहा है उसका मिट जाना है। अपने सदृश हरिजनोंको बडी बडी नौकरियाँ मिलती रहें इसलिये समूची दलित जातिको सदैव अछूतपनके दलदलमें फँसाये रखनेका ख्याल साफ तौरसे इनके अभिभाषणमें झलक रहा है। नहीं तो क्या मजाल कि समता एवं स्वतंत्रताकी उच्चस्वरसे घोषणा करनेहारी गीताका धिक्कार कोई कर सके? डाक्टर अंबेडकर बिना हिचकिचाहटके गीताको दोषी ठहराकर उस का अपमान कर रहे हैं। चूँकि डाक्टर महोदयकी विद्वत्ता बडी उच्चकोटिकी है इसलिए वे विसंगत या अँडबँड कुछ भी नहीं बोलेंगे। जो हानि सचमुच होगी ऐसा इनका विश्वास है वह टल जाय इस शुभेच्छासे प्रेरित होकर वे

हरिजन भाइयोंको होशियार तथा सतर्क बनानेकी चेष्टामें लगे हैं। किन्तु इसका नतीजा यही होगा कि हरिजनों तथा दलितवर्गकी प्रगतिकी राहमें बडे भारी रोडे अटकाये जायेंगे। इस कठिनाईका स्वरूप ध्यानमें रखकर स्वयं हरिजनभाई सोचने लगें कि प्रश्न हल करनेका तरीका भला क्या हो सकता है ?

साम्राज्यसत्ताका सेवक और स्वराज्यवादी

डा० अंबेडकरकी रायमें भगवान् श्रीकृष्णजी ' ग्वालेका पुत्र ' गोपालतनयके सिवा और कुछ भी नहीं थे। यह बात सच है कि श्रीकृष्णजी ' डाक्टरेट ' की उपाधि प्राप्त न कर सके और उन्हें वायसरायमहोदयके काउन्सिलके सदस्य बननेका सौभाग्यभी नहीं मिला। वे सिर्फ पांडवोंके प्रस्थापित स्वराज्यवादी दलके प्रमुख नेता एवं सूत्रसंचालकके स्पृहणीय पद पर चढे थे। इसी ' ग्वालेके बंटे ' के अथक प्रयत्नोंके कारण उस युगके साम्राज्यवादी दलका संपूर्ण विनाश एवं विध्वंस हो गया और स्वराज्यकी प्राणप्रतिष्ठा करनेवालोंको अपना गँवाया स्वराज्य फिरसे प्राप्त करनेमें सराहनीय तथा विराट सफलता मिली !! श्रीकृष्णजीके युगमें डा० अंबेडकरका वर्तमान पद अगर कहीं रहता तो निस्सन्देह वह साम्राज्यवादी दुर्योधनके परामर्श दाताओंकी मंडलीमें मौजूद रहेगा ऐसा माननेमें कोई हर्ज नहीं। पांडवोंका पक्ष केवल इतनाही था कि अपना छीना हुआ स्वराज्य पुनः अपने हाथ लगे। इस स्वराज्यवादी दलके सर्वेसर्वा नेता श्रीकृष्णजी महाराज थे और उनका बतलाया तत्वज्ञान गीतामें ग्रथित है। अतः ' श्रीकृष्ण तथा गीता' का विरोध कहीं हो तो ' दुर्योधन एवं कणिककी नीति ' से ही हो सकता है। पांडवोंकोही स्वराज्य दिलानेमें गीताने महनीय सहायता पहुँचायी हो ऐसी बात नहीं लेकिन उसके उपदेशमें आजभी वह तेज है, ओजस्विता एवं स्फूर्ति प्रदाता भी है जिससे आलोक किरण प्राप्त करके वर्तमानकालीन स्वराज्यप्राप्तिके लिए लालायित लोग बडे उत्साहसे मार्ग क्रमणा कर सकते हैं। आज दिनभी गीताकी पथप्रदर्शक बननेकी यह क्षमता अक्षुण्ण है। यही कारण है कि आधुनिक युगके सबसे बडे साम्राज्यवादी सरकारकी सेवामें सोत्साह संलग्न बनकर शासकोंके चरणारविन्दमें मिलिंदायमान बननेमें अहोभाग्य मानने वाले डा० अंबेडकर गीताका धिक्कार बडे जोशसे करनेमें आनाकानी नहीं करते हैं, तो इधर महात्मा गान्धीजी जैसे विश्ववन्द्य नेता रातदिन स्वराज्यके लिए अथक रूपसे चेष्टा करते हुए गीताके उपदेशको आचरणमें ढालनेके लिए अविरत प्रयत्न करते हैं !!!

साम्राज्यवादी सरकारकी सेवाका त्याग यदि डाक्टरसाहब कर दें और भारतीय स्वराज्यकी प्राप्तिके लिये वे सतर्क तथा सचेष्ट हो जायँ तथा उस कार्यके पूर्त्यर्थ आवश्यक प्रतीत होनेवाली जो हरिजनोंकी उन्नति है उसके संपन्न करनेमें अपना सर्वस्व लगा दें तो निस्सन्देह वे गीताके मर्मको भली भाँति समझने लगेंगे और तदुपरान्त वे गीताकी सराहना मुक्तकंठसे करेंगे ही इस विषयमें कुछभी संशय नहीं है।

यह बात कभी आँखोंसे ओझल होने न देनी चाहिये कि कोई भी साम्राज्यवादी या साम्राज्यसत्ताका आज्ञानुवर्ती सेवक गीताकी प्रशंसा करनेमें नितान्त अक्षम है, क्योंकि सबको समदृष्टिसे देखने तथा सबसे समतामय बर्ताव रखनेका उपदेश भला साम्राज्यवादी किसतरह पसंद कर सकते हैं ? किंतु सभी स्वराज्यवादी समतावादी ही हैं अतः वे गीता के उपदेशके आलोकसे अपना अन्तस्तल आलोकित करेंगे और तदनुसार अपना आचरण रखनेकी भरसक कोशिश करेंगे, इसमें तनिकभी सन्देह नहीं। अतएव साम्राज्यकी सेवामें तल्लीन डाक्टर महोदय गीताकी कुत्सा करते है वही एक प्रकारसे गीताकी प्रशंसा है, बस यही हमारी अपनी राय है। और इसी कारणसे स्वराज्यके प्रस्थापित करनेमें प्राणपणसे सचेष्ट गान्धीजी गीताकी सिखावन आदर्श हैं ऐसा मानते हैं।

जीवन-वेतन देनेकी दायित्वपूर्ण प्रतिज्ञा

गीताके संबंधमें एक महत्वपूर्ण बात यह है कि सबको जीवन वेतन देनेकी—इतनाही नहीं किन्तु हरतरहके योगक्षेमकीभी जिम्मादारी गीताने अपने ऊपर ले रखी है। यहाँपर यह सिद्ध करनेकी कोई आवश्यकता नहीं कि जीवनवेतनसेभी योगक्षेमके प्रबंधमें अत्यधिक सुख एवं समाधान प्राप्त होता है। इस बारेमें गीताके शब्द यूं है—

कर्मण्येवाधिकारस्ते मा फलेषु कदाचन।
मा कर्मफलहेतुर्भू मा ते संगोऽस्त्वकर्मणि॥
योगस्थः कुरु कर्माणि। योगः कर्मसु कौशलम्॥
(गीता २।४८।५०)

तेषां नित्याभियुक्तानां योगक्षेमं वहाम्यहम्।
(गीता ९।२२)

" ओ संसारके मानवो ! तुम अपना कार्य करते रहो, वेतन क्या मिलेगा इसपर तुम्हारी निगाह न रहे; वेतन पानेके लिए ही हम कार्य करेंगे ऐसाभी न कहो। काम

कुछ भी न करते हुए याने आलस्यमेंही अपना जीवन न बिताओ। जितनी कुशलता एवं चतुराईसे तुम अपना निर्दिष्ट काम कर सको उतने कौशल्य तथा चातुर्यसे तुम सभी लोग अपने अपने काम करते रहो। इस ढंगसे जो कोई अपने अपने कार्यमें निष्णात बनेंगे तथा होशियारीसे स्पृहणीय कार्यक्षमता बढायेंगे और अपना अपना कार्यभार सुचारुरूपसे चलाते रहेंगे उन सबका योगक्षेम भली प्रकार चले ऐसा प्रबंध करना हमारे अधीन है।।"

यह श्रीकृष्णजीकी सुविख्यात घोषणा है और इसका व्यावहारिक अर्थ एकही है- काम करनेवाले श्रमिक तथा कर्मचारी अपना कार्य अच्छे ढंगसे करते रहें और उनके योगक्षेमका सारा उत्तरदायित्व शासकसंघ या नरेशपर रहे। आश्चर्यकी बात है कि इस 'ग्वालेके बेटे' ने लगभग ५ सहस्र वर्षपूर्व समूचे श्रमजीवियोंके संपूर्ण योगक्षेमकी जिम्मेवारी अपने ऊपर ले लेनेका स्पृहणीय साहस दर्शाया था। उपर्युक्त घोषणासे यह बात सूर्यप्रकाशवत् स्पष्ट होती है। यह 'गोपाल पुत्र' बलपूर्वक असंदिग्ध शब्दोंमें कह रहा है 'तुम सभी अपना कार्य अच्छीतरह करते रहो और तुम्हारे संपूर्ण निर्वाह तथा योगक्षेमका भार मुझपर है।' क्या साम्राज्य सरकारके लेबर मेंबर बने हुए डाक्टर अंबेडकरजी आज दिन श्रमजीवियोंके जीवन-वेतन या निर्वाहके लिए पर्याप्त मजदूरी देनेके संबंधमें इतनेही बलपूर्वक ढंगसे घोषणा करके प्रतिपादन कर सकते हैं? डा० अंबेडकर इसका खूब विचार करें और पश्चात् उन पुरुषोत्तम 'गोपालतनय' की निन्दा करनेकी ढिठाई करें।

भारतके मजदूरोंकी माँग आज क्या है? 'जीवन-वेतन' मिलजाय, यही आज उनकी माँग है। क्या डाक्टर भीमराव महोदय निर्वाहार्थ काफी हो इतनीभी मजदूरी देनेकी जिम्मेवारी भारतीय मजदूरोंके लिए ले रहे हैं? भारतीय श्रमजीवियोंकी इतनी साधारण एवं सर्वथैव उचित माँगकी पूर्ति करना भी उनके लिए जब असंभव है तो योगक्षेमका प्रबंध करनेकी बात दूरही रही। इस समयके भारतीय मजदूरोंको सिर्फ जीवित रहनाभी बडा दूभर हुआ है। पाण्डवोंके जमानेमें श्रमजीवियोंको गुजारेकी चिंता नहीं करनी पडती थी इसलिए उनकी अपेक्षा यही थी कि अपना योगक्षेम भलीभाँति चलता रहे। उपर्युक्त गीताके श्लोकका अनुवाद डा० श्री. कृ. बेलवलकरजी इस प्रकार करते हैं — For their sake I take upon myself the burden of all earning and saving.

योगक्षेमका और भी आशय 'security of possession, insurance, wel-fare, wel-being, prosperity, propety, profit, gain, preserving the old and acquiring the new. (आपटेकृत कोश) ऐसा है। (१) श्रमजीवियोंके निकट जो कुछभी हो वह रहे और (२) उनकी आय बढती जाय, (३) उनकी हिफाजतके संबंधमें वे निश्चिन्त रहें तथा (४) लाभ या उसका कुछ हिस्सा उन्हें मिले, यही योगक्षेमका भाव है।

श्रमजीविदलको निर्वाह वेतन जरूर मिले और इसके सिवा श्रमोत्पन्न लाभका अंशभी उसे मिलता रहे तथा विघ्नबाधाओंके उपस्थित होनेपरभी सुखी जीवनके बितानेका आश्वासन प्राप्त हो; धार्मिक संस्कार, त्यौहार एवं उत्सवोंके मनानेमें कोई कठिनाई न प्रतीत हो और ऐहिक तथा पारलौकिक उन्नति करना संभव हो उतना समाधानकारक प्रबंध करना चाहिये। इसे कहते हैं योगक्षेम और भगवान् श्रीकृष्णजीने घोषणा करके कहा कि पाण्डवोंके राज्यशासनमें इस ढंगका योगक्षेम सार्वत्रिक करनेकी चेष्टा अवश्य की जायगी। अर्थात् ऐसे 'गोपालसूनु' ने इस घोषणाके जरिये जनताके सम्मुख प्रस्ताव रखा कि कौरवोंके साम्राज्यशाही शासनप्रबंधकी अपेक्षा पाण्डवोंके स्वराज्यान्तर्गत शासन प्रणालीमें जनसाधारणको कौनसा अधिक सुख मिलनेवाला है। यह 'ग्वालेका बेटा' बडा ही धैर्यसंपन्न दिखाई दे रहा है। ब्रिटिश साम्राज्यकी छत्रछायामें पलनेवाले भारत सरकारके मजदूर-सचिवमें जिस कार्यको करके दिखलानेका साहस सुतरां नहीं है वही गुरुतम कार्य अपने ऊपर लेकर, मैं इसे संपन्न करूँगा ऐसी संशयातीत उद्घोषणा 'ग्वालेके बेटे' ने की है और ऐसा सराहनीय साहस तथा धैर्य देखकर डाक्टर अंबेडकरको सचमुच मारे शर्मके सीस झुका लेना चाहिये था और अपनी अक्षमताकी सावकारी होनेसे तुरन्त वायसराय महोदयके निकट अपने कार्यकारी मंडलके सदस्यत्वका त्यागपत्र भेजना चाहिये

था। भगवान योगीराज श्रीकृष्णजी महाराजका अनुपम साहस तथा प्रशंसनीय लोकसेवातत्परताका निरीक्षण करके लज्जित होना तो दूर रहा, उल्टे वे उनका अपमान करनेमें आगापीछा नहीं करते हैं।

श्रीमद्‌भगवद्‌गीता वास्तवमें 'कुरुक्षेत्रपरसे की गयी श्रीकृष्णजीकी घोषणा (The Charter of Kurukshetra) है जिसमें समूचे संसारके दलित, शोषित तथा पिछडे श्रमजीवि वर्गके योगक्षेमको सुचारुरूपसे चलानेकी जिम्मेवारी ले ली है। पाठक भूले न होंगे कि वर्तमान महासमरके प्रचलित होनेके उपरान्त लगभग दो वर्षोंके बीत जानेपर सन् १९४१ ई० के अगस्त मासमें अमरीकाके अध्यक्ष मि० रूजवेल्ट तथा इंग्लैंडके प्रधान मंत्री संचार-शील मि० चर्चिल महोदयने अतलान्तिक महासागरके किसी अज्ञात स्थलमें कुछ दिनोंतक विचार विनिमय करके एक घोषणा प्रकट कर डाली थी जिसमें उदार एवं मानव-हितकारक तत्त्वोंको मान्यता देनेका अभिनय करके सबको पर्याप्त कार्य तथा जीवन वेतन देना अंगीकृत था। किंतु मि० चर्चिल शीघ्रही स्पष्ट कर गये कि वह घोषणाभी भारतके लिए लागू नहीं तथा दो मास पहले अमरीकाके राष्ट्रपतिने अटलान्टिक चार्टरके अस्तित्वका भण्डाफोड किया, अतः बेचारे डा० अंबेडकर अपनासा मुँह लेकर बैठ गये हों। किंतु ध्यानमें रखनेयोग्य बात है कि कुरुक्षेत्रकी रणभूमिपरसे वीर अर्जुन एवं योगीश्वर श्रीकृष्णके बीच संलाप होनेसे जो घोषणा निकल आयी वह अबतक ज्योंकि त्यों अक्षुण्ण, अटल तथा अडिग है। आजदिनभी संसारके विचारशील पुरुष उसपर निष्ठापूर्वक विश्वास रखते हैं।

असलमें यादव क्षत्रिय वर्णके थे। उन्हें 'ग्वालोंके बेटे' संबोधित करना और गीताको 'ग्वालगाथा' कहना मजदूर सचिव बनकर श्रमिकोंके योगक्षेमकी तनिकभी पर्वाह न करनेवाले महाशयकोही स्यात् शोभा देता होगा। कोईभी विचारशील तथा निष्पक्ष भावसे सोचनेवाला ऐसा कभी नहीं कहेगा।

डा० अंबेडकरने 'गीता राजनीतिप्रचुर ग्रन्थ' है ऐसा बताया है, जो कि नितान्त सत्य है। इसी कारण हमने राष्ट्रीय दृष्टिकोणको ध्यानमें रखकर ऊपर दर्शाये ढंगसे विवेचन किया है। वैदिक धर्ममें, जिसे आजकाल गलतीसे हिन्दुधर्मभी कहते हैं राजनीति है, समाजशास्त्र है तथा मजदूरोंके जीवनवेतनकाभी अन्तर्भाव है। आर्यजातिने राजनीतिसे धर्मको कभी पृथक् नहीं माना, इसी कारण गीतामें राजनीति का निर्देश है अतः वह हिन्दुधर्मका एक श्रेष्ठ ग्रन्थ है और राजनैतिक समस्याएँ कैसे हल की जा सकती हैं सोभी इसमें बताया है। वैदिक धर्मके ग्रन्थोंमें हमेशाही राजनीति देखनेको मिलती है।

तीन गुण और चार वर्ण

सांख्यशास्त्रने तीन गुणोंका प्रतिपादन किया है और इसीके आधारसे श्रीकृष्णजीने चार वर्णोंका चौखूंटा निर्माण किया। इन तीन गुणोसे चार वर्ण कैसे निकल आये यह गणित डा० अंबेडकर हल नहीं करसके। वे कहते है- 'आज-तक किसी विद्वान्‌ने इसकी मीमांसा नहीं की है।' किंतु यह दोष स्वयं डाक्टरजीका ही है। एक सरल धागा लेकर अगर तीन जगह उसे तोड दें तो उसके चारही टुकडे होते हैं और इसे समझनेके लिए गणितका अत्यधिक ज्ञान आव-श्यक नहीं है।

सत्व, रज एवं तम तीन गुणोंसे समूची मानवजातिमें जो उथलपुथल हुई है उसके कारण मानव समाज चार विभागोंमें बँटगया और यह चतुर्विध विभजन ही चातुर्वर्ण्य है। भेदक छेद तीनही दिये अतएव चार विभाग हुए। जैसे वे तीन नहीं होसके वैसेही वे पाँच भी नहीं हुए। क्योंकि तीन गुण हैं अतः उनका चार होना स्वाभाविक है। यहाँपर चातुर्वर्ण्यकी चर्चा करना नहीं है किन्तु उनकी उठायी शंकाका समाधान करना था जोकि ऊपर किया गया है। योरप तथा अमरीकाके मजदूर संघ (Labour-unions) और हमारे यहाँ प्रचलित वर्णोंके बीच राष्ट्रीय एवं आर्थिक दृष्टिसे तुलना करना उद्‌बोधक होगा। परन्तु इसके लिए अब यहाँ स्थान नहीं है।

वेद तथा वेदप्रामाण्य

वेदोंके संबंधमें डा० अंबेडकरने 'ऐसी राय देदी है कि वे मूर्ख एवं पागल लोगोंके बनाये हैं (Vedas are the works of the lunatics and idiots) किन्तु इसे प्रबल एवं अकाट्य प्रमाणोंसे सिद्ध नहीं किया। दूसरे, सभी योरपीय एवं अमरीकन विद्वान् पंडितोंकी राय इनके

बरखिलाफ है । इसलिए ऐसा सोचना कि, डाक्टर साहब इस अपने मतको सत्य सिद्ध करके बतलायेंगे, बेकार है और मिथ्या विधान ये कितनेही बलपूर्वक क्यों न करें, उनसे कुछभी सिद्ध होनेवाला नहीं है । यद्यपि इनका कथन है कि वेदोंका अध्ययन या पठन ये कईबार कर चुके हैं किन्तु वह सत्य नहीं प्रतीत होता है । कारण यही है कि वेदोंके बारेमें इन्होंने जो कुछभी कहा है वह सारा बिलकुल झूठ है । जिन्होंने वेद पढे हों या जिन्होंने वेदोंकी जानकारी प्राप्त की हो वे ऐसे असत्य प्रतिपादन कभी नहीं करेंगे । उदाहरणार्थ—

(१) सिर्फ ब्राह्मण वर्णके लोगही वेदोंको धर्मग्रन्थ मान सकते हैं, ब्राह्मणेतर नहीं; यह प्रतिपादन देखने योग्य है । वेदोंके मंत्र और उनके ऋषि अतिप्राचीन कालसे निश्चित हैं । इन ऋषियोंमें वसिष्ठ, भरद्वाज, गौतम आदि ब्राह्मण ऋषि हैं; विश्वामित्र जैसे प्रारम्भमें क्षत्रिय होकर पश्चात् ब्राह्मण पदको प्राप्त हो ऋषि माने जाते हैं । पुरूर वा तथा उर्वशी सदृश क्षत्रियोंकेभी मंत्र (ऋ. १०।९५) पाये जाते हैं । वाणिज्य व्यवसायमें लगे पणियोंके भी अर्थात् वैश्यके भी मंत्र (१०।१०८) हैं । यास्क महर्षिका कथन है ' पणिर्वणिग्भवति । ' ऋग्वेदके दशम मंडलमें ३० से ३५ सूक्तोंमें द्रष्टा कवष ऐलूष है जिनके बारेमें ऐतरेय ब्राह्मणमें कहा है–

'दास्याः पुत्रः कितवो अब्राह्मणः' अर्थात् वह दासी-पुत्र, जुआरी तथा ब्राह्मणेतर था । इसी कारण इसे प्रथम बहिष्कृत कर रखा था लेकिन जब वह मन्त्र कहने लगा तब उसे यज्ञ मंडपमें लेनेको तैयार हुए, ऐसी कथा पायी जाती है । इस भाँति चारों वर्णोंके द्रष्टा एवं ज्ञाताओंके देखे मंत्र वेदोंमें हैं जिनका अस्वीकार या इनकार कोई नहीं कर सकता । पुरुषोंके तुल्य नारियोंके भी मन्त्र विद्यमान हैं । ऐसी वस्तुस्थिति होनेपर भी ये कहते हैं कि वेद अगर धर्म-ग्रन्थ हो सकता है तो सिर्फ ब्राह्मणोंका ही वह है । अर्थात् यह धर्मग्रन्थ क्या विश्वामित्रका नहीं था ? पुरुरवा उर्वशीके जो मन्त्र ऊपर निर्दिष्ट हैं क्या वे भी उन्हे अमान्य थे ? उसी तरह पणिके और कवष ऐलूषके देखे मंत्र भी उनके द्रष्टा ऋषियोंके लिए क्या अमान्य ही थे ? इतिहास तथा प्रत्यक्ष प्रमाणोंके रहते हुए भी ये इसी तरह निराधार प्रतिपादन करते हैं और फिर कहते हैं कि वेदको इन्होंने पढ लिया है । यदि सचमुच ये वेदको पढ लेते तो भला ये इस ढंगके मिथ्या प्रतिपादन कैसे कर सकते हैं ?

वेदकी रचना पागल लोगोंकी की हुई है ऐसा जो इनका कथन है उसका विचार करना चाहिये । वेदमंत्रोंके ऊपर वामदेव, वसिष्ठ, अत्रि, गौतम, कण्व, भरद्वाज, विश्वामित्र ऐसे उच्च कोटिके महान् ऋषियोंके नाम पाये जाते हैं । इनमें कई स्मृतिकारकी हैसियतसे भी प्रसिद्ध हैं । इनका तिरस्कार आज तक किसीने नहीं किया । ऐसे ऋषियोंको पागल या मूर्ख कहनेसे उन महान् आत्माओंका तनिक भी नुकसान नहीं होगा किन्तु डाक्टर महाशयके मनकी परख तो जरूर होगी और वह हो भी चुकी है । इन ऋषियोंने अपनी दिव्य दृष्टिसे भारतीय तत्त्वज्ञानके जिन अमोघ सिद्धान्तोंको देखा था वे आधुनिक युगके नव्य ज्ञानकी कसौटीसे जाँचने पर सत्य ठहरते हैं अर्थात् नये प्रमाणोंसे उन्हीं तत्त्वोंकी सचाई स्पष्ट जान पडती है । वैदिक संहिताओंमें प्रदर्शित सिद्धान्तोंकी पुष्टि उपनिषदोंने की है और आगे चलकर आचार्योंने उन्हींकी शिक्षा जनताको देनेका प्रयत्न किया । आज दिन योरप अमरीकाके तत्त्वज्ञ नये वैज्ञानिक प्रमाणोंसे फिरसे उनकी ही पुष्टि करने लगे हैं । योरपके दार्शनिक इतिहासका अवलोकन करने लगें तो उपर्युक्त बातकी सचाई ध्यानमें आये बिना न रहेगी । ऐसी दिव्य दृष्टिसे संपन्न ऋषियोंको पागल तथा बेवकूफ कहनेकी ढिठाई सिवा डा० अंबेडकरके किसी भी अन्य विद्वानमें नहीं हो सकती है । इसका एक प्रमुख कारण यही हो सकता है कि इतनी उच्च शिक्षाके संस्कार होने पर भी अभीतक इनकी मनःप्रवृत्ति परिष्कृत नहीं हो पायी है । जन्मजन्मान्तरोंके संस्कार भला एक जन्ममें प्राप्त उच्च शिक्षासे कभी मिटाये जा सकते हैं; बस यही सिद्धान्त डाक्टरजीके ऊटपटाँग प्रलापोंसे अधिक सत्य प्रतीत होता है । इस विश्वमें वैदिक द्रष्टा ऋषियोंकी अमल यशोपताका अटल तथा अडिग सिद्ध हो चुकी है । अतः केवल अंबेडकरके जैसे बे सिरपैरके भाषणोंसे वैदिक ऋषियोंका निर्मल यश कलंकित नहीं हो सकता । सूर्यपर यदि कोई कीचड फेंकनेकी अक्षम्य चेष्टा करे तो भगवान् दैदीप्यमान अंशुमालीका कुछ बिगडता नहीं, उल्टे कीचड उछालनेवालेको अपना मस्तक सँभालना अधिक उचित है ।

उपनिषदोंमें जिस तत्त्वज्ञानप्रणालीका प्रतिपादन किया है वही आज संसारके सभी ज्ञानियोंमें आदरणीय तथा मान्य भी हो चुकी है। सर एस्. राधाकृष्णन् जैसे भारतके प्रकाण्ड पंडितोंने आधुनिक भाषामें उसीका प्रतिपादन किया और संसारके सम्मुख रखा। पहले भी उपनिषदोंका तत्त्वज्ञान जगत्भरमें मान्यता प्राप्त करचुका था। ये उपनिषद्ग्रन्थ अपने प्रतिपादनके पुष्ट्यर्थ वेदसंहितास्थ मंत्रोंका आधार देते हैं। वेदमंत्रोंकी योग्यता इतनी उच्च कोटिकी है इसलिए उनके संबंधमें डा० अंबेडकर कुछ भी कहें, वेदमंत्रोंका उच्चासन रत्तीभरभी हिल नहीं सकता।

इस समय हमें यहाँपर वेदोंसे मंत्र उदधृत करके उनमें उच्चकोटिके तत्वज्ञानके सिद्धान्त कैसे दर्शाये है सो बतलाना नहीं है क्योंकि इस मासिक पत्रने यह कार्य कई बार करके दर्शाया है। अब सिर्फ वैदिक तत्त्वज्ञानके प्रमुख लक्षणके बारेमें तनिक दिग्दर्शन करना उचित जँचता है।

आध्यात्मिक ध्येयवाद

वेदोंमें सामाजिक, राजनैतिक तथा मानवीय प्रगतिके सभी पहलुओंको ध्यानमें रखकर स्पष्टतया आध्यात्मिक ध्येयवादका प्रतिपादन किया है। चूँकि आध्यात्मिक बुनियादपर इसकी रचना हुई है और आध्यात्मिक सिद्धान्त स्थायी है इसलिए भी यह ध्येयवाद शाश्वत एवं सनातन है। आजही उसकी उपयोगिता है और कल वह निरुपयोगी होगा ऐसी बात बिलकुल नहीं। मानवी संघकी अटूट एवं अविरत प्रगति होती रहे इसीलिए इस सिद्धान्तपर निर्भर रहना आवश्यक है। उदाहरणके लिए ऋग्वेदका एक मंत्र 'अहं इन्द्रो न पराजिग्ये' ऋ. १०।४८।५ देख लीजिए। इसका आशय है "मैं इन्द्र हूँ और मेरा पराजय नहीं होगा।" यह मंत्र सूचित करता है कि हर मानवमें जो आत्मशक्ति मौजूद है वह महाशक्तिसंपन्न है। इसीका भावानुवाद 'अहं ब्रह्म अस्मि' इस उपनिषद्वचनने किया है। दोनों वाक्योंका तात्पर्य इतनाही है कि प्रत्येक मानवमें प्रचण्ड, अनूठी, अदम्य शक्ति है। सभी शिक्षासंस्थाओंका प्रमुख कार्य इतनाही होना चाहिये कि प्रत्येक शिक्षासंपन्न मानव इस अपनी अन्तर्निगूढ शक्तिकी अनुभूति प्राप्त करने लगे और इसका यथोचित एवं चरम विकास करते हुए विश्वमें अपना निर्दिष्ट कार्य करता रहे। जो शिक्षाप्रणाली ऐसा बतलाती हो कि मानव एक बडाही नगण्य, हीन दीन एवं तुच्छ जन्तु है, वह समूची अज्ञान लीला है अतः दूरतः परिहरणीय है और जो शिक्षाका ढंग इस गूढ मानवी सा[illegible] यका चरम विकास करनेमें पर्याप्त सहायता पहुँचा सके उसेही अपनाना चाहिये। यही शाश्वत सिद्धान्त है, वे[illegible]की सर्वोच्च शिक्षाभी यही है और वेदका धर्मभी इसके अतिरिक्त और कुछ नहीं। वेदोंके सभी मंत्र इस शक्तिके बढानेमें साधन हो सकते हैं और वेदमें एकभी मंत्र ऐसा नहीं जो इसके विरुद्ध विचार फैलाए।

साधारण जनसमाजतक धर्मका पहुँचना

वेदोंकी भाषा समझनेकी दृष्टिसे बहुत कुछ दुरूह प्रतीत होने लगती है इस कारण, प्राचीन विद्वानोंने इतिहास पुराण ग्रन्थोंकी रचना कर डाली जिसके कारण समूची जनता को वेदोंके उपदेशका रसास्वादन करना तथा वैदिक दृष्टिकोनका परिचय पाना सुगम हो जाय। पिछडी मानव जातिके उद्धारका यह बृहत् कार्य प्राचीन युगमें हुआ और इसी विशाल आन्दोलनको जारी करनेका मतलब यही था कि वेदोंके सिद्धान्त समूची जनताके लिए उपयुक्त हैं अत. सिर्फ दुर्बोध भाषाके कारण विद्वन्मण्डलीतक ही वे सीमित न रहे किन्तु सभी छोटेबडे उनकी अनुपम झाँकी प्राप्त करके पुनीत एवं धन्य बनें। यह आन्दोलन कितना प्रचण्ड था और इसे कितनी पर्याप्त सफलता मिलगयी सो जाननेके लिए देखना होगा कि रामायण, महाभारत तथा सभी पुराणउपपुराणोंके मिलकर आज २५ लक्ष श्लोक लिखे हुए मिलते हैं।

विद्वानोंके लिए तो वेद थे ही। यदि ब्राह्मणोंके दिलमें यह अरमान होता कि दूसरे लोग सत्यसिद्धान्त ज्ञानसे वंचित रहें तो भला इतने लक्षावधि श्लोकोंके लिखनेकी क्या आवश्यकता थी? पर जब ऐसा समय आ पहुँचा कि सिवा ब्राह्मणवर्णके दूसरे लोगोंको वेदका परिचय पाना दुरूह हुआ तो जनसाधारणके लाभार्थ उपयोग करनेके लिए इतने बडे साहित्यका सृजन किया। इस साहित्य निर्मिति के कारण वेदके विशाल सिद्धान्त जनताके निकट पहुँचाये गये। इस महान् साहित्यसंभारकी ओर जो ध्यान देंगे और उसके उद्देश्यको समझेंगे वे उसकी सराहना किये

बिना न रहेंगे ।

प्रारम्भमें वेदभाषाकी दुरूहता बढने लगी और पश्चात् संस्कृतभाषा भी जटिल हो इनेगिने विद्वानोंके वर्तुलमें ही फलने फूलने लगी । इसका नतीजा यही हुआ कि गीर्वाण-भाषामें लिखे हुए इन बृहदाकार ग्रन्थोंसे उचित लाभ उठाना सामान्य जनताको असंभव हुआ। लेकिन यह कोई ग्रन्थकर्ताओंका दोष है, ऐसा नहीं कहसकते। हाँ, चाहिये तो यह था कि दूसरे दूरदर्शी विद्वान इस गुरुतर कार्यको कर लेते किन्तु आगे चलकर वैसे नहीं हुआ।

जैन एवं बौद्धोंका कार्य

इतना सच है कि जैनों तथा बौद्धोंका विशाल कार्य दृष्टिगोचर होने लगता है। इन्होंने जनताके लिए प्रचलित लोकभाषामें ग्रन्थलेखन किया। जिसतरह जनताको शिक्षासंपन्न करनेके स्तुत्य उद्देश्यसे प्रेरित होकर पुराणग्रन्थों-का सृजन किया और उनके जरिये वैदिक सिद्धान्तोंकी शिक्षा जनताको दी गयी वैसेही जैन एवं बौद्ध लेखकोंने लोगोंकी बोलीमें साहित्यलेखन किया। लेकिन वैदिक धर्म-को मटियामेट करनेका दुष्ट उद्देश्य इसकी जडमें था। यहाँपर प्राचीन परंपराका अखंड प्रवाह टूटगया और नितान्त विभिन्न तत्त्व प्रणाली अस्तित्वमें आगयी। इसेही डाक्टर महाशय 'शूद्रोंके धर्म' नामसे विभूषित करते हैं। वेदधर्म ब्राह्मणोंका तो बुद्धधर्म शूद्रोंका है ऐसा जो इनका प्रतिपादन है उसकी समालोचना करनी चाहिये।

किसी भी धर्मके दो प्रमुख विभाग इस तरह किये जा सकते हैं; एक विभागमें कुछ तत्त्वोंका प्रथन होता है तो दूसरेमें आचरणके नियमोंकी व्यवस्था की जाती है। सत्य, प्राणियोंकी हिंसा न करना, अस्तेय, ब्रह्मचर्य सदृश बातोंका अन्तर्भाव दूसरे विभागमें होता है। यह आचरणव्यवस्था सारीकी सारी वेद, उपनिषत्, जैन, बौद्ध, इतना ही नहीं किन्तु ईसाई, इस्लामी तथा अन्य भी धर्मोंमें प्राय. समान ही है। हाँ, यह हो सकता है कि किसीमें एक तत्त्वका अतिरेक हो तो दूसरे धर्ममें उस ओर अपेक्षाकृत कम ध्यान दिया हो। कहनेका मतलब यही है कि जिस विभागको सदाचार नाम देना ठीक है वह सभी धर्मोंमें बहुत करके समान रहता है। अतः इस दृष्टिसे देखनेपर वेदधर्म तथा जैन एवं बौद्धोंके प्रस्थापित धर्मकी आचारप्रणालीमें विशेष भिन्नता नहीं दिखाई देती है अतएव कुछ भी नयापन नहीं पाया जाता है। हाँ, बुद्धधर्मने अहिंसा तत्त्वका खूब बडप्पन प्रस्थापित हो जावे ऐसी चेष्टा जरूर की किन्तु ध्यानमें रहे, जनताने उसका स्वीकार बिलकुल नहीं किया। स्वयं गौतम बुद्ध ही मांसभक्षणसे उत्पन्न अजीर्णके कारण मौतके मुँहमें समागये और प्राय. सारे ही बौद्ध प्रचारक मांस भक्षण करनेवाले थे, जिससे साफ जाहीर होगा कि जनताने अहिंसा को अपनाया नहीं। वास्तवमें देखें तो बुद्धकी विशेषता 'अहिंसा' में है, जो मांसभक्षण कर चुकनेपर ही अक्षुण्ण रहनेवाली थी। बुद्धधर्मके सबसे बडे तथा महत्त्वपूर्ण सिद्धांत को शूद्र जातिने कभी नहीं माना और आज दिन भी वह सर्वत्र अस्वीकृत एवं ठुकराया हुआ है। इस कारण, डाक्टर अंबेडकर कितने भी उच्चस्वरसे गर्जना करे कि बुद्ध धर्म शूद्रोंका है, कोई उस कथनपर रत्तीभर भी विश्वास नहीं रख सकता है क्योंकि वह अत्यन्त असत्य है। बुद्धके प्रमुख सिद्धान्तको उनके अनुयायियोंने ही इस तरह पैरोंतले रौंदा तो शूद्र जातिके आचरणमें वह फलित नहीं हुआ इसलिए कौन अचरजकी बात है? शेष आचरण व्यवहारका धर्म सभी मजहबोंमें समान रूपसे पाया जाता है। तो फिर सवाल यही है कि भला बुद्धधर्मने विशेष कौनसी बात सफलतापूर्वक जनतामें प्रसृत कर दी?

यज्ञसंस्थामें पशुहत्याका जो रोमांचकारी एवं घृणित प्रचलन जारी था उसे बंद करनेकी लालसा भगवान बुद्धके अन्तस्तलमें उमड रही थी और इस सराहनीय कार्यमें उन्हें पर्याप्त सफलताभी मिली। अपने भोजनमें जो मांस भक्षण करना पडता था उसपर पूर्ण एवं आत्यन्तिक बहिष्कार डालनेकी कल्पना उन्हें न सूझी, इसी कारण वे अपने जीवनके अन्ततक मांसाहार कर लेते थे और वैसे मांसभक्षणके अतिरेकसेही विकार होनेपर उन्हें कराल कालके गालमें जाना पडा। भगवान बुद्धके कार्यके संबंधमें इससे अनुमान किया जासकता है।

यज्ञसंस्थापर प्रबल प्रहार करते समय बुद्धने नयी विभिन्न विचार धाराका सूत्रपात किया जिसके कारण वैदिक विचारधारा जनताके आँखोंसे धीरेधीरे ओझल होने लगी। आज भी हिन्दुजाति बुद्ध विचारोंसेही अत्यधिक प्रभावित हुई है नकि वेदमें प्रदर्शित शुद्ध एवं उत्साहवर्धक विचार-

प्रवाहसे। हिन्दुजातिके दिलपरसे वैदिक दृष्टिकोण एवं विचारधाराका प्रभाव लगभग मिटही गया है। यद्यपि हिन्दु लोग अपने आपको वैदिक धर्मी कहते हैं, लेकिन सचमुच उनका अन्तस्तल बौद्ध विचारोंसे प्रभावित तथा व्याप्त है।

यद्यपि डा० अम्बेडकरका ख्याल है कि वैदिक धर्म ब्राह्मणोंका तथा बौद्ध धर्म शूद्रोंका है किंतु आज सच्ची हालत यही है कि, क्या ब्राह्मणवर्गमें क्या शूद्रजातिमें, दोनोंपरही बौद्ध विचारप्रणालीका जबर्दस्त प्रभाव पडा है और ब्राह्मण जातिभी स्वयं वैदिक विचारसरणीसे नितान्त अपरिचित है। यह बात बेशक सच है कि बौद्धधर्मका इतना घोर तथा शोचनीय प्रभाव समूचे भारतपर पडा हुआ है। बुद्धने जो प्रखर एव प्रबल तथा प्रमाथी प्रहारोंका ताँतासा लगाया था उससे अपनी सुरक्षा करनेके कई प्रयत्न वैदिक धर्मने अनेक वार किये थे परन्तु बडीही अफसोसकी बात है, हिन्दु जाति उन प्रयत्नोंमें तनिक भी सफलता नहीं पासकी। इसके कटु फल भारतको पिछले दो सहस्र वर्षोंसे भोगने पडे हैं और आजभी उस दूरतः परिहरणीय विचारधारासे छुटकारा पाकर वैदिक सुविचारके आलोकमें आनेका सुअवसर दिखाई नहीं देरहा है।

वैदिक सत्य सिद्धान्त एवं सुविचार— 'यह सारा विश्व आनन्दसे उत्पन्न हुआ है, आनन्दके कारणही वह जीवित है और आनन्दमेंही वह जाकर लीन होगा।' यह कितना उच्च एवं उत्साहवर्धक है। अब बुद्ध-सिद्धान्तपर तनिक दृष्टिपात कीजिए। वह है– 'यह सारा जगत् दुःख भोगनेके लिए अस्तित्वमें आया है; रातदिन दुःखकी भीषण खाईमें जीवको जल मरना पडता है, दुःखशोककी भयावह अग्निकी लपटोंमें झुलसना जीवके भाग्यमें बदा हैं। इस संसारमें दुःख, शोक, क्षणिकता एवं विनाशके सिवा दूसरा है ही क्या?' सर्वं क्षणिकं सर्वं दुःखं; बस यही बुद्धका तत्त्वज्ञान (?) है। इसमें तत्त्वज्ञानकी लेशमात्रभी झाँकी नहीं, किसीभी उत्साहवर्धक बातकी तनिकभी झलक नहीं। केवल मात्र घोर निराश एवं भीषण दुःखके फंदेमें बुरीतरह जकडे हुए ऐसे इनके ये विचार हैं। इन बुद्धमहाशयको स्वयं रत्तीभरभी ज्ञान नहीं था लेकिन स्वयं अज्ञानतिमिराच्छन्न दशामें रहकर इन्होंने दूसरोंको भ्रमकी खाईमें धकेल दिया और बडी भारी विकारवशताके चँगुलमें रहकर सारे संसारको ऐसे हीन, दीन तत्त्वज्ञानके गर्तमें फेंकदिया कि जबतक जनता इस तरह के कुविचार जालमें फँसी रहेगी तबतक उसके पुनरुत्थानकी लेशमात्रभी आशा करना बेकार है। बुद्धपूर्व युगमें निस्सन्देह यज्ञोंमें पशुहत्याका ताण्डवनृत्य भारतभूपर प्रचलित था अतः संसारका दिल उनसे ऊब गया तो कोई आश्चर्यकी बात नहीं। इसी कारण ज्योंही भगवान बुद्धने अहिंसाका डिंडिम नाद करना शुरु किया, तुरन्त लोग मंत्रमुग्धसे हो उनके पीछे हो लिए। परन्तु ऐसा करनेमें उच्च तत्त्व-ज्ञानका शोचनीय त्याग हो रहा है और हीन विचार प्रणालीका अलक्षित ढंगसे अपने अन्तस्तलपर प्रमाथी प्रभाव जम रहा है, इतनी जानकारी होनेके लिए शताब्दियाँ बीत गयीं। सच बात तो यह है कि भगवान बुद्धके समय परिस्थिति उनके बिलकुल अनुकूल थी। लेकिन ऐसा समझ लेना कि, उसी कारण बुद्धकी विचारसरणी निर्दोष एवं उत्कृष्ट थी, बडी भारी गलती है।

वैदिक विचारसरणीसे नितान्त ही विभिन्न विचारप्रणाली का प्रचलन होने लगा, जो कि इस भाँति है– 'यह समूचा संसार दुःखमय है, असार है। दुनिया क्षणभंगुर एवं अशाश्वत है। पूर्व जन्ममें किये कर्मोंका फल भोगनेके लिए देह धारण करके मानव जन्म लेता है। इस फल भोगको सर्व प्रथम टालना चाहिये, इसलिए विवाहबद्ध हो गृहस्थाश्रममें प्रवेश करना ठीक नहीं। वासनाओंको जडमूलसे विनष्ट करना उचित है। दो दिनकी है दुनिया सारी।'

वेदधर्मकी सर्वोपरि श्रेष्ठ विचारधारा यूं है– 'यह सारा विश्व परमपिता परमात्माकाही स्वरूप है अतः वह संपूर्णतया आनन्दमय है। यज्ञको भलीभाँति संपन्न करनेके स्पृहणीय हेतुसे मानवका जन्म हुआ है। परमात्मा स्वयं विश्वव्यापक यज्ञ करनेमें निरत है। इसमें मानवके सिपुर्द जो भाग है उसे भलीभाँति निबाहकर अर्थात् परमात्माकी बृहदायोजनाके (The grand & great design of the Supreme Reality) एक छोटेसे अंशको पूर्ण करके मानवजन्मको सफल तथा चरितार्थ किया जा सकता है। गृहस्थाश्रम श्रेष्ठ है और पुत्रजन्म हुए बिना शुभगति कैसे? परमात्मस्वरूपसे अपना जीवन संलग्न है, दोनोंके

मध्य अटूट संबंध प्रस्थापित है। इस अभिन्नताकी अनुभूति लेनाही जीवनकी सार्थकता है। इस मानवी जीवनकालमें कई तरहके पुरुषार्थ करके ही जीवनसाफल्य संपन्न करना चाहिये।" जबतक ऐसी विचारधाराका प्राबल्य रहा तबतक संसारमें सुखभोग प्राप्त करने चाहिये, दीर्घजीवि बनना ठीक है, समूचे मानवोंमें पारस्परिक सेवाद्वारा सुखमय जीवनका प्रसार होना है ऐसा माना जाता था। बुद्धने इस दृष्टिकोणपरही प्रबल कुठाराघात करके प्रगतिकी संभ नीयताको मिटा देनेमें बडी शोचनीय सफलता हासिल की और क्षणभंगुर संसार, सारहीन विश्व तथा नाशवान जीवनकी उदास कल्पनासे उत्पन्न निराशावादी तत्त्वज्ञानको संसारके सम्मुख पेश किया। इसका दुःखद परिणाम यही हुआ कि सचमुच जनता मोहावेशमें आकर आकृष्ट हुई। क्षणभंगुर तथा दो दिनकी इस दुनियामें कुछ करके दिखानेकी लालसा भला किस मानवके दिलमें उपजेगी? समूची जनता परलोककी ओर टकटकी बाँधकर देखने लगी। और इहलोकपरसे उसका ध्यान पूरी तरह हट गया। इसी कारण सारा भारतदेश जो एक बार पुरुषार्थ हीन बन गया सो अबतक अपना मस्तक ऊँचा करनेमें अतीव असमर्थ दीख पडता है। ऐसी शोचनीय एवं दुःखद भीषणीय दशा प्रस्थापित करनेका उत्तरदायित्व स्वयं भगवान् बुद्धपर ही है।

पिछले ढाई-दो हजार वर्षोंमें यह क्षणिक संसारवाद इतना प्रबल हो बैठा है कि बिना उसका उल्लेख किये कथाकीर्तन-व्याख्यान-प्रवचन नीरस एवं सूनेसे प्रतीत होते हैं। लोग यद्यपि अपने व्यवहार करते हैं तथापि इनके दिलपर बुद्धधर्म प्रचारित नश्वरसंसारवादकी बडी गहरी तथा अमिट छाप बैठी हुई है और वेद प्रतिपादित सत्य एवं प्रतिपल वर्धिष्णुताके भाव मनमें जगानेवाले सिद्धान्त जनताके सामने रखनेकी कोशिश करने लगें तो उसे यह बडा ही अजीबसा प्रतीत होता है।

डा० अम्बेडकर भले ही कहें कि बुद्धधर्म शूद्रोंके लिए अस्तित्वमें आ गया किन्तु हमारा अकाट्य मन्तव्य तथा कथन यही है कि वह शूद्र तथा दलित श्रेणीके लोगोंका भी धर्म न था। बुद्धने जिस निराशावादका प्रचार किया उस के कारण मानव पुरुषार्थ रहित, निकम्मा हुआ है। मानव को विशिष्ट कार्य तथा प्रयत्नमें प्रवृत्त करके प्रगतिशील होनेकी प्रेरणा करनेवाली कोई बात बुद्धधर्ममें नहीं है किंतु 'इच्छाओंका त्याग करो, वासनाओंको दबादो तो तुम पूर्ण सुखी बनोगे' ऐसा बारंबार धीरगंभीर ध्वनिसे बलपूर्वक और बडी कडकती जोशीली वाणीसे जनताके दिलमें ठूँसनेका प्रयत्न करें तो वह जरूर सफल होगा और प्रयत्नपुरुषार्थ करनेके बजाय अगर चुपचाप एकान्त स्थलमें बैठकर इच्छा दमन करनेकी निष्क्रिय चेष्टा करके शाश्वत सुख मिलसके तो जनता अवश्य उधर प्रवृत्त होगी। सतत पुरुषार्थ करनेके भावसे जनता सहजहीमें ऊब जाती है अतः उसके सामने अगर 'इच्छा छोडदो और कर्म करनाभी बंद करना ठीक है तो मुक्ति पाओगे,' यह कथन रखें तो तुरन्त उसका ध्यान इधर आकर्षित होगा क्योंकि यह बडा आसान प्रतीत होता है। जिधर देखें उधर विहार निकलने लगे, यत्रतत्र बौद्ध भिक्षु एवं भिक्षुकिणी संघ प्रस्थापित होने लगे। सबके सम्मुख 'वासना त्याग' इतनाही एक मार्ग दिखाई देने लगा, जिसका परिणाम पुरुषार्थराहित्यमें हुआ तो कौन अचम्भेकी बात है? बुद्धधर्मके इस 'सर्वं दुःखं, सर्वं क्षणिकं' तत्त्वज्ञानसे किसीकाभी कल्याण होनेवाला नहीं था। अत. ऐसी कल्पना करना कि उससे किसी एक जनसमुदायका हित हुआ हो निरी भूल है। इतनाही क्यों किन्तु यह भारत देश अभीतक उसी घातुक तत्त्वज्ञानको सरपर लेकर 'दो दिनकी है दुनिया सारी' क्षणभंगुर है संसार प्यारे, क्षणभंगुर संसार' कहता बैठा है और उन्नतिके ऊँचे शिखरपर जानेकी चेष्टा करनेके स्थानपर अधोगतिके गर्तमें प्रबल वेगसे गिर रहा है।

बुद्धतत्त्वज्ञान एवं वैदिक तत्त्वज्ञानके मध्य जो यह चौडी खाई फैली है, जो मौलिक विभेद है उसपर डा० अंबेडकर खूब सोचें और यदि वे दूसरा कुछभी भला कार्य नहीं कर सकते हों, तो कमसे कम अपने समाजको इस बुद्धप्रणीत भ्रामक तथा दूषित अज्ञानतिमिरके पाशसे छुडाकर वेदके उज्ज्वल आलोकमें लेचलें। यहाँपर वेदपठनके अधिकार या अनधिकारके संबंधमें हमें कुछ कहना नहीं है। किन्तु वेदधर्म प्रणीत विचारसरणीको वे अपना लें और सोचें कि 'यह विश्व परमात्मस्वरूप है, जिसमें जन्म लेकर पुरुषार्थ करने चाहिये, अपनी यत्नपरंपरासे सभी सुधार किये जाते

हैं क्योंकि प्रयत्नही उद्धारकर्ता है, अपने भीतर मौजूद आत्मशक्ति अतिप्रचंड है जिसे दबाना किसीकोभी संभव नहीं इसलिए उसका चरम विकास करनेको हमेशा उद्यत रहना है ' ऐसी विचारधारासे समूची मानवताका अविषम-भावसे हित एवं कल्याण हो सकता है या नहीं। वेदमंत्रोंका हार्द भलीभाँति समझ लेना शायद डा० अंबेडकरके लियेभी दूभर हो, फिर उनके अनुयायियोंकी बातही दूर रही। किंतु उक्त ख्यालातको फैलाना उनके लिए कोई कठिन बात नहीं। बुद्ध विचार प्रवाहके अनुसार यह सारा प्रपंच दुःखमय है अतः उससे प्रभावित मानवसंघ संसारसे ऊब जाता है। वैदिक धर्ममें प्रतिपादित दृष्टिकोण विश्वको आनन्दमय मान-नेकी अमूल्य शिक्षा देता है। इसीकारण वह मानवके चित्तमें ऐसा उत्साह तथा उमंग पैदा करता है कि विश्वमें निरोगी बनकर दीर्घजीवन प्राप्त करके प्रचंड पुरुषार्थ करने चाहिये। यदि यहाँपर बतलायी दो विचार प्रणालियोंको समझनेकी क्षमता डाक्टरसाहबमें हो तो वे अवश्य इनका खूब विचार करें तथा उनके अनुगामी भी उक्त द्विविध विचारप्रणालियों की यथेष्ट चर्चा करें। पश्चात् यदि वे चाहें तो बुद्धका दृष्टिकोण अपनाकर क्षणभंगुर बनें या वैदिक विचारके आलोकसे आनन्दपूर्ण हो जायँ।

वैदिक ऋषियोंको उन्होंने मूर्ख और पागल (Stupid and idiot) विशेषण दे रखा है ! तथापि हमारी दृष्टिमें याने वैदिक धर्मकी निगाहमें इनमें भी ' विजयी इन्द्रका अंश ' है ही और ' ब्रह्मका अंश भी ' है। यदि आज वह जाग्रत न हो तो कल जरूरही जागृत होगा और वही बुद्धप्रणीत दुःखमय क्षणभंगुरवादका पूर्ण त्याग करके वैदिक द्रष्टाओंके सत्-चित्-आनन्द वादको अपनानेके लिए उन्हें प्रवृत्त करेगा।

तत्त्वज्ञानप्रणालीका महत्त्व

ध्यानमें रखना चाहिये कि जिस देशमें जिस ढंगका तत्त्व-ज्ञान प्रचलित रहता है उसीके अनुसार वह देश बनता है। आजादिन योरपमें रूसका साम्यवाद, ब्रिटिश जातिका पूँजी-वाद तथा जर्मनीका राष्ट्रीयसमाजवाद परस्पर भीषण मार-काटमें लगे हैं। योरपकी रक्तरंजित रणभूमिपर आज निर्णय हो रहा है कि आगे चलकर संसारमें कौनसा तत्त्वज्ञान प्रभाव-शाली ठहरेगा। यद्यपि आज रूस देश ध्येयच्युत हुआ है तथापि हमारी यही हार्दिक कामना है कि 'भविष्यके संसार में साम्यवादी तत्त्वज्ञान ही जीवित, जाग्रत होकर पनपता रहे ' क्योंकि हमारी रायमें रशियन साम्यवाद वैदिक आध्यात्मिक-समत्व-बुद्धिवादके किन्हीं अंशोंमें निकट है। भगवद्गीताने यही साम्यबुद्धि बतलायी है। वास्तवमें यही मौलिकरूपसे वैदिक साम्यबुद्धि है। गीताने कुरुक्षेत्रके विख्यात रणांगणपर सबके हित एवं कल्याणकी कामनासे उसे उद्घोषित किया। कुछ शताब्दियोंतक उसका प्रसार हुआ लेकिन मानवसुलभ प्रमादकी वजहसे आगे वह लुप्त-प्राय हुई। किन्तु हर्षकी बात है कि वह घोषणा आज हमारे निकट है और उसका यथावत् स्वरूप जानलेना हमारे लिए असंभव बिलकुल नहीं है और हमारा सुदृढ एवं अटल सु-विश्वास है कि उसीके प्रचारसे प्रतिपल धधकते हुए युद्धा-ग्निमें झुलसते हुए दुर्दैवी समूचे विश्वमें शान्ति सुखकी अमिय धार अविरतरूपसे बहने लगेगी।

बुद्धके प्रणीत वैचारिक दृष्टिकोण एवं कथनको तत्त्वज्ञान नाम देना भी उचित नहीं जँचता है किन्तु क्या करें, आज धर्मके नाते वह विचारप्रवाह किन्हीं अंशोंमें प्रचलित है इसीलिए निरुपाय होकर बुद्धका तत्त्वज्ञान ऐसा प्रयोग करना पडा है। सच पूछें तो जैनबौद्धोंके निकट 'तत्त्वज्ञान' पदपर आरूढ हो ऐसा कुछ भी नहीं है। संसारकी समस्या को सुलझानेमें वे बराबर अक्षम रहे और उनकी फैलायी विचारप्रणालीसे शायद ही किसीका कल्याण हुआ हो। हाँ, यह बात बेशक स्वीकार करनी पडेगी कि उसीको अपनाने से भारतदेशकी गिरावट हुई है।

अपने दुश्मनोंको घरमें लेनेका दुस्साहस बौद्धोंने किया, शत्रुदलको भारतमें भीषण हत्याकाण्ड मचानेको अवसर दिया और अपनी शोचनीय दुर्बलताका प्रदर्शन यावत् शक्य सुदीर्घ कालतक किया। अतः इसके आगे इस तत्त्वज्ञानको संपूर्ण मनोयोगपूर्वक तिलाञ्जलि दिये बिना भारतका तरण होगा ऐसी आशा नहीं है। क्या अचम्भेकी बात है, डाक्टर अम्बेडकर जैसे प्रगाढ पण्डित भी भ्रान्त बनकर बुद्धधर्म जैसे निरुत्साहवर्धक धर्म (?) को अपनाकर हीन, दीन विचारसरणीको गले लगाते हैं और चूँकि उनके नेतापनपर समूचे हरिजनोंका अटल विश्वास है, इस कारण शोकास्पद संभवनीयता यही दीख पडती है कि भारतीय जनसंख्याका

एक बृहत् विभाग फिरसे बुद्धके निर्मित उत्साह हीन, दीन तत्त्वज्ञानके भयावह चँगुलमें फँसकर पतित एवं क्षति ग्रस्त हो उठेगा। पिछले दो सहस्र वर्षोंसे भारतको इसकी अनुभूति पर्याप्त मात्रामें मिल चुकी है। इसीलिए डाक्टर महाशय तथा उनके अनुयायियोंको हम इसी समय 'सतर्क रहो, होशियार बनो' ऐसी चेतावनी देना ठीक समझते हैं।

देखो तो वेदका धर्म धीरगंभीर ध्वनिसे समूचे मानवसमाजको क्या सन्देश दे रहा है -

रुचं नो धेहि ब्राह्मणेषु रुचं राजसु नस्कृधि।
रुचं विश्येषु शूद्रेषु . . (वाजसनेयी यजुर्वेद)
प्रियं सर्वस्य पश्यत उत शूद्र उतार्ये...।
(अथर्व)

" ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य एवं शूद्रमें तेजस्विता बढे तथा शूद्र जाति एवं आर्य श्रेणीके लोक प्रिय होनेका सुयोग प्राप्त हो।" ऐसा यह वेदधर्म किसी एक जातिके लिए कहा हो ऐसी बात बिलकुल नहीं क्योंकि इस सर्वोपरि वैदिक धर्म का एक मात्र उद्देश्य समूची मानव जातिका हित करना ही है। 'सारा मानवसमाज' यही वेदका परमात्मा है और ऐसा धर्म भला क्यूंकर किसीको दूर करेगा या हीन दशामें सदाके लिए रखेगा।

डा० अंबेडकरने अपने छोटेसे अभिभाषणमें इतनी भूलें की है तथा इतने असार विधान किये हैं कि उनका यथोचित जवाब देनेके लिए एक बडी भारी पोथी लिख डालनी पडेगी। उनका हरएक वचन गलत है। उन्होंने वेद भलेही पढ लिये हों लेकिन वेदोंका सच्चा हार्द समझनेमें इन्हें सफलता न मिली यह स्पष्ट है और कोई अचम्भेकी बात सुतरां नहीं क्योंकि वैदिक भाषा, प्रतिपादन शैली तथा विचारसरणी शीघ्र ध्यानमें आ जाय ऐसी नहीं है। इसी कारण उन्होंने जो अशुद्ध विधान किये हैं वे क्षम्य माने जा सकते हैं। लेकिन सबसे बडी आश्चर्य एवं खेदकी बात यही है कि कुरुक्षेत्रकी विश्ववन्द्य घोषणा गीतामें निर्दिष्ट समत्वकी सिखावनकी भी खिल्ली उडानेमें वे अपना गौरव मानते हैं और श्रीकृष्ण भगवान् जैसे लोकोत्तर महापुरुषको भी 'ग्वालेका बेटा' कहनेमें झिझकते नहीं तथा गीताको भी 'ग्वालोंकी गाथा' बतानेमें सोच- विचारका शोचनीय अभाव ही दर्शाते हैं, इससे अधिक अनुचित बात भला और क्या हो सकती है ?

जिस पदपर डाक्टरसाहब आज विराजमान हैं उसे प्राप्त करके इस ढंगके सारहीन, निराधार विधान वक्तृतामें करना नितान्त अनुचित है और जिस हरिजन संघके वे नेता हैं उसकी प्रगतिकी दृष्टिसे जो अयोग्य विचारसरणी है उसका अंगीकार करना तो उससेभी ज्यादा हानिकारक है।

इसीलिए इस लेखमें हमने गीता एवं वेदमें निर्दिष्ट विचारसरणीका तनिकसा दिग्दर्शक करचुकनेपर उनके प्यारे बुद्धधर्मकीभी संक्षेपमें समालोचना की है। हमें पूर्ण आशा है कि डाक्टर महोदय इसपर खूब सोचेंगे और भविष्यमें जिधर कहींभी जोशीली वक्तृता देनेका अवसर मिले उधर पर्याप्त विचार करकेही बडे सतर्क होकर अभिभाषण देना प्रारंभ करेंगे।

आजदिन यह सच बात है कि हिन्दुजाति वेदप्रतिपादित तथा गीतानिर्दिष्ट धर्मसे कोसों दूर रही है किंतु इसका कारण क्या है सोभी देखना अत्यन्त आवश्यक है। हिन्दुजातिपर बुद्धप्रणीत विचारसरणीकी जो गहरी एवं शोचनीय ढंगसे अमिट छाप अंकित हुई है उसीके कारण वह वैदिक धर्म एवं गीताधर्मको अव्यवहार्य समझने लगी है। इसी कारण हमारी यही हार्दिक मनोकामना है कि डाक्टर बी. आर्. अंबेडकर जैसे उच्च पदासीन एवं प्रगाढ विद्वान् फिरसे वही भूल न कर ले।

निरुपयोगी समझकर उपेक्षित दशामें रखे हुए

गीतास्थ प्रथम× अध्यायमें विद्यमान ऐतिहासिक पार्श्वभूमिका महत्त्व

(लेखक— प्राध्यापक **वि० ब० आठवले,** M. Sc, F. R. G. S. (London)

हंसराज प्रागजी ठाकरसी कालेज, नासिक नगर.)

(अनुवादक— श्री. पं. **दयानन्द गणेश धारेश्वर,** बी. ए.)

ऐतिहासिक प्रमाणोंके प्रबल आधारपर पिछले लेखोंमें हमने यह निर्विवाद सिद्ध कर दर्शाया कि, कृष्णद्वैपायन व्यासजीने गीताका जो पृथक् लेखन किया था उसका उद्देश्य यही था कि ऋग्वेदकालमें प्रजापतिने 'जन तथा जनाधिप' के मिलनसे जिस चातुर्वर्ण्य समाजरूपी + यज्ञपुरुषका सृजन किया था उसके चारों अवयवोंमे प्रस्थापित योगरूपी स्निग्ध तेल 'महता कालेन' विनष्टप्राय हो चला था इस कारण कुछ ढीलापन दृष्टिगोचर होने लगा अतः उस शिथिलता (ग्लानि) को हटाया जावे और वह समाजरथ पुनः भलीप्रकार जीवनपथपर आरूढ हो आगे बढता रहे। जय नामक ऐतिहासिक ग्रन्थसे इस 'अध्यात्मविद्यायां योगशास्त्र' का कुछभी सरोकार न था। इस लेखमें इन प्रश्नोंका तनिक विवेचन करूंगा कि संलापरूपमें इस अध्यात्मशास्त्रको भला क्यों प्रस्तुत किया और वैसेही पहले अध्यायमें युद्धप्रसंग ले लेनेका क्या प्रयोजन है। मै आगे यह भी बतलाऊंगा कि यद्यपि पुराने ऐतिहासिक भागके लिए गीताने ऋक् वाङ्मयका उपयोग किया तो भी तत्त्वज्ञान, परिभाषिक पद तथा विषयविवेचनप्रणालीके संबंधमें गीताने 'कठ श्वेताश्वतर एवं मुण्डक' उपनिषदोंका अनुकरण किया है और लगभग ४० उल्लेख गीताने 'आहुः' 'प्राहुः' कहके इन उपनिषदोंसे उद्धृत किये है। संलापरूपमें अध्यात्म तथा अधिदैवतकी चर्चा पेश करनेका ढंग उपनिषदोंका है। इसलिए इस शास्त्रकी रचना संलापके ढंगपर हुई है वह बिलकुल ठीक है। हा, गीतामें दृश्यमान वार्तालापकी विशेषता है निरी काल्पनिक पृष्ठभूमिपर इसे चित्रित न करते हुए व्यासजीके कालमें जो 'कृष्णार्जुन' युगल सुविख्यात था उनके बीच तथा एक ऐतिहासिक मौकेपर यह बातचीत हुई ऐसा दर्शाना। भला द्वन्द्वमोह क्या है और कविगण भी कैसे उलझनमे पडते है...

पुरुषस्य विपश्चितः प्रमाथीनि इन्द्रियाणि मनः प्रसभं हरन्ति । वगैरहका सिर्फ कल्पनाप्रसूत वर्णन न देकर वैसी घटनाको लेकर विषयविन्यास करनेमे व्यासजीने अपनी कुशलताका अच्छा परिचय दिया है। अठारहवे अध्यायमें तामसी बुद्धि, तामसी धृतिकी व्याख्याएं दी है जिनका मानो प्रत्यक्ष उदाहरण देनेके हेतु प्रथम अध्यायमें अर्जुनके क्लैब्य तथा मोहका वर्णन किया है। उसी तरह, नीति या साधुवृत्ति और युद्धमें विजय दोनोंके मध्य जो संबंध है वह भी, पाण्डवदलका वर्णन करते समय तथा धार्तराष्ट्रोंका बखान करते हुए, बडी कुशलतापूर्वक पदावलीके प्रयोगद्वारा पगपगपर पाण्डवदलका साधुतासे निकटतम संपर्क था और दुर्योधनका दिल

× अकतूबर मासके 'वैदिक धर्म' में ४८४ पृष्ठपर प्रथम अध्यायपर जो आक्षेप उठाये गये है वे दिये है। इस लेखमें उनका यथोचित उत्तर देनेकी चेष्टा की गयी है।

+ एक स्वतंत्र लेखमें मैं यह दर्शाऊंगा कि '**यज्ञः प्राजापत्यः, यज्ञो वै विष्णुः, 'ब्राह्मणोऽस्य मुखमासीत्'** जैसे वेदोंमें उपलब्ध ऐतिहासिक आधारपर गीताने 'चातुर्वर्ण्यं मया सृष्टं' सर्वगतं ब्रह्म नित्यं यज्ञे प्रतिष्ठितं' सदृश विधान यज्ञ एवं समाजके बारेमें किये हैं।

अपराधी होनेके कारण किस तरह सिसकता था, साराही बडी मार्मिकतासे चित्रित कर बतलाया है। पहले अध्यायके ४७ श्लोकों तथा दूसरे अध्यायके पहले १० श्लोकोंमें याने सिर्फ ५७ श्लोकोंमेंही किस प्रकार उपर्युक्त सारा वर्णन समाप्त करके दर्शाया है सो अब सूक्ष्म दृष्टिसे देखना शुरू करेंगे।

पीछे बताया जा चुका है कि गीतामें जो संलाप हैं वह केवल कृष्णार्जुन-संलापही नहीं है अपितु द्विविध वार्तालापका ग्रथन गीतामें हुआ है। इस दोहरे संलापके रखनेमें व्यासजी॰ की जो कुशलता है वह यूं है- नरेश धृतराष्ट्र तथा अपने शिष्य संजयके बीच होनेवाले वार्तालापकोही प्रारंभमें रखनेसे, उस शिष्यके द्वारा ' इस गुह्यतम शास्त्रका कर्ता ' ऐसा बतलाकर अपना नाम सुझाना व्यासजीको संभव हुआ। उसी प्रकार ' द्वैपायन (कृष्ण) तथा वासुदेव (कृष्ण) ' इस ढंगके अपने तथा श्रीकृष्णजीके नाम सादृश्यसे लाभ उठाकर '**वृष्णीनां वासुदेवः**' की पंक्तिमें '**मुनीनामप्यहं व्यासः**' स्वयं जा बैठे। इतनाही नहीं किन्तु ' देवर्षिः नारदः, असितो देवलो, व्यासो ' मालिकामें देवर्षि नारदकी कतारमें अपना नाम दर्ज कर गये। उपसंवादके तौरपर अपने शिष्यके द्वारा यह सब बताकर अहंकारके संभवनीय दोषसे स्वयं संपूर्णतया अछूते रह गये। दोहरे संलापका दूसरा भी एक महत्त्व है जिसे समझनेके लिए आजकल इन्डक्शन् कॉईल (Induction Coil) नामक एक विद्युत् यंत्र है उसका दृष्टान्त देना उचित होगा। इस यंत्रको हिन्दीमें बिना लगावके बिजली भेजनेवाला पेच या लच्छा कह सकते है। इसमें एक प्रथम लच्छेपर (Primary Coil) दूसरा गौण लच्छा (Secondary Coil) लपेटा हुआ रहता है। अब प्रायमरी कॉइलमें जिससमय विद्युत्प्रवाह अत्यन्त सूक्ष्म प्रमाणमें शुरू हुआ कि तुरन्त सेकंडरी कॉइलमेंसे हाई वॉल्टेज (High voltage) के स्फुलिंग उडने लगते है। हॉ, तो धृतराष्ट्र तथा संजयके मध्य जो वार्तालाप है वह अर्थातही प्रायमरी कॉइलमें बहनेवाला विद्युत्प्रवाह और कृष्णार्जुनके सख्यत्वका सूत्र सेकंडरी कॉइल हुआ। श्रीकृष्णजी हाई पोटेन्शयल (High Potential) का टर्मिनल (Terminal) है तो अर्जुन Earthed terminal है। जिस समय स्वजनोंके मोहके चंगुलमें फंसकर वीर अर्जुन शस्त्रत्याग करके भूमिपर बैठ गया तब श्रीकृष्णजीका Potential इतना बढगया कि उनके मुखारविंदसे अध्यात्मज्ञानके ' क्ष ' आलोककिरण बाहर निकल पडे।

गीताका प्रारंभ ' धर्मक्षेत्रे कुरुक्षेत्रे ' ऐसा है। शायद कई लोगोंकी ऐसी राय हो कि, धर्मराजने उधर धर्मयुद्ध किया अतः उसे धर्मक्षेत्र अभिधान दिया गया, किन्तु बात ऐसी नहीं है। युधिष्ठिर नरेशको व्यासजीने धर्मराज नहीं कहा अपितु २५०० वर्षोंके पश्चात् सौतिने वह विशेषण उनके पीछे लगाया ऐसा मैंने पिछले लेखमें बताया है। वेदकालसे लेकर जो पवित्र पावन एवं सुप्रसिद्ध सरस्वती नदी थी वह पाण्डवोंके युद्धके पश्चात् ३६ वर्ष बीत जानेपर भूचालकी ठेस लगजानेसे जिस जगह लुप्त हुई थी (पल्यगूहुर्महानद्यः) उस स्थानपर विद्यमान पवित्र स्थान कुरुक्षेत्र है। इसी स्थानपर कुरुवंशके मूल संस्थापक कुरु नामक पुरुषने तपश्चर्या की थी। धर्मसंमूढचेता वीर अर्जुनसे ' धर्म्य ' संलाप करके उसे ' धर्म्यं सुसुखं कर्तुमव्यय ' ढंगका जो राजगुह्य बताया वह धर्मक्षेत्रमें तथा यह निवेदन धर्म्य संग्राममें हुआ, और पार्श्वभूमिका स्वरूप यही है। इससे व्यासजीका शब्दविन्यास चातुरीका परिचय होगा और उसीप्रकार पार्श्वभूमिका महत्त्व भी ध्यानमें आयेगा। व्यासजीकी अनुपम कुशलता इसीमें है कि ' धर्म्यसंवाद ' का प्रारंभ करते समयभी ऐतिहासिक विपर्यास न करके ' धर्म ' शब्दकोही प्रथमतः रखा।

अर्जुनतुल्य शूर, धीर नर भी किन्हीं अवसरोंपर ' किं कर्म किं अकर्म ' इसतरह उलझनमें पडकर कैसे किं- कर्तव्यमूढ होते हैं सो दर्शाना है और उसीतरह यह भी स्पष्ट करना है कि पाण्डवदलमें साधुता थी किन्तु धार्तराष्ट्रोंके पक्षमें अनीति एवं दौरात्म्य था अतः व्यासजीने ' अध्यात्मविद्या ' की चर्चाके लिए प्रत्यक्ष हुए युद्धकीही ऐतिहासिक पार्श्वभित्तिक आदान किया। इसी कारण गीतामें ' युध् ' कियापद पंद्रह बार प्रयुक्त है। और दूसरे, तीसरे, आठवे, ग्यारहवे तथा अठारहवे अध्यायोंमें मिलकर कुल ९ बार अर्जुनसे कहा ' तू युद्ध कर ' इतनाही नहीं किन्तु ' यह धर्मयुद्ध यदृच्छासे प्राप्त हुआ है, यदि तुम न **करोगे** तो **पाप** लगेगा ' ऐसा भी कहा है। अठारहवे अध्यायमें तो साफ तौरसे ऐसा कहा कि ' तेरी धारणा स्यात् यूं होगी, मैं नहीं लडूंगा, लेकिन यह तेरा प्रयत्न बेकार है, तेरी प्रकृति (युद्धे चाप्यपलायनं स्वभाव) तुझको लडनेमें प्रवृत्त करेगी।

महात्मा गान्धीजी अहिंसाके बड़े कट्टर उपासक है अतः उन्हें डर लगता है कि कहीं भगवान् श्रीकृष्णजीने जो अर्जुनसे यह कहा कि 'तू युद्ध कर,' वह उपदेश हिंसा को प्रोत्साहन तो न दे। महात्माजी समझते हैं कि 'गीतामें अहिंसा बतलायी गयी है। लेकिन, गीताके प्रारंभमें भीषण महासमरके बवंडरका बखान है, सो अहिंसासे उसका सामञ्जस्य कैसे दर्शायें? इसलिए गीताका वर्णित युद्ध सच्ची लडाई नहीं किन्तु साधक कामक्रोध वगैरह रिपुदलसे जूझने लगता है उसका प्रतीकात्मक वर्णन है,' ऐसा दर्शानेकी चेष्टा करके महात्माजीने श्रीकृष्णजीको हिंसा प्रोत्साहन दोषसे अलिप्त रखा है। किन्तु अहिंसा प्रस्थापनके इस दुराग्रहके कारण कृष्ण, अर्जुन इत्यादि ऐतिहासिक महापुरुष काल्पनिक ठहरे। सत्य इतिहासको असत्य ठहराने का आग्रह करके प्रस्थापित की हुई अहिंसाकी अट्टालिका असत्यकी नींवपर खडी हुई है अतः म. गान्धीजीकी अहिंसा प्रस्थापित करनेकी 'अहमहमिका' 'नाम है स्वर्णराजिनी किन्तु हाथपर कॉंचका कॅंगन' ढंगसे सिर्फ नाममात्रकी है। क्योंकि गान्धीजी जैसे श्रेष्ठ महापुरुषोंपर '**स यत्प्रमाणं कुरुते लोकः तदनुवर्तते**' ऐसा बडा भारी उत्तरदायित्व रहता है। ऐसे उच्चकोटिके, जनताके लिए पूजनीय पुरुषही श्रीकृष्णजी महाराज जैसे देवतारूपी पूज्य महान् आत्माको शतरंजके राजा-रानीके तुल्य समझकर अपने प्यारे अहिंसा तत्त्वका येन केन प्रकारेण पृष्ठपोषण करने लगें तो उनकी ऐसी कृतिके कारण अनेक लोगोंकी 'बुद्धिभेद' रूपी हिंसा होती है और सिवा इसके उनकी यह ऐसी विचार मरणी (loud thinking) अनुद्वेगकर, सत्य, प्रिय एवं हितकर वाङ्मयतप तो नहीं लेकिन अप्रिय, असत्य, उद्वेगजनक तथा अहितकारक परितापकी बात है ऐसा यहां कहना आवश्यक जॅंचता है। पिछले लेखमें मैंने दर्शाया है कि गीताके लिए महात्मा गान्धीजीने जो 'अनासक्ति-योग' नाम चुनलिया वह कितना गलत है। आगे चलकर एक पृथक् लेखमें मैं यह स्पष्ट बतलानेकी कोशिश करूंगा कि 'अहिंसा, ब्रह्मचर्य, काम' शब्दोंको गीता किस अर्थमें प्रयुक्त करती है।

'समवेताः युयुत्सवः' कहकर दोनों दलोंकी युद्धसज्जा की सूचना दी है। दूसरे तथा तीसरे श्लोकमें 'अनीक' 'व्यूढां महतीं चमूं' ऐसे पद पाये जाते हैं। सौतिका कथन है कि दोनों दलोंका सैन्य मिलकर अठारह अक्षौहिणी था।

यहॉंपर अक्षौहिणी याने १० अनीकिनी ऐसा कोष्टक दिया है। गीतामें सैन्यविभाग सूचित करनेके लिये अनीक तथा चमू नामोंका प्रयोग है किन्तु अक्षौहिणी पद नहीं है। ऐसा दिखाई पडता है कि सौतिने सैन्यकी संख्या दसगुना विस्फारित करके बतलानेके लिए 'अक्षौहिणी' परिभाषा काममें लायी हो। पाण्डवोंका सैन्य ७ अनीकिनी और धार्तराष्ट्रोंका सैन्य ११ अनीकिनी मिलकर १८ अनीकिनीकी 'महती चमू' थी ऐसा गीताका कथन ठीक जॅंचता है क्योंकि एकएक अक्षौहिणीमें २१८७० हाथी, उसके तिगुने घोडे, पॉंचगुने पैदल सिपाही और उतनेही रथ मौजूद रहते हैं ऐसा कोष्टक सौतिका दिया हुआ है। मतलब यह हुआ कि १८ अक्षौहिणी सैन्यमें चार लाख हाथी थे। यद्यपि हाथियोंकी प्रचुरताके कारण हस्तिनापुर नाम पडा हो तोभी यह सरासर असंभव दिख पडता है कि हाथियोंकी संख्या चार लाख रही हो। उसीप्रकार १८ अक्षौहिणी=४० लाख गिनती होती है। कुरुक्षेत्रस्थ मैदानमें इतनी बडी भारी सेनाका समावेश होना असंभव है। यह दस गुना फुलाकर कही संख्या है अतः यदि इसे मूल संख्यातक सीमित करलें तो विदित होता है कि समूची सेना लगभग चार लाख थी। अठारह दिनोंतक चार लाख सेनामें भीषण भिडंत होना सुसंगतही है। ध्यानमें रहे कि वर्तमान विश्वव्यापी महासमरमें भी डिविजन २० सहस्रकाही रहती है। गीता कालीन युद्धमें चमूकी गिनती ७२९० और अनीक=२१८७० होसकता है।

अब पाठकोंको स्पष्ट प्रतीत होगा कि अनीक, व्यूढां चमूं ऐसे उचित पारिभाषिक पदोंका प्रयोग करके गीताने वास्तविकताके अनुकूलही युद्धकी पार्श्वभूमिका चित्रण किया है। इस दूसरे श्लोकमेंही व्याससजीने दुर्योधनकी कुत्सित (दुर्बुद्धि) मति सूचित करनेका प्रारंभ किया है। व्यासजीकी कुशलताका परिचय इसीमें मिलता है कि आचार्य द्रोणके निकट दुर्योधनके चले जानेका वर्णन है। शायद कई लोग पूछने लगें कि आचार्य याने द्रोणाचार्य यह क्यूंकर, तो इस सवालका उत्तर गीताने सातवे श्लोकमें 'द्विजोत्तम' विशेषणसे संबोधित करके दिया है। वैसेही '**भवान् भीष्मश्च कर्णश्च कृपश्च**' इस तालिकासे स्पष्ट होता है कि द्रोणाचार्यजीके लिए 'भवान्' पद प्रयुक्त है। युद्धका प्रथम दिवस है और उस दिन सेनापतिपदपर श्रीमान् फील्ड मार्शल भीष्माचार्यजी विराजमान है, यह संवाद स्वयं दुर्योधनने दिया है '**अस्माकं बलं भीष्माभिरक्षितं**'। उधर पाण्डवदलमें प्रथम दिन भीमसेनजी सेनापतिपदको सुशो-

भित कररहे थे तथापि उस दिनका व्यूह द्रोणशिष्य धृष्टद्युम्नका बनाया था। भीमको सेनापतिपदपर बिठलाकर और व्यूहरचनाकार्य द्रुपदतनयके सिपुर्द करके इधर वीर अर्जुनको कार्यमुक्त बनाकर संलाप करनेके लिए अवकाश रखा, यहीं व्यासजीकी बडी भारी कुशलता है। यदि कहीं अर्जुन किसी काममें लगे रहते, तो भला भगवान श्रीकृष्णजीसे 'धर्म्य संवाद' करनेके प्रशंसनीय एवं आवश्यक कार्यमें हाथ बंटानेको उसे वक्त कहां मिलता ?

दुर्योधनके दलमें पहले दिन भीष्मपितामहने सेनापतिका पद अलंकृत किया था और चूँकि वे 'कुरुवृद्धः पितामहः' थे इसलिए धृतराष्ट्रकी अपेक्षा अधिक सम्माननीय पूर्वज होनेसे अच्छा तो यही होता कि दुर्योधन उनके निकट चले जाते। लेकिन असली बात ऐसी थी कि दुर्योधनका दुर्वर्तन भीष्माचार्यजीको सुतरां पसन्द नहीं था क्योंकि वे भलीभाँति जानते थे कि युद्धमें पाण्डवदलमेंही साधुताका निवास था। लडाईका छिडना निश्चित होनेपर क्षत्रियका तो 'युद्धे चाप्यपलायनं' स्वभाव है इसीकारण रणांगणपर वे डटे रहे। दुर्योधनका पक्ष अनीतिपूर्ण अर्थात् उसे विजयी होना संभव नहीं ऐसा दृढ निश्चय था। ऐसी दशामें क्या मजाल कि दुर्योधनभी भीष्माचार्यजीके समीप जाकर उनसे, विजय प्राप्त हो इस ढंगसे लडते रहियेगा, कहनेका साहस करसके ? दुर्योधनके दिलमें बडी भारी खलबली मचरही थी। वह बडा अशान्त था। यह सब व्यासजीने दुर्योधन आचार्यजीके निकट चला गया ऐसा बताकर सूचित किया है।

दुर्योधनके कहनेका ढंगभी यही बतलाता है कि यद्यपि वह ऊपरऊपरसे घमंडभरी भाषाका प्रयोग कररहा है तो भी उसके दिलमें विजयप्राप्तिमें सन्देह छुपा पडा था;'हमारी सेना असीम है, भीष्म, कर्ण वगैरह बडे बडे युद्धविशारद मेरे लिए प्राणत्याग करनेको उद्यत हैं; यद्यपि पाण्डवसेनाके योद्धाओंकी योग्यता कम नहीं है किन्तु उनकी सेना अपेक्षाकृत न्यून है।' इस भाषणसे ज्ञात होता है कि दुर्योधन समझता था, सिर्फ अधिक संख्यावाली सेनाके बलबूतेपर विजय मिलेगा। विजयसे साधुताका कोई लगाव है ऐसा वह नहीं मानता था। Might is Right, बस यही उनकी कल्पना थी। 'अपर्याप्तं अस्माकं बलं' से दुर्योधन निरे संख्याबलपर कितना निर्भर था, स्पष्ट होता है। तिसपर भी भीष्माचार्यजी साधुता, नीतिमत्ताके प्रबल पृष्ठपोषक थे इसकारण यह नामुमकिन था कि वे विजय पानेकी तीव्र लालसासे प्रेरित हो लडेंगे; सो जानकर रही दुर्योधन जानबूझकर द्रोणाचार्यजीके निकट जाकर भीष्मपितामह सुनसके इसतरह व्यंग्यपूर्ण ढंगसे कहता है– अजी, भीष्मपितामह तो सेनापति हैं ही पर तुम भी सब मिलकर उन्हींकी रक्षा करो।'

पिछले लेखमें मैं बतलाचुका हूँ कि 'बलं भीष्माभिरक्षितं' और 'भीष्ममेवाभिरक्षन्तु' दो वाक्योंमें सौतिको (तथा स्व. लोकमान्य तिलक महोदयजीको भी) विरोध प्रतीत हुआ इस कारण सौतिने शिखंडीको क्लीब बनाकर उसे हटानेकी चेष्टा कैसे की थी।

भीष्माचार्यजीके ध्यानमें भी दुर्योधनके भाषणका अन्तर्निगूढ व्यंग्य आगया, इसीलिए उन्होंने स्वयं धीरगंभीर सिंहनाद करके प्रथम शंख बजाया। इस बारहवे श्लोकमें 'तस्य संजनयन् हर्षं' बडाही मार्मिक एवं महत्वपूर्ण वचन है। 'तस्य' याने दुर्योधन हर्षित हो जाए इसलिए। अर्थात् विजयी बननेकी आशासे भीष्मने शंखनाद नहीं किया किन्तु दुर्योधनने जब दूसरोंको सचेत किया कि 'वे सभी भीष्मकी रक्षामें तत्पर रहें' तब शिष्टाचारके नाते धन्यवाद देनेके हेतु शंख बजाना शुरु किया। पर आगे चलकर इस 'हर्षं संजनयन्' शंखध्वनिका नतीजा १९ वे श्लोकमें व्यासजीने 'स घोषो धार्तराष्ट्राणां हृदयानि व्यदारयत्' याने उस घोषसे धृतराष्ट्रके पुत्रोंके हृदय कॉप उठे ऐसा कहकर केवल 'धार्तराष्ट्राणां' इस एकही पदसे बडी कुशलतापूर्वक सूचित किया कि उनके अन्तस्तल कैसे व्यग्र, व्यथित एवं विचलित हुए थे और उनके दिलमें भीषण खलबली मचरही थी। इधर पाण्डव कैम्पके सभी वीर योद्धाओंने (नपुंसक या नारी समझे गये शिखंडीने भी) तनिक भी न झिझकते हुए अपने शंख बजाये ऐसा कहनेमें व्यासजीने यही सूचना देरखी है कि पाण्डवोंके पक्षमें नीतिमत्ता न्याय एवं साधुताका निवास था इसकारण अवश्यमेव विजयश्री उस दलके वीरोंको गलहार पहनायेगी। ध्यानमें रहे कि दुर्योधन, द्रोण, कृपाचार्य तथा कर्ण किसीके भी शंखनाद करनेका वर्णन नहीं है, इससे स्पष्ट होता है कि यह साराही वर्णन बोधपूर्वक किसी हेतुसे किया है। हॉं, सौतिने जो यह कल्पना की थी वह बिलकुल ठीक नहीं कि संजयको दिव्यदृष्टिका वर-

दान मिला था अतःवह वह सब कुछ देखसकता था और जैसे उसने देखा वैसे ही उसने बखान किया । इससे यह भी ध्यानमें आयेगा कि शार्मण्य प्राध्यापक श्रीयुत गार्बेजीकी यह धारणा भी गलत है कि गीताके पहले १९ श्लोक किसीने पीछेसे घुसेडदिये हैं । व्यासजीने इन १९ श्लोकोंमेही सिर्फ तीनोंके लिए 'राजा' उपाधिका प्रयोग किया है- (१) राजा दुर्योधन, (२) राजा युधिष्ठिर और (३) काशीराजः । इससे विदित होता है कि काशीकी सलतनत स्वतंत्र मानी जाती थी और शेष सभी माण्डलिक थे । यद्यपि वे महारथी उपाधि धारी थे तो भी अन्य किसीको भी 'राजा' पदसे विभूषित नहीं किया था, यह बात स्पष्ट होती है । उसीतरह संजयने धृतराष्ट्रको '**पृथिवीपते**' '**महीपते**' ऐसा संबोधित किया है और पाण्डवोंके समकालीन लेखकके सिवा दूसरा कोई इन्ही श्लोकोंमें ऐसे विशेषण नहीं रख सकता अतः ऐसा कहनेमें कोई आपत्ति नहीं कि यह शब्दरचना स्वयं व्यासजीकी रखी हुई है ।

इन १९ श्लोकोंमें तीसरे श्लोकसे लेकर ग्यारहवे श्लोकतक दुर्योधनका भाषण है किन्तु उसपर 'दुर्योधन उवाच' ऐसा शीर्षक दिया नहीं है। वहाँपर अगर 'दुर्योधन उवाच' ऐसा अलग लिखा जाता तो समझनेमें आसानी होती । बारहवे श्लोकके समीप 'संजय उवाच' ऐसा पृथक् लिखा जाना चाहिये । १४ वे श्लोकमें 'माधव पाण्डव' युगलका नाम प्रथमही दीखपडता है। भीष्माचार्यकृत शंखनादका पहला उत्तर इस युग्मने अपनी ओरसे शंख बजाकर दिया है। जिसमें शुभ्रवर्णके घोडे जोते थे ऐसे एक बडे रथमे वे दोनों ही बैठे थे । बीसवे श्लोकमें निवेदन किया है कि 'धार्तराष्ट्रों की तरफसे शस्त्र संपातका सूत्रपात होना शुरु हुआ तब वीर अर्जुनने अपना धनुष्य उठाया ।' यह बतानेमे कि पहला अपराध धृतराष्ट्रके पुत्रोंकी ओरसे हुआ' व्यासजीको यही दर्शाना था कि धार्तराष्ट्रदल अनीतिमय था और वह साधुताकी दृढभित्तिपर आरूढ रहनेका साहस नहीं दिखासकता था । लेकिन ऐसा दर्शानेमें कि पाण्डवदलका सूक्ष्म वर्तावभी कितना नीतियुक्त एवं सुजनतापूर्ण था, व्यासजीने सचमुच अप्रतिम कुशलताका प्रदर्शन किया है ।

कुछ भावुक लोग ऐसा सिद्ध करनेकी कोशिश करते है कि सचमुचही रणभूमिपर यह कृष्णार्जुन संलाप होचुका था और अर्जुन तथा माधवके मुखसे श्लोक जैसे बाहर निकल आते थे वैसेही ज्योंकि त्यों संजयने सुनलिये और बादमें धृतराष्ट्रको वे सारे बतलाये । यदि यह सच होता तो अवश्यही अर्जुनके मुखसे संपूर्ण श्लोक प्रकट होते । २१ वॉ आधा श्लोक संजयका है तो दूसरे आधेसे 'अर्जुन उवाच' है । यहॉपर अर्जुनका संभाषण २$\frac{1}{2}$ श्लोकोंमे समाप्त हुआ है । आगे २७$\frac{1}{2}$ वे श्लोकके समीप 'अर्जुन उवाच' का प्रारंभ होता है । २५ वे श्लोकमें आधा श्लोकही भगवान् श्रीकृष्णजीके मुखारविन्दसे निस्सृत है । वह भी वास्तवमें देखा जाय तो 'पार्थ पश्यैतान् समवेतान् कुरुन्' इतना ही है, क्योंकि 'उवाच' और 'इति' ऐसें दो पदोंको पीछे आगे रखे विना वह आधा श्लोकभी पूरा नहीं होता । 'उवाच' कौन ? इस प्रश्नका उत्तर देनेके लिए संजयके २४ वे श्लोकमे दृश्यमान 'हृषीकेशः' यह एकही पद लेना पडता है सो अलगही है । संजय तो रहे हस्तिनापुरमे, और इधर वीर अर्जुन तथा भगवान् श्रीकृष्ण रणांगणपे खडे हुए है । भला इनके संलापमें संजयके प्रयुक्त शब्दोंका अधूरा भाग कैसे आसके ? सिवा इसके, स्वयं संजय अन्तिम वाक्यमे कह रहा है '**व्यासप्रसादात् श्रुतवान्**' जिससे स्पष्ट है कि इस शास्त्रसे व्यासजीका दृढ सरोकार है । यद्यपि सौतिने 'व्यासप्रसादात्' का अर्थ ऐसा किया है कि व्यासजीने संजयको दिव्यदृष्टि संपन्न बना डाला, तथापि पीछे बतलाया जाचुका है, वैसा अर्थ करना असंभव है । ऐसा निर्देश कहो नहीं मिलता कि स्वयं व्यासजी रणक्षेत्रपर चले गये थे । भावुक पुरुष ऐसा मानने लगें कि रणस्थलमें कृष्णार्जुन संलाप हुआ तो कोई अयोग्यबात नही तोभी, ऐसा सिद्ध करके कि वह संलाप ज्योंकि त्यो रणभूमिपर हुआ, यूं आग्रह करना कि सभी उसे जरूर मानने लगे भूल नहीं तो और क्या है ? अर्जुनने सचमुचही धर्मसंमूढ होकर कितने प्रश्न पूछे और श्रीकृष्णजीने उसे वास्तवमे कौनसे उत्तर दिये तथा उसका समाधान किया ऐसी आशंकाए भावनात्मक होती है । इसीकारण उन्हे शास्त्रीय प्रणालीकी विचिकित्साके नीचे दर्ज नहीं करसकते । मतलब यही है कि इस समय इन प्रश्नोंके उत्तर देनेका कोई कारण नहीं है । व्यासजीने व्रतस्थ रहकर वेदतुल्य इस ग्रंथरत्नका सृजन किया, इस संबंधके ऐतिहासिक प्रमाण पीछे हमने दिये है इसलिए ये प्रश्न हमारे सामने नहीं उठते हैं ।

अब अर्जुनके २० $\frac{१}{२}$ से २३ इन २ $\frac{१}{२}$ श्लोकोंका विचार करना चाहिये। इन श्लोकोंसे स्पष्ट ज्ञात होता है कि श्रीकृष्णजी सारथीका काम करते थे, क्योंकि यदि दूसरा कोई घोडे हांक ले जानेका कार्य करता तो वीर अर्जुन भला कैसे उनसे कहते कि, मेरे रथको सैन्यके बीचमें ले जाकर खडा कर। अर्जुनका रथ भी पहले दोनों सेनाओंके मध्यमें नहीं था। श्रीकृष्णजीके एक हाथमें जरूर घोडेकी लगाम रहनी चाहिये पर दूसरा हाथ तो खाली था। श्रीकृष्णजीके पाञ्चजन्य शंख बजानेका वर्णन है और वह शख उनके दाहिने हाथमें रहा हो। इधर वीर अर्जुनका हाथ गाण्डीव धनुष्यसे सुशोभित था। एक कथा यूं है कि श्रीकृष्णजीके हाथमें सुदर्शन चक्र मौजूद था और उससे वे भीष्माचार्यको धराशायी करने निकले थे। पर यह मनगढन्त दीख पडती है क्योंकि गीतामें कहीं भी श्रीकृष्णजीके चक्र सुशोभितपाणि होनेका उल्लेख नहीं। हां, जब वीर अर्जुनको विश्वरूपदर्शनका सौभाग्य प्राप्त हुआ तब उन्होंने जो श्रीकृष्णजीका वर्णन किया है उसमें '**गदिनं चक्रिणं च**' ऐसे शब्द हैं याने एक हाथमें गदा तो दूसरे हाथमें चक्र विद्यमान था (देखो ११ वा अध्याय, १७ वां श्लोक) किन्तु यह दृश्य दिव्यदृष्टि प्राप्त होनेके पश्चात् दिखाई दिया, याने श्रीकृष्णजीके 'सौम्य मानुषरूपमें' ये आयुध नहीं थे ऐसा प्रतीत होता है। ११-४७ में अर्जुनकी विनिति है—

तेनैव रूपेण चतुर्भुजेन सहस्रबाहो भव विश्वमूर्ते

इसमें 'चतुर्भुज' पद देखकर कुछ लोग यूं अनुमान निकालते है कि मानुष रूपमे श्रीकृष्णजीके चार हाथ थे। किन्तु वह ठीक नहीं जँचता है तो फिर सवाल उठ खडा होता है कि 'चतुर्भुजेन'× ऐसा भला क्यों कहा ? उसका उत्तर यूं दिया जा सकता है—

दसवे अध्यायमें गीताने 'आदित्यानां अहं विष्णुः' ऐसा कहा। विष्णु तो आद्य विभूति है और 'वासुदेवः सर्वं' इस ढंगसे विश्वरूप दर्शन होनेके समय आद्य विभूतिका दर्शन तो जरूर होना चाहिये। अर्थात् चतुर्भुज विष्णुका दर्शन अर्जुनको प्राप्त हुआ और उस तेजोमय मूर्तिके चारों ओर अनन्त बाहु मुखका दर्शन हुआ। वेद कालसे विष्णुका चतुर्भुज होना प्रसिद्ध था और वीर अर्जुनको उनके दर्शनका सौभाग्य मिला तो भी वर्णन करते हुए 'गदिनं चक्रिणं' इस तरह दो हाथोंका ही बखान उसने किया है। ११।४७ में 'चतुर्भुज' कहा तो भी वर्णन देखनेपर 'गदिनं चक्रिणं' ऐसा हाथोंका ही है। इससे विदित होता है कि दिव्या दृष्टिसे उसने जो नया दृश्य देखा उतने उन दो आयुधोंका निर्देश किया। विष्णुके दूसरे दो हाथोंमें शंख एवं पद्म हैं और इधर श्रीकृष्णजीके मानवी हाथोंमें पाञ्चजन्य शंख है जिसका निर्देश प्रथम अध्यायमें है तथा दूसरे हाथमें कमलपुष्पकी जगह घोडोंकी लगाम है। पर ये दिव्यदृष्टिमेंके नहीं है। अर्जुनने जो यह कहा कि 'इच्छामि त्वां द्रष्टुमहं तथैव। तेनैव...' उसका अर्थ यही है कि, यह सहस्रबाहु उग्र रूप नहीं चाहिये किन्तु आद्य विष्णुका 'चतुर्भुजरूप' देखनेको मिले। चतुर्भुज दर्शनसे विश्वरूप देखनेका प्रारंभ हुआ। अर्थात्ही पुनः मानुषरूपमें देखनेके पहले विलोम तरीकेसे फिर विष्णुका दर्शन और बादमें मानुषस्वरूप ऐसा जो व्युत्क्रम व्यासजीने किया वह बिलकुल सुसंगत प्रतीत होता है। श्रीकृष्णजीके दिव्य दो हाथोंकाही जो वर्णन दिया है वह भी एकबार स्वीकार की हुई विचारसरणीके अनुकूलही है। मानुषरूपमें 'चक्र तथा गदा' आयुध नहीं थे यही स्पष्ट दीखपडता है और जान पडता है कि इस चक्रका उपयोग करके सौतिने वह कथा भाग जोड दिया कि, श्रीकृष्णभगवान् सुदर्शन चक्र हाथमें लेकर भीष्माचार्यजीका वध करने दौड पडे।

× ११-१५ में 'भूतविशेषसंघान्। ब्रह्माणमीशं कमलासनस्थं...' ऐसा कहा है और इन्हें 'दिव्य' बताया है किन्तु 'किरीटिनं गदिनं चक्रिणं च' इस तरह आद्य विभूति विष्णुका स्वरूप आतेही '**तेजोराशिं** सर्वतो दीप्तिमन्तं' याने उसके तेजसे ब्रह्मादिकोंको दिव्यत्व प्राप्त हुआ ऐसा सूचित किया है। ११-१२ में 'दिवि सूर्यसहस्रस्य भाः, तस्य महात्मनः' होनेसे 'तेजोराशिं' पदका स्पष्टीकरण होता है। आदिविष्णुका रूप गर्भमें (मध्यस्थानमें) उसके चारों ओर 'अनंतबाहुं शशिसूर्यनेत्रं' 'न तत्र सूर्यो भाति... तस्य भासा सर्वमिदं विभाति' इसीका वर्णन व्यासजीने किया है। '**अवजानन्ति मां मूढा मानुषीं तनुमाश्रितं**' इसमें आद्य मानवी (ऋग्वेदीय) विभूति विष्णुका उल्लेख है और उसीतरह यह भी निश्चित हुआ कि उस विभूतिसे अपना संबंध है (देखो 'बहूनि मे व्यतीतानि, अहं विवस्वते योगं प्रोक्तवान्')

इन २३½ श्लोकोंमें वीर अर्जुनके प्रयुक्त पदावलि वीरोचित एवं धीरगंभीर भी है। "हे अच्युत! मेरे रथको दोनों सेनाओंके बीचमें लेजाकर रखो; दुर्मति दुर्योधनका प्रिय करनेकी चाह दिलमें रखते हुए कौन कौन लोग भला लड़ाईके लिए इकट्ठे हुए हैं उन्हें मैं एक बार तो देख लूँ।" देखना होगा कि वीर अर्जुनके अन्तस्तलमें डरका लेशमात्र भी संचार नहीं हुआ है। भीष्माचार्यजी कृत गंभीर शंखनादसे उनका कलेजा हिलना तो दूरही रहा, उल्टे ईंटका जवाब पत्थरसे देनेकी इच्छासे अपना देवदत्त नामक शंख भी उन्होंने बजाया। जिससमय धार्तराष्ट्रोंकी ओरसे बाणोंकी बौछार होना शुरु हुआ तभी अपना धनुष्य उठाकर लड़नेके लिए वे कटिबद्ध हुए।

२४ वे श्लोकमें संजयका वचन है—

एवमुक्तो हृषीकेशो गुडाकेशेन भारत।
सेनयोः उभयोः मध्ये स्थापयित्वा रथोत्तमम्॥

इस श्लोकमें श्रीकृष्ण तथा अर्जुनके लिए क्रमशः हृषीकेश एवं गुडाकेश नाम रखे हैं और साधारणतया इन शब्दोंकी व्युत्पत्ति, हृषीक=इन्द्रिय तथा गुडाका=निद्रा ऐसे अर्थ करके उनके अधिपति वे दोनों थे, इसतरह देनेकी प्रथा है। लेकिन ऐसा प्रतीत होता है कि हृषीक तथा गुडाक दोनोंही सूबोंके नाम रहे हों। भारतके वायव्य प्रान्तमें (North Western Provinces) एक विभागको गुडाक नामसे पुकारते थे ऐसी पुरानी जानकारी है। होसकता है कि द्वारिकाके निकट किसी भूविभागको 'हृषीक' कहते हों, पता नहीं। गंधर्वोंके चंगुलसे दुर्योधनको वीर अर्जुनने छुडाया ऐसा वर्णन भी तो मिलता है। पीछे बताया गया है कि उस विभागको गन्धर्व देश कहते थे।

लोकमान्य तिलकमहोदयजीने, हृषी+केश और गुडा+केश इस ढंगसे समासका विग्रह किया है परंतु 'गुडाक' ऐसा प्रान्तका पुराना ऐतिहासिक नाम मिलजानेपर ऊपर कहे तरीकेसे शब्दोंकी व्युत्पत्ति देना हो तो उसे शाब्दिक चमत्कार नाम देनाही ठीक प्रतीत होता है। अस्तु।

श्रीकृष्णजीने रथको दोनों युयुत्सु सेनाओंके मध्यमे पहुँचादिया और भीष्म, द्रोण सदृश धुरन्धर पुरुषोंकी ओर अंगुलि निर्देश करके अर्जुनसे कहा... हे पृथाके सुपुत्र। इकट्ठे हुए कुरुओंकी तरफ देखलेना तो सही।

आगे दो और आधा श्लोक संजयके हैं जिनमें अंतिम आधा श्लोक बडाही महत्त्वपूर्ण है। 'कृपया परया आविष्टो विषीदन्' याने 'परा कृपा' की वजहसे अर्जुनके दिलमें विषादका आविर्भाव हुआ, ऐसा बताया है। गीताने १८-२८, ३५ में तामस कर्ता तथा तामसी धृतिका उल्लेख करते हुए विषादको स्थान दिया है। अज्ञानसे तमोगुण पैदा होता है ऐसा १४-८ में 'तमस्त्वज्ञानजं विद्धि' कहके बताया है। तमोगुणके कारण सभीको मोह होता है परन्तु यह मोह या यह तमोगुण आसुरी प्रकृतिका नहीं, यही ध्यानमें रखना चाहिये। राक्षसी या आसुरी प्रकृतिको गीताने मोहिनी प्रकृति नाम दे रखा है। गीताके अनुसार 'अहंकार, बल, दर्प, काम, क्रोध' यही आसुरी प्रकृतिका संश्रय है और यह द्वेषमूलक रहती है। अर्जुनका मोह द्वेषमूलक नहीं था किन्तु 'परा कृपा' के कारण उत्पन्न होचुका था। दुर्योधनकी दुर्बुद्धि और कृपाके परिणामस्वरूप अर्जुनको जो द्वन्द्व-मोह हुआ था उनके बीच अन्तर दर्शानेके लिएही 'कृपया परया आविष्टो' पदावलि रखी है। सोलहवे अध्यायमें भी उसीलिए श्रीकृष्णजीने अर्जुनको तसल्ली देनेकी चेष्टा की है 'मा शुचः दैवीं संपदमभिजातः असि।' गीताका कथन है, निद्रा तथा आलस्यरूपी परिणाम तमसे पैदा होते हैं। शरीर धर्म होनेकी वजह सभीको निद्रा एवं आलस्य होता है किंतु आसुरी प्रकृतिसे उनका कुछ भी सरोकार नहीं। दूसरी बात ऐसी है कि आसुरी प्रकृतिमे 'विषाद' कभी नहीं आता है। विषादका अर्थ है अपनी भूलकी जानकारी होनेपर जो मनकी स्थिति होती है और उससे 'इस झमेलेमें पडना बेकार है' ऐसी धारणा होना। यह वैराग्यकी नीचली सीढ़ी है। चुपचाप बैठना, नैष्कृतिक होना ऐसा भाव मनमें पैदा होना अर्थातही 'अकर्मणि संग' है पर एक अच्छे क्षत्रियके लिए यह वर्तन सर्वथा निषिद्ध है क्योंकि इससे 'युद्धे पलायनं' प्रधान मनोवृत्ति प्रकट होती है। बस यही कारण है कि गीता साफ बतलाती है 'भयात् रणात् उपरतं मस्यन्ते त्वां महारथाः' बडे बडे रणधुरंधर योद्धा कहने लगेंगे कि, भयके मारे यह उपरति तेरे दिलमें पैदा हुई थी।

इसके पश्चात् २७½ से ४६ तक याने १८½ श्लोक अर्जुनके कहे हैं। इनमें अर्जुन स्वयं अपने मुखसे अपनी क्लीब दशा का वर्णन करता है और कुलधर्म, जाति धर्म, वर्णसंकर वगैरह सामाजिक प्रश्नोंकी झडी श्रीकृष्णजीके सम्मुख लगाता है।

इन्हीं श्लोकोंके कारण बहुतसे लोग ऐसा मानने लगते है कि, व्यासजीने सिर्फ इन प्रश्नोंका नामनिर्देशही किया है, आगे चलकर गीतामें उनका तनिकभी उल्लेख नहीं पाया जाता है। श्रीकृष्णजीने तो इनका जवाब तक नहीं दिया, बहुत क्या कहें, जान पडता है खुद व्यासजी इस बातको भूलगये हों कि अर्जुनके जरिये कुछ काल पहले इन प्रश्नोंकी बौछार लगायी थी।

अब हमें देख लेना चाहिये कि इन्हीं ऊपरऊपरसे निरर्थक प्रतीत होनेवाले साढे अठारह श्लोकोंमें प्रथम अध्यायमें उपलब्ध व्यासजीकी सच्ची कुशलताकी झलक कैसे मिलती है। एकही समय ट्रॅन्सफर सीन (Transfer Scene) दर्शाकर एक स्थानमें विरोधी भूमिकाओंको लानेमेंही कविकी कुशलता है। नीतिमत्ताके अनुकूल बर्ताव करनेवाले शूर योद्धाके चित्रको अर्जुनमें दर्शाया और इसके निकटही दुर्योधनादि कोंके ऊपरसे शौर्यका अभिनय होनेपरभी अनीतिमयताके कारण अन्दरही अन्दर मनमें कैसे बेचैनी होरही थी उसकाभी शब्दचित्र रखदिया अतः सुजनों तथा दुर्जनोंके मध्य जो चौडी खाई रहती है उसे स्पष्ट किया। अब यह बतानेके लिए कि, नीतिमत्तामें प्रभावित शूरभी प्रज्ञासमाधिमें स्थित होनेके पहले किन्हीं अवसरोंपर मौका आजाय वैसे ' मोहकलिल ' के भॅवरमें गिरजानेसे कैसे गोते खाने लगते हैं मॅझधारमें पडे हुए अर्जुनके मुखसेही उसके ' कश्मल ' का बखान कराया है।

ऐसी परिस्थितिके चित्रण करनेमें व्यासजीने कई बातें सफलतापूर्वक सिद्ध की है। आगे चलकर गीतामें जो विधान किये है जैसे कि, ' सचेष्ट रहनेवाले विद्वान पुरुषके मनकाभी मतवाले बने इन्द्रियगण बलात् अपहरण करते है (२।६०); ' कई बार विद्वान लोगभी कौनसा कर्म किया जाय या किस कर्मको न करना ठीक है इस सबधमें मोहमूढसे बनजाते हैं (४।१६), जो राजसी याने रजोगुणयुक्त बुद्धि है वह उलझनमें पड जाती है कि धर्म कौनसा है, अधर्म किसे कहें, कार्य क्या है तथा अकर्मका स्वरूप कैसे पहचानें (१८।३१); तमसे बुद्धि जब घिरी जाती है तब वह अधर्मकोही धर्म समझती है और उसे सभी बातें उल्टी दीखपडती हैं (१८।३२) स्वप्न, भय, शोक, विषाद एवं मद सभी तामसी धृतिके लक्षण हैं (१८।३५)' उनकी सिर्फ व्याख्यामात्र न देते हुए उनका प्रत्यक्ष उदाहरण देनेके लिए ये १८½ श्लोक लिखे हैं। रज, तमका परिणाम पहले इन्द्रियोंपर, पश्चात् प्राणोंपर, बादमें मनपर और अन्तमें बुद्धिपर इस अनुक्रम से होता है ऐसा गीताका कथन है (३।४०, ४१)। परिणामोंका यह अनुक्रम और उसीप्रकार स्वप्न, भय, शोक, विषाद एवं मद ऐसे शब्दोंका अनुक्रमभी ज्योंके त्यों किसतरह आगे रखा यही अब देखना चाहिये।

तम अज्ञानजन्य है ऐसा १४।८ में कहा है और अज्ञानके बहुतसे कारण एवं लक्षण १३।११ में बताये हैं जिनमें एक ' पुत्रदारगृहादिमें तीव्र प्रेम या आसक्तिभी ' है। नीतिमान् (शूर) अर्जुनको किस मोह (अज्ञान) ने पछाडा सो गीताने ' **दृष्ट्वेमं स्वजनं** ' शब्दोंमेंही बतलाया है। इसमेंभी ' दृष्ट्वा ' पद तो बडाही मार्मिक है। अर्जुन भलीभांति जानता ही था कि स्वजनोंसे जरूर लडना पडेगा, किन्तु यह भविष्यकालीन ख्याल था। प्रत्यक्ष रणभूमिपर मरने मारनेकी नौबत आजावे तोही स्थितप्रज्ञत्वकी सच्ची परख हुआ करती है। अभीतक इस कसौटीसे वीर अर्जुनकी जॉच नहीं हुई थी सो दर्शानेके लिए ' लडनेकी चाहसे इकठ्ठे हुए स्वजनोंको देखकर ' ऐसी पदावलीका प्रयोग किया है। ' जब तेरी बुद्धि स्थित होजावेगी ' (२।५३) यह भविष्यकालभी इसीकी सूचना देता है।

स्वजनोंको देखकर अज्ञानकी छत्रछायामें वीर अर्जुन जानेलगा, याने ' अज्ञानज तम ' मनमें मोह पैदा करनेलगा जिसका नतीजा प्रथमतः इन्द्रियोंपर हुआ इसलिए ' सीदन्ति मम गात्राणि मुखं च परिशुष्यति ' (मेरे इन्द्रिय ढीले हो रहे हैं, मुॅह सूखा जारहा है), इन्द्रियोंके पश्चात् प्राणोंपर परिणाम होता है इसीलिए—

वेपथुश्च शरीरे मे रोमहर्षश्च जायते।
गाण्डीवं स्रंसते हस्तात् त्वक्चैव परिदह्यते॥

(सारा जिस्म कॉप उठा है, रोंगटे खडे हो रहे हैं और हाथमेंसे धनुष्य खिसक रहा है तथा सारे अंगोपांग मानों झुलस रहे हैं) इसके बाद मनपर जो परिणाम हुआ वह ' मेरा मन घूम रहा है, मुझसे खडा नहीं रहा जाता ' इस तरह बतलाया है। अब बुद्धिकी बारी आती है; धर्म, अधर्म के बारेमें वह उलझनमें डालती है और धीरेधीरे हर जगह

उल्टी भावना बनने लगती है, इसकारण '**निमित्तानि च पश्यामि विपरीतानि**'। इसमें 'बिपरीत' पदभी उसी अनुक्रमसे रखा है। श्रीयुत करन्दीकरजी जैसे विद्वान् इस वाक्यका अर्थ करते हैं कि बाहर 'विपरीत निमित्त' चल रहे थे और अर्जुनको वे दीखपडे इसकारण उसने वैसे वर्णन किया। लेकिन बात वैसी नहीं क्योंकि अर्जुन खुद कहता है 'भ्रमतीव च मे मनः' उस समय बाह्य निमित्तोंका निरीक्षण करके, पहले वे ऐसे थे और अब इसतरह होरहे है ऐसा कहनेकी भला सुध कहॉ रही ? न केवल श्री. करन्दीकरजी ही किन्तु सौतिनेभी भूल करके, नरेश युधिष्ठिरको युद्धोपरान्त ३६ वर्ष बीत जानेपर प्रलयतुल्य घटनाके समय जो लक्षण दीखपडे, उन्हें युद्धकालीन अपशकुन समझकर वही वर्णन दो स्थानोंपर कैसे दिया, यह हमने पिछले लेखमें दर्शाया है।

धृतिपर तमोगुणका परिणाम स्वप्न, भय, शोक... आदि क्रमसे होता है और इसीके मुताबिक अगला वर्णन किया है। अर्जुनकी बुद्धि धीरे धीरे उलझनमें पडने लगी थी जिसका वर्णन २।३१-३४ में है। तमका प्रभाव पडना शुरु होनेपर उसका पूरा पूरा नशा चढनेतक यानें 'अधर्म ही धर्म है' ऐसे माननेतककी सारी मंजिलें इन *श्लोकोंमें किसतरह बतलायी है सो देखना चाहिये। १-३५ में अर्जुन प्रथम कहता है कि 'मुझको त्रैलोक्यका राज्य मिले तो भी इन्हें नहीं मारडालूंगा, फिर पृथ्वीके राज्यकी बातही दूर रही।' किन्तु १।४५ में, तमकी मात्रा कुछ अधिक होनेपर कहने लगता है 'हाय हाय, राज्यसुखलोभके मारे हम स्वजनवध करनेको तैयार हुए हैं, कितना बडा पातक करना हमने ठानलिया है।" पर राज्यसुखके लोभसे अर्जुन या पाण्डवोंने लडना शुरु नहीं किया, यदि वैसे होता तो 'दुर्बुद्धि दुर्योधनका प्रिय करनेकी इच्छासे जो आये हों उन्हें मजा तो चखाने दूंगा' इसतरहकी भाषणशैली जो उसने पहले दर्शायी वह उसे तनिक भी शोभा नहीं देती, यह स्पष्ट है।

अर्जुनकी तमाच्छन्न बुद्धिका वर्णन करनेके लिए हेतुपूर्वक वे शब्द रखे हैं। १-३६ में '**पापमेव** आश्रयेत् अस्मात् हत्वैतान् **आततायिनः**' स्वयं अर्जुनही स्वजनोंको 'आततायी' ऐसा दोषसूचक विशेषण लगाता है। इधर धर्मशास्त्रकी निस्सन्देह घोषणामय आज्ञा है कि '**आततायिन**मायान्तं **हन्या**देवाविचारयन्' '**हन्यात् एव**' के बजाय '**हत्वा पापमेव**' ऐसी विपरीत शैली बुद्धिपूर्वक रखी है, इसमें भला क्या कभी संशय हो सकता है ? १-३८ में 'यद्यप्येते न पश्यन्ति लोभोपहतचेतस.' अर्थात् स्वजन लालचभरे दिलवाले होनेसे दूषित हैं ऐसा स्वयं अर्जुनका निवेदन है पर 'कथं न ज्ञेयमस्माभिः पापादस्मान्निवर्तितुं' इसतरह अपने पक्षकोही वह दोषयुक्त बता रहा है। 'धर्माधर्मको अयथावत् समझ लेना' भला क्या चीज है सो उदाहरणसहित दर्शानेके लिए व्यासजीने जानबूझकर ऐसी पदावली रखी है, ऐसा अब स्पष्ट होगा। यदि स्वजन 'लोभोपहतचेतसः' बने हों तो भला अर्जुन इधर क्यूंकर 'कार्पण्य-दोषोपहतचेतम्' बन जाय ?

कुलधर्मको 'सनातन' विशेषण लगाना और जातिधर्मको 'शाश्वत' कहना यही दर्शानेके लिए है कि अर्जुन पूरी तरह भ्रमिष्ट बनकर सारी ऊटपटांग बाते बकरहा है। गीता परब्रह्मके लिए 'सनातन' पदका प्रयोग करती है और चातुर्वर्ण्य के कर्मविभागको 'शाश्वत धर्म' नाम दे डालती है। कुल तथा जातियोंकी रूढियां या प्रणालियां भला किस तरह शाश्वत रह सकती हैं क्योंकि रस्मरिवाजोंमें स्थलकालके अनुसार अवश्यमेव परिवर्तन होता है। 'कुलक्षय, मित्रद्रोह, वर्णसंकर, कुलीन नारियोंका बिगडना और कुलधर्मोंके अप्रचलित रहनेसे पिण्डोदक क्रियाके लोप होनेपर पितरोंका नरकोंमे गिर पडना' आदि शब्दप्रयोग 'यया स्वप्नं भयं... (१८-३५)' इस तरह तमावृत धृति * की स्वप्नावस्था एवं भयाकुल दशाको स्पष्ट करनेके लिए ही है। जो मानव भ्रमिष्ट बनकर बोलने लगता हो उसकी भाषामें यदि शास्त्रीय प्रणालीकी झलक मिलने लगे तो कलाकी दृष्टिसे वह अतीव अनुचित ठहरता है और चूंकि व्यासजी कलाकार कवि थे इसलिए उन्होंने अर्जुन के मोहपाशमें पडजानेका Transfer scene जिस तरह हेतुपूर्वक योग्य स्थानमें रखा वैसेही अर्जुनके भाषणमें उस प्रसंगके अनुकूलही भावप्रदर्शनका चित्रण किया। इतनाही नहीं किन्तु उस बे सिर पैरके भाषणको निमित्तमात्र करके रज एवं

* गीताके १ अध्यायके ४४ वे श्लोकमें 'अनुशुश्रुम' ऐसा perfect परोक्षभूत रूप रखा है। इससेभी विदित होता है कि अर्जुनकी भ्रमपूर्ण दशामें की हुई वक्तृता सूचित करने लिए यह रूप रख दिया हो।

तमके बुद्धि तथा धृतिपर होनेवाले परिणामोंकी सोदाहरण व्याख्या भी लिखडाली।

अर्जुनके भाषणमें १८ श्लोक रखनेका भी एक प्रयोजन है। मानवके मोहजालमें गिरजानेपर उसके बकनेसेही उसका वेग घट जाता है और अगर उसमें रुकावट डालनेकी चेष्टा की जाय तो मोह बढ जाता है। भगवान् श्रीकृष्णजी चुपचाप उसकी बकवक सुनते रहे। भयके आगे धृतिकी स्थितिमें शोक आ जाता है और संजयके श्लोकमें वह शब्द रखा है जैसे 'शोक-संविग्न मानसः विसृज्य सशरं चापं रथोपस्थ उपाविशत्।'

'रथोपस्थ उपाविशत्' इसमें दो प्रकारका संधि हो सकता है, उपस्थे तथा उपस्थः। चार टीकालेखकोंने 'उपस्थे' इसतरह सप्तमी मानकर रथमें मौजूद 'सीट' पर बैठा ऐसा अर्थ किया है। पर व्यासजीकी कलाकी दृष्टिसे देखने लगें तो 'उपस्थः' अर्थात् 'रथके बाहर समीप' यही अर्थ अधिक उचित दीख पडता है। कारण यही कि जिस वीर एवं रणांकुरे योद्धाको क्लैब्यके कारण धनुष्य-बाण जैसी युद्धसामग्री छोड देनेकी प्रवृत्ति हुई वह युद्धकेही दूसरे साधन याने रथको पकड बैठनेकी प्रवृत्ति भला कैसे दर्शायेगा? इसीकारण, रथका भी अर्जुनने त्याग किया, यही अर्थ ठीक जंचता है।

यहांपर पहले अध्यायकी समाप्ति हुई किन्तु विषयकी दृष्टिसे जिस चित्रको खींचनेके लिए व्यासजीने Transfer Scene की आयोजना कर दी उसका प्रमुख मर्म एवं सरसता अगले अध्यायमेंही है। शोककी अगली धृतिकी सीढी 'विषाद' है और यह 'विषाद' शब्द दूसरे अध्यायके पहले श्लोकमें है। संजयने अपने आधे श्लोकमें 'कृपया परया आविष्टो विषीदन्' शब्द कहे हैं और येही शब्द फिर लेलिये हैं तथा 'कृपयाऽऽविष्टं अश्रुपूर्णाकुलेक्षणं। विषीदन्तं' यह श्लोक संजयसे कहलवाया है। पिछले अध्यायके 'शोक' शब्दकोही इस बार 'अश्रुपूर्णाकुलेक्षणं' इस तरह मार्मिक ढंगसे वर्णन देते हुए *परिणाम स्वरूपसे सुझाया है।* यहां फिर यह बताना आवश्यक है कि यद्यपि यह मोहरूपी तमका वर्णन है तो भी वह आसुरी मोहिनी प्रकृतिका नहीं है। पापभीरुत्वके कारण उसे शोक हुआ था। मोहिनी प्रकृतिमें कृपाके आंसू नहीं आते है। क्रोधके मारे शरीर दाह होगा। अर्जुनकी जो यह 'त्वक् चैव परिदह्यते' दशा हुई उसका मूल कारण पापभीरुत्व था। क्रोधकी वजहसे दाह नहीं हुआ था।

श्रीकृष्णजी जानते थे कि कृपावश अर्जुन मोहदशामें फंसा हुआ है इसीकारण भगवान् कृष्णजीको उसकी दया प्रतीत हुई। उससमय चुभनेवाली शैलीमें उससे बोलनेकी कोई जरूरत नहीं थी। अतः अर्जुनका प्रलाप शान्ततापूर्वक सुनकर जब उस मोहका प्रथम आवेश कुछ न्यूनसा हो चला तो धीरेसे सौम्य पदावलीसे कहने लगे 'असमयमें यह कश्मल भला किधरसे आ पहुंचा। इस भांतिका क्षुद्र हृदय दौर्बल्य एवं क्लैब्य तुझ जैसे वीरको नहीं सुहाता। इसे हटादो और उठो।' 'उपाविशत्' पद पीछे रखा था इसलिए 'उठो' 'उत्तिष्ठ' ऐसा कहा।

किन्तु यहाँपर ध्यानमें रखनेयोग्य बात यही है कि 'उठो' कहतेही तुरन्त ज्ञानसुधाकी वर्षा करना प्रारंभ नहीं किया और इसके दो कारण हैं-(१) किसीभी तरहके ज्ञानामृतका उपदेश करना हो तो 'शिष्यस्ते अहं शाधि मां त्वां प्रपन्नं' इस ढंगकी शरणागति दर्शाये बिना ज्ञानकथन करना बेकार है (२) मोहकी विषादके पश्चात्की मंजिल 'मद' है उसे दर्शाना शेष रहा। इसे बतानेमें व्यासजीने बडी भारी चतुराई दिखलाई है। अर्जुन तो बडे विक्रान्त एवं शूर योद्धा थे। उसके अन्तस्तलपर 'क्लैब्य' शब्दरूपी बाणका असर बडा मर्मभेदी ठहरा। इस शब्दको सुनतेही वे तिलमिला उठे। सच है कि इसके कारण उसकी मोहदशा बलात् घटगयी किन्तु वह मोह उलटकर 'मद' के रूपमें अब दृष्टिपथमें अवतीर्ण होने लगा। अर्जुनके आँसू तो सूखगये लेकिन अब वे श्रीकृष्णजीसे शास्त्रार्थ या तकरार करने लगे। यह तो A Satan quoting the Bible जैसी हालत हुई। पहले जो 'स्वजनं हि कथं हत्वा' तरहके सवाल थे उनके बजाय अब 'कथं भीष्मं अहं द्रोणं पूजार्हौ * प्रति योत्स्यामि' ऐसा बडा पेचीदा प्रश्न सामने पेश किया।

स्वजन तो 'आततायी' और 'लोभोपहतचेतसः' हैं पर 'महानुभाव गुरु' तो वैसे सुतरां नहीं इसलिए उन्हें धरा-

---

* प्रति योत्स्यामि' सेभी विदित होता है कि 'प्रवृत्ते शस्त्रसंपाते' के समान ही पहले बाण धार्तराष्ट्रोंकी ओरसे आये और सूचित करता है कि पाण्डवदलमें नीतिमयता थी।

शायी करनेसे भी यही बेहतर है कि भीख माँगना शुरु करें, इसतरहका युक्तिवाद या दलील शुरु हुई। पर ऐसी दलील सामने आनेपर भी श्रीकृष्णजीने अर्जुनका उपहास करके ' प्रज्ञावादांश्च भाषसे ' ऐसा व्यंग्य नहीं किया। मदकी अंतिम सीढीमें अधर्मही धर्म है, ऐसा बुद्धिका निर्णय होता है । तमका आतंक छाया था इसकारण अपना पक्ष अनीतिमान् है ऐसा ख्याल अर्जुनके अन्तस्तलमें उठखडा हुआ और वे कहने लगे—

यद्वा जयेम यदि वा नो जयेयुः न चैतत् विद्म कतरन्नो गरीयो।

अर्थात् जैसे वे अनीतिमान् वैसेही हमभी दोषी है, याने युद्धमें वही विजयी होगा जो अधिक बलवान हो, इसकारण क्या हम उन्हें जीतलेंगे या वे हमें पददलित करलेंगे, इस तरहकी जयापजयकी शंका उसने दर्शायी। गीताको जो सिद्धान्त सम्मुख रखना था वह ' **नीतिरस्मि जिगीषतां, जयः अस्मि व्यवसायोऽस्मि** सत्ववतां।' और ' यत्र योगेश्वरः ... तत्र विजयः नीतिः ॥' इस ढंगका था।, अतः अर्जुनने मदके आवेशमें, श्रीकृष्णजीके पक्षमें नीतिमत्ताका अभाव जानपडता है, ऐसा संशय प्रदर्शित किया इसलिए अर्जुनके ' शाधि मां त्वां प्रपन्नं ' इस प्रश्नका प्रहसनात्मक ' प्रज्ञावादांश्च भाषसे ' ऐसे व्यंग्यपूर्ण तरीकेसे देदिया।

इससे यही विदित होता है कि, दूसरे अध्यायके ११ वे श्लोकसे आगे अध्यात्मशास्त्रकी चर्चा शुरु करनेके पहले 'सार्वजनिक व्यवहारमें यश-अपयश, जय-अपजय वगैरह ऐहिक कर्मफल व्यक्तिपर निर्भर नहीं रहते किन्तु जिस पक्षमें नीतिमत्ताका प्रबल बल रहता है उसके सहारे रहते हैं ' यही सिद्धान्त सामने रखनेकी कोशिश की है। अत्यन्त महत्त्वपूर्ण भिन्नता यही है कि व्यक्तिके लिए गीताने नीति एवं जय शब्दों का प्रयोग नहीं किया है। ' यद्वा जयेम ' ' सत्ववतां जयः ' 'नीतिःजिगीषतां ' ' यत्र कृष्णः तत्र विजयः ' सभी स्थानोंमें अनेक वचनी प्रयोग दीखपडता है। ' यत्र ' शब्दसे पक्षकी ओर संकेत किया है। समाजके लिए ' नीति ' शब्द है, व्यक्तिके लिये नहीं। व्यक्तिके लिए गीताने ' स्वधर्म ' शब्द प्रयुक्त किया है। अनीतिमान् दलके साथ भीष्म, द्रोण जैसे महापुरुष लडनेके लिए खडे हुए इसलिए वे अनीतिमान् नहीं किन्तु वे स्वधर्मके अनुसार बर्ताव रखनेवाले थे; यह नीति एवं धर्मके मध्य विद्यमान अन्तर दर्शानेके लिए प्रथम अध्यायका लेखन किया। नीतियुक्त बर्तनका फल समाज को ' जयरूपी इष्टकामधुक् ' रूपमें मिलता है और वह ऐहिक रहता है। धर्माधर्माचरणका फल व्यक्तिको ' प्रेत्य भवति ' (१८।१२) अर्थात् पारलौकिक होता है, ऐसा गीताका प्रतिपादन है। कुल तथा जातिके लिए ' प्रेत्य फल ' ऐसा शब्द प्रयोग नहीं हो सकता।

ऐहिक दृष्टीसे व्यक्ति समाजका अवयव है। गीताका पहला अध्याय सामाजिक नीतिमत्ताकी चर्चाकी सूचना देनेवाला है। गीताकी समाप्तिभी ' यत्र योगेश्वरः तत्र जयः ध्रुवा नीतिः ' इसतरह हेतुपुरःसर है। इन दो छोरोंके मध्य ऐहिक धर्माधर्माचरणका पारलौकिक एवं पारमार्थिक फल व्यक्तिको क्यों तथा किसतरह मिलता है, यह अध्यात्मशास्त्रचर्चा ' धर्म्य संवाद ' रूपसे पायी जाती है। समाजशास्त्रके तथा अध्यात्मशास्त्रके हेतुओंमें बडी भारी विभिन्नता रहती है। यह ध्यानमें रखना चाहिये कि गीताने धर्म एवं नीति शब्दोंकी गुत्थी बिलकुल नहीं की है।

ऊपर सिद्ध करके दर्शाया है कि पाण्डवपक्ष सत्यपूर्ण और धार्तराष्ट्रोंका दल अनीतिमान् था ऐसा बतलानेके लिए व्यासजीने पहला अध्याय लिख डाला। यही अभिप्राय सौतिने १।१।०१ में कह डाला है जैसे —

वासुदेवस्य माहात्म्यं पाण्डवानां च सत्यताम्।
दुर्वृत्तं धार्तराष्ट्राणां उक्तवान् भगवान् ऋषिः॥

डॉ० अम्बेडकरका

वेद और गीतापर घोर कटाक्ष

(लेखक— पं० ऋभुदेवशर्मा ' साहित्याऽऽयुर्वेदभूषण ' चप्पल बाजार, दक्षिण हैद्राबाद)

न जाने कितने कालसे मानव-जाति वेद और गीताका अध्ययन करती चली आ रही है। उसे ये ग्रन्थ प्रिय लगे और उसने इनकी रक्षा की। डॉक्टर साहबको वेद और गीतासे घृणा हो गई है। उन्होंने इनका अनेक वर्ष अध्ययन और मनन किया है तब इस परिणाम पर पहुँचे हैं कि ये तो भांटोंके गीत और स्वार्थी लोगोंके अपनी अधिकार-रक्षाका साधन हैं। इस अध्ययनकी प्रशंसा करनी चाहिये जिसने मानव-जातिके कल्याणके लिये इतना बड़ा सत्य खोज निकाला।

ब्राह्मणोंकी वेद-भक्ति

डाक्टर साहबका कथन है कि किसी समय ब्राह्मण लोग भी वेदको नहीं मानते थे। जिस ब्रह्म अर्थात् वेदके अध्ययन और विचारसे ब्राह्मण वर्णकी उत्पत्ति हुई वे वेदको नहीं मानते थे यह विचित्र बात है। स्वयं वेद, ब्राह्मण, श्रौतसूत्र, गृह्य-सूत्र, उपनिषत् रामायण, महाभारत, ज्योतिष, छन्दःशास्त्र, व्याकरण प्रभृति ग्रन्थ वेदकी प्रशंसा करते और वेदका अध्ययन-अध्यापन ब्राह्मणका मुख्य कर्म बतलाते हैं। मनुस्मृतिका तो यह वाक्य बहुत ही प्रसिद्ध है—

योऽनधीत्य द्विजो वेदमन्यत्र कुरुते श्रमम्।
स जीवन्नेव शूद्रत्वमाशु गच्छति सान्वयः॥

(मनु० २।१६८)

" जो द्विज अर्थात् ब्राह्मण क्षत्रिय वैश्य विशेषकर ब्राह्मण वेद न पढ़कर अन्य शास्त्रों या कार्योंमें श्रम करते हैं वे जीवित दशामें ही शूद्र बन जाते हैं। " यदि ब्राह्मण वेदको नहीं मानते थे तो वे ब्राह्मण कैसे कहलाते थे। वेद-कहता है—

" **चत्वारि वाक्परिमिता पदानि तानि विदुर्ब्राह्मणा ये मनीषिणः।** " (ऋ० १।१६४।४५)

'वेद-वाणीके चार पदोंको मनीषी ब्राह्मण ही जानते हैं।'

क्या इस वाक्यकी विद्यमानतामें भी किसीको सन्देह हो सकता है कि ब्राह्मण वेदको नहीं मानते थे?

ब्राह्मणेतरोंकी वेदभक्ति

' ब्राह्मणः क्षत्रियो वैश्यस्त्रयो वर्णा द्विजातयः '

(मनु० १०।४)

मनुके इस वाक्यके अनुसार क्षत्रिय और वैश्य भी द्विज हैं। द्विज वेद पढ़कर ही बनते हैं। तब यह कैसे सिद्ध हुआ कि वे वेदको नहीं मानते थे। अध्ययन क्षत्रिय और वैश्यका प्रात्यहिक धर्म है। वे यदि वेदको नहीं मानते थे तो किन ग्रन्थोंका अध्ययन करते थे? द्विजातियोंमें न्यूनाधिक सोलह संस्कार प्रचलित है, वे किनके मंत्रोंसे किये जाते थे? चातुर्वर्ण्य वेदसे उत्पन्न हुआ और स्मृतियोंने उसे पुष्ट किया। यदि लोग वेदको नहीं मानते थे तो क्षत्रिय, वैश्य और शूद्र कैसे बन गये। वे अपना धर्म कैसे जानते थे? इन बातोंसे स्पष्ट है कि वर्णोंका आधार वेद है और उसे सब मानते थे।

शूद्रोंके साथ अन्याय

ब्राह्मण-धर्म अथवा वैदिक धर्म शूद्रोंके साथ अन्याय करता है यह डाक्टर साहबका कहना है। वर्तमान सामाजिक व्यवस्था को देखकर ऐसा अनुमान लगाना उचित है परन्तु यह सत्य नहीं है। वर्तमान व्यवस्थाने शूद्रही नहीं, मनुष्य जातिके साथ अन्याय किया है। ब्राह्मण जिस पत्नी और पुत्रीपर प्राण देनेको उद्यत है उसे वेद-मंत्र नहीं पढा सकता। क्या वह ऐसा द्वेषके कारण करता है? नहीं, नहीं, अविद्याके कारण उसे धर्मका तत्त्व दिखाई नहीं देरहा अतः विपरीत व्यवहार कर रहा है। सतीकी प्रथा, विधवाका विवाह न होने देना, कड़ाके की सर्दीमें भी प्रातः स्नान, श्राद्ध, तीर्थाटन, उपवास आदि नियम जिनसे अत्यन्त कष्ट होता है, ब्राह्मण इन्हें पालते हैं।

इससे उनकी अज्ञानता तो मानी जा सकती है, द्वेष-बुद्धि नहीं। गुणकर्मानुसार वर्ण-व्यवस्था माननेपर शूद्रोंको ऊँचा उठनेका पूरा अवसर मिलता है। चाण्डालीसे उत्पन्न पराशर, धीवरीके पेटसे उत्पन्न व्यास ये ऋषि और पूज्य हुए थे। आजकी व्यवस्थामें ऐसा नहीं हो सकता। वैदिकधर्म वर्ण-व्यवस्था गुणकर्मसे मानता है अतः वेदपर रुष्ट होनेकी कोई आवश्यकता नहीं। 'रुचं विश्येषु शूद्रेषु' यजु॰ १८।४८ जहाँ वैश्य और शूद्रोंमें भी प्रिय बननेकी प्रार्थना की गई हो वहाँ अत्याचारका नाम भी नहीं लिया जा सकता। हाँ, आपने दास शब्दसे शूद्र समझा होगा। परन्तु दास आर्योंसे बाहर है और शूद्र आर्योंके भीतर। आर्य देव या धार्मिक और दास असुर या अधार्मिक शत्रुका नाम है। दासके कारण कोई दुष्ट नहीं, दुष्टताके कारण दास बना है। अतः दासके साथ जो व्यवहार वेद बताता है उसे शूद्रके ऊपर घटाना वेदके साथ अन्याय है। शूद्र आर्य-समाजका अङ्ग है, दास नहीं क्योंकि शत्रु या अधार्मिक, दुष्टका नाम दास है। समाजमें या राष्ट्रमेंसे ऊँच-नीचका भाव हटाया नहीं जा सकता। जो गुण कर्मोंमें श्रेष्ठ होगा उसका आदर होगा ही। यही आदर वंश-परम्पराका रूप धारण करले तो हानिकर होता है जैसा कि हमारी जातिमें हुआ है। यदि आप कहें कि शिष्य गुरुको नमस्ते न करें, उसकी आज्ञामें न रहें। प्रजा राजा अथवा राज्याधिकारियोंका सम्मान न करे तो दूसरी बात है। ऐसा ऊँच-नीच बनाही रहेगा। वर्ण-व्यवस्थाका रूप वही है जो आज भी वर्ण-व्यवस्था रहित जातियोंमें पाया जाता है। आप जन्म-जात ऊँच-नीचके विरोधी हो सकते है। वर्तमान जाति-संगठनके भी विरोधी हों, परन्तु वेदका विरोधी होना उचित नहीं।

अथर्ववेदमें जादू टोना

आपने अथर्ववेद में जादू टोना बताया है। अथर्व ही क्यों, जो मानते हैं उनके मतसे सारे वेद जादू टोना है। 'मंत्रों में अपूर्व शक्ति है। उससे देव वशमें किये जा सकते है और उनसे अभीष्ट कार्य कराया जा सकता है।' परन्तु जो विद्वान् जादू-टोना नहीं स्वीकार करते उनसे पूछिये वेद क्या है और अथर्ववेदमें जादू-टोना है या नहीं? उन अभिचार मंत्रोंमें कितना उच्च विचार और राष्ट्रकी मंगल कामना है उसे जाति-गत द्वेष-भाव हटाकर पढ़िये।

सजातानां श्रेष्ठय आ धेह्येनम्॥ ३॥
सपत्ना अस्मदधरे भवन्तु॥ ४॥ (अथर्व॰ १।९)

इसे स्वजातियोंमें बनाओ॥ ३॥ शत्रु इस बली राजासे नीचे ही रहें। इत्यादि।

गीताका निर्माण

अर्जुनको स्वधर्म पालनके निमित्त उभाडनेके अतिरिक्त गीता अन्य कुछ भी नहीं है। अर्जुन रणक्षेत्र छोड़कर भिक्षाव्रती बन रहा था वहाँ यदि श्रीकृष्णने 'स्वधर्मे निधनं श्रेयः' अपने धर्ममें रहते हुए मर जाना उत्तम है, कहा तो क्या अनुचित किया? हाँ, जो लोग अपनी टीकामें स्वार्थवश यह लिखते है कि शूद्र शूद्रधर्ममें ही रहे अर्थात् जन्मजात शूद्रको ब्राह्मणादि बननेका अधिकार नहीं तो यह टीकाकारोंका अपराध है, गीता का नहीं। गीता महाभारत काव्यका अंग है। महाभारतके समान उसमें प्रक्षेप भी हैं। परन्तु इसमें गीताका महत्त्व कम नहीं होता। महाभारत नाशके साथही गीताका नाश होगा। यह महाभारतके साथ सम्बद्ध होनेसे उसके प्रकाशमें ही गीता का अर्थ करना चाहिये। महाभारतके कुछ अपने सिद्धान्त है जो सर्वत्र महाभारतमें बिखरे हुए हैं और वे गीतामें भी प्रविष्ट है यदि वे उचित नही है तो अन्य स्थलोंके समान गीतामेंसे भी बहिष्कृत हो सकते है परन्तु सारी गीता, जिसमें प्रसंगतः अनेक उत्तम ज्ञान ग्रथित है, का बहिष्कार क्यों किया जाय।

डाक्टर साहबका विचार आवेशकी लपटोंमें आ गया है। वे चाहें तो उसे पुनः सुधार सकते हैं।

पुनर्जन्म

(ले०- पं० ऋभुदेवशर्मा, साहित्याऽऽयुर्वेदभूषण, शास्त्राचार्य; चप्पल बाजार, हैद्राबाद दक्षिण)

पुनर्जन्मको प्रेत्यभाव भी कहते हैं। 'पुनरुत्पत्तिः प्रेत्यभावः' अर्थात् दूसरी बार जन्म लेनेका नाम प्रेत्यभाव है। प्रेत्य = मर कर भाव = होना अर्थात् मर कर पुनः उत्पन्न होना। आत्मा एक शरीर छोड कर दूसरा शरीर धारण करता है इसका नाम पुनर्जन्म है। भगवद्गीताके शब्दोंमें—

(१) जातस्य हि ध्रुवो मृत्युर्ध्रुवं जन्म मृतस्य च।
(गी० २।२७)

अर्थ— जन्मेका मरना और मरेका जन्म लेना निश्चित है।

(२) देहिनोऽस्मिन् यथा देहे कौमारं यौवनं जरा।
तथा देहान्तरप्राप्तिर्धीरस्तत्र न मुह्यति॥
(गीता० २।१३)

अर्थ— जिस प्रकार इस देही (आत्मा) के इस देहमें कौमार, यौवन और वृद्धावस्थाएँ होती हैं वैसे ही दूसरे देहमें जाना भी है।

धीर = विद्वान् इस विषयमें मोह नहीं करता।

(३) वासांसि जीर्णानि यथा विहाय,
नवानि गृह्णाति नरोऽपराणि।
तथा शरीराणि विहाय जीर्णा—
न्यन्यानि संयाति नवानि देही॥
(गी० २।२२)

अर्थ— मनुष्य जिस प्रकार जीर्ण वस्त्र परित्याग कर, दूसरा नया वस्त्र ग्रहण कर लेता है आत्मा भी वैसे ही जीर्ण शरीरोंको छोड कर दूसरे नये शरीर धारण कर लेता है।

गीताके मतमें आत्मा नित्य है, शरीर अनित्य। 'न हन्यते हन्यमाने शरीरे,' गी० २।२० शरीरके मारे जाने पर भी यह आत्मा नहीं मारा जाता। 'अजो नित्यः शाश्वतोऽयं पुराणः' गी०२।२० यह अजन्मा, नित्य, सनातन और पुराना है। तब शरीर उत्पन्न, अनित्य, कुछ काल से, और नया हुआ।

जब शरीरके नष्ट होनेपर भी आत्माका नाश नहीं होता, यहाँतक कि आकृतिमें परिवर्तन भी नहीं होता तब अवश्य यह आत्मा शरीरसे पृथक् वस्तु है। यह हो सकता है कि कोई मनुष्य शरीरके उपादान कारण का ही नाम आत्मा रख ले, तब भी यह अमर ही सिद्ध होगा क्योंकि अन्तमें उसकी अमर-सत्ता ही शेष रहेगी, परन्तु बात ऐसी नहीं है। आत्मा शरीरका उपादान नहीं है। मान लीजिये मिट्टीसे घडा बनाया। घडेके रूपमें मिट्टी शाश्वत नहीं है। उसकी आकृतिमें परिवर्तन हो सकता है। सोनेसे आभूषण बनाया। स्वर्ण शाश्वत होनेपर भी आभूषण अशाश्वत हैं। मुझे शाश्वत मिट्टी नहीं चाहिये, शाश्वत घडा चाहिये। मुझे शाश्वत स्वर्ण नहीं, शाश्वत आभूषण चाहिये। जिससे शरीर बना वह शाश्वत हो तो भी हमें उससे क्या काम? हमें तो शरीर जैसा कोई उपयोगी पदार्थ चाहिये जो कि शाश्वत हो। आत्मा शरीरके समान ही उपयोगी है और शाश्वत भी। वह शरीर-रहित हो कर अखण्ड सुखका अनुभव कर सकता है। शरीरका उपादान शरीरसे पृथक हो कर अखण्ड आनन्द का अनुभव नहीं कर सकता। अन्य कारणोंसे भी आत्मा शरीरका उपादान नहीं उससे नितान्त पृथक् है। उसे पृथक् मानने पर ही जन्म और मोक्ष की व्यवस्था सिद्ध हो सकती है।

असत्से सत्की उत्पत्ति नहीं हो सकती। जहां असत्से सत् उत्पन्न दीख पडता है वहाँ भी सत्का=भावका कुछ न कुछ कारण अवश्य विद्यमान है। आज आत्मा सत्= विद्यमान् दीख पडता है तब इसके पहले भी किसी न किसी रूपमें होगा यह स्पष्ट है, परन्तु आत्माके स्वरूपका परिवर्तन नहीं होता अतः इससे पूर्व भी इसी रूपमें होगा, यह भी मानना पडेगा। सत्का अभाव नहीं होता, रूप परिवर्तन सम्भव है। तब यह आत्मा आगे भी किसी न किसी रूपमें रहेगा। रूप-परिणाम न होनेसे इसी रूपमें रहेगा। गीता

में इसी सिद्धान्तको लेकर आत्माको नित्य कहा गया है–

नासतो विद्यते भावो नाभावो विद्यते सतः ।
उभयोरपि दृष्टोऽन्तस्त्वनयोस्तत्त्वदर्शिभिः ॥

(गी० २।१६)

अर्थ– 'नासतो ख्यानं नृश्रृङ्गवत्' सां० ५।५२ सांख्यके मत अनुसार कि असत्का कभी दर्शन नहीं हो सकता जैसे मनुष्यकी सींगका, असत्का भाव और सत्का अभाव नहीं होता। तत्वदर्शियोंने इन दोनोंका मर्म पूर्णरूपेण समझा है।

आत्माके पुनर्जन्मसे पहले इस जन्मका कारण ढूँढना चाहिये। जिस कारणसे आत्माने यह शरीर लिया है यदि वह कारण कुण्ठित या नष्ट न हो तो पुनः शरीर धारणमें कोई संशय नहीं रह जाता। जो लोग शरीरको ही आत्मा मानते हैं उनके मतमें स्वभावसे यह शरीर उत्पन्न हुआ है, स्वभावके कारण पंचभूतोंसे पुनः शरीर बनेगा। यह न हो, दूसरा शरीर तो बनेगा ही। जो केवल ब्रह्मकी सत्ता मानते हैं जगत्को मिथ्या कहते हैं उनके मतसे आगे भी ब्रह्मको भ्रम लगा ही रहेगा यदि उसका अन्त होना होता तो अनादि कालसे अब तक नहीं ठहरता। भ्रमसे ही मानिये तो भी ब्रह्मको वारंवार जन्म लेना पड़ेगा। जो लोग ब्रह्मसे जगत्की उत्पत्ति मानते हैं पर जगत्को भ्रम नहीं। वे ब्रह्म का अनेक वार स्थूल से सूक्ष्म और सूक्ष्मसे स्थूल रूपमें आना तो मानेंगे ही। इससे भी जन्मका अन्त नहीं होता। जो लोग स्थिर एक आत्मा नहीं मानते। उन क्षणिकवादियोंके मतसे भी एक आत्मा दूसरे क्षण दूसरा रूप धारण करेगा। उसमें पूर्व आत्माके गुण या दोष तो रहेंगे ही। उनके मतसे भी मोक्षसे पूर्व अनेक जन्म धारण करने पड़ेंगे।

कुछ लोग ऐसे हैं जिन्हें परम्परावादी कह सकते हैं दार्शनिक नहीं। इनमें पौराणिक, ईसाई, मुसल्मान, पारसी आदि हैं। ये लोग कथा और धर्मपुस्तकपर अधिक विश्वास रखते हैं युक्ति-प्रमाण पर कम। इनके मतमें पुण्यकर्मोंसे स्वर्ग और पापसे नरक होता है। पौराणिक लोग स्वर्ग और नरक का अन्त मानते हैं परन्तु ईसाई आदि मोक्षके समान स्वर्गको नित्य मानते हैं। पौराणिक मतसे स्वर्ग या नरकके पश्चात् शरीर धारण आवश्यक है परन्तु ईसाई और मुसल्मान मुक्तिके समान स्वर्गमें ही जन्म का अन्त मानते हैं। पौराणिक लोगोंके लिये पुनर्जन्म नई बात नहीं है। यह तो उनका पुराना सिद्धान्त है, हाँ ईसाई और मुसल्मान अवश्य पुनर्जन्म पर शङ्का कर सकते हैं। उनका वाद धर्मशास्त्र पर आश्रित है युक्ति पर नहीं, अतः यही कहा जा सकता है कि उन्हें अपने पुराने धर्मशास्त्रों की ओर दौड़ते हुए वैदिक साहित्य तक जाना पड़ेगा तब उन्हें अपने वाद का अधूरापन ज्ञात हो जावेगा। उनका वाद–

यद्गत्वा न निवर्तन्ते तद्धाम परमं मम।

(गीता १५।६)

अर्थात् जीव जहाँ पहुँच कर फिर नहीं लौटते वही मेरा परम धाम है। गीताने यह धाम परमेश्वरका धाम ही बताया है। ईसाई और मुसल्मान परमेश्वरके धामको ही स्वर्ग कहते हैं और पौराणिक परिभाषाके अनुसार इन्द्रका स्थान देवलोक और विष्णुका स्थान मुक्ति लोक है। देवलोकसे पुनरावर्तन और विष्णुलोकमें आनन्त्य प्राप्त होना है। इसलिये कहना चाहिये कि इन लोगोंने गीता और पुराणोंके विष्णुलोकको ले लिया है और देव लोक छोड़ दिया है। देव लोक और मोक्ष लोक दोनों स्वर्ग कहलाते हैं। ईसाई और मुसल्मानोंका स्वर्ग मोक्षलोक है। यदि वे देवलोक मानते तो उन्हें भी पुनर्जन्म मानना पड़ता। बीच की यह श्रृंखला उन्होंने किसी कारण छोड़ दी इस लिए उनके मतमें पुनर्जन्म का अभाव हो गया। शास्त्रदृष्ट्या कहा जा सकता है कि उनके पूर्वज पुनर्जन्म मानते होंगे परन्तु आगे चलकर ये उन्हें भूल गये। यदि यह वाद युक्ति पर आश्रित होता तो उनकी युक्तियोंसे खण्डन या मण्डन हो सकता था।

एक मनुष्य केवल विश्वास पर आश्रित हो और सत्यको भूल रहा हो तो उसके न माननेसे सत्यका अपलाप नहीं हो सकता। ईसाई और मुसल्मान पुनर्जन्म नहीं मानते अतः पुनर्जन्म नहीं होता, यह कभी नहीं हो सकता।

हमारे देशके सभी योगी और दार्शनिक लोगोंने पुनर्जन्म स्वीकार कियाहै। उन्होंने स्वीकार किया है, अतः ठीक है, ऐसा नहीं कहता। हाँ, उन्होंने जो हेतु दिये हैं वे ठीक जँचते हैं। हो सकता है, किसीके मतमें वे ठीक न हों, वे पुनर्जन्म न मानें परन्तु वे उसके खण्डनमें जो हेतु देंगे वे परीक्ष्य होंगे और उन हेतुओंके निस्सार होने पर पूर्व हेतु ठीक माने जायेंगे।

पुनर्जन्म पर पूर्व कुछ विचार कर आया हूं। आगे थोड़ा और कहता हूँ।

(१) मनुष्य जो कुछ विचार या कार्य करता है, उसके मन पर उसका सूक्ष्म प्रभाव पडता है। जिस मनुष्य को हाथ-पाँव हिलाने का बहुत अभ्यास है वह जब कभी बैठेगा, विचार किधर भी हों, उसका हाथ-पाँव हिलता रहेगा। इसी प्रकार सुनी हुई बातें स्वप्न बन कर हर्ष या भय का कारण बनती हैं। जीवनमें नित्य घटित घटनाओंके आधार पर हम इन संस्कारों का अनुमान करते हैं। छोटे बच्चेमें दूध पीने की प्रवृत्ति बताती है कि वह पहले कभी जन्म चुका है। यह उसका दूसरा जन्म है। जब दूसरा जन्म सिद्ध हो जाय तब पुनर्जन्म = आगे भी जन्म होगा इसके माननेमें कठिनाई नहीं रहती। यह ध्यान रखना चाहिये कि शरीर और मन, बुद्धि आदि कर्म-निमित्तसे हैं। यदि छोटे बच्चेने पूर्वजन्ममें अभ्यास नहीं किया तो दूध पीने का संस्कार उसे कैसे मिला? बच्चे का दूध पीना स्वाभाविक है, इतनेसे ही कोई बात नहीं बनती। जहाँ हमें कारण का पता न हो, वहाँ स्वभावका आश्रय ले सकते हैं। तब तो कोई अज्ञानी यहभी कह सकता है कि B A. और M A. बनना स्वाभाविक है।

(२) हम जो कुछ कर्म करते हैं उसका फल शीघ्र या देरसे अवश्य मिलता है। यह फल ही मनुष्य को कर्ममें प्रेरित करता है। यदि फल न मिले तो कोई मनुष्य कर्म करनेमें प्रवृत्त न हो। यदि पुनर्जन्म न हो इस जन्ममें हम जो कुछ भोग रहे हैं वह अकृत है। जब बिना कुछ कर्म किये सुख या दुःख मिल रहा है तब सुखके प्राप्त करने और दुःखके हटाने का प्रयत्न क्यों करें! अतः जो कुछ हमें प्राप्त हो रहा है वह अकृत नहीं है। अच्छा, हमारा दूसरा जन्म नहीं होगा, फिर कलके लिए हम कर्म क्यों करें? क्या पता आज ही हमारी जीवन-लीला समाप्त हो जाय? तथा कर्मों का फल अवश्य मिलता है। पुनर्जन्म नहीं, तो शेष भोग्य कर्मोंके फल किसको मिलेंगे?

(३) कर्मके फलसे शरीर मिलता है यह जानकर ही योगी लोग फल की आसक्ति छोड कर कर्म करते हैं। इससे प्रवृत्ति नामक दोष, जो राग द्वेषसे प्रेरणा पाकर मनुष्यको सताता है, हट जाता है। तब मनुष्य सुख-दुःख भावनासे रहित कर्तव्य समझ कर कार्य करता है। यदि कर्म फल न मिलता और वह दूसरे शरीरके जन्म का कारण न बनता तो योगीको कर्मके नाश की चिन्ता ही नहीं होती। योगी लोग समाधि द्वारा इसी देहमें जन्मको रोकते हैं। उस जन्मके निरोधसे ही अविचल समाधि प्राप्त होता है। कर्मसे जन्म होता है यह जानकर योगाभ्यास किया जाता है इससे भी सिद्ध होता है कि दूसरा जन्म अवश्य है।

(४) शरीर मानवी उन्नति का साधन है, यदि एक ही शरीर मिले तथा दूसरा शरीर न हो तो मूर्ख को विद्वान् और निर्धनको धनी बनने का अवसर कैसे प्राप्त होगा?

(५) कई पशुओंमें मनुष्यके समान दया, सौजन्य, प्रेम आदि गुण देखे जाते हैं यदि दूसरा जन्म न मानें तो इनमें ये गुण कहाँ आये? उन्होंने मनुष्योंसे नहीं सीखा, अवश्य ही वे कभी मनुष्य रहे होंगे।

(६) जो जीवोंको नित्य मानते हैं, यदि एक ही जन्म है तो परमेश्वरको अभी शरीर देनेकी क्या आवश्यकता पडी? अनादि कालसे क्या ऐसी आवश्यकता नहीं हुई थी और यदि आगे आवश्यकता पडे तो परमेश्वर क्या करेगा?

(७) अच्छा मान लीजिये परमेश्वर अपनेमेंसे जीव और जगत् बनाता है। जो उत्पन्न हुए वे मरे नहीं स्वर्ग या नरकमें गये। जहाँसे जीव और जगत् बनानेकी सामग्री ली जाती है वह स्थान परमेश्वर कैसे भरेगा? या वह गड्ढे के समान ही पडा रहेगा। जलको जल भरता है। मिट्टीको मिट्टी पाटती है। हवाको हवा पूरती है। परमेश्वरको कौन पूर्ण करता है। इससे स्वर्गसे पृथिवीपर उतरना मानना पडेगा।

(८) परमेश्वर जीवोंके कल्याणार्थ सृष्टि बनाता है। यही उसके लिये उचित और स्वभावसे अनुकूल बात है यदि जीव पुनः शरीरमें न आयें तो जीवोंकी संख्या अनन्त न होनेसे सृष्टिका प्रवाह बन्द हो जायेगा जैसे वर्षाके पश्चात् छोटे-छोटे नालोंका हो जाता है। अतः जीवोंका पुनः शरीर धारण मानना ही पडेगा।

(९) योगी लोग अपने अनेक जन्मोंका संस्कार साक्षात् करते हैं यद्यपि दूसरे लोग उसके विषयमें नहींके बराबर ज्ञान रखते हैं। इससे भी सिद्ध है कि जन्म अनेक हैं, एक नहीं।

(१०) जन्मसे लेकर मरण पर्यन्त हमारा कर्म-प्रवाह चलता रहता है उसका आगे भी चलते रहना ही उचित है। वह तभी चल सकता है जब जन्म-प्रवाह अविच्छिन्न चलता रहे।

इन युक्तियों पर साधक-बाधक अनेक प्रमाण दिये जा सकते हैं तो भी ये युक्तियाँ पुनर्जन्मको सिद्ध करती हैं। बुद्धिमान लोग इतने पर ही सन्तोष करें।

बाइबल तथा कुर्आनमें वैदिक सूर्योपासना

लेखक- श्री. गणपतराव बा० गोरे औंध (जि० सातारा)

खण्ड ९

[नवम्बर १९४४ अंक से आगे]

सृष्ट्युत्पत्तिका वैदिक क्रम । वेदमें उषा-वायुका अलंकारिक संबंध । वेदमें उषा-वायु संयोगसे सूर्योत्पत्ति । वा० रामायणमें अंजना-वायु संयोगसे हनुमानकी उत्पत्ति । हनुमानका अंजनाके उदरसे उत्पन्न होना अथवा सूर्यका उषाके उदरसे उत्पन्न होना । मर्यम् जिब्रील संबंधसे ह. ईसा की उत्पत्ति बाइबलमें । मर्यम-जिब्रील संबंधसे ह० ईसाकी उत्पत्ति कुर्आनादि मुस्लिम साहित्यमें । क्या हनुमानके समान ह० ईसा भी नियोगसे उत्पन्न नहीं हुए? नियोगका अर्थ और मर्यम-जिब्रीलमें नैसर्गिक नियोग हुआ इसके प्रमाण ।

(९) सृष्टि उत्पत्तिका वैदिक क्रम

तस्माद्विराळजायत विराजो अधि पुरुष ।
स जातो अत्यरिच्यत पश्चाद्भूमिमथो पुरः ॥
ऋ. १०।९०।५ ॥

अर्थ- (तस्मात विराट् अजायत) उस परमात्मासे विराज्=विशेष प्रकारसे [केवल स्पर्शसे] प्रकाशित होने वाला, अर्थात् वायु उत्पन्न हुआ । (विराज अधि) इस विराज=वायुमेंसे (पुरुषः) सूर्य [Nebula] उत्पन्न हुआ । (स जातः) वह सूर्य [रूपी अग्निका गोला = नेब्युला] उत्पन्न होकर (अति अरिच्यत) [नव ग्रहोंके रूपोंमें] विभक्त हो गया । (भूमिम् अथो पुर पश्चात्) भूमि वा पृथिवी और उसकी चराचर बस्ती उसके बाद उत्पन्न हुई ॥५

यह मंत्र पाश्चात्य सृष्टि-विज्ञानकी Nebula Theory का मूलाधार है । तै० उ० ब्रह्मानन्द वल्ली अनुवाक १ में इसी मंत्रका विस्तृत वर्णन पढिए । प्रस्तुत लेखका संबंध मंत्रके केवल इतनेही भागसे है कि वेदके विराज वा वायु से सूर्यकी उत्पत्ति किस प्रकार हुई, और यही कथा रामायण, बाइबल तथा कुर्आनने किस प्रकार बताई है ।

१. वेदमें कन्या उषा का विराट पुरुष वायुदेवसे सम्बन्ध ।

इस अलंकारिक सम्बन्धके वर्णनका एक मन्त्र इस प्रकार है--

ऋषिः कक्षीवान् दैर्घतमस औशिजः । देवता उषा ।
कन्येव तन्वा३ शाशदानाँ एषि देवि देवमियक्षमाणम् ।
संस्मयमाना युवतिः पुरस्तादाविर्वक्षांसि कृणुषे विभाती ॥
॥ ऋ० १।१२३।१० ॥

अर्थ- (देवि) हे तेजस्विनि उषा ! तू (कन्या इव) कुमारीके समान (इयक्षमाणम्) अपनी कामना करनेवाले (देवम्) [विराज रूपी पति] देवको (तन्वा) अपने शरीर सहित (शाशदाना) अपने स्वरूपको प्रकट करती हुई (एषि) प्राप्त होती है । (युवतिः) तू निरन्तर युवा रहने वाली स्त्री है और (संस्मयमाना) [प्रतिदिन] भली प्रकार मुस्कराती हुई (पुरस्तात्) अपने पतिके सामने (वक्षांसि) अपने बाहुमूल छातियाँ आदि अंगोंको (आविः कृणुषे) प्रकट करती रहती है और (वि+भाती) विशेष रीतिसे प्रकाशित होती है ॥१०॥

पाठको ! यह अलंकारिक वर्णन जैसा सृष्टि उत्पत्तिपर घटता है उसी प्रकार प्रतिदिनभी घटता रहता है ।

स्मरण रहे कि यह अलंकारिक वर्णन है । यहां कन्या गमन जारकर्म, व्यभिचार आदि दोष आरोपित हो नहीं सकते । क्यों? इसलिए कि यह केवल आरोप-Metaphor है, तथ्यता नहीं । और इसीलिए वेदमें कई विभिन्न प्रकारोंसे उषाके संबंध दिखाए गए हैं, यथा भगस्य स्वसा वरुणस्य जामि. ॥ ऋ०१।१२३।५॥

अर्थ-हे उषा! तू (भगस्य स्वसा) तू सूर्यके समान उत्पन्न होनेवाली, मानो इसकी बहिन है । और (वह

णस्य) सबको वारण करनेवाले रात्रिरूप अन्धकारकी (जामिः) [मानो] तू कन्या है ॥५॥ एषा दिवो दुहिता ॥ ऋ० १।१२४।३ ॥ वह उषा (दिवः दुहिता) सूर्यकी कन्या है ॥३॥ इत्यादि ।

२. अदिति, वा उषा तथा वायुदेवके संबंधसे सूर्योत्पत्ति-वेदमें ।

उपर्युक्त उषा-वायुके शारीरिक सम्बन्धके फल स्वरूप जो सूर्य देव की उत्पत्ति हुई, उसका वर्णन वेदमें निम्न प्रकार मिलता है—

वत्सो विराजो वृषभो मतीनाम् आरुरोह शुक्रपृष्ठो अन्तरिक्षम् ॥ अ० १३।१।३३

अर्थ- (विराज वत्स) वायुका पुत्र सूर्य (मतीनाम् वृषभः) ज्ञान विज्ञान की वृष्टि करनेहारा वा बैल (शुक्र-पृष्ठ) वीर्यवान् वा उत्पत्ति सामर्थ्यसे युक्त (अन्तरिक्षम्) आकाश पर (आरुरोह) सब ओरसे चढ रहा है ।।३३॥

इस मन्त्रमें सूर्यको वायुका पुत्र ही नहीं कहा गया, अपितु, इस्राईल जातिके इस मन्तव्यकाभी समर्थन किया गया है कि अरुणाग्निमेंसे सुवर्णके अलंकार ढलकर बैल बनकर निकले [वै० धर्म अक्तूबर पृ० ५११]

अब रहा सूर्यको अदिति का पुत्र बताना, सो इस प्रकार है-दिव्यः सुपर्ण स वीरो व्यऽख्यददितेः पुत्रो भुवनानि विश्वा ।। अ० १३।२।९ ।।

अर्थ- (स दिव्यः सुपर्ण) उस प्रकाशमान गरुड पक्षि [सूर्य] , (अदितेः वीरः पुत्रः) अदिति का उषाके वीर पुत्र सूर्यने (विश्वा भुवनानि वि अख्यत्) सब भुवनोंको प्रकाशित किया है ।९॥ अदिति और वायुके संयोग द्वारा सूर्यके उत्पन्न होनेकी अलंकारिक कथाका इस प्रकार संक्षिप्त वर्णन करके, आगे हम यह दिखाना चाहते हैं कि रामायण के कर्ता वाल्मीकि मुनिने इसी वैदिक अलंकारको हनुमानकी उत्पत्ति पर किस प्रकार घटाया है और वेदके सूर्यको वानर श्रेष्ठ हनुमान बनाया है !

(१०) अंजना वायु संबंधसे हनुमानकी उत्पत्ति-वा. रामायणके अनुसार

वानरसेना जब सीताजीकी खोज करती हुई समुद्र तट पर पहुंची, तो उसके सामने यह विकट प्रश्न उपस्थित हुआ कि अब समुद्र उल्लंघन करके लंकामें कौन जाकर सीता का शोध लगाये ? कइयोंने अपने प्रस्ताव रखे परतु हनुमानजी मौन धारे सुन रहे थे। यह अवस्था देखकर जांबवानने हनुमानसे कहा:-

" हे वीर हनुमान ! तू सर्व शास्त्रवेत्ताओंमें श्रेष्ठ होते हुएभी चुपचाप बैठा हुआ है . सो क्यों? ।२। हे हनुमान तेज और बलके योगसे तू वानर राज सुग्रीव और राम लक्ष्मण इन सबकी बराबरी करनेवाला है× ।३। काश्यपका पुत्र महा बलाढ्य वैनतेय गरूड जो सब पक्षियोंमें श्रेष्ठ है, उसी प्रकार तू भी सर्वोत्तम समझा जाता है ।४। और जो सामर्थ्य उसके पंखोंमें है, वही सामर्थ्य तेरी बाहुओंमें भी है। अतः पराक्रम और तेजमें तू भी उस गरूड पक्षिसे कम नहीं ।६। .. अप्सराओंमें श्रेष्ठ और पुञ्जिकस्थला+ इस नामसे विख्यात ऐसी जो अप्सरा थी, वही केसरी नामक वानरकी अंजना ※ नामक पत्नी थी ।८।

× श्लोक २,३, को पढनेसे विदित होगा कि बंगालकी बानरजीके समान ही रामायण कालीन वानर जाति भी मनुष्य जाति का एक उपनाम ही था- वे बन्दर नहीं थे ।

※ ४—६में हनुमान तथा गरूडकी समानता दिखाई है । गरुड वा सुपर्ण सूर्यका नाम है । जिस प्रकार सूर्य परमात्माका वाहन, उसका पुत्र, सेवक वा उसका दूत कहलाता है, उसी प्रकार हनुमान भी रामका वाहन और सेवक और दूत है । इसी प्रकार बाइबलने भी ह० ईसाको परमात्मा का पुत्र, सेवक और दूत बताया है ।

Nymphs = जल देवता वा वन देवता, सूर्य किरण; हूर; परी; इन्द्र देवकी प्रेषिता = सूर्य किरण = Sunbeam [illegible] +पुंजी = Mass, collection = गोला. जमाव + क = अग्नि = Fire+स्थला = Field = क्षेत्र । अर्थात् Field of a mass of fire अग्निके जमावका क्षेत्रः अरुणाग्नि अदिति वा उषा ॥ ※ अगले पृष्ठपर देखो ।

वह महात्मा कुंजर × नामक वानर अधिपति की कन्या एक वार मनुष्य रूप धारण करके पर्जन्यकालके मेघके सदृश दीखनेवाले पर्वत शिखरपर * संचार कर रही थी। रूप और यौवनके योगसे वह प्रकाशित हो रही थी। अद्भुत पुष्पों और आभूषणोंको उसने धारण किया था और एक स्वर्णिल साडी १ पहने हुए थी ।१०-११। इस प्रकार उस पर्वत शिखर पर बैठी हुई स्त्रीका आरक्तवर्ण किनारोंसे युक्त, शुभ और पीला वस्त्र धीमे धीमे वायूने उडाया ।१२। और फिर उसकी सुन्दर पुष्ट और गोल जघाएं, पुष्ट तथा एक दूसरेसे लगे हुए स्तन, तथा उत्कृष्ट आकृतिवाला सुन्दर मुख उसने देखे ।१३। उसके विस्तृत जघनप्रदेश उसके कृश मध्य भाग, तथा उसके सभी उत्कृष्ट अवयवोंका अवलोकन करते हुए कामवश होकर वायु उस स्त्रीपर अतिशय मोहित हुआ ।१४। यही नहीं अपितु अपनी दीर्घ बाहुओंसे उसने उसे आलिंगन दिया और सारा शरीर कामसे व्याप्त होनेके कारण वायूने उस निर्दोष स्त्रीके गर्भाशयमें अपना तेज प्रविष्ट किया ।१५। तब वह पतिव्रता स्त्री एकदम घबरा कर बोली 'मेरे इस एक पत्नीव्रतको नाश करनेकी यह कौन इच्छा कर रहा है ?' ।१६। अजनाके ये वचन सुनकर वायुने कहा, हे सुन्दरी ! मै तेरा घात नहीं करता अतः तू मनमें मत डर ।१७। हे यशस्विनी ! मैंने तुझे केवल मानसिक भोगके योगसे ही लिपट कर जबकि तेरे गर्भाशयमें अपना तेज स्थापित किया है, तो तुझे एक वीर्यवान् और बुद्धिमान पुत्र उत्पन्न होगा ।१८। वह पुत्र महा धैर्यवान, महातेजस्वी, महाबलाढ्य, और महापराक्रमी होगा और मार्गको उल्लंघन करने और कूद जानेमें मेरी समानता करेगा' ।१९। हे महाकपी ! वायुके इस प्रकार कहनेपर तेरी माता सन्तुष्ट हुई और हे महापराक्रमी वानर श्रेष्ठ ! उसने गुहामें तुझे जन्म दिया ।२०। पश्चात् महावनमें सूर्यको उदय होते देख कर, तूने बचपनमें समझा कि यह कोई फल है। उसे लेनेकी तेरी इच्छा हुई, और उसके लेनेके लिए तू कूद कर सूर्य लोग तक जा पहुंचा ।२१। " (वा. रामायण किष्कि० काण्ड सर्ग ६६) आगे लिखा है.—

स त्वं केसारिणः पुत्र क्षेत्रजो भीम विक्रमः।२९॥
मारुतस्यौरसः पुत्रस्तेजसा चापि तत् समः ॥३॥

वा० रा० किष्कि० सर्ग ६६

अर्थ- हे हनुमान् ! तुम शूरवीर केसरीके क्षेत्रज पुत्र हो और वायुके औरस पुत्र हो और तेजमें भी उसीके समान हो ॥२९--३०॥ अब क्षेत्रज पुत्र उसको कहते हैं, जो नियोग से उत्पन्न हुआ हो ! अतः प्रश्न होता है कि क्या वायुने अंजनासे नियोग किया था ? यही प्रश्न आगे इन्जील तथा कुर्आनके वर्णनोंपर भी लागू हो सकेगा कि क्या पवित्रात्मा वा जिब्रीलने मर्यमसे नियोग किया था ?

(११) हनुमान का अंजनाके उदरसे उत्पन्न होना अथवा सूर्यका उषाके उदरसे उत्पन्न होना।

१ प्रश्न- हिन्दुओंका मत है कि अंजना वानरी थी, और उसके उदरसे हनुमान नामक वानर = बंदरही उत्पन्न हुआ, सूर्य नहीं ! क्या सूर्यका नाम बंदर है ?

उत्तर- रामायणके उद्धरणके नीचे दी गई पादटीपोंमें

[पृ० ८८ का]* केसरी वा सिंह सूर्य का भी नाम है। वानर वा कपि भी सूर्यके नाम है। वा = सदृश = alike+नर = मनुष्य। इसी कारण उसे पुरुष भी वेदमें कहा है यथा पुरुष एवेदं सर्वं ऋ० १०।९०।२ कपि नाममें कं = पानी +पिः = पीनेवाला, सूर्य पानी का शोषण करता है अतः कपि कहलाता है ।

[पृ० ८८ का]* अंजना अंज् धातुसे बना है जिसका आपटे कृत अर्थ है To annoint or smear with तेल वा घीसे मलना, अभिषेक करना २ To shine=चमकना, ३ To be beautiful=सुन्दर बनना। अजनः Collyrium or black pigment = काला सुरमा [काली रात-लेखक] अजना = Fire=अग्नि [अंजन+आ = काली रातसे, उत्पन्न होनेवाली उषा चमकनेवाली वा सुन्दर स्त्री = अरुणा, वा उषा-ले]

अब दूसरा अर्थ देखिए। संस्कृत में जनिः, जनिका वा जनी = Birth, creation Production=उत्पत्ति, जन्म, पैदाइश (आपटे) अतः अन+जनी = Antibirth=विनाश=मृत्यू=मारी=Mary !!

× 'कुंजर'के अर्थ हाथी, सिंह, और सूर्यभी है। * उषाकी शोभा पर्वतकी चोटियों पर ही अधिक सुन्दर दीखती है।
१ उषाकी सोनेकी सी झलकही मानो उसकी स्वर्णिल साडी है।

सूर्यके कपि वानर आदि कई नाम गिनाए गए हैं। अवश्यमेव सूर्यका एक नाम बंदिर भी है!

२ वैदिकधर्मानुसार सूर्य जीवोंका स्वर्गलोक वा मुक्ति-स्थान है। बंदिः = Bondage = बधन (आपटे)+र = रहित। अर्थात बंदिरका अर्थ हुआ बंधन रहित = मुक्त !!! यही शब्द हिन्दीमें बंदर बना।

३ वैदिक धर्मही नहीं अपितु पाश्चात्य वैज्ञानिकोंकी नेब्युला थीअरी के अनुसार भी सूर्यसे ही सृष्टिकी उत्पत्ति और सूर्य वा बंदरमें ही सृष्टिका लय माना गया है। अब यदि डार्विनसाहबके तर्कशास्त्रानुसार मनुष्यकी उत्पत्ति बंदरसे सिद्ध की जाती है, तो वैदिक मन्तव्यसे मौलिक विरोध कहां आता है?

४. यह सूर्यरूपी बंदर कुंजर=हाथी ही नहीं अपितु स्वयं अञ्जन भी कहलाता है, और अञ्जना नाम हनुमानकी माताका है! अर्थात् अञ्जनासे अञ्जनः अर्थात् सूर्य वा हनुमान उत्पन्न हुए!! [उषासे उषः वा उषपः = सूर्य उत्पन्न हुए]

ऐरावतः पुंडरीको वामनः कुमुदोऽञ्जनः।
पुष्पदंतः सार्वभौमः सुप्रतीकश्च दिग्गजाः॥

अमरकोश॥

पाठको! संस्कृत शब्दोंके यौगिक अर्थोंके भीतर कितना अमूप विज्ञान भरा हुआ है, यह आप देख रहे हैं! इस रहस्य को ऋषि दयानंदने पहचाना, और तदानुसार ही वेदार्थ करनेकी आज्ञा कर गये। हिन्दु सहस्रों वर्षोंसे हनुमान पूजते आये, परंतु इतना समझ न पाये कि यह कृत्रिम सूर्योपासना ही है !!!

५ प्रश्न- वा रामायण किष्कि० काण्ड ६६।२१ में लिखा है कि बालकपनमें हनुमानने सूर्यको उदय होते देखकर समझा कि यह कोई फल है, और उसे लेनेके लिये कूदकर सूर्य लोक तक जा पहुंचे। इससे तो सिद्ध होता है कि हनुमान और सूर्य दो भिन्न भिन्न व्यक्तियां हैं।

१. उत्तर- सारी कथा को पढनेसे तथा नामोंके अर्थों-पर विचार करनेसे ऐसा प्रतीत नहीं होता। २. जब कविने हनुमानको एक चतुर्पाद प्राणी बंदर बनाया, तब ही उसके कूदनेकी असीम शक्तिको दर्शानेके लिए ऐसा लिखना पडा। ३. शिवपुराणमें लिखा है कि-

हनुमान् स कपीशानः शिशुरेव महाबलः।
रविबिम्बं बभक्षाशु ज्ञात्वा लघुफलं प्रगे॥

शतरुद्रसं० ३।२०।८

अर्थ- वह महाबली वानर हनुमान् बालकपनमें ही लघुफल जानकर सूर्यमण्डलको शीघ्र भक्षण कर गया॥८॥

ऊपरी दृष्टिसे यह बात असंभव दीखती है, परन्तु सूर्यको पेटमें डालनेका अर्थ है सूर्यके समस्त गुणों को धारण करना! अब अर्थ हुआ कि हनुमानमें बचपनसेही सूर्यके सभी गुण—कर्म—स्वभाव विद्यमान थे!!

अञ्जनाके कानमें शिवजीके वीर्य, टपकानेसे हनुमान उत्पन्न हुए।

६ तैर्गौतम सुतायां तद्वीर्यं शंभोर्महर्षिभिः। कर्णद्वारा तथांजन्यां रामकार्यार्थमाहितम्॥६॥ ततश्च समये तस्मा द्धनुमानिति नाम भाक्। शंभुर्जज्ञे कपितनुर्महाबलपराक्रमः॥७॥ शिवपु० शतरुद्रसं० ३।२०॥

अर्थ—उन महर्षियोंने वह शिवजीका वीर्य गौतम की पुत्री अंजनामें कानके द्वारा रामके कार्यार्थ प्रविष्ट किया।६। उसके पश्चात् समयपर उस वीर्यसे महाबली तथा पराक्रम युक्त वानरके शरीरवाले हनुमान नामक शिवजी उत्पन्न हुए।७। अर्थात् हनुमान = सूर्य = शिव वायुके पुत्र हैं!! इस अलंकारिक वर्णनमें निम्न बातें विचारणीय हैं:—

क. ऋषियोंने सोती हुई अंजनाके कानमें वीर्य टपकाया अतः नियोग आदि भी न हुआ।

ख. बाइबल- कुर्आनमें जो अल्लाहकी रूह मर्यममें फूंके जानेका वर्णन है, उसकी तुलना इस कानमें वीर्य [शक्ति] के फूंके जानेसे करें।

(१२) मर्यम् जिब्रील संबंधसे ईसाकी उत्पत्ति--बाइबलमें।

यह वर्णन लूकके सुसमाचार अध्याय १में इस प्रकार आया है:—

"..ईश्वरने जब्राएल दूतको गालील देशके एक नगरमें जो नासरत कहाता है, किसी कुंवारीके पास भेजा।२६। जिसकी मंगनी यूसफ नाम दाऊदके घरानेके एक पुरुष

ग्ने हुई थी। उस कुंवारीका नाम मर्यम था।२७। दूतने घरमें प्रवेश कर उससे कहा, हे अनुग्रहीता! कल्याण! परमेश्वर तेरे संग है। स्त्रियोंमें तू धन्य है।२८। मर्यम उसे देखके उसके वचनसे घबरा गई, और सोचने लगी कि यह कैसा नमस्कार है।२९। तब दूतने उससे कहा हे मर्यम मत डर, क्योंकि ईश्वरका अनुग्रह तुझपर हुआ है (thou hast found favour with God)।३०। देख! तू गर्भवती होगी और पुत्र जनेगी और उसका नाम तू यीशु [Jusus] रखना।३१। वह महान् होगा और सर्व प्रधानका पुत्र कहावेगा .....।३२। ... तब मर्यमने दूतसे कहा यह किस रीतिसे होगा, क्योंकि मैं पुरुषको नहीं जानती हूं।३४। दूतने उसको उत्तर दिया कि पवित्र आत्मा तुझपर आवेगा और सर्व प्रधानकी शक्ति तुझपर छाया करेगी। इसलिए वह पवित्र बालक ईश्वरका पुत्र × कहावेगा।३५। [यही बात मत्ती रचित सुसमाचार अ०१। १८ में इस प्रकार कही है:— "यीशु ख्रिष्टका जन्म इस प्रकार हुआ। उसकी माता मर्यमकी यूसफसे मंगनी हुई थी। पर उनके इकट्ठे होनेसे पहले वह दीख पडी कि पवित्रात्मासे गर्भवती है।"

योहन ३।१६,१८ में ईसाको परमेश्वरका इकलौता उत्पन्न किया हुआ पुत्र (His only begotten Son) कहा है। पाठको! ये सभी वर्णन कुमारी उषाके उदरसे सूर्यके उत्पन्न होनेपर ही मूलतः घटते हैं। लूकमें आगे लिखा है:—]

मर्यमने कहा, देखिए! मैं परमेश्वरकी दासी हूं। मुझे आपके वचनके अनुसार [पुत्र उत्पन्न] हो। तब दूत उसके पाससे चला गया।३८। [आगे यीशुके उत्पन्न होनेकी कथा लूक अध्याय २ में इस प्रकार लिखी है]

"उन दिनोंमें अगस्त कैसर महाराजाकी ओरसे आज्ञा हुई कि उसके राज्यके सब लोगोंके नाम लिखे जावें।१। यूसफ भी ... मर्यम को ले गए, जिससे उसकी मंगनी हुई थी, नाम लिखानेको ... यहूदियामें बैतलहम नाम दाऊदके नगरको गया। उस समय मर्यम गर्भवती थी। ४—५ उनके वहां रहते उसके जननेके दिन पूरे हुए।६। और वह अपना पहिलोठा पुत्र जनी, और उसको कपडेमें लपेटकर चरनीमें रखा=laid him in a manger क्योंकि सरायमें जगह न थी।७।

उस देशमें कितने गडरिये थे, जो खेतमें रहते और रातको अपने झुण्डका पहरा देते थे।८। और देखो! परमेश्वरका एक दूत उनके पास आ खडा हुआ, और परमेश्वरका तेज उनकी चारों ओर चमका..।९। दूतने उनसे कहा मत डरो! क्योंकि मैं तुम्हें बडे आनन्दका सुसमाचार सुनाता हूं ...।१०। आज दाऊदके नगरमें तुम्हारे लिए एक त्राणकर्ता अर्थात् ख्रिष्ट प्रभु जन्मा है॥ लूक २।११॥

प्रिय पाठको! हम पीछे बता चुके हैं कि ख्रिष्ट तथा ईसा वा कृष्ण एकही हैं। क्या इ० ईसाकी उत्पत्तिके उक्त वर्णनमें आपको कृष्णकी उत्पत्तिका संस्मरण नहीं होता? कृष्णने ग्वालोंका तारण किया, तो ईसाने गडरियोंका! लूक १।३१ में देवदूतने मर्यमसे कहा था कि पुत्र उत्पन्न होगा और उसका नाम यीशु रखना। यह यीशु शब्दभी वेदके यशः* शब्दका बिगाड है!!! 'य' तथा 'ज' आपसमें बदलते हैं। हिन्दीमेंभी यशवंत को जसवंत और यश को जस कहते हैं। इसी प्रकार यशः का बिगाड कर बाइबलमें यीशु, ईसा, Jusus आदि बने। हम यहभी बता चुके हैं, कि जिस प्रकार हिन्दुओंने कृष्णको विष्णु वा सूर्यका अवतार माना है, उसी प्रकार यहूदियों तथा ईसाइयोंने भी ख्रिष्टको परमेश्वरका इकलौता पुत्र माना है। यह इकलौता पुत्र उषा अंजना व मर्यम् नामक कुमारीके उदरसे उत्पन्न हुआ सूर्य ही है!!!

× And the angel answered and said unto her, the Holy Ghost shall come upon thee, and the power of the highest shall overshadow thee: therefore also that holy thing which shall be born of thee shall be called the Son of God. (Luke 1·35)

* न तस्य प्रतिमा अस्ति यस्य नाम महद् यशः॥ यजु० ३२।३

अर्थ- (यस्य) जिस परमात्माका (महत् नाम यशः) महान् प्रसिद्ध सूर्य है, (तस्य प्रतिमा न अस्ति) उसकी कोई मूर्ति नहीं है॥ अर्थात् संसारमें सबसे बडे, बोधक, और दृगोचर सूर्य का कर्त्ता सदा अदृष्ट रहता है।

(१३) मर्यमजिब्रील संबंधसे ह० ईसाकी उत्पत्ति-कुर्आनादि मुस्लिमसाहित्यमें ।

'हे रसूल! अब तुम...मर्यमका वर्णन करो। जिस समय वह अपने लोगोंसे [ऋतुकाल के कारण] अलग होकर पूर्वकी ओर १ एक स्थानपर जा बैठी ।१६। और [मासिक ऋतुसे निवृत्त होकर] (स्नान करनेकी इच्छासे अपने घरवालों के) सामने एक पर्दा डाला। तब हमने उसके पास अपनी आत्मा (जिब्रील) को भेजा २। वह आत्मा उसके सामने एक पूर्ण [युवा] (अच्छा खासा) पुरुष बनकर प्रकट हुई ।१७। (उसे देखतेही) मर्यम (घबरा गई और) कहने लगी कि मैं तुझसे (बचनेके लिये) अल्लाहकी रक्षा मांगती हू। (हे मनुष्य!) यदि तू (अल्लाहसे) डरता है (तो मेरे सामनेसे चला जा) ।१८। (जिब्रीलने) कहा (हे मर्यम्!) मैं तो केवल तेरे पालनकर्ताका भेजा हुआ फिरिश्ता (दूत) हूं, और तुझे एक पवित्र पुत्र देनेके लिये ही आया हूं।१९। उसने कहा मुझे किस प्रकार पुत्र हो सकता है? मुझे न (विवाह संबंधसे आजतक) किसी पुरुषने स्पर्श किया है, और न कभी मैं, जारकर्मी ही बनी! ।२०। (जिब्रीलने) कहा (जैसा मैं कहता हूं) ऐसाही (होगा)। तुम्हारे पालनकर्ताकी आज्ञा है कि तुम्हारे यहां बे-बापका पुत्र उत्पन्न करना मेरे लिए सहल है। और (ईसाको इस प्रकार उत्पन्न करनेमें) अभिप्राय यह है कि मनुष्योंके लिए हम उसको (अपने परम सामर्थ्यका) एक चिन्ह ठहराएं, और (इहलोकमें हम उसको) अपनी रह्मत ३ [दया] (का माध्यम बनाएं)। और यह बात (हे मर्यम!) हमारे यहांसे निश्चित हो चुकी है ।२१। फिर मर्यमको (स्वयमेव पुत्रका) गर्भ ठहरा × और वह उस (गर्भको)

---

१ मर्यमका पूर्वकी ओर बैठना = उषाका पूर्वकी ओरसे उदय होना!

२ मासिक ऋतुसे निवृत्त होनेके पश्चात् स्त्रीमें गर्भाधान करनेकी वैदिक मर्यादाका ही यह उल्लेख है! मर्यम् के नंगे नहानेकी घटना मौ० रूमीने दफ्तर सोम मस्नवीमें फारसी भाषामें इस शीर्षकसे लिखी है:— 'मर्यम् के नग्न अवस्था मे स्नान करनेके समय रूहुल् कुदुस [जिब्रील = Holy Ghost = पवित्रात्मा] का मनुष्य की आकृतिमें उसपर प्रकट होना, और उसका अल्लाहकी शरणमें जाना।' [देखो कुलियाते आर्य मुसाफिर, तथा देवदूत दर्पण पृ० ३२५-६] रौज्तुल् अस्फियामें 'ह० ईसा के वर्णन' में लिखा है—

'ह० मर्यमका गर्भ ह० जकरिया के कत्लका कारण हुआ। और गर्भ रहनेकी कथा इस प्रकार है कि एकदिन ह० मर्यम् अपनी मौसी वा बहिनके घर ऋतु (से निवृत्त हो) स्नान करने गई। और पर्दा लटकाया चाहती थीं कि स्नान करे [कि इतनेमें] जिब्राईल एक बिना-दाढी, सुन्दर और चमकदार चहरेवाले युवकके भेषमें प्रकट हुए।' [जिब्राईल दाढी मुंडवानेवाले आर्यही थे" शेषवर्णन कुरानी आयतों १८ से २१ के समानही है] तत्पश्चात् जिब्राईलने यमके जेब [कीसा = थैली = Pocket = गर्भाशय? —ले०] और गिरेबानमें ह० ईसाकी रूहे मुबारकको फूंक दिया और उसी क्षण गर्भ रह गया। [गिरेबान् = Collar = गलाबंद कपडेका = कंठो, गर्दन = Neck]

३ पापोंकी क्षमा करते रहनेमेंही साधारण मुसलमान अल्लाहकी रह्मत वा दया समझते हैं। परंतु मराठी कुर्आनकी टीपमें अल्लाहका अभिप्राय इसप्रकार समझाया गया है — "हमे ईसा-येशूको पैगम्बर बनायेंगे और वह लोगोंको सदाचरण सिखावेगा, और उस सदाचरणके फल स्वरूपही हम लोगोंपर रह्मत वा दया करेंगे।" यही वैदिक सिद्धान्त है।

× कुर्आन ६६।१२ शाह रफीउद्दीनकृत अनुवादमें है:— "इम्रानके बेटी मर्यमने अपने भगकी रक्षाकी, अतः हमने अपनी रूह=आत्माको उसके बीच फूंका"। यही अक्षर २१।९१में भी हैं [She guarded her chastity. So we breathed into her of our inspiration- Md. Ali] कुर्आन ४।१७१ का उनका अनुवाद-'मर्यमका पुत्र ईसा अल्लाहका पैगम्बर, उसका कलिमः=शब्द, तथा उसकी रूह = आत्मा है (जिसे हमने) मर्यमकी ओर डाल दिया [Communicated to Mary—Md. Ali]'

फुटनोट ६५३ में मौ० मु० अली जज्जाज, ताजुल् अरूस, कामूस तथा लेन साहेबकृत अरबी-आंग्लकोश

लेकर कहीं दूरके स्थानपर अकेली जा बैठी ।२२। फिर प्रसव-वेदना उसे एक खजूरके पेडकी जडमें ले पहुंची, (उस दुःखमें वह बोली) मैं इससे पूर्वही मर गई होती-भूल बिसर गई होती तो अच्छा होता ।२३।...... फिर मर्यम बच्चेको उठाकर अपने लोगोमें आई । वे बोलने लगे कि हे मर्यम! यह तो तूने अत्यंत अयोग्य कार्य किया ।२७। हे हारूनकी बहिन ! न तो तेरा पिता दुष्ट था और न तेरी माता कुकर्मी थी ।२८। तब मर्यमने उस बालककी ओर संकेत किया। उन्होंने कहा कि जो बच्चा पालनेमें है उससे हम क्या पूछें ? ।२९। (इसपर) बच्चा बोल उठा कि मैं परमेश्वरका सेवक हूं । उसने मुझे (इन्जील) पुस्तक दिया है, और मुझे पैगम्बर नियत किया हैं ॥ (कुर्आन १९।३०)

(१४)क्या हनुमानके समान ह० ईसाभी नियोगसे उत्पन्न नहीं हुए ?

वा० रामायण किष्किंधा कांड सर्ग ६६।२९-३० के अनुसार हनुमानजी अंजना-वायुके नियोग संबंधसे उत्पन्न हुए, ऐसा सिद्ध होता है । बाइबल तथा कुर्आन आदिमेंभी इसी प्रकारके संकेत मिलते हैं; यथाः—

१. बाइबल लूक १।२१-३५।२मत्ती १।१८। ३-४ कुर्आन १९।१७ के दो फुटनोट ।५-७ कुर्आन ६६।१२,२१ ९१, तथा ४।१७११८-९ गर्भ रहनेके पश्चात् मर्यमका अज्ञात वास, और पुत्रोत्पत्तिसे मरना बेहत्तर समझना १९।२२-३। १० मर्यमके अपने संबंधियोंकाभी मर्यमको व्यभिचारिणी समझना १९।२७-८ ॥ ११-१२ यहूदियोंने मर्यमपर 'बडा बुहतान' = लांच्छन लगाया ४।१५६। इसपर मौ० मु० अली फुटनोट ६४४ में रजी इमाम फखरुद्दीनके प्रमाणसे लिखते हैं, कि मर्यमने जारकर्म (Fornication) किया था, और व्यभिचारी Panther नामका यहूदी था (Jewish life of Jesus)। १३ सूलीपर चढानेसे पूर्व जो यहूदियों और ह० ईसाकी बातचीत हुई थी उसमें भी यहूदियोंने ह० ईसापर व्यभिचारद्वारा उत्पन्न होनेका लाञ्छन लगाया था, देखो बाइबल योहन ८।४१-२।। १४-१९. योहन १।१४,१८ में ह० ईसा [मौलिक सूर्य] को The only begotten son of the Father = ' पिताका एकलौता जनाया हुआ पुत्र ' कहा है । योहन ३।१६,१८ में उसे The only begotten son of god = ' परमात्माका एकलौता जनाया और पुत्र ' कहा है । यही भाव इब्रियों ११।१७ तथा १ योहन ४।९ के हैं । विवाह हुआ न व्यभिचार ! अत· उषावायुका नैसर्गिक नियोगही स्पष्ट है !!

परंतु मर्यम्-जिब्रील तथा ईसाके नैसर्गिक स्वरूपसे अपरिचित होनेके कारण बाइबलका हिन्दी अनुवादक इस Begotten शब्दसे बडा घबराया, और उक्त छहों स्थानोंमें इसका जनाया हुआ अर्थ इसलिये नहीं किया कि हिन्दुओंको इससे नियोग वा व्यभिचारकी शंका न उठे !! देखो Holy Bible in the Hindi langauge, British and Foreign Bible society, Allahabad, 19-19 Edition. २० रौजतुल् अस्फियामें लिखा है कि ह० जखरिया पर यहूदियोंने ह० मर्यमसे व्यभिचार करनेका लान्छन लगाकर उसे कत्ल किया।—

हमारे विचार— कुर्आन ४।२४ से आजतकभी नियोगका एक बिगडा रूप मुता सिद्ध होता है । बुखारी जिल्द ३ हदीस १११ से सिद्ध होता है कि इस्लामसे पूर्व-सेमेटिक जातियोंमें नियोग कई बिगडे रूपोंमें हुआ करता था। अतः जिसे यहूदियों आदिने व्यभिचार कहा है, वह नियोगही था, ऐसा प्रतीत होता है । बाइबल तथा कुर्आनको हम अधिक प्रामाणिक मानते हैं । अतः यदि नियोग हुआ था तो नियोगकर्ता ह० जीब्रील थे, जखरिया वा पन्थर नहीं, और इसी बातमें रामायणभी सम्मत है !!! वेदका एक अलंकारिक वर्णन सृष्टिके आरंभसे चलता हुआ किस विचित्र रीतीसे रामायण, बाइबल, तथा

[पृ० ९२ की टीप] इन चारोंके प्रमाणसे रूह शब्दका एक अर्थ Inspiration = ईश्वरी प्रेरणा, तथा Divine Revelation = ईश्वरी प्रकटीकरण ऐसा करते हैं । कलिमः वा शब्दभी वेपका ही नाम है । रूह का साधारण अर्थ जीव भी है । अथर्ववेद १३।१ आदिमें रूह सूर्य वाचकभी है । अतः इन आयतोंमें मर्यमके उदरमें रूह फूंकनेका एक अर्थ उषाके उदरसे सूर्योत्पत्तिभी है। आत्मन के संस्कृत अर्थ-जीव, प्राण; वायु The faculty of thought and reason = बुद्धि; Son = पुत्र, आत्मा वै पुत्रनामासि; सूर्य; अग्नि । (आगे)

कुर्आनके द्वारा हमतक पहुंचा है, इसका पाठक स्वयं विचार करें। क्या अबभी कोई कह सकता है कि ईसाई धर्म तथा दीन इस्लाम वैदिक धर्मसे भिन्न हैं? क्या कोई उन्हें अल्लाहके नवीन प्रकटीकरण सिद्ध कर सकता है?

नैसर्गिक तथा अलंकारिक अत. विशुद्ध और निष्पाप उषा वायु संबंधसे वेदने सूर्यकी उत्पत्ति बताई थी। इसी पवित्र सांचे (Monld) में रामायणने हनुमान तथा बाइबल और कुर्आनने ह० ईसाकी उत्पत्तिको ढाला है। यही कारण है कि वरदान, नियोग वा व्यभिचार आदिका आश्रय लिये-बिना तीनों पुस्तकोंमें उत्पत्ति कार्य सिद्ध नहीं हो सकता!

(१५) अधिक स्पष्टीकरण

प्रश्न– नियोगका अर्थ क्या है? मर्यमसे ह० जिब्रीलने नियोग किया था इसके आपके पास क्या प्रमाण हैं?

उत्तर– बाइबल कुर्आनादिमेंसे सहस्रों वर्षोंके पश्चात् वैदिक तत्त्वोंको ढूढ निकालनेका यह प्रथम प्रयासही है, इस बातको ध्यानमें रखते हुए ही निम्न प्रमाणोंपर विचार कीजिए—

१. नियोग शब्दका मौलिक अर्थ है नि = [परमात्माके] नियमपूर्वक + योग = मिलाप। अर्थात् चराचर पदार्थों की स्वयंस्फूर्तिसे जो उत्पत्ति दीखती है, वह सब नियोग ही है। इस प्रकार निसर्गमें इन्द्रके पृथ्वीमें गर्भ स्थापित करनेका अर्थ है, जल-वृष्टि होकर पृथ्वीको अन्न ओषधियोंको उत्पन्न करने के योग्य बनाना ×। इसी नैसर्गिक नियम अनुसार पशु पक्षियोंमें नियोग हुआ करता है, विवाह नहीं! अतः नियोग एक पवित्र नैसर्गिक योग तथा मनुष्यके सिवा शेष सभी प्रकारके प्राणियोंमें प्रस्थापित धर्म भी है, व्यभिचार नहीं! नियोगकी पवित्रतासे हनुमानजी सुपरिचित थे। यही कारण है कि जाम्बवानद्वारा नियोगसे उत्पन्न हुआ बताए जानेपर हनुमानजीको क्रोध न आया!! पांचो पाण्डवोंका नियोगद्वारा उत्पन्न होना प्रख्यात ही है। यह ठीक है कि मनुष्य-जातिने कृत्रिम विवाह-बंधनको अपनाया परंतु जब जब अयोग्य बंधनसे दुःख उठाया, तब तब उसका निवारण नियोगमें ही पाया!!! महाभारत, आदि उदाहरणोंसे भरे हुए हैं। यह नियोग करनेवाले प्रायः बडे बडे महात्माही हुआ करते थे ऐसा महाभारतादिसे सिद्ध होता है। बाइबलकी 'उत्पत्ति' तथा 'कुर्आन' ४।२४ में भी नियोगके विगडे रूप दीखते हैं।

२. ह० जिब्रील [वायु] ने ह० मर्यम [उषा] से नियोग किया ऐसा माननेसे पन्थर यहुदी, बूढे ह० जखरिया और स्वयं ह० मर्यमभी व्यभिचारके दोषसे मुक्त हो जाते हैं। यही नहीं, यह सारी क्रिया अल्लाह और उसके प्रेषित. [फिरिश्ता] के द्वारा होनेके कारण एकदम वेदके अलंकारिक पवित्र वायु-मण्डलमें समाजाती है!! अत. नियोग माननाही उचित है।

३-४ लूक १।३५ तथा मत्ती १।१८ से नियोग ही झलकता है। ५ सोम मस्नवी के अनुसार जिब्रील मनुष्याकारमें मर्यमके पास क्यों गये, विशेषतः जबकि वह नग्न अवस्थामें थी? ६. रौजतुल् आस्फियाके अनुसार जब मर्यम नंगी होकर स्नानारंभ करने लगीं तो झट जिब्रील एक बिना दाढी, सुंदर और चमकदार चेहरेवाले युवकके रूपमें प्रकट हुए! विचारणीय बात यह है, कि वे मर्यमकी नंगी अवस्थामें ही क्यों प्रगट हुए? फिर आशीर्वाद ही देना था तो किसी श्वेत दाढीवाले बूढे ऋषि, महात्मा वा पैगम्बरके रूपमें आजाते गब्राईल = गब्रूदेव बनकर ही क्यों आए? गब्रू शब्दके तो अर्थ ही "खूबसूरत जवान = Abeautiful young man" हैं ॥ New Royal Dictionary ॥ ७ नंगी अवस्थामें वह मर्यमकी कौनसी जेब थैली वा गिरेबान थी जिसमें ह० जिब्रीलने ह० ईसाकी रूह मुबारकको फूंक दिया?

× अहं गर्भमदधामोषधीष्वहं विश्वेषु भुवनेष्वन्त.। अहं प्रजा अजनयं पृथिव्यामहं जनिभ्यो अपरीषु पुत्रान् ॥ (ऋ० १०।१८३।३) अत्रा पिता दुहितुर्गर्भमाधात् ॥ (ऋ० १।१६४।३३)

अर्थ— जहां [सूर्यरूपी] पिता [उषारूपी] पुत्रीको गर्भ धारण करता है ॥ ३३ ॥ कितनी पाप-भरी बात है! परंतु नैसर्गिक नियोग है! अतः पवित्र और पाप रहित है!! पशुपक्षियोंमें नैसर्गिक नियोग होता है और उनको पाप नहीं लगता!

८-९ कुर्आन ६६।१२ तथा २१।९१ में लिखा है " मर्यमने अपने भगकी रक्षाकी अतः हमने अपनी रूहको उसके बीच फूंका " ! इस फूंकनेका और विशेषकर नग्न अवस्थामें फूंकने का क्या अर्थ है ? १०. कुर्आन ४।१७१ में ह० ईसाका " मर्यमकी ओर डाला जाना " क्या अर्थ रखता है ? इससे तो आवागमन सिद्ध हो रहा है !!

हमारे विचारमे ये सब प्रमाण नैसर्गिक नियोग अर्थात् मर्यम = उषा तथा जिब्रील = वायुके नियोगकी ओरही संकेत करते हैं। इस प्रकार एकबार फिर सिद्ध हुआ कि रामायण, बाइबल तथा कुर्आनकी कथाओंका मौलिक आधार वेदही है ! फिर सिद्ध हुआ कि बाइबल तथा कुर्आनका प्रकटीकरण कोई मौलिक प्रकटीकरण नहीं ! ! वैदिक धर्म ही सृष्टिका आदि धर्म है ! ! '

यह शृंखला अनंत है। परंतु यह अनंत शृंखला ईश्वरीय विचार में है। इसलिये ईश्वर इन कल्पनाओंका विप्रकृष्ट कारण है। इसी प्रकार वैयक्तिक वस्तुओंकी अनंत समष्टिको ईश्वर साक्षात् जानता है परंतु परिच्छिन्न वस्तुओंको परंपरासे। +

मानवीय शरीर और मन

यहां तक ब्रह्मांडका स्वरूप दिखलाकर अब स्पिनोझा पिंडके विचार की ओर बढकर ईश्वर और मनुष्यके साम्यासाम्यका विचार करता है। जिस प्रकार ईश्वर विचार और विस्तार इन दो गुणोंके द्वारा अभिव्यक्त होनेवाला एक ही तत्व है उसी प्रकार मनुष्य भी शरीर और मन इन दो (विचार और विस्तार के) प्रकारोंसे घटित एकही व्यक्तिगत वस्तु है। जिस प्रकार ईश्वरको स्वस्वरूपका ज्ञान है और इस ज्ञानसे वह अपनेसे निकली हुई समस्त वस्तुओंको जानता है, उसी प्रकार मनुष्यको अपने आपका ज्ञान है और इस ज्ञानके द्वारा वह अपनेसे बाहरकी वस्तुओंको जानता है। ईश्वरमें विचार और विस्तारकी तरह मनुष्यमें भी शरीरात्म सहचार है। यह तो हुआ साम्य। इसके साथ दोनों में वैषम्य भी है। सबसे प्रमुख वैषम्य तो ईश्वरके साथ विचार और विस्तारके संबंध और मनुष्यके साथ शरीर और मनके संबंधमें है। ईश्वर दोनों गुणोंका अधिष्ठान है परंतु उसका स्वरूप इनसे घटित नहीं। परंतु मनुष्य तो मूल तत्व नहीं; इसलिये वह शरीर और मनका अधिष्ठान भी नहीं, वह तो शरीर और मनसे घटित ही है। "मनुष्यका तत्व मूल तत्वके रूपका नहीं या मनुष्यकी वास्तविक विद्यमान सत्ता मूल तत्वके रूपकी नहीं।" * इस विधान (१०) के स्पष्टीकरण उपसिद्धांतादिमें स्पिनोझाने उन सब मतोंका विस्तारसे खंडन किया है जिनके अनुसार मनुष्य भी मूलतत्व (Substance) है। स्पिनोझा पूर्ववत् यहां भी यही कहता है कि मूलतत्व ईश्वर ही हो सकता है, कारण वही एकमात्र आवश्यक अस्तित्ववान है। सांत या परिच्छिन्न वस्तुको हम मूलतत्व नहीं कह सकते। विशिष्ट वस्तुएं तो प्रकार हैं जिनका अस्तित्व मूलतत्व है। प्रकार व्याप्य है, मूलतत्व व्यापक है। इसलिये मनुष्यका तत्व ईश्वरीय गुणोंके कुछ परिणामोंसे घटित है। अतएव वह एक ऐसी वस्तु है जो ईश्वरमें है और ईश्वरके बिना न तो अस्तित्वमें आसकती है और न उसकी कल्पना ही की जा सकती है। वह गुणोंका ऐसा परिणाम या प्रकार है जो ईश्वरीय स्वभावकी निश्चित और नियत रूपसे अभिव्यक्ति करता है।

इसके अनंतर स्पिनोझा उन लोगोंका खंडन करता है जो यह कहते हैं कि मनुष्यका और सब वस्तुओंका तत्व (essence) वही है जो ईश्वरका है। स्पिनोझाके अनुसार किसी वस्तुका तत्व और स्वयं उस वस्तुमें अन्योन्याश्रय या परस्परावलंबित्व होता है। किसी वस्तुका तत्व वह है जिसके बिना वह वस्तु और उस वस्तुके बिना वह तत्व न तो रह सकते हैं और न उनकी कल्पना ही की जा सकती है। ईश्वर जन्य वस्तुओंके तत्व और अस्तित्वका कारण अवश्य है। ये वस्तुएं अपने तत्व और अस्तित्वके लिये ईश्वरपर अवलंबित हैं, परंतु ईश्वर स्वयं इन वस्तुओंपर अवलंबित नहीं है। वह सर्व निरपेक्ष स्वतंत्र एक ऐसी सत्ता है जिसके ऊपर सबका अस्तित्व निर्भर है, परंतु जिसका अस्तित्व अन्य किसीपरभी अवलंबित नहीं। परंतु विपक्षियोंके मतमें ईश्वर को सब वस्तुओंके आश्रित माननेकी आपत्ति आती है। इसलिये मनुष्य और सब वस्तुएं ईश्वरके गुणोंके प्रकार है तथापि उनका तत्व अक्षरशः वह नहीं है जो ईश्वरका है। ×

जिस प्रकार मनुष्य मूलतत्व नहीं उसी प्रकार उसका शरीर और मनभी मूलतत्व नहीं। मनुष्य दो प्रकारोंका योग है। उसमें विचारका जो भी कुछ अंश है वह विचार इस गुणका प्रकार मात्र है। उसी प्रकार आकार गति इ. विस्तार इस गुणके प्रकार है। गुणोंके ये परिणाम या प्रकार शरीर और मन हैं। मनुष्यका मन "अनंत ईश्वरीय बुद्धिका एक अंश है," † और "मनुष्यका शरीर वह प्रकार है जो एक नियम और निश्चित रूपसे विस्तार रूप ईश्वरके तत्वकी अभिव्यक्ति करता है।" ● विचार और विस्तारके समान ही ये दोनों एकही वस्तुको दो रूपोंसे प्रकट करते हैं।

मनुष्यका मन क्या वस्तु है इसका विवेचन स्पिनोझाने ११-१३ वि. तक किया है। ११ वें विधानमें उसने मनकी व्याख्या इस प्रकार की है, " मानवीय मनकी वास्तविक

+ वही. वि. ९. * वही. वि. १० × स्पिनोझाका यह कथन जीव और जगत्की सत्ताका ईश्वरीय सत्तासे स्पष्ट ही भेद बतलाता है। † वही, वि. ११ उ. सि. ● वही, प. १

सत्ताकी प्रथम घटक वस्तु किसी वास्तविक रूपसे विद्यमान विशिष्ट वस्तु की कल्पना है " " The first element, which constitutes the actual being of the human mind is the idea of some particular thing actually existing."

इस सूत्ररूप परंतु अत्यंत परिष्कृत व्याख्याके एक एक पद में कुछ गर्भितार्थ है जिसका स्पष्टीकरण आवश्यक है। मनके 'मानवीय' इस विशेषणसे मनुष्येतर प्राणियो तथा वनस्पति जगत्की व्यावृत्ति सूचित की गई है। स्पिनोझा अपने पूर्ववर्ती दार्शनिकोंकी तरह मनको विभिन्न शक्तियोंमें यथा संवेदन ग्राहक शक्ति (sensitive faculty), प्राण शक्ति (vital force), बौद्धिक शक्ति (intellectual force) इ. में विभाजित न करके मन, मानवीय मन, या आत्मा इन शब्दोंका सर्व साधारण अर्थमें उपयोग करता है और इनमेंसे प्रत्येक शब्द उपर्युक्त समस्त शक्तियोंसे युक्त है। एरिस्टॉटल तथा मध्ययुगीन दार्शनिकोंने मनकी शक्तियोंके ज्ञानात्मक (Perceptive) और प्रेरणात्मक (motive) ये दो विभाग किये थे। इनमें भी ज्ञानात्मक शक्ति प्रेरणात्मक शक्तिकी प्राग्वर्तिनी समझी गई थी। ज्ञानात्मक शक्तिकी इसी प्राग्भाविताको स्पिनोझाने अपनी परिभाषा में "प्रथम घटक वस्तु... कल्पना है" इस अंश द्वारा सूचित किया है। इसी प्रकार एरिस्टॉटल तथा उसके अनुयायियोंने ज्ञानात्मक प्रत्यक्षके भी संभाव्य (potential) और वास्तविक या विद्यमान (actual) ये दो भेद किये थे। संभाव्य प्रत्यक्षमें द्रष्टा, देखने की शक्ति, तथा देखनेकी क्रियाका दृश्य वस्तुसे भेद रहता है; परंतु विद्यमान या वास्तविक प्रत्यक्षमें ये सब एक होते हैं परंतु स्पिनोझा यह भेद स्वीकार नहीं करता। उसकी दृष्टिसे मनभी बुद्धिकी तरह सर्वदा विद्यमान ही है। प्रथम भागके वि. ३०-३१ उसने संभाव्य बुद्धिका[1] स्पष्ट निषेध किया है। चूंकि मन सदैव वास्तविक है, इसलिये उसके ज्ञानका विषय भी उसके साथ सर्वदा एकरूप होगा। अतएव मनके विषय के बारेमें उपर्युक्त व्याख्यामें स्पिनोझाने यह कहा है कि 'मन की वास्तविक सत्ताकी प्रथम घटक वस्तु' अर्थात् वह जो सदैव विद्यमान रहनेवाले मनके साथ एकरूप है। और भी, एरिस्टॉटलके अनुसार, मनके साथ एकरूप होनेवाला मनके ज्ञानका यह विषय किसी वस्तुका द्रव्य (matter) न होकर उस वस्तुका आकार (form) होता है। किसी वस्तुका ज्ञानगम्य आकार उसकी कल्पना ही है। उदा० मनमें घट स्वयं नहीं आता, उसकी कल्पना आती है। डेकार्ट और स्पिनोझा दोनोंने 'कल्पना' का इसी अर्थमें उपयोग किया है। इसलिये स्पिनोझा मनकी उक्त परिभाषामें कहता है कि वास्तविक या विद्यमान मानवीय मनके साथ एकरूप होनेवाली प्रथम वस्तु किसी वस्तुकी **कल्पना** है। कल्पना यहांपर व्यापक अर्थ में प्रयुक्त है। चूंकि कल्पना मनके साथ एकरूप है अतएव स्पिनोझा दोनोंका 'कल्पना' अथवा 'मन' इस प्रकारके विकल्पसे उपयोग करता है। इस क्रमसे स्पिनोझा मनकी इस व्याख्यापर पहुंचा कि मन शरीरकी कल्पना है।× (mind is the idea of the body), और भी, एरिस्टॉटलके मतसे स्वयं वह वस्तु भी वास्तविक या विद्यमान होनी चाहिये जिसका आकार वास्तविक मनके साथ तादात्म्यापन्न है। साथही यह वस्तु परिच्छिन्न होनी चाहिये, क्योंकि 'अनंत' बाह्य विषयका न तो अस्तित्व ही होता है और न वह जाना जाता है। ठीक इसी आशयसे स्पिनोझाने उक्त परिभाषामें 'वास्तविक रूपसे विद्यमान विशिष्ट वस्तु' कहा है। इस विधानके प्रमाण में वह स्पष्ट ही कहता है कि यह वस्तु न तो अस्तित्व शून्य और न अनंतही हो सकती है। पिंड और ब्रह्मांडमें यह भी एक महत्त्वपूर्ण अंतर है कि ईश्वरीय ज्ञानके विषय अनंत वस्तुएं हैं, जिनमें अस्तित्व रहित विशिष्ट वस्तुओंका भी समावेश है।

चूंकि वस्तुकी कल्पना या आकार मनका घटक है अतएव "इससे यह सिद्ध होता है कि मानवीय मन अनंत ईश्वरीय बुद्धिका एक अंश है।" + इस उपसिद्धांतके द्वारा जहां एक ओर प्रत्यक्षरूपसे मनका दैवी उगम बतलाया गया है वहां दूसरी ओर अप्रत्यक्ष रूपसे मनके स्वयं ईश्वरीय तत्वके अंश होने का, जैसाकि कुछ दार्शनिक मानने थे, निषेध भी किया गया है।

(×) स्पिनोझाकी यह व्याख्या एरिस्टॉटलकी व्याख्यासे मिलती है जिसमें उसने आत्माको शरीरका आकार कहा था " Soul is the form of the body" देखिये Phil. of Spinoza by Wolfson vol. II P. 48. + वही, इ. सि. वि. ११.

चूंकि मनकी वास्तविक सत्ताकी घटक वस्तु (Thing) किसी वस्तु या विषय (object) की कल्पना है अतएव "मनकी घटक कल्पनाकी विषयभूत वस्तुमें जो भी कुछ होता है वह मानवीय मन द्वारा देखा जाना चाहिये या उस घटनाकी मानवीय मनमें अवश्यही कल्पना होनी चाहिये। यथा मनकी घटक कल्पनाका विषय यदि शरीरहो तो शरीरमें ऐसी कोई बात नहीं हो सकती जिसका ज्ञान मनको न हो। +

पिंड ब्रह्मांडमें यह भी एक साम्य है क्योंकि "किसी कल्पनाके विशिष्ट विषयमें जो भी कुछ होता है उसका ज्ञान ईश्वरमें होता है।" * परंतु इसके साथही एक महत्वपूर्ण अंतर यह है कि "ईश्वरका उस विषयका ज्ञान उस विषयकी कल्पनाही है," ३ परंतु मनुष्यको उसका ज्ञान होता है क्योंकि "कल्पना उस विषयसे एकीभूत होती है।" ×

परंतु वह विशिष्ट वास्तविक वस्तु जो मनकी घटक कल्पना का प्रधान विषय है, क्या है? इसका उत्तर १३ वें विधान में दिया गया है। एरिस्टॉटलके अनुसार बाह्य विषय वह वस्तु है। परंतु इसके विरुद्ध स्पिनोझा कहता है कि "मनकी घटक कल्पनाका विषय शरीर है या दूसरे शब्दोंमें, वास्तविक अस्तित्ववान विस्तारका एक प्रकार है, इसके अतिरिक्त कुछ नहीं।" उन सब प्रभावोंमें जो शरीर मनपर डालता है सबसे महत्वपूर्ण तो यह है कि "वह मनको अपनी जानकारी करा देता है और अपने द्वारा अन्य शरीरोंकी। ‡

यहा भी पिंड और ब्रह्मांडमें कुछ साम्य और कुछ वैषम्य है। ईश्वरको जैसे अपने तत्वका ज्ञान है वैसेही मनुष्यको अपने शरीरका; परंतु ईश्वरको अपने तत्व और उस तत्वसे आवश्यक रूपसे निकलनेवाली वस्तुओंका ज्ञान एक-समयावच्छेदेन है; परंतु मनुष्यको प्रधान रूपसे अपने स्वयंके शरीरका ज्ञान है, अन्य शरीरोंका गौण रूपसे। ईश्वरको अपने तत्वका ज्ञान अनंत गुणोंके रूपमें है, परंतु मानवीय मन विचार का एक प्रकार होनेसे वह मुख्यतः शरीरको ही जानता है जो विस्तारका एक प्रकार हैं, क्योंकि ईश्वरके असमान मनुष्य मूलतत्व नहीं है जिसके शरीर और मन गुण हों परंतु वह तो "शरीर और मनसे घटित है।" ●

यद्यपि मनुष्यके घटक शरीर और मन दो पृथक् और एक दूसरेसे स्वतंत्र जान पड़ते हैं तथापि, 'मानवीय मन शरीरसे संयुक्त है।' ※ अर्थात् वह उससे अपृथक्करणीय है। स्पिनोझाके मनके सिद्धांतमें शरीरसे यह अपृथक्करणीयता विशेष ध्यान देने योग्य है, कारण यह स्पिनोझाके समयतक प्रचलित समस्त विचारधाराओंके विरुद्ध है। स्पिनोझाके पहिले करीब करीब सबने विभिन्न कारणोंसे शरीर तथा मनकी पृथक्तापर जोर दिया था। स्पिनोझाका आक्षेप मुख्यतः निस्सरणवादियोंके विरुद्ध है जो मनको शरीरसे इसलिये पृथक् मानते थे कि मन ईश्वरीय विचारसे निस्सृत है। यह तो स्पिनोझा भी मानता है कि मन ईश्वरीय विचारका एक प्रकार है या ईश्वरकी अनंत बुद्धिका एक अंश है। परंतु स्पिनोझाकी विशेषता यह है कि उसके अनुसार मनुष्य शरीर भी विस्तार इस दैवी गुणका एक प्रकार होनेसे दैवी अंश लिये हुए है। जिस प्रकार ईश्वरमें विचार रूप गुण विस्तार रूप गुणसे अपृथक्करणीय है उसी प्रकार मनुष्यमें विचारका प्रकार अर्थात् मन विस्तारके प्रकार अर्थात् शरीरसे अपृथक्करणीय है।

मन शरीरसे पृथक् हो या अपृथक् मध्ययुगीन दार्शनिक और स्पिनोझा दोनोंकी दृष्टिसे इतनी बात निश्चित है कि चेतन तत्व (Soul.) मनुष्यमात्रकी विशेषता नहीं है। वि १३ के स्पष्टी-करणमें स्पिनोझा कहता है; "अभीतक हमने जितने विधान उपस्थित किये हैं वे पूर्ण रूपसे सर्वसामान्य है, वे मनुष्यको अन्य विशिष्ट वस्तुओंसे अधिक लागू हों यह बात नहीं; कारण ये वस्तुएं भी, चाहे भिन्न परिमाणमें ही क्यों न हो, चैतन्यमय (animate) हैं। क्योंकि प्रत्येक वस्तुकी कल्पना ईश्वरमें आवश्यक रूपसे है, जिसका वह कारण है; और यह ठीक उसी प्रकार है, जिस प्रकार मनुष्य शरीरकी कल्पना है। इस प्रकार मनुष्य शरीरकी कल्पनाके विषयमें हमने जो भी कुछ कहा है वह आवश्यक रूपसे अन्य वस्तुओंकी कल्पनाके संबंधमें भी कहा जाना चाहिये।"

'सभी वस्तुएं चैतन्यमय हैं' इसका यह अर्थ विवक्षित नहीं कि सब वस्तुएं सजीव और सज्ञान है। इसका अर्थ सिर्फ इतना ही है कि सबमें एक व्यापक चेतनतत्व है। इससे जैसा

+ वही, वि. १२. * वही, वि. ९ उ. सि. × Short treatise, quoted by Wolfson in Phil. of Spinoza. Vol. II P. 59. ‡ I bid. ● नी. शा. भ. २ वि. १३ उ. सि. ※ वही. वि. १३ स्प.

कि प्रो. वॉल्फसनने बतलाया है, प्रकृतिकी सर्व मानसवादी कल्पना (Panpsychistic Conception of Nature) सिद्ध नहीं होती। चैतन्यमय होते हुए भी समस्त वस्तुओंका सजीव और सज्ञान होना जरूरी नहीं हैं। एरिस्टॉटलने जिसे आकार (form) कहा था या मध्ययुगीन दर्शनिकोंने जिसे आत्मा (Soul) कहा था, उसे ही स्पिनोझा 'कल्पना' (Idea) कहता है। सब वस्तुएं चैतन्यमय है कारण ईश्वरमें इनके आकार या कल्पनाएं है।

सब वस्तुएं चैतन्यमय तो अवश्य हैं। परंतु "इस बातका हम निषेध नहीं कर सकते कि कल्पनाएं भी विषयों या वस्तुओं की तरह एक दूसरीसे भिन्न होती है, एक दूसरीसे अधिक उत्कृष्ट होती हैं और सत्यकी मात्रा भी एक दूसरीसे अधिक लिये हुए होती है; ठीक उसी प्रकार जिस प्रकार एक कल्पना का विषय दूसरी कल्पनाके विषयसे अधिक उत्कृष्ट होता है और अधिक सत्य लिये हुए रहता है।"+

अब प्रश्न यह है कि समस्त वस्तुओंमें व्यापक चेतन तत्वके होते हुए भी उस चेतन तत्वकी अभिव्यक्तिके तारतम्यका निर्धारण कैसे होता है? मनुष्यमें सबसे बडी विशेषता यह है कि उसमें आत्मजाग्रति (Self Consciousness) है, पशु जगत्‌में इसका अभाव है। वनस्पति जगत्‌में सिर्फ उत्पत्ति, वृद्धि, पोषणादि, पुनरुत्पत्ति इ. है। खनिज पदार्थोंमें इससे भी अधिक जडता है। इस प्रश्नका उत्तर मध्ययुगीन दार्शनिक और स्पिनोझा प्रायः एकही तरहका देते है, और यह उत्तर वेदांतियोंके उत्तरसे बहुत कुछ मिलता है। वेदांतमें भी यह प्रश्न उपस्थित हुआ है कि ब्रह्म व्यापक होने हुए भी उसकी अभिव्यक्ति मनुष्यमें ही इतनी स्पष्ट क्यों है? इसका उत्तर यह है कि मनुष्यकी उपाधि अंतःकरण सत्वप्रधान होनेसे अधिक निर्मल है, इसलिये उसमें चैतन्यका आभास स्पष्ट होता है, परंतु अन्य वस्तुओंमें इस निर्मलताका अभाव होनेसे उनमें चेतन तत्वके होते हुए भी उसकी अभिव्यक्ति स्पष्ट नहीं होने पाती। एरिस्टॉटल और उसके अनुयायी मध्ययुगीन दार्शनिक भी यही कहते हैं कि यह भेद जडोपाधिके कारण है। जिसका जड द्रव्य जितना अधिक स्वच्छ होगा उसका आकार उतना ही अधिक दैवी प्रज्ञा (divine wisdom) की अभिव्यक्तिके अनुकूल होगा। जडद्रव्यकी इस स्वच्छास्वच्छता के कारण ही चैतन्यकी अभिव्यक्तिमें दीख पडनेवाला तारतम्य है। स्पिनोझा भी यही कहता है; "इसलिये मनुष्यके मनका दूसरी वस्तुओंसे अंतर और मानवीय मनकी उन वस्तुओंसे श्रेष्ठता निर्धारित करनेके लिये प्रथम हमें उसके विषय अर्थात् मनुष्य शरीरको जानना चाहिये।...जिस परिमाणमें कोई एक शरीर अन्य शरीरोंसे अधिक क्रियाएं करने की योग्यतामें या एक साथ अनेक संस्कारोंको ग्रहण करनेकी क्षमतामें अधिक बढा हुआ है उतने ही परिमाणमें उसका मन भी दूसरोंसे अनेक वस्तुओंके आकलनकी योग्यतामें बढा हुआ होगा। इस प्रकार हम एक मनकी दूसरेसे श्रेष्ठता निर्धारित करते हैं।" इसलिये इससे आगे स्पिनोझा शरीरके स्वरूपका विचार करता है।

शरीरका स्वरूप

शरीर या पिंडोंके वर्गीकरणमें स्पिनोझाने मध्ययुगीन परंपराका ही अनुसरण किया है। शरीर या पिंड दो तरहके होते है (१) केवल (Simple) और संयुक्त (compound or Composite)। संयुक्त शरीर भी या तो समान अंश घटित होते हैं या विषमांशघटित।

केवल शरीर या तो गतिमें होते है या स्थितिमें। प्रत्येक शरीरकी गति कभी धीमी होती है, कभी तेज। पिंडों या शरीरोंके एक दूसरेसे भेद उनकी स्थिति गति, गतिकी तीव्रता या मंथरताकी दृष्टिसे होते है; परंतु मूलतत्वके (Substance) के भेदके कारण नहीं। "× कुछ बातें सब पिंडोंमें समान हैं, यथा समस्त पिंडोंमें एकही गुण (विस्तार) अनुस्यूत है; इसी प्रकार गतिकी तीव्रता और मंथरता, पूर्ण गति और पूर्णस्थिति इ. भी सर्वसामान्य हैं। कोई भी पिंड अपनी गति या स्थितिमें दूसरे पिंड द्वारा नियत होता है, दूसरा तीसरेके द्वारा, तीसरा चौथेके द्वारा, तात्पर्य यह कि यह परंपरा अनंत है। स्पिनोझा पूर्व परंपराकी तरह गतिका आद्य चालक (prime mover) नहीं मानता। इसके अनंतर स्पिनोझा पिंडोंकी गतिके संबंधमें न्यूटन (Newton) के गतिके तीन नियम देकर केवल पिंडोंका विचार समाप्त करता है।

संयुक्त शरीर समान या विषम केवल शरीरोंके योगसे बने

+ वि. १३ स्प. नी. शा. भा. २. × वही, अवलंबन सिद्धांत १ (Lemma 1)

हुए होते हैं, जिनको हम पूर्ण व्यक्तिमत समुदित इकाई (Complete individual aggregate units) इस दृष्टिसे देख सकते हैं; और ऐसेही दूसरे शरीरोंसे उनका भेद केवल शरीरोंके योगके प्रकारसे कर सकते है। संयुक्त पिंडोंको भी स्पिनोझाने तीन वर्गोंमें विभाजित किया है, कठोर, मृदु, और तरल। संयुक्त शरीरके घटक केवल शरीरोंमें, फिर चाहे वे समान हों या विषम, भिन्न भिन्न प्रकारके परिवर्तन हो सकते हैं। परंतु अवयवरूप शरीरोंमें सब तरहके परिवर्तनोंके होते हुए भी अवयवीरूप संयुक्त शरीर अपना मूलरूप कायम रखता है। यदि हम संयुक्त शरीरोंको भी एक बडे अवयवीके अवयव समझें तो भी उस अवयवीका मूलरूप अवयवोंमें परिवर्तनोंके होते हुए भी अक्षुण्ण रहेगा।'' इसी क्रमसे बढते बढते हम समस्त प्रकृतिको एक व्यक्ति समझ सकते है जिसके अवयव अर्थात् शरीर या पिंड अनंत रूपसे बदलते रहनेपर भी संपूर्ण व्यक्तिमें कोई बदल नहीं होता।" ×

जो बात ब्रह्मांडके विषयमें कही गई है वही बात पिंड अर्थात् मनुष्य शरीरके विषयमें भी सत्य है। मनुष्य शरीर विषमस्वभाववान अनेकावयवोंसे घटित है जिनमेंसे कोई कठिन कोई मृदु और कोई तरल होते है। मनुष्य शरीरमें अन्य बाह्य शरीरोंके कारण शारीरिक परिवर्तन होते रहते है। इसी प्रकार यह शरीर अपनेसे बाह्य शरीरोंमें परिवर्तन उत्पन्न कर सकता है। " शरीरके घटकावयवोंपर और उनके द्वारा स्वयं शरीरपर भी बाह्य शरीरोंके कारण परिणाम होते रहते हैं। शरीरको अपनी रक्षाके लिये बहुतसे दूसरे पिंडोंकी आवश्यकता होती है जिनके द्वारा इसमें निरंतर नवीन अवयव बनते रहते हैं।" + बाह्य पिंडोंका शरीरपर होनेवाला परिणाम उन पिंडोंके निकल जानेपर भी रह सकता है। अंतमें, " मनुष्य शरीर भी बाह्य शरीरोंमें गति उत्पन्न कर सकता है और उनकी रचनामें हेरफेर कर सकता है। " ⊙

वैज्ञानिक खंड

(Anthropology)

[प्रकरण १३]

मनकी ज्ञानात्मक शक्तियाँ

[The Cognitive Faculties]

मनकी व्याख्याके अनंतर अपनी पूर्व परंपराका अनुसरण करके स्पिनोझा उसकी शक्तियोंका वर्णन करता है। ये शक्तियां दो प्रकारकी हैं, (१) ज्ञानात्मक (Cognitive) और प्रेरणात्मक (Motive)। ज्ञानात्मक शक्तियोंमें भी तीन भेद है। (अ) संवेदन (Sensation) जो बहिरिंद्रियोंकी कक्षामें है; (ब) कल्पना शक्ति (Imagination) तथा उसके विभिन्न प्रकार और स्मृति (Memory), जो अंतरिंद्रियोंकी कक्षामें हैं। (स) बुद्धि शक्ति या शुद्ध ज्ञान शक्ति (pure cognition) (२) प्रेरणात्मक शक्तियोंमें इच्छा शक्ति (will) तथा वासना इ. हैं। इस प्रकरणमें सौकर्यकी दृष्टिसे नीतिशास्त्र भाग २ के विधान १४-२३ तकका विचार किया जायगा। इसके प्रतिपाद्य विषय हैं संवेदन (Sensation), वि. १४-१६; कल्पना और स्मृति, वि. १७-१८; और ज्ञानवत्ता (consciousness) और प्रज्ञा (Reason) वि. १९-२३।

संवेदन, (Sensation)— एरिस्टॉटल और मध्ययुगीन दार्शनिकोंके अनुसार संवेदनमें तीन बातें मुख्य होती हैं। (१) ज्ञानग्राहक शक्ति (Sentient faculty) को चालना देनेके लिये बाह्य विषयकी आवश्यकता होती है। इस विषयका शरीरसे संबंध होता है और इसके कारण मनको चालना मिलती है। (२) बाह्य वस्तुकी क्रियाके कारण मनपर परिणाम होता है। (३) अपनेमें होनेवाले परिणामों तथा क्रियाओंका मनको ज्ञान होता है। प्रथम दो बातें स्पिनोझाने यह कहकर

× Ethics II, Lemma 7 + Ibid Postulates III, IV. ⊙ Ibid, Postulate VI

व्यक्त की हैं; "मनुष्य शरीरपर बाह्य पिंडोंके कारण अनेकविध परिणाम होते रहते हैं; " × और तीसरी बात निम्न कथन द्वारा: " मानवीय मनको मानवीय शरीरमें होनेवाली संपूर्ण बातोंका ज्ञान होता है।" × संवेदनकी प्रक्रियाकी ओर संकेत १४ वें विधानमें किया गया है: " मानवीय मनमें अनेक वस्तुओंको देखनेकी क्षमता है और यह उतनीही अधिक होगी जितनी अधिक उसके शरीरकी संस्कार ग्रहणकी शक्ति बढी हुई होगी।" एरिस्टॉटल और मध्ययुगीन दार्शनिकोंकी तरह स्पिनोझा प्राथमिक या केवल संवेदन (Elementary or simple Sensations) और वस्तु प्रत्यक्ष (Perception) में भेद नहीं करता। स्पिनोझाके अनुसार संवेदन हममें अपने केवल (simple) या एकाकी (isolated) रूपमें न आकर सम्मिश्र संबंधों (complex relations) या इंद्रिय प्रत्यक्षके रूपमेंही आते है। इसलिये मनको स्वशरीरका ज्ञान भी संकीर्ण (composite) रूपका होता है। इसी आशयसे १५ वें विधानमें स्पिनोझा कहता है: " मनकी वास्तविक सत्ताकी घटक कल्पना केवल रूपकी न होकर बहुसंख्याक कल्पनाओंके योगसे घटित होती है। "

यद्यपि स्पिनोझाके अनुसार संवेदन या वस्तु प्रत्यक्षका प्रारंभ स्वशरीरमें होनेवाले परिणामोंसे होना चाहिये तथापि स्वशरीरके स्वरूपके ज्ञानमें इसपर असर करनेवाले बाह्यशरीरोंके स्वरूपका ज्ञान भी मिला हुआ रहता है। ⊠ इस विधान (१६) से वह दो उपसिद्धांत निकालता है। पहिलेका तात्पर्य यह है कि हमारा बाह्य वस्तुओंके ज्ञान स्वशरीरके ज्ञानमें जन्य समझना चाहिये; और द्वितीयमें हमारे बाह्य वस्तुओंके ज्ञानको स्वसापेक्ष बतलाया गया है। परंतु यद्यपि संवेदन स्वसापेक्ष हैं तथापि वे सर्वथा बुद्धिगत या अधिष्ठान निष्ठ (Subjective) नहीं। उनके कारण बाह्य विषय हैं और वे इतनेही सत्य हैं जितने हम सत्य हैं अर्थात् जितने कोई प्रकार सत्य हो सकते हैं। ● यहां तक बहिरिन्द्रियोंके अनुभवका विचार हुआ।

कल्पना और स्मृति

अब स्पिनोझा अंतरिंद्रियोंके अनुभवका विचार करता है। डेकार्टकी तरह स्पिनोझाने इनमें कल्पना और स्मृति इन दो काही विचार किया है। वि. १७ के अंतिम भागमें तथा उसके स्पष्टीकरण उपसिद्धांतादिमें उसने यह बतलाया है कि बाह्य विषयोंके शरीरपर होनेवाले परिणाम उन विषयोंके निकल जानेपर भी बने रहते है। यहींसे अंतरिंद्रियोंके विचारक प्रारंभ हो जाता है। इस विषयमें स्पिनोझाने परंपरासे प्रचलित प्रक्रियाकाही अनुसरण किया है। इस प्रक्रियाके अनुसार कल्पना और स्मृतिमें बहुतही थोडा फरक है। दोनों शब्द इसी एक आशयको प्रकट करते हैं कि मनमें किसी ऐसी वस्तुकी प्रतिमा या प्रतिरूप (Image) कायम रहता है जो एक समय वर्तमान थी, परंतु अब नहीं है। इसीलिये इस प्रतिरूपको उपस्थित करनेवाली कल्पनाशक्ति (Imagination) को स्मृतिका मूल (Source) कहा गया है। क्योंकि वस्तुके उपर्युक्त प्रतिरूपके बिना स्मृति संभव नहीं। कल्पना और स्मृतिमें भेद इतनाही है कि स्मृतिमें विगत वस्तुकी प्रतिमाके साथही उस कालका ज्ञानभी रहता है, परंतु कल्पनामें यह कालका ज्ञान नहीं रहता। प्रतिरूपोंको उपस्थित कर सकनेवाली कल्पना शक्ति (Imagination) में भी दो प्रकार हैं, पहिले प्रकारकी कल्पना शक्ति तो इंद्रियजन्य अनुभवके संस्कारोंको धारणमात्र करती है; परंतु दूसरे प्रकारकी कल्पना शक्ति अनुभूत वस्तुओंकी कल्पनाओंको उलट पुलट करती रहती है और अनुभूत वस्तुओंकी कल्पनाके साथ अननुभूत वस्तुओंकी कल्पनाका भी संयोग करती है Retentive or compositive; productive or reproductive Imagination),

वि. १७ के, उ. सि. में, स्पिनोझा कल्पनाका उस समय प्रचलित शरीर शास्त्रकी प्रक्रियासे विवरण करता है। इसका सारांश यह है कि बाह्य वस्तु द्वारा इंद्रियोंपर होनेवाले परिणाम रक्तमें पहुंचकर वहां बने रहते हैं और वहांसे मस्तिष्कमें पहुंचते है जो कल्पनाका स्थान है; यहांपर वस्तुओंके प्रतिरूप बनते हैं।

आगे चलकर स्पिनोझा स्मृति (memory) और स्मरण या स्मरणात्मक क्रिया (Recollection) में भी भेद करता है। स्मरणात्मक क्रियामें वस्तुकी स्मृति जान बूझकर उपस्थित की जाती है। स्मृति तो कालिक दृष्टिसे अनुभवके पश्चात् अनवरत रहती है परंतु स्मरणात्मक क्रिया भूली हुई वस्तुके

× नी. शा. भा. २ वि. १४ प्र. ⊠ वही, वि. १६. ● वही, वि. १७

संबंध रखती है। स्मरणात्मक क्रिया साहचर्यपर अवलंबित है। साहचर्य भी तीन कारणोंसे होता है– सादृश्य (Similarity) विरोध (Contrast) और द्विविध आसक्ति, दैशिक या कालिक (Contiguity of Space or Time)। वि. १८ में स्पिनोझा कालिक आसक्ति जन्य साहचर्य (Association) के कारण होनेवाली स्मरणात्मक क्रियाका इस प्रकार वर्णन करता है: " यदि मनुष्य शरीर किसी भी समय दो या दोसे अधिक शरीरों द्वारा एक साथ प्रभावित हुआ है तो बादमें जब कभी मनमें उनमेंसे एककी कल्पना आती है, तो इसके साथही दूसरेकी भी कल्पना आती है। "

ज्ञानवत्ता और प्रज्ञा (Consciousness and Reason)

यहा भी स्पिनोझाने परंपरागत प्रक्रियाका ही अनुसरण किया है। इसमें कुछ बातें ध्यान देने योग्य है। किसी भी प्रकारके ज्ञानमें, फिर चाहे वह इन्द्रियजन्य हो, चाहे काल्पनिक या बौद्धिक, आकार या कल्पनाएँही विषय होती है, स्वयं वस्तुएं नहीं। जब संवेदनमें या बौद्धिक ज्ञानमें संवेदन ग्राहक या बौद्धिक शक्तियां अपने विषयसे अभिन्न कही जाती है तब वे स्वयं मूर्त वस्तुओंसे अभिन्न नहीं होती परंतु उनके आकार या कल्पनाओंसे अभिन्न होती हैं। उदा० घट जब ज्ञानका विषय होता है तब मनमें उसका आकार या उसकी कल्पनाही होती है स्वयं घट नहीं। कल्पना (Imagination) में वस्तुओंके ये ही आकार या प्रतिरूप कायम रहते है। ये प्रतिरूप बौद्धिक ज्ञानके विषय होते हैं। ज्ञानकी तीन अवस्थाएं संवेदना, कल्पना और बौद्धिक ज्ञान एक दूसरेसे इस प्रकार संबद्ध है कि उत्तर उत्तरके लिये पूर्व पूर्व आवश्यक है और उत्तर उत्तरमें पूर्व पूर्व मिले हुए रहते है। इन्द्रियगम्य आकार कल्पनिक आकारोंके विषय होते हैं और काल्पनिक आकार बौद्धिक आकारों या कल्पनाओंके। परंतु ज्ञानवत्ता सबके संग लगी हुई रहती है। उदा० घट ज्ञानकी क्रियामें हमें केवल घटकाही ज्ञान नहीं होता, घट ज्ञानका भी ज्ञान होता है। स्पिनोझाने इसे 'अनुव्यवसाय' (Reflective Knowledge) कहा है। मनको सिर्फ अपने विषयोंकाही ज्ञान नहीं होता, मन अपने ज्ञानका स्वयं भी विषय होता है। वि. १९–२३ का यही प्रतिपाद्य विषय है।

यह बतलाया जा चुका है कि संवेदनका प्रारंभ स्वशरीरसे होता है। संवेदनही शरीर और उसके अस्तित्वके ज्ञानका एक मात्र साधन है। परंतु संवेदन मनमें स्वयं शरीर या मूर्त द्रव्यको उपस्थित न करके शरीरपर होनेवाले परिणामोंकी कल्पनाओंको या उनके इन्द्रियगम्य आकारों (sensible forms) को ही उपस्थित करता है। " मानवीय मनके स्वयं शरीर तथा शरीरके अस्तित्वका ज्ञान शरीर पर होनेवाले परिणामोंकी कल्पनाओंके अतिरिक्त और कुछ नहीं होता।" ×

अब यह कहनेके लिये कि मनको केवल अपने शरीरकाही ज्ञान न होकर अपने आपका भी ज्ञान होता है, स्पिनोझा अपनी सुपरिचित पिंड ब्रह्मांडकी कल्पनाका आश्रय लेता है। ईश्वरको मनुष्यके शरीरकाही ज्ञान नहीं है, मनका भी ज्ञान है। " ईश्वरमें मनुष्यके मनका ज्ञान या कल्पना भी है और यह ईश्वरसे उसी प्रकार निकलती है और उसी प्रकार संबंधित है जिस प्रकार मनुष्य शरीरकी कल्पना या ज्ञान " + इस विधानके प्रमाणमें स्पिनोझा कहता है कि विचार ईश्वरका गुण है, इसलिये ईश्वरको इस गुण और इसके प्रकारोंका ज्ञान है, अतएव मानवीय मनका भी है। ईश्वरके समान मनुष्यको भी अपने शरीरके साथ मनका भी ज्ञान है। " मनुष्यका मन केवल शरीरपर होनेवाले परिणामोंकोही नहीं देखता परंतु इन परिणामों (modifications) की कल्पनाओंको भी देखता है। " * मनकी व्याख्यामें मनको शरीरकी कल्पना बतलाया जा चुका है। अब यह कहना है कि मनको सिर्फ शरीरकीही कल्पना नहीं है, अपने स्वयंकी भी कल्पना है, या मन अपनी कल्पना स्वयं है। अबतक यह बतलाया गया था कि मनको विषयकी ज्ञानवत्ता है, अब यह बतलाना है कि मनको यह ज्ञानवत्ता अपने आपकी भी है। इसका स्वरूप इस तरहका है, " मनकी यह कल्पना मनसे उसी प्रकार एकीभूत है जिस प्रकार मन स्वयं शरीरके साथ एकीभूत है। " ◊ दोनोंमें अंतर इतनाही है कि " शरीरकी कल्पना और शरीर अर्थात् मन और शरीर एकही व्यक्ति है जिसका आकलन कभी विचार इस गुणके द्वारा किया जाता है और कभी विस्तार इस गुणके द्वारा; जब कि मनकी कल्पना और स्वयं मन एकही वस्तु है जिसका आकलन सिर्फ एकही गुण विचारकी दृष्टिसे किया जाता है। " †

× वही, वि. १९ + वही वि. २० * वही वि. २२ ◊ वही वि. २१ † वही वि. २१ स्प.

मनका उपर्युक्त कल्पना या ज्ञानको स्पिनोझा 'कल्पनाकी कल्पना' (Idea of the idea) या 'मनकी कल्पना' (Idea of the mind) भी कहता है। इसकी सिद्धि स्पिनोझा दो तरहसे करता है। एक तो ईश्वरीय स्वभावसे और दूसरे, स्वयं मनके स्वरूपसे। प्रथम प्रकारका वर्णन अभी ऊपर किया जा चुका है। इस संबंधमें वि. ११ के उ. सि. का भी प्रमाण दिया जा सकता है। इसके अनुसार मनुष्यका मन अनंत ईश्वरीय बुद्धिका एक अंश है। इसलिये यह कहना कि मन कुछ भी देखता है यह कहनेके बराबर है कि ईश्वरके मनमें यह या वह कल्पना है, परंतु यह कल्पना अनंत ईश्वरके अनंत रूपमें न होकर उस रूपमें है जिसमें वह मानवीय मनके स्वरूपद्वारा व्यक्त किया जाता है या मानवीय मनका तत्त्व है।" "मनकी कल्पना और स्वयं मन ईश्वरमें उसी आवश्यकतासे है और उसकी उसी विचारशक्तिसे निकलते है।" † इसलिये मानवीय मनको अपने स्वयंकी कल्पना है।

मनके स्वरूपसे अर्थात् मन शरीरकी कल्पना है इससे भी यही बात सिद्ध होती है। "मनकी कल्पना या कल्पनाकी कल्पना सिर्फ कल्पनाका आकार है जो विचारका विषय निरपेक्ष प्रकार है। कारण, मनुष्य जो भी कुछ जानता है, जाननेकी उसी क्रियामें उसे उस ज्ञानका भी ज्ञान होता है और उस ज्ञानके ज्ञानका भी ज्ञान होता है और इसी प्रकार यह परंपरा अनंत होती है। §"

मानवीय मनके ज्ञान या कल्पनाको स्पिनोझाने एरिस्टॉटल का अनुसरण करके कल्पनाकी कल्पना कहा है, क्योंकि दोनोंके मतानुसार कल्पना मनके साथ एकीभूत है। इसी कारण से स्पिनोझाने मनकी व्याख्यामें मनको शरीरकी कल्पना कहा है। कल्पनाकी कल्पनाको स्पिनोझाने ठीक एरिस्टॉटलकी तरह कल्पनाका आकार (form of the Idea) भी कहा है।‡ इसका आशय यह है कि एक निम्न आकार दूसरे उच्च आकार का विषय होता चला जाता है।

तात्पर्य यह कि अंतःप्रज्ञात्मक ज्ञान (intuitive knowledge) के व्यतिरिक्त (जिसका वर्णन आगे किया जायगा), ज्ञानके समस्त प्रकारों यथा संवेदना, कल्पना, बौद्धिक ज्ञानका उगम इंद्रिय प्रत्यक्षमें है; "मनको शरीरमें होनेवाले परिणामोंकी कल्पनाओंके व्यतिरिक्त अपने स्वयंका ज्ञान नहीं होता" × मनके स्वयंके ज्ञानसे अभिप्राय ज्ञानवत्ता (Consciousness) तथा मनके बौद्धिक व्यापारोंसे है (rational activity), क्योंकि मनके बौद्धिक व्यापारों का प्रारंभ अपने आपको जाननेकी योग्यतासे तथा विशिष्ट शरीर निरपेक्ष सामान्य कल्पनाओंसे होता है। यहींसे विवेक या द्वितीय प्रकारके ज्ञानका प्रारंभ हो जाता है।

[प्रकरण १४]

सत्यासत्य या प्रामाण्याप्रामाण्य

मध्ययुगमें सत्य या प्रामाण्यका सर्वसामान्य सिद्धांत 'प्रतिरूपता' (Correspondence) का था। * इसके अनुसार किसी वस्तुकी हमारे मनमें जो कल्पना है ठीक उसके प्रतिरूप वह वस्तु मनसे बाहर भी होनी चाहिये। परंतु प्रामाण्य की यह बाह्य कसौटी है। प्रामाण्यकी आंतरिक कसौटी आत्मान्वय (Self-consistency) और स्वयं प्रमाणरूपता (Self-evidence) है। ये दोनों कसौटियां परस्पर विरोधी न होकर एक दूसरीकी पोषक हैं। जहांपर बाह्य कसौटीके लिये अवकाश नहीं, वहांपर आंतरिक कसौटी विशेषरूपसे उपयोगी है। प्रामाण्यके इन दोनों सिद्धांतोंका उपयोग स्पिनोझाने प्रचुरतासे किया है। उसने सत्य या सत्य कल्पना (Truth or true Idea) के दो लक्षण कहे हैं। (१) वह स्पष्ट और सुव्यक्त (clear and distinct) होती है; (२) वह सब संदेहोंके परे होती है या एक शब्दमें निश्चयात्मक (certain) होती है। स्पष्टता, सुव्यक्तता और निश्चयात्मकता ये सब शब्द स्वयं प्रमाणरूपताके भावकोही विशद

† वही § वही ‡ वही × वही, वि. २३ * प्रो. वॉल्फसनके Philosophy of Spinoza vol. II. के १५ वें प्रकरणके आधारपर यह सब विवेचन है।

Regd. No. B. 1463

संपूर्ण महाभारत ।

अब संपूर्ण १८ पर्व महाभारत छाप चुका है। इस सजिल्द संपूर्ण महाभारतका मूल्य ७५) रु रखा गया है। तथापि यदि आप पेशगी म० आ० द्वारा संपूर्ण मूल्य भेजेंगे, तो यह ११००० पृष्ठोंका संपूर्ण, सजिल्द, सचित्र ग्रन्थ आपको रेलपार्सल द्वारा भेजेंगे, जिससे आपको सब पुस्तक सुरक्षित पहुंचेंगे। आर्डर भेजते समय अपने रेलस्टेशनका नाम अवश्य लिखें। महाभारतका वन, विराट और उद्योग ये पर्व समाप्त हैं।

श्रीमद्भगवद्गीता ।

इस '**पुरुषार्थबोधिनी**' भाषा-टीकामें यह बात दर्शायी गयी है कि वेद, उपनिषद् आदि प्राचीन ग्रन्थोंकेही सिद्धान्त गीतामें नये ढंगसें किस प्रकार कहे हैं। अतः इस प्राचीन परंपराको बताना इस '**पुरुषार्थ-बोधिनी**' टीका का मुख्य उद्देश है, अथवा यही इसकी विशेषता है।

गीता के १८ अध्याय तीन विभागों में विभाजित किये हैं और उनकी एकही जिल्द बनाई है। मू० १०) रु० डाक व्यय १॥)

भगवद्गीता-समन्वय ।

यह पुस्तक श्रीमद्भगवद्गीता का अध्ययन करनेवालोंके लिये अत्यंत आवश्यक है। '**वैदिक धर्म**' के आकार के १३५ पृष्ठ, चिकना कागज सजिल्द का मू० २) रु०, डा० व्य० ।≈)

भगवद्गीता-श्लोकार्धसूची ।

इसमें श्रीमद् गीताके श्लोकार्धोंकी अकारादिक्रमसे आद्याक्षरसूची है और उसी क्रमसे अन्त्याक्षरसूची भी है। मूल्य केवल ॥≈), डा० व्य० =)

आसन ।

' योग की आरोग्यवर्धक व्यायाम-पद्धति '

अनेक वर्षोंके अनुभवसे यह बात निश्चित हो चुकी है कि शरीरस्वास्थ्यके लिये आसनोंका आरोग्यवर्धक व्यायामही अत्यंत सुगम और निश्चित उपाय है। अशक्त मनुष्यभी इससे अपना स्वास्थ्य प्राप्त कर सकते हैं। इस पद्धतिका सम्पूर्ण स्पष्टीकरण इस पुस्तकमें है। मूल्य केवल २॥) दो रु० और डा० व्य० ।≈) सात आना है। म० आ० से २॥≈) रु० भेज दें।

आसनोंका चित्रपट- २०"×२७" इंच मू० ।) रु., डा. व्य. -)

मंत्री-स्वाध्याय-मण्डल, औंध (जि० सातारा)

मुद्रक और प्रकाशक- व० श्री० सातवळेकर, भारत-मुद्रणालय, औन्ध.

मार्च सं. २००१
फाल्गुन १९४५

विषयसूची।

१ एक परम पिता परमात्मा ९७
२ ऐक्य, द्वैत और त्रैत ९८
३ दशावतार-रहस्य, पं. साठेजी ९९
४ मनकी पांच अवस्थाएं
पं. धर्मराजजी १०८
५ प्रस्तावित हिंदू कोडपर विचार १११
६ मधुच्छन्दस् मंत्रमाला (३)
पं धर्मराजजी १२२
७ आत्मा पं. ऋभुदेव १२७
८ घरेलू तेल ,, ,, १३०
९ स्पिनोझा और उसका दर्शन
प श्री मा चिगळे M A ८१-८८

संपादक,
पं. श्रीपाद दामोदर सातवळेकर

सहसंपादक
पं दयानंद गणेश धारेश्वर, B A
स्वाध्याय-मण्डल, औंध

वार्षिक मूल्य
म. ऑ से ५) रु.; वी. पी. से ५।=) रु.
विदेशके लिये १५ शिलिंग।
एक अंकका मू. ।।) रु.

क्रमांक ३०३

दैवतसंहिता ।

प्रथम भाग तैयार है। द्वितीय भाग छप रहा है।

आज वेद की जो संहिताएँ उपलब्ध हैं, उन में प्रत्येक देवता के मन्त्र इधरउधर बिखरे हुए पाये जाते हैं । एक ही जगह उन मंत्रों को इकट्ठा करके यह **दैवत-संहिता** बनवायी गयी है । प्रथम भाग में निम्न लिखित ४ देवताओंके मंत्र हैं-

देवता	मंत्रसंख्या	पृष्ठसंख्या	मूल्य	डाकव्यय
१ **अग्निदेवता**	२४८३	३४६	३) रु.	।॥)
२ **इंद्रदेवता**	३३६३	३७६	३) रु.	॥।)
३ **सोमदेवता**	१२६	१५०	२) रु.	॥)
४ **मरुद्देवता**	४६४	७२	१) रु	।)

इस प्रथम भाग का मू. ६) रु. और डा. व्य. १॥) है।

इस में प्रत्येक देवता के मूल मन्त्र, पुनरुक्त मंत्रसूची, उपमासूची, विशेषणसूची तथा अकारानुक्रम से मंत्रोंकी अनुक्रमणिका का समावेश तो है, परंतु कभी कभी उत्तरपदसूची या निपातदेवतासूची इस भाँति अन्य भी सूचीयाँ दी गयी हैं। इन सभी सूचीयों से स्वाध्यायशील पाठकों को बडी भारी सुविधा होगी।

संपूर्ण दैवतसंहिताके इसी भाँति तीन विभाग होनेवाले हैं और प्रत्येक विभाग का मूल्य ६) रु तथा डा. व्य. १॥) है। पाठक ऐसे दुर्लभ ग्रन्थ का संग्रह अवश्य करें। ऐसे ग्रन्थ बारबार मुद्रित करना सभव नहीं और इतने सस्ते मूल्य में भी ये ग्रन्थ देना असंभव ही है।

वेदकी संहिताएं।

वेद की चार संहिताओंका मूल्य यह है-

१ ऋग्वेद (द्वितीय संस्करण)	६) डा० व्य० १।)	३ सामवेद	३॥) डा० व्य० ।॥)
२ यजुर्वेद	२॥) ,, ,, ॥)	४ अथर्ववेद (द्वितीय संस्करण)	६) ,, ,, १)

इन चारों संहिताओंका मूल्य १८) रु. और डा. व्य. ३) है अर्थात् कुल मूल्य २१) रु है। परन्तु पेशगी म० आ० से सहूलियतका मू० १८) रु० है, तथा डा० व्यय माफ है। इसलिए डाकसे मंगानेवाले १५) पंद्रह रु०। पेशगी भेजें।

यजुर्वेद की निम्नलिखित चारों संहिताओं का मूल्य यह है- ।

१ काण्व संहिता (तैयार है)	४) डा० व्य० ।॥)	३ काठक संहिता (तैयार है)	६) डा० व्य १)
२ तैत्तिरीय संहिता	६) ,, ,, १)	४ मैत्रायणी संहिता ,,	६) ,, ,, १)

वेदकी इन चारों संहिताओं का मूल्य २२) है, डा. व्य. ३॥) है अर्थात् २५॥) डा. व्य. समेत है। परंतु जो ग्राहक पेशगी मूल्य भेजकर ग्राहक बनेंगे, उनको ये चारों संहिताएं २२) रु० में दी जायंगी। डाकव्यय माफ होगा।

– मंत्री, स्वाध्याय-मण्डल, औंध, (जि० सातारा)

क्रमाङ्क ३०३

वर्ष २६ | फाल्गुन संवत् २००१ | अङ्क ३

मार्च १९४५

एक परम पिता परमात्मा

यो नः पिता जनिता यो विधाता धामानि वेद भुवनानि विश्वा।
यो देवानां नामधा एक एव तं सम्प्रश्नं भुवना यन्त्यन्या ॥

वाजसनेयी यजुर्वेद १७।२७

"हम सबोंका जो जनक एवं पालक भी है, जो सबका विधाता भी है, सर्व व्यापक होनेके कारण जो सभी भुवनोंको तथा समूचे स्थानोंको भलीभाँति जानता है, जो अन्य सभी देवताओंके नाम स्वयं धारण करनेकी क्षमता रखता है वह देव सचमुच एक, एकं सत् है। अन्य, दूसरे तथा विभिन्न समझे जानेवाले सभी भुवन इस वर्णनीय देव, परमात्माको सदैव प्राप्त होते हैं; कारण यही है कि विश्वरूप होनेसे उसे अप्राप्त ऐसी एक भी वस्तु नहीं है।"

सबका जनक, संरक्षक तथा धारणकर्ता परमेश्वर है और वही सबका आधारस्तम्भ भी है। वह सर्वव्यापक है इसलिए प्रत्यक्षरूपसे सब कुछ जानता है। जितनेभी दूसरे देव हों उन सबके नाम वास्तवमें उसी एक परमेश्वरके ही हैं। किसी भी नामसे उसकी प्रार्थना या वर्णन करनेलगे तो भी उसकी सहायता सबको समानरूपसे मिलती है। सबका सम्मिलित रूप एकमेवाद्वितीय परमात्मा है। सभी उसीका वर्णन करते हैं क्योंकि वर्णनीय ऐसा उसके अतिरिक्त दूसरा कुछ भी नहीं है। चाहे जिस नामको लेकर वर्णन करने लगे, वह परमात्माकाही होता है। उस सर्वाधार, परमपिता परमात्माको सारा विश्व प्राप्त है क्योंकि वह विश्वरूपही है।

ऐक्य, द्वैत और त्रैत

द्वैत या अद्वैत सत्य है इस संबंधमें यथेष्ट बहस की जाती है और कई झगडे तथा विवाद भी खडे किये जाते हैं। इसलिए यह उचित जानपडता है कि इस संबंधमें जो सत्य शास्त्रीय विचार है उसे देख लिया जाय।

प्रथमतः जीवात्मा एवं परमात्माके मध्य जो संबंध है वह किस ढंगका है सो निश्चित करना चाहिये। गीतामें भगवान् श्रीकृष्णजी महाराजने बतलाया ही है कि 'ममैवांशो जीवलोके जीवभूतः' (१५।७) अर्थात् 'जीवात्मा मेराही अंश है'। इसलिए निस्संशय जीवात्मा परमात्माके अंशके अतिरिक्त और कुछभी नहीं। जैसे चिनगारी अग्निका अंश है, ठीक उसीप्रकार जीवात्मा भी परमात्माका स्फुलिंग है। महासागरकी एक हिलोर, शरीरका एक अवयव, पेडका एक फल, आगकी एक छोटीसी चिनगारी जिस प्रकार मूल तत्त्वसे अलग नहीं है वैसेही जीवात्मा भी परमात्मासे पृथक् नहीं किन्तु एक छोटासा लेकिन विकास क्षम अभिन्न अंश है। ध्यानमें रहे कि अंश पूर्णकाही एक विभाग रहता है, वह कभी उससे पृथक् नहीं रहता। इसी तरह जीव एवं शिवके मध्य अनन्यत्वका संबंध प्रस्थापित है और अपृथक्ता, अभिन्नता या एकरूपताके रूपमेंही वह है।

जीवात्माकी कृतकृत्यताके लिए जो अनुष्ठान करना है वह इस तरह है— परमात्मासे अपनी अभिन्नताको जानकर उस अभेद भावसे पर्याप्त प्रभावित होकर परमेश्वरके कार्यकी पूर्तिके लिए अपने जीवनको निछावर कर देना। सबसे प्रथम जानलेनेकी बात यही है कि, जीवात्मा एवं परमात्मामें तत्त्वदृष्ट्या अंश एवं पूर्णकी अपेक्षा अधिक तनिक भी विभिन्नता नहीं है।

उपर्युक्त वस्तुस्थितिको समझलेनाही सत्य ज्ञान है और इसके अतिरिक्त जो कुछ भी है वह पूर्णतया अज्ञान विलसितही है। इस भाँति यहांपर ज्ञातव्य बात यही है कि तत्व दृष्टिसे जीवात्मा एवं परमात्मामें भेद नहीं; हाँ परिमाणतः काल्पनिक विभेद जरूर है। जलकी बूँद और महासागर तत्त्वदृष्ट्या एकही हैं किन्तु परिमाणतः कल्पनामें विभिन्न भी माने जासकते हैं। वैसेही जीवात्मा तथा परमात्माके बारेमें जानना चाहिये। जो भेद प्रतीत होता है वह अज्ञानजन्यही है, सचमुच विभिन्नता नहीं है। इतना जानलेनेपर जीव एवं परमेश्वरके भेदका प्रबंध क्या है सो भली प्रकार ध्यानमें आता है।

अब इसके आगे जड चेतन भेद दृष्टिगोचर होता है। खाँडका एक टुकडा सामने रखकर ध्यान पूर्वक देखिए तो पता लगेगा कि खाँड और मिठास दो काल्पनिक भेदोंकी जानकारी होती है। किन्तु ये पृथक् दो वस्तुएँ नहीं हैं। यदि एक शीशीमें खाँड और दूसरे बोतलमें मधुरिमा रखसकें तो जरूर कहेंगे कि यह वस्तुगत भेद है। लेकिन यह नितान्त असंभव है। मिश्रीकी डली एवं उसकी मिठासका सम्मिलित स्वरूपही मिश्री है। यद्यपि क्षणभर ऐसा मानलें कि शक्करका ढला तथा मधुरता अलग है तो भी वास्तवमें वे दो पृथक् वस्तुएँ नहीं हैं। एकही अखंड वस्तुकी दो अनुभूतियाँ हैं, और अधिक कुछ नहीं।

ठीक इसी प्रकार जड तथा चेतन दो विभिन्न पदार्थ सुतरां नहीं किन्तु जो 'एकं सत्' है उसकेही दो अनुभव हैं यदि यह खयाल ठीक ध्यानमें आजाय तो जड–चेतन भेद विलुप्त होंगे तथा विदित होगा कि 'एकही सत् तत्त्व' के ये दोनोंही अनुभव हैं।

इस ढंगसे यह जानलेना आसान है कि 'जीवात्मा' तथा परमात्मा और 'प्रकृति तथा परमेश्वर' ऐसे विभेद सिर्फ माननेपरही हैं, अनुभवमें आनेपर भी वस्तुतः नहीं हैं। यह बात ध्यानमें आजाय तो द्वैत तथा अद्वैतके झगडे स्वयमेव मिट जायेंगे।

यद्यपि व्यवहारमें अंश तथा पूर्णका भेद दीखपडता है तो भी तत्त्व दृष्टिसे उसमें कोई भेद नहीं रहता यह भी स्पष्ट है। सुवर्णके कँगन तथा अँगूठी बनायी जाय तो सुवर्ण कंकण अवश्यमेव हाथकी कलाईकी शोभा बढायेगा और अँगूठी तो सिर्फ उंगलीपरही विराजमान होगी। किंतु सुवर्णत्वमें उनका मूल्य एकही है। इस भाँति, भेदका अनुभव होते रहनेपरभी तत्त्वतः अभेद विद्यमान रहता है।

वैसेही, चीनीकी डली और मिठासका अनुभव विभिन्न इन्द्रियोंसे लिया जाता है तो भी डलीके सिवा मिठासका पृथक् अस्तित्व नहीं है और मधुरिमा तो समूची डलीके भीतर व्याप्त हो विराजमान है। अतः इन दोनोंही कल्पनागत विभेदोंको पृथक् वस्तुओंके अलग स्वरूपमें नहीं दिखा सकते हैं। ठीक इसी तरह इस विश्वमें सर्वत्रही जडत्व तथा चैतन्य ओतप्रोत भरा पडा है अतएव वे दोनों एकही सत् वस्तुके दो स्वरूप हैं।

द्वैतमय अद्वैत और अद्वैतमय द्वैत अर्थात्ही विभिन्नतामय एकता (Diversified Unity but not un-related diversities) है ऐसा मानना उचित है।

दशावतार-रहस्य

(दशावतारपर एक विशेष दृष्टिकोणसे विचार)

(लेखक- मीमांसाभूषण श्री० पु० बा० साठे बी. ए., एल्. एल. एम. एत्र. आर ए. एस ,
अनुवादक- श्री प्यारेलाल गुप्त ।) E. A. C. बिलासपूर (मध्यप्रान्त)

जब कभी कोई दैवी अथवा असाधारण मानवी शक्ति मनुष्य या किसी अन्य सजीव प्राणीका रूप धारण कर इस मृत्युलोगमें वास करने आती है तब उस देवता ने या उस शक्तिने इस भूमण्डल पर अवतार धारण किया है ऐसा लोग समझने लगते हैं। इस ढंगकी कल्पना केवल भारत ही में नहीं प्रत्युत प्रायः सभी सभ्य देशों में पायी जाती है। परन्तु प्रस्तुत लेखमें हम केवल इसी बातपर एक विशेष दृष्टि कोणसे विचार करेंगे कि हिन्दुओं की, दशावतारके सम्बन्धमें जो कल्पना है इसका मार्मिक रहस्य क्या है।

अवतार सम्बन्धी कल्पना मुख्यतः वैष्णवोंकी है। शैव तो मूल देवताका ही भजन-पूजन करते हैं। सिवाय इसके शिव प्रसिद्ध पराङ्मुख अर्थात् विरागी देवता हैं। श्मशान उनका निवास स्थान है और वे परम त्यागी हैं। परन्तु विष्णु इस ढंगके देवता नहीं हैं। विष्णु विश्वके निर्माता, पालक और संरक्षक हैं। शिव अर्थात रुद्रका काम संहार करना है। किन्तु विष्णु जगत्‌की उत्पत्तिसे लगाकर उसको तथा उसपर निवास करने वाले प्राणिमात्र को कार्यक्षम बनानेके लिए जिम्मेदार हैं। यह विश्व उनका कार्य-क्षेत्र है।

वह विष्णु शक्ति ही है जो बालकको जन्म देकर माताके रूपमें उसका लालन-पालन करती है और उसके बडे होने तक प्रायः प्रत्येक प्रकारसे उसकी सहायता करती है। उसे वह कभी खिलाती—पिलाती है, कभी लाड प्यार करती है और कभी उसपर नाराज भी होती है। परन्तु जहां वह कार्यक्षम हुआ, योग्य बना कि वह तटस्थ हो जाती है और उसीके सुखमें अपना सुख मानती है- उसीको सुखी देख आप सुखी होती है। माताको अपने बालकके जीवनके भिन्न भिन्न अवसरोंपर, आवश्यकता और परिस्थितिके अनुसार, भिन्न भिन्न रूप धारण कर उसका हित-चिन्तन करना पडता है, ठीक इसी प्रकार विष्णुको भी विश्व कल्याणके लिए, विश्वकी उत्पत्तिसे लगाकर जबतक वह स्थित रहेगा तब तक पृथक् पृथक् अवसरोंपर परिस्थितिके अनुसार पृथक् पृथक् रूप-अवतार-धारण करना पडा है और पडेगा। विष्णु ऐसी शक्ति है जो पहले विश्वको स्थितिमें लाती है फिर उसकी वृद्धि करती है, वृद्धिके अनुकूल परिस्थिति उत्पन्न करती है; उसपर चराचर प्राणियोंका निर्माण करती है, उनका लालन-पालन और संरक्षण करती है, और उन्हें उन्नतिका मार्ग निर्देश कर उन्हें कार्यक्षम बनाती है। ये जिम्मेदारियां विष्णु-शक्तिकी हैं। जिस प्रकार माता बालकोंको खेल कूदमें लगाकर स्वयं गृह कार्यमें दत्तचित्त होती है पर जब बालक परस्पर लडने लगते हैं तब उसे अपना काम बीचहीमें छोडकर झगडालू बालकको डांटना डपटना पडता है, सताये गये बालकका आंसू पोंछकर उसका दुःख हलका करना पडता है, और उनमें शांति स्थापना करनी पडती है, ठीक इसी प्रकार विष्णुको यदि इस विश्वके कार्य में कहीं जरा भी गडबडी हुई और उसके परिणाम स्वरूप उस देवताके निर्माणकी हुई प्राणि-सृष्टि में कहीं जराभी त्रास हुआ कि उसे-इस सृष्टिके उत्पन्न, पालन और संरक्षण करनेके जिम्मेदार विष्णु को-भूतलपर आकर संकट निवारण करना पडता है। भगवानको कब अवतार धारण करना पडता है, इस सम्बन्धमें श्रीमद्‌भगवत् गीतामें लिखा है-

> " यदा यदा हि धर्मस्य ग्लानिर्भवति भारत
> अभ्युत्थानमधर्मस्य तदात्मानं सृजाम्यहम् ॥
> परित्राणाय साधूनां विनाशाय च दुष्कृताम्।
> धर्मसंस्थापनार्थाय संभवामि युगे युगे "

उपर्युक्त श्लोकमें हिन्दुओंके हृदयमें परमेश्वरके अवतार के संबंधमें कैसी उदात्त कल्पना है इसका पता लगता है। इसी प्रकारकी कल्पना हरिवंश पुराणके ४१ वें अध्यायके १७ से २० वे श्लोकोंमें भी निहित है। अवतारत्व मध्य-युगकालीन तथा अर्वाचीन हिन्दू धर्मका एक प्रमुख तत्व है।

गृहस्वामिनी अपनी संतानकी रक्षा और लालन पालन तथा शिक्षाके लिए जिम्मेदार है पर यदि माताका अभाव हो गया तो फिर यह सब कार्यभार परिवारकी किसी दूसरी सयानी स्त्रीके कंधोंपर पडता है। तब फिर उस घरमें उसी की माताके समान प्रतिष्ठा होती है। तदनुरूप ही इस विस्तृत विश्वको जो शक्ति अबाधित रूपसे चलाती है, जिसकी दृष्टि प्रत्येक व्यक्तिके छोटेसे छोटे कामपर रहती है उसे कोई परमेश्वर कहता है और कोई अन्य नामसे स्मरण करता है। पर सच पूछिये तो यहां नामका कोई महत्व नहीं है। जिस शक्तिका अनुभव प्रत्येक व्यक्तिको प्रतिक्षण होता रहता है, उसी शक्तिको हिन्दूगण विष्णु देवता कहते हैं। माता को मा कहो, जननी कहो, आई कहो, या मदर कहो, इससे कुछ अन्तर नहीं पडता। वह तो माता है, उसे मातृ-धर्म निभाना ही होगा। वह तो सब का कल्याण चाहेगी ही। वह गृह-स्थित देवी सबको वात्सल्य भावसे देखेगी ही। इसी प्रकार विश्वको उत्पन्न करने-वाली और विश्वोन्नतिको साह्य देनेवाली शक्तिको किसी भी नामसे आपने पुकारा तो उसमें रत्तीभर फर्क होने वाला नहीं है। यही शक्ति हिन्दुओंके द्वारा विष्णु कही जाती है।

जिस प्रकार बालकोंमें झगडा हो जानेपर माताको अपना काम छोडकर झगडा निपटाना पडता है, प्रसंगानु-सार दण्ड देना पडता है, उसी प्रकार जब संसारकी उन्नतिके मार्गमें बाधा आने लगती है तब बाधाको, उस संकटको, उस कष्टको निवारण करनेके लिए विश्वकी संचालक शक्तिको परिस्थितिके अनुकूल मार्ग ग्रहण करना पडता है, यही विष्णु देवताके अवतार सम्बंधी कल्पनाओं की मुख्य भूमिका है।

विश्वके हितार्थही विष्णु अवतार लेते हैं, इस कल्पना के मस्तिष्कमें अच्छी तरह पैठ जानेके अनन्तर जब कभी किसी व्यक्तिके द्वारा चाहे उसके बुद्धिबलसे हो या तेज-बलसे हो, विश्वका कुछ भी कल्याण-साधन हुआ तभी हिन्दुओंकी प्रवृत्ति उस व्यक्ति विशेषको विष्णुका अवतार माननेकी ओर बढती गई। ऐसी अवस्थामें यदि हिन्दू-जनता किसी भी महान त्यागी, विरागी और महात्माको जिसके प्रयत्नोंसे विश्वकी सुखशान्तिमें थोडी भी वृद्धि हुई हो विष्णुका अवतार मान ले तो आश्चर्यही क्या?

जो लोग परमेश्वरको नहीं मानते उनका कथन है कि यदि ये महान सुधारक और नेता परमेश्वर या सर्वसामर्थ-शाली शक्तिके अवतार होते तो उन्हें इस सांसारिक जीवनमें दुःख कैसे व्यापता? इस आक्षेपका उत्तर बडा सरल है। ये त्यागी और महान नेता काल विशेषकी विचार प्रणालीके प्रतीक होते हैं। जनता जिन विचारोंको पसंद करती है-उनका कायल होती है पर साहसके अभावसे उन्हें प्रकट नहीं करती-उनके अनुरूप अपना आचरण नहीं बनाती उन्हें ये नेता बेधडक जनताके सामने रखते हैं और साथही उन विचारोंको कार्यरूपमें परिणत करते हैं, उनके अनुसार स्वयं चलते हैं। इसका परिणाम यह होता है कि ऐसे व्यक्तियोंको कष्ट तो अवश्य होता है परन्तु उनके साहसको देखकर जनता भी साहसी हो जाती है, उसकी प्रगतिके प्रवाहमें वेग आ जाता है, वह अधिक धैर्यवान हो जाती है, उसमें सहिष्णुता बढ जाती है और वह अपने हृदयगत विचारोंको कार्यका रूप देनेके लिए कटिबद्ध हो जाती है। ऐसी शक्ति उसे जिस व्यक्तिके द्वारा प्राप्त होती है उसे यदि वह ईश्वरकी विभूति समझने लगे या उसे ईश्वरका अवतार ही समझने लगे तो यह स्वाभाविक ही है। जो नेता जनताके लिए आत्म त्याग करते हैं, उसके सुख और समृद्धिके लिए सत्यके सहारेपर अपना बलिदान कर देते हैं उसे यदि श्रद्धालु जनता परमात्माका अवतार समझ ले तो इसमें कुछ भी आश्चर्य नहीं है।

लोक-हितकी दृष्टिसे विविक्षित कालमें विविक्षित कार्य करना आवश्यक होता है परन्तु साधारण जनतामें धैर्य, साहस, कार्यक्षमता आदि गुणोंके अभावसे वह कार्य कुछ इने गिने व्यक्तियोंको करना पडता है जो कार्य-

की महत्ताको समझकर, अपने उद्देशोंकी पूर्ति और सफलताके लिए निर्भय होकर जनताका नेतृत्व ग्रहण करते हैं और अपने प्रयत्नों द्वारा समाज-सुधार रूपी रथको आगे बढ़ाकर अवतारी पुरुष माने जाते हैं। सच पूछिए तो मानवी प्रगतिका इतिहास इन नेताओंके प्रयत्नोंका इतिहास है। यदि आप इसी दृष्टिकोणको सामने रखकर संसारके इतिहासका सूक्ष्मतया अवलोकन करेंगे तो हमारी ऊपर लिखी बातें पूर्णतया सिद्ध होंगी। इसी सिद्धान्तको आप शास्त्रीय भाषामें कह सकते हैं कि 'अवतारोंका इतिहासही मानवजातिकी प्रगतिका इतिहास है।' इन पंक्तियोंके लेखकने इसी दृष्टिकोणसे हिन्दुओंके दशावतारपर विचार किया है।

कुछ पुराणकार अवतारोंकी संख्या ११ मानते हैं और कुछ १०, परन्तु कुछ पुराणकार बौद्धको अवतार नहीं मानते। पुराणकार कई हो गये हैं। उनका मुख्य उद्देश रहा है कि कथा द्वारा धर्म और समाजके उच्च तत्त्वोंको तत्कालीन जनताके सामने रखना और उन्हें व्यवहारमें लानेकी शिक्षा देना। कुछ पुराणकार तो प्रथम श्रेणीके विचारवान पुरुष थे और कुछ उनसे भिन्न श्रेणीके, पर प्रायः सभी पुराणकारोंका यही उद्देश रहता था कि लोगोंका ज्ञानवर्धन उनकी कथाओंके द्वारा हो। पुराणकारोंमें सबसे श्रेष्ठ व्यास ऋषि थे तथा दूसरे सूत ऋषि थे। पुराणोंमें कथाका प्रारम्भ प्रायः इस प्रकार पाया जाता है-'सूत ऋषिने नैमिषारण्यमें राजा जनमेजय तथा अन्य ऋषियोंसे कहा कि' -प्रायः सभी पुराणकारोंने अपनी कथाओंका आरम्भ इसी ढंगपर किया है या यह लिखा है कि श्री व्यासजीने इस कथाका दिग्दर्शन इस प्रकार किया था। समस्त पुराणकार एकही विचारके नहीं थे और उनका अस्तित्व भी पृथक् पृथक् समयमें पाया जाता है। फलतः एकही कथाका वर्णन भिन्नभिन्न पुराणकारोंने भिन्न भिन्न ढंगसे कर दिया है और कभी कभी तो ऐसी परस्पर-विरोधी बातें मिलती हैं कि पाठकोंको सन्देह होने लगता है कि व्यासजीने या सूतजीने भिन्न भिन्न पुराणोंमें इसी एक कथाको दूसरे दूसरे ढंगसे कैसे वर्णन किया है। परन्तु ध्यानपूर्वक पढ़नेसे यह ज्ञात हो जाता है कि पुराणोंका एक नाम होनेपर भी पुराणकार भिन्न भिन्न हैं और उनका जन्म भी भिन्न भिन्न कालमें हुआ था, तथा उन्होंने अपनी अपनी विचार-प्रणालीके अनुसार कथा प्रसंगका वर्णन कर उनमें अन्तर उत्पन्न कर दिया है। सिवा इसके इन पुराणकारोंने जो कुछ कहा है वह व्यासजी, सूतजी या शंकरजीके नामसे कहा है, अन्य किसीका नाम नहीं पाया जाता।

इस संसारमें प्राणी पहले एकावयवी (cellular) उत्पन्न हुए। जीवित रहनेके लिए उन्हें गतिवान होना आवश्यक जान पड़ा। अतएव इच्छा शक्तिके जोरसे उन्हें अवयव प्राप्त हुए। इन अवयवोंके सहारेसे उन्हें सजीव रहना सुलभ हो गया। मछली एक ऐसा प्राणी है जो एकावयवी प्राणीमें किंचित् उत्क्रान्ति होनेके पश्चात् अस्तित्वमें आयी। इस प्रकारकी शरीर रचनावाले प्राणी पानीहीमें रह सकते हैं। बिना पानीसे बाहर आये और धरतीपर निवास किये, उनका शारीरिक या मानसिक विकास होना अशक्य था। महासागरके अथाह जलमें रहनेवाले प्राणीको हलचल करनेके लिए प्रकृतिका सहारा लेना आवश्यक था। जड़ सृष्टिसे लड़कर अपना अस्तित्व बनाये रखना फिर धरतीपर आकर उसे अपना स्थायी निवास स्थान बनाना, इसके लिये काफी समय लगा होगा। एकावयवी प्राणीको पानीसे निकल कर धरती पर रहने वाले शरीर धारी प्राणीके समान विकसित होने में किन किन सीढ़ियोंसे गुज़रना पड़ा होगा, उसका विकास क्रमशः किस प्रकार हुआ होगा इसका रहस्य मत्स्यावतार से कच्छपावतार और फिर कच्छपावतार से वराहावतार से प्रकट होता है। पानीमें रहने वाली मछली विकास क्रम के सिद्धान्तोंसे कछुआ होकर धरतीके सान्निध्यमें आ गयी और फिर वराह बनकर धरती पर निवास करने लगी।

प्राणिमात्रका प्रथम कार्य है, सजीव रहना। सजीव रहनेकी कलाका दिग्दर्शन कुछ तो उसे प्रकृतिसे मिला और कुछ उसने स्वयं प्रकृतिके सहारे प्राप्त कर लिया। एक बात ध्यानमें रखना आवश्यक है कि जीवनकी प्रथम तीन अवस्थाओंमें प्राणिमात्रका विकास जीवन शास्त्रके अनुसार होना आवश्यक था। मछली एकावयवी होनेके कारण केवल पानीमें रह सकती है पर कछुआ समय समयपर धरतीपर भी रह सकता है और मुख्यतः

धरतीपर रहनेवाला प्राणी है। इस प्रकार तीन अवस्थाओं को पार कर प्राणी जलसे थलपर आ गया। प्रकृतिसे उसे पथ प्रदर्शन मिला और फिर वह उसीके सहारे अपनी प्रगति करने लगा। मत्स्य, कच्छप और वराह इन तीन अवस्थाओंकी कल्पनाका रहस्य यही है। पुराणकारोंने इन तीन अवतारों द्वारा सृष्टिके आरम्भिक इतिहासका वर्णन किया है और विष्णुदेवताने इन तीन अवतारोंको धारण कर सृष्टिको सजीव रखनेमें सहारा दिया है।

इस प्रकार जलचर प्राणी थलचर बन गया और उन्नतिके मार्गकी ओर वेगपूर्वक बढना आरम्भ किया। जीवित रहने के लिए स्वसंरक्षण करना आवश्यक होता है और स्वसंरक्षणके लिए शारीरिक बलकी जरूरत पडती है। प्रारम्भमें जीवित रहनेके लिए जिस प्रकारका बल उपयोगी था, उसे पाशविक बल कह सकते हैं। जीवित रहना यह उस समयके जीवनकी पहिली समस्या थी और इसके लिए शारीरिक बलकी अतीव आवश्यकता थी। जीवनके प्रारम्भ में प्राणिमात्रके लिए बलोपासना आवश्यक थी।

जीवन संग्राममें सफलता पानेके लिये बलका उपयोग करना यह प्राणि सृष्टिका नैसर्गिक नियम (instinct) या स्वभाव है। कर्तव्य या धर्म (duty) वश कोई ऐसा करता है, ऐसा कोई न समझे क्योंकि कर्तव्य या धर्मके विषयमें मनुष्य विचारको प्रधानता देता है। पर स्वभावके सम्बन्धमें विचार की जरूरत नहीं पडती। अतएव मनुष्य जातिने जीवनके आरम्भमें बलवर्द्धकपर विशेष ध्यान दिया। जब मनुष्य प्राणी समूह बनाकर रहने लगा तब अपना अस्तित्व बनाने रखनेके लिए उन समूहोंने बलोपासनाका प्रारम्भ किया। पहले तो वह बलपूर्वक स्वसंरक्षण करने लगा पश्चात् बुद्धिके बलपर उसने बलसंवर्धनका मार्ग पकडा। नृसिंहावतार उस समय के सामाजिक स्थितिका प्रतीक है।

इस सम्बन्धकी पौराणिक कथा इस प्रकार है - राजा हिरण्यकश्यप भगवान शंकरकी कृपासे करीब करीब अमर हो चुका था और वह इस अर्थमें कि न तो वह रातमें मर सकता था न दिनमें, न घरमें मर सकता था न घरके बाहर। साथ ही वह बडा शक्तिशाली और अन्यायी था। उसका नाश करनेके लिये प्रबल पाशविक बलकी जरूरत थी। पर केवल बल मात्रसे कार्य सिद्ध हो नहीं सकता था। शंकरजीके वरको सार्थक करनेके लिए बल और बुद्धिका सहयोग होना आवश्यक था। पाशविक वृत्तिसे भरे हुए समाजको अब बुद्धिके उपयोगकी जरूरत मालूम होने लगी। खम्भेको फाडकर निकले हुए नृसिंहने (अर्थात् बुद्धिका उपयोग करनेवाले परन्तु पाशविक बलपर पूर्ण आधार रखनेवाले समाजने) हिरण्यकश्यपका वध घरकी ओलतीपर सन्ध्याके समय किया। इस प्रकार उसकी मृत्यु न घरके भीतर हुई और न घरके बाहर, और न दिनमें हुई और न रातमें। अत. नृसिंहावतार उस समयके ऐसे सामाजिक स्थितिका प्रतीक है जो बलपर भरोसा रखते हुए बुद्धिके उपयोगका भी इच्छुक है। उस समय प्रल्हाद के सदश उच्च विचारोंके भी मनुष्य थे और हिरण्यकश्यपके समान नीच दानव भी थे। पर साधारण समाज बलपर भरोसा रखते हुए बुद्धिका भी उपयोग करनेवाला था।

बुद्धि बलका पराजय कर सकती है यह बात मानवी समाजके ध्यानमें जहाँ एक बार आगई उसने बुद्धि-विकास की ओर अधिक ध्यान देना आरम्भ किया। समाज इस बातको भूल चला कि हिरण्यकश्यपका नाश करनेके लिए जितनी बुद्धि बलकी जरूरत थी उतनीही शारीरिक बलकी भी। परन्तु बुद्धिबल सभी प्राप्त कर सकते हैं यह बात अनहोनी थी अतः उन अल्प संख्यक बुद्धिमानोंने जिनमें बुद्धिका विकास काफी तौरपर हो गया था अपने बुद्धि-बलसे समाजकी व्यवस्थापर अपना अधिकार जमानेकी तैयारी करना शुरू कर दिया। वह अल्प संख्यक बुद्धि-प्रभावी वर्ग ब्राह्मण कहलाये। वामनावतार इस बुद्धि प्रभावी ब्राह्मण वर्गके यशस्वी कार्य कलापका प्रतीक है। बलिके सदश भोलेभाले परन्तु बलशाली राजापर बुद्धिमान् ब्राह्मण बटुने अपनी मीठी मीठी बातों और युक्तिसे प्रभाव डालकिस प्रकार जय प्राप्त कर लिया! तत्कालीन समाज रचनामें बुद्धि जीवी वर्गको बडाही महत्व प्राप्त हुआ। बुद्धिके सामने बल कोई वस्तु नहीं है, ऐसी धारणा समाजमें फैल चली। बुद्धिका महत्व चहुँ ओर बढने लगा।

तत्कालीन समाज व्यवस्थामें बुद्धि प्रभावी वर्गको अग्रगण्य स्थान प्राप्त हो गया यह बात सच है पर उन्हें सदा यह आशंका बनी रहती थी कि उनका वह स्थान कहीं

छिन न जाय। क्योंकि जो स्थान उन्हें समाजने दिया था वह उनके गुणोंके प्रति आदरभाव दिखानेके लिए, उनसे भयभीत हो नहीं। राजा बलिने बटु वामनका कहना मान लिया इसका कारण था-इनके प्रति आदरका भाव। उनसे वह डरता नहीं था। ऐसी परिस्थितिमें बुद्धि प्रभावी वर्गके नेताओंको यह चिन्ता होने लगी कि समाजमें जो उच्च स्थान उन्होंने प्राप्त कर लिया है वह स्थायी और सतत कैसे हो जाय। नृसिंहावतारके समयमें समाजका वर्चस्व बनाये रखनेके लिए बलसंवर्धन आवश्यक ज्ञात हुआ। अब यह वर्गभी अपना वर्चस्व स्थायी रखनेके लिए आवश्यकता पड़नेपर बलका सहारा लेनेकी बात सोचने लगा। इस प्रकारके बुद्धिप्रभावी नेताओंके प्रतीक परशुरामजी थे।

परशुराम बुद्धिप्रभावी ब्राह्मण थे-हृदयके अत्यंत सरल पर साथही बड़े क्रोधी। समाजमें ब्राह्मण वर्गकी उच्चता बनाये रखनेके लिए उन्होंने २१ वार क्षत्रिय-संस्कृतिका पराजय किया। वामनने केवल बुद्धिबलसे बुद्धिप्रभावी वर्गको सन्माननीय स्थान दिलाया था और इन्होंने ब्राह्मण-संस्कृतिको शक्तिके साथ जोड़कर शक्तिकी सहायतासे उसे और अधिक प्रतिष्ठित बना दिया। समाजमें ब्राह्मण-संस्कृति न केवल श्रेष्ठ प्रत्युत सामर्थ्यवानभी समझी जाने लगी। ब्राह्म संस्कृतिका अर्थ होता है बुद्धिप्रभावी किन्तु त्यागनिष्ठ। परशुराम इसी संस्कृतिके प्रतीक थे।

बुद्धिबलके साथ बाहुबलका योग हो जानेसे समाजमें मानव संस्कृतिमें-इनकी प्रतिष्ठा बहुत बढ़ गई, इनका श्रेष्ठत्व पूर्ण रूपसे स्थापित हो गया यह देखकर बुद्धि-प्रभावी वर्गको बड़ा अहंकार होने लगा। साथही उनकी त्याग-वृत्ति भी लोप हो चली जिस बहुजन संख्यक समाजके हितके लिए इस बुद्धिप्रभावी वर्गने त्याग वृत्ति धारण की थी, जिस त्याग वृत्तिपर मुग्ध होकर बहुजन समाजने इसे स्वेच्छासे अत्यन्त प्रतिष्ठित स्थानपर ला बिठाया था उस बहुजन समाजके हितकी यह बुद्धिप्रभावी वर्ग उपेक्षा करने लगा। इतनाही नहीं बल्कि स्ववर्गके हितके मुकाबिलेमें इस वर्गने बहुजन समाजके हितकी उपेक्षा करना भी आरम्भ कर दिया और समय पड़नेपर उसकी यदि हानिभी हो जाय तो इसकी परवाह करना इसने छोड़ दिया। स्वार्थ मिश्रित अहंकार रूपी तमोगुणसे आच्छादित हो जानेके कारण ब्राह्म—संस्कृतिके धवल यशमें बड़ी कालिमा लग गई।

बहुजन समाजको इस विशिष्ट वर्गका अत्याचार असहनीय हो गया। ब्राह्म-संस्कृतिके सम्बन्धमें समाजके हृदयमें आदर था। उस संस्कृतिमें जो त्यागवृत्ति थी उससे वह बड़ा प्रभावित था परन्तु उस संस्कृतिमें क्षत्रिय वृत्ति वाले जन समाजके सम्बन्धमें जो दूषित भाव घुस गया था वह उसे पसन्द नहीं था। उसकी ऐसी धारणा हो चली कि हमें अपनेमेंसेही ऐसे व्यक्तिको अपना नेता चुनना चाहिए जिसमें ब्राह्म-संस्कृतिके गुण तो हों ही पर साथही वह अपनेमेंसेही होनेके कारण, हमारे हितोंकी ओर भी ध्यान दे। इन सद्गुणोंसे युक्त नेताका चुनाव सरल काम न था। ऐसा नेता बहुजन समाजके उच्च वर्गमेंसेही मिल सकता था क्योंकि ब्राह्म-संस्कृतिके तत्त्व क्या हैं, यह उसे पूर्ण रूपसे ज्ञात होना चाहिए। आयुष्यमें इस प्रकारका अवसर श्रीमानोंकोही मिल सकता था। अतएव श्रीमानोंमें से ऐसा नेता चुनना था। बहुजन समाज इस बातको समझता था कि ऐसे नेताके हाथमें अनियंत्रित सत्ता देनी होगी अतएव वह नेता ऐसा हो जो उस सत्ताका दुरुपयोग न करे। ब्राह्म-संस्कृतिमें सद्गुण बहुत अधिक थे, सो वह नेता उन सद्गुणोंका मानही केवल न रक्खे पर उन्हें आत्मसात् भी कर जाय। दोनों समाजोंमें सामञ्जस्य भी बनाए रक्खे। इस प्रकार बहुजन समाजसे ऐसे नेता चुने गए जो राजा कहलाने लगे। समाजने इनकी सत्ता स्वीकार की। ब्राह्म संस्कृतिके मुख्य गुण त्यागवृत्ति को धारण किए हुए बहुजन समाजके ये नेता—ये सत्ताधारी राजा बड़े लोकप्रिय सिद्ध हुए तो इसमें आश्चर्यही क्या ? इन राजाओंने भी ब्राह्म-संस्कृतिकी बुद्धि-श्रेष्ठता तथा त्याग वृत्तिको यथेष्ट सन्मान दिया, पर उस संस्कृतिमें जो चढ़ा-चढ़ी का भाव आ गया था उसके सामने नतमस्तक करना अस्वीकार कर दिया।

श्री रामचन्द्रजी ब्राह्म-संस्कृतिके पूर्ण प्रतिष्ठा करने वालोंमें से थे। वसिष्ठके सदृश ब्रह्मर्षि उनके गुरु थे। रामचन्द्रजी में बहुजन समाजकी सारी आकांक्षाएँ

केंद्रीभूत हो गई। वे स्वयं भी सारे सद्गुणोंके आगार थे। पिताके वचनकी रक्षाके लिए उन्होंने वनवास स्वीकृत कर लिया, प्रजाके संतोषके लिए उन्होंने प्रिय पत्नीका त्याग कर दिया, गौ-ब्राह्मणोंकी रक्षा की, विलासितामें कभी निमग्न नहीं हुए और बहुजन समाजकी रक्षाकी ओर कभी दुर्लक्ष्य नहीं किया। शक्ति-बलकी सहायतासे भी अपना वर्चस्व बनाये रखना चाहिये ऐसी प्रकृतिके बुद्धि प्रभावी परशुरामकी ब्राह्मण वृत्तिका भी उन्होंने पराजय किया पर साथ ही उनकी त्यागवृत्तिको सन्मान देना कभी नहीं छोडा। त्याग-मूर्ति परशुरामजीने भी देखा कि अब उनके सदृश विचारवालोंकी गुंजाइश नहीं रही तब उन्होंने अपना स्थान सहर्ष त्याग दिया।

परशुराममें त्यागभावकी बहुलताके कारण उनमें और रामचन्द्रमें अधिक संघर्ष नहीं हुआ। पर लंकाकी बात निराली थी। वहाँ ब्राह्म वृत्तिके भीतर जो बुद्धि प्रभाव था उसका शारीरिक बलकी सहायतासे दुरुपयोग होने लगा था। राजा रावण अत्यन्त विद्वान था! संसार की सबसे कठिन विद्या उसने प्राप्त की थी। उसकी 'दशानन' उपाधि इस बातका द्योतक है कि वह दश विद्याओंमें पराकृत थां। इस बुद्धिमान ब्राह्मणने अपनी विद्याका और विद्याकी सहायतासे प्राप्त शक्तिका उपयोग स्वार्थ-साधनके निमित्त करना आरम्भ कर दिया था। वर्तमान समयमें जिस प्रकार शास्त्रीय शोधका उपयोग कुछ जातियां अधिक प्राण संहारक शस्त्रास्त्रके निर्माणमें कर रही हैं उसी प्रकार उस समय ब्राह्म संस्कृति इतनी विकृत हो गई थी कि उसे रावण-संस्कृति कहना योग्य होगा। बुद्धि और शक्तिके संयोगसे स्थापित रावण संस्कृतिका उच्छेदन करना सहज काम नहीं था। पर इस संस्कृतिकी जडमें स्वार्थ-साधन था। अतएव इसे समाजका नैतिक बल या समर्थन प्राप्त नहीं था। श्री रामजीके सम्बन्धमें बिलकुल उल्टी बात थी। न्याय अन्यायका सम्यक् ज्ञान होनेके कारण सारा बहुजन समाज उनके पक्षमें था। वानरोंके सदृश अनार्य परन्तु प्रामाणिक दल तक उनके पक्षमें आ गये थे और वे बहुजन समाजके प्रेमके प्रतीक बन गये थे। फल यह हुआ कि स्वसुखके लिये बुद्धि-वैभव और शक्ति बलका दुरुपयोग करनेवाले उन्मत्त प्रजापीडक अत्याचारी रावण की रावणी मनोवृत्तिका उच्छेद करनेमें वे समर्थ हो सके और ऐसा सुन्दर राजशासन कर सके जो आज राम-राज्य के नामसे संसारमें विख्यात है। राम-राज्य कहते ही कल्पना हो जाती है कि वह राज्य जहाँ प्रजा सब प्रकार से सुखी और संतुष्ट हो।

बहुजन समाजको अपने हिताहितका ज्ञान उत्तरोत्तर अधिक होने लगा और मानव समाज भी शीघ्रता-पूर्वक उन्नतिके पथपर अग्रसर होने लगा। राजा राम बहुजन समाजके अत्यन्त प्रिय राजा थे और साथ ही अत्यन्त उच्च वर्गमें थे। बहुजन समाजको ऐसा भासित होने लगा कि समाजको ऐसा नेता चाहिये जो उन्हींके बीच में उत्पन्न हुआ हो, वहीं खेला कूदा हो और वहीं शिक्षा प्राप्त की हो। श्रीरामजीका जन्म राजघरानेमें हुआ था। बहुजन समाजकी अडचनों और दुःखोंका ज्ञान उन्हें बुद्धि-बलसे लग जाता था पर स्वतःका अनुभव तो कुछ नहीं था। वे तो सुखके वातावरणमें पले हुए थे। अतएव उन्हें ऐसा नेता चाहिए जो उनसे अधिक बुद्धिमान तो अवश्य हो पर रहने-बसनेवाला हो बस उन्हींके सदृश। इसमें उच्चताका भाव बिलकुल न हो। उनके सुख दुःख-का अनुभव उसे स्वयं हो। राम-संस्कृतिसे राजसत्तामें स्थिरता आगई थी तथा लोगोंमें राजसत्ता विषयक प्रेम और सहानुभूति उत्पन्न होगई थी। लोग इस बातको समझने लगे थे कि मानव समाजमें समाजकी स्थिरता और समाज-कल्याणके लिए राजसत्ताकी आवश्यकता है और इस प्रकार चहुँ ओर भिन्न भिन्न राज्योंकी स्थापना हो चली थी। इस राजसत्तामें अपनेमेंहीके लोग किस प्रकार अधिक भाग ले सकते हैं, इस प्रश्नपर बहुजन समाज विचार करने लगा। इस प्रकारसे लोकतंत्रकी वृत्ति समाजमें बढ चली। यह कहनेमें हर्ज नहीं कि श्रीकृष्णावतार लोकतंत्रवृत्तिकी यथार्थताका प्रमाण है।

श्रीकृष्णके माता पिता राजकुलके थे अतएव उनमें उच्च घराने का आनुवंशिक गुण अधिक था। परन्तु उनके जन्मके समय वे दोनों बन्दीगृहमें थे। सो उन्हें

इन्द्रियोंके सुख दु:खका प्रत्यक्ष अनुभव था। इस प्रकार श्रीकृष्णको गर्भसे ही दुःखोंका अनुभव होने लगा। उनका बालपन गोकुलमें अहीरोंके बीचमें कटा। उनका रंग भी साधारण मनुष्योंकी भांति श्याम था। जब कुछ बडे हुए तब राजा कंसके अत्याचारका शिकार उन्हें भी अन्य लोगोंके साथ बनना पडा, अतएव वे भी उन अत्याचारोंका प्रतिकार करनेके लिए लोगोंका साथ देने लगे, बल्कि बुद्धि बल उनमें अधिक होनेके कारण वे उनका नेतृत्व करने लगे। राज घरानेमें जन्म होनेके कारण सुखसे राज्य करना उनके लिए अशक्य न था पर इस झंझट में वे कभी पडे नहीं। उनकी सारी आयु संकट ग्रस्त लोगोंके संकट दूर करनेमें व्यतीत हुई। महाभारत को आप श्रीकृष्णजीकी कार्य-कुशलताका इतिहास मान सकते हैं जिसकी जडमें समाज हित-वर्द्धनके सिवा और कोई बात न थी। पाण्डवोंके दरबारमें ही नहीं प्रत्युत तत्कालीन समस्त राजाओंके दरबारमें, इस राजकुलमें जन्म लिए हुए महात्यागीकी जिसने कभी राजशासन की बागडोर हाथमें न ली और सारा आयुष्य लोककल्याणके निमित्त व्यतीत कर दिया, बडी प्रतिष्ठा थी।

श्रीकृष्णजीका प्रारंभिक जीवन झगडा करते या युद्ध करते बीता पर वे हृदयसे युद्ध-प्रेमी नहीं थे। जहाँतक होता वे युद्ध टालते रहते थे। कौरव पाण्डवोंमें, युद्ध के पहले, मेल करा देनेके लिए उन्होंने कितना अधिक प्रयत्न किया था। न्याय और अधिकारकी दृष्टि से आधे राज्यका हक्कदार होते हुए भी उन्होंने पाण्डवों को गुजर बसरके लिए केवल पांच गांव दे देनेके लिए कौरव के पास जो दूतत्व किया था, वह केवल युद्ध टालने के लिए। श्रीकृष्णको तथा उनके मित्र पाण्डवोंको राज्य या संपत्ति का मोह नहीं था। उनकी निष्ठा थी सत्य पर और वे चाहते थे कि सत्य और सत्पक्षकी जय हो। श्रीकृष्णके दूतत्वको यदि सफलता मिली होती तो उसका यह अर्थ होता कि कौरवों ने तात्विक दृष्टि से पाण्डवोंकी राजसत्ता पर अधिकार स्वीकार कर लिया और इतना हो जाने पर ही पाण्डव संतुष्ट हो जानेके लिए तैयार थे। उस समयके राज्यशासन को वर्तमान् लोकतंत्रकी व्यवहारदार भाषा नहीं आती थी। पाँच पाण्डवों को पांच गांव मिल जायँ जिससे यह सिद्ध हो जाय कि राज्य पर इनका भी अधिकार है, यही तत्व स्थापित करना था और इसीसे इतनी छोटी मांग पेश की गई थी। जिस श्रीकृष्ण को जगत आज इतना धूर्त और व्यवहारी समझ रहा है, उसने पाण्डवों की ओर से कितनी छोटी मांग पेश की थी आपही सोचिये। और जब कौरवोंने उस छोटीसी मांगको भी जो अत्यन्त नम्रता के साथ उपस्थित की गई थी, ठुकरा दिया तब भी श्रीकृष्णने उनके साथ द्वेष नहीं किया, उनकी अडचनोंसे लाभ भी नहीं उठाया और न उनपर कोई विपत्ति लानेकी चेष्टाही की उलटे दुर्योधनकी प्रार्थना पर उन्होंने अपनी सारी सेना सौंप दी और आप अकेले पाण्डवों की ओर चले गये। श्रीकृष्णके इस दूतत्वको कौरवोंके दरबारमें असफलता जरूर मिली पर उस असफलतामें पाण्डवोंके यशका बीज गर्भित था। पाण्डवोंकी छोटी सी माँगको भी, जो सर्वथा न्याययुक्त थी, कौरवोंने घृणापूर्वक ठुकरा दिया यह जानकर लोकमत और अन्य राजे पाण्डवोंके पक्षमें हो गये। कौरव पक्षके सत्प्रवृत्तिवान अधिकारी भीष्म, द्रोण आदि इस अन्यायसे उदास हो गये जिससे कौरवोंका पक्ष और ज्यादा निर्बल हो गया। श्रीकृष्ण पाण्डवोंके पक्षमें जरूर चले गये पर उन्होंने शस्त्र धारण नहीं किया। तुम लोग कुछभी कहो पर मुझे अपनी बुद्धि स्थिर रखने दो, श्रीकृष्णजीकी यह विचार धारा थी। यदि श्रीकृष्ण योद्धा होकर युद्धमें सम्मिलित हुए होते तो आज गीताका ज्ञान अर्जुनको (और संसारको) कहाँ मिला होता!

श्रीकृष्णने गीतामें अर्जुनको क्षत्रिय-धर्म समझाया है। गीताका विषय अत्यन्त गूढ, महान और मार्मिक है। भिन्न भिन्न विद्वानोंने उसपर भिन्न भिन्न प्रकारसे विचार किया है। पर प्रस्तुत लेखका विषय वह नहीं है। अतएव मैं उसपर यहाँ विचार नहीं करता।

महायुद्धमें पाण्डवोंकी विजय हुई। सत्पक्षको यश मिला और श्रीकृष्णजी संतुष्ट हुए।

इतिहास एक ऐसी वस्तु है जिससे यह पता लगता रहता है कि भिन्न भिन्न कालमें भिन्न भिन्न विचार-धारा किस प्रकार प्रवाहित होती रही है। नूतन विचारवालोंकी संख्या जहाँ बढी कि पुरातन विचारवाले आपही आप

किनारे लग जाते थे। जब श्रीकृष्णने देखा कि उनका कार्य समाप्त हो गया तब प्राचीन संस्कृति पर अर्थात् यादवों पर दस्युओं को आक्रमण करते देखकर भी वे तटस्थ रहे। दस्युओंने उनके सामने यादवों का नाश किया पर इन्होंने थोडा भी प्रतिकार नहीं किया। अपनी तटस्थ वृत्तिसे श्रीकृष्णने यह दिखला दिया कि प्राचीन संस्कृतिके स्थान पर नूतन संस्कृतिका आना कभी कभी अपरिहार्य हो जाता है। उन्होंने नेतृत्व तो छोड ही दिया था। अपना कार्य समाप्त करके वे बाजूमें आ गए थे। उन्होंने दस्युओंके हाथसे इह लीला समाप्त की।

श्रीकृष्ण देवताके लोगोंके अत्यन्त प्रिय होनेके कई कारण हैं। श्रीराम प्रजाके राजा थे। जनताके हृदयमें उनके प्रति अत्यन्त आदर बुद्धि थी। उनकी सत्यवृत्तिपर जनता मुग्ध थी। वह समझती थी कि श्रीरामसे कोई गलती नहीं हो सकती। वे मर्यादा पुरुषोत्तम हैं। पर श्रीकृष्ण प्रजाके राजा नहीं प्रजाके मित्र थे। वे उन्हींमेंके एक थे। गोकुलका मनसुखा अहीर उनपर जैसा उत्कट प्रेम रखता था उसी प्रकारका उत्कट प्रेम उनपर बरसानेकी चाह राधाकी ग्वालिन भी कर सकती थी। जिस उत्कटताके साथ द्रौपदी उनसे स्नेह करती थी, उसी उत्कटताके साथ कौरव सेनापती भीष्म और द्रोण भी उन्हें चाहते थे। समाज-सुधार करने की जिम्मेदारी समाजके व्यक्तियोंपर ही है यह श्रीकृष्णने आदर्श रूपसे बतलाया। श्रीरामके गुण दैवी थे पर श्रीकृष्ण अत्यन्त साधारण मनुष्यकी तरह उत्पन्न हुए और अत्यन्त साधारण मनुष्यकी तरह उनका व्यवहार रहा। उनका सत्य प्रेम भी अत्यन्त साधारण मनुष्यकी तरह था और जगत्में अपना कर्तव्य करके अत्यन्त साधारण मनुष्यकी तरह उन्होने परलोक गमन भी किया। सर्व साधारणही श्रीकृष्णके मित्र थे और जगत्में सर्व साधारणही अधिक संख्यामें हैं। हिन्दू गण जो श्रीकृष्णको इतनी पूज्य दृष्टिसे देखते हैं उसका मुख्य कारण यही है कि वे मानव समाज के मित्र थे।

मानव जातिकी प्रगति नृसिंहावतारसे आरम्भ हुई और श्रीकृष्णावतारके समय लोकतंत्रके रूपमें पूर्ण रूपसे विकसित हुई।

लोकतंत्रका पूर्ण रूपसे विकास होते ही एकतंत्र समाजशासनका अंत हो जाता है। लोकतंत्री समाज रचनामें प्रत्येक मनुष्य ज्ञानकी खोज करता हुआ अपनी उन्नति कर सकता है। पर उस समाज रचनामें भी एकाध स्वेच्छाचारी समयपर पैदा हो सकता है जो सारी सत्ता जबरदस्ती अपने हाथमें करले। प्राप्त की हुई स्वतंत्रताका उपयोग समाज-हित-चिन्तनमें किया तब तो संसारमें शान्ति रह सकती है और उसका कल्याण भी हो सकता है। पर यदि लोकतत्रमें मिले हुए ज्ञानका दुरुपयोग करना आरम्भ होगया तब मनुष्यका वैरी मनुष्य हो जाता है और परस्पर लडाई-झगडे आरम्भ होकर आज तक की हुई सारी प्रगति मिट्टीमें मिल जाती है और मनुष्य पीछे लौटकर पशुकोटिमें चला जाता है। समाजने कृष्णावतार पर्यंत प्रगतिका मार्ग तय किया और लोकतंत्रको पूर्ण रूपसे विकसित किया, उसके पश्चात् इसके सामने केवल दो मार्गही रह जाते हैं। एक मार्ग-लोकतंत्रका पूर्ण उपयोग ज्ञानवान (बुद्ध) बननेमें करो जिससे समस्त संसारमें शान्ति और समता स्थापित हो जाय। इसी मार्गकी कल्पनाको हिन्दुओंने बौद्धावतारका रूप दिया है। बुद्ध अर्थात् ज्ञानी। मनुष्यको ज्ञान प्रसार करनेके लिए अच्छा स्वास्थ्य और पूरी स्वतंत्रता मिलनी चाहिए और इसके लिए लोकमत अनुयायी समाज-रचनाकी जरूरत है। और इसीलिए अवतारोंकी श्रेणीमें कृष्णावतारके पश्चात् बौद्धावतार आता है। दूसरा मार्ग-लोकमतानुयायी समाज रचनामें मिले हुए ज्ञानका यदि सदुपयोग नहीं हुआ-क्योंकि मनुष्य उसका दुरुपयोग भी कर सकता है-और यदि मानव जाति ने उसका दुरुपयोग करना आरम्भ कर ही दिया तो वह अपनेही हाथोंसे अपने पैरोंपर कुल्हाडी मारेगी और स्वयं अपने विनाशका कारण बन जावेगी। ऐसी परिस्थितिमें अखिल विश्वके कल्याणकी दृष्टिसे ऐसी विकृत मनोवृत्तिका समूल नाश होनाही श्रेयस्कर होगा और ऐसे समयमें कलंकी अवतार इस असत् प्रवृत्तिके संहार करनेमें सहायता पहुँचावेगा।

पुराणकारोंने लोकतंत्री समाज पद्धति हो जानेपर मानव जातिकी भवितव्यताके विषयमें दो कल्पनाएँ की हैं-एक-बौद्धावतार दूसरा कलंकी अवतार।

ऐतिहासिक दृष्टिसे वामन, परशुराम, राम, कृष्ण आदि व्यक्तियोंका अस्तित्व सचमुचमें था या नहीं यह प्रश्न यहां पर इतना महत्व पूर्ण नहीं है। पुराणका अर्थ शुद्ध इतिहास नहीं है। पुराणके भीतर इतिहास भरा हुआ है पर साथ ही उसमें विचारवानोंका कल्पना-विलास भी है। यदि अत्यन्त निष्पक्षभावसे मानव जातिके सुधारकी प्रगति की ओर दृष्टिपात किया जाय तो ज्ञात होगा कि विचारवान पुरुषोंने इन पुराणोंमें इस बातका विचार किया है कि मनुष्यने किन किन सीढियोंपर ठहर ठहर कर अपना सुधार किया है। उन्हें इसका विश्वास था कि मानव जाति की प्रगतिको ईश्वरीय सहायता मिलती है। सुधारकी प्रत्येक सीढीपर एक विशेष विचार-धारा का प्रवाह होता रहता है और उस विचार—धाराका जिसने पूर्ण रीतिसे सफलतापूर्वक संचालन किया वही अवतार कहलाया। उनके वर्णन करनेका ढंग सीधा और सच्चा था। अमुक अमुक सद्गुणोंसे युक्त राजा श्रीराम थे इस प्रकार उनके वर्णन करनेकी शैली थी। यह नहीं कि एक राम नामके राजा थे, उनमें पुराणोंमें वर्णित समस्त सद्गुण विराजमान थे। इस तरहका आग्रह पूर्वक वर्णन करना पुराणकारों का उद्देश न था। उनका उद्देश था-यह बतलाना कि उस समयकी समाज नीतिका प्रतीक कौन था और कैसा था। पुराणकारोंके दृष्टिकोणको समझ कर इस बातका विचार करना चाहिए कि पुराण किस कालमें और कैसी परिस्थितिमें लिखे गये थे। पुराण कालमें वर्तमान राजनैतिक भाषाका ज्ञान लोगोंको नहीं था।

उस समय उन्होंने जनताके बीचमें उत्पन्न हुए और जनताके प्रिय पात्र बने हुए लोकतंत्रके प्रतीक श्रीकृष्ण राजा या नेता जिस प्रकार हुए उसीका कल्पना विलाससे संयुक्त शब्द-चित्र खींच दिया। जबरदस्ती उनमें ठूंस ठूंस कर सद्गुण नहीं भरे। पुराणकारोंने समाजके इतिहासका निरीक्षण अत्यन्त सूक्ष्मताके साथ किया था। इसका प्रमाण उनकी दशावतार वाली कल्पनासे लगता है। विष्णुजीकी यह दशावतारवाली अभिनव कल्पना उनके समाज शास्त्र तथा राजनीति-शास्त्रके पूर्ण जानकर होनेका द्योतक है। वे इस बातको जानते थे कि उस समय कौन बात किस ढंगसे कही जाय जिससे जनता उसे ठीक तरह समझ ले।

जिस समय विद्वान गण पुराणको इतिहासकी दृष्टिसे देखनेका प्रयत्न करते हैं उस समय बडी गडबडी मचती है। इतिहास और विज्ञानपर एक आँख रखते हुए यदि आप पुराणोंपर दूसरी आँख रखेंगे तो कठोर तर्क-शास्त्रकी कसौटीपर पुराण वर्णित कई कथाएं ठीक न उतरेंगी। पुराणकारोंने जो कुछ लिखा है वह सामान्य श्रद्धालु जनताके लिए लिखा है जिसे न शास्त्रोंका अभ्यास है और जो न कभी हिंदु धर्मके तत्वोंके विपरीत बातोंको सोचते हैं। उन्होंने उसी शैली, उसी ढंग और उसी प्रणालीका उपयोग अपने पुराणोंके लिखने में किया है जिनके द्वारा उनके ओजस्वी विचार बहुजन समाजकी समझमें शीघ्र आजायँ। पुराणकारने किस तत्वका प्रतिपादन किया है इस विचारसे आप पुराणोंको पढें तो आपको निःसन्देह आनन्द मिलेगा। ज्ञानी और त्यागी जनोंका कल्पना-विलास पुराण है, पुराण रूपक है, ऐसा समझने पर आपके हृदयमें तद्विषयक आदर-भाव उत्पन्न होगा। पुराणोंमें कई कथाएं बादमें घुसेड दी गई हैं। सारांश यह है कि मेरे मतके अनुसार श्रीविष्णुके दशावतारकी कल्पना, अखिल मानव जातिकी सामाजिक प्रगतिका ब्योरेवार वर्णन है जो पुराणोंमें वर्णित है। किस पुराणमें किस कथाका वर्णन है इस पर मैंने विशेष लक्ष्य नहीं दिया है।

इस लेख में यदि विद्वानों को इस विषयपर सोचने-विचारनेका कुछ भी मसाला मिला तो इसका लेखक अपना परिश्रम सफल समझेगा।

मनकी पांच अवस्थाएं

(ले० श्री० पं० धर्मराज वेदालङ्कार)

वेदकी विचारधारामें तीन लोक स्थान स्थानपर दृष्टिगोचर होते हैं। आध्यात्मिक क्षेत्रमें पृथिवी शरीर है, अन्तरिक्ष मन, तथा द्युलोक आत्मा। यहां हम अन्तरिक्षसे सम्बद्ध मनका ही वर्णन करेंगे। निरुक्तकार यास्कने कहा है, ' अन्तरिक्षं कस्मात् ? अन्तराक्षान्तं भवति'। – अर्थात् दोके बीचमें होनेसे ' अन्तरिक्ष ' नाम पडा है। शास्त्रमें ' अन्तरिक्षं मनः ' द्वारा मनको भी शारीरिक जडता तथा द्युलोकके प्रकाशके मध्यकी वस्तु कहा है। मानवके जीवनका आदर्श सङ्क्षेपमें यही है कि वह अन्धकार और अज्ञानसे हटकर -दूसरे शब्दोंमें प्रकृति या पृथिवीको छोडकर— अन्तरिक्ष द्वारा द्युलोककी ओर अवरोहण करे। इस अवरोहणका माध्यम या साधन अन्तरिक्ष रूप मन है, मन दोनों लोकोंको जोडनेवाली कडी है, मनके द्वारा पृथिवीके गाढ अन्धकारमें अध्यात्मरूप द्युलोकसे आनेवाली ज्योतिका संचार किया जा सकता है। अन्तरिक्षका अधिष्ठातृदेव इन्द्र माना गया है। श्री अरविन्दने Secret of the Veda में ' इन्द्र ' का अर्थ किया है Divine mind, अर्थात् इन्द्र मनकी उस अवस्थाका सूचक है जब यह अपनेसे ऊंचे द्युलोकके प्रकाशका धारण कर चुकनेपर ' दिव्य ' (दिवु द्योतने) हो जाता है। इन्द्रका नामान्तर ' शतक्रतु' है, ज्योतिसे सम्पन्न मन भी क्या सैकडों कर्मोंको करनेमें समर्थ नहीं है ?

' ऋचं वाचं प्रपद्ये, मनो यजुः प्रपद्ये ' इत्यादि वेद मंत्रमें ऋग् यजु साममेंसे मनका सम्बन्ध मध्यमें स्थित यजुर्वेदके साथ बतलाया है। यजुर्वेदमें कर्मकाण्डका उपदेश समझा जाता है, यज्ञ आदि द्वारा द्युलोककी ज्योतिको पृथिवीपर लाकर जगानेसे बढकर और क्या कर्म हो सकता है ? इसी यजुर्वेदके ३४ वे अध्यायके ' तन्मे मनः शिवसङ्कल्पमस्तु ' पर समाप्त होनेवाले ६ मंत्रोंमें मनकी अपूर्व महिमाका उपदेश है। इन्हीं मंत्रोंके आधारपर हम यहां कुछ विवेचन करेंगे। एक मंत्र यह है:—

यत्प्रज्ञानमुत चेतो धृतिश्च यज्ज्योतिरन्तरमृतं प्रजासु। यस्मान्नऽऋते किं चन कर्म क्रियते तन्मे मनः शिवसङ्कल्पमस्तु ॥

इस मन्त्रमें मनोवैज्ञानिक वर्णन करते हुए ज्ञानकी पांच अवस्थाओंका प्रतिपादन किया है,— प्रज्ञानम्, चेतः, धृतिः, अन्तर्ज्योतिः, अन्तरमृतम्।

प्रज्ञानम् — इसमें ' प्र ' उपसर्ग आरम्भ अर्थका द्योतक है, प्रज्ञान का अर्थ है ' प्रारम्भिक ज्ञान ', किसी पदार्थको आंख आदि बाह्य इन्द्रियसे देखनेपर उस पदार्थके विषयमें ' कुछ कुछ ऐसा ' इस प्रकारका आभास होता है, इसे यहां ' प्रज्ञान ' समझना चाहिये। दर्शन शास्त्रमें इसका नाम ' निर्विकल्पक ज्ञान ' है। आधुनिक साइकॉलजीमें इसे Sensation कहते हैं।

चेतः — प्रज्ञानसे अगली अवस्था है ' चेतः '। इन्द्रियार्थ संनिकर्षसे उत्पन्न होनेवाले ज्ञानके साथ जब मन द्वारा किया हुआ चिन्तन भी मिल जाता है, तो उस ज्ञानका पारिभाषिक नाम वेदमें ' चेतः ' है। यह शब्द ' चिती संज्ञाने ' धातुसे बना है, संज्ञानका अर्थ है 'सम्यक् या सम्बद्ध ज्ञान '। दर्शनशास्त्रमें इसे सविकल्पक ज्ञान और साइकॉलजीमें Perception कहते हैं।

धृतिः— चेतःके पश्चात् ' धृतिः ' है। धृतिका सामान्य अर्थ है ' धारण करना '; ज्ञान होनेके बाद यदि उसका धारण न हो तो वह निरुपयोगी है, धारणके लिए उस ज्ञानकी ओर अवधान देनेकी आवश्यकता है, इसके अतिरिक्त कुछ काल बीतनेपर ही ज्ञानके धारणका निश्चय हो सकता है, धारण किये होनेसे ही हमें देखी हुई वस्तुओंकी स्मृति या प्रत्यभिज्ञा होती है। धारण किये जानेवाले इस ज्ञानको वेदने ' धृति ' नाम दिया है। आजकल इसे Retention कहते हैं।

अन्तर्ज्योतिः— ' आत्मा वारे श्रोतव्यो मन्तव्यो निदिध्यासितव्यः ' उपनिषदका यह वाक्य अत्यन्त प्रसिद्ध है। इसमें श्रवण मनन और निदिध्यासन— इन तीन ज्ञानकी कोटियोंका निर्देश है। श्रवण और हमारा प्रज्ञानम् एक ही

हैं। चेतः और धृतिः दोनों 'मनन' के अन्तर्गत हैं। 'निदिध्यासन' का शाब्दिक अर्थ है, 'नितरां ध्यातुमिच्छा' बहुत अधिक ध्यान करनेकी इच्छा। किसी वस्तुपर मनको सर्वथा एकाग्र करनेसे उसका पूर्ण परिचय प्राप्त होता है, मानो कि वह वस्तु साक्षात् हमारे सामने खडी होकर हमें दर्शन दे रही हो। इसीलिए 'निदिध्यासन' का अर्थ 'साक्षात्कार' किया जाता है, पदार्थके प्रत्यक्षके लिये उसका आलोकित होना अनिवार्य है, ध्यान लगानेसे ज्ञान-का विषय प्रदीप्त हो उठता है, जैसे कि वह अपना स्वरूप प्रदर्शित करनेके लिए स्वयं उत्सुक हो। 'उतो त्वस्मै तन्वं विसस्रे जायेव पत्ये उशती सुवासाः' इस मंत्र द्वारा वेदने इसी उच्च अवस्थाका आलङ्कारिक रूपमें उप-देश किया है। 'यत्प्रज्ञानम्' आदि मंत्रमें ज्ञानकी इस अवस्थाका पारिभाषिक नाम 'अन्तर्ज्योतिः' दिया है। यहां 'ज्योतिः' के साथ 'अन्तर' शब्दका होना विशेष-रूपसे अर्थपूर्ण है। ज्ञानके लिये बाह्य साधन आरम्भिक अवस्थामें ही उपयोगी होते हैं, उच्च अवस्थाका ज्ञान अन्तरात्माके साथ सम्बन्ध रखता है, जो अन्तरात्मा हमारे अन्दर है वही बाह्य जगत्में भी है, दोनों जगह सूत्र एकही फैला हुआ है, अत एव अन्तरात्मा द्वारा बाह्य संसारकी वास्तविक स्थितिको हम अधिक सुक्ष्मतापूर्वक जान सकते हैं। आधुनिक भौतिक विज्ञान क्योंकि दूर वीक्षण सूक्ष्मवीक्षण आदि बाह्य साधनोंपर ही अवलम्बित है, इसलिये वह ज्ञानकी एक छोटीसी मर्यादासे आगे नहीं बढ सकता। आध्यात्मिक सम्पर्कसे बाहरकी चीजें भी देदीप्यमान होकर अपने रूपको प्रगट करती हैं, ज्ञानकी यह अवस्था 'अन्त-र्ज्योतिः' कहलाती है। आधुनिक साइकॉलजीकी पहुंच यहांतक नहीं हुई, हां कई वर्तमान आध्यात्मिक ग्रन्थोंमें इसके लिये Enlightenment, Illumination आदि शब्दोंका प्रयोग अवश्य हुआ है।

अमृतम् — यह ज्ञानकी अन्तिम अवस्था है। अमृत मधु सोम स्वः आनन्द — ये सब शब्द एकही भावको ध्व-नित करते हैं। उपनिषद्में कहा है, — 'न कर्मणा न प्रजया धनेन ज्ञानेनैकेनामृतत्वमानशुः' अमृतकी प्राप्तिका एकमात्र साधन ज्ञान है, दुःखोंसे छूटनेका नाम 'मोक्ष' है, यह मोक्ष भी ज्ञानद्वारा साध्य है, क्योंकि दुःखका हेतु निश्चितरूपसे अज्ञान है। मोक्षका ही दूसरा नाम या Positive रूप अमृत या आनन्द है। तत्त्वज्ञान और विवेकका परिपाक अनिर्वचनीय (न शक्यते वर्णयितुं गिरा तदा, स्वयं तदन्तःकरणेन गृह्यते) आनन्दमें होता है। इस आनन्दका स्रोत भी बाह्य पदार्थोंमें न होकर आभ्यन्तर आत्मामें है, अत एव केवल अमृतम् न कहकर 'अन्तर् अमृतम्' कहा गया है। 'ज्योतिः' और 'अमृतम्' के बीचमें विद्यमान अन्तर शब्दका सम्बन्ध देहलीदीपक न्यायसे दोनोंके साथ है।

इस प्रकार हमने देखा कि यजुर्वेदके 'यत्प्रज्ञानम्' आदि मंत्रमें ज्ञानकी समस्त दशाओंका किस खूबीके साथ वर्णन किया गया है। निम्न तालिका द्वारा और अधिक स्पष्टी-करण हो सकता है।

वैदिक संज्ञा	शास्त्रीय नाम	आधुनिक परिभाषा
१ प्रज्ञानम्	निर्विकल्पक ज्ञान श्रवण	Sensation
२ चेतः	सविकल्पक ज्ञान मनन	Perception
३ धृतिः	धारणा मनन	Retention
४ अन्तर्ज्योतिः	तत्त्वसाक्षात्कार निदिध्यासन	Illumination Enlightenment
५ अन्तरमृतम्	आनन्द, स्व.	Bliss, Ecstasy Beatitude, Heavenly joy

ज्ञानकी इन पांच अवस्थाओंमें मन स्वतः परिणत होता है। अतः मन्त्रमें 'प्रज्ञान' आदि मनके विशेषण हैं। इन अवस्थाओंको मनकी पांच अवस्थाएं भी कह सकते हैं। मनके विना कोई कर्म नहीं किया जा सकता — यस्मान्न ऋते किञ्चन कर्म क्रियते। बुद्ध भगवान्ने धम्मपदमें कहा है, 'मनः पुब्बंगमा धम्मा' — अर्थात् समस्त कार्य मनः-पूर्वक होते हैं। शास्त्रमें कहा गया है, 'मन एव मनुष्याणां कारणं बन्धमोक्षयोः' — जीवके बन्धन और मोक्षका कारण मन ही है। अंग्रेजीमें कहावत है, As a man thinketh, so is he' इसलिये मनको यदि ठीक दशामें

प्रेरित किया जाय, बुरे भावोंका परित्याग करके यदि वह शिवसङ्कल्पोंको — कल्याण मार्ग या निःश्रेयसकी ओर ले जानेवाले विचारोंको — करनेमें प्रवृत्त हो जाय तो इसमें सन्देह नहीं कि वह मन प्रज्ञान अवस्थासे आरम्भ करके पुरुषको अमृत्वके पदपर पहुंचानेमें सफल हो सकता है। अमृतकी प्राप्तिके अनन्तर मनुष्यके लिये कुछभी ज्ञातव्य शेष नहीं रहता, वह त्रिकालज्ञ हो जाता है, तभी तो वेदने कहा है—

' येनेदं भूतं भुवनं भविष्यत् परिगृहीतम् अमृतेन सर्वम्। '

इससे अगले मन्त्रमें इससे भी बढकर एक और महत्त्वपूर्ण तथ्य प्रकाशित किया है—

यस्मिन्नृचः साम यजूंषि यस्मिन् प्रतिष्ठिता रथानाभाविवाराः।

ऋग् यजु और साम कहीं बाहर पुस्तक आदिकी शक्लमें नहीं हैं, वस्तुतः वे मनमें ही प्रतिष्ठित हैं। मनका यदि क्रमिक विकास प्रज्ञान आदि अवस्थाओंमें किया जाय, तो तीनों वेदोंका ज्ञान अनायास मनके अन्दरसे ही प्रस्फुरित हो सकता है। ' ऋचो अक्षरे परमे व्योमन्, यस्मिन् देवा अधि विश्वे निषेदुः ' इत्यादि मन्त्रमें भी सकल ऋचाओं और देवताओंका अधिष्ठान अविनश्वर परम व्योम या मनो गुहाको बतलाया है। शिवसङ्कल्प सूक्तमें मनके विषयमें एक और उत्तम सङ्केत है—

' यदपूर्वं यक्षमन्तः प्रजानाम् ' हमारे अन्दर मन एक अनुपम और पूजनीय शक्तिके रूपमें निहित है। इसका आदर हमें साधनाद्वारा इसे अमृत बनाकर करना है। ऐसा करके हम अमरों या देवों (अजरा अमरा देवाः) के देशमें अर्थात् स्वर्लोक या स्वर्गमें विचरण कर सकते हैं।

प्रस्तावित हिन्दू कोडपर कुछ विचार

हिंदुओंकी सामाजिक व्यवस्था एक खास विलक्षणता लिये हुए है। उसका निर्माण त्रिकालदर्शी, राग-द्वेषशून्य, विश्वहितैषी, तत्त्वज्ञ महर्षियोंके द्वारा समाधिकालमें प्रत्यक्ष किये हुए प्रकृतिके अनादि एवं अटल नियमोंके आधारपर हुआ है। यही कारण है कि वह अनादिकालसे अखण्डरूपमें चली आ रही है। अबतक इसपर विजातीय विचार-धाराओं, विजातीय धर्मों एवं विजातीय संस्कृतियोंद्वारा न जाने कितने घात-प्रतिघात हुए हैं, जिनके कारण इसका कलेवर जीर्ण-शीर्ण एवं विकलाङ्ग हो जानेपर भी इसकी मौलिक रूप-रेखामें कोई विशेष अन्तर नहीं आ पाया है। इसका मूल ढाँचा ज्यों-का-त्यों बना हुआ है। बौद्धकालमें स्वतन्त्रता एवं समानताके नामपर इसे कुचल डालनेकी चेष्टा की गयी, मुसलमानी राजत्वकालमें एकेश्वरवाद एवं विश्वबन्धुत्वके नामपर तलवारके बलसे इसे मिटानेका सुसंगठित प्रयास किया गया तथा वर्तमान युगमें साम्यवाद, बुद्धिवाद एवं व्यक्तिवादकी दुहाई देकर इसका नाम-निशानतक मिटा देनेका प्रयत्न किया जा रहा है। फिर भी यह अपना मस्तक ऊँचा किये हुए है– क्या यही इसके समीचीन होनेका प्रमाण नहीं है ? अस्तु,

जबसे हमारा देश ब्रिटिशसरकारकी अधीनतामें आया है, तबसे हमारी सामाजिक व्यवस्थाको एक नयी विपत्तिका सामना करना पड रहा है। ब्रिटिश सरकारद्वारा प्रचारित नवीन शिक्षापद्धतिका हम भारतीयोंके मस्तिष्कोंपर कुछ ऐसा विषैला प्रभाव पड रहा है, जिसके कारण अपने धर्म, अपनी संस्कृति, अपने आचार-विचार, अपने इतिहास तथा अपने पूर्वजोंपरसे हमारी आस्था उठती चली जा रही है और हम धीरे-धीरे पाश्चात्य वेष-भूषा, पाश्चात्य रहन-सहन, पाश्चात्य आचार-विचार एवं पाश्चात्य खान पानको ग्रहण करके अपनी संस्कृतिका ही मूलोच्छेद करनेपर उतारू हो रहे हैं, अपने हाथों अपनी सत्ता मिटाने जा रहे हैं। यदि यही दशा रही तो हमें भय है कि कुछ ही दिनोंमें हम अपना अस्तित्व सर्वथा खो बैठेंगे, हम नाममात्रके हिंदू रह जायँगे और पाश्चात्य विचारधारामें बहकर अपना सब कुछ गवाँ बैठेंगे। अब तो हमारे ये पाश्चात्यभावापन्न सज्जन एक कदम और आगे बढ़ा रहे हैं। वे अपने उच्छृङ्खल विचारोंको कानूनका रूप देकर सारी जनतापर लादनेका प्रयत्न कर रहे हैं। प्रस्तावित हिंदू-कोड इसी चेष्टाका फल है।

तारीफ तो यह है कि जो लोग विचार-स्वातंत्र्य एवं व्यक्ति-स्वातंत्र्यकी दुहाई देते हैं वही लोग लोकपरम्परा और लोकमतके विरुद्ध अपनी बुद्धिके बलपर इस प्रकारके कानून हिंदूजनतापर लादकर उसे अपनी व्यक्तिगत विचार-धाराके अनुसार हाँकना चाहते हैं। ऐसा करना क्या विचार-स्वातंत्र्यका खून करना नहीं है ? फिर भी आये दिन हमारी तथा-कथित जनसत्तात्मक धारासभाओंमें ऐसे ऐसे कानून उपस्थित किये जाते हैं, जो हमारी धार्मिक भावनाओंके सर्वथा प्रतिकूल हैं, हमारी सामाजिक व्यवस्थाके लिये घातक हैं तथा हमारी संस्कृतिका मूलोच्छेद करनेवाले हैं। अब तो हमारी सरकारने एक ऐसी कमेटी नियुक्त की है, जो हमारे प्रचलित कानूनको जड-मूलसे बदलने जा रही है। कमेटीका कहना है कि हिंदू कानूनमें खण्डशः सुधार करनेकी अपेक्षा सारेके सारे कानूनको एक सुव्यवस्थितरूपमें पुनः ग्रथित करना अधिक उपयोगी होगा। परन्तु प्रश्न तो यह है कि ऐसा करना कहाँतक वाञ्छनीय अथवा आवश्यक है।

पहली बात तो यह है कि कुछ थोडेसे उत्साही और सुधारवादी कानूनपेशा लोगोंको छोडकर, जो इस कमेटीके सदस्य हैं, प्रचलित कानूनमें सुधार करनेकी आवश्यकता किसीको नहीं प्रतीत होती। न तो वर्तमान काल ऐसे क्रांतिकारी कानूनके लिये उपयुक्त अवसर है और न प्रचलित कानूनसे व्यवहारमें किसी प्रकारकी अडचन ही पडती है। ऐसी दशामें वर्तमान समयमें, जब कि जगत्‌में चारों ओर हाहाकार मचा हुआ है, एक नया आन्दोलन खडा करके हिंदू जनतामें विक्षोभ उत्पन्न करना कहाँतक युक्ति-

संगत होगा-इसे सरकार स्वयं सोच सकती है। इसके अतिरिक्त वर्तमान धारा-सभाओंको प्रचलित कानूनमें आमूल-चल परिवर्तन करनेका अधिकार भी नहीं है- इस बातको डा० श्रीकैलाशनाथ काटजू-जैसे प्रमुख विधानविशारदने स्वीकार किया है। उनका कहना है कि पिछली बार जब इन धारा-सभाओंका संगठन हुआ था उस समय हिंदू कानूनमें सुधार करनेका कोई प्रश्न धारा-सभाओंके सामने नहीं था। ऐसी दशामें उन्हें इतना बडा अधिकार देना, खासकर जब कि जनताकी ओरसे उन्हें इस तरहका कोई आदेश प्राप्त नहीं है, प्रजातन्त्रके सिद्धांतोंके सर्वथा प्रतिकूल है। +

दूसरी बात यह है कि प्रस्तावित कोडके विधानोंपर पाश्चात्य विचारोंमें पले हुए एवं पाश्चात्य संस्कारोंमें ढले हुए कुछ नव-शिक्षित वकीलोंके सिवा और किसीकी राय नहीं ली गयी और ऐसे ही लोगोंद्वारा इस कोडका संकलन भी हुआ है। ऐसे लोगोंकी राय धर्म-सम्बन्धी मामलोंमें कदापि प्रमाण नहीं मानी जा सकती। कारण यह है कि उन्हें हमारे धर्मशास्त्रोंका तथा हमारे कानूनके मूल-सिद्धांतोंका बहुत थोडा ज्ञान है। और उनका दृष्टिकोण सर्वथा लौकिक एवं धर्मशून्य है ऐसी दशामें उनकी नीयत सर्वथा शुद्ध एवं निर्दोष होनेपर भी हमारे परम्परागत एवं शास्त्र-संमत सामाजिक नियमोंपर उनके विचार कदापि पक्षपात-शून्य नहीं हो सकते। हमारे धार्मिक विषयोंपर व्यवस्था देनेका अधिकार तो आस्तिक विचारोंके धर्मनिष्ठ एवं आचार-सम्पन्न विद्वान् ब्राह्मणों, कुल-पुरोहितों, राजकीय पण्डितों, धर्माधिकारियों, मठाधीशों तथा विभिन्न सम्प्रदायोंके सन्मान्य आचार्योंको है। वे ही लोग प्रस्तावित कानूनके विधानोंपर समुचित राय दे सकते हैं। कानूनी अदालतों तथा ग्रामपञ्चायतोंके साथ-साथ इन लोगोंके निर्णय भी हमारे समाजमें सर्वमान्य होते हैं। अतः ऐसे लोगोंकी सम्मति प्राप्त किये विना केवल कुछ थोडे-से चुने हुए वकीलों एवं कानूनपेशा लोगोंकी रायसे वर्तमान कानूनमें क्रान्तिकारी परिवर्तन करना सरासर अनधिकार चेष्टा है। आशा है, सरकार इस ओर ध्यान देकर शीघ्र ही इस महती भूल-का संशोधन करेगी।

हिंदू-कानून-कमेटीने यह भी बतलाया है कि प्रस्तावित कोड तैयार करनेमें उनका एक उद्देश्य ब्रिटिश भारतके भिन्न-भिन्न भागोंमें प्रचलित विभिन्न कानूनोंका समन्वय करके वहाँकी समस्त हिंदू जनताके लिये एक-सा कानून प्रचलित करना भी रहा है। कमेटीका यह प्रयास भी हिंदू भावनाओंके प्रतिकूल है। इस सम्बन्धमें उक्त कमेटीको हम यह बतला देना चाहते हैं कि हिंदू धर्ममें कुलाचार, लोकाचार एवं देशाचारको कम महत्त्व नहीं दिया गया है, बल्कि कहीं-कहीं तो उन्हें शास्त्रोंकी अपेक्षा भी विशेष महत्त्व दिया गया है। श्रुति-स्मृतिके साथ-साथ सदाचारको भी धर्मका मूल माना गया है और Jurisprudence के सिद्धान्तोंके अनुसार पीढियोंसे चले आते हुए शिष्टजन-सम्मत रीति-रिवाज कानूनके एक प्रधान अङ्ग एवं मूल आधार हैं। भगवान् मनुने कहा है—

सद्भिराचरितं यत्स्याद्धार्मिकैश्च द्विजातिभिः।
तद्देशकुलजातीनामविरुद्धं प्रकल्पयेत् ॥
(मनु० ८।४६)

'श्रेष्ठ पुरुषोंने तथा तीनों वर्णोंके धर्मनिष्ठ द्विजातियोंने जिस आचारका पालन किया हो, तथा जिसका देशाचार, कुलाचार एवं जातीय आचार-रीति-रिवाजके साथ विरोध न हो उसी आचारको राजा कानूनके रूपमें प्रचलित करे।'

येनास्य पितरो याता येन याताः पितामहाः। तेन यायात्सतां मार्गं तेन गच्छन्न दुष्यति ॥ (मनु० ४।१७८)

'मनुष्य सदाचारका भी उसी ढंगसे पालन करे, जिस ढंगसे उसके पिता-पितामह करते आये हों। ऐसा करनेसे वह दोषका भागी नहीं होता अर्थात् इसके विरुद्ध करनेसे वह दोषका भागी होता है।'

+ It would, in my opinion, be contrary to every principle of democratic institutions and representative legislatures that a task of this magnitude should be entrusted to the present central legislature unfortified by a popular mandate. (Dr. Katju's article under the copies 'Codification of Hindu law' appearing in the 'Allahabad Law Journal'

महर्षि याज्ञवल्क्यने भी कहा है—

यस्मिन्देशे य आचारो व्यवहारकुलस्थितिः ।
तथैव परिपाल्योऽसौ यदा वश उपागतः ॥
(याज्ञ० स्मृ० १।३४३)

' यदि कोई देश किसी दूसरी सत्ताकी अधीनतामें चला जाय तो उसके पूर्व जहाँ जो आचार, व्यवहार एवं कुल-मर्यादा जिस रूपमें रही हो, उसी रूपमें उसका पालन करना चाहिये ।'

इन वचनोंके अनुसार जहाँ जिस जाति अथवा कुटुम्बमें जो रीति-रिवाज परंपरासे चले आये हैं, कानूनके द्वारा उस उस प्रांत अथवा जातिके लिये उन्हीं रीति-रिवाजोंका समर्थन होना चाहिये। सर्वत्र एवं सभी समुदायोंके लिये एक-से नियमोंको लागू करके उन-उन प्रान्तों एवं जातियोंकी परंपरागत विशेषताओंको निर्मूल करना कदापि उचित नहीं है। हिंदू-समाज-संगठनकी विशेषता इसीमें है कि वह समाजके विभिन्न अङ्गोंकी विशेषताओंको कायम रखते हुए उन सबको एक सूत्रमें पिरोये रखता है। अन्य समाजोंकी भाँति सबको एक ही लाठीसे हाँकना, एक ही प्रकारके नियमोंके अनुसार चलाना हिंदू-धर्मको अभीष्ट नहीं है। मनोविज्ञानके सिद्धान्त भी इसका समर्थन नहीं करते। व्यवहारमें विषमताको सर्वथा निर्मूल नहीं किया जा सकता। स्वभाव, बौद्धिक विकास एवं परंपरागत संस्कारोंमें भेदका रहना अनिवार्य है और हमारे पूर्वजोंने इसी भेदको दृष्टिगत रखते हुए भिन्न-भिन्न वर्गोंके लिये भिन्न-भिन्न व्यवस्था की है ।

उत्तराधिकारके सम्बन्धमें हिंदू-समाजमें दो प्रकारके कानून प्रचलित हैं। बंगालको छोड़कर अन्य सभी प्रान्तोंको मिताक्षराका कानून मान्य है। केवल बंगालमें दायभागका कानून प्रचलित है। हिंदू-कोडमें कुछ अंश मिताक्षरका और कुछ अंश दायभागका लेकर सभी प्रान्तोंके लिये एक-सा कानून प्रचलित करनेकी चेष्टा की गयी है। यह भी उचित नहीं है। मिताक्षरा और दायभागके कानूनोंमें विशेष अन्तर नहीं है। मूल सिद्धान्त दोनोंके एक हैं। स्वर्गीय डा० प्रियानाथ सेन तथा स्वर्गीय श्रीयुत जी० सी० सरकार-जैसे आधुनिक विद्वानोंने भी दोनोंकी समतानाको स्वीकार किया है तथा कलकत्ता हाईकोर्टके निर्णयोंमें भी दोनोंके सादृश्यको अङ्गीकार किया गया है। ऐसी दशामें दोनोंकी विशेषताओंके लोप करके एक-सा ही कानून सर्वत्र प्रचलित करना किसीको भी मान्य नहीं हो सकता।

हिंदुओंकी सामाजिक व्यवस्था धर्मके आधारपर स्थित है और धर्मके मूल हैं—श्रुति, स्मृति और सदाचार। श्रुति और स्मृतिको हमारे यहाँ ईश्वरकी आज्ञा माना गया है—' श्रुतिस्मृती ममैवाज्ञे।' ऐसी दशामें ईश्वरीय कानूनमें मनमाने ढंगसे परिवर्तन करनेका अधिकार किसी भी राजकीय सत्ता अथवा जनसत्तात्मक प्रतिनिधिसभाको नहीं हो सकता। हमारी धार्मिक व्यवस्थामें कानून बनानेका अधिकार राजाको नहीं दिया गया है। राजाका कार्य है प्रजासे कानूनका पालन कराना। महर्षि याज्ञवल्क्यने कहा है—

व्यवहारान्नृपः पश्येद् विद्वद्भिर्ब्राह्मणैः सह ।
धर्मशास्त्रानुसारेण क्रोधलोभविवर्जितः ॥

' राजाका कर्तव्य है कि वह क्रोध और लोभका परित्याग कर वेद-शास्त्रोंमें निष्णात सदाचारी ब्राह्मणोंकी सलाह एवं सहयोगसे धर्मशास्त्रके अनुसार राजकाज चलाये और न्याय करे।'

प्रस्तावित हिंदू-कोडके अधिकांश विधान धर्मशास्त्रके प्रतिकूल हैं। ऐसी दशामें आस्तिक हिंदुओंको वे कदापि मान्य नहीं हो सकते।

प्रारम्भिक वक्तव्यके रूपमें इतना कहकर अब हम हिंदू-कोडके प्रस्तावित विधानोंपर संक्षेपमें विचार करते हैं। विस्तारसे आलोचना करनेका न तो अब समय है और न हममें योग्यता ही। हमारा उद्देश्य तो साधारण जनताको उसके कुछ विशेष आपत्तिजनक अंशोंसे अवगत करा देना ही है, जिससे वह स्वयं उनके सम्बन्धमें अपना कर्तव्य निश्चित करे और उसके विरोधमें जोरकी आवाज उठाकर सरकारको इस कोडके वापस लेनेके लिये बाध्य कर दे। और ऐसी चेष्टा करे कि जिससे वह भविष्यमें भी कभी ऐसे धर्मविरोधी कानूनोंको जनतापर लादनेका साहस न करे।

हिंदू-कोडको निम्नलिखित छः भागोंमें विभक्त किया गया है—(१) उपोद्घात; (२) अप्रदत्त उत्तराधिकार; (३) प्रदत्त उत्तराधिकार; (३-क) प्रदत्त एवं अप्रदत्त दोनों प्रकारके उत्तराधिकारपर समानरूपसे लागू होनेवाले विधान—१-भाग (२) और (३) के कार्यक्षेत्र और उपयोग; और २-गुजारा; (४) विवाह और विवाह विच्छेद (तलाक);

(५) नाबालिगी और अभिभावकता और (६) दत्तक।

इनमेंसे हम यहाँ संक्षेपमें ' उपोद्घात ' उत्तराधिकार, विवाह और विवाह-विच्छेद तथा दत्तकके सम्बन्धमें कुछ विचार करते हैं।

उपोद्घातमें ' हिंदू ' शब्दकी परिभाषा करते समय हिंदू, बौद्ध, जैन अथवा सिख-धर्मको माननेवाले प्रत्येक व्यक्तिको हिंदू मान लिया गया है। इतनाही नहीं, कोई विधर्मी भी हिंदू धर्मको अङ्गीकार करके हिंदू कहला सकता है। हिंदू माता-पितासे उत्पन्न नाजायज (जारज) संतान भी हिंदू कहलायेगी और जिस व्यक्तिने हिंदू आचार-विचारका परित्याग कर दिया है अथवा जो हिंदूधर्मके किसी खास सिद्धान्तको नहीं मानता वह भी हिंदू कहलानेका अधिकारी होगा। वर्तमान समयमें हिंदू शब्दके दायरेको इस प्रकार व्यापक बना देनेमें कोई आपाततः आपत्ति नहीं होनी चाहिये। परन्तु जब हम देखते हैं कि ' हिंदू ' शब्दके क्षेत्रका विस्तार इसलिये किया गया है कि जिसमें इस प्रकार धर्म-परिवर्तनके द्वारा बने हुए हिंदू हिंदू-समाजमें शादी-विवाह कर सकें तथा हिंदुओंकी पैतृक सम्पत्तिमें अधिकार पा सकें, तब तो हमें बहुत ही दुःख होता है और हम इस क्षेत्र-विस्तारको कदापि सहन नहीं कर सकते। जारज संतान तथा धर्म परिवर्तनके द्वारा बने हुए हिंदुओंको इस प्रकारके अधिकार देना तो रक्तशुद्धिके सिद्धान्तपर पानी फेर देना और पिण्डोदक-क्रिया-जलदान और पिण्डदानकी क्रियाका लोप करना और इस प्रकार विवाह और उत्तराधिकार दोनोंको ही धर्मबहिष्कृत कर सर्वथा लौकिक रूप देना है-जो किसी भी धर्म-प्रिय आस्तिक हिंदूको कदापि स्वीकार नहीं हो सकता। ' जाति ' में भी केवल चार वर्णोंकी गणना की गयी है, किसी भी 'उपजाति' या अवान्तर जातिको स्वीकार नहीं किया गया है। इसका उद्देश भी अवान्तर भेदोंको मिटाकर उपजातियोंमें परस्पर रोटी-बेटीका सम्बन्ध स्थापित करना तथा इस प्रकार हमारे दीर्घदर्शी पूर्वजोंद्वारा निर्धारित सीमाओंको तोडकर सारी समाजव्यवस्थाको छिन्न-भिन्न करना है, जो किसी प्रकार भी वाञ्छनीय नहीं कहा जा सकता। धर्मपरिवर्तनके द्वारा बने हुए हिंदू किस वर्णके अन्तर्गत माने जायँगे, यह भी स्पष्ट नहीं किया गया है। तथा इस परिभाषाके द्वारा हिंदुओंको किसी भी अन्य धर्मको अङ्गीकार करके पैतृक सम्पत्तिमें अधिकार पानेके लिए पुनः हिन्दु बननेका मार्ग खोल दिया गया है, जो समाजव्यवस्थाके लिये सर्वथा हानिकर है। स्त्री धनकी परिभाषा भी बहुत अधिक व्यापक बना दी गयी है। मौरूसी (पैतृक) सम्पत्तिपर न तो स्त्रियोंको अधिकार दिया जाना चाहिये और न इस प्रकारकी सम्पत्तिको ' स्त्री-धन ' कहना ही चाहिये। वह चल सम्पत्ति जो किसी स्त्रीको व्यक्तिगत उपयोगके लिये उसके पति अथवा किसी दूसरे सम्बन्धीसे प्राप्त हुई हो, वही ' स्त्री-धन ' कहला सकती है।

उत्तराधिकार

उत्तराधिकारमें ' प्रदत्त ' (Testamentary) और ' अप्रदत्त ' (Intestate) दो भेद किये हैं। यदि कोई व्यक्ति वसीयतद्वारा अपनी सम्पत्ति किसीको दिये बिना ही मर जाय तो उस सम्पत्तिका उत्तराधिकार 'अप्रदत्त' है और जो उत्तराधिकार वसीयतद्वारा प्राप्त होता है, वह 'प्रदत्त' है।

धर्ममूलक हिंदू-दायभागकी यह विशेषता है कि किसी भी मृत व्यक्तिकी सम्पत्तिका अप्रदत्त उत्तराधिकार उसी पुरुषको प्राप्त होता है जो मृत व्यक्तिको पिण्ड तथा जल देकर उसे परलोकमें सुख-शांति पहुँचा सके। इस व्यवस्थाके अनुसार मृत व्यक्तिकी आत्माका उसकी सम्पत्तिके उत्तराधिकारियोंके साथ सम्बन्ध चिरकालतक बना रहता है तथा विशुद्ध वंश-परंपराका उच्छेद नहीं होता। मृत व्यक्तिको पिंड अथवा जल वही दे सकता है, जो उसका सपिंड हो। पिंड देनेकी क्षमताको लेकर ही ' सपिंड ' शब्द व्यवहार किया जाता है। सपिंडोंमें कोई न होनेपर सगोत्रोंके द्वारा भी यह कार्य हो सकता है। पिताकी परंपरामें सात पीढियोंतकके सम्बन्धीको सपिंड कहते हैं। इसके आगे सगोत्र कहलाते हैं। इसीलिये दत्तक भी सपिंडोंमेंसे, तथा सपिंड न रहनेपर सगोत्रोंमेंसे लेनेकी आज्ञा है। पिण्डदान तथा जलदानकी आवश्यकताको लेकर ही हमारे यहाँ प्रत्येक पुरुषके लिये योग्य पत्नीके साथ विवाह करके पुत्र उत्पन्न करना अनिवार्य बताया गया है। ' पुत्र ' शब्दका अर्थ ही है — जो पिंडदान और जलदानके द्वारा अपने पिताकी नरकोंसे रक्षा करे। प्रस्तावित कोडमें स्त्रियोंको मृत व्यक्तिकी सम्पत्तिमें अधिकार देकर इस सिद्धान्तपर पानी फेरनेका

प्रयत्न किया गया है। इसके सिवा, स्त्रियोंको सम्पत्ति मिलनेपर वे उसका मनमाना दुरुपयोग कर सकती हैं और कुचक्रियोंके फुसलावेमें आकर उसे नष्ट-भ्रष्ट भी कर सकती हैं और वे स्वयं भी नष्ट-भ्रष्ट हो सकती हैं।

पिताकी सम्पत्तिमें लडकीको भी अपने भाईकी अपेक्षा आधा हिस्सा दिया गया है और इस प्रकार हिंदू-दायभागमें मुसलमानी सिद्धान्तको घुसानेकी जबरदस्ती की गयी है। अबतक विवाह कर देनेतक लडकीकी जिम्मेदारी उसके पिता अथवा अन्य अभिभावकोंपर रहती आयी है। विवाहके समय और विवाहके बाद भी पिता अपनी लडकीको अथवा भाई अपनी बहिनको चाहे जो कुछ दे सकता है; लडकी या बहिनको ससुराल भेजते समय दहेजके रूपमें अपनी शक्तिके अनुसार अधिक-से अधिक देना प्रत्येक पिता अथवा भाई अपना पुनीत कर्तव्य समझता रहा है और जबतक वह जीवित रहती है तबतक अपने मायकेसे समय-समयपर कुछ-न-कुछ पाती ही रहती है। यहाँतक कि, मरनेके बाद भी उसकी सन्तान अपने नाना-मामासे कुछ-न-कुछ प्राप्त करती है। परन्तु पिताकी सम्पत्तिपर उसका कोई भी अधिकार नहीं समझा जाता। इसका कारण यही है कि वह जिस घरमें ब्याही जाती है, उस घरकी स्वामिनी होने जाती है, वहाँ उसकी ननदोंका कोई अधिकार नहीं होता। अब पिताकी सम्पत्तिका हिस्सा देकर उसे अपने भाइयोंका प्रतिद्वन्द्वी बनाया जा रहा है और इस प्रकार भाई-बहिनके पवित्र सम्बन्धकी जड काटी जा रही है। इसका परिणाम यह होगा कि पिताकी सम्पत्ति शीघ्र ही दूसरे कुलमें चली जायगी और उसके मरनेपर उसे पिंड और जल देनेकी कोई भी व्यवस्था नहीं हो सकेगी! अबतक सम्पत्तिको लेकर भाई-भाईमें ही लडाई-झगडे और मुकद्दमेबाजी होती थी; अब भाई-बहिनमें, देवर-भौजाईमें, सास-पतोहूमें और ननद-भौजाईमें भी झगडे खडे होंगे और व्यर्थकी मुकदमेबाजी बढेगी! कुटुम्बकी संपत्ति कुटुंबमें ही रहे, इसके लिये मुसलमानोंमें 'दूध बराव' रखकर चाचा-ताऊकी सन्तानोंमें भी परस्पर विवाह-संबंध जायज माना जाता है। इस कानूनके द्वारा हिंदुओंको भी ऐसा ही करनेके लिये प्रोत्साहन दिया जा रहा है। ऐसा होनेपर हम लोगोंमें और पशुओंमें कोई भी अन्तर नहीं रह जायगा। धीरे-धीरे सगे भाई-बहिनमें और भगवान् न करे—आगे चलकर माता-पुत्रमें भी इस प्रकारके संबंध जायज माने जाने लगेंगे। अबतक केवल कामवासनाके लिये ही हिंदू देवियोंका अपहरण होता था, अब संपत्तिका लोभ भी उसमें एक प्रबल हेतु बन जायगा।

यहाँ एक बात और समझ लेनेकी है। वह यह कि पिताको वसीयतद्वारा अपनी संपत्ति दूसरेको देनेका अधिकार तो रहेगा ही। ऐसी दशामें वह चाहेगा तो मरनेसे पहले अपनी सारी संपत्ति लडकोंके नाम लिख जायगा। उस हालतमें लडकियोंको कानूनके अनुसार सम्पत्तिमें तो हिस्सा मिलेगा ही नहीं; अबतक दहेजके रूपमें जो कुछ मिला करता है, वह भी बंद हो जायगा, और उनके विवाहके निमित्त जो खर्च किया जाता है, उसमें भी संकोच होने लगेगा। इस प्रकार इस कानूनके द्वारा लडकियोंको लाभ पहुँचनेकी अपेक्षा हानि ही अधिक पहुँचेगी।

सम्मिलित कुटुंबकी व्यवस्था हमारे समाजकी एक बहुमूल्य निधि है। वह हमारे समाज शरीरके प्राणके समान है। उसमें साम्यवादके सभी गुण मौजूद होते हुए भी उसके दोष छू तक नहीं गये हैं। प्रचलित कानूनमें इस बातका पूरा ध्यान रक्खा गया है कि जैसे भी हो, कुटुंब सम्मिलित बना रहे और उसके सभी अङ्गोंके हितकी रक्षा हो। इसीलिये परंपरागत संपत्ति (मौरूसी जायदाद) को वसीयतद्वारा जिस किसीको दे डालने अथवा बेच देनेका अधिकार नहीं रखा गया है। परन्तु इस कोडमें यह रुकावट भी हटा दी गयी है। इससे सम्मिलित कुटुंबकी व्यवस्थाको बडा धक्का पहुँचेगा। प्रान्तीय सरकारोंद्वारा स्वीकृत हो जानेपर यह कानून जमीनपर भी लागू होगा, जिसके परिणामस्वरूप स्थावर-संपत्तिके भी टुकडे-टुकडे हो जायँगे। लडकियोंके हिस्सेकी संपत्ति दूसरे कुटुंबोंमें चले जानेसे बहुत-से कुटुंब संपत्तिहीन हो जायँगे और इस प्रकार समाजकी आर्थिक परिस्थिति भी अस्त-व्यस्त हो जायगी।

कहते हैं कि बंबईमें कुछ दिनों पूर्व प्रस्ताविक कोडके समर्थनमें महिलाओंकी एक सभा हुई थी। उसमें जब उपस्थित महिलाओंको यह बताया गया कि इस कोडके द्वारा लडकियोंको भी पिताकी संपत्तिमें हिस्सा दिया जायगा और इस प्रकार स्त्रियोंके अधिकारकी वृद्धि होगी, तो उन्हें

बडी प्रसन्नता हुई। परन्तु जब दूसरे पक्षके द्वारा उन्हें यह समझाया गया कि इसके द्वारा उनके पुत्रोंका हक छीनकर उनके दामादोंको दिया जा रहा है, तब तो वे घबरायीं और उन्होने एक स्वरसे इस ' कोड ' का विरोध किया। तात्पर्य यह कि आपाततः यह कोड स्त्रियोंके हिस्सोंका समर्थक दीखनेपर भी वास्तवमें यह स्त्री-हितोंका घातक, समाजमें गडबडी उत्पन्न करनेवाला एवं परस्पर कलहकी वृद्धि करनेवाला है।

वर्तमान समयमें, जब कि पिताकी संपत्तिमें लडकियोंका कोई भी अधिकार नहीं माना गया है, लडकियोंके विवाह आदिमें पिताका काफी धन खर्च हो जाता है। यहाँतक कि कई परिवार तो इसके पीछे निर्धन हो जाते हैं। अब जब लडकियोंको संपत्तिमेंसे भी हिस्सा दिया जाने लगेगा तब लडकियोंके पिता तथा भाइयोंकी क्या दशा होगी—इसका सहज ही अनुमान किया जा सकता है। आज जहाँ घरकी संपत्ति स्वाहा करके भी लडकियों तथा बहिनोंके विवाह आदिमें काफी खर्च किया जाता है, जिससे उन्हें अच्छा घर-वर मिले और उनका विवाहित जीवन सुखी रहे, वहाँ, संपत्तिमें उन्हें हिस्सा मिलनेपर उनके प्रति भाइयोंके भाव ही बदल जायँगे और फिर वे उनके विवाह आदिमें इस प्रकार मुक्तहस्तसे खर्च करनेको कभी तैयार न होंगे।

इस प्रकरणकी पाँचवी धारामें उत्तराधिकारियोंका जो श्रेणीबद्ध वर्गीकरण किया गया है उसमें पोते और परपोतेकी अपेक्षा पुत्रीको तथा सगे भाई-भतीजोंकी अपेक्षा पुत्रीके पुत्र (नाती) को ऊँचा स्थान दिया गया है। अर्थात् किसी मृत व्यक्तिकी संपत्तिपर उसके पोते-परपोतोंकी अपेक्षा पुत्रीका, और माता-पिता एवं सगे भाई-भती-जोंकी अपेक्षा लडकीके लडकोंका अधिकार ऊँचा माना गया है। इसी प्रकार भतीजेके लडके-भाईके पोतेकी अपेक्षा पोती, दौहित्री (लडकीकी लडकी), लडकेके नाती, लडकेकी पोती लडकेकी दौहित्री, लडकीके पोते, लडकीकी पोती, लडकीके नाती तथा लडकीकी दौहित्रीका अधिकार ऊँचा माना गया है। दादा दादी एवं चाचे तथा चचेरे भाइयों और चाचेके पोतोंकी अपेक्षा बहिन, भानजे तथा भतीजी एवं भानजीका तथा परदादा-परदादी, दादेके भाई तथा उनके बेटे पोतोंकी अपेक्षा बुआ एवं फुफेरे भाइयोंका अधिकार ऊँचा माना गया है। कहना नहीं होगा कि यह सारा-का-सारा वर्गीकरण निरी लौकिक दृष्टिसे किया गया है। इसमें पारलौकिक संबंधपर तनिक भी ध्यान नहीं दिया गया है। अतएव यह वर्गीकरण सर्वथा भ्रममूलक और त्याज्य है।

धारा ७ में मृत पुरुषकी विधवा पत्नीको भी उसकी सम्पत्तिमें हिस्सा दिया गया है, इसकी अपेक्षा पूर्व प्रचलित प्रथा ही हितकर है। ७ (ब) में मृत पुरुषके पुत्रोंको समान हिस्सा दिया गया है, चाहे वे पिताके शामिल हों, या उसके जीवनकालमें ही उससे पृथक् हो गये हों, यह भी उचित नहीं है। जो भाई पिताके जीवनकालमें ही अपना हिस्सा लेकर अलग हो गये हों, उन्हें पुनः हिस्सा नहीं मिलना चाहिये; क्योंकि यह शामिल रहनेवाले छोटे लडकोंके लिये घोर अन्याय होगा।

धारा ८ (४) में स्त्रियोंका गोत्र वही माना गया है जो उनके पिताका हो और इसी सिद्धांतके अनुसार उन्हें पिताके सगोत्रोंकी सम्पत्तिका भी उत्तराधिकार दिया गया है। यह हमारी शास्त्रीय व्यवस्थाके सर्वथा विरुद्ध है। लडकीका विवाह होते ही उसका गोत्र बदल जाता है, और उसके पतिका गोत्र ही उसका गोत्र हो जाता है। ऐसी दशामें पिताके सगोत्रोंकी सम्पत्तिपर उसका कोई अधिकार नहीं होना चाहिये।

स्त्री-धन

धारा १४ (ब) में पतिसे इतर किसी दूसरे सम्बन्धीसे प्राप्त सम्पत्तिका उत्तराधिकार मृत स्त्रीके पुत्र-पुत्रियों, पोते-पोती एवं नाती-दौहित्रीके बाद उनके माता-पिताको तथा उनके वारिशोंको भी दिया गया है। यह सर्वथा अनुचित एवं शास्त्रीय मर्यादाके प्रतिकूल है। हमारे यहाँ कन्याका उसके पतिको दान दिया जाता है। ऐसी स्थितिमें दान की हुई कन्याकी सम्पत्तिमें हिस्सा बँटानेकी बात तो कौन कहे, उसके मायकेके लोग उसके घरका जलतक नहीं पी सकते। ऐसी स्थितिमें मृत स्त्रीके माता-पिता या उनके उत्तराधिकारियोंको उसके धनका हिस्सेदार बनाना तो कन्यादानके पवित्र सिद्धांतपर सदाके लिये पानी फेर देना है। देवताओं एवं ब्राह्मणोंकी सम्पत्तिके साथ बहिन-बेटीकी सम्पत्तिको भी विषतुल्य माना गया है; उसपर अधिकार प्राप्त करके उसका उपयोग करनेको कौन कहे, उसे तो छूनेतकका निषेध है।

इस प्रकारके धर्मविरुद्ध कानून बनाना तो सरासर हमारी धार्मिक भावनाओंको कुचलना है, जो किसी प्रकार हमें सहन नहीं होना चाहिये।

धारा १४ (क) में स्त्रीधनका तृतीयांश पुत्रको और उसका दूना (दो-तिहाई) कन्याको दिया गया है। यह भी ठीक नहीं है। कन्याको पुत्रकी अपेक्षा दूना हिस्सा देना पुत्रके मनमें अपनी बहिनके प्रति ईर्ष्या उत्पन्न करना और इससे भाई-बहिनके पुनीत सम्बन्धपर कुठाराघात करना होगा।

गुजारा

गुजारा पानेवालोंकी सूचीमें धारा ५ (६) में विधवा लडकीको भी शामिल किया गया है। यह विचारणीय है। विधवाओंको उनके पति अथवा श्वसुर आदिकी सम्पत्तिसे गुजारा मिलना चाहिये, न कि पिताकी सम्पत्तिसे। पितृकुलके लोग तो जहाँ उनकी बहिन-बेटियोंको कष्ट होता है,- पतिकुलसे गुजारा नहीं मिलता, वहाँ उनका भरण-पोषण करनेके लिये स्वयं ही तैयार रहते है, परन्तु कानून द्वारा पिताकी सम्पत्तिसे उन्हें गुजारा दिये जानेकी व्यवस्था उचित नहीं प्रतीत होती।

विवाह और विवाह-विच्छेद

धारा १ (ब) में विवाहके लिये टालने योग्य संबंधोंमें केवल निम्नलिखित संबन्ध गिनाये गये हैं—

(१) वर-वधूमेंसे एक-दूसरेके पूर्वज (माता-पिता, दादा-दादी अथवा नाना-नानी आदि अथवा इनमेंसे किसीका दूसरा पति या पत्नी)

(२) भाई-बहिन;

(३) चाचा-भतीजी या मामा भानजी;

(४) चाची-भतीजा, मौसी-भानजा या मामी और ननन्दका पुत्र, और

(५) सगे भाइयोंकी सन्तान।

ये सम्बन्ध ऐसे हैं जिनके अन्तर्गत विवाह होनेकी कल्पना भी हिंदू-समाजमें नहीं हो सकती। ऐसी दशामें वर्ज्य सम्बन्धोंमें इनकी गणना करना उपहासास्पद ही नहीं, अपितु हिंदूभावनाओंको चोट पहुँचाता है। साथ ही, इससे जो परिणाम निकलते हैं, वे तो और भी भयंकर तथा रोमाञ्चकारी हैं। विवाह-सम्बन्धमें केवल पूर्वजोंको टाल-मेका अर्थ यह हुआ कि किसीका अपनी सगी पोतीसे तो नहीं, पर भाईकी पोती अथवा दौहित्रीसे सम्बन्ध हो सकता है। और वह वैध होगा। इसी प्रकार किसी लडके का अपने दादा-दादी, अथवा नाना-नानीकी बहिनसे, और किसी लडकीका उसकी दादी अथवा नानीके भाईसे संबंध हो सकता है और वह जायज होगा। कहना न होगा कि इन संबंधोंमें विधवाओंका पुनर्विवाह तो अभिप्रेत है ही। सगे भाइयोंकी सन्तानोंको टालनेका यह अर्थ हुआ कि सगे भाइयोंके पोते-पोतियोंमें परस्पर संबंध हो सकता है और वह वैध होगा। इस प्रकार इस कानूनके द्वारा केवल सगोत्रोंमें ही नहीं, अपितु सपिण्डोंमें भी विवाहसंबंधकी आज्ञा दे दी गयी है। यह सरासर अन्याय है और हिंदू-धर्मके सिद्धांतोंकी जड काटकर हिंदूसमाजमें अन्यान्य विधर्मी समाजोंके नियमोंको प्रचलित करनेकी गर्हित चेष्टा के अतिरिक्त और कुछ नहीं है। इस प्रकारके हथकंडोंसे हिंदूसमाजको बहुत शीघ्र सचेत हो जाना चाहिये, अन्यथा ये सब प्रहार हिंदू-संस्कृतिके विनाशमें बडे सहायक होंगे।

अबतक विवाह हमारे यहाँ एक धार्मिक संस्कार माना जाता रहा है, केवल कामवासनाकी तृप्ति नहीं। शास्त्रीय विधिसे वैदिक मन्त्रोंके द्वारा अग्नि आदि देवताओंकी साक्षी में तथा विद्वान् ब्राह्मणोंके आदेशानुसार यह पवित्र संस्कार सम्पन्न होता आया है, केवल मनमाने ढंगसे एक इकरार-नामेके रूपमें नहीं, जिसे इच्छा करते ही कभी भी आसा-नीसे तोडा जा सकता है, क्योंकि उसमें धार्मिक बन्धन तो होता नहीं। हमारे इस पवित्र संस्कारके द्वारा वर-कन्याको जीवनभरके लिये ही नहीं, अपितु, जन्मजन्मान्तरके लिये धार्मिक बन्धनमें बाँध दिया जाता है— दोनोंके शरीरका ही नहीं, अपितु मन, प्राण, बुद्धि और आत्मातकका गँठ-बन्धन हो जाता है। दोनों धर्मपथके सहयात्रियोंके रूपमें जीवनमें प्रवेश करते हैं और सन्तानोत्पादनके द्वारा पितृ-ऋणसे मुक्त होकर, धर्मपालनके द्वारा मोक्षमार्गको प्रशस्त करते हैं। दोनोंका लक्ष्य एक होता है और मार्ग भी एक होता है इसीलिये पत्नीको हमारे यहाँ सहधर्मिणी कहा जाता है। दोनों घुल-मिलकर एक हो जाते हैं। परन्तु अब

बालकको गोद लेनेका अधिकार होना ही नहीं चाहिये, क्योंकि जहाँतक सम्भव होता है अपने ही कुलका बालक गोद लिया जाता है। और कुलका बालक न मिलनेपर गोत्र का लिया जाता है। दूसरे गोत्रके बालकको गोद लेनेसे तो गोद लेनेका उद्देश्य ही मारा जाता है। हमारे यहाँ गोद लेनेका मुख्य उद्देश्य यही होता है कि पितृक्रमागत वंश-परम्पराकी रक्षा हो, कुटुंबकी संपत्ति कुटुंबमें ही रहे तथा गोद लेनेवालेको मरनेके बाद पिण्ड तथा जल पहुँच सके। लौकिक दृष्टिकी अपेक्षा भी हमारे यहाँ पारलौकिक अथवा धार्मिक दृष्टि ही मुख्य मानी गयी है। इसको भुला देनेपर ही सारी गडबड होती है और धर्मविरुद्ध कानून बनानेकी प्रवृत्ति जाग्रत् होती है, जो कि बिल्कुल अनावश्यक है।

गोदमें केवल दत्तक-विधि मानी गयी है। 'कृत्रिम,' 'द्व्यामुष्यायण' तथा 'इल्लोत्तम' आदि विधियोंको, जो भारतके कई प्रान्तोंमें प्रचलित हैं, स्वीकार नहीं किया गया है। उत्तरी बिहार एवं मिथिलामें 'कृत्रिम' तथा दक्षिण-पश्चिम भारतके कुछ भागोंमें 'द्व्यामुष्यायण' विधि प्रचलित है। 'द्व्यामुष्यायण' विधिके अनुसार गोद आये हुए पुत्रका जिस घरमें वह गोद आता है तथा जहाँसे वह गोद आता है, दोनों ही घरोंकी सम्पत्तिपर समान अधिकार होता है। 'कृत्रिम' विधिके अनुसार गोद आये हुए पुत्र को गोद लेनेवालेकी सम्पत्तिपर मौरूसी अधिकार नहीं प्राप्त होता। अर्थात् उसका अधिकार उसीके जीवन-कालतक सीमित रहता है, उसके बेटे-पोतोंका उसपर अधिकार नहीं होता। उन्हें उसके जन्मदाता पिताकी ही संपत्तिका अधिकार मिलता है। आन्ध्रदेशकी कुछ उपजातियोंमें 'इल्लोत्तम' विधिका भी प्रचार है। इसके अनुसार दामादको गोद ले लिया जाता है। इस विषयमें जहाँ और जिस जातिके लोग परम्परासे जिस विधिको मानते आये वहाँ उनके लिये उसी विधिको चालू रखना चाहिये। कानूनके द्वारा कुलाचार एवं देशाचारके मामलोंमें हस्तक्षेप किया जाना ठीक नहीं। इस सिद्धांतको बडे-बडे कानूनवेत्ताओंने भी स्वीकार किया है। गोदके लिये गोद लेनेवाले और गोद देनेवालेकी स्वीकृति ही पर्याप्त मान ली गयी है। 'दत्त-होम' की विधिकी आवश्यकता अङ्गीकार नहीं की गयी है। इस प्रकार गोदकी विधिका भी धार्मिक अंश निकाल-कर अन्य देशोंकी भाँति उसे सर्वथा लौकिक रूप दे दिया गया है। गोद लेनेका अधिकार विधवा स्त्रियोंको भी दिया गया है, जिसका दुरुपयोग होनेकी अधिक संभावना है।

इस प्रकार प्रस्तावित कोडके द्वारा प्रचलित कानूनमें जहाँ-तहाँ मनमाने परिवर्तन किये गये हैं, जो लौकिक अथवा धार्मिक-किसी भी दृष्टिसे वाञ्छनीय नहीं कहे जा सकते। यह संशोधित कानून केन्द्रीय धारा-सभाओंद्वारा स्वीकृत हो जानेपर जनवरी सन् १९४६ से सारे ब्रिटिश-भारतपर लागू हो जायगा। इसका जो भयङ्कर परिणाम होगा, उसका चित्र बडा ही रोमाञ्चकारी है। इससे पहली बात तो यह होगी कि हमारे देशाचार, लोकाचार एवं कुलाचारोंका-जो हमारे कानूनके प्रधान आधार हैं-सर्वथा लोप हो जायगा। दूसरे पितृक्रमागत वंश-परम्पराका और संमिलित कुटुंबकी आदर्श व्यवस्थाका मूलोच्छेद होगा। तीसरे, वर्ण-व्यवस्था अथवा जन्मसे जातिकी व्यवस्था नष्ट होकर वर्णसंकरताको प्रश्रय मिलेगा, जिसके रोम-हर्षण परिणामसे डरकर अर्जुन-जैसे जगद्विजयी वीर भी क्षात्र-धर्मका परित्याग कर भिक्षावृत्तिको अङ्गीकार करने तथा वीर-समाजमें उपहासास्पद बननेके लिये तैयार हो गये थे। और चौथा परिणाम, जो सबसे अधिक भयंकर एवं अवाञ्छनीय है, यह होगा कि हमारी नारी-जातिका आर्यधर्म-सतीधर्म- जो हमारे समाजके लिये महान् गौरवकी वस्तु है तथा जिसके पीछे अभी कुछ ही शताब्दी पूर्व हमारी राजपूत रमणियोंने हजारोंकी संख्यामें एक बार और एक ही जगह नहीं, अपितु कई बार और कई जगह चिताकी दहकती हुई अग्निमें अपने प्राणोंका बलिदान किया था, तथा आजकल भी यदा-कदा जो सतियाँ हुआ करती हैं जिनका समाचार पत्र-पत्रिकाओंमें भी छपा करता है, केवल कथा-शेष रह जायगा। इतना ही नहीं, इससे हमारी माताओं, बहनों और बेटियोंका जीवन सुखी होनेकी अपेक्षा कहीं अधिक दुःखमय, अशांतिग्रस्त एवं कलहका केन्द्र बन जायगा। हमारे परिवारोंमें मुकद्दमेबाजीका ताण्डव नृत्य होने लगेगा और हमारे राष्ट्रकी उन्नति होनेके बदले वह अधिकाधिक अधोगतिके गर्तमें गिरेगा।

ब्रिटिश सरकारके द्वारा समय-समयपर यह घोषित किया जाता रहा है कि वह प्रजाके धार्मिक मामलोंमें हस्तक्षेप

नहीं करेगी। परन्तु अब उस नीतिका उल्लङ्घन किया जाने लगा है। किसी भी सुव्यवस्थित सरकारका यह कर्तव्य होना चाहिये कि वह प्रजामें धार्मिकता एवं नैतिकताका प्रचार करे, न कि युगोंसे चले आते हुए धार्मिक एवं नैतिक बन्धनोंको शिथिल करनेका प्रयत्न करे। प्रस्तावित कानूनके द्वारा प्रत्यक्ष ही हमारे धार्मिक एवं नैतिक बन्धनोंको शिथिल किया जा रहा है। ऐसी दशामें सरकारको उसे कदापि स्वीकार नहीं करना चाहिये। लोकमत भी जहाँतक हम समझते हैं इसके सर्वथा विरुद्ध ही होगा। देशके कई प्रमुख वकीलोंने भी इसका विरोध किया है। कलकत्ता-हाईकोर्टके वकीलोंने तो सामूहिकरूपसे इसका विरोध किया है। सामान्य लोगोंको तो अबतक पता ही नहीं है कि हिंदू-कोड क्या बला है। अधिकांश पढ़े-लिखे लोग भी इसके विषयमें अन्धकारमें ही हैं। ऐसी दशामें लोकमतका भली-भाँति ज्ञान प्राप्त किये बिना इस कोडको पास करनेकी जल्दी कदापि नहीं होनी चाहिये। सरकारके लिये ऐसा करना महान् अदूरदर्शिताका परिचय देना होगा।

लेख समाप्त करनेके पूर्व हम एक बात और निवेदन कर देना चाहते हैं। वह यह कि इस कोडके पक्षमें अथवा विपक्षमें संमति देनेकी अन्तिम अवधि ३१ दिसंबर घोषित की गयी है और साथ ही गवर्नमेंटकी ओरसे यह भी कहा गया है कि इसके आगे अवधि और नहीं बढ़ायी जायगी। हमारी दृष्टिमें यह बिल्कुल अनुचित है। कुछ दिन पूर्व गवर्नमेंटके द्वारा यह घोषित किया गया था कि प्रस्तावित कोडका सभी प्रान्तीय भाषामें अनुवाद प्रकाशित कर उस की प्रतियाँ प्रत्येक जिलेके सार्वजनिक पुस्तकालयोंमें रखी जायँगी; परन्तु अबतक किसी भाषामें उसका अनुवाद प्रकाशित हुआ हो- ऐसा नहीं मालूम होता। और न सार्वजनिक पुस्तकालयोंमें ही कहीं उसकी प्रतियोंके दर्शन होते हैं। केवल प्रान्तकी कुछ इने-गिने प्रमुख सार्वजनिक संस्थाओं तथा समाचार-पत्रोंके सम्पादकोंके पास कोडकी एक-एक प्रति भेजकर उसपर उनकी सम्मति माँगी गयी है। परन्तु केवल इतनेसे तो लोकमतका ज्ञान नहीं हो सकता। ऐसी दशामें ३१ दिसम्बरके बाद राय भेजनेकी अवधि न बढ़ाना कहाँतक न्यायसंगत होगा- इसका विचार गवर्नमेंट स्वयं कर सकती है। क्या हम आशा करें कि गवर्नमेंट लोकमतका यथार्थ ज्ञान प्राप्त किये बिना आगे कदम नहीं बढ़ायेगी? ऐसा करना लोकमतकी सर्वथा उपेक्षा करना होगा—जो वर्तमान जनसत्ताके युगमें कदापि वाञ्छनीय नहीं कहा जा सकता।

अन्तमें हम सब भाइयोंसे प्रार्थना करते हैं कि वे इस कोडसे होनेवाले दुष्परिणामोंको ध्यानमें रखते हुए इसका घोर विरोध करें और सरकारके पास सामूहिक तथा व्यक्तिगतरूपसे इस आशयके तार एवं पत्र भेजें कि हमलोग इस कोडको नहीं चाहते; अतः सरकार इसे शीघ्र वापस ले ले और भविष्यमें भी हमारे धार्मिक मामलोंमें हस्तक्षेप करनेकी चेष्टा न करे।' बहनोंसे भी यह प्रार्थना है कि वे भी इसके विषैले प्रभावको हृदयङ्गम कर इसका सामूहिकरूपसे घोर विरोध करें।

मधुच्छन्दस् मन्त्रमाला

(१)

(लेखक— श्री० नलिनीकान्तजी, श्री अरविंदाश्रम, पांडिचरी)
(अनुवादक— श्री० पं० धर्मराजजी वेदालङ्कार, शास्त्री)

(३) उपक्रमणिका

योरपीय विद्वानोंका वेदके सम्बन्धमें जो दृष्टिकोण है, उसका कारण जाननेके लिये हमें वर्तमान युगमें आविष्कृत एक वादको ध्यानमें लाना होगा। यह वाद है- विकास-वाद या क्रमिक परिवर्तन वाद (Theory of Evolution)। इस वादने योरपकी विचार धाराको इतना अधिक प्रभावित किया है कि इसका असर प्रत्येक क्षेत्रमें देखा जा सकता है। क्रमिक परिवर्तनका अभिप्राय है क्रमिक विकास। मानव क्रमश परिवर्तित होकर विकासकी ओर गति करता है। आरम्भमें मनुष्य पशुके समान था, उसकी बुद्धि धीरे धीरे उन्नत हुई है, स्वभावका भी क्रमशः परिमार्जन होता गया है, तरक्की करते करते वह आजकी हालतको पहुंचा है। इतिहासमें भूतकालकी ओर हम जितनी अधिक दृष्टि दौडाएंगे उतना ही हमें अधिक असंस्कृत तथा अपरिपक्व बुद्धिवाले मनुष्यके दर्शन होंगे। वेद अत्यन्त प्राचीन कालकी पुस्तक है और विकासवादके तत्वज्ञान तथा दर्शन शास्त्र संबंधी सूक्ष्म चर्चा आधुनिक कालमें ही सम्भव है, अतः एव इस चर्चाको वेदमें ढूंढना मृगमरीचिकाके पीछे भागना है।

किन्तु इस बीसवी सदीमें इन्हीं पाश्चात्य मनीषियोंकी आंखोंके सामने एक अत्यन्त अद्भुत दृश्य विकासवादके विरोधमें अकाट्य प्रमाण लेकर उपस्थित हुआ है। तत्वविशारदों (Archaeologists) ने अत्यन्त प्राचीन कालके ऐसे ऐसे विस्मय जनक पदार्थोंकी खोज की है कि जिनका वैज्ञानिक लोग स्वप्न भी नहीं लेते थे। सुदूर भूतकालमें मनुष्य समाजकी क्या दशा थी, इसकी गवेषणा उन्होंने भूगर्भकी परीक्षा करके तथा पर्वतों और दुर्गम वनोंका अवगाहन करके करनेका साहस किया है। इस गवेषणासे सिद्ध हुआ है कि पुराने समयमें मानवकी अपरिणत और अविकसित अवस्था ही नहीं थी, कितने ही स्थानोंमें मनुष्य शिक्षा और सभ्यतामें अत्यन्त समृद्ध था। जिन प्रदेशोंको अभी तक असभ्यता और बर्बरताका घर समझा जाता है, उन्हीं प्रदेशोंमें विशेष रूपसे सभ्यता और ऐश्वर्यके प्रमाण प्राप्त हुए हैं। अमेरिकाके दुर्गम अरण्योंमें, प्रशान्त महासागरके द्वीप पुञ्जमें और मध्य एशियाकी विस्तृत मरुभूमिमें अत्यन्त पुरातन कालकी चित्रकला और वस्तु विद्याके ऐसे चिन्ह मिले हैं जिनसे उस कालके मनुष्योंकी विचारशीलता, कार्यदक्षता तथा सूक्ष्म एवं गंभीर मनोवृत्तिका परिचय मिलता है। वैज्ञानिक उन्नतिके गर्वसे मत्त आधुनिक सभ्य समाजमें भी ये गुण उतनी मात्रामें उपलब्ध हो सकते हैं या नहीं– इसमें सन्देह है बैबिलोनिया और मिश्र देशकी पुरातन संस्कृति और सभ्यताकी जड और भी अधिक कितने प्राचीन समयतक पहुंची हुई है, यह जाननेका यत्न हमने आरम्भ किया है। योरपकी शिक्षा दीक्षाका आदि स्रोत यूनानको माना जाता था। किन्तु यूनानके समीपस्थ क्रीट द्वीपमे यूनान की अपेक्षा कितने ही पुराने समयमें यूनानसे कहीं आधिक उन्नत संस्कृतिका प्रसार था, इसे अब किसी भी तरह अस्वीकार नहीं किया जा सकता। पहले यह समझा जाता था कि ऐट्लाण्टिस्, सुमेरिया, आकाद, आजटेक्, माया और टॉल्टिक आदि देशोंकी पुरातन सभ्यताकी कहानी केवल कविकल्पनामें ही विद्यमान है, परन्तु अब खोज करनेपर इनकी सत्यता प्रमाणित हो चुकी है। प्रागैतिहासिक युगके इस कीर्तिकलापको देखकर हम विस्मित हो जाते हैं और अधिक देर तक यह कह सकनेमें हम अपने आपको असमर्थ पाते हैं कि मनुष्य जाति वर्तमान शताब्दीमें अधिकसे अधिक उन्नत है। बाइबलके अनुसार पृथिवीकी आयु चार सहस्र वर्ष है। अलक्षित रूपसे यही विचार योरपके ऐतिहासिकों और वैज्ञानिकोंके दृष्टिकोणको

× (इस लेखमालाका दूसरा लेख दिसंबरके ' वैदिक धर्म ' में प्रकाशित हुआ था, अब यह तीसरा लेख है।).

प्रभावित करता रहा है। किन्तु आज पृथिवीकी आयुकी बात तो दूर है, सभ्य शिक्षित समाजकी आयुका अन्दाज भी लाख वर्षसे कम नहीं है।

एक विशेष दृष्टिसे सृष्टिमें क्रमविकास माना जा सकता है। किंतु वैज्ञानिकोंकी यह धारणा कि उन्नति एक सीधी सरल रेखामें तथा कालकी परिमित अवधिमें होती है, अब बिल्कुल खण्डित हो चुकी है। आज हमने यह समझना शुरु कर दिया है कि सृष्टिका प्रवाह तथा मनुष्यकी प्रगतिका मार्ग घूम फिरकर टेढा मेढा चक्कर काटता हुआ चलता है, इसमें उत्थान और पतनका कोई निश्चित क्रम नहीं है। भारतवर्षमें पहले जो युगों और मन्वन्तरोंकी कल्पना थी उसे आधुनिक लोग धीरे धीरे अङ्गीकार करते जा रहे हैं। इसका परिणाम यह है कि जिन जातियोंको हम असभ्य आदिम तथा पशुतुल्य समझते थे उनके आचार व्यवहार और धर्म कर्मके विषयमें गहरी खोज करनेपर ऐसे तथ्य ज्ञात हुए हैं कि पशुता और बर्बरताकी अवस्थासे मेल नहीं खाते। इसीलिये अनेक वैज्ञानिकों और दार्शनिकोंने यह कहना आरम्भ कर दिया है कि आदिम जातियां सर्वथा ही विकासकी पहली अवस्थाको सूचित नहीं करतीं, वे वस्तुतः एक बहुत प्राचीन विराट् सभ्यताके जीर्ण शीर्ण होनेपर उसके ध्वंसावशेषके रूपमें हैं। संसारमें जहां एक ओर उन्नति हो रही है वहां उसके साथ साथ दूसरी ओर समाज अवनतिके गढेमें गिरा जा रहा है। आदिम जातियां अवनतिकी इसी धागको प्रकट करती हैं।

मनुष्यका प्रादुर्भाव पृथिवीपर अत्यन्त पुरातन कालमें हुआ था और तबसे वह निरन्तर उत्थान और पतनकी नाना अवस्थाओंमेंसे गुजर रहा है। यदि यह सिद्धान्त सत्य है तो वेदके समयमें आर्य जातिका उन्नतिकी पराकाष्ठा को पहुंचना असम्भव नहीं माना जा सकता। उन्नतिकी पराकाष्ठाका यह तात्पर्य कदापि नहीं कि वैदिक कालका रहन सहन सर्वथा आधुनिक सभ्यताके अनुरूप हो। उस समयके लोगोंकी विचारसरणि तथा दृष्टि अन्य प्रकारकी थी, केवल इसी आधारपर हम उन्हें आजकलकी अपेक्षा ज्ञान और गुणमें कम विकसित नहीं समझ सकते। वाल्मीकि और रवीन्द्र एक प्रकारके कवि नहीं हैं, क्या इतनेसे ही हम निःसङ्कोच होकर रवीन्द्रनाथको वाल्मीकिसे ऊंचा आसन दे सकते हैं? वैदिक ऋषियोंकी शिक्षा दीक्षा क्योंकि वर्तमान वैज्ञानिकोंकी शिक्षा दीक्षासे नहीं मिलती, इसलिये वे उन्नतिके आदर्श तक नहीं पहुंच पाये —ऐसा विश्वास करनेका पूर्वग्रह और पक्षपातके सिवाय और क्या कारण हो सकता है।

आधुनिक विद्वानोंकी यही सबसे बडी भूल है। जगत्के संबंधमें प्राचीन लोगोंका क्या दृष्टिकोण था तथा किस अन्तरीय विचार धारा द्वारा उनका आचार व्यवहार अनुप्राणित होता था, ये सब बातें ठीक ठीक समझनेमें हम असमर्थ रहे हैं। पुराने समयका एक अस्थिपञ्जर पडा हुआ है, हमे विश्वास ही नहीं होता कि एक दिन यह चलता फिरता आदमी था। यह अस्थिपञ्जर केवल आदमीका ही नहीं बल्कि एक महामनीषीका शरीर था। हम यह समझते हैं कि अस्थिपञ्जर चिरकालसे अस्थिपञ्जर मात्र ही है, बहुत जोर किया तो समझ लिया कि यह किसी मरे हुए आदमीका देह है। जमीनपर बैठकर बिना चम्मच और कांटेके केवल हाथसे खाते हुए देखकर अंग्रेज लोगोंने भारतवासियोंको शुरुमें बर्बर और असभ्य समझ लिया। इसी प्रकार इस समयके विद्वान गाय, घोडे सोमरस आदिके लिये वैदिक ऋषियोंद्वारा देवताओंसे की जा रही प्रार्थनाओंको देखकर उन ऋषियोंको आदिकालीन (Primitive) और असभ्य मान बैठे हैं। उनका कहना है कि शिक्षित और परिमार्जित बुद्धिवाला व्यक्ति साधारण स्थूल पदार्थों या भूतप्रेतोंकी बात न करके वैज्ञानिक अथवा दार्शनिक चर्चा ही करेगा।

एवं ये लोग अपने मस्तिष्ककी विशेष रचनाके द्वारा प्राचीनोंके मस्तिष्ककी बनावटको समझनेका प्रयत्न करते हैं। किंतु संसारके बारेमें प्राचीनोंका वस्तुतः एक विलक्षण दृष्टिबिन्दु है। उनका आदर्श एक गम्भीर सूक्ष्म तत्वानुभूतिपर आश्रित है, यदि इसका मेल आजकलकी मान्यताओंसे नहीं होता तो क्या इतने मात्रसे ही प्राचीन आदर्शकी हीनता सिद्ध हो जाती है? प्राचीन लोगोंने जिस सत्यका अवलोकन तथा अवधारण किया था वह सत्य प्राकृत बुद्धिद्वारा गम्य नहीं है, प्राकृत बुद्धि द्वारा गम्य तो वर्तमान—कालका सत्य है। प्राचीनोंके सत्यके आधारमें उनकी गम्भीर साधना निहित है।

हम तर्क और बुद्धि द्वारा सत्य तक पहुंचते हैं, परन्तु

*

प्राचीन वैदिक पुरुष सत्यका साक्षात् अनुभव किया करते थे। तर्क बुद्धिसे अतिरिक्त मनुष्यके अन्दर एक और अधिक सूक्ष्म तथा व्यापक ज्ञानकी वृत्ति विद्यमान है। इस वृत्तिका उद्बोधन करके इसकी सहायतासे सत्यका केवल आविष्कार ही नहीं किंतु प्रत्यक्ष करके उसे जीवनमें चरितार्थ करना- यह थी उस प्राचीन कालकी शिक्षा और साधना। दर्शन श्रवण स्पर्श आदि ऐन्द्रियिक अनुभूतियोंमें जिस वृत्तिकी बाह्य अभिव्यक्ति होती है और अन्तरात्मा जिसके द्वारा समस्त पदार्थोंका ग्रहण करता है,वह वृत्ति ही प्राचीन लोगोंके ज्ञानका मुख्य आधार थी। इसी मौलिक ज्ञानशक्तिका अनुसन्धान करते हुए केनोपनिषद्में कहा गया है " केनेषितं पतति प्रेषितं मन श्रोत्रस्य श्रोत्रं मनसो मनः " इत्यादि।

इसी सूक्ष्म वृत्तिपर प्राचीन ऋषियोंकी ज्ञानशृङ्खला प्रतिष्ठित है। इळा, सरस्वती, सरमा, दक्षिणा अर्थात् श्रुति (Revelation) स्मृति (Inspiration), बोधि (Intuition), और विवेक (Discrimination) ये सब इस वृत्तिकी अवस्थाएं हैं। इस विषयके रहस्यको और अधिक हम इस जगह नहीं खोलेंगे।

आधुनिक तथा प्राचीन मनीषियोंके दृष्टिकोणोंमें विद्यमान पार्थक्यका यहां दिग्दर्शन कराके हम केवल यह दिखलाना चाहते हैं कि आधुनिक विद्वान् क्यों प्राचीन ऋषियोंके तत्त्व-ज्ञानको समझनेमें सर्वथा असमर्थ रहे हैं।

प्राचीन लोग ज्ञानानुभूति द्वारा सूक्ष्म तत्त्वोंका अवलोकन करते थे। यद्यपि वर्तमान विज्ञान और दर्शनमें भी तत्त्वोंका चिन्तन होता है, किंतु वह चिन्तन अनुभवमें आनेवाले पदार्थोंको तर्क और बुद्धिके सहारे एक व्यवस्थित और शृङ्खलाबद्ध रूपमें देखनेतक ही सीमित है, इसीका नाम है Theorization। दृश्यमान जगत्में व्याप्त होकर जो शक्ति प्रवाहित हो रही है, और अन्तरीय सूक्ष्म तत्त्वसे किस प्रकार बाह्य स्थूल पदार्थ विकसित हो रहे हैं, यह है प्राचीन ऋषियोंके विज्ञानका विषय। इस विज्ञानकी सहायतासे वे इस परिणामपर पहुंचे हैं कि सृष्टि नानास्तरोंमें विभक्त है; स्थूल, सूक्ष्म, सूक्ष्मतर, सूक्ष्मतम- इस प्रकारके अनेक स्तर या लोक एक दूसरेके अन्दर विद्यमान हैं- जैसा कि श्रुतिने कहा है, ' सानोः सानुमारुहत् उत्तरे स्तोमाः '। इन समस्त लोकलोकान्तरोंमें एक ही सत्ता बृहद्देवताके रूपमें प्रतिष्ठित है, वही सर्वत्र क्रीडा कर रही है उसीके कर्म और रूपके भेदके कारण स्तर भेद दृष्टिगोचर होता है। सम्पूर्ण सत्ता एक होनेसे प्रत्येक वस्तुका प्रत्येक दूसरी वस्तुके साथ एक प्रकारका साम्य है।

इसके अतिरिक्त किसी एक स्तरका सत्य जो कभी कभी दूसरे स्तरपर उद्भासित हो जाता है उसका कारण भी यही है कि एक ही शक्ति या सत्ता द्वारा सूक्ष्मतममेंसे स्थूलतमका आविर्भाव होता है, और समस्त स्तरोंमें एक समच्छन्द या तुल्ययोगिता (Parallelism) अन्तर्हित है। वैदिक ऋषि जब अग्निके बारेमें कहते हैं तब उसका अभिप्राय उस वस्तुसे होता है जिसका स्थूल रूप या शरीर बाह्य आग है। सूक्ष्म जगतमें यह वस्तु तेज है, और सूक्ष्मतम या अध्यात्मक्षेत्रमें इसे ' ज्ञानमय तप ' कहा जा सकता है। इसी प्रकार सूर्य शब्द भी क्षेत्रभेदसे एक साथ ' आलोक ' ' प्रकाश ' ' ज्ञान ' आदि अर्थोंका वाचक होता है। प्रकृतिके एक दृश्यको देखकर वेदमें जब वर्णन किया गया है-

' इदं श्रेष्ठं ज्योतिषां ज्योतिरागात्
चित्रं प्रकेतो अजनिष्ट विभ्वा। '

' ज्योतियोंमें यह सबसे श्रेष्ठ ज्योतिका आगमन हुआ है, व्यापक होकर यह हमारे सामने एक अद्भुत ज्ञानको प्रादुर्भूत कर रही है '। इस मन्त्रमें स्थूल उषाके वर्णनके द्वारा सूक्ष्मतर उषाकी ओर संकेत किया गया है। ऋषियोंकी दृष्टिके सामने समग्र सृष्टि अपनी पूर्णताके साथ उपस्थित होती है। उन्होंने जिस सत्यकी उपलब्धि की है वह परिपूर्ण है, सृष्टिकी समस्त स्थितियोंमें वह लागू हो सकता है। वर्तमान कालके लोग सत्यको सब प्रकारसे अपनी बुद्धिकी आलोचनाका विषय समझते हैं। तर्कके द्वारा उसे काट काटकर अलग करनेका प्रयत्न करते हैं। प्राचीन ऋषि सत्यको अपने अन्तरात्माकी समस्त शक्तिके साथ ग्रहण करते थे। इसीलिये उन्हें इन्द्रिय गोचर और अतीन्द्रियमें जड चेतन तथा स्थूल सूक्ष्म आदिमें सर्वत्र एक अखण्ड आत्माका दर्शन होता था। हम लोगोंके लिये जड संसारका प्राणमय संसार से पृथक् अस्तित्व है।

इन दोनोंसे अतिरिक्त मनोमय जगत्का कुछ और ही स्वरूप है, तात्पर्य यह है कि प्रत्येक धारा दूसरीसे बिल्कुल भिन्न है और सबकी संज्ञाएं अलग अलग हैं। इसके विष-

रीत प्राचीनोंकी दृष्टि विश्लेषणात्मक न होकर समन्वयात्मक थी, उनके हृदयसे निकले हुए मन्त्र विशेष रूपसे अर्थ-गर्भित होते थे क्योंकि उनके द्वारा समस्त स्तरोंकी अभिव्यञ्जना युगपत् प्रकाशित होती थी।

प्राकृतिक एवं चराचर जगत्के सम्पर्कमें आनेसे प्राचीन लोगोंके मानसपर जो चित्र अङ्कित होता था, वह केवल पार्थिव या लौकिकही न होता था, उसमें किसी दिव्य सत्ताके छायालोकका प्रसार होनेसे वह अतिप्राकृत और अलौकिक भावोंसे परिपूर्ण हुआ करता था। प्रश्न उठ सकता है कि वेदमें यदि अध्यात्मतत्त्वकी प्रधानता होते हुए स्थूल पार्थिव पदार्थोंका वर्णन एकमात्र रूपक उपमा आदि अलङ्कारोंके प्रसङ्गमें हुआ है, तो फिर इस प्रकारके वर्णनका वेदमें बाहुल्य क्यों है ?

इसका उत्तर यह है कि जबतक हम वेदके प्रतीक तंत्र (Symbolism) की खोज पूरी तरहसे नहीं करते तबतक इसका हेतु समझमें आना कठिन है। इस संबंधमें यहा इतना ही कहना पर्याप्त है कि प्राचीन समयमें भाषा सजीव थी, आजकलके समान विचार वितर्क या विश्लेषणद्वारा इसके टुकडे नहीं किये जा सकते थे, वह भाषा जीवित जागृत अनुभूतिका देह थी। सभी भाषाओंका आरम्भ प्राणवान् इन्द्रियानुभूतिसे होता है। भाषाका यह आरम्भिक गुण — शब्दोंका साक्षात् अनुभूतिके साथ अटूट और अन्तरङ्ग संबंध — प्राचीन कालकी भाषामें विद्यमान था। उस समय भाषामें सूक्ष्म अनुभूतिके साथ साथ स्थूल अनुभूति भी अभिव्यक्त हुए विना नहीं रहती थी। इसके अतिरिक्त प्राचीनोंकी अखंड अनुभूतिके विषयमें ऊपर हम जो कुछ कह चुके हैं, उसे भी इस प्रसङ्गमें भुलाया नहीं जा सकता। प्राचीन समयमें यज्ञयाग आदि बाह्य अनुष्ठान जो हुआ करते थे, वे भी वस्तुतः आभ्यन्तर वस्तुके ही द्योतक होते थे, अन्दरके तत्त्वज्ञानको अभिव्यक्ति के लिये स्थायी बनानेके उद्देश्यसे तथा उसका प्रचार करनेके लिये उसे यज्ञादि क्रियाकर्मका स्थूल रूप दिया जाता था। किसी महापुरुषके मूल आध्यात्मिक अनुभवको सुरक्षित रखनेके लिये जैसे लिखित ग्रन्थ या उसके भाष्य टीका आदि उपयोगी होते हैं, इसी प्रकार वैदिक ऋषियोंने अपने ज्ञानको कर्मकाण्ड आदिके शरीरमें आवृत करके स्थिर करनेका प्रयत्न किया। अन्तरीय भावोंको मूर्तरूप देनेके लिये वेदने प्रकृतिके विशाल प्राङ्गणसे तथा तत्कालीन समाजके व्यवहारमें आनेवाले पदार्थोंसे अनेक प्रतीकोंका ग्रहण किया है। आजकल हम यह नहीं समझ पाते कि मिश्रदेशके जो पिरामिड वस्तुतः मृत पुरुषोंके समाधिस्थान हैं, वे ही असलमें शिल्प ज्योतिष ज्यामिति तथा तत्त्वज्ञानकी अनेक ग्रन्थियोंको कैसे प्रकट करते हैं। वस्तुतः अपरा विद्या परा विद्याकी छायामात्र है। बाहर जो भी कुछ है वह अन्दरकी ही प्रतिकृति है। वेदके इस प्रतीक तन्त्रकी छान्दोग्य उपनिषद्के निम्न मंत्रमें बहुत स्पष्ट और सरल व्याख्या की गई है।

यावान्वा अयमाकाशस्तावानेषोऽन्तर्हृदय आकाश उभे अस्मिन् द्यावापृथिवी अन्तरेव समाहिते उभावग्निश्च वायुश्च (८·३)

' बाहर यह जितना आकाश दिखाई देता है, बिल्कुल उतनाही अन्दर हृदयमे भी है, अन्तर्हृदयमें पृथिवी स्वर्ग अग्नि वायु सूर्य और चन्द्र भी समाविष्ट हैं "। कठोपनिषद्में भी एक स्थानपर कहा गया है—

' यदेवेह तदमुत्र यदमुत्र तदन्विह। '

' जो यहां है वही वहां है जो वहां है वही यहां भी है।' केवल भारतवर्षमें क्यों, प्राचीन कालमें धर्मके आध्यात्मिक क्षेत्रमे सभी देशोंके अन्दर प्रतीक तन्त्रकी रीति प्रचलित थी। प्रतीकोंके मर्मको हम समझ नहीं सकते, इन्हें तन्त्र मन्त्र, झाड फूंक, जादू टोना (Black Magic), बर्बरता, आदिम असभ्यताके अवशेष, इत्यादि कतिपय उपहासास्पद नाम देकर अपने अभिमानको सूचित करते है। मिश्र देशकी राष्ट्रीय प्रतिभा तथा उच्च शिल्प विद्याको किसी सीमातक हम हृदयङ्गम करते हैं, और इन बातोंमे इस देशको अपने समान या अपनेसे बडा भी माननेको तय्यार हो जाते हैं, किन्तु धर्म या अध्यात्मके क्षेत्रमें मिश्रकी प्रतिभाको हम समझनेकी योग्यता ही नहीं रखते, इसीलिये उसे असभ्यताकी कोटिमें डालकर सन्तुष्ट हो जाते हैं। इसका कारण यह है कि धर्म और आत्माके क्षेत्रमें हमने कोई साधना नहीं की, अधिकसे अधिक हम नैतिक (Ethical) विषयोंकी चर्चा कर सकते हैं। यूनानके शिल्प और साहित्यकी हम खूब प्रशंसा करते हैं, परन्तु धर्म और अध्यात्मका जहांतक

सम्बन्ध है, हम सुकरातसे ऊपर नहीं उठ सकते। अत्यन्त प्राचीन कालमें यूनानमें आध्यात्मिकताका जो तीव्र प्रवाह बहा उसका आधार योग ही था, इस बातको जानते हुए भी हम उस आध्यात्मिकताको ठीक प्रकारसे समझ नहीं सकते। यूनानके तत्त्वज्ञ थेलसने 'जल' को तथा हैरक्लाइटसने 'अग्निको' सृष्टिका आदितत्त्व बतलाया है, हम जल और अग्निको भौतिक पदार्थ ही समझ लेते है, परन्तु असल-में ये जल और अग्नि गम्भीर एवं सूक्ष्म आध्यात्मिक तत्त्वोंके प्रतीकमात्र हैं, ऐसा माननेके लिये हम तय्यार नहीं होते। हां भी क्यों ? स्वयं तो हमने कोई साधना की नहीं है। पाइथेगोरस और अफलातूनके दर्शनकी हम आलोचना करते हैं, किन्तु इनके दर्शनमें जिस सूक्ष्म अध्यात्मसाधनाकी अभिव्यक्ति है, उसे हम अपनी गवेषणाका विषय नहीं बनाते। चीन जापानमें तथा आस्ट्रेलिया अमेरिका प्रभृति देशोंके आदिनिवासियोंमें जगत् तथा मनुष्यके सम्बन्धमें जो धारणाएं, कथाएं या पुराण प्रचलित हैं, उन सबके आधारमें विद्यमान आध्यात्मिक साधना और तत्त्वज्ञानको यद्यपि वर्तमान विज्ञान स्वीकार नहीं करेगा, किन्तु जिन्होने अध्यात्मविद्यामें प्रवेशमात्र किया है उनके सामने भी इसकी सत्यता आसानी-से प्रगट हो सकती है।

प्राचीन मनीषियोंके विचार प्रवाहमें शुद्ध तात्त्विकता (abstraction) या अमूर्त दार्शनिकता उपलब्ध न होकर प्रत्यक्षपर आश्रित वास्तविकता मिलती है, बस इसी चीजको लेकर हम प्राचीनोंको जडवादी मान बैठते है। किन्तु जिस तत्त्वका उन्हे वस्तुतः बोध होता था, वह तत्त्व बुद्धि मन अथवा चिन्तन द्वारा उनके सामने न आकर एक जीवित जागृत स्पष्ट एवं मूर्त प्रत्यक्ष वस्तुके रूपमें सामने उपस्थित होता था। सूक्ष्म जगत् उनके लिए कोरी कल्पना और तर्कणाका विषय न था, बल्कि दिखाई देनेवाले स्थूल पदार्थ-के समान वे उसका अनुभव अपने अन्तःकरणसे करते थे। इसीलिये सूक्ष्म जगत्का वर्णन करते हुए स्थूल जगत्की शब्दावलीका प्रयोग किया करते थे। क्या आजकल भी हम आधुनिक लोग समय समयपर वैसा नहीं करते ? अपने रोम रोमसे प्रस्फुटित होनेवाले गम्भीर आन्तरिक भावको प्रकाशित करनेके लिये हम बहुधा बाह्य जगत्से रूपकों और उपमाओंको लेते हैं। वैष्णव लोग मानुषी हाव भावोंके द्वारा तथा इन्द्रियगोचर जगत्के अनुभवकी सहायतासे भागवत भावोंको व्यक्त करनेकी चेष्टा करते हैं। सॉलोमनकी-

'A bundle of myrrh is my well beloved unto me, He shall lie all night betwixt my breasts'

इस उक्तिमें ईसाई लोग गम्भीर आध्यात्मिक रहस्य खोजे बिना नहीं रहते। रोटी और शराब सेवन करनेके अनुष्ठान (Trans-substantiation) में ईसाके अनुयायी कितने ही सूक्ष्म अभिप्राय निकालते हैं, किंतु वैदिक ऋषियोंके—

'एमाशुम्.. .पतयन्मन्दयत्सखम्' ×

इस कथनमें उन्हें शुद्ध प्रकृतिवाद नजर आता है। किसी सचाईको प्रगट करनेके लिये कथा आख्यायिका रूपक उपमा आदिका उपयोग प्रत्येक देशमें और प्रत्येक कालमें होता रहा है। आधुनिक युगमें हमने आध्यात्मिक क्षेत्रसे इनका बहिष्कार कर दिया है, किंतु कविताके क्षेत्रमें अब भी पूर्णरूपसे व्यवहार होता है।

वेदके रहस्यको हम ही सबसे पहले खोलने लगे हों, ऐसी बात नहीं। सायणाचार्य और निरुक्तकार यास्कके विषयमें हम पहले ही उल्लेख कर चुके हैं। वर्तमान कालमें भी वेदकी व्याख्या करनेका प्रयत्न कई महानुभावोंने किया है। स्वामी दयानन्द सरस्वती इन सबमें मुख्यतम पथप्रदर्शक हैं। बंगालमें दुर्गादास लाहिडी और श्री द्विजदास दत्त आदिने भी इस दिशामें कुछ आलोचन किया है। किंतु इन सब आध्यात्मिक व्याख्याओंसे हमारी व्याख्या पर्याप्त भिन्न प्रकारकी है। परिणामतः हम अपनी व्याख्या-को आध्यात्मिक न कहकर तात्त्विक या मनोवैज्ञानिक (Psychological) कहना अधिक पसन्द करेंगे। स्वामी दयानन्दकी आध्यात्मिकताका अर्थ ईश्वरवाद है, द्विजदास दत्तने ब्रह्मवादको लिया है, और दुर्गादास लाहिडीकी आध्यात्मिकता भक्तिमूलक धर्मभावसे ओतप्रोत है। हमारे कहनेका अभिप्राय यह कदापि नहीं कि वेदमें ईश्वरवाद ब्रह्मवाद और भक्ति नहीं है, ये सब तत्त्व वेदमें अवश्य विद्यमान हैं, किंतु इनसे वेदका ऊपर ऊपरका बाह्य अर्थ साधारण रूपसे ही व्यक्त होता है, वेदके असली सौंदर्य और माधुर्यको प्राप्त करनेके लिये हमें और अधिक गहराईमें जाकर हाथ मारने होंगे, तभी हम वेदके सूक्ष्म गंभीर रहस्यको उपलब्ध कर सकेंगे। वेद वस्तुतः योगविद्या द्वारा संचित ज्ञान विज्ञानसे परिपूर्ण महान् ज्ञानाब्धि है, उसका आलोडन साधारण बुद्धि द्वारा नहीं हो सकता। (क्रमशः)

× 'बन्धु बान्धव तेज शराब पीकर अकर्मण्य हुए हुए मट्टीमें लोट पोट कर रहे हैं' ऐसा अर्थ भी इस श्लोकका किया है।

आत्मा

(लेखक- पं० ऋभुदेवशर्मा, ' साहित्याऽऽयुर्वेदभूषण ' ' शास्त्राचार्य ' चप्पल-बाजार, हैदराबाद दक्षिण)

वेदमें आत्माका वर्णन किस अर्थमें है, यह जानना अत्यंत आवश्यक है। वेद-मतानुयायी ही परस्पर एक मत नहीं, तो दूसरोंकी चर्चा ही क्या है? कोई विश्वको आत्म-रूप मानकर दृश्यको स्वप्न मानता है। कोई आत्माको परमात्मा का अंश मानता और जीव-ब्रह्मको वस्तुतः एक स्वीकार करता है। कोई जीव और ब्रह्मको भिन्न दो आत्मा मानता है। कोई विश्वको ही आत्म-रूप मानकर इसे सत्य और नित्य स्वीकार करता है। इसी प्रकार और भी अनेक मत-मतान्तर हैं जो आत्माको भिन्न भिन्न दृष्टियोंसे देखते हैं।

आत्म वादी अपने मतका मूल वेद बताते हैं। उन्हें वेद-हीसे आत्माका ज्ञान हुआ। यदि अध्यात्म-ज्ञानका मूल वेद हैं तो हमें देखना पडेगा, वेदमें आत्म-शब्दका पदार्थ क्या है?

वेदके विषयमें भी कम विवाद नहीं है। कोई ज्ञान-मात्रको वेद मानते हैं। कोई मन्त्र और ब्राह्मणको, तो कोई केवल संहितामात्रको। उपनिषत् ब्राह्मणोंके भाग हैं, अतः ब्राह्मण कहनेसे उपनिषत्का भी ग्रहण हो जाता है। ब्राह्मणोंका अध्यात्म-भाग उपनिषत् नामसे व्यवहृत होता है अतः प्रायः अध्यात्ममें वेद या श्रुतिका अर्थ उपनिषत् है। यदि ब्राह्मण, उपनिषत् और सारी शाखायें वेद हैं तो वास्तव में वेदका प्रामाण्य बहुत हीन-कोटिमें आ जायेगा। अल्लो-पनिषत्, कबीरोपनिषत् आदि ग्रन्थ भी वेद बनकर हमारे लिये प्रामाण्य बन जायेंगे। इस कारण वेदकी मर्यादा कुछ और निश्चित करनी पडेगी। वेदका अर्थ आप कुछ भी करते हों, मुझे तो इतना ही बताना है कि वैदिक साहित्यमें आत्मा शब्दका मुख्यार्थ क्या है?

' सातिभ्यां मनिन्मनिणौ ' उणा० ४।१५७ इस सूत्रसे ' अत ' धातुसे ' मनिण् ' प्रत्यय लगकर आत्मन् शब्द सिद्ध होता है। ' अत सातत्यगमने ' अर्थात् अत् धातुका अर्थ सतत गमन है। जो सतत गमन करता अर्थात् जिसकी गति में काल बाधक नहीं वह आत्मा कहलाता है। जिसके स्वरूपका नाश नहीं होता वह आत्मा है।

बौद्ध लोग एक नित्य आत्मा नहीं मानते। एक आत्मा दूसरे आत्माको उत्पन्न कर स्वयं नष्ट हो जाता है। यदि ऐसा ही मान लें तो भी आत्म-त्वकी हानि नहीं होती। यद्यपि एक रूप नष्ट होकर दूसरेको उत्पन्न करता है तथापि आत्म जातिका प्रवाह बना रहता है। इस प्रवाहका निरंतर बहना ही आत्माका स्व-शब्दार्थ है।

जिनके मतमें नित्य एक आत्मा स्वरूपसे ही स्थिर रहता है उनके मतमें स्वरूपसे ही अनश्वर होकर त्रिकालाबाधित होना यही आत्माका आत्मत्व है।

जो लोग मूलतत्त्वको एकरस मानकर केवल आकृति-विपरिणामको ही अनित्य नश्वर मानते हैं उनके मतमें वह एक स्थिर द्रव्य ही आत्मा है।

सारांश यह कि आत्माका स्थिर होना या न होना आत्मा के आत्मत्वमें बाधक नहीं। बहुत गहराईमें जायँ तब तो उसका स्थिर होना आवश्यक होगा, परन्तु सामान्यतया कोई भेद नहीं पडता।

वैदिक- साहित्यमें आत्माका अर्थ अपनी सत्ता या अपना रूप है। ' मैं हूँ ' इसलिये मेरा नाम आत्मा है। ' मैं शरीरसे पृथक् हूँ, या शरीर ही हूँ ' यह विवेचन पश्चात् होगा, परन्तु जिस अवस्थामें मैं व्यवहार करता हूँ वह शरीरेन्द्रियमनआत्माका समुदाय ही आत्मा है। साधा-रणरूपसे चेतना-सम्पन्न अपने शरीरको आत्मा कहता हूँ। आत्माका अर्थ ' अपना रूप ' करें तो जड और चेतनका भेद भी नहीं रह जाता, क्योंकि अचेतन पदार्थोंमें भी अपना रूप तो है ही।

अब कुछ वेद-वाक्य लीजिये—

(१) मेहनाद् वनंकरणा—ल्लोमभ्यस्ते नखेभ्यः।
यक्ष्मं सर्वस्मादात्मन—स्तमिदं वि वृहामि ते॥ १॥

(२) अङ्गादङ्गाल्लोम्नोलोम्नो जातं पर्वाणिपर्वणि।
यक्ष्मं सर्वस्मादात्मन—स्तमिदं वि वृहामि ते॥ २॥
(ऋ० १०। १६३ ५-६॥)

(ते) तेरे (मेहनात्) लिङ्ग, (वनंकरणात्) सुन्दरता बढानेवाले इन्द्रिय, (लोमभ्य.) रोम और (नखेभ्य) नखसे, इस प्रकार (इदम्) इस (तम्) उस (यक्ष्मम्) रोग को, क्षय को (ते) तेरे (सर्वस्मात्) सम्पूर्ण (आत्मनः) शरीरसे (वि वृहामि) उखाड फेंकता हूँ ॥१॥

(अङ्गात् अङ्गात्) अङ्ग-अङ्ग और (लोम्नः-लोम्न) रोमरोमसे इस यक्ष्मको उखाड फेंकता हूँ । (पर्वणि-पर्वणि) पर्व-पर्वमें (जातम्) उत्पन्न हुए (तम्) उस (इदम्) इस (यक्ष्मम्) रोगको, क्षयको (ते) तेरे (सर्वस्मात्) समग्र (आत्मनः) शरीरसे (वि वृहामि) उखाडता हूँ नष्ट करता हूँ ॥ २ ॥

यक्ष्मा आत्मामें नहीं शरीरमें हुआ करता है अतः यहां आत्माका अर्थ शरीर ही लेना योग्य होगा।

(३) शर्यणावति सोम मिन्द्रः पिबतु वृत्रहा ।
बलं दधान आत्मनि करिष्यन् वीर्यं महदिन्द्रा-
येन्दो परि स्रव ॥

(ऋ० ९।११३।१)

हे (इन्दो) सोम ! तू (इन्द्राय) इन्द्रके लिए (परि-स्रव) क्षर, झर । (वृत्र-हा) वृत्रको मारनेकी इच्छा वाला (इन्द्रः) इन्द्र (आत्मनि) अपने भीतर (बलम्) बलं (दधान) धारण करता हुआ (महत्) बडा (वीर्यम्) पराक्रम (करिष्यन्) करनेकी इच्छा रखते हुए (शर्यणा-वति) शर्यणावत् स्थानमें (सोमम्) सोम (पिबतु) पीये।

यहां आत्मनि का अर्थ 'अपने शरीरके भीतर' या 'शरीरमें' है।

(४) आत्मा यज्ञेन कल्पताम् ॥ यजु० १८।२९ ॥

मही० आत्मा देहः 'आत्मेन्द्रियमनोयुक्तो भोक्तेत्याहुर्मनी-षिणः' इति स्मृतेः ॥

स्वामिदया०— अतति शरीरमिन्द्रियाणि प्राणांश्च व्या-प्नोति सः ॥

इस मन्त्रमें भाष्यकार महीधरको आत्माका अर्थ 'शरीर' अभिप्रेत है और ऋषि दयानन्दको जीवात्मा या परमात्मा।

(५) आत्मान्तरिक्षं समुद्रो योनि' ॥ य० ११।२० ॥

मही० — अन्तरिक्षं अन्तरिक्षलोकस्तवाऽऽत्मा शरीरा-न्तर्वर्ती जीवात्मा ॥

दया० — स्वरूपम् ॥

यहाँ पं. महीधरके मतमें आत्माका अर्थ जीवात्मा और ऋषि दयानन्दके मतमें इसका अर्थ अपना रूप है चाहे वह शरीर हो या जीवात्मा।

(६) परीत्य भूतानि परीत्य लोकान् परीत्य सर्वाः प्रदिशो
दिशश्च । उपस्थाय प्रथमजामृतस्यात्मनात्मानमभि
संविवेश ॥ (यजु० ३२।११)

वह प्रजापति अग्नि (भूतानि) भूतों तक (परि-इत्य) पहुँच कर, (लोकान्) लोकों तक (परि-इत्य) पहुँच कर (सर्वा.) सारी (प्र-दिशः) मध्य दिशा (दिश.च) और दिशाओं तक (परि-इत्य) पहुँच कर (ऋत) ऋत की (प्रथम-जाम्) प्रथम उत्पन्न हुई को (उप-स्थाय) पकड कर (आत्मना) अपने आप (आत्मानम् अभि) अपनेमें (सं-विवेश) संप्रविष्ट हुआ।

यह अग्नि सब लोकोंमें है। उत्पन्न और सूक्ष्म सबके भीतर व्यापक हो रहा है। प्रकृतिसे उत्पन्न प्रथम कार्य महत्तत्त्वमें भी है। उसने अपनेको सबके भीतर प्रविष्ट कराया है। वह अपनी सत्तासे अपने भीतर भी है। अग्निसे अग्नि उत्पन्न हुआ और वह अग्निमें स्थिर होकर अग्निमें ही समाविष्ट होग.।

यहां 'आत्मना आत्मानम्' का अर्थ 'अपने आप अपने भीतर' है।

ऋषि दयानन्दने 'आत्मना स्वस्वरूपेणाऽन्तः करणेन च' अर्थात् 'अपने स्वरूप और अन्तःकरणसे' ऐसा अर्थ किया है।

निरुक्तने आत्माकी व्याख्या इस प्रकार दी है—

आत्माऽततेर्वा, आप्तेर्वा, अपि वा आप्त इव
स्याद् व्याप्ती भूत इति ॥

(निरु० ३।१५)

जो सतत वर्तमान रहता है उसका नाम आत्मा है। अथवा जो व्याप लेता है उसका नाम आत्मा है। अथवा जो सबको व्यापे रहता है उसका नाम आत्मा है।

उपनिषदोंमें आत्माका वर्णन दो प्रकारसे मिलता है। व्यापकका नाम आत्मा और व्याप्यका नाम शरीर है जैसे-

तस्माद्वा एतस्मादन्नरसमयाद् अन्योऽन्तर आत्मा प्राण-

मयः। तेनैष पूर्णः। स वा एष पुरुषविध एव। तस्य पुरुषविधताम्। अन्वयं पुरुषविधः। तस्य प्राण एव शिरः। व्यानो दक्षिणः पक्षः। अपान उत्तरः पक्षः। आकाश आत्मा। .. ॥ २ ॥
तस्माद् वा एतस्मात प्राणमयात्। अन्योऽन्तर आत्मा मनोमयः। तेनैष पूर्णः। स वा एष पुरुषविध एव। ... . तस्य यजुरेव शिर.। ऋग् दक्षिणः पक्षः सामोत्तर पक्षः। आदेश आत्मा। अथर्वाङ्गिरसः पुच्छं प्रतिष्ठा। तदप्येष श्लोको भवति ॥ ३ ॥
यतो वाचो निवर्तन्ते। अप्राप्य मनसा सह। आनन्दं ब्रह्मणो विद्वान्। न बिभेति कदाचनेति ... ॥ ४ ॥

तैत्तिरीय० ब्रह्मानन्द वल्ली ॥

इस प्रकरणमें अन्न, प्राण, मन, विज्ञान और आनन्द इन पांच कोशोंकी व्याख्या है। शारीर आत्मा और अन्तर आत्मा, ये दो आत्मा हैं। रेतस्से पुरुष अर्थात् इस स्थूल शरीरकी उत्पत्ति होती है। जैसे इस अन्नरसमय शरीरके अङ्ग-प्रत्यङ्ग हैं वैसे प्राण-मन-आदि शरीरोंके भी। अन्नशरीरका आत्मा प्राण और प्राण शरीरका अन्तरआत्मा मन है। इसी प्रकार आनन्द पर्यन्त चले जाइये। इसी प्रकार अन्तर्यामी प्रकरणमें भी व्यापकको आत्मा और व्याप्यको शरीरके रूपमें दर्शाया है।

दूसरा वर्णन अपने आपको आत्मा मानकर किया है। शरीरसे इंद्रिय, इंद्रियसे विषय, विषयसे मन, मनसे बुद्धि, बुद्धिसे महान् आत्मा (महत्तत्व), महान् आत्मासे अव्यक्त (प्रकृति) और अव्यक्तसे पुरुष (आत्मा) श्रेष्ठ (सूक्ष्म) है। यही कर्ता और भोक्ता है। अपना यही वास्तव रूप होनेसे इसी पुरुषको वास्तवमें आत्मा कहते हैं। जैसे--

इंद्रियाणां पृथग्भावमुदयास्तमयौ च यत्।
पृथगुत्पद्यमानानां मत्वा धीरो न शोचति ॥ ६ ॥
इंद्रियेभ्यः परं मनो मनसः सत्त्वमुत्तमम्।
सत्त्वादधि महानात्मा महतोऽव्यक्तमुत्तमम् ॥७॥
अव्यक्तात्तु परः पुरुषो व्यापकोऽलिङ्ग एव च।
यज्ज्ञात्वा मुच्यते जन्तुरमृतत्वं च गच्छति ॥८॥

(कठोपनि० २।६)

इन्द्रियेभ्यः परा ह्यर्था अर्थेभ्यश्च परं मनः।
मनसस्तु परा बुद्धिर्बुद्धेरात्मा महान् परः ॥ १० ॥
महतः परमव्यक्तमव्यक्तात् पुरुषः परः।
पुरुषान्न परं किञ्चित्सा काष्ठा सा परा गतिः ११
आत्मानं रथिनं विद्धि शरीर रथमेव तु।
बुद्धिन्तु सारथिं विद्धि मनः प्रग्रहमेव च ॥ ३ ॥
इन्द्रियाणि हयानाहुर्विषयांस्तेषु गोचरान्।
आत्मेन्द्रियमनोयुक्तं भोक्तेत्याहुर्मनीषिणः ॥ ४ ॥

(कठ० १।३)

आत्मा केवल (अकेला) भोक्ता नहीं है मन और इन्द्रिय के साथ मिलकर भोक्ता बनता है। शरीरसे संयुक्त होनेपर शरीरको अपना रूप, मनकी अवस्थामें जानेपर मनको और कैवल्य दशामें अकेलेको अपना रूप समझता है। इसी आत्माको समझनेकी ओर उपनिषदोंका संकेत है।

आत्माका अर्थ 'अपना रूप' मान लेनेपर 'शरीर' या 'शरीरान्तर्गत जीव' दोनों अर्थ ग्रहण करनेमें सुगमता होगी। दूसरे, आत्माका अर्थ केवल जीव या परमेश्वर समझनेसे वेदार्थ करनेमें जो भयङ्कर भूल हुई है और होती है, वह न होगी। वेदका सत्यार्थ समझने पर पदार्थोंके गुण, धर्म और स्वरूप समझनेमें सुविधा होगी।

आज वेदका अर्थ कई अंशोंमें प्रत्यक्ष और तर्कसे संगत नहीं दिखाई देता। आत्मा विभु है तो उसमें सर्वज्ञता भी होनी चाहिये; परन्तु उसमें सर्वज्ञता सर्वकर्तृत्व प्रत्यक्षके विरुद्ध है। यदि वेदमें आत्माको विभु, सर्वज्ञ और सर्व-कर्त्ता कहा हो तो इसका प्रत्यक्षसे मेल कराना होगा। शास्त्रों ने वेदके अदृष्ट पदार्थोंको युक्ति-प्रमाणसे समझानेका प्रयत्न किया है। वेदार्थोंको विपरीत दिशामें ले जाकर युक्ति-वादियोंको धिक्कारनेकी अपेक्षा शास्त्र-शुद्ध अर्थ करना कहीं अधिक उत्तम है।

अध्यात्म-वादके प्रबल प्रचारने आत्माका अर्थ एकाङ्गी कर दिया है, इस कारणसे इसका मुख्यार्थ जनताके समक्ष उपस्थित करना, मैंने अपना कर्तव्य समझा।

मैंने वेदके आत्माका पूर्ण निर्वचन कर दिया हो, ऐसा न समझिये, यह तो उस दिशामें संकेत है। इस संकेतको ध्यान-में रखकर चलनेवाले वेद-यात्री मार्ग नहीं भूलेंगे। इति।

घरेलू तेल+

(लेखक- पं० ऋभुदेवशर्मा, ' साहित्याऽऽयुर्वेदभूषण, ' चप्पल बाजार, दक्षिण हैद्राबाद.)

हमारे आचार-व्यवहार खान-पान स्वकल्पित नहीं है वे किसी धर्म-शास्त्र या आयुर्वेदशास्त्रद्वाराही हमारे घर या जीवनमें प्रविष्ट हुए है। अब वे परम्परया आगेकी पीढियोंमें चलते जा रहे हैं। हमारा नैत्यिक भोजन ओषधि-संग्रह है। स्नान और अभ्यङ्ग भी शरीर-रक्षार्थ चिकित्सा हैं। ध्यान और प्राणायाम यम-नियमादि सभी हमारे मानसिक तथा शारीरिक रोगोंके निवारणार्थ हैं।

हमारे भोजनमें स्नेह (चिकने पदार्थ) का होना अत्यन्त आवश्यक है। स्नेहका विरोधी रूक्ष पदार्थ है। गीतामें सात्त्विक, राजस और तामस तीन प्रकारके आहारोंमें स्निग्ध और रूक्ष यथा स्थान कहे गये हैं। जैसे-

आयुःसत्त्वबलारोग्य सुखप्रीतिविवर्धनाः।
रस्या. 'स्निग्धाः' स्थिरा हृद्या आहारा. सात्त्विकप्रियाः॥८॥
कट्वम्ललवणात्युष्णतीक्ष्णरूक्षविदाहिनः।
आहारा राजसस्येष्टा दुःखशोकामयप्रदाः ॥९॥
यातयामं गतरसं पूति पर्युषितं च यत्।
उच्छिष्टमपि चामेध्यं भोजनं तामसप्रियम् ॥१०॥
(गी० १७॥)

अर्थ- आयु, बुद्धि, बल, आरोग्य, सुख और प्रीतिको बढाने वाले, रसयुक्त, स्निग्ध (चिकने पदार्थ घी, तैल आदि), स्थिर रहनेवाले और स्वभावसे ही मनको प्रिय, ऐसे आहार अर्थात् भोजनके पदार्थ सात्त्विक लोगोको प्रिय होते है ॥८॥ कडुवे, खट्टे, नमकीन, अति गर्म, तीक्ष्ण रूक्ष (रूखे), दाह उत्पन्न करने-वाले दुःख, शोक और रोगकारक आहार राजसपुरुषको प्रिय होते है ॥९॥ सडा हुआ, रस-रहित, दुर्गन्धयुक्त, बासी जूठा और अपवित्र भोजन तामसजनोंको प्रिय है। स्नेहकी उत्पत्तिके विषयमें महर्षि चरक कहते है -

" स्नेहानां द्विविधा चाऽसौ योनिः स्थावरजङ्गमा ॥९॥
तिलः पियालाभिषुकौ बिभीतकश्-
चित्राभयैरण्डमधूकसर्षपाः।
कुसुम्भबिल्वारुकमूलकातसी-
निकोठकाक्षोडकरंजशिग्रुका ॥ १० ॥
स्नेहाशयाः स्थावरसंज्ञितास्तथा
स्युर्जङ्गमा मत्स्यमृगाः सपक्षिणः।
तेषां दधिक्षीरघृतामिषं वसा
स्नेहेषु मज्जा च तथोपदिश्यते ॥११॥
सर्वेषां तैलजातानां तिलतैलं विशिष्यते।
बलार्थे स्नेहने चाग्र्यमैरण्डं तु विरेचने ॥१२॥
सर्पिस्तैलं वसा मज्जा सर्वस्नेहोत्तमा मताः।
एष्वप्यश्चोत्तमं सर्पिः संस्कारस्यानुवर्तनात् ॥१३॥
(चरक सूत्रस्थान। अध्याय १३)

स्नेहके पदार्थ दो प्रकारके है (१) स्थावर और (२) जंगम ॥ ९ ॥ तिल, पियाल (प्रियाल !), अभिषुक, बिभीतक (बहेडा), चित्रा (लाल एरण्ड,) अभया (हरड), एरण्ड, मधूक (महुआ), सर्षप (सरसो), कुसुम्भ, बिल्व, आरुक (आड), मूलक, अतसी, निकोठक (निकोचक !) अक्षोड (अक्षोट), करञ्ज और शिग्रुक (सहिंजन) ॥१०॥ ये स्नेह के स्थावर पदार्थ है। अब जंगम पदार्थोंका उपदेश किया जाता है- मत्स्य (मछली), मृग (पशु) पक्षी इनके दूध, दधि (दही), मांस, वसा और मज्जा ये स्नेहके काम आते है ॥११॥ सब तेलोंमें तिलका तैल विशिष्ट है। बल और शरीरमें स्नेहकी मात्रा बढानेके निमित्त उत्तम है। विरेचन (जुलाब) में एरण्डका तेल उत्तम है ॥१२॥ सारे स्नेहोंमें सर्पि (घी), तैल, वसा और मज्जा उत्तम माने गये है परन्तु संस्कारके साथ दूसरे पदार्थोंमें भी अनुगमन करनेसे सर्पि (घी) **इन सारे स्नेहोंमें उत्तम हैं** ॥१३॥

घृत सचमुच सर्वोत्तम स्नेह है। यही कारण है कि आर्य लोग भोजनमें विशेषतः घृतकाही प्रयोग करते हैं तेलका नहीं और ब्रह्मचारीको तैलाभ्यङ्गभी वर्जित है। शरीरपर घृत या नवनीत (मक्खन) की ही मालिश करते है। वसा और मज्जा

[+ गुजराती ' प्रस्थान ' के वर्ष १९ अङ्क ९ में ' आपणा तेलो ' शीर्षकसे श्री० बापालाल ग० वैद्यजीका एक लेख प्रकाशित हुआ है। वह पठनीय है, अतः सामान्य विवेचनके साथ वही लेख पाठकोंके समक्ष रख रहा हूं।]

स्नेह हैं अवश्य, परन्तु घृणित होनेके कारण आर्य लोग इनसे दूर ही रहते हैं।

तेल वात-नाशक है वैसे घृत भी। यथा- 'घृतं पित्तानिलहरम्॥' (च० सू० १३।१४) घृत पित्त और वायुका नाशक है। परन्तु तैल भी हमारे लिये बहुत उपयोगी है। चर्मरोगोंमें उसका सर्वत्र प्रयोग होता है। तेल पीने और शरीर पर लगानेके काममें आता है। तेलके पीनेका समय वर्षा-ऋतु है। यथा-

सर्पिः शरदि पातव्यं, वसा मज्जा च माधवे।
तैलं प्रावृषि, नात्युष्णशीते स्नेहं पिबेन्नरः॥
(चर० सू० १३।१८)

शरद् ऋतुमें घृत, चैत्र-वैशाखमें वसा और मज्जा, आषाढ-श्रावण में तैल पीना चाहिये। अति-उष्ण और अति-शीत कालमें स्नेहका प्रयोग नहीं करना चाहिये॥ १८॥

किन-किन तेलोंके क्या-गुणदोष है? वे आगे दिखाये जाते है-]

मारुतघ्नं, न च श्लेष्मवर्धनं बलवर्धनम्।
त्वच्यमुष्णं स्थिरकरं तैलं योनिविशोधनम्॥
(चर०सू०१३।१५॥)

तेल वायु-नाशक है और कफका वर्धक नहीं है (साधारण-रीतिसे जो द्रव्य वायुका नाश करनेवाला होता है, वह कफका बढानेवाला गिना जाता है और कफका नाशक द्रव्य वायु-वर्धक गिना जाता है), बलका बढाने वाला है, चर्मके लिये सर्वोत्तम है, उष्ण है, शरीरको स्थिरता देनेवाला है, और योनि रोगोंमें शोधनका काम करने वाला है।

तैलं त्वाग्नेयमुष्णं तीक्ष्णं मधुरं मधुरविपाकं बृंहणं प्रीणनं व्यवायि सूक्ष्मं विशदं गुरु सरं विकासि वृष्यं त्वक्प्रसादनं+ शोधनं मेधामार्दवमांसस्थैर्यवर्णबलकरं चक्षुष्यं× बद्धमूत्रं लेखनं तिक्तकषायानुरसं पाचनम्-

---

+अष्टाङ्गहृदयमें, तेलके गुणोंमें "त्वग्दोषकृत्" ऐसा पाठ है। देखिये १९३९ में प्रसिद्ध हुई हरिशास्त्री पराडकर संपादित आवृत्ति पृ० ७७। इस प्रति की टिप्पणी में "त्वग्दोषहृदचक्षुष्यम्" इति शिवदासो द्रव्यगुणसंग्रहटीकायाम्।" ऐसा पाठ दिखाया है। इस पाठका अर्थ इस प्रकार होता है कि वाग्भटके मतानुसार तेल- चर्मरोगोंका जन्म-दाता है। शिवदासके पाठमें तेलको 'त्वग्दोषहृत्'- चर्मरोगोंके हरनेवालेके रूपमें वर्णन किया गया है। 'त्वग्दोषकृत्' के दो अर्थ हो सकते हैं (१) चर्म-रोग-कारक और (२) "अथवा त्वग्दोषान् कृन्तति-छिनत्ति, 'कृती छेदने' इत्यस्य धातोरयं प्रयोगः" इतीन्दुचन्द्र-नन्दनौ। (पराडकर शास्त्रीवाली अष्टाग-हृदयकी प्रतिकी टिप्पणीसे)- चमडीके दोषोंको काट छोडता है- ये दो अर्थ हो। परन्तु चर्मरोगकारक यह अर्थ किसीभी ग्रंथकारने किया जान नहीं पडता। इसलिये **त्वग्दोषकृत्** का अर्थ चर्मरोगहारक करना ही योग्य है।

×सुश्रुतके प्रमाणसे तेल चक्षुष्य है जब कि वाग्भटके मतमें 'अचक्षुष्य' है, अर्थात् आखोंके लिये अहितकर है। जो उष्ण अथवा उष्णवीर्य द्रव्य है वह बहुत अचक्षुष्य गिना जाता है परन्तु तेल का विपाक मधुर होनेसे वह चक्षुष्य प्रभाव उत्पन्न कर सकता है। इस प्रकार यह (सुश्रुत और वाग्भट) के बीच दृष्ट विरोध हट सकता है। परन्तु हेमाद्रिप्रणीत आयुर्वेदरसायन नामकी टीकामें इस विरोधका निर्णय इस प्रकार किया गया है।- **त्वग्दोषकरत्वं अचक्षुष्यत्वं चाभ्यवहारे। त्वक्प्रसादनत्वं चक्षुष्यत्वं च अभ्यङ्गे।** तेल खानेमें त्वग्दोषकारक और आखके लिये अचक्षुष्य है जब कि अभ्यङ्गसे तैल त्वकमें प्रसाद लानेवाला और चक्षुष्य है। विचक्षण टीकाकारने इस प्रकार यह विरोध टाल दिया है। तेल अभ्यङ्गसे बहुत ही लाभदायक है, **अभ्यङ्गे गुणवर्धनम्** श्वित्रकुष्टमें तेलके साथ चित्रकका प्रयोग वाग्भटने दिया है, वह ध्यान देने योग्य है। **कफकृच्च** तेल कफकारक है- यह वाग्भटका मत **न च श्लेष्मवर्धनम्** 'तेल कफका बढानेहारा नहीं' चरकके इस वाक्यके साथ असगत लगता है। वैद्यवर केशवरचित **सिद्धमन्त्रमें वातघ्नमकफं पित्तकरं तैलं तिलोद्भवम्** तिलका तेल वातनाशक, कफ न उत्पन्न करनेवाला और पित्तकर है। इस विद्वानने द्रव्योंकी गुणदोषकी जो मार्मिक समीक्षा की है वह ध्यान देने योग्य है। आगे चलकर इस विद्वानने तेलको श्लेष्मोदासीन कहा है। उदासीनका अर्थ **वातघ्नं पित्तकृत् श्लेष्मोदासीनम्** तेल कफकारक नहीं, वैसे ही कफ शरीरमें वर्तमान हो तो बढाताभी नहीं। सामान्य रीतिसे समाजमें यह धारणा है कि तेल कफोत्पादक है। तिलका स्वच्छ तेल कफकारक नहीं है यह ऊपर देखना चाहिये। यह बहुत बडी भ्रान्तधारणा लोकमें प्रचलित है। तिलमें कषाय कटु, तिक्त और मधुर-ये चार रस हैं। ये चारों रस यदि बराबर (प्रकृतिसमसमवाय) सदृश प्रमाणमें हों तो तिल त्रिदोषघ्न हो परन्तु ये विषम समवेत रूपसे रहते हैं अतः यह त्रिदोषघ्न नहीं पित्तकफकर है।

निलबलासक्षयकरं क्रिमिघ्नमशितपित्तजननं योनिशिरः कर्णशूलप्रशमनं गर्भाशयशोधनं च, तथा छिन्न-भिन्न विद्धोत्पिष्टच्युतमथित क्षत-पिच्चित भग्न-स्फुटित क्षाराग्निदग्धविश्लिष्ट दारिताभिहत दुर्भग्न मृग व्याल विदष्ट प्रभृतिषु च परिषेकाभ्यङ्गावगाहादिषु तिलतैलं प्रशस्यते ॥११२॥

तद्बस्तिषु च पानेषु नस्ये कर्णाक्षिपूरणे ।
अन्नपानविधौ चापि प्रयोज्यं वातशान्तये ॥११३॥
(सुश्रुत० सूत्र० अ० ४५)

तिलका तेल स्वाभाविक उष्ण, तीक्ष्ण, मधुर, विपाकमें मधुर, धातुपुष्टिकर, चित्तको प्रसन्न रखनेवाला, व्यवायि (**अपक्वमेव सकलदेहव्यापकम्**– चक्रपाणिदत्तकी भानुमती व्याख्या) अर्थात् अपक्वदशामे ही देहमें शीघ्र व्याप जानेवाला, सूक्ष्म (सूक्ष्मस्रोतोगामि), विशद, गुरु, सर (रेचक), विकासि (प्रसरणशीलत्वं वा स्रोतोविकासकारित्वम्) अर्थात् सारे ही शरीरमें प्रसर जानेवाला अथवा स्रोतोंके मुखका विकास करनेवाला, वृष्य (धातुपुष्टिकर अथवा टॉनिक), त्वक्प्रसादनकृत् अर्थात् चर्मको स्वच्छ और नर्म रखनेहारा, बुद्धिवर्धक, मांसको पुष्ट करनेवाला, शरीरको स्थिरता देनेवाला (कठिन देहवालेको तेल मृदुता देता और ढिल-मिल शरीरमें स्थिरता बढाता है,) शरीरका रंग सुधारनेवाला, बल बढानेवाला, आँखके लिये हितकर (नाकमें तेल डालनेसे आँखको लाभ होता है, यहाँ आँखमें तेल डालनेकी सूचना नहीं है), मूत्रकी अधिकताको रोकनेवाला (रात्रिमें नींदमें बच्चा मूत्र करे तो उसे तेल पिलाना हितकर है), बढे हुए मेदको घटानेवाला (सूखकर लकडी बने हुए मनुष्यको जो तेल हृष्ट-पुष्ट बनाता है वही तेल बढे हुए मेद-चर्बीको घटाता है), ꙮ तिक्त और कषाय रसवाला, अन्न पचनेमें सहायक, वातयुक्त कफका नाशक, वातकास नाशक, कृमिघ्न (बालकके पेटमें कृमि पडी हो तो तेल खिलाना हितकर है) शरीरको हल्का करनेवाला (चरकमें लिखा है कि मनुष्य बल, पतलापन और हल्कापन की इच्छा रखता हो तो उसके लिये तेल उत्तम भोजन है), पित्तकारक (उष्णगुणवाला होनेसे तेल पित्तल है), गर्मतेलका फाहा भीतर रखनेसे योनिशूलनाशक, शिरकी पीडा हटानेवाला, गर्मतेलकी बूँद कानमें डालनेसे कर्णशूल मिटाने वाला, गर्भाशयका शोधक, छिन्न (कटे हुए) अङ्गपर पका हुआ तेल उसे भर देनेवाला, भाला आदिके घावको मिटानेवाला (बाह्य अंगोंपर लगानेके लिये तेल को उबाल कर ठंडा कर लेना चाहिये), बाण आदि निकालने पर तेलका प्रयोग लाभकारक, हड्डी चूर्ण होने-इधर-उधर होने-घुसने-भङ्ग होने-बाहर दीख पडने-फटने आदि अवस्थाओंमें हितावह, क्षार और अग्निसे दग्ध होनेपर कष्टनाशक, टेढी हुई हड्डीको सीधी करनेवाला, ऊँचेसे गिरनेपर सारे शरीर में उत्पन्न पीडाको शान्त करनेवाला है । थोडेमें यह कहना चाहिये कि तेलके परिषेक* (लगाने), मलने ꙮ और चुपडने पीने आदिसे रोग दूर होता है । छिन्न भिन्न होने आदि अवस्थाओंमें तिल का तेल उत्तम है ॥११२॥

तिलका तेल बस्ति, पान, नस्य (नाकमें डालने), कान और आँखमें डालने, खाने-पीने आदि अनेक कार्योंमें काम आता है । वायुके रोगोंमें वातशान्तिके लिये इसका प्रयोग हितावह है । तेल परम वातहर है । (सुश्रुत) एक औंस तिलमें ५.१० ग्राम प्रोटिन है, ११ २६ ग्राम स्नेह है, ७.७० ग्राम कर्बोदित है । १ औंस तिल १६० केलोरी देता है । एक औंस तिलमें ४०८ २ मिलिग्राम कॅल्सीयम्, १६२.० मिलीग्राम फस्फोरस और २.९९ मिलीग्राम लोहा है । १०० ग्राम तिलमें १.४५३ ग्राम कलिसयम है । विविध खाद्य-पदार्थोंमें कितना×

ꙮ अष्टाङ्गहृदयके टीकाकार अरुणदत्त और हेमाद्रि दोनोंने, एकही द्रव्य कर्षणत्व और बृंहणत्व विरोधी कार्य एक साथ कैसे कर सकते है यह सारा स्पष्ट किया है । कृश मनुष्यका स्रोत सदा संकुचित रहता है जो तेलके तीक्ष्णादि गुणोंसे सत्वर विकसित होकर तेलको अन्दर प्रविष्ट कराता है और इस प्रकार पुष्टि करता है । स्थूल मनुष्योंके स्रोतोंमें तेल (सूक्ष्मस्रोतोगामि) सत्वर अन्तःप्रवेश कर तीक्ष्णादि गुणोंसे मेदको घटाता और शरीरको कृश बनाता है । **अतिस्थूलशरीरो यः तिलतैलं प्रगे पिबेत् ॥** (वैद्यमनोरमा)

ꙮ " अत्र यद्यपि तैलमुष्णं घृतं च शीतलं, शीतं च दाहप्रशमने प्रशस्तं, तथाऽपि सूक्ष्ममार्गानुसारितया व्यवायितया तथा स्पर्शेन अधिकवातहरतया तैलमेवाऽभ्यङ्गप्रस्तावे चन्दनाद्यं कृतं न घृतम् । " (चरकटीकाकार चक्रपाणिदत्त) अर्थात् अभ्यङ्गमें तेल उष्ण और सूक्ष्मस्रोतोगामी होनेसे घृतसे अधिक मूल्यवान् है ।

× डॉ० म्हस्करकृत " आहार आणि शरीरपोषण " से ।

कल्सियम है यह दिखानेवाले टेबलमें एक तिलही ऐसा खाद्य पदार्थ है कि जिसमें कॅल्सियम, प्रोटिन, स्नेह, कर्बोदित, फास्फोरस, लोह और केरोटीन अच्छे प्रमाणमें हैं। इतने 'ए' खाद्य-प्राण हैं। इनमें तिल बहुमूल्य खाद्य-पदार्थ है यह निःसंशय बात हैं। चरक और सुश्रुतके अभिप्रायके साथ आधुनिकोंका यह पृथक्करण भी समान ही है- तिल पुष्टिकारक है, हड्डीको दृढता देनेवाला है, चर्म दांत और बालको अच्छा और सुदृढ रखनेवाला है। तिलमें कॅल्सियमका इतना अच्छा प्रमाण देख करही वाग्भटने उसे रसायन-प्रयोगमें स्थान प्रदान किया है-

दिने दिने कृष्णतिलप्रकुञ्चं, समश्नतां शीतजलानुपानम्।
पोषः शरीरस्य भवत्यनल्पो दृढीभवन्त्यामरणाच्च दन्ताः॥

(अष्टाङ्गहृदयम्, उत्तरतन्त्र अ० ३९)

जो मनुष्य प्रतिदिन अपने हाथकी एक अंजलि भरकर काला तिल अच्छे प्रकार चबाकर खायेगा और ऊपर ठंडा पानी पीयेगा, उसका शरीर बहुत पुष्ट और मरणपर्यन्त दात पत्थर-समान सुदृढ रहेंगे।

पायोरियाके इस कालमें उपर्युक्त प्रयोग मैंने बहुत लोगोंसे कराया। किसीने लगभग एक दो बर्ष तक यह प्रयोग किया है और किसीने दो-तीन मास। सबकी वह लाभ अवश्य हुआ है। दिनचर्याके विभाग-रूपसे सदा मुखमें तैल गंडूष करनेके लिये आयुर्वेदके पुस्तकोंमें विधान है। तैल-गंडूष (कुल्लेमें) सदा नवटंक तेल निकालने जितना व्यय होता है जब कि इस चबा कर खाये तिलसे दाँतका व्यायाम होता और दांतरूपी घाणीमें पेरकर तयार तेल पेटमें जाता है। इस प्रकार दाँतको चाभनेका श्रम मिलता और चाभनेकी क्रियामें सूक्ष्मसे सूक्ष्म नाडियोंमें तेलका प्रवेश होता है। अम्लजीवाणुओं (Acid Bacteria) का नाश होता है (तेल क्रिमिघ्न है यह ऊपर ज्ञातही हो गया है), तेलसे शरीरके धातु पोषित होते हैं, शरीर हृष्ट-पुष्ट बनता है। इस प्रकार अधिक लाभ इस प्रयोगसे होता है।

चाय पीनेके इस युगमें प्रातःकालमें सब कोई तिलका यह सादा, परन्तु चमत्कारिक प्रयोग करके दाँतकी रक्षा करें और शरीरमें बल संचय करे, यह मेरी सदा इच्छा है। 'यः क्रियावान् स पण्डित.' ज्ञान हो और क्रियामें न आवे तो उसका उपयोग क्या? यह साधारण प्रयोग, अनेक आपदाओंमें से बचा सके, ऐसा अमूल्य है। एक वर्ष दो वर्ष-जीवन भर करे तो अधि-कस्य अधिकं फलम् - अनुभव करके देखिये और अपना अनुभव लिख कर बतायेंगे तो मैं आपका ऋणी हूँगा।

एक दूसरा रसायन-प्रयोग देखिये-

सार्धं तिलैरामलकानि कृष्णै अक्षाणि संक्षुद्य हरीतकीर्वा।
येऽश्नुर्मयूरा इव ते मनुष्याः रम्यं परिणाममवाप्नुवन्ति॥

काला तिलके साथ आंवला, बहेडा या हरडोंका चूर्ण जो पुरुष प्रतिदिन सेवन करता है वह पुरुष मोर सदृश सुन्दर शरीर प्राप्त कर सकता है।

तेलके साथ अश्वगन्धा (असगन्ध) का सेवन पन्दरह दिवस तक करनेसे कृश शरीरकी पुष्टि होती है जैसे सुवृष्टिसे लघुवृक्षोंकी। आयुर्वेदज्ञोंने कृष्णतिल-कालातिलको पथ्यतम-शरीरके लिये उत्तम-गिना है।

कृष्णः पथ्यतमः सितोऽल्पगुणदः क्षीणास्तथाऽन्ये तिलाः॥

(राजनिघंटु)

अर्थात् काला तिल श्रेष्ठ है, श्वेत तिल गुणमें कम है और दूसरे निकृष्ट हैं। मैं राजनिघण्टुका यह सम्पूर्ण श्लोक देनेका लोभ रोक नहीं सकता-

स्निग्धो वर्णबलाग्निवृद्धिजननः स्तन्यानिलघ्नो गुरुः,
सोष्णः पित्तकरोऽल्पमूत्रकरणः केश्योऽतिपथ्यो व्रणे।
संग्राही मधुरः कषायसहितः तिक्तो विपाके कटुः॥
कृष्णः पथ्यतमः सितोऽल्पगुणदः क्षीणास्तथान्ये तिलाः॥

तिल स्निग्ध (रूक्षसे विपरीत) है, वर्ण, बल, जठराग्निकी वृद्धि करनेवाला है, स्त्रियोंका स्तन बढानेवाला, वायु-नाशक, पचनेमें भारी, गर्म, पित्तकारक, मूत्रको कम करनेवाला, बाल बढानेवाला, घावमें हितकर (तिलकी लुगदी बाँधनेसे किसी प्रकारकाभी व्रण शीघ्र रुझने लगता है), संग्रहणीमें तिल या तेल देनेसे वह मलको रोकता है, तिलका रस मधुर और कषाय है, विपाक कटु है, काला तिल उत्तम और सुफेद तिल गुणमें कम है।

तिलकी खोल (खली)- तिलपिण्याक-पशुओंके खिलानेमें आती है। आजकल यह खोल-मुंगफलीका विशेषकर-पेटेंट फुड बनवानेके काममें आती है। रासायनिक रीत्या इसका गन्ध और रंग निकाल कर फिर इसका उपयोग किया जाता है। तिलकी खोलकाभी इस रीतिसे उपयोग होता हो तो नवीनता नहीं है। इस तिलके खोलकी बनावट वात, पित्त, कफ तीनों दोषोंको उत्पन्न करनेवाली है। सिद्ध मन्त्र में-

.... दोषत्रयकरं तथा ।
तिलपिण्याकविकृतिः शुष्कशाकवदादिशेत् ॥

तिलके खोलकी बनावट (बनाया हुआ पदार्थ) खानेसे वात-पित्त-कफ तीनों दोष कुपित होते हैं । शुष्क शाकके समान इस तिलके खोलसे (छिलके या खलोंसे) बने पदार्थोंको समझना चाहिये ।

आजकल कुछ लोग ऑलिव ऑइलकी बखान करते हैं और बहुत मूल्य देकरभी वे पीते हैं, कारण कि उसके सेवनसे मल शुद्ध आता है और यह बलप्रद है । परंतु आजकल जितना ऑलिव आइल आता है वह अधिकांशमें शुद्ध मुंगफली तेल या तिलका ही तेल है । ऐसा डॉ० चोपडा कहते हैं (इंडीजनस ड्रग्ज)। पर, ऑलिव ऑइलसे ही मल शुद्ध उतरता है, ऐसा नहीं है । तिलके तेलका गुण भी ऐसाही है । तिलका तेल 'सर' – रेचक है । डॉ० चन्द्रभी कहते हैं कि—

" Sesame oil is bland, non-irritant, and a little laxative, neutral in reaction and said to be just as good as olive oil and keeps much better than it— "

ऑलिव ऑइलका, तिलका तेल, सुन्दर प्रतिनिधि है । तिलका तेल पीने, या शाक बन जानेपर कच्चा तेल उसमें डाल कर खानेसे स्निग्ध (Lubricating) और सारक प्रभाव दिखाता है । तिलका शुद्ध तेल अनेक दृष्टिसे मूल्यवान् खाद्य-पदार्थ है ।

वनस्पति तैलोंमें वन्ध्यत्व-निवारक विटामिन ' इ ' होता है । तिलके तेलमें भी यह है । परंतु विटामिनका नाम लिये विना चरकने वन्ध्या स्त्रियोंको, अमुक अमुक वातघ्न द्रव्यों (रास्नादि, मूलकादि, लशुनादि इत्यादि) से सिद्ध किये तेल पीनेकी सूचना की है। (चरक। चिकित्सास्थान अ० २८।१७३) देखिये-

तैलान्येतान्यृतुस्नातामङ्गनां पाययेत च ।
पीत्वाऽन्यतममेषां हि वन्ध्याऽपि जनयेत् सुतम् ॥

ऋतुस्नाता स्त्रीको ये वातघ्न तेल सदा पिलाने चाहिये । इनके सतत सेवनसे वन्ध्या भी पुत्र उत्पन्न कर सकेगी ।

नास्ति तैलात्परं किंचिदौषधं मारुतापहम् ।
व्यवाय्युष्णगुरुस्नेहात् संस्काराद् बलवत्तरम् ॥
(चर० चि० २८।१७६)

वातघ्न द्रव्यरूपसे तेलसे उत्तम दूसरा एक भी नहीं । तेल व्यवायि (देहमें सत्वर व्याप जानेवाला), उष्ण, गुरु और स्निग्ध है और संस्कारसे बलवत्तर बनता है ।

आयुर्वेदमें अनेक दारुण रोगोंमें बस्ति-प्रयोगका विधान है । बस्ति अर्धचिकित्सा कही जाती है । चरक-संहिताके सिद्धि-स्थानमें इस प्रकारकी अनेक सुन्दर बस्तियोंका उल्लेख है । प्रथम निरूह बस्ति देनेपर (!) अनुवासन बस्ति (स्नेहबस्ति) देनी होती है । आधुनिक लोग आज धीरे-धीरे बस्तिओंका विचार कर रहे हैं । परन्तु चरकके समयमें (ई. स. पूर्व) वात-रोग (लकवा आदि) में तैलबस्तियाँ प्रचुरमात्रामें बरती जाती थीं । गुदाकी शोषण शक्तिका उन्हें उत्तम ज्ञान था । पराशर कहते है–

मूलं गुदं शरीरस्य सिरास्तत्र प्रतिष्ठिताः ।
सर्वं शरीरं पुष्णन्ति मूर्धानं यावदाश्रिताः ॥

गुदा यह शरीरका मूल है । उसमें आई हुई अनेक शिराओं-द्वारा स्नेह सत्वर सोखा जाता है और गुदासे शिरतक शरीरका पोषण करता है ।

नाकमें तेलकी बूंद (नस्य) छोडनेसे अनेक प्रकारके मस्तकके रोग मिटानेवाला वैद्य भाग्यशाली होता है । आधुनिक लोग शनैः शनैः जानने लगे हैं कि नाककी श्लेष्मकला शरीरकी सम्पूर्ण श्लेष्मकलाओंमें अभिशोषक (Absorbable) है । कई दवाएं इंजेक्शनकी अपेक्षा नाकमें डालनेपर इन्जेक्शन समानही शीघ्र लाभ करती हैं । नस्यविधि और अनुवासन बस्ति ये दोनों द्वारा इन दोनों स्थानोंकी श्लेष्मकलाओं का उत्तम अभ्यास (ज्ञान) प्राचीनोंको था, ऐसा माननेमें अनुचित कुछ भी नहीं । श्लेष्मकलाओंके प्रपञ्चमें गये विना नस्य और बस्ति द्वारा दारुण रोग मिटानेवाले अपने पूर्वजोंके सूक्ष्म निरीक्षण पर हमें अभिमान होता है । असाध्य माने गये रोग अनुवासन, निरूह और उत्तर बस्तिओं द्वारा अवश्य अच्छे हो सकते हैं ऐसा हमारा विश्वास है । इसके लिये तो स्वतन्त्र हास्पिटल होने चाहिये । आज परदेशी ओषधियोंके पीछे जो करोडों रुपये व्यय हो रहे हैं और इनसे देह और मन पर जो बुरा प्रभाव इस परदेशी चिकित्सापद्धतिसे पड रहा है, उसके स्थान पर कोई दानी-हृदय, भारतीय-संस्कृति का उपासक सज्जन यदि पञ्चकर्म-चिकित्साके लिये स्वतन्त्र हास्पिटल खोलें तो समाजपर असीम उपकार हो । यदि यह

दिन शीघ्र आये तो अच्छा। अन्यथा आजकी गतानुगतिकता विवेकभ्रष्टताकी सूचक है, यह विवश कहना पडता है। मन और आत्माका विचार किये विना जो चिकित्सा हो रही है वह भयंकर हानिप्रद है, ऐसा कहनेमें मैं लेशमात्रभी अतिशयोक्ति नहीं करता। अस्तु।

गुदा-मार्गसे तैल-बस्ति देनेसे क्या क्या लाभ होते हैं, उन्हें देखिये-

न तैलदानात् परमस्ति किंचित्
द्रव्यं विशेषण समीरणार्ते ॥
स्नेहेन रौक्ष्यं लघुतां गुरुत्वात्
औष्ण्याच्च शैत्यं पवनस्य हत्वा ॥२८॥
तैलं ददात्याशुमनः प्रसादं,
वीर्यं बलं वर्णमथाऽग्निपुष्टिम्।
मूले निषिक्ते हि यथा द्रुमस्य,
नीलच्छदः कोमलपल्लवाग्र. ॥२९॥
काले महान् पुष्पफलप्रदश्च,
तथा नरः स्यादनुवासनेन।
अपत्यसन्तानविवृद्धकारी,
काले यशस्वी बहुकीर्तिमांश्च॥३०॥
(चरक। सि० स्था० अ० १)

वात-रोगके लिये तेलसे भिन्न दूसरा कोई द्रव्य उत्तम नहीं है। तेल स्नेहयुक्त होनेसे रूक्षताका नाशक है। गुरु (भारी) होनेसे शरीरकी लघुता (हल्कापन) दूर करता है ॥ तेल-वायु-नाशक होनेसे शीघ्र ही चित्तमे प्रसन्नता, वीर्य, बल, वर्ण और जठराऽग्निकी पुष्टि बढाता है। मूलमें जल देनेसे जिस प्रकार वृक्ष नील कोमल पत्तोंसे युक्त और समय पर पुष्प-फल देनेवाला बनता है, अनुवासनसे मनुष्यभी वैसे ही अपत्य-शृंखलाको बढानेवाला और समयपर यशस्वी और कीर्तिमान् होता है! अपत्य (संतति) से कीर्तिकी रक्षा होती है यह आशय है। यह कविकी भाषा नहीं है। इसमें लेश-मात्रभी अतिशयोक्ति नहीं है। थोडेमें तिलका तेल उत्तम वातघ्न है, अच्छा बल-कारक है, चर्मरोगके लिये अत्यन्त हितकर है (चमडी यह शरीरमें हृदयसे दूसरे नम्बरपर उपयोगी अवयव है, यह मैने अपने 'दिनचर्या' नामक पुस्तकमें बताया है। त्वचाके उपर तो कोई वैद्यकवि सुन्दर काव्य रच सकता है), तेल मेधा-बुद्धि और अग्नि-जठराग्निका बढानेवाला है। संयोगसंस्कारसे तेल सर्व रोगोंको नाशक है। तेलके प्रयोगसे प्राचीन कालमें राक्षस-दैत्याधिपति अतिबलसम्पन्न हुए थे।" (चरक-सूत्रस्थान अ०२७।२८३-२८४)

आज गुजरातमें तिलका तेल दुर्लभ हो गया है। करडी, राय,तिल, मुंगफली, कपास (बिनौला) दाल्डाका तेल यथेष्ट वर्ता जा रहा है। तिलकी वृद्धिके लिये सरकार, म्युन्सिपॅलिटी और लोकलबोर्ड आदिको ध्यान देना चाहिये और लोकमत जागरित करना चाहिये।

इस समय घी अच्छा नहीं मिलता। ऐसे समयमें तिलका स्वच्छ तेल खानेको मिले तो अच्छा है। तिलके तेलके विषयमें हमने विचार कर लिया, अब हमें दूसरे तेलोंके विषयमें थोडासा विचार करना है।

कपासका तेल- घी के अभावमें पूडी तलने या लड्डू आदि मिष्टान्न बनानेमें आजकल तेल यथेष्ट बर्ता जा रहा है। नवसारी के 'कॉटन सीड मिल' में रासायनिक रीत्या शुद्ध किया हुआ तेल बनता है। खानेकी दृष्टिसे तिलके तेलसे इसका स्थान नीचा है, थोडा कम है।

सरसों- सर्षप (सरसों, सरों) तेल गुजरातमें बहुत नहीं खाया जाता, परन्तु अन्यत्र बहुत बर्ता जाता है। बहुत लोग अँचारमें सरसोंके तेलका उपयोग करते है। सरसोंका तेल (Germicide) चर्मरोग और खुजलीको दूर करनेवाला, पचनमें लघु हल्का, कफमेद-वात--नाशक और कटु है।

(सुश्रुत सूत्र. अ० ४५।११७)

हाथीपॉंव (श्लीपद) रोगवालेको सरसोंका तेल पीनेका विधान सुश्रुत करता (सुश्रुत चि० अ० १९।६०)। कारण यह कि श्लीपद यह कफ और मेदकी व्याधि आयुर्वेदज्ञोंने मानी है। सरसोंका तेल कफ और मेदका नाश करता है। चरक चर्मरोगोंमें सरसोंके तेल खानेका उपदेश करते हैं।

वाग्भट सरसोंके तेलको कटु, उष्ण, तीक्ष्ण, कफ-शुक्र-वात-नाशक, पचनेमें हल्का, रक्त-पित्तका उत्पादक, कोठ (चमडीके ऊपरके चकत्ते) कुष्ठ (कोढ) हरस व्रण आदि बाह्य और आभ्यन्तर जन्तुओंका जीतनेवाला, कहते है।

राईका तेल- राई कफ और पित्तका नाशक, तीक्ष्ण, उष्ण, रक्त-पित्त-वर्धक, जठराग्निको प्रदीप्त करनेवाली, खुजली, चर्म-रोग, कोठ कृमि आदिका नाशक और अति तीक्ष्ण है। (भावमिश्र)॥

राई पित्तको मारनेवाली कही गई है वह भूल प्रतीत होती

है। पित्तके बदले 'कफवातघ्नी' चाहिये। यह अत्यन्त तीक्ष्ण है, अतः पित्तको करनेवाली है। राई वात और कफको मारनेवाली है। नरहरिकृत 'राजनिघण्टु' में—

राई कटु, तिक्त और उष्ण है। वायु, बरोल, शूल की नाशिका है। पित्त उत्पन्न करनेवाली है। दाह करनेवाली है। कफ, गुल्म और कृमि इन तीनोंका नाश करनेवाली है। जैसा सरसोंका गुण, वैसा राईका गुण भी समझना चाहिये। दोनों एकही वर्गकी वनस्पतियाँ है। दोनों सगी बहनें हैं।

राई श्वेत और काली— दो प्रकारकी होती है। काली राई में अधिक तेल (३० से ३५ तक) निकलता है, जबकि श्वेत राईमें थोडा (२० से २५) निकलता है। गुजरातमें सर्वत्र काली राई ही काममें आती है। इससे एक प्रकारका उडने वाला तेल (Volatile oil) - " Allyl isosulphocyanide " है जिससे राईके पीसने या रगडनेके समय आंखमेंसे पानी आता है। राईमें स्फटिकाकार- Crystalline-द्रव्य है और 'माईरोसीन' नामक फर्मेण्ट है। ६०अंश गर्म करनेसे राईके तेलमें से इस माईरोसीनका प्रभाव नष्ट हो जाता है और फिर तेल खाने योग्य हो जाता है। इस कारण राईका कच्चा तेल खाने योग्य नहीं। कच्चा तेल कटिशूल और वातजन्य शूल में मलनेके काम आता है। बंगालमें राईका तेल बहुत खाया जाता है पर उसमें दारूहीका बीज मिलाया जाता है। जिस कारण वहाँ Epedemic Dropsy- संक्रामक उदरशोथके रोगी अधिक देखनेमें आते हैं।

करडीका तेल- यह महाराष्ट्र प्रचलित नाम है। गुजरातमें इसे 'कुसुम्ब' कहते हैं। संस्कृत नाम 'कुसुम्भ' है। पहले इसके फूलमें से कुसुम्भ रंग निकाला जाता था और उसका बडा व्यापार चलता था। इसके कोमल पत्तेकी भाजी खाई जाती है।

सुश्रुतने इसका गुण निम्न प्रकार कहा है-

विपाके कटुकं तैलं कौसुम्भं सर्वदोषकृत्।
रक्तपित्तकरं तीक्ष्णमचक्षुष्यं विदाहि च।
(सुश्रुत। सू० स्था० ४५।११९)

कुसुम्भका तेल विपाकमें कटु है। वात पित्त और कफ सब दोषोंका उत्पादक है। रक्त और पित्तका विकार करनेवाला और तीक्ष्ण है। आँखके लिये हानिकारक (अचक्षुष्य) है। विदाहि (खट्टी डकार लानेवाला) है।

चरक कहता है कि करड (कुसुम्भ) का तेल रूक्ष, उष्ण, आम्ल, गुरु, पित्तकर और क्षारक है। राजनिघण्टुमें-

कुसुम्भतैलं कृमिहारि तेजोबलावहं यक्ष्ममलापहं च।
त्रिदोषकृत् दृष्टिबलक्षयं च करोति, कण्डूं च करोति दृष्टेः॥

कुसुम्भका तेल कृमिघ्न है। शरीरका बल और तेज दोनों हरनेवाला है। यक्ष्मा और मलका उत्पादक है। त्रिदोष-वात पित्त, कफ-का कर्ता और आँखके बलका नाशक है। आँखमें खुजली उत्पन्न करता है। यही लेखक करडीकी भाजीको 'दृष्टिप्रसादं कुरुते' आँखके लिये हितकर गिनाता है। यह पत्तेके शाक और बीजके तेलमें अन्तर बता रहा है, यह ध्यानमें रखना चाहिये।

गुजरातमें तिलके तेलमें मुंगफली, करडी (कुसुम्भ) आदि का तेल मिलाते है। करडी (कुसुम्भ) का तेल आँखके लिए हानिकर है, तेज और बलका भी हास करता है, अत: उसे न खानाही ही अच्छा है।

दीवेल— (एरण्ड) तिलके तेलके पश्चात् प्रधान दृष्टिसे दीवेल (एरण्ड) का स्थान आता है, यहाँ इसकी विशेषता बतानी बस है। दीवेल सामान्य रीतिसे खानेके काममें नहीं आता। परन्तु इस देशमें कई समय दीवेलके साथ भाकरी (एक प्रकारकी रोटी) बनाकर खानेकी प्रथा है।

सुश्रुत कहता है कि—

" दीवेल (एरण्ड तेल) मधुर, उष्ण, तीक्ष्ण, दीपन, कटु और पीछे सहज कषाय रसवाला, सूक्ष्म स्रोतोंमें फैलनेवाला, स्रोतशोधनेवाला, चर्मको अच्छा रखनेवाला, (त्वच्य) अर्थात् चमडीके लिये हितकर टॉनिक, विपाकमें मधुर, वयःस्थापन (लम्बे कालतक तारुण्यको स्थिर रखनेवाला), योनिदोष अथवा पुरुषके वीर्यदोषको शोधनेवाला, आरोग्य, मेधा, शान्ति, स्मृति और बलका दाता, वायु और कफका हन्ता और अधोभाग दोषहर-विरेचनकारक हैं।" (सुश्रु० सू० स्था० अ० ४५।११४)

राजवल्लभ कहते है कि दीवेल कफवर्धक है, वातरक्त(गाउट), गुल्म, हृद्रोग (हार्ट डिसीज) और जीर्णज्वरका नाशक है।

महुवे का तेल- महुएके तेलको पंचमहालकी ओर 'डोलीयुं' कहते हैं। महुवेका संस्कृत नाम मधूक (मधुक) और इसके तेलका नाम मधुक तैल है। यह डोलीयुं अच्छा शुद्ध हो तो घृतकी भांति निर्धन लोग इसे खाते हैं। यह रसमें मधुर कषाय है। कफ और पित्तको प्रशान्त करनेवाला है।

(शेष भाग कवर पृष्ठ ३ पर देखें)

करते हैं। इस आंतरिक कसौटीपर उतरनेवाले प्रमाण-ज्ञानको स्पिनोझाने 'पर्याप्त' यह संज्ञा दी है, जिससे प्रथम या बाह्य कसौटीवाले सत्यज्ञानकी व्यावृत्ति हो जाती है। "पर्याप्त कल्पनासे मुझे वह कल्पना अभिप्रेत है जिसमें स्वविषय (कल्पना विषय) निरपेक्ष स्वरूपतः ही सत्यज्ञानके समस्त गुणधर्म या अंतर्वर्ती लक्षण होते हैं। मैं कहता हूं कि अंतर्वर्ती ताकि कल्पना और कल्पना विषयके साथ उसके मेल (Agreement) की व्यावृत्ति हो जाय"। × ये अंतर्वर्ती लक्षण स्पष्टता, सुव्यक्तता, और निश्चयात्मकता या स्वयंप्रमाण रूपता ही हैं। सत्यकी स्वयंप्रमाण रूपताका विचार करते समय स्पिनोझाने प्रथम यह कहकर कि 'जिस किसीको सत्य प्राप्त हो गया है उसे उसकी प्राप्तिमें तनिकभी संदेह नहीं रहता,' एक चेतावनी भी दी है। वह यह कि केवल संशयाभावही निश्चयात्मकता नहीं है। संशयाभाव तो मिथ्या कल्पनाओंमें विश्वास रखनेसे भी हो सकता है, परंतु मिथ्याज्ञानमें सत्यज्ञानकी यह निश्चयात्मकता नहीं होती।

प्रामाण्यके आंतरिक लक्षणोंका उपयोग स्पिनोझाने दो-प्रकारसे किया है। (१) पहिले प्रकारमें ये प्रतिरूपताकी बाह्य कसौटीके पोषक या पूरक हैं। इसमें भी दो उपप्रकार हैं। (अ) प्रथममें वे कल्पना (idea) और कल्पना विषय (ideate) में मेल (agreement) दिखलानेके साधन (means) या प्रमाण (Evidence) हैं, और (ब) दूसरेमें वे प्रतिरूपताके सत्यके ज्ञाताके मनकी आंतरिक आवश्यकता और निश्चयात्मकताके द्योतक हैं। (२) दूसरे प्रकारमें उसने प्रामाण्यके इन आंतरिक लक्षणोंका उपयोग प्रतिरूपतासे निरपेक्ष किया है। आंतरिक कसौटीके इस अर्थमें किसी कल्पनाको सत्यके आंतरिक लक्षणोंसे युक्त होनेके लिये यह जरूरी नहीं है कि वह मनसे बाहर किसी वस्तुकी प्रतिलिपि (Copy) हो। सामान्यतः होना तो ऐसाही चाहिये परंतु जिस सत्यसे एक सच्ची कल्पनाको मेल रखना चाहिये उसका बाह्य विषय रूप होनाही जरूरी नहीं है। यह सत्य तो उस कल्पनाके आदर्श (Ideal) रूपकी निजकी आवश्यकता या स्वरूपमें भी हो सकता है; या उसके स्वरूप और परिभाषासे आवश्यकतया प्राप्त होनेवाली बातोंमें भी हो सकता है। प्रामाण्यकी बाह्य कसौटीद्वारा कल्पनाकी कल्पनाविषयके साथ, जिसकी वह कल्पना प्रतिलिपि (copy) है, प्रतिरूपता प्रस्थापित की जाती है; परंतु आंतरिक कसौटी द्वारा कल्पनाकी प्रतिरूपता उस कल्पना विषयके साथ प्रस्थापित की जाती है जिसमें वह कल्पना स्वयंगर्भित रहती है। उदा० अनुमायक वाक्यों (Premises) में निगमनरूप सत्य कल्पना रहती है, या त्रिकोणके गुणधर्म उसकी परिभाषामें होते हैं, या ईश्वरके गुण उसके तत्वमें रहते है। "सत्य विचारका असत्य विचारसे भेद केवल बाह्यही नहीं किंतु मुख्यतः आंतरिक लक्षणसे जाना जाता है। यथा, उदा० एक वास्तु कलाकार की किसी इमारतकी यथार्थ कल्पनाकोही लीजिये। यह कल्पना सत्य है यद्यपि यह इमारत मूर्त रूपमें न तो थी और न होगी, और इस विचारका स्वरूप एकसा है, फिर चाहे वह इमारत हो या न हो।"+ इस उदाहरणमें प्रतिरूपता अपने स्वरूपके साथ मेल रखनाही है, यह स्वरूपातर्गतही होती है और स्वरूपसेही प्राप्त होती है। किसी इमारतकी समुचित कल्पना इसीलिये यथार्थ है कि वह इमारतके स्वरूपकी प्रामाणिक प्रतिकृति (Faithful image) है और इमारतसंबंधी दूसरी कल्पनाओंका वह मूल हो सकती है। इसतरह ऐसी भी सत्य कल्पनाएँ है जिनके विषय बाह्य प्रकृतिमें न होकर पूर्ण निश्चयात्मकरूपसे हमारी विचार शक्तिपरही निर्भर रहते है। 'पर्याप्त कल्पना' में विवक्षित आंतरिक सत्य इसी प्रकारका है।

आंतरिक सत्य या पर्याप्त कल्पनाओंकी इस प्रकार व्याख्या करके अब स्पिनोझा हमारे मनकी कल्पनाओंकी जांच करता है। हम यह देख चुके है कि मन ईश्वरीय विचारका एक प्रकार है, अतएव मनका तत्व बुद्धि है, मन एक कल्पना है, वह शरीरकी कल्पना है और शरीरके साथ अपने स्वयंकीभी कल्पना है। अंतर्बाह्य जगत्‌के संबंधमें उसका दृष्टिकोण ज्ञानका रहता है। अब प्रश्न यह है कि ज्ञानकी उपर्युक्त कसौटीके अनुसार यह ज्ञान किस प्रकारका है और उसका कितना मूल्य है। डेकार्टने सत्यके आंतरिक लक्षण स्पष्टता और सुव्यक्तताही बतलाए थे। इनकी कसौटीसे उसने समस्त इन्द्रियजन्य ज्ञानको विश्वासानर्ह बतलाकर अपने स्वयंके अस्तित्वके ज्ञानको स्पष्ट और सुव्यक्त

× नी. शा. भा. २, प. ४ और स्प.

+ सु. सु.

कहा था। स्पिनोझा डेकार्टसे प्रथमांशमें तो सहमत है परंतु द्वितीयांशमें नहीं। स्पिनोझाके अनुसार इंद्रियजन्य ज्ञान तो निःसंदिग्ध नहीं ही है परंतु हमारा अपने स्वयंका ज्ञानभी स्पष्ट और सुव्यक्त नहीं है। स्पष्ट और सुव्यक्त ज्ञान तो (१) ईश्वर संबंधी कल्पनाओंका है (२) केवल या शुद्ध (Simple) कल्पनाओंका और (३) स्वयंप्रमाण सत्यों तथा उनसे निगमित होनेवाली कल्पनाओंकाही हो सकता है।

स्पिनोझाके अनुसार प्रारंभिक अवस्थामें हमारा ज्ञान सर्वथा अपर्याप्त होता है। यह न तो पूर्ण होता है और न सुव्यक्त ही, परंतु आंशिक और उलझा हुआ (fragmentary and confused) रहता है। इसका दृष्टिकोण वैयक्तिक (individual) होता है। मनको प्रथम ज्ञान अपने शरीरका होता है। क्या यह पर्याप्त है? इसका उत्तर स्पिनोझा वि. २४ में देता है। "मानवीय मनको शरीरके घटकावयवोंका पर्याप्त ज्ञान नहीं होता;" अर्थात् यह ज्ञान स्वयंप्रमाण, स्पष्ट और सुव्यक्त नहीं होता, क्योंकि मन अधिकसे अधिक उनके रवैये (behaviour) को जान सकता है, उनके स्वरूपको नहीं। परंतु उनके रवैयेका ज्ञान भी एकमें एक उलझी हुई कारण परंपराका फल होता है, अतएव उसका भी स्पष्ट, सुव्यक्त और अव्यवहित ज्ञान नहीं होता। वस्तुत: देखनेसे तो शरीरके इन घटकावयवोंका पूर्ण ज्ञान प्राप्त करनेके लिये समस्त प्रकृति के क्रमविन्यासको जानना चाहिये। ऐसा किये बिना यह ज्ञान आंशिक एकांगी और अपूर्णही रहेगा।

मानवीय मनको बाह्य पिंडोंका यथार्थ ज्ञान हो सो भी नहीं, क्योंकि उनका ज्ञान हमको हमारे शरीरपर होनेवाले परिणामोंके द्वाराही होता है, तिसपर भी इंद्रियोंकी मर्यादा लगी हुई है। इन्द्रियजन्य ज्ञानके बाहर भी बहुत कुछ जानना बाकी रहता है, परतु हमारा बाह्य पिंडोंके विषयका ज्ञान तो उनका हमारे शरीरपर होनेवाले परिणामोंके अनुमानही होता है, और भी, ये बाह्य पिंड हमारी इंद्रियोंके सम्मुख सदैव उपस्थित नहीं। रहते, अतएव हमें उनकी कल्पनाही करनी पडती है। इस प्रकारका काल्पनिक ज्ञान पर्याप्तज्ञान नहीं हो सकता ×। चूंकि मनको न तो शरीरके घटकावयवोंका पर्याप्तज्ञान होता है और न उसपर परिणाम करनेवाले बाह्य पिंडोंका, अतएव हम यह कह सकते हैं कि मनको स्वयं अपने शरीरका भी पर्याप्तज्ञान नहीं होता और न उसपर होनेवाले परिणामोंका। वह तो अस्पष्ट और उलझा हुआ ही होता है +।

जो बात शरीरके विषयमें कही जा चुकी है वह मनकोभी लागू पडती है, मनको अपने स्वयंका या अपने स्वयंकी कल्पनाका यथार्थ ज्ञान नहीं होता, कारण मनका अपने स्वयंका ज्ञान भी तो शरीरके परिणामोंके साथ संबद्ध है ※। सबका उपसंहार स्पिनोझाने २९ वि. के उ सि. में किया है," मनुष्यका मन जब वस्तुओंको प्रकृतिके सामान्यक्रम-(Common order of nature) के अनुसार देखता है तब उसे अपने स्वयं का, अपने शरीरका, और बाह्य पिंडोंका पर्याप्तज्ञान न होकर आंशिक और उलझा हुआ होता है, ... मैं इस बातको दावे के साथ कहता हूं कि जब वह (मन) अपने विचारमें बाह्यतः नियत होता है अर्थात् परिस्थितिके हाथका खिलौना होता है, तब उसका ज्ञान उपर्युक्त स्वरूपका होता है ... (परंतु) जब वह किसी प्रकार आंतरिक रूपसे नियत होता है तब वह वस्तुओंको स्पष्ट और सुव्यक्त रूपसे देख सकता है, जैसा कि मैं आगे चलकर बतलाऊंगा※।

मनके अपर्याप्त ज्ञानका कारण यह है कि वह वस्तुओंको अलग अलग और खंडशः देखता है, साकल्यसे उनको नहीं देखता। 'प्रकृतिका सामान्यक्रम (Common order of nature) इसी आंशिक दृष्टिकोणका द्योतक है। इस दृष्टिकोणमें वस्तुएं एक दूसरीसे बाह्यतः यादृच्छिकरूपसे संबद्ध दीख पडती हैं; आंतरिक व्यापक कारण परंपरासे संबद्ध उन वस्तुओंके सादृश्य, वैषम्य विरोधादिका एकसमयावच्छेदेन समष्ट्यात्मक ज्ञान नहीं होता। जब वस्तुएं अपने तत्व या ईश्वरके निरपेक्ष स्वभावपर अधिष्ठित न देखी जाकर प्रकृतिके सामान्यक्रमसे देखी जाती हैं तब वे अनिश्चित कालिक अस्तित्ववान् कही जाती है।" अनिश्चित इसलिये कि वे अपने आप इसको निश्चित नहीं कर सकतीं और न यह निश्चय उनके निमित्त कारणद्वाराही होता है, क्योंकि निमित्त कारण वस्तुओंको यह अस्तित्व देता तो अवश्य है, परंतु इसे निकाल नहीं लेता ※।" इसके फल

× नी शा. भा. २ वि. २५-२६, + वही, वि. २७-२८, ※ वही. वि. २९. ※ वही, वि. २९ उ. सि. और स्प. ※ वही, प. ५।

स्वरूप " मनको अपने स्थायित्व (duration), इसी प्रकार उस विशिष्ट वस्तुओंके स्थायित्वका बिलकुल अपर्याप्त ज्ञान होता है।"× विशिष्ट वस्तुएं अनिश्चित और विकारी हैं, क्योंकि वे पर्याप्तज्ञानकी अविषय हैं। इसका यह मतलब नहीं कि वे बिना किसी कारणके ही उत्पन्न विनष्ट होती हैं। इसका मतलब इतना ही है कि उनकी यथार्थ कारणपरंपराका हमें ज्ञान नहीं होता, इससे सिर्फ हमारे ज्ञानकी न्यूनता प्रकट होती है +।

हमारे ज्ञानकी इस अपूर्णताके साथ एक और भी दोष लगा हुआ है। वस्तुओंकी हमारी तत्तदनुभूतियां तो अपर्याप्त हैं ही, परंतु जिस रीतिसे हम इनको एक दूसरीसे मिलाते हैं या इनमें संबंध बैठालते हैं वह भी अपर्याप्त है। कारण हम यह सब कुछ "हमारे शरीरपर होनेवाले परिणामोंके क्रम और साहचर्यके अनुसारही करते हैं, बुद्धिके क्रमसे जन्य साहचर्यके नियमानुसार नहीं, जिसके जरियेसे मन वस्तुओंको अपने मूल कारणोंकेद्वारा देखता है और जो सब मनुष्योंके लिये समान है *।" बाह्यानुभूति मूलक ज्ञानमें यह संभावना हमेशा बनी रहेगी कि हम उन वस्तुओंकोभी वर्तमान समझ लें जिनका या तो अभाव है या जो असत् ही है (यथा शशशृंग या समभुज चतुष्कोण वृत्त) ■ साथही यह भी संभव है कि हम स्वच्छन्दता से वस्तुओंके संबंध उस क्रमसे जोड दें जिस क्रमसे मन उनके संबंध बैठालनेका अभ्यस्त है। उदा० "एक सिपाही बालूमें घोडेके पदचिन्होंको देखकर घोडेकी कल्पनासे एकदम घोडे-सवार तथा युद्धकी कल्पना तक पहुंच जाता है। परंतु उन्हीं पदचिन्होंको देखकर एक देहाती हल तथा खेतकी कल्पना करने लगता है●।"

इस प्रकारके ज्ञानकी स्वच्छंदता और अपर्याप्तताका एक और उदाहरण है कल्पित सामान्य (Fictitious universals), अर्थात् वे सामान्य या ख्याली शब्द जिनके द्वारा हम वस्तुओंके हमारे विशिष्ट अनुभवोंको एकता देना चाहते हैं और उनमें संबंध बैठालना चाहते हैं। अनुभवातीत संज्ञाएं यथा 'सत्ता,' 'वस्तु,' 'कुछ,' 'कुछेक वस्तु,' इसी प्रकार जाति वाचक संज्ञाएं, या अन्यान्य अमूर्त शब्द (Abstract terms) ये सब वस्तुओंके वास्तविक संबंध बतलाना छोडकर हमारे अनुभवोंको और भी अधिक झमेलेमें डालते हैं। इसी प्रकारके शब्द प्रयोगोंने तात्विक क्षेत्रमें अनेक विवाद उत्पन्न किये हैं। इनकी उत्पत्ति कल्पना और स्मृतिमें है। ये शब्द वस्तुओंके वास्तविक सामान्यधर्मके द्योतक न होकर शरीरपर होनेवाले परिणामोंके अनुसार इनकी कल्पना खडी कर ली जाती है। ये व्यक्तिनिष्ठ हैं। इनकी कल्पना प्रत्येक व्यक्तिकी अपनी तरहकी भिन्नभिन्न हो सकती है। यह भेद व्यक्तिगत शरीरपर होनेवाले परिणामोंके अनुसार होगा। उदा० जो मनुष्यशरीरके डीलडौल तथा ऊंचाईपर मुग्ध है वे मनुष्य शब्दसे एक सीधी आकृतिका प्राणी समझ लेंगे। जो अन्य गुणोंको विशेष रूपसे देखनेके आदी हैं वे उन्हीं गुणोंमें मनुष्यकी कल्पना करेंगे, जैसे मनुष्य हंसनेवाला प्राणी है द्विपाद पक्षहीन प्राणी है, विचारशील प्राणी है इ *। तात्पर्य यह कि शरीरके परिणामोंके व्यवधानोंसे युक्त ज्ञान सर्वथा भ्रामक, अपूर्ण और असत्य है।

अपर्याप्त कल्पनाओंको दिखलाकर अब स्पिनोझा पर्याप्त कल्पनाओंकी ओर बढता है। जैसा कि हमने देखा है ज्यामिति पद्धतिके अनन्य भक्त स्पिनोझाके तात्विक विचारका प्रारंभ सर्वथा निःसंदिग्ध, निश्चयात्मक, स्वयंप्रमाण, सुस्पष्ट तथा सुव्यक्त वस्तु अर्थात् मूलतत्व या ईश्वरसे होता है; अतएव पर्याप्त कल्पनाओंमें सिरमौर ईश्वरकी कल्पना तथा ईश्वरसे संबंध रखनेवाली समस्त कल्पनाएं है ×। इन कल्पनाओंके सत्य या प्रामाण्यकी जाच प्रतिरूपताके बाह्य मानदंडसे नहीं होती। ईश्वर विषयक प्रमाणोंके विचारके अवसरपर हम देख चुके हैं कि कार्यकारणभाव मूलक प्रमाण गौण है; परंतु असली प्रमाण सत्तामूलकही है। इस प्रमाणका सारा दारमदार इस कल्पनाकी स्पष्टता तथा सुव्यक्तता द्वारा अभिव्यंजित स्वयं प्रमाणतापरही है। इस आंतरिक प्रमाण द्वारा हमें यह निश्चय होता है कि ईश्वर मन गढंत नहीं है, परंतु एकमात्र सत्य है। चूंकि हमारी ईश्वरकी कल्पनाका सत्य बुद्धिकी इस जन्मजात शक्तिपर अवलंबित है अतएव ईश्वरकी इस सर्वथा संशयातीत कल्पनासे निगमित अन्य समस्त कल्पनाएं उतनीही सत्य हैं; वे ईश्वरकी कल्पनासे कम सत्य नहीं।

और भी, चूंकि हमारे विचारकी क्रिया ईश्वरीय गुण विचारक

× वही, वि. ३०-३१. + वही, वि. ३१ उ. सि. * वही, वि. १८ स्प.
■ वही, वि, १७ स्प. ● वही, वि. १८ स्प. * वही, वि. ४० स्प. १. × वही, वि. ३२.

एक प्रकार है ॥ अतएव "कल्पनाओंमें ऐसी कोई खास बात नहीं है जिसके कारण वे असत्य कही जा सकें।" स्पिनोझा कठोर नियतिवादी है अतएव वह मनकी चाहे जैसी कल्पना करनेकी स्वतंत्रताका निषेध करना चाहता है। मनको स्वतंत्र माननेसे शरीरको भी हठात् यही स्वतंत्रता मिलती है। परंतु इनको स्वतंत्र माननेसे प्रकृतिस्थ आवश्यक कारण परंपराकी अविच्छिन्नतामें खंड पडता है, क्योंकि इसका अर्थ यह होता है कि "मनुष्य प्रकृतिके क्रमका अनुसरण करनेके बजाय उसमें व्यतिक्रम उत्पन्न करता है+।" ऐसा करते करते शरीर और मन प्रकृतिकी व्यापक व्यवस्था और ईश्वरसे भी स्वतंत्र हो जाएंगे और ईश्वरके समान वे अपने कारण स्वयं होने लगेंगे। स्पिनोझाका आक्षेप यहांपर डेकार्टके (Descartes) उस कथनपर है जिसमें उसने किसी हदतक मनुष्यको उसकी इच्छा स्वातंत्र्यके कारण ईश्वरके समानही अपने आपका स्वामी मान लिया था। यह सब कुछ स्पिनोझाकी दृष्टिसे अग्राह्य है क्योंकि उसके अनुसार शरीरकी प्रत्येक हलचल विस्तारका एक प्रकार है और मनकी प्रत्येक कल्पना विचारका प्रकार है। इस विधान (३३)के प्रमाणमें भी यही बतलाया गया है कि स्वयं कल्पनाओंमें असत्य असंभव है, क्योंकि कल्पनाएं ईश्वरीय विचारके प्रकार हैं; और ईश्वरीय विचारमें असत्यको कोई स्थान नहीं। ईश्वरसे बाहर भी कल्पनाओंका अस्तित्व संभव नहीं, क्योंकि जो भी कुछ है वह ईश्वरमें है, यह सिद्ध किया जा चुका है। स्वयं मनमें यह शक्ति या स्वतंत्रता नहीं कि वह झूठी कल्पनाएं कर ले। अतएव यह विधान सिद्ध हुआ।

आगे चलकर स्पिनोझा कहता है कि "हमारी प्रत्येक निरपेक्ष (Absolute) या पर्याप्त या पूर्ण कल्पना सत्य होती है*।" अन्यत्र स्पिनोझाने निरपेक्ष कल्पनाको केवल (Simple) या शुद्ध भी कहा है। यह कल्पना केवल (Simple) वस्तुकी होती है। इसके उदाहरण स्पिनोझाने अर्धवृत्त (Semicircle), गति (Motion), परिमाण (quantity) इत्यादि दिये हैं।

असत्य कल्पनाओंको स्पिनोझाने तीन वर्गोंमें विभाजित किया है:-(१) कपोल कल्पना (Fictitious ideas); (२) मिथ्या कल्पना (False ideas) और संदिग्ध कल्पना (doubtful ideas) इन तीनोंमें समानधर्म यह है कि ये सब केवल या शुद्ध न होकर संयुक्त या संमिश्र (composite) होती हैं। इनका उगम कल्पनामें होता है, बुद्धिमें नहीं।

असत्यताके विवेचनमें प्रथम स्पिनोझाने यह बतलाया है कि वह क्या नहीं है। प्रथम, असत्यता भावरूप (Positive) कोई वस्तु नहीं है। दूसरे, वह नितांत अभाव रूप भी नहीं है अर्थात् वह मनुष्यकी कभी दूर न हो सकनेवाली स्वाभाविक कमजोरी भी नहीं है, जैसे उडनेकी या पानीमें रह सकनेकी असमर्थता। सत्य विचारक्षम मनमेंही असत्य कल्पनाएं आती हैं। शरीरतो सर्वथा विचाराक्षम है। तीसरे, वह नितांत निरपेक्ष अज्ञान (Absolute ignorance) भी नहीं है। वह तो एक ऐसा ज्ञान है जो मनुष्यका ज्ञातव्य है और मनुष्य उसे जानता भी है, परंतु गलत रीतिसे जानता है। अतएव असत्यता एक गलती है। निरपेक्ष या केवल कल्पनाओंमें यह गलती असंभव है। "कपोल कल्पनाओंकी तरह इसकी उत्पत्ति तो निसर्गकी नानाविध वस्तुओं और व्यापारोंकी अनेकविध उलझी हुई कल्पनाओंमें ही है। ×" या "असत्यता तब होती है। जब किसी वस्तुके विषयमें उस वस्तुकी कल्पना (Concept) से बहिर्भूत कुछ कहा जाय।" ×

इस प्रकारकी गलती और असत्यताका कारण मनुष्यका सापेक्ष अज्ञान है। कल्पना (Imagination) वहींपर स्वैर संचार कर सकती है जहांपर ज्ञानका अंकुश नहीं होता इस सब गोलमाल (Confusion) की जड अज्ञान तीन प्रकारका होता है। (१) मनका किसी संपूर्ण या संकीर्ण (Complex) वस्तुको अंशतः जानना; (२) मनद्वारा ज्ञातसे अज्ञातका भेद न किया जाना; और (३) किसी विषयमें अनेक वस्तुओंको उनके भेदादिको बिना देखेही एक साथ जानना। प्रथम प्रकारके अज्ञानको स्पिनोझाने खंडित कल्पनाएं (Mutilated ideas) कहा है और द्वितीय तृतीय प्रकारको 'उलझी हुई कल्पनाएं' (Confused ideas) उपर्युक्त विवेचनकोही स्पिनोझाने इस सूत्ररूप विधानमें कहा है। "असत्यता अपर्याप्त अर्थात् खंडित और उलझी हुई कल्पनामूलक ज्ञानाभाव है।" "Falsity consists

॥ वही, वि. ३३ + नी. शा. भा. १ प्रस्तावना, * वि. ३४, नी. शा. भाग २, × बु. शु.

in the privation of knowledge, which inadequate, that is to say, mutilated and confused, ideas involve "*

ज्ञानाभावके कारण मनुष्य किस प्रकार गलती कर बैठता है इसके स्पिनोझाने दो उदाहरण दिये हैं। एक तो इच्छा स्वातंत्र्य का भ्रम है। मनुष्योंको अपनी क्रियाओंका तो ज्ञान होता है, परंतु उनको निर्धारित करनेवाले कारणोंका ज्ञान नहीं होता। इसलिये स्वतंत्रताकी यह कल्पना उनकी क्रियाओंके कारणोंका अज्ञान है। यहांपर स्पिनोझाने डेकार्टके प्रति व्यंगोक्ति कही है। डेकार्टने आत्माका निवासस्थान एक विशिष्ट शीर्ष ग्रंथि (Pineal gland) में माना था जहांसे इच्छाके जोरपर वह शरीरको हिला चला सकती है। "इच्छा क्या है और वह शरीरको किस प्रकार हिलाती चलाती है, वे यह सब कुछ नहीं जानते। जो इस प्रकारके ज्ञानकी शेखी बघारते हैं और आत्माके निवासस्थान या रहनेकी जगहकी झूठमूठ कल्पना किया करते हैं वे या तो हास्य या घृणा उत्पन्न कर सकनेके आदी हैं।" × दूसरा उदाहरण सूर्यकी दूरीका है। हम तो समझते हैं कि सूर्य हमसे सिर्फ २०० फ़ीटके अंतरपर है। इस प्रकारकी कल्पना करते समय हमें सूर्यके वास्तविक अंतरका वा इस कल्पनाके कारणका पता नहीं होता। तात्पर्य, यह कि कल्पनाएं स्वयं झूठी नहीं होती। वे किसी सर्वांगीण और स्वयंपूर्ण कल्पनाके खंडित अंशरूप होनेके फलस्वरूप मिथ्या होती हैं, या तब जब वे केवल और स्वयंपूर्ण कल्पनाओंके उलझे हुए संयोगका परिणाम होती हैं; और कल्पनाओंको यह तोड मरोड या उलझन केवल अज्ञानके कारण और वस्तुओंके साकल्यकी दृष्टिसे उनके परस्पर संबंधोंको न देख सकनेके कारण, या किसी संकीर्ण कल्पनाका उसके घटक केवल अंशोंमें विश्लेषण न कर सकनेके कारण होती है। अब रही इन कल्पनाओं की स्वयंकी बात जो अज्ञानके कारण खंडित और उलझी हुई होती हैं, वे तो हमारे मनमें इसीलिये उठती हैं चूंकि हमारा मन ईश्वरीय विचारका एक प्रकार है। " अपर्याप्त और उलझी हुई कल्पनाएं उसी आवश्यकतासे निकलती हैं जिस (आवश्यकता) से पर्याप्त या स्पष्ट और सुव्यक्त कल्पनाएं।" +

तीसरे प्रकारकी सत्य या पर्याप्त कल्पनाएं स्वयंसिद्ध सत्य और उन स्वयंसिद्ध सत्योंसे तार्किक प्रक्रियाके अनुसार निकलनेवाली कल्पनाएं हैं। एरिस्टॉटल तथा मध्ययुगीन दार्शनिकोंके अनुसार किसी अनुमानद्वारा प्रदर्शित, प्रमाणसे सिद्ध किये जानेवाले तार्किक विचारोंका प्रारंभ इस प्रकारके स्वयंसिद्ध सत्यात्मक अनुमायक वाक्योंसे होना चाहिये। इन अनुमायक वाक्योंकोही (Premises) जो किसी अनुमान (Syllogism) के अव्यवहित वाक्य (immediate propositions) होते हैं एरिस्टॉटलने स्वयंसिद्ध सत्य (Axioms) कहा है। यूक्लिड (Euclid) ने इन्हें 'सामान्य प्रत्यय' (common notions) कहा है। स्पिनोझाने दोनोंके अर्थोंको मिलाकर इनका उपयोग किया है। " ये प्रत्यय जो सर्वसामान्य हैं हमारे तार्किक विचारके मूलाधार हैं।"× ये स्वयंसिद्ध सत्य उपर्युक्त जातिवाचक शब्दों या सामान्योंके सब दोषोंसे मुक्त हैं। सामान्योंकी तरह ये कल्पना और स्मृतिसे जन्य नहीं। इनका उगम तो स्वयं मनमें ही है। ये स्वयंसिद्ध सत्य " मनमें उसीकी कल्पना है जो हमारे स्वयंके शरीर तथा इसपर परिणाम करनेवाले बाह्य शरीरोंका समुचित सर्वसाधारण धर्म है।"* सामान्योंके समान ये व्यक्तिनिष्ठ नहीं। ये तो सब के लिये एकसा हैं, सबकेद्वारा ये एकसा समझे जाते है। इसलिये कल्पित सामान्योंकी तरह ये अपर्याप्त या उलझे हुए न होकर पर्याप्त और स्पष्ट तथा सुव्यक्त हैं।

एरिस्टॉटलने अनुमानोपयोगी तार्किक वाक्योंको दो भागोंमें विभाजित किया है। एक तो वे जो विशेष विज्ञानोंके उपयोगी हैं और दूसरे वे जो यावत् विज्ञानोंके उपयोगी हैं। इसीका अनुसरण करके स्पिनोझाके प्रस्तुत स्वयसिद्ध सत्य पदार्थविज्ञान या शरीरविज्ञानतक ही मर्यादित हैं। परंतु इस विज्ञानकी मर्यादामें ये पूर्ण रूपसे व्यापक हैं। इसी आशयसे स्पिनोझाने वि. ३७ में इनके विषयमें कहा है कि ये एक ऐसे आधारपर स्थित आद्यसिद्धांत हैं (Primary principles) " जो (आधार) सर्वसाधारण है, जो अंश और अंशोंमें समान रूपसे रहता है और किसी वस्तु विशेषकाही तत्व नहीं होता।" एरिस्टॉटलके अनुसार वे धर्म जो समस्त शरीरोंमें समान रूपसे

* नी. शा. भाग २, वि. ३५. × वही स्प.

+ वही, वि. ३६. × वही, वि. ४० स्प. * वहीं, वि. ३८. इु. सि.

हैं, छ हैं- गति (Motion), स्थिति (Rest), आकृति (Figure), परिमाण (Magnitude), संख्या (Number), और एकता (Unity)। स्पिनोझाने शरीरोंके सामान्य धर्मोंके विवेचनमें तीन बातें बतलाई थीं। (१) वे विस्तारके प्रकार हैं; (२) उनमें गति और (३) स्थिति होती है। इस प्रकार गति और स्थितिका तो स्पष्ट उल्लेख है और शेष चारोंका अंतर्भाव प्रो. वॉल्फसनके अनुसार विस्तारके प्रकारोंमें किया जा सकता है, जिसमें सब शरीर समान हैं।

इन स्वयंसिद्ध सत्योंकी पर्याप्त रूपसेही कल्पना की जा सकती है। जो वस्तुएं सर्वसाधारण होती हैं और जो अंश और अंशीमें समान रूपसे रहती हैं, वे केवल पर्याप्त रूपसेही जानी जा सकती हैं। इसलिये यह निष्कर्ष निकलता है कि कुछ कल्पनाएं या विश्वास ऐसे भी हैं जो सब मनुष्योंके लिये समान हैं।"* एरिस्टॉटलके अनुसार व्यापक तत्व अविभजनीय हैं। अतएव वे अंश और अंशीमें समान रूपसे रहते है। यही अर्थ स्पिनोझाको भी विवक्षित है।

चूंकि अंतमें ये सामान्य प्रत्यय (Common notions) हमारे इंद्रियजन्य ज्ञानपरही स्थित हैं, अतएव समस्त इंद्रियजन्य अनुभूतियोंके समान उनका प्रारंभ भी हमारे शरीरके ज्ञानके साथही होगा और उनमें बाह्य वस्तुओंके ज्ञानका वहींतक समावेश होगा जहांतक उनका हमारे शरीरपर परिणाम होता है। इसलिये वि. ३९ में स्पिनोझा कहता है– "हमारे मनमें उस वस्तुकी पर्याप्त कल्पना होगी जो हमारे शरीर और उसपर परिणाम करनेवाले दूसरे शरीरोंके लिये उपयुक्त और सामान्य है और जो इनमेंसे प्रत्येकके अंश (part) या अंशी (Whole) में समान रूपसे उपस्थित है।"

चूंकि इन सामान्य प्रत्ययोंका उद्गम हमारे इंद्रियजन्य ज्ञानमें हैं अतएव ये परिमित संख्याक नहीं हैं; क्योंकि वस्तुओंके सामान्य तत्व जितने हमारे मर्यादित अनुभवमें आते हैं उनसे कई गुना अधिक हैं। यदि हमारा ज्ञान पूर्ण हो तो हम जिन वस्तुओंको अलग अलग रूपसे देखते है वे सब ईश्वरमें एक होती दिखाई देंगीं। इसलिये प्रकृतिके हमारे ज्ञानकी वृद्धिके साथही इन सामान्य प्रत्ययों या सत्योंकी संख्या भी बढती चली जायगी। "मन जितनीही बातें अधिक जानता है उतनीही अधिक अच्छी तरहसे वह अपनी शक्तियों और प्रकृतिके क्रमको समझता है।"× "शरीरकी जितनी अधिक बातें दूसरे शरीरोंसे समान होंगीं उतनी ही अधिक बातें पर्याप्त रूपसे समझनेकी मनकी योग्यता भी होगी ※।"

ये स्वयंसिद्ध सत्य या सामान्य विश्वास अनुमानके अनुमायक वाक्य होते हैं। अतएव यथार्थ तार्किक प्रक्रियाके अनुसार इनसे जो निगमन निकलेंगे वे भी उतनेही प्रमाणभूत और पर्याप्त होंगे। क्योंकि एरिस्टॉटलके अनुसार यथार्थ अनुमायक वाक्योंसे असत्य निगमन (false conclusion) निकालना संभव नहीं। इसी आशयसे वि. ४० में स्पिनोझा कहता है। "मनकी पर्याप्त कल्पनाओंसे निकलनेवाली मनकी समस्त कल्पनाएंभी पर्याप्तही होती हैं;" अर्थात् अनुमायक वाक्य और निगमन दोनों उसी प्रकारके और उतनेही मूल्यके प्रमाण ज्ञान हैं।

[प्रकरण १५]

ज्ञानके तीन प्रकार।

अबतक ज्ञानके तीन प्रकारोंका उल्लेख किया जा चुका है-(१) संवेदना, कल्पना और स्मृति; (२) तार्किक ज्ञान जिसमें अनुमानके दो आधार केवल कल्पनाएं और स्वयंप्रमाण सत्य, और इनसे प्राप्त होनेवाले निगमन है; (३) ईश्वर और ईश्वरसंबंधी कल्पनाएं। इनमेंसे प्रथम प्रकारके ज्ञान को अपर्याप्त कहा गया है और द्वितीय तृतीयको पर्याप्त। अब द्वितीय तृतीय ज्ञानका विस्तृत विवेचन करके उनका महत्व बतलानेकी दृष्टिसे स्पिनोझा वि. ४० के द्वितीय स्पष्टीकरणमें इनका पुनश्च स्पष्ट वर्गीकरण करता है।

प्रथम प्रकारके ज्ञानमें भी उपप्रकार हैं- (१) इंद्रियजन्य ज्ञान या अस्पष्ट अनुभवमूलक ज्ञान। "हमारे अधिकांश अनुभव तथा धारणाएं विशिष्ट वस्तुओंके उस इंद्रियजन्य ज्ञानपर स्थित होती हैं जो हमारी बुद्धिमें खंडित तथा उलझे हुए रूपसे और बेतरतीबके साथ आता है। ऐसे इंद्रिय प्रत्यक्ष ज्ञानको मैंने अस्पष्ट अनुभव मूलक ज्ञान कहना निश्चित किया है।" (२) परंपरागतज्ञान-चाहे सुना हुआ या पढा हुआ। "हमारी अधिकांश सामान्य धारणाएं कुछ पढी हुई या सुनी हुई बातोंको स्मरण करके उनके विषयमें कल्पना करके बनी हुई होती हैं।

* वही, वि. ३८ उ. सि. × बु. सु. ※ वि. ३९ उ. स्पि. नी. शा. भा. २

वस्तुओंको देखनेकी उपर्युक्त दोनों पद्धतियोंको मैं प्रथम प्रकारका ज्ञान याँ मत या कल्पना कहूंगा।"

द्वितीय प्रकारका ज्ञान यथार्थ विश्वास या तार्किक ज्ञान है जो प्रथम प्रकारके अविचारित सिद्ध ज्ञानसे ऊंचे दर्जेका और अधिक प्रमाणभूत है। इसका आधार है केवल कल्पनाएं, स्वयंसिद्ध सत्य और उनसे निगमित होनेवाली बाते, फिर चाहे उनका स्वरूप कार्यसे कारणके अनुमानका हो, या अनुमायक वाक्योंसे निगमनका हो। परंतु इस प्रकारके ज्ञ नमें हेत्वाभासोंसे सावधान रहनेकी आवश्यकता है। इस सावधानीके अभावमें व्यर्थके विवाद और कलह उत्पन्न होते हैं।

" ज्ञानके इन दो प्रकारोंके अतिरिक्त एक तीसरा प्रकारभी है जिसे हम अंतः प्रज्ञात्मक ज्ञान कहते हैं। इस प्रकारका ज्ञान कुछ ईश्वरीय गुणोंके निरपेक्ष तत्वकी पर्याप्त कल्पनासे वस्तुओंके तत्व की पर्याप्त कल्पन की ओर बढता है।" यह स्पष्ट और सुव्यक्त होता है। इसका उद्भव तब होता है "जब कोई वस्तु केवल अपने तत्वकेद्वारा देखी जाती है, या अपने सन्निकृष्ट कारणके द्वारा।" इसका मतलब इतनाही है कि ईश्वर और उसके गुणोंके द्वारा, क्योंकि वस्तुजातका कारण या तत्व ईश्वर और उसके गुण हैं। यदि हम वस्तुसे अजन्य वस्तु समझें तब भी ईश्वर ही प्राप्त होता है, क्योंकि अजन्य वस्तु एकमात्र ईश्वर ही है।

ज्ञानके इन तीन प्रकारोंके कुछ विशिष्ट लक्षण हैं जो एकको दूसरेसे पृथक् करते हैं। प्रथम प्रकारका ज्ञान इन्द्रियानुभूतिपर स्थित है और कल्पना तथा स्मरणशक्तिसे प्राप्त होता है। यह ज्ञान सर्वथा अपर्याप्त है। (२) स्वयंसिद्ध सत्यों और उनके निगमनोंसे युक्त द्वितीय प्रकारका ज्ञान भी इन्द्रियानुभूतिपरही स्थित है, परंतु प्रथम प्रकारके ज्ञानसे इसमें यह विशेषता है कि यह स्वयं मनकी क्रियात्मकताद्वारा प्राप्त होता है। यह वस्तुओंके परिच्छिन्न दृष्टिकोणसे ऊपर उठ कर उनको व्यापक दृष्टिसे देखता है। (३) परंतु तृतीय प्रकारका ज्ञान इन सबसे बढ चढकर है, कारण यही एकमात्र ऐसा ज्ञान है जो इन्द्रियजन्य ज्ञानकी मर्यादाओंसे मुक्त है और सर्वथा आंतरिक है। द्वितीय प्रकारका ज्ञान किसी हदतक तार्किक प्रक्रियाके व्यवधानोंसे ग्रस्त है, परंतु तृतीय प्रकारका ज्ञान इन व्यवधानोंसे सर्वथा अस्पृष्ट है। वह तो एक ऐसा अव्यवहित ज्ञान है जो समस्त वस्तुओंके तत्वका एकसमयावच्छेदेन साक्षात्कार करता है। इसी ज्ञानकेद्वारा हम 'हरिरेव जगत् जगदेव हरिः' का साक्षात् कर सकते हैं।

"It sees god in all things and all things in god"+

अब स्पिनोझा प्रामाण्यकी दृष्टिसे ज्ञानके इन तीन प्रकारोंका मूल्य निर्धारण करता है (Evaluation of validity)। "सिर्फ प्रथम प्रकारका ज्ञानही झुठाईका कारण है; द्वितीय तृतीय प्रकारके ज्ञान आवश्यक रूपसे सत्य हैं।"× यहांपर यह बात ध्यान देने योग्य है कि स्पिनोझा प्रथम प्रकारके ज्ञानको भी हर हालतमें झूठा न कहकर झुठाईका कारण कहता है। इसका मतलब इतनाही है कि इस प्रकारके ज्ञानमें असत्यताकी संभव अधिक है; अतएव इनका अपरीक्षित प्रामाण्य हम स्वीकार नहीं कर सकते। परंतु इनके परीक्षित प्रामाण्यका निषेध नहीं किया गया है। हमारी इंद्रियोंकी विश्वासानर्हताके कारण इन्द्रिय प्रत्यक्ष, कल्पना और मतभी सर्वथा विश्वसनीय नहीं। अतएव यह प्रश्न है कि इनकी यथार्थता अयथार्थताका निर्णय कैसे किया जाय, या इनके प्रामाण्यकी परीक्षाकी कसौटी क्या है? प्रामाण्यके इस निर्णयमें हमें प्रथम प्रकारके ज्ञानसे तो कुछ भी सहायता नहीं मिल सकती। इसी आशयसे स्पिनोझा कहता है कि "ज्ञानके द्वितीय तृतीय प्रकारही ऐसे हैं, प्रथम प्रकार नहीं, जो हमें असत्यसे सत्यका भेद करना सिखलाते है।* ज्ञानके द्वितीय तृतीय प्रकारोंकी महत्ता यही है कि वे स्वयं तो प्रमाण ज्ञानके मूल हैं ही, साथ ही वे प्रथम प्रकारके ज्ञानकी परीक्षाकी कसौटी भी उपस्थित करते है। इससे भी आगे चलकर यह प्रश्न पूछा जा सकता है कि द्वितीय तृतीय प्रकारके ज्ञानके प्रामाण्यकी कसौटी क्या है? इसका उत्तर वि. ४३ के अनुसार यह है कि इनकी कसौटी स्वयं मन है। इसका मतलब यह है कि सत्य स्वयं प्रमाण है। "जिसके मनमें सत्य कल्पना है उसके मनमें (उस कल्पनाके) साथही उसकी सत्यताका भी ज्ञान होता है और उस वस्तुके सत्यमें उसे तनिक भी संदेह नहीं होता।... क्योंकि सत्य कल्पनाके मानीही है किसी वस्तुको पूर्ण रूपसे जानना... सत्यकी कसौटी सत्य कल्पनाही है, इससे अधिक स्पष्ट तथा अधिक निःसंदिग्ध बात और क्या हो सकती है? जिस प्रकार प्रकाश-

+ Spinoza by John Caird P. 216. × नी. शा. भा. २ वि. ४१. * वि. ४२ वही.

स्वयं अपना और अंधःकारका प्रकाशक है, उसी प्रकार सत्य स्वयं अपना और मिथ्यात्वका प्रकाशक है। ... सत्य स्वयंही अपना मूलमापक (Standard) है। मैं इतना और कह दूं कि हमारा मन, जहांतक वह वस्तुओंको यथार्थतासे देखता है, ईश्वरकी अनंत बुद्धिका अंश है। इसलिये मनकी स्पष्ट और सुव्यक्त कल्पनाएं ईश्वर विषयक कल्पनाके समान अवश्य सत्य हैं।"✻

तृतीय प्रकारके ज्ञानको अंतःप्रज्ञात्मक ज्ञान (Scientia intuitiva) कहा गया है, अतएव वह अव्यवहित होता है। अब प्रश्न यह है कि वह कहासे और कैसे उत्पन्न होता है। पाश्चात्य दर्शनमें इस प्रकारके ज्ञानके मूलकी भिन्न भिन्न उपपत्तियाँ मिलती हैं। कुछ मध्ययुगीन दार्शनिक इसे दैवी स्फूर्ति (Divine inspiration) से उत्पन्न मानते थे। डेकार्टने ईश्वरकी कल्पनाको उगम बाह्य अतींद्रिय जरियेसे अर्थात् ईश्वरसे माना था। परंतु स्पिनोझाके अनुसार इसका उत्तर स्पष्टही है। स्पिनोझाका ईश्वर बाहर नहीं, वह तो अंतर्यामी है; अतएव ईश्वरके दैवी अंश मनमें, जैसा कि उपर्युक्त अवतरणमें कहा जा चुका है, इन सत्य कल्पनाओंका उद्भव होना स्वाभाविक ही है।

ज्ञानके द्वितीय तृतीय प्रकारोंके स्वरूपका निर्वचन करके अब स्पिनोझा उनके विषयोंका निर्वचन करता है। तृतीय प्रकारके ज्ञानके विषय कुछ अधिक नहीं। "इस प्रकारके ज्ञानसे मैं जो बातें समझता हूं, वे बहुत थोडी हैं।" इस कथनमें स्पिनोझाने अप्रत्यक्ष रीतिसे डेकार्टकी आलोचना की हैं, कारण डेकार्टने इनकी संख्या अत्यधिक मान रखी थी। द्वितीय प्रकारके ज्ञानके विषय तार्किक ज्ञानके आधार स्वयंसिद्ध सत्य हैं। वे स्वयंसिद्ध सत्य विचार और विस्तारके अव्यवहित अनंत प्रकार हैं।

स्पिनोझाके पहिलेकी दार्शनिक परंपरामें इहलौकिक वस्तुओंका स्वरूप दोहरा समझा जाता था। स्वरूपतः अर्थात् कार्यतया उनकी उत्पत्ति विनाशशील तथा विकारी माना जाता था परंतु कारणकी दृष्टिसे उनको आवश्यक कहा जाता था। वेदांतमें भी इस प्रकारकी कल्पनाका अभाव नहीं। वेदांतकी प्रक्रियाके अनुसार भी यह कहा जाता है कि जगत्की सत्ता त्रिकालाबाधित है; परंतु यह कहनेके पहिले यह सिद्ध कर दिया जाता है कि जगत्की स्वतंत्र सत्ता न होकर ब्रह्मकी सत्ताही जगत्की सत्ता है। वस्तुओंको कारण निरपेक्ष देखना अविचारित सिद्ध दृष्टि या कल्पना (Imagination) का काम है परंतु उनको कारण रूपसे देखना तत्वदृष्टिका काम है। इसी आशयसे स्पिनोझा कहता है "तत्वदृष्टिका स्वभाव तो वस्तुओंको आवश्यक रूपसे देखनेका है, यादृच्छिक रूपसे देखनेका नहीं।... अतएव सिर्फ कल्पनाकेद्वाराही हम वस्तुओंको भूत या भविष्यमें यादृच्छिक (Contingent) समझते हैं। तत्वदृष्टिका स्वभाव तो वस्तुओंको पारमार्थिक भूमिका (Sub quadam aeternitatis specie) से देखनेका होता है÷।"

वस्तुओंके नित्य और अवश्यरूप अव्यवहित अनंत प्रकार हैं; विस्तारके गति और स्थिति और विचारका नितांत निरपेक्ष अनंत बुद्धि, इनके बिना वैयक्तिक वस्तुओंका अस्तित्व तथा ज्ञान संभव नहीं। वैयक्तिक वस्तुओंके लिये ये व्यापक सत्ता जातिरूप है, इस प्रकारकी यथार्थ कारण परंपरासे देखनेसे अंततो गत्वा प्रत्येक वस्तु या प्रत्येक कल्पना ईश्वरमें ही स्थित है। तत्वदृष्टि इसी अंतरस्थ और आद्य कारणको दिखलाती है। "प्रत्येक वस्तु पिंड या प्रत्येक अस्तित्ववान वस्तुकी कल्पना ईश्वरका अनंत और शाश्वत तत्व लिये हुए रहती है। अस्तित्वसे मेरा अभिप्राय...स्थायित्वसे नहीं है। मैं तो अस्तित्वके उस रूपके विषयमें कह रहा हूं जो विशिष्ट वस्तुओंमें उनके ईश्वरीय स्वभाव की अनंत आवश्यकतासे निकलनेके फलस्वरूप रहता है। क्योंकि यद्यपि प्रत्येक विशिष्ट वस्तु अपने अस्तित्वमें दूसरी वस्तुद्वारा मर्यादित है, तथापि वह प्रेरणा या शक्ति जिसकेद्वारा प्रत्येक वस्तु अपना अस्तित्व दृढतासे बनाए रखती है, उसे ईश्वरीय स्वभाव की चिर अवश्यकतासेही मिलती है ×।" वस्तुओंका वास्तविक स्वरूप इन्हीं शाश्वत तत्वोंके द्वारा समझमें आ सकता है, और यहीं ज्ञान पर्याप्तभी होता है। "प्रत्येक कल्पना (idea)में अंतर्भूत होनेवाला ईश्वरके अनंत शाश्वत तत्वका ज्ञान पर्याप्त और परिपूर्ण है +।" यहांतक तो द्वितीय प्रकारके ज्ञानके विषयमें कहा गया है।

तृतीय प्रकारके ज्ञानका विषय ईश्वर है। वह ज्ञान अव्यवहित,

✻ वही, वि. ४३ और स्प.

÷ वही, वि.४४ उ. सि.१,२. × वि. ४५ और स्प. वही. + वही, वि, ४६.

(पृष्ठ १३६ से)

महुक का फल जो नया और सूखा खानेके काम आता है वह पौष्टिक है, मधुर है। फल डोली कहलाता है। डोलीका तेल भी डोली कहलाता है।

खोपरेल-खोपरेल (नारियल) खानेके काममें नहीं आता× क्योंकि वह सुपाच्य नहीं है। इस तेलका गलनबिन्दु इतना छोटा है कि वह मक्खनकी समानताके योग्य नहीं। इसमें बहुत एसिड है, जो पाचन-क्रियाके समय एसिटोनको जन्म देता है। मृदु जठरवालों को यह तेल हानिकर है। इस तेलका परिष्कृत-रिफाइन्ड-रूप बनता है, वह खानेके काममें आता है। घी में इस तेल की मिलावट यथेष्ट की जाती है। मिठाईवाले इसका उपयोग करते हैं। सुश्रुत इसे जठराग्निको मन्द करनेवाला अभिष्यन्दि, वात-पित्तको शमन करनेवाला शीतवीर्य कहता है।

इसके अतिरिक्त तेल अनेक प्रकारके हैं। फलका जो गुण है वही उनके तेलका भी समझ लेना चाहिये।

प्रत्येक प्रकारके वनस्पति तैलोंमें विटामिन 'इ' जो प्रजोत्पादक अथवा वन्ध्यत्वनाशक कही जाती है, वह है। उनमें ए. बी. सी. डी. विटामिन नहीं हैं। प्रत्येक तेल सामान्य रीतिसे वातघ्न और पौष्टिक है। प्राणिज स्नेहसे वनस्पतिका स्नेह नीची कोटिका माना जाता है।

[यह तैलविषयक लेख श्री० वैद्यजीका है। मैंने इसे यथाशक्ति उन्हींके शब्दोंमें देनेका प्रयत्न किया है। आयुर्वेदके चरकमें पाठ और संख्याका बहुत भेद है। अतः किसी पाठकके ग्रन्थमें इसी रूपमें पाठ या संख्या न मिले तो क्रुद्ध न हो। अनेकत्र प्रमाणका पता नहीं दिया था, मैंने उसे दे दिया है। कहीं कहीं आवश्यक परिवर्तन भी किया है, यह केवल जनहित की दृष्टिसे। यह लेख लाभप्रद है।]

× पानीवाला नारियल कूटकर उसपर गर्म पानीका छींटा देकर मोटे कपडेसे छान लीजिये। उसे धीमी आग पर तपाइये। स्वच्छ तेल सदृश्य हो जानेपर उसे उतार लीजिये। यह तेल खाने, शिरमें लगाने आदिमें उत्तम है। यह एक सप्ताहके पश्चात् बासी हो जाता है। अतः अधिक दिन नहीं रखना चाहिये।

Regd. No. B. 1463

मुद्रक और प्रकाशक- व० श्री० सातवळेकर, भारत-मुद्रणालय, औन्ध.

वैदिक धर्म—वेदांक

विषयसूची।

१ वेदमाता १३७
२ वेदोंका अध्ययन १३८
३ वेदमंत्रोंसे मानवधर्म संपादक १३९
४ स्वा० मं० की वैदिक धर्मकी सेवा १५३
५ वेदमें वर्णित समतावादकी पार्श्वभूमि, पं० दत्तवाडकर १५७
६ सामवेदमें अग्निदेवता पं० घारेश्वर १६३
७ मधुच्छन्दस्-मंत्रमाला (४) पं. धर्मराजजी १८४
८ वैदिक जीवन पं. ऋभुदेवजी १९३

अप्रैल १९४५
चैत्र सं. २००२

संपादक
पं. श्रीपाद दामोदर सातवळेकर

सहसंपादक
पं. दयानंद गणेश घारेश्वर, B. A.
स्वाध्याय-मण्डल, औंध

वार्षिक मूल्य
म. ऑ. से ५) रु.; वी. पी. से ५=) रु.
विदेशके लिये १५ शिलिंग।
इस अंकका मू. १) रु.

क्रमांक ३०४

वेदाङ्क

वर्ष २६ | क्रमांक ३०४ | चैत्र संवत् २००२, | अप्रैल १९४५ | अङ्क ४

वेदमाता

स्तुता मया वरदा वेदमाता प्र चोदयन्तां पावमानी द्विजानाम् ।
आयुः प्राणं प्रजां पशुं कीर्तिं द्रविणं ब्रह्मवर्चसम् । मह्यं दत्त्वा व्रजत ब्रह्मलोकम् ॥

(अथर्ववेद १९।७१।१)

" द्विजोंको पवित्र करनेवाली, उनको सत्कर्ममें प्रेरित करनेवाली और वर देनेवाली वेदमाताकी मैंने स्तुति की है। दीर्घ आयु, उत्तम जीवन, सुप्रजा, गौ आदि उत्तम पशु, सुकीर्ति, बडा धन, और ज्ञानका तेज मुझे देकर ब्रह्मलोकको जाओ।"

वेदमाता सचमुच द्विजोंकी माताके समान हित करनेवाली है। माता जैसा पुत्रका हितही करती है वैसेही वेद-माता मानवोंका हित करती है। यह द्विजोंके शरीर, वाणी, मन और बुद्धिको पवित्र करती है। पवित्रता करनेके बाद उनको श्रेष्ठ और प्रशस्त कर्मोंमें प्रेरित करती है। सब लोग पवित्र बनकर श्रेष्ठ कर्म करें और उन्नत हों। जब मनुष्य पवित्र होंगे और श्रेष्ठ कर्म करते रहेंगे, तब वे निःसंदेह वरिष्ट होंगेही। यही उन्नतिका मार्ग है। पवित्र होना, सत्कर्म करना और उच्च बनना। इससे (१) दीर्घायु होगी, (२) प्राण आदि सब प्रकारके बल शरीरमें दीर्घकालतक रहेंगे, (३) सुप्रजा निर्माण होगी, (४) घरमें गायें घोडे आदि उत्तम पशु रहेंगे, (५) सुयश मिलेगा, (६) उत्तम धन पर्याप्त प्रमाणमें प्राप्त होगा, और (७) ज्ञानसे जो तेज मिल सकता है वह मिलेगा। ये सात फल वेदविद्यासे प्राप्त होंगे। यहां सुप्रजा निर्माण रूप फल वेदविद्यासे होगा, ऐसा विशेषरूपसे कहा है। इससे इस वेदविद्याकी प्राप्ति पूर्व आयुमेंही होनी चाहिये, अर्थात् संपूर्ण वेदविद्याकी प्राप्ति प्रथम पचीस वर्षतक होनी चाहिये। तब पचीसवे वर्ष वह पुरुष सुयोग्य स्त्रीको प्राप्त करके गृहस्थाश्रममें प्रविष्ट होकर उत्तम संतान निर्माण करेगा और उत्तम सुयश कमायेगा। ज्ञानसे ये सात फल प्राप्त होने चाहिये। आजके ज्ञानसे क्या प्राप्त होता है वह पाठक स्वयं देख लें और वेदविद्याका महत्त्व जानें।

वेदोंका अध्ययन

वेदोंका अध्ययन हरएकको करना चाहिये, इसमें इस समय किसीकोभी संदेह नहीं है। परंतु जिन साधनोंसे हरएक मनुष्य वेदोंका अध्ययन कर सके, ऐसे साधन इस समयतक तैयार नहीं हुए है। स्वाध्यायमण्डल ही ऐसे साधन इकट्ठे करनेका कार्य कर रहा है।

दैवत संहिता

स्वाध्यायमण्डलने ' दैवत संहिता ' निर्माण की है। इसके दो भाग तैयार हुए और इनमें अग्नि, इन्द्र, सोम और मरुत् इन चार देवताओंके मन्त्र प्रथमभागमें तथा अश्विनौ, आयुर्वेद, रुद्र, उषा, अदिति आदित्य, विश्वेदेवा इन छः देवताओंके मन्त्र द्वितीयविभागमें छपे है। ये मंत्र करीब करीब १४००० हुए है। चारों वेदोंकी सब संहिताओंसे ये मंत्र छाटे गये है। इसलिये इनके पाठसे चारों वैदिक संहिताओंके पाठका फल मिल सकता है। इससे कितने परिश्रम बच जाते हैं, यह बात अध्ययन करनेवालोंकोंही मालुम हो सकती है।

दैवत संहिताके तृतीयभागकी छपाई प्रारंभ हो चुकी है। यह तृतीयभाग भी उतनाही बडा होगा कि जितने इससे पूर्व के दो भाग हुए है। और मन्त्रसंख्याभी करीब करीब उतनी ही होगी। इस तृतीयविभागमें सब छन्दोबद्ध मंत्र आनेवाले है।

सब देवताओंकी सूचिया, विशेषण, उपमा आदिकी गणना, पुनरुक्त मंत्रभाग इन सबका परिशिष्ट प्रत्येक देवताके साथ दिया है। अभ्यास करनेवालोंको इसका अत्यंत उपयोग हो रहा है और होगा, इसमें बिलकुल संदेह नहीं है।

तृतीयविभागमें छोटे छोटे सूक्तही अनेक देवताओंके हैं। सौसे अधिक मंत्र किसीभी देवताके प्रायः नहीं हैं। अतः इस तृतीयविभागके अन्तमें सब सूचिया इकट्ठी दी हैं। और प्रारंभमें क्रमशः मंत्र दिये हैं।

दैवत संहिताका और एक चतुर्थभाग होगा उसका नाम यज्ञविभाग होगा और इसमें संपूर्ण यजुर्वेदोंकी संहिताओंका समान विषयोंका संहितीकरण होगा। इसमें एकही स्थानपर यज्ञविषयका संहिताओंमें आया हुआ विवेचन प्रकरणशः संग्रहित होगा।

इसतरह इन चार विभागोमें संपूर्ण संहिताओका संग्रह होगा। यह एक तरहका संग्रह अध्ययनकी सुविधाके लिये अत्यंत आवश्यक है और यह स्वाध्यायमण्डलने जनताके सामने रख दिया है और इसका अध्ययन स्थानस्थानमें किया जा रहा है।

आर्षेय संहिता

ऋषि क्रमानुसार जो मंत्रोंका संहितीकरण है उसको आर्षेय संहिता कहते हैं। इसमें एक ऋषिके मंत्र एक स्थानपर संग्रहित होते हैं। प्रायः ऋग्वेदकी संहिता आर्षेय संहिताही है। नवम मंडलके मंत्र यथास्थानपर रखे जायेंगे और कुछ थोडेसे मंत्र यथास्थान रखे जायेंगे तो यह आर्षेय संहिता सहजही से बन सकती है। इसमें अथर्ववेदके मंत्र ऋषि क्रमानुसार संग्रहित करके जोड देने होंगे। पर वह कार्य सहजहीसे होनेवाला है।

साममंत्र ऋग्वेदके मंत्रही है, पर जो थोडेसे मंत्र प्रचलित ऋग्वेदमें नहीं मिलते, उनको यथा स्थान संग्रह करके रखना चाहिये।

आजकी अथर्ववेदकी संहिता न ऋग्वेद जैसी ' आर्षेय ' है और नाही ' दैवत ' है। उसका विषयवार संग्रह तो है ही नहीं। अतः उसका विषयानुरूप संग्रह करना आवश्यकही है।

आर्षेय और दैवत

इसतरह आर्षेय और दैवत संहिता बनतेही वेदके स्वाध्यायकी सुविधा हो सकती है। दैवत संहिताका अध्ययन जो कर रहे है वे जानते है कि इससे ४ वर्षोंका अध्ययन १ वर्षमें हो सकता है और दुर्बोध मंत्र भी अत्यंत सुबोध होते हैं।

आर्षेय संहितासे वैदिक भाषाके शब्दप्रयोग स्पष्ट हो सकते है। इसलिये जहां जहां वेद पढाईका प्रबंध है वहां दैवत संहिताकी पढाई शुरू करनी चाहिये। स्वाध्यायमण्डलद्वारा ये सब ग्रंथ तैयार किये जा रहे हैं, आशा है कि पाठक इनसे उचित लाभ प्राप्त करेंगे।

वेदमन्त्रोंसे मानव धर्मकी सिद्धि

'वेद' को हम 'धर्मग्रंथ' मानते हैं। यहां धर्मग्रन्थका अर्थ 'मानव-धर्मका ग्रन्थ' है अर्थात् 'वेद' से मानवों के धर्मका बोध होता है ऐसा हमारा मन्तव्य है। इस का विचार इस लेखमें करना हैं।

'वेद' पदसे ऋग्वेद, यजुर्वेद, सामवेद और अथर्ववेद ये ग्रंथ जाने जाते हैं। अर्थात् इन वेदोंके संहिता ग्रंथही हम यहां विचार करनेके लिये लेंगे और इनसेही मानवोंके धर्मकी सिद्धि होती है वा नहीं इसका विचार करेंगे। यहां वेदका अर्थ निश्चित हुआ। 'मानव-धर्म' का अर्थ मनुष्योंके आचरण करनेका धर्म है। मनुष्योंमें ज्ञानप्रधान, वीरताप्रधान, वाणिज्य प्रधान और कौशलप्रधान ऐसे चार प्रकारके मानव होते हैं। सभी मानवोंके ये चार विभेद हैं। इन सबका कर्तव्य वेदके मंत्रोंद्वारा प्रकट होता है या नहीं, यही इस निबंधका मुख्य प्रतिपाद्य विषय हैं।

'**सत्यं वद। धर्मं चर।**' अर्थात् 'सत्य बोल और धर्मका आचरण कर' ऐसी धर्मकी आज्ञा ढूंढनेका अभ्यास पाठकोंको बहुत है, पर ऐसी आज्ञाएं वेदमें बहुतही थोडी हैं। जैसा—

अक्षैर्मा दीव्यः। कृषिमित् कृषस्व।

(ऋ० १०।३४।१३)

'जूआ न खेल। कृषिका कार्य कर।' ये आज्ञाएं हैं। ऐसी वेदमें आज्ञाएं है, परंतु ऐसी आज्ञाएं बहुत ही अल्प है। आज्ञा करके उपदेश देना यह कोई बडी उत्तम आयोजना नहीं है। सत्य धर्मका अन्दरसे स्फुरण होना चाहिये। आज्ञासे कभी स्फुरण नहीं हो सकता, आज्ञासे अन्तःस्फुरणका प्रतिबंध हो सकता है। आज्ञाकारी मनुष्य आज्ञा करनेवालेकी ओर ताकता रहेगा। जो तरुण आज्ञाका केवल पालन करते हैं, वे अपनी स्फूर्तिसे कोईभी कार्य करनेमें असमर्थ होते हैं। इसतरह आज्ञासे जो धर्म चलाया जाता है, वह मानवी उन्नतिमें रुकावट डालता है। आज्ञा होनेपर वह उस आज्ञाका पालन करेगा, आज्ञा न हुई तो वह चुप बैठेगा। आज्ञा करनेवाले धर्मग्रंथ मानवी मनको गुलाम बना देते हैं।

इसलिये वेदने अपने अन्दरके मन्त्रोंद्वारा जो उपदेश दिया है, वह आज्ञा न करते हुए दिया है। उपदेश करनेके कई प्रकार होते हैं—

राजाके शासनसे एक उपदेश मिलता है। राजा कभी किसी को यह नहीं कहता कि तुम चोरी न करो, बुराई न करो। परंतु वह एक (कानून) विधिनियम बना देता है और उसमें वह लिखता है कि चोरी करनेवालेको यह दण्ड दिया जायगा, और व्यभिचार को यह। इस राजदण्डके भयसे लोग चोरी आदिसे बचे रहते है। राजाज्ञामें प्रजाके हित करनेकी इच्छा अवश्य रहती है, परंतु साक्षात् व्यक्त प्रेम नहीं रहता। दण्ड-भयसे मनुष्य बुराईसे बचे रहते है, यह निःसन्देह लाभ है, परंतु इसतरह दण्डके भयसे बचा रहना और दण्डके भयसे सन्मार्गपर रहना कोई शोभादायक बात नहीं है। मनुष्यकी प्रवृत्ति ही शुद्ध होनी चाहिये। कानूनके दबावसे रुकी हुई मनः प्रवृत्ति जब कानूनका डर हट जाता है तब उठ खडी होती है और अत्याचार करने लगती है। राजा न रहा, पुलिसका संरक्षण न रहा, तो येही लोग अत्याचार करते है।

इसलिये राजदण्डका भय मानवोंको असत्प्रवृत्तीसे दूर रखता है, परंतु सत्प्रवृत्तिशील नहीं बनाता है। यह दोष कानूनी शासनद्वारा बनता है, इसीलिये राज्यशासनमें मानवी मन न सुधरनेका दोष रहता है।

स्त्रीका प्रेमभी सुधार करता है। यदि प्रेम करनेवाली स्त्री पतिसे कहेगी कि 'हे प्रिय! आपको यह कर्म करना उचित नहीं है।' तो इसतरहके पत्नीके प्रेमके शब्दोंसे मनुष्य कुकर्मोंसे बच जाता है। और इससे बडे बडे पुरुषार्थके कर्म भी करता है। पर प्रेमके शब्द निःसंदेह मनुष्यको सत्प्रवृत्त करेंगे ऐसा नियम नहीं है। इस लिये स्त्रीके प्रेमसे किया गया उपदेश मनुष्यका निःसन्देह सुधार करेगा ऐसा कहना कठिन है। इसलिये यह साधनभी गौणही है।

उपदेश और प्रवचनकार सदा मिलते हैं ऐसाभी नहीं है। इसलिये यह साधन योग्य होनेपरभी सर्वदा एक प्रकारसे

*

प्राप्त नहीं हो सकता । तथा इसमें मनुष्यदोषभी रहता है ।

ये सब दोष देखनेके पश्चात् कुछ अन्य ढंग सदुपदेश करनेका होगा, तो उसे ढूंढना चाहिये । हम समझते है कि वह ढंग वेदका ढंग है । वेदमें बहुत आज्ञाएँ नहीं है, इसलिये मानवी मनको वेद गुलाम नहीं बनाते । अग्नि, जल, वायु, विद्युत आदि स्थायी और शाश्वत देवताओंका निरपेक्ष काव्य इसमें है । यह काव्य होंनेसे इसमें गम्भीरताके साथ लालित्यभी है और जैसी स्फूर्ति अन्य काव्य करते हैं वैसी स्फूर्ति इसके पठनसे होनाभी संभव है और यह सरलही बात है ।

' रामने रावण नामक शत्रुका पराभव किया और भारत देशको स्वातंत्र्यसे उज्वल बनाया । ' इतना काव्य या इतना वर्णन पढनेसे या सुननेसे उसके मनपर यह परिणाम होता है और उससे यह स्फूर्ति उसके मनमें होती है कि ' हमभी अपना बल बढाकर अपने शत्रुका पराभव करें, उस शत्रुसे होनेवाले क्लेशोंकों दूर करे और अपना भविष्य उज्वल बनावे । ' इसीतरह स्फुरण करा देना वेदका कार्य है । वेदके वर्णन इसतरहका स्फुरण करते हैं और यह स्फुरणही वेदका महत्त्व है ।

वेदमें आज्ञा न होते हुए वेदके वर्णनसे सत्प्रवृत्तिकी स्फूर्ति होती है, यही वेदकाव्यकी विशेषतता है । मानवी काव्यमें मानवके दोषभी गुणोंके साथ रहते है, वह बात इस देवकाव्य में नहीं है । देवताके वर्णनमें दोष होतेही नहीं, इसलिये वेद निर्दोष स्फूर्ति उत्पन्न करता है । यही वेदकी विशेषता है ।

' इन्द्रने वृत्र नामक अपने शत्रुका वध किया ' इतने वर्णनसे सुननेवालेके मनपर यह सुपरिणाम होना है और उसको ऐसा मालूम होता है कि ' मैंभी अपने शत्रुका पराभव करूंगा और जैसा इन्द्र विजयी हुआ वैसा मैंभी विजयी बनूंगा । ' यह जो स्फूर्ति है वही धर्म है । आज्ञाएँ वेदमें होतीं तो यह स्फूर्ति नहीं हो सकती थी, वहां तो केवल आज्ञाका पालन करनेकी गुलमी हो जाती । वह कदापि इष्ट नहीं है । यहां देवताके गुण अपने अन्दर बढानेकी सत्प्रवृत्ति है । मै देवताका वर्णन पढ रहा हू, देवताका जीवन दिव्य जविन है. वह मै अपने अन्दर ढाल रहा हूं और इसतरह मैं अपने अन्दर देवत्वकी वृद्धि कर रहा हूं । यह श्रेष्ठ भाव यहां है । श्रेष्ठ स्फूर्तिका यह साधन जैसा वेदमें है वैसा अन्यत्र कहींभी नहीं है ।

' यत् देवा अकुर्वन्, तत् करवाणि ' (श ब्रा.) ' जैसा देवोंने किया वैसा मैं करूंगा, जैसे देव तेजस्वी बने वैसा मै तेजस्वी बनूंगा ' यह नियम यहाँ है । देवताके वर्णनमें ऐसा कोई वर्णन यदि आ जाय कि जो मनुष्यके आचरणमे आना संभव ही नहीं, तो उसको हम कह सकेंगे कि देवत्वकी विशेष स्थितिकाही वह वर्णन होगा । अन्य जोभी वर्णन हैं, वह मानवी आचरणमें आनेवाले वर्णन है ऐसा माननाही युक्तियुक्त है ।

मंत्रमें अपना वर्णन

पाठक देवताके स्थानमें अपने आपको रखे, और अपनाही वह वर्णन है ऐसी कल्पना करके उसकी परीक्षा अपने आचरणके साथ तुलना करके करें, तब पता लग सकेगा कि, अपनी उन्नति होनेमें बाकी कितनी है । इसतरह परीक्षा करनेसेही वेद आचरणमें लाये जा सकते है । और वेदको आचरणमें ढालनाही मुख्य बात है । वेद जानना, वेद मानना, वेदका अर्थज्ञान प्राप्त करना, वेदके सिद्धान्तकी चर्चा करना और वेदका ज्ञान अपने जीवनमें ढालना यही उन्नतिका क्रम है ।

इस जगत्में ' वेद ' नामक एक पुस्तक है यह ज्ञान प्रथम होता है, पश्चात् ' वेद ' मानवधर्मका ग्रंथ है ऐसा मनुष्य मानने लगता है, इसके नंतर वेदके अर्थका विचार करता है और विचारके पश्चात् वेदका अर्थ वह जानता है । वेदके अर्थकी व्याख्याएँ अनेक प्रकारकी है, इसलिये उनके सत्यासत्यकी चर्चाभी करनी पडती है और कुछ न कुछ निश्चय करना पडता है । यह निश्चयही उसके लिये वेदका आशय निश्चित कराता है । अब प्रश्न आचरणका आता है । जो जितना इसका आचरण करता है, जो जितना वेदको अपने जीवनमें ढाल देता है, उसकेलिये उतनाही वेद होता है । जो आचरणमें नहीं आया वह वेद उसके कुछभी कामका नहीं है । इसलिये पाठक वेदके धर्मको अपने जीवनमें जितना ढाल सकते हैं, उतना ढाल देनेका यत्न करें ।

वेदके अर्थके विषयमें

अब अर्थके विषयमें कुछ थोडासा लिखना चाहिये । वेदके अर्थके विषयमें बहुत विचारकोंने बडे झगडे मचाये हैं, उनकी और विशेष लक्ष्य देनेकी कोई आवश्यकता नहीं । हमारे पास पाणिनीका व्याकरण है । उसमें वाक्यके पदोंका संबंध दर्शाया है । कर्ता, कर्म, क्रियापद, विशेषण, क्रियाविशेषण

आदिके संबंधसे जो अर्थ होगा, वही लेना चाहिये। मंत्रस्थ पदोंका दूरान्वय नहीं करना चाहिये। जहांतक हो वहांतक मन्त्रके चरण अथवा मंत्रके अर्धतक अर्थ समाप्त करने योग्य अन्वय करना चाहिये। जहांतक हो सके वहांतक मंत्रमें अर्थकी समाप्ति करनी चाहिये। हमें पता है कि इन नियमोंमें रहते हुए किसी किसी मंत्रमें अर्थकी पूर्णता नहीं होती, परंतु ये सब अपवाद है, अपवादोंसेही नियम बनते है। जिस समय किसीतरह उपस्थित पदोंसे कोई अर्थ निष्पन्न नहीं होता, उस समय पूर्व मंत्रोंसे अनुवृत्ती करके पूर्व मंत्रोंके पद अध्याहृत लेकर अर्थ पूर्ण करना चाहिये। किसी किसी समय पूर्वापर अर्थके अनुसार कई पदोंका अध्याहारभी करना आवश्यक होता है। इतना सब करकेभी जहां अर्थ निष्पन्न न होता हो, वहां यौगिक अर्थ करके अर्थ लगाना चाहिये। यौगिक अर्थ अनिर्वाह पक्षमें करना उचित है, यह बात वहीं भूलनी चाहिये। प्रायः मंत्रोंके पदोंसे सरल अर्थही बनता है परंतु किसी किसी कूट मंत्रमें यौगिक अर्थभी करना आवश्यक होता है। किसी किसी मंत्रमें अर्थका गौरव तथा विशेष श्लेषार्थकी सुसंगति करनेके लिये मूल यौगिक अर्थको देखना आवश्यक होता है। सदा सर्वदा यौगिक अर्थका आश्रय करके मन माने अर्थ करना कभी उचित नहीं है। सूक्तके संपूर्ण मंत्रोंकी संगति लगने योग्य मंत्रोंका अर्थ करना योग्य है। तथापि बीचके मंत्र कई सूक्तोंमें पुनरुक्त अथवा अभ्यस्त होते हैं अथवा बीचके मंत्र गूढार्थ प्रतिपादक होते है। उस मंत्रका अर्थ करनेके लिये यौगिक अर्थका आश्रय करना आवश्यक होता है। अर्थात 'यौगिक अर्थ' विशेष प्रसंगमें प्रयुक्त होनेवाली युक्ति है, इसका सदा सर्वदा प्रयोग करना हानिकारक है और अनर्थ कारीभी है।

मन्त्रका अर्थ करनेके लिये व्याकरण इसीलिये बनाया है कि कई मनुष्य बलात् मंत्रके अर्थका अनर्थ न कर सकें। परंतु संप्रदायके अभिमानसे कई मनुष्योंने अर्थके अनर्थ किये हैं, इसलिये पूर्वोक्त नियमोंका संक्षेपसे उल्लेख यहां करना पडा है। इस सबका तात्पर्य इतनाही है कि मंत्रोंके पदोंसे जो सरल अर्थ निकल आयेगा वही लेना योग्य है, अपने मनोविकार मंत्र पर लगाना योग्य नहीं है।

अब हम इसका फल स्वरूप मंत्रार्थ करते हैं और उसको आचरणमें ढालनेकी विधिभी लिखते है।—

अहं इन्द्रो न परा जिग्य इद्धनं न मृत्यवेऽव तस्थे कदा चन। सोममिन्मा सुन्वन्तो याचता वसु न मे पूरवः सख्ये रिषाथन॥ (ऋ. १०।४८।५)

इस मंत्रमें निम्नलिखित वाक्य हैं और उनका अर्थ ऐसा होता है—

१ अहं इन्द्रः = मैं इन्द्र हूं, मै शत्रुका नाशकर्ता हूं, मैं अधिपति हूँ।

२ धनं इत् न परा जिग्ये = मैं अपने धनका पराभव नहीं होने देता हूं अर्थात् मेरा धन मेरा पराभव करके कोईभी नहीं छीन सकता है।

३ कदा चन मृत्यवे न अवतस्थे = मै कदापि मृत्युके सामने उपस्थित नहीं होता अर्थात् मै मृत्युके वशमें नहीं होता। मै अमर हूं।

४ सोमं सुन्वन्तः! मा वसु याचत = हे सोमयाग करनेवालो! मुझसे तुम चाहे सो धन मागो।

५ पूरवः! मे सख्ये न रिषाथन = हे नागरिको! मेरी मित्रतामें जबतक रहोगे, तबतक तुम्हारा नाश नहीं होगा।

अब ये वाक्य कितने अंशसे अपने जीवनमें ढल सकते हैं, यह विचार करके देखिये। 'मैं इन्द्र हूं' यह पहिला वाक्य है। मै अधिपति हूं, मै स्वामी या प्रभु हूं ऐसा इसका आशय है। यदि आप अन्य किसीके अधिपति नहीं है तो आप अपने घर संसारके तो स्वामी अवश्य है। कमसे कम आप अपने देहके तो स्वामी है। यहां विचार करना चाहिये कि क्या आपने अपने शरीरपर प्रभुत्व संपादन किया है। अपने शरीरपर प्रभुत्व संपादन करनेके लियेही अष्टांग योग है। यमनियम आसन प्राणायाम प्रत्याहार ध्यानधारणा समाधि ये योगके आठ अंग है। इनके अनुष्ठानसे शरीर प्राण और मनपर प्रभुत्व स्थापन किया जा सकता है। क्या यह आपने किया है? यदि न किया होगा, तो आजही यह साधन शुरू कीजिये। यदि इससे पूर्व शुरू किया होगा तो आप उसका अभ्यास दृढनिश्चयपूर्वक अधिक कीजिये और जबतक आपके अधीन ये शरीर और प्राण न होंगे, तबतक विश्वासपूर्वक इसका अनुष्ठान कीजिये। यह तो शरीरपर प्रभुत्व रखनेकी बात हुई। यदि आपसे योगका संपूर्ण और यथायोग्य अभ्यास नहीं होता, तो आपको डरना नहीं चाहिये। शरीरसे शुभकार्य करने, मनसे शुभ-

विचार करने, वाणीसे शुभविचारके वाक्य बोलने, बुद्धिसे शुभ-संकल्प करनेका तो आप निश्चय करही सकते हैं। ऐसा निश्चय पूर्वक प्रयत्न करनेसे आपका प्रभुत्व आपके ऊपर प्रस्थापित होगा।

अपने शरीरपर प्रभुत्व रखना यह आत्मसुधारका प्रथम करने योग्य प्रयत्न है। इसके पश्चात् अपना संसारपर प्रभुत्व संपादन करना है। अपना घर, घरके तथा परिवारके लोग, ग्राम, जाति तथा राष्ट्रकी संघटना करके उसपर अपना प्रभाव डालना, यह कार्य क्रमसे सिद्ध होनेवाला है। विश्वपर प्रभुत्व रखनेकी बात मानवके कार्यक्षेत्रमें नहीं आती, परंतु संपूर्ण मानवजातिपर अपने विचारोंका प्रभाव डालना मानवके अधिकारमें है। इतना करनेवाले मानव हम इतिहासमें देखभी सकते हैं। यह आपने कहांतक सिद्ध किया इसका विचार हरएक मनुष्य पृथक् पृथक् करे और निर्णय लेवे कि अपना कार्य कितना हुआ और कितना होना शेष रहा है।

अपना जो प्रभुत्व स्थापित करना है वह शुभगतिसेही करना है, क्योंकि अशुभगतिसे सदा हानिही होती है। वह हानिका मार्ग सदाही त्याज्य है।

उक्त मंत्रका दूसरा विभाग ' मेरे धनको कोई मेरा पराभव करके छीन नहीं सकता ' यह है। क्या आप ऐसा कह सकते हैं? क्या आपने अपनी शक्ति इतनी अधिक बढा दी है कि जिससे आप यह कह सकते है कि आपका धन सुरक्षित है। आपका धन केवल घरकाही नहीं, अपि तु राष्ट्रकाभी धन ऐसा सुरक्षित होना चाहिये कि, जो किसीभी शत्रुका आक्रमण होनेपर सुरक्षित रह सके। ऐसी शक्ति आपको बढानी होगी। इस विषयमें आपने यदि कुछ किया होगा, तो उसकी तुलना आप यहां करके देख सकते हैं।

उक्त मंत्रका तीसरा वचन यह है कि ' मैं अमर हूं ' या मुझे मृत्युका भय नहीं है। आत्माकी दृष्टीसे प्रत्येक अमर है, इसमें संदेह नहीं है, परंतु वह अपनी अमरता किसने अनुभव की है। सब लोग बोलते हैं इसलिये स्वयंभी बोलना यह बात और है, परंतु आत्माकी अमरता अपने स्वानुभवसे कहना औरही बात है। सर्वात्मभाव अथवा विश्वव्यापक एक आत्माका अनुभव होनेतक उक्त अनुभव आना सर्वथा असंभव है। और यह बडी दूरकी बात है। इसलिये अपना अमरत्व तो निःसंदेह सत्य है, परंतु उसका अनुभव कष्टसे साध्य होनेवाली बात है।

' यज्ञ करनेवाले मुझसे अपेक्षित धनकी मांग करें ' अर्थात् यज्ञ करनेके लिये मुझसे जितना चाहिये उतना धन यज्ञ करनेवाले मांगें और लेवें, मेरा सब धन यज्ञके लियेही है। क्या आपने अपना सब धन यज्ञके लिये दिया है? क्या आप अपने धनका दान यज्ञके लिये करनेको तैयार है? आप अपने धनका दान जितने प्रमाणसे करनेके लिये सिद्ध होंगे, उतने प्रमाणसे आपके आचरणमें यह वचन आया ऐसा कहा जायगा। इन्द्रने तो अपना सब धन यज्ञके लियेही रखा है, अपने भोगके लिये नहीं। निःसंदेह यह बात अनुकरणीय है। अपने धनका उपयोग जितना दानके लिये होगा, उतनी उस धनकी सार्थकता अधिक होगी। सबकी भलाई होनेकी दृष्टीसे अत्यंत महत्त्वका यह भाव है। अतः यह सबको अपनाना चाहिये।

' जो मेरी सुरक्षामें आवेंगे उनका नाश कभी नहीं होगा।' क्या ऐसी सुरक्षा आप दे सकते हैं? क्या किसीको आप इतना सुरक्षाका विश्वास दिया सकते है?

इस मन्त्रमें जो पांच वचन हैं उनका यह विचार आचरणमें लानेकी दृष्टीसे है। जो विचार करना चाहते है वे उस मंत्रका वर्णन, अपनाही वर्णन है, ऐसा माने और अपनेमें उसको घटानेका यत्न करें। मंत्रमें कही स्थिति कभी न कभी अपनी स्थिति होगी ऐसी कल्पना करे और फिर अपनी स्थिति उस संभाव्य स्थितिसे कितनी दूर है अथवा कितनी नीचे है इसका निर्णय कर लें। ऐसा करनेसे पाठकोंको अपनी पूर्णता होनेमें कितना मार्ग काटना चाहिये, इसका पता लग जायगा और अपनी उन्नति कहांतक हुई है इसका भी निश्चय हो जायगा।

' वेदैश्च सर्वैः अहं एव वेद्यः । (गी. १५।१५) सब वेदोंसे ' मेरा ' ही ज्ञान होता है। ऐसा जो गीताका कहना है वह इसतरह अनुभवमें आ सकता है। सब वेद ' मेरा ' वर्णन कर रहे हैं अर्थात् मेरी पूर्णताकी स्थितिका वर्णन करते हैं। इससे मेरी आजकी स्थितिका ठीक पता लग सकता है। यही अपनी कसौटी है और यही अपनी परीक्षा है।

एक एक मन्त्रका अध्ययन इसतरह करना योग्य है। इसतरह विचार करते हुए हम जान सकते है कि हमारी उन्नतिका मार्ग कितना हमने समाप्त किया और कितना अब शेष

रहा है। इसतरह तुलना करनेसेही मनुष्यको वेदका महत्त्व विदित होगा। अब हम कुछ और मंत्र लेकर उनको अपने आचरणमें डालनेका विचार करते हैं—

केतुं कृण्वन्नकेतवे पेशो मर्या अपेशसे।
सं उषद्भिरजायथाः। (ऋ. १।६।३)

(१) **अकेतवे केतुं कृण्वन्**= अज्ञानी मनुष्यके लिये ज्ञान देनेवाला, और

(२) **अपेशसे पेशः कुर्वन्**=अरूपको सुरूप करनेवाला वह है।

(३) **उषद्भिः सं अजायथाः** =वह उज्वल किरणोंके साथ प्रकाशित हो गया है।

यहां (१) अज्ञानियोंको ज्ञान देना, निरक्षरोंको साक्षर बनाना, (२) कुरूपवालोंको सुरूप बनाना और (३) तेजस्वी भावोंके साथ प्रकट होना, ये तीन बाते कहीं हैं। ये मनुष्योंके आचरणमें लाने योग्य हैं।

निरक्षरोंको साक्षर बनाना, अज्ञानियोंको सज्ञान बनाना, अविद्वानोंको विद्वान् बनाना, अशिक्षितोंको सुशिक्षित बनाना यह कार्य बडाही प्रशंसा योग्य है और वह सबको करना योग्य है। कुरूपवालोंको सुरूप बनाना यहभी रहने सहनेके चालढंगके सुधारसे होनेवाली बात है। मनुष्य निसर्गतः कुरूप हो वा सुरूप, वह प्रतिदिन स्नान करने, सुंदर कपडे पहने, वेषभूषा अच्छी करने, केशकलाप आदिकी योग्य सजावट करने आदिसे मूल स्वरूपसे कई गुना अपनी सुंदरता बढा सकता है। ऐसी सुंदरता बढानेका यत्न करना मनुष्यके लिये योग्य है। जिसको अपनी सुंदरता बढानेका ज्ञान नहीं, उत्तम रहनसहनका पता नहीं, उसको इस विषयका ज्ञान सुविज्ञ मनुष्य देवे। वेद यह चाहता है कि मनुष्य अपनी सुंदरता बढावें और अच्छे रंगढंगसे सुंदर बनकर विराजते रहें। इसीतरह अपने तेजस्वी विचारों और कर्तृत्वोंके साथ विश्वमें प्रकट हों, प्रसिद्धिको प्राप्त हों। इस मन्त्रमें (१) ज्ञान प्रचार करने (२) अपनी सुरूपताकी वृद्धि करने (३) और अपना तेजस्वी जीवन बनानेका उपदेश है।

यह उपदेश हरएक स्थानमें मानवके आचरणमें लाने योग्य है। और भी देखिये—

य एकश्चर्षणीनां वसूनां इरज्यति।
इन्द्रः पञ्च क्षितीनाम्॥ (ऋ १।७।९)

'अकेला इन्द्रही सब मानवों, सब धनों और पांचों भूविभागोंका अधिपति है।' इतना बडा राज्य हो और पांचों देशों तथा सब जातीके लोगोंपर एक शासकका राज्य हो। यह क्षत्रियके शासनकी परम सीमा इस मंत्रमें वर्णन की है।

प्रजा संमत इन्द्र

यहां पाठकोंको इस बातका पता है कि, इन्द्र स्वयंभू शासक सम्राट् नहीं होता, प्रत्युत इन्द्र सब प्रजाओंके द्वारा चुना जाता था, उसका राज्यशासन बुरा होनेपर उस इन्द्रको हटाया जाता था और नया इन्द्र चुनकर उस राज्यपर बिठलाया जाता था। इसतरह इन्द्रका राज्य प्रजाकेद्वारा चुने हुए अध्यक्षका राज्य होता है। धर्मके विरुद्ध राज्यशासन करनेपर उस इन्द्रको पदभ्रष्ट किया जाता था। इसतरह इन्द्रका राज्य प्रजाके चुने हुए अध्यक्षका राज्य था। ऐसा राज्य पांचों देशोंपर हो और एकशासनके लाभ सबको प्राप्त हों यही भाव यहां है।

अध्यक्ष 'इन्द्र' है और उपाध्यक्ष 'उपेन्द्र' है, इसी उपेन्द्रको 'नारायण' कहते हैं। इसतरहका जनताद्वारा चुना हुआ इन्द्र सब मानवों, सब देशों और सब धनोंका अधिपति हो, जिसको जनता पसंद नहीं करती उसका अधिकार न हो, यही यहांके इस मंत्रका तात्पर्य है।

इस विषयमें एक प्रसिद्ध कथा है। कश्यपऋषि बडा यज्ञ कर रहे थे। उस यज्ञके लिये सब देव, सब ऋषि तथा सब अन्य लोग सहायता करते थे। स्वयं इन्द्रभी बडी बडी लकडियोंके ढेर स्वयं सिरपर उठाकर लाता था। वालखिल्य ऋषि अत्यंत दुर्बल थे अत: वे साठ सहस्रोंकी संख्यामें मिलकर एकही समिधा बडी मुष्कीलसे खींचकर लाते थे। इन्द्रने यह ऋषियोंका प्रयत्न देखा और वह हँस पडा। क्योंकि वह अकेलाही बडी लकडियोंकी ढेर ला रहा था। इन्द्रके हँसनेकी बात जानकर वालखिल्य ऋषियोंको क्रोध चढा और उन्होंने वहीं प्रतिज्ञा की कि विद्वानोंकी ऐसी हँसी करनेवाले इन्द्रको हम इन्द्रपदसे भ्रष्ट करेंगे और दूसरे सुयोग्य इन्द्रकी हम उसके स्थानपर स्थापना करेंगे। ऋषियोंकी इस प्रतिज्ञाको सुनकर इन्द्र भयभीत हुआ, और कश्यपऋषिकी शरण गया। पश्चात् कश्यपऋषिने वालखिल्य ऋषियोंको समझा दिया और इस इन्द्रको स्थानभ्रष्ट करनेके लिये चलाये उनके प्रयत्नसे बडी मुष्कीलसे उनको निवृत्त किया। तब वह इन्द्र अपने स्थानपर रह सका। (म. भा. आदि. ३०) इस कथासे पता लग सकता है कि इन्द्र जनताकी संमतिसे

ही राजगद्दीपर रह सकता है। ऐसा राजा पांचों देशों, पांचों लोगों और सब धनोंका अधिपति हो। और देखिये—

पुरां भिन्दुर्युवा कविः अमितौजा अजायत।
इन्द्रो विश्वस्य कर्मणो धर्ता वज्री पुरुष्टुतः॥

(ऋ. १।११।४)

' यह इन्द्र (पुरां भिन्दुः) शत्रुकी नगरियोंका नाश करनेवाला, (युवा) तरुण, (कविः) ज्ञानी, पारदर्शी, (अमित-ओजाः) अपरिमित सामर्थ्यवाला, (विश्वस्य कर्मणः धर्ता) सब कर्मोंका धारण करनेवाला, सब कर्मोंका चलानेवाला, (वज्री) वज्र जैसे प्रभावी शस्त्र धारण करनेवाला, और (पुरुस्तुतः) बहुतोंद्वारा प्रशंसित होनेवाला (अजायत) प्रसिद्धिको प्राप्त हुआ है। '

इस मन्त्रका एक एक पद मानवधर्मका बोध कराता है अतः प्रत्येक पद विचार करने योग्य है, देखिये—

१ **पुरां भिन्दुः** = शत्रुके नगरोंका, शत्रुके गढोंका भेद अथवा नाश करनेवाला। वीरोंको अपना सामर्थ्य ऐसा बढाना चाहिये कि जिससे शत्रुके नगरों और कीलोंका नाश करना सहजहीसे हो सके। शत्रुके युद्धके साधनोंसे अपने युद्ध प्रयत्न और युद्ध साधन अधिक उत्तम रखने चाहिये।

२ **युवा अमित-ओजाः कविः** = कविका अर्थ ज्ञानी है, क्रान्तदर्शी अर्थात् जो आखसे प्रत्यक्ष दीखता है, उसकेभी परेकी बात जाननेवाला, दूरदर्शी, अनुमानसे अथवा अन्तः स्फूर्तिसे न दीखनेवाली बातोंकोभी यथावत् जाननेवाला। केवल ज्ञानीसे कविकी दृष्टि विशाल और व्यापक होती है। **युवा,** तरुण, वीर सैनिक आयुसे मध्यम आयुकेही रहने चाहिये। तरुणही होने चाहिये। आयुसे वृद्ध हुए तो भी मनके उत्साहसे और शारीरिक ओजस्वितासे तरुण जैसे होने चाहिये। यह तारुण्यका जोशही विजय ला सकता है। इसीलिये '**अ-मित-ओजाः** ' अपरिमित सामर्थ्यवालाभी वह होना चाहिये। यहां पाठक यह स्मरण रखें कि वीर केवल तरुण और शरीरसे बलिष्ठही रहना पर्याप्त नहीं है, उसको ज्ञान चाहिये और अदृश्य परिस्थितिका ज्ञान प्राप्त करनेकी प्रतिभाभी चाहिये-

३ ' **वज्री** ' पद इन्द्रका वाचक है क्योंकि यह वज्र नामक एक प्रचंड शक्तिवाला शस्त्र धारण करता है। यह सब शस्त्रास्त्रोंका उपलक्षण है अर्थात् जो वज्रधारी है वह सब शस्त्रास्त्रोंका धारण करनेवाला है। ' वज्र ' का अर्थ फौलाद है। जो वज्र बनाया जाता है वह फौलादसेही बनता है। इसको अनेक प्रकारकी काटनेवाली धाराएंभी होती है। (कुश नामक घासके पत्तेपर जैसे काटनेवाले काटे होते है, वैसेही वज्रपर होते है। (**व्रजति इति वज्रं**) जो शत्रुपर दूरसे फेंककर मारा जाता है और शत्रुको छिन्नभिन्न कर सकता है वह वज्र नामक महा अस्त्र है। इसीसे इन्द्र अपने शत्रुके टुकडे करता है। इसतरहके शस्त्रास्त्र वीरको अपने पास रखने चाहिये।

४ ' **विश्वस्य कर्मणः धर्ता** ' = सब प्रकारके कर्मोंका आधार देनेवाला, सब प्रकारके कर्मोंको चलाने योग्य सहायता करनेवाला इन्द्र है। इन्द्र एक राजा है जो अपने राष्ट्रके अन्दरके संपूर्ण कर्मोंको यथायोग्य रीतिसे चलानेका यत्न करता है। राष्ट्रमें विद्याप्रचार, अन्दर और बाहरकी सुरक्षाका प्रबन्ध, कृषि, वाणिज्य, पशुपालन और पशुसवर्धन, सब प्रकारकी कलाकौशल्य तथा शिल्प विद्याकी उन्नति करना और कराना राजाका कर्तव्य है। इन सब कर्मोंकी धारणा करना राजाका कर्तव्य है। राजासे भिन्न अन्य धनसंपन्न लोग भी इन कर्मोंको अपना आधार देते रहें।

जो राजा अथवा जो मानव अपने राष्ट्रके लिये इतने कर्म करेगा, उसकी प्रशंसा सब लोग मुक्तकण्ठसे करेंगे, इसमें कोई संदेहही नहीं है, इसीलिये उसको (पुरुस्तुत) अनेकोंद्वारा प्रशंसित कहा है। पाठक इस मन्त्रके मननसे जान सकते हैं कि मनुष्य अपने राष्ट्रकी सुस्थितिके लिये क्या क्या करे। यह मंत्र अपनीही प्रशंसा कर रहा है ऐसा माननेसे और अपने द्वारा इनमेंसे कौनसे कार्य कितने प्रमाणसे हो रहे है यह देखनेसे यह मंत्र अपनेमे कितने अंशसे ढाला गया, इसका पता लग सकता है। हरएक मनुष्य (पुरु-स्तुत) बहुत लोग अपनी प्रशंसा करें ऐसी इच्छा करता है, परंतु अनेक लोग प्रशंसा तो अन्तमें करेंगे, उसके पूर्व जो कर्म करने चाहिये, वे तो प्रशंसाकी अपेक्षा न करते हुए करतेही रहना चाहिये। यह उपदेश देनेके लियेही इस मन्त्रमें ' पुरुष्टुत ' पद अन्तमें रखा है और उससे पूर्व (१) शत्रुके कीलोंको तोडना, (२) तरुण जैसा उत्साही रहना, (३) ज्ञान विज्ञान प्राप्त करके क्रान्तदर्शी बनना, (४) अपरिमित बलसे युक्त होना, (५) सब कर्मोंको उत्तेजन देकर उनका पोषण करना, (६) नाना प्रकारके शस्त्रास्त्रोंका निर्माण और धारण करना इतने कर्तव्य लिखे हैं। जो इनको करेगा उसकी प्रशंसा सब करेंगे

इसमें संदेहही नहीं है।

इसतरह वेदने यहां सबके लिये यह सूचना दी है कि पहिले जनहितके कर्म करने चाहिये, पश्चात् उन कर्मोंकी सफलता देखकर जनता प्रशंसा करेगी। प्रशंसा पहिले नहीं हो सकती। प्रशंसाकी अपेक्षा न कर, वह होगी, परंतु तुम पहिले उत्तमोत्तम कर्म करते जाओ और वे कर्म ऐसे हों कि जिनसे जनताकी सुरक्षा होकर उनका संतोष हो। मनुष्यका दृष्टीबिन्दु अपने कर्तव्यपरही रहना चाहिये। और देखिये—

यः शूरेभिर्हव्यो यश्च भीरुभिः यो धावद्भिर्हूयते यश्च जिग्युभिः। इन्द्रं यं विश्वा भुवनाभि संदधुः मरुत्वन्तं सख्याय हवामहे॥ (ऋ. १।१०१।६)

'जिसको शूर लोग अपनी सहायतार्थ बुलाते हैं वैसे भीरुभी बुलाते हैं, जिसकी सहायता विजयी चाहते हैं वैसी दौडनेवाले भी चाहते हैं अथवा युद्धसे भागे हुएभी चाहते हैं, जिस इन्द्रके साथ सब भुवन अपना संबंध जोडना चाहते हैं, उस मरुतोंके साथ रहनेवाले इन्द्रको हम सब उसके साथ मित्रताका संबंध जोडनेके लिये बुलाते हैं।'

'यः शूरेभिः हव्यः, यः भीरुभिः' = जिसको शूरवीर बुलाते हैं वैसे डरपोकभी बुलाते हैं। यह एक सामर्थ्य की बात है। सामर्थ्यके कारण शूर और भीरुभी समान रीतिसे विश्वास रखते हैं और कठिण समयमें सहायतार्थ बुलाते हैं। शूर पुरुष भीरुओंको तुच्छ समझते हैं और भीरु शूरोंके पास जानेके लिये डरते हैं। परंतु इन्द्र ऐसा है कि जो शूरोंका और भीरुओंकाभी समान रीतिसे विश्वास पात्र है। शूर और भीरु ये दोनों निडर होकर इन्द्रके पास पहुंचते हैं और उसको अपना सहायकर्ता मानते हैं। इन्द्रके शूर होनेमें किसी को संदेहही नहीं है। वह शूरोंमेंभी महाशूर है, परंतु वह शूरों और भीरुओंकोभी समानतया प्रिय है। सबको यह बात ध्यानमें धारण करनी चाहिये और अपने विषयमें बात क्या है सो देखना चाहिये। क्या आपपर दोनोंका विश्वास है? वही श्रेष्ठ व्यक्ति है जिसपर विद्वान और अविद्वान, शूर तथा भीरु, धनी या निर्धन, इन सबकी समान भावसे प्रीति हो।

'विजयी और युद्धसे भागनेवालोंका जिसपर विश्वास है।' इस मंत्रभागकीभी व्यवस्था यही है कि जो ऊपर बतायी है। 'सब प्राणी जिसके साथ मित्रता करना चाहते हैं।' इसमेंभी उक्त दोनों प्रकारके लोगोंका संग्रह है। इस मन्त्रके समान अपना अधिकार कब होगा, इसका विचार पाठक करें, तथा औरभी —

वयं जयेम त्वया युजा वृतमस्माकं अंशं उदवा भरेभरे। अस्मभ्यमिन्द्र वरिवः सुगं कृधि प्र शत्रूणां मघवन् वृष्ण्या रुज॥ (ऋ. १।१०२।४)

'हे इन्द्र! (त्वया युजा) तेरे साथ रहते हुए (वयं) हम (वृतं जयेम) हमें घेरनेवाले शत्रुको परास्त करके अपना विजय करेंगे। (भरेभरे) हरएक युद्धमें (अस्माकं अंशं उदव) हमारे विभागकी सहायता कर और उसकी रक्षा कर। (वरिवः) धन आदि सुखदायी पदार्थ (अस्मभ्यं) सु-गं कृधि) हमारे लिये सुखसे प्राप्त होने योग्य कर दो। हे (मघवन्)धनवान्! (शत्रूणां वृष्ण्या रुज) शत्रुओंके सब बलोंको तोड दे।'

(१) 'तेरे साथ रहते हुए हम शत्रुको अवश्य जीत लेंगे, (२) प्रत्येक युद्धमें तू हमारी रक्षा कर जिससे हमारी जीत होती रहेगी, (३) तुम्हारे साथ रहनेसे हमें सुखसे धन मिलते रहेंगे, (४) तथा हमारे शत्रुओंके बलोंको तुम तोड दो।' ऐसा कोई किसी विषयमें हमें कह सके ऐसा अपना सामर्थ्य बढना चाहिये। हम जिसके साथ रहेंगे उसकी जीत होगी, हरएक युद्धमें उक्त कारण हमारी सहायताही लोग चाहेंगे, हमारे साथ रहनेसे साथ रहनेवालोंको सुखदायी धन सुगमतासे प्राप्त होगा और हम सब शत्रुओंके बलोंको तोड देंगे जिनसे हमारे साथी निर्भय होंगे। ऐसा यदि कोई कहेगा तोही वह इस मंत्रकी ऊंचाईतक पहुंचा है ऐसा कह सकते हैं। पाठक अपने विषयमें क्या बात है इसका विचार करें और जानें कि अपना सामर्थ्य कहांतक बढ गया है और कहांतक और बढना चाहिये। प्रत्येक मन्त्र इसतरह पाठकोंकी परीक्षा ले रहा है, उनको देखना चाहिये कि वे कहांतक उत्तीर्ण हो रहे हैं।

अब यही बात हम एक ऋग्वेदका सूक्त लेकर उसे अपने अन्दर कैसा घटाकर देखना चाहिये इसका विचार करते हैं। ऋग्वेदका प्रथम सूक्त ही परीक्षाके लिये लीजिये—

(मधुच्छन्दा वैश्वामित्रः। अग्निः। गायत्री)

अग्निमीळे पुरोहितं यज्ञस्य देवमृत्विजम्।
होतारं रत्नधातमम्॥ १॥

अग्निः पूर्वेभिर्ऋषिभिरीड्यो नूतनैरुत ।
स देवाँ एह वक्षति ॥ २ ॥
अग्निना रयिमश्नवत् पोषमेव दिवेदिवे ।
यशसं वीरवत्तमम् ॥ ३ ॥
अग्ने यं यज्ञमध्वरं विश्वतः परिभूरसि ॥
स इद्देवेषु गच्छति ॥ ४ ॥
अग्निर्होता कविक्रतुः सत्यश्चित्रश्रवस्तमः ।
देवो देवेभिरा गमत् ॥ ५ ॥
यदङ्ग दाशुषे त्वं अग्ने भद्रं करिष्यसि ।
तवेत्तत्सत्यमङ्गिरः ॥ ६ ॥
उप त्वाग्ने दिवेदिवे दोषावस्तर्धिया वयम् ॥
नमो भरन्त एमसि ॥ ७ ॥
राजन्तमध्वराणां गोपामृतस्य दीदिविम् ।
वर्धमानं स्वे दमे ॥ ८ ॥
स नः पितेव सूनवेऽग्ने सूपायनो भव ।
सचस्वा नः स्वस्तये ॥ ९ ॥

(ऋ १।१)

यहां ' अग्नि ' पद ' आग ' का वाचक है, वैसाहीं सत्य स्वरूप सच्चिदानन्द ' परमात्मा ' काभी वाचक है । इस विषय में प्रमाण ' **तत् एव अग्निः** ' (वा. य ३२ । ३१) और ' **एकं सत् विप्रा बहुधा वदन्ति अग्निं** (१।१६४।४६) ये है । जीव परमात्माका अंश है इसलिये जो पद पूर्ण अर्थमें परमात्माके वाचक हैं वेही पद अंश अर्थमें जीवके वाचक होते हैं । इससे यह ' अग्नि ' पद ' जीव ' का वाचक माना जाता है इस परिभाषाको सब जानते है और इसीको लक्ष्यमें रखकर श्री स्वामीजीने अपने भाष्यमें ' **अग्निं परमात्मानं भौतिकं वा** ' ऐसा लिखा है जो वैदिक परिभाषाके अनुसार युक्तियुक्त है । अतः यहां मानवपरक अर्थ करनेकी बात उक्त कारण योग्य है ।

इस विषयमें दूसरी बात यह है कि ' **नरका नारायण** ' होता है, ' जीवका शिव ' बन जाता है, यह जीव कभी न कभी मुक्त होनाही है, जिस समय यह मुक्त होगा, उस समय यह जीव ब्रह्मभावको प्राप्त होगा । जिस समय यह जीव मुक्त होकर ' नारायण, शिव, ईश्वर अथवा ब्रह्मभावको प्राप्त होगा; उस समय सब वेद इसीका वर्णन पूर्णतया करने- वाले बनेंगे क्योंकि उस समय यही पूर्ण बनेगा, यही भूमा बनेगा । और वेद तो ईश्वरका वर्णन करतेही हैं-

सर्वे वेदा यत् पदं आमनन्ति । (कठ उ. १।२।१५)
वेदैश्च सर्वैः ' अहं ' एव वेद्यः । (गी. १५।१५)

' सब वेदोंसे ब्रह्मका वर्णन होता है । ' ' सब वेद ' मेरा ' वर्णन करते हैं, ' इसतरह पूर्ण बननेके पश्चात् पूर्णतया वर्णन वेद करेंगे, वेही वेद अपूर्ण रहे जीवकी कितनी उन्नति हुई है यहभी उसी कसौटीसे बता सकते हैं ।

उदाहरणके लिये वेदका पद ' **शतक्रतु** ' लीजिये । सौ क्रतु जिसने किये हैं, वह ' शतक्रतु ' है, पूर्णतया शतक्रतु परमात्माही है, क्योंकि वह सैकडों कर्म करता है, परंतु जीव जिस समय मुक्त होगा उस समय सैकडों यज्ञ करनेके कारण शतक्रतु बनेगा । इस समय वह शतक्रतु नहीं है । पर इस जीवका नाम इस समय ' क्रतु ' हैं क्योंकि यह एक एक यज्ञ कर रहा है अर्थात् इस समय यह जीव सौवा हिस्सा शतक्रतु है । आगे इसकी योग्यता बढ जायगी । इसतरह वेदका प्रत्येक पद जीवका वर्णन पूर्ण बननेकी अवस्थामें जैसा किया जायगा, वैसा कर रहा है, इसी कारण इसी वेदमंत्रसे जीवकी उन्नति कहातक हुई है, इसकी परीक्षा हो जाती है ।

दूसरा उदाहरण ' **शतानीक** ' पदसे लिया जा सकता है । यह पद ऋ० ८।५०।२ में आया है । शतानीक पदसे 'सौ सेना विभाग जिसके पास है वह वीर ' ऐसा अर्थ व्यक्त होता है । किसी राजाके पास पच्चीस सेनाविभाग होंगे तो वह चौथा भाग शतानीक हुआ । इसीतरह वेदमन्त्रोंसे मानवोंकी परीक्षा हो सकती है । वेदमें मानों कि मानवका ' पूर्ण ' रूप वर्णन किया है, कहातक मानव बढ कर उन्नत हो सकता है वह पराकाष्ठा वेदमें लिखी या कही अथवा बतायी है । इस समय उस चरम सीमातक पहुंचा नहीं है, वह मार्गमें अपने मार्गपरसे चल रहा है, वह कहातक पहुंचा है, इसका निर्णय इन मन्त्रोंके मननसे हो जाता है । वेदमंत्रोंको अपने अन्दर घटानेसे यह लाभ होता है ।

यहांतकके विवरणसे वेदमंत्रोंको जीवके जीवनमें घटाने- की बात युक्तियुक्त है, यह बात पाठक समझ गये होंगे ऐसा हम समझते हैं ।

अब हम ऋग्वेदके प्रथम सूक्तसे किसतरह मानवकी परीक्षा होती है इसका विचार करते हैं। इस सूक्तका देवता 'अग्नि' है और इसके विशेषण ये हैं- 'पुरोहित, यज्ञस्य देव', ऋत्विज्, होता, रत्नधातमः, (१) पूर्वेभिः नूतनैः उत ईड्यः, (२) रयिं पोषं यशसं वीरवत्तमं अश्नवत्, (३) कविक्रतु सत्यः, चित्रश्रवस्तमः, देवेभिः देवः, (५) अध्वराणा राजन्, ऋतस्य गोपा, दीदिविः, स्वे दमे वर्धमानः, (८) सूपायन सूनवे पिता इव (९)" अब देखिये कि ये विशेषण मनुष्यके जीवनमें घटानेसे इसका परिणाम क्या निकल आता है।

१ अग्निः— अग्नि प्रकाश देकर मार्गदर्शक होता है, उष्णता देता है और गति उत्पन्न करता है। मनुष्य ज्ञानाग्निके प्रकाशसे दूसरोंका मार्गदर्शक हो जावे, उत्साहकी आग अनेकोंके अन्तः-करणोंमें जलावे और जनताको सन्मार्गमें प्रवृत्त करे।

२ पुरोहित.- अग्रभागमें उपस्थित पुरोहित कहलाता है। उत्तम कार्य करनेके लिये सबसे प्रथम उपस्थित हो जावे, जनताका हित करनेके लिये प्रथम आगे बढे। जिस तरह पुरोहित अपने यजमानका हित करनेके लिये कटिबद्ध रहता है, वैसा मनुष्य सदा जनहित करनेके लिये सदा कटिबद्ध और दक्ष रहे।

३ यज्ञस्य देवः- दिव्यभावमें लोंका सत्कार, संगतिकरण तथा दानमय कर्म यज्ञ नामसे वर्णन किया जाता है। ऐसे यज्ञका प्रकाशक वा प्रवर्तक मनुष्य सज्जनोंका सत्कार करे, संगठन करे और दानद्वारा सत्पात्रोंकी सहायता करे। ऐसे कर्म-करे कि जिनसे ये तीनों बातें सिद्ध होतीं जायँ।

४ ऋत्विज्- (ऋतु-यज्)- ऋतुके अनुसार यजन करने-वाला, ऋतुके अनुकूल कर्म करनेवाला, ऋतुके योग्य कार्य व्यवहार करनेवाला। एक वर्षमें वसंत ग्रीष्म आदि छः ऋतु होते हैं, प्रत्येक ऋतुके अनुसार मनुष्यको व्यवहार करना योग्य है। मानवी जीवनमें बाल्य, तारुण्य आदि ऋतु होते हैं, इनमें करने योग्य कर्म यथायोग्य करने चाहिये। व्यक्तिके तथा राष्ट्रके व्यवहारमें ये ऋतु होते हैं और उनके अनुकूल व्यव-हार करना हरएकके लिये योग्य और आवश्यक है।

५ होता- हवन करनेवाला और देवोंको बुलानेवाला। यज्ञमें हवन करना और देवोंकी स्तुति प्रार्थना और उपासना करना।

६ रत्नधातमः- अत्यन्त मूल्यवान धन अपने पास रखने-वाला और उसका दान मुक्त हस्तसे करनेवाला।

७ पूर्वेभिः नूतनैः ईड्यः— पूर्व और नवीनोंद्वारा प्रशंसित। किसी एक समयके विद्वानोंद्वारा प्रशंसा प्राप्त करना यह सहज होनेवाली बात है। परंतु पूर्व और नवीनोंद्वारा प्रशंसित होना यह बात कठिन है, क्योंकि हरएक युगमें विचारोंका हेरफेर होता है और जो प्राचीनोंको पसंद होगा, वह नवीनोंको भी पसंद होगा ऐसी बात नहीं है। इसलिये पूर्व और नवीनोंको पसंद होना यह सुतरा कठिन कार्य है। उदाहरणके लिये देखिये कोई सम्राट् अपने समयके कवियोंद्वारा प्रशंसित हो सकता है, धन लेकर अथवा अधिकारके दबावसे वे कवि प्रभावित होकर उसकी प्रशंसा करेंगे, परंतु उस सम्राट्के मरनेके पश्चात् जो नवीन कवि अथवा इतिहास लेखक आवेंगे वे उसकी स्तुति क्यों करेंगे? वे उसकी कडी समालोचना भी कर देंगे। इसलिये वह निःसंदेह प्रशंसित है कि जिसकी प्रशंसा पुराने और नये दोनोंही कवि करते हैं।

८ रयिं पोषं वीरवत्तमं यशसं अश्नवत्— धन पुष्टी और वीरोंसे युक्त यश प्राप्त करता है। धन भी प्राप्त हो, धनके साथ शरीरका पोषण और शरीरकी शक्तिभी बढे, और वीरोंसे प्राप्त होनेवाला यश भी मिले। इन तीनोंको प्राप्त करना यह सहज होनेवाली बात नहीं है। किसीको धन मिला तो उसका शरीर दुर्बल रहता है। शरीर पुष्ट रहा तो धन नहीं होता और यश तो बडा ही कठिन है और वीरतासे मिलनेवाला यश और साथसाथ धन और पुष्टी सुतरा कठिन है। इसीलिये इस मन्त्रमें कहा है कि धन पुष्टि और वीरतायुक्त यश कमाना चाहिये।

९ कवि-क्रतु.- कवि अर्थात् दूरदर्शी ज्ञानी बने, और क्रतु अर्थात् बडे बडे यज्ञ भी करे। ज्ञान प्राप्त होनेके पश्चात् उसकी परिणति पुरुषार्थमें होनी चाहिये। मनुष्यकी एक ज्ञानशक्ति है और दूसरी कर्मशक्ति है। ज्ञान इसलिये प्राप्त करना चाहिये कि उससे उत्तम कर्मभी हों। जो केवल ज्ञानवान् है और कर्म नहीं कर सकता, तथा जो कर्म कर सकता है परंतु जो ज्ञानवान् नहीं है, वे दोनों अधूरे हैं। अतः पूर्ण मानवका ध्येय 'कवि और क्रतु' साथसाथ बनना अर्थात् पूर्णज्ञानी और पूर्ण कर्म-कुशल बनना है। यहां ज्ञान कर्म समुच्चय बताया है।

१० सत्यः- जो सत्य अर्थात् जो सत्यका पालन करता है, जिसका जीवन ही सत्यमय है, जो सत्यसे कभी दूर नहीं जाता, जो सत्य पालनके लिये अपना सर्वस्व अर्पण करता है, उसका

नाम 'सत्य' हो सकता है। सत्यही मनुष्यका जीवन बने। सत्य पालनके लिये मनुष्य जितना चाहे उतना कष्ट सहन करे, उससे उसका तेज बढता ही रहेगा।

११ **चित्र-श्रवस्तमः** = अत्यंत विलक्षण कीर्तिसे युक्त। पूर्वोक्त प्रकार जो गुणसंपन्न होगा, उसकी कीर्ति चारों ओर फैलेगी, इसमें संदेह ही नहीं है।

१२ **देवेभिः देवः आगमत्** = देवोंके साथ देव आवे। विद्वान् विद्वानोंके साथ, शूर शूरोंके साथ, धनी धनिकोंके साथ, कर्मप्रवीण कर्मप्रवीणोंके साथ आ जावे। स्वयं दिव्य गुणवला बने और वैसे ही दिव्य गुणवालोंको अपने साथ रखे। अपने साथवालोंमें कोई अधम न हो, कोई गुणहीन न हो, कोई दुराचारी न हो। स्वयं देव बने और उसके सब साथी भी देवही हों। यही उच्च जीवनका रहस्य है।

१३ **अध्वराणां राजन्** = अहिंसापूर्ण कर्मोंका प्रकाशक। जिनमें हिंसा नही होती ऐसे कर्म करने और करानेवाला, जिन मे टेढापन नहीं तथा कुटिलता नही ऐसे कर्म, ऐसे सरल कर्म करनेवाला।

१४ **ऋतस्य गोपा** = सरलताका संरक्षक, सत्यका रक्षक, सीधेपनकी रक्षा करनेवाला।

१५ **दीदिविः** = प्रकाशमान्, तेजस्वी।

१६ **स्वे दमे वर्धमानः** = अपने घरमें, स्थानमें, देशमें और राष्ट्रमें बढनेवाला। अपने संयममें बढनेवाला। अपने इंद्रियोंके दमनमें अपनी शक्ति बढानेवाला।

१७ **सूनवे पिता इव, सूपायनः**— पुत्र जैसा निर्भयतासे अपने पिताके पास जाता है, उतनी निर्भयतासे जिसके पास लोग पहुंच सकते है, इतना जो लोगोंका विश्वासपात्र है।

ये विशेषण बता रहे हैं कि मानव उच्च स्थितिमें कहांतक पहुंच सकता है। ये विशेषण जिसमें पूर्णताके साथ सार्थ होते हैं, वही पूर्ण उन्नत हुआ पुरुष होगा। मनुष्य अपनी परीक्षा इन विशेषणोंको अपनेमें ढाल कर देखकर कर सकता है और कहांतक अपनी उन्नति हुई है और कितनी उन्नति प्राप्त करनी है यह जान सकता है- जनताको प्रकाशका मार्ग बताना, कार्यकर्ताओंका उत्साह बढाना, उनको सन्मार्गमें प्रवृत्त करना, सत्कार्य करनेके लिये अग्रभागमें होना, सत्कर्मोंका प्रवर्तन करना, ऋतुके अनुसार व्यवहार करना, दान देना, अर्पण करना, धन पास रखना और मुक्त हस्तसे उसका दान करना, पूर्व और नवीन कवियोंके लिये प्रशंसा योग्य होना, धन पुष्टी और वीरोंके साथ रहनेवाला यश प्राप्त करना, ज्ञान प्राप्त करके उससे श्रेष्ठ कर्म करना, सत्यका पालन करना, श्रेष्ठ कीर्तिको प्राप्त करना, दिव्यगुणयुक्त बनना और वैसेही दिव्यगुणवाले साथियोंके साथ रहना, हिंसा रहित कार्य करना, सत्यका पालन करना, तेजस्वी जीवन धारण करना, अपने घरमें शक्तिसे संपन्न होकर बढना यह मानवोंका साध्य है। इसमें ऐसा कोई कार्य नहीं है कि जो किसी मानवसे न होनेवाला हो। हरएक मानव इनको अपने अन्दर ढाल सकता है और उन्नत हो सकता है।

यह प्रथम सूक्त परमात्मपरक, अग्निपरक तथा जीवपरक लगता है। यहां हमने जो विचार आरंभ किया है वह मानवी जीवनमें वैदिक सूक्तको ढालकर उससे मानवी उन्नति कैसी सिद्ध हो सकती है, यह देखनेके उद्देश्यसे किया है। पाठकभी समझ गये होंगे कि इस तरह विचार करनेसे वेदके सूक्त मनुष्यके लिये शुद्ध वैदिक मार्ग दिखा सकते है और मनुष्यको उसकी उन्नतिका सत्य मार्ग बता सकते हैं। इस सूक्तमें और कई बोधवचन है उनका अब विचार करते हैं-

१ **अहं पुरोहितं अग्निं ईडे**- मैं सत्कार्य करनेके लिये अग्रभागमें रहनेवाले अग्रणीकी प्रशंसा करता हूं, अर्थात् जो सत्कार्य करनेके समय अग्रभागमें नहीं होता उसकी प्रशंसा करना योग्य नहीं है।

२ **स देवान् इह आवक्षति**- वह देवोंको, दिव्य जनोंको यहा लाता है, दिव्य सज्जनोंकोही अपने पास लाया जावे, जो वैसे न हों उनसे कोई संबंध न रखा जावे।

३ **सः अध्वर. देवेषु गच्छति**- जो हिंसा रहित तथा जो सरल स्वभावयुक्त अर्थात् कुटिलता रहित कर्म होगा, वही देवोंकेद्वारा स्वीकृत जायगा। हिंसायुक्त और कुटिलताके साथ किये कर्म देव स्वीकार नहीं करते, अतः मनुष्य हिंसायुक्त कर्म न करें, कुटिल बर्ताव न करें, और टेढी चालसे व्यवहार न करें।

४ **भद्रं करिष्यसि तव इत् सत्यं**- तू जो कल्याणकारक कर्म करेगा वह, तेराही सत्य कर्म होगा अर्थात् वह तेराही यश बढावेगा।

५ **स्वस्तये सचस्व**- कल्याण करनेके लिये यत्न कर।

इत्यादि वाक्य इस प्रथम सूक्तमें हैं वे उक्त अर्थके अनुसार मानवधर्मका बोध कर सकते हैं। इस तरह यह संपूर्ण सूक्त मनुष्यके लिये मार्गदर्शक हो सकता है। इस रीतिसे पाठक विचार करेंगे, तो उनको स्पष्ट होगा प्रत्येक सूक्त मानवधर्मका बोध दे सकता है। यही रीति है कि जिससे वेद मनुष्य धर्मके ग्रंथ हैं यह स्पष्ट हो जाता है। अब इस सूक्तका अर्थ हम मानव धर्मकी दृष्टिसे नीचे देते हैं-

१ उस अग्रणीकी मैं प्रशंसा करता हूं कि जो सत्कर्म करनेके समय स्वयं सबके अग्रभागमें रहता है, जो सबको प्रकाशका मार्ग दिखाता है, सत्कर्मका उत्साह बढाता है, और प्रशस्त कर्म कराता है, सत्पुरुषोंका सत्कार-मानवोंका संघटन-अन्योंकी सहायता जिन कर्मोंसे होती है उन कर्मोंका जो प्रवर्तन करता है, ऋतुओंके अनुसार जो अपना आचरण करता है, जो दान देता है तथा जो स्वयं धनादिको प्राप्त करके मुक्त हस्तसे उसका दान करता है।

२ ऐसे अग्रणीकी जैसे प्राचीन कवि प्रशंसा करते थे वैसेही अर्वाचीन कविभी प्रशंसा करते हैं। यही दिव्य गुणवालोंको यहां ले आता है।

३ इससे (सत्कर्म करनेसे) धन प्राप्त होता है, प्रतिदिन (उत्तम अन्नसे) पुष्टि होती है और वीरोंके साथ रहनेवाला यशभी मिलता है।

४ यह अग्रणी जो हिंसा रहित शुभकर्म करता है वह सब प्रकारसे देवोंतक पहुंचता है, ऐसे कर्मका स्वीकार देव करते हैं।

५ यह अग्रणी दाता, ज्ञानी, कर्ममें प्रवीण, सत्यका पालन कर्ता, विलक्षण यशसे युक्त होता है, यह देव देवोंके साथ यहां आता है (अपना निवासस्थान देवोंसे युक्त करता है।)

६ हे प्रिय ! जो तू दाताका कल्याण करता है वह तेरेसे ही होनेवाला कार्य है। (निःसन्देह तूही यह कर सकता है।)

७ प्रतिदिन और प्रात सायं हम तेरे पास आते हैं और तुझे ही नमन करते हैं।

८ तू हिंसारहित कर्मोंको प्रकाशित करता है, सत्यका संरक्षण करता है, तेजस्विताका प्रकाश करता है और अपने स्थानमें बढता है।

९ वह तू, जैसा पुत्र निर्भयताके साथ अपने पिताके पास जाता है, वैसा सबको प्राप्त हो और हम सबका कल्याण करनेवाला हो।

यह इन नौ मंत्रोंका सरल अनुवाद है। पाठक इसका पाठ करेंगे तो उनको निःसन्देह पता लग जायगा कि यह वर्णन अग्निकी अपेक्षा अधिक स्पष्टताके साथ मानवी जीवनमेंही पूर्णतासे घट सकता है। ईश्वरमें, अग्निमें और मानवी जीवनमें इस तरह ये वेदमंत्र घटाकर देखनेसेही मंत्रका गांभीर्य प्रकट हो सकता है। ये घटाते समय पदोंके अर्थोंका किसी समय थोडा संकोच और किसी स्थानपर पदोंके अर्थोंका विस्तार करना आवश्यक हैं और ऐसा करना अपरिहार्य भी है। पाठकोंकी सुविधाके लिये हम इंद्रके एक सूक्तका इसी तरह विवरण करते हैं—

[गोतमो राहूगणः। इन्द्रः। १६, अथवा, दध्यङ् मनु च पंक्तिः (ऋ १।८०)]

इत्था हि सोम इन्मदे ब्रह्मा चकार वर्धनम्।
शविष्ठ वज्रिन्नोजसा पृथिव्या निःशशा अहिमर्चन्ननु स्वराज्यम् ॥ १ ॥
स त्वामदद् वृषा मदः सोमः श्येनाभृतः सुतः।
येना वृत्रं निरद्भ्यो जघन्थ वज्रिन्नोजसाऽर्चन्० ॥ २ ॥
प्रेह्यभीहि धृष्णुहि न ते वज्रो नि यंसते।
इन्द्र नृम्णं हि ते शवो हनो वृत्रं जया अपोऽर्चन्०॥ ३ ॥
निरिन्द्र भूम्या अधि वृत्रं जघन्थ निर्दिवः।
सृजा मरुत्वतीरव जीवधन्या इमा अपोऽर्चन्० ॥ ४ ॥
इन्द्रो वृत्रस्य दोधतः सानुं वज्रेण हीळितः।
अभिक्रम्याव जिघ्नतेऽपः सर्माय चोदयन्नर्चन्० ॥ ५ ॥
अधिसानौ नि जिघ्नते वज्रेण शतपर्वणा।
मन्दान इन्द्रो अन्धसः सखिभ्यो गातुमिच्छत्यर्चन्०॥ ६ ॥
इन्द्र तुभ्यमिदद्रिवोऽनुत्तं वज्रिन् वीर्यम्।
यद्ध त्यं मायिनं मृगं तमु त्वं माययावधीरर्चन्० ॥ ७ ॥
वि ते वज्रासो अस्थिरन् नवतिं नाव्या अनु।
महत्त इन्द्र वीर्यं बाह्वोस्ते बलं हितमर्चन्० ॥ ८ ॥
सहस्रं साकमर्चत परि ष्टोभत विंशतिः।
शतैनमन्वनोनवुरिन्द्राय ब्रह्मोद्यतमर्चन्० ॥ ९ ॥
इन्द्रो वृत्रस्य तविषीं निरहन्त्सहसा सहः।
महत्तदस्य पौंस्यं वृत्रं जघन्वाँ असृजदर्चन्० ॥१०॥
इमे चित्तव मन्यवे वेपेते भियसा मही।
यदिन्द्र वज्रिन्नोजसा वृत्रं मरुत्वाँ अवधीरर्चन्० ॥११॥
न वेपसा न तन्यतेन्द्रं वृत्रो वि बीभयत्।
अभ्येनं वज्र आयसः सहस्रभृष्टिरायतार्चन्० ॥१२॥

यद्वृत्रं तव चाशनिं वज्रेण समयोधयः ।
अहिमिन्द्र जिघांसतो दिवि ते बद्बधे शवोऽर्चन्० ॥१३॥
अभिष्टने ते अद्रिवो यत्स्था जगच्च रेजते ।
त्वष्टा चित्तव मन्यव इन्द्र वेविज्यते भियार्चन्० ॥१४॥
नहि नु यादधीमसीन्द्रं को वीर्या परः ।
तस्मिन्नृम्णमुत क्रतुं देवा ओजांसि सं दधुरर्चन्० ॥१५॥
यामथर्वा मनुष्पिता दध्यङ् धियमत्नत ।
तस्मिन्ब्रह्माणि पूर्वथेन्द्र उक्था समग्मतार्चन्० ॥१६॥

पाठकोंको विचार करनेके लिये सुगम हो इसलिये हम यहां उक्त मंत्रोंका सरल अर्थ देते हैं—

१ इस तरह सोमपानके आनन्दमें रहते हुए बडे ज्ञानीने तुम्हारे यशका वर्धन करनेवाला यह स्तोत्र किया है। हे बलवान् वज्रधारी इन्द्रदेव ! अपना स्वराज्य स्थापन करनेके लिये इस पृथ्वीपर तूने अपने अहि नामक शत्रुका नि.शेष नाश किया।

अहिनामक इन्द्रका शत्रु है जो सामर्थ्यमें बढताही जाता है और इन्द्रको घेर लेता है। इन्द्र अपना स्वराज्य स्थापन करना चाहता है, इसलिये वह उस शत्रुका नि.शेष नाश करता है। इस शत्रुके नाशके लिये जितना बल चाहिये उतना अपनेमें इन्द्र बल बढाता है और जैसे अस्त्रशस्त्र चाहिये वैसे अपने पास करता है।

जो मनुष्य अपने देशमें अपना स्वराज्य स्थापन करना चाहते है वे अपने स्वराज्यके शत्रु कहां और कैसे रहते हैं, इसकी खोज करें, उनका नाश करनेके लिये अपने अन्दर किस तरहका बल चाहिये और उसके लिये शस्त्रास्त्र तथा साधन कौनसे चाहिये इसका निश्चय करे। पश्चात् उस तरहका बल बढावे, उस तरहके शस्त्र बर्तें और शत्रुओंको दूर करे और अपने स्वराज्यकी इस भूमिपर स्थापना करे। इस मन्त्रमें (१) अपना बल बढाना, (२) साधन सामग्री सिद्ध करना, (३) शत्रु कौन और कहां कैसे हैं इसका निर्णय करना, (४)-शत्रुनाश करनेकी तैयारी करना, (५) स्वराज्यकी अनिवार्य इच्छासे अपने लोगोंको प्रभावित करना और (६) शत्रुको परास्त करके (७) इस पृथ्वीपर स्वराज्य स्थापन करना, यह पद्धति लिखी है। पाठक विचार करें कि उन्होंने इनमेंसे कितना सिद्ध किया है। अब दूसरा मंत्र क्या कहता है सो देखिये—

२ सोमपानने तुझे आनन्दित और उत्साहित किया है, इस उत्साहसे युक्त होकर तू अपना स्वराज्य इस पृथ्वीपर स्थापन करनेकी अदमनीय इच्छासे अपनेको घेरनेवाले अपने शत्रुको, हे वज्रधारी इन्द्र ! तू जलसे पृथक् करके, उसका वध कर।

सोमपान करनेसे इन्द्र उत्साहित हुआ। उसने अपना स्वराज्य अवश्यही स्थापन करूंगा ऐसा निश्चय किया और अपनेको घेरनेवाले शत्रुको जलस्थानसे पृथक् कर दिया और वज्रसे उसका वध भी कर दिया। इस तरह शत्रु दूर होनेसे वह अपना स्वराज्य इस पृथ्वीपर स्थापन कर सका।

जो मनुष्य अपने देशमें स्वराज्य स्थापन करनेके इच्छुक है वे उत्तम उत्साहवर्धक अन्नसे अपने उत्साहकी वृद्धि करें। योग्य अन्नसे उत्साहकी वृद्धि होती है और अन्न अयोग्य होनेपर उत्साह तथा बल घट जाता है इस नियमको न भूलें। अपनी योग्य रीतिसे सिद्धता होतेही शत्रुका जलस्थानसे वियोग करें। क्योंकि जल न रहनेसे शत्रु शीघ्रही परास्त होना संभव है। इसीलिये शत्रु जलस्थानोंको पकडे रहता है, अतः युद्धकी नीति यह है कि, शत्रुका संबंध जलस्थानसे तोड देना चाहिये। शत्रुके पास जल तथा अन्न न रहा तो उसका नाश सहजहीसे होता है। शत्रुका नाश करके अपनी स्वराज्य व्यवस्था शुरू कर देनी चाहिये। इस मन्त्रमें शत्रुसे युद्ध छिडनेपर प्रथम शत्रुके जलस्थान उसके लिये निरुपयोगी करने चाहिये यह युद्धकी नीति कही है।

(३) आगे बढकर शत्रुपर हमला कर, चारों ओरसे घेरकर शत्रुपर हमला कर, शत्रुको भयभीत कर, तेरे शस्त्रके लिये रुकावट करनेवाला यहां कोई नहीं है। हे इन्द्र ! तेरा बल प्रभावशाली है, अपने घेरनेवाले शत्रुका वध कर, जलस्थान अपने स्वाधीन रख, यह सब अपने स्वराज्यकी स्थापना करनेके लिये कर।

यहां शत्रुपर हमला चढानेके लिये विशेष सूचना दी है। शत्रु जलस्थानोंको घेरकर उनपर कब्जा करके अपने ऊपर आघात कर रहा है, इसलिये सबसे पहिला काम यह है कि जलस्थानोंपर अपना अधिकार स्थापित करना। इसलिये (**प्रेहि**) वेगसे शत्रुपर हमला चढाओ, (**अभीहि**) चारों ओरसे घेरनेके इरादेसे शत्रुपर हमला चढाओ और (**धृष्णुहि**) शत्रुपर भयंकर हमला करो जिससे शत्रु भयभीत हो जाय। वेगसे हमला करनेमें 'वेग' का अधिक महत्त्व है चारों ओरसे हमला करनेमें शत्रुको घेरनेका महत्त्व है और भयंकर हमला करनेमें 'शत्रुको डराने' का महत्त्व है। ये तीनों पद शत्रुपर हमला करनेकी रीतियाँ बता रहे हैं। नि.संदेह विजय प्राप्त करनेके लिये इनका प्रयोग करना आवश्यक है। सैनिकोंका

निश्चय चाहिये कि हमारे शस्त्रास्त्र शत्रुके शस्त्रोंसे अधिक प्रभावी है और सचमुच वैसेही शस्त्र अपने पास सदा रखना आवश्यक हैं। यदि विजय प्राप्त करना है तब तो शत्रुसे उत्तम शस्त्र अपने सैनिकोंके पास देने चाहिये। अपना बल शत्रुसे अधिक प्रभावी रहना चाहिये यह तो विजयका मुख्य नियम ही है। जल स्थानपर कबजा करनेकी बात मुख्य रहनेसे पूर्व मंत्रमें कहनेपर भी पुनः इस मंत्रमें कही है। शत्रुके पास पीनेके लिये पानी न रहा, खानेके लिये अन्न न रहा और विश्रामके लिये स्थान न रहा तो शत्रु परास्त होनेमें देरी नहीं लगती। इसलिये इस विषयमें सावधान रहना चाहिये। यह सब अपना स्वराज्य प्रस्थापित करनेके लिये करना चाहिये।

(४) अपना स्वराज्य प्रस्थापित करनेके लिये अपने शत्रुको भूमिके ऊपरसे तथा द्युलोक अर्थात् पर्वतोंके ऊपरसे नष्ट भ्रष्ट कर दो और जो जलप्रवाह शत्रुने रोक रखे थे उन वायुओंद्वारा चलाये जलप्रवाहोंको सब जनताको जीवनाधार जल मिलनेके लिये प्रवाहित कर दो।

जल जीवनके लिये अत्यावश्यक है, इस जलसे जीव धन्य होता है। धान मूल फूल फल वृक्ष इसीसे उगते हैं और मनुष्य इनसे जीवित रहता है। इसीलिये शत्रुके अधीन रहे जल अपनी जनताके लिये मिलें, ऐसी व्यवस्था करना उचित है। स्वराज्यसे जनताके सुखकी वृद्धि होनी चाहिये, इसीलिये सब जलप्रवाह अपने लोगोंके लिये बहते रहने चाहिये। शत्रुको भूमिपरसे दूर करना चाहिये वैसाही पर्वतोंपरसे भी हटाना चाहिये। भूमिपर रहे शत्रुसे पर्वतपर रहा शत्रु बहुत भयानक है क्योंकि वह अधिक सुरक्षित है, इसीलिये उसको वहांसे हटाना और निर्मूल करना चाहिये।

(५) क्रोधित हुए इन्द्रने भयसे कांपनेवाले वृत्रके सिरपर वज्रसे घोर आघात किया, उसके अधीन रहे जलप्रवाहोंको अपने अधीन करके जनताके लिये उन्हें प्रवाहित किया और अपने स्वराज्यकी स्थापना करनेके लिये शत्रुको दूर किया।

शत्रुपर आक्रमण करके उसको भगाया, उसके अधीन रहे जलप्रवाहोंको अपने अधीन कर लिया, अपने लोगोंको वह जल दिया और शत्रुको दूर करनेसे वह अपना स्वराज्य स्थापन कर सका। स्वराज्य चाहनेवालोंको ऐसाही करना उचित है।

(६) सैकडों धाराओंसे युक्त अन्न इन्द्रने वृत्रके सिरपर मारा। इन्द्रका हेतु इसमें यही था कि अपनी जनताको अन्न प्राप्तिका उत्तम मार्ग दीखे। इन्द्रने शत्रुको दूर किया और स्वराज्यकी स्थापना की।

वृत्रने इन्द्रके राज्यको घेर रखा था, इसलिये इन्द्रके राज्य-की जनताको जल और अन्न मिलना कठिन हुआ था। राज्य-शासनका यह सनातन नियम है कि राजाको अपनी प्रजाके लिये खानेके अर्थ उत्तम अन्न और पीनेके लिये उत्तम शुद्ध जल मिले ऐसा प्रबंध करना। इन्द्रको घेरनेके कारण येही पदार्थ दुष्प्राप्य हुए थे। अतः इन्द्रने घेरनेवाले उक्त शत्रुका वध किया और जल तथा अन्नके प्राप्त करनेका मार्ग सुगम किया और अपना स्वराज्य स्थापन किया।

(७) हे शस्त्रधारी इन्द्र! तेराही बल अजिक्य है। तूनेही उस कपटी शत्रुका अपनी युद्ध कुशलतासे वध किया और अपना स्वराज्य स्थापन किया।

इन्द्र वज्रधारी है और (अद्रिवः) पर्वतपर जो दुर्ग होते हैं उनमें रहकर लडनेवाला भी है, इस कारण इसका कोई पराभव नहीं कर सकता और इसीकारण वह अजिक्य भी है। इसका शत्रु छल और कपट करनेमें बडाही प्रवीण है, अत इसको बडे युद्ध कौशलसे लडकरही जीतना होता है। वह छिपछिपकर लडता है, इसीलिये (मृगं) ढूंढढूंढ कर उससे लडना पडता है। इस कारण वह इससे लडता है और उसका वध करता है और अपना स्वराज्य प्रस्थापित करता है।

मनुष्य भी अपने संरक्षणके लिये पर्वतपर तथा भूमिपर दुर्ग खडे करे, उनमें रहकर शत्रुसे लडे और उसका पराभव करनेके लिये, जहा शत्रु रहा होगा, वहा उसको ढूढकर निकाले और उसका वध करे। इस तरह शत्रुको परास्त करे और अपना विजय करे और पश्चात् अपना स्वराज्य स्थापन करे। जबतक शत्रु जीवित रहेगा, तबतक अपना स्वराज्य स्थापन होना असंभव है इसलिये शत्रुका समूल उच्छेदन होना स्वराज्यकी स्थापनाके लिये अत्यावश्यक है।

८ तेरे वज्र नौकाओंसे पार होने योग्य नौवें नदियोंके पार पहुंचते है, हे इन्द्र, तेरा पराक्रम बहुतही बडा है, तेरी बाहुओंमें बहुतही पराक्रम है और इसीलिये तू अपना स्वराज्य प्रस्थापित करता है।

जो नदियां नौकाओंमें बैठाकरही पार की जा सकती है ऐसी बडी चौडी नव्वे नदियोंके पारभी तेरा शत्रु छिपकर रहा तो तू अपने वज्रसे उसका वध कर सकता है। क्योंकि तेरा बल और पराक्रम बडा है तेरा शस्त्र अस्त्रभी इतने दूर रहनेवाले शत्रुपर आघात कर सकता है। इसीलिये तू उस शत्रुको परास्त करके

अपना स्वराज्य स्थापन कर सकता है।

मनुष्यभी अपने शस्त्रास्त्र सुदूरवर्ती शत्रुपर फेंकने योग्य विशेष गतियुक्त करें और दूरसेही अपने शत्रुका वध या नाश करें और अपना स्वतंत्र स्वराज्य स्थापित करे।

९ सहस्रोंकी संख्यामें इकट्ठे होकर उस इन्द्रकी पूजा करो, बीस बीस इकट्ठे होकर उसकी स्तुति करो, सैंकडो इकट्ठे होकर उसके स्तोत्र गाओ, ऐसे इन्द्रके लिये ही सब ब्राह्मणोंका ज्ञान सहायक हुआ है, क्योंकि यही इन्द्र स्वराज्यकी स्थापना करनेमें तत्पर हुआ है।

जो स्वराज्यकी स्थापना करनेके कार्यमें दृढ व्रत होकर शत्रुका पराभव करके अपना स्वराज्य स्थापन करता है उसीकी स्तुति सब करते है।

(१०) इन्द्रने अपने प्रबल और प्रभावी सामर्थ्यसे वृत्रका बल नष्टभ्रष्ट कर दिया। इन्द्रका बल बहुतही बडा है इसलिये उसने वृत्रका पूर्णताके साथ वध किया, उसके अधीन रहे जलप्रवाह सबके लिये खुले किये और इन्द्रने अपने स्वराज्यकी स्थापना की।

इन्द्रका सामर्थ्य बडा प्रभावी है, उस सामर्थ्यसे उन्होंने वृत्रका पराभव किया और वधभी किया। उसके अधीन रहे जलप्रवाह सबके लिये खुले कर दिये और अपना स्वराज्य स्थापन किया।

(११) हे इन्द्र ! ये विस्तृत दोनो लोक तेरे क्रोधके भयसे कापते है, तूने मरुद्वीरोंकी सहायता पाकर अपने सामर्थ्यसे वृत्रका वध किया और अपना स्वराज्य स्थापन किया।

वीरका क्रोध सबको भय उत्पन्न करनेवाला होता है। वह वीर अपने सैनिकोंकी सहायतासे शत्रुको नष्टभ्रष्ट करता है और अपना स्वराज्य स्थापन करता है। ये सैनिक (मर्-उत्) मरने तक उठकर लडनेवाले होने चाहिये। लडनेमें अपनी पराकाष्ठा करनेवाले होंगे तोही विजय मिलेगा।

(१२) वृत्र अपने वेगसे और विस्तारसे इन्द्रको भयभीत न कर सका। (इन्द्र धैर्यसे अपने स्थानपर सुरक्षित रहा और) उसने अपना लोहेका वज्र, जो कि सहस्रों धाराओंसे काटनेवाला था, उस वृत्रपर फेंका, और उसने अपने स्वराज्यकी स्थापना की।

शूरवीर शत्रुसे भयभीत न हों, डर न जाय, भाग न जाय। अपने स्थानमें स्थिर रहते हुए अपने उत्तमसे उत्तम शस्त्रोंका प्रयोग शत्रुपर करें और अपने स्वराज्यकी स्थापना करें।

(१३) हे इन्द्र ! जब तूने वृत्रपर तथा उसने फेंके विद्युत् रूपी अस्त्रपर अपना वज्र फेंका, तब हमला करनेवाले उस शत्रुका वध करनेवाले तुझ इन्द्रका बल द्युलोकमें भी बढ गया, तब जाकर इन्द्रने अपना स्वराज्य स्थापन किया।

शत्रु अपने शस्त्र फेंकता रहता है और चारों ओरसे घेर कर भी हमले करता रहता है। ऐसा शत्रुके करनेपर भी डरना नहीं चाहिये। अपने शस्त्रास्त्रोंका उपयोग करके अपना बल बढाना चाहिये और शत्रुको नाना युक्तियोंसे परास्त करनाही चाहिये। क्योंकि जबतक शत्रु रहेगा, तबतक अपना स्वराज्य स्थापन नहीं होगा। इसलिये शत्रुका नाश करके अपना स्वराज्य स्थापन करना योग्य है।

(१४) हे वज्रधारी इन्द्र ! तेरे गर्जना करनेपर सब स्थावर जंगम जगत् कापने लगता है। त्वष्टा कारीगरभी तेरे क्रोधित होनेपर भयसे कापता है। यह सब तेरे स्वराज्यकी स्थापनाके लिये ही सहायक होता है।

वीरका पराक्रम ऐसा रहना चाहिये कि उसके क्रोधसे सबको भयभीत होना पडे। और यह सब स्वराज्यकी साधनाके लिये ही होना चाहिये।

(१५) सब ओरसे हमला करनेवाले इन्द्रको यथार्थतः हम नहीं जान सकते। प्रभावके कारण जो सर्वोपरि है उसको कौन जान सकता है ? उसमें वीर्य, कर्मशक्ति और अनेक प्रकारके बल देवोंने रखे है। इनका उपयोग करके वह अपना स्वराज्य स्थापन कर देता है।

इन्द्र शत्रुपर कैसा हमला करता है और उसमे उसका हेतु क्या है यह हमें पता नहीं है। जो वीर, विशेष प्रभावी है उसके युद्ध हेतुओंका कौन जानता है ? उसमें वीर्य कर्तृत्व और नानाप्रकारके बल हैं, इनका उपयोग वह करता है और अपना स्वराज्य स्थापन करता है।

(१६) अथर्वा, सबका पिता जैसा मनु, और अथर्वाका पुत्र दधीची ऋषि ये तीनों मिलकर, पूर्वके समानही, इन्द्रके लिये ज्ञानमय स्तोत्र समर्पित करते रहे, यह सब इन्द्रके स्वराज्य स्थापन करनेके अनुकूलही हो गया था।

यहा दो सूक्त संपूर्णतया मानवी जीवनमें कैसे घटाये जाते है, यह दिखाया है। इस तरह वेदमंत्रोंको मानवी जीवनमें घटानाही वेदके आदेशोंसे मानवी जीवनको समर्थ बनाना है। वेदमंत्र किस तरह मानव धर्मकी ज्योती जगाते हैं यह बात इस लेखसे सिद्ध हुई है। इसीतरह अन्यान्य सूक्त पाठक अपने जीवनमें घटा कर देख सकते हैं और वेदके आदेशसे अपने जीवनको परिपूर्ण कर सकते हैं।

स्वाध्याय-मण्डलकी गत सत्ताईस वर्षोंकी
वैदिक धर्मकी सेवा

स्वाध्याय मण्डलकी स्थापना संवत् १९७५ (तदनुसार सन १९१८) में हुई थी। इसको आज २७ वर्ष हो चुके। वैदिक धर्म मासिक उसके दो वर्ष बाद शुरू किया गया जिसका यह २६ वाँ वर्ष चल रहा है। वास्तवमें २६ वे वर्षके प्रारंभमें 'स्वाध्याय मण्डल' का तथा 'वैदिक धर्म' का रजत जयन्ती महोत्सव करना चाहिये था और हमने वैसा आयोजना भी की थी। स्वाध्याय मण्डलके सैकडों प्रेमी इस महोत्सव पर यहा आना चाहते भी थे। परंतु युद्धके कारण रेल यात्राके कष्ट, धान्यकी विकट समस्या, तथा अन्यप्रकारकी घोर परिस्थितिके कारण जो विपरीत अवस्था बनी है, इस कारण वह महोत्सव करना असंभव हुआ और इसी कारण इस शुभ अवसर पर हम जो १००० पृष्ठोंका वेदाङ्क निकालना चाहते थे, वह भी स्थगित करना पडा। सब पाठक इस परिस्थितिसे परिचित है इसी कारण हम यह ८० पृष्ठोंकाही अंक प्रकाशित कर रहे हैं।

स्वाध्याय मण्डल, औंध जि. सातारा

प्रतिपालक

श्रीमन्त नरेश बाळासाहिब पन्त, बी. ए.
प्रतिनिधि, राजासाहब रिसायत औंध.

कार्यकारिणी समिति

पं० श्रीपाद दामोदर सातवळेकर, अध्यक्ष
श्री. वसन्त श्रीपाद सातवळेकर, बी. ए. मन्त्री
श्री. दत्तात्रय गणेश कुलकर्णी एम्. ए, एल्‌एल्. बी.
श्री. गणपतराव बाबुराव गोरे, पेन्शनर

बैंकर्स

श्री. बैंक ऑफ औंध. लि. औंध

ऑडिटर्स

श्री पी. जी. भागवत गवर्नमेंट डिप्लोमाइड रजिष्टर्ड आडिटर्स, फोर्ट मुंबई.

स्वाध्याय मण्डलका संपादकीय विभाग.

संपादक

पं श्रीपाद दामोदर सातवळेकर

सह संपादक

प. दयानन्द गणेश धारेश्वर, बी. ए
पं रामचन्द्र गोपाळ देशपाण्डे, यजुर्वेदी, औंध.

प्रबंधकर्ता

श्री वासुदेव धोंडो गुर्जर

आयव्यय निरीक्षक

श्री. रघुनाथ दामोदर बहुलेकर

औंधके बाहर रहकर संपादन करनेवाले विद्वान्

श्री. पं. अनन्त यज्ञेश्वर धुपकर, विद्यालंकार
छन्दोनिधि, शास्त्रार्थ भास्कर, माशेल गोवा.
ये याज्ञिकशास्त्रप्रवीण, निरुक्त, मीमांसा, छन्द, वेदाग ज्योतिष आदिमें अत्यंत प्रवीण है।
प. ऋभुदेवजी शर्मा शास्त्राचार्य, साहित्यभूषण, हैद्राबाद दक्षिण

ऋग्वेदमुद्रणके सहायक विद्वान्

निम्नलिखित विद्वान् ऋग्वेदके अद्वितीय विद्वान है। इन्हे वैदिक दश ग्रंथ वेदवेदाङ्गके कण्ठस्थ है। इनकी स्मरण शक्ति और वेदोंको स्मरण रखनेकी शक्ति अद्वितीय है। इनकी इस अद्वितीय स्मरण शक्तिकी कल्पना उनको ही हो सकती है कि जिन्होने इनको देखा है। इनको देखकर इस बातकी उत्तम कल्पना आ सकती है कि आजतक ये वैदिक सारस्वतके ग्रंथ सुरक्षित कैसे रहे।

१ श्री वेदमूर्ति सखारामभट्ट बाळकृष्णभट्ट येडूरकर, वेदाचार्य, कुरुन्दवाड (जि. कोल्हापुर)
२ श्री. वेदमूर्ति शंकरभट्ट गंगाधरभट्ट कशाळीकर वेदाचार्य वेदपाठ शाला भट्टवाडी, सावंतवाडी जि. रत्नागिरी
३ श्री वेदमूर्ति वेदवाचस्पति शास्त्रपञ्चानन महादेवभट्ट

गोपाळभट्ट पुरोहित, वेदाचार्य वेदपाठशाला, मलकापुर (जि. कोल्हापुर)

४ श्री वेदमूर्ति गणेशभट्ट नारायणभट्ट आठल्ये वेदाचार्य, साखरपे (जि रत्नागिरी)

५ श्री वेदमूर्ति गोविन्दभट्ट रामकृष्णशास्त्री माण्डवगणे, वेदाध्यापक, वेदपाठशाला, सागली

अथर्ववेदके पण्डित

१ श्री वेदमूर्ति रामचन्द्रभट्ट रटाटे, आहिताग्नि, ऋग्वेदाचार्य तथा अथर्ववेदाचार्य, दरभंगा वेदपाठशाला, काशी।

२ श्री वेदमूर्ति सखारामभट्ट वैद्य, अथर्ववेदाचार्य गोयन्दका विद्यालय, काशी।

३ श्री वेदमूर्ति नारायणभट्ट घुले अथर्ववेदी काशी।

४ श्री वेदमूर्ति रामचन्द्रभट्ट गोपीनाथभट्ट आठवले, श्रौतभूषण, वैदिकरत्न, ऋग्वेदाथर्ववेदाचार्य, काशी।

५ श्री वेदमूर्ति कृष्ण विद्याधरभट्ट दीक्षित लेले, अथर्ववेदी, अयोध्या।

६ श्री पं० अमृतरामाचार्य पाण्डे, याज्ञिकभूषण उपाध्याय, धर्मशास्त्राचार्य, मथुरा

वाजसनेयी शुक्ल यजुर्वेदीय पण्डित

१ श्री वेदशास्त्रसंपन्न श्रीधर अण्णाशास्त्री वारे, नाशीक।

कृष्ण यजुर्वेदके पण्डित

१ श्री. प० वेदमूर्ति चिदंबरशर्मा घनपाठी, शुक्ल यजुर्वेद-पाठशाला, तेगनलूर, कुलितलै (त्रिचनापल्ली)

२ श्री वेदशास्त्रसंपन्न धुंडिराज गणेश दीक्षित. आहिताग्नि, सोमयाजी, यजुर्वेदानुवादक, श्रौत मार्तण्ड, वाई (जि सातारा)

३ श्री वेदमूर्ति गोपालभट्टजी गोखले, अध्यापक हिरण्यकेशी वेदशाला, सागली।

४ श्री वेदमूर्ति कृष्णभट्ट गोडबोले, अध्यापक कृष्ण यजुर्वेदीय पाठशाला, संस्कृत महाविद्यालय, इन्दूर।

५ श्री वेदमूर्ति बाळंभट्टजी द्रविड, सातारा

सामवेद सहायक

१ श्री वेदमूर्ति नारायण स्वामी दीक्षित, सामवेद प्रधानोपाध्याय, श्रीमन्महाराज संस्कृत महापाठशाला, मैसूर।

२ श्री वेदशास्त्रसंपन्न आस्थान विद्वान रामचन्द्र दीक्षित, सामवेदाध्यापक वेदमहापाठशाला, बंगलूर।

३ श्री पं० भानुप्रसादभट्ट सामवेदी, भावनगर।

४ श्री शास्त्री नरहरि शंकर भाईशंकर सामवेदी बडौदा।

५ श्री लक्ष्मणशास्त्री द्रवीड, सामगानाचार्य, पुणे

मैत्रायणी यजुर्वेदके पंडित

१ श्री वेदमूर्ति शंकर हरि अभोणकर, नासिक.

२ श्री वेदमूर्ति रामचन्द्र विनायक पुराणिक, नासिक।

उपर्युक्त सब विद्वान् स्वाध्यायमंडलके वेद मुद्रण कार्यमें दिलचस्पीसे सहायता पहुंचाते रहे है और आगेभी हर प्रकारकी सहायता करनेके लिये तैयार है। इस समय तक इनकी जो जो सहायता वेद मुद्रणमें हुई है, उसके लिये हम उनके अत्यंत कृतज्ञ है। इनकी सहायताके विना यह वेद मुद्रणका कार्य इतनी सुफलतापूर्वक सिद्ध होना प्रायः असंभवही था। इसलिये इस कार्यकी सफलताका सब श्रेय इन विद्वानोंकोही है।

इस समयतक हुआ वेदमुद्रणका कार्य

इस समय तक जो वेदके ग्रंथ छपे है वे ये है—

१ ऋग्वेद

१ ऋग्वेदकी (शाकल) संहिता

२ यजुर्वेद

२ शुक्लयजुर्वेदकी वाजसनेयी संहिता

३ " " काण्व "

४ मैत्रायणी संहिता (यजुर्वेद)

५ काठक संहिता "

६ कृष्ण यजुर्वेदकी तैत्तिरीय संहिता

३ सामवेद

७ कौथुमी संहिता

४ अथर्ववेद

८ शौनक संहिता

इतने संहिताके ग्रंथ छप चुके हैं। इसी तरह निम्नलिखित ग्रंथभी छपकर तैयार है—

५ दैवत-संहिता

१ प्रथम भाग (अग्नि-इन्द्र-सोम-मरुद्देवताके मंत्र)

२ द्वितीय भाग (अश्विनौ-आयु-रुद्र-उषा-अदिति आदित्य-विश्वेदेवा देवताके मंत्र)

६ अनुवाद ग्रंथ

१ मरुद्देवताके मंत्रोंका अनुवाद छपा है।

२ अश्विनौ देवताके मंत्रोंका अनुवाद छप रहा हैं- इतने ग्रंथ छप चुके हैं, तथा आगे छपनेवाले ये ग्रंथ हैं-

१ यजुर्वेद

१ कापिष्ठल कठ संहिता,

२ तैत्तिरीय संहिता काण्डानुसारिणी प्राचीन पाठ

२ सामवेद

३ राणायणी संहिता

४ जैमिनीय ,,

३ सामगान

५ कौथुमीके गानग्रंथ (आधे छप चुके हैं ।)

६ राणायणीके ,, छपने है,

७ जैमिनीके ,, ,, ,,

४ अथर्ववेद

८ पिप्पलाद संहिता

१ ऋग्वेद

९ शांख्यायन संहिता

६ दैवत संहिता

१० तृतीय भाग (सब शेष देवताओंका मंत्र संग्रह)

१ यज्ञविभाग (जिसमें सब यज्ञ प्रकरणका समावेश होगा)

ये सब ग्रंथ छपने हैं । यदि गत ५ वर्षोंमें युद्धकी विपरीत परिस्थिति न होती, तो ये सब ग्रंथ इस समयतक छप जाते । सरकारने कागज देना बंद किया, बाजारोंमें कागज नहीं मिलता और जो मिलता है वह आठ गुना महंगा मिलता है, तथा वह भी रेलसे लाया नहीं जा सकता, ऐसी अनेक आपत्तियां हैं जिनके कारण इनकी छपाई नहीं हो सकी, नहीं तो हो जाती । आगेभी अतिशीघ्र कागजकी सुविधा होनेकी संभावना नहीं दीखती है ।

दूसरी विपत्ति यह है कि सरकारी कारखानोंमें वेतन बहुत मिलनेके कारण प्रायः कर्मचारी उधर चले जाते हैं और हमारे मुद्रणालयमें नहीं टिक सकते । पुस्तकोंका मूल्य बढाया नहीं जा सकता, लोग भी पुस्तक खरीदनेमें थोडेसे शिथिलसे हुए हैं क्यों कि सर्वत्र आर्थिक अवस्था बिगड चुकी है । इस कारण वेदोंकी छपाई करना बडाही मुष्कील हुआ है और जो ग्रंथ अधूरे पडे हैं वे भी कैसे पूर्ण होंगे इसकी बडी चिन्ता उत्पन्न हुई है ।

जिस समय यह विपत्काल दूर होगा उस समय ही पूर्ववत् वेदकी छपाई हो सकती है । हम सब उस शान्तिपूर्ण समयकी प्रतीक्षा कर रहे हैं ।

वेदोंके अनुवादके ग्रंथ

मरुद्देवताके अनुवादको ग्राहकोंके सामने रखकर हमने दैवत संहितासे वेद पढाईकी सुविधा किस तरह हो सकती है, इसका नमूना बताया है, एक देवताके मन्त्रोंमें वेही पद, वेही विशेषण और वैसेही शब्द प्रयोग बारबार आते है, इस लिये एकवार इन शब्दोंसे पाठक परिचित हुए, तो मंत्रोंके अर्थोंको समझना सरल हो जाता है । इसीलिये इस पद्धतिसे चार वर्षोंकी पढाई एक वर्षमें हो सकती है ।

यदि सब वेदपाठशालाओंमें वेदोंकी पढाई दैवत संहिताके क्रमसे होगी तो चारों वेदोंकी संपूर्ण पढाई ५ वर्षोंमें निःसंदेह हो सकती है । और इस प्रकारके मननसे सब वेद सुबोधभी हो सकते हैं ।

दोनों प्रकारके अनुवाद

स्वाध्यायमंडलद्वारा वेदके अनुवाद दोनों प्रकारसे प्रकाशित किये जा रहे हैं अर्थात् दैवत संहिताके क्रमसे जैसा मरुद्देवताके मन्त्रोंका अनुवाद प्रकाशित हुआ है और जैसा अश्विनौ देवताके मंत्रोंका अनुवाद प्रकाशित हो रहा है। यह दैवत संहिताके क्रमसे अनुवाद पाठकोंके सामने है ।

आर्षेय क्रमसेभी वेदोंका अनुवाद स्वाध्यायमंडलद्वारा प्रकाशित हो रहा है। जैसा विश्वामित्र पुत्र मधुच्छन्दा ऋषिके मंत्रोंका अनुवाद प्रकाशित किया जा रहा है । इसी तरह आगे एकएक ऋषिके मंत्रोंका अनुवाद प्रकाशित होगा ।

ये दोनों अनुवाद पाठकोंके पास वेदोंका तत्वज्ञान पहुंचायेंगे ।

वेदआचार विधान

वैदिक संहिताओंमें आचारके विधानभी बहुतही है । वेदका अपना तत्त्वज्ञान भी है । परंतु इसकी ओर जनताकी दृष्टि अभीतक नहीं पहुंच सकी । इसलिये ये आचारविधानके मंत्र अलग करके, इनको विषयवार छांट कर, तथा विषयानुसार संग्रहित करके पाठकोंके सामने रखनेका विचार किया है।

स्मृतिग्रंथोंमें आचारधर्म है। वेदमें वैसा आचार विधान नहीं है ऐसा माना जाता है । परंतु यह अशुद्ध है । वैदिक संहिताओंमें आचार विधानके मंत्रभाग सहस्रोंकी संख्यामें हैं । उनको

संग्रहित करके जनताके सामने रखना आवश्यक है। इनही वाक्योंसे धर्मकी सिद्धता होती है। इसलिये परिश्रमपूर्वक इनका संग्रह किया जा रहा है। पूर्वोक्त दोनों प्रकारके दैवत तथा आर्षेय मंत्र संग्रहोंके अर्थोंके साथ यहभी आचारविधानका ग्रंथ तैयार होकर ग्राहकोंके पास पहुंचेगा। तब वेद 'धर्मग्रंथ' किस तरह है इसका ज्ञान सबको होगा। आगे स्वाध्याय मंडलसे यही कार्य होता रहेगा।

ब्राह्मण और आरण्यक

ब्राह्मण और आरण्यक ग्रंथ छपने हैं, परंतु आजकी कागज नियंत्रणकी परिस्थितिके कारण वे किस समय तैयार होंगे इसका पता नहीं चलता। कागज जिस समय मिलने लगेगा उसी समय वे ग्रंथ छप जायेंगे इतना ही इस समय हम कह सकते हैं।

महाभारत और रामायण

महाभारतका मुद्रण स्वाध्यायमंडलने किया और रामायणका चल रहा है। यह भी कागजके कारण सुस्तसा हुआ है। महाभारतके कई पर्व समाप्त हुए हैं। उनका पुनर्मुद्रण करना है तथा समालोचना भी छपनी है। पर यह सब किस समय मुद्रणमें जायगा, यह हम इस समय कह नहीं सकते।

वेदका तत्त्वज्ञान

वेदका अपना तत्त्वज्ञान है। इसीका प्रकाश करनेके लिये आरण्यक और उपनिषद प्रतिष्ठित हुए हैं। उपनिषदोंद्वारा प्रकाशित हुआ वैदिक तत्त्वज्ञान अल्प है, अप्रकाशित तत्त्वज्ञान वेदमें बहुतही है, जिसका प्रकाशित होना अत्यंत आवश्यक है। पर वह तब होगा कि जब अनेक लोग वेदोंका विचार करनेमें मग्न होंगे। इसलिये हम आशा करते हैं कि अनेक लोग वेदका विचार करने लगेंगे और वैदिक धर्म, वैदिक आचार धर्म और वैदिक तत्त्वज्ञान जनताके व्यवहारमें आ जाय।

हम सबको इसीलिये यत्नवान होना चाहिये।

वेदमें वर्णित समतावादकी पार्श्वभूमि

लेखक- श्री० पं० पुरुषोत्तम शास्त्रीजी के० दत्तवाडकर काव्यतीर्थ, हिन्दी भाषारत्न अध्यापक,
राममोहन हायस्कूल, बंबई

चत्तो इतश्चत्तामुत: सर्वा भ्रूणान्यारुषी।
अराय्यं ब्रह्मणस्पते तीक्ष्णशृङ्गोदृषन्निहि ॥
(ऋ० १०।१५५।२)

' हे ब्रह्मणस्पते ! हमारे यहाँ विद्यमान तथा विश्वभरकी हर जगह मौजूद दरिद्रताको दूर हटादे, क्योंकि हमारी सर्वोपरि श्रेष्ठ आशाओंको एवं महत्त्वाकांक्षाओंको वही मटियामेट कर डालती है।

वास्तवमें देखने लगें तो निश्चयपूर्वक यह तनिकभी नहीं कहा जा सकता है कि धनिकता अथवा निर्धनतापरही सुखसमाधान निर्भर है। सभी जानते हैं कि किसतरह यात्राके निमित्त दूर जानेवाला एक किसान या काश्तकार दुपहरकी झुलसती धूपके वक्त साथ लिए हुए रूखे सूखे संबलको खोलकर प्रसन्नतापूर्वक उसे खा लेता है और तदुपरान्त समीपही कलकल निनाद करते हुए, आते जाते हुए मानवोंकी पर्वाह न करके अविरत गतिसे आगे बढनेवाले स्वच्छ सुशीतल निर्झर या झरनेके स्फटिककी नाईं सुहानेवाले जलका पान कर चुकनेपर निश्चिन्त होकर पेडकी घनी छायामें फटा पुराना कंबल बिछाकर निर्बाध निद्रासुखकी अनुभूति प्राप्त करता है तो दूसरी ओर यह दृश्यभी कुछ अपरिचित नहीं है कि यूनानके जगज्जेता सिकन्दर तथा लूटखसोट मचानेवाला महमूद (गजनी) जैसे विजयी बननेपर मृत्युके कराल गालमें कवलित होते समय असीम वैभवपर दृष्टिपात करके सिसक सिसक कर बिलखने लगते हैं। कहनेका मतलब यही है कि धन वैभवके फलस्वरूपभी अन्तमें उन्हें वह सुखशान्ति प्राप्त नहीं हुई जो कि उन्हें अभीष्ट थी। मानवजाति निर्धनता तथा दारिद्रताको तीव्र घृणाकी निगाहसे देखने लगती है तो इसका एक प्रमुख कारण यही है कि गरीबीकी हालतसे नैतिक गिरावटकेही अवसर अधिकतया आया करते हैं। दरिद्री जीवनयात्रामें सुखसमाधान सर्वथैव अप्राप्य है ऐसी बात बिलकुल नहीं है। जो पुरुष निर्धन दशामें जीवन यापन करता है वह कईबार भेड-बकरीकी तरह बर्ताव करने लगता है या अतिनम्र सा दिखाई देने लगता हो तो यह समझना भूल है कि वह नम्रता, शालीनता या शिष्टतासे ऐसा कर रहा है। ध्यानमें अवश्य रहे कि वह परिस्थितिके प्रबल प्रमाथी एवं सर्वंकष दबावके नीचे आकर हीन दीन तथा गिडगिडाहट करनेवाला बनता है। ऐसा पुरुष आगे चलकर मान एवं अपमानके भावोंसेभी कोसों दूर रहने लगता है अर्थात् उसकी समूची कोमल संवेदनाएँ निर्धनतारूपी प्रखर अग्निमें झुलस जाती हैं। अतिक्षुद्र किन्तु जघन्य अपराध करनेमेंभी वह झिझकता नहीं, इतना वह निर्लज्ज बन जाता है। नारियोंके संबंधमें तो इससेभी एक सीढी आगेही दयनीय दशा दृगोचर होने लगती है। दरिद्रताके कठोर अभिशापकी प्रखर लपटोंमें झुलसना असह्य होनेसे कई लावण्यमयी ललनाएँ समाजमें अपनी सुन्दरता एवं मोहकताका विक्रय करने लगती हैं और इधर मानव-समाजभी सुतरां बेहया होकर ऐसी दुःखद दशाको खुली आँखोंसे निहारता हुआ तनिकभी खिन्न नहीं होता है। उलटे, इस भाँति विपदाके भीषण चँगुलमें फँसी हुई रमणियोंसे यथेष्ट वासनापूर्ति करके अपनेको धन्य मानने लगता है।

यह तो सिर्फ दिग्दर्शनमात्र हुआ। मानवजातिमें इसीतरहके औरभी कई दोष तथा विषमता पूर्ण व्यवहार भीतरही भीतर समाजके समूचे संगठनको खोखला करते हुए विद्यमान हैं। जिसतरह बहुत शीघ्र फैलनेवाली बीमारी की वजह मानवजातिका दिल दहलानेवाला संहार होनेमें देर नहीं लगती है, ठीक उसीतरह जबतक ये विषमताएँ तथा दरिद्रताका अभिशाप मानवी समुदायमें अपना अस्तित्व बनाये रखते हैं, तबतक मानवी संघके प्रगतिशील एवं उत्तरोत्तर उन्नत होनेकी आशाको सुतरां स्थान नहीं। जो लोग ऐसा कहकर कि, अपने पूर्व जन्मकृत कर्मोंसे या

पूर्व प्राक्तनसे मानव निर्धन हुए या गरीबीमें दिन बिता- रहे हैं; समाधान पानेकी चेष्टा करते हों वे असन्देह शुद्ध आत्मवंचनमें पडे हुए हैं याने वे साफसाफ धोखा खा रहे हैं और इसतरह आत्मसमाधान करना मानों एक तरी- केसे आत्महत्या करनाही है। सच पूछा जाय तो हम **सभी मानव मिलकर निर्धनता पिशाचीका सृजन करनेमें लगे हुए हैं।** और यह बात कभी न भूलनी चाहिये कि हमेंही बलात् या कानूनके बलबूतेपर उसे हटाना पडेगा। हाँ,यह बात ध्यानमें जरूर रहे कि कह- नेमें यह आसन प्रतीत होता है किन्तु उसे कार्यरूपमें परि- णत करना बडाही बीहड, विकट एवं अतिश्रमसाध्य है।

इस भाँतिकी समाजिक विषमताओंको तथा दोषोंको दूर हटानेके लिएही पूर्वकालीन भारतीय लोग सतत शान्तिपाठ कर लिया करते थे। रातदिन इस भारतभूमें ॐ शान्तिः शान्तिः शान्तिः " इस ढंगका त्रिवार शान्ति- का मंत्रजागर जारी रहता था। कोईभी क्रिया हो, किसी- भी तरहका धर्मकार्य हो, बिना इस शान्तिपाठके उसकी समाप्ति नहीं की जाती थी। इससे विदित होगा कि तत्का- लीन भारतीय आर्य जनताको इस शान्तिपाठका कितना महत्त्व प्रतीत होता था। जन्म लिए हुए हरएक मानवका यह पवित्र कर्तव्य कार्य निर्धारित किया गया था कि वह इन तीन शान्तताओंकी निष्ठापूर्वक उपासना अनिवार्यतया करता रहे। पहला शान्तिपद वैयक्तिक शान्तताका द्योतक है तो दूसरा आधिभौतिक शान्तिकी सूचना करता है और तीसरा आधिदैविक शान्तिका प्रतिपादन करता है। वैय- क्तिक शान्तिके सबधमें, जिसे आध्यात्मिक शान्तिभी कहा जा सकता है, पहला कर्तव्य यही है कि अपने शरी- रमें विद्यमान सभी स्थूल एवं सूक्ष्म शक्तियोंका सामञ्ज- स्यमय विकास किया जाय और वे सभी एक दूसरेकी सहायक हों इधरभी पर्याप्त ध्यान दिया जाय।

इमानि यानि पञ्चेन्द्रियाणि मनः षष्ठानि मे हृदि ब्रह्मणा संशितानि। यैरेव ससृजे घोरं तैरेव शान्तिरस्तु नः॥ (अथर्व० १९।९।५)

' जिनके कारण बडी भारी विपत्तियाँ हमपर टूट सकती हैं उन्हीं मनके साथ विद्यमान ,हमारे ज्ञानेन्द्रियों तथा कर्मेन्द्रियोंसे हमें शान्तिसुख प्राप्त हो जावे।' इस कार्य- क्षेत्रपर प्रभुत्व प्रस्थापित करके यदि एकबार हमें स्थैर्य प्राप्त हो जाय तो फिर दूसरे कार्यक्षेत्रमें पदार्पण करनेका अवसर आ जाता है। व्यक्तिमें विद्यमान यह शक्ति जैसे- जैसे बढती जाती है वैसेवैसे उसके बाह्य कार्यक्षेत्रभी विस्तृत होते जाते हैं। अपनी विकासित अन्त.शक्तिके सहारे मानवको क्रमशः कुटुम्ब, परिवार, संघ, जाति, राष्ट्र, मानवजाति, प्राणिसमष्टि जैसे एकसे एक बढकर कार्यक्षेत्रोंका निर्माण करना संभव है।

ऊपर बतलाये इन सभी क्षेत्रोंमें जितनेभी विरोध तथा वैषम्य हों उन्हें दूर हटाकर सर्वत्र समाधानपूर्ण वायुमण्ड- लका सृजन करके अपनी उन्नति एवं प्रगति करते हुए दूसरोंकाभी उत्कर्ष एवं विकास निर्बाध तरीकेसे होने लगे इसतरह चेष्टा करना आधिभौतिक शान्तिके प्रस्थापन कार्य में अन्तर्भूत होता है।

स्वस्ति मात्र उत पित्रे नो अस्तु स्वस्ति गोभ्यो जगते पुरुषेभ्यः। विश्वं सुभूतं सुविदत्रं नो अस्तु...॥ (अथर्व० १।३१।४)

' हमारे मातापिता, गौ सदृश मवेशी, भूमिपर संचार करनेहारे सभी मानवप्राणी, सबको हरतरहसे सौख्य समाधान मिल जाय।'

इतनी तैयारी होनेपर मानव अगले कार्यकी सिद्धता कर सकता है, जो कि विश्वके संबंधमें मानव क्या कर सकता है इस बारेमे विचार करना है। इस विश्वमें जो भाँति भाँतिकी प्रचण्ड शक्तियाँ मौजूद हैं उनसे व्यक्ति एवं संघको सहायता मिले, सुखसुविधा प्राप्त हो जाय ऐसा प्रयत्न करना आवश्यक है। अग्नि, वायु, जल, विद्युत् इत्यादि जो दैवी शक्तियाँ हैं उन्हें अपने अनुकूल बनाकर उनकी मददसे व्यक्ति तथा समुदायको सिर्फ उपयोगि- ताही नहीं किन्तु एकतरहसे समाधान तथा शान्तताभी हासिल हो ऐसा प्रबंध करना तृतीयविभागमें समाविष्ट है। संक्षेपमें यदि कहना हो तो ऐसा कहा जा सकता है कि, शरीर, इन्द्रिय, मन, आत्मामें शान्तता, स्थिरता एवं समाधानका वायुमण्डल बनाकर पश्चात् संसारके विभिन्न मनोवृत्तिवाले लोगोंमें दया, शांति, प्रेम, उत्कृष्ट आचरण एवं विचारका आलोक फैलाकर तदुपरांत जागतिक शान्त-

ताके लिए अथवा चराचर समस्त वस्तुजातकी शान्तता सिद्ध्यर्थ अविरत परिश्रम उठानाही मानवी जन्मकी सार्थकता है। चराचर विश्वमें या जगत्‌में शान्तताका अखंड साम्राज्य रहे, बस यही मानवताका अंतिम एवं अतीव अभीष्ट ध्येय है। जो मानवसमाज आजदिन तीव्र कलह, स्पर्धा, युद्धकी प्रखर आगमें बुरीतरह भून रहा हो उसके लिए और कौनसा स्पृहणीय आदर्श हो सकता है? उस शांतिका स्वरूप वेदने उच्चस्वरसे यूं उद्‌घोषित किया है-

शान्त द्यौः शान्ता पृथिवी शान्तमिदमुर्वन्तरिक्षम्। शान्ता उदन्वतीरापः शान्ता नः सन्त्वोषधीः ॥१॥ शांतं भूतं च भव्यं च सर्वमेव शमस्तु नः ॥२॥ पृथिवी शान्तिरन्तरिक्षं शान्तिर्द्यौः शान्तिरापः शान्तिः ओषधयः शान्तिर्वनस्पतयः शान्तिर्विश्वे मे देवाः शान्तिः०.. ॥१४॥ (अथर्व० १९।९)

'यह द्युलोक, भूलोक तथा विशाल अन्तरिक्ष, जल, ओषधियां वृक्षवनस्पति, इन्द्र सदृश बडेबडे देव, सुदूर अतीत तथा धुँधला भविष्यभी हमारे लिए शांतिदायक ठहरें। इनके निकट हमें सदैव सुखसमाधानकी अटूट प्राप्ति हो जावे।'

इन उपरिनिर्दिष्ट आदर्श एवं साध्यमें सफलता पानेके लिए मानवको ज्ञान तथा कर्म दो बहुमूल्य साधनोंकी उपलब्धि हुई है। इन साधनोंका उपयोग करनेके लिए ज्ञानेन्द्रिय तथा कर्मेंद्रिय साथसाथ मानवमें विद्यमान हैं। ज्ञानेन्द्रियोंके सहारे ज्ञानसुधाका संचय किया जाता है और कर्मेंद्रियोंसे विविध कर्म निष्पन्न किये जाते हैं। इस असीम विश्वमें ज्ञानक्षेत्र जितनाहीं विस्तृत है ठीक उसी अनुपातमें कर्मक्षेत्रभी सुविस्तृत है, यह अलग बतलानेकी कोई आवश्यकता नहीं है। जिसकी जानकारी पाना उचित है ऐसी विश्वमें विद्यमान हरएक वस्तुकी भली भाँति जानकारी प्राप्त करना ज्ञानक्षेत्रके दायरेमें समाविष्ट है।

ईशावास्यमिदं सर्वं यत् किं च जगत्यां जगत्। तेन त्यक्तेन भुञ्जीथाः मा गृधः कस्य स्विद् धनम्॥ (वा० य० ४०।१)

इस सुविख्यात एवं अतीव लोकप्रिय मंत्रमें निर्दिष्ट 'ईश' तथा 'इदं सर्वं' इन दो पदोंसे हमारे ज्ञानक्षेत्रकी परिधि निर्धारित हुई है। 'ईश' याने परमपिता परमात्मा ओम्, आत्मा, ब्रह्म, पुरुष और 'इदं सर्वं' अर्थात् यह समूचा दृश्य विश्व, सृष्टि, प्रकृति, इन युगलका प्रत्येक घटक हमारे ज्ञानक्षेत्रमें समा जाता है ऐसा इस मंत्रसे सुस्पष्ट विदित होता है। वैदिक धर्मके अभ्युदय एवं निःश्रेयस इस भाँति दो प्रमुख अंग हैं अतः 'ईश' का परिचय पाना तथा 'इदं सर्वं' की सत्य एवं पूर्ण जानकारी प्राप्त करके अपना अन्तस्तल आलोकित एवं उद्भासित करना नितान्त आवश्यक है। सृष्टिके सत्य तथा परिपूर्ण ज्ञानसे अभ्युदयके रुचिर शिखरपर आसीन तथा विराजमान होना सुगम है तो ईशके सत्य तथा सर्वांगीण ज्ञानसे निःश्रेयसकी प्राप्ति आसान है, इसतरहकी फलश्रुति इसी अध्यायमें आगे चलकर 'अन्यदेवाहुर्विद्यायाऽन्यदाहुरविद्यायाः' इन शब्दोंमें बतलायी है। जिस अनुपातमें ज्ञानका अंश विस्तृत हो बढने लगता है उसी अनुपातमें कार्यक्षेत्रकी परिधिभी व्यापक एवं बृहत् हो उठती है। **'यत् किं च जगत्यां जगत्'** शब्दावलिसे स्पष्ट बताया है कि इस विश्वमें जो कुछभी दिखाई दे रहा है उसकी आधारशिला, जगतीके जगतोंके समूहके आधारसे जगत् या इससे भी अधिक सुगम भाषामें कहें तो, समष्टिके आधारसे व्यष्टि या संघके सहारे व्यक्ति रहे, ऐसा नियमही है। अतः ऐसा कहनेमें कोई हर्ज नहीं कि व्यष्टिको समष्टिके लिए अथवा व्यक्तिको समाजके हितार्थही कर्म करने चाहिये। अस्तु।

यह तो सुस्पष्ट हुआ कि समाजके लिए व्यक्तिको अपना कार्य कलाप अविरतरूपसे जारी रखना है। अब एक सवाल यू सहजहीमें उठखडा होता है कि, भला उस व्यक्तिको उससे क्या लाभ हो सकता है? व्यक्ति क्यूकर भला इस भाँति त्याग करनेको कमर कसले? हाँ, यह प्रश्न बिलकुल ठीक जँचता है। ध्यानमें रहे कि वेद भगवानने उसका उत्तरभी उतनीही सुगम भाषामें दे रखा है, तनिक उसपरभी तो दृष्टिपात कर लें।

सम्भूतिं च विनाशं च यस्तद्वेदोभयं सह। विनाशेन मृत्युं तीर्त्वा सम्भूत्यामृतमश्नुते ॥ (वा० य० ४०।११)

'जो लोग समझ लेते हैं कि व्यक्तिभाव तथा संघभाव दोनोंही परस्पर पोषक और उपयोगी हैं वे व्यक्तिभावसे सभी दुःख दूर हटाकर संघभावसे अमर बन जाते हैं।'

वास्तवमें देखने लगें तो सच्चा पुरुषार्थ एवं पराक्रम यही है कि अवनीतलपर मौजूद जितनेभी दुःख संकट हैं

उन्हें सुदूर भगाकर संघभावमें विलीन हो मानव एक तरहसे अमरही बन जावे। व्यक्तिका मरण अनिवार्य है किन्तु समाज शाश्वत है जोकि कभी मृत्युके विकराल मुखमें समाविष्ट नहीं होता। सिर्फ व्यक्तिधर्मकाही पालन किया जाय तो मानव बहुधा अपनी निजू अन्नसामग्री पाकर स्नानपान भोजनादि बातें सफलतापूर्वक निभाकर किसी न किसीतरह प्राण धारण कर सकेगा। लेकिन उतनेसे समाजको जीवित रहना संभव नहीं। अच्छा, उल्टे संघभावको सर्वोपरि प्रधानता देकर सर्व साधारण जनसमुदायकाही एकान्त हित ध्यानमें रखकर किसी व्यक्तिकी अवहेलना या तिरस्कार किया जाय तो वहभी दोषपूर्णही कहा जायगा। व्यक्ति-व्यक्तिकी हत्या करके समाज कभी उन्नत दशाको प्राप्त नहीं कर सकता। सच पूछें तो व्यक्तीभाव और संघभावका युगपत् विकास होता रहे और ऐसा होनेपरही उपर्युक्त तरीकेसे लौकिक दुःखोंका निवारण हो सच्ची अमरताकी प्राप्ति होना कोई असंभव बात नहीं। चूँकि समष्टिकी बुनियादपरही व्यष्टि या व्यक्तिका जीवन निर्भर है, अतएव यह नितान्त निर्विवाद है कि (तेन त्यक्तेन भुञ्जीथा.) त्याग करके भोग भोगने चाहिये। और ये भोगभी सिर्फ वेही चुन लिये जायँ जो अपने लिए अत्यावश्यक हों अर्थात् समाजके मुख्य केन्द्रसे जितने भोग अपने हितार्थ निर्धारित किये जायें। ध्यानमें रखना अत्यन्त आवश्यक है कि धनका एकबार उत्पादन हो चुकनेपर उसपर समाजका अधिकार न्यायानुमोदित ढंगसे प्रस्थापित हुआ करता है। अर्थोत्पादनके पश्चात् लालच या संकीर्ण स्वार्थको सुतरां स्थान नहीं है क्योंकि वेद धीर गंभीर ध्वनिसे चेतावनी देता है 'मा गृधः, कस्य स्वित् धनम्?' अत्यन्त लालायित न बन, क्षोभ न कर, लालच करना छोड दे; देख तो सही यह जो धन तुझको या दूसरोंको मिला है भला वह असलमें किसका है? याने समूचे मानवसमाजका आधिपत्य उस उत्पादित अर्थसंपदापर स्वयमेव प्रस्थापित हो जाता है। इस भाँति केन्द्रीभूत धनवैभवका उपयोग सारी जनताके हित और कल्याणके लिए होना चाहिये। बस इसी महान तथा स्पृहणीय कार्यको पूर्वकालीन मनीषी वर्गने 'यज्ञ' नाम दे रखा था। '**गोधूमाश्च मे माषाश्च मे तिलाश्चमे आयुश्च मे यज्ञेन कल्पन्ताम्**।' मेरे खेतमें उपजाये हुए तिल उडद वगैरह अनाज तथा मेरा जीवनभी इस महायज्ञके काम आ जायँ। हरएक व्यक्तिको उसकी आवश्यकताके अनुसार सुखसुविधाओंकी प्राप्ति हो जाय और प्रत्येक मानवसे उसके सामर्थ्यानुसार काम ले चुकनेपर उसे अपनी आवश्यकताके मुताबिक दाम देनेका काम व्यवस्थित तथा अनुशासनपूर्ण तरीकेसे होता रहे, यह समाजके धुरंधर नेताओंकी कार्यकुशलताका प्रमुख अंग माना जाता है।

त्वां विशो वृणतां राज्याय त्वामिमाः प्रदिशः पञ्च देवीः। वर्ष्मन् राष्ट्रस्य ककुदि श्रयस्व ततो न उग्रो वि भजा वसूनि॥ (अथर्व० ३।४।२)

" उत्तम तरीकेसे शासन प्रबंध चलता रहे इस हेतुसे प्रभावित होकर इन सभी दिशाओंमें रहनेवाली प्रजाएँ तेरा स्वीकार कर लें, तुझको निर्वाचित कर दे। पश्चात् राष्ट्रके ऐश्वर्यसंपन्न एवं अत्युच्च पद या स्थानपर विराजमान हो बैठकर हमारे लिए धनसंपदाका वितरण या बँटवारा सुचारु रूपसे करता रह।

इस उपर्युक्त मंत्रमें वेदने सूर्यप्रकाशवत् सुस्पष्ट ढंगसे दर्शाया है कि धनसंपत्तिके वितरणमें (The distribution of the wealth which is in reality the collective production of the entire community) विषमताको (inequality) लेशमात्रभी स्थान न मिले और हरएक कार्यकर्ताकी समूची आवश्यकताओंकी यथावत् पूर्ति हो जाय इस संबंधमें पूरी तरह सतर्क एवं सचेष्ट रहनेका अतीव महत्त्वपूर्ण एवं गुरुतम उत्तरदायित्व राष्ट्रनेताओंके कंधोंपर सुनिहित है। तथा औरभी देख लीजियेगा।

स विशोऽनु व्यचलत्। स विशः सबन्धून् अन्नमन्नाद्यं अभ्युदतिष्ठत्॥ (अथर्व० १५।९।१,८।९)

वह राष्ट्रनेता प्रजाके अनुरोधसे बर्ताव रखता हुआ बंधुभावपूर्वक व्यवहार करनेहारे व्यक्तिमात्रकी अन्न तथा वस्त्रादिकोंकी पूर्तिकी सुव्यवस्था करनेके लिए कमर कसकर तैयार हुआ।

उपर्युक्त विवेचनसे अवश्यमेव यह बात ध्यानमें आ जायेगी कि,धनोत्पादनको वैयक्तिक ढंगसे न करके अर्थोत्पा-

इनके साधनोंपर समूची जनताका प्रभुत्व रहे (The instruments and means of production should and must be socialised) याने अर्थोत्पादनार्थ जिन प्रमुख साधनोंकी जरूरत रहती है उन पर वैयक्तिक एकाधिकार कदापि न रहे किन्तु वे सारी जनताकी मिलकियत समझी जायँ तथा समाजका हरएक सदस्य भी उचित एवं सुयोग्य प्रकारसे अपना अपना कार्य बडी सफलता पूर्वक निभाकर (कुर्वन्नेवेह कर्माणि...एवं त्वयि. .न कर्म लिप्यते नरे) मानने लगे कि वही अपना पुनीत धर्म है तथा वही पावनतम कर्तव्य है और वैयक्तिक लोभके मारे असत्य कर्म द्वारा पापका अर्जन करना छोडकर अपनी प्रगति करते करतेही अपने बांधवोंकी, समूची मानव जातिकी अविरत उन्नतिके कार्यमें सहर्ष सहयोग देकर इस हमारे परम मंगल गंतव्यको प्राप्त कर ले।

इस संबंधमें तनिक सोचनेपर विदित होगा कि वेद निर्दिष्ट समतावादमें यह भाव नहीं मिलता है कि सिर्फ भूतदयाके नाते या हम मानवप्राणी हैं इसलिए एकदूसरेकी आवश्यकताओंकी पूर्ति की जाय तथा पारस्परिक मदद पहुँचायी जाय। वेद इस भाँतिके कल्पित संबंधसे कोसों दूर हैं। वेदका उपदेश बस यही है कि यह सारा विश्व एक परमपिता परमात्मा ओमूके भीतर समाया गया है इसलिए (ईशावास्यमिदं सर्वं) हम सभी एकही अमृतमय प्रभु परमेश्वरके पुत्र हैं (अमृतस्य पुत्राः)। [यह उपदेश सर्वसाधारण जनताके लिए किया हुआ है किन्तु वेदका दृष्टिकोण इससेभी ऊपर एक ऊँचे धरातलपर जा पहुँचता है जब कि ज्ञानी पुरुषको समूचा विश्व परमात्माकाही अखंड अटूट अविभाज्य स्वरूप दीखपडता है, संपूर्ण चराचर जगत् परमात्मासे अभिन्न प्रतीत होता है जैसे कि "पुरुष एवेदं सर्वं यत् भूतं यत् च भव्यम्, पादोऽस्य विश्वा भूतानि....' सदृश वचनोंसे अति स्पष्ट होता है तब अनन्य भावका पूर्ण विकास होनेसे अंशीकी सेवा करनेमें अंश निरत होता है। 'एकं सत् विप्राः बहुधा वदन्ति, एकं वा इदं वि बभूव सर्वम्' जैसे वेदवचनोंसे ज्ञात होता है कि वास्तवमें एक परमात्माके अतिरिक्त स्वतंत्र, सत्तायुक्त दूसरी कोई वस्तु है ही नहीं, इस कारण मानवोंको यही उचित है कि विभिन्नतामय एकताकाही (Diversified unity) अखंड साम्राज्य विराजमान होनेसे सर्वत्र साम्य भावसे अविषम ढंगसे मानवोंका व्यवहार चलता रहे। वास्तवमें वेदका यही सर्वोपरि श्रेष्ठ उपदेश है जो कि किसी भी अन्य धर्म, सम्प्रदाय ग्रन्थमें देखनेको नहीं मिलता है और यही वैदिक आध्यात्मिक साम्यवाद (Spiritual & Divine Communism) है जिसके सार्वत्रिक प्रचार होनेसेही पीडित, व्यथित, व्याकुल संसारमें अखंड शान्तिसुखका साम्राज्य अक्षुण्णतया प्रस्थापित हो सकता है। इस समय संसारमें प्रचलित अन्य वाद सीमित तथा अतिसंकीर्ण हैं और वेदमें निर्दिष्ट सर्वोपरि सदैक्यवाद या आध्यात्मिक साम्यवादके समकक्ष होनेकी क्षमता वे बिलकुल नहीं रखते हैं-सहसंपादक]

मानव एक दूसरेको भाई समझें ऐसा इसपर धार्मिक बंधन है। जिसे परमात्मप्रदत्त कहनेमें कोई अतिशयोक्ति नहीं होगी। आज दिन अन्य राष्ट्रोंमें जो समतावाद बद्धमूल हो चुका है उसमें और ऊपर बताये वेद सूचित समतावादमें आकाशपातालका अन्तर है। जो साम्यवाद कल्पित बंधुभावकी नींवपर प्रस्थापित किया जाय वह बेशक बालूकी भीतपर निर्मित अट्टालिकाकी तरह धराशायी होगा इसमें क्या संशय ? यह कहनेकी कोई आवश्यकता नहीं है कि माना हुआ भाई अपने बहनसे या सौतेला पुत्र या कल्पित पुत्र मातासे घृणित व्यवहार करनेमें झिझक शायदही दर्शाये। इस भाँतिका विकार जहाँ नाममात्रकोभी न मिले ऐसा पवित्र आत्मा हमारे यहां सूचित समतावादमें निःसंदिग्धरीत्या देखनेको मिलेगा। सिर्फ अपने अपने लिएही चार दीवारें बांधकर उसी संकीर्ण दायरेके भीतरही समाज संगठन करनेके नितान्त हास्यास्पद प्रयत्न करने हारे दूसरे किसीभी खुदको प्रगतिशील समझनेवाले राष्ट्रोंमें जारी हुए समतावादकी अपेक्षा वेदमें प्रतिपादित समतावादही निर्विवादतया निकट भविष्यमें अपना महत्त्व समूचे दुःख दावानल दग्ध संसारको बतायेगा। ध्यानमें रहे कि निखिल विश्वमें एक छोरसे लेकर दूसरे छोरतक शान्तता, सुखसमाधान एवं समताका अक्षुण्ण साम्राज्य प्रस्थापित करनेके लिए कटि बद्ध प्राचीन आर्यावर्तके दूरदर्शी मनीषी वृन्दने

यद्यपि अन्य कुछ गौण बातोंकी भलेही उपेक्षा की हो तथापि उन्होंने ऐसी सुदृढ बुनियाद बना रखी है कि क्या मजाल संसारका इतर कोई वाद उसके समकक्ष बननेका दुस्साहस करले। इस वेद प्रतिपादित आध्यात्मिकतासे अनुस्यूत समतावादका मनोयोगपूर्वक अंगीकार कर लेनेसे किस तरह इस भूतलपरही साक्षात् स्वर्ग उतर आयेगा इसका संक्षिप्त दिग्दर्शन करना उचित जानपडता है।

इमा याः पञ्च प्रदिशो मानवीः पंच कृष्टयः।
वृष्टे शापं नदीरिवेह स्फातिं समावहान् ॥
(अथर्व० ३।२४।३)

' सभी दिशाओंमें जो ये पाँच प्रकारके उद्यमशील लोग रहते हैं वे सभी, जिस तरह बारिशकी वजहसे नदियोंमें बाढ चली आती है उस प्रकार, उन्नतिको प्राप्त हों।' ये पाँच तरहके लोग अर्थात् ही विद्वान, शूर, व्यापारी कारीगर तथा अज्ञानी या पिछडे हुए हैं। इन सबकी उचित तरीकेसे उन्नति करनेके लिए उन्हें योग्य अवसर मिले ऐसी आयोजनाको कार्यरूपमें परिणत करनेकी इच्छासे अथक चेष्टाएँ की जाती हैं। अगर उचित मौका मिले या योग्य समय मिलजाय तो समूची विद्याओं तथा कलाओंका विकास होनेमें देरी नहीं लगती है यह बात सबको विदित है।

इहैव ध्रुवां नि मिनोमि शालां क्षेमे तिष्ठाति घृत-मुक्षमाणा। तां त्वा शाले सर्ववीराः सुवीरा अरिष्टवीरा उप सं चरेम ॥ (अथर्व० ३।१२।१)

' बढिया, सुन्दर, सुदृढ तथा जिनमें पवन बेरोकटोक आ जा सके ऐसे मकान बाँध दें; गौ आदि दुग्धदायी पशुवृन्दको पालकर दुग्धघृतादिकी विपुलता कर दें। मकानके इर्दगिर्द स्वच्छताका प्रबंध करके निरोगितामय वायुमंडलका सृजन कर हम उन घरोंको आरोग्यकेन्द्र बना दें। घरमें शूरतापूर्ण वायुमंडल रहे ऐसी आयोजना द्वारा सभी पुरुष एवं नारियाँ वीर बनकर उत्तम सुपुत्र निर्माण करनेमें सदैव सहायक एवं सामर्थ्यवान् हों ऐसी व्यवस्था करते हुए हम उक्त घरोंमें सहर्ष निवास करें।'

समाजवादी शासनप्रणालीमें नगरोंकी रचना इस तरह आयोजनापूर्वक की जायगी; हरएकको अपनी उचित प्रगति करनेमें तथा निज गुणोंका विकास करनेमें प्रोत्साहन मिल जायगा। अत्यन्त विद्वान समझनेवाले लोगोंके बनाये आधुनिक युगके भीडभाडके, शहरोंके मकान अतीतकी वस्तु बन जायेंगे। सबको अन्नवस्त्र ठीक मिलता रहे इस संबंधमें शासन व्यवस्थापर उत्तरदायित्व रहेगा। किसी भी दशामें जनताको क्षतिग्रस्त होनेसे सुरक्षित रखा जायगा। तब यह नितान्त असंभव है कि जनता अपराध करनेकी ओर मुड जाए। हमने प्रारंभमें बताया कि निर्धनता दरिद्रताही अपराधोंकी जननी है। जब मानवको आवश्यक वस्तुएँ मिलने लगेंगी तो भला वह कैसे अपराध या गुनाह करनेमें प्रवृत्त होगा? यदि समाजमें अपराधियोंकी संख्या घटानेकी इच्छा हो तो सर्व प्रथम आर्थिक विषमता हटादेनेकी अनिवार्य आवश्यकता है। केवलमात्र ऊँची आवाजमें परमात्म भजन करनेसे या जगलोंमें जाकर ध्यान करनेसे किंवा नामघोष, नामजप करनेसे काम नहीं चलेगा, समाजसुधार न होगा। जब ' समानी प्रपा, सह अन्न भागः ' मिल जाय तो अपराध करनेको समय नहीं रहता और मानव मन उच्च स्तरमें सानन्द संचार करने लगता है। आध्यात्मिकताकी पार्श्वभूमि साम्पत्तिक विषमताका अभावही है। यह सिर्फ स्वप्न विलसित नहीं है जो कि केवल कल्पनारम्यही हो अपितु भारतके अतीत युगके मनीषी वृन्दने कार्यान्वित किया हुआ जीवित एवं सुमंगलमय शास्त्र है। चूँकि भारतीय जनता वेद प्रतिपादित समतावादकी उपेक्षा कररही है इसलिए न केवल संसारका गुरुवृन्द भारतही किन्तु सारा जगत् असीम दुःखकी परितापद लपटोंमें नितान्त झुलस रहा है। हाँ, बात बिलकुल ठीक है पर प्रश्न यही है कि क्या हम इसी दुःखद एवं शोचनीयदशामें यावत् चन्द्रदिवाकरौ रहनेकी इच्छा करें? प्राचीन वैदिक सुकवि एवं द्रष्टाओंने सहजसुलभ एवं अमृतरससे परिपूर्ण मंगलकलश वेदमें रखा है, क्या उसे दूर फेंककर हम अपनी अक्षमताका प्रदर्शन कर निन्दनीय तथा घृणित बनेंगे? नहीं नहीं, किन्तु वैदिक स्वाध्यायसे वेद प्रदर्शित आध्यात्मिक समतावादकी अनुपम झाँकी प्राप्त कर समूचे संसारको आलोकित करनेकी महत्वाकांक्षा रखें यही ठीक है।

सामवेदमें वर्णित

अग्नि देवताकी जनसेवा और उसका परिचय

(लेखक— श्री. पं० दयानन्द गणेश धारेश्वर, बी. ए., औंध)

अग्नि देवताका वर्णन करनेवाले जो मंत्र सामवेदमें पाये जाते हैं, उन्हें ध्यानपूर्वक पढनेसे स्पष्ट विदित होता है कि उनमें सुयोग्य तथा अच्छे कार्यक्षम नेताका बडाही उत्कृष्ट चित्रण एवं बखान किया है। नेतापद अलंकृत करनेके लिये कौनसे गुण आवश्यक हैं तथा प्रभावशाली नेताके संबंधमें जनतामें कौनसी धारणा प्रचलित हुआ करती है और अपने देवतारूपी नेतासे लोग क्या चाहते हैं एवं नेताका महनीय पद अटल रखने और अपने अनुयायियोंकी भक्ति अक्षुण्ण रखनेके लिए भी नेताको क्या करना चाहिये इत्यादि समस्याओंपर इन मंत्रोंसे अच्छी आलोक-रेखाका प्रक्षेपण होता है।

यह ध्यानमें रखना आवश्यक है कि लोग यूंही किसीको देवतातुल्य समझकर उसकी उपासना नहीं करते और नाही उससे तीव्र उत्कंठापूर्वक अपनी अनिवार्य आवश्यकताओंकी पूर्तिके लिये बारंबार प्रार्थनाही करने लगते हैं, अपितु जिस व्यक्ति या शक्तिमें जनता, उपासकों, भक्तों एवं अनुयायियोंकी रक्षा सुचारुरूपसे करने तथा उनकी आर्थिक सुस्थितिका सुप्रबंध समाधानकारक ढंगसे करनेकी भी अनूठी क्षमता विद्यमान होती है वही देवतारूपी सफल नेता बनता है और उसेही जनता प्राणप्यारे देवताके रूपमें देखने लगती है, यह नितान्त निर्विवाद है।

अब देखना चाहिये कि अग्निके अनोखे कार्योंसे और उसके स्पृहणीय सामर्थ्य एवं महनीय जनसेवासे प्रतिभासंपन्न वैदिक सुकवि तथा द्रष्टा ऋषि किस भाँति प्रभावित होकर तीव्र लगनसे उसे अपने समीप बारंबार बुलाते हैं। निम्न मंत्रोंमें वैदिक जनताके अन्तस्तलमें अग्निके सतत सान्निध्यकी जो प्रबल अभिलाषा अविरत रूपसे उमड रही थी उसका स्पष्ट निर्देश उपलब्ध होता है—

अग्निको आमंत्रण

१७१२ ऊर्जो नपातमा हुवेऽग्निं पावकशोचिषम्। अस्मिन्यज्ञे स्वध्वरे॥ (ऋ ८।४४।१३)

"पवित्रतामय वायुमंडलका सृजन करनेहारे तेजसे विभूषित एवं बलको न गिरानेवाले या बलके पुत्रतुल्य अग्निको मैं इस यज्ञस्थलमें जहाँपर सुन्दर अहिंसामय कार्य सकुशल-संपन्न किये जारहे हैं, उपस्थित रहनेके लिये बुलाता हूँ।" नेता सदैव बलिष्ठ रहनेके लिये सचेष्ट रहे तथा इस भाँतिका तेज प्राप्त करे कि वह जिधरभी चला जाय उधर पवित्रताका संचार होने लगे। ऐसेही सुयोग्य नेताको जनताके यज्ञ-मंडपोंमें पधारनेके लिए आमंत्रण मिलता है।

१. ६६० अग्न आ याहि वीतये गृणानो हव्यदातये। नि होता सत्सि बर्हिषि॥ (ऋ० ६।१६।१०)

'प्रशंसित होते हुए हे अग्ने! हवनीय वस्तुओंका दान तथा पवित्रता, उपभोगादि कार्य जारी रहे इसलिये तू चला आ और दानशूर तू कुशासनपर बैठ जाता है।' अग्रगन्ता नेताका यह कर्तव्य है कि वह जनताके मध्य पधारकर संपत्तिके उत्पादनका प्रयत्न करे, प्रगतिशील भाव फैलाये और सभी तरहकी पवित्रताका वायुमंडल निर्माण करे। पश्चात् वह उपभोग लेसकता है और जनतामें हविर्भागका याने आवश्यक धनका उचित वितरण एवं बँटवारा कर सकता है। अर्थोत्पादन, प्रगतिशीलता, ज्ञान एवं पवित्रताका प्रसार करना नेताके कर्तव्योंमें प्रमुख स्थान रखते हैं। यदि नेता अपने इन कर्तव्योंको भले प्रकार निभाये तोही जनता उसे बार बार बुलाती है, उसकी सराहना करती है, उसका उचित सत्कार करती है और उसके सम्मुख अपनी आवश्यकताओंको ब्यौरेवार प्रस्तुत करती है।

७७०५ एहयू षु ब्रवाणि तेऽग्न इत्थेतरा गिरः। एभिर्वर्धास इन्दुभिः॥ (ऋ. ६।१६।१६)

'हे अग्रगन्ता नेता! तू इधर आ, तेरे लिये मैं इस ढंगसे अन्य भाषण सुन्दररूपसे करता हूँ और इन सोमरसोंका

सेवन करके तू वृद्धिंगत हो जा।' वैदिक सुकवि केवल पुराने अभिभाषणोंसे ही अग्रगामी नेताको संतुष्ट करनेकी चेष्टा नहीं करता किंतु प्रतिभासंपन्न होनेकी वजहसे अन्य भाषण तैयार करके अच्छे ढंगसे कहकर उसे प्रसन्न करता है तथा सोमरसोंको देकर उसका उत्साह बढाता है।

१६. प्रति त्यं चारुमध्वरं गोपीथाय प्र हूयसे। मरुद्भिरग्न आ गहि॥ (ऋ. १।१९।१)

' हे अग्रगामी! तुझे उस सुन्दर हिंसारहित यज्ञस्थलके समीप गोरस पीनेके लिये प्रकर्षसे बुलाते हैं इसलिये तू वीर सैनिक साथ लेकर पधारना शुरु कर।' सदैव आगे बढनेवाले नेताका सत्कार करनेमें वैदिक द्रष्टा किस प्रकार तत्पर रहते थे सो इस मन्त्रमें स्पष्ट दर्शाया है।

२१ अग्ने युङ्क्ष्वा हि ये तवाश्वासो देव साधवः। अरं वहन्त्याशवः॥ (ऋ ६।१६।४३)

' हे देवतुल्य प्रतीयमान अग्रणी! जो तेरे अच्छे घोडे हों उन्हें तू शीघ्र अपने रथमें जोतदे, क्योंकि वे जल्द जानेवाले हैं, इसलिये तुझे गन्तव्यस्थानपर पर्याप्त शीघ्रतासे पहुँचा देते हैं।' वैदिक सुकवि इस मन्त्रमें चेतावनी देता है कि जनसेवाको अखंडरूपसे चलानेके लिये नेता हमेशा सुसज्ज रहे और कभी सुदूर स्थानपर लोकसेवाके लिए नेताको जाना पडे तो अनावश्यक विलंब न होनेपाय ऐसा प्रबंध करे।

४५ ७४९. एना वो अग्निं नमसोर्जो नपातमा हुवे। प्रियं चेतिष्ठमरतिं स्वध्वरं विश्वस्य दूतममृतम्॥ (ऋ. ७।१६।१)

' बल, ऊर्जको अक्षुण्ण रखनेवाले अग्रगामी नेताको तुम्हारे इस नमनपूर्वक किये भाषणसे समीप आनेके लिये बुलाता हूँ; वह सबका प्रिय, अमृतत्वका उपभोग लेनेवाला; सबका दूत, अत्यंत चेतनशील, सुन्दर, हिंसारहित कार्य संपन्न करनेवाला एवं गतिशील है।' अग्रणीकी क्षमतापर इस मन्त्रमें सुन्दर प्रकाश डाला है और सूचित किया है है कि किन किन गुणोंके मौजूद रहनेपर जनता नेताको वारंवार अपने निकट बुलाने लगती है। जनताके प्रिय नेता बननेकी महत्त्वाकांक्षा जिस पुरुषके अन्तस्तलमें उमडने लगे वह इस मन्त्रमें दिये पाँचों विशेषणोंपर खूब सोचने लगे तो यह असंशय उसका प्रथमप्रदर्शक बनेगा।

७९१. अग्निमग्निं हवीमभिः सदा हवन्त विश्पतिम्। हव्यवाहं पुरुप्रियम्॥ (ऋ. १।१२।२)

' प्रजाओंके पालक, हव्यवस्तुओंको उचित जगह ढोकर पहुँचानेवाले, बहुतोंके प्रिय तथा अग्रगामी अग्निको हमेशा समीप आ जानेकी सूचना देनेवाले काव्योंसे लोग बुलाते हैं।' यदि नेताकी इच्छा हो कि वह बहुतसे लोगोंका प्रेमपात्र बने तो उचित है कि वह जनताका पालनकर्ता बनकर आहुति देने योग्य वस्तुओंको जिधर उनकी आवश्यकता जान पडे उधर पहुँचा दे। जनताके अधिपति बनने एवं आवश्यक चीजोंको इष्ट स्थानपर पहुँचानेकी क्षमता आनेपर प्रजाकी ओरसे वारंवार निमंत्रण मिलने लगता है।

११६७. पुरुत्रा हि सदृङ्ङसि दिशो विश्वा अनु प्रभुः। समत्सु त्वा हवामहे॥ (ऋ. ८।११।८)

' हे अग्ने! तू विविध स्थानोंमें समान दृष्टि रखता है और सभी दिशाओंमें विना विरोधके प्रभुपदपर विराजमान रहता है, इसलिये हम युद्धोंके अवसरपर तथा सभासमितियोंके अधिवेशनके समय तुझको उपस्थित रहनेके लिये निमंत्रित करते हैं।' नेताको उचित है कि वह विषम व्यवहारसे दूर रहे और विभिन्न स्थलोंमें यात्रा करते समय साम्यदृष्टि रखकर जनताकी सेवा करने लगे। तभी तो सभी दिशाओंमें या समूची जनतामें (ऋग्वेदपाठमें ' विशो विश्वाः ' ऐसा पाठ मिलता है) उसके प्रभुत्वके बारेमें अनुकूल भाव फैलते हैं और उसके विरुद्ध ननुनच करनेका साहस किसीमें नहीं रहता। निम्न मन्त्रमें भी यही भाव व्यक्त किया है-

११६८. समत्स्वग्निमवसे वाजयन्तो हवामहे। वाजेषु चित्रराधसम्॥ (ऋ० ८।११।९)

' अन्न तथा बलकी कामना करनेवाले हम युद्धके अवसरोंपर अपनी रक्षाके लिये समरांगणपर अनूठा धनवैभव पानेवाले अग्निको समीप पधारनेके लिये बुलाते हैं।' भक्तोंकी रक्षा करने तथा युद्धोंमें अनोखा धन जीतनेकी क्षमता अग्निमें है इसलिये वह इतना लोकप्रिय है।

१३४९. नराशंसं इह प्रियमस्मिन्यज्ञे उप ह्वये। मधुजिह्वं हविष्कृतम्॥ (ऋ. १।१३।३)

' इस यज्ञमें हविके दानसे तैयार किये हुए, मधुर भाषण करनेवाले, मानवोंसे प्रशंसनीय लोकप्रिय अग्निको मैं समीप पधारनेके लिये बुलाता हूँ।'

१३८४. अच्छा नो याह्या वहाभि प्रयांसि वीतये। ... (ऋ० ६।१६।४४)

' हमारे निकट चला आ और हमें अन्नोंके प्रति ले चल ताकि हम उपभोग ले सकें ! '

१५५२. अग्न आ याह्यग्निभिर्होतारं त्वा वृणीमहे। आ त्वामनक्तु प्रयता हविष्मती यजिष्ठं बर्हिरासदे ॥ (ऋ. ८।६०।१)

' हे अग्ने ! तू अन्य अग्नियोंके साथ चला आ क्योंकि तुझ जैसे दानीको हम स्वीकार करते हैं तथा हम चाहते हैं कि अत्यंत यजनशील तुझको कुशासनपर बैठ जानेपर हविर्दानके उपरांत हमारी सुसज्ज वाणी पूर्णतया विभूषित करे, अर्थात् हम तेरे स्तुतिपर अभिभाषण करने लगें ।

१७७९. एभिर्नो अर्कैर्भवा नो अर्वाङ्क्स्वर्ण ज्योतिः। अग्ने विश्वेभिः सुमना अनीकैः ॥ (ऋ. ४।१०।३)

' हे अग्ने ! हमारी इन अर्चनीय स्तुतियोंसे प्रभावित होकर तू उसीतरह हमारे सामने आनेके लिए प्रवृत्त हो जैसे कि सूर्य चला आता है और हमारे निकट आते समय तू सभी साधनोंसे युक्त होकर प्रसन्नचेता बन जा । '

१८१४. यजिष्ठं त्वा यजमाना हुवेम ज्येष्ठमङ्गिरसां विप्र। मन्मभिर्विप्रेभिः शुक्र मन्मभिः।.. (ऋ. १।१२७।२)

' हे ज्ञानी तथा प्रदीप्त तेजवाले अग्ने ! अंगिरसोंमें ज्येष्ठ तथा अत्यंत यजन करनेहारे तुझको हम यज्ञ करनेवाले मननीय स्तोत्रों तथा ज्ञानियोंसे समीप बुलाते हैं । '

अग्निकी स्तुति

ऊपर दिये मंत्रोंसे स्पष्ट हुआ कि जनताके निकट अग्निको बुलानेके कई निर्देश वेदमें पाये जाते हैं। अब देखना चाहिये कि अग्निकी प्रशंसा करनेके निर्देश क्या कहते हैं। निम्न मन्त्रोंमें अग्निकी योग्यतापर अच्छी आलोक-रेखा डाली गयी है।

१५४३. मन्द्रं होतारं ऋत्विजं चित्रभानुं विभावसुम्। अग्निमीळे स उ श्रवत् ॥ (ऋ० ८।४४।६)

" प्रसन्नचेता, दानी, ऋत्विक्का कार्य करनेवाले, अनूठे तेजसे युक्त तथा आभारूपी धनसे पूर्ण अग्निकी प्रशंसा मैं करता हूँ ताकि वह मेरे कथनको सुन ले। "

६०५. अग्निमीळे पुरोहितं यज्ञस्य देवमृत्विजम्। होतारं रत्नधातमम् ॥ (ऋ० १।१।१)

" यज्ञमें ऋत्विक्की धुरा उठानेवाले, देवतातुल्य प्रतीत होनेवाले दानशील, रत्नोंको यथेष्ट रखनेवाले और जनताके आगे अवस्थित अग्निकी मैं स्तुति करता हूँ। "

५; १२४४. प्रेष्ठं वो अतिथिं स्तुषे मित्रमिव प्रियम्। अग्ने रथं न वेद्यम् ॥ (ऋ० ८।८४।१)

" हे प्रजाओ ! तुम्हारे अत्यन्त प्यारे अतिथि बने हुए अग्निकी मैं प्यारे मित्रके तुल्य स्तुति करता हूँ; हे अग्ने ! मैं तेरे निकट उसीतरह आता हूँ जैसे कोई रथके निकट पहुँचे क्योंकि जिसप्रकार धन प्राप्त करनेमें रथसे सहायता होती है वैसेही तू वैभव पानेमें मानवको सहायता देता है। "

३२. कविमग्निमुप स्तुहि सत्यधर्माणमध्वरे। देवममीवचातनम् ॥ (ऋ० १।१२।७)

" हिंसारहित कार्य जारी रहते समय देवतारूपी, रोग दूर हटानेवाले, सत्यधर्मके पुजारी एवं क्रान्तदर्शी अग्निकी प्रशंसा कर। " इस मंत्रमें अग्निके लिये जो विशेषण प्रयुक्त हुए हैं उनसे नेतामें आवश्यक गुण कौनसे हैं सो विदित होता है।

३५; ७०३. यज्ञा यज्ञा वो अग्नये गिरा गिरा च दक्षसे। प्र प्र वयं अमृतं जातवेदसं प्रियं मित्रं न शंसिषम् ॥ (ऋ० ६।४८।१)

" हर यज्ञमें ज्ञानी एवं बलके सजीव मूर्तितुल्य प्रतीत होनेवाले अग्निके लिए हम प्रत्येक अभिभाषणमें स्तुतिपर वचन कहेंगे और हम प्यारे मित्रकी जैसी प्रशंसा करते हैं वैसे ही अमर एवं ज्ञानी अग्निकी प्रकर्षसे प्रशंसा करते हैं। "

४४; १५८३ यो विश्वा दयते वसु होता मन्द्रो जनानाम्। मधोर्न पात्रा प्रथमान्यस्मै प्र स्तोमा यन्त्वग्नये ॥ (ऋ० ८।१०३।६)

" जो ज्ञानी तथा प्रसन्न अग्नि जनतामें सभी धनोंका प्रदान करता है उसके लिये पहलेही हमारे स्तोत्र, मधुभरे बर्तनोंकी नाईं हर्षदायक होकर यथेष्ट पहुँचते रहें। " अग्नि की दानशूरताका स्पष्ट उल्लेख है और नेताको भी यथा

संभव दान देकर जनताको अपनी ओर आकर्षित करनेका प्रयत्न करना चाहिये ।

४७, १५१५. अदर्शि गातुवित्तमो यस्मिन् व्रतान्यादधुः । उपो षु जातमार्यस्य वर्धनं अग्निं नक्षन्तु नो गिरः ॥ (ऋ० ८।१०३।१)

" विभिन्न मार्गोंको प्रकर्षसे जाननेवाला यह अग्नि अब दीख पडा है और यह वही है जिसमें व्रतोंका मानों भण्डार ही है । भलीभाँति उत्पन्न एवं आर्यत्वकी वृद्धि करनेमें निरत अग्निके लिए हमारे प्रशंसापर भाषण प्राप्त हों । "

४९. अग्निमीडिष्वावसे गाथाभिः शीरशोचिषम् । अग्निं राये... ॥ (ऋ० ८।७१।१४)

" संरक्षण प्राप्त करनेकी इच्छा हो तो प्रदीप्त तेजवाले अग्निकी स्तुति गाथाओंद्वारा तू करले और धन पाना हो तो भी अग्निकी सराहना कर । "

५२ अध ज्मो अध वा दिवो बृहतो रोचनादधि । अया वर्धस्व तन्वा गिरा ममा... ॥ (ऋ० ८।१।१८)

" तू भूमंडलके किसीभी स्थानसे या उस विशाल जगमगाते द्युलोकसे इधर पधार और मेरे इस विस्तृत भाषणसे तेरा उत्साह बढ जाय । "

१०३ ईळिष्वा हि यजस्व जातवेदसम् । अगृभीतशोचिषम् ॥ (ऋ० ८।२३।१)

" जिसका तेज सर्वोपरि है तथा जो ज्ञानी होकर दूसरोंको ज्ञान देता है उसकी स्तुति तू अवश्यही कर । "

१०६ श्रुध्यग्ने नवस्य मे स्तोमस्य वीर विश्पते । (ऋ० ८।२३।१४)

" हे प्रजापालक वीर अग्ने ! मेरे इस नये स्तोत्रको सुन ले । " इससे स्पष्ट होता है कि वैदिक सुकवि नये स्तोत्रोंकी रचना करके देवतारूपी नेताकी प्रशंसा करते थे । केवल पुराने स्तोत्रोंसेही संतुष्ट रहना प्रातिभासंपन्न द्रष्टा सुकवियोंके लिये असंभव है ।

१५३३. ईशिषे वार्यस्य हि दात्रस्याग्ने स्वः पतिः । स्तोता स्यां तव शर्मणि ॥ (ऋ० ८।४४।१८)

"तू स्वर्गका अधिपति है इसलिये, हे अग्ने ! स्वीकरणीय दान तेरेही अधीन है; मैं तेरा प्रशंसक हूँ, अतः तेरे प्रयाजित सुखसुविधाकी छत्रछायामें मैं निवास करता रहूँ । "

१३७९ उपप्रयन्तो अध्वरं मंत्रं वोचेमाग्नये । आरे अस्मे च शृण्वते ॥ (ऋ० १।७४।१)

" हम सभी हिंसारहित कार्यके निकट जाते हुए अग्निके लिए जो दूर रहनेपरभी हमारे कथनको सुन रहा है मननीय स्तोत्र कह देते हैं । " नेताको उचित है कि वह भलेही कार्यवश सुदूर स्थानमें रहे किंतु जब भक्त कुछ कहना चाहे तो उधर पूरा ध्यान देदे क्योंकि उसी दशामें अनुयायी वर्गमें नेताके प्रति प्रशंसामय भाव उमडने लगते हैं ।

६६, १०६४ इमं स्तोममर्हते जातवेदसे रथमिव सं महेमा मनीषया । (ऋ० १।९४।१)

" ज्ञानी अग्निके लिये जो कि योग्यतासंपन्न है, इस स्तोत्रको हम मनःपूर्वक वैसेही समर्पित करते हैं जैसे कि कोई रथको छीलछालकर बना दे अर्थात् जिसतरह बडे परिश्रमसे लकडी छीलकर काटछाँटके उपरान्त सुन्दर रथ तैयार किया जाता है, वैसेही हम अपनी सारी मानसिक शक्तियाँ लगाकर उचित शब्दावलिका चयन करके तथा अनावश्यक पदोंको हटाकर मनको हर्षोत्फुल्ल करनेवाले सुचारु स्तोत्रको रच देते हैं और अग्निको अर्पित करते हैं ।" रथकी समर्पक उपमा देनेसे यह बात भलीभाँति हृदयंगम होती है कि वैदिक सुकवि निर्दोष स्तोत्रकी रचनामें किस तरह परिश्रम करते थे । दोषरहित एवं गुणयुक्त पदावलिका बडी सतर्कतासे चयन करनेमें वेदकालीन द्रष्टा कवि बडे सिद्धहस्त थे ।

अग्निका दूतकर्म

दूत बनकर जन-सेवाको भली भाँति निभाना अग्निकी एक विलोभनीय एवं विचारणीय विशेषता है । दूतके नाते साधारण जनता तथा उच्चपदाधिष्ठित श्रेणियोंके मध्य संपर्क प्रस्थापित करना, जनसाधारणके दिये हविर्द्रव्योंको देवों याने ऊँची श्रेणीके लोगोंको पहुँचाना तथा देवोंकी बनायी हुई सुखसुविधाओंको साधारणसे साधारण मानव भी प्राप्त कर सके ऐसा प्रबंध करके देवोंके अभिलषणीय दानको समूची मानव-जातिमें प्रसृत कर ऊँच-नीचके भेदभावको मिटाकर The classes and the masses के बीच मौजूद चौडी खाईको न्यून करना अग्निके लोकसेवाकार्यक्रममें अन्तर्भूत है ।

मानव समाजके दो विख्यात विभागो अर्थात् उच्च श्रेणीवाले तथा निम्न स्तरमें रहनेवाले लोगोंके दूत या एलची बननेमें अग्निको असीम सफलता मिली थी, ऐसा निम्न मंत्रोंमें दर्शाया है-

त्वमग्ने यज्ञानां होता विश्वेषां हितः।
देवेभिर्मानुषे जने॥ सा. २,१४७४ (ऋ. ६।१६।१)

' हे अग्ने! तू यज्ञोंमें दानशूर है तथा सबका हितकर्ता है इसलिये तू देवोंद्वारा मानवजातिमें दूतका कार्य करनेके लिये नियुक्त हुआ है। '

१;७९० अग्निं दूतं वृणीमहे होतारं विश्ववेदसम्।
अस्य यज्ञस्य सुक्रतुम्॥ (ऋ. १।१२।१)

' दानशूर, सर्वज्ञ तथा इस हमारे प्रवर्तित यज्ञमें भली भाँति कार्य करके विख्यात बने अग्निको हम दूतकी हैसियत से चुनते हैं।' दूतमें कौनसे गुण रहने आवश्यक है सो इन दो मंत्रोंसे स्पष्ट होता है। उदारता, कर्मण्यता एवं सर्वज्ञता हो, तो देवोंकी ओरसे जनताके प्रति और साधारण जनसमाजकी तरफसे देवतागणके निकट दूतके पदपर अधिष्ठित होना सहजही है।

११ दूतं वो विश्ववेदसं हव्यवाहममर्त्यम्।
यजिष्ठं ऋञ्जसे गिरा॥ (ऋ. ४।८।१)

' अत्यंत यजन करनेवाले, सर्वज्ञ, उचित स्थानपर हव्य भागोंको पहुँचानेवाले तथा समूची जनताकी तरफसे दूत बने मृत्युंजय अग्नि- अग्रगन्ताको तू अपने भाषणसे सम्मानित करता है। '

५९ प्र वो यह्वं पुरूणां विशां देवयतीनाम्।
अग्निं सूक्तेभिर्वचोभिर्वृणीमहे। (ऋ. १।३६।१)

' देवताओंके निकट संपर्ककी अविरत कामना करनेहारी अनेकविध जनताके पूजनीय अग्निको भली भाँति कहे वचनों से दूतकार्यको सुन्दरतया सुसंपन्न करनेके लिये हम चुन लेते हैं। ' अधिक संख्य जनताके दूत बननेका गुरुतर कार्यभार अग्निको-अग्रणीको अपने सरपर उठाना ही पडता है।

११२. यजिष्ठं त्वा ववृमहे देवं देवत्रा होतारममर्त्यम्। अस्य यज्ञस्य सुक्रतुम्॥
(ऋ. ८।१९।३)

' देवोंके मध्य जानेवाले, देवतातुल्य, दानशील, मृत्युसे अछूते और हमारे इस यज्ञको सुचारुरूपसे समाप्त करनेवाले अत्यंत यजनशील तुझको ही हम दूतपदको अलंकृत करनेके लिये चुनते हैं। '

१७८१. जुष्टो हि दूतो असि हव्यवाहनोऽग्ने रथीरध्वराणाम्। (ऋ. १।४४।२)

' हे अग्ने! हिंसारहित कार्योंका संचालन करनेवाला और हव्य पहुँचानेवाला तू सबका सेवनीय दूत बना है। ' अर्थात् अग्निके दूतकर्मसे सभी लाभ उठाते हैं यह स्पष्ट हुआ।

१५६८ त्वां दूतमग्ने अमृतं युगेयुगे हव्यवाहं दधिरे पायुमीड्यं॥ (ऋ० ६।१५।८)

हे अग्ने! तुझ जैसे रक्षणकर्ता, प्रशंसनीय, अमरपनका उपभोग लेनेहारेको हरयुगमें दूत एवं हव्य पहुँचानेवालेके रूपमें नियुक्त कर चुके हैं। ' इससे स्पष्ट है कि, दूतकर्मको सफलतापूर्वक निभानेसे जनता अग्निसे अत्यंत प्रभावित होकर प्रायः शाश्वत रूपसे उस कार्यके लिये उसे ही नियुक्त करती है क्योंकि हव्य वस्तुओंको वही उचित स्थानपर बडी कुशलतासे पहुँचाता है। यही बात निम्न मन्त्रमें कही है-

४६ अतन्द्रो हव्यं वहसि हविष्कृत आदिद्देवेषु राजसि। (ऋ ८।६०।१५)

' हवि बनानेवालेका हविर्द्रव्य तू इष्टस्थानपर अथक रूपसे पहुँचाता रहता है और वह कार्य संपन्न करके ही तू देवोंमें विराजमान होता हैं। '

अग्नि देवका प्रभाव इतना बडा है कि न केवल देवोंके निकट ही वह पहुँच जाता है किन्तु उन्हें भी मानवोंके समीप ले चलता है। यह सचमुच बडा महत्वपूर्ण है क्योंकि साधारणतया देखा जाता है कि मानवजातिसे दूर रहना देवतागणका एक विशेष लक्षणसा बन चुका है और कोई आश्चर्यकी बात नहीं यदि अग्निदेवके तुल्य लोकसेवा-निष्णात नेता इस शोचनीय दशाके सुधारनेमें अपना शक्ति-सर्वस्व लगाये। इसीलिये वेदमें कहा है-

४०. आ दाशुषे जातवेदो वहा त्वमद्या देवाँ उषर्बुधः॥ (ऋ. १।४४।१)

' हे ज्ञानी! आज तू दानी पुरुषके निकट प्रातःकाल ही जागनेवाले देवोंको पहुँचा दे।

९६. त्वमग्ने वसूँरिह रुद्राँ आदित्याँ उत।
(ऋ. १।४५।१)

' हे अग्ने ! तू इधर वसुओं, रुद्रों तथा अदितिके पुत्रोंको उपस्थित करदे । '

१३५०. अग्ने सुखतमे रथे देवाँ ईडित आवह ।
असि होता मनुर्हितः ॥ (ऋ. १।१३।४)

' हे अग्ने ! तू प्रशंसित होनेपर अत्यंत सुख देनेहारे रथपर देवोंको बिठलाकर इधर पहुँचा दे क्योंकि तू आह्वानकर्ता, दानशूर एवं मानवोंका हितकर्ता है । '

१३४७. सुषमिद्धो न आ वह देवाँ अग्ने हविष्मते । (ऋ. १।१३।१)

' हे अग्ने ! तू भलीभाँति प्रज्वलित होकर याने अपनी सभी शक्तियोंका चरम विकास करके हमारे निकट तथा हविर्द्रव्य साथमें रखनेवालेके समीप देवोंको पहुँचा दे । '

७९२. अग्ने देवाँ इहा वह आसि होता न ईड्यः । (ऋ. १।१२।३)

' हे अग्ने ! तू देवतागणको इधर पहुँचा दे; तू हमारी निगाहमें दानी तथा सराहनीय है । '

१००. अग्ने यजिष्ठो अध्वरे देवां देवयते यज ।
होता मन्द्रो वि राजस्यति स्रिधः ॥
(ऋ. ३।१०।७)

' हे अग्ने ! तू हिंसारहित कार्यमें अत्यंत यजन करनेहारा है, इस कारण देवताके निकट संपर्ककी कामना करनेवालेको समाधान हो जावे इसलिये देवोंकी आवभगत कर; तू दानशूर तथा प्रसन्नचेता है और हिंसकोंके छक्के छुडाकर विराजमान होता है । '

२८ इममू षु त्वमस्माकं सनिं गायत्रं नव्यांसम् ।
अग्ने देवेषु प्र वोच ॥ (ऋ. १।२७।४)

' हे अग्ने ! हमने जो नया, धन देनेवाला तथा गायन करनेवालेकी रक्षा करनेवाला स्तोत्र रचा है उसे तू देवोंमें यथेष्ट भाषणद्वारा प्रसारित कर । ' इससे स्पष्ट होता है कि जनता अपने मनके भावोंको नये ढंगके स्तोत्रमें व्यक्त कर देती है और चाहती है कि देवताओंकी सभा या परिषद्में अग्निदेव उपस्थित रहकर तथा खूब वक्तृता देकर जनमानसस्थ आकांक्षाओंकी अभिव्यंजना करनेवाले उस काव्यका देवोंमें पर्याप्त प्रचार करे । नेताको उचित है कि वह उच्च श्रेणीवाले दानशूर व्यक्तियोंके निकट पहुँचकर जनसाधारणकी स्तुतियोंको उत्कृष्ट एवं प्रभावशाली अभिभाषणोंके जरिये उन्हें समझादे । '

९४८ अयं विश्वा अभि श्रियोऽग्निर्देवेषु पत्यते ।
आ वाजैरुप नो गमत् ॥ (ऋ. ८।१०२।९)

' यह अग्निदेव सभी शोभाओंको प्राप्त करनेके लक्ष्यसे प्रेरित होकर देवोंमें बडी उत्सुकतासे जाता है और हम चाहते हैं कि वह अन्नों तथा बलोंका भाण्डार लेकर हमारे पास चला आये । '

१५२१ अग्ने पावक रोचिषा मन्द्रया देव जिह्वया । आ देवान्वक्षि यक्षि च ॥ (ऋ. ५।२६।१)

" हे देवतारूपी, पवित्रताका वायुमंडल फैलानेवाले अग्निदेव ! तू अपनी आभासे और हर्षजनक वक्तृतासे देवोंको इधर ले आता है तथा उनका सत्कारभी करता है । "

१४७५. स नो मन्द्राभिरध्वरे जिह्वाभिर्यजा महः । आ देवान्वक्षि यक्षि च ॥ (ऋ० ६।१६।२)

" ऐसे विख्यात अग्निदेव ! तू हमारे हिंसारहित कार्योंमें आनन्द दायक वक्तृताओंसे महनीय देवोंकी पूजा कर क्योंकि देवोंको इधर ले आना और यजन करना तेरे अधीन है । "

१२२१· ...सं दूतो अग्न ईयसे हि देवान् ।
(ऋ० ७।३।३)

" हे अग्ने ! तू दूत बनकर सचमुच देवोंके निकट पहुँचता है ।

जनसेवाके प्रकार और अग्निकी योग्यता

बुराइयों तथा दुरात्मा शत्रुओंसे जनताकी रक्षा करते हुए उसकी आर्थिक सुसंपन्नता समाधानकारक ढंगसे प्रतिपल वृद्धिंगत हो जाय ऐसा प्रबंध करना अग्निदेवके कार्यक्रममें अन्तर्भूत है ऐसा वेदके निम्न निर्देशोंसे व्यक्त होता है-

१४७४,२. त्वमग्ने· विश्वेषां हितः । देवेभिर्मानुषे जने ॥ (ऋ० ६।१६।१)

" हे अग्ने ! तू सबका हितकर्ता है इसलिये मानवजातिकी सेवा भलीभाँति हो जाय इसलिये देवोंने तुझे मानवसमाजमें रख दिया है । ' अग्निका किया शत्रु-विध्वंसन-कार्य तथा साम्पत्तिक प्रगतिमय कार्य वेदमें इसतरह बताया है—

४; १३९६. अग्नि वृत्राणि जङ्घनद् द्रविणस्युर्विपन्यया । समिद्ध शुक्रः आहुतः ॥
(ऋ० ६।१६।३४)

'आहुतियोंके ले चुकनेपर तेजस्वी एवं भलीभाँति विकसित होकर मानो धधकता हुआ सा भक्तजनोंकी प्रशंसासे उत्साहित होकर उनकी आवश्यकताओंकी पूर्ति हो इसलिये द्रव्य पानेकी लालसासे सभी रुकावटोंको हटाता है।'

१२. अग्निस्तिग्मेन शोचिषा यं सद्विश्वं न्य१त्रिणम्। अग्निः नो वंसते रयिम्॥
(ऋ० ६।१६।२८)

"सभी स्वार्थी एवं पेटू शत्रुओंको अग्निदेव अपने सुतीक्ष्ण तेजसे रोकदेता है और वह हमें संपत्तिका प्रदान करता है।"

६. त्वं नो अग्ने महोभिः पाहि विश्वस्या अरातेः। उत द्विषो मर्त्यस्य (ऋ० ८।७१।१)

"हे अग्निदेव! तू अपनी तेजःपुञ्ज शक्तियोंसे जितनीभी दान न देनेवाली शत्रुसेनाएँ हों उन सभीसे तथा द्वेष करनेहारे मानवसे भी हमारी रक्षा कर।"

११. नमस्ते अग्न ओजसे गृणन्ति देव कृष्टयः। अमैरमित्रं अर्दय॥ (ऋ० ८।७५।१०)

"देवतारूपी हे अग्ने! तेरी तेजस्विताको प्रणाम हो, कृषिकर्ममें निरत जनताएँ तेरी सराहना करती हैं; हमारी यही कामना है कि तू अपने सामर्थ्यपुञ्जसे शत्रुदलको पीडा हो ऐसा प्रबंध कर।"

१०. अग्ने विवस्वदाभरास्मभ्यमूतये महे। देवो ह्यसि नो दृशे॥

"हे अग्ने! हमारी निगाहमें तो तूही देवतारूपी है इस लिये हमारी तुझसे विनति है कि बडी भारी रक्षा सुचारुरूपसे हो जाय अतः ऐसा वैभव हमें दे डाल कि जिससे विविध बस्तियों वा उपनिवेशोंको बसाना सुगम हो।"

१४. अग्ने रक्षा णो अंहसः प्रति स्म देव रीषतः। तपिष्ठैरजरो दह॥ (ऋ० ७।१५।१३)

"हे अग्निदेव! पापसे हमारी रक्षा कर और जो हिंसक है उसकी प्रतिक्रियाके रूपमें तू संरक्षणयोजनाका प्रबंध कर पश्चात्, युवकोंके उत्साहसे कार्य करनेवाले! तू अत्यन्त परितापदायक साधनोंसे शत्रुदलको झुलस दे।"

१३८१. स नो वेदो अमात्यमग्नी रक्षतु शन्तमः। उतास्मान्पात्वंहसः॥ (ऋ० ७।१५।३)

"हमारा वह अत्यन्त शान्तिसुखका प्रदाता अग्निदेव हमारे निकट मौजूद वैभवकी रक्षा करे और पापसेभी हमें कोसों दूर रखे।"

१३८२. उत ब्रुवन्तु जन्तव उदग्निर्वृत्रहाजनि। धनञ्जयो रणेरणे॥ (ऋ० १।७४।३)

"और सभी प्राणी उच्चस्वरसे घोषणा करते रहें कि देखों वृत्रों- रुकावटों एवं विरोधी शत्रुदलको मटियामेट तथा धराशायी करनेमें बडी विराट सफलता अग्निदेवको मिली है तथा हर लडाईमें वह प्रतिस्पर्धी गुटसे धनवैभव जीतनेवाला बन गया है। प्रगतिकी राहमें रोडे अटकानेवाली बातोंका निर्दालन करनेमें एवं प्रत्येक संघर्षमें विजयी बनकर ऐश्वर्य पानेमें स्पृहणीय सफलता प्राप्त करना लोकसेवाका बीडा उठानेवाले, देवपदपर आरूढ हुए नेताको अतीव आवश्यक है। तभी उसे 'विश्पतिः, मानुषीणां विशां पुरएता, पुरोहितः, गृहपतिः, वाजपतिः' सदृश उपाधियोंकी अविरत मालिकासे भक्तगण विभूषित करते हैं और उसे अत्यधिक उत्साहित करनेके लिये विनति करते हैं—

१३८५. उदग्ने भारत द्युमदजस्रेण दविद्युतत्। शोचा वि भाह्यजर॥ (ऋ. ६।१६।४५)

"नवयुवक तुल्य उत्साह एवं उमंगसे कार्य करनेवाले तथा भरण पोषणके कारण विख्यात बने हे अग्निदेव! तू द्योतमान है और अविरत तेजस्वितासे जगमगाते हुए सर्वोपरि पद प्राप्त करके आभामय होकर विशेषरूपसे प्रकाशमान हो।"

१५६३. क्षपो राजन्नुत त्मनाग्ने वस्तोरुतोषसः। स तिग्मजम्भ रक्षसो दह प्रति॥ (ऋ० १।७९।६)

"हे विराजमान होनेवाले अग्निदेव! तू शत्रुओंका विनाश करता चलः यदि तुम्हारे कोई सहायक नभी हों तो अकेलेही क्यों न सही किंतु रातदिन शत्रुविध्वंसन कार्य जारी रख, हे विख्यात तीक्ष्ण दंष्ट्रावाले! तू राक्षसोंको उनकी चलायी हिंसाके प्रतिक्रियार्थ उन्हें झुलसता चल।" मानवजातिके लिये शत्रुओंका उच्चाटनकार्य अत्यन्त महत्त्वपूर्ण है जिसमें अभीतक सफलता मिली ऐसा नहीं कहा जा सकता। जो नेता इस अनिवार्य कर्तव्यकी पूर्ति करता है उसके संबंधमें वेद कहता है—

१५६५. यं जनासो हविष्मन्तो मित्रं न...। प्रशंसन्ति प्रशस्तिभिः॥ (ऋ० ८।७४।२)

" साथमें हविर्भाग लेकर जनता मित्रकी नाईं जिसकी सराहना अपनी स्तुतिमय रचनाओंसे करती है।

१५६४. विशोविशो वो अतिथिं वाजयन्तः पुरुप्रियम्। अग्निं वो... स्तुषे शूषस्य मन्मभिः।
(ऋ० ८।७४।१)

' प्रजा या जनताके हरविभागके लिये अतिथि तुल्य पूजनीय और अधिक जनताके प्रिय अग्निदेवकी आप लोग अन्न या बलकी कामना करते हुए प्रशंसा कीजिये; इधर मैं भी सुख पानेके उद्देश्यसे आपके नेताको मननपूर्वक रची स्तुतियोंसे प्रशंसित करता हूँ।

१५६७... अग्निं गिरा गृणे शुचिं पावकं पुरो अध्वरे ध्रुवम्। विप्रं होतारं पुरुवारमद्रुहं कविं सुम्नैरीमहे जातवेदसम्॥ (ऋ. ६।१५।७)

' पवित्रताका वायुमंडल फैलानेवाले, हिंसारहित कार्यमें सबके आगे अटल हो खडे हुए, विशुद्ध बने हुए, ज्ञानसंपन्न, दानशूर एवं लोगोंको बुलाबुलाकर कार्यव्यापृत करनेवाले, किसीका भी द्रोह न करनेवाले, क्रान्तदर्शी, ज्ञान देनेवाले अतएव जिसको बहुतसे लोग अपने नेता पथप्रदर्शकके हैसियतसे निर्वाचित करते हैं ऐसे अग्निदेवकी मैं अपनी वक्तृतासे स्तुति करता हूँ और मुझे तनिक भी संशय नहीं कि हम सभी लोग हर्षभरे दिलसे तैयार की हुई स्तुतियोंसे उसे अपना नेता बनाना चाहते है।' इस मन्त्रमें अग्निकी योग्यतापर बडा अच्छा प्रकाश डाला गया है और इसी कारण वेद स्पष्टतया कहता है कि—

१५६८ त्वा मग्ने देवासश्च मर्तासश्च जागृविं विभुं विश्पतिं नमसा नि षेदिरे॥
(ऋ. ६।१५।८)

' हे अग्ने! तुझ जैसे सतत जागरूक, प्रभुपदपर आरूढ, प्रजापालकके इर्दगिर्द देव एवं मानव दोनोंही नमनपूर्वक बैठते हैं।' देव तथा मानव दोनोंके अन्तस्तलपर अग्नि देवके गुरुतर कार्यभार एवं उसे सुसंपन्न करनेकी उसकी स्पृहणीय क्षमताकी गहरी एवं अमिट छाप पडी हुई है। इसीलिये वेदका यह बलपूर्वक प्रतिपादन है कि-

१५५६. अदाभ्यः पुरएता विशामग्निर्मानुषी-णाम्। तूर्णी रथः सदा नवः॥ (३।११।५)

' यह अग्रगन्ता देव किसी भी रुकावट, विघ्नबाधा या शत्रुदलसे दबनेवाला नहीं इसीलिये मानवी प्रजाओंके आगे आकर खडा रहता है और प्रतिपल नये उत्साहसे पूर्ण बनके शीघ्रगामी होकर रथतुल्य अपने निकटके हव्योंको पहुँचाता है, ताकि जनसेवाकार्य करनेमें तनिक भी देर न लगे।'

१५५८. साह्वान्विश्वा अभियुजः क्रतुर्देवानाम-मृक्तः। अग्निस्तुविश्रवस्तमः॥
(ऋ. ३।११।६)

' सभी आक्रमणकर्ता शत्रुओंके आघातोंको झेलता हुआ, देवोंमें कार्यशील बनकर किसी भी तरहकी क्षति न उठाता हुआ अग्नि देव यथेष्ट अन्नभाण्डार अपने समीप रखने-वाला है।'

६० अयं अग्निः सुवीर्यस्येशे हि सौभगस्य। राय ईशे स्वपत्यस्य गोमत ईशे वृत्रहथानाम्॥
(ऋ. ३।१६।१)

' यह अग्नि सचमुच अच्छी वीरतायुक्त सौभाग्यका प्रभु है तथा अच्छी सन्तानयुक्त और गोधन युक्त धनवैभवका एवं रुकावटोंके हटानेका भी प्रभु है अर्थात् मनमें चाह पैदा होते ही ये बातें उसे प्राप्त होती हैं।'

११४. यद्वा उ विश्पतिः शितः सुप्रीतो मनुषो विशे। विश्वेदग्निः प्रति रक्षांसि सेधति॥
(ऋ० ८।२३।१३)

" जब कभी प्रजापालक अग्निदेव सुतीक्ष्ण होकर मानवी प्रजाओंमें अत्यन्त प्रसन्न हो उठता है तो सभी राक्षसोंका प्रतिषेध करता है।

१०५. अप त्यं वृजिनं रिपुं स्तेनमग्ने दुराध्यम्। दविष्ठमस्य सत्पते कृधी सुगम्॥
(ऋ० ६।५१।१३)

" हे अग्निदेव! उस पापिष्ठ, कुटिल चोरको जिसे प्रसन्न करना बडाही कठिन है, तू दूर हटा दे और हे सज्जनोंके पालनकर्ता! तू इसके सुगम मार्गको उससे अत्यन्त दूर रख।" जो समाजके शत्रु बनकर कुटिल व्यवहार करते हों उन्हें दूर हटाकर उनकी राहमें विकट कठिनाइयाँ पैदा करना जनसेवकका अनिवार्य कर्तव्य है ऐसा इससे विदित होता है।

८०. सनादग्ने मृणसि यातुधानान्न त्वा रक्षांसि पृतनासु जिग्युः। अनु दह सहमूरान्क्रव्यादो

मा ते हेत्या मुक्षत दैव्यायाः ॥
(ऋ० १०।८७।१९)

" हे अग्ने ! तू हमेशासे दुरात्माओंका वध करता आया है और ध्यानमें रखनेयोग्य बात यही है कि सेनाओंमें राक्षसतुल्य शत्रु तुम्हें नहीं जीतसके; इसलिये तू लगातार मूर्खोंके साथ रहनेवाले अधकच्चा मांस खानेवालोंको झुलसता चल और ऐसा प्रबंध कर कि तेरे दिव्य हथियारोंके आघातसे वे छूटने न पायँ । "

१४०५. अग्ने स्तोमं मनामहे सिध्रमद्य दिविस्पृशः। देवस्य द्रविणस्यवः ॥ (ऋ० ५।१३।२)

" आज हम लोग अपने लिए द्रव्य पानेकी लालसा रखते हुए, हे अग्निदेव ! देवतारूपी तथा द्युलोकको स्पर्श करनेहारे (अत्युच्च पदपर चढनेवाले) नेताके उस स्तोत्रको कह देते हैं जो कामनाओंको सिद्ध करनेकी क्षमता रखता है । "

१४०६. अग्निर्जुषत नो गिरो होता यो मानुषेषु...। स यक्षद् दैव्यं जनम् ॥ (ऋ० ५।१३।३)

" जो अग्निदेव मानवोंके मध्य रहकर दानी बनता है या उन्हें विविध कार्योंमें प्रवृत्त करनेके लिए अपने निकट बुलाता है वह हमारी वक्तृताओं एवं अभिभाषणोंका आदर पूर्वक स्वीकार करे ऐसी हमारी लालसा है क्योंकि वह देवोंके निकटवर्ती जनसंघके निकट जाकर उनका सत्कार करता है । " नेताके लिये यह अत्यन्त अनिवार्य है कि वह यथासंभव जनतासे दूर न रहे किन्तु सदैव उनके बीच रहकर उनकी सेवाके निमित्त या उनके पथप्रदर्शक बननेके लिए भी प्रतिपल विशिष्ट लोगोंको अपने निकट बुलाता रहे और जब कभी इस अविरत जनसेवासे तनिक अवकाश मिले तो तुरन्तही उच्चपदस्थ अर्थात् देवतुल्य या देवोंके संपर्कमें रहनेवाले महापुरुषोंके निकट चला जाए क्योंकि अधिक संख्य जनसाधारणकी ओरसे श्रेणीबद्ध देवताओंके समीप एलची या दूतकी हैसियतसे जानेका सौभाग्य उसे प्राप्त है । ऐसे नेताके बारेमें वेद कहता है—

१४०७. त्वमग्ने सप्रथा असि जुष्टो होता वरेण्यः। त्वया यज्ञं वि तन्वते ॥ (ऋ० ५।१३।४)

" हे अग्निदेव ! तू सभी ओर विशाल है, तू प्रसन्नचेता तथा जनताके द्वारा सेव्य है, उच्चपदपर आरूढ होकर सर्वोपरि रहकर दानशूर एवं मानवोंको निकट बुलानेवाला भी है; दूसरी भी एक महत्वपूर्ण बात है कि जब लोग श्रेष्ठ पुरुषोंका उचित सत्कार, पारस्परिक संगठन तथा आवश्यकताओंकी पूर्ति सदृश विशाल एवं स्पृहणीय कार्य करना ठानते हैं तो तेरी सहायतासेही वह कार्य निष्पन्न करते है या उसे विस्तृत रूप दे डालते हैं । " संकीर्णता तथा संकुचित जीवनसे पृथक् रहना, प्रसन्न अन्तःकरणवाले होकर मानव-मध्यवर्ती बनकर वरेण्य पद विभूषित करना और जनताके प्रवर्तित कार्य विस्तृत या व्यापक करा देना नेताके लिये आवश्यक है। ऐसे लोकसेवानिरत अग्रणीके सम्मुख जो माँग पेश की जाती है वह वेदके शब्दोंमें इसप्रकार है—

१५२५. आ नो अग्ने रयिं भर सत्रासाहं वरेण्यम् । विश्वासु पृत्सु दुष्टरम् ॥ (ऋ० १।७९।८)

" हे अग्रणी ! हमें वह धनवैभव दे दो जो अति उच्च कोटिका हो, जो सभी बुराइयों एवं शत्रुओंको मटियामेट कर सके और जो सभी शत्रुसेनाओंद्वारा युद्धोंमें दुर्जेय ठहरे।" अर्थात् जो हीन कोटिका हो, जो प्रतिपक्षियोंके आघातोंको झेलनेकी क्षमता नहीं पैदा करे तथा जो किसीभी रणक्षेत्रमें आसानीसे दुश्मनोंके हाथमें चला जाए वह धन वैभव नहीं चाहिये यह वेदकी सूचना अवश्य विचार करनेयोग्य एवं उपादेय भी है। तथा और भी सुनिये—

१५२६. आ नो अग्ने सुचेतुना रयिं विश्वायुपोषसम् । मार्डीकं धेहि जीवसे ॥ (ऋ० १।७९।९)

' हे अग्निदेव ! सुखदायक, संपूर्ण जीवनभर पुष्टिदायक धनसंपदाको उत्कृष्ट ज्ञानके साथ तू हमारे मध्य रखदे ताकि हम जीवनशक्ति सम्पन्न हों । ' इसमें भी धनवैभवके साथ बढिया ज्ञान पानेकी सूचना दूरदर्शिताका परिचय देनेवाली है।

१५२९. आग्ने स्थूरं रयिं भर पृथुं गोमन्तमश्विनम् । अङ्धि खं वर्तया पवि (णि) म् ॥
(ऋ. १०।१५६।३)

' हे अग्रगन्ता देव ! तू हमें विशाल, विस्तृत, गोधन एवं वाजिधनसे पूर्ण धन लादे; पश्चात् तेरे स्तुतिवाक्योंसे समूचा आकाश गूँज उठे ऐसा प्रबंध कर और तू हथियार शत्रु दलपर फेंक दे या पूँजीपतिका हृदयपरिवर्तन हो जाय ऐसी

*

व्यवस्था कर । ' मानवजातिके सम्मुख प्रारंभसे लेकर आज दिनके प्रगतिशील युगमें भी अपनी आर्थिक दशा समाधानकारक किस तरह हो यह समस्या जटिल एवं विकटरूपसे मुँहबाँयें खडी हुई है। पूर्वकालमें वैदेशिक या विजातीय शत्रु दलके आक्रमणोंके फलस्वरूप मानवनिर्मित संपत्तिका अपहरण हुआ करता था जिससे मानवजातिके अधिक विभागको निर्धन दशामें कालयापन किये बिना दूसरा कोई उपाय न था। आज वैज्ञानिक आविष्कारोंके परिणाम स्वरूप समूची मानव जातिके लिये निर्धनताके भीषण अभिशापको सदैवके लिये मिटा देना सुसाध्य, सुगम एवं सुकर हुआ है किंतु हाय ! पूंजीपति लोग अपनी सत्ता एवं सामर्थ्यका दुरुपयोग करके संपूर्ण उत्पादित संपत्तिपर अपना ही एकाधिपत्य प्रस्थापित हो इस ढंगकी दुश्चेष्टा करते हुए दीख पडते हैं, जिससे संपत्तिका पर्याप्त उत्पादन कर चुकनेपर भी मानव समुदायका एक बहुत बडा भाग सांपत्तिक दृष्ट्या अति निकृष्ट दशामें दिन बिताता है। अतः वेदका यह कथन समुचित प्रतीत होता है कि, लोकसेवक बननेकी अमर साध दिलमें रखनेवाले देवतारूपी नेताके सामने जनता यह माँग बार बार बलपूर्वक पेश करदे कि, वह अपने शस्त्रसे विरोधी एवं आक्रमक गुट्टको धराशायी करनेकी चेष्टामें निरत रहे तथा पूँजीपति वर्गका लोभाविष्ट संकीर्ण अन्तस्तल परिवर्तित हो ऐसी भी कोशिश करता रहे और पर्याप्त विपुल संपदा जनताको मिल जाय ऐसा सुप्रबंध भी करदे।

१५२०. अग्ने पवस्व स्वपा अस्मे वर्चः सुवीर्यम् । दधद्रयिं मयि पोषम् ॥ (ऋ. ९।६६।२१)

' हे अग्निदेव ! तू भलीभाँति कार्य करनेवाला है इस लिये मेरी यह हार्दिक कामना है कि मुझमें संपत्ति एवं पुष्टि अक्षुण्ण रहे ऐसा प्रबंध करता हुआ हम लोगोंमें अच्छी वीरता तथा तेजस्विता आदि गुणगरिमाकी अविरत धार बहती रहे ऐसी व्यवस्था कर । ' इस मन्त्रद्वारा वैयक्तिक प्रगतिके साथ ही सांघिक या सामाजिक उन्नतिकी सूचना प्रेक्षणीय है।

१५२७ अग्निं हिन्वन्तु नो धियः सप्तिमाशुमिवाजिषु । तेन जेष्म धनंधनम् ॥ (१०।१५६।१)

' हम चाहते हैं कि बुद्धि द्वारा प्रवर्तित हमारी क्रियाएँ तथा प्रशंसामय वक्तृताएँ अग्निदेवको उसीतरह उत्साहित एवं प्रेरित करें जिस तरह युद्धस्थलोंमें शीघ्रगामी, आगे सरकनेहारे घोडेको पराक्रम तथा साहस दर्शानेको प्रेरित करते हैं क्योंकि हमें पूर्ण निश्चय है कि उसकी सहायताके फलस्वरूप हम भाँति भाँतिकी धनसंपदाको जीतते रहेंगे। जयिष्णु एवं प्रगतिशील तथा वार्धिष्णु समाजकी लालसाकी झलक इस मन्त्रमें दिखाई देती है। ऐसे विजयी जन समाजके नेतासे कहा जाता है कि-

१५२८. यया गा आकरामहै सेनयाग्ने तवोत्या । तां नो हिन्व मघत्तये ॥ (ऋ १०।१५६।२)

' हे अग्रणी! जिस तेरी सेना एवं संरक्षणकी आयोजना से हम गोधन बटोरने लगते हैं उसे हमारी वैभवसम्पन्नताके लिये तू प्रेरित कर । '

१५३१. अग्ने केतुर्विशामसि प्रेष्ठः श्रेष्ठ उपस्थसत् । बोधा स्तोत्रे वयो दधत् ॥ (ऋ. १०।१५६।५)

' हे अग्रगन्ता प्रभो ! तू जनताका अत्यंत प्रिय, सर्वोपरि, तथा प्रजाके निकट जाकर बैठनेवाला मानो झंडेके तुल्य विख्यात है, इसलिए तेरे प्रशंसकको धनसम्पन्न करता हुआ जनताकी माँग क्या है इसकी जानकारी प्राप्त कर । '

९९;१५६१ अग्ने वाजस्य गोमत ईशान सहसो यहो । अस्मे दे (धे) हि जातवेदो महि श्रवः ॥

(ऋ. १।७९।४)

' बलके पुत्र हे अग्ने ! तू गोधनयुक्त अन्नसामग्रीका प्रभु है; इसलिये हे ज्ञानसम्पन्न नेता ! तू हमें बहुत बडा तथा सुननेयोग्य ढंगसे दान कर । ' मानवजातिके एक अति विशाल विभागको आज दिन भी विज्ञान, औद्योगिक एवं कृषि क्षेत्रमें अनूठी क्रांति होनेपर भी पर्याप्त अन्न भरपेट खानेको नहीं मिलता है अतः इस माँगकी उपयुक्तता पूर्ववत् अक्षुण्ण है।

४१,१६२३ त्वं नश्चित्र ऊत्या वसो राधांसि चोदय । अस्य रायस्त्वमग्ने रथीरसि... ॥

(ऋ. ६।४८।९)

' अनूठी शक्तिसे संपन्न अग्रणी ! तथा सबको बसानेवाले ! तू अपनी संरक्षण छायामें विविध संपदाएँ हमारी ओर आती रहें ऐसी व्यवस्था कर क्योंकि इस संपत्तिको उचित जगह ढोनेवाला सिर्फ तूही है। ' धनसंपदाका केवल उत्पादन ही पर्याप्त नहीं किंतु उसका यथोचित वितरण भी

अनिवार्य है ऐसी सूचना वेदने इस मन्त्रद्वारा दी है वह खूब ध्यानमें रखनेयोग्य है क्योंकि वर्तमान युगमें आश्चर्यकारक उत्पादन वृद्धि होनेपर भी उस उत्पादित धन का योग्य विभजन न होनेसे कैसी विकट समस्याएँ उपस्थित होती हैं सो सर्व प्रत्यक्ष ही है।

१६४९. कुविल्सु नो गविष्टयेऽग्ने संवेषिषो रयिम्। उरुकृदुरु णस्कृधि ॥ (ऋ० ८।७५।११)

" हे अग्ने ! तू हमारी ओर भलीभाँति संपत्ति पहुँचा दे ताकि हम अच्छीतरह यथेष्ट गोधनकी प्राप्ति करसकें और तू विशालतामय वायुमंडलका सृजन करनेहारा है अतः हम चाहते हैं कि तू हमें विशाल एवं विस्तृत बना दे — संकीर्णताके तंग दायरेसे बाहर आकर हम विशाल क्षेत्रमें संचार कर सकें ऐसी व्यवस्था कर। "

१६५०. मा नो अग्ने महाधने परा वर्ग्भारभृद्यथा। संवर्गं सं रयिं जय ॥ (ऋ० ८।७५।१२)

" हे अग्नि देव ! बडा भारी धन पानेके लिए जो युद्ध या कोई विशेष कार्य करने लगें तब तू हमें, जैसे कि बोझ ढोनेवाला अपने सरपरसे भार नीचे पटक देता है, वैसे न छोड दे और शत्रुदलको तथा उसके वैभवको भी भलीभाँति जीत ले।" विशाल वैभव पानेकी लालसासे जनता युद्धादि कार्यमें लगजाय तो नेताको उचित है कि वह बीचमेंही गुरुतम कार्यभारसे ऊबकर अपने नेतृत्वका त्याग न करे अपितु दृढनिश्चयपूर्वक डटकर जनताके साथ रहकर शत्रुदलके छक्के छुडाकर उससे धनसंपदाको जीत ले। जैसे कोई भारवाही पुरुष शीघ्रही अपना बोझ उतारनेकी चिंतामें लगा रहता है, वैसे नेताको कभी अपना कार्य छोडनेकी इच्छा न करनी चाहिये ऐसी सूचना वेदने इस मंत्रमें दी है।

१६६४. स नो महाँ अनिमानो धूमकेतुः पुरुश्चन्द्रः। धिये वाजाय हिन्वतु ॥ (ऋ० १।२७।११)

" वह हमारा महान्, असीम सामर्थ्यवाला, अग्नितुल्य एवं विविध ढंगसे आल्हाद देनेवाला नेता हमारी क्रियाओं तथा बुद्धियोंको प्रेरित करे ताकि अन्नकी प्राप्ति हो जाए। "

१६६५. स रेवाँ इव विश्पतिर्दैव्यः केतुः शृणोतु नः। उक्थैरग्निर्बृहद्भानुः ॥ (ऋ० १।२७।१२)

" वह विशाल तेजवाला, देवोंसे संपर्क रखनेवाला अग्रगन्ता देव, झंडेके तुल्य ऊँचा रहनेवाला स्तोत्रोंसे आकर्षित होकर हमारा कथन सुन ले।

१६३५. स घा नः सूनुः शवसा पृथुप्रगामा सुशेवः। मीढ्वाँ अस्माकं बभूयात् ॥ (ऋ० १।२७।२)

" वह हमारा बलका मानों पुत्र, विशाल गतिवाला तथा सुन्दर सुखसुविधाओंकी पूर्ति करनेवाला नेता हमारे लिये सभी इच्छाओंको पूर्ण करनेवाला हो जाय। " ऐसे विख्यात तथा लोकसेवानिरत अग्रणींसे जनता निवेदन करती है कि-

८१. अग्न ओजिष्ठमा भर द्युम्नमस्मभ्यमध्रिगो। प्र नो राये पनीयसे रत्सि वाजाय पन्थाम् ॥ (ऋ० ५।१०।१)

" अप्रतिहत गतिवाले हे अग्रगन्ता ! हमारे लिए ओजस्वितापूर्ण द्रव्यलाभ प्राप्त हो जाए ऐसा प्रबंध कर तथा यह विख्यात है कि तू प्रशंसनीय धन एवं बल किस ढंगसे प्राप्त किया जाय इस संबंधमें आयोजना या मार्गका ढाँचा तैयार कर लेता है। " सिर्फ द्रव्य पाना पर्याप्त नहीं किंतु साथही साथ ओजस्विताभी यथेष्ट रहे और बल एवं वैभव भी निन्दनीय तरीकेसे कभी न मिले ऐसी वेदकी सूचना है।

४३. आ नो अग्ने वयोवृधं रयिं पावक शंस्यम्। रास्वा च न उपमाते पुरुस्पृहं सुनीती सुयशस्तरम् ॥ (ऋ० ८।६०।११)

' पवित्रताका वायुमंडल फैलानेहारे हे अग्ने ! तू प्रशंसनीय एवं आयु बढानेवाले धनवैभव हमारे अधीन कर तथा ऐसी सतर्कता रख कि जो धन तू हमें देता है वह सीमित लोगोंतक ही प्रिय न होकर अत्यंत यशस्वितासे पूर्ण तथा अधिक लोगोंके दिलमें चाह उत्पन्न करनेवाला रहे और अच्छी नीतिसे वह प्राप्य हो। ' वेदने धनके लिये जो विशेषण प्रयुक्त किये हैं वे वर्तमान युगके सभी द्रव्याभिलाषी लोगोंको ध्यानमें रखने योग्य हैं।

१८३९. पुनरूर्जा नि वर्तस्व पुनरग्न इषायुषा। पुनर्नः पाह्यंहसः ॥

' हे अग्ने ! तू बलके साथ फिर इधर चला आ, अन्न एवं दीर्घ जीवनके साथ फिर पधारना शुरु कर और फिर हमें पाप एवं बुराईसे बचाना जारी रख। '

१६३६. स नो दूराच्चासाच्च नि मर्त्यादघायोः। पाहि सदमिद्विश्वायुः ॥ (ऋ० १।२७।३)

' ऐसा प्रसिद्ध तू हमें दूरसे तथा समीपसे और पापी जीवन बितानेहारे मानवसे भी सुरक्षित रखनेका कार्यक्रम हमेशा पूर्ण करता रह । '

१७८१. .. अग्ने... सुवीर्यमस्मे धेहि श्रवो बृहत् ।　　(ऋ. १।४४।२)

' हे अग्ने ! तू हममें बडा प्रचण्ड एवं भलीभाँति वीरता से युक्त यश धरदे । '

१८३३. सह रय्या नि वर्तस्वाग्ने पिन्वस्व धारया ।

' हे अग्ने ! तू संपत्तिके साथ लौट आ और धारावाही तरीकेसे हमारी पुष्टिका प्रबंध करता रह । '

१५२४. अवा नो अग्न ऊतिभिः विश्वासु धीषु वन्द्य ।　　(ऋ. १।७९।७)

' सभी क्रियाओंमें वन्दनीय ठहरे हुए हे अग्रगन्ता प्रभो ! विविध संरक्षणआयोजनाओंसे तू हमारी रक्षा कर । ' धनसंपत्तिका उत्पादन एवं वितरण समाधानकारक ढंगसे कर चुकनेपर रक्षाकी समस्याको हल करना अतीव आवश्यक है नहीं तो बाह्य एवं आन्तरिक दुश्मनोंके प्रखर प्रहारसे सारा गुड गोबर होता है । जिस तरह मानवजातिको पर्याप्त उत्पादन तथा यथोचित वितरणमें अभीतक सफलता नहीं मिली वैसे ही उचित संरक्षणका प्रश्न भी ज्योंका त्यों विकट बना हुआ है । सभी कहते हैं कि आधुनिक मानवका जीवन आज दिन अत्यंत अ-सुरक्षित है इस कारण वेदकी इस प्रार्थनाका महत्त्व आज भी अक्षुण्ण है । यही बात निम्न मन्त्रमें भी देखने योग्य है-

१५४५. पाहि विश्वस्माद्रक्षसो अराव्णः प्र स्म वाजेषु नो अव । त्वामिद्धि नेदिष्ठं आपिं नक्षामहे वृधे ॥　　(ऋ. ८।६०।१०)

' दान न देनेवाले सभी राक्षसोंसे हमारी रक्षा कर और युद्धोंमें तो हमारी विशेष ही रक्षा कर; सच बात तो यह है कि हमारी वृद्धि, विकास हो जाय इसलिये हम तुझ जैसे सदैव अत्यंत समीप रहनेवाले आप्त पुरुषके निकट पहुँचते हैं ।

३६ १५४४. पाहि नो अग्न एकया पाह्युत द्वितीयया । पाहि गीर्भिस्तिसृभिरूर्जांपते पाहि चतसृभिर्वसो ॥　　(ऋ. ८।६०।९)

' बलके अधिपति हे अग्रणी ! एक वक्तृता देनेपर तू हमारी रक्षा कर और दूसरी वक्तृताके पश्चात् भी हमारा संरक्षण जारी रख; तीन वक्तृताओंको सुनकर रक्षा कार्य प्रचलित रख तथा सबको बसानेहारे हे नेता ! चार वक्तृताएँ देकर अपना संरक्षण कार्य चलाता रह । '

६१३. तदग्ने द्युम्नमा भर यत्सासाहा (सास-हत्) सदने कं चिदत्रिणम् । मन्युं जनस्य दूढ्यम् (दूढ्यः) ॥　　(ऋ. ८।१९।१५)

' हे अग्रगामी नेता ! हमें वह धनवैभव दे डाल जो घरके किसी भी पेटूका पराभव कर सके तथा शत्रुदलके दुष्टता-पूर्ण क्रोधको भी अकिंचित्कर बनादे । ' प्रतिपक्षियोंको हत-प्रभ करनेवाला धनवैभव प्राप्त करना चाहिये । यह वेदकी सूचना सर्वथैव योग्य एवं ग्राह्य है ।

६१५ स त्वं नो अग्ने पयसा वसुविद्रयिं वर्चो दृशेऽदाः ।

' हे अग्रगामी नेता ! तू धनको प्राप्त करनेकी विद्या जानता है इसलिये हमें पय-दुग्धके साथ धनसंपत्ति तथा तेजका भी प्रदान कर ताकि हमारी निरीक्षणशक्ति बढे । '

६५१ स नः पृथु श्रवाय्यमच्छा देव विवाससि । बृहदग्ने सुवीर्यम् ॥　　(ऋ ६।१६।१२)

' हे देवतारूपी ! अग्रगन्ता ! तू हमारे निकट अच्छी वीरतासे युक्त विशाल तथा श्रवणीय धन प्रचण्ड मात्रामें भेजता है । '

भौतिक अग्निका वर्णन तथा व्यक्ति और शक्तिका मिलन

यद्यपि अग्निदेवताके सूक्तोंमें और मंत्रोंमें ज्ञानविज्ञान संपन्न एवं बलशाली लोकसेवक नेताका चित्रण किया हुआ दीख पडता है तथापि ज्वालामाली, अंधेरी रातमें जगमगाने वाले, समिधा एवं घृतकी यथेष्ट पूर्तिसे धधकनेवाले, अपनी लपटें आकाशतक पहुँचानेवाले और कुण्डसदृश स्थानमें अरणियोंद्वारा उत्पादित अग्निके निर्देश तथा वर्णन भी कुछ कम नहीं पाये जाते हैं । इतनाही नहीं किंतु विशेष ध्यान देनेयोग्य बात यही है कि कई बार एकही मन्त्रमें विद्वान्, सामर्थ्यसंपन्न, लगनसे लोकसेवा करनेवालेका वर्णन और प्रदीप्त होकर इतस्ततः ज्वालाओंको नचानेवाले अग्निका वर्णन भी एक दूसरेसे सम्मिलित एवं हिल मिलकर रखा हुआ पाया जाता है । ऐसे वर्णनपर भी दृष्टिपात करना उचित होगा ।

१५३४ उदग्ने शुचयस्तव शुक्रा भ्राजन्त ईरते। तव ज्योतींष्यर्चयः ॥ (ऋ. ८।४४।१७)

' हे अग्ने ! तेरी दीप्तियाँ तथा ज्वालाएँ और प्रकाश-किरण पवित्र, तेजस्वी, एवं जगमगानेवाली होकर ऊपरकी ओर जा रही हैं । '

१५४१. उत्ते बृहन्तो अर्चयः समिधानस्य दीदिवः। अग्ने शुक्रास ईरते ॥ (ऋ० ८।४४।४)

" हे अग्ने ! भलीभाँति प्रज्वलित होकर जगमगानेपर तेरी बडी बडी दीप्तिमान ज्वालाएँ ऊपर उठती हैं । "

८३. त्वेषस्ते धूम ऋण्वति दिवि सं च्छुक आततः। सूरो न हि द्युता त्वं.. पावक रोचसे॥ (ऋ० ६।२।६)

" पवित्रता करनेवाले ! तेरा धुआँ विस्तीर्ण होकर तेजस्वी बनकर प्रदीप्त दशामें द्युलोककी ओर चला जारहा है और तब तू कान्ति एवं आभामें सूर्यकी भाँति सुहाने लगता है । "

३७. बृहद्भिरग्ने अर्चिभिः शुक्रेण देव शोचिषा। भरद्वाजे समिधानो यविष्ठ्य रेवत्पावक दीदिहि ॥ (ऋ० ६।४८।७)

" हे देवतारूपी अग्ने ! तेजस्वी, दीप्त तेजसे और विशाल ज्वालाओंसे तू भरद्वाजके घर भलीभाँति धधकता हुआ, हे युवकतुल्य एवं पवित्रता करनेहारे ! धनाढ्यतुल्य प्रकाशित होता रह ।

७३. १७०६ अबोध्यग्निः समिधा जनानां. . प्र भानवः सस्रते नाकमच्छ ॥ (ऋ० ५।१।१)

" जनता के दिये समिधापुंजसे अग्नि जाग्रत हो चुका है और अब इसके आलोककिरण बडे उत्कृष्ट ढंगसे आकाशकी ओर अभियान कर रहे हैं । "

४. १३९६. अग्निः... समिद्धः शुक्र आहुतः ॥ (ऋ० ६।१६।३४)

" आहुतियोंके डालनेपर यह अग्नि भलीभाँति प्रज्वलित होकर तेजस्वी बनता है ।

१९. अग्निमिन्धानो मनसा धियं सचेत मर्त्यः। अग्निमिन्धे विवस्वभिः ॥ (ऋ० ८।१०२।२२)

" अग्निको प्रज्वलित करते समय मानवको उचित है कि वह क्रियाके बारेमें विचार करता रहे । " कर्मण्य बनना मनुष्यके लिए आवश्यक है । " विशेष ढंगसे उपनिवेश बसानेकी क्षमतासे युक्त लोगोंके साथ मैं अग्निको प्रज्वलित करता हूँ । " यह वर्णन शीत प्रधान भूविभागोंमें अतीव उपयुक्त जान पडता है । उन स्थानोंमें अग्निकी उपयुक्तता कितनी बडी होती है सो केवल उत्तरी गोलार्धमें यात्रा करनेवाले भुक्त भोगीही जान सकते हैं ।

४६. शेषे वनेषु मातृषु सं त्वा मर्तास इन्धते । (ऋ० ८।६०।१५)

" तू माताओंके समान वनोंमें गुप्तरूपसे शयन करता है और तुझको मानव मिलकर अच्छीतरह प्रज्वलित करते हैं ।

१३७३. ७२ अग्नि नरो दीधितिभिररण्योर्ह-स्तच्युतं (ती) जनयत (न्त) प्रशस्तम् । दूरेदृशं गृहपतिमथय्यु(र्यु)म् ॥ (ऋ० ७।१।१)

" दूरदर्शी, घरके मालिक जैसे, स्थिर, खूब प्रशंसित अग्निको नेता लोग अरणियोंसे हाथकी उँगलियोंसे उत्पन्न करके छोड देते हैं ताकि वह अपने स्थानपर धधकता रहे । " इस मंत्रमें जनसेवा निरत व्यक्ति तथा ज्वलंत अग्निका किस तरह अभिन्न वर्णन है सो देखनेयोग्य एवं विचारणीयभी है ।

७९ अरण्योर्निहितो जातवेदा... सुभृतो.. दिवेदिवे .. ईड्यो हविष्मद्भिर्मनुष्येभि-रग्निः ॥ (ऋ० ३।२९।२)

" अरणियोंमें रखा हुआ यह अग्नि जो भलीभाँति पुष्ट किया हुआ है, जो पदार्थोंको अपने आलोकसे जतलाता है, वह साथमें हवि रखनेवाले मानवोंद्वारा प्रतिदिन प्रशंसनीय है ।

१५३८. ईडेन्यो नमस्यस्तिरस्तमांसि दर्शतः। समग्निरिध्यते वृषा ॥ (ऋ० ३।२७।१३)

" प्रशंसनीय एवं अभिवादन करनेयोग्य, अँधेरा हटा चुकनेपर खूब देखनेयोग्य तथा बलिष्ठ अग्नि भलीभाँति प्रज्वलित किया जाता है । "

१५३९ वृषो अग्निः समिध्यतेऽश्वो न देववाहनः। तं हविष्मन्त ईडते ॥ (ऋ० ३।२७।१४)

" देवोंके वाहनभूत घोडेके समान बलिष्ठ अग्नि अच्छी-तरह प्रज्वलित किया जाता है और हवि साथ ले आनेवाले लोग उसकी प्रशंसा करते हैं । "

१०३. ईडिष्वा हि ... यजस्व जातवेदसम् ।

चरिष्णुधूममगृभीत शोचिषम् ॥ (ऋ० ८।२३।१)

" उत्पन्न चीजोंको दर्शानेहारे, जिसका धुआँ खूब संचार करने लगता हो और जिसका तेज कोई पकड न सका हो ऐसे अग्निकी प्रशंसा एवं पूजा करो । "

७० इन्धे राजा समर्यो नमोभिर्यस्य प्रतीकमाहुतं घृतेन । नरो हव्येभिरीडते सबाध आग्निरग्रमुषसामशोचि ॥ (ऋ० ७।८।१)

" विराजमान तथा मानवोंसे घिरा हुआ होकर नमनपूर्वक प्रज्वलित किया जाता है, जिसके स्वरूपमें घीकी आहुति डाली गयी है; मानव समाज हवनीय चीजोंको लेकर कठिनाइयों या बाधाओंके सम्मुखीन होनेपर प्रशंसा करने लगते हैं ऐसा यह अग्नि उषःकालके प्रारंभ होनेके पहले चतुर्दिक् सुहाने लगा है । "

१७४७ अबोधि · ऊर्ध्वो अग्निः सुमनाः प्रातरस्थात् । समिद्धस्य रुशदद्दर्शि पाजो महान् देवस्तमसो निरमोचि ॥ (ऋ० ५।१।२)

" जाग्रत हुआ, यह अग्नि ऊँचा होकर प्रातःकाल ही प्रसन्नचेता होकर खडा है; जब यह भली भाँति धधकने लगता है तो जगमगाता हुआ तेज या बल दिखाई देने लगा है, इस भाँति यह बडा देवतारूपी अग्नि निबिड अंधेरे के जालसे छूट गया है । " सुहावने सुप्रभातके सूत्रपातका सुन्दर चित्र मानसचक्षुके सामने उठ खडा होता है ।

८४४. अग्निनाग्निः समिध्यते कविर्गृहपतिर्युवा । हव्यवाड्जुह्वास्यः ॥ (ऋ० १।१२।६)

" युवकवत् उत्साहसे भरा, घरका मालिक तथा कवि अग्नि दूसरे अग्निसे प्रदीप्त एवं प्रज्वलित किया जा रहा है, यह हवनीय वस्तुओंको ढोनेवाला तथा जिसके मुखमें हवन किया जाता ऐसा है । ' महान व्यक्ति एवं प्रचण्ड शक्तिका मधुरमिलन देखनेयोग्य है । यही मधुर मिलन निम्न मन्त्रमें भी दीख पडता है ।

९०७ जनस्य गोपा अजनिष्ट जागृविरग्निः सुदक्षः सुविताय नव्यसे । घृतप्रतीको बृहता दिविस्पृशा द्युमद्वि भाति भरतेभ्यः शुचिः ॥

'जनताका सरक्षक, जाग्रत रहनेवाला, अत्यंत चतुर या बलवान यह अग्नि नयी भलाईका सृजन करनेके हेतुसे प्रकट हुआ है और घृतचर्चितांग एवं विशुद्ध बनकर भरतोंकी निगाहमें बडे भारी एवं गगनचुम्बी ज्वालास्तम्भसे आलोकित होकर जगमगाता है । ' युगधर्मके अनुसार भलाईका रूप बदल जाता है, क्योंकि पुराने कालमें पुरानी भलाई तो नये युगमें नयी भलाई जरूर रहनी चाहिये इसलिये वेदने ' सुविताय नव्यसे ' प्रयोग रखा है वह सचमुच विचारणीय है ।

९०९. यज्ञस्य केतुं प्रथमं पुरोहितमग्निं नरः... समिन्धते । इन्द्रेण देवैः सरथं स बर्हिषि सीदन्नि होता यजथाय सुक्रतुः ॥ (ऋ. ५।११।२)

' यज्ञके मानों झंडेके समान प्रथम श्रेणीमें अवस्थित अग्रभागमें रखे अग्निको मानव समाज प्रज्वलित करता है; वह अच्छे कार्य करनेवाला देवों तथा प्रभु इन्द्रके साथ एक वाहनमें बैठ यात्रा करनेवाला होकर यजन करनेके उद्देश्यसे सबको बुलाता हुआ कुशासनपर बैठ जाता है । '

१८१६. अग्ने तव ... महि भ्राजन्ते अर्चयो विभावसो । (ऋ० १०।१४०।२)

" हे अग्ने ! आभामय ! तेरी ज्वालाएँ बहुतही अधिक जगमगाने लगती हैं । "

१५६२. स इधानो वसुष्कविरग्निरीडेन्यो गिरा । रेवदस्मभ्यं पुर्वणीक दीदिहि ॥ (ऋ० १।७९।५)

" वह अग्नि कवि तथा बसानेवाला है और धधकते समय वक्तृताद्वारा प्रशंसनीय है; विविध ज्वालाओंसे युक्त अतः सेनासुसज्जवत् प्रतीत होनेवाले ! हमारे सामने तू प्रदीप्त बन तथा धनवानभी हो जा । "

७१. प्र केतुना बृहता यात्यग्निरा रोदसी वृषभो रोरवीति । दिवश्चिदन्तादुपमामुदानडपामुपस्थे महिषो ववर्ध ॥ (ऋ० १०।८।१)

" बडे भारी झंडेके तुल्य प्रतीत होनेवाले दीप्तिस्तंभको साथ ले यह अग्नि आगे बढने लगता है और बलिष्ठ होकर द्युलोक एवं भूलोकमें खूब गरजने लगता है या दहाडने लगता है; द्युलोककेभी सुदूर छोरतक और समीपस्थ प्रदेशोंमें यह तुल्यरूपसे व्याप्त होता है एवं मेघमण्डलस्थ जलौघके निकटही बृहदाकारवाला होकर बढ गया है । " मानव

को स्तिमित करनेवाला अग्निका यह प्रचण्ड रूप वेदने चित्रित किया है।

११४९. तमीडिष्व यो अर्चिषा वना विश्वा परिष्वजत्। कृष्णा कृणोति जिह्वया॥ (ऋ. ६।६०।१०)

'उसकी सराहना करो जो सारेही जंगलोंको अपनी तेजःपुंज लपटसे मानो लिपटता हुआ सा जीभ जैसी दीखनेवाली लौसे कालेकलूटे बना डालता है।

६६१. तं त्वा समिद्भिः... घृतेन वर्धयामसि। बृहच्छोचा यविष्ठ्य॥ (ऋ. ६।१६।११)

'हे अत्यंत युवकवत् प्रतीत होनेवाले तथा बृहदाकारमें आभामय होनेवाले अग्ने! ऐसे तुझको हम समिधाओं तथा घृतसे बढाने लगते हैं।'

११११. उदस्य ते नवजातस्य वृष्णोऽग्ने चरन्त्यजरा इधानाः। अच्छा द्यामरुषो धूम एषि...। (ऋ० ७।३।३)

"हे अग्ने! जिस तेरे नये रूपसे उत्पन्न बलवान् आकारमेंसे प्रज्वलित तथा जीर्ण न होनेवाली ज्वालाएँ ऊपर उठती हैं तो तू द्युलोकके प्रति लालिमामय धुएँके रूपमें चला जाता है।

१३०४. अगन्म महा मनसा यविष्ठं यो दीदाय समिद्धः स्वे दुरोणे। चित्रभानुं रोदसी अन्तरुर्वी स्वाहुतं विश्वतः प्रत्यञ्चम्॥ (ऋ० ७।१२।१)

'जो अपने स्थानमें भलीप्रकार प्रज्वलित होकर जगमगाता रहा है, जो अत्यंत नया प्रतीत होता है, जो विशाल भूलोक एवं द्युलोकके बीच अनूठी आलोक किरणोंसे उद्भासित हो रहा है, जिसमें भलीभाँति आहुति डाली गयी है तथा जो सभी ओरसे आगे बढ रहा है उस अग्निके समीप हम बडे भारी नमनके साथ (अत्यंत नम्र होकर) पहुँच गये हैं।'

निस्सन्देह मानवी जीवनमें विशेषतया शीतप्रधान भूविभागोंमें चाहे किसी भी रूपमें हो, अग्निका अत्यंत उपयोग है अतः वेदमें स्थान स्थानपर जाज्वल्यमान अग्निके निर्देश विशेषण एवं स्तुतिमय उल्लेख पाये जाते हैं सो ठीक ही है; किंतु मानवके सांघिक जीवनमें तो अग्निका निम्न ढंगका वर्णन एवं उससे की प्रार्थनाका निम्न लिखित वर्णन ही नितान्त उपयुक्त है—

१४७७. होता देवो अमर्त्यः पुरस्तादेति मायया। विदथानि प्रचोदयन्॥ (ऋ. ३।२७।७)

'दानी, जनताको बुलानेवाला, देवतातुल्य, अमरपनसे विभूषित नेता अपनी शक्तिसे युक्त होकर सामने आरहा है और सभाओंमें प्रेरणाकार्य जारी रखता है।' इसीकारण—

१४७८. वाजी वाजेषु धीयतेऽध्वरेषु प्र णीयते। विप्रो यज्ञस्य साधनः॥ (ऋ. ३।२७।८)

"यह बलवान् नेता युद्धभूमियोंमें उच्च पदपर रखा जाता है तथा हिंसा रहित लोकोपयोगी कार्यकलापोंमें उसे जनता अग्रभागमें ले चलती है क्योंकि यह विशेष ज्ञानी तथा संगठन, श्रेष्ठ पुरुषोंका सत्कार, दान सदृश कार्योंको अस्तित्वमें लानेवाला है।" बलिष्ठता होनेसे रणभूमिपर इसीके कंधेपर गुरुतर कार्यभार निहित है, जनताके कल्याणार्थ किये जानेवाले कामोंमें यही अग्रगन्ता बनता है और ज्ञानसंपन्न होनेसे सामाजिक कार्योंमें इससे बडी भारी सहायता मिलती है। ऐसी इसकी अनुपम योग्यता है इसलिये वेद कहता है—

१७१०. अग्निः प्रियेषु धामसु कामो भूतस्य भव्यस्य। सम्राडेको विराजति॥

"सभी प्रिय स्थानोंमें अग्नि विद्यमान रहता है, अतीत एवं आगामी युगके मानव उसीकी चाह रखते हैं और वह अकेला एक सम्राट बन विराजने लगता है।" जनताकी आकांक्षाभी इस तरह रहती है कि—

१७०६. उप च्छायामिव घृणेरगन्म शर्म ते वयम्। अग्ने हिरण्यसंदृशः॥ (ऋ० ६।१६।३८)

"हे अग्रणी प्रभो! तप्त सुवर्णकी नाईं सुरम्य अंगकान्तिवाले तेरी ही प्रस्थापित सुखसुविधाओंकी छत्रछायामें हम पहुँच गये हैं जैसे कि कोई भगवान् मरीचिमाली, चण्डकिरण चतुर्दिक् प्रदीप्त सूर्यके प्रखर प्रतापसे व्याकुल होकर सघन छाँहके नीचे पहुँचकर आराम एवं शांतिसुखका उपभोग लेने लगें।" सूर्यप्रतप्त होनेपर जैसे शीतल छायामें अनुपम सुख मिलता है वैसेही विविध आपदाओंकी प्रखर लपटोंमें झुलसनेके उपरान्त दुःखपीडित कलपती तथा तडपती जनताको अग्निदेव प्रवर्तित सुखशांतिसे समाधान

प्राप्त होता है।

१७३७. अग्निं तं मन्ये यो वसुरस्तं यं यन्ति धेनवः। अस्तमर्वन्त आशवोऽस्तं नित्यासो वाजिन . (ऋ० ५।६।१)

"मैं उसीको अग्नि- अग्रगामी नेता- माननेको तैयार हूँ जो सबको उचित स्थानपर बैठानेमें या बसानेमें विख्यात बन चुका है, जिसके निकट मानों निवासस्थानके समान दुधारु गौएँ चली आती हैं, शीघ्रगामी घोडेभी अपना आश्रय समझ जिसके पास जाते हैं और हमेशा बलिष्ठ रहनेवाले भी उसे अपना गन्तव्यस्थान समझकर समीप पहुँचते हैं।" प्राणीमात्रकी सेवा शुश्रूषा किये विना कोई भला कैसे स्पृहणीय देवता पदपर चढकर जनताकी आत्मभगत पा- सकेगा?

१७३९ सोऽग्निर्यो वसुर्गृणे सं यमायन्ति धेनवः। समर्वन्तो रघुद्रुवः सं सुजातासः सूरयः . (ऋ० ५।६।२)

"वही अग्नि— अग्रगन्ता लोकसेवक— है जो उपनिवेश बसानेमें सफल बनकर 'वसु' उपाधिधारी हो चुका है, मैं उसकी सराहना करता हूँ, जिसके निकट गौओंके झुंड चले जाते हैं और शीघ्र चलनेवाले घोडे तथा कुलीन परिवारमें उत्पन्न विद्वान लोगभी जिसके समीप आजाते हैं।"

१३०५. स मह्ना विश्वा दुरितानि साह्वानग्नि ष्टवे दम आ जातवेदाः। स नो रक्षिषद्दुरितादवद्यादस्मान्गृणत उत नो मघोनः॥ (ऋ० ७।१२।२)

'यह ज्ञानसंपन्न अग्निदेव अपने महनीय तेजसे सभी बुराइयोंका विध्वंस करता है, इसलिये मैं घरमें उसकी स्तुति करता हूँ तथा आशा करता हूँ कि वह हम जैसे प्रशंसकों और हमारे धनाढ्य लोगोंको भी अकथनीय बुराई से दूर सुरक्षित रख दे।' अग्निदेवकी निम्न विशेषता भी ध्यानमें रखनेयोग्य है-

१५१४. तं होतारमध्वरस्य प्रचेतसं वह्निं देवा अकृण्वत। दधाति रत्नं विधते सुवीर्यमग्निर्जनाय दाशुषे॥ (ऋ. ७।१६।१२)

'उस प्रकृष्ट ज्ञानवाले, दानशूर, हिंसारहित कार्योंमें आवश्यक वस्तु संभारको ढोनेवाले अग्निको मानो देवोंने निर्माण कर रखा है क्योंकि वह दानी एवं कर्मण्य जनताको ही रमणीय तथा वीरतापूर्ण धन दे डालता है।'

३०. परि वाजपतिः कविरग्निर्हव्यान्यक्रमीत्। दधद्रत्नानि दाशुषे॥ (ऋ. ४।१५।३)

'धनोंका अधिपति एवं क्रान्तदर्शी यह अग्निदेव दानी पुरुषको रमणीय धन प्रदान करता हुआ हवनीय वस्तुओंके इर्दगिर्द घूम चुका है ताकि उचित चीजोंका संग्रह हो जाय।'

१८१६. बृहद्भानो शवसा वाजमुक्थ्यं दधासि दाशुषे कवे। (ऋ. १०।१४०।१)

'हे विशाल आभावाले तथा क्रान्तदर्शी अग्ने! तू अपने बलसे दानशूर हुए पुरुषको प्रशंसनीय अन्नका प्रदान करता है।' दानशूर लोगोंको ही यह धनवैभव दे डालता है सो अत्यंत प्रशंसनीय है क्योंकि यदि कृपणोंको एवं स्वार्थी लोगोंको संपत्ति मिल जाय तो भीषण आर्थिक विषमता तथा असमानताका सृजन होकर साराही मानवसंघ शोचनीय दशाको प्राप्त होकर दुःख भोगने लगता है जैसा कि वर्तमानकालीन समाजकी स्थितिका निरीक्षण करनेसे स्पष्टतया विदित होता है। संपत्तिका सृजन एवं उत्पादन समाजके घोर परिश्रमसे ही होता है इसलिये यह नितान्त आवश्यक है कि समूचे समाजमें संपदाका अविरत प्रवाह विना रुकावटके बहता रहे और उत्पादित वैभवपर कुछ थोडेसे इनेगिने लोगोंका प्रभुत्व तथा एकाधिपत्य भी कभी प्रस्थापित होने न पाय।

अग्निदेवका संरक्षण तथा मार्गदर्शन प्राप्त होनेपर मानव कितना लाभ उठा सकता है सो वेदने इस प्रकार बताया है-

१४१५. यमग्ने पृत्सु मर्त्यमवा वाजेषु यं जुनाः। स यन्ता शश्वतीरिषः॥ (ऋ. १।२७।७)

'हे अग्ने! जिस मानवको तू सेनाओंमें संरक्षणछत्रछायामें रख देता है तथा युद्धोंमें आगे बढनेके लिये प्रेरित एवं प्रोत्साहित भी कर देता है वह मानव शाश्वत कालतक टिकनेवाली अर्थात् यथा संभव न घटनेवाली अन्न सामग्रियों याने अक्षय्य उपभोग साधनोंको प्राप्त करता है या नियंत्रित करता है।'

१४१६. न किरस्य सहन्त्य पर्येता कयस्य चित्। वाजो अस्ति श्रवाय्यः॥ (ऋ. १।२७।८)

' शत्रुके आघातोंको झेलकर उनका पराभव करनेवाले हे अग्निदेव ! ऐसे इस तेरे संरक्षण एवं पथप्रदर्शनके सौभाग्य प्राप्त करनेवाले मानवकी कुछ भी वस्तुको छीननेवाला कोई है ही नहीं और इसके पास जो बल या उपभोग साधन है वह अत्यंत श्रवणीय है। ' सुयोग्य जनसेवकके तथा कार्य-क्षम नेताके कार्यका इतना स्पृहणीय परिणाम होता है।

१०८. १८११. प्र सो अग्ने तवोतिभिः सुवीराभि-स्तरति (तिरते) वाजकर्मभिः (भर्मभिः)। यस्य त्वं सख्यमाविथ (मावरः) ॥ (ऋ. ८।१९।३०)

' हे अग्ने ! जिस मानवकी मित्रता तू चुन लेता है या पसंद कर लेता है वह सौभाग्यशाली पुरुष तेरी चलायी उन सुरुचिर वीरतापूर्ण रक्षाओंकी आयोजनाओंसे, जिनका एकमात्र काम अन्न एवं बलकी प्राप्ति या भरण ही है, यथेष्ट वृद्धिंगत होता है अथवा संकटोंको पारकर प्रगति करता है।'

१०४. न तस्य मायया च न रिपुरीशीत मर्त्यः। यो अग्नये ददाश हव्यदातये ॥
(ऋ. ८।२३।१५)

' जो विचारशील पुरुष हव्य देनेहारे या पहुँचानेवाले अग्निको दान देता है उसे कोई भी मानवी शत्रु अपनी कपटपूर्ण चालबाजीसे भी अपने दबाव या अधिकारमें नहीं रख सकता है। ' इससे सिद्ध होता है कि साधारणतया मानवोंको परिश्रमपूर्वक धनसंपदाका उत्पादन करचुकनेपर समूचे मानवोंके हितके लिये प्रयत्नशील (विश्व-चर्षणिः वैश्वानरः) अग्निदेव तुल्य नेताके हवाले वह उत्पादित धन रख देना चाहिये, क्योंकि वही अविषम भावसे उस संपदा का वितरण एवं विभजन करनेकी क्षमता रखता है। साम्य-वाद या समाजसत्तावादकी झलक इस मन्त्रमें दीख पडती है। यदि लोग इसभाँति उत्पादित धनको लोकप्रिय नेताके अधीन नहीं करेंगे तो उनपर कपटी शत्रुओंके प्रखर तथा सर्वकष प्रहार होने लगेंगे ऐसी सूचना वेदने दी है।

अग्निदेवके कुछ विशेषण

अग्निदेवकी कार्यकुशलता सूचित करनेके उद्देश्यसे वेदने उसे निम्न विशेषणों या उपाधियोंसे विभूषित किया है। तेजस्विता और प्रभावशालिताके निदर्शक विशेषण इस तरह हैं— सुभगः, सुदीदितिः, अगृभीतशोचिः, श्रेष्ठ-शोचिः, शुचिवर्ण, शुम्भानः तन्वं स्वाम्, अनभि-म्लातवर्णः, अनूनवर्चाः, अरुष, चित्रभानुः, चित्र-महाः, तिग्मशोचिः, दर्शतश्रीः, बृहद्भानुः, रुशत् वसानः। इनके अर्थ हैं– उत्तम ऐश्वर्यवाला, सुन्दर, भली-भाँति जगमगानेवाला, जिसके तेजको पकडना संभव नहीं ऐसा, उच्चकोटिके तेजसे युक्त, निर्मल वर्णवाला, अपने शरीरको शोभायमान करता हुआ, जिसकी आभा कभी फीकी नहीं होती या घटती नहीं ऐसा, जिसका तेज घटिया दर्जेका नहीं, रक्तिम कांतिसे अलंकृत, अनूठे किरण मानों जिसे घेरे रहते हैं, अनोखी कांतिवाला, तीक्ष्णतेजसे युक्त, जिसकी श्रीवृद्धि देखनेयोग्य है, विशाल किरणोंसे मानों जो घिरा हुआ है तथा चमकीला वस्त्र पहना हुआ है।

अग्निकी विद्वत्ता, कार्यकुशलतापर निम्न विशेषण अच्छा प्रकाश डालते हैं — **विश्ववेदस्** = सब कुछ जाननेवाला, **कविः** = क्रान्तदर्शी अर्थात् साधारण लोग जिसकी झाँकी नहीं पासकते उसकी झलक जिसे प्राप्त हुई है। **वेद विश्वा जनिमा** = सभी उत्पादनोंको जानता है, इसीलिए **जात-वेदा** भी कहा है। **विचक्षणः** = चतुर, विद्वान्, **वयुनानि विद्वान्**, = कर्म जाननेवाला पंडित। **सुक्रतुः यज्ञस्य सुक्रतुः** = अच्छे कर्म करनेवाला, यज्ञको भली-भाँति करनेवाला। **नेता अध्वराणां, नेता यज्ञस्य** = हिंसा रहित कार्योंका, समाजोपयोगी कार्यका नेता, **नृच-क्षाः** = मानवोंका निरीक्षण करनेवाला। **दूत मर्त्यानां देवानां च** = मानवों तथा देवों या The masses and the classes का दूत, **चेकितानः** = जानकारी प्राप्त करता हुआ, **अतन्द्र दूतः** = सुस्त न होनेवाला दूत या एलची ambassador या consul है। **अच्छि-द्रोतिः** = जिसकी संरक्षण योजनामें कोई त्रुटि नहीं रह जाती है। **अमीव चातन** = रोगोंको दूर हटानेवाला।

अग्निकी वीरता और सामर्थ्यसंपन्नताका सुन्दर परिचय इन विशेषणोंसे मिलता है– **अदब्धः, अदाभ्यः** = कभी न दबा हुआ, शत्रु जिसे दबा नहीं सकते। **अनाधृष्ट, अना-धृष्यः** = शत्रुदलकी क्या मजाल कि वे उसपर हमले चढायें ? **अमानतः** = जो कभी झुकाया नहीं गया है, **अप्रमृष्यः अप्रतिष्कुतः** = जिसके खिलाफ नतुनच करने या जिसकी राहमें रोडे अटकानेका धीरज किसीमें नहीं

है; अमित्र दम्भनः मनमें द्वेषभाव रखनेवालोंको जो पददलित करडालता है- ऊर्जः पुत्रः, सहसस्पुत्रः सहसः सूनु, सहसो यहुः = बल एवं सहिष्णुताका मानों पुत्र ही है, जो ओजस्विता एवं सहिष्णुताकी सजीव मूर्ति ही है। इसीकारण जो सुदृशीक., सुदृशीकरूपः = बडा ही प्रेक्षणीय रूपवाला है और विरोचमानः = जगमगाता हुआ सहस्रजित् = हजारोंकी संख्यामें वस्तुओंको विघ्नबाधाओंपर विजय पाकर प्राप्त करनेवाला है।

ध्यानमें रहे कि अग्निदेव पुरोगा = पुरोगामी है, पुरोयावा = सबके आगे जानेवाला है इसीलिये पुरो-हितः =अग्रभागमें देवोंद्वारा और मानवोंसे भी रखा है और अध्रिगुः = अप्रतिहत गतिवाला है। इसीकारण यह जामिः जनानां = जनताका संबंधी; शिवः अतिथिः, प्रियः अतिथिः, मानुषाणां अतिथिः, विशां अतिथि = जनताका हितकारक प्यारा अतिथि है।

अग्निदेवकी प्रशंसा

अग्निमें इसभाँति विविध गुण हैं और वह अविरत रूपसे जनसेवा करके अपनेको अतीव लोकप्रिय एवं उत्साही नेता सिद्ध करचुका है तथा उसका प्रभाव भी दिगन्तव्यापी है इस कारण वेद जनतासे इसभाँति विनति करता है-

१०७ प्र मंहिष्ठाय गायत ऋताव्ने बृहते शुक्रशोचिषे। उपस्तुतासो अग्नये॥
(ऋ ८।१०३।८)

' ओ संसारके मानवो ! जो तुम समीप जाकर प्रशंसा करनेके अभ्यस्त हो तो प्रचण्ड, दीप्ततेजवाले, दानशूर, यज्ञका कार्यक्रम साथ लिये आनेवाले अग्निके लिये स्तुतिपूर्ण या भावमयी गीतिकाओंका प्रचुर मात्रामें गायन करना प्रारम्भ करदो। '

१०९ तं गूर्धया स्वर्णरं देवासो देवमरतिं दधन्विरे। देवत्रा हव्यमूहिषे॥
(ऋ. ८।१९।१)

' हे मानव ! तू उस सबके नेता बने अग्निदेवकी प्रशंसा कर; देख अन्य देव भी इसी देवतारूपी तथा प्रगतिशीलके निकट चले गये हैं, तू कहदे कि हे अग्ने ! तू हव्य वस्तुजात को देवता गणकी ओर पहुँचाता है।' देवताओंको हव्य पहुँचाना बडा भारी कार्य है क्योंकि बिना इसके देवोंकी क्रियाएँ प्रवृत्त नहीं होतीं।

११०. मा नो हृणीथा अतिथिं वसुरग्निः पुरुप्रशस्त एषः। यः सुहोता स्वध्वरः॥ (ऋ.८।१०३।१२)

' हे मानव ! हमारे इस अतिथितुल्य पूजनीय अग्निको तू क्रोधित न कर याने तेरा कोई भी कार्य ऐसा न हो जिस से इस सतत घूमनेवालेको अप्रसन्नता हो क्योंकि यह अग्रगामी नेता सबको बसानेवाला तथा बहुतोंद्वारा प्रशंसित है और जो बहुत उच्च कोटिका दानशूर एवं सुन्दर हिंसा-रहित कार्य करनेवाला है। ' इतना सामर्थ्यसंपन्न लोकसेवक नेता मनमें प्रसन्न, आनन्दित रहे ऐसा कार्य करना ही मानवको शोभा देता है।

६३. आ जुहोता हविषा मर्जयध्वं नि होतारं गृहपतिं दधिध्वम्। इडस्पदे नमसा रातहव्यं सपर्यता यजतं पस्त्यानाम्॥

' ओ मानवो ! तुम सब मिलकर प्रदीप्त एवं जाज्वल्यमान अग्निमें आहुति डालना शुरु करो, हविके प्रदानसे इस अग्निको भलीभाँति परिमार्जित एवं परिष्कृत करो तथा दानशूर और घरमालिक जैसे प्रतीयमान अग्निको घरमें अच्छे स्थानपर हवनकुण्डमें रखदो; घर घरमें पूजनीय तथा भूतल पर नमनपूर्वक जिसे हव्य दिया जा चुका है उस अग्निकी पूजाअर्चा तुम करदो। ' सामुदायिक हवन क्रियाका सुचित्र वेदने इसमें चित्रित किया है। इसभाँति विशाल हवन मण्डप में एकत्रित हुए लोगोंके अन्तस्तलमें कौनसे भाव उमडते होंगे सो देखनेके लिये निम्न वेदमंत्र पढ लेने चाहिये-

१६१९. प्रियो नो अस्तु विश्पतिर्होता मन्द्रो वरेण्यः। प्रियाः स्वग्नयो वयम्॥
(ऋ. १।२६।७)

" बस यही एक लालसा हमारे हियमें अविरत उठती है कि प्रजाओंका पालनकर्ता, दानशूर तथा जनताको या देवोंको भी अपने निकट बुलानेहारा प्रसन्नचेता वह वरेण्य नेता हमारा प्यारा बने याने कभी ऐसे अवसर न आजायँ जब कि हमारे तथा नेताके मध्य कोई द्वेषपूर्ण या हीन भाव पैदा हो परस्पर स्पृहणीय संबंधको कलुषित कर दे। इतनाही नहीं किन्तु भलीभाँति प्रदीप्त अग्नि साथ रखनेवाले हम सभी एक दूसरेसे प्रेम भरी बातें कहकर परस्पर प्रिय बनें।"

१११. १५५९. भद्रो नो अग्निराहुतो भद्रा रातिः

सुभग भद्रो अध्वरः । भद्रा उत प्रशस्तयः ॥
(ऋ० ८।१९।१९)

" हमारी यही हार्दिक कामना है कि हवन करचुकनेपर वह अग्नि सबका हितकारक बने, यह दानभी किसीका अहित न करे तथा हे भले आदमी ! हमने जो यह हिंसारहित प्रचण्ड कार्य किया है वह कल्याणकारी सिद्ध हो और इस कार्यमें जो कोई प्रशंसामय अभिभाषण दिये गये हों वेभी अच्छे निकलें अर्थात् कहींभी तनिकभी अकल्याण, अहित न हो जावे । "

अग्नि सूक्तोंके कुछ बोधवाक्य

अग्निदेवताका वर्णन तथा विवरण करते हुए वेदने कुछ छोटे छोटे किंतु गंभीर आशयसे लबालब भरे वाक्य रखकर मानव मनमें उठनेवाली शाश्वतिक लालसाओंका अच्छा परिचय दिया है अतः उन वाक्योंपर अन्तमें दृष्टिपात करना ठीक जँचता है

(१) सुवीरं रयिमा भर... (ऋ० ६।१६।२९)= "हमें अच्छी वीरतासे युक्त धनसंपत्ति दे दो । " वीरताका अभाव हो तो धनवैभवको प्राप्त करनेसे लाभ होना तो दूर रहा, उल्टे बडी भारी हानि एवं क्षतिके सम्मुखीन होना पडेगा ।

(२) रायो दानाय चोदय (ऋ० १०।१४१।६)
" जिन लोगोंके पास धनसंपदाका भाण्डार हो उन्हें तू दान देनेके लिए प्रेरित कर । " यदि धनिक दान देनेसे पराङ्मुख होने लगें तो भीषण आर्थिक विषमताका सृजन हो समाजकी बडी संकटापन्न दशा होगी, इस कारण धनाढ्य पुरुष अविरत दान धारा बहानेमें प्रवृत्त हों ऐसा प्रबंध करना उचित है ।

(३) नः आ भर रयिं वीरवतीमिषम्
(ऋ० १।१२।११) =

" हमें वीरतायुक्त अन्नसामग्री एवं संपत्ति पहुँचा दो । " यदि दुर्बलोंके पास प्रचण्ड वैभव तथा प्रचुर उपभोग साधन हों तो भला उससे क्या उपयोग ? उल्टे लोभी तथा निर्दयी शत्रुदलके प्रखर प्रहारोंको झेलनाही ऐसे क्षीण, वीरताराहित लोगोंके भाग्यमें बदा है ।

(४) अग्ने रयिं यशसं धेहि नव्यसीम्
(ऋ० ६।८।५) =

' हे अग्ने ! तू यशस्वितापूर्ण तथा नयी संपदाको हमारे मध्य रख दे । " मानवोंको यश पानेके लिए सचेष्ट रहना चाहिये आर्थिक प्रगतिके नये नये रूपभी हस्तगत करने चाहिये, सिर्फ पुराने तरीकोंसे तथा जिसमें नयापन न हो ऐसी दशासे कभी संतुष्ट न रहना यही उचित है ।

(५) स त्वं नः रयिं रास्व सुवीर्यम् ।
(ऋ० ८।२३।१२) =

' तू हमें भलीभाँतिकी वीरतासे सुशोभित धनवैभव दे डाल' शौर्य एवं पराक्रमके शोचनीय अभावमें प्राप्त किया धन अकिंचित्कर एवं नश्वर होता है । संपत्तिका भाण्डार बढाते समय शूरता न घट जाय ऐसी सावधानता रखनी चाहिये ।

(६) अस्मे धेहि श्रवो बृहत् (ऋ. १।४४।२) और
(७) अस्मे धेहि महि श्रवः (ऋ. १।७९।४) =
' हममें बडा भारी तथा महनीय यश प्रस्थापित कर । ' नेताका यह सर्वोपरि कर्तव्य होना चाहिये कि उसके अनुयायीगण बडे भारी यशस्वी हों ।

(८) जहि रक्षांसि सुक्रतो (ऋ. ६।१६।२९) और
परि बाधस्व दुष्कृतम् (ऋ. ६।१६।३२) =
' अच्छे कार्य करनेवाले हे अग्रणी ! तू राक्षसोंका वध कर बुरे कर्म करनेवालेको तू चारों ओरसे पीडित कर । ' नेताका यह एक अत्यंत महत्त्वपूर्ण कार्य है कि वह प्रजापीडक राक्षसगुणवाले लोगोंमें हत्याकाण्ड मचादे तथा बुराईमें लगे हुए हों तो उन्हें चतुर्दिक् व्यथित एवं पीडित कर डाले ।

(१०) नि मायिनस्तपुषा रक्षसो दह ।
(ऋ. ८।२३।१४) और

(११) प्रति ष्म रिषतो दह रक्षस्विनः ।
(ऋ. १।१२।५) = ' जो मायावी राक्षस हों उन्हें तू परितापदायक साधनोंसे पूर्णतया दग्ध कर दे और हिंसा करनेवाले राक्षसी गुणोंसे भरे लोगोंका प्रतिकार किया जाय इसलिये उन्हें झुलसना शुरु कर । '

(१२) आरे हिंसानां अप दिद्युमा कृधि ।
(ऋ. १०।१४२।१)

' हिंसक तथा जगमगानेवाले हथियारको हमसे दूर कर ।'

(१३) मा नः स रिपुरीशत (ऋ. १।३६।१६) =
' वह शत्रु हमपर अपना शासन प्रस्थापित न करे । '

(१४) त्वं नः पाह्यंहसः, तस्मान्नः पाह्यंहसः ।
(ऋ ६।१६।३०,३१)

" तू हमें पापसे बचादे, उस पापीसे हमें सुरक्षित रख।"

(१५) वैश्वानर महि नः शर्म यच्छ। (ऋ.७।५।९)=
" सभी मानवोंके हितकर्ता! हमें तू बडा भारी सुख प्रदान कर।"

(१६) शं कृध्यस्मभ्यं दस्म शं कृधि। (ऋ.४।१।३)=
" हे दर्शनीय ! तू हमारा हित कर, कल्याण कर।"

(१७) स नो दिवा स रिषः पातु नक्तम्।
(ऋ० १।९८।२) =
' वह नेता हमें दिनरात हिंसक शत्रुओंसे सुरक्षित रखे।'

(१८) विश्वा द्वेषांसि प्र मुमुग्ध्यस्मत्। (ऋ.० ४।१।४)=
" हमसे तू सभी द्वेषभावोंके झाडझंखाड दूर कर दे।"

(१९) वयं जयेम शतिनं सहस्रिणम्। (ऋ.६।८।६)=
'हम सैकडों तथा सहस्रोंकी संख्यामें विजयी हों।'

(२०) विश्वेभिरग्ने स्वयशोभिरिद्धोऽदब्धेभिः पायुभिः पाह्यस्मान्। (ऋ० १।९५।९) =
' हे अग्ने ! तू अपनी सभी यशस्विताओंसे मानों प्रदीप्त सा होकर कभी न दबी हुई संरक्षणयोजनाओंसे हमारी रक्षाका कार्य जारी रख।'

(२१) अग्निः सुशंसः सुहवः पितेव। (ऋ.६।५२।६)=
' पिताके तुल्य अग्नि- अग्रगामी नेताको सुगमतापूर्वक पुकारने योग्य तथा सुखपूर्वक कहनेवाला होना चाहिये।'

(२२) तं त्वा वयं हवामहे शृण्वन्तं जातवेदसम्। अग्ने घ्नन्तमप द्विषः॥ (ऋ० ८।४३।२३) =
' हमारी पुकार सुननेहारे तथा द्वेष्टा दलको मार दूर भगानेवाले ज्ञानी तुझकोही हे अग्ने ! हम अपने समीप आनेके लिये निमंत्रण देते हैं।'

(२३) स त्वमस्मदप द्विषो युयोधि जातवेदः। अदेवीरग्ने अरातीः॥ (ऋ. ८।११।३)
' हे ज्ञानी तथा पुरोगामी अग्ने ! तू हमसे द्वेष करने-वाले, दान न देनेवाले तथा देवोंके संपर्कमें न आनेवाले लोगोंको दूर हटा दे।'

(२४) विश्वा अग्नेऽप दहारातीः। प्र चातय-स्वामीवाम् ॥ (ऋ. ७।१।७)
' हे अग्ने ! तू सभी कृपण जातियोंको झुलसदे और रोग को दूर करदे।'

(२५) दधासि रत्नं द्रविणं च दाशुषे ॥ (ऋ. १।९४।१४) = ' तू दान दे चुकनेपर ही मानवको रमणीय द्रव्य प्रदान करता है।'

(२६) विप्राय दाशुषे रयिं देहि सहस्रिणम्। (ऋ. ८।४३।१५) = 'दानशूर ज्ञानी पुरुषको सहस्रोंकी संख्यामें तू धन दे डाल।'

(२७) तं शुभ्रमग्निमवसे हवामहे। (ऋ. ३।२६।२) = 'उस निष्कलंक अग्रगामीको संरक्षण-कार्यको अक्षुण्ण रखनेके लिये हम बुलाते हैं।'

(२८) अग्निर्विश्वान्यप दुष्कृतान्यजुष्टान्यारे अस्मद्दधातु (ऋ. १०।१६४।३) = 'सभी असेवनीय बुरे कृत्योंको हमारा पुरोगामी नेता हमसे दूर रखदे।'

(२९) तमीमहे सुदीतिमग्निं सुविताय नव्यसे। (ऋ. ३।२।१३)= ' नयी भलाई हमें मिल जाय इस हेतुसे हम अत्यंत दीप्तिमान् अग्निदेवके संपर्कमें रहना चाहते हैं।'

(३०) भुवद् वाजेषु अविता भुवद् वृध उत त्राता तनूनाम्। (ऋ० ६।४८।२) =
' हमारा नेता युद्ध क्षेत्रोंमें संरक्षक बने, हमारी वृद्धिके लिए प्रयत्नशील रहे और हमारा शरीर संरक्षक भी बने।'

(३१) स बाधस्वाप भया सहोभिः। (ऋ.६।६।६)

(३२) तूयमग्ने स्पृधो बाधस्व सहसा सहस्वान्। (ऋ० ६।५।६)
' तू अपनी कष्ट सहिष्णुता शक्तियोंसे भाँतिभाँतिके भयोंको दूर कर और हे अग्ने ! बहुत जल्द तू, जो कि कष्ट सहिष्णुतासे युक्त है, चढाऊपरी करनेवालोंकी राहमें बलपूर्वक बाधाएँ पैदा कर।'

(३३) उरुष्याग्ने अंहसः गृणन्तं। (ऋ०१।५८।९)

(३४) अग्ने गृणन्तमंहस उरुष्य ऊर्जो नपात् पूर्भिरायसीभिः (ऋ० १।५८।८) =
' हे अग्ने ! जो स्तुति करता है उसे तू, जोकि बलको, ऊर्जस्विताको अक्षुण्ण रखनेवाला है, लोहवत् सुदृढ नगरि-योंमें रखनेके समान पाप तथा दुरात्मासे सुरक्षित रख।'

(३५) पद्यग्ने इह होता नि षीद अदब्धः सु पुरएता भवा नः (ऋ० १।७६।२)
' हे अग्ने ! आओ, दान शूर तुम इधर बैठो और हमारी यही इच्छा है कि संकटों तथा आपत्तियोंसे न दबकर तुम भलीभाँति हमारे अगुआ बनो।'

दैवतसंहिता ।

प्रथम भाग तैयार है। द्वितीय भाग छप रहा है।

आज वेद की जो संहिताएँ उपलब्ध है, उन मे प्रत्येक देवता के मन्त्र इधरउधर बिखरे हुए पाये जाते हैं । एक ही जगह उन मंत्रों को इकट्ठा करके यह **दैवत-संहिता** बनवायी गयी है । प्रथम भाग में निम्न लिखित ४ देवताओंके मंत्र है–

देवता	मंत्रसंख्या	पृष्ठसंख्या	मूल्य	डाकव्यय.	देवता	मंत्रसंख्या	पृष्ठसंख्या	मूल्य	डाकव्यय
१ **अग्निदेवता**	२४८३	३४६	३) रु.	।।।)	३ **सोमदेवता**	१२६१	१५०	२) रु.	।।)
२ **इंद्रदेवता**	३३६३	३७६	३) रु.	।।।)	४ **मरुद्देवता**	४६४	७२	१) रु	।।)

इस प्रथम भाग का मू. ६) रु. और डा. व्य. १।।) है।

इस में प्रत्येक देवता के मूल मन्त्र, पुनरुक्त मंत्रसूची, उपमासूची, विशेषणसूची तथा अकारानुक्रम से मंत्रोंकी अनुक्रमणिका का समावेश तो है, परंतु कभी कभी उत्तरपदसूची या निपातदेवतासूची इस भाँति अन्य भी सूचीयाँ दी गयी हैं । इन सभी सूचीयों से स्वाध्यायशील पाठकों की बडी भारी सुविधा होगी।

संपूर्ण दैवतसंहिताके इसी भाँति तीन विभाग होनेवाले हैं और प्रत्येक विभाग का मूल्य ६) रु. तथा डा. व्य. १।।) है। पाठक ऐसे दुर्लभ ग्रन्थ का संग्रह अवश्य करें। ऐसे ग्रन्थ बारबार मुद्रित करना संभव नहीं और इतने सस्ते मूल्य में भी ये ग्रन्थ देना असंभव ही है ।

वेदकी संहिताएं ।

वेद की चार संहिताओंका मूल्य यह है–

१ **ऋग्वेद** (द्वितीय संस्करण)	६) डा० व्य० १।)	३ **सामवेद**	३।।) डा० व्य० ।।)
२ **यजुर्वेद**	२।।) ,, ,, ।।)	४ **अथर्ववेद** (द्वितीय संस्करण)	६) ,, ,, १)

इन चारों संहिताओंका मूल्य १८) रु. और डा व्य ३) है अर्थात् कुल मूल्य २१) रु. है। परन्तु पेशगी म० आ० से सहूलियतका मू० १८) रु० है, तथा डा० व्यय माफ है । इसलिए डाकसे मंगानेवाले १५) पंद्रह रु० पेशगी भेजें ।

यजुर्वेद की निम्नलिखित चारों संहिताओं का मूल्य यह है– ।

१ **काण्व संहिता** (तैयार है)	४) डा० व्य० ।।।)	३ **काठक संहिता** (तैयार है)	६) डा० व्य १)
२ **तैत्तिरीय संहिता**	६) ,, ,, १)	४ **मैत्रायणी संहिता** ,,	६) ,, ,, १)

वेदकी इन चारों संहिताओं का मूल्य २२) है, डा. व्य. ३।।) है अर्थात् २५।।।) डा. व्य. समेत है। परंतु जो ग्राहक पेशगी मूल्य भेजकर ग्राहक बनेंगे, उनको ये चारों संहिताएं २२) रु० में दी जायगी । डाकव्यय माफ होगा।

– मंत्री, स्वाध्याय-मण्डल, औंध, (जि० सातारा)

मधुच्छन्दस् मन्त्रमाला

(लेखक— श्री. नलिनीकान्तजी, श्री अरविन्दाश्रम, पाडिचेरी)

(अनुवादक— श्री. धर्मराज वेदालङ्कार, शास्त्री)

(४) उपक्रमणिका

वेदका परिचय 'वेद' शब्द स्वयं दे रहा है। 'विद ज्ञाने' धातुसे 'वेद' शब्द बना है। वेदका अर्थ है ज्ञान। जिस ज्ञानपर भारतवर्षकी और विशेषरूपसे आर्यजातिकी शिक्षा-दीक्षा तथा आर्यसभ्यता आश्रित है, वही ज्ञान 'वेद' नामसे प्रसिद्ध है। साधना करनेवाले ऋषियोंने इस ज्ञानको कब और कहां उपलब्ध किया था, यह निश्चित रूपसे नहीं कहा जा सकता। ऋषियोंकी गुरुपरम्पराद्वारा इस ज्ञानका संवर्धन और संरक्षण होकर यह हमतक पहुंचा है। वेदका एक और नाम है 'श्रुति'। इस नामका कारण यह बतलाया जाता है कि अर्वाचीन लोग अपने पूर्वपुरुषोंसे निरन्तर सुनते चले आये है। श्रुति शब्दकी यह प्रचलित व्याख्या गौण व्याख्या है। वेदके श्रुति कहलाये जानेका वास्तविक कारण यह है कि साधक ऋषियोंने वेदके ज्ञानको मन्त्ररूपमें अपने दिव्य कर्णोंसे सुना है। सत्य वाणीरूप शरीर धारण करता है और इस दिव्य एवं मूर्त वाग्देवताका ऋषियोंने अपनी ध्यानावस्थामें दर्शन तथा श्रवण किया है, इसीलिये ऋषियोंको मन्त्रद्रष्टा तथा उनके 'ज्ञान' को 'श्रुति' कहते है। अपौरुषेय, ईश्वरीय, अनादि, अनन्त आदि वेदके जो विशेषण हैं, उनका हेतु भी हमें यहीं मिलता है। दिव्य ज्ञानको कोई मनुष्य या व्यक्तिविशेष पैदा नहीं करता। सृष्टिके अन्तरतम सत्यको दिव्य ज्ञान कहते हैं और यह अन्तरतम सत्य अनादि कालसे विद्यमान है और भविष्यमें भी अनन्तकालतक रहेगा। ऋषि लोग इस सत्यका सर्जन करनेवाले नहीं अपितु केवल प्रतिपादन या प्रकाशन करनेवाले हैं।

वर्तमान कालमें हम वेदका जो रूप देख रहे है वह हमेशासे नहीं है। किसी विशेष युगमें और किसी विशेष स्थानमें एक खास ढंगसे व्यवस्थित किसी ग्रन्थविशेषका नाम वेद हो, ऐसी बात नहीं। वेदमन्त्रोंके अनेक ऋषियोंने भिन्न भिन्न समयोंमें और पृथक् पृथक् स्थानोंमें दर्शन करके प्रकाशित किया है। आधुनिक कालमें उपलभ्यमान वेद किसी आरम्भिक समयमें इधर उधर बिखरा हुआ और विश्रृङ्खल था, ऐसा अनुमान निराधार नहीं। मन्त्रोंका संग्रह करके संहिताका सम्पादन बादमें हुआ। इस संग्रहमें कितनेही पुराने मन्त्र लुप्त होनेसे समाविष्ट नहीं किये जा सके, और अनेक मन्त्र नये रचे जाकर पुरानोंके साथ मिला दिये गये।

वेदमन्त्रोंका संग्रह केवल एक बार ही नहीं किया गया। ऊपर हमने कहा है कि वेदमें नाना ऋषियोंके अनेक मन्त्र है, इस कथनका यह अभिप्राय कदापि नहीं कि प्रत्येक ऋषिने स्वच्छन्द होकर वैयक्तिक रूपसे अपना ज्ञान प्राप्त किया है और उसके ज्ञानका सम्बन्ध दूसरे ऋषिके ज्ञानके साथ नहीं है। इसके विपरीत प्राचीन ऋषियोंकी साधनामें यह विशेषता थी कि वह साधना व्यक्तिगत न होकर सामाजिक होती थी। वैदिक लोगोंका प्रत्येक कार्य संघमें होता था। वेदमें उनके मुखसे अपने लिये बहुवचनका निर्देश ही अधिकांशमें मिलता है, जैसे '**वयं** स्याम पतयो रयीणाम्' 'मा **सखायः** कदाचन' 'अश्मन्वती रीयते **संरभध्वम्**' 'मित्रस्य चक्षुषा समीक्षामहे' इत्यादि। संघभाव कहीं गुरुशिष्यके सम्बन्धसे और कहीं समान वंश या कुलमें होनेसे। कितने ही साधकोंने गुरु-शिष्य अथवा वंशकी परम्परामें रहते हुए मन्त्रोंकी सृष्टि की है या पुराने समयसे आये हुए मन्त्रोंको कण्ठस्थ करके उनकी रक्षामें सहयोग प्रदान किया है। वेदकी शाखा प्रतिशाखा या उपशाखाका विकास भी इन्हीं परम्पराओंके द्वारा हुआ है। वर्तमान समयमें जो वेद मिलता है वह इसी प्रकारकी शाखा उपशाखाका एक अंशमात्र है, अधिकांश वेद लुप्त हो गया है। इसके अतिरिक्त वेदका जो थोडा बहुत संग्रह या विभाजन हुआ है, वह भी वंशानुक्रम या गुरुशिष्यपरम्पराद्वारा हुआ है।

जब समस्त वेदमन्त्रोंको तीन भागोंमें विभक्त किया गया, तब सचमुच मुख्यरूपसे वेदका संग्रह और वर्गीकरण किया

गया होगा। इसीलिये वेदका एक और नाम 'त्रयी' प्रसिद्ध है। ऋक्, साम और यजु-इन तीन नामोंसे तीन प्रकारके मन्त्रसमूहको अलग अलग संगृहीत किया गया। ऋक्में पद्य, साममें अच्छी तरहसे गाने जाने योग्य पद्य तथा यजुमें गद्यका सन्निवेश किया गया है। वेदका अन्तिम संग्रह अथवा संगीति या संस्करण तब हुआ जब ऋक् यजु सामके साथ एक चौथा नाम अथर्व और जोडा गया। जिन मन्त्रोंको ऋक्, यजु और साममें स्थान नहीं मिला या जो इधर उधर बिखरे पडे थे अथवा बादमें जिनकी रचना हुई थी, उन सब मन्त्रोंसे मिलकर अथर्ववेदका संग्रह तयार हुआ।

पुराणके अनुसार वेदमन्त्रोंके संग्रहकर्ताका साधारण नाम वेदव्यास है। एक संस्करणके पश्चात् दूसरे संस्करणद्वारा वेदको वर्तमान अवस्थातक पहुंचानेवाले विभिन्न युगोंमें क्रमशः १८ वेदव्यास हुए हैं। जिस अन्तिम वेदव्यासके हाथोंसे वेद चार भागोंमें विभक्त हुआ और जिसने महाभारतको भी रचा उसका पूरा नाम है- कृष्णद्वैपायन वेदव्यास। इनके पीछे भविष्यमें वेदका जो नवीन संस्करण होगा, उसका संपादन द्रौणिव्यास नामके वेदव्यास करेंगे।

ऋक् यजु आदि चार भाग क्या केवल बाह्य आकृतिको देखकर किये गये हैं? कहा जाता है कि साधनाकी विशेष विशेष प्रणालीका इन चारोंमें पृथक् पृथक् रूपसे वर्णन है, और वेदमें वर्णित विषयको इन चार विभागोंसे सम्यक्तया बांटा जा सकता है। प्राचीनतम वेदमन्त्रोंका सूक्ष्मतम अध्ययन करनेसे ज्ञात होता है कि पहले ऋक् और साम (सामके साथ स्तोभ उक्थ गीः ब्रह्म आदिको भी लिया जा सकता है।) ये दो शब्द ही दो प्रकारकी आध्यात्मिक उपलब्धियोंके लिए प्रयुक्त होते थे। किन्तु 'अग्नेर्ऋचः, वायोर्यजूंषि, सामानि आदित्यात्' यह वाक्य जब हम उपनिषद्में पढते हैं, तब ऋक् यजु आदिका विभाग किस दृष्टिसे है, यह समझना अत्यन्त कठिन हो जाता है। अग्निके साधकोंके लिये ऋचाएं थीं, वायुके साधकोंके लिये यजु तथा आदित्यके उपासकोंके लिये साममन्त्र? इन तीनों साधनमार्गोंमें क्या भेद है? अग्नि वायु और आदित्यके रूपक या प्रतीकसे क्या अभिप्राय है? इन सब गूढ प्रश्नोंकी आलोचना हम यहां नहीं करेंगे। वेदका विभाग साधनपथकी भिन्नतापर आश्रित है या नहीं, इस समस्याके सुलझानेका यत्न करते हुए हम किसी निश्चित परिणाम-तक नहीं पहुंच पाते।

चारों वेदोंमेंसे प्रत्येक वेद अपने आपमें भी कई अंशों या पर्वोंमें विभक्त है। पहले प्रत्येक वेदके दो मुख्य भाग हैं-संहिता और ब्राह्मण। मूल वेदमें विद्यमान मन्त्रसमूहको संहिता कहते हैं। मन्त्रोंका भाष्य, व्याख्यान या नूतन संस्करण 'ब्राह्मण' में है। ब्राह्मणके भी तीन भाग किये जाते हैं-मूल ब्राह्मण, आरण्यक और उपनिषद्। साधना करते हुए वैदिक ऋषियोंको जो अनुभूति या उपलब्धि हुई उसका तथा देवताओंकी अर्चनाका वर्णन संहितामें है। इस संहितामें आये हुए यज्ञयाग आदिका विस्तृत वर्णन तथा संहिताके मन्त्रोंके ऋषिदेवता इत्यादि बहिरङ्ग विषयोंका प्रतिपादन ब्राह्मण-ग्रन्थोंमें किया गया है। उपनिषद्में ब्रह्मज्ञानका उपदेश है, बाह्य अनुष्ठान रूपक तथा प्रतीक आदिका परित्याग करते हुए शुद्ध तत्त्वज्ञान का विवेचन उपनिषद्में किया गया है। वेदका संहिता-भाग बाह्य संसाररूप शरीरमें अभिव्यक्त आध्यात्मिकतापर बल देता है, उपनिषद् बाहरी दुनियाको छोडकर आध्यात्मिकताके केवल अपने स्वरूपका प्रतिपादन करती है। आरण्यक ग्रन्थोंमें ब्राह्मण और उपनिषद्का संमिश्रण है। संक्षेपमें अगर कहना चाहें तो कह सकते हैं कि सबसे पूर्व वेदका संहिता-भाग है, संहिताके पश्चात् ब्राह्मण और ब्राह्मणके पिछले हिस्सेमें आरण्यक है, आरण्यकके पीछे वेदके परिशिष्टरूप उपनिषद् या वेदान्तका स्थान है। कई बार आरण्यक शब्द किसी वेदके ब्राह्मणको भी सूचित करता है। उदाहरणके लिये ऐतरेय आरण्यकमें ऋग्वेद संहिताका परिचय होनेसे यह ऋग्वेदके ब्राह्मणकाही नामान्तर है। इसके अतिरिक्त कई बार 'आरण्यक' शब्द स्पष्टरूपसे 'उपनिषद्' का भी बोधक होता है। बृहदारण्यकोपनिषद् आरण्यक भी है और उपनिषद् भी।

विद्वानोंका कथन है कि प्रत्येक वेदके संहिता आदि चार भाग आश्रमक्रमके अनुसार है। ब्रह्मचर्य आश्रममें जीवनका एकमात्र व्रत स्वाध्याय होता है, वेदका मन्त्रभाग ज्ञान-विज्ञानसे परिपूर्ण है, जीवनके आदर्शके विषयमें उसमें विस्तृत निर्देश है, अतएव ब्रह्मचर्यकालमें मन्त्रभागका अध्ययन किया जाना विशेषरूपसे महत्त्वपूर्ण है। गृहस्थाश्रममें आकर मनुष्यको वैदिक कर्मकाण्डकी दीक्षा लेनी चाहिये, इसलिये इस आश्रमका विशेष सम्बन्ध ब्राह्मण ग्रन्थके साथ हुआ। वानप्रस्थाश्रममें बाह्य कर्मानुष्ठानको संक्षिप्त करके मानस साधनापर विशेष ध्यान देना

होता है, इस आश्रमके अनुकूल आरण्यक ग्रन्थ है जिनमें थोडे बहुत कर्मकाण्डके साथ अध्यात्म-चर्चाका समावेश है। अन्तिम आश्रम संन्यास आश्रम है। इस आश्रममें आकार यज्ञयाग आदि सकाम कर्मोंका सर्वथा परित्याग कर देना पडता है, संहितामें आये हुए रूपक और प्रतीकोंके आवरणको भेदकर उसके अन्दर विद्यमान रहस्य या उपनिषद्को धारणा-ध्यान-समाधिद्वारा प्राप्त करना इस आश्रमका चरम लक्ष्य है। यह रहस्य संहिता-भागसे अतिरिक्त शुद्धरूपमें उपनिषद् नामक तत्त्वज्ञानके ग्रन्थमें भी प्रतिपादित है।

समयके प्रवाहके साथ साथ वैदिक साधनामें जो क्रमिक परिवर्तन हुआ है, उसे संहिता, ब्राह्मण और उपनिषद्, इन तीन भागोंमें बांटा जा सकता है। ऊपर कह चुके है कि आरण्यकका अभिप्राय कहीं ब्राह्मण और कहीं उपनिषद् होता है, अतएव आरण्यकका अन्तर्भाव इन तीनमेंसे पिछले दोमें हो जाता है। संहिताग्रन्थोंमें निर्दिष्ट साधना देवत्वकी ओर ले जानेवाली है। देवता क्या हैं? जगत्से अतिरिक्त सत्ता, ज्ञान और आनन्द (सत् चित् आनन्द) विश्वमें व्यापकरूपमें विद्यमान है। इन तीनोंकी दूरदूरतक फैली हुई ज्योतिरेखाएं ही देवता है। अपने अङ्ग प्रत्यङ्गको शुद्ध स्वच्छ करके उसके अन्दर विश्वके देवताओंकी लीलाको प्रस्फुटित करनेका नाम देवजन्म या दिव्यजीवन है। उपनिषदोंकी साधना देवताओंकी लीलातक मर्यादित न रहकर उसके भी आगे देवताओंकी मूल सत्ताका अवगाहन करना चाहती है, और साधकके अङ्ग अङ्गमें दैवी शक्तिका अवतरण करनेमात्रसे सन्तुष्ट न होकर साधकके अन्दरतममें जो हृदयपुरुष है, जिसको श्रुतिने 'अङ्गुष्ठमात्रोयं पुरुष सदा जनाना हृदि सन्निविष्टः' ऐसा कहा है, उसका सम्बन्ध महान पुरुषके साथ जोडना चाहती है। इस साधनामें गुजरता हुआ ऋषि संसारमें दिव्य आलोकको फैलानेसे पूर्व संसारकी अधिनायक महाशक्तिके साथ ऐकात्म्य या सायुज्य प्राप्त करना चाहता है। ऐसा करनेसे उसे एक सुदृढ आधार मिल जाता है, जिसपर खडा होकर वह दिव्यता और प्रकाशसे कभी भी विमुख नहीं हो सकता।

संहिता, ब्राह्मण और उपनिषद्- ये तीन भेद युगपरिवर्तनके साथ हो गये है, ऐसा सामान्यरूपसे कहा जा सकता है, किन्तु असलमें वैदिक साहित्यको कालकी दृष्टिसे इस प्रकार पृथक् पृथक् नहीं किया जा सकता। अनेक उपनिषदें ब्राह्मणोंसे प्राचीन हैं। इसी प्रकार संहिताओंके कितने ही स्थल ब्राह्मण या उपनिषद्से भी पीछेके बने हुए प्रतीत होते हैं। इस स्थितिको इस प्रकार समझ सकते है कि सबसे पूर्व संहिताका प्राचीनतम मन्त्रभाग विद्यमान था, उसके पश्चात् संहिता दो धाराओंमें— संहिता और ब्राह्मणमें-विभक्त हो गई। ब्राह्मणमें संहिताके केवल उसी भागको लिया गया है, जिसमें यज्ञयाग आदि कर्म-काण्डका वर्णन है। संहिताकी भाषामें प्रतीक-तन्त्र होनेसे परवर्ती कालमें लोगोंने संहिताको केवल कर्मकाण्डपरक ग्रन्थ ही समझा। इसके अलावा संहिताकी व्याख्याका भार भी विशेष-रूप ब्राह्मणने अपने ऊपर लिया था। परिणामतः संहिता और ब्राह्मण दोनोंको वेदकी कर्मकाण्डशाखा समझा जाने लगा। इसके विपरीत उपनिषद्ने वेदके मूल आध्यात्मिक तत्त्वज्ञानको लेकर उसे अक्षुण्ण रखते हुए उसके विस्तारकी चेष्टा की, इसी-लिये उपनिषद्को वेदकी ज्ञानकाण्ड-शाखाके रूपमें स्वीकार किया गया।

सब वेदोंमें ऋग्वेद और उसमें भी ऋग्वेद संहिता सबसे अधिक प्राचीन है। अन्यान्य संहिताओंमें भी ऋग्वेदके अनेक मन्त्र हूबहू उसी रूपमें या थोडेसे अन्तरके साथ मिलते है। इस दृष्टिसे सामवेद ऋग्वेदका विशेषरूपसे ऋणी है। ऋग्वेदके गाने योग्य मन्त्रोंको सामवेदमें संगृहीत किया गया है, नए मन्त्रोंकी संख्या सामवेदमें अङ्गुलिपर गिनने लायक है। इसी-लिये सामवेदको ऋग्वेदका लघु संस्करण कहनेमें कोई अति-शयोक्ति नहीं। दोनों वेदोंके अत्यन्त सादृश्यके आधारपर कई विद्वान् सामवेदको ऋग्वेदकी अपेक्षा अधिक प्राचीन, दूसरे शब्दोंमें प्राचीनतम संहिता सिद्ध करनेके प्रयास करते है। उनका कहना है कि सामवेदके ही लगभग सब मन्त्र ऋग्वेदमें उद्धृत कर लिये गये हैं।

जैसे आजकल पुस्तकें अध्याय अंक परिच्छेद आदिमें विभक्त होती हैं, इसी प्रकार ऋग्वेद संहिताको भी दो विधियोंसे अनेक भागोंमें बांटा गया है। पहली विधि यह है कि ऋग्वेदके दस भाग करके प्रत्येक भागको मण्डल नाम दिया गया है। प्रत्येक मण्डलमें अनेक मन्त्रसमूह है, जिन्हें सूक्त कहते है। मण्डल-विभाग मन्त्रद्रष्टा ऋषियोंके आधारपर हुआ है, दूसरे मण्डलका ऋषि गृत्समद तथा उसके वंशमें होनेवाले अन्य ऋषि हैं, तृतीय मण्डलका ऋषि विश्वामित्र, चतुर्थका वामदेव, पञ्चमका अत्रि, षष्ठका भरद्वाज, सप्तमका वसिष्ठ और अष्टमका प्रगाथ

है, सम्पूर्ण नवम मण्डलमें केवल सोम-देवतापरक मन्त्र है । पहले और दसवें मण्डलके अनेक भिन्न भिन्न ऋषि हैं । सूक्तमें आये हुए सब मन्त्र किसी विशेष देवता और उससे सम्बद्ध एकाधिक अन्य देवताओंको लक्ष्य करके हैं । दूसरी विधिके अनुसार ऋग्वेदके आठ भाग किये गये हैं , इन्हें अष्टक कहते है । प्रत्येक अष्टक अध्यायोंमें और अध्याय वर्गोंमें विभक्त है। प्रत्येक वर्गमें चारपांचके लगभग मन्त्र होते हैं । अष्टक आदिका विभाग किस आधारपर और किस दृष्टिसे किया गया है, यह समझना कठिन है ।

वेदकी बहिरङ्ग परीक्षा करना हमारा उद्देश्य नहीं है, हमारा लक्ष्य वेदके अन्तरतम रहस्यको खोलकर रखना है । अबतक वेद पुरातत्त्वविदोंकी गवेषणाका विषय बना हुआ था, किसी आध्यात्मिक उपयोगिताके लिए नहीं, किन्तु प्राचीन कालके इतिहासको जाननेमें वेदकी सहायता प्राप्त करनेके लिए । परन्तु हमारे लिये वेद जीवित जागृत और प्राणवान पदार्थ है, इसके शब्द शब्दसे उच्चतर दिव्य जीवनके क्षेत्रमें पदार्पण करनेका सन्देश ध्वनित हो रहा है । चिरकालसे मनुष्य अज्ञान, अकर्मण्यता, उदासीनता और निरुत्साहकी नींदमें सो रहा है, उसके जीवनमें प्रफुल्लता और उल्लास नहीं है । इस विषम एवं दुःखमय स्थितिमें रहता हुआ भी कभी कभी वह स्वप्न लेता है किसी दूसरे लोकमें या दिव्य आकाशमें अथवा किसी ऊंचे धरातलपर पहुंचनेका । ऐहिक जीवनसे निराश होकर वह कह उठता है ' अमृतत्वको जिससे प्राप्त नहीं कर सकता, ऐसी चीज लेकर मैं क्या करूंगा ' अन्तरात्माकी इस अमृतत्व पिपासाकी पूर्ण तृप्ति जहां और जिसके द्वारा हो सकती है वह रसका बृहद् भण्डार ' रायो अवनिः ' या महान् समुद्र ' महो अर्णः ' वेदही है । जिस अन्तःकरणमें यह दिव्य तृष्णा जग चुकी है, उसीके लिये वेदमन्त्रोंका पाठ करना सार्थक हो सकता है ।

ऋषि मधुच्छन्दस् मन्त्रमाला

ऋग्वेद प्रथम मण्डल, प्रथम सूक्त

अग्निमीळे पुरोहितं यज्ञस्य देवमृत्विजम् ।
होतारं रत्नधातमम् ॥ १ ॥

(अग्निम् ईळे) अग्निकी-चिन्मय शक्तिकी-मैं वन्दना या पूजा करता हूं, जो (यज्ञस्य) यज्ञके (पुरोहितम्) पुरोभागमें स्थापित है, (देवम्) देवता या दिव्य एवं ज्योतिर्मय है, (ऋत्विजम्) ऋत्विक् है अर्थात् ऋतृऋतुमें ऋत, सत्य, छन्द या धर्मके अनुसार याजन कराती है, (होतारम्) जो होता है अर्थात् भिन्न भिन्न देवताओंका आह्वान करती है और जो (रत्नधातमम्) आनन्द तथा सुख-समृद्धिको सम्पूर्णरूपसे देनेवाली है ।

भावार्थ— मैं अग्निकी पूजा कर रहा हूं, पुरोहित और दिव्य ऋत्विक्के रूपमें यज्ञके सम्मुख वही आसीन है, वह होता है, तथा पूर्ण आनन्दको प्रतिष्ठित करनेवाली है ।

अग्निः पूर्वेभिर्ऋषिभिरीड्यो नूतनैरुत ।
स देवाँ एह वक्षति ॥ २ ॥

(अग्निः पूर्वेभिर्ऋषिभिः) अग्नि पुराने ऋषियोंके द्वारा (ईड्यः) वन्दनीय है, (उत) और (नूतनैः) नवीन ऋषियोंके द्वारा भी । (सः) वह (देवान्) सब देवताओंको (इह) यहां (आ वक्षति) ले आएगी । एह=आ+इह ।

पुराने ऋषि अग्निकी पूजा करते रहे, नए ऋषि भी अग्निकी पूजा करते रहेंगे । यह अग्निशक्ति समस्त देवताओंको यहां बुला लाएगी ।

अग्निना रयिमश्नवत् पोषमेव दिवेदिवे ।
यशसं वीरवत्तमम् ॥ ३ ॥

जगत्में (अग्निना) अग्निकी सहायतासे (दिवे दिवे) प्रतिदिन (वीरवत्तमम्) वीरत्वपूर्ण या सबसे अधिक वीर्यशाली और (पोषमेव) जिसमें पुष्टिही होती है ऐसे तथा (यशसम्) यशस्वी और विजयी (रयिम्) पूर्ण सार्थकताके आनन्दको (अश्नवत्) साधक पुरुष प्राप्त करता है ।

तपोमय अग्निकी सहायतासे हम उस सार्थकताको प्राप्त करेंगे जो प्रतिदिनके प्रकाशमें पुष्ट होती चली जाती है, जो जयश्रीसे शोभित है, और वीर्यसे परिपूर्ण है।

अग्ने यं यज्ञमध्वरं विश्वतः परिभूरसि।
स इद्देवेषु गच्छति ॥ ४ ॥

(अग्ने !) हे अग्नि, (यम् अध्वरं यज्ञम्) जो रास्ता निकालकर बिना रुके आगे बढता चला गया है ऐसे जिस यज्ञको (विश्वतः) चारों ओरसे (परिभूः असि) तुम घेरे हुए हो, (सः इत) वह ही (देवेषु) देवताओंके बीचमें (गच्छति) पहुंच पाता है।

हे तप शक्ति, जिस यज्ञयात्राको व्याप्त करके उसमें तुम मूर्त रूपसे उपस्थित होती हो वह यज्ञ देवशक्तियोंके समीप पहुंचता है।

अग्निर्होता कविक्रतुः सत्यश्चित्रश्रवस्तमः।
देवो देवेभिरा गमत् ॥ ५ ॥

(अग्निः होता) अग्नि होता है, (कविक्रतुः) दृष्टिमय क्रियाशक्ति या चिन्मय तपःशक्ति है, (सत्यः चित्रश्रवस्तमः) सत्यसम्पन्न हैं, विचित्र एवं दिव्य श्रवण शक्तिसे परिपूर्ण है अर्थात् जो ज्ञानकी सम्पूर्ण विचित्र वाणीको सुननेमें समर्थ है वह (देवः) देवता या दिव्य शक्ति (देवेभिः) अन्य देवताओं के साथ (आगमत्) विराजमान होता है।

अग्नि आवाहन शक्ति है, अग्नि दृष्टिमय कर्मशक्ति है। अग्निही सत्य है, अग्निके दिव्य श्रवणमें विचित्र ज्ञान पूर्णरूपसे प्रगट होता है। अग्निदेवता अन्य सब देवताओंके साथ मानो पधार रही है।

यदङ्ग दाशुषे त्वमग्ने भद्रं करिष्यसि।
तवेत्तत्सत्यमङ्गिरः ॥ ६ ॥

(अङ्ग) निश्चयरूपसे हे (अग्ने) अग्नि (त्वम्) तू (दाशुषे) दानशील एवं उत्सर्गपरायण यजमान या साधकके लिये (यत्) जिस (भद्रम्) श्रेय या कल्याणको (करिष्यसि) करेगा, (तव इत्) तेराही (अङ्गिरः !) हे ऋषियोंके इष्ट देव अङ्गिरा ! (तत्सत्यम्) वह सत्य है, वह उत्तम सत्य है।

हे अग्नि ! प्रदाताके लिए तू जिस कल्याणका सम्पादन करती है, हे तपोदेवता ! वह तेराही अपना उत्तम सत्य होता है।

उप त्वाग्ने दिवे दिवे दोषावस्तर्धिया वयम्।
नमो भरन्त एमसि ॥ ७ ॥

(अग्ने !) हे अग्नि ! (वयम्) हम (दिवे दिवे) प्रतिदिन (दोषावस्तः) रातमें और दिनमें-अज्ञानकी हालत हो या ज्ञानकी (धिया) बुद्धिकी सहायतासे (नमः) प्रणाम या समर्पण (भरन्तः) वहन करते हुए (त्वा उप) तेरे पास (एमसि) आकर उपस्थित हो गए हैं। एमसि=आ+एमसि।

हे अग्नि ! विशुद्ध बुद्धि द्वारा अपने प्रणतिभावका वहन करते हुए चांदने या अंधेरेमें प्रतिदिन चलकर हम तेरे अधिकाधिक पास पहुंच रहे हैं।

राजन्तमध्वराणां गोपामृतस्य दीदिविम्।
वर्धमानं स्वे दमे ॥ ८ ॥

हे अग्नि ! तू (अध्वराणाम्) क्रमशः आगे बढनेवाले समस्त यज्ञोंमें (राजन्तम्) राजाके समान है, (ऋतस्य) सत्य धर्म की (दीदिविम्) ज्योतिर्मय (गोपाम्) रक्षिका है, (स्वे दमे) अपने भवनमें या लोकमें (वर्द्धमानम्) क्रमिक रूपसे वृद्धिको प्राप्त होनेवाली है, (उप त्वा आ एमसि) ऐसी तुझ अग्निके पास हम आ रहे है।

तू समस्त प्रगतिशील यज्ञोंकी अधिष्ठात्री है, सत्यधर्मकी ज्योतिर्मय रक्षिका है, अपने रहनेके स्थानमें सदा वृद्धिको प्राप्त होनेवाली है।

स नः पितेव सूनवेऽग्ने सूपायनो भव।
सचस्वा नः स्वस्तये ॥ ९ ॥

(सः) वही तू या इसीलिए (अग्ने) हे अग्नि ! (सूनवे) पुत्रके लिए (पिता इव) पिताके समान (सूपायनः-सु उप अयनः) सुखसे प्राप्त होने योग्य या सुलभ (भव) बन। (नः) हमारे (स्वस्तये) कल्याणसंपादनके लिए [हमारे साथ] (सचस्व) संयुक्त होकर रह।

इसीलिए हे अग्निदेव ! पिताकी तरह तुम हम पुत्रोंके लिये सुलभ या अभिगम्य हो ओ। हमें सुखसमृद्ध करनेके लिये तुम अपने आलिङ्गनपाशमें हमें जकड लो।

तात्पर्य

विश्वसृष्टि एक विराट् यज्ञ है। गीतामें कहा है, ' सर्वं गतं ब्रह्म नित्यं यज्ञे प्रतिष्ठितम्। ' सब पदार्थ इस यज्ञमें अपनी आहुति प्रदान कर रहे हैं। किस प्रयोजनसे ? यज्ञ प्रगति है, पूर्णताकी ओर नित्य बहनेवाली क्रमिक विकासकी धारा है ! यज्ञ होता है तो सृष्टि प्रगति करती है, अपने अन्तर्गत समग्र

पदार्थोंकी आत्माहुतिके द्वारा यह अपने लक्ष्यकी ओर अग्रसर होती है। आत्मार्पण करके एक वस्तु दूसरेका सर्जन करती हुई वस्तुतः अपनी बृहत्तर सत्ताको प्राप्त करती है। जडसे वनस्पति, वनस्पतिसे प्राणी और प्राणीसे मनुष्यका विकास हुआ है, अब मनुष्य यदि आत्मबलि दे तो उसमेंसे देवताका जन्म हो सकता है। मेघ अपनी बलि देकर वर्षाके रूपमें नीचे गिर जाता है, पिता माताके बलवीर्य और रक्तमांससे पुत्रकी उत्पत्ति होती है, ये सब यज्ञकेही ज्वलन्त उदाहरण हैं। गीताके अनुसार प्रजापतिने मनुष्योंकी सब कामनाओंको पूर्ण करनेका साधन यज्ञ बताया है-

सहयज्ञाः प्रजाः सृष्ट्वा पुरोवाच प्रजापतिः।
अनेन प्रसविष्यध्वम् एष वोऽस्त्विष्टकामधुक्॥

यज्ञ या सृष्टिचक्रको धारण करनेवाली मूल शक्तिकाही दूसरा नाम देवता है। आत्मोत्सर्ग करके जीव देवधर्मकाही पालन कर रहा होता है।

बाहिर जगत्में भूतयज्ञ चल रहा है, मनुष्यके अंदर वही योगयज्ञ है। मनुष्यकी जीवनसाधना भी एक यज्ञ है। इस साधनाका उद्देश्य क्या है? क्रमोन्नति या ऊर्ध्वगति अर्थात्- अल्पसे महान्की ओर जाना, स्थूलसे सूक्ष्मकी ओर, देहसे परे देहाधिपतिकी ओर; दुःख अशक्ति और अज्ञानको छोडकर आनन्द शक्ति और ज्ञानकी दिशामें प्रवाहित होना। यह सब कैसे सिद्ध हो सकता है? एकमात्र साधन आत्मबलि, उत्सर्ग, समर्पण या 'नमः' के द्वारा। हमारे अन्दर जो निम्नतम स्तर है उसे समुचित उपायोंसे उन्नत करके उच्चतम स्तरकी तरफ ले जाना होगा। कठोपनिषद्में कहा भी है-

यच्छेद्वाङ् मनसि प्राज्ञस्तद् यच्छेज्ज्ञानमात्मनि।
ज्ञानमात्मनि महति नियच्छेत् तद्यच्छेच्छान्त आत्मनि॥

और गीताने भी इस विषयमें कहा है-

सर्वाणीन्द्रियकर्माणि प्राणकर्माणि चापरे।
आत्मसंयमयोगाग्नौ जुह्वति ज्ञानदीपिते॥

हमारे अन्तस्तलमें जो उच्चतम शक्तिसमुदाय है, उसीका नाम देवता है। साधक इस देवशक्तिके आगे यदि अपने आपको समर्पित कर देगा और इसके प्रति सर्वथा प्रणतिभाव रखेगा तो यह शक्ति उसके निम्नतम स्तरमें दिव्यताका संचार करके उसे उच्च भूमिपर पहुंचा देगी। मानव अपने अन्दर देवत्वका अवतरण करता है, यह देवत्व आकर मानवको अतिमानव बनाता हुआ देवकोटिमें ले जाता है। यज्ञके इस रहस्य को लक्ष्य करके भगवान् श्रीकृष्ण कहते हैं-

देवान् भावयतानेन ते देवा भावयन्तु वः।
परस्परं भावयन्तः श्रेयः परमवाप्स्यथ॥

जीवनकी क्रमिक उन्नति यज्ञ है, यज्ञके दरबारके सामने द्वारपालके रूपमें अग्नि अर्थात् तपः शक्ति रहती है। तपः शक्तिको आगे करके इसीकी सहायतासे साधक अपने यज्ञमार्गपर बढता चला जाता है। इसीलिये अग्निको यज्ञका पुरोहित कहा गया है। अग्निरूप तपः शक्तिमें साधक अपने देहके प्रत्येक अङ्गकी आहुति देता है, इस आहुतिको अग्नि देवताओंके समीप पहुंचा देती है और साधकके देहमें देवताका आह्वान करके उसे प्रतिष्ठित करती है, अतएव अग्निको सूक्तमें 'होता' कहा गया है। अग्निका एक नाम 'वह्नि' भी इसीलिये है कि वह समग्र दिव्य शक्तिको वहन करके साधकके अन्दर ले आती है और साधकको दिव्यशक्तियोंके समुदायमें पहुंचा देती है। अग्निका यह कार्य सत्यके अटल नियमके अनुसार और क्रमशः उचित समयमें होता है, इसीलिये अग्निको 'ऋत्विक्' विशेषण दिया गया है। ऋत्विक् जानता है कि किस ऋतुमें कौनसा यज्ञ किस प्रकारसे करना है। तपः शक्ति अग्निको ज्ञात है कि साधकको सत्यकी साधनाके लिये कब प्रेरित किया जा सकता है तथा किस रीतिसे और किस विकासोन्मुख साधनका कब किस उपायसे नियमन किया जा सकता है। तपःशक्तिकी आग मानवके देह और आत्माको शुद्ध और समर्थ करके उच्च भावोंके ग्रहण करनेयोग्य बना देती है। इसके अतिरिक्त यह आग मानवके अन्दर दिव्य शक्ति (यशसं वीरवत्तमम्) दिव्य-ज्ञान (चित्तश्रवस्तमम्) तथा दिव्य आनन्द (रत्नधातमम) को स्थापित करके परिपूर्ण सार्थकता (तत्सत्यम्, भद्रम्, रयिम्- का सम्पादन करनेमें सफल होती है। अग्नि अपनी दिव्य दृष्टिके कारण स्वाभाविक क्रियाशक्तिसे सम्पन्न है, उसका साक्षात् ज्ञान उसे कर्मसामर्थ्य प्रदान करता है, उसके 'कविक्रतु' कहलाये जानेका यही कारण है। अग्निमें ऋत अथवा सत्यके संरक्षण (ऋतस्य गोपाम्) करनेका गुण होनेसे वह मूर्त सत्य-धर्म (सत्यः) है। इस सत्यका, ऋतका अथवा बृहत्का अधिष्ठान जो तुरीय लोक है उसे ही स्वर्लोक कहते हैं, अग्नि आदि सब देवताओंका 'स्व दम' या अपना घर वहीं है। समस्त

देवलोग अपने स्वरूपमें यहीं शोभायमान होते हैं। प्रत्येक देवताका इस घरसे अतिरिक्त एक और स्थान होता है जहां वह अपनी लीलाका विस्तार करता है। अग्निकी लीलाभूमि है पृथिवी और स्थूल शरीर। तपःशक्ति सबसे पहले मनुष्यकी शरीर रचनाको प्रभावित करती है, बादमें अन्यान्य देवताओंकी सहायतासे मनुष्यको शरीरसे प्राणमें, प्राणसे मनमें, मनसे अतिमानसमें और वहांसे तुरीय स्वर्लोकमें ले जाती है। शरीर प्राण मन आदि प्रत्येक स्तरका पृथक् पृथक् देवता है, किन्तु सब मिलकर वस्तुतः एकही देवशक्तिके विभिन्न रूपान्तर हैं। सब देवताओंमें अग्रणी अग्नि है, साधनापथपर आरूढ होनेसे पूर्व अग्निका आराधक अथवा अङ्गिरा होना अनिवार्य है।

सूक्त (सु+उक्त) का अर्थ है निर्दोष उक्ति या सिद्धवाणी। इस विचार धाराकी दृष्टिसे तीन तीन मन्त्र करके इस सूक्तके तीन भाग किये जा सकते हैं। पहले तीन मन्त्रोंमें अग्निके नामरूपका वर्णन करते हुए उसका परिचय दिया गया है। बीचके तीन मन्त्रोंमें अग्निका गुण प्रकृति और स्वभाव बतलाया है। साधना यज्ञमें साधकका अग्निके साथ क्या सम्बन्ध है, इसका उपदेश सूक्तके पिछले तीन मन्त्रोंमें किया गया है प्रत्येक मन्त्र गायत्री छन्दमें है, गायत्रीमें तीन पाद होते हैं इसीलिये इस सूक्तकी हरेक ऋचामें तीन भाग दिखलाई पडते हैं।

द्वितीय सूक्त

वायवा याहि दर्शतेमे सोमा अरंकृताः।
तेषां पाहि श्रुधी हवम्॥ १॥

(दर्शत वायो) हे दृष्टियुक्त वायु! (आ याहि) यहां आओ, (इमे सोमाः) ये सब सोम (अरंकृताः) तय्यार करके रखे हुए हैं, (तेषा पाहि) उनका पान करो और हमारी (हवम्) पुकारको (श्रुधि) सुनो।

हे प्राणशक्ति! ज्ञानकी दृष्टिको लेकर तुम पधारो, विशुद्ध ज्ञानकी ये सब धाराएं तुम्हारे लिए बहा दी हैं; इनका पान करो और हमारे आवाहनको सुनो।

वाय उक्थेभिर्जरन्ते त्वामच्छा जरितारः।
सुतसोमा अहर्विदः॥ २॥

(वायो) हे वायु! (सुतसोमाः जिन्होंने पीस और निचोडकर सोमरस निकाल लिया है, (अहर्विदः) जिन्होंने दिनको प्राप्तकर लिया है, वे (जरितारः) प्रेमी या पुजारी लोग (उक्थेभिः) उक्थ अर्थात् जो वाणी या मन्त्र सत्यको प्रकाशित करके स्फुरित होता है उसकी सहायतासे (त्वाम्) तुम्हें (अच्छा) लक्ष्य करके (जरन्ते) पूजा कर रहे हैं। हे वायु! जिस मन्त्रमें तुम्हारा प्रकाश है उसी मन्त्र द्वारा पुजारी, तुम्हारी पूजा कर रहे हैं। सोमलताको पीसकर उन्होंने सोमरस तय्यार किया है और वे खोज करनेपर दिनके प्रकाशको प्राप्त कर चुके हैं।

वायो तव प्रपृञ्चती धेना जिगाति दाशुषे।
उरूची सोमपीतये॥ ३॥

(वायो) हे वायु! (तव) तुम्हारी (प्रपृञ्चती धेना) पूर्ण करनेवाली धारा (सोमपीतये) सोमरसपान करनेके लिये (उरूची) विस्तृत होकर (दाशुषे जिगाति) दाताकी ओर जा रही है।

हे वायु देवता! अपना सर्वस्व समर्पण करनेवाले भक्तकी प्रत्येक कामनाको पूर्ण करनेके लिए तुम्हारी धारा चल पडी है, विस्तीर्ण होकर सोमपानका आनन्द प्राप्त करनेके लिये चल पडी है।

इन्द्रवायू इमे सुता उप प्रयोभिरा गतम्।
इन्दवो वामुशन्ति हि॥ ४॥

(इन्द्रवायू) हे इन्द्र और वायु! तुम्हारे लिये (इमे सुताः) ये रस निकले हुए तय्यार हैं, (प्रयोभिः) अपने साथ समस्त कल्याण और सुखोंको लेकर (उप आगतम्) पास आ जाओ; (हि) क्योंकि (इन्दवः) तृप्तिकारी पदार्थ (वाम्) तुम दोनोंकी (उशन्ति) आकाङ्क्षा कर रहे हैं।

हे इन्द्र और वायु! आओ, रसायन तैय्यार है, अपने प्रिय पदार्थोंको लेकर यहां आओ। तृप्ति करनेवाली रसमय धाराएँ तुम्हारी अभिलाषा कर रही हैं।

वायविन्द्रश्च चेतथः सुतानां वाजिनीवसू।
तावायातमुपद्रवत् ॥ ५ ॥

(वायो इन्द्रः च) हे वायु और हे इन्द्र! तुम भी (सुतानाम्) सब प्रकारके रसोंका ज्ञान प्राप्त करके (चेतथ) जागते हो। (वाजिनीवसू) ऋद्धि या बल ही जिनकी सम्पत्ति है ऐसे (तौ) तुम दोनों (द्रवत्) दौडकर जल्दी (उप आयातम) हमारे पास आओ।

हे वायु और इन्द्र! तुम भी सोमके आनन्दमें मस्त होते हो। समृद्धि और सम्पदापर तुम्हारा अधिकार है। इसलिये तेजीसे यहां आओ।

वायविन्द्रश्च सुन्वत आ यातमुपनिष्कृतम्।
मक्ष्वित्था धिया नरा ॥ ६ ॥

(वायो इन्द्रः च) हे वायु और इन्द्र! (नरौ) तुम दोनों वीर हो, नर हो; (इत्था धिया) सच्ची बुद्धिके द्वारा (मक्षु) शीघ्र बिना किसी विलम्बके (सुन्वत.) सोम निचोडनेवालेके (निष्कृतम्) अच्छी प्रकारसे प्रस्तुत किये हुए रसके (उप) पास (आयातम्) आकर दर्शन दो।

हे वायु! हे इन्द्र! सोमसेवन करनेवालेने तुम्हारे लिये अत्यन्त श्रद्धासे सोम तैय्यार किया है, हे वीरो! अपनी सत्यबुद्धिके साथ तुम दोनों जल्दी आओ!

मित्रं हुवे पूतदक्षं वरुणं च रिशादसम्।
धियं घृताचीं साधन्ता ॥ ७ ॥

(पूतदक्षम्) विशुद्ध सत्यसे सम्पन्न (मित्रम्) मित्रका (च) और (रिशादसम्) रिश अर्थात् आततायीका ध्वंस करनेवाले (वरुणम्) वरुणका (हुवे) मैं आवाहन करता हूं। वे दोनों (घृताचीम्) तेज· सम्पृक्त- 'घृत' घृ क्षरण दीप्त्योः धातुसे बना है- (धियम्) बुद्धिको (साधन्ता) तय्यार करनेवाले हैं।

मित्रकी विशुद्ध ईक्षण शक्तिका मैं आवाहन करता हूं, वरुण आततायियोंका संहार करनेवाला है उसका भी आवाहन करता हूं। दोनों बुद्धिको तैजस बनानेवाले हैं।

ऋतेन मित्रावरुणावृतावृधावृतस्पृशा।
क्रतुं बृहन्तमाशाथे ॥ ८ ॥

(ऋतेन) सत्यधर्मके द्वारा (ऋतावृधौ) सत्यधर्मकी वृद्धि करनेवाले हैं, (ऋतस्पृशा) सत्यका स्पर्श करनेवाले ये दोनों (मित्रावरुणौ) मित्र और वरुण (बृहन्तं क्रतुम्) महान् तप या क्रियाशक्तिको (आशाथे) प्राप्त करते हैं या भोगते हैं।

हे मित्र और वरुण! सत्यके धर्मका तुम स्पर्श करते हो और सत्यके धर्मकी तुम वृद्धि करते हो, इसी सत्यधर्मकी तुम्हारी महान् शक्ति अपने अधिकारमें करती है।

कवी नो मित्रावरुणा तुविजाता उरुक्षया।
दक्षं दधाते अपसम् ॥ ९ ॥

(कवी) सत्यके द्रष्टा (तुविजाता) अनेक रूपोंमें प्रगट होनेवाले (उरुक्षया) विशाल निवासस्थानवाले (मित्रावरुणौ) मित्र और वरुण (नः) हमारे (अपसं दक्षम्) कर्मपरक सत्यनिर्देशको (दधाते) धारण करते हैं या स्थापित करते हैं।

मित्र और वरुण हमारे सत्यद्रष्टा हैं। उनका रूप नानाविध है और निवासस्थान विशाल है। कर्मप्रेरक सत्यके उपदेशको वे दोनों धारण करते हैं।

तात्पर्य

समस्त साधनाका स्रोत प्रेरणा करनेवाला ऊर्ध्वमुखी तेज है, इसे चिन्मय तपःशक्ति या अग्निशक्ति कहते हैं। पिछले सूक्तमें इसीका उद्बोधन किया गया है। विकासोन्मुख साधनाके विभिन्न क्रमों या सोपानोंका वर्णन इस द्वितीय सूक्तमें किया गया है।

वैदिक साधनाका लक्ष्य मन्त्र है, 'सत्यं बृहद् ऋतम्।' मनुष्यका साधारण जीवन शरीर प्राण और मनको लेकर चलता है। शरीरके दैनिक कार्य, प्राणकी तुच्छ प्रेरणा या भोग और मनके क्षुद्र ज्ञानसे अतिरिक्त मनुष्य कुछ नहीं जानता और जान भी नहीं सकता। परन्तु शरीर मन प्राणके क्षेत्रसे ऊपर एक बृहत् सत्ताका स्थान है, यहां पहुंचकर मनुष्य अपने सच्चे अस्तित्व और सच्चे कर्मको प्राप्त करके वस्तुतः दिव्यजन्मके आनन्दका अनुभव करता है। देवताओंके निवासस्थान स्वर्लोकमें पहुंचनेके लिये देह प्राण और मनही बाधक है। इसका अभिप्राय यह कदापि नहीं कि मायावादी वेदान्तियोंके समान देह प्राण और मनकी सत्ताको ही अस्वीकार या नष्ट करना होगा। नष्ट न करके इन्हें शुद्ध और परिष्कृत करना पडेगा। इस शोधन अथवा परिष्कारकी तीन अवस्थाएं हैं जिनका प्रतिपादन क्रमशः सूक्तके तीन तीन मन्त्रोंमें किया गया है।

पहले तीन मन्त्रोंमें प्राणशक्तिके शोधनका वर्णन है। प्राणशक्तिका अधिष्ठातृदेव वायु है। मुण्डकोपनिषद्में कहा है, 'वायुः प्राणः' ऋग्वेदमें भी एक जगह स्पष्ट कहा है 'प्राण-

द्वायुरजायत '। साधारण जीवनके व्यवहारका केन्द्र यह वायु या प्राणशक्ति ही है। कामना भोग और विषय सुख प्राणके द्वारा होता है। साधारण प्राण अज्ञानसे आवृत है, यह वासनाको तृप्त करके क्षणिक और तुच्छ आनन्द प्राप्त करना चाहता है। इसीलिये पहले मन्त्रमें ऋषि कह रहा है कि वायुको ' दर्शत ' अर्थात् ज्ञानदृष्टिसे युक्त होना चाहिये, और विशुद्ध सोमकी धारा अर्थात् वस्तुओंमें अन्तर्निहित आनन्दका आस्वादन करना उसके लिए आवश्यक है। तुरीय अवस्थाके आनन्दका नाम सोमरस है, ' आनन्दममृतम् ' के अनुसार अमृत भी यही है, सोमपान करनेसे अमृतत्वकी प्राप्ति होती है:- ' अपाम सोमम् अमृता अभूम '। देवोंकी दिव्य सत्तामें चितिसे परिपूर्ण ज्योतिर्मय रसायनका नाम ' सोम ' ही है। साधकको अपने प्राणमें सोम नामक तुरीयावस्थाके इस दिव्य आनन्दकी अमृत धाराको प्रवाहित करना है। सत्यको साक्षात् ज्ञानके छन्दों और वचनोंमे अभिव्यक्त करके इस सत्यके आनन्दसे प्राणको आप्लावित करना होगा, जो ऐसा करनेमे सफल हो चुके है, वे ' अहर्विद ' है, उन्होंने अंधेरेसे निकलकर दिनके प्रकाशको प्राप्त कर लिया है वे अब तुच्छ भोगोंकी कामना नहीं करते, अमृतमय आनन्द उनके देह प्राण मनकी ओर प्रवाहित हो रहा है, अत एव वे सजीव और चेतन दिखाई देते है।

प्राणमें हम ज्योतिर्मय बृहद् आनन्दको अवतीर्ण कराना चाहते है। इस प्रयोजनकी सिद्धिके लिए मनको शुद्ध और परिष्कृत करना चाहिये। शुद्ध परिष्कृत मनका अधिनायक इन्द्र है, वह समस्त इन्द्रियोंका दिव्य अधिपति है। इन्द्र शुद्ध बुद्धि प्रदान करता है, इस शुद्ध बुद्धिकी सहायतासे साधक प्राणमें शुद्ध भोगको प्रतिष्ठित करता है, यह शुद्ध भोग सत्यके सारभागकी परिपूर्णताका समृद्ध आनन्द है (वाजिनीवसू)। इसीलिये बीचके तीन मन्त्रोमे वायु और इन्द्रका युगपत् उद्बोधन किया गया है।

अन्तिम तीन मन्त्रोंमें साधकके गन्तव्य स्थान अथवा पूर्णसिद्धिका प्रतिपादन है। प्राण और मनकी शुद्धिके द्वारा साधक ' बृहत् ' के जगत्में अथवा स्वर्लोकमें प्रतिष्ठित होता है। बृहत्का देवता वरुण है। वरुणकी विशालतामे जो छन्द और सामञ्जस्य विद्यमान है, उसे ' मित्र ' कहते है। हमारे साधारण ज्ञानकी खण्डता और भिन्नताको वरुण देव दूर करते है। जो राक्षसी शक्ति हमे क्षुद्र और सङ्कीर्ण बनाए रखती है उस शक्तिका वरुणके द्वारा समूलोच्छेद हो जाता है, अतएव उसका नाम ' रिशादस ' है। दिव्यशक्तिके निरीक्षण द्वारा मित्र एक पदार्थका दूसरेके साथ सत्य सम्बन्ध करके दोनोंको जोडता है। अनन्त और अखण्ड बृहत् तत्त्वके साथ सामञ्जस्य स्थापित होनेपर साधक मूल सत्य और उसके अनुकूल कर्मको ग्रहण करता है, इस अवस्थामें उसकी दृष्टि सत्यकी अविचल ज्वालासे आलोकित होती है। इन्द्रकी शुद्ध बुद्धिका कारण यह है कि उसके पीछे वरुण और मित्रकी दो व्यापक शक्तियां है, ये दोनोंही बुद्धिको ज्ञान और तेजसे परिपूर्ण करती है। (धियं घृताचीं साधन्ता) ये ही दोनों कवि अथवा सत्यका क्रान्तदर्शन करनेवाली है। इन दोनोंकी गतिविधिसे तथा इन दोनोंके अन्दर भरे हुए सत्यके बलसे साधक तपःशक्तिकी विपुल प्रेरणा (बृहत्-क्रतु) तथा जीवनके कर्मोंको करनेमें अबाधित कौशल (अपसं दक्षम्) प्राप्त करता है।

वैदिक-जीवन

(ले०- पं० ऋभुदेवशर्मा 'साहित्याऽऽयुर्वेदभूषण' 'शास्त्राचार्य' भूतपूर्व आचार्य येडशी श्याम आर्य गुरुकुल, चप्पल बाजार दक्षिण हैद्राबाद)

मनुष्य ज्ञानी है। वह युवाऽवस्थामें समर्थ कहलाता है। वैदिक परिभाषामें, इसी कारण, समर्थको युवा कहते हैं-

आत्मानं धीरमजरं युवानम् ॥ अथर्व० १०।८।४४
पुरां भिन्दुर्युवा कविः॥ ऋ० १।११।४
जुजुर्वां यो मुहुरा युवा भूत् ॥ ऋ० २।४।५
स नो युवेन्द्रो जोहूत्रः सखा ॥ ऋ० २।२०।३
स्पार्हो युवा वपुष्यो विभावा ॥ ऋ० ४।१।१२

यहाँ आत्मा, इन्द्र, अग्नि ये सब युवा हैं। ये देव हैं, देव कभी बूढे नहीं होते जैसे—

युवानो रुद्रा अजरा अभोग्घनः ॥ ऋ० १।६४।३
अग्नयो ब्यन्तो अजराः ॥ ऋ० १।१२७।५
बृहन्तमृष्वमजरं युवानम्॥ ऋ० ३।३२।७

यहाँ मरुत, अग्नि और इन्द्र जरा-रहित अजर कहे गये हैं। जब वे मरते नहीं और बूढेभी नहीं होते तब युवा=जवान तो होंगे ही। इस विशेषणके देनेकी आवश्यकता यही जान पडती है, जिससे वे देव बालपनकी असमर्थता और बुढापेकी बल-हीनतासे परे सदा समर्थ समझे जायें। मनुष्य युवा होता है तब उसमें कार्य करनेका सामर्थ्य पूर्णताको प्राप्त होता है। जब वह समर्थ होता है तब उसे भिन्न-भिन्न प्रकारके कार्योपदेश किये जाते हैं क्योंकि जो जिस कार्यको कर सके, उसेही वह उपदेश युक्त है। जैसे-

शुनं हुवेम मघवानमिन्द्र-
मस्मिन् भरे नृतमं वाजसातौ।
शृण्वन्तमुग्रमूतये समत्सु
घ्नन्तं वृत्राणि संजितं धनानाम् ॥ ऋ० ३।५०।५

'हम इस युद्धमें सुखदायी, धन-सम्पन्न इन्द्रको बुलाते हैं। इस अन्न-प्राप्तिके युद्धमें अपने बडे नेता इन्द्रको बुलाते हैं। भक्तों और मित्रोंकी पुकार सुननेवाले तथा शत्रुओंसे कठोरता बर्तनेवाले इन्द्रको, युद्धमें अपनी रक्षाके लिये, बुलाते हैं। वृत्रोंको मारनेवाले और युद्धमें शत्रुके धनोंके विजेता इन्द्रको बुलाते हैं।'

इन्द्र सुनता है इसलिये उसे पुकारते हैं। बहरा होता या सुनकर टाल देता तो उसे कोई न पुकारता। पुकारनेवाले योद्धा हैं। वे शत्रुको जीतकर धन प्राप्त करना चाहते हैं। यदि इन्द्र वीर न होता, वह शत्रुओंको न मार सकता और विजयसे प्राप्त धन स्वयं खा जाता तोभी उसे कोई न पुकारता। क्योंकि स्तोताओंको जिन गुणोंकी आवश्यकता होती उन्हें इन्द्रमें न पाते पुनः पुकारनेसे लाभ!

मनुष्य यदि उपदेश न ग्रहण कर सके और तदनुसार आचरणमेंभी असमर्थ हो तो उसे कोई उपदेश उपयोगी न होगा। यदि आचरणका कोई फल न हो तोभी आचरण करनेका उपदेश व्यर्थ हो जाय। परन्तु मनुष्य समर्थ है और आचरणका अच्छा या बुरा परिणाम होता है इसलिये उसे उपदेश किया जाता है।

उपदेशके आचरणका जीवनपर प्रभाव पडता है। जो मनुष्य उत्तम लोगोंके साथमें रहता है उसका जीवन उन्हींके समान शुद्ध और सात्विक होता है। जो मनुष्य दुष्ट मनुष्योंके साथ रहता है उसमें उन्हीं लोगोंके समान दुर्व्यसन और दुर्गुण होते हैं। एक दुराचारी दुर्व्यसनी मनुष्य उत्तम संग पाकर अपना जीवन सुधार लेता है। इसके विपरीत एक शुद्ध सदाचारी मनुष्य दुष्ट संगसे अपना जीवन अत्यन्त बिगाड लेता है। अच्छे या बुरेका संगभी एक प्रकारका उपदेश है। वाणी या ग्रन्थद्वारा उपदेशभी अपना प्रभाव दिखाता है। वे लोग जो पहले किसी ग्रन्थके कट्टर विरोधी थे जब उसे पढना आरम्भ किया तब अन्ततः उसी के रंगमें रंग गये। बहुतसे लोग, जो किसी महात्माके प्राणघातक शत्रु थे, उसकी वाणी के प्रभावमें आ गये और उनका जीवन नितान्त परिवर्तित हो गया। जिस देश या समुदायमें उपदेशकी ये उत्तम परम्परायें सतत चलती रहती हैं, उसमें मनुष्य हिताहितसे

परिचित, दुर्गुण-रहित, सद्गुणी, अत्यन्त विद्वान् और पुरुषार्थसे सदा सुखी रहते हैं। जहाँ इन परम्पराओंका लोप हो जाता है या बुरे ढंगपर इनका संचालन होता है वहाँके लोग हिताहितको नहीं जानते, दुर्व्यसनमें फँसे रहते, दीन-हीन और दुःखी रहते हैं।

यद्यपि संसारके सभी देशोंमें उपदेशकी परम्परा है और पुरातन कालसे सतत चली आ रही है तथापि उसमें अनेक दूषण आ गये हैं। इसलिये वे उपदेश मनुष्यके लिये अधिक उपयोगी नहीं हैं। उन उपदेशोंका आदि-स्रोत वेद है, जो अबभी शुद्ध प्रवाहित हो रहा है। मनुष्य-जीवन उन उपदेशोंकी ओर आकृष्ट हो, इस लिये उन्हें वैदिक जीवन नाम देकर यहाँ उपस्थित करता हूँ।

मनुष्यका जीवन गर्भ, बाल्य, यौवन और जरामें समाप्त होता है। गर्भकी रक्षा माता, पिता, सम्बन्धी और राष्ट्रके अधीन है। अतः उन्हें उसकी रक्षाके लिये जो उपदेश और भाव दिये गये हैं वे मनन करने योग्य हैं।

गर्भाधान

(अथर्व० ५।२५)

१-१३ ब्रह्मा। योनिगर्भः, पृथिव्यादयो देवताः।

पर्वताद् दिवो योनेरङ्गादङ्गात् समाभृतम्।
शेपो गर्भस्य रेतोधाः सरौ पर्णमिवा दधत् ॥१॥

जिस प्रकार (दिव) दिव् लोकके मुख्य (योनेः) स्थान (पर्वतात्) पर्वतके (अङ्गात् अङ्गात्) अङ्ग अङ्गसे (सम्-आ-भृतम्) बने हुए (पर्णं इव) पत्तेको (सरौ) शर तृण धारण करते हैं, (गर्भस्य) गर्भके जनक (रेतः-धाः) वीर्यका धारक पुरुष उसी प्रकार अपने (शेपः) जननेन्द्रियको (दधत्) धारण करता है।

जैसे बरसा हुआ जल प्रथम पर्वतपर गिरता है। वह कुछ तो वहीं भूमिमें समा जाता है, शेष नदी-नालोंके रूपमें बह जाता है। पर्वतके अङ्ग-अङ्गमें समाविष्ट जलसे ओषधि-वनस्पति उगते हैं। उनसे पत्ते उत्पन्न होते हैं। वृक्षोंमेंभी पुरुष और स्त्रीका अंश है अतः मनुष्यके समान उनकी दो जातियाँ हैं। दोनों पत्ते तथा फल-फूल धारण करते हैं। पर्वतसे ओषधि-वनस्पति और वनस्पतिसे फूल-फल उत्पन्न करनेकी शक्ति उत्पन्न होती है। यह शक्ति पर्वतके अङ्ग-अङ्गसे उद्भूत हुई। मनुष्य पुरुष हो या स्त्री दोनोंके अङ्ग-अङ्गसे जननेन्द्रियमें रेत आता है। ये दोनोंही उसे धारण किये रहते हैं जिसे गर्भाधानके समय शरीरसे छोडते हैं। गर्भ दोनोंके रेतस्से ही बनता है। रेतस्के ऊपर शरीरका और शरीरपर भोजनाच्छादनादि व्यवहारका प्रभाव पडता है। इसलिये माता-पिता शुद्ध आहार-विहार और संयमसे शरीरको शुद्ध करें। इस प्रकार शुद्ध रेतस्से शुद्ध और उत्तम गर्भ बनेगा।

यथेयं पृथिवी मही भूतानां गर्भमादधे।
एवा दधामि ते गर्भं तस्मै त्वामवसे हुवे ॥२॥

(यथा) जिस प्रकार (इयम्) यह (मही) बहुत दूर तक फैली हुई (पृथिवी) पृथिवी (भूतानाम्) उत्पन्न पदार्थोंके (गर्भम्) गर्भको (आ-दधे) धारण किये हुए है (एव) उसी प्रकार मैं (ते) तेरे (गर्भम्) गर्भको (आ दधामि) धारण कर रही हूँ और (तस्मै अवसे) उसकी रक्षाके लिये (त्वाम्) तुझे (हुवे) बुला रही हूँ।

अथवा

जिस प्रकार यह विशाल पृथिवी सब भूतोंमें गर्भ उत्पन्न करती है वैसे मैं तेरे भीतर गर्भ स्थापित करता हूँ और उस गर्भकी रक्षाके लिये तुझे बुलाता हूँ।

चाहे यह वाक्य पुरुषकी ओरसे हो, चाहे स्त्रीकी ओरसे; यहाँ दोनोंके कर्तव्यका निर्देश है। ये सारे प्राणी अप्राणी पदार्थ भूमिपर गर्भके समान रहते हैं, पृथिवी इन्हें धारण कर सुरक्षित रखती है। माताभी गर्भको अपने भीतर रखकर बढाती है और पुरुष उसका रक्षक बनता है। अथवा पृथिवीके रससेही सब पदार्थोंमें गर्भ स्थापित है, इस प्रकार पुरुष स्त्रीमें गर्भकी स्थापना करता है। यदि स्त्री उस गर्भकी रक्षा न करे तो उसका नाश हो जायेगा। इसलिये पुरुष स्त्रीमें गर्भ स्थापित करके स्त्री और गर्भ की रक्षा करे। कोई दुष्ट बलात्कारसे गर्भका नाश न करे अथवा स्त्रीको भोजनादिका कष्ट न होने पावे। स्त्रीभी पुरुषके गर्भकी सर्वप्रयत्नसे रक्षा करे, उसे गिरने या नष्ट न होने दे। इस प्रकार दोनों एक दूसरेके सहायक बनकर

एक परिवारकी सृष्टि करें।

गर्भं धेहि सिनीवालि गर्भं धेहि सरस्वति।
गर्भं ते अश्विनोभा धत्तां पुष्करस्रजा ॥३॥

हे (सिनीवालि) सिनीवालि ! तू इस स्त्रीके (गर्भम्) गर्भको (धेहि) स्थिर कर। हे (सरस्वति) सरस्वति ! तू इसके (गर्भम्) गर्भको (धेहि) स्थिर कर। हे देवि ! (पुष्कर-स्रजा) फूलकी माला धारण करनेवाले (उभा) दोनों (अश्विना) अश्विदेव (ते) तेरे (गर्भम्) गर्भको (आ धत्ताम्) स्थिर करें।

सिनीवाली अमावास्याकी रात्रि है। सरस्वती नदीका नाम है और अश्विदेव प्रातःकालके देव हैं। यह गर्भधारण भी किसी देवीका हो रहा है। इस उदाहरणसे वेद बताता है कि पुरुष और स्त्री गर्भधारणको गुप्त न रखें। विद्वान् स्त्री पुरुषोंको इसकी सूचना दे दें और उनसे गर्भ स्थिर रहनेका उपाय पूछें। विदुषी स्त्रियाँ उस स्त्रीको गर्भ के स्थिर करनेका उपाय और आचार सिखायें। वैद्य लोग राष्ट्रको गर्भपातसे बचावें और पति-पत्नीका गर्भाधान व्यर्थ न जाकर उन्हें सन्ततिकी प्राप्ति अवश्य हो, ऐसा उपाय करें और हानिकर कर्मोंसे बचे रहनेका नियम बता दें। जो इन नियमोंको तोड़े उसे दण्ड दिया जाय। ऐसा करनेसे कोई मनुष्य निपुत्री नहीं रहेगा।

गर्भं ते मित्रावरुणौ गर्भं देवो बृहस्पतिः।
गर्भं त इन्द्रश्चाग्निश्च गर्भं धाता दधातु ते ॥४॥

(मित्रा-वरुणौ) मित्र और वरुण (ते) तेरे (गर्भम्) गर्भको स्थिर करें, (बृहस्पतिः) बृहस्पति (देवः) देव तेरा गर्भ स्थिर करे, (इन्द्रः च) इन्द्र और (अग्निः च) अग्नि (ते) तेरे (गर्भम्) गर्भको स्थिर करें, (धाता) धाता (ते) तेरे (गर्भम्) (गर्भको (दधातु) स्थिर करे।

देवोंमें मित्र, वरुण, बृहस्पति, इन्द्र, अग्नि और धाता भी गिने गये हैं। येभी सूर्यादेवीके गर्भको स्थिर करते हैं। देवोंका समाजभी मनुष्यों जैसाही है। उनमेंभी विवाह आदि होते हैं और उस समय सब देव एकत्र होकर वधूको आशीर्वाद देते तथा भिन्न भिन्न कार्योंमें सहयोगी होते हैं। सूर्याका विवाह (ऋ० १०।८५) देखिये। तथा—

त्वष्टा दुहित्रे वहतुं कृणोतीतीदं विश्वं भुवनं समेति।
यमस्य माता पर्युह्यमाना महो जाया विवस्वतो ननाश ॥
(ऋ० १०।१७।१)

त्वष्टा अपनी पुत्रीका विवाह कर रहा है, ऐसा सुनकर सब लोग वहाँ इकट्ठे हो गये। जब वह ले जाई जा रही थी, यमकी माता और महान् विवस्वान्की पत्नी नष्ट हो गई।

त्वष्टा, त्वष्टाकी पुत्री, त्रिभुवन, यम और विवस्वान् का वर्णन अप्रासंगिक होगा। यहाँ मुझे केवल यही बताना है कि देवोंके विवाहमेंभी भारी भीड़ एकत्र होती है। ये देव गर्भाधानके समयभी एकत्र होकर पत्नी को गर्भधारण करा रहे हैं। अपनी संख्या बढ़ानेके लिये विवाह रचाया जाता है। लोग उसमें कितने आनन्दसे सम्मिलित होते हैं ! पर आश्चर्य है कि गर्भाधान-संस्कार में लज्जा मानी जाती है। पति और पत्नीको न माता-पिता सिखलाते हैं, न गुरु। विवाहसे सन्ततिका कोई सम्बन्ध नहीं, उसपर इतना व्यय और इतनी प्रसिद्धि की जाती है पर, गर्भाधान, जिसका सन्ततिसे साक्षात् सम्बन्ध है, उसमें पशुधर्म वर्ता जाता है। गर्भाधान हो जाता है, किसीको पता तक नहीं चलता। अथवा गर्भाधानकी ऊटपटांग क्रिया चलती रहती हैं, ऋतु व्यर्थ जाते हैं पर किसीका उस दिशामें ध्यानभी नहीं जाता। राष्ट्रकी उन्नतिके लिये इस संस्कारको महत्व देना आवश्यक है।

विष्णुर्योनिं कल्पयतु त्वष्टा रूपाणि पिंशतु।
आ सिञ्चतु प्रजापतिर्धाता गर्भं दधातु ते ॥५॥

(विष्णुः) विष्णु देव तेरे (योनिम्) गर्भ-स्थानको (कल्पयतु) शुद्ध करे। (त्वष्टा) त्वष्टा देव गर्भके (रूपाणि) अङ्गोंको (पिंशतु) रूपवान् करे। (प्रजा-पतिः) प्रजापति गर्भ-स्थानको (आ सिञ्चतु) सींचे और उसे गर्भके योग्य करे और (धाता) धाता (ते) तुझमें (गर्भम्) गर्भको (दधातु) स्थिर करे।

गर्भाधानसे पूर्व उत्तम ओषधियोंके प्रयोगसे योनिका शोधन करना चाहिये। फिर कुछ दिनतक व्रतके साथ ऐसा अन्न सेवन करना चाहिये जिससे रेतस् प्रबल और निर्दोष हो जाय जिससे गर्भ सुन्दर और सुडौल बन

सके, अन्धा काला कुबडा न उत्पन्न हो। गर्भाधानके दिन दूध या औषधि-मिश्रित रस पिलाकर गर्भाशयको गर्भस्थापनके योग्य बनाना चाहिये और स्त्रीसे गर्भद्वार की उत्तमरीतीसे शुद्धताभी करा रखनी चाहिये। गर्भाधानके नियमोंसे गर्भ-स्थापनके पश्चात् गर्भ स्थिर करने वाले औषधका सेवन करना चाहिये। ऋषियोंने अपने चरकादि ग्रन्थोंमें इसी मंत्रके आशयको स्पष्ट किया है। लोग इस कर्मको घृणित या पाप समझ कर टाल देते हैं। पशुका बच्चा उत्पन्न होता है तब स्वयं उसको धोते और गन्दगी हटाते हैं पर अपने यहां बच्चा हो तो हाथ लगाना तो दूर उस घरमें पाँवभी नहीं रखते यहाँतक की उस परिवारमें देवी देवताका पूजनभी छूट जाता है। ऐसी अपवित्रता अपनी सन्तति और पत्नीसे ? आश्चर्य है ! स्त्री रजस्वला होती है, गर्भधारण करती है और प्रसूता होती है इसलिए अपवित्र है, ऐसा माननेवाले धन्य हैं !

यद् वेद राजा वरुणो यद् वा देवी सरस्वती ।
यदिन्द्रो वृत्रहा वेद तद् गर्भकरणं पिब ॥६॥

(राजा) राजा (वरुणः) वरुण (यत्) जिस औषधको (वेद) जानता है (वा) अथवा (सरस्वती) सरस्वती, (देवी) देवी (यत्) जिसे जानती है, (वृत्रहा) वृत्रहा (इन्द्रः) इन्द्र (यत्) जिसे (वेद) जानता है; तू (तत्) उस (गर्भकरणम्) गर्भकारक औषधको (पिब) पी।

वरुण, इन्द्रादि देव गृहस्थ हैं। वरुणकी पत्नी वरुणानी और इन्द्रकी इन्द्राणी है। सरस्वती तो स्वयं गर्भधरित्री है। इन्द्र, वरुण और सरस्वतीको गर्भकारक औषधियोंका पूर्ण ज्ञान है। स्वयं इस उपदेष्टा गृहस्थ और उसकी पत्नी को उसका ज्ञान है तभी तो वह नाम न बताकर केवल संकेत करता है। क्या अच्छा हो, हमारे देशके गृहस्थ सन्ततिशास्त्रमें विचक्षण हों और गर्भ तथा बच्चोंके सुधार का काम अपने हाथमें ले लें। यहाँ तो विवाह न करना देवत्व और विवाह करना महापाप है, फिर वे सन्ततिका सुधार क्यों करने लगे। आश्चर्य देव विवाहित हैं, पुत्र-पुत्री संयुक्त हैं परन्तु भक्त लोग ! उसे पाप गिनते हैं। अध्यात्म-शास्त्रका दुरुपयोग इसे कहते हैं।

गर्भो अस्योषधीनां गर्भो वनस्पतीनाम् ।
गर्भो विश्वस्य भूतस्य सो अग्ने गर्भमेह धाः ॥७॥

हे (अग्ने) अग्ने ! तू (ओषधीनाम्) ओषधियोंका (गर्भः) गर्भ (असि) है, (वनस्पतीनाम्) वनस्पतियों का (गर्भः) गर्भ है, (विश्वस्य) सारे (भूतस्य) भूत पदार्थोंका (गर्भः) गर्भ है, (सः) वह तू (इह) स्त्रीमें (गर्भम्) गर्भको (आ धाः) स्थिर कर।

ओषधि और वनस्पतिमें भेद है-

उद्भिज्जाः स्थावराः सर्वे बीजकाण्डप्ररोहिणः ।
ओषध्यः फलपाकान्ता बहुपुष्पफलोपगाः ॥ मनु० १।४६
अपुष्पाः फलवन्तो ये ते वनस्पतयः स्मृताः ।
पुष्पिणः फलिनश्चैव वृक्षास्तूभयतः स्मृताः॥ मनु० १।४७

बीज और काण्डसे उगनेवाले सारे स्थावर उद्भिज्ज कहलाते हैं। जिनमें बहुत फूल और फल लगें और फल पकनेके पश्चात् जीवनका अन्त हो जाय ऐसे स्थावर ओषधि कहलाते हैं ॥४६॥ जिनमें फूल नहीं होता, केवल फल होता है वे वनस्पति कहलाते हैं जैसे गूलर आदि। जिनमें फूल और फल दोनों होते हैं, जिनका जीवनभी चिरकालतक स्थिर रहता है वे वृक्ष कहलाते हैं ॥४७॥ परन्तु साधारणतया सब वृक्षों और घासतकको वनस्पति कहते हैं।

अग्नि ओषधि और वनस्पतियोंमें गर्भ बना हुआ है। यही नहीं, वह तो सारे विश्वका गर्भ है। अग्नि सब पदार्थोंमें गुप्त रहकर अपना कार्य कर रहा है। वह गर्भ के समान सबमें छिपा है और दो अरणी या पत्थरके रगडने से गर्भके समान बडे रूपमें, उससे बाहर आता है। तब उसका सुन्दर, सतेज रूप दिखाई देता है। अग्नि गर्भका सुन्दर दृष्टान्त है। वेदमें अन्यत्र कहा गया है-

अरण्योर्निहितो जातवेदा गर्भ इव सुधितो गर्भिणीषु॥
(ऋ० ३।२९।२)

जैसे गर्भ गर्भिणीमें भलीभाँति स्थापित रहता है उसी प्रकार अग्नि अरणियों (दोनों काष्ठों) में निहित है। अग्नि काष्ठमें छिपा रहता है तभी तो रगडनेपर उसमेंसे प्रकट होता है। वह अग्नि सब पदार्थोंको शक्ति और जीवन देता है। यदि हमारे शरीरमें जल तत्व अधिक हो जाय

तो अनेक रोग हो जायेंगे। अन्नके न पचनेसे शरीरमें धातु, मांस और हड्डी ये नहीं बनेंगे। तब शरीर कैसे बडा होगा! अग्निही गर्भको कठिन करता और रस ला लाकर उसे प्रति-दिन मोटा और बडा करता है। गार्भिणी स्त्री कोई ऐसा आहार न करे जिससे गर्भका अग्नि मन्द पड जाय; किन्तु सदा बलवर्धक, अग्निको प्रदीप्त करनेवाला आहार और व्यवहार करे।

अधि स्कन्द वीरयस्व गर्भमा धेहि योन्याम्।
वृषासि वृष्ण्यावन् प्रजायै त्वा नयामसि ॥८॥

तू (अधि स्कन्द) समीप जा। अपनी शक्तिको (वीरयस्व) वेगसे बढा और इस स्त्रीके (योन्याम्) गर्भ-स्थान में (गर्भम्) गर्भ (आ धेहि) स्थापित कर। (वृष्ण्यावन्) गर्भ-स्थापनके योग्य पुरुष! तू (वृषा) गर्भ स्थापन करनेमें समर्थ (असि) है, अतः (प्रजायै) प्रजा-प्राप्तिके लिये (त्वा) तुझे इस स्त्रीके पास (नयामसि) भेजते हैं।

देशमें ऐसी संस्थाएं हों, जो विवाहके योग्य और अयोग्य स्त्री-पुरुषोंका विवरण अपने पास रखें। जो पुरुष सन्तान उत्पन्न कर सकते हैं उनको वैसीही स्त्रीके साथ विवाहे। जो सन्तान नहीं उत्पन्न कर सकते उनका विवाह बन्ध्या स्त्रियोंके साथ करें। वे ऐसी योजना बनायें जिससे सन्तान उत्पन्न करनेके अयोग्य स्त्री-पुरुषभी योग्य बन सकें। अविवाहित तो किसीको न रहने दें जिससे देशमें व्यभिचार न होने पाये। राष्ट्रकी प्रजा बढानेके लिये ऐसा प्रबन्ध होनाही चाहिये। ब्रह्मचारी, वानप्रस्थ और संन्यासियोंसेभी, जो सन्तानके योग्य हों और राष्ट्रको आवश्यकता हो, तो प्रजाके लिये नियुक्त करें। जो उन आश्रमोंके धर्म न पालते हों और मान अथवा दिखावेके लिये उन आश्रमोंमें हों उनको दण्ड देकर प्रजाकी वृद्धि में लगायें। जो अप्रतिष्ठाके भयसे उन आश्रमोंको न छोडना चाहें, उनको प्रतिष्ठा देकर गृहस्थमें लावें। जिनके पास धन नहीं, उन्हें धनकी सहायता पहुँचाकर इस प्रजा-वर्धनके कार्यमें लगावें। प्रजाही राष्ट्रकी सम्पत्ति है। प्रजाके नाशसे राष्ट्रका नाश होता है।

वि जिहीष्व बार्हत्सामे गर्भस्ते योनिमा शयाम्।
अदुष्टे देवाः पुत्रं सोमपा उभयाविनम् ॥९॥

हे (बार्हत्सामे) बृहत् सामके समान श्रेष्ठ स्त्रि! तू अपने गर्भ-द्वारको (वि जिहीष्व) फैला, जिससे (गर्भः) गर्भ (ते) तेरे (योनिम्) गर्भस्थानमें (आ शयाम्) शयनकर के, अपना पूरा मास बिता ले। तब सुखपूर्वक बाहर आये। हे स्त्रि! (सोम-पाः) सोम पीनेवाले (देवाः) देवोंने (ते) तुझे यह (उभयाविनम्) माता-पिताका सॉझा (पुत्रम्) पुत्र (अदुः) दिया है।

बालक माताके पेटमें गर्भ कहलाता है और बाहर आनेपर पुत्र। यहां गर्भ और पुत्र दोनों प्रकारोंका वर्णन है। गर्भ योनिमें सोया था। स्त्रीने गर्भ-द्वार फैलाया और गर्भ पुत्रके रूपमें प्रकट हुआ। यह पुत्र देवोंसे मिला है। माता और पिता दोनोंका है। यह साँझी सम्पत्ति है। पिता उसे मातासे छीन नहीं सकता। माता उसे पितासे वियुक्त नहीं कर सकती। देवोंने गर्भ स्थिर किया और आज पुत्र उत्पन्न होनेपर उसे माता-पिताके अधीन किया है। इस पर जितना माता-पिताका अधिकार है, उतनाही देवोंका भी। पुत्र राष्ट्रकी सम्पत्ति है। चाहे पुत्र हो या पुत्री, दोनों राष्ट्रकी शोभा और सम्पत्ति हैं। माता पिता पुत्रके जन्मसे सुखी और पुत्रीके जन्मसे दुःखी होते हैं; इस कारण कि पुत्र अपने घर रहता है, पुत्री दूसरे घर चली जाती है। उन्हें क्या पता कि ये राष्ट्रकी सम्पत्ति हैं और सदा स्वराष्ट्रमेंही रहेंगे। आगे येही राष्ट्ररक्षक वीरोंको जन्म देंगे। इसमें केवल माता-पिताकाही अपराध नहीं, राष्ट्रकाभी है। राष्ट्रके नेताओंने गर्भ-स्थापनके समय कोई सहयोग नहीं दिया, पुत्रके जन्मपरभी घरकी ओर नहीं देखा। रह गये माता-पिता, वे ही पुत्रको उत्पन्न करनेवाले और वे ही उसके स्वामी, फिर वे क्यों न अपने स्वार्थकी ओर देखें परन्तु देवोंने जो व्यवस्था बनायी है, वे उसपरभी तो ध्यान नहीं देते। स्वार्थके निमित्त सन्तान हो, परन्तु ये तो स्वार्थभी नहीं जानते। जो पिता पुत्रीको घरमें नहीं चाहता, उसके पालनपोषणको भार समझता है, उसने स्वयं दूसरेकी पाली-पोषी कन्या ली है। वह उसके ऊपर ऋण है। उसने मूल्य देकर कन्या नहीं ली। इस ऋणको चुकानेका एक-मात्र साधन अपनी पुत्रीको पालपोषकर समाजको अर्पण करना है। राष्ट्र और समाज हमारे देव हैं। इनसे हमारा जीवन सुरक्षित है, इसलिये नाना उपायोंसे इनकी सेवाभी हमारा परमधर्म है।

धातः श्रेष्ठेन रूपेणास्या नार्या गवीन्योः ।
पुमांसं पुत्रमा धेहि दशमे मासि सूतवे ॥१०॥
त्वष्टः श्रेष्ठेन रूपेणास्या नार्या गवीन्योः ।
पुमांसं पुत्रमा धेहि दशमे मासि सूतवे ॥११॥
सवितः श्रेष्ठेन रूपेणास्या नार्या गवीन्योः ।
पुमांसं पुत्रमा धेहि दशमे मासि सूतवे ॥१२॥
प्रजापते श्रेष्ठेन रूपेणास्या नार्या गवीन्योः ।
पुमांसं पुत्रमा धेहि दशमे मासि सूतवे ॥१३॥

हे (धातः, त्वष्टः, सवितः, प्रजापते) धाता, त्वष्टा, सविता और प्रजापति देव लोगों! (दशमे) दशवें (मासि) मासमें (सूतवे) उत्पन्न होनेके लिये (अस्याः) इस (नार्याः) स्त्रीके (गवीन्योः) गर्भनाडियोंके भीतर (श्रेष्ठेन) उत्तम (रूपेण) रूपसे युक्त (पुमांसम्) वीर (पुत्रम्) पुत्र-पुत्रियाँ (आ धेहि) धारण किया करो ।

देवोंने स्त्रीको पुत्र प्राप्त कराया था। वे सदाही इस स्त्रीको पुत्र देते रहें, यही सबकी इच्छा है। पुत्रके देहकी रचना करनेवाली नाडियाँ नष्ट न हों, उनमें कोई विकार न आये और पहले पुत्रोंके समान दूसरे पुत्रभी बलवान् उत्पन्न होते रहें, एसाही प्रयत्न देवोंको करना है। प्राय: पहले पुत्रोंकी अपेक्षा दूसरे पुत्र निर्बल होते हैं क्योंकि मातापिता अपने स्वास्थ्य और शरीरपर ध्यान नहीं देते। माता-पिताके शरीर शनैःशनैः निर्बल और क्षीण होनेपर पुत्रभी निर्बल और क्षीण उत्पन्न होते हैं। बच्चे गर्भमें पूरे नव-दश मास पके तो दीर्घायु, बलवान् और आकृतिमान् होते हैं परन्तु निर्बल माता-पिताके पुत्र शीघ्र उत्पन्न हो जाते हैं जिससे उन्हें अपने विकासका पूरा अवसर नहीं मिलता।

राष्ट्र, समाज और स्वयं माता-पिताको इस गर्भरक्षाकी ओर अधिक ध्यान देना चाहिये।

बालक

(ऋ० ५।७८।७-९)

सप्तवध्रिः आत्रेयः । अश्विनौ (गर्भस्राविण्युपनिषत्) ।

यथा वातः पुष्करिणीं समिङ्गयति सर्वतः ।
एवा ते गर्भ एजतु निरैतु दशमास्यः ॥७॥

(यथा) जिस प्रकार (वातः) वायु (पुष्करिणीम्) तालाबके जलको (सर्वतः) सब ओर (सं इंगयति) हिलाता है, (ते) तेरा (गर्भः) गर्भ (एव) इसी प्रकार (एजतु) अपने स्थानसे हिले और (दश-मास्यः) पूरे दशमासका होकर (निःऐतु) बाहर आये ।

वायु चलनेसे तालाबका पानी हिलता है और वायु न चलनेपर स्थिर शान्त रहता है। गर्भ बाहर आयेगा, इसका परिचय गर्भके हिलनेसे मिलता है। वायुही गर्भको हिलाता और अन्तमें वही उसे बाहर फेंकता है। जब गर्भ कुछ हिलने लगे तब सावधान हो जाना चाहिये और इधरउधर आना जाना तथा परिश्रमका कार्य त्याग देना चाहिये। अन्यथा गर्भका अङ्ग-भङ्ग, प्रसवमें कष्ट या प्रसूताको अधिक कष्ट होनेकी सम्भावना है। यदि वायुमें गर्भको बाहर फेंकनेकी शक्ति न हो तो किसी न किसी ओषधिसे, जो गर्भपर प्रभाव न डाले, उसे बल प्राप्त कराना चाहिए।

यथा वातो यथा वनं यथा समुद्र एजति ।
एवा त्वं दशमास्य सहावेहि जरायुणा ॥८॥

हे (दश-मास्य) दशमासको पूरा करनेवाले! (यथा) जिस प्रकार (वातः) वायु हिलता रहता है, (यथा) जैसे (वनम्) वृक्ष हिलता है अथवा (यथा) जैसे (समुद्रः) समुद्रका जल (एजति) हिलता रहता है, (एव) वैसे (त्वम्) तू (जरायुणा) जरायु [झिल्ली] के (सह) साथ (अव इहि) नीचे गिर ।

पेटमें गर्भ जरायुसे लिपटा रहता है। यह जरायु गर्भकी रक्षा करता है और बच्चेको बाहर आनेमें सहायता करता है। यह बच्चेकी रक्षा करता हुआ बाहर आकर फट जाता है। जब बालक उत्पन्न हो, तब यह जरायु उसके शरीरसे हटा देना चाहिये और यदि उसका कुछ भाग माताके पेटमें रह गया हो तो उसे बाहर निकालकर पेटको स्वच्छ, शुद्धकर देना चाहिये। मन्त्रमें इसीलिये बालकके साथ जरायुके बाहर निकलनेकी बातभी कही गई है। यह गर्भके लिये हितकर और गर्भ बाहर आनेके अनन्तर हानिकारक है। यह कार्य किसी विदुषी स्त्रीसे कराना चाहिये। इसके बाहर करनेके लिये किसी मृदु ओषधिकाभी प्रयोग कर सकते हैं। यहाँ बच्चेको दशमास्य कहकर सम्बोधित किया है, उसका अर्थ यही है

कि उसमें चेतनता है, वह सुख-दुःखका अनुभव कर सकता है। वह सुनता है, पर शब्दका भाव नहीं समझता। अब उसे सर्दी-गर्मीसे बचाना चाहिये। उसके कानमें ऊँचे स्वरसे बोलनाभी चाहिये, जिससे उसमें गति उत्पन्न हो, वह कुछ रोवे या हँसे।

दश मासाञ्छशयानः कुमारो अधि मातरि।
निरैतु जीवो अक्षतो जीवो जीवन्त्या अधि ॥९॥

(मातरि अधि) माताके गर्भमें [उदरमें] (दश) दश (मासान्) मासोंतक (शशयानः) सो चुकनेवाला यह (जीव) जीवनयुक्त (कुमारः) बालक (जीवः) जीता हुआही (जीवन्त्या अधि) जीवित मातासे (निः ऐतु) उत्पन्न हो।

प्रसवके समय बालक या माताका जीवन समाप्त हो जाता है। किसी किसी माताका बालक मरा हुआ उत्पन्न होता है, ऐसा नहीं चाहिये। किसीका उत्पन्न होकर मर जाता है। कहींपर प्रसवसमय माता मर जाती है और कहीं दोनोंका एक साथही अन्त हो जाता है। यह अच्छा नहीं है। दोनोंका जीवन सुरक्षित रहना चाहिये। राष्ट्रके वैद्य लोग इस ओर सदा ध्यान देते रहें तो यह मृत्यु-संख्या घट सकती है। गृहस्थको सन्तान बहुत प्रिय है वह तो उसके देहसे उत्पन्न हुआ उसका अङ्गही है परन्तु वह इतना असमर्थ है कि रक्षाका समुचित साधन नहीं जुटा सकता इसलिए उसे राष्ट्रकी सहायता लेनी पडती है। यदि राष्ट्र शत्रुसे उलझा हुआ हो तो समाजको ही इस पर ध्यान देना चाहिये। बालक और माताके जीवनकी रक्षा बहुत पुण्यका कार्य है, इसीलिये गृहस्थ ऐसी आशा या संकल्प मनमें बनाता है जो इस मंत्रमें वर्णित है। अर्थात् पुत्र और पत्नीसे उसका जीवन सुखमय होता है। पुत्र उत्पन्न होकर मर जाय तो उसके उत्पन्न करनेकी कोई आवश्यकता नहीं। यदि पुत्रकी उत्पत्तिसे पत्नीका नाश हो जाय तो पुत्रकी रक्षा आदि कौन करे? और उसे पत्नी से प्राप्त होनेवाला सुख न मिले। अतः गृहस्थकी इच्छाके अनुसारही राष्ट्र और समाज कार्य करे।

इमं स्तनमूर्जस्वन्तं धयापां प्रपीनमग्ने सरिरस्य मध्ये।
उत्सं जुषस्व मधुमन्तमर्वन्त्समुद्रियं सदनमाविशस्व॥
यजु० १७ ८७॥

हे (अग्ने) अग्ने! (सरिरस्य) जलके (मध्ये) बीच रहकर तू (अपाम्) जलोंके (प्र-पीनम्) मोटे, दूधसे भरे (ऊर्जस्वन्तम्) बलदायक (इमम्) इस (स्तनम्) स्तनको (धय) पी। हे (अर्वन्) चलनेमें चतुर अग्ने! इस (मधु-मन्तम्) मधुसे भरे (उत्सम्) कूएँ, स्तनका (जुषस्व) सेवन कर और इस (समुद्रियम्) समुद्रके (सदनम्) घरमें (आ विशस्व) बैठ।

आप् शब्द स्त्रीलिङ्ग है। 'आप्' मातायें कही गई हैं। अग्नि उनका पुत्र है, इसीलिये वेद अग्निको 'अपां नपात्' जलका पुत्र कहता है। आप् मातायें हैं। वे अग्निरूप बालकको स्तनसे दूध पिलाती हैं। उनका स्तन बहुत मोटा है। इसका अर्थ यह कि वह दूधसे पूरा भरा हुआ है। स्तन दूधकी अधिकतासेही मोटा होता है, किसीको रोग हो या शरीरकी स्थूलतासे मोटा होना दूसरी बात है। वह दूधसे भराही नहीं, ऊर्ज=बलदायक भी है। जो बालक इस स्तनका दूध पीता है वह बहुत बलिष्ठ हो जाता है। कोई शत्रु उसे दबा नहीं सकता। यह स्तन मधुर-रसका मानो कूँआँ है। कूएँमें जलकी कमी नहीं होती जितना निकालते हैं उतना पूरा होता जाता है। स्तनके कूएँको बच्चा पीता जाता है और माता के शरीररूप पृथिवीसे उसमें दूध स्रवता जाता है।

बालकका पोषण दूधसे होता है। यह दूध माताके स्तनसे प्राप्त होता है। इस स्तनमें दूध अधिक होना चाहिये। स्तन दूधसे भरा हो तो मोटा होता है, कडा होता है। जब बच्चा दूध पी लेता है तब वह ढीला पड जाता है। दूधसे स्तन भरा पडा हो तो माताको दूध पिलानेमें आनन्द होता है। दूध कम हो तो बच्चा उसे बल लगाकर चूसता है। दूध न मिलनेपर रोता है। दूध न होनेके कारण चूसनेपर माताकोभी कष्ट होता है। जब माताके स्तनमें दूध न हो या कम हो तो उसके लिए औषधोपचार करना चाहिये। ऐसा भोजन देना चाहिये जिससे उसके शरीरमें शक्ति आये और दूध बढे। दूधमें शक्ति लानाभी आवश्यक है। दूधमें सार या शक्ति न हो तो बच्चेका बल नहीं बढेगा और उसकी वृद्धि रुक जायेगी। जैसे खेती सींचनेके लिए कूएं और तालाब जलसे भरे रहने चाहिये वैसे बालकका शरीर सींचनेके

लिये स्तन दूध से भरा रहना चाहिये। वेदने यहां अग्नि और जलके वर्णनसे बालक और माताका सम्बन्ध तथा माताके स्वाभाविक, उत्तम स्वास्थ्यका वर्णन कर दिया है। वैदिक-धर्मी ऐसा सुन्दर जीवन चाहता है।

यस्ते स्तनः शशयो यो मयोभूर्यो रत्नधा वसुविद् यः सुदत्रः। येन विश्वा पुष्यसि वार्याणि सरस्वति तमिह धातवेऽकः। उर्वन्तरिक्षमन्वेमि (य० ३८।५)

हे (सरस्वति) सरस्वति देवि! (यः) जो (ते) तेरा (स्तनः) स्तन (शशयः) छील-छाल कर सुन्दर सुडौल बनाया हुआ अथवा जिसे अभी किसी बच्चेने मुँह नहीं लगाया ऐसा नया है, (यः) जो (मयः-भूः) सुख से युक्त, (यः) जो (रत्न-धाः) रत्नका धारण करानेवाला (वसु-विद) धन-दाता और (यः) जो (सु-दत्रः) श्रेष्ठ दानसे युक्त है। (येन) जिस स्तनसे तू (विश्वा) सारे (वार्याणि) धनोंको (पुष्यसि) पुष्ट करती है, तू (तम्) उसे (इह) यहां हमारे (धातवे) पीनेके लिये (अकः) कर। मैं (उरु) विस्तृत (अन्तरिक्षम्) आकाशकी (अनु) ओर (एमि) जाता हूँ।

सरस्वती एक देवी है। उसका स्तन संसारका पालन करता है। जो उसका स्तन पीना जानता है, वह धनधान्य से पूर्ण हो जाता है। वेदवित् उसे वाणी कहते हैं।

माताका स्तन विश्वके समस्त ऐश्वर्यको पुष्ट नहीं करता तथापि बालकको अवश्य पुष्ट करता है। विश्व वार्य (सुंदर नन्हें बच्चे) उसीसे पुष्टि पाते हैं। माता अपना पुष्टिकर दूधसे भरा स्तन पीनेको बच्चेके मुखमें देती है। कितने प्रेमसे देती है, यह दिखानेके लिये ही, इसे उपमान बनाया गया है। " जैसे माता बालकको पीनेके लिये अपना, दूध से भरा स्तन, समीप कर देती है; प्रेमसे बालकके शिर पर हाथ फेरती और बालको सँवारती हुई दूध पिलाती है, हे सरस्वति! अपना रत्नधा स्तन वैसे ही मेरे आगे कर। मैं उसे पी कर बहुत ऊँचा (उरु अन्तरिक्षं) चढ जाऊँगा।"

बालक माताका मधुर स्तन पीता हुआ बढता चला जाता है। जब वह कुछ बडा हो जाता है, तब वह उछलता, कूदता, हाथ-पाँव मारता और मुस्कराता है। यह उसकी क्रीडा है। बालकोंकी क्रीडा (खेल) प्रसिद्ध है। इस जीवनमें उनसे और क्या हो सकता है? उसका वर्णन देखिये।

शिशु-क्रीडा

पूर्वापरं चरतो माययैतौ शिशू क्रीळन्तौ परि यातो अध्वरम्। विश्वान्यन्यो भुवनाभिचष्ट ऋतूँरन्यो विदधज्जायते पुनः॥ (ऋ० १०।८५।१८)

(एतौ) ये दोनों (मायया) बुद्धिसे (पूर्व-अपरम्) एकके पश्चात् दूसरा (चरतः) चलते हैं। ये दोनों (शिशू) बालक (क्रीडन्तौ) खेलते हुए (अध्वरम्) यज्ञकी (परि) ओर (यातः) जाते हैं। उनमेंसे (अन्यः) एक (विश्वानि) सारे (भुवना) भुवनोंको (अभि-चष्टे) देखता है और (अन्य) दूसरा (ऋतून्) ऋतुओंको (विदधत्) बनाता हुआ (पुनः) फिर (जायते) उत्पन्न होता है।

सूर्य और चन्द्रमा ये दो शिशु खेल रहे हैं। जैसे बच्चे पँक्ति बनाकर एकके पीछे दूसरा चलते हैं वैसे ये भी चल रहे हैं। ये इस प्रकार खेलते हुए प्रतिदिन यज्ञमें जाते हैं। जैसे बच्चे कभी छिप जाते और कभी सम्मुख आ जाते हैं वैसे सूर्य और चन्द्र भी बारी-बारीसे उगते और अस्त होते रहते हैं। यह इन दोनों बच्चोंका कैसा सुन्दर खेल है!

क्रीडासे आनन्द

इहैव स्तं मा वि यौष्टं विश्वमायुर्व्यश्नुतम्।
क्रीळन्तौ पुत्रैर्नप्तृभिर्मोदमानौ स्वे गृहे॥
(ऋ० १०।८५।४२)

हे दम्पती! (इह एव) इस घरमें ही (स्तम्) रहो। एक दूसरेसे (मा यौष्टम्) वियुक्त मत हो। (स्वे) अपने इस (गृहे) घरमें (पुत्रैः) पुत्र और (नप्तृभिः) नातियों के साथ (क्रीडन्तौ) खेलते हुए (मोदमानौ) आनन्दसे (विश्वम्) सारा (आयुः) जीवन (वि अश्नुतम्) भोगो। बिताओ।

बालक स्वभावके कारण खेलते हैं परन्तु उनका यह खेल दूसरोंके सुखका साधन बन जाता है। उन बच्चोंके साथ माता पिता और घरके अन्य बडे-बूढे भी खेलते हैं। बच्चों के साथ खेलना कम आनन्दकी बात नहीं है। उनके साथ खेल कर मनुष्य सारा जीवन बिता सकता है। उनके साथ

खेलनेसे जी ऊबता नहीं अपितु आनन्द बढता जाता है। घरमें बालकोंका अभाव भी तो नहीं होता। एक बच्चा बडा हुआ कि दूसरा उसका स्थान ले लेता है। अपने बच्चे बडे हुए कि पुत्रोंके पुत्र हो जाते हैं। यदि आयु ज्यादा लम्बा हुआ तो पुत्रके पुत्रोंके भी पुत्र हो जाते हैं। सारांश यह कि भाग्यवान्के घरमें पूर्ण आयु पर्यन्त खेलनेके लिये बच्चों का अभाव नहीं होता। प्रकृतिने शिशु-क्रीडामें आनन्द रखा है, तो वह शिशुओंका अभाव कैसे होने देगी? पुत्रका पुत्र न हुआ तो पुत्रीके पुत्रसे खेलता है। अपना पुत्र नहीं रहा तो दूसरे बच्चोंसे खेलता है। अर्थ यह कि बच्चे खेलते हैं और स्वयं दूसरोंका खिलौना बन जाते हैं। परमेश्वरने समाज निर्माणका कैसा आकर्षक साधन रचा है! माता-पिता बच्चेपर लट्टू हैं। वे उसे एक क्षणके लिये भी छोडना नहीं चाहते। उसके सुखके लिये कठिन परिश्रम करते हैं। सुख, स्वातंत्र्य और शरीर तक बेच देते हैं। बच्चे उन्हें क्या देते हैं, केवल एक मधुर हँसी। बस इसीसे एक परिवारकी, एक समाजकी सृष्टि होती है। इसीसे जीवन बनता है।

आज विवाहकी संस्था तोड दीजिये, परिवारको छिन्न भिन्न कर दीजिये। कल देखिये, दो प्रेमी बाते करने मिलेंगे। वे एक दूसरेके साथ रहना चाहते हैं। एक ही दिन नहीं, बहुत दिनों तक, नहीं नहीं जीवन-भर का प्रोग्राम निश्चित हुआ है। जीवनका अन्त होना चाहता है, अच्छा हो जाय दूसरे जन्ममें पुनः मिलेंगे और एक होकर रहेंगे। समाज कहता है कि तुम एक स्थानमें नहीं रह सकते। तुम्हें पृथक् ही रहना होगा। वे जीवन की बलि अर्पित करते हैं प्रेमके ऊपर, एक होनेके लिये। माँगिये किसी बच्चे को, किसी स्नेही माँ-बापसे। वह नहीं देता, 'लाख रुपये लो!' वह नहीं देता। बच्चेका मूल्य करोडोंसे भी अधिक है। वेदने कहा—तुम अपने बच्चोंके साथ, अपने परिवारमें सारे जीवन रहो। आनन्दसे रहो। खेलो, बच्चोंकी क्रीडा का आनन्द लूटो। कुछ लोग विवाह-संस्था को तोडना चाहते हैं।

'स्त्री-पुरुष एकके ही साथ क्यों बँधे रहें? वे घूम सकते हैं। घूमकर चर सकते हैं, स्वतंत्र खा पी सकते हैं। बच्चे होंगे, बच्चे होंगे ही क्यों? सन्तति-निग्रह का प्रयोग करेंगे। यदि बच्चे हो ही गये तो पलते रहेंगे या शासन उनका प्रबन्ध करेगा। हम क्यों परिवार बनाये और एकके बन्धनमें बँधे रहें।' ऐसा कहते हैं, पर उनका व्यवहार भिन्न होता है। वे प्रेमी ढूँढते हैं, उसके साथ मिलकर दो घडी बाते करना चाहते हैं। बस इसीका नाम परिवार है। कोई तो घडी प्रेम करता है, कोई जीवन भर। एकमें उच्छृंखलता है, अस्थिरता है और साथ है कृतघ्नता। दूसरेमें नियम है, शांति और सन्तोष है और साथमें है कृतज्ञता। मनुष्य पशु नहीं है, वह स्थिर शांति चाहता है; अतः विवाहके बन्धनमें बँध जाता है। बच्चोंको मारता नहीं, उनसे प्रेम करता है और उनके संगसे मानसिक आनन्द अनुभव करता है।

विद्यार्थी

१-४ अथर्व। वाचस्पतिः। (मेधाजननम्। अथ० १।१
ये त्रिषप्ताः परियन्ति विश्वा रूपाणि बिभ्रत।
वाचस्पतिर्बला तेषां तन्वो अद्य दधातु मे ॥ १ ॥

(ये) जो (त्रि-सप्ताः) इक्कीस देव (विश्वा) सारे (रूपाणि) रूपोंको (बिभ्रतः) धारण करते हुए (परियन्ति) घूमरहे हैं, (वाचस्-पतिः) वाणीका स्वामी (अद्य) आज ही (मे) मेरे (तन्वः) शरीरमें (तेषाम्) उनके (बला) बल (दधातु) स्थापित करे।

हमारा शरीर पाँच सूक्ष्म भूत, एकादश इन्द्रिय और पाँच महाभूतोंसे मिलकर बना है। ये ही सारे शरीरोंको धारणकर, सबमें विचर रहे हैं। वाचस्पति हमारे शरीरमें इनको अधिक बलवान् करे।

छोटा बच्चा धीरे-धीरे अपने अंग और इन्द्रियका विकास करता है। मस्तिष्कका विकास होकर उसमें धारण करने और समझनेकी शक्ति आती है। वह प्रत्येक पदार्थपर ध्यान देता है। सुने हुएको धारण करता और वैसा बोलने का अभ्यास करता है। तब कुछ-कुछ बोलने लगता है और अपनी बोलीमें प्रत्येक पदार्थकी जिज्ञासा करता है। जिज्ञासा = जानने की इच्छा, उसमें, बालपनमें ही उत्पन्न होती है और वह एक प्रकारसे विद्या + अर्थी (ज्ञान प्राप्ति की इच्छावाला) बन जाता है। जिज्ञासुको ज्ञान कराना ही चाहिये इसलिये माता-पिता उसे पूर्ण ज्ञान करानेके लिये गुरुके पास भेज देते हैं। यह गुरु वाचस्पति बनकर उसमें

ज्ञान और बल भरता है।

पुनरेहि वाचस्पते देवेन मनसा सह।
वसोष्पते नि रमय मय्येवास्तु मयि श्रुतम् ॥२॥

हे (वाचः पते) वाणीके स्वामी ! तू (पुनः) फिर (देवेन) देव (मनसा) मनके (सह) साथ (एहि) आ। हे (वसोः पते) धनके स्वामी ! तू मुझे (नि रमय) आनन्दित कर। (मयि) मुझमें (श्रुतम्) सुना हुआ ज्ञान (मयि एव) मुझमें ही (अस्तु) रहे।

विद्यार्थी गुरुके साथ रहे तो उसका ज्ञान भूलता नहीं। गुरु वार-वार बताता और उसके मनमें नवीन संस्कार भरता रहता है। मन देव है, उसमें प्रकाश रहता है, परंतु वह स्थायी नहीं है। ज्ञानका प्रकाश नष्ट हो जाता और सीखा हुआ भूल जाता है। इसलिये मनको किसी प्रकाशककी आवश्यकता रहती है। वाचस्पति उसके मनका प्रकाशक है। वह धन का भी स्वामी है। गुरुके पास धन भी है जिससे विद्यार्थीको पेटकी चिन्तासे मुक्त रखता है। गुरुके पास धन कहाँसे आया ? लोगोंने उसे अपना धन समर्पित किया है, विद्यार्थी लोगोंके घर जाता और यथेच्छ आवश्यक धन उठा लाता है। वह निश्चिन्त होकर पढता है, इसलिये सुननेसे, उसमें जो ज्ञान भरा है, उसके भीतर ही रहता है। प्रायः भूखसे चिन्तित को विद्या नहीं आती। पढा हुआ ज्ञान भूल जाता है।

इहैवाभि वि तनूभे आर्त्नी इव ज्यया।
वाचस्पतिर्नि यच्छतु मय्येवास्तु मयि श्रुतम् ॥ ३ ॥

धनुषकी (ज्यया) डोरीसे, धनुषके (उभे) दोनों (आर्त्नी) छोरोंके (इव) समान उस ज्ञानको तू (इह-एव) यहाँ ही (अभि वि तनु) फैला। (वाचः पतिः) वाणीका स्वामी उस ज्ञानका (नि यच्छतु) नियमन करे, जिससे (मयि) मुझमें (श्रुतम्) सुना हुआ ज्ञान (मयि एव) मुझमें ही (अस्तु) रहे।

धनुषकी डोरीसे उसके दोनों छोरोंके खींच रखते हैं, जिससे वह एक सीमामें फैला रहे। डोरी न लगानेपर वह फैला रहता है पर वह किसी कामका नहीं रहता। डोरी लगाने पर वह बाणको दूर तक फेंकता है। सुना हुआ ज्ञान यदि धारण न किया गया और उसपर विचार भी न किया गया तो वह बिना डोरीके धनुषके समान होता है। इधर-उधर बिखरा रहता है उसमें कार्य करनेकी शक्ति भी नहीं होती। जब श्रुतको धारण कर लेते हैं, उस पर वार-वार विचार कर उसे कस लेते हैं तब वह ज्ञान अधिकृत हो जाता है, वशमें आ जाता है। प्रत्येक विद्यार्थी, जो सचमुच विद्यार्थी है, अपने पाठको पचा जाना चाहता है, उसे अपना बना लेना चाहता है। ऐसा विद्यार्थी श्रेष्ठ है। उस का श्रुत उसे छोडता नहीं, उसके हृदयसे बाहर नहीं जाता। विद्यार्थीको माता-पिता और आचार्य पढनेकी ओर प्रेरित करते हैं। उसका मन डोरीके धनुषके समान स्वतंत्र निर्बन्ध रहना चाहता है। ये डोरी लगा कर बाँधते हैं। प्रेमसे, दण्डसे, लोभसे, समझा कर। जिस उपायसे उसका मन जकडा जा सकता है, जकडते हैं। जैसे धनुषका दण्ड कभी कभी रस्सी को तोड देता है, वैसे विद्यार्थी भी इन बन्धनोंसे रुष्ट होता है। कभी-कभी आज्ञा का उल्लंघन कर जाता है, बात काट जाता है, प्रेम तोड जाता है। पर उसे बाँधना पडता है। इस बन्धनसे ही वह बलवान् बनेगा। कामके योग्य बनेगा। संसारके कर्मक्षेत्रमें काम दिखायेगा और अन्तमें नाम पायेगा। विद्यार्थी विद्याका उपार्जन केवल अपने लिये नहीं कर रहा उसमें औरोंका लाभ है, लोकका कल्याण है।

उपहूतो वाचस्पतिरुपास्मान् वाचस्पतिर्ह्वयताम्।
सं श्रुतेन गमेमहि मा श्रुतेन वि राधिषि ॥ ४ ॥

हमारे द्वारा (वाचः पतिः) वाणीका स्वामी (उप हूतः) पुकारा गया है। वह (वाचः पतिः) वाणीका स्वामी (अस्मान्) हमें अपने (उप) समीप (ह्वयताम्) बुलाये, हमें अपना बना ले। हम (श्रुतेन) सुने हुए ज्ञानसे (सं गमेमहि) संयुक्त हों, उस (श्रुतेन) सुने हुए ज्ञानसे (मा वि राधिषि) वियुक्त न हों।

जब विद्यार्थी ज्ञानोपार्जन करना चाहता है तब माता पिता आचार्य भी ज्ञान देनेके लिये उपस्थित रहते हैं। वे उसकी प्रत्येक जिज्ञासाका समाधान करते हैं। छोटीसे छोटी और बडीसे बडी बात बतलाते हैं। वे उन बातोंको भी बताते हैं जिनकी, विद्यार्थीको अभी जिज्ञासा भी नहीं उठी। विद्यार्थीने जाननेके लिये उन्हें पुकारा है। वे विद्यार्थीका कल्याण चाहते हैं इसलिये जब कुछ बताना होता है उसे

अपने पास बुला लेते हैं और बताने योग्य सारी बातें बताते हैं। वे कैसे उपकारी हैं। विद्यार्थीने उन्हें पुकारा और उन्होंने उसे अपना बना लिया। विद्यार्थी उस उपकारको स्मरण रखता है और श्रुत ज्ञानके अनुसार ही चलता है विपरीत आचरण नहीं करता। गुरुओंकी आज्ञाके साथ चलता है, उनकी आज्ञाका विरोध नहीं करता। उनके हित की बात सोचता है, कभी निन्दा या विश्वासघात नहीं करता। तब सचमुच उसका श्रुत ज्ञान सफल होता है। अनेक विद्यार्थी पुस्तक पाठी होते हैं। वे पढनेपर भी पाठ का रहस्य नहीं समझ पाते। कई एक पढते और समझते हुए भी कुकर्मों-कुरीतियोंको नहीं छोडते। इनका पढना व्यर्थ गया, ऐसा समझना चाहिये। कई विद्यार्थी कुछ पढ कर अभिमानी बन जाते हैं। ' मुझे अच्छा आता है। मैं अपनी श्रेणीमें सबसे अच्छा हूँ' ऐसा मानकर परिश्रम करना छोड देते हैं, तब विद्या भी उन्हें छोड जाती है। कई कुछ पढ लिखकर गुरुओंका निरादर करते हैं, सतत उनकी आलोचना करते हैं। ' उन्हें पढाना नहीं आता ' ऐसा कहते फिरते हैं। विद्या ऐसे लोगोंका भी साथ नहीं देती। सच्चा विद्यार्थी विद्याके साथ मिल जाना चाहता है। उसे विद्यासे दूर होना अच्छा नहीं लगता। जिस विद्यार्थीमें विद्यासे संगत होनेकी प्रबल इच्छा होती है, वह विद्याका विरोध नहीं करता। वही अच्छा विद्वान् बनता है। पहले वह गुरुको पुकारता था, इच्छासे पुकारता था। अब गुरु उसे बुलाता है, आदरसे बुलाता है, बैठाता है। सम्मान करता है इसमें अपना गौरव समझता है। तब विद्यार्थीको श्रुतसे संगत होने और विद्यासे विरोध न करनेका सच्चा आनन्द मिलता है।

यह विद्यार्थी-जीवन एक दिन समाप्त होता है और मनुष्य जीवनके दूसरे क्षेत्रमें पदार्पण करने लगता है। उसके शरीरमें परिवर्तन होता है। पुरुष १६ वर्षकी अवस्था और कन्या १२।१३ से परिवर्तनकी दशामें आती है। पुरुषमें दाढी-मूँछके दर्शन और स्त्रीमें रजस्वला होनेका चिह्न उत्पन्न होता है। मनकी भावनायें बदलती हैं और स्त्री-पुरुषमें आकर्षण उत्पन्न होता है। सुसङ्ग या कुसङ्गसे ये भावनाये मन्द या तीव्र होती हैं। यदि बच्चोंको अच्छे संस्कारमें पाला गया तो वे युवावस्थामें भी काम-वासनासे बचे रहते हैं यदि संस्कार अच्छे नहीं हुए तो वे बालपनमें भी बिगड जाते हैं।

विवाहके दो प्रयोजन हैं, पुरुष-स्त्रीके परस्पर आकर्षणसे उत्पन्न सुख और सन्ततिकी उत्पत्ति। जिनके मतमें विषय जन्य सुख हेय है, वे कामको जीवनेका उपदेश करते हैं और विषय-सुखके लिये विवाहको पाप मानते हैं। जिनका मत है कि मनुष्यको जीवनमें आनन्द मिलना चाहिये, यह जीवन केवल वैराग्यसाधनके लिये नहीं है, उनके मतमें जीवनके लिये विवाह अत्यावश्यक है। पहला पक्ष तो ऐसा है जैसे प्यासेको पानी न देकर प्यास पर विजय पानेका उपदेश करना। मनुष्य-जीवनको वेद सुखी देखना चाहता है जैसा नीचेके मंत्रसे ज्ञात होता है—

स्योनाद्योनेरधि बुध्यमानौ हसामुदौ महसा मोदमानौ।
सुगू सुपुत्रौ सुगृहौ तराथो जीवावुषसो विभातीः॥
(अथर्व० १४।२।४३)

(स्योनात्) सुखदायी (योनेः अधि) गृहमें सदा (बुध्यमानौ) जागते रहनेवाले (हसा-मुदौ) हँसी और आनन्दकी बातें करनेवाले (महसा) धनादिसे सदा (मोदमानौ) प्रसन्न, (सु-गू) मीठी-मीठी बात करनेवाले (सुपुत्रौ) उत्तम पुत्रोंवाले और (सु-गृहौ) उत्तम घर-वाले तुम पति-पत्नी (जीवौ) जीवनके साथ (विभातीः) चमकनेवाली अनेक (उषस) उषाओं तक (तराथ.) साथ चलते रहो।

पुरुष-स्त्री परस्पर हास्य-विनोद करते हुए आनन्दसे दीर्घ जीवन लाभ करें। यही इस मन्त्रका भाव है। जो मनुष्य जीवनको आनन्दमय बनाना चाहता है वह विवाहका विरोध नहीं कर सकता। किसीके रोकनेसे पुरुष और स्त्रीका आकर्षण मिट भी नहीं सकता। इतना तो अवश्य होगा कि विवाह रोक देनेपर समाजमें अव्यवस्था फैल जाय। व्यभिचार और भ्रूण-हत्या, गर्भ हत्या और सन्तति-निग्रहका कठोर प्रयत्न प्रचलित हो जाय। अतः मानना पडेगा कि अव्यवस्थाको रोककर सुखमय जीवनके लिये विवाह आवश्यक है। विवाहका दूसरा उद्देश्य सन्तति है। पौराणिक परम्परामें, निःसन्तान मनुष्यकी सद्‌गति नहीं हो सकती, अतः पुत्र उत्पन्न करना आवश्यक है। गृहस्थोंकी दृष्टि दूसरी है। वे वृद्धावस्था और धन सम्भालनेके लिये पुत्र उत्पन्न

*

करते हैं। कई लोग बच्चोंसे खेलना चाहते है, उन्हें बच्चे प्रिय लगते है इसलिये सन्तान उत्पन्न करते हैं। परन्तु कुछ लोग ऐसे हैं जो सन्तान और धनको प्रपञ्च मानते हैं इस लिये वे विवाहके विरोधी हैं। सन्तान और धन मनुष्य जीवनके लिये आवश्यक हैं। जो वैरागी हो जाय, उसकी बात दूसरी है। कितने लोग हैं जो संन्यासी बनकर, गृह और स्त्रीका त्याग करके भी वास्तवमें त्यागी है, संसारको सचमुच असार समझते हैं ?

जब तक अध्यात्मशास्त्रका क्रियात्मक ऊँचा अभ्यास न हो और विषयोंसे सच्ची विरक्ति न हो, पुत्र, स्त्री, धनको प्रपञ्च समझ कर त्याग देना और दूसरोंके पुत्र धनादिपर गृध्र-दृष्टि रखनी, बड़ा पाप है। सन्तति वास्तवमें बहुत बननेके लिये है। जिस प्रकार अन्नका एक बीज खेतमें पड़कर अपने जैसे अनेक अन्नोंको उत्पन्न करता है और बहुत बनने से ही वह हमारे जीवनकी आवश्यकता पूर्ण कर रहा है। वैसे मनुष्य पुत्र द्वारा ही अपनी मनुष्य जातिकी वृद्धि और वंशको सुरक्षित रख रहा है। सन्तति उत्पन्न करना हमारा नहीं, परमेश्वरका कार्य है। पुरुष और स्त्री दो जातियोंको उत्पन्न कर उनके मेलसे बच्चोंकी उत्पत्तिकी व्यवस्था उसने की है। इस मेलको नियमित करनेके लिये हानि और लाभ की दशा रखी है। जो नियमित जीवन रखकर सन्तति उत्पन्न करते है उन्हें अनेक लाभ और जो अनियमित रहते हैं उन्हें अनेक कष्ट सहने पड़ते हैं। शास्त्रको न माने तो भी इस व्यवस्थाको देखकर विवाहकी महत्ता स्वीकार करनी पड़ेगी। वेद जो कि परमेश्वरकी कृति माना जाता है, विवाह के नियमोंका उपदेश करता है। यदि विवाह दुष्कृत्य होता तो वेद निषेध अवश्य करता। जो लोग विवाह न करो, ऐसा उपदेश करते है वे मानो परमेश्वरके कार्य और उद्देश को मिटाना चाहते हैं। वे उसके नियमको तो नहीं तोड़ सकते हाँ, अतृप्त मनुष्योंको दुःखी और समाजको हानि पहुँचाते हैं। जिस प्रकार अन्न इंद्रिय-सुख और शारीरकी पुष्टि दोनों उद्देश्य रखता है उसी प्रकार विवाह परस्परके शरीर-सुख और पुत्र दोनों उद्देश्योंके लिये होता है। इसी लिये महाभारतमें 'रतिपुत्रफला दाराः' अर्थात् 'स्त्री रति और पुत्र इन दो फलोंको प्राप्त कराती है' (विदुरनीति, म० भा० प्रजा० ३। अ० ३९। श्लो० ६७) ऐसा कहा गया है।

विवाह

(ऋ० १०।८५) सूर्या सावित्री। चन्द्रमा-आदयः।

नवो नवो भवति जायमानोऽह्नां केतुरुषसामेत्यग्रम्।
भागं देवेभ्यो वि दधात्यायन् प्र चन्द्रमास्तिरते दीर्घमायुः॥१९

(चन्द्रमाः) चन्द्रमा (जायमानः) प्रकट होता हुआ प्रतिदिन (नवः नवः) नया नया (भवति) होता है। वह (अह्नाम्) दिनोंका (केतुः) माप-दण्ड, (उषसाम्) उषाओंसे (अग्रम्) पहले (एति) चलता है, पहले सबके सम्मुख दिखाई देता है। वह (आयन्) आता हुआ (देवेभ्यः) देवोंके लिये उनका (भागम्) भाग (वि दधाति) बाँटता है और (आयुः) आयुको (दीर्घम्) दीर्घ काल तक (प्र तिरते) बढाता है।

सोम सूर्याका पति बनेगा। इस सूक्तमें सूर्याके विवाह और पतिके घरमें रहनेकी बातें कही गई हैं। सोम सूर्याका पति बनेगा इसलिये स्थान स्थानपर उसका गीत दीख पड़ता है।

दिवि सोमो अधि श्रितः॥
सोमेनादित्या बलिनः सोमेन पृथिवी मही।
अथो नक्षत्राणामेषामुपस्थे सोम आहितः॥ २॥
सोमं मन्यते पपिवान् यत् संपिंषन्त्योषधिम्।
सोमं यं ब्रह्माणो विदुर्न तस्याश्नाति कश्चन॥ ३॥
बार्हतैः सोम रक्षितः॥ ४॥
वायुः सोमस्य रक्षितः॥ ५॥
सोमो वधूयुरभवत्॥ ९॥ (ऋ० १०।८५)

इन मंत्रोंमें सोमकी प्रशंसा की गई है। 'सोमो वधूयुर भवदश्विनास्तामुभा वरा। सूर्यां यत्पत्ये शंसन्तीं मनसा सविताददात्' इस मंत्रमें सोमको पति और सविताको पिता कहा है। अश्विनौ ये वरके साथी बराती है। इस कारण इस सूक्तमें चन्द्रमा और सूर्याका विवाह है यह निश्चित है। सूर्यके किरण चन्द्रमाको प्रकाशित करते हैं। सम्भव है, सूर्यकी वह दीप्ति ही सूर्या हो, जिसे प्राप्तकर चन्द्र पूर्ण बनता है। पत्नीके बिना पति अधूरा और पति बिना पत्नी अपूर्ण है। ये दोनों मिलकर ही पूर्ण बनते हैं जैसे सूर्यकी दीप्ति प्राप्त कर चन्द्रमा। चन्द्रमा उस दीप्तिको अपने घर

वहन करके लाता है इस क्रियाका नाम विवाह है। आज कल पाणिग्रहणको ही विवाह समझते है। यह बात अविद्या के कारण प्रचलित हुई है।

(२) सुकिंशुकं शल्मलिं विश्वरूपं हिरण्यवर्णं सुवृतं सुचक्रम्। आ रोह सूर्ये अमृतस्य लोकं स्योनं पत्ये वहतुं कृणुष्व ॥ २० ॥

हे (सूर्ये) सूर्ये ! (सुकिंशुकम्) पलाशके सुन्दर फूल और (शल्मलिम्) सेमरके लाल चमकीले फूलोंके समान चमकते हुए, (विश्व-रूपं) अनेक रंगोंसे रँगे, (हिरण्य-वर्णम्) सोनेके वर्णवाले, (सु-वृतम्) अच्छे वस्त्रोंसे आच्छादित (सु-चक्रम्) अच्छे चक्रोंवाले (अमृ-तस्य) अमृतके (लोकम्) स्थानपर तू (आ रोह) चढ़ ! इस (पत्ये) पतिके लिये यह (वहतुम्) विवाह (स्यो-नम्) सुखकारी (कृणुष्व) बना।

सूर्या एक सुन्दर रथपर चढ कर एक भव्य भवनमें जायेगी। कन्याको अपने घर ले जानेके लिए वर उसके घर जाता है। कन्याका पिता वरको कन्या देता है। इसका नाम है कन्या-दान। यह क्रिया की जाय या नहीं, परन्तु बिना दिये कन्या नहीं ले जायी जा सकती, अतः अप्रत्यक्ष रूपसे भी कन्या-दान हो ही जाता है। वैदिक-धर्मी पिता जनताके सामने कन्याका हाथ पकडकर वरके हाथमें देता है। यह कन्या-दान

मनसा सवितादात् ॥ ९ ॥

सूर्यायां वहतुः प्रागात् सविता यमवासृजत् ॥ १३ ॥

(ऋ० १०।८५)

इन दो मंत्रोंमें वर्णित है। ' सविताने सूर्याको मनःपूर्वक दान किया और दानके साथ उसके सत्कारकी सामग्री भी दी। ' अब भी हमारे संस्कारोंमें कन्या-दानके साथ गोदान होता है यह सत्कारार्थ होता है। वर और कन्याके सत्कार के लिये जो कुछ दिया जाता है वह प्रेमका धन है। वह बलात् विवश करके नहीं दिया या लिया जा सकता। परंतु आजकल विवाह व्यापार बन गये हैं। लडकियोंकी बिक्री कुछ कम है, परंतु लडकोंकी बिक्री तो भयानक रूप धारण कर गई है। सहस्र-दो सहस्रसे कम पर कोई लडका किसी लडकीसे विवाह करनेको उद्यत नहीं। यह भयानक रोग मूर्खोंमें होता तो दुःखकी बात कम थी परंतु अपनेको शिक्षित, सभ्य और सुधारक माननेवाले लोग ऐसे व्यापार में लगे हुए है, यह देख कर शिर लज्जासे नीचे झुक जाता है। जो प्रेम और सम्मान दो परिवारोंमें होना चाहिये वह इस व्यापारमें नष्ट हो जाता है। ऐसी दशामें इस लेन देन को राज्य नियम द्वारा बन्द कर देना ही श्रेयस्कर है। जब कोई प्रथा सीमाको अतिक्रान्त कर अपराधका रूप धारण कर ले तब उस प्रथाको मिटा देना अनुचित नहीं। ' सूर्यां यत् पत्ये शंसन्तीम् ' सूर्या पतिकी प्रशंसा कर रही थी, उसे हृदयसे चाहती थी, उसने स्वयं सोमको अपना पति बनाया है, ऐसा जानते हुए सविताने सूर्याका दान किया। आज तो झगडे होते हैं। कोई कन्या अपने अनुकूल पति चुन ले तो माता-पिता उसे बुरा भला कहते हैं उसे कामिनी, निर्लज्जा बताते है। जाति-भेद, ऊंच-नीच, धनी-निर्धन इत्यादि कारण दिखाकर उस सम्बन्धको तोड देते हैं और उस कन्याको अपने स्वार्थकी रस्सीमें बांध कर, जहाँ चाहते हैं, लटका देते हैं। वह वहाँ रोती है, चिल्लाती है, प्राण देती है परन्तु कोई सुननेवाला नहीं होता। यही कारण है कि नव युवक और युवतियाँ कन्या-दानके विरुद्ध होती जाती है। माता-पितासे बिना पूछे विवाह हो जाता है। कन्या-दानकी प्रथाको सुरक्षित रखनेके लिये इस स्वार्थ की रस्सीको तोड देना होगा।

(३) उदीर्ष्वातः पतिवती ह्येषा विश्वावसुं नमसा गीर्भिरीळे। अन्यामिच्छ पितृषदं व्यक्तां स ते भागो जनुषा तस्य विद्धि ॥ २१ ॥

हे विश्वावसो ! तू (अतः) यहाँसे (उत् ईर्ष्व) उठ। अब (एषा) यह (पति-वती हि) पतिवाली हो गई है। मैं तुम (विश्व-वसुम्) विश्वावसुकी, (नमसा) आदरके (गीः-भि) वचनोंसे (ईळे) प्रार्थना करता हूँ, तू चला जा। किसी (अन्याम्) दूसरी, (पितृ-सदम्) पिताके घरमें रहनेवाली (वि-अक्ताम्) अविवाहिता कन्या की (इच्छ) इच्छा कर। (सः) वही (ते) तेरा (भागः) भाग है। (जनुषा) जन्मसे ही (तस्य) उस भागपर (विद्धि) तेरा अधिकार है। [तस्य विद्धि उसे जान]

जब तक कन्या पिताके घर होती है, उस पर गन्धर्वका अधिकार होता है। विवाहके पश्चात् उसपर पतिका अधिकार होता है सूर्याके ऊपर प्रथम गन्धर्वका अधिकार

था, सोमके साथ विवाही जानेपर गन्धर्व वहाँसे हट गया। इस मन्त्रमें सोम गन्धर्वसे सूर्याको प्राप्त करता है परन्तु ' सोमो ददद् गन्धर्वाय गन्धर्वो ददद्ग्नये, ऋ० १०।८५।४१ यहाँ सोमने गन्धर्वको दिया है। ' तुभ्यमग्ने पर्यवहन् सूर्यां वहतुना सह ' ऋ० १०।८५।३८ यहाँ गन्धर्वने अग्निको और अग्निने पुन सोमको दिया। यह विरोध क्यों? या तो सोम गन्धर्वको, गन्धर्व अग्निको दे या गन्धर्व अग्निको और अग्नि सोमको दे। सोम प्रथम पति है यह मंत्रान्तरसे स्पष्ट है-

सोमस्य जाया प्रथमं गन्धर्वस्तेपरः पतिः।
तृतीयो अग्निष्टे पतिस्तुरीयस्ते मनुष्यजाः॥
(अथ० १४।२।३)

' हे सूर्ये ! तू प्रथम सोमकी जाया बनी, तेरा दूसरा पति गन्धर्व हुआ, तेरा तीसरा पति अग्नि है और तेरा चौथा मनुष्य-ज है '

कई भ्रान्त लोग इस मन्त्रको मनुष्यके विवाहका पोषक समझते हैं। उनकी यह धारणा मनुष्य शब्दको देखकर बनी है। वेदका मनुष्य या मर्त्य सामान्य प्रजा अर्थमें है। यहाँ मनुष्यका अर्थ देवी प्रजा है। सूर्यकी दीप्ति प्रथम सोम को प्राप्त होती है। ज्यों-ज्यों रात्रि बीतने लगती है त्यों-त्यों गन्धर्वोंका समय आने लगता है। वह दीप्ति गन्धर्वोंसे विवाहित होती है। रात्रिकी समाप्ति पर अग्न्याधानका समय आता है। यह अग्निका समय है, सूर्या इस समय अग्निके पास होती है। अन्तमें सूर्योदय होनेपर यह दीप्ति सबकी बन जाती है। इससे सब चराचरको प्रकाश मिलता है। इस सूक्तकी ऋषिका सूर्या सावित्री हो और विवाह मनुष्योंका कराया जाय यह अच्छी रही!

उपर्युक्त विरोधका एक ही समाधान है और वह यह कि सोम गन्धर्वको और गन्धर्व अग्निको देता है। अग्नि उसे सारे संसारको सौंप देता है। रात्रिके समय अग्नि पुनः उसे सोमके अधीन करता है। यह विषय अत्यंत विचारणीय है। हो सकता है, इन मंत्रोंका कुछ और भी आशय हो।

यदि इस मंत्रको मनुष्यकी दृष्टिसे देखा जाय तो यह सिद्ध होता है कि एक स्त्रीके अनेक पति न हों। इसीलिये विश्वावसुसे कहा है कि ' तू यहाँसे चला जा, क्योंकि यह पतिवाली है। एक समयमें दो पति नहीं हो सकते अतः तू किसी अन्यको चुन '। अथवा जब तक कन्या पिताके घर रहती है उसका कोई पति नहीं होता। वह किसीका भी चुनाव कर सकती है। जिनमेंसे वह चुनाव करेगी, वे उसके लिये गन्धर्व होंगे। इसलिये गन्धर्व कन्याका पति माना गया है।

योषित्-कामा वै गन्धर्वाः। शत० ३।२।४।३।
रूपमिति गन्धर्वाः (उपासते)। शत० १०।५।२।२०।
स्त्रीकामा वै गन्धर्वाः। ऐत० १।२७।
त (गन्धर्वाः) उ ह स्त्रीकामाः। कौ० १२।३।

अर्थात् समाजके वे लोग, जो स्त्री-प्रिय है अर्थात् रूपके लोलुप होकर विवाहित-अविवाहित सभी स्त्रियोंपर कुदृष्टि रखते हैं, गन्धर्व कहलाते हैं। माता-पिता ऐसे लोगोंसे अपनी पुत्रियोंको बचायें। ये अविवाहिता लडकियोंको शीघ्र फँसाते हैं क्योंकि वे काम-वश किसीके लोभमें भी आ सकती हैं। विवाहिता स्त्रीका पति होता है अतः वह पतिकी अभि-लाषिणी नहीं होती, कुमारी पति चाहती है। योग्य पति न मिलने पर वह जिस किसीको पति मान लेती है। अतः माता-पिता या परिवारके लोग विवाहयोग्य होने या विवाह की इच्छावाली होनेपर कन्याओंका विवाह शीघ्र कर दें, नहीं तो वे, गन्धर्वोंके अधीन हो जायेंगी और गान्धर्व-विवाहका आश्रय लेना पडेगा। मन्त्रमें ' पितृ-सद् ' शब्द मातापिताको कडी चेतावनी देता है कि अपनी पुत्रियोंको बचाओ। क्या माता-पिता इस बातको नहीं समझते? समझते हैं, परन्तु अविद्या इतनी फैली है कि वे अपनी रूढियों और स्वार्थको नहीं छोड सकते। वर हमारी जाति का होना चाहिये, शाखा सूत्र मिलने चाहिये, ग्रह-नक्षत्रोंका मेल होना चाहिये, धन और कुलमें हमसे ऊँचा होना चाहिये, बी० ए० एम० ए० और किसी बडे उच्च पदपर होना चाहिये, अपनी लडकी चाहे मूर्खा ही हो। ये बातें जो केवल सिद्धान्त हैं, सर्वत्र नहीं घट सकतीं वे इनके पीछे पडे रहते हैं। लडकी सयानी होकर घरमें पडी है, मनकी आशाओं-आकांक्षाओंको दबाकर माता-पिताकी ओर देख रही है। अनेक योग्य वर इसलिये टाल दिये जाते हैं कि वे कुलसे हीन और निर्धन हैं। वे अपनी जाति-बिरादरीके नहीं हैं। अन्ततः ये कुमारियाँ किसी प्रेमीका आश्रय लेती हैं चाहे वह जाति, धर्म और कुलसे भिन्न ही क्यों न हो।

वे ईसाई या मुसलमान बन जायं किसी पर आर्यधर्मीके यहाँ स्थान नहीं पा सकतीं। विवाहमें जब तक धनका स्थान ऊँचा रहेगा, तब तक यही दशा रहेगी।

गन्धर्व कन्याओंके अधिकारी रहेंगे और कन्याओंके साथ न्याय्य व्यवहार नहीं हो सकेगा। यही दशा विधवाओंकी है। वे पतिवती नहीं होतीं, अतः वे भी गन्धर्वगृहीता होती है। वे या तो सास-श्वसुरके यहाँ रहती हैं या मातापिताके यहाँ। दोनों स्थानों पर पति-विहीन रहती हैं। मन्त्र कहता है कि पतिहीना स्त्रियोंपर गन्धर्वोंका अधिकार होता है। यदि मानव जाति अपना और उनका भला चाहती है तो विवाह के मार्गसे धनके रोडेको हटा दे और विधवाओंको चारित्रवती बनानेके लिये उनका पुनर्विवाह या कोई अन्य व्यवस्था करे। उन्हें वि-धवा = पति-हीना न छोडे। आचार ही धर्म है। इस आचारकी रक्षाके लिये धर्मके सारे नियम तोडे जा सकते हैं। धर्म आचारकी रक्षाके लिये होता है, न कि भ्रष्टताके लिये।

(४) उदीर्ष्वातो विश्वावसो नमसेळामहे त्वा।
अन्यामिच्छ प्रफर्व्यं सं जायां पत्या सृज ॥ २२ ॥

हे (विश्व-वसो) विश्वावसो! हम (नमसा) हाथ जोडकर (त्वा) तेरी (ईडामहे) प्रार्थना करते हैं, तू (अतः) यहाँसे (उत् ईर्ष्व) उठ जा। किसी (अन्याम्) दूसरी (प्रफर्व्यम्) बृहत् नितम्बोंवाली अविवाहिता युवति को (इच्छ) चाह, इस (जायाम्) जायाको तो (पत्या) पतिसे ही (सं सृज) मिला।

ऐसे गन्धर्व, जो कन्या पर आसक्त होते हैं, विवाहके पश्चात् भी उसका पीछा नहीं छोडते। वे किसी न किसी प्रकार उससे मिलना और फँसाना चाहते हैं। गृहस्थ ऐसे लोगोंका ज्ञान रखे और उन्हें किसी प्रकार समझा दे कि तुम किसी अविवाहिताके पति बन कर सुखसे रहो। विवाहिता कन्याओंकी इच्छा छोडो। बिना विवाह इस प्रकार फिरनेसे तुम्हे कष्ट होगा। किसी युवतिसे विवाह करके रहोगे, तो तुम उसके पति होगे और वह तुम्हारी पत्नी होगी। दोनोंसे उत्तम सन्तति होगी। इस पापमें क्यों पडे हो। यदि वह मान जाय तो अच्छा है।

(५) अनृक्षरा ऋजवः सन्तु पन्था येभिः सखायो यन्ति नो वरेयम्। समर्यमा सं भगो नो निनीयात् सं जास्पत्यं सुयममस्तु देवाः ॥ २३ ॥

(नः) हमारे (सखायः) मित्र (येभिः) जिन मार्गोंसे (वरे-यम्) वरका सन्देश सुनानेको कन्याके कुल (यन्ति) जाते हैं वे (पन्थाः) मार्ग (अनृक्षराः) काँटे रहित (ऋजवः) सीधे और सुखदायी (सन्तु) हों। (अर्यमा) अर्यमा और (भगः) भग देव (नः) हमें (सं सं निनीयात्) उत्तम मार्गसे ले चलें। हे (देवा.) देवो! यह (जास्पत्यम्) पत्नी और पतिका (सु-यमम्) सुन्दर जोडा (सं अस्तु) कुशली रहे।

कन्याके घर जाते हुए सीधे मार्गसे जाना चाहिये और साथ मे खाने-पीनेकी सामग्री भी पूरी रखनी चाहिये। यदि हमारे आने-जानेके मार्ग पहलेसे ही व्यवस्थित स्वच्छ और सीधे नहीं रहेंगे तो विवाहके समय वे सीधे नहीं किये जा सकते। गावोंमें आने-जानेके मार्ग ऊबड-खाबड, कहीं बहुत ऊँचे, कहीं गहरे गढ्ढे कहीं सँकरे और कहीं एक ओर ऊँचे तो दूसरी ओर ढलवे होते हैं, ऐसे मार्ग पर सुख से मनुष्यभी नहीं जा सकता, गाडी और घोडे आदिको कौन कहे? मोटर और सायकिलके लिये तो वे कभी उपयोगी नहीं पडते। ऐसे मार्गोंमें प्राण-संशय होता है। गाडी उलट जाती और मनुष्य दबकर मर जाते या घायल हो जाते हैं। घोडे और बैलोंके पाँव फिसल जाते हैं। यदि राज्य गाँवके लोगोंको प्रोत्साहित और संगठित करे तो वे स्वयं अपने मार्ग ठीक करते है। वे संगठित होकर बडे-बडे तालाब और कूएँ खोद डालते हैं। पानी रोकनेके लिये बाँध बाँध डालते हैं, तो मार्ग नहीं बना सकते? उनके मार्गोंमें कीचड और पानी होता है। गाँवकी गलियाँभी ऊंची नीची और प्राण घातक होती हैं। इन्हे समतल, प्रत्येक ऋतुके योग्य और चौडी सुविधा-पूर्ण बनाना चाहिये।

(६) प्र त्वा मुंचामि वरुणस्य पाशाद्येन त्वाबध्नात् सविता सुशेवः। ऋतस्य योनौ सुकृतस्य लोकेऽरिष्टां त्वा सह पत्या दधामि ॥ २४ ॥

हे सूर्ये! तेरे (सुशेवः) सुखदायी पिता (सविता) सविताने (येन) जिससे (त्वा) तुझे (अबध्नात्) बाँधा था (वरुणस्य) वरुणके उस (पाशात्) पाश=बन्धनसे आज (त्वा) तुझे (प्र मुञ्चामि) मुक्त कर रहा हूं। (ऋतस्य) यज्ञके (योनौ) स्थान और (सुकृतस्य)

पुण्यके (लोक) लोक पति-गृहमे (पत्या सह) पतिके साथ (अरिष्टाम्) दुःखसे रहित कर (त्वा) तुझे (दधामि) रख रहा हूँ।

कन्या राज और समाजके नियमसे पिताके गृहमे बँधी रहती है। पाणिग्रहणके पश्चात् वह बन्धन टूटता है और कन्या पतिके साथ यज्ञके स्थान पति-गृहको जाती है। वह पतिके घरमें स्थापित की जाती है और उस घरके नियमोंमें बँधती है। वास्तवमें यहाँ वह स्वतंत्र रूपसे यज्ञ और सुकर्मकी अधिकारिणी होती है। पुत्र भी विवाहके पश्चात् ही अपने स्वतंत्र परिवारकी रचना करते और पत्नी सहित स्वतंत्रतासे कार्य करते हैं। पिताके घरमें कन्या धर्मादिका कार्य तो करती है परन्तु वह कार्य पिताके निमित्त होता है। उसका उत्तरदायित्व पितापर ही रहता है। इसी प्रकार पुत्र भी जो कुछ करता है, पिताका ही समझा जाता है। पत्नी आ जानेके पश्चात् एक घरमें रहनेपरभी, पत्नी और पुत्रोंके भरण-पोषणका भार विशेष कर पतिपर ही रहता है। आगे चलकर उसे सारे कुटुम्बका भार उठाना पडता है। अतः कन्या पतिके गृहमे जाती है, मानो यज्ञ और सुकर्मके गृहमे जाती है। यह विवाह हमारी सामाजिक व्यवस्थाका उत्तम चित्र है। मनुष्य पुत्र उत्पन्न करता है। पत्नी और पुत्रके साथ उसका एक परिवार बनता है। वह अपने परिवारका स्वतंत्र शासक होता है। पत्नी और पुत्र उसकी आज्ञामें रहते हैं। पत्नी माता रूपसे पुत्रोंका शासक बनती है। प्रायः राज्यमें एक ही शासक रहा करता है यहाँ दो शासक हैं। एक दूसरेसे स्वतंत्र और परस्पर परतंत्र। इस परिवारके राज्यमें दो शासक रह सकते हैं क्योंकि यह प्रेमका राज्य है। पतिसे पृथक् पत्नी नहीं रह सकती, पत्नीसे पृथक् पतिभी नहीं रह सकता। प्रेमकी घनिष्ठतामें एक दूसरेके विना जीना भी कठिन है। पुत्रभी किसीसे कम अधिकार नहीं रखते परन्तु उन्हे स्वतंत्र राज्य चाहिये। विवाहके पश्चात् उन्हे स्वतंत्र राज्य स्थापित करनेकी आज्ञा होती है वहाँ वे स्वतंत्र होते है। धन इकट्ठा करते है; व्यवस्था और कार्य सोचते हैं और उसे उत्साह और मनोयोगसे पूर्ण करते हैं। ऐसी स्वतंत्रता इन वर्तमान राज्योंमें कहाँ है, जैसी कि हमारे परिवारोंमें वेद की शिक्षाके अनुसार चली आ रही है। प्रजा-तंत्र की उत्तम शिक्षा लेनी हो तो हमारे परिवार आगे खडे होंगे। व्यक्तिगत सामान्य त्रुटियोंसेही इनमे दुःख है। यदि इस व्यवस्थाको स्वीकारकर राजा प्रजाको शासन चलानेकी शिक्षा दे और योग्य होनेपर उन्हे सारी व्यवस्था सौंपता जाय तो किसको कष्ट होगा? राज्य क्रान्तिका कहाँसे अवसर आयेगा। परन्तु स्वार्थ और भय यह व्यवस्था चलने देंगे- यह सन्देहकी बात है।

(७) प्रेतो मुञ्चामि नामुतः सुबद्धाममुतस्करम्।
यथेयमिन्द्र मीढ्वः सुपुत्रा सुभगासति ॥ २५ ॥

हे (मीढ्वः) सुखदायक (इन्द्र) इन्द्र ! मै इसे (इतः) यहाँ से, पिताके कुलसे (प्रमुंचामि) मुक्त करता हूं, (अमुतः न) वहाँसे, पतिकुलसे नहीं। (अमुतः) वहाँसे इसे (सु-बद्धाम्) भली-भांति बँधी हुई (करम्) करता हूं अर्थात् इसे पतिकुलमें सुदृढ बाँधता हूँ (यथा) जिससे (इयम्) यह सुख्यी (सु-पुत्रा) उत्तम पुत्र और (सु-भगा) उत्तम ऐश्वर्यवाली (असति) हो।

दूसरा परिवार पत्नीके विना नहीं बनता, न उसके विना चलता है। वास्तवमें परिवार पुत्रके लिये बनाया जाता है। पक्षी भी बच्चेको रखनेके लिये घर बनाते हैं, उसके खाने-पीनेकी व्यवस्था करते है। सन्तानकी उत्पत्तिके लिये वे मिलते हैं। एक दूसरेमें आत्मीयता उत्पन्न करते हैं। यह आत्मीयता भोगलालसाके कारण कही जा सकती है परन्तु स्रष्टाने प्रत्येक प्राणीमें भोग-लालसा सन्तानके लिये ही तो रखी है। वे इस बातको नहीं जानते, फिरभी विधाताकी प्रेरणा और नियममें चल रहे हैं। वे इस प्रकार परमात्माके ही कार्य और आदेशको पूर्ण करते हैं। सन्तानके लिये प्रेम और उसीके लिये परिवार बनता है। अकेले पुरुष सन्तान नहीं उत्पन्न कर सकता अतः उसे पत्नी लानी पडती है। पुरुषका परिवार पत्नी और पुत्रसे सम्पन्न होता है, कहना चाहिये कि पुरुष स्त्री-पुत्रके साथ मिलकर पूर्ण पुरुष बनता है। यह त्रिक ही परिवार है। पुत्र एकला अपूर्ण है, स्त्री अकेली अपूर्ण है, पति अकेला अपूर्ण है। इसका सुंदर चित्र देखिये-

नया कुल पुराने कुलको छोडता नहीं, उसका सम्बन्ध तो दो कुलोंसे रहता है। मातृकुल और पितृकुल इस कुलसे सम्बद्ध रहते हैं। पुत्र अपने पिताके कुल और कन्या अपने पिताके कुलका प्रतिनिधित्व करती है। ये पुराने और नये परिवार एक दूसरेसे स्वतन्त्र होकर परस्पर जुडे हैं। इस नये परिवारकी रचना पत्नीकी सत्तासे होती है अतः इस कुलमें उसका दृढ बांधा जाना उचित ही है। वह दूसरे कुलमें जाती है अत. माता-पितासे उसका कोई सम्बन्ध नहीं और इस कारण उसका तिरस्कार किया जाय ऐसा मानना भूल है। इस भूलसे कई लडकियोंके ऊपर बडे अत्याचार हुए हैं। कहीं-कहीं तो जन्मतेही उनका गला घोंट दिया जाता था। लडकीका पिताके कुलसे सम्बन्ध स्थिर रहना चाहिये जिससे वे एक दूसरेके सहायक बन सके।
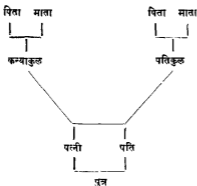
इस मंत्रसे यहभी प्रतीत होता है कि कन्या पतिके घर जाया करे और उसकी बनकर रहा करे न कि पति कन्याके घर रहे। जिस कारण कन्या पतिके घर जाती है वैसा कारण बन जानेपर पति कन्याके घरभी रह सकता है। तब वह श्वसुरकी ही सम्पत्तिका अधिकारी बन सकेगा, पिताकी नहीं। अथवा विशेष अवस्थामें दोनों गृहोंको सम्भाल सकता है!

(८) पूषा त्वेतो नयतु हस्तगृह्याश्विना त्वा प्रवहतां रथेन। गृहान् गच्छ गृहपत्नी यथासो वशिनी त्वं विदथमा वदासि ॥ २६ ॥

हे सूर्ये! (हस्त-गृह्य) हाथ पकडनेवाला (पूषा) पूषा देव (त्वा) तुझे (इतः) इस पिताके घरसे (नयतु) ले चले। (अश्विना) अश्वि-देव (त्वा) तुझे (रथेन) रथसे (प्र वहताम्) वहन करें। तू अपने पतिके (गृहान्) घरोंको (गच्छ) जा, (यथा) जिससे उस (गृह-पत्नी) गृहकी स्वामिनी (असः) हो सके। वहाँ (त्वम्) तू सबकी (वशिनी) वशमें करनेवाली अधिकारिणी हो कर (विदथम्) मधुर हितकारी वाक्य (आ वदासि) बोलाकर। एक मनुष्य वधूका हाथ पकडकर आदरसे रथ पर उसे बिठाये तब गाडीवान उस रथको पतिके घरकी ओर ले चले। वधू पतिके गृहकी स्वामिनी बनने जा रही है। वह वहाँ सबपर अधिकार रखेगी, परंतु यह अधिकार अहंकार और कलहके निमित्त नहीं दिया जा रहा, यह तो सबकी रक्षा, पालन और सबसे प्रेमसे बोलने और सबका हित करनेके निमित्त सौंपा जा रहा है। प्रायः हमारे घरोंमें सास नव-वधू को कोई अधिकार नहीं देती। वधू सुशीला और प्रबन्ध करनेमें चतुर हो तो भी उसे दासी समझकर उद्वेजित करती, बात-बात पर उसका दोष निकालती और उसे अशान्त किये रहती है। यदि वधू सह लेती है तो उसका जीवन सदा कष्टमय और अशान्त रहता है, बोलती है तो दिन-रात कलह होता है। कई स्थानोंपर सासे अच्छी होती हैं। वे स्वयं दिन-रात काम करके भी वधूको सुखी रखती है। घरका सारा भार उसे सौंप देती हैं, परन्तु वधू कटु-भाषिणी और कलह-कारिणी होती है। वह सास के ऊपर अधिकार जताती है। अच्छा भोजन नहीं देती। स्वयं काम नहीं करती और उसके कार्यकी निन्दा करती है। ये दोनों अवस्थाएँ बुरी हैं। वेदका उपदेश है कि सास वधू को गृह-स्वामिनी बनाये और वधू उसे माताके समान पूजे उसकी आज्ञामें रहे। पूछकर कार्य करे। उसकी बातको बुरा न माने। ऐसे सुखमय और सौभाग्य पूर्ण परिवार किसीही गृहस्थीका होता है

गृहस्थ

(९) इह प्रियं प्रजया ते समृध्यतामस्मिन् गृहे गार्हपत्याय जागृहि। एना पत्या तन्वं सं सृजस्वाधा जिव्री विदथमा वदाथः ॥२७॥

हे सूर्ये ! (इह) इस घरमें (प्रजया) प्रजासे (ते) तेरा (प्रियम्) प्रिय वस्तु, सुख (संऋध्यताम्) बढे । तू (अस्मिन् इस (गृहे) घरमें (गार्हे-पत्याय) गृहकी रक्षा आदि कार्योंके निमित्त सदा (जागृहि) जागती रह । प्रयत्नशील रह । तू (एना) इस (पत्या) पतिसे अपना (तन्वम्) शरीर (सं सृजस्व) मिला (अध) और पति-पत्नी तुम दोनों (जिव्री) बुढापेतक इस (विदथम्) गृहस्थ-धर्मकी (आ वदाथ.) चर्चा करते रहो। इसका आचरण करते रहो।

वधू प्रजावती हो, पुरुषको ऐसा प्रयत्न करना चाहिये। वधूको पुत्रसे विशेष आनन्द होता है, पति यह सदा ध्यानमें रखे । पति नपुंसक है या बलहीन है तो प्रजा नहीं उत्पन्न कर सकता। उसे सयम, ब्रह्मचर्य और औषधसे शक्ति सम्पादन करना चाहिये । ऐसा करनेसे वह वधूकी आकांक्षा पूर्ण कर सकेगा । वधूभी प्रजाका सुख प्राप्त करना चाहती है तो गृहकी सुन्दर व्यवस्था और उत्तम बोलसे पतिको प्रसन्न रखे । इस पतिको छोडकर अन्य किसी पुरुषके शरीरका स्पर्श न करे । दूसरे पुरुषका चिन्तन मनसे भी न करे । आँखको बचाये रखे । इस प्रकार करनेसे वह पतिव्रता रह सकेगी, पतिको कुमार्गसे बचा सकेगी । अपने और पतिके आचारकी रक्षाकर प्रजा और शरीरके सुखको बुढापेतक भोग सकेगी ।

जहाँ पर दिन-रात पति-पत्नियोंके सम्बन्ध-विच्छेद (Divorce) होते रहते है वहाँ न पत्नीका कोई गृह हो सकता है न गृह-धर्म । वैदिक-जीवनकी यही विशेषता है कि उसमें पति-पत्नी आमरण एक साथ रहते हैं और एक-दूसरे को छोड अन्य पुरुष या स्त्रीका चिन्तन नहीं करते । गृहमें दोनोंका समान अधिकार है । अन्याय्यकी अवस्थामे राजा या पंचायतसे न्याय प्राप्त कर सकते हैं, परन्तु एक दूसरेको छोडते नहीं । इस प्रकार उनका गृह बना रहता है ।

बूढी अवस्था तक दोनोंका गृहमें रहना बताता है कि उन्हें बलात् घरसे बाहर निकालकर वानप्रस्थ या संन्यासी नहीं बनाना चाहिये । एक दूसरेकी इच्छा-विरुद्ध उन्हें छोडनाभी नहीं चाहिये । कई लोग वैराग्यमें आकर पत्नीको छोड जाते हैं यह उचित नहीं है । यह कार्य पत्नीके कष्ट और पतनका निमित्त बनता है । कई लोग माता-पिताके घर या ससुरालमें पत्नीको रख कर विदेशमें बहुत वर्ष बिता देते हैं, यह भी उचित नहीं है । पति-पत्नी ही एक-दूसरेका स्पर्श करें इसका उपाय यही है कि मरण पर्यन्त साथ रहें । अन्यथा बात बिगडजानेपर सारे उपाय निष्फल जाते हैं । सुधार नहीं होता और अन्तमें स्त्री वेश्या-वृत्ति स्वीकार करती है या पुरुष परस्त्रीगामी हो जाता है ।

(१०) पुनः पत्नीमग्निरदादायुषा सह वर्चसा ।
दीर्घायुरस्या यः पतिर्जीवाति शरदः शतम् ॥ ३९ ॥

(अग्निः) अग्निने पतिके लिये (आयुषा) आयु और (वर्चसा) तेजके साथ (पुन) पुनः यह सूर्या (पत्नीम्) पत्नी (अदात्) दी । (अस्याः) इसका (यः) जो यह (पतिः) पति है वह (दीर्घ-आयु.) लम्बे जीवन वाला हो और (शरदः) शरत्के (शतम्) सौ वर्षों तक (जीवाति) जीये ।

सूर्याके कई पति हैं सोम, गन्धर्व और अग्नि । एक जीवनमें एक ही पति रहता है क्योंकि यहाँ पतिके दीर्घायु और सौ वर्ष जीनेकी आकांक्षा है और जीवन सौ वर्षका ही माना गया है । यहाँ सूर्या देवता है इसलिये इसके पति देव हैं । आयु मनुष्योंके समान है । हो सकता है, इसे देव आयु माने । सूर्या सोम, गन्धर्व, अग्नि और मनुष्य को प्राप्त होकर रात्रिमें, फिर सोमरूप पतिको प्राप्त करती है । उसका यह चक्र चलता रहता है, परन्तु यह एक जीवनमें एकके ही पास रहती है । जो लोग इस वर्णनको मानव मानकर कुमारी कन्याओंसे देवताओंका व्यभिचार कराते और देव-दूषित कन्या मनुष्योंको समर्पित करते हैं, उनकी विद्या और बुद्धि धन्य है ! देव-काव्यको मानव-काव्य बनानेका दण्ड यही हो सकता है । सारे भाष्यकार इसी प्रकार खींचा-तानीमें लगे रहे हैं ; कोई देवताओं द्वारा कन्याको आशीर्वाद दिलाता है तो कोई उन देवोंको मानव-कन्याका पति बताता है ।

(११) आ नः प्रजां जनयतु प्रजापतिराजरसाय सम-
नक्त्वर्यमा । अदुर्मङ्गलीः पतिलोकमा विश शं नो
भव द्विपदे शं चतुष्पदे ॥ ४३ ॥

(प्रजापतिः प्रजापति (नः) हमें (प्रजाम्) प्रजा (आ जनयतु) प्राप्त कराये । (अर्यमा) अर्यमा (आ-जरसाय) बुढापेतक(सं अनक्तु) पहुँचाये । हे सूर्ये ! तू (अदुः मंगलीः) अमंगलसे रहित होकर शुभ (पति-लोकम्) पतिके गृहको

(आ विश) प्रवेश कर और (नः) हमारे (द्वि-पदे) द्विपाये और (चतु:-पदे) चौपायोंके लिये (शं शं भव) सुखकारी हो।

सूर्यकी दीप्ति प्रत्येक गृहमें प्रवेश कर मनुष्य और पशु-आदिको सुख देती है। चन्द्रमाके साथ मिलकर उसे शोभित करती और स्वयं शोभा पाती है।

गृहस्थका सुख प्रजा है। दूसरा सुख है प्रजा-पशु-धन सम्पन्न दीर्घ जीवन। जिसके घरमें सुप्रजा हो, दूध, घी और अन्नके लिये पर्याप्त पशु हों और खाने-पीने-पहननेकी पूर्ण सामग्री हो, वह मरना नहीं चाहता। मरना तो कोई नहीं चाहता तथापि रोगी और आपद्ग्रस्तको उस जीवनसे मर जाना अधिक अच्छा लगता है। सुखी गृहस्थको मरते समय कितना कष्ट होता है, यह सभी लोग अनुभव नहीं कर सकते। यदि किसी प्रेमी परिवारके किसी व्यक्तिको मरते देखे हों तो उसकी कुछ झाँकी मिल सकती है। अर्थ यह कि पुत्रोंमें देर तक आनन्द लेनेके लिये दीर्घ जीवन भी चाहिये। पति और पत्नी ही नहीं, पुत्र तक दीर्घ-जीवन प्राप्त करें और इस गृहस्थ आश्रममें पशुओंका जीवन भी दीर्घ और सुखमय हो। ऐसा जीवन भाग्यसे ही प्राप्त होता है, तथापि दुष्टा स्त्री घरको बिगाड और सुगुणा घरको बना सकती है। अतः पत्नी सदा सद्गुण धारणका प्रयत्न करे और राष्ट्र भी स्त्री-जातिमें विद्या, सुशिक्षा और शील भरनेका प्रयत्न करे।

आजसे शताब्दियों पूर्व यहाँ स्त्रियाँ विद्या नहीं पढ सकती थीं, हाँ, उन्हें चरित्रवती रखनेका प्रयत्न किया जाता था। आज विद्याकी उन्नति हुई है। कन्याएँ धडाधड पढती जा रही हैं परन्तु चरित्र गिरता जा रहा है। कुछ कन्याएँ दुष्ट छात्रों द्वारा चरित्र-भ्रष्ट की जाती हैं, परन्तु अधिक संख्या मिलेगी, जिन्होंने मनको भ्रष्ट कर अप्राकृतिक उपायों से अपना जीवन बिगाड लिया है। सहशिक्षा तथा दूषित वातावरण; उपन्यास, नाटक और प्रेमी-प्रेमिकाओंकी अश्लील कहानियोंने उनके चरित्र पर बहुत कुप्रभाव डाला और डाल रहे हैं। आज नारी जातिमें शिक्षाके साथ सदाचारकी आवश्यकता है। इन दोनोंके सहयोगसे ही राष्ट्र उन्नत और सुखी होगा।

(१२) सम्राज्ञी श्वशुरे भव सम्राज्ञी श्वश्र्वां भव।
ननान्दरि सम्राज्ञी भव सम्राज्ञी अधि देवृषु ॥ ४६ ॥

हे सूर्ये! तू (श्वशुरे) श्वशुरकी दृष्टिमें (सम्राज्ञी) महारानी (भव) हो, (श्वश्र्वाम्) सासकी दृष्टिमें (सम्राज्ञी) महारानी (भव) बन। (ननान्दरि) ननन्दकी दृष्टिमें (सम्राज्ञी) महारानी (भव) हो और (देवृषु अधि) देवरोंकी दृष्टिमें भी (सम्राज्ञी) महारानी (भव) हो।

घरमें मुख्यतया पतिके माता, पिता, बहन और भाई रहा करते हैं। पति उस घरका राजा बना है और यह वधू रानी, यदि यह सुशीला और गुणवती हुई तो सबकी प्यारी बन जाती है। रानी ही नहीं, महारानी होकर रहती है। सास और श्वसुर प्यार करते हैं। ननन्द स्नेहसे बातें करती है और देवर आदरकी दृष्टिसे देखते हैं। इस मन्त्रमें सास, श्वसुर, ननन्द और देवरोंको भी उपदेश है कि इस वधूको पराया मत मानो। यह गृह और परिवारकी पालिका सबके आदर योग्य है। यह केवल उपदेश ही नहीं, एक सम्पन्न और सुखी गृहस्थका स्वाभाविक और सुन्दर चित्र है। सभ्य और स्नेही परिवारोंमें वधू महारानी मानी जाती है। वह सबसे प्रेमसे बोलती, सुखसे सुखी और दुःखसे दुःखी होती है। परिवारके सभी लोग उसे आँखपर उठाये फिरते हैं। भगवान् भारतमें ऐसा ही परिवार उत्पन्न करे। माता-पिता स्वयं अपना अधिकार पुत्र और वधूको सौंप रहे हैं। कैसा प्रजा तंत्र है!

ज्ञान

प्रत्येक मनुष्य सुख चाहता और दुःखसे भागता है। संसारमें रहकर हमारा जीवन दुःखसे युक्त रहता है। सुख और दुःख आते जाते रहते हैं। हम दुःखसे छूटनेका जो उपाय करते हैं उससे दुःख कम तो होता है परन्तु जब तक बीज नष्ट न हो जाय, दुःख न्यूनाधिक मात्रामें रहेगा ही। शरीर से रोगकी उत्पत्ति होती है और दुःखका आधार भी यही है। रोगी सो जाता है या मूर्छित अवस्थामें होता है तब उसे दुःखका अनुभव नहीं होता। इससे पता चलता है कि दुःखका आधार आत्मा नहीं शरीर है। आत्मा उसका द्रष्टा और अनुभव-कर्त्ता है। यदि शरीरका नाश हो जाय तो दुःखसे मुक्ति मिल जायेगी, यह साधारण मनुष्य भी समझ सकता है। वह यह भी सोच सकता है कि आत्म-घात करके दुःखसे छूट जाना चाहिये। उसका यह विचार निर्मूल

नहीं कहा जा सकता। शरीरके आश्रय दुःख रहता है, शरीरके नाशसे दुःख निर्मूल हो जायेगा, यह सीधी बात है। परन्तु आत्म-घातका फल बहुत बुरा बताया है, ऐसा क्यों?

असुर्या नाम ते लोका अन्धेन तमसावृताः।
तॉंस्ते प्रेत्यापि गच्छन्ति ये के चात्महनो जनाः॥ य० ४०॥३

' वे लोक असुर्य नामवाले अथवा आनन्द-रहित हैं, जो घोर अन्धकारसे घिरे हैं। जो कि आत्मघाती लोग हैं, वे मरकर उन लोकोंमें जाते हैं। '

आत्म-घातीकी मुक्ति तो क्या होगी, उलट घोर अन्धकार—घोर दुःखमें गिरता है। इस लिये आत्म-घात मुक्ति का साधन नहीं। आत्मा प्रतिदिन तीन अवस्थाओंका दर्शन करता है जागरित, स्वप्न और सुषुप्ति। ये तीन अवस्थाएँ उसके ऊपर तीन आवरण हैं। स्थूल शरीरमें वह जागरित रहता है, सूक्ष्म शरीरमें सुप्त और कारण शरीरमें सुषुप्त रहता है। आत्मघातसे स्थूल शरीरका नाश हो सकता है, सूक्ष्म और कारण शरीरका नहीं। वह तो बना ही रहेगा। उससे पुनः दूसरा शरीर बनेगा क्योंकि उसीसे स्थूलशरीरका अंकुर उगता है। तब शरीरसे पृथक् होनेके लिये कोई अन्य साधन ढूँढना पडेगा। आत्मा वास्तवमें सबसे पृथक् है, यह तो द्रष्टा और प्रेरक है। इसमें दुःखका लेश भी नहीं है। यह अपनी अवस्थाको समझ जाय तो साक्षी रहेगा, भोक्ता नहीं। साक्षी बननेमें आनन्द और भोक्ता बननेमें दुःख है। यह समझ कैसे आये? इसका उपाय है ज्ञान, सत्य तत्त्व बोध। जैसे एक मनुष्य रस्सीको सर्प मानकर भयभीत होता है किन्तु जब उसे ज्ञान होता है कि सर्प नहीं रस्सी है तब उसका भय दूर हो जाता है। जीवने दुःखका स्थान आत्माको मान रखा है वह आत्माका सत्य रूप नहीं जानता अतः दुःखी है। जब उसे ज्ञात होगा, आत्मा सुख-दुःखसे परे है, यह शरीर ही आत्मा नहीं, तो उसे परमानन्द प्राप्त होगा। जैसे कोई सुरूप मनुष्य काले दर्पणमें अपनेको काला देख रोने लगे, बस आत्माकी भी वही दशा है। इसी आत्माको जीव, ब्रह्म, ईश्वर, पुरुष आदि नामोंसे पुकारते हैं। ' अविद्यासे जीव और मायासे ईश्वर बना ' आदि बातें मिथ्या हैं। अज्ञान हटानेका उपाय ज्ञान है। अतः ज्ञानोपार्जनमें लगना चाहिये।

ब्रह्मका मुख्य अर्थ ज्ञान है। ज्ञान-दाता होनेसे वेदका नाम ब्रह्म हो गया अथवा ज्ञानका संग्रह होनेसे उसका नाम ब्रह्म या वेद है। ब्रह्मचारी ब्रह्मका अभ्यास करता है, ब्राह्मण ब्रह्मका अभ्यास करता है, वानप्रस्थ और संन्यासी ब्रह्मका अभ्यास करते हैं। इनका मुख्य कार्य ब्रह्मका अभ्यास बना दिया गया है। क्षत्रिय, वैश्य और शूद्र भी ब्रह्मका अभ्यास करें, तथापि उनका यह मुख्य धर्म नहीं। ' ब्रह्मका अभ्यास ' इसका अर्थ है, ज्ञानका अभ्यास। ' तयोरन्यः पिप्पलं स्वाद्वत्ति, अनश्नन् अन्यो अभि चाकशीति ' (ऋ० १।१६४।२०)। संसारमें दो प्रकारके जीव पाये जाते हैं—एक वे, जो किसी प्रिय भोगको भोग रहे हैं, दूसरे वे, जो उसकी कामना नहीं करते। आश्रमकी दृष्टिसे गृहस्थ भोग भोगनेवाला आश्रम और वानप्रस्थ तथा संन्यास विरक्तिके आश्रम हैं। ब्रह्मचर्यमें स्वतः सामर्थ्य न होनेसे वह भोग या वैराग्य दोनोंसे पृथक् है। वानप्रस्थ वैराग्य-साधनका स्थान और संन्यास वैराग्यका प्रत्यक्ष रूप है। जिस प्रकार सृष्टिमें जीव भोक्ता और परमेश्वर भोग रहित सर्वद्रष्टा है। वैसे जीवोंमें भी भोक्ता और विरक्त दो भेद हैं। आत्मा भोक्ता बनकर दुःखी और विरक्त बनकर सुखी होता है अतः विरक्ति जीवका परम लक्ष्य मानी गयी है। विरक्तिका चिन्ह है इन्द्रिय-जय। विरक्ति हो जाने पर इन्द्रियकी आसक्ति अपने विषयोंमें नहीं रह जाती। आसक्ति हट जानेसे इच्छा हट जाती है और इन्द्रिय विषयमें उतना ही प्रवृत्त होते हैं जितनी आवश्यकता होती है। तब वे भद्र बन जाते हैं। ' भद्रं कर्णेभिः शृणुयाम देवा ' इत्यादि मंत्रोंमें जिस भद्रकी कामना की गई है वह विरक्तिसे ही आती है। संसारमें कामनाकी पूर्ति सर्वांशमें नहीं होती अतः दुःखका भी सर्वनाश नहीं होता। विरक्ति होने और कामना-हीन होने पर मनुष्य दुःखसे छूट जाता है क्योंकि इच्छाके पूर्ण न होनेसे ही दुःख होता है। इच्छा ही नहीं, तो दुःख कैसा? इस इन्द्रियजयका अभ्यास बचपनसे ही कराया जाता है परन्तु कोई इसमें प्रवृत्त होता है, कोई नहीं। कोई शीघ्र सफल हो जाता है, कोई जीवनके अन्त तक सफल नहीं हो पाता। इसलिये यह अभ्यास गृहस्थ वानप्रस्थ और संन्यास तक चलता रहता है। गीताके अनुसार जीवनके दो पक्ष हैं, व्यक्तिगत और सामाजिक। आश्रम व्यक्तिधर्म और वर्ण समाजधर्म है। ये धर्म स्वतन्त्र नहीं हैं। अध्यात्मधर्मके

लिये समाजधर्म और समाजके लिये अध्यात्मधर्म छोडने पडते हैं। वैदिक धर्म इन दोनों पर बल देता है। वैदिक देव प्रतिदिन यजमानकी रक्षामें तत्पर हैं। उन्हें धन और ज्ञान दे रहे हैं, इधर यजमान उनके भोजनकी सामग्री जुटानेमें लगे हैं। इस प्रकारके आदान प्रदानको ही समाज-धर्म कहते हैं।

हमारे देशमें वर्ण और आश्रमकी परम्परा तो है, परन्तु उसका स्वरूप विकृत हो गया है। उसमें समाज-धर्मको कोई स्थान नहीं दिया जाता। क्षत्रिय पेट भरनेके लिये हैं उसे पेटकी चिन्ता हो तो युद्ध करता है अन्यथा दुष्ट कितना भी उत्पात करे उसका हाथ नहीं उठता। इसी प्रकार ब्राह्मणादि भी पूजा-पाठ आदिमें ही लगे हैं राष्ट्रकी उन्हे कोई चिन्ता नहीं। संन्यासी वैराग्यको अपनाए हुए है। वह शक्ति रखते हुए भी युद्ध, कृषि, कला-कौशल्य या किसी अन्य आवश्यक कार्य, जो समाजको अब चाहिये, नहीं कर सकता। वह समाजके लिये काषाय वस्त्र नहीं उतार सकता। आज का समाज केवल अध्यात्म धर्मपर जी- मर रहा है।

तात्पर्य यह कि ज्ञानका बडा महत्व है और वही हमें दुःखोंसे छुडा सकता है परन्तु इसका यह अर्थ नहीं कि समाजके लिये अध्यात्म धर्म नहीं छोडा जा सकता, न आत्मिक उन्नतिके लिये समाज धर्म छोडा जा सकता है। दोनों साथ-साथ चलें, तो उत्तम है और यही प्रयत्न करना चाहिये। यदि दोनोंमें टक्कर हो तो एकको तो छोडना ही पडेगा। यह बहुत विवादका विषय है और इसपर बहुत उत्तर-प्रत्युत्तर हो सकते है और अब तक होते आये हैं। जैसे झूठ बोलना चाहिये या नहीं, हिंसा करनी चाहिये या नहीं आदि। किसीके मतमें सर्वथा सत्य बोलना चाहिये, किसीके मतमें आपत्तिके अवसर पर झूठ भी बोल सकते हैं। किसीके मतमें युद्ध हिंसा और किसीके मतमें अहिंसा है।

मुक्तिदायक ज्ञान

वेदमें मुक्तिदायक ज्ञानका स्वरूप क्या है? यह एक प्रश्न है। वेदमें मृत्युसे छूटने और अमरत्व पानेकी कामना है।

मृत्योर्मुक्षीय मामृतात्॥ य० ३।६० ॥

तमेव विदित्वाऽतिमृत्युमेति नान्यः पन्था विद्यतेऽयनाय ॥ य० ३१।१८ अविद्यया मृत्युं तीर्त्वा विद्यया अमृतमश्नुते ॥ य० ४०।१४ ॥

'मुझे मृत्युसे छुडा, अमृतसे नहीं'

'उसी पुरुषको जानकर मृत्युको लांघ सकता है, जाने का अन्य मार्ग नहीं।'

'अविद्यासे मृत्युको तर, विद्यासे अमृत प्राप्त करता है।'

मृत्युका अर्थ दुःख, अमृतका अर्थ सुख है। मृत्युका अर्थ नश्वरता और अमृतका अर्थ अमरता है। जीव नश्वरको छोड अपने अमर स्वरूपको प्राप्त करता है। ज्ञान द्वारा आत्मा का नित्यत्व ज्ञात होता है। वह सुख-दुःखके स्पर्शसे रहित है और नित्य है, ऐसा बोध होने पर मनुष्य इस शरीरमें ही सुखी हो जाता है उसे यहाँ ही मुक्ति मिल जाती है। जिस कर्मसे मनुष्यको यहाँ ही फल प्रत्यक्ष हो जाय, उसमें संदेह का स्थान नहीं रहता।

वामदेवको अपने आत्माका ज्ञान हो गया था और गर्भमें भी दुःखी नहीं हुआ, ऐसा अनेकत्र वर्णन पाया जाता है। इसका मूल ऋग्वेदमें इस प्रकार है–

(ऋ० ४।२७।१–५)

ऋषिर्वामदेव । श्येनोदेवता; ५ इन्द्रो वा।

(१) गर्भे नु सन्नन्वेषामवेदमहं देवानां जनिमानि विश्वा। शतं मा पुर आयसीररक्षन्नध श्येनो जवसा निरदीयम्॥

(अहम्) मैंने (गर्भे नु सन्) गर्भमें रहते समय ही (एषाम्) इन (देवानाम्) देवोंके (विश्वा) सारे (जनिमानि) जन्म (अवेदम्) जान लिये थे। (शतम्) सैकडों (आयसीः) लौहमय (पुरः) नगर या घेरे (मा) मुझे (अरक्षन्) घेरे हुए थे, (अध) पर (श्येनः) श्येनरूपधारी मैं (जवसा) वेगसे उन्हे तोडकर बाहर निकल आया।

इस सूक्तमें इन्द्रको श्येन कहा गया है। शरीरमें श्येन या इन्द्र आत्मा है। आंख, नाक, कान आदि इंद्रिय देव हैं। इस आत्माको शरीरके भीतर सैकडों बन्धन हैं। यदि यह आत्मा इंद्रिय-गणके जन्म और उद्देश्यको जान ले तो उनके बन्धनमें नहीं पड सकता और इन बन्धनोंको तोड कर शरीरमें रहते हुए भी उनसे बाहर हो सकता है।

मनुष्यके आत्माको बाँधनेवाले ये विषय ही हैं। इन विषयों से मुक्ति, मानो दुःखसे मुक्ति है।

(२) न घा स मामप जोषं जभाराभीमास त्वक्षसा वीर्येण। ईर्मा पुरन्धिरजहादरातीरुत वातौं अतरच्छूशुवानः ॥

(सः) वह बन्धन (जोषम्) पर्याप्तरूपसे (माम्) मुझे (न घ अप जभार) हर नहीं सका, विचलित नहीं कर सका, क्योंकि मैंने अपने (त्वक्षसा) तीक्ष्ण (वीर्येण) बलसे (ईम्) उसे (अभि आस) दबा दिया। (ईर्मा) प्रेरक (पुरन्धिः) शरीरधारक परमात्माने (अरातीः) विघ्नकारक शत्रुओंको दूर (अजहात्) फेंक दिया (उत) और उस (शूशुवानः) बडे बलवालेने (वातान्) विरोधियोंको (अतरत्) मार दिया।

विषयकी आँधी बडे वेगसे चला करती है। इसके आने का मार्ग इंद्रिय हैं। जो इंद्रिय-द्वारको बन्द रखता है ये विषय उसके भीतर प्रवेश नहीं कर पाते। अतः वह इन शत्रुओंके अनर्थसे बच जाता है। जो इनके स्वागतके लिये इंद्रिय-द्वार खोले रहता है, ये उसके भीतर प्रवेश कर जाते हैं और भीतर जाकर बहुत अनर्थ करते हैं। ये दूरसे देखनेमें सुन्दर प्रतीत होते है, प्रवेश करते हुए भी अच्छे लगते हैं। अधिकार कर लेनेपर मनमाना नचाते और बहुत क्लेश देते है। जिस पर परमात्माकी परम कृपा होती है, वही इनके अनर्थसे बच पाता है।

(३) अव यच्छ्येनो अस्वनीदध द्योर्वि यद्यदि वात ऊहुः पुरन्धिम्। सृजद्यदस्मा अव ह क्षिपज्ज्यां कृशानुरस्ता मनसा भुरण्यन् ॥

(अध) तब (यत्) जब कि (श्येन) श्येनने (द्योः) दिव् लोकसे (अव) नीचे मुख कर (अस्वनीत्) शब्द किया, (यदि वा) जब कि सोम-पालक (अतः) इस श्येनसे (यत् पुरन्धिम्) इस सोमको (ऊहुः) छीनने लगे और (यत्) जब कि (अस्ता) बाण फेंकनेमें कुशल (मनसा) मनके समान (भुरण्यन्) गति करता हुआ (कृशानु) कृशानु नामक सोम-रक्षकने (अस्मै) इसके मारनेके लिये बाण (सृजत्) छोडा उस समय उसने (ज्याम्) डोरीको (अव ह क्षिपत्) बहुत बलसे फेंका, खींच कर छोड दिया।

देव लोगोंने श्येनको दिव्में सोम लेने भेजा। श्येन गया। जब सोम लेकर लौट रहा था, सोम-रक्षकोंने उस पर आक्रमण किया। इस मन्त्रमें इस कथाका उल्लेख है। आनन्द भौतिक जगत्में नहीं है। आत्मा उसे ढूँढता है। वह उसे भौतिक जगत्से परे पाता है। वह उस आनन्दको भौतिक जगत्में भी लाना चाहता है, पर उसके मार्गमें अनेक बाधक हैं। वे उसके आनन्दको छीनना चाहते हैं। कोई वीर आत्मा ही इन शत्रुओंको परे हटाकर इस जगत्में भी आनंदित रहता और उस आनन्दसे अपने मन, शरीर और इंद्रिय को भी सुखी रखता है।

अध्यात्ममें मनभी सोम हो सकता है। 'चन्द्रमा मनसो जातः' (ऋ० १०।९०।१३) 'चन्द्रमा मनसे उत्पन्न हुआ'। विश्वका चन्द्रमा अध्यात्ममें मनका स्थान ग्रहण करता है। अतः अध्यात्म सोम मन होगा। अग्नि आदि देव अध्यात्ममें क्या स्थान रखते हैं, थोडासा विचार कीजिये—

चन्द्रमा मनसो जातश्चक्षोः सूर्यो अजायत।
मुखादिन्द्रश्चाग्निश्च प्राणाद्वायुरजायत ॥ १३ ॥
नाभ्या आसीदन्तरिक्षं शीर्ष्णो द्यौः समवर्तत।
पद्भ्यां भूमिर्दिशः श्रोत्रात्तथा लोकाँ अकल्पयन् ॥१४॥
(ऋ० १०।९०)

" देवोंने यज्ञके लिये पुरुषकी कल्पना की। उस पुरुषके मनसे चन्द्रमा उत्पन्न हुआ, चक्षुसे सूर्य उत्पन्न हुआ, मुखसे इन्द्र और अग्नि, प्राणसे वायु उत्पन्न हुआ, नाभिसे अन्तरिक्ष हुआ था, शिरसे द्यौ हुई, पाँवसे भूमि, श्रोत्रसे दिशाएँ। देवोंने इसी प्रकार अन्य लोकोंकी कल्पना की। "

यहाँ मन आदिसे चन्द्रमा आदिकी उत्पत्ति अभिप्रेत नहीं, क्योंकि यज्ञ अथवा परमेश्वरके हाथ पाँव मन आदि इन्द्रिय नहीं हैं। यहाँ विराट् और अध्यात्मकी समता दिखाई गई है

अध्यात्म	विश्व
मन	चन्द्रमा
चक्षु	सूर्य
मुख	इन्द्र, अग्नि
प्राण	वायु
नाभि	अन्तरिक्ष
शिर	द्यौ

अध्यात्म	विश्व
पाँव	भूमि
श्रोत्र	दिशा

इस प्रकारका तुलनात्मक वर्णन वेदकी अपनी शैली है। ये वर्णन देखनेमें सरल और समझनेमें कठिन हैं। इनको न समझ कर ही धर्म-शास्त्रकारोंने कई विसगत कल्पना की है जैसे जन्मना वर्ण-व्यवस्था। परमेश्वरका उपादान होना आदि।

सात्विक मनकी प्राप्ति बडी कठिनतासे होती है। उसे प्राप्त करनेके लिये योगी धारणा, ध्यान, समाधिका अनुष्ठान करता है। इस भौतिक जगत्से ऊपर उडान लेता है। वहाँ उसे दिव्य मन प्राप्त होता है परन्तु वासनाएँ मनकी पवित्रता फिर-फिर नष्ट कर देती हैं। कोई धीर-वीर ही इनसे लडकर उसको बचाता है।

(४) ऋजिप्य ईमिन्द्रावतो न भुज्युं श्येनो जभार बृहतो अधि ष्णोः। अन्त. पतत्पतत्र्यस्य पर्णमध यामनि प्रसितस्य तद्वेः॥

(ऋजिप्यः) सीधा चलनेवाले (श्येनः) श्येनने, (इन्द्र-वतः न भुज्युम्) जैसे बलवान् राजाके देशसे अश्वियोंने भुज्युको छीना था वैसे, (बृहतः) बडे (स्नोः अधि) अटल द्युलोकसे (ईम्) इस सोमको (जभार) ग्रहण किया। (अध) तब (यामनि अन्तः) युद्धमें (प्र-सितस्य) बद्ध हुए (अस्य) इस (वेः) पक्षीका (तत्) वह (पतत्रि) गिरनेवाला (पर्णम्) पत्ता, सोम नीचे (पतत्) गिर गयो।

श्येन द्युलोकसे सोम ला रहा था। सोमकी रक्षा करनेवालोंने उसे बाण मारा, वह कुछ घायल हुआ और अन्तमें बाँधा गया। उस समय उसके पाँवसे सोम गिर गया और वह पृथिवीपर आ पडा।

कई भाष्यकार ' श्येनका पङ्ख टूटकर नीचे गिर गया ' ऐसा अर्थ करते हैं। यह भी सम्भव है। परन्तु श्येनके बँध जानेपर सोम छीना जा सकता है। यदि वह नीचे गिर पडे और उसे प्राप्त कर देव पी लें तो वे बलवान् बनकर श्येनको बन्धनसे मुक्त कर सकते हैं। हो सकता है, वह घायल होकर सोमसहित पृथिवीपर गिर गया हो।

जो वृत्तियाँ आनन्दकी बाधिका हैं, वे आनन्द-प्राप्तिमें बाधा डालती हैं। लोभ मनुष्यको नये-नये विषयोंसे लुभाता है। कोई रस देनेवाला पदार्थ आया तो मन झट उधर भाग जाता है। उसके लिये प्रयत्न करता है। प्राप्ति की आशा लगाये रहता है। ज्यों ज्यों आशा बढती है उसका लोभ और भी तीव्र होता जाता है। इस प्रयत्नमें वह सब कुछ भूल जाता है। यहाँ तक कि खाना-पीना छोड देता है। यदि धर्म छोडना पडे तो उसकी भी चिन्ता नहीं करता। माता-पिता, पुत्र-स्त्री, भाई-बन्धु सगे-संबंधी सबको ठुकरा कर केवल उसीकी चिंता करता है।

मोह आकर उसे फँसाता है। प्रियका वह सदा स्मरण करता है। यदि कोई समझाये तो भी नहीं समझता। सब काम छोडकर उसीकी चिंतामें पडा रहता है। उसे भविष्य का ध्यान भूल जाता है। खेती नष्ट होती हो, होती रहे। व्यापार बन्द पडा हो, पडा रहे। राज-काज बिगड रहा हो, बिगडता रहे। स्वामी रुष्ट होता हो, होता रहे। उसे कुछ नहीं दीखता। हाय ! प्यारा कहाँ गया, बस इसी धुनमें मग्न है। यह मोह दुःख-दायी है, प्राणघातक है।

काम मनुष्यको अन्धा बना देता है। बडे-बडे वीर, जो संसारको जीत चुके थे, रूप पर फिसलते देखे गये। कामके वश होकर मनुष्योंने अपने जीवन और धन भी दूसरोंके हाथमें दे दिये। मान और अपमानका उन्हे ध्यान ही न रहा। कामार्त मनुष्य वह सब कुछ कर सकता है, जो एक निर्लज्ज और निर्दय भी नहीं कर सकता। दूसरेके हाथमें जीवन विना विलम्ब सौंपना हो तो कामको अपनाये और दूसरेका कुछ छीनना हो तो उसे कामी बना दे।

क्रोधसे बडा अपना शत्रु कोई नहीं। अपना नाश, क्रोधको वशमें न करनेसे, होता है। क्रोधी मनुष्य समय-असमय, न्याय-अन्याय सब कुछ भूल जाता है। उसके परुष-वचनोंसे मित्र भी शत्रु बन जाते हैं। उसके बार-बार झुँझलाने और फटकारसे स्त्री, पुत्र, भृत्य सभी दुःखी रहते हैं। क्रोधीके अविवेकपूर्ण कृत्योंसे उसके साथी उसका साथ छोड जाते हैं। अन्तमें वह सब कुछ खोकर पश्चात्ताप करता है। क्रोधका जीतना बहुत कठिन है।

क्रोधका बडा भाई अहंकार है। अहंकार न हो तो क्रोध होता ही नहीं। क्रोधके साथ अहंकार अवश्य होता है।

' मैं बडा हूँ, सब मेरी बात मानें। मैं बडा विद्वान् या बलवान् हूँ। मुझे धनकी कमी नहीं है। मेरा कोई क्या बिगाड सकता है? मेरा विरोध या मेरी निंदा क्यों हो? जो मेरी निन्दा करेगा, मैं उसका सर्वनाश कर दूँगा।' अहंकारीका आत्मा दिन-रात घुलता रहता है। उसे अपनी निन्दा रुचिकर नहीं है। लोग उसकी निंदा करते हैं इस लिये उसके आत्माको शांति नहीं मिल रही। किसीने थोडी भी प्रशंसा की, तो उसका आत्मा खिल जाता है। उस प्रशंसकको बडा और अच्छा मनुष्य मानता है। उससे प्रेमसे मिलता, भोजन देता, सदा घर बुलाता और उसकी प्रत्येक बात मानता है। उसके हृदयमें निंदकके लिये स्थान नहीं, निन्दकके प्रति सम्मान नहीं। वह निन्दकको नष्ट कर देना चाहता है, चाहे उसे सर्वस्व ही क्यों न लगाना पडे। वह निन्दाके भयसे कोई काम ही आरम्भ नहीं करता। वह जंगलमें जाकर वास करना अच्छा समझता है, पर निन्दा का सहन नहीं कर सकता। ' मैं श्रेष्ठ हूँ, सुन्दर हूँ फिर लोग मुझे क्यों नहीं चाहते। ' उसे सदा यही शंका रहती है कि कोई भी मुझे अच्छा नहीं मानता।

इन तथा ऐसे अन्य अध्यात्म शत्रुओंसे बचना प्रत्येक आत्म-कल्याणेच्छुके लिये आवश्यक है। परन्तु इनकी उतनी मात्रा अवश्य रखनी चाहिये, जिससे जीवन, धन और राज्य सुरक्षित रहे। इनके वशमें आना मृत्युको निमंत्रण देना है।

(५) अध श्वेतं कलशं गोभिरक्तमापिप्यानं मघवा
शुक्रमन्धः । अध्वर्युभिः प्रयतं मध्वो अग्रमिन्द्रो मदाय
प्रति धत् पिबध्यै, शूरो मदाय प्रति धत् पिबध्यै ॥

(अध) अब (मघ-वा) धनी (इन्द्रः) इन्द्र (अग्रम्) उत्तम, (श्वेतम्) श्वेत (कलशम्) कलशमें रखे, (गोभिः) गायके दूधसे (अक्तम्) सिंचित, (आ-पिप्यानम्) वृद्धिसे युक्त, (अध्वर्युभिः) अध्वर्युओं द्वारा (प्र-यतम्) दिये गये, (मध्वः) मीठे और (शुक्रम्) शक्तिशाली (अन्धः) सोम-रसको (मदाय) मदके निमित्त (पिबध्यै) पीनेके लिये (प्रति धत्) धारण करता है। वह (शूरः) शूर इन्द्र (मदाय) मदके निमित्त (पिबध्यै) पीनेके लिये सोमको (प्रति धत्) ग्रहण करता है।

सोमसे आनन्द बढता है। काम करनेमें उत्साह होता है। इन्द्र इस आनन्दोत्साहवर्धक सोमको पिया करता है।

अध्यात्म आनन्द पीने पर मनुष्यमें उत्साह और स्फूर्ति आती है। वह आनन्द, रसके रूपमें, बहा करता है। जिसने इस रसका स्वाद एक बार भी ले लिया, उसे अन्य रस फीके लगते हैं। वह वार-वार उसी रसको पीना चाहता है। आत्माको यह रस सौभाग्यसे ही प्राप्त होता है। वह तो विषय-रसमें मग्न रहता है। वह इतना अभ्यस्त हो चुका है कि इस रसको छोडना ही नहीं चाहता। यह अपने आत्म-रसको भूल चुका है। जो रस उसके भीतर है उसका उसे ज्ञान ही नहीं। यद्यपि बाहरसे थका हुआ उसी रसको पीकर पुनः शक्तिलाभ करता है, परन्तु यह निसर्गसे होता है, उसे इसका ज्ञान नहीं। वेद, शास्त्र और महात्मा लोग उधर जानेका निर्देश करते हैं परन्तु यह तो उसे शून्य देश मानता है, मानो अपने भीतर कुछ है ही नहीं। इतने बडे शरीरका संचालन भीतरसे होता है। बडे-बडे राज्य-संचालनकी व्यवस्था भीतर बनती है। परन्तु यह आत्मा मानता है कि मेरे भीतर कुछ है ही नहीं। बाहर ही सब कुछ है। वह भीतर अन्धकार पाता है, बाहर प्रकाश। भीतर कुछ नहीं, बाहर रम्य प्रदेश, मधुर भोजन-रस, सुन्दर आकर्षक दृश्य हैं। बाहर चित्त प्रसन्न होता और भीतर जानेपर ऊबता है। तब यह भीतरके आनन्दको कैसे पा सकता है? भीतर आनन्द है। जिन्होंने अनुभव किया, वे बता गये। अब भी अनुभवी लोग पुकार-पुकार कर कह रहे हैं 'पीओ, पीओ, आनन्दरस तुम्हारे भीतर ही है। बाहर कहाँ ढूंढ रहे हो। इस रसको पीकर मृत्युसे बच जाओगे। सचमुच अमर हो जाओगे। ' शरीर तो मर्त्य है, यह मरेगा ही। कोई ओषधि, कोई उपचार इसे अमर नहीं कर सकता, तब शरीरको अमर बनानेकी चिन्ता व्यर्थ है। आत्मा स्वभावत. अमर है, इसे अमर बनानेकी आवश्यकता नहीं, पैसा लगानेकी आवश्यकता नहीं। इसे जानना चाहिये और शरीर-भावसे आत्म-भावमें आना चाहिये। बस इतनेसे ही अमरत्व मिल सकता है। यह जितना ही सुलभ और सुगम है उतना ही इसकी प्राप्ति कठिन है। जब प्राप्तिका समय आता है, अनायास प्राप्त होता है; नहीं तो, अनेक जीवन, अनेक जन्म प्रयत्न करने पर भी सिद्धि नहीं प्राप्त होती। (क्रमशः)

Regd No. B. 1463

मुद्रक और प्रकाशक- व० श्री० सातवळेकर, भारत-मुद्रणालय, औंध.

मई १९४५
वैत्र सं. २००२

विषयसूची।

१ किस भांतिकी धनसंपात्ति प्राप्त की जाय ? २१७

२ विश्व भ्रम नहीं है, किंतु ब्रह्मही है। २१८

३ मधुच्छन्दा ऋषिका दर्शन
संपादक १-३२

४ स्पिनोझा और उसका दर्शन
पं० श्री० मा. चिगळे, M A. ८९-९६

संपादक
पं. श्रीपाद दामोदर सातवळेकर

सहसंपादक
पं दयानंद गणेश धारेश्वर, B A.
स्वाध्याय-मण्डल, औंध

वार्षिक मूल्य
म. ऑ से ५) रु; वी. पी. से ५।=) रु.
विदेशके लिये १५ शिलिंग।
इस अंकका मू ॥) रु.

क्रमांक ३०५

दैवतसंहिता ।

प्रथम भाग तैयार है। द्वितीय भाग छप रहा है।

आज वेद की जो संहिताएँ उपलब्ध है, उन में प्रत्येक देवता के मन्त्र इधरउधर बिखरे हुए पाये जाते हैं । एक ही जगह उन मंत्रों को इकट्ठा करके यह **दैवत-संहिता** बनवायी गयी है । प्रथम भाग में निम्न लिखित ४ देवताओंके मंत्र है-

	देवता	मंत्रसंख्या	पृष्ठसंख्या	मूल्य	डाकव्यय
१	**अग्निदेवता**	२४८३	३४६	३) रु	।॥)
२	**इंद्रदेवता**	३३६३	३७६	३) रु.	।॥)
३	**सोमदेवता**	१२६३	१५०	२) रु.	॥)
४	**मरुद्देवता**	४६४	७२	१) रु	।)

इस प्रथम भाग का मू. ६) रु. और डा. व्य. १॥) है।

इस में प्रत्येक देवता के मूल मन्त्र, पुनरुक्त मंत्रसूची, उपमासूची, विशेषणसूची तथा अकारानुक्रम से मंत्रोंकी अनुक्रमणिका का समावेश तो है, परंतु कभी कभी उत्तरपदसूची या निपातदेवतासूची इस भाँति अन्य भी सूचीयाँ दी गयी हैं। इन सभी सूचीयों से स्वाध्यायशील पाठकों की बड़ी भारी सुविधा होगी।

संपूर्ण दैवतसंहिताके इसी भाँति तीन विभाग होनेवाले हैं और प्रत्येक विभाग का मूल्य ६) रु तथा डा व्य. १॥) है। पाठक ऐसे दुर्लभ ग्रन्थ का संग्रह अवश्य करें। ऐसे ग्रन्थ बारबार मुद्रित करना संभव नहीं और इतने सस्ते मूल्य में भी ये ग्रन्थ देना असंभव ही है।

वेदकी संहिताएं ।

वेद की चार संहिताओंका मूल्य यह है-

१ **ऋग्वेद** (द्वितीय संस्करण)	६) डा० व्य० १।)	३ **सामवेद**	३॥) डा० व्य० ।॥)
२ **यजुर्वेद**	२॥) ,, ,, ॥)	४ **अथर्ववेद** (द्वितीय संस्करण)	६) ,, ,, १)

इन चारों संहिताओंका मूल्य १८) रु और डा. व्य. ३) है अर्थात् कुल मूल्य २१) रु है। परन्तु पेशगी म० आ० से सहुलियतका मू० १८) रु० है, तथा डा० व्यय माफ है। इसलिए डाकसे मगानेवाले १५) पंद्रह रु० पेशगी भेजें।

यजुर्वेद की निम्नलिखित चारों संहिताओं का मूल्य यह है- ।

१ **काण्व संहिता** (तैयार है)	४) डा० व्य० ।॥)	३ **काठक संहिता** (तैयार है)	६) डा० व्य १)
२ **तैत्तिरीय संहिता**	६) ,, ,, १)	४ **मैत्रायणी संहिता** ,,	६) ,, ,, १)

वेदकी इन चारों संहिताओं का मूल्य २२) है, डा. व्य. ३॥) है अर्थात् २५॥) डा. व्य. समेत है। परंतु जो ग्राहक पेशगी मूल्य भेजकर ग्राहक बनेंगे, उनको ये चारों संहिताएं २२) रु० में दी जायगी। डाकव्यय माफ होगा।

--मंत्री, स्वाध्याय-मण्डल, औंध, (जि० सातारा)

वर्ष २६ | क्रमांक ३०५, चैत्र संवत २००२, मई १९४५ | अङ्क ५

किस भाँतिकी धनसंपत्ति प्राप्त की जाय?

सं चोदय चित्रमर्वाग्राध इन्द्र वरेण्यम् । असदित्ते विभु प्रभु ॥ ५ ॥
अस्मान्त्सु तत्र चोदयेन्द्र राये रभस्वतः । तुविद्युम्न यशस्वतः ॥ ६ ॥
सं गोमदिन्द्र वाजवदस्मे पृथु श्रवो बृहत् । विश्वायुर्धेह्यक्षितम् ॥ ७ ॥

(ऋ ८।९)

' हे प्रभो ! हे परम पिता परमात्मा ! हमें तू ऐसे धनका प्रदान कर कि जो श्रेष्ठ अनूठा सामर्थ्य रखनेवाला, विशेष प्रभावशाली तथा हरजगह काममें आनेवाला, गोधनकी विपुलतासे अलकृत विविध बलोंसे युक्त, विशाल, विस्तृत, यशस्वी, पूर्ण आयु देनेवाला और कभी विनष्ट न होनेवाला हो । हम सचेष्ट बने हुए हैं तथा पूरी सफलता पानेके लिए लगातार प्रयत्न कर रहे हैं, अतएव कृपया हमे इस कार्यमे यश मिल जाय, ऐसा प्रबंध कर । '

धनवैभव प्राप्त करनेकी अदम्य लालसा हमेशाही मानवी अन्तस्तलमें उठ खडी होती है, किंतु एक बातमें अतीव सतर्क एवं सचेष्ट रहना चाहिये कि वह ऐश्वर्य, आर्थिक समृद्धि उच्च कोटिकी हो, सर्वोपरि श्रेष्ठ रहे, स्वीकरणीय एवं सहर्ष उपादेय भी हो और मानवमात्रामे जो सुप्तावस्थामें विद्यमान शूरता, वीरता तथा प्रभावी सामर्थ्य है, उसको प्रतिपल वर्धिष्णु बनानेवाली भी हो। जो धन अथक परिश्रमोंके फलस्वरूप प्राप्त हो, उससे मानवी जीवनको वृद्धिगत करनेमें पर्याप्त सहायता मिले, तथा बल भी अक्षुण्ण बना रहे । उस धनलाभसे प्रचुर मात्रामें गाएँ पालना सुसभव हो जाय, नानाविध षडरस अन्नोंका उपभोग लेना सहज सुसाध्य हो और साधारणतया यशस्वी जीवन बिताना सुगम हो जाय । वीरोंको धन मिले, दुर्बल एवं क्षीण लोगोंको नहीं, इस विषयमें बहुत सतर्क रहना चाहिये ।

विश्व कदापि 'भ्रम' नहीं है, किन्तु 'ब्रह्म' ही है

श्रीशंकराचार्यजीने जो यह कहा कि 'ब्रह्म सत्य है, जगत् मिथ्या है और जीव भी तत्त्वतः ब्रह्म है,' भला उसका मतलब क्या है? इस प्रतिपादनको भली तरह समझानेके लिए आचार्यजीने यूं स्पष्टीकरण किया कि, (१) सीपको देख लेनेसे चांदीका आभास हुआ करता है, (२) रस्सीपर दृष्टिपात करनेसे सर्पका भ्रम पैदा होता है। सीपकी जगह चांदी पडी है, ऐसा प्रतीत हो रहा था, लेकिन अधिक गवेषणाके पश्चात् विदित हुआ कि वास्तवमें वह चीज चांदी नहीं, किंतु सीप है। उसी प्रकार रस्सीपर निगाह डालतेही यद्यपि साँपकी कल्पना उठ खडी हुई तो भी उजेलेमें ज्यादा निरीक्षण करनेपर सच्ची बात ध्यानमें आ गयी कि वह वस्तु भीषण साँप नहीं अपितु मामूली एक रस्सीका टुकडा है। ठीक इसी तरह ब्रह्मका व्यक्त स्वरूप देखनेपर प्रारम्भमें अल्प ज्ञानकी वजहसे यूं भ्रांति हुई कि, यह तो नश्वर जगत् है, पर ज्ञानके आलोक-किरण फैलतेही सत्य ज्ञानसे अन्तस्तल उद्भासित हो उठता है कि यहाँपर यह जगत् नहीं है किंतु यह समूचा ब्रह्म ही है, अन्य कुछ भी नहीं।

दूसरा एक दृष्टान्त लीजिये। एक मूर्तिकारने चीनीकी कई मूर्तियाँ बना डालीं; नरेश, प्रधान, सचिव, प्रहरी आदि सभी आकृतियाँ शक्करकी हूबहू तैयार कर दीं तो दूरसे देखने वाला यही सोचेगा कि ये सभी विभिन्न मानवोंकी सच्ची आकृतियाँ हैं। पर ज्योंही वह उन्हें उठाकर मुँहमें रक्खेगा, उसके ध्यानमें आयेगा कि मिश्रीके सिवा और कुछ भी सचमुच नहीं है। विभिन्न मूर्तियोंका दर्शन होनेपर भी वास्तवमें शर्कराके अतिरिक्त भला और कौनसी चीज वहाँ थी?

इसी तरह साराका सारा यह विश्व ब्रह्म, ओ३म् परम-पिता परमात्माका ही प्रत्यक्ष स्वरूप है। हाँ, प्रारंभमें ऐसा जरूर जान पडता है कि यह दृश्यमान विश्व अलग कछु और ही है तथा इससे सर्वथैव पृथक् ब्रह्म या परमेश्वर है। यह निरा अज्ञान विलसित है, दूसरा कुछ नहीं हैं। क्योंकि ज्योंही विज्ञानरूपी दीपस्तम्भका आलोक फैल जाता है, स्पष्ट विदित होता है कि यह समूचा विश्व एक सत् तत्त्वका ही बना हुआ है जिसे चाहो तो आप ब्रह्म कहो; या पुरुष कहें अथवा परम पिता परमात्मा ओ३म् किंवा एकं सत् कह दें तो भी कुछ हर्ज नहीं।

भाँतिभाँतिके सुवर्णके गहने बनाये तो अवश्यमेव उन आभूषणोंके नाम, रूप एवं उपयोग पृथक् होंगे तथा नर-नारी अलग अलग अंगोंपर उन्हे धारण करें, तथापि वास्तव में सुवर्णके सिवा भला कौनसी दूसरी सत् वस्तु विद्यमान है? विविध अलंकारोंका दर्शन होनेपर भी उनका सुवर्णत्व तनिक भी घटता नहीं, या किसी भी तरह क्षतिग्रस्त नहीं होने पाता है। ठीक ऐसे ही विश्वभरमें विविधता, विभिन्नताकी अनुभूति होने लगी, तो भी विश्वका ब्रह्मत्व लेश-मात्र भी विलुप्त नहीं होता है। हमें जो विश्व दृष्टिगोचर होता है वह असंशय ब्रह्म ही है और जो पृथक्ताका आभास हुआ करता है, वह भ्रांति है जिसे यावच्छीघ्र दूर करना उचित है, तथा सबके ब्रह्मपन या समत्वकी दिव्य एवं सर्वोपरि अनुभूति और जानकारी पाकर कृतकृत्य बनना चाहिये।

यह सत्यज्ञान सिर्फ माननेके लिए नहीं है, किन्तु मानवके दैनंदिन व्यवहारमें ढालनेके लिये है। ऊपर कहे ढंगसे राजा एवं प्रजाका ब्रह्मरूपत्व सुस्पष्ट है। एक ब्रह्मसत्ताका-परमात्म-सत्ताका या नारायण-सत्ताका यह द्विविध स्वरूप है। इसीलिये इन दो अंगोंके संमिलित रूपमें दोनोंहि एक सत्ताके, एक जीवनके अटूट तथा अभेद्य घटक हैं, ऐसा समझकर बर्ताव करके परस्पर पोषक बनना उचित है। ऐसा व्यवहार होनेपर ही राजा तथा प्रजाजन एक दूसरेसे न लडकर परस्पर-सामर्थ्यकी वृद्धि करेंगे और सम्मिलित रूपमें सबका सुख बढ जायगा।

इस सत्य ज्ञानकी उपेक्षा होनेसे राजसत्ता तथा प्रजासत्ता के झगडे जारी हैं। वैदिक ऋषियोंका यह सदैक्य-तत्त्वज्ञान व्यवहारमें उतर आये और सबकी समबुद्धि हुई तोही ये झगडे मिट जायेंगे, तथा मानवी दुनियामें शांतिसुखकी अमिय धार अविरत एवं अविरल बहने लगेगी।

एकही ब्रह्मके दो अंग होनेसे राजा-प्रजा, मालिक-मजदूर, धनाढ्य-श्रम-जीवी, पुरोगामी-पिछडे, छूत-अछूत, हिंदू-मुस्लिम जैसे कलहकेन्द्र सहायसेवा-केन्द्र बनने चाहिये। एकही परमात्माके ये दाहिने और बाँयें विभाग हैं तथा एक आत्मसत्ताकी अभिव्यंजनामात्र हैं।

यही गीतोक्त समबुद्धि है और ऋषिनिर्दिष्ट यह ज्ञान संसारके व्यवहारको प्रभावित करनेके लिए है तथा सोचने पर विदित होगा कि इसीके सहारे जगत्के दुःखसंकटोंसे छुटकारा पाना संभव है। दूसरा कोई उपाय नहीं है।

खेदकी बात है, तत्त्वज्ञान एवं व्यवहारके बीच बडी चौडी खाई है, जिससे महासमरका सृजन होता है। तत्त्व-ज्ञानाधिष्ठित व्यवहारसे याने समूचा विश्व एक अखंड सत्ताका सम्मिलित रूप है, इस विचारधारासे प्रभावित आचरणसे सम्यक् शांति फैल जायगी, नहीं तो एक युद्धके बाद दूसरा संग्राम उठ खडा होगा। वर्तमान युध्यमान राष्ट्र इसको न भूलें। लडनेवाले राष्ट्रोंकी शांतिस्थापनार्थ जारी चेष्टाएँ निष्फल हैं, क्योंकि वे वेदनिर्दिष्ट सदैक्य-तत्त्वज्ञानसे प्रभावित नहीं हैं।

मधुच्छन्दा ऋषिका दर्शन

(ऋग्वेदका सुबोध भाष्य)

(१) प्रथमोऽनुवाकः

अग्नि

(१।१-९) मधुच्छन्दा वैश्वामित्रः । अग्निः । गायत्री ।

अग्निमीळे पुरोहितं यज्ञस्य देवमृत्विजम् ।
होतारं रत्नधातमम् ॥ १ ॥

अन्वयः- पुरोहितं यज्ञस्य देवं ऋत्विजं होतारं रत्नधातमं अग्निं ईळे ॥ १ ॥

अर्थ- मैं अग्रभागमें रखे, यज्ञके प्रकाशक, ऋतुके अनुकूल यजन करनेवाले, हवन करनेवाले अथवा देवताओंको बुलानेवाले, रत्नोंका धारण करानेवाले अग्निकी प्रशंसा करता हूं, ऐसे अग्निके गुण वर्णन करता हूं।

(अहं अग्निं ईळे) मै अग्निकी स्तुति करता हूं। मैं अग्निके गुणोंका वर्णन करता हूं। अग्निदेव प्रकाश देता है, उष्णता देता है और गति करता है। जो प्रकाश बताकर उत्तम मार्ग बताता है, जो उष्णता देकर उत्साह बढाता है और जो सबकी प्रगति करता है, वह देव वर्णनका विषय होने योग्य है। मनुष्य भी अन्य जनोंको प्रकाश बताकर सन्मार्ग बतावे, जनतामें उत्साह उत्पन्न करके बढावे और सबकी उत्तम प्रगति करे। जो ऐसा करता है, वही समाजमें अग्नि जैसा तेजस्वी धुरीण है।

यही अग्रणी है। अग्निः कस्मात् अग्रणीर्भवति (निरुक्त) अग्नि अग्रणीही है, क्योंकि वह अग्रभागतक ले जाता है, अन्तिम सिद्धितक पहुंचाता है। बीचमें न छोडता हुआ आखीरतक ले चलता है, वही अग्रणी है, वही धुरीण है। ऐसे अग्रणीके पीछे पीछे जानेवाला समाज निःसन्देह उन्नति करता रहता है। जो ऐसा अग्रणी होगा उसीकी मैं प्रशंसा करता हूं। यही प्रशंसा करने योग्य है। अनुयायियोंको यही अंतिम यशको प्राप्त कराता है।

(अहं पुरोहितं अग्निं ईळे) मैं अग्रभागमें रहे अग्रणीके गुण गाता हूं। जो अग्रणी हमारे पास, हमारे समीप, हमारे सामने, हमारे निकट रहता है, हरएक कार्यमें अग्रभागमें रहता है, पहिलेसे ही जो हित करता है, कभी पीछे नहीं हटता, वही स्तुतिके योग्य है। जो स्वयं पीछे रहे और दूसरोंको संकटके स्थानोंपर भेज दे, स्वयं सुरक्षित स्थानमें रहे, वह प्रशंसाके योग्य नहीं है।

(यज्ञस्य देवं) यज्ञ वह कर्म है कि जिसमें देवपूजा-संगतिकरण-दान रूप त्रिविध शुभ कार्य होता है। श्रेष्ठोंका जहां सत्कार होता हो, सबका संगठन अथवा सबका संगतिकरण, सबका परस्पर मेलमिलाप जिससे हो और सुयोग्योंको जहां दान मिले, वह यज्ञरूप कर्म सबका कर्तव्य है। सज्जनोंका सत्कार, सबकी संघटना, दीनों और दुर्बलोंकी दानद्वारा जहां सहायता होती है वह यज्ञकर्म है। यह प्रशस्ततम कर्म है। यही श्रेष्ठ कर्म है। ऐसे प्रशस्त कर्मोंका प्रकाशक यह अग्रणी होता है। यह ऐसे ही कर्म करता और कराता है, इसीलिये वह प्रशंसाके योग्य होता है। जो ऐसे कर्म करेगा, वही प्रशंसा होने योग्य होगा।

(ऋत्विजं = ऋतु + यजं) ऋतुके अनुकूल जो यजन करता है, ऋतुके अनुसार जो कर्म करता रहता है। वसंत ग्रीष्म, वर्षा, शरत्, हेमन्त और शिशिर ये छः वर्षके ऋतु हैं; इन ऋतुओंके अनुसार जो अपनी ऋतुचर्या करेगा, वह

नीरोग, सुदृढ और दीर्घायु होगा। आयुर्वेदमें ऋतुचर्या लिखी है, वह यहां देखनी योग्य है। मनुष्यके जीवनमें भी बाल्य, कौमार, तारुण्य, वार्धक्य, जीर्ण, क्षीण ऐसे अवस्था के ऋतु होते हैं। इनके अनुसार मनुष्यको अपनी दिनचर्या रखनी योग्य है। इससे नीरोगिता सिद्ध होगी। प्रतिदिन उष.काल, सूर्योदय, मध्याह्न, उत्तराह्न, सायंकाल, रात्रि ये ऋतु होते हैं। इनके अनुसार दैनंदिनका व्यवहार करना योग्य है। इस तरह ऋतुसंधियोंमें जो परिवर्तन होते हैं, उस कारण नाना रोग उत्पन्न होते हैं, उस समय योग्य हवन करनेसे रोगोंका शमन होता है। ऋतुके अनुसार विचारपूर्वक यजन, याजन, तथा अन्यान्य व्यवहार करनेसे मनुष्यका कल्याण होता है। ऋतुके अनुकूल दिनचर्या रखनेवाला पुरुष आदर्श पुरुष है, इसीलिये वह स्तुतिके लिये योग्य है।

(होतारं, ह्वातारं) हवन करनेवाला होता है, और देवताओंको आह्वान करनेवाला भी होता कहलाता है। यज्ञ-स्थानमें देवोंको, श्रेष्ठोंको बुलाना और उनका सत्कार करना उनके उद्देश्यसे धनादिका अर्पण करना चाहिये। समाजमें भी ज्ञानदेव ब्राह्मण हैं, बलदेव क्षत्रिय हैं, धनदेव वैश्य हैं, कर्मदेव शूद्र हैं, तथा वनदेव निषाद हैं। ये सब देव सत्कारसे तथा आदरसे यज्ञकर्ममें बुलाने योग्य हैं। अग्रणी इनको बुलाता और उनका सत्कार करता है। उत्सवोंमें, शुभ दिनोंमें, यज्ञके समय देवोंको बुलाकर उनका सत्कार करना, उनके साथ मित्रता करना और उनके लिये कुछ अपने धनका अंश अर्पण करना चाहिये।

(रत्न-धा-तमं) रत्नोंको अत्यंत बडे प्रमाणमें अपने पास धारण करनेवाला, अपने पास बहुत धन आदि पदार्थ धारण करनेवाला, जो अपने पास बहुत ही धन और धान्य रखता है, अपने पास रमणीय धनोंका धारण करनेवालोंको (रत्न-धा) कहते हैं, ' रत्न-धा-तर ' और ' रत्न-धा-तम ' ये पद उससे अधिक अत्यधिक रत्नोंके धारण करनेवालोंके वाचक हैं। यहां प्रश्न उत्पन्न होता है कि, यह जो अपने पास इतना प्रचण्ड धन धारण करके रखता है, वह अपने भोगके लिये या जनताके हितके लिये ? इसके उत्तरमें निवेदन है कि, यह अपने भोगके लिये नहीं; क्योंकि यह ' देव ' है और जो देव होता है वह दाता होता ही है। देवो दानाद्वा द्योतनाद्वा (निरुक्त) देव दान देता है और दान देनेसे प्रकाशता भी है। अग्नि प्रकाशका दान करता है, धनदाता है, ' द्रविणो-दा ' अर्थात् धनका दाता इसी अग्निका नाम है। इसलिये यह जो अपने पास इतना धन रखता है वह अनुयायियोंको दान करनेके लिये ही निःसंदेह है। अग्नि धन प्राप्त करता है और उसका दान भी करता है। यही उसका महत्त्व है। मानवोंको भी धन प्राप्त करके उसका दान करना उचित है।

जो अग्रभागमें रहता है, प्रथमसे सबका हित करता है, शुभ कर्मोंका प्रवर्तन करता है, ऋतुके अनुसार यजन करता है, देवोंको बुलाता है, अपने पास धनका संग्रह करके उसका जो दान करता है, उसीका वर्णन करना योग्य है।

अर्थात् जो पीछे रहता है, सत्कर्मोंका प्रवर्तन नहीं करता, ऋतुओंके अनुसार जो कर्म नहीं करता, जो देवजनोंको अपने पास नहीं बुलाता, जो धन प्राप्त नहीं करता अथवा प्राप्त करके अपने भोगके लिये ही जो धनका व्यय करता है वह प्रशंसाके योग्य नहीं है।

इस मन्त्रमें छः गुण वर्णनीय करके कहे हैं—

(१) अग्निः= जनताको प्रकाशका मार्ग बताना; अग्र-नीः= अन्त तक ले जाना, सिद्धितक पहुंचाना, अग्रणी या नेता होना; (२) पुरःहितः = पहिलेसे हित करनेकी आयोजना करना, पूर्ण हित करना, अग्रभागमें अथवा सामने रहना; (३) यज्ञस्य देवः = यज्ञका प्रकाश करना, सत्कार-संगति दानात्मक शुभ कर्मको सतत करना; (४) ऋत्विक् = ऋतुके अनुसार यज्ञ करना, समयके अनुसार कर्म करना, समयमें करनेयोग्य कर्म करना; (५) होता= दाता, आदाता, हवनकर्ता, आह्वान करनेवाला;(६) रत्न-धा-तम = धनादि रत्नोंको धारण करना और उनका दान करना ये सद्गुण प्रशंसा योग्य हैं। ये गुण वर्णनके योग्य हैं।

इस मन्त्रमें ' पुरोहित, ऋत्विज्, होता ' ये तीन ऋत्विजों अथवा याजकोंके नाम हैं। ये याजक समाजमें अग्निके ही रूप हैं। इन याजकोंके रूपोंमें समाजमें अग्नि कार्य करता है। वेदमें अग्निको वाग्रूप कहा है। ' अग्नि-र्वाग्भूत्वा मुखं प्राविशत्। ' (ऐ० उ० १।१) अग्नि वाणी

होकर मुखमें प्रविष्ट हुआ है। अर्थात् वाणी अग्निका रूप है। यह वाणी ब्राह्मणोंमें रहती है, इसलिये ब्राह्मण अग्निके रूप हैं। उन ब्राह्मणोंमेंसे '**पुरोहित, ऋत्विज्, होता**' ये तीन नाम इस मन्त्रमें कहे हैं। इसी सूक्तमें '**कवि**' नाम अग्निके लिये आया है (मं. ५)। यह कवि भी वाणी का ही प्रभावी रूप है। इस मन्त्रका '**रत्न-धा-तम**' पद भी धनवान्‌का वाचक है। धनवान् मानव भी अग्नि-रूप है। यह पद यहां यजमानका वाचक है। आगे यजमानको अनेक मंत्रोंमें धनवान् कहा है। यजमान धनधान्य संपन्न होनेसे ही वह उस धनसे तथा धान्यसे यज्ञ करता है। अतः 'रत्नधातम' पद धनी लोगोंका वाचक मानना योग्य है। इस तरह समाजमें कौन अग्नि हैं, इसका ज्ञान हो सकता है।

'रत्न-धा-तम' पद अग्निका भी वाचक है, क्योंकि भूमिगत अग्निकी उष्णतासे ही तो नाना प्रकारके रत्न हीरे, लाल, पन्ने आदि बनते हैं। भूमिगत उष्णता न होगी तो कोई रत्न नहीं बनेगा। इस तरह अग्निका रत्नोंकी उत्पत्तिके साथ सम्बन्ध है। इस मन्त्रके सब पद अग्निवाचक तो हैं ही। ये ऐसे होते हुए सामाजिक मानवरूप अग्निके भी वाचक हैं।

'**तत् एव अग्निः**' (वा० य० ३२।१) वह ब्रह्म ही अग्नि है। यह जो अग्नि जलता है वह ब्रह्मका प्रकट रूप है। '**एकं सत् विप्रा बहुधा वदन्ति अग्निं यमं०।**' (ऋ. १।१६४।४६) एक ही सत् है, उसका वर्णन ज्ञानी लोग अनेक प्रकारसे करते हैं, उसीको अग्नि, यम, इन्द्र आदि कहते हैं। इस तरह यह 'अग्नि' ब्रह्मका, आत्माका, परब्रह्मका, परमात्माका अथवा परमेश्वरका रूप है। '**अग्निं यश्चक आस्यं**' (अथर्व १०।७।३३) अग्नि परमेश्वरका मुख है। इस तरह अग्निको परमात्माका रूप कहा है। परमात्माका स्वरूप समझकर ही अग्निकी ओर देखना चाहिये।

यह परमात्माका स्वरूप अग्नि है, यह उपासकोंको अग्र-भागमें-अन्तिम मुक्तिरूप सिद्धितक ले जाता है, सामने रहकर पूर्ण हित करता है, हरएक यज्ञकी सिद्धि करता है, ऋतुओंके अनुसार सबकी योजना करता है, दान देता है, सब देवताओंको लाता है। सूर्यादि नाना रमणीय पदार्थों को अपने शरीरपर धारण करता है। यह परमात्मविषयक वर्णन इसी मन्त्रमें है। व्यक्तिके शरीरमें रहनेवाले जीव आत्माका भी यही वर्णन अंशरूपसे-थोडे संक्षेपसे हो जाता है।

अग्निः पूर्वेभिर्ऋषिभिरीड्यो नूतनैरुत।
स देवाँ एह वक्षति ॥ २ ॥

अन्वयः- पूर्वेभिः ऋषिभिः उत नूतनैः ईड्यः अग्निः (अस्ति)। सः देवान् इह आ वक्षति ॥ २ ॥

अर्थ- प्राचीन ऋषियोंद्वारा तथा नवीन ऋषियों द्वारा स्तुति करने योग्य यह अग्निदेव है। वह अन्य देवोंको यहां ले आता है।

अग्निदेव तथा अग्रणी जिसके गुण पूर्व मन्त्रमें कहे गये हैं, वह प्राचीन तथा नवीन ज्ञानियों द्वारा प्रशंसाके योग्य है। सब कालोंमें उक्त गुणोंवाला प्रशंसित होता है, क्योंकि वह सब देवोंको अपने साथ लाता है और अपना निवास-स्थान देवतामय करता है। परमात्मा सूर्य, चन्द्र, इन्द्र, वायु, आदि देवताओंके साथ ही इस विश्वमें विराजता है। जीवात्मा इस देहमें देवतांश नेत्र, कर्ण, नासिका त्वचा, मुख, आदि अवयवोंके साथ रहता है, यह भी गर्भमें अपने साथ इन देवांशोंको लाता है और यथास्थान रखता है। इस शरीरमें यह जीव शतसांवत्सरिक यज्ञ करता है। देह इसका कार्यक्षेत्र है और ३३ देवताओंके अंश इसके साथ रहते हैं। राष्ट्रमें अग्नि जैसा तेजस्वी राजा अपने साथ नाना प्रकारके ओहदेदारोंको, विद्वानोंको, शूरोंको, धनियोंको और कर्मवीरोंको रखता है और इनके द्वारा राज्य-शासन चलाता है। ज्ञानी जन अनेक दिव्य गुणवानोंको अपने साथ लाता और यहांका संसार सुखमय करता है। इस तरह देवोंको साथ लानेका सर्वत्र बडा ही महत्त्व है। जो अपने साथ देवोंको लाता और रखता है, वही प्राचीनों और अर्वाचीनों द्वारा प्रशंसित होता है।

यहां प्राचीनों और अर्वाचीनोंद्वारा समानतया प्रशंसित होनेकी बात कही है। यह बडे महत्त्वकी है। कोई मनुष्य किसी एक समयमें प्रशंसित हो सकता है, परन्तु वह प्रशंसा सत्य नहीं है। जिसकी प्रशंसा प्राचीन और अर्वाचीन, पूर्वों और नवीनों द्वारा भी होती है, वही सच्ची प्रशंसा है और वही सच्चा प्रशंसित समझना चाहिये।

*

अग्निना रयिमश्नवत् पोषमेव दिवे दिवे ।
यशसं वीरवत्तमम् ॥ ३ ॥

अन्वय – अग्निना रयिं, दिवे दिवे पोषं, वीरवत्तमं यशसं अश्नवत् ॥

अर्थ— अग्निसे धन, प्रतिदिन पोषण और वीरता युक्त यश प्राप्त होता है ।

परमात्मासे विश्वमें और जीवात्मासे व्यक्तिके शरीरमें शोभा, पुष्टि और यशकी प्राप्ति होती है, यह सबोंके ध्यानमें आसकता है । धन, रयि, ये पद धन्यता, शोभा आदिके वाचक पद हैं । शरीरमें शोभा तो जीवके रहनेसे ही है, पोषण भी जीवके रहनेतक ही होता है और वीरता भी जीवके रहनेतक ही रहती तथा बढती है । शरीरमें जीवात्मा न रहा तो न शोभा, न पोषण और नाही वीरता ही होगी।

समाजमें पुरोहित और कवि राष्ट्रके जीवनरूप हैं । वे ही समाजमें तथा राष्ट्रमें नवचैतन्य निर्माण करते हैं । समाज में धन, शोभा, पुष्टि और वीरतायुक्त यश बढानेवाले कविरूप अग्नि ही हैं । लेखक, कवि, वक्ता, उपदेशक पुरो-हित ब्राह्मण ही समाज और राष्ट्रमें धन पोषण और वीरता-युक्त यश बढाते रहते हैं ।

यहां ' वीरवत्तमं यशसं पोषं रयिं ' ये पद महत्त्वपूर्ण हैं; धन, पोषण और यश मानवोंको चाहिये, पर ये तीनों ' वीर-वत्-तमम् ' वीरतासे अत्यंत परिपूर्ण चाहिये ! जिसके साथ वीरता नहीं है, ऐसा धन भी नहीं चाहिये, कमजोरी उत्पन्न करनेवाला पोषण भी नहीं चाहिये, और निर्बलताको बढानेवाला यश भी नहीं चाहिये । वीरतारहित धन किस कामका है ? उस धनकी रक्षा कौन करेगा ? इस लिये धनके साथ वीरताका बल अवश्य चाहिये । शरीर बडा पुष्ट रहता है, पर वीरता नहीं है, ऐसा पोषण धनवान् सेठों-का होता है । यह किस कामका ? जिस पुष्टिसे वीरतायुक्त बल बढता है वही पुष्टि हमें चाहिये । यश भी बल और वीरत्वके साथ चाहिये । नहीं तो कई लोग बहुत ज्ञान प्राप्त करते हैं, पर शरीरसे मरियल, रोगी और निर्बल रहते हैं। ऐसी विद्या किस कामकी ? अतः धन, पुष्टि और यशके साथ वीरता भी अवश्य चाहिये । यहां तीनोंके साथ वीरता चाहिये यह भाव समझना उचित है । यहां ' वीर ' का अर्थ ' सुपुत्र, सुसंतान ' मान कर अर्थ करना भी योग्य है । धन, पोषण और यशके साथ सुसंतान भी चाहिये ।

नहीं तो मनुष्य धनवान् तो रहता है, पुष्ट भी रहता है और विश्वमें यशस्वी भी होता है, परंतु संतान नहीं होते । ऐसा पुत्ररहित घर किस कामका है ? घरमें पुत्र पौत्र हों और वे सब धनी हृष्ट पुष्ट और यशस्वी भी हों।

पुत्रके लिये वेदमें ' वीर ' पद आता है । इसका आशय यह है कि (वीरयति अमित्रान्) जो शत्रुओंको दूर भगानेका सामर्थ्य रखता है, वह वीर कहलाता है । ऐसा वीर संतान हो । पुत्र पौत्र कैसे होने चाहिये इसका यहां स्पष्ट निर्देश है कि पुत्र शत्रुको परास्त करनेवाले वीर होने चाहिये ।

हम देखते हैं कि धनवान् स्वयं कमजोर निर्बल होते हैं, उनको प्रायः संतान भी नहीं होता । परंतु वेदने यहां कहा है कि धनके साथ बल, बलके साथ पुष्टि, और पुष्टिके साथ वीरपुरुषों और वीरपुत्रोंके साथ मिलनेवाला यश प्राप्त करना चाहिये ।

अपने पास क्या है इसकी परीक्षा मनुष्य करे और जहां दोष हों वहांका आवश्यक सुधार करे । इस मन्त्रने आदर्श मानव अग्निके वर्णनसे बताया है । प्रत्येक मनुष्य इस आदर्श से अपनी परीक्षा करे ।

अग्ने यं यज्ञमध्वरं विश्वतः परिभूरसि ।
स इद्देवेषु गच्छति ॥ ४ ॥

अन्वयः– हे अग्ने ! यं अ-ध्वरं यज्ञं (त्वं) विश्वत. परिभूः असि, सः (यज्ञ.) इत् देवेषु गच्छति ॥ ४ ॥

अर्थ– हे अग्ने ! जिस हिंसा रहित यज्ञको (तू) चारों ओरसे सफल बनानेवाला है, वह (यज्ञ) निःसन्देह देवोंके पास पहुंचता है ॥

यज्ञ वह कर्म है कि जिसमें श्रेष्ठोंका सत्कार, जनताका संगठन और निर्बलोंकी सहायता होती है । यह कर्म ऐसा होना चाहिये कि जिसमें (अ-ध्वर.) कुटिलता, कपट, टेढा-पन, छल, हिंसा न हो । हिंसा या कुटिलता कायिक, वाचिक और मानसिक सब प्रकारकी यहां समझनी चाहिये । यहां अग्निसे जो यज्ञ होता है उसका नाम ' अ-ध्वरः यज्ञः ' है अर्थात् इसमें सत्कार-संघटन-दानरूप त्रिविध कर्म तो अवश्य ही होगा, परन्तु इसमें लेशमात्र हिंसा, कुटिलता,

छल या कपट नहीं होगा। यहां अ-ध्वर पदसे यज्ञमें हिंसा या कुटिलताका सर्वथा निषेध किया है। यह वेदमें सर्वत्र स्मरण रखने योग्य महत्वकी बात है। अग्नि जो यज्ञ करता है वह (अ-ध्वर) हिंसारहित होनेवाला कर्म है। कायिक वाचिक और मानसिक कुटिलता भी उसमें होनेकी संभावना नहीं है। किसीकी हिंसा अर्थात् प्राणवियोगकी संभावना भी यहां नहीं है। इसीलिये अग्नि ऐसे हिंसारहित कर्मोंको चारों ओरसे सफल बनानेका यत्न करता है और निर्विघ्नतया परिपूर्ण करता है।

' परि-भूः ' का अर्थ शत्रुका पराभव करना, विजय प्राप्त करना, शत्रुका नाश करना, शत्रुको घेरना, चारों ओरसे घेरना, साथ रहकर परिपूर्ण करना, सम्भालना, ख्यालसे सुरक्षित रखना, चलाना, अपने स्वामित्वसे जारी रखना, ठीक मार्गसे चलाकर योग्य रीतिसे समाप्त करना है।

अग्रणी शत्रुका पराभव करके निर्विघ्नता पूर्वकयज्ञकर्म सफल और सुफल करता है। यह भाव यहां ' परि-भूः ' पदमें है।

जो यज्ञकर्म देवोंतक जाकर पहुँचता है, देवता जिसका स्वीकार करते हैं वह यज्ञकर्म हिंसा कुटिलता तथा छल कपटसे रहित ही होना चाहिये। यह इस मंत्रका आशय है। अग्रणी अपने अनुयायियोंसे ऐसेही हिंसारहित और कुटिलता रहित कर्म कराते। येही कर्म दिव्य विबुधोंको प्रिय होते है। पुरोहित, ऋत्विज् और होता यजमानसे ऐसे ही हिंसारहित कर्म करावे और जहां ऐसे हिंसारहित कर्म होते हैं वहा उन कर्मोंकी सहायता भी करें।

> अग्निर्होता कविक्रतुः सत्यश्चित्रश्रवस्तमः।
> देवो देवेभिरा गमत् ॥ ५ ॥

अन्वयः- होता कविक्रतुः सत्यः चित्रश्रवस्तमः देव अग्निः देवेभिः आ गमत् ॥ ५ ॥

अर्थ- हवन करनेवाला अथवा देवोंको बुलानेवाला, कवियों या ज्ञानियोंकी कर्मशक्तिका प्रेरक, सत्य अविनाशी, अत्यंत विलक्षण यशसे युक्त, यह दिव्य अग्निदेव अनेक देवोंके साथ आता है।

' कवि-क्रतु ' पद ज्ञान और कर्म शक्तिका बोधक है। ' कवि ' पद ज्ञानीका वाचक और ' क्रतु ' पद कर्मकुशल कर्मवीरका वाचक है। ज्ञानपूर्वक कर्म करनेवाला, ज्ञानका उपयोग कर्ममें करनेवाला, यह भाव यहां प्रतीत होता है। मनुष्यको प्रथम ज्ञान प्राप्त करना चाहिये और उस ज्ञानका उपयोग करके सुयोग्य कर्म करना चाहिये। ज्ञानपूर्वक किये कर्मसे ही मनुष्यकी उन्नति होती है।

मनुष्य (होता) दाता, हवनकर्ता तथा यज्ञकर्ता बने, और (कवि-क्रतुः) ज्ञानपूर्वक कर्म करनेवाला बने, कवि बने, ज्ञानी बने और सुयोग्य कर्म भी करे। मनुष्यकी पूर्णता होनेके लिये ज्ञान, कर्मप्रावीण्य और दातृत्व इन गुणोंकी आवश्यकता है।

' चित्र-श्रवस्-तमः ' यह भी गुण उत्तम है। ' श्रवस् ' का अर्थ ' यश, प्रशंसनीय कर्म, धन ' है। प्रशंसनीय कर्मसे यश और धन मिलता है। अत्यंत विलक्षण, आश्चर्यकारक, प्रशंसनीय कर्म करनेवाला, यश प्राप्त करनेवाला और धन प्राप्त करनेवाला। ' श्रवस् ' का अर्थ श्रवण करना भी है। ' बहु-श्रुत ' जैसा अर्थ इस पदमें है। जो अग्रणी अनुयायियोंकी सब बाते ध्यानपूर्वक सुनता है वह ' चित्रश्रवस्तम ' है। जो श्रेष्ठ पुरुष होते हैं, वे सबकी बातें सुनते हैं और विचारपूर्वक जो करना योग्य है, वही किया करते हैं।

हवन करनेवाला, ज्ञान प्राप्त करके योग्य कर्म करनेवाला, सत्यनिष्ठ, अत्यंत ध्यानपूर्वक श्रवण करनेवाला दिव्य तेजस्वी देव अपने साथ अन्य दिव्य विबुधोंको ले आता है। ज्ञानी के साथ अन्य ज्ञानी सदा रहते हैं।

' देवो देवेभिः आगमत् ' अनेक देवोंके साथ एक देवका आना यहां लिखा है। एक देव शरीरमें आत्मदेव ही है। यही जीवात्मा है। यह अपने साथ ३३ देवताओंको ले आता है और उनको शरीरमें यथास्थान रखता है तथा स्वयं उनका अधिष्ठाता होकर रहता है। आंखमें सूर्य, कानमें दिशाएँ, नाकमें वायु तथा अश्विदेव, मुखमें अग्नि, त्वचामें वायु, पेटमें अग्नि (जाठर), बालोंमें औषधिवनस्पति, जिह्वापर जल इस तरह सब ३३ देवताओंके अंशदेव इस देहमें यथास्थान रहे हैं और इन सबका अधिष्ठाता आत्मा हृदयमें रहा है। अनेक देवोंके साथ एक देवका आना इस तरह शरीरमें होता है। मृत्युके समय वह जीव आत्मा इन देवांशोंके साथ चला जाता है और पुनः

शरीरमें, गर्भमें, आनेके समय पुनः उन ३३ देवोंके साथ आता है। यह है देवका देवोंके साथ आना।

विश्वमें परमात्मा महान् तैंतीस देवोंके साथ विश्वरूपमें ही विराजमान है। इनके ही ३३ अंश जीवके साथ आते हैं। इस तरह देवोंका देवके साथ आना होता है।

इसीका स्वरूप यज्ञमें बताया जाता है। जैसा भूप्रदेशोंका नकशा कागजपर खींचा जाता है, वैसा ही विश्वभरमें जो है और देहमें जो बनता है, उसका चित्र यज्ञभूमिमें बताया जाता है। यहां मुख्य अग्निदेव रहता है और बाकीके ३३ देव यथास्थान सत्कारपूर्वक रहते हैं, पूजे जाते हैं। देवोंका देवके साथ आना इस तरह हरएक मनुष्य देख सकता है और इसका अनुभव भी कर सकता है।

> यदङ्ग दाशुषे त्वमग्ने भद्रं करिष्यसि।
> तवेत्तत्सत्यमङ्गिरः ॥ ६ ॥

अन्वयः— हे अङ्ग अग्ने! दाशुषे त्वं यत् भद्रं करिष्यसि, हे अङ्गिरः, तत् (कर्म) तव इत् सत्यम् ॥ ६ ॥

अर्थ— हे प्रिय अग्ने! दान करनेवालेके लिये तू जो कल्याण करता है, हे अङ्गिरः अग्ने वह (कर्म) निःसन्देह तेरा ही सत्य कर्म है।

यहां अग्निके दो विशेषण आये है। अङ्ग और अङ्गिरः। 'अङ्ग' का अर्थ – तत्काल, पुनः, हर्षप्रिय अर्थवाला संबोधन अर्थात् किसीको पुकारनेके लिये प्रयुक्त होनेवाला पद। हे प्रिय! हे अङ्ग! अर्थात् हे अपने अंगके समान निज! अपने शरीरका भाग। अपने शरीरका भाग ही अत्यंत प्रिय होता है। 'अङ्गिरः, अङ्गिरस्, अङ्गिय-रस' अंगों अवयवों और इंद्रियोंमें जो जीवनरस होता है, वही अंगिरस् कहलाता है। आंगिरसोंने इस अंगरस-विद्याकी खोज की थी, इसलिये इस जीवनरसको यह नाम मिला है। शरीरमें जो जीवनरस है उस संबंधकी विद्या अंगरस विद्या है। जो अग्नि अंगप्रत्यङ्गोंमें जीवनरस बनकर रहा है वह अंगिरस अग्नि है। इसीसे अंगसौष्ठव सुस्थिर रहता है।

जो अन्न जितना आग्नेय गुण शरीरमें बढाता है, वह अन्न उतना अंगीय रस शरीरमें उत्पन्न करता है। अग्नि प्रदीप्त करके उसमें आहुतियाँ देनेका अर्थ प्रदीप्त जाठर अग्निमें अन्नकी आहुतियोंका प्रदान करना ही है।

'यह अग्नि दाताका कल्याण करता है और यही इसका सत्य कर्म है' ऐसा यहां कहा है। इसका अनुभव देखिये- प्रदीप्त जाठराग्निमें जो उत्तम अन्नकी आहुतियाँ देता है उसका कल्याण वही जाठर अग्नि करता है। उस अन्नका उत्तम पचन होता है और उसका अङ्गीय रस बनता है। उत्तम अंगरस बनना ही मनुष्यका सच्चा कल्याण है। इसी अंगरससे मनुष्यका शरीर सुंदर, बलवान्, वीर्यवान्, तेजस्वी दीर्घजीवी, उत्साही, कार्यक्षेम, और ओजस्वी बनता है। इस लिये इस अंगीय-रसका महत्त्व मानव जीवनमें अत्यंत अधिक है।

अखिल मानव समाजके हितके लिये अपने भीतर विद्यमान ज्ञान बल और धन तथा कर्म शक्तिका प्रदान करनेवालोंका कल्याण होता है। राष्ट्रमें यही यज्ञसे सिद्ध होनेवाला महान् कार्य है। यह यज्ञकर्म अग्निसे ही सिद्ध होता है। बस, यही अग्निका महत्त्व है।

> उप त्वाग्ने दिवेदिवे दोषावस्तर्धिया वयम्।
> नमो भरन्त एमसि ॥ ७ ॥

अन्वयः- हे अग्ने! दिवे दिवे दोषा वस्तः वयं धिया नमः भरन्तः त्वा उप आ इमसि ॥ ७ ॥

अर्थ— हे अग्ने! प्रतिदिन, रात्रीमें और दिनमें हम सब अपनी बुद्धिसे, मनः पूर्वक, नमस्कार करते हुए तेरे समीप पहुँचते हैं, अथवा अन्न लेकर तुझे अर्पण करनेके लिये तेरे समीप आते है।

'दोषा' रात्रीका नाम है, क्योंकि रात्रीमें ही अनेक दोष, अनेक अपराध होते हैं, अन्धकार रहनेके कारण चोरादिकोंका बडा उपद्रव होता है। 'वस्तः' दिनका नाम है, क्योंकि यह मनुष्योंके लिये वसने योग्य समय है। रात्रीमें एक वार और दिनमें एक वार ऐसे प्रतिदिन दो वार मनुष्य अन्न लेकर अग्निके पास जाते हैं और नमनपूर्वक उस अग्निमें अन्नकी आहुतियां समर्पण करते हैं। (धिया नमः भरन्तः) बुद्धिपूर्वक नमन करते हुए, जानबूझकर ज्ञानपूर्वक प्रणिपात करके सब हम मिलकर अग्निके पास पहुँचते हैं और उसकी उपासना करते हैं। यहां दोवार उपासना कही है।

जाठर अग्निमें भी दिनमें दो वार अन्नकी आहुतियाँ देना योग्य है। प्रतिदिन दो वार भोजनका सेवन करना योग्य है। अधिकवार खाना योग्य नहीं है।

इस सूक्तके प्रथम मन्त्रमें 'ईडे' पदका कर्ता 'अहं' यह एक वचनमें है। मैं अग्निकी प्रशंसा करता हूं। मैं अकेला ही अग्निके गुणोंका वर्णन करता हूँ। यहां व्यक्तिका प्रयत्न है। पर इस मन्त्रमें 'वयं त्वा उप एमसि' हम सब मिलकर अग्निके पास उसकी उपासना करनेके लिये उपस्थित होते हैं, ऐसा सामूहिक रूपमें उपासना करनेका आशय व्यक्त किया है। इसके आगेके नवम मन्त्रमें भी 'नः' पद है, हम सबका (नः स्वति) कल्याण हो ऐसा वहां कहा है। यह सामुदायिक उपासनाकी सूचना है।

व्यक्ति-व्यक्तिको ज्ञान प्राप्त करना चाहिये और समाजमें संगठित होकर बडे समुदायमें इकट्ठे होकर उपासना करना चाहिये। यह उपासना बुद्धिपूर्वक और नमस्कारपूर्वक होनी चाहिये। अर्थात् (धिया) बुद्धिके द्वारा अर्थज्ञानपूर्वक मन्त्र बोले जायँ और शरीरसे (नमः भरन्तः) नमन करते हुए (त्वा उपैमसि) देवताकी उपासना करें ऐसी यह विधि यहां लिखी है।

राजन्तमध्वराणां गोपामृतस्य दीदिविम्।
वर्धमानं स्वे दमे ॥ ८ ॥

अन्वयः- अ-ध्वराणां राजन्तं, ऋतस्य गोपां, दीदिविं, स्वे दमे वर्धमानं (त्वा उपैमसि) ॥ ८ ॥

अर्थ- हिंसा-रहित यज्ञोंका प्रकाशक, सत्यका रक्षक, स्वयं प्रकाशमान, अपने स्थानमें बढनेवाले (तुझ अग्निके पास हम सब आते हैं।)

यह देव ऐसा है कि जो हिंसारहित, कुटिलतारहित शुभ कर्मोंका ही अधिपति होता है। ऋत नामक जो अटल सत्य नियम हैं उनका संरक्षण वह करता है। यह स्वयं प्रकाशमान है, सदा प्रकाशता रहता है। तथा अपने यज्ञस्थानमें रहकर, प्रदीप्त होता हुआ बढता रहता है। ऐसे देवकी हम सब उपासना करते हैं। इस उपासनासे हमारे अन्दर ये गुण रहेंगे और बढेंगे। इस उपासनाका फल यह है-

मनुष्य हिंसारहित, छल कपटरहित, कुटिलतारहित कर्म करता जाय, स्वभावसे ही वह ऐसे कर्म करे, सत्यका पालन और संरक्षण करे, प्रकाशित होवे, तेजस्वी बने, अपने स्थान में, घरमें और देशमें बढता रहे।

यह पूर्वोक्त उपासनाका फल है।

स नः पितेव सूनवेऽग्ने सूपायनो भव।
सचस्वा नः स्वस्तये ॥ ९ ॥

अन्वयः- हे अग्ने! सः (त्वं), सूनवे पिता इव, नः सूपायनः भव, नः स्वस्तये सचस्व ॥ ९ ॥

अर्थ- हे अग्नि देव! वह (तू), पुत्रको पिता जैसा, हम सबको सुगमतासे प्राप्त होनेवाला हो, और हम सबके कल्याणके लिये सहायक बन।

(सूनवे पिता सूपायनः भवति) पुत्रको पिता सहजहीसे प्राप्त होता है, वैसा प्रभु मानवोंको सुप्राप्य है। पिता जैसा पुत्रका (स्वस्तये सचति) कल्याण करनेके लिये मार्गदर्शक बनता है वैसा प्रभु मानवोंके लिये सहायक बनता है। यहां पिता-पुत्र जैसा संबंध प्रभु और भक्तका बताया है। और पुत्रका कल्याण करनेके लिये जैसे पिताको मार्गदर्शन करना चाहिये, वैसाही वह करता है ऐसा यहां सूचित किया है।

यहां पिताका कर्तव्य बताया है। पिता अपने पुत्रको अपने पास करे, उसपर प्रेम करे और उसका कल्याण करनेके लिये जो जो करने योग्य हो वह सब करता जाय। राजाकाभी यही कर्तव्य है कि वह प्रजाओंके आदरको प्राप्त हो। प्रजाजनोंका पुत्रवत् पालन पोषण करे, उनसे मिलता जुलता रहे तथा उनका कल्याण करनेके लिये बडा यत्न करे। प्रजाका कल्याण करना ही एकमात्र कर्तव्य राजाका हो।

प्रजा निडर होकर राजासे मिले, अपने सुखदुःख उससे कहे और वह सब सुने और जो योग्य कर्तव्य हो वह करे।

सब मनुष्य अग्निकी उपासना करें और उससे कल्याण प्राप्त करें। अग्निमें हवन करनेसे जो अनेक लाभ होते हैं उन सबको वे प्राप्त करें।

वायु

(२।१-३) मधुच्छन्दा वैश्वामित्रः। १-३ वायुः। गायत्री।

वायवा याहि दर्शतेमे सोमा अरंकृताः।
तेषां पाहि श्रुधी हवम् ॥ १ ॥
वाय उक्थेभिर्जरन्ते त्वामच्छा जरितारः।
सुतसोमा अहर्विदः ॥ २ ॥
वायो तव प्रपृञ्चती धेना जिगाति दाशुषे।
उरूची सोमपीतये ॥ ३ ॥

अन्वयः—हे दर्शत वायो! आ याहि, इमे सोमाः अरंकृताः, तेषां पाहि, हवं श्रुधि ॥ १ ॥ हे वायो! सुतसोमाः अहर्विदः जरितारः उक्थेभिः त्वां अच्छ जरन्ते ॥ २ ॥ हे वायो! तव प्रपृञ्चती उरूची धेना सोमपीतये दाशुषे जिगाति ॥ ३ ॥

अर्थ- हे सुन्दर दर्शनीय वायो! यहां आओ, ये सोमरस अलंकृत करके तुम्हारे लिये यहां रखे हैं, उनका पान करो, और हमारी प्रार्थना सुनो ॥ १ ॥ हे वायो! सोमरस निकालनेवाले, दिनका महत्त्व जाननेवाले, स्तोता लोग स्तोत्रोंसे तुम्हारे महत्त्वका अच्छी तरह वर्णन करते हैं ॥ २ ॥ हे वायो! तुम्हारी हृदयस्पर्शी विस्तृत वाणी सोमरसपानके लिये दाताके पास पहुंचती है॥ ३ ॥

यहां वायुको परब्रह्मका रूप समझकर वर्णन है। 'तत् वायुः' (वा० य० ३२।१) वह ब्रह्म वायुरूपसे यहां है। यह वायु 'दर्शत' (दर्शनीय, सुन्दर) कैसा माना जा सकता है, यह विचारणीय विषय है। वायुका रूप शरीरमें 'प्राण' है वह भी दीखता नहीं, वायु भी अदृश्य है। जो अदृश्य है वह सुन्दर कैसे हो सकेगा? विचार करनेपर इस बातका पता लगता है कि वायुका रूप प्राण है और यह प्राण जहां तक शरीरमें रहता है तबतक ही वहां सौंदर्य रहता है। प्राणके चले जानेपर वहां सौंदर्य नहीं रहता, इस लिये सौंदर्य प्राणका रूप है और वही विश्व-प्राण-वायुका सौंदर्य है, ऐसा मानना स्वाभाविक है और इस दृष्टिसे प्राणरूप यह वायु सुन्दर माना जाना स्वाभाविक है।

सोमरस अलंकृत करके रखे हैं अर्थात् रस छान कर, उनमें दूध मिलाकर तैयार करके रखे हैं, सुन्दर बनाये हैं। सोमरसको एक बर्तनसे दूसरे बर्तनमें इसलिये उण्डेला जाता है कि उसमें वायु मिले। यही वायुका सोमरस सेवन होगा। वायुका शब्द इस सोमरसस्पर्शके लिये, सोमरसमें मिलानेके लिये सब सोमरस निकालनेवाले सुनते हैं और वे उसकी प्रशंसा करते हैं।

इन्द्रवायू

(२।४-६) मधुच्छन्दा वैश्वामित्रः। ४-६ इन्द्रवायू। गायत्री।

इन्द्रवायू इमे सुता उप प्रयोभिरा गतम्।
इन्दवो वामुशन्ति हि ॥ ४॥

वायविन्द्रश्च चेतथः सुतानां वाजिनीवसू।
तावा यातमुप द्रवत् ॥ ५ ॥

वायविन्द्रश्च सुन्वत आ यातमुप निष्कृतम्।
मक्ष्वि१त्था धिया नरा ॥ ६ ॥

अन्वयः— हे इन्द्र-वायू! इमे सुताः, प्रयोभिः उप आ गतम्। इन्दवः हि वां उशन्ति ॥ ४ ॥ हे वायो! इन्द्रः च, (युवां) वाजिनीवसू सुतानां चेतथः, तौ (युवां) द्रवत् उप आ यातम् ॥ ५ ॥ हे वायो इन्द्रः च, हे नरा! इत्था धिया मक्षु सुन्वतः निष्कृतं उप आ यातम्। ॥ ६ ॥

अर्थ- हे इन्द्र और वायु! ये सोमके रस यहां रखे हैं, प्रयत्नके साथ यहां आइये, क्योंकि ये सोमरस आपको ही चाहते हैं ॥ ४ ॥ हे वायो और हे इन्द्र! (तुम दोनों) अन्नके साथ रहनेवाले सोमरसों (की विशेषता) को जानते हो, वे (तुम दोनों) शीघ्र ही यहां आओ ॥ ५ ॥ हे वायो और हे इन्द्र! हे नेता लोगो! इस तरह बुद्धिकौशल्यसे सत्वर रस निकालनेवालेने तैयार किये सोमरसके समीप आइये ॥ ६ ॥

यह सूक्त इन्द्र और वायुका मिलकर है। इन्द्र नाम विद्युत्का है और वायु यही वायु है। वृष्टिकालमें विद्युत् और वायु वृष्टिके पूर्व अपना कार्य दिखाते है। विद्युत् मेघोंमें कडकती हुई धडाकेके साथ चमकती है और वायु मेघोंको इधर उधर ले जाता है। इस समयके ये दो-इन्द्र और वायु-नेता हैं, धुरीण हैं, प्रमुख हैं, मुख्यकार्यका प्रबन्ध करनेवाले हैं। इसीलिये इनको (नरौ) नेता कहा है।

ये 'वाजिनी-वसू' अर्थात् अन्नसे युक्त हैं। ये अन्न के उत्पादनकर्ता हैं। अन्नको बसानेवाले हैं। मेघस्थानमें रहनेवाला विद्युदग्नि और वायु ये दोनों नाना प्रकारके अन्न उत्पन्न करते हैं। इसीलिये कहा है कि (प्रयोभिः आगतं) नाना प्रकारके अन्नोंके साथ आओ। जब ये दोनों देव आकाशमें संचार करने लगते हैं, तब वृष्टि होती है और वृष्टिसे अन्न उत्पन्न होता है, इस तरह ये दो देव अन्नके साथ आते हैं।

इन्द्र राजाका नाम है। नरेन्द्र राजाको कहते हैं। वायु मरुतोंका अर्थात् इन्द्रके वीर सैनिकोंका नाम है। इस तरह यह सूक्त 'नरेन्द्र और वीर सैनिकोंका' है। हे राजन् और हे सेनापते! आपके लिये ये सोमरस यहां तैयार करके

रखे हैं, प्रयत्नपूर्वक यहां आइये, क्योंकि ये रस आपके लिये ही रखे हैं। हे वीर और हे राजन्! तुम दोनों अन्नोंके साथ प्रजाका निवास करनेवाले हो और रसोंका स्वाद तुम दोनों जानते हो, इसलिये यहां शीघ्र आओ। हे वीर और हे राजन्! यह सोमरस बुद्धिकी कुशलतासे तैयार करके आपके लिये ही रखा है इसलिये तुम दोनों यहां आओ और इसका स्वीकार करो।'

यह सूक्त राजा और सेनापतिके सम्मानके लिये है ऐसा अधिभूत अर्थमें कहा जा सकता है। अतः इससे इनके निम्न लिखित कर्तव्य प्रगट होते हैं-

(इन्द्रः - इन् + द्रः) शत्रुका नाश करनेवाला, राजा राष्ट्रके शत्रुका नाश करनेका उत्तम प्रबंध करे। (वायु-वा गतिगन्धनयोः) शत्रुपर गतिसे हमला करना और शत्रुका नाश करना। वीर शत्रुपर हमला करे और उसका नाश करे। (प्रयोभिः आगतं) प्रयत्न, अन्न और यत्नके साथ ये दोनों आवें। प्रयत्न करके राष्ट्रमें अन्न उत्पन्न करें और अन्नके प्रदानसे यज्ञ करें। राष्ट्रमें पर्याप्त अन्न उत्पन्न करना और सबको अन्न प्राप्त करा देनेका यत्न करना ये इनके कर्तव्य हैं। वीर सबकी सुरक्षा करें और राजा प्रजाद्वारा योग्य प्रबंध करें, इस तरह दोनों राष्ट्रमें अन्नोंकी पर्याप्त प्रमाणमें उत्पत्ति करावें। राष्ट्रमें भरपूर अन्न उत्पन्न हो। (वाजिनीवसू) अन्नके साथ जनताको बसानेहारे, बलवर्धक अन्नोंके साथ प्रजाको रखनेवाले, सेनाके साथ प्रजाकी सुरक्षिततासे बस्ती बढाने वा अन्नके द्वारा सबको सुस्थिर रखनेवाले। ' वाजिनी ' के अर्थ बल, बलवर्धक अन्न, सेना ये हैं। इनसे प्रजाको बसानेवाले राजा और सेनापति हों। ये (न-रौ) अपने भोगोंमें ही न रमनेवाले हों और (नरौ) जनताके नेता हों, जनताको आगे उन्नतिकी ओर बढानेवाले हों।

इन कर्तव्योंको निभानेवाले राजा और सेनापतिका सम्मान सब प्रजाजन करें और प्रजाकी सहायता और सुरक्षा ये करें। यहां सोमरस ही अन्न कहा है, इसमें दूध, दही, शहद, सत्तूका आटा मिलाकर यह रस पिया जाता है। इस विषयका वर्णन आगे आनेवाला है।

इन्द्र-वायू, विद्युत् और वायु-से वृष्टि होती है, और वृष्टिसे अन्न होता है। ' पर्जन्यात् अन्न-संभवः। ' (गीता ३।१४।१) यह अन्न शाकाहारका ही खाद्य है। यह अन्न धान्य, सोमरस आदि ही है।

मित्रावरुणौ

(१।७-९) मधुच्छन्दा वैश्वामित्र.।
७-९ मित्रावरुणौ। गायत्री।

मित्रं हुवे पूतदक्षं वरुणं च रिशादसम्।
धियं घृताचीं साधन्ता ॥ ७ ॥
ऋतेन मित्रावरुणावृतावृधावृतस्पृशा।
क्रतुं बृहन्तमाशाथे ॥ ८ ॥
कवी नो मित्रावरुणा तुविजाता उरुक्षया।
दक्षं दधाते अपसम् ॥ ९ ॥

अन्वयः- पूतदक्षं मित्रं, रिशादसं वरुणं च हुवे, घृताचीं धियं साधन्ता ॥ ७ ॥ मित्रावरुणौ ऋतावृधौ ऋतस्पृशा, ऋतेन बृहन्तं क्रतुं आशाथे ॥ ८ ॥ कवी तुविजाता उरुक्षया मित्रावरुणा अपसं दक्षं नः दधाते ॥ ९ ॥

अर्थ- पवित्र बलसे युक्त मित्रको, और शत्रुका नाश करनेवाले वरुणको मैं बुलाता हूँ, ये स्नेहमयी बुद्धि तथा कर्मको संपन्न करते हैं ॥ ७ ॥ ये मित्र और वरुण सत्यसे बढनेवाले तथा सत्यसे सदा युक्त हैं, वे सत्यसे ही बडे यज्ञको संपन्न करते हैं ॥ ८ ॥ ये ज्ञानी, बलशाली और सर्वत्र उपस्थित रहनेवाले मित्र और वरुण कर्म करनेका उत्साह देनेवाला बल हमें देते हैं ॥ ९ ॥

' मित्रावरुणौ ' ये दो राजा हैं, सम्राट् हैं, ऐसा निम्न लिखित मन्त्रमें कहा है- ' राजानौ अनभिद्रुहा .. सदसि... आसाते ॥ ५ ॥ ता सम्राजा... सचेते अनवह्वरम् ॥ ६ ॥ (ऋ. २।४१) ये दो राजा परस्पर द्रोह नहीं करते, क्योंकि...ये सभामें...बैठते (और सभाकी संमतिसे राज्य करते हैं)। ये दो सम्राट् हैं ये छल-कपट रहित आचरण करनेवालेकी सहायता करते हैं। ऐसे ये दो सम्राट् हैं।

एकका नाम ' मित्र ' है जो मित्रवत् सबसे प्रेमपूर्ण व्यवहार करता है, दूसरा ' वरुण ' है जो निष्पक्ष व्यवहार करता है। यह मित्र (पूत-दक्षः) पवित्र कार्यमें ही अपना बल लगाता है, अपने बलसे कभी अपवित्र कार्य नहीं करता, सदा शुभ कार्य ही करता है। दूसरा वरुण (रिश-

अदस्) शत्रुको खानेवाला है, शत्रुका पूर्णरूपसे नाश करता है, शत्रुको जीवित नहीं रखता। ये दोनों राजा मिलकर (घृत-अचीं) घृतसे पूर्णतया भीगी, घीसे लबालब भरी, अर्थात् स्नेहसे परिपूर्ण (धियं) बुद्धिको तथा कर्मको करते हैं, परस्पर स्नेहभाव बढने योग्य कर्म करते हैं। ऐसे विचार प्रसृत करते हैं तथा ऐसे कार्य करते हैं जो स्नेहको बढानेवाले हों। परस्पर वैर बढने योग्य किसी तरह भी आचरण नहीं करते। (७)

ये मित्र और वरुण (ऋत-स्पृशौ) सदा सत्यको ही स्पर्श करनेवाले, सत्यपालक हैं। ' ऋत ' का अर्थ सत्य, सरलता है। ये (ऋता-वृधौ) सत्य व्यवहारको बढाने-वाले, सत्यव्यवहारसे ही वृद्धिको प्राप्त करनेवाले है, कभी असत्यकी ओर नहीं जाते, इसलिये (बृहन्तं क्रतुं) बडे बडे कार्योंको (ऋतेन आशाथे) सत्यसे ही परिपूर्ण करते हैं। अर्थात् इन राजाओंका सारा राज्ययन्त्र सत्यके आश्रयसे चलता है, कभी किसी तरह असत्य, छल, कपट, कुटिलता, टेढापन इनके व्यवहारमें नहीं रहता और इसी कारण ये किसीका द्रोह नहीं करते हैं। (८)

ये दोनों (कवी) ज्ञानी, बुद्धिमान्, कवी हैं, दूरदर्शी हैं, (तुवि-जातौ) सामर्थ्यके लिये प्रसिद्ध हैं, (उरु-क्षया) विस्तृत घरमें रहते हैं, बडे निवासस्थानमें रहते हैं। और (अपसं दक्षं) कर्म करनेकी शक्ति या क्षमता अपनेमें धारण करते हैं, बढाते हैं। (९)

इन तीनों मंत्रोंमें दो राजाओंका व्यवहार कैसा हो, इसका उत्तम वर्णन है। राजा लोग अपना बल पवित्र कार्यमें ही लगावें, कभी अयोग्य, अपवित्र कार्यमें न खर्च करें। शत्रुका नाश करनेका व्रत धारण करें, इसमें कभी न्यूनता न रखें, परस्पर स्नेहपूर्ण व्यवहार करें और प्रजासेभी स्नेहमय व्यवहार होने योग्य ज्ञान प्रजामें फैला दें। सत्य और सरल व्यवहार बढावें, सदा सत्य और सरल मार्गोका अवलंब करें, कभी टेढे और असन्मार्गसे न जायें। सत्य सरल व्यवहार करते हुए बडे बडे कार्य करें और बडे विशाल कार्य सफल करें। ज्ञानी बनें, बल बढावें, सुदृढ विशाल घरोंमें रहें और कर्म को यथायोग्य रीतिसे निभानेका सामर्थ्य अपनेमें बढावें।

संक्षेपसे इस तरहकी राज्यव्यवस्था उक्त तीन मंत्रोंमें कही है।

' मित्रावरुणौ ' के और भी अर्थ हैं- प्राण और अपान। तै. ब्रा. ३।३।६।९; अहोरात्र। श. ब्रा. १।८।३।१२; दिन मित्र है रात्री वरुण है। ऐ. ब्रा. ४।१०; दोनों पक्ष (शुक्ल कृष्ण) मित्रावरुण हैं। तां ब्रा. २५।१०।१०; भूलोक और द्युलोक मित्रावरुण हैं। श. ब्रा. १२।९।२।१२; सूर्य मित्र है और चन्द्रमा वरुण है। इस तरह वैदिक वाङ्मयमें अनेक अर्थ हैं। मनन करनेवाले इसका अधिक मनन करें।

अश्विनौ

(३।१ १) मधुच्छन्दा वैश्वामित्रः। १-३ अश्विनौ। गायत्री।

अश्विना यज्वरीरिषो द्रवत्पाणी शुभस्पती।
पुरुभुजा चनस्यतम् ॥ १ ॥
अश्विना पुरुदंससा नरा शवीरया धिया।
धिष्ण्या वनतं गिरः ॥ २ ॥
दस्रा युवाकवः सुता नासत्या वृक्तबर्हिषः।
आ यातं रुद्रवर्तनी ॥ ३ ॥

अन्वयः- हे पुरुभुजा शुभस्पती ! द्रवत्पाणी अश्विना ! यज्वरीः इषः चनस्यतम् ॥ १ ॥ हे पुरुदंससा धिष्ण्या नरा अश्विना ! शवीरया धिया गिरः वनतम् ॥ २ ॥ हे दस्रा नासत्या रुद्रवर्तनी ! युवाकवः वृक्तबर्हिषः सुताः आयातम् ॥ ३ ॥

अर्थ- हे विशाल भुजावाले, शुभ कार्योंका पालन करने-वाले, अतिशीघ्र कार्य करनेवाले अश्विदेवो ! यज्ञके योग्य अन्नसे आनन्द-प्रसन्न हो जाओ ॥ १ ॥ हे अनेक कार्य करने-वाले, धैर्ययुक्त बुद्धिमान् नेता अश्विदेवो ! अपनी बहुत तेजस्वी बुद्धिके द्वारा हमारे भाषणको सुनो ॥ २ ॥ हे शत्रु-विनाशकर्ता असत्यसे दूर रहनेवाले भयंकर मार्गसे जानेवाले वीरो ! ये संमिश्रित किये, तिनके निकाले हुए सोमरस हैं, उनका पान करनेके लिये यहां आओ ॥ ३ ॥

यहां दोनों अश्विदेवोंका वर्णन है। अश्वोंका, घोडोंका पालन करनेमें ये चतुर थे। ये (पुरुभुजा) विशाल बाहु-वाले, (शुभस्-पति) शुभ कर्मोंको करनेवाले, (द्रवत्-पाणी) अपने हाथोंसे अतिशीघ्र कार्य करनेवाले, (पुरु-दंससा) अनेक कार्य निभानेवाले, (धिष्ण्या) अर्थात बुद्धिमान् तथा धैर्ययुक्त, (नरा) नेता, अनुयायियोंको उत्तम मार्गसे ले जानेवाले, (दस्रा) शत्रुका नाश करनेवाले,

(नासत्या, न-असत्या) कभी असत्यका अवलंबन न करनेवाले और (रुद्र-वर्तनी) शत्रुका नाश करनेके लिये भयानक मार्गका अवलंबन करनेवाले हैं। ये (यज्वरीः इषः चनस्यतं) यज्ञीय पवित्र अन्न खाते हैं, पवित्र अन्नका सेवन करते हैं, (शवीरया धिया गिरः वनतं) अपनी एकाग्र बुद्धिसे अनुयायियोंके भाषण सुनते हैं और (युवाकवः वृक्तबर्हिषः सुताः) दूध आदि मिलाये, छानकर तिनके निकाले सोमरसोंका पान करनेके लिये याजकोंके पास जाते हैं।

ये सब पद मानवोंको निम्नलिखित बोध दे रहे हैं। (१) अश्वोंका पालन करो और घोडोंपर सवार हो जाओ, (२) अपने बाहुओंका बल बढाओ, (३) शुभ कार्योंकोही करो, (४) अपने हाथोंसे करने योग्य कार्य जल्दीसे परन्तु उत्तम बनाओ, (५) अनेक कार्य करनेकी क्षमता अपने अन्दर बढाओ, (६) बुद्धि और धैर्य अपने अन्दर बढाओ, (७) नेता बनो, अनुयायियोंको उत्तम मार्गसे ले जाओ, (८) शत्रुका पूर्ण नाश करो, (९) कभी असत्यका अवलंब न करो, (१०) शत्रुका नाश करनेके लिये भयानक मार्गका भी आवश्यक हुआ तो अवश्य अवलंब करो, (११) पवित्र अन्नका भोजन करो, (१२) जिसके साथ भाषण करना है उसका भाषण शांतिसे सुनो, (१३) सोमरसका पान करना हो तो उसमें दूध दही शहद सत्तू आदि जो मिलाना हो वह मिला दो, उसको अच्छी तरह छान लो और पश्चात् उसका पान करो। हरएक रसके पानके विषयमें यही नियम है।

इस सूक्तका प्रत्येक पद मानवोंको महत्वपूर्ण उपदेश देता है।

इन्द्रः

(३।४-६) मधुच्छन्दा वैश्वामित्रः। ४-६ इन्द्रः। गायत्री।

इन्द्रा याहि चित्रभानो सुता इमे त्वायवः।
अण्वीभिस्तना पूतासः॥ ४॥
इन्द्रा याहि धियेषितो विप्रजूतः सुतावतः।
उप ब्रह्माणि वाघतः॥ ५॥
इन्द्रा याहि तूतुजान उप ब्रह्माणि हरिवः।
सुते दधिष्व नश्चनः॥ ६॥

अन्वयः- हे चित्रभानो इन्द्र! इमे अण्वीभिः, तना पूतासः, त्वायवः सुताः, आयाहि ॥ १॥ हे इन्द्र! धिया इषितः विप्रजूतः (त्वं) सुतावतः वाघतः ब्रह्माणि उप (श्रवणाय) आ याहि ॥ २॥ हे हरिवः इन्द्र! (त्वं) ब्रह्माणि उप (ऐतुं) तूतुजानः आ याहि, नः सुते चनः दधिष्व ॥ ३॥

अर्थ- हे विलक्षण कांतिसे युक्त इन्द्र! ये अंगुलियोंसे निचोडे, सदा पवित्र, तेरे लिये तैयार किये सोमरस (हैं, अतः तू) यहां आ ॥ १॥ हे इन्द्र! हमारी बुद्धियोंद्वारा प्रार्थित, ब्राह्मणोंसे प्रेरित हुआ, तू सोमरस अपने पास तैयार रखनेवाले स्तोताके स्तोत्र (गान सुननेके लिये) यहां आ ॥ २॥ हे घोडोंवाले इन्द्र! तू हमारे स्तोत्र श्रवण करनेके लिये त्वराके साथ यहां आ और हमारे सोमयागमें हमारे अन्नका स्वीकार कर ॥ ३॥

इन्द्र राजा है, श्रेष्ठ है, वह विलक्षण तेजसे युक्त है। वह घोडोंका पालन करता है, उत्तम पीत वर्णके घोडे अपने पास रखता है। वह यज्ञमें त्वरासे आता है। याजकोंद्वारा दिया सोमरस तथा अन्न सेवन करता है। याजक उसको बुलाते हैं और उसके शूर कर्मोंका वर्णन करते हैं।

इस तरह मनुष्य वीरोंके काव्योंका गान करें, वीरोंको बुलावें, उनका सम्मान करें। सर्वत्र वीरताका वायुमण्डल फैलाते रहें।

विश्वे देवाः

(३।७-९) मधुच्छन्दा वैश्वामित्रः। ७-९ विश्वे देवाः। गायत्री।

ओमासश्चर्षणीधृतो विश्वे देवास आ गत।
दाश्वांसो दाशुषः सुतम् ॥ ७॥
विश्वे देवासो अप्तुरः सुतमा गन्त तूर्णयः।
उस्रा इव स्वसराणि ॥ ८॥
विश्वे देवासो अस्रिध एहिमायासो अद्रुहः।
मेधं जुषन्त वह्नयः॥ ९॥

अन्वयः- हे विश्वे देवासः! ओमासः चर्षणीधृतः दाश्वांसः (यूयं) दाशुषः सुतं आ गत ॥ ७॥ विश्वेदेवासः अप्तुरः तूर्णयः स्वसराणि उस्रा इव, आ गन्त ॥ ८॥ विश्वे देवासः अस्रिधः एहिमायासः अद्रुहः वह्नयः मेधं जुषन्त ॥ ९॥

अर्थ— हे सब देवो! आप सबके रक्षक हैं, सब जनोंका धारण करनेवाले हैं, और दाता हैं (अतः आप) दान करनेवाले इस याजकके सोमयागके प्रति आओ ॥ ७॥

हे सब देवो ! आप कर्म करनेमें कुशल हैं, सत्वर कर्म करनेवाले हैं, अतः जिस तरह अपनी गोशालामें गौवें जाती हैं, उस तरह यहां आओ ॥ ८ ॥ हे सब देवो ! आपका घातपात कोई नहीं कर सकता, आपकी कुशलता अनुपम है, आप किसीका द्रोह नहीं करते, आप सबके लिये सुख साधन ढोकर ला देते हैं, वे आप हमारे यज्ञमें आकर हमारे दिये अन्नका सेवन करो ॥ ९ ॥

यहांका 'विश्वे देवाः' का वर्णन मानवोंके लिये बडा बोधप्रद हो सकता है। (१) **ओमासः** = सबका रक्षण करनेवाले; (२) **चर्षणी-धृतः** = मानव संघोंका धारण पोषण करनेवाले, किसानोंकी सुरक्षा करनेवाले; (३) **दाश्वांसः** = दान देनेवाले, दाता; (४) **अप्-तुरः** = त्वरासे सब कार्य उत्तम रीतिसे करनेवाले; (५) **तूर्णयः** = सब कार्य अतिशीघ्र परंतु उत्तम संपन्न करनेवाले; (६) **अ-स्त्रिधः** = जिनका कोई घातपात नहीं कर सकते, जिनके कार्यमें कोई रुकावट नहीं डाल सकते (७) **एहिमायासः** = जिनकी कर्मकुशलता अनुपम है, जिनके समान कुशल दूसरे कोई नहीं हैं, जो कुशलताके कार्योंमें ही प्रगति करते हैं, (८) **अ-द्रुहः** = किसीका कभी द्रोह न करनेवाले, (९) **वह्नयः** = ढोकर सब सुखसाधन जनताके पास पहुँचानेवाले, वाहनकर्ता। ये गुण हरएक मनुष्यको अपनेमें संपादन करनेयोग्य हैं।

ये विश्वे देव यज्ञ-कर्ताके सोमयागके पास जाते हैं, गौवें घरमें आनेके समान याज्ञकके घर आते हैं और पवित्र अन्नका सेवन करते हैं।

'मेध' का अर्थ यज्ञ है। जिससे मेधाकी वृद्धि होती है उसका नाम मेध है। मेधाकी वृद्धि करनेवाले कर्मका नाम मेध है। इससे पूर्व 'अ-ध्वर' पद यज्ञवाचक आया है। उसका अर्थ है अहिंसायुक्त कर्म। मेधा बुद्धिकी वृद्धि करनेवाले यज्ञ होते हैं और उनमें सब देव आते हैं, आदर सत्कार पाते है और उस यज्ञकी सहायता करते हैं।

पूर्वोक्त गुण मानवोंमें देवत्वकी वृद्धि करनेवाले हैं और अपनेमें इन गुणोंकी स्थापना करना ही मनुष्यके लिये करने योग्य अनुष्ठान है।

सरस्वती

(३।१०-१२) मधुच्छन्दा वैश्वामित्रः। १०-१२ सरस्वती। गायत्री।

पावका नः सरस्वती वाजेभिर्वाजिनीवती।
यज्ञं वष्टु धियावसुः ॥ १० ॥
चोदयित्री सूनृतानां चेतन्ती सुमतीनाम्।
यज्ञं दधे सरस्वती ॥ ११ ॥
महो अर्णः सरस्वती प्र चेतयति केतुना।
धियो विश्वा वि राजति ॥ १२ ॥

अन्वयः — सरस्वती नः पावका, वाजेभिः वाजिनीवती; धियावसु यज्ञं वष्टु ॥ १० ॥ सूनृतानां चोदयित्री, सुमतीनां चेतन्ती, सरस्वती यज्ञं दधे ॥ ११ ॥ सरस्वती केतुना महो अर्णः प्र चेतयति, विश्वा धियः वि राजति ॥ १२ ॥

अर्थ — विद्या हमें पवित्र करनेवाली है, अन्नोंको देनेके कारण वह अन्नवाली भी है, बुद्धिसे होनेवाले अनेक कर्मोंसे नाना प्रकारके धन देनेवाली (यह विद्या हमारे) यज्ञकी सफलता करे ॥ १० ॥ सत्यसे होनेवाले कर्मोंकी प्रेरणा करनेवाली, सुमतियोंको बढानेवाली, वह विद्यादेवी हमारे यज्ञका पूर्ण रूपसे धारण करती है ॥ ११ ॥ यह विद्या ज्ञानसे (जीवनके) बडे महासागरको स्पष्ट दर्शाती है, (यह विद्या) सब प्रकारकी बुद्धियोंपर विराजती है ॥ १२ ॥

यह सरस्वतीका सूक्त है। सरस्वती विद्या ही है। अनादि कालसे चली आयी विद्या प्रवाहवती होनेसे सरस्वती कहलाती है। यह विद्या रस देती है, रहस्य प्राप्त होनेसे उत्तम आनंद देती है, इसलिये 'स-रस्-वती' कहलाती है। सरस्वती नदीके तीरपर नाना ऋषियोंके आश्रम थे और विद्याका पढना पढाना वहां अनादि कालसे चलता था, इसलिये उस नदीको भी सरस्वती नाम मिला होगा।

यह विद्या सब प्रकारका ज्ञान ही है। अध्यात्म, अधिभूत और अधिदैवत ऐसा तीन प्रकारका ज्ञान होता है, इसमें सब प्रकारका ज्ञान अन्तर्भूत होता है ! मनुष्यकी उन्नति करनेवाला यही सब प्रकारका त्रिविध ज्ञान है। इसी ज्ञानमयी विद्याका नाम इस सूक्तमें सरस्वती कहा है ! यह विद्या (पावका) पवित्रता करनेवाली है, शरीर मन और बुद्धिकी शुद्धता इसी विद्यासे होती है। (वाजेभिः वाजिनीवती) विद्या अन्न देती है, खानपानके प्रश्नका हल करती है, इसलिये इसको अन्नवाली कहते हैं। नाना प्रकारके बल भी विद्यासे प्राप्त होते हैं, अतः विद्याको बलवती भी कहते हैं। 'वाज' का अर्थ अन्न और बल दोनों हैं। (धियावसुः)

' धी ' का अर्थ बुद्धि और कर्म है। बुद्धिसे जो उत्तम कर्म होते हैं उनसे नाना प्रकारके धन देनेवाली यही विद्या है, (सूनृतानां चोदयित्री) सत्यसे बननेवाले विशेष महत्त्व-पूर्ण कर्मोंकी प्रेरणा करनेवाली यह विद्या है, (सुमतीनां चेतन्ती) शुभ मतियोंको चेतना यही देती है, यह विद्या (केतुना) ज्ञानका प्रसार करनेके कारण (महो अर्णः प्रचेतयति) कर्मोंके बडे महासागरको ज्ञानीके सामने खुला कर देती है। ज्ञानसे नाना प्रकारके कर्म करनेके मार्ग मनुष्य के सम्मुख खुले होते हैं। जितना ज्ञान बढेगा उतने नाना प्रकारके कर्म करनेकी शक्ति भी मनुष्यकी बढती जायगी और यही मनुष्यके सुखोंको बढानेवाली होगी। मानवोंकी सब प्रकारकी बुद्धियोंपर इसी विद्याका राज्य है। विद्यासे ही सभी मानवोंकी सब प्रकारकी बुद्धियोंका तेज बढ सकता है। मानवी बुद्धियोंपर विद्याकाही साम्राज्य है।

यह विद्याका उत्तम सूक्त है और इसका जितना मनन किया जाय, उतना वह अधिक बोधप्रद होनेवाला है।

(२) द्वितीयोऽनुवाकः।

इन्द्रः

(४।१-१०) मधुच्छन्दा वैश्वामित्रः। इन्द्रः। गायत्री।

सुरूपकृत्नुमूतये सुदुघामिव गोदुहे।
जुहूमसि द्यविद्यवि ॥ १ ॥
उप नः सवना गहि सोमस्य सोमपाः पिब।
गोदा इद्रेवतो मदः ॥ २ ॥
अथा ते अन्तमानां विद्याम सुमतीनाम्।
मा नो अति ख्य आ गहि ॥ ३ ॥
परे हि विग्रमस्तृतमिन्द्रं पृच्छा विपश्चितम्।
यस्ते सखिभ्य आ वरम् ॥ ४ ॥
उत ब्रुवन्तु नो निदो निरन्यतश्चिदारत।
दधाना इन्द्र इद् दुवः ॥ ५ ॥
उत नः सुभगाँ अरिर्वोचेयुर्दस्म कृष्टयः।
स्यामेदिन्द्रस्य शर्मणि ॥ ६ ॥
एमाशुमाशवे भर यज्ञश्रियं नृमादनम्।
पतयन् मन्दयत्सखम् ॥ ७ ॥
अस्य पीत्वा शतक्रतो घनो वृत्राणामभवः।
प्रावो वाजेषु वाजिनम् ॥ ८ ॥
तं त्वा वाजेषु वाजिनं वाजयामः शतक्रतो।
धनानामिन्द्र सातये ॥ ९ ॥
यो रायोऽवनिर्महान्त्सुपारः सुन्वतः सखा।
तस्मा इन्द्राय गायत ॥ १० ॥

अन्वयः — गोदुहे सुदुघां इव, द्यवि द्यवि ऊतये सुरूपकृत्नुं जुहूमसि ॥ १ ॥ हे सोमपाः ! नः सवना उप आगहि, सोमस्य पिब, रेवतः मदः गोदा इत् ॥ २ ॥ अथ ते अन्तमानां सुमतीनां विद्याम, (त्वं) नः मा अति ख्यः, आ गहि ॥ ३ ॥ परा इहि, यः ते सखिभ्यः वरं आ (यच्छति, तं) विप्रं अस्तृतं विपश्चितं इन्द्रं पृच्छ ॥ ४ ॥ इन्द्रे इत् दुवः दधानाः, ब्रुवन्तु, नः निदः अन्यतः चित् उत निः आरत। ॥ ५ ॥ हे दस्म ! अरिः नः सुभगान् वोचेयुः, उत कृष्टयः (च वोचेयुः), इन्द्रस्य शर्मणि स्याम इत् ॥ ६ ॥ आशवे ईं यज्ञश्रियं, नृमादनं, पतयत् मन्दयत्सखं आशुं आ भर ॥ ७ ॥ हे शतक्रतो ! अस्य पीत्वा वृत्राणां घनः अभवः, वाजेषु वाजिनं प्र आवः ॥ ८ ॥ हे शतक्रतो ! इन्द्र ! धनानां सातये वाजेषु तं वाजिनं त्वा वाजयामः ॥ ९ ॥ यः रायः अवनिः, महान् सुपारः, सुन्वतः सखा, तस्मै इन्द्राय गायत ॥ १० ॥

अर्थ- गौके दोहनके समय जिस तरह उत्तम दूध देने-वाली गौको ही बुलाते हैं उस तरह, प्रतिदिन अपनी सुरक्षा के लिये सुन्दर रूपवाले इस विश्वके निर्माता (इन्द्र) की हम प्रार्थना करते है ॥ १ ॥ हे सोमपान करनेवाले इन्द्र ! हमारे सोमरस निकालनेके समय हमारे पास आओ, सोमरसका पान करो, (तुम जैसे) धनवान्का हर्ष निः-संदेह गौवें देनेवाला है ॥ २ ॥ तेरे पासकी सुमतियाँ हम प्राप्त करें, (तुम) हमें छोडकर अन्यके समीप प्रकट न हो-ओ, हमारे पास ही आओ ॥ ३ ॥ (हे मनुष्य !) तू दूर जा और जो तेरे मित्रोंके लिये श्रेष्ठ धनादि (देता है उस) ज्ञानी, पराजित न हुए कर्मप्रवीण इन्द्रसे पूछ ले और (जो मांगना है वह उससे मांग) ॥ ४ ॥ इन्द्रकी ही उपासना

का धारण करनेवाले घोषणा करके कहें कि, हमारे सब निन्दक दूर जायँ और वहांसे भी वे भाग जायँ ॥ ५ ॥ हे अनन्त सामर्थ्यवाले इन्द्र ! हमारे शत्रुभी हमें भाग्यवान् कहें, इसी तरह सभी मनुष्य (कहे), हम इन्द्रकेही आश्रयसे रहेंगे ॥ ६ ॥ इन्द्रको यह यज्ञकी शोभा बढाने-वाला, मनुष्योंको आनन्द देनेवाला, यज्ञको संपन्न करने-वाला, आनन्द देनेवालेका मित्र जैसा यह सोमरस भरपूर दे ॥ ७ ॥ हे सैकडों कर्म करनेवाले इन्द्र ! इस सोमरसके पीनेसे तुम वृत्रोंका नाश करनेवाले बने हो, इसीसे तुम युद्धोंमें वीरकी सुरक्षा करते हो ॥ ८ ॥ हे सैकडों कर्म करने-वाले इन्द्र ! धनोंके दान करनेके लिये युद्धोंमें बल बतानेवाले तुझको, हम अन्न प्रदान करते हैं ॥ ९ ॥ जो तू धनका रक्षक बडा दुःखोंसे पार ले जानेवाला, यज्ञकर्ताका मित्र है उसी इन्द्रका गुणगान करो ॥ १० ॥

यह सूक्त इन्द्रका है अतः इन्द्रके वर्णन करनेके लिये जो पद इस सूक्तमें प्रयुक्त हुए हैं वे किन गुणोंका प्रकाश करते हैं वह देखना आवश्यक है, क्योंकि इन्द्र-सूक्तोंमें आदर्श वीर ' इन्द्र ' ही है। अतः इस सूक्तमें आये इन्द्रके गुण देखिये—

१ सुरूपकृत्नुः — सुंदररूप करनेवाला । रूपको सौन्दर्य देनेवाला। जो करना है वह अत्यंत सुन्दर बनानेवाला, यह इन्द्रकी कुशल कारीगरीका वर्णन है। मनुष्य भी अपने अन्दर इस तरहकी कर्ममें कुशलता लावे और बढावे। ' इन्द्रो मायाभिः पुरुरूप ईयते । ' (ऋ० ६।४७।१८) इन्द्र अपनी कुशलताओंसे अनेक रूप होकर विचरता है। इन्द्र अनेक रूप इतनी कुशलताके साथ लेता है कि वह पहचाना नहीं जाता। ऐसा बहुरूपिया इन्द्र है। यह भी इन्द्रकी कुशलताका ही उदाहरण है। वैसी ही कुशलता इस पदमें वर्णन की है। इन्द्र जो बनाता है वह सुन्दर बनाता है। इन्द्र पद परमात्माका वाचक है और उसमें ये पद पूर्णतया सार्थ होते हैं। अन्यत्र अंशरूप सार्थकता समझनी चाहिये ।

२ सोमपाः — सोमरसका पान करनेवाला।

३ गो-दाः — गौवें देनेवाला।

४ अ-स्तृतः — अपराजित, जिसको कोई परास्त नहीं कर सकता ऐसा अजेय वीर।

५ विपश्चित् — ज्ञानी, विद्यावान्।

६ विप्रः— मेधावान्, प्रज्ञावान् (निघं. ३।१५) जिसकी बुद्धिकी ग्राहक शक्ति विशेष है। जिसकी विस्मृति नहीं होती।

७ शतक्रतुः— सैकडों कर्म करनेवाला, बडे बडे कर्म करनेवाला।

८ वाजी — बलवान्, अन्नवान्।

९ दस्म — शत्रुका नाश करनेवाला, सुन्दर।

इन पदोंद्वारा कर्मकी कुशलता, गौओंका दान करनेका स्वभाव, अपराजित रहनेका बल, ज्ञान और धारणासे युक्त, अनेक बडे कार्य करनेकी शक्ति, सामर्थ्यवान्, शत्रुका नाश करना आदि गुणोंका वर्णन हुआ है। ये गुण मानवोंके लिये अत्यंत ही आवश्यक हैं। अब वाक्योंद्वारा इन्द्रके जिन गुणोंका वर्णन इस सूक्तमें किया गया है उन्हे देखिये–

१० ऊतये जुहूमसि– हमारी सुरक्षाके लिये इन्द्रको बुलाना। अर्थात् इन्द्रमें जनताकी सुरक्षा करनेकी शक्ति है।

११ रेवतः मदः गोदाः– धनवानका आनन्द गायोंका दान करता है। धनवान् इन्द्र है वह गौका दान करता है। धनवान् अपने पास गौवें बहुत रखे और उनका प्रदान भी करे।

१२ ते अन्तमानां सुमतीनां विद्याम– इन्द्रके पास जो उत्तम बुद्धियां हैं उनको हम प्राप्त हों। वीर बुद्धिमान् हो और वह उत्तम मन्त्रणा या परामर्श दूसरोंको दे दे।

१३ सखिभ्यः वरं आ (यच्छति)– मित्रोंको इष्ट और श्रेष्ठ वस्तुओंका प्रदान करता है। मित्रोंको कल्याण-कारी वस्तु ही दी जावे।

१४ इन्द्रस्य शर्मणि स्याम– इन्द्रके सुखमें हम रहे। इन्द्र सुख देता है। वैसा सुख वीर सब लोगोंको दे दे।

१५ वृत्राणां घनः– घेरनेवाले शत्रुका विनाश करने-वाला। वीर अपने शत्रुका नाश करे।

१६ वाजेषु वाजिनं प्रावः, वाजेषु वाजिनं वाजय। युद्धोंमें बल दिखानेवालेकी सुरक्षा कर।

१७ धनानां सातिः– इन्द्र धनोंका प्रदान करता है। वीर धन कमाता चले और उसका जनताकी उन्नतिके लिये दान भी करे।

१८ रायः अवनिः– धनोंकी सुरक्षा कर,

१९ महान् सुपारः- दुःखोंसे उत्तम पार ले जा।

इतने मन्त्र-वाक्योंसे बडा ही बोध दिया है। सुरक्षा करना, धनवान् गौओंका पालन अवश्य करें और गौओंका दान भी दें, अपनी बुद्धि सुसंस्कारसंपन्न करे और दूसरोंको उत्तम सलाह दे, अपने मित्रोंको श्रेष्ठ वस्तुका प्रदान करे, दूसरोंको सुख दे दें, अपने शत्रुका नाश करे, युद्धोंमें शौर्यसे लडनेवालोंकी सहायता करें, अपने धनोंका उत्तम दान करे, धनकी सुरक्षा करें, दुःखोंसे पार होनेकी योजना करें। ये उपदेश इस सूक्तसे मनुष्योंको मिलते हैं।

पाठक इस तरह मन्त्रके पदपदका मनन करें और उनसे मिलनेवाला बोध अपना लें।

इस सूक्तमें ' इन्द्रे दुवं दधानाः ' ऐसा मन्त्रभाग है, ' इन्द्रकी उपासनाका धारण करनेवाले ' ऐसा इसका अर्थ है। इससे पता चलता है कि इन्द्रकी उपासनाका व्रत धारण किया जाता था। इसी सूक्तके ५ वें मन्त्रमें (निदः) निन्दक है। वे संभवत. इन्द्रकी उपासना करनेवालोंके द्रोही या निंदक होंगे। वे दूर भाग जायँ और हम इन्द्रकी उपासना यथासांग करें। आगेके छठे मन्त्रमें कहा है कि ये ही शत्रु कहें कि हम इन्द्रकी उपासनासे (सुभगान्) भाग्यवान् बन गये हैं। इन्द्रकी उपासना करनेवालोंका भाग्य बढता है यह देखकर अन्य लोग भी इस उपासनाका धारण करेंगे। यह आशय यहां दीखता है।

इन्द्र

(५।१-१०) मधुच्छन्दा वैश्वामित्रः। इन्द्रः। गायत्री।

आ त्वेता नि षीदतेन्द्रमभि प्र गायत।
सखायः स्तोमवाहसः ॥ १ ॥
पुरूतमं पुरूणामीशानं वार्याणाम्।
इन्द्रं सोमे सचा सुते ॥ २ ॥
स घा नो योग आ भुवत् स राये स पुरंध्याम्।
गमद्वाजेभिरा स नः ॥ ३ ॥
यस्य संस्थे न वृण्वते हरी समत्सु शत्रवः।
तस्मा इन्द्राय गायत ॥ ४ ॥
सुतपाव्ने सुता इमे शुचयो यन्ति वीतये।
सोमासो दध्याशिरः ॥ ५ ॥
त्वं सुतस्य पीतये सद्यो वृद्धो अजायथाः।
इन्द्र ज्येष्ठ्याय सुक्रतो ॥ ६ ॥
आ त्वा विशन्त्वाशवः सोमास इन्द्र गिर्वणः।
शं ते सन्तु प्रचेतसे ॥ ७ ॥
त्वां स्तोमा अवीवृधन्त्वामुक्था शतक्रतो।
त्वां वर्धन्तु नो गिरः ॥ ८ ॥
अक्षितोतिः सनेदिमं वाजमिन्द्रः सहस्रिणम्।
यस्मिन् विश्वानि पौंस्या ॥ ९ ॥
मा नो मर्ता अभि द्रुहन्तनूनामिन्द्र गिर्वणः।
ईशानो यवया वधम् ॥ १० ॥

अन्वयः- हे स्तोमवाहसः सखायः! आ तु आ इत, निषीदत, इन्द्रं अभि प्र गायत ॥ १ ॥ सचा सोमे सुते पुरूतमं, पुरूणां वार्याणां ईशानं इन्द्रं (अभि प्र गायत) ॥ २ ॥ स घ नः योगे, सः राये, स पुरंध्यां आ भुवत्। सः वाजेभिः नः आ गमत् ॥ ३ ॥ समत्सु यस्य संस्थे हरी शत्रवः न वृण्वते, तस्मै इन्द्राय गायत ॥ ४ ॥ इमे सुताः शुचयः दध्याशिरः सोमासः सुतपाव्ने वीतये यन्ति ॥ ५ ॥ हे सुक्रतो इन्द्र! त्वं सुतस्य पीतये ज्येष्ठ्याय सद्य. वृद्धः अजायथाः ॥ ६ ॥ हे गिर्वणः इन्द्र! सोमासः आशव. त्वा आविशन्तु, ते प्रचेतसे शं सन्तु ॥ ७ ॥ हे शतक्रतो! त्वां स्तोमा, त्वां उक्था अवीवृधन्, नः गिरः त्वां वर्धन्तु ॥ ८ ॥ अक्षितोतिः इन्द्रः यस्मिन् विश्वानि पौंस्या सहस्रिणं इमं वाजं सनेत् ॥ ९ ॥ हे गिर्वण. इन्द्र! मर्ताः नः तनूनां मा अभिद्रुहन्, ईशानः वधं यवय ॥ १० ॥

अर्थ- हे स्तोत्र पाठक मित्रो! आओ, यहाँ आओ, बैठो, और इन्द्रके ही स्तोत्र गाओ ॥ १ ॥ सबके द्वारा मिलकर सोमरस निकालनेपर, श्रेष्ठोंमें श्रेष्ठ, बहुत पास रखनेयोग्य धनोंके स्वामी, इन्द्रकी (स्तुतिका गान करो) ॥ २ ॥ वही इन्द्र निश्चयसे हमें प्राप्तव्यकी प्राप्ति करानेमें, धन-प्राप्तिमें और विशाल बुद्धि करनेमें सहायक होवे, वह अपने अनेक सामर्थ्योंके साथ हमारे पास आ जावे ॥ ३ ॥ युद्धोंमें जिसके रथमें घोडे जुत जानेपर शत्रु जिसको पकड नहीं सकते, उसी इन्द्रका काव्यगायन करो ॥ ४ ॥ ये सोमरस छान कर पवित्र किये और दही मिलाकर सोम पीनेवाले इन्द्रके पानेके लिये सिद्ध हुए हैं ॥ ५ ॥ हे उत्तम कर्म करनेवाले इन्द्र! तू सोमरस पीनेके लिये और श्रेष्ठ होनेके लिये सत्वर ही बडा हो गया है ॥ ६ ॥ हे स्तुति-योग्य इन्द्र! ये सोमरस तेरे अन्दर प्रविष्ट हों और तेरे चित्तको आनन्द देते रहें ॥ ७ ॥

हे सैकडों कर्म करनेवाले इन्द्र ! ये स्तोत्र तेरी ओर ये गान तेरी बधाई करें, हमारी वाणियाँ तेरी यशोवृद्धि करें ॥ ८ ॥ जिसकी रक्षाशक्तिमें कभी न्यूनता नहीं होती वह इन्द्र, जिसमें सब बल समाये हैं, ऐसा सहस्रोंके पालन करनेके सामर्थ्यसे युक्त बल हमें देवे ॥ ९ ॥ हे स्तुतियोग्य इन्द्र ! कोई भी मानव हमारे शरीरोंको किसी तरहका उपद्रव न दे सके, और तू सबका ईश है इसलिये वध हमसे दूर कर दे ॥ १० ॥

इस सूक्तमें इन्द्रके वर्णनके लिये निम्नलिखित पद प्रयुक्त हुए हैं-

१. **पुरूतमः**- जिसके पास अत्यंत धन है। जो सबका पालन और पोषण करता है वह 'पुरु' है और वही पालनपोषणका कार्य अत्यंत पूर्ण रीतिसे करता है, इसलिये वह 'पुरु-तम' है। अत्यंत श्रेष्ठ, श्रेष्ठोंमें श्रेष्ठ, मनुष्य श्रेष्ठ बने।

२. **पुरूणां वार्याणां ईशानः**- अनंत धनोंका स्वामी, जिसके पास जनताका पालनपोषण करनेवाले सब प्रकारके पर्याप्त धन हैं। मनुष्य अपने पास धन रखे।

३. **सुत-पावा**- सोमरस पीनेवाला।

४. **सुक्रतुः**- उत्तम कर्म करनेवाला।

५. **वृद्धः**— बडा हुआ, श्रेष्ठ।

६. **गिर्वण** — प्रशंसाके योग्य।

७. **प्रचेतस्** — विशेष विचारशील, ज्ञानी।

८. **शतक्रतुः** — सैकडों कर्म करनेवाला, सैकडों प्रकारकी युक्तियाँ जिसके पास हैं।

९. **अक्षित-ऊतिः** — जिसके पासके संरक्षणके साधन कभी न्यून नहीं होते, सदा जिसके पास पर्याप्त सुरक्षाके साधन रहते हैं।

१०. **ईशानः** — जो समर्थ प्रभु है।

जनताका पालन करनेके साधन अपने पास रखना, अनेक श्रेष्ठ धन अपने पास रखना, रस पीना, उत्तम कर्म करना, शक्तिसे संपन्न होना, प्रशंसाके योग्य बनना, विचारशील बनना, सैकडों उत्तम कर्म करना, अपने पास अनेक सुरक्षाके साधन रखना और सामर्थ्य युक्त होना यह उपदेश ये पद दे रहे हैं। मानवोंके लिये यह उपदेश इन पदोंसे मिलता है।

अब उक्त सूक्तमें निम्न लिखित वाक्य जो उपदेश देते हैं सो देखिये—

११. **स योगे राये पुरन्ध्यां आ भुवत्** = वह साधन धन और सुबुद्धि देता है। वैसा मनुष्य जो जिसके पास न हो वह उसको देवे, धनका प्रदान करे, और उत्तम सुबुद्धि देता रहे।

१२. **समत्सु शत्रवः यस्य न वृण्वते**— युद्धोंमें शत्रु जिसको घेर नहीं सकते। मनुष्य ऐसा सामर्थ्य प्राप्त करे कि जिससे वह शत्रुको भारी हो जावे।

१३. **ज्यैष्ठ्याय वृद्धः अजायथाः**- श्रेष्ठ होनेके लिये बडा हुआ। मनुष्य श्रेष्ठ बने और बडा बने।

१४. **अक्षितोतिः इन्द्रः विश्वानि पौंस्या, सहस्रिणं वाजं सनेत्** - अक्षय रक्षासाधनोंसे संपन्न इन्द्र अनेक बल और सहस्रोंका पालन करनेवाला अन्न देता है। इसी तरह मनुष्य अपने पास अनेक रक्षा साधन रखे और और अनेकों-का पालन पोषण होने योग्य अन्नका प्रदान करे।

१५ **ईशानः वधं यवय** - परिस्थितिका स्वामी बन और मृत्यु दूर कर। मनुष्य अपनी परिस्थितिका अवलोकन करे, उसपर अपना अधिकार चलावे और दुःख तथा मृत्यु दूर करे। दीर्घायु बने।

इस तरह प्रत्येक पदका और प्रत्येक वाक्यका विचार करके मानव धर्मका बोध वेदमंत्रोंसे प्राप्त करना योग्य है। जैसा इन्द्र करता है वैसा मनुष्य करे और अपनेमें इन्द्रत्व स्थिर करे।

इन्द्रः, मरुतश्च

(६।१-१०) मधुच्छन्दा वैश्वामित्रः। १-३ इन्द्रः; ४,६,८,९ मरुतः; ५,७ मरुत इन्द्रश्च; १० इन्द्रः। गायत्री।

युञ्जन्ति ब्रध्नमरुषं चरन्तं परि तस्थुषः।
रोचन्ते रोचना दिवि ॥ १ ॥
युञ्जन्त्यस्य काम्या हरी विपक्षसा रथे।
शोणा धृष्णू नृवाहसा ॥ २ ॥
केतुं कृण्वन्नकेतवे पेशो मर्या अपेशसे।
समुषद्भिरजायथाः ॥ ३ ॥
आदह स्वधामनु पुनर्गर्भत्वमेरिरे।
दधाना नाम यज्ञियम् ॥ ४ ॥
वीळु चिदारुजत्नुभिर्गुहा चिदिन्द्र वह्निभिः।
अविन्द उस्रिया अनु ॥ ५ ॥

देवयन्तो यथा मतिमच्छा विदद्वसुं गिरः ।
महामनूषत श्रुतम् ॥ ६ ॥
इन्द्रेण सं हि दृक्षसे संजग्मानो अबिभ्युषा ।
मन्दू समानवर्चसा ॥ ७ ॥
अनवद्यैरभिद्युभिर्मखः सहस्वदर्चति ।
गणैरिन्द्रस्य काम्यैः ॥ ८ ॥
अतः परिज्मन्ना गहि दिवो वा रोचनादधि ।
समस्मिन्नृञ्जते गिरः ॥ ९ ॥
इतो वा सातिमीमहे दिवो वा पार्थिवादधि ।
इन्द्रं महो वा रजसः ॥ १० ॥

अन्वयः- अरुषं चरन्तं ब्रध्नं परि तस्थुषः युञ्जन्ति,(तस्य) रोचना दिवि रोचन्ते ॥१॥ अस्य रथे विपक्षसा काम्या शोणा धृष्णू नृवाहसा हरी युञ्जन्ति ॥ २ ॥ हे मर्याः ! अकेतवे केतुं कृण्वन्, अपेशसे पेशः (कुर्वन्), उषद्भिः सं अजायथाः ॥ ३ ॥ आत् अह, स्वधां अनु, यज्ञियं नाम दधानाः (मरुतः) गर्भत्वं पुनः एरिरे ॥४॥ हे इन्द्र ! वीळु चित् आरुजत्नुभिः वह्निभिः गुहा चित् उस्रियाः अनु अविन्दः ॥ ५ ॥ देवयन्तः गिरः महां विदद्वसुं श्रुतं यथा मतिं, अच्छ अनूषत ॥ ६ ॥ अबिभ्युषा इन्द्रेण संजग्मानः सं दृक्षसे हि । मन्दू समानवर्चसा ॥ ७ ॥ मखः अनवद्यैः अभिद्युभिः काम्यैः गणैः इन्द्रस्य सहस्वत् अर्चति ॥ ८ ॥ हे परिज्मन् ! अतः आगहि, दिवः वा, रोचनात् अधि, अस्मिन् गिरः सं ऋञ्जते ॥ ९ ॥ इतः पार्थिवात्, दिवः वा, महो वा रजसः इन्द्रं सातिं अधि ईमहे ॥ १० ॥

अर्थ- अहिंसित परंतु गतिमान् सूर्यके रूपमें अवस्थित (इन्द्र) के साथ चारों ओरसे सब पदार्थ अपना संबंध जोडते हैं, (इसके) किरण द्युलोकमें प्रकाशते हैं ॥ १ ॥ इस (इन्द्र) के रथमें धुराके दोनों ओर जोडे, प्रिय, लालवर्णवाले, शत्रुका धर्षण करनेवाले, वीरोंको ढोनेवाले दो घोडे जोते रहते हैं ॥ २ ॥ हे मनुष्यो ! ज्ञानहीनको ज्ञान देता हुआ, रूपरहितको रूपवान् (करता हुआ) उषाओंके पश्चात् (वह सूर्यरूप इन्द्र) सम्यक् रीतिसे प्रकट हुआ है ॥ ३ ॥ निश्चयसे अन्नकी प्राप्तिकी इच्छा करके, यज्ञसे प्राप्त पूज्य बलका धारण करनेवाले (ये वीर मरुत्) गर्भोंको पुनः प्राप्त हुए हैं ॥ ४ ॥ हे इन्द्र ! बलवान् दुर्गोंका नाश करनेमें समर्थ अग्निसदृश (मरुतोंके साथ रहनेवाला तू शत्रुकेद्वारा) गुहामें रखी हुई गौओंको भी प्राप्त कर सका ॥ ५ ॥ देवोंको प्राप्त करनेकी इच्छा करनेवाले स्तोता जन बडे धनवान् और ज्ञानी (मरुद्गण) की, अपनी बुद्धिके अनुसार मुख्यतासे स्तुति करते रहे ॥ ६ ॥ न डरनेवाले इन्द्रके साथ जानेवाला (यह मरुत्समूह) दीखता है । ये दोनों (इन्द्र और मरुत्) सदा आनंदित और समान रूपसे तेजस्वी हैं ॥ ७ ॥ यह यज्ञ निर्दोष तेजस्वी और प्रिय मरुद्गणोंके साथ रहनेवाले इन्द्रकी बलपूर्वक पूजा करता है ॥८॥ हे चारों ओर जानेवाले मरुद्गण ! यहांसे आओ, द्युलोकसे आओ अथवा इस तेजस्वी सूर्यलोकसे आओ, क्योंकि इस यज्ञमें सब स्तुतियां मिलकर तेरी ही प्रसाधना करती हैं ॥ ९ ॥ इस पार्थिव लोकसे, द्युलोकसे अथवा बडे अन्तरिक्षलोकसे (लाया हुआ धन हम) इन्द्रके पाससे दानरूपमें पानेकी इच्छा करते हैं ॥ १० ॥

इस सूक्तमें सूर्यरूप धारण किये इन्द्रकी स्तुति है । इस सूक्तमें इन्द्रके गुण बतानेवाले ये पद हैं—

१ ब्रध्न — बडा, आकारमें सबसे बडा,

२ अ-रुष् जिसका कोई घातपात नहीं कर सकता,

३ चरन्— चलने, फिरने, घूमनेवाला, हलचल करनेमें समर्थ, (ये तीनों पद सूर्यके भी विशेषण हैं, पर यहां इन्द्रके वर्णनमें आये हैं ।)

४ अबिभ्युष् — न डरनेवाला, निर्भीक, भयरहित,

५ मन्दु — आनन्दित, सदा प्रसन्न,

६ वर्चस् — तेजस्वी, प्रकाशमान,

ये पद निम्नलिखित बोध मानवको दे रहे हैं– बडा बनो, तुम्हारी कोई हिंसा न कर सके ऐसा सामर्थ्यवान् बनो, सदा हलचल करो, निडर बनो, आनन्दप्रसन्न रहो और तेजस्वी बनकर रहो । अब इन सूक्तके वाक्यों द्वारा जो बोध मिलता है, वह यह है—

७ अकेतवे केतुं कृण्वन्- अज्ञानीको ज्ञान देता है । अज्ञानीको ज्ञान देनेका प्रबंध करो, निरक्षरको साक्षर करो ।

८ अपेशसे पेशः कुर्वन्- रूपहीनको सुरूप बनाता है । जो सुरूप नहीं है उसको सुरूप बनाओ ।

९ वीळु आरुजत्नुभिः गुहा उस्रियाः अनु अविन्द - बलवान् दुर्गोंको तोडनेवाले वीरोंके साथ रह कर शत्रुने गुप्त स्थानमें रखी गौओंको इन्द्र प्राप्त करता है । अपने पास

ऐसे प्रबल वीर रखो कि जो शत्रुके गढोंको तोड सकेंगे, और शत्रुका पराभव करके उसका गवादि धन प्राप्त करा देंगे।

१० अविभ्युषा संजग्मानः- न डरनेवालेके साथ मिलकर रहनेवाला। निडर वीरोंके साथ रहो।

११ इन्द्रं सातिं अधि ईमहे- इन्द्रके पाससे हम धनका दान प्राप्त करना चाहते हैं। ऐश्वर्यवान्‌से ही ऐश्वर्य की इच्छा करो।

ये उपदेश स्पष्ट हैं, अतः इनपर टिप्पणी करनेकी कोई आवश्यकता नहीं है। इस सूक्तमें कुछ शास्त्रीय सिद्धान्त कहे है, उनका अब विचार करते हैं-

सूर्यका आकर्षण

अरुषं चरन्तं ब्रध्नं परि तस्थुषः युञ्जन्ति ।
(तस्य) रोचना दिवि रोचन्ते ॥ १ ॥

' अविनाशी, गतिशील महान् सूर्यके साथ उसके चारों ओर रहनेवाले सब पदार्थ जुडे हुए हैं। ' आकर्षण-संबंधसे ये जुडे रहते है। इस सूर्यके किरण आकाशमें प्रकाशते हैं। यहां सूर्यका यह आकर्षण-संबंध अन्य सब सूर्यमालिकाके पदार्थोंके साथ है ऐसा स्पष्ट कहा है। सूर्य (ब्रध्नः) बडा है, सूर्यमें गुरुता या गुरुत्व है, इस गुरुताका ही यह संबंध है। इस गुरुत्वाकर्षणके संबंधसे सब पदार्थ, विश्वकी सब वस्तुएँ, सूर्यसे बंधी गयी हैं।

अनेक उषाओंके पश्चात् सूर्यका आना

उषद्भिः सं अजायथाः ॥ ३ ॥

अनेक उषाओंके पश्चात् सूर्य उत्पन्न होता है। अनेक उषाओंके पश्चात् सूर्यका उदय उत्तरीय ध्रुव-प्रदेशमें ही दीखनेवाला दृश्य है। ' उषद्भिः ' का अर्थ ' किरण ' करते हैं, परन्तु ' उषाओंके पश्चात् ' ऐसा ही इसका अर्थ स्पष्ट है। उत्तरध्रुवप्रदेशमें अनेक उषाओंके पश्चात् ही सूर्य का उदय होता है।

मरुतोंका वर्णन

इस सूक्तमें मरुतोंका भी वर्णन है। यह वर्णन मरुतोंके गणोंका है, इसमें निम्नलिखित पद अत्यंत महत्त्वके हैं-

१ वीळु आरुजत्नुः- बलवान् और सुदृढ शत्रुका पूर्ण नाश करनेवाला मरुतोंका समूह है। बलवान् शत्रुका पूर्ण नाश करनेकी शक्ति प्राप्त करनी चाहिये।

२ वह्निः- अग्नि जैसा तेजस्वी बनो। सुखसाधन ढोकर लाओ।

३ अन्-अवद्यः- अनिंद्य बनो।

४ अभिद्युः- तेजस्वी बनो।

५ काम्यः- प्रिय बनो।

६ गणा- समूहमें रहो

७ परि-ज्मा- चारों ओर भ्रमण करो।

ये विशेषण वीर कैसे हों, इस विषयका बोध कराते हैं। मनुष्य मरुतोंके समान वीर बनें। अपनी शक्ति बढाकर प्रबल शत्रुका भी नाश करे। अग्निके समान तेजस्वी बने, किसी तरह निंदनीय कार्य न करें, जनताकी सेवा करके उसका प्रिय बनें, सर्वत्र भ्रमण करके शत्रुको ढूंढ निकालें और उनका नाश करें।

देवत्वकी प्राप्ति

छठे मन्त्रमें ' देवयन्तः ' पद है। देवत्वकी प्राप्तिकी इच्छा करनेवाले उपासक होते हैं। मनुष्य देवत्वकी प्राप्तिकी इच्छा करे। यही वेदके धर्मकी सफलता है कि मनुष्य देवत्वसे युक्त हो जाय ! यह कैसे बने ? जो देवताओंके गुण सूक्तों और मन्त्रोंमें वर्णन किये हैं उनको अपनेमें उपासक स्थिर करे और बढावे। यही साधना है, यही अनुष्ठान है। अग्नि, इन्द्र, मरुत्, विश्वे देव, मित्र और वरुण, सरस्वती आदि देवोंके सूक्त यहां तक आये हैं। इन देवोंके वर्णन इतने सूक्तोंमें हैं। यहां देवोंके वर्णनोंमें जो पद प्रयुक्त हुए हैं उन पदोंसे व्यक्त होनेवाले गुण साधक अपनेमें धारण करें। जितना इन गुणोंका धारण साधक करेंगे उतनी साधना उन साधकोंकी होगी। इस साधनाको बतानेके लिये ही हमने पदों और वाक्योंका अलग स्पष्टीकरण यहां किया है और आगे भी ऐसा ही बताया जायगा।

इन्द्र

(७।१-१०) मधुच्छन्दा वैश्वामित्रः। इन्द्रः। गायत्री।

इन्द्रमिद्गाथिनो बृहदिन्द्रमर्केभिरर्किणः।
इन्द्रं वाणीरनूषत ॥ १ ॥
इन्द्र इद्धर्योः सचा संमिश्ल आ वचोयुजा।
इन्द्रो वज्री हिरण्ययः ॥ २ ॥

इन्द्रो दीर्घाय चक्षस आ सूर्यं रोहयद्दिवि ।
वि गोभिरद्रिमैरयत् ॥ ३ ॥
इन्द्र वाजेषु नोऽव सहस्रप्रधनेषु च ।
उग्र उग्राभिरूतिभिः ॥ ४ ॥
इन्द्रं वयं महाधन इन्द्रमर्भे हवामहे ।
युजं वृत्रेषु वज्रिणम् ॥ ५ ॥
स नो वृषन्नमुं चरुं सत्रादावन्नपा वृधि ।
अस्मभ्यमप्रतिष्कुतः ॥ ६ ॥
तुञ्जे तुञ्जे य उत्तरे स्तोमा इन्द्रस्य वज्रिणः ।
न विन्धे अस्य सुष्टुतिम् ॥ ७ ॥
वृषा यूथेव वंसगः कृष्टीरियर्त्योजसा ।
ईशानो अप्रतिष्कुतः ॥ ८ ॥
य एकश्चर्षणीनां वसूनामिरज्यति ।
इन्द्रः पञ्च क्षितीनाम् ॥ ९ ॥
इन्द्रं वो विश्वतस्परि हवामहे जनेभ्यः ।
अस्माकमस्तु केवलः ॥ १० ॥

अन्वयः- गाथिनः इन्द्रं इत् बृहत् (अनूषत) । आर्किण. अर्केभिः इन्द्रं (अनूषत) । वाणीः (च) इन्द्रं अनूषत॥१॥ इन्द्रः इत् वचोयुजा हर्योः सचा आ संमिश्लः । (अयं) इन्द्रः वज्री हिरण्ययः ॥ २ ॥ इन्द्रः दीर्घाय चक्षसे सूर्यं दिवि आरोहयत् । (सः) गोभिः अद्रिं वि ऐरयत् ॥ ३ ॥ हे इन्द्र ! (त्वं) उग्रः उग्राभिः ऊतिभिः वाजेषु सहस्र-प्रधनेषु च नः अव ॥ ४ ॥ वयं महाधने इन्द्रं (हवामहे) । (वयं) अर्भे (अपि) वृत्रेषु वज्रिणं युजं इन्द्रं हवामहे॥५॥ हे सत्रादावन् वृषन् ! सः नः अमुं चरुं अपा वृधि । अस्मभ्यं अप्रतिष्कुतः ॥ ६ ॥ तुञ्जे-तुञ्जे ये स्तोमाः उत्तरे (सन्ति ते.) वज्रिणः अस्य इन्द्रस्य सुष्टुतिं न विन्धे ॥ ७ ॥ अप्रतिष्कुतः ईशानः वृषा ओजसा कृष्टीः वंसगः यूथा-इव इयर्ति ॥ ८ ॥ यः एकः चर्षणीनां (इरज्यति), वसूनां इरज्यति, स इन्द्रः पञ्च क्षितीनां (ईशः अस्ति) ॥ ९ ॥ विश्वत. जनेभ्यः परि इन्द्रं वः हवामहे । (सः) अस्माकं केवलः अस्तु ॥ १० ॥

अर्थ— गायन करनेवाले (गाथिनः) इन्द्रकी ही बृहत्-सामसे स्तुति गाते हैं, अर्चना करनेवाले स्तोत्रोंसे इन्द्रकी ही अर्चना करते हैं। हमारी सब वाणियाँ इन्द्रकी ही प्रशंसा करती हैं ॥ १ ॥ इन्द्र निःसन्देह शब्दोंके इशारेसे ही चलाये जानेवाले घोडोंको जोतनेवाला है। (यह) इन्द्र वज्रधारी और सुवर्णके आभूषण पहननेवाला है ॥ २ ॥ इन्द्रने दीर्घकालतक प्रकाश मिले इसलिये सूर्यको द्युलोकमें ऊपर चढाया है। वह सूर्य किरणोंसे पर्वतोंको प्रेरित करता है ॥ ३ ॥ हे इन्द्र ! (तू) वीर है इसलिये वीरतासे होने-वाले संरक्षणोंसे युद्धोंमें तथा धन प्राप्तिके सहस्रों साधनोंसे हमारी सुरक्षा कर ॥ ४ ॥ हम जैसे बडे युद्धमें इन्द्रकी सहायता चाहते हैं, वैसे ही हम स्वल्प धन प्राप्तिके प्रयत्नमें भी, तथा वृत्रोंके साथ होनेवाले युद्धमें जुटनेवाले इन्द्रकी सहायता चाहते हैं ॥ ५ ॥ हे अभीष्ट फल इकट्ठा ही देने-वाले बलवान् इन्द्र ! वह तू हमारे लिये यह अन्नका खजाना खोल दे । तथा हमारे विरुद्ध न हो जाओ ॥ ६ ॥ शत्रुका नाश करनेवाले वीरके विषयमें जो स्तोत्र उत्तमसे उत्तम (हैं. उनमें) वज्रधारी इस इन्द्रकी स्तुति होने योग्य एक भी स्तोत्र नहीं मिलता है ॥ ७ ॥ विरोध न करनेवाला प्रभु बलवान् इन्द्र अपने सामर्थ्यसे सब प्रजाओंको वैसा प्रेरित करता है जैसा सांड गौओंकी झुण्डको ॥ ८ ॥ जो अकेला ही मनुष्योंपर स्वामित्व करता है, धनोंपर स्वामित्व करता है। वह इन्द्र पांचों मानवोंका एक ही प्रभु है ॥ ९ ॥ सब मानवोंपर स्वामित्व करनेवाले इन्द्रकी हम आप सबके हितार्थ प्रार्थना करते हैं। वह इन्द्र केवल हमारा ही सहायक हो ॥ १० ॥

इस सूक्तमें इन्द्रका वर्णन करनेवाले जो पद हैं, उनका अब विचार कीजिये—

१ वज्री– वज्र धारण करनेवाला,

२ हिरण्ययः— सुवर्णके आभूषण धारण करनेवाला, सुनहरी वेलबूटीके वस्त्र पहननेवाला,

३ उग्रः— शूरवीर, बडा प्रतापी वीर,

४ सत्रा-दावन्– एक साथ अनेक दान करनेवाला,

५ वृषा– बलवान्, सुखोंकी वृष्टि करनेवाला,

६ अप्रतिष्कुतः- अ-प्रति-स्कुतः- विरोध न करने-वाला, निषेध न करनेवाला,

७ ईशानः— स्वामी, प्रभु, अधिपति,

इसमें ' हिरण्यय ' पदसे इन्द्रके पोशाकका ज्ञान होता है, वह सुवर्णाभूषण तथा सुनहरी वेलबूटीके वस्त्र पहनता था। वज्रधारण करता, बलवान् होता हुआ भी अनुयायि-योंका विरोध नहीं करता और उनको यथेच्छ दान देता

था। अब इस सूक्तमें इन्द्रके वर्णनपरक वाक्योंका भाव देखिये —

८ वचोयुजा हर्योः सचा- केवल इशारेसे ही जानेवाले घोडोंको रथमें जोतनेवाला। इस तरहके शिक्षित घोडोंको अपने पास रखनेवाला।

९ उग्रः उग्राभिः ऊतिभिः वाजेषु नः अव- वीर अपने प्रतापी सुरक्षा करनेके साधनोंसे युद्धोंमें हमारी रक्षा करे। वीर अपने पास सुरक्षाके उत्तम साधन रखे और उनसे वह हमारी रक्षा करे।

१० सहस्र-प्रधनेषु च अव- धन-प्राप्तिके सहस्रों कार्योंमें हमारी सुरक्षा हो।

११ सः (त्वं) नः अमुं चरुं अपावृधि- वह तू हमारे लिये इस अन्नके खजानेको खोल दे। इस जलाशयको खुला कर दे। अन्न और जल सबको मिले ऐसा कर। अन्नके ऊपरका ढक्कन खोल दे।

१२ वृषा ओजसा कृष्टीः इयर्ति— बलवान् वीर अपने सामर्थ्यसे सब लोगोंको प्रेरित करता है, सबको मार्गदर्शन करता हुआ, उन्नति पथसे चलाता है। प्रेमसे सबको चलाता है।

१३ एकः पञ्च चर्षणीनां क्षितीनां इरज्यति- एक ही प्रभु सब पाँचों मानववंशोंका राजा है। सब मानवोंका एक ही राजा हो।

१४ विश्वतः जनेभ्यः परि इन्द्रं हवामहे- सब जनोंपर प्रभुत्व करनेवालेकी हम प्रशंसा करते हैं।

सूक्तमें कविका नाम

इस सूक्तके प्रारंभमें ' इन्द्रं इद्गाथिनो बृहत् ' यह चरण है। इसमें ' गाथिन ' पद है, वह इस सूक्तके कविका सूचक है। इस सूक्तका ऋषि ' मधुच्छन्दा ' है, यह ऋषि (वैश्वामित्र) विश्वामित्रका पुत्र है और विश्वामित्र (गाथिनः) गाथी या गाधि कुलमें उत्पन्न हुआ है, इसलिये मधुच्छन्दा भी ' गाथिनः ' अर्थात् गाथिकुलका ही है। ' विश्वामित्रो गाथिनः ' के सूक्त तीसरे मण्डलमें आरंभसे अन्ततक हैं, बीचमें विश्वामित्र पुत्रोंके कुछ सूक्त हैं। पाठक इस दृष्टिसे तृतीय मंडलके ऋषि देखें। यद्यपि यह ' गाथिनः ' पद सामगान करनेवालोंके अर्थमें यहां आया है, तथापि यहां यह ऋषि अपने गोत्रका भी उल्लेख करता है ऐसा पता लगता है।

सुदीर्घ प्रकाश

इस सूक्तमें सुदीर्घ प्रकाश देनेके लिये इन्द्रने सूर्यको आकाशमें ऊपर चढाया ऐसा लिखा है–

> इन्द्रो दीर्घाय चक्षस आ सूर्यं रोहयद्दिवि।
> वि गोभिः अद्रिं ऐरयत्॥ ३॥

' इन्द्रने सुदीर्घ प्रकाशके लिये सूर्यको द्युलोकमें ऊपर चढाया और उस सूर्यने पश्चात् अपने किरणोंसे पर्वतको विशेष प्रकारसे चलाया। '

यह वर्णन सूक्ष्म दृष्टिसे देखने योग्य है। इन्द्र पहिले था, उस समय सूर्य नीचे था, उस समय अन्धेरा भी था, पश्चात् इन्द्रने सूर्यको द्युलोकपर चढाया, सूर्य वहां चढा और वहांसे सुदीर्घ काल तक वहीं रहता हुआ प्रकाशता रहा। सूर्यके इस प्रदीर्घ कालके प्रकाशके किरणोंसे पहाड भी विचलित हुए, पिघलने लगे। बर्फ पिघलकर पर्वतसे जल चूने लगा।

हमारे देशमें प्रतिदिन सूर्य द्युलोकमें अर्थात् आकाशके मध्यमें नियत समय चढता और वहां प्रकाशता है। प्रतिदिन प्रायः यह ऐसा ही होता है। इसको कोई सुदीर्घ कालतक प्रकाशना नहीं कहेंगे।

अनेक उषाओंके पश्चात् सूर्यके उदय होनेका वर्णन हमने ऋ. १।६।३ में देख लिया है। जहां अधिक उषाओंके पश्चात् सूर्य आता होगा, उसी प्रदेशमें सूर्य द्युलोकमें आकाशमें अधिक दिनतक रहता होगा और वहीं अधिक दीर्घ रात्रि भी होती होगी।

सर्वसाधारणतः छः मासकी रात्रि और छः मासका दिन उत्तरीय ध्रुवमें होता है। इसमें एक मासका उषःकाल, एक मासका सायं संध्याकाल और शेष रात्रिका अखण्ड अंधेरेका समय और अखण्ड प्रकाशका भी उतना ही समय होता है।

वहां सूर्य बिलकुल मध्य आकाशमें कभी आता ही नहीं। नौ बजेसे साढेदस बजेतक सूर्य जहां रहता है वहां ही सूर्य रहा हुआ गोल इर्दगिर्द घूमता है। किसी पर्वतकी प्रदक्षिणा करनेके समान सूर्य घूमता है। प्रदक्षिणा करनेकी कल्पना इसी सूर्यसे प्रचलित हुई होगी।

इस प्रदेशमें सूर्य नौ बजे आनेके आकाशके स्थान पर आया तो द्युलोकमें चढा। इस समय आकाशकी लालिमा पूर्णतया नष्ट होती है और सूर्यका धवल प्रकाश चमकने लगता है, यही दिन सतत तीन महिने रहता है और इसी सूर्यकी किरणोंकी गर्मीसे हिमकालमें जमा हुआ पहाडोंपर का बर्फ पिघलने लगता है और पहाड ही पिघलने और चूने लगते हैं।

मंत्रमें ' अद्रिं वि ऐरयत् ' पद है। यहां जो ' अद्रि ' पद है वह पर्वतका वाचक है। इसको निघण्टु निरुक्तमें ' मेघ ' वाचक माना है। परन्तु सूर्य-किरणोंसे मेघोंका कभी पानी नहीं होता, न मेघ सूर्य-किरणोंसे पिघलते हैं। सूर्य-किरणोंसे चूने या पिघलनेवाले ' अद्रि ' पर्वत वे हैं कि जिन पर हिमकालमें बर्फ जमा होता है। हिमकालका अर्थ ही बर्फ जमनेका काल है, उसका पीछेसे अर्थ सर्दीका जमाना हुआ है। अन्धेरा होना, दीर्घ रात्रिका होना, बर्फ या हिमकी वृष्टिका होना और सर्दीका होना एक ही समय होनेवाली बातें हैं। इसीके विरुद्ध सुदीर्घ प्रकाशका होना और बर्फका पिघलना ये एक समय प्रकाशके समय होनेवाली बातें हैं।

' ईर- गतौ ' ईर् धातु गत्यर्थक है, गति कराता है। ' अद्रिं वि ऐरयत् ' पर्वतको विशेष गतिशील बनाना है, पर्वतसे चूनेवाले जलको गतिमान् बनाता है। बर्फानी पहाडोंसे जो पानी गर्मीके दिनोंमें पिघलता है, उसीसे नदियोंको महापूर आते हैं, उस पानीमें उस समय बडी गति रहती है।

सूर्य-किरणोंका मेघोंपर ऐसा कोई असर नहीं होता, कि जो मेघोंसे पानी चूने लगे और नदियां बहती जायँ। अतः अद्रिका अर्थ मेघ न करते हुए, यहां ' पर्वत ' अर्थ करना और सूर्य-किरणोंसे बर्फानी पहाड चूने लगते हैं ऐसा मानना योग्य है।

यहां ' ईर्' धातु है। ईर्, ईल्, ईड्, ईळ् ये धातु समान अर्थवाले हैं। इर्, इल्, इड्, इळ् तथा इरा, इला, इडा, इळा ये पद भी परस्पर संबंधित हैं। उपजाऊ भूमि, अन्न, जल आदि अर्थवाले ' इरा ' आदि पद हैं। वही भाव इस धातुमें मानना योग्य है। बर्फानी पहाडोंके चूनेसे जो पानी नदियोंमें भरता है, वह अपने साथ उपजाऊ मिट्टी लाता है, उस भूमिमेंसे बहुतही धान्य उत्पन्न होता है। इसी कारण ' इरा, इडा ' के अर्थ भूमि और अन्न हुए हैं।

' गोभिः अद्रिं वि ऐरयत् ' का अर्थ पर्वतपरके बर्फरूप जलको सूर्य अपने किरणोंसे गति देता है, और यह जल आगे जाकर भूमि और अन्न निर्माण करता है। ' इर् ' का अर्थ भी ऐसा ही समझना योग्य है। अन्नकी उपज करनेके लिये जो जल प्रेरणा करता है वह प्रेरणा यहां का ' इर् ' धातु बताता है।

इन्द्र सूर्यको ऊपर चढाता है, यहां इन्द्र सूर्यसे पृथक् माना है। सूर्य तो अपना ही सूर्य है, इन्द्र वह है कि जो प्रकाश उत्तरीय ध्रुवमें सूर्यके आनेके पूर्व रहता है। यह विद्युत्प्रकाश है। वहां सूर्योदयके पूर्व यह प्रकाश रहता है। इसके पश्चात् सूर्य ऊपर आता है और ऊपर ही ऊपर तीन चार महिने तक रहता है, इसका अखण्ड प्रकाश ' दीर्घाय चक्षसे ' पदोंसे व्यक्त हुआ है। वेदमें --

दीर्घं तमः आशयत् इन्द्रशत्रुः।
दीर्घाय चक्षसे दिवि सूर्यं आरोहयत्।

ऐसे प्रयोग हैं। (दीर्घं तमः) रात्रि भी प्रदीर्घ है, (दीर्घाय चक्षसे) और दिन प्रकाश भी सुदीर्घ है। इनका मेल करनेसे पूर्वोक्त स्पष्टीकरण दीखने लगता है।

पञ्च क्षिति

' क्षिति ' का अर्थ है पृथ्वी, जिसपर मनुष्य रहते हैं वह भूमि। पश्चात् भूमिपर रहनेवाला मनुष्य ऐसा इसका अर्थ हुआ। इस भूमिपर पांच प्रकारके मनुष्य रहते हैं श्वेत, रक्त, पीत, भूरा और काला। ये पांच रंगों या वर्णोंवाले पांच मनुष्य पांच स्थानोंके विभिन्न भूविभागोंपर रहते हैं। श्वेत वर्णवाले यूरोपमें, लालरंगवाले उत्तर अमरीकामें, पीत रंगवाले चीन जापानमें, भूरे रंगवाले भारतवर्षमें और कृष्ण वर्णवाले अफ्रीकामें रहते हैं। इनका नाम क्षिति है क्योंकि इनका संबंध विशेष भूविभागके साथ है।

यह इन्द्र देव इन पांचों प्रकारके भूविभागोंमें रहनेवाले पांच रंगोंवाले मानवोंका प्रभु है और इन सबका पालनकर्ता है। ' पञ्च क्षिति ' का अर्थ ' ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य, शूद्र और निषाद ' ये पांच जातिके लोग हैं ऐसा कई मानते हैं। पर इन ब्राह्मणादिकोंका पांच भूविभागोंसे कोई संबंध नहीं है। ' पञ्च क्षिति ' का अर्थ ' पांच भूविभाग ' है। अर्थात्

पांच विभिन्न भूविभागमें रहनेवाले पांच प्रकारके लोग, यह इसका अर्थ स्पष्ट है ।

वाज, प्रधन, महाधन

' वाज, प्रधन, महाधन ' ये पद युद्धवाचक हैं। ' वाज ' का अर्थ बल वा अन्न है, ' प्रधन का अर्थ श्रेष्ठ धन है, ' महाधन ' का अर्थ बडा धन है। युद्धसे अन्न और धन मिलता है, युद्धमे जो वीर विजयी होता है वह शत्रुका अन्न और धन अपने अधीन करता है। शत्रुके प्रदेशोको लूटकर धन लाता है। इस रीतिके अनुसार ' धन, प्रधन, महाधन ' ये पद युद्धवाचक हुए हैं। अन्न भी उसी तरह युद्धसे मिलता है, इसलिये 'वाज' पद युद्धका वाचक हुआ। 'वाज' पद बलवाचक भी है, जो सेनावाचक भी आलकारिक रीतिसे होना संभव है।

वचोयुजौ हरी

' शब्दके इशारेसे चलनेवाले घोडे । ' ये पद बता रहे हैं कि, घोडोको सिखाकर इतना तैयार किया जाता था। ये केवल शब्दका उच्चार करते ही जिस तरह चाहिये उस तरह घोडे चलने लगते है। इतने उत्तम शिक्षित घोडे होने चाहिये।

अन्नका खजाना खोलो

' स चरुं अपावृधि ' हमारे अन्नका खजाना खोल दो, चावलोके पात्रके ऊपरका ढक्कन दूर करो। यह ढक्कन कौनसा था ? चरुका अर्थ अन्न या अन्नपात्र है। बर्फ जहां चार महीने जमीनपर पडा रहता है वहां बर्फ पडनेके पूर्व जमीनमे धान्य बोते हैं, पश्चात् उसपर बर्फ पडता है, यही अन्नके ऊपरका ढक्कन है। जब यह बर्फ पिघलता है तब उस बोये धान्यपरका ढक्कन दूर होता है और उसी पिघले बर्फके जलसे वह धान्य उगता और परिपक्व होता और मनुष्योको मिलता है। इसीलिये इन्द्रसे प्रार्थना की गयी कि हमारे चरुके ऊपरका ढक्कन दूर कर दो। ' चरु ' का अर्थ मेघ करके इस मन्त्रका अर्थ कुछ और आलकारिक करते हैं। पर वैसा करनेकी आवश्यकता नहीं है। चरु-अन्न-पर बर्फका ढक्कन पडता है, सूर्य ऊपर चढनेसे वह बर्फ पिघलता है, वह अन्न खुलकर बाहर आता है और मनुष्योंको योग्य समयमें मिलता है।

इस तरह कई बातें इस सूक्तमें विशेष ही महत्वपूर्ण है। वे सब विचार करने योग्य हैं।

एक ईश्वर

य एकः चर्षणीनां इरज्यति ।
इन्द्रः पञ्चक्षितीनां (ईशः) ॥ ९ ॥
विश्वतः परि जनेभ्य इन्द्रं हवामहे ।
अस्माकं केवल॰ अस्तु ॥ १० ॥

ये मन्त्र एक ईश्वरके वाचक हैं। सबका राजा एक ही इन्द्र है, सब जनोका वही एक शासक है। ये मन्त्र एक ईश्वरकी सत्ताके वाचक हैं।

---

(३) तृतीयोऽनुवाकः

इन्द्र

(८। १०) मधुच्छन्दा वैश्वामित्र । इन्द्र । गायत्री ।

एन्द्र सानसिं रयिं सजित्वानं सदासहम् ।
वर्षिष्ठमूतये भर ॥ १ ॥
नि येन मुष्टिहत्यया नि वृत्रा रुणधामहै ।
त्वोतासो न्यर्वता ॥ २ ॥
इन्द्र त्वोतास आ वयं वज्रं घना ददीमहि ।
जयेम सं युधि स्पृधः ॥ ३ ॥
वयं शूरेभिरस्तृभिरिन्द्र त्वया युजा वयम् ।
सासह्याम पृतन्यत ॥ ४ ॥
महाँ इन्द्रः परश्च नु महित्वमस्तु वज्रिणे ।
द्यौर्न प्रथिना शवः ॥ ५ ॥
समोहे वा य आशत नरस्तोकस्य सनितौ ।
विप्रासो वा धियायवः ॥ ६ ॥
यः कुक्षिः सोमपातमः समुद्र इव पिन्वते ।
उर्वीरापो न काकुदः ॥ ७ ॥
एवा ह्यस्य सूनृता विरप्शी गोमती मही ।
पक्वा शाखा न दाशुषे ॥ ८ ॥

एवा हि ते विभूतयः ऊतय इन्द्र मावते।
सद्यश्चित् सन्ति दाशुषे ॥ ९ ॥
एवा ह्यस्य काम्या स्तोम उक्थं च शंस्या।
इन्द्राय सोमपीतये ॥ १० ॥

अन्वयः— हे इन्द्र ! सानसिं सजित्वानं सदासहं वर्षिष्ठं रयिं ऊतये आ भर ॥ १ ॥ येन त्वोतासः मुष्टिहत्यया नि अर्वता वृत्रा नि रुणधामहै ॥ २ ॥ हे इन्द्र ! त्वोतासः वयं घना वज्रं आ ददीमहि, युधि स्पृधः सं जयेम ॥ ३ ॥ हे इन्द्र ! वयं शूरेभिः अस्तृभिः त्वया युजा वयं पृतन्यतः सासह्याम ॥ ४ ॥ इन्द्रः महान् परः च, नु वज्रिणे महित्वं अस्तु, द्यौः न शवः प्रथिना ॥ ५ ॥ ये नरः समोहे, तोकस्य सनितौ वा, विप्रासः वा धियायवः, आशत ॥ ६ ॥ यः सोमपातमः कुक्षिः समुद्र इव पिन्वते, काकुदः उर्वीः आपः न ॥ ७ ॥ अस्य विरप्शी गोमती मही, सूनृता दाशुषे एवा हि पक्वा शाखा न ॥ ८ ॥ हे इन्द्र ! ते विभूतयः एवा हि, मावते दाशुषे ऊतयः सद्यश्चित् सन्ति ॥ ९ ॥ अस्य स्तोमः उक्थं च एवा हि काम्या शंस्या सोमपीतये इन्द्राय ॥ १० ॥

अर्थ– हे इन्द्र ! सेवनीय, सदा विजयी, सदा शत्रुका पराभव करनेवाले, सामर्थ्यसे युक्त, श्रेष्ठ धन, हमारी सुरक्षा के लिये, हमारे पास भरपूर भर दे ॥ १ ॥ जिस धनसे तेरी सुरक्षासे सुरक्षित हुए हम, मुष्टिप्रहारसे और अश्वयुद्ध से शत्रुओंका निरोध कर सकेंगे, (ऐसा धन हमें दे दो) ॥२॥ हे इन्द्र ! तेरेसे सुरक्षित हुए हम सुदृढ शस्त्र (हाथमें) लेंगे और युद्धमें स्पर्धा करनेवाले शत्रुपर विजय प्राप्त करेंगे ॥ ३ ॥ हे इन्द्र ! हम शूर और शत्रुपर प्रहार करनेमें कुशल योद्धाओंके साथ, तथा तेरे साथ रहते हुए, हमपर सेनासे चढाई करनेवाले शत्रुको, परास्त करेंगे ॥ ४ ॥ इन्द्र बडा है और श्रेष्ठ भी है, इस इन्द्रका महत्त्व सदा स्थिर रहे, इसका द्युलोकके समान विस्तृत सामर्थ्य फैलता जाय ॥५॥ जो (वश) शूर लोग युद्धमें प्राप्त करते हैं, जो पुत्रकी प्राप्तिमें आनन्द मिलता है, वही ज्ञानी लोग बुद्धिकी वृद्धि करनेमें संपादन करते हैं, ॥ ६ ॥ जो इन्द्रके पेटका भाग सोमरस पीनेसे समुद्र जैसा फूलता है वैसा उसके मुखका भाग सोमरसके बडे घूँटसे भर जाता है ॥ ७ ॥ इस इन्द्रकी अनेक स्वरोंसे युक्त, गोवाणसे शोभित, पूज्य सत्य वाणी, दाताके लिये वैसी सुखदायी होती है, जैसी वृक्षकी पक फलोंकी शाखा ॥ ८ ॥ तेरी विभूतियाँ ऐसी हैं, मुझ जैसे दाताके लिये तेरी संरक्षक शक्तियाँ सदैव मिलती हैं ॥ ९ ॥ इसके स्तोत्र और स्तोत्रगान ऐसे प्रिय और वर्णनीय हैं, सोमपान करनेवाले इन्द्रके लिये ही ये समर्पित हैं ॥ १० ॥

इस सूक्तमें इन्द्रके निम्नलिखित गुण वर्णन किये गये हैं–

१ इन्द्रः महान्– इन्द्र बडा है, यहां इसका महत्त्व वर्णन किया गया है।

इसके अतिरिक्त '**वज्रिन्**' (वज्रधारी) पद है जिस का आशय पूर्व स्थानमें अनेक वार आया है।

२ वज्रिणे महित्वं अस्तु– वज्रधारी शूर इन्द्रका महत्त्व प्रख्यात होवे। जो शूर है और जो अपने शस्त्रसे शत्रुको परास्त करता है, उसको महत्त्व प्राप्त होता है।

३ अस्य विरप्शी सूनृता दाशुषे एवा हि– इस इन्द्रकी उत्तम स्पष्ट वाणी दाताके लिये ऐसा ही सुख देती है। इसी तरह लोग दाताका कल्याण करनेके लिये ही अपना भाषण करें। जो बोले उससे सबका हित हो।

४ दाशुषे ऊतयः सद्यः सन्ति- दाताके लिये सुरक्षाएँ तत्काल प्राप्त हों।

दान करनेकी इच्छा बढायी जाय। इन्द्र उदार दाताकी सहायता करता है, वैसेही सब लोग अन्योंकी सहायता करे। यह इस सूक्तका तात्पर्य है। इन्द्र जिस तरह सबकी सुरक्षा करता है, वैसी ही सब लोग करें। इस सूक्तमें निम्नलिखित माँगें पेश की गयी हैं–

वीरतावाला धन

१ सानसिं, सजित्वानं सदासहं, वर्षिष्ठं, रयिं ऊतये आभर– स्वीकार करने योग्य, विजयशील, सदा शत्रुका नाश करनेमें समर्थ, श्रेष्ठ धन हमारी सुरक्षा करनेके लिये हमें भरपूर भर दे। यहां धन भरपूर मांगा है, परन्तु यह केवल धनही नहीं है, परंतु यह ' वर्षिष्ठं रयिं ' श्रेष्ठ धन है, हमें श्रेष्ठसे श्रेष्ठ धन चाहिये, मध्यम वा निकृष्ट धन नहीं चाहिये। धन अनेक प्रकारके हैं, उनमें श्रेष्ठ अथवा वरिष्ठ धन ही चाहिये। मनुष्य अपने पास उत्तमसे उत्तम धन रखनेका यत्न करें। हरएक वस्तु ' धन ' हो सकती है, अतः वह वस्तु उत्तमसे उत्तम हो, मध्यम वा कनिष्ठ न हो, यह धनके विषयमें सबसे प्रथम बात ध्यानमें धारण करना

चाहिये। इतनेसे ही काम नहीं होगा, वेद इसमें और भी सावधानीकी सूचना देता है कि वह **' सानसिं '** अर्थात् सेवनीय चाहिये।

उदाहरणके लिये देखिये कि मद्य एक ऐसी वस्तु है कि जो उत्तमसे उत्तम भी हुआ, तो वह मनुष्यके लिये स्वीकारके योग्य वस्तु नहीं है। इस तरह धन उत्तम होना चाहिये और वह हमारे स्वीकार करनेके योग्य भी होना चाहिये। दूसरेकी वस्तु स्वीकारके योग्य नहीं हो सकती। दूसरेका धन, स्त्री, भूमि या अन्य उसकी स्वामित्वकी वस्तु किसी अन्यके लिये स्वीकार करने योग्य नहीं है। अतः यहां कहा है कि **' सानसिं वर्षिष्ठं रयिं '** सेवनीय श्रेष्ठ धन चाहिये। और भी इसमें दो मननीय धर्म चाहिये, वे ये हैं— **' स-जित्वानं '** विजयशील लोगोंके साथ जो धन रहता है, वही धन हमें चाहिये, डरपोक भीरु धैर्य-हीन आदिकोंके पास रहनेवाला धन हमें नहीं चाहिये, तथा **' सदा सहं '** सदा शत्रुका पराभव करनेका सामर्थ्य अपने पास रखनेवाला धन हमें चाहिये। जिससे शत्रुका पराभव करनेका सामर्थ्य घट जाय ऐसा धन हमें नहीं चाहिये, अथवा दूसरेके द्वारा ही जिस धनकी सुरक्षा होती है, ऐसा धन भी हमें नहीं चाहिये।

वेदने केवल धन नहीं मांगा है, प्रत्युत 'सेवन करनेयोग्य, वीरोंके साथ रहनेवाला, शत्रुका पराजय करनेके सामर्थ्यसे युक्त श्रेष्ठ धन ही चाहिये' ऐसी इच्छा यहाँकी है। यह बडी सावधानीकी सूचना है। लोग धन चाहते हैं, परंतु दुर्बलके हाथका धन दुर्बलके पास नहीं रह सकेगा, यह बात वे भूलते हैं। धनके साथ बल, वीर्य और पराक्रम चाहिये, ऐसा जो यहां कहा है वह सदा ध्यानमें रखने योग्य है। आगे जहां जहां धनकी कामना होगी, वहां बलवीर्य पराक्रम के साथ रहनेवाला धन ही समझना उचित है। वेदमें केवल धनकी कामना नहीं है, बल वीर्य पराक्रम तथा रक्षाशक्तिसे युक्त धन ही चाहिये, ऐसा ही वहां भाव समझना चाहिये।

२ येन (रयिणा) मुष्टिहत्यया, अर्वता वृत्रा नि-रुणधामहै— जिस धनसे हम मुष्टियुद्ध करके, तथा घोडोंपर सवार होकर शत्रुओंका निरोध करेंगे। हमें धन ऐसा चाहिये कि जिस धनसे हमारेमें मुष्टियुद्ध करनेकी शक्ति बढे, तथा घोडेपर सवार होकर युद्ध करनेका बलभी बढे। धन ऐसा सामर्थ्यवाला चाहिये। यहां शत्रुका ' निरोध ' करनेमें समर्थ होनेका उल्लेख है। ' निरोध ' का अर्थ शत्रुको घेरना, कैद करना, बंद रखना, नष्ट करना, नाश करना आदि सब प्रकारका लेना योग्य है। शत्रुका संपूर्ण नाश ही यहां अभीष्ट है। ऐसा सामर्थ्यवाला धन चाहिये '

३ वयं घना वज्रं आददीमहि, युधि स्पृधः सं जयेम— हम अपने हाथमें प्रबल शस्त्र धारण करेंगे और युद्धमें हमसे स्पर्धा करनेवाले शत्रुओंके साथ युद्ध करके हम सब मिलकर शत्रुका पराजय करेंगे। धनसे प्रबल शस्त्र बर्तनेकी और युद्धमें शत्रुका पराभव करनेकी शक्ति प्राप्त होनी चाहिये।

४ वयं शूरेभिः अस्तृभिः पृतन्यतः सासह्याम— हम सब शूर वीर शस्त्रोंके आघातोंसे, सेनासे चढाई कर वाले शत्रुको परास्त करेंगे। धनसे हमारे पास ऐसी शक्ति बढनी चाहिये कि जिससे हम शत्रुपर हमला करके शत्रु-सेनाका नाश करनेमें समर्थ बन जायँ।

५ नरः समोहे आशत— नेता शूर वीर युद्धमें जो यश प्राप्त करते हैं, वह यश हमें प्राप्त हो। जहां दोनों शत्रु-दल इकट्ठे होकर लडते हैं, उस युद्धका नाम **'समोह'** है। ऐसे युद्धमें हमारा विजय होने योग्य शक्ति हमें प्राप्त हो, यह इच्छा यहां स्पष्ट दीखती है।

धनसे ये सब शक्तियाँ प्राप्त होनी चाहिये। ऐसा सामर्थ्य-युक्त धन चाहिये। हरएक ऐसा धन अपने पास रखनेकी इच्छा करे।

•

सत्य भाषण

भाषण मनुष्य ही करता है, मनुष्यमें ही वाक्यशक्ति है। वाणी कैसी हो, इस विषयमें इस सूक्तके निम्नलिखित निर्देश देखने योग्य हैं-

पक्वा शाखा न। विरप्शी गोमती मही सूनृता।

उत्तम मधुर फलवाले वृक्षकी परिपक्व फलोंसे भरपूर भरी शाखा जैसी लाभदायक होती है, वैसी वाणी हो। अर्थात् यह वाणी शुष्क शाखाके समान शुष्क न हो, परन्तु रसदार फलवाली, परिपक्व फलोंसे लदी शाखाके समान रसीली हो, मधुर हो, स्वादु हो। यह तो उपमासे बोध मिलता है। अब वाणीका वर्णन देखिये-

(वि-रप्शी) विशेष सुन्दर स्वरालापोंसे युक्त वाणी हो, सुन्दर मधुर कोमल वाणी हो, (गो-मती) गति-वाली, प्रवाहयुक्त, प्रगतिशील वाणी हो, (मही) महत्त्व-वाली, बडी श्रेष्ठ विचारोंसे युक्त और (सूनृता= सु+नृ+ता) उत्तम मानवता जिससे प्रकट होती है, मनुष्यत्वका विकास करनेवाली, जिस वाणीमें पशुता या असुरता नही है और जिससे मानवता प्रकट होती है ऐसी वाणी मनुष्यों को बोलनी चाहिये।

इस सूक्तमें धन और वाणीका वर्णन मनुष्योंके लिये मनन करने योग्य है। मनुष्यमें स्वभावतः वाणी है, मनुष्य उसको कैसी उन्नत और प्रयुक्त करे, यह बात यहां कही है। मनुष्यको धन चाहिये, वह धन भी कैसा हो, यह भी यहां बताया है। ये दोनों महत्त्वपूर्ण विषय इस सूक्तमें अच्छी तरह वर्णन किये गये हैं। पाठक इनको समझे और मनन करके अपनाये।

इन्द्रः

(९।१-१०) मधुच्छन्दा वैश्वामित्रः। इन्द्रः। गायत्री।

इन्द्रेहि मत्स्यन्धसो विश्वेभिः सोमपर्वभिः।
महाँ अभिष्टिरोजसा ॥ १ ॥

एमेनं सृजता सुते मन्दिमिन्द्राय मन्दिने।
चक्रिं विश्वानि चक्रये ॥ २ ॥

मत्स्वा सुशिप्र मन्दिभिः स्तोमेभिर्विश्वचर्षणे।
सचैषु सवनेष्वा ॥ ३ ॥

असृग्रमिन्द्र ते गिरः प्रति त्वामुदहासत।
अजोषा वृषभं पतिम् ॥ ४ ॥

सं चोदय चित्रमर्वाग्राध इन्द्र वरेण्यम्।
असदित्ते विभु प्रभु ॥ ५ ॥

अस्मान्त्सु तत्र चोदयेन्द्र राये रभस्वत।
तुविद्युम्न यशस्वतः ॥ ६ ॥

सं गोमदिन्द्र वाजवदस्मे पृथु श्रवो बृहत्।
विश्वायुर्धेह्यक्षितम् ॥ ७ ॥

अस्मे धेहि श्रवो बृहद्द्युम्नं सहस्रसातमम्।
इन्द्र ता रथिनीरिषः ॥ ८ ॥

वसोरिन्द्रं वसुपतिं गीर्भिर्गृणन्त ऋग्मियम्।
होम गन्तारमूतये ॥ ९ ॥

सुते सुते न्योकसे बृहद्बृहत एदरिः।
इन्द्राय शूषमर्चति ॥ १० ॥

अन्वयः- हे इन्द्र! एहि, विश्वेभिः सोमपर्वभिः अन्धसः मत्सि। ओजसा महान् अभिष्टिः ॥ १ ॥ सुते ईं मन्दिं चक्रिं एनं विश्वानि चक्रये मंदिने इन्द्राय आ सृजत ॥ २ ॥ हे सुशिप्र! मन्दिभिः स्तोमेभिः मत्स्व। हे विश्वचर्षणे! एषु सवनेषु सचा आ (गच्छ) ॥ ३ ॥ हे इन्द्र! ते गिरः असृग्रम्। वृषभं पतिं त्वां प्रति उत अहासत अजोषा ॥ ४ ॥ हे इन्द्र! वरेण्यं चित्रं राधः अर्वाक् सं चोदय, ते विभु प्रभु असत् इत् ॥ ५ ॥ हे तुविद्युम्न! इन्द्र! राये रभस्वतः यशस्वतः अस्मान् तत्र सु चोदय ॥ ६ ॥ हे इन्द्र! गोमत्, वाजवत्, पृथु, बृहत्, विश्वायु अक्षितं श्रवः, अस्मे सं धेहि ॥ ७ ॥ हे इन्द्र! बृहत् श्रवः सहस्रसातमं द्युम्नं अस्मे धेहि। ताः इषः रथिनीः ॥ ८ ॥ वसोः ऊतये वसुपतिं ऋग्मियं गन्तारं इन्द्रं गीर्भिः गृणन्तः होम ॥ ९ ॥ आ इत् अरिः सुते-सुते बृहत् शूषं न्योकसे बृहते इन्द्राय अर्चति ॥ १० ॥

अर्थ- हे इन्द्र! (हमारे) समीप आ, सब सोमके पर्वोंसे निकाले अन्नरूप (इस रसका पान करके) आनंदित हो। (तू अपने) सामर्थ्यसे (हमारा) बडा ही सहायक है ॥ १ ॥ सोमरस निकालनेपर आनन्ददायक, कर्मशक्ति-वर्धक, इस (सोमरसको), सब कर्म करनेवाले आनन्द-युक्त इन्द्रके लिये (पृथक्) रख दो ॥ २ ॥ हे सुन्दर हनु-वाले इन्द्र! हर्ष बढानेवाले इन स्तोत्रोंसे आनदित हो जाओ। हे सब मानवोंका हित करनेवाले इन्द्र! इन सोमके सवनोंमें (अन्य देवोंके) साथ आओ ॥ ३ ॥ हे इन्द्र! तेरी (स्तुति करनेके लिये ही मैंने अपनी) वाणियाँ उच्चारी हैं। बलशाली, सबके पालनकर्ता तुझको (वे स्तुतियाँ) पहुंचती हैं, (और तुमने उनका) स्वीकार भी किया है ॥ ४ ॥ हे इन्द्र! श्रेष्ठ और विविधरूपोंवाला धन हमारे समीप भेज दो। तेरे पास वह विशेष प्रभावी धन निःसन्देह है ॥ ५ ॥ हे बहुत धनवाले इन्द्र! धन प्राप्त करनेके लिये प्रयत्नशील और यशस्वी ऐसे हम सबको उस (शुभ कर्ममें) प्रेरित कर ॥ ६ ॥ हे इन्द्र! गौओंसे युक्त, बलसे युक्त, महान्, विशाल, पूर्ण आयु देनेवाले अक्षय धनका हमें प्रदान कर ॥ ७ ॥ हे इन्द्र! बडा यशस्वी, सहस्रों प्रकार दान करनेयोग्य, धन हमें दे दो। ये अन्न रथोंसे लानेयोग्य

है ॥ ८ ॥ धनकी सुरक्षाके लिये धनपालक, स्तुतियोग्य यज्ञके प्रति जानेवाले इन्द्रकी स्तुति हम अपनी वाणियोंसे करते है ॥ ९ ॥ प्रगतिशील मानव प्रत्येक सोमयागमें बडे बलकी प्राप्तिके लिये शाश्वत स्थानमें रहनेवाले बडे महान् इन्द्रकी पूजा करता है ॥ १० ॥

इस सूक्तमें इन्द्रके निम्न लिखित विशेषण आये है-

१ **सु-शिप्र**— उत्तम हनुवाला, उत्तम नासिकावाला, अथवा जिसकी नासिका और हनु सुन्दर हैं।

२ **वृषभः**— बैल जैसा बलिष्ठ, वीर्यवान्, शक्तिमान्।

३ **पति** — पालनकर्ता, स्वामी, अधिपति।

४ **तुवि द्युम्नः**— अत्यंत प्रकाशमान, बहुत धनवाला, अति तेजस्वी।

५ **वसुपतिः**— धनका स्वामी।

६ **ऋग्मियः**— ऋचाओंसे जिसकी प्रशंसा होती है, प्रशंसित स्तुत्य।

७ **गन्ता**— चलनेवाला, चलनेमें अग्रेसर, यज्ञ जैसे शुभ कर्मोमें जानेवाला।

८ **ओजसा महान् अभिष्टिः**— अपनी विशाल शक्तिसे सहायता करनेवाला, संरक्षण करनेवाला, शत्रुपर हमला करनेवाला।

९ **विश्वानि चक्रिः**- सब प्रकारके महान् कार्य करनेवाला, सब पुरुषार्थ करनेवाला।

१० **मन्दी**-- आनंदित, हर्षयुक्त, सदा हास्ययुक्त, उल्हासवृत्तिवाला।

११ **सचा आ**— अपने साथ (श्रेष्ठ वीरोंको) रखनेवाला।

१२ **विश्व चर्षणिः**- सब मानवोंका हित करनेवाला।

१३ **न्योकः**-- बडे विशाल घरमें रहनेवाला।

ये पद इस सूक्तमें इन्द्रके गुण दर्शाते हैं। ये गुण मनुष्य को अपनाने चाहियें। इनमें 'सुशिप्र' पदसे हनु और नासिकाका सौंदर्य बताया है, यह हर कोई मनुष्य अपना नहीं सकता। परन्तु शेष पद मनुष्यके लिये बोधप्रद हो सकते हैं। साधक बल बढावे, अपने अनुयायियोंका पालन करे, अपनी तेजस्विता बढावे, धनका संग्रह करे, प्रशंसित बने, शीघ्रतासे चलनेका अभ्यास बढावे, अपनी शक्तिके अनुसार जनताकी सहायता करे, सदा अच्छे कर्म करता रहे, सदा आनंदित रहे, अच्छे भद्र पुरुषोंको अपने साथ रखे, इत्यादि बोध उक्त पद दे रहे हैं।

धन कैसा हो ?

किस तरहका धन प्राप्त करना योग्य है, इस विषयमें इस सूक्तके निर्देश मनन करने योग्य हैं-

१ **वरेण्यं चित्रं विभु प्रभु राधः**- श्रेष्ठ विविध प्रकारका, विशेष बढनेवाला, विशेष प्रभावी और सिद्धितक पहुंचानेवाला धन हो, तथा-

२ **गोमत्, वाजवत्, पृथु, बृहत्, विश्वायु, अक्षितं, श्रवः**- गौओंके साथ रहनेवाला, बलके साथ रहनेवाला, विस्तृत, बडा, पूर्ण आयुतक जीवित रखनेवाला, अक्षय और यश देनेवाला धन हो, तथा-

३ **बृहत् श्रवः, सहस्रसातमं द्युम्नं**- बडा यश, सहस्रोंका दान दिया जानेवाला तेजस्वी धन हो।

४ **वसु**- जो मनुष्योंके सुखपूर्वक निवासका हेतु होता हो ऐसा धन हो।

धनका वर्णन करनेवाले ये पद देखनेसे धन कैसा होना चाहिये इस बातका पता लग सकता है। धन श्रेष्ठ हो, विविध प्रकारका हो, विशेष पराक्रम और प्रभाव बढानेवाला हो, अन्तिम सिद्धितक पहुंचानेवाला हो, धनसे गौओंका पालन होता रहे, बल बढता जाय, आयु बढ जाय, सहस्रोंका दान देनेके बाद भी कम न हो, मनुष्यका जीवन सुखसे व्यतीत हो जाय। (ऋ. १।८।१-२ में) जो धन का वर्णन पूर्वस्थानमें आया है वह भी इसके साथ पाठक देखें। इस सूक्तकी एक विशेषता यह है कि यहां केवल धनकी प्रार्थना नहीं है, प्रत्युत धन प्राप्तिके लिये स्वयं प्रयत्न करनेका भी उपदेश है, देखिये-

प्रथम अपना प्रयत्न

५ **रभस्वतः यशस्वतः अस्मान् राये चोदय**- हम प्रयत्न करते हैं, यश मिलनेतक हम यत्न करते है। इतना करनेके बाद हमें ईश्वर अनुकूलतापूर्वक धन देवे। यहां प्रथम धन प्राप्त करनेके लिये बडा प्रयत्न करना चाहिये, और यश मिलनेतक यत्न करते रहना चाहिये ऐसा जो कहा है वह बडे महत्त्वका है। अपना प्रयत्न प्रथम होना चाहिये, यश मिलनेके लिये जो भी किया जा सकता है, पहिले

करना चाहिये, और पश्चात् ईश्वरकी सहायता मांगनी चाहिये। प्रयत्न करनेवालेकी सहायता ईश्वर अवश्यही करता है।

'अरि' पद

इस सूक्तके अन्तिम मन्त्रमें 'अरिः' पद है। इसका प्रसिद्ध अर्थ 'शत्रु' है। परन्तु यहाँ इसका अर्थ अपनी प्रगति करनेवाला, अपनी उन्नतिका यत्न करनेवाला है। गत्यर्थके 'ऋ' धातुसे यह पद बना है। यौगिक अर्थसे यह भाव इस पदमें दीख पडता है।

न्योकस्

'ओकस्, ओक.' पद घरका वाचक है। नि+ओक., न्योकस्, ये पद बडे भारी विशाल घरके वाचक हैं। इन्द्रके घरका यह पद वर्णन करता है। इन्द्र जिस घरमें रहता है वह सबसे बडा घर है। परमात्मा रूप इन्द्र इस विश्वरूप घरमें रहता है। यह सबसे बडा घर है। इसमें इन्द्रके साथ सभी तैंतीस देवगण भी रहते हैं। इसीतरह राजाका घर भी इन्द्रगृहही कहलाता है। यह भी बडा भारी होता था, जिसमें राजाके मंत्री, अनेक कचहरियाँ, अनेक सैनिक आदिका निवास होता है। 'न्योकस्' पदसे यह बोध मिलता है।

धनका दान

धन अपने पास जमा होनेके पश्चात् उसका दान सहस्रों मनुष्योंको करना चाहिये, वह धन किसी अकेलेके भोगके लिये नहीं होता, प्रत्युत वह सहस्रोंके पालन पोषण और संवर्धनमें लगाना चाहिये, यह भाव '**सहस्रसातमं**' पद से व्यक्त होता है। धनीका धन धनीके भोगके लिये नहीं है, प्रत्युत सहस्रों अन्योंके हित करनेके लिये है। यह पद बडाही महत्त्वपूर्ण उपदेश दे रहा है। पाठक इसका यह भाव मननपूर्वक देखें।

इन्द्रः

(१०।१-१२) मधुच्छन्दा वैश्वामित्रः। इन्द्र.। अनुष्टुप्।

गायन्ति त्वा गायत्रिणोऽर्चन्त्यर्कमर्किणः।
ब्रह्माणस्त्वा शतक्रत उद्वंशमिव येमिरे॥ १॥
यत्सानोः सानुमारुहद्भूर्यस्पष्ट कर्त्वम्।
तदिन्द्रो अर्थं चेतति यूथेन वृष्णिरेजति॥ २॥
युक्ष्वा हि केशिना हरी वृषणा कक्ष्यप्रा।
अथा न इन्द्र सोमपा गिरामुपश्रुतिं चर॥ ३॥
एहि स्तोमाँ अभि स्वराऽभि गृणीह्या रुव।
ब्रह्म च नो वसो सचेन्द्र यज्ञं च वर्धय॥ ४॥
उक्थमिन्द्राय शंस्यं वर्धनं पुरुनिष्षिधे।
शक्रो यथा सुतेषु णो रारणत्सख्येषु च॥ ५॥
तमित्सखित्व ईमहे तं राये तं सुवीर्ये।
स शक्र उत नः शकदिन्द्रो वसु दयमानः॥ ६॥
सुविवृतं सुनिरजमिन्द्र त्वादातमिद्यशः।
गवामप व्रजं वृधि कृणुष्व राधो अद्रिवः॥७॥
नहि त्वा रोदसी उभे ऋघायमाणमिन्वतः।
जेषः स्वर्वतीरपः सं गा अस्मभ्यं धूनुहि॥ ८॥
आश्रुत्कर्ण श्रुधी हवं नू चिद्दधिष्व मे गिरः।
इन्द्र स्तोममिमं मम कृष्वा युजश्चिदन्तरम्॥९॥
विद्मा हि त्वा वृषन्तमं वाजेषु हवनश्रुतम्।
वृषन्तमस्य हूमह ऊतिं सहस्रसातमाम्॥१०॥
आ तू न इन्द्र कौशिक मन्दसानः सुतं पिब।
नव्यमायुः प्र सू तिर कृधी सहस्रसामृषिम् ११
परि त्वा गिर्वणो गिर इमा भवन्तु विश्वतः।
वृद्धायुमनु वृद्धयो जुष्टा भवन्तु जुष्टयः॥ १२॥

अन्वयः- हे शतक्रतो! गायत्रिण. त्वा गायन्ति। अर्किणः अर्कं अर्चन्ति। ब्रह्माण., वंशं इव, त्वा उत् येमिरे॥ १॥ यत् सानोः सानु आरुहत्, भूरि कर्त्वं अस्पष्ट। तत् इन्द्रः अर्थं चेतति, वृष्णि. यूथेन एजति॥ २॥ हे सोमपा. इन्द्र! केशिना वृषणा, कक्ष्यप्रा हरी युक्ष्वा हि। अथ न. गिरां उपश्रुतिं चर॥ ३॥ हे वसो इन्द्र! एहि। स्तोमान् अभि-स्वर। गृणीहि। आरुव। नः ब्रह्म च यज्ञं च वर्धय॥ ४॥ पुरु निष्षिधे, इन्द्राय वर्धनं उक्थं शंस्यम्, यथा शक्र न. सुतेषु सख्येषु च रारणत्॥ ५॥ सखित्वे तं इत् ईमहे, राये तं, सुवीर्ये तं, (ईमहे)। उत शक्र. सः इन्द्र नः वसु दयमानः शकत्॥ ६॥ हे इन्द्र! त्वादातं यशः. सुवि-वृतं सुनिरजं, गवां व्रजं अप वृधि, हे अद्रिव.! राधः कृणुष्व॥ ७॥ ऋघायमाणं त्वा उभे रोदसी नहि इन्वतः। स्वर्वतीः अपः जेषः। अस्मभ्यं गा. सं धूनुहि॥ ८॥ हे आश्रुत्कर्ण! इन्द्र! हवं नु श्रुधि। मे गिरः चित् दधिष्व। मम इमं स्तोमं युजः चित् अन्तरं कृष्व॥ ९॥ वृषन्तमं

वाजेषु हवनश्रुतं त्वा विद्म हि। वृषन्तमस्य सहस्रसातमां ऊति हूमहे ॥ १० ॥ हे कौशिक इन्द्र ! तु नः आ (गहि), मन्दसानः सुतं पिब। नव्यं आयुः प्र सू तिर। सहस्रसां ऋषिं कृधि ॥ ११ ॥ हे गिर्वण ! विश्वतः इमाः गिरः त्वा परि भवन्तु, वृद्धायु अनु वृद्धयः जुष्टाः जुष्टयः भवन्तु ॥ १२ ॥

अर्थ- हे सैकडों कर्म करनेवाले इन्द्र ! गायक लोग तेरे (काव्योंका) गान करते है। पूजक लोग तुझ पूजार्ह की पूजा करते हैं। ब्रह्मज्ञानी लोग भी (झण्डेके) बाँसको (ऊपर उठानेके समान), तुझे ऊंचा दिखा देते हैं ॥ १ ॥ जब एक पर्वत शिखरपरसे दूसरे पर्वत शिखरपर जानेवाला (कवि) उसकी प्रचण्ड कर्म शक्तिको साक्षात् देखता है, तब इन्द्र भी उसके भावको जानता है और वह वृष्टिकर्ता इन्द्र अपने साथी (सैनिकगणके साथ उसकी सहायताके लिये) दौडता है ॥ २ ॥ हे सोमरस पीनेवाले इन्द्र ! बडी अयालवाले, बलवान्, और पुष्ट दोनों घोडोंको अपने रथके साथ जोत दो। और हमारी वाणीको श्रवण करनेके लिये चल ॥३॥ हे सबको वसानेवाले इन्द्र ! हमारे समीप आ। हमारे स्तोत्रोंकी प्रशंसा कर। आनन्दसे बोल। प्रशंसा कर। और हमारा ज्ञान और कर्म बढाओ ॥ ४ ॥ शत्रुका पूरा नाश करनेवाले इन्द्रका यशोवर्धक स्तोत्र हमें अवश्य गाना चाहिये, क्योंकि वह इन्द्र हमारे पुत्रपौत्रों (या यज्ञों) के तथा मित्रताओंके विषयमें अवश्य ही अनुकूलताके भाषण बोलेगा ॥ ५ ॥ मित्रताके लिये हम उसके पास पहुंचते हैं, धनके लिये और श्रेष्ठ पराक्रमके लिये उसकी ही सहायता चाहते हैं। वह शक्तिमान् इन्द्र हमें धन देनेके लिये समर्थ है ॥ ६ ॥ हे इन्द्र ! तेरा दिया यश सर्वत्र फैलता और सहज प्राप्त भी होता है। हमारे लिये गौओंका बाडा खोल दे। हे पर्वतपरसे लडनेवाले इन्द्र ! हमारे लिये धन अर्पण कर ॥ ७ ॥ शत्रुका नाश करनेवाले तुझ वीरका महात्म्य भूमि और द्यु इन दोनों लोकोंमें समाया नहीं जाता। स्वर्गीय जल प्रवाहोंपर तू जय प्राप्त कर। और हमारे लिये गौएँ भेज दे ॥ ८ ॥ हे (भक्तोंकी) प्रार्थना सुननेवाले इन्द्र ! मेरी प्रार्थनाका श्रवण कर। मेरी स्तुतियोंका स्वीकार कर, मेरे इस स्तोत्रको, यह तेरे मित्रका है इसलिये, अपने अन्तःकरणमें रख दो ॥ ९ ॥ तू अत्यंत बलवान् और युद्धोंमें की हुई पुकारका श्रवण करनेवाला है, ऐसा हम जानते हैं। इस बलवान् इन्द्रसे हजारों दानोंके साथ रहनेवाली रक्षाशक्ति हम चाहते हैं ॥ १० ॥ हे कौशिक इन्द्र ! हमारे पास आ, आनन्दसे सोमरसका पान कर। नवीन (उत्साहकी) आयु हमें दे दो। और मुझे सहस्रों सामर्थ्योंसे युक्त ऋषि बना दो ॥ ११ ॥ हे स्तुतिके योग्य इन्द्र ! सब ओरसे की हुई हमारी ये स्तुतियाँ तुझे प्राप्त हों, तेरी आयुकी वृद्धिके साथ ये स्तुतियाँ भी बढती जायँ, तथा तेरे द्वारा स्वीकारी गयी स्तुतियाँ हमारा आनन्द बढानेवाली हों ॥ १२ ॥

कौशिक इन्द्र

इस सूक्तमें इन्द्रको ' कौशिक ' कहा है। इन्द्रके पिता का नाम कुशिक है ऐसी कल्पना कईयोंने की है। परन्तु ऐसा संभव नहीं है। इन दसों सूक्तोंका ऋषि **' विश्वामित्र पुत्र मधुच्छन्दा '** है अर्थात् मधुच्छन्दा ऋषिके पिता का नाम विश्वामित्र है और विश्वामित्रका पिता गाथी है और गाथीका पिता कुशिक है। **मधुच्छन्दाः-विश्वामित्र-गाथी-कुशिक** ऐसा यह वंश है। कुशिकसे उत्पन्न हुएको कौशिक कहते हैं। और कौशिकोंकी सहायता करनेवाले देवको भी कौशिक कहते हैं। कुशिक ऋषिसे उसके कुलमें इन्द्रकी उपासना प्रचलित थी। इसलिये इन्द्रको यहां ' कौशिक ' कहा है। कुशिकके वंशजोंपर कृपा करनेवाला अथवा कौशिकोंका उपास्य देव इन्द्र है। ' कौशिक इन्द्र ' का यह अर्थ है।

इस सूक्तमें इन्द्रके निम्नलिखित गुण वर्णन किये गये हैं-

१ **शतक्रतुः**- सैकडों कर्म करनेवाला, अनेक बुद्धि-सामर्थ्योंसे युक्त, कर्मकुशल और प्रज्ञावान्,

२ **वृष्णि**- वृष्टि करनेवाला, बलवान्, वीर्यवान्,

३ **वसुः**- वसानेवाला, निवासका हेतु,

४ **पुरु नि-सिध्**- बहुत शत्रुओंका निषेध करनेवाला, शत्रुओंका नाश करनेवाला,

५ **अद्रि-वः**- पर्वतपर रहनेवाला, मेघोंमें रहनेवाला, पर्वतपरके दुर्गोंमें रहकर शत्रुके साथ लडनेवाला,

६ **ऋ-घायमाणः**- (नृ-ऋ) शत्रुके वीरोंका वध करनेवाला, शत्रुके सैनिकोंका वध करनेवाला, (यहाँ ' नृ ' पदमेंसे ' ऋ ' रहा है और ' हन् ' का ' घ ' बना है,

'ऋ + घ' का अर्थ इस तरह शत्रुके सैनिकोंका वध करनेवाला है।)

७ आ-श्रुत्-कर्णः— जिसके कान अनुयायियोंकी पुकार सुनते हैं,

८ वृषन्तमः- अधिक बलवान्,

९ हवन-श्रुतं- पुकार सुननेवाला, सहायार्थ कोई बुलावे तो उसकी सहायतार्थ जानेवाला,

१० मन्दसानः- आनन्दित,

११ गिर्वणः- स्तुत्य, प्रशंसनीय,

१२ वृद्धायुः- बडी आयुवाला ,

१३ अर्कः- पूजनीय

इन पदोंसे जो बोध प्राप्त होता है, पाठक उसका ग्रहण करें। अब और इन्द्रका वर्णन देखिये-

१३ इन्द्रः अर्थं चेतति— इन्द्र अर्थको जानता है, वह आशयको समझ लेता है,

१४ वृष्णिः यूथेन गच्छति- बलवान् इन्द्र अपने सैनिकोंके साथ जाता है, शत्रुपर हमला करता है,

१५ ब्रह्म यज्ञं च वर्धय— ज्ञान और कर्मकी वृद्धि करता है,

१६ सखित्वे राये सुवीर्ये तं ईमहे— हम इन्द्रकी मित्रता, धन और पराक्रमके लिये चाहते हैं,

१७ स शक्रः- वह समर्थ है,

१८ नव्यं आयुः सु प्रतिर- नवीन दीर्घायु दे, उत्साहमय आयु दे।

ये सब वाक्य इन्द्रके गुणोंका वर्णन कर रहे हैं। ये सब वाक्य उपासकको बडा महत्त्व पूर्ण उपदेश दे रहे हैं।

ऋषिका निर्माण

'सहस्रसां ऋषिं कृधि'— सहस्रों सामर्थ्योंसे युक्त ऋषि मुझे बनाओ। यह प्रभुसे प्रार्थना है। इस समय मैं ऋषि नहीं हूं, विशेष सामर्थ्योंके बढनेसे ऋषि होना संभव है, वैसा ऋषि मैं बनूंगा। यह इच्छा इस मंत्रमें व्यक्त हुई है। जो ऋषि नहीं हैं वे यत्नसे ऋषि हो सकते हैं ऐसा इसका तात्पर्य है। 'पूर्व और नवीन' ऋषियोंका वर्णन (ऋ. १।१।२ में) है जिसका भाव इससे स्पष्ट होता है।

मनुष्य जैसा ऋषि बन सकता है वैसा मनुष्य देवता भी बन सकता है।

झण्डा ऊंचा करना

'वंशं उत् येमिरे' झण्डा ऊंचा करनेके लिये जैसा बांस ऊंचा खडा कर देते हैं। यह एक उपमा है जो इन्द्रके उच्च स्थानका वर्णन करनेके लिये की है। जैसा बांस ऊंचा करके उसपरके झण्डेको ऊंचा करके सबको दिखाते है, उस तरह इन्द्रको स्तोत्रोंके द्वारा ऊंचा करके सबको उसकी उच्चता दिखाते हैं।

गोधन दो

गवां व्रजं अपवृधि। राधः कृणुष्व ॥ (७)
अस्मभ्यं गाः सं धूनुहि ॥ ८॥

गौओंका बाडा खोल दो और हमें धन दो। हमें गौवें दे दो। यहाँ गौओंको धन कहा है। सच्चा धन गौवें हैं।

पहाडपरसे कर्तृत्व देखो

'जो एक पर्वत शिखरपरसे दूसरे पर्वत शिखरपर चढ जाता है वही प्रभुका कर्तृत्व देख सकता है।' (मं० २) पर्वत शिखरपर चढनेसे विशाल सृष्टिकी सुंदरता दीखती है और उससे प्रभुके रचना चातुर्यका ज्ञान होता है। जितना ऊंचा जाना होगा, उतना यह ज्ञान अधिक होगा। यह सत्य है, पाठक इसका अनुभव ले सकते है।

ज्ञान और कर्मका वर्धन

ज्ञान और कर्म ये दो ही मानवी उन्नतिके अत्यंत प्रबल साधन है। मनुष्यमें जितना ज्ञान अधिक होगा, और जितना उसमें कर्म करनेका सामर्थ्य होगा, उतना मनुष्य उन्नत हो सकता है। इसीलिये मनुष्यको जैसा ज्ञान बढाना चाहिये, वैसी अपनी कर्मशक्ति भी बढानी चाहिये। ज्ञान बढनेसे नाना प्रकारके कर्म मनुष्य कर सकता है। इस सूक्तका 'शत-क्रतु' पद ज्ञान और कर्म शक्तिका वाचक है। 'शतक्रतु' होनेका आदर्श मनुष्यके सामने रखा गया है। पाठक अपनेमें ज्ञान और कर्मकी शक्ति बढाकर शतक्रतु बननेका यत्न कर सकते है।

इन्द्रः

(११।१-८) जेता माधुच्छन्दसः। इन्द्रः। अनुष्टुप्।

इन्द्रं विश्वा अवीवृधन्त्समुद्रव्यचसं गिरः।
रथीतमं रथीनां वाजानां सत्पतिं पतिम् ॥ १॥

सख्ये त इन्द्र वाजिनो मा भेम शवसस्पते ।
त्वामभि प्र णोनुमो जेतारमपराजितम् ॥ २ ॥
पूर्वीरिन्द्रस्य रातयो न वि दस्यन्त्यूतयः।
यदी वाजस्य गोमतः स्तोतृभ्यो मंहते मघम् ॥ ३ ॥
पुरां भिन्दुर्युवा कविरमितौजा अजायत ।
इन्द्रो विश्वस्य कर्मणो धर्ता वज्री पुरुष्टुतः॥४॥
त्वं वलस्य गोमतोऽपावरद्रिवो बिलम् ।
त्वां देवा अबिभ्युषस्तुज्यमानास आविषुः॥५॥
तवाहं शूर रातिभिः प्रत्यायं सिन्धुमावदन् ।
उपातिष्ठन्त गिर्वणो विदुष्टे तस्य कारवः ॥६॥
मायाभिरिन्द्र मायिनं त्वं शुष्णमवातिरः ।
विदुष्टे तस्य मेधिरास्तेषां श्रवांस्युत्तिर ॥ ७ ॥
इन्द्रमीशानमोजसाभि स्तोमा अनूषत ।
सहस्रं यस्य रातय उत वा सन्ति भूयसीः॥८॥

अन्वयः— विश्वा गिर., समुद्र-व्यचसं, रथीनां रथीतमं, वाजानां पतिं, सत्पतिं इन्द्रं अवीवृधन् ॥ १ ॥ हे शवसस्पते इन्द्र ! ते सख्ये वाजिन. मा भेम। जेतारं अपराजितं त्वां अभि प्रणोनुमः ॥ २ ॥ इन्द्रस्य रातय. पूर्वीः। स्तोतृभ्यः गोमतः वाजस्य मघं यदि मंहते, ऊतय. न वि दस्यन्ति ॥ ३ ॥ पुरां भिन्दुः, युवा कविः, अमितौजाः, विश्वस्य कर्मण धर्ता पुरुष्टुतः वज्री इन्द्रः अजायत ॥ ४ ॥ हे अद्रिव.! त्वं गोमतः वलस्य बिलं अप अव.। तुज्यमानासः देवाः अबिभ्युष. त्वां आविषु ॥ ५ ॥ हे शूर ! तव रातिभि. अहं सिन्धुं आवदन् प्रत्यायं। हे गिर्वणः ! कारवः उप अतिष्ठन्त, तस्य ते विदु ॥ ६ ॥ हे इन्द्र ! त्वं मायिनं शुष्ण मायाभिः अवातिरः । मेधिरा. तस्य ते विदुः । तेषां श्रवांसि उत्तिर ॥ ७ ॥ स्तोमा. ओजसा ईशानं इन्द्रं अभि अनूषत। यस्य रातय सहस्रं सन्ति, उत वा भूयसी ॥ ८ ॥

अर्थ— सब वाणियाँ, समुद्र जैसे विस्तृत, रथियोंमें श्रेष्ठ रथी, बलों (वा अन्नों) के स्वामी, सज्जनोंके पालन कर्ता इन्द्र (के महत्त्व) को बढाते हैं ॥ १ ॥ हे बलोंके स्वामी इन्द्र ! तेरी मित्रतामें (रहकर) बलिष्ठ बने हम किसीसे डरेंगे नही। नित्य विजयी और कभी पराजित न हुए तेरी हम प्रशंसा करते हैं ॥ २ ॥ इन्द्रके दान प्राचीन कालसे (मिलते रहे हैं)। स्तोताओंके लिये गौओंसे प्राप्त अन्नका दान जो देते हैं, उनके लिये इन्द्रके संरक्षण कभी कम नहीं होते ॥ ३ ॥ शत्रुके गढोंको तोडनेवाला तरुण ज्ञानी, अपरिमित बलवाला, सब कर्मोंका धारण कर्ता, बहुतों द्वारा प्रशंसित, वज्रधारी इन्द्र (अब) प्रकट हुआ है ॥ ४ ॥ हे पर्वतपरसे लडनेवाले इन्द्र ! तूने गौवें छीन लेनेवाले बल असुरके (दुर्गके) द्वारको खोल दिया है। (इस युद्धमें) संत्रस्त हुए देव (तेरी सुरक्षाके कारण) न डरते हुए तेरे पास पहुँचे ॥ ५ ॥ हे शूर ! तेरे दानोंसे (उत्साहित हुआ) मैं, सोमरसका वर्णन करता हुआ, तेरेपास पुनः (दान लेनेके लिये) आया हूं। हे स्तुत्य इन्द्र ! जो कारीगर तेरे पास पहुँचते हैं, वे तेरी महिमाको जानते है ॥ ६ ॥ हे इन्द्र ! तूने मायावी शुष्ण असुरको अपनी कुशल योजनाओंसे परास्त किया है। मेधावी लोग तेरे (इस महत्त्वको) जानते है। उनके यशोंको तू बढाओ ॥ ७ ॥ सब यज्ञ अपने सामर्थ्यसे स्वामी इन्द्रकी प्रशंसा फैलाते है। उस इन्द्रके दान हजारो है अथवा उससे भी अधिक हैं ॥ ८ ॥

इस सूक्तमें इन्द्रके निम्नलिखित गुणोंका वर्णन किया है–

१ समुद्र-व्यचाः– समुद्रके समान विस्तृत, बहुत ही बडा, समुद्रके पार जिसकी प्रशंसा फैली है;

२ रथीनां रथीतमः– रथियोंमें श्रेष्ठ वीर, वीरोंमें श्रेष्ठ वीर, शूरोंमें शूर,

३ वाजानां पतिः– बलोंका स्वामी, अन्नोंका स्वामी, बहुत संख्यामें जिसके पास अनेक सामर्थ्य हैं।

४ सत्पति – सज्जनोंका पालन करनेवाला, भ० गीतामें 'परित्राणाय साधूनां' (गी० ४।८) भगवान्‌को साधुओं की रक्षा करनेवाला कहा है, वही भाव यहां है। श्रीकृष्ण वृष्णि थे, यह 'वृष्णि' पद इन्द्रवाचक गत सूक्तमें (ऋ. १।१०।२) आया है। दुष्ट कर्म करनेवालोंका नाश करनेवाला तो अनेक वार कहा ही गया है।

५ शवसः-पतिः– बलका स्वामी, बलिष्ठ,

६ जेता– जयशाली, विजयी, जीतनेवाला,

७ अपराजित– जो कभी पराजित नहीं होता, सदा विजयी,

८ पुरां भिन्दुः – शत्रुकी नगरियोंको, शत्रुके कीलोंको

तोडनेवाला,

९ **युवा**— तरुण, जवान्

१० **कविः**- कवि, ज्ञानी, विद्वान्,

११ **अमित-ओजाः** — अपरिमित सामर्थ्यवान्

१२ **विश्वस्य कर्मणः धर्ता**— सब कर्मोंका धारण करनेवाला, सब कर्मोंका आधार, सब कर्मोंका संचालक,

१३ **वज्री**- वज्रधारी,

१४ **पुरु-स्तुतः**- अनेकोंद्वारा प्रशंसित,

१५ **अद्रि-वः**- पर्वतपर रहनेवाला, मेघोंमें रहनेवाला, पर्वतपरके कीलोंमें रहकर शत्रुसे लडनेवाला,

१६ **शूर**- शूर वीर,

१७ **गिर्वणः**- स्तुतियोग्य,

१८ **ईशान** - स्वामी, अधिपति,

१९ **मायिनं मायाभिः अवातिरः**— कपटी शत्रुका नाश कपट युक्तियोंसे करनेवाला,

सोमरस

इस सूक्तमें ' सिन्धु ' पद सोमरसका वाचक है, इसका कारण यह है कि सोमरस निकालते ही उसमें (सिंधु) नदीका पानी मिलाते हैं और छानते हैं। जिसमें नदीका पानी मिलाया जाता है उसका नाम सिंधु ही है।

वल असुर

वल नामक असुर था, वह गौवें चुरा कर ले जाता था और किसी गुप्त स्थानमें उनको बंद करके रखता था। इन्द्र उस स्थानका पता लगाता था, उस स्थानके द्वारको तोडकर गौओंको शत्रुसे मुक्त करके उनके स्वामीको देता था। यह बात — ' **गोमतः वलस्य बिलं त्वं अप अवः** । ' (५) इस मंत्रमें है।

' वल् ' धातुका अर्थ ' घेरना, लपेटना आच्छादन करना, संचार करना ' है। इस कारण ' वल ' का अर्थ घेरनेवाला, आच्छादन करनेवाला ' है। ' वृत्र ' का भी यही अर्थ है। अत्यंत शीत प्रदेशमें सर्दीके कारण जो बर्फ भूमिपर अथवा पर्वतादिपर गिरता है उसका यह नाम है। भूमिपर लपेटने-वाला।

उत्तरी ध्रुवमें अंधेरा पडना और बर्फ पडना एक ही समय होता है, अन्धेरा पडनेका ही नाम सूर्यके किरणोंपर अन्धेरेका आच्छादन होना, अर्थात् यही गौओंका चुराना है। सूर्य-किरणोंका नाम गौवें हैं।

इस अन्धेरा, दीर्घरात्री, बर्फका भूमिपर ढक्कन, आदि पर अनेक रूपक वेदमें किये गये हैं ; अन्धकारको दूर करना और प्रकाशका फैलाव करना ही धर्म है। यही धर्म इन नाना प्रकारके रूपकों द्वारा बताया है।

सूर्यास्त होता है, यही विवरमें सूर्यको बंद करना है, और सूर्योदयकाही अर्थ उस विवरको तोडकर सूर्यका तथा किरणोंका बाहर आना है। अतः ' बिलं ' पद जो यहां है वह सार्थ है।

वीरताका आदर्श

इस सूक्तमें इन्द्र वीरताका आदर्श करके वर्णन किया है। ये सब वर्णन पाठक अपने लिये आदर्श समझें और उनको अपनानेके यत्नमें प्रयत्नशील हो। यही वेदोंका मनन, और ध्यान है।

यहाँ प्रथम मण्डलमें 'मधुच्छन्दाका दर्शन' समाप्त होता है।

सोमः

(ऋ० ९।१।१-१०) मधुच्छन्दा वैश्वामित्रः।
पवमानः सोमः। गायत्री।

स्वादिष्ठया मदिष्ठया पवस्व सोम धारया।
इन्द्राय पातवे सुतः ॥ १ ॥
रक्षोहा विश्वचर्षणिरभि योनिमयोहतम्।
द्रुणा सधस्थमासदत् ॥ २ ॥
वरिवोधातमो भव मंहिष्ठो वृत्रहन्तमः।
पर्षि राधो मघोनाम् ॥ ३ ॥
अभ्यर्ष महानां देवानां वीतिमन्धसा।
अभि वाजमुत श्रवः ॥ ४ ॥
त्वामच्छा चरामसि तदिदर्थं दिवेदिवे।
इन्दो त्वे न आशसः ॥ ५ ॥
पुनाति ते परिस्रुतं सोमं सूर्यस्य दुहिता।
वारेण शश्वता तना ॥ ६ ॥
तमीमण्वीः समर्य आ गृभ्णन्ति योषणो दश।
स्वसारः पार्ये दिवि ॥ ७ ॥
तमीं हिन्वन्त्यग्रुवो धमन्ति बाकुरं दृतिम्।
त्रिधातु वारणं मधु ॥ ८ ॥
अभीममघ्न्या उत श्रीणन्ति धेनवः शिशुम्।
सोममिन्द्राय पातवे ॥ ९ ॥

अस्येदिन्द्रो मदेष्वा विश्वा वृत्राणि जिघ्नते ।
शूरो मघा च मंहते ॥ १० ॥

अन्वय – हे सोम ! इन्द्राय पातवे सुतः (त्वं) स्वादिष्ठया मदिष्ठया धारया पवस्व ॥१॥ रक्षोहा विश्वचर्षणिः अयोहतं द्रुणा सधस्थं योनिं आ असदत् ॥ २ ॥ वरिवोधातमो भव मंहिष्ठः वृत्रहन्तमः मघोनां राधः पर्षि ॥ ३ ॥ महानां देवानां वीतिं अन्धसा अभि अर्ष । वाजं उत श्रवः अभि (अर्ष) ॥ ४ ॥ हे इन्दो ! दिवेदिवे तत् इत् अर्थं त्वां अच्छ चरामसि । न: आशसः त्वे ॥ ५ ॥ ते परिस्रुतं सूर्यस्य दुहिता वारेण शश्वता तना पुनाति ॥ ६ ॥ समर्ये पार्ये दिवि दश स्वसारः योषणः तं ईं आ गृभ्णन्ति ॥ ७ ॥ तं ईं अग्रुवः हिन्वन्ति । वाकुरं दृति धमन्ति । त्रिधातु वारणं मधु (भवति) ॥ ८ ॥ उत इमं शिशुं सोम अघ्न्याः इन्द्राय पातवे अभि श्रीणन्ति ॥ ९ ॥ शूरः इन्द्रः अस्य मदेषु विश्वा वृत्राणि आ जिघ्नते । मघा च मंहते ॥ १० ॥

अर्थ— हे सोम ! इन्द्रके पीनेके लिये निकाला गया (तू रस) स्वादु और मधुर धारासे छाना जा ॥ १ ॥ राक्षसोंका नाशक और सब मानवोंका हितकारी (यह सोम) सुवर्णसे तथा लकडीसे ताडित हुआ साथवाले स्थानमें बैठता है ॥ २ ॥ (हे सोम !) तू धनका दाता हो। बडा होकर शत्रुओंका नाशकर्ता होता हुआ धनवानोंके धनका दान कर ॥ ३ ॥ बडे देवोंकी प्रसन्नताको अपने अन्नमय रससे संपन्न कर । तथा बल और यशको बढा ॥ ४ ॥ हे सोम ! प्रतिदिन इसी कार्यके लिये तेरे पास हम आते हैं। हमारी आकांक्षाएँ तेरे अन्दर (स्थिर हुई हैं) ॥ ५ ॥ तेरेसे चूनेवाले रसको सूर्यकी दुहिता बालोंकी शाश्वत फैली हुई (छलनीसे) छानती है ॥ ६ ॥ सब मानवोंके समेत अन्तिम दिनमें दस बहिने स्त्रियें (अंगुलियाँ) उस (रसका) ग्रहण करती हैं ॥ ७ ॥ उसीको अंगुलियाँ हिलाती हैं। वे फैलाये चर्मपात्रको बढाती हैं। और तीन पात्रोंमें दुःखनिवारक मधुर रस रखती है ॥ ८ ॥ इस पुत्र जैसे सोमरसको गौवें इन्द्रके पीनेके लिये (अपने दूधके साथ) मिला देती हैं ॥ ९ ॥ शूर इन्द्र इसके आनंदोंमें सब वृत्रोंका — शत्रुओंका- नाश करता है । और धनोंका दान करता है ॥ १० ॥

यह सोमका सूक्त है। पहिले मंत्रमें इन्द्रके पानके लिये यह सोमका रस निकालते हैं ऐसा कहा है। छाननीसे यह छाना जाता है। द्वितीय मंत्रमें इस रसको ' रक्षो-हा ' कहा है। यह राक्षसोंका नाश करता है । इन्द्र, मरुत् आदि वीर सोमरसको पीते हैं और उससे उत्साहका वर्धन होनेके बाद वे असुरों और राक्षसोंका नाश करते हैं। यह एक प्रकारका असुरनाश है। रोगबीजरूपी राक्षस भी इस रससे मारे जाते हैं। यह रस रोगबीजोंका नाश करता है और आरोग्य बल तथा दीर्घायु देता है। यह दूसरे प्रकारका असुरवध है। यह दोनों प्रकारका लाभ सोमरससे होता है।

इस सोमको द्वितीय मंत्रमें 'विश्व-चर्षणि' कहा है। सारी मानवजाति ऐसा इसका अर्थ है। अर्थात् यह रस सारी मानवजातीका हित करता है। यह रस पुष्टिकारक, उत्साहवर्धक, बलवर्धक, दीर्घायुवर्धक है इसलिये यह मानवोंका हितकारी है ।

' अयोहतं द्रुणा हतं ' ऐसा वर्णन इसी मंत्रमें है, ' अयः ' का अर्थ लोहा, सुवर्ण और पत्थर है। लोहेकी मुसलसे यह कूटा जाता है, सुवर्णका आभूषण हाथमें धर कर यह कूटा जाता है, अथवा पत्थरोंसे यह कूटा जाता है। हमारे मतसे तीसरा अर्थ यहां विवक्षित है, क्यों कि आगे सोमके सूक्तोंमें पत्थरोंद्वारा सोमके कूटनेका अनेकवार उल्लेख है। ' द्रुणा हतं ' का अर्थ लकडीके तख्तेपर सोम कूटा जाता है, द्रुका अर्थ लकडी है। साथवाला स्थान वह है कि जहां सोम कूटा जाता है ।

तृतीय मंत्रमें सोम वृत्रका वध करता है ऐसा कहा है। असुरवधके विषयमें इससे पूर्व कहाही है। इसी मंत्रमें ' धनवानोंके धनोंका दान करता है ' ऐसा कहा है। यहां धनवानोंके अर्थात् धनवान शत्रुओंसे धन लाता और उस धनका दान करता है, ऐसा अर्थ समझना योग्य है। सोमरस पानसे बल, वीर्य और पराक्रम बढता और शत्रुपर विजय मिलता है। विजयसे धन मिलता है जिसका दान दिया जाता है। विजयसे प्राप्त धनका स्वयं भोग नहीं करना है, प्रत्युत उस धनका दानसेही भोग करना है।

सोमरसके पानसे मनकी प्रसन्नता होती है, ऐसा चतुर्थ मन्त्रका कथन है, सोमरस तो एक उत्तम पौष्टिक अन्न है। उत्साह बल तथा सत्वकी वृद्धि इससे होती है, इसीसे मन प्रसन्न होता है।

स्पष्ट और सुव्यक्त होता है। यही सत्यकी एक ऐसी कसौटी है, जिसके अभावमे हमें सत्य-ज्ञान संभव नहीं। केवल सत्य-ज्ञानही नहीं, किसीभी प्रकारका ज्ञान या ज्ञानमात्र संभव नहीं। ईश्वर ही ऐसी 'एकमात्र केवल और अनंत सत्ता है जो समस्त सत्ताओंकीभी सत्ता है, जिसके परे अन्य कोई सत्ता प्राप्त नहीं होती ॐ।' इस परात्पर सत्ताका ज्ञान हमें साक्षात् और अव्यवहित रूपसे होता है, जैसा कि सत्तामूलक प्रमाणोंके स्वरूपसे स्पष्ट है। इसी आशयसे स्पिनोझा कहता है- "मानवीय मनको अनंत और शाश्वत परमात्म तत्वका पर्याप्त ज्ञान होता है। इसलिये हम यह देखते है कि ईश्वरका अनंत तत्व और उसकी नित्यताका ज्ञान सबको है। चूंकि समस्त वस्तुए ईश्वरमें हैं और ईश्वरके द्वाराही जानी जाती हैं, अतएव हम इस ज्ञानसे अनेक बातोंका अनुमान कर सकते है, जिन्हें हम पर्याप्त रूपसे जान सकें।"

इतना होनेपर भी प्राय. यह देखा जाता है कि ज्ञानवत्ता (Consciousness) के इस मूलभूत तत्वकी लोगोंको जितनी चाहिये उतनी स्पष्ट कल्पना नहीं होती। यह भी देखा जाता है कि "मनुष्योंको ईश्वरकी उतनी स्पष्ट कल्पना नहीं होती जितनी स्वयंसिद्ध सत्योंकी होती है, क्योंकि वे ईश्वरकी उस तरह कल्पना नही कर सकते जिस तरह वे शरीरोंकी करते हैं ×।" मनुष्योंको साधारणतः ईश्वरका जो ज्ञान है वह भ्रामक है, कारण "उनने ईश्वरका नाम उन वस्तुओंकी प्रतिमाओंके साथ जोड रखा है, जिनको वे अपने दैनंदिन जीवनमें देखनेके अभ्यस्त हैं और वे इस गलतीका परिहार करनेमेंभी असमर्थप्राय होते हैं, क्योंकि वे बाह्य शरीरोंसे निरंतर प्रभावित होते रहते है +।" इसी अवतरणसे द्वितीय प्रकारके ज्ञानके अंतर्गत हमारे स्वयंसिद्ध सत्योंके ज्ञानमें और तृतीय प्रकारके अर्थात् ईश्वरके ज्ञानमें एक महत्वपूर्ण अंतर सूचित किया गया है। स्वयंसिद्ध सत्योंकी कल्पना हमे हमारे शरीरके दूसरे शरीरोंके साथ रहनेवाले समान धर्मसे आती है, परंतु ईश्वरकी कल्पना मनमें इसलिये है चूंकि मन अनंत चितिका एक अंश है। इस प्रकार मानवीय मन अपने अपर्याप्त ज्ञानादि की मर्यादाओंसे ऊपर उठ कर यह चरम ज्ञान-दृष्टि प्राप्त कर सकता है जिसके द्वारा वह एकमें अनेक और अनेकमें एकको एकसमयावच्छेदेन, अव्यवहित रूपसे देख सकता है। इस विषयका शेष विचार मोक्षके प्रकरणमें होगा।

[प्रकरण १६]

इच्छा-स्वातंत्र्यका निषेध और नियतिवादका पुरस्कार

नीतिशास्त्रके प्रथम दो भागोंकी रचना सम्मिताकार है (Symmetrical)। प्रथम भागमें ब्रह्माण्डकी भव्य झांकी दिखलाकर द्वितीयमें उसीके अनुरूप पिंडकी लघु झांकी दिखलाई गई है। प्रथम भागके उपसंहारमें रूढार्थमें प्रयुक्त ईश्वरीय इच्छास्वातंत्र्य तथा जगत्कर्तृत्वमे इच्छा-योजनादिका असंभव बतलाया जा चुका है। अब द्वितीय भागके उपसंहारमे इच्छाका स्वरूप बतलाकर मानवीय इच्छास्वातंत्र्यका निषेध किया गया है। यही इस प्रकरणका विषय है।

स्पिनोझाद्वारा प्रदर्शित इच्छाके स्वरूपमें तीन बातें ध्यान देने योग्य हैं-(१) इच्छा और कामना (Will and desire) में अंतर है, (२) इच्छा (Will) सामान्य कल्पना (Universal Concept) है, वास्तविक वस्तु (Real entity) नहीं, (३) इच्छा और बुद्धिका तादात्म्य है। इन्हींका हम क्रमसे विचार करेंगे।

१. इच्छा और कामनामें अंतर है।

इच्छा भले बुरेका, सत्यानृतका निर्णय करनेवाली शक्ति है, कामना इच्छाद्वारा निर्णीत सत्यासत्य या भलेबुरेमे अनुक्रमसे प्रवृत्ति और निवृत्ति है। "इच्छा बुद्धिकी सिर्फ वह क्रिया है जिसके द्वारा हम किसी वस्तुके अच्छी या बुरी होनेका विधान या निषेध करते है .. जब कि कामना उस वस्तुकी प्राप्तिकी ओर तदनंतर अभिमुख होनेवाली प्रवृत्ति है ×।" नीतिशास्त्रके वि. ४८ के स्प० में स्पिनोझा कहता है. "इच्छासे मुझे वह

ॐ बु. सु. नी शा. भा. २ वि. ४७ और स्प. × वही वि. ४७ स्प + वही.

× Short Treatise quoted by Wolfson, Phil. of Spinoza, Vol. II, p 167

शक्ति अभिप्रेत है ... जिसके द्वारा मन सत्यासत्यका विधान या निषेध करता है, न कि कामना, जिसके द्वारा मन किसी वस्तुकी ओर अभिमुख या उससे पराङ्मुख होता है। " इस प्रकार इच्छा निश्चयात्मक बुद्धिके व्यापारतकही सीमित है। " यह क्रिया जब केवल मनसे संबंध रखती है, तब इच्छा कहलाती है, परंतु जब वह मन और शरीर दोनोंसे एक साथ संबंध रखती है तब वासना (Appetite) कहलाती है। आगे चलकर स्पिनोझाने यह स्पष्ट किया है कि वासना (appetite) और कामना (desire) में कोई खास भेद नहीं।

१ इच्छा सामान्य कल्पना है, वास्तविक वस्तु नहीं।

निसर्गमें इच्छा स्वयं वास्तविक अस्तित्ववान् कोई वस्तु नहीं है। इच्छा तो वैयक्तिक इच्छाओं (individual volitions) को व्यक्त करनेवाली सामान्य संज्ञा है। वह निसर्गमें रहनेवाली वास्तविक वस्तु (ens reale) न होकर बुद्धिद्वारा परिकल्पित (ens rationis) सामान्य (Universal) है। जो बात इच्छाके विषयमें सत्य है वही बोध (understanding), कामना (desiring), प्रेम (loving) इत्यादि अन्यान्य शक्तियोंके विषयमेंभी सत्य है। " वे या तो सर्वथा काल्पनिक हैं या हैं वे सिर्फ सामान्य या भाववाचक संज्ञाएं (Merely abstract general terms), जिन्हें हम विशिष्ट वस्तुओंसे अलग एकत्र करनेके अभ्यस्त हैं। इस प्रकार बुद्धि और इच्छाका तत्तत्कल्पना या इच्छासे वही संबंध है जो ' पाषाणत्व ' का इस या उस पाषाणखंडसे या 'मनुष्य' का पीटर या पॉलसे। "*

२ इच्छा और बुद्धिका तादात्म्य है।

" इच्छा और बुद्धि एकही है + "। " इच्छाभी बुद्धिकी तरह विचारका एक प्रकार है ॐ " और " मनमें उतनीही इच्छा या विधान और निषेध होता है जितना कि एक कल्पनामें कल्पनाके नाते हो सकता है ×। इच्छा और बुद्धि तत्तदिच्छाओं और कल्पनाओंके अतिरिक्त कुछभी नहीं, परंतु एक विशिष्ट इच्छा और विशिष्ट कल्पना एक ही बात है, अतएव इच्छा और बुद्धिभी एक ही है ▦। " सामान्यतया यह समझा जाता है कि सक्रियता इच्छाका असाधारण धर्म है, परंतु वस्तुतः यह सक्रियता बुद्धि या ज्ञानशक्तिका ही असाधारण धर्म है। विचार या बुद्धि तो मनका स्वरूपही है जिसके आधारपर हमारे समस्त मानसिक अनुभव और मानसिक क्रियाएं स्थित हैं। यद्यपि प्रेम, कामना, या मनके अन्य परिणाम तत्वतः विचारकेही प्रकार हैं, तथापि इन सब प्रकारोंमें कल्पना या विचारको आद्य स्थान है, जिसके रहनेसे ये सब रहते हैं, परंतु जो स्वयं इनके बिनाभी रह सकता है‡।

यहांपर, यदि स्पष्टतर शब्दोंमें कहें तो स्पिनोझा इतनाही कहना चाहता है कि बुद्धि निष्क्रिय नहीं; कल्पनाएं केवल चित्रफलकपरकी मूकाकृतियों की तरह जड निष्क्रिय प्रतिमाएं नहीं, बुद्धि और बुद्धिके व्यापार सक्रिय हैं। सक्रियता एकमात्र इच्छाका असाधारण धर्म नहीं। इसी प्रकार इच्छा सिर्फ क्रियात्मक ही नहीं, वह बोधरूप भी है। इच्छामें बोधका अंश रहता है, बुद्धिमें सक्रियताका निष्क्रिय ज्ञान ज्ञानही नहीं। निर्बुद्ध इच्छा इच्छाही नहीं ✱। बुद्धिके प्रत्येक व्यापारमें सक्रियताका और आत्मनिश्चयात्मक कथनका अंश रहता है, और इच्छामें सक्रियताके साथ बोधरूपताका। अतएव ये एक-दूसरेसे पृथक् नहीं। हमारे प्रत्येक अनुभवमें हम इच्छा और बुद्धिकी एकताको पाएंगे।

मध्ययुगीन दार्शनिक ईश्वरमें इच्छा और बुद्धिको अभिन्न मानते थे। स्पिनोझा अप्रत्यक्ष रीतिसे मानो अपने विपक्षियोंको यह चुनौती देता है कि मनुष्यमें भी वे एकही हैं। एरिस्टॉटल का मत इस विषयमें स्पिनोझाके अनुकूलही है।

इच्छा और बुद्धिकी इस एकताका स्पिनोझाकी नीतिविषयक कल्पनाओंपर दूरगामी परिणाम होता है। इसका पर्यवसान ज्ञानमय जीवन और नैतिक जीवनकी एकतामें होता है। हम यह बतला चुके हैं कि साधनाके क्षेत्रमें स्पिनोझा शुद्ध ज्ञानमार्गी है, आगे चलकर हम देखेंगे कि उसकी भक्ति भी ज्ञानोत्तर भक्ति है, और ज्ञानमय जीवनही नैतिक जीवन है। इच्छा और बुद्धिकी एकताका रहस्य यही है।

इच्छाका स्वरूप बतलाकर अब स्पिनोझा इच्छास्वातंत्र्य

---

* नी. शा. भा २ वि. ४८ स्प. + वही वि. ४९ उ. सि. ॐ वही भा. १ वि. ३२ प्र. × वही भा. २ वि. ४९

▦ वही उ. सि प्र. ‡ वही स्व स. ३

✱ Spinoza by John Caird, p. 249

तथा विचारके अन्य प्रकारों यथा बुद्धि, कामना, प्रेमादि की स्वतंत्रताका निषेध करता है। इस निषेधकी मुख्य युक्ति कारणता (Causality) पर स्थित है। " मनमें नितांत निरपेक्ष या स्वतंत्र ऐसी कोई इच्छा नहीं; परंतु मन तत्तदिच्छाओंमें किसी कारणके द्वारा नियत होता है; वह कारण अन्यकारण-मूलक है, इसी प्रकार कारणोंकी यह परंपरा अनंत है।× " अतएव इसका आवश्यक पर्यवसान इसी एक बातमें होता है कि इच्छाके समस्त संकल्प और क्रियाएं स्वतंत्र न होकर सब कारणोंका आदि कारण ईश्वरकारणक हैं। चूंकि इच्छाका कोई भी निश्चय या कोई भी क्रिया अकारणक नहीं है, इसलिये इच्छा भी स्वतंत्र नहीं है, क्योंकि "वही वस्तु स्वतंत्र है जो केवल स्वस्वभावकी आवश्यकताके कारण ही अस्तित्ववान् है और अपनेही द्वारा कार्यमें नियत होती है। ※" जो बात इच्छाके बारेमें ठीक है वही बुद्धि, कामनादि विचारके अन्य प्रकारोंके विषयमें भी सत्य है।

प्रायः लोग इच्छास्वातंत्र्यमें विश्वास कर बैठते हैं, कारण वे विचार (ideas), वस्तुओंके प्रतिरूप (images) और शब्दोंमें सम्यक् भेद नहीं कर सकते। विचार मनकी शक्ति है, वस्तुओंके प्रतिरूपोंकी हम कल्पना करते हैं, और "शब्द सिर्फ वस्तुओंके कल्पनामें रहनेवाले संकेतमात्र हैं, बुद्धिमें रहनेवाले नहीं।" "परंतु लोग इन तीनोंको एक-दूसरेमें बुरी तरहसे मिला देते हैं और एकको दूसरेसे पृथक् देखनेकी तनिक भी परवाह नहीं करते। अतएव वे अज्ञानमेंही पड़े रहते हैं और तात्विक क्षेत्रमें या विवेकपूर्ण जीवनके लिये इच्छाके इस सिद्धांतका ज्ञान कितना आवश्यक है, यह नहीं देख पाते। जिन लोगोंकी दृष्टिसे विचार या कल्पनाएं बाह्य वस्तुओंके संयोगसे हमारे मनमें होनेवाले प्रतिरूप हैं, वे यह समझ बैठते हैं कि जिन वस्तुओंके इस प्रकारके मानसिक प्रतिरूप संभव नहीं, उन वस्तुओंके विचार विचार न होकर केवल मनगढंत हैं, जिन्हें हम हमारी स्वतंत्र इच्छाके कारण बना लेते हैं। इस प्रकार वे लोग विचारोंको चित्रफलकपरके निर्जीव चित्रोंकी भांति समझते हैं और इस भ्रमसे अभिभूत होकर यह नहीं समझ पाते कि विचार विचारकी हैसियतसे ही विधान या निषेधकी शक्ति रखता है। पुनः जो लोग शब्दोंको विचारोंके साथ या विचारांतर्गत विधानोंके साथ मिला देते हैं, वे यह समझ लेते हैं कि वे अपनी भावनाओं, विधानों या निषेधोंके विरुद्धभी इच्छा कर सकते हैं। परंतु ज्ञानके स्वरूपका विचार करनेके साथही उनका यह भ्रम भी दूर हो जायगा, क्योंकि ज्ञानमें विस्तारका यत्किंचित् भी अंश नहीं होता, अतएव विचार न तो किसी वस्तुका प्रतिरूपही है और न शब्दही इस विषयमें ये अन्य शब्दही पर्याप्त होंगे। +"

अब स्पिनोझा अपने इच्छाविषयक सिद्धांतोंके विरुद्ध चार आक्षेप उपस्थापित करके उनका खंडन करता है–

(१) प्रथम आक्षेप इच्छा और बुद्धिकी एकताके विरुद्ध है। इसकी खास दलील यह है कि चूंकि इच्छाका क्षेत्र बुद्धिके क्षेत्रसे अधिक व्यापक है, अतएव इच्छा और बुद्धि भिन्न है। इस मतके अनुसार बुद्धि मर्यादित है, इच्छा अमर्याद। इस पक्षकी उपस्थापनामें स्पिनोझाका मुख्य संकेत डेकार्टकी ओर है जैसा कि उसके पत्रोंसे स्पष्ट होता है। इस आक्षेपका समाधान यह है कि इच्छाका क्षेत्र बुद्धिके क्षेत्रसे व्यापक तभी माना जा सकता है जब बुद्धिका सिर्फ संकुचित अर्थ किया जाय, अर्थात् बुद्धिसे सिर्फ स्पष्ट और सुव्यक्त कल्पनाएं समझी जायें। परंतु बुद्धिको यदि इस प्रकार संकुचित न किया जाय तो कोई वजह नहीं कि इच्छाका क्षेत्र प्रत्यक्ष ज्ञान (perceptions), विचारकी शक्ति तथा भावनाकी शक्तिसे अधिक व्यापक हो। हम देख चुके हैं कि बुद्धिसे स्पिनोझा मन या आत्मा या वेदांत की भाषामें अंतःकरण समझता है, अतएव उसकी दृष्टिसे उपर्युक्त आक्षेप अयुक्त है। स्पिनोझाके अनुसार इस आक्षेपमें एक और दोष यह है कि इसमें इच्छाके सामान्य या जातिवाचक अर्थमें और वास्तविक वस्तु इस अर्थमें कोई भेद नहीं किया गया है (स्पिनोझाके अनुसार 'इच्छा' विशिष्ट इच्छाओं को निर्देश करनेवाली सामान्य संज्ञा है।) इतनाही नहीं, प्रथमार्थमें प्रयुक्त इच्छासे व्यक्त होनेवाली बातोंका आरोप द्वितीयार्थमें प्रयुक्त इच्छासे व्यक्त होनेवाली बातोंपर किया गया है।

(२) द्वितीय आक्षेप इच्छास्वातंत्र्यके निषेधके विरुद्ध है। इस आक्षेपके अनुसार इच्छास्वातंत्र्य हमारे अनुभवका विषय है। हमारे अनुभवमें आनेवाली बातोंके विषयमें स्वीकृति देनेके पहिले हम हमारा निर्णय रोक रखनेकी योग्यता रखते हैं और

× नी. शा. भा. २ वि. ४८ ※ नी. शा. भा. १ प. ७ + नी. शा. भा. २ वि. ४९ स्प.

बिना इच्छा-स्वातंत्र्यके यह सभव नहीं । स्पिनोज़ा इस बातका स्पष्ट निषेध करता है कि हमें हमारा निर्णय रोक रखनेकी स्वतंत्र शक्ति है । " क्योंकि जब हम यह कहते है कि कोई व्यक्ति अपना निर्णय रोक लेता है, तब हमारे कहनेका मतलब सिर्फ इतनाही होता है कि वह व्यक्ति अनुभव करता या देखता तो है, परंतु उपस्थित प्रश्नको पर्याप्त रूपसे नहीं देख पाता।*" अतएव स्पिनोज़ाके अनुसार यहांपर मुख्य प्रश्न इच्छास्वातंत्र्य का न होकर पर्याप्त और अपर्याप्त कल्पनाओंका है । यह पक्ष भी डेकार्टका है ।

(३) तृतीय आक्षेप स्पिनोज़ाके इस मतके विरुद्ध है कि किसी वस्तुके सत्य या अच्छेपनका विधान या निषेध बुद्धिसे अभिन्न इच्छाकी क्रिया है, अर्थात् उस वस्तुकी कल्पनाके ही अंतर्गत है, डेकार्टकी तरह बुद्धिसे या उस वस्तुकी कल्पनासे बहिर्भूत इच्छाकी क्रिया नहीं। अब आपत्ति यह है कि स्पिनोज़ाके अनुसार कल्पनाएं एकदूसरीसे पूर्णता या सत्यताकी दृष्टिसे भिन्न होती हैं। अब यदि किसी वस्तुके सत्यासत्य का विधान उस वस्तुकी कल्पनामें ही हो तो एक विधान दूसरे विधानसे अधिक सत्य होना चाहिये । और भी, सत्यके विधानमें असत्यके विधानकी अपेक्षा अधिक शक्तिकी जरूरत होनी चाहिये, लेकिन ये दोनों बातें तो हमारे अनुभवके विरुद्ध है। इससे यह प्रतीत होता है कि इच्छा और बुद्धिमें अंतर है । इस आक्षेपके उत्तरमें स्पिनोज़ा प्रथम इस बातका निषेध करता है कि एक विधानमें दूसरे विधानकी अपेक्षा अधिक सत्यता नहीं होती, क्योंकि " विशिष्ट विधान (individual affirmations) एकदूसरेसे उसी प्रकार भिन्न होते हैं जिस प्रकार कल्पनाएं एक दूसरीसे भिन्न होती हैं।•" फिर वह इस बातको भी निषेध करता है कि असत्यका विधान करनेमें जितनी वैचारिक शक्ति लगती है, वह सत्यका विधान करनेवाली वैचारिक शक्तिके बराबर होती है, क्योंकि असत्यता अभावात्मक है या " अपर्याप्त अर्थात् खंडित और उलझी हुई कल्पनामूलक ज्ञानाभाव है। " इसलिये असत्यको सत्य कहनेमें कुछ भी शक्ति नहीं लगती, कारण वह सिर्फ ज्ञानका विरह (privation) है । तात्पर्य यह कि यह भेद इच्छा और बुद्धिका न होकर निर्दोष बुद्धि और सदोष या अव्यवस्थित बुद्धिका है ।

(४) इच्छास्वातंत्र्यके विरुद्ध चौथा आक्षेप कुछ मनोरंजक है । इसके अनुसार जहां प्रवृत्तिके निमित्तों (motives) में संघर्ष उत्पन्न होता है, ऐसे स्थलोंपर केवल इच्छा ही निश्चय कर सकती है। परंतु इस निश्चय करनेवाली शक्ति के अभावमें प्रवृत्तिनिमित्तोंकी तुल्यता (equilibrium of motives) की हालतमें क्रिया सर्वथा रुक जायगी, जिस प्रकार घास और पानीसे समान दूरीपर स्थित "ब्यूरिडनका गधा "+ (Buridan's ass) भूखा और प्यासा ही मर गया, वही हालत इच्छास्वातंत्र्यके अभावमें मनुष्यकी भी होगी । अतएव ऐसी परिस्थितिमें यदि वह मनुष्य जीवित रहा तो इच्छास्वातंत्र्य सिद्ध होगा । परंतु यदि यह माना जाय कि वह मर जायगा तो वह मनुष्य मनुष्य न होकर या तो गधा होगा या मनुष्यकी जड प्रतिमा ही होगी ।

इस आक्षेपके प्रति स्पिनोज़ाका यह उत्तर है कि ऐसी हालतमें कार्यमें नियुक्त करनेवाले किन्हीं आंतरिक या बाह्य प्रेरणाओं या कारणोंके अभावमें मनुष्यभी गधे की तरह भूखा और प्यासाही मर जायगा । परंतु जबतक उसको कार्यमें नियत करनेके लिये बाह्य कारण या प्रेरणाएं, विशेष कर आत्मसंरक्षणकी बलवत्तर आंतरिक प्रेरणा मौजूद है, तबतक ऐसी परिस्थितिमेंभी न तो गधाही मरेगा और न आदमीही । यदि यह माना जाय कि वह मनुष्य मर जायगा तो उसकी गणना नादान, पागल या बच्चोंमें की जानी चाहिये, मनुष्योंमें नहीं; क्योंकि जिस प्रकार आत्मसंरक्षणकी प्रेरणा आंतरिक है उस प्रकार आत्मघातकी नहीं । वह तो बाह्य कारणमूलक होती है ।

इन आक्षेपोंके अंतमें स्पिनोज़ा कहता है कि " इनके अतिरिक्त अन्य आक्षेपभी उपस्थापित किये जा सकते हैं, परंतु प्रत्येक ऐरेगैरेकी झूठी सच्ची कल्पनाएं लिखते बैठनेके लिये मैं बाध्य नहीं हूं ।"×

---

* वही • वही

+ जीन ब्यूरिडन (Jean Buridan) चौदहवीं शताब्दिका एक फ्रैंच दार्शनिक था । यह गधेका उदाहरण उसके नाम के साथ संबद्ध अवश्य है, परंतु उसके ग्रंथोंमें इसका उल्लेख नहीं । संभव है उसके विरोधियोंने उसके नियतिवादका मखौल उडानेके लिये यह प्रचलित कर दिया हो । × नी. शा. भा. २ वि. ४९ स्प.

अंतमें स्पिनोझा नियतिवादसे होनेवाले लाभ बतलाकर उसकी ग्राह्यताकी ओर संकेत करता है ।

" अब इस सिद्धांतसे हमारे आचरणपर होनेवाले परिणामोंको बतलाना है... यह सिद्धांत ग्राह्य है, क्योंकि (१) यह हमें सर्वथा ईश्वरीय विधान (Decree) के अनुसार चलना सिखाता है और ईश्वरीय स्वभावका भागी बनाता है- उतनी ही मात्रामें अधिक जितनी अधिक मात्रामें हमारे कार्य पूर्ण होते हैं, और जितना अधिकाधिक हम ईश्वरको समझते जाते है। ऐसा सिद्धांत हमारी आत्माको केवल पूर्ण शातिही प्रदान नहीं करता, परंतु यहभी बतलाता है कि हमारा निरतिशय सुख, हमारी धन्यता या कृतकृत्यता किसमें है, अर्थात् एकमात्र ईश्वरके ज्ञानमें, जिसके द्वारा हमारे कार्य प्रेम और धर्मनिष्ठा (qiety) की चोदनाके अनुसारही होते है। इस प्रकार हम यह भली भांति समझ सकते हैं कि सद्गुणके यथार्थ मूल्यमापनसे वे लोग कितनी दूर भटक गये हैं, जो अपने सद्गुणों और अच्छेसे अच्छे कामोंके लिये, वैसेही पूर्णतम दासता स्वीकार करनेके लिये ईश्वरसे बडे बडे पारितोषिकोंद्वारा सुशोभित किये जानेकी आशा रखते है, मानो सद्गुण और ईश्वरकी सेवा स्वयंही सुख और पूर्ण स्वतंत्रता नहीं हैं ।

(२) यह सिद्धांत हमें हमारा आचरण इन बातोंके विषयमें निर्धारित करनेकी सीख देता है जो हमारी शक्तिसे बाहर है या जो हमारे स्वभावसे नहीं प्राप्त होतीं या जो हमारे भाग्यकी देन हैं। यह हमें दैवी विधान या भाग्यकी अनुकूल या प्रतिकूल स्थितिमें भी धैर्य और सहनशीलतापूर्वक मनकी साम्यावस्था रखनेका पाठ पढाता है; क्योंकि इस सिद्धातके अनुसार समस्त बातें नित्य ईश्वरीय संकेतके अनुसार उसी आवश्यकता से निकलती हैं, जिस आवश्यकतासे किसी त्रिकोणके तत्वसे उसके तीन कोणोंका योग दो समकोणोंके योगके बराबर होनेका सिद्धात निकलता है ।

(३) यह सिद्धात हमारे सामाजिक जीवनको उदात्त बनाता है, क्योंकि यह हमें किसीभी मनुष्यसे घृणा, तिरस्कार, उपहास, ईर्ष्या या क्रोध न करना सिखाता है । औरभी यह हममेंसे प्रत्येकको आत्मपरितोष और अपने विवेककी प्रेरणानुसार अपने पडोसीके तृप्तिसहायक तृप्ति रखनेके लिये कहता है, किसी स्त्रियोचित, दया, कृपा, या अंध विश्वासके कारण नहीं ।

(४) देशकी शासनसंस्थाको भी इससे कम लाभ नहीं, क्योंकि यह नागरिकोंके शासन या मार्गदर्शनका पाठ उनको गुलाम रखनेके लिये नहीं, किंतु श्रेष्ठसे श्रेष्ठ बातें स्वतंत्रतापूर्वक करनेकी दृष्टिसे पढाता है । "

[प्रकरण १७]

भावोंकी उत्पत्ति और उनका स्वरूप

पिछले प्रकरणमें हम देख चुके हैं कि स्पिनोझा कठोर नियतिवादी है । इच्छास्वातंत्र्य योजना तथा उद्देश्य ईश्वरमेंभी नहीं, मनुष्यकी तो बातही क्या है ! स्पिनोझाका भावोंका विवेचन इस कठोर नियतिवादके अनुकूलही है । मनुष्यके मनोविकार सद्गुणादि निसर्गकी आवश्यकतासे सिद्ध हैं । इस विषयमें स्पिनोझाने अपना दृष्टिकोण और अन्य लेखकोंसे मतभेद तृतीय भागकी प्रस्तावनामें बिलकुल स्पष्ट कर दिया है ।

स्पिनोझाके दृष्टिकोणकी सबसे बडी विशेषता है उसकी वैज्ञानिकता, जिसमें निष्पक्षता, तटस्थता, उदासीनता इत्यादि बातोंका समावेश होता है । वैज्ञानिक दृष्टिकोण अपने जिज्ञास्य विषयके प्रति शुद्ध होता है, उसमें किसी प्रकारका लगाव नहीं होता । इसी आशयसे स्पिनोझा तृतीय भागका उपक्रम करतो है ।

" अधिकांश लेखकोंका भाव तथा मानवीय आचारसंबंधी प्रतिपादन इस प्रकारका होता है, मानो वह निसर्गके नियमोंसे बद्ध नैसर्गिक रहस्योंका न होकर निसर्गसे बाहरी बातोंका हो। वे प्रकृतिके राज्यके भीतर मनुष्यके राज्यकी कल्पना कर लेते हैं; कारण उनकी यह धारणा होती है कि मनुष्य नैसर्गिक क्रमका अनुसरण करनेके बजाय उसमें व्यतिक्रम कर सकता है, अपनी क्रियाओंपर उसका पूर्ण अधिकार है, और वह एकमात्र अपनेही द्वारा नियत है । वे मनुष्यकी कमजोरियों और अस्थिरताओंका कारण प्रकृतिकी सामान्य शक्तिमें न देखकर मनुष्य-स्वभावकी

किसी रहस्यमयी त्रुटिमें देखते हैं, जिसके लिये उनके पास हैं शोक, उपहास, घृणा और प्रायः अपशब्द। जो मानवीय मन की इस कमजोरीका अपने अन्य साथियोंसे अधिक सरस वर्णन करता है, वह तत्वदर्शी समझा जाता है। परंतु ऐसी भी महान् विभूतियाँ हो गई हैं (जिनके प्रयासों और परिश्रमोंका मैं अत्यंत ऋणी हूँ), जिनने यथार्थ जीवनके विषयमें अच्छी अच्छी बातें कहकर मनुष्यजातिको योग्य उपदेश दिया है। परंतु जहांतक मैं जानता हूं भावोंका स्वरूप, उनकी शक्ति, तथा मनकी उनको वशमें करनेकी शक्तिकी किसीने व्याख्या नहीं की है।" इन महान् विभूतियोंसे स्पिनोझा का अभिप्राय डेकार्ट, एरिस्टॉटल तथा नैतिक विषयोंका विवेचन करनेवाले मध्ययुगीन दार्शनिकोंसे है। परंतु स्पिनोझाका मुख्य रोष उन लोगोंपर है जो भावोंको समझनेके बजाय उनको तिरस्कार तथा उपहासकी दृष्टिसे देखते हैं। अतएव वह इन लोगोंको मानो चुनौती देकर अपना वैज्ञानिक दृष्टिकोण सामने रखता है। जिन मानवीय दुर्गुणोंको ये लोग घृणा और तिरस्कारकी दृष्टिसे देखते हैं और इतना खौफनाक समझते हैं, उन्हींका विचार स्पिनोझा ज्यामितिपद्धति से और कठोर तर्कवादसे करता है, क्योंकि उसके अनुसार निसर्गमें कोई बात ऐसी नहीं होती जो त्रुटिमूलक हो, कारण स्वयं प्रकृति तथा उसके नियम जिनके द्वारा समस्त घटनाएं होती हैं और नित्य परिवर्तित होती रहती हैं, सब जगह और सब समय एकसा है। अतएव निसर्गस्थ सब बातें समझनेके लिये उन्हीं नियमोंका आश्रय लेना पडेगा। इस प्रकार घृणा, क्रोध, ईर्ष्या, द्वेष इत्यादिके भावभी प्रकृतिकी उसी शक्ति और आवश्यकतासे होते है, जिस शक्ति और आवश्यतासे अन्य सब बातें। इसलिये स्पिनोझा प्रतिज्ञा करता है कि, "मैं मानवीय क्रियाओं तथा कामनाओंका ठीक उसी प्रकार विचार करूंगा, मानो मेरे विचारके विषय रेखाएं, समधरातल या पिंड हों।"

कुछ प्राचीन दार्शनिकों और डेकार्टने यद्यपि भावोंका विवेचन मनोवैज्ञानिक ढंगसे किया था, तथापि उनके इस विवेचनमें भाव और सद्गुणोंमें अंतर समझा जाता था। इनके अनुसार भाव ऐच्छिक नहीं, सद्गुण किसी हदतक ऐच्छिक है। हमारी क्रियाएं द्विविध होती हैं– अच्छी और बुरी; इन्हींके अपर पर्याय सद्गुण और दुर्गुण हैं, जो हमारी प्रशंसा या निंदाके कारण होते है। परंतु नियतिवादके पुजारी स्पिनोझाकी दृष्टिसे इच्छा-स्वातंत्र्यके निषेधके साथही सद्गुण और भावोंके भेदका भी अपने आप निषेध हो जाता है। स्पिनोझाकी दृष्टिसे एक तरफ तो अनैच्छिक भाव और दूसरी तरफ सद्गुण और दुर्गुणोंके द्वारा प्रकट होनेवाली ऐच्छिक क्रियाएं इस प्रकारका भेद न होकर भावोंकही परस्पर संघर्ष चलता रहता है, जिसमें कुछ भाव अन्य भावोंपर विजय प्राप्त कर लेते हैं। दुर्गुण नामकी कोई वस्तु नहीं, क्योंकि ऊपर हम देख चुके हैं कि प्रकृतिमें ऐसी कोई बात नहीं होती जिसका कारण प्रकृतिस्थ कोई दोष हो, और मनुष्य सब बातोंमें प्रकृतिका अंग है, स्वतंत्र नहीं, न वह उसमें कुछ व्यतिक्रम ही कर सकता है। अतएव जिसे दुर्गुण कहा जाता है वह निर्बलता और दृढताका अभाव मात्र है। उसी प्रकार "मनुष्यकी भावोंको रोकने और उनको वशमें करनेकी निर्बलता ही दासत्व या बंध है।" इसी प्रकार जिसे सद्गुण कहा जाता है वह शक्ति है। "सद्गुण और शक्ति मैं एकही बात समझता हूं।" चूंकि भावोंके इस संघर्षमें निर्णायक शक्ति विवेक है, अतएव विवेकके अनुसार आचरण करना ही सच्चा सद्गुण या सबलता है और दुर्गुण या निर्बलता स्वस्वभावसे बहिर्भूत बातोंके अधीन होकर आचरण करना है।

इस उपक्रमके साथ अब हम भावोंका विचार करें। सुविधा की दृष्टिसे भावोंके इस विवेचनको चार भागोंमें विभाजित किया जा सकता है– (१) क्रियाएं और निष्क्रियताएं (Actions and passions), (२) प्रयत्न और प्रमुख निष्क्रिय भाव (The conatus and the primary passive emotions), (३) परप्राप्त निष्क्रिय भाव (Derivative passive emotions), (४) सक्रिय भाव (Active emotions)।

१. क्रियाएं और निष्क्रियताएं
(Actions and passions)

कारण दो प्रकारके होते हैं, पर्याप्त और अपर्याप्त। "पर्याप्त कारणसे मेरा आशय उस कारणसे है जिसके द्वारा उसका कार्य स्पष्ट और सुव्यक्त रीतिसे समझमें आ सके। अपर्याप्त या आंशिक कारणसे मेरा अभिप्राय उस कारणसे है, स्वयं जिस कारणके द्वारा उसका कार्य समझमें न आ सके ×।" इन दो प्रकारके कारणोंसे संबंध रखनेके कारण ही कार्य अनुक्रमसे

× नी. शा. भा. ३ प १

सक्रिय या निष्क्रिय कहे जाते हैं। "क्रियाशील हम तब कहे जाते हैं जब हमारे भीतर या हमसे बाहर होनेवाली घटनाओंके हम पर्याप्त कारण होते हैं अर्थात् (प. १ के अनुसार) जब हमारे स्वभावके द्वारा हमारे भीतर या बाहर जो भी कुछ होता है वह सिर्फ हमारे स्वभावके द्वारा ही स्पष्ट और सुव्यक्त रूपसे समझा जा सके। इसके विपरीत निष्क्रिय हम किसी बातके संबंधमें तब कहे जाते हैं, जब उस बातके हम आंशिक कारण होते हैं, फिर चाहे वह बात हमारे भीतर हो या हमसे बाहर +।" चूंकि हमारे मनमें कुछ कल्पनाएं पर्याप्त होती हैं और कुछ खंडित और उलझी हुई, अतएव "कुछ बातोंमें हमारा मन सक्रिय होता है और अन्य बातोंमें निष्क्रिय। जब उसकी कल्पनाएं पर्याप्त होती हैं, तब वह आवश्यक रूपसे सक्रिय होता है और जब उसकी कल्पनाएं अपर्याप्त होती हैं, तब वह आवश्यक रूपसे निष्क्रिय होता है।"* कल्पनाओंकी अपर्याप्तता की मात्राके अनुसार मन भी न्यूनाधिक रूपसे निष्क्रिय होगा; इसके विपरीत, कल्पनाओंकी पर्याप्तताकी मात्राके अनुसार मनभी न्यूनाधिक रूपसे सक्रिय होगा †।"

"शरीर मनको विचारमें नियुक्त नहीं कर सकता और न मन शरीरको गति और स्थितिमें या अन्य अवस्थामें नियत कर सकता है ॐ।" विचारके समस्त प्रकारोंका विचाररूपसे ईश्वर कारण है, इसलिये मनको विचारके प्रकारही विचारमें नियत कर सकता है, विस्तारका प्रकार नहीं। इसी प्रकार, विस्तारके प्रकारको भी विचारका प्रकार नियत नहीं कर सकता। यह पहिले बतलाया जा चुका है कि शरीर और मन एकही वस्तु है जिसका विचार दो तरहसे अर्थात् विचार और विस्तार की दृष्टिसे किया जाता है। इसलिये वस्तुओंका क्रम और संबंध विचार और विस्तार रूपमें समान रहता है। इसके फलस्वरूप हमारे शरीरकी सक्रिय या निष्क्रिय अवस्थाओंका क्रम हमारे मनकी सक्रिय या निष्क्रिय अवस्थाओंके क्रमसे समकालीन होता है।

"यद्यपि उपर्युक्त बातें इतनी निस्संदिग्ध और स्पष्ट है, तथापि कुछ लोगोंको (मुख्यतः डेकार्ट और उसके अनुयायियोंसे अभिप्राय है) इस बातका इतना दृढ निश्चय है कि मनकी आज्ञासेही शरीरको गति और स्थिति मिलती है, या शरीर केवल मनकी इच्छाके या विचारके अधीन होकर बहुतसे काम करता है ꣿ।"

डेकार्टने शरीर तथा मनका पूरा पूरा ज्ञान प्राप्त कर सकने का दावा किया था, परंतु स्पिनोझा कहता है कि अभीतक शरीरकी शक्तियोंकी इयत्ता कोई नहीं बतला सका है और न यही बतला सका है कि विस्ताररूप प्रकृतिके नियमानुसार वह क्या क्या कर सकता है। यह तो दूर शरीर-यंत्रकी रचनाका भी कोई इतना अचूक ज्ञान नहीं प्राप्त कर सका है कि वह उसकी संपूर्ण क्रियाओंको समझा सके। शरीर सिर्फ अपने नियमानुसारही ऐसे अनेक काम कर सकता है, जिनकी ओर देखकर मन अचंभेमें पड जाता है।

अब स्पिनोझा अपने शरीरात्मसहचारके पक्षके विरुद्ध तीन आपत्तियां उपस्थापित करके उनका खंडन करता है। ये आपत्तियां इस प्रकार हैं– (१) मन शरीरकी हलचलपर प्रभाव रखता है, यह हमारे अनुभवका विषय है। (२) यहभी हम प्रत्यक्ष देखते हैं कि मन शरीरमें कुछ क्रियाएं उत्पन्न कर सकता है यथा बोलना या चुप रहना। (३) मनके इस नेतृत्वके अभावमें, शरीरकी केवल यंत्रवत् हलचलसे मानवीय कलाओंके रूपमें अभिव्यक्त होनेवाली सोद्देश क्रियाओंकी सम्यक् उपपत्ति नहीं लग सकती।

प्रथम आक्षेपका उत्तर स्पिनोझा यह देता है कि जिस प्रकार हम मनको शरीरकी हलचलपर प्रभाव डालते हुए देखते हैं, उसी प्रकार क्या हम शरीरको मनकी क्रियाओंपर प्रभाव डालते हुए नहीं देखते? शरीर यदि निश्चेष्ट है तो क्या मनभी विचारके अयोग्य नहीं हो जाता? परंतु जिस प्रकार विपक्षी द्वितीयानुभवसे यह निष्कर्ष नहीं निकालते कि शरीर मनकी क्रियाओंको नियत करता है, उसी प्रकार कोई वजह नहीं कि प्रथमानुभवसे यह सिद्ध किया जाय कि मन शरीरकी हलचलको नियत करता है। हमारा अनुभव सिर्फ इतनाही है कि शरीर और मनकी क्रियाएं एक साथ होती देखी जाती है और इस विषयमें तो उसके स्वयंका शरीरात्मसहचारका मत अधिक सोपपत्तिक है, कारण उसमें शरीर तथा मनकी पारस्परिक क्रियाओंका प्रश्नही नहीं उठता। द्वितीय आक्षेपका समाधान उसीके समान है जो पहिले अनेक अवसरोंपर स्पिनोझा

+ प. ३ वही. * वही वि. १ † वही वि. १ उ. सि. ॐ वही वि. २ ꣿ वही स्प.

दे चुका है, अर्थात् मनके स्वतंत्र वर्तृत्वकी हमारी कल्पना भ्रांत है जो आपाततः स्वतंत्र दीखनेवाली प्रत्येक क्रियाके अनंत कारणोंके अज्ञानके कारण उत्पन्न होती है। तृतीय आक्षेपका उत्तर यह है कि प्रतिपक्षी शरीरकी शक्तिकी मर्यादा नहीं बाध सकते, या शरीरके स्वभावके कारणही उससे क्या क्या बातें सिद्ध हो सकती हैं, यहभी नहीं कह सकते। ''

इस प्रकार अपना शरीरात्मसहचारका सिद्धांत प्रस्थापित करके स्पिनोझा तृतीय विधानमें कहता है कि " मनकी क्रियात्मकताएं (Activities) सिर्फ पर्याप्त कल्पनाओंसे उत्पन्न होती हैं और निष्क्रिय अवस्थाएं (Passive states) सिर्फ अपर्याप्त कल्पनाओंपर अवलंबित हैं। इस विवेचनके बाद अब हम स्पिनोझाकी भावोंकी परिभाषा भली भांति समझ सकेंगे। " भाव शरीरके ऊपर होनेवाले वे परिणाम मय उनकी कल्पनाओंके हैं जिनके द्वारा शरीरकी सक्रिय शक्तिकी वृद्धि या ऱ्हास होता है, उसमें योग होता है या प्रतिबंध होता है। जब इन परिणामोंमेंसे किसीके हम पर्याप्त कारण होते है, तब उस भावको मैं क्रियाशीलता (Activity) कहता हूं। अन्यथा वह निष्क्रियता (Passion) या वह अवस्था है जिसमें मन निष्क्रिय होता है×''। भावोंकी यह परिभाषा डेकार्टके शरीर-मनकी पारस्परिक क्रियाके सिद्धांत (Inter-actionism) के विरुद्ध और स्पिनोझाके स्वयंके शरीरात्म-सहचार (Mind body parallelism) के सिद्धांतके अनुसार ही है। भाव शरीरपर होनेवाले परिणाम और उन परिणामोंकी कल्पनाएं मिलकरही हैं। परंतु परिणाममात्र कहनेसे चाहे जिस प्रकारके परिणाम भाव होने लगेंगे अतएव उनकी व्यावृत्ति करनेके लिये सिर्फ वेही परिणाम अपनी कल्पनाओंके सहित भाव कहे गये हैं, जिनके द्वारा स्वयं शरीरकी क्रियात्मक शक्तिकी वृद्धि या ऱ्हास हो, जो इस शक्तिके सहायक हों या इसमें रुकावट डालें। औरभी, चूंकि हम इनमेंसे किसीभी भावके पर्याप्त या अपर्याप्त और आंशिक कारण हो सकते हैं, अतएव ये भाव या तो क्रियाएं (Actions) हैं, या निष्क्रियताएं (Passions)।

२. प्रयत्न और प्रमुख निष्क्रिय भाव

अब स्पिनोझा वि. ४ १० तक उस सिद्धांतका प्रतिपादन करता है जो मनुष्यके भावात्मक जीवनमें और स्पिनोझाके तत्वज्ञानके व्यावहारिक पक्षमें अत्यंत महत्वपूर्ण स्थान रखता है। ऊपर शारीरिक शक्तिकी वृद्धि या ऱ्हासका उल्लेख किया जा चुका है, परंतु प्रश्न यह है कि इस वृद्धि या ऱ्हासकी कसौटी क्या है ? स्पिनोझाके अनुसार यह कसौटी है वह प्रयत्न जिसके द्वारा प्रत्येक वस्तु अपना स्वत्व कायम रखनेके लिये उद्योगशील रहती है। यह प्रयत्नही मनुष्यके भावात्मक जीवनमें अत्यंत महत्वपूर्ण स्थान रखता है। शरीरपर होनेवाला प्रत्येक परिणाम शरीरकी क्रियात्मक शक्तिकी वृद्धि वहींतक करता हुआ कहा जाता है, जहांतक वह इस आत्मसंरक्षणकी प्रवृत्तिकी वृद्धि करता है। इसी प्रकार इस प्रवृत्तिका ऱ्हास करनेमें ही वह शरीरकी क्रियात्मक शक्तिकाभी ऱ्हास करता है। आत्मसंरक्षणका यह प्रयत्न निसर्गका आद्य नियम है और हमारे भावात्मक जीवनकी बुनियाद है।

पाश्चात्य दर्शनेतिहासमें आत्मसंरक्षणका यह सिद्धांत (the principle of self-preservation) एक लंबे अर्सेसे चला आकर स्पिनोझाके समयतक बिलकुल रूढ हो चुका था। इस सिद्धांतके भावपक्षके साथही आत्मघात की स्वाभाविक प्रवृत्तिका अभावभी है। यहभी इतनाही रूढ है। स्पिनोझा इन दोनोंका वर्णन करता है, प्रथम वह अभाव पक्षकोही लेता है। " किसीभी वस्तुका नाश उस वस्तुके स्वरूपसे बहिर्भूत कारणके बिना नहीं हो सकता +। " आत्मघातकी प्रवृत्ति स्वाभाविक नहीं है। " मैं कहता हूं कि ऐसा कोई भी नहीं है जो बाह्य कारणोंके दबावके बिना स्वस्वभावकी आवश्यकतासेही अन्नका परित्याग करता है या आत्मघात कर लेता है *।" इसलिये वस्तुस्वरूपमें ऐसी कोई बात नहीं जो अपने स्वयंके विनाशका कारण हो सके। " एक ही विषयमें दो ऐसी विरोधी बातें नहीं रह सकतीं जिनमेंसे एक दूसरीका नाश कर सके ॥।" अतएव भावपक्षमें " प्रत्येक वस्तु स्वभावतः अपना स्वत्व या अस्तित्व बनाए रखनेमें यत्नशील रहती है § "। परंतु आत्मरक्षाका यह प्रयत्न स्वतंत्र इच्छाका कार्य नहीं; यह तो दैवी स्वभावकी आवश्यकतासे ही निर्धारित है, जिसके द्वारा समस्त वस्तुएं सत्ता रखती हैं और क्रियाशील हैं। " वह प्रयत्न जिसके द्वारा प्रत्येक वस्तु अपने आपको

× नी. शा. भा. ३ प. ३ + वही वि. ४ * नी. शा. भा. ४, वि. २० स्प ॥ नी. शा. भा. ३ वि. ५ § वही, वि. ६

Regd. No. B. 1463

मुद्रक आणि प्रकाशक- व० श्री० सातवळेकर, भारत-मुद्रणालय, औन्ध.

वैशाख सं. २००२
जून १९४५

विषयसूची।

१ धनप्राप्तिके साधन १
१ मधुच्छन्दा ऋषिका दर्शन २
३ ,, ,, ,, संपादक ३३-४०
४ गीताका राजकीय तत्त्वालोचन
संपादक १-३२
५ स्पिनोझा और उसका दर्शन
पं० श्री० मा. चिंगळे, M. A. ९७-१०४

संपादक
पं. श्रीपाद दामोदर सातवळेकर

वार्षिक मूल्य
म. ऑ से ५) रु.; वी. पी. से ५।=) रु.
विदेशके लिये १५ शिलिंग।
इस अंकका मू. ॥) रु.

क्रमांक ३०६

प्रथम भाग तैया

आज वेद की जो संहिताएँ उपलब्ध हैं, एक ही जगह उन मंत्रों को इकट्ठा करके यह दै देवताओंके मंत्र हैं-

देवता	मंत्रसंख्या	पृष्ठसंख्या	मूल्य	डाकव्यय
१ अग्निदेवता	२४८३	३४६	३) रु.	।।।)
२ इंद्रदेवता	३३६३	३७६	३) रु.	।।।)
३ सोमदेवता	१२६१	१५०	२) रु.	॥)
४ मरुद्देवता	४६४	७२	१) रु	।)

इस प्रथम भाग का मू. ६) रु. और डा. व्य. १॥) है।

इस में प्रत्येक देवता के मूल मन्त्र, पुनरुक्त-मंत्रसूची, उपमासूची, विशेषणसूची तथा अकारानुक्रम से मंत्रोंकी अनुक्रमणिका का समावेश तो है, परंतु कभी कभी उत्तरपदसूची या निपातदेवतासूची इस भाँति अन्य भी सूचीयाँ दी गयी हैं। इन सभी सूचीयों से स्वाध्यायशील पाठकों की बडी भारी सुविधा होगी।

संपूर्ण दैवतसंहिताके इसी भाँति तीन विभाग होनेवाले हैं और प्रत्येक विभाग का मूल्य ६) रु. तथा डा. व्य. १॥) है। पाठक ऐसे दुर्लभ ग्रन्थ का संग्रह अवश्य करें। ऐसे ग्रन्थ बारबार मुद्रित करना संभव नहीं और इतने सस्ते मूल्य में भी ये ग्रन्थ देना असंभव ही है।

वेदकी संहिताएं।

वेद की चार संहिताओंका मूल्य यह है-

	मूल्य	डा० व्य०
१ ऋग्वेद (द्वितीय संस्करण)	६)	१।)
२ यजुर्वेद	२॥)	॥)
३ सामवेद	३॥)	।।)
४ अथर्ववेद (द्वितीय संस्करण)	६)	१)

इन चारों संहिताओंका मूल्य १८) रु. और डा. व्य. ३) है अर्थात् कुल मूल्य २१) रु. है। परन्तु पेशगी म० आ० से सहूलियतका मू० १८) रु० है, तथा डा० व्यय माफ है। इसलिए डाकसे मंगानेवाले १५) पंद्रह रु० पेशगी भेजें।

यजुर्वेद की निम्नलिखित चारों संहिताओं का मूल्य यह है- ।

	मूल्य	डा० व्य०
१ काण्व संहिता (तैयार है)	४)	॥)
२ तैत्तिरीय संहिता	६)	१)
३ काठक संहिता (तैयार है)	६)	१)
४ मैत्रायणी संहिता	६)	१)

वेदकी इन चारों संहिताओं का मूल्य २२) है, डा. व्य. ३॥) है अर्थात् २५॥) डा. व्य. समेत है। परंतु जो ग्राहक पेशगी मूल्य भेजकर ग्राहक बनेंगे, उनको ये चारों संहिताएं २२) रु० में दी जायंगी। डाकव्यय माफ होगा।

– मंत्री, स्वाध्याय-मण्डल, औंध, (जि० सातारा)

वैदिकधर्म

वर्ष २६ | क्रमांक ३०६, वैशाख संवत् २००२, जून १९४५ | अङ्क ६

धन-प्राप्तिके साधन

इन्द्र वाजेषु नोऽव सहस्रप्रधनेषु च ।
उग्र उग्राभिरूतिभिः ॥

(ऋ १।७।४)

'हे इन्द्र' तू उग्र वीर है; इसलिये तू वीरतासे होनेवाले संरक्षणोंसे सब युद्धोंमें हमारी सुरक्षा कर; तथा धन-प्राप्तिके सहस्रों साधनोंसे हमें युक्त करके हमारी सुरक्षा कर।'

मनुष्य वीर बने, अपने अन्दर वीरता बढावे, साथ ही साथ वीरतासे होनेवाले सहस्रों सुरक्षाके साधनोंसे युक्त बनकर अपनी उत्तम रक्षा करे। अपनी सुरक्षा करना हरएकका कर्तव्य ही है, अत्यत आवश्यक कर्तव्य है। इसके न करनेसे अपरिमित हानि होती है। इसी तरह अपनी सुरक्षाके लिये धनको प्राप्त करना आवश्यक है। धन भी सुरक्षाका उत्तम साधन हो सकता है। धनका उत्तम उपयोग करनेसे मनुष्यकी उन्नति हो सकती है। मनुष्य धनका दुरुपयोग न करे। धनका दुरुपयोग करनेसे मानवकी गिरावट होगी,। पर वह मानवका दोष है, धनका नहीं।

मधुच्छन्दा ऋषिका दर्शन

मन्त्रद्रष्टा ऋषि

इस अंकमें मधुच्छन्दा ऋषिका दर्शन समाप्त हुआ है। ऋषि द्रष्टा हैं। 'ऋषियो मन्त्रद्रष्टारः।' अतः उनके मंत्रोंका नाम दर्शन है। ऋग्वेदमें मधुच्छन्दा ऋषिके ये मन्त्र हैं।

ऋषिका दर्शन

इसके नंतर 'मेधातिथि ऋषिका दर्शन' प्रकाशित होगा। इस तरह अनेक ऋषियोंके दर्शन वैदिक धर्ममें प्रकाशित किये जायेंगे और इन दर्शनोंमें वेदकी विद्या पाठकोंके सामने आ जायगी।

आर्षेय और दैवत संहिता

ऋग्वेद प्राय. 'आर्षेय संहिता' है। आर्षेय संहिता उस संहिताको कहते हैं कि जिसमें एक ऋषिके मन्त्र इकट्ठे रहते हैं। ऋग्वेदमें नवम मण्डलमें सोमदेवताके मन्त्र हैं। यह नवम मण्डल 'दैवत-संहिता' का नमूना है। दैवत-संहितामें एक देवताके मन्त्र इकट्ठे रहते हैं। ऋग्वेदमें नवम मण्डलमें केवल सोमदेवताके मन्त्र हैं, तथा सामवेद पूर्वार्धमें अग्नि, इन्द्र और सोमके मन्त्र हैं। ये नमूने दैवत-संहिताके हैं। इन नमूनोंको सामने रखकर स्वाध्याय-मंडल द्वारा दैवत-संहिताके दो भाग प्रसिद्ध हुए हैं और तीसरा भाग छप रहा है।

दैवत-संहिताके ये दो भाग ग्राहकों और पाठकोंको इतने पसंद आये कि ये ग्रन्थ अपेक्षासे बहुत ही जल्दी समाप्त हुए हैं और उनका मुद्रण पुनः द्वितीय वार करनेकी आवश्यकता अब उत्पन्न हुई है। प्रतिदिन इनकी मांग बढ रही है और इस कारण हमारे पासके ये सब ग्रन्थ शीघ्र ही समाप्त होंगे।

सुबोध भाष्य

दैवत-संहिताका अनुवाद शनैः शनैः प्रसिद्ध हो रहा है। मरुद्देवता का मन्त्रसंग्रह प्रसिद्ध हुआ है, अश्विन देवताका मन्त्र-संग्रह छप रहा है। इसी तरह आगे अन्यान्य देवताओंका मन्त्र-संग्रह छप जायगा।

'मधुच्छन्दा ऋषिके दर्शन' जैसे ग्रन्थ प्रसिद्ध करके हम ऋग्वेदका सुबोध भाष्य प्रकाशित कर रहे हैं। यह क्रमशः ऋग्वेदका ही भाष्य होगा। यह अत्यंत सुबोध है और इसमें प्रत्येक मन्त्रके प्रत्येक शब्दकी और वाक्यकी सुबोध चर्चा रहेगी। इसलिये इसके पाठसे ऋग्वेदका आशय तथा ऋग्वेद द्वारा प्रकट हुआ मानवधर्म पाठकोंके सामने प्रकाशित हो जायगा।

इसमें प्रत्येक ऋषिके ऋग्वेदमें आये मन्त्र इकट्ठे दिये जायेंगे। इस कार्यके लिये अष्टम तथा नवम मण्डलके मंत्र स्थान स्थानके ऋषियोंके मंत्रोंके साथ लेने पडेंगे जैसे इस मधुच्छन्दा ऋषिके दर्शनमें नवम मण्डलका एक सोम-देवताका सूक्त लिया है। तथा मधुच्छन्दाके मंत्रोंके साथ उसके पुत्र जेता ऋषिके मन्त्र भी दिये गये हैं।. जहां थोडे मन्त्र होंगे, वहां ऐसा किया जायगा।

वेदविद्या

यदि पाठक इन ऋषियोंके इन दर्शनोंको पढेंगे, तो उनको वैदिक विद्याके साथ अच्छा परिचय हो जायगा। इन मंत्रोंका मनन करनेके समय इन मंत्रोंसे सिद्ध होनेवाली नाना विद्याओंका विचार भी पाठकोंको करना चाहिये। इन मंत्रोंसे दार्शनिक सिद्धान्त, स्तुतियोंके आदेश और आचार-व्यवहारके नियम प्रसिद्ध होंगे। पाठक इनका मनन जहांका, वहां करेंगे तो वह उनके लिये अच्छा ही सिद्ध होगा।

आशा है कि पाठक इस तरह अध्ययन करके अधिकसे अधिक लाभ उठावेंगे।

—संपादक

ऋग्वेदका सुबोध भाष्य

(१)

मधुच्छन्दा ऋषिका दर्शन

(अनुवाक १-३)

लेखक

महाचार्य पण्डित श्रीपाद दामोदर सातवळेकर,

स्वाध्याय-मण्डल, औंध (जि० सातारा)

संवत् २००२, सन १९४५

मूल्य १) रु.

वैदिक दर्शन

मधुच्छन्दा ऋषिका दर्शन

अध्ययन की पद्धति

वेदका अध्ययन करना वैदिक धर्मियोंके लिये अत्यंत आवश्यक है। वेदका अध्ययन दो रीतियोंसे होना संभव है और आवश्यक भी है।

(१) एक देवतानुसार मंत्रोंका अध्ययन । और

(२) दूसरा ऋषिके अनुसार मंत्रोंका अध्ययन ।

देवताके मंत्रोंका अध्ययन करनेकी सुविधा करनेके उद्देश्यसे "दैवत-संहिता" बनायी है और देवतानुसार मंत्रोंके अनुवाद प्रकाशित किये जा रहे हैं। इस समयतक, "मरुद्देवता"के मंत्रोंका अनुवाद प्रकाशित हुआ है और "अश्विनौ" देवताके मंत्रोंका अनुवाद छप रहा है। आगे अन्यान्य देवताओंके मंत्रोंके अनुवाद इसीतरह प्रकाशित किये जायेंगे।

दैवत और आर्षेय मंत्रसंग्रह

ऋषिके क्रमानुसार मंत्रोंका संग्रह ऋग्वेदमें है। अतः ऋग्वेद संहिता 'आर्षेय संहिता' ही है। केवल नवम मण्डलमें सोमदेवताके मन्त्र ऋषिक्रममें संमिलित होना आवश्यक है।

यह पुस्तक 'आर्षेय संहिता' का प्रथम भाग है। इसमें मधुच्छन्दा ऋषिके मंत्रोंका अनुवाद है। इसीतरह आगे अन्यान्य ऋषियोंके मंत्रोंका अनुवाद प्रसिद्ध किया जायगा। इससे एक एक ऋषिके मंत्रोंका भाव पाठक सहज हीसे समझ जायेंगे।

मन्त्रोंके द्रष्टा

ऋषि 'मंत्रोंके द्रष्टा' होते हैं। इसलिये '...ऋषिका दर्शन' ऐसा इसका नाम रखा है। इस पुस्तकका नाम 'मधुच्छन्दा ऋषिका दर्शन' है। आगेका ग्रन्थ 'मेधातिथि ऋषिका दर्शन' इस नामसे प्रकाशित किया जायगा और इसी क्रमानुसार आगे ऋग्वेदका अनुवाद क्रमपूर्वक प्रकाशित होता रहेगा।

यथार्थ ज्ञान

'आर्षेय-संहिता' और 'दैवत-संहिता' इन दोनों क्रमोंके अनुसार वेदका अध्ययन हुआ तो यथार्थ रीतिसे वेदाध्ययन हुआ ऐसा समझना योग्य है। आशा है कि यह प्रयत्न वेदकी विद्या वैदिक धर्मियोंके अन्दर प्रसृत करनेके लिये सहायक होगा और वेदका ज्ञान फैलानेके लिये इससे योग्य सहायता होगी।

निवेदनकर्ता
श्रीपाद दामोदर सातवलेकर
अध्यक्ष, स्वाध्याय-मण्डल
औंध (जि० सातारा)

अंगुलियोंसे वह पकडा जाता है और दोनों हाथोंकी अंगुलियोंसे बडी शक्ति लगाकर दोनों ओरसे दबाकर रस निकाला जाता है।

अष्टम मंत्रमें वही फिरसे कहा है। तीन पात्रोंमें यह रस रखते हैं। एकके ऊपर दूसरा और दूसरेपर तीसरा ऐसे तीन पात्र रखते हैं और एकसे दूसरेमें और दूसरेसे तीसरेमें वह छाना जाता है। अधिक वार छाननेसेही यह अधिक शुद्ध होता है। यह रस मधुर है और दुःखका निवारण करनेवाला है अर्थात् इसके सेवनसे उत्साह बढता है, शारीरिक क्लेश दूर होते हैं और मनुष्यकी कर्मशक्ति बढती है।

नवम मंत्रमें सोमरसको बालक या पुत्र कहा है। सोमवल्ली माता है, और वह रस उसका पुत्र है। इसको गौवें दूध पिलाती हैं। इस तरह दूध पीकर यह रसरूपी बालक पुष्ट होता है। यह बडा उत्तम आलंकारिक वर्णन है। सोमरसको अन्य मंत्रोंमें 'शिशु' भी कहा है। इसका तात्पर्य यह है कि सोमरसमें गौका दूध मिलानेके बादही उसका पान करते हैं।

दशम मन्त्रका कथन है कि शूर इन्द्र सोमरस पीकर आनन्द-प्रसन्न होता है और इस उत्साहमें सब शत्रुओंका नाश करता है तथा उनका धन अपने राज्यमें लाकर अपने अनुयायियोंको बांट देता है।

इस मन्त्रोंमें सोमके विषयमें इतना वर्णन है। इस सूक्तमें सोमके कुछ विशेषण वीरताका वर्णन करनेवाले हैं। उनका स्वरूप यह है—

१ रक्षो-हा- राक्षसोंका वध करनेवाला, शत्रुओंका नाश करनेवाला,

२ विश्व-चर्षणिः- सब मानवोंका हित करनेवाला, जनताका हित करनेवाला,

३ वरिवः-धा-तमः— विपुल प्रमाणमें धन देनेवाला, धनका अधिकसे अधिक दान करनेवाला, (तुलना करो 'रत्न-धा-तमः' से। ऋ० १।१।१)

४ मंहिष्ठः— महान्, बडा,

५ वृत्र-हन्तमः— असुरोंका नाशकर्ता, शत्रुओंका नाशकर्ता, रुकावटोंका खूब विध्वंस करनेवाला।

६ सदस्थं आसीद्— अपने स्थानमें रह, अपने देशमें रह, (तुलना करो 'स्वे दमे वर्धमानं' से। ऋ० १।१।८)

७ मघोनां राधः पर्षि— शत्रुके धनिकोंका धन लाकर अपने लोगोंको दो। (सूचना- यह शत्रुके धनको लूटनेकी रीति आजतक चली आयी है।)

ये गुण मानवोंके लिये अपनाने योग्य हैं। इनमें वीरता, दातृत्व आदि गुण विशेष उल्लेखनीय हैं।

मधुच्छन्दा ऋषिका दर्शन

विश्वामित्र पुत्र मधुच्छन्दा ऋषिके देखे मंत्र ऋग्वेदके प्रथम मण्डलमें १०२ हैं, नवम मण्डलमें सोमदेवताके १० मंत्र हैं। अर्थात् कुल ११२ मंत्र ऋग्वेदमें हैं और इसके पुत्र जेता ऋषिके ८ हैं। सब मिलकर १२० मंत्र होते हैं। इन मंत्रोंमें इन दो ऋषियोंका तत्त्वज्ञान ग्रथित है, जिसे अब देखना है और उसका मनन करना है। इन मन्त्रोंका ब्यौरा देवताओंके अनुसार इस प्रकार है।

मधुच्छन्दा वैश्वामित्र

प्रथम अनुवाक।

ऋ. १।१।१—९ अग्निः ९ मन्त्र
२।१—३ वायुः ३ „
१।२।४—६ इन्द्रवायू ३ मंत्र
७—९ मित्रावरुणौ ३
३।१—३ अश्विनौ ३
४—६ इन्द्रः ३
७—९ विश्वे देवाः ३
१०—१२ सरस्वती ३ (मंत्र ३०)

द्वितीय अनुवाक।

४।१—१० इन्द्रः १०
५।१—१० „ १०
६।१—१० इन्द्रामरुतौ १०
७।१—१० इन्द्रः १० (मंत्र ४०)

तृतीय अनुवाक।

१।८।१—१०	इन्द्रः	१०
९।१—१०	,,	१०
१०।१—१२	,,	१२

जेता माधुच्छन्दसः।

११।१-८	इन्द्रः	८ (मंत्र	४०)
			११०
९।१।१—१०	सोमः	१०	१०
			१२०

मधुच्छन्दा वैश्वामित्रके मंत्र	११२
जेता माधुच्छन्दाके ,,	८
	१२०

ऋग्वेद-सूक्तक्रमसे ये मंत्र लिखे हैं, अब देवताके क्रमसे मंत्रसंख्या इसतरह है—

वेदक्रम		मन्त्राधिक्यक्रम	
अग्निः	९ मंत्र	इन्द्रः	७३ मंत्र
वायुः	३ ,,	सोमः	१० ,,
इन्द्रवायू	३ ,,	इन्द्रावरुणौ	१० ,,
मित्रावरुणौ	३ ,,	अग्निः	९ ,,
अश्विनौ	३ ,,	वायुः	३ ,,
विश्वे देवाः	३ ,,	इन्द्रवायू	३ ,,
सरस्वती	३ ,,	मित्रावरुणौ	३ ,,
इन्द्रामरुतौ	१० ,,	अश्विनौ	३ ,,
इन्द्रः	७३ ,,	विश्वे देवाः	३ ,,
सोमः	१० ,,	सरस्वती	३ ,,
	१२० मंत्र		१२० ,,

इन्द्र ७३, सोम १०, इन्द्रामरुतौ १०, अग्नि ९ शेष (१) वायु— (२) इन्द्रवायू— (३) मित्रावरुणौ— (४) अश्विनौ— (५) विश्वे देवाः— (६) सरस्वती इनमेंसे प्रत्येकके तीन तीन मिलकर उक्त छः देवताओंके १८ होते हैं। ये सब १२० हुए।

ऋषि देवताओंका साक्षात्कार करते हैं, उन देवताओंमें वे अपने अतीन्द्रिय दृष्टिसे कुछ विशेष गुणधर्म देखते हैं। इनमें कई गुणधर्म ऐसे हैं कि जो अन्य लोग देख नहीं सकते, केवल अभौतिक दिव्य दर्शन करनेवाले ऋषिही देखते हैं, कविही देख सकते हैं। ये इनके जो दर्शन हैं, वे ऋषियोंके साक्षात्कृत दर्शन हैं। ये दर्शनही मानवधर्मका प्रकाश करनेवाले हैं।

ऋषिकी दृष्टिमें अग्नि जातवेदा है, कवि है, द्रविणोदा है, सोमभी रक्षोहा है। ये गुणधर्म सामान्य जन अग्निमें तथा सोममें देख नहीं सकते। अतींद्रियार्थदर्शी ऋषिही देख सकते हैं। अतींन्द्रियदर्शनसे वेदका काव्य भरपूर भरा है, इस कारणही इस काव्यकी विशेषता है और जो अतीन्द्रिय दृष्टिसे देखा हुआ ऋषियोंका साक्षात्कृत धर्म है, वही इसी कारण इस काव्यमें प्रकट हुआ है, जो मानवोंको मननपूर्वक देखना योग्य है।

इसके देखनेकी कुछ विशेष रीति है, उसी रीतिके अनुसार यह मानवधर्म देखा जा सकता है। जैसा देवता आचार व्यवहार करते हैं, वैसा व्यवहार मानवोंको करना चाहिये। देवताको अपना आदर्श मानना चाहिये और उनके समान बननेका यत्न करना चाहिये।

यद्देवा अकुर्वंस्तत्करवाणि। (श० ब्रा०)
मर्त्या ह वा अग्रे देवा आसुः॥ (श०ब्रा० ११।१।२।१२; ११।२।३।६)

एतेन वै देवा देवत्वमगच्छन्।
देवत्वं गच्छति य एवं वेद। (तां०ब्रा० २२।११।२-३)

'जैसा देव करते हैं वैसा मैं करूंगा। देव प्रथमतः मर्त्यही थे। वे विशेष श्रेष्ठ कर्मके अनुष्ठानसे देवत्वको प्राप्त हुए। जो इस अनुष्ठानको जानता है, वह देवत्व प्राप्त करता है।' ऋग्वेदके मंत्रमें भी कहा है—

मर्तासः सन्तो अमृतत्वमानशुः। (ऋ० १।११०।४)
सायणभाष्य-एवं कर्माणि कृत्वा मर्तासो मनुष्याः अपि सन्तोऽमृतत्वं देवत्वं आनशुः आनशिरे। कृतैः कर्मभिर्लेभिरे। (ऋ० १।११०।४)

'ऋभुदेव प्रथम मर्त्य थे, पश्चात् शुभ कर्म करनेसे देवत्वको प्राप्त हुए।' इस तरह मर्त्य भी देवत्वको प्राप्त होते हैं। देवत्वके गुणकर्मोंको धारण करनेसे मर्त्य देव बनते हैं। यही इस सब प्रतिपादनका तात्पर्य है। इस विवरणका तात्पर्य यह है कि वेदके मंत्रोंमें जो देवोंका गुणवर्णन है, वह मनुष्योंको अपने जीवनमें धारण करनेके लियेही है। देवत्व-प्राप्तिका यही अनुष्ठान है।

इस दृष्टिसे मंत्र और सूक्त देखनेसे, उनसे जो मानव-धर्म मिलना संभव है, वह मनुष्यके मनमें मंत्रके मननसे उतर सकता है। उदाहरणके लिये देखिये—

'इन्द्र वृत्रका वध करता है' यह एक मंत्रका अर्थ है। वृत्रका अर्थ 'घेरकर लडनेवाला शत्रु' है। इस मन्त्रसे मानवको इस क्षात्रधर्मका ज्ञान होता है कि 'मनुष्य अपने शत्रुका नाश करे।' इसीतरह अन्यान्य मन्त्रोंके विषयमें जानना उचित है। वेदमंत्रोंसे मानवधर्म इस तरह प्रकट होता है।

देवताके स्थानमें उपासक अपने आपको रखे और मन्त्रोक्त वर्णन अपना वर्णन होनेके लिये कितने अधिक अनुष्ठानकी आवश्यकता है, इसकी परीक्षा करे। सोम आदि देवताओंके विषयमें विशेष आलंकारिक रीतिसे बोध लेना पडेगा। सोम-(स+उमा)— विद्या (उमा) है, उसके समेत विद्वान्‌ही सोम है। इस सोमका ज्ञानरूप रस है, वही सोमरस है। हरएक मनुष्य ज्ञान ग्रहण करता है यह शिष्य गुरुरूपी सोमके ज्ञानरूप रसको पीता है और ज्ञान ग्रहण करके समर्थ और प्रभावी होता है। इस-तरह सोमके विषयमें जानना चाहिये।

मन्त्रोंसे अनुष्ठानकी रीति इस तरह जानी जा सकती है। पाठक मंत्रोंका मनन करते जायेंगे तो उनको इस बातका पता लगता जायगा। यहां संकेतमात्र लिखा है। प्रत्येक देवताके लिये पृथक् विवरण करना आवश्यक है। परंतु देवताके समान अपना जीवन करनाही अनुष्ठानका मुख्य सूत्र है, इसमें संदेह नहीं है। अब मधुच्छन्दा ऋषिके दर्शनका विचार कीजिये। मधुच्छन्दा ऋषिने जो मन्त्र देखे वे यहां १२० हैं। इस ऋषिने कौनसा आदर्श देवता-ओंमें देखा और उन्होंने वह जनताके सम्मुख रखा है, इस बातका अब विचार करना है।

अग्नि देव— [आदर्श ब्राह्मण]

प्रथम अनुवाक।

मधुच्छन्दा ऋषिके इन मन्त्रोंमें अग्निदेवके वर्णनके लिये ९ मन्त्र हैं। इनमें निम्न लिखित आदर्श ऋषिने देखा है—

[१] इस सूक्तके 'पुरोहित, ऋत्विक्, होता (मं०१)' ये पद पौरोहित्यके, अर्थात् ब्रह्मकर्मके बोधक हैं। इन पदोंसे पौरोहित्य, ऋत्विक्कर्म और हवन करनेका भाव प्रकट होता है। इसतरह अग्नि देवताके मंत्रोंमें ब्राह्मणधर्मकी झलक दीखती है। 'होता' पद ५ वें मन्त्रमें भी पुनः आया है। वह देवोंको बुलाने, आवाहन करनेका बोध करता है।

[२] छठे मंत्रका 'अंगिरः (मं० ६) पदभी अग-रस-विद्याके प्रचारक तथा अग्निकी उत्पत्ति करके यज्ञ-विद्याके प्रवर्तक आंगिरस ऋषिका सूचक है।

[३] 'सत्य' (५) और 'ऋतस्य गोपा' (८) सत्यका रक्षक ये पदभी सत्यपालन करनेका गुण बता रहे है। यमनियममें सत्यपालन एक व्रत है, जो इन पदोंसे बताया है। 'यज्ञस्य देवः' (म० १) ये पद यज्ञका प्रकाशक होनेका भाव बता रहे हैं। यज्ञमार्गका प्रवर्तन करनेका भाव इससे स्पष्ट होता है।

[४] 'अध्वरं परिभूः' (म० ४) हिंसारहित यज्ञ-का करनेवाला है। इसके कर्ममें हिंसा नहीं होती। यम-नियमपालनमें 'सत्य'के विषयमें पहिले कहा, अब 'अहिंसा'के विषयमें यह निर्देश है। अ-हिंसाके लिये यहॉं 'अध्वर' पद है। जो अहिंसामय कर्म है, वही 'स देवेषु गच्छति' (४) देवोंके पास पहुंचता है। देव उस कर्मका स्वीकार करते हैं कि जो हिंसारहित होता है। हरएकको इस कारण हिंसारहित कर्म करने चाहिये। इस तरह कर्ममें अहिंसाका पालन करना आवश्यक है। 'अध्वराणां राजन्' (म० ८) अहिंसापूर्ण कर्मोंसे प्रकाशना आवश्यक है। मनुष्यको अहिंसापूर्ण कर्मोंसेही अपना यश बढाना चाहिये। अहिंसामय कर्म करनाही मानवोंका श्रेष्ठ धर्म है। अहिंसा और अकुटिलताही मानव-धर्मका मुख्य सूत्र है।

[५] 'कवि-क्रतु.' (५) 'कवि' पद ज्ञानीका वाचक है और 'क्रतु' पद ज्ञान, प्रज्ञा और कर्मका वाचक है। ज्ञानपूर्वक कर्म करने चाहिये। ज्ञानी और कर्मप्रवीण होने-की सूचना इससे मिलती है।

[६] 'स्वे दमे वर्धमान.' (८) अपने स्थानमें वृद्धि-को प्राप्त होना। अपने देशमें उन्नतिको प्राप्त करना चाहिये। उन्नति या प्रगतिका भाव यह है—

[७] रयिं पोषं वीरवत्तमं यशसं अश्नवत् (३) 'धन, पोषण और वीरोंका यश प्राप्त करना चाहिये।' अर्थात् वीरोंके साथ रहनेवाला धन, वीरोंके साथ रहनेवाला पोषण और वीरोंका यश प्राप्त करना चाहिये। यही 'चित्र-श्रवः-तमः' (५) विलक्षण यश है, यही श्रेष्ठ यश है। इसको प्राप्त करनेके लिये–

[८] 'देव देवेभिः आगमत्' (५) स्वयं देवत्व प्राप्त करे और वैसेही दिव्य गुणोंवाले भद्र पुरुषोंके साथ रहे। स्वयं भद्र पुरुष बनना और भद्र पुरुषोंके साथ रहना चाहिये। विशेष यश और वीरोंका यश प्राप्त करनेका यही साधन है।

[९] 'दाशुषे भद्रं करिष्यसि।' (६) दाताका कल्याण करो। जो मनुष्य उदार है, अपने धनका जनताकी भलाई करनेके लिये दान देता है, उसका भला करना सबका कर्तव्यही है। दानही एक मार्ग है जिससे सबका सच्चा हित होता है।

[१०] 'स्वस्तये सचस्व' (९) कल्याण करनेका यत्न कर। यह कल्याणका मार्ग दानके साथ जाता है।

[११] 'पिता सूनवे सूपायनः' (९) पिता पुत्रको जैसा सुप्राप्य है वैसा तू बन। धन और पराक्रमकी घमंडमें बैठकर दूसरोंको अप्राप्य न बन।

[१२] 'दिवेदिवे दोषावस्तः धिया नमो भरन्तः' (७) प्रतिदिन रात्रिमें और दिनमें बुद्धिसे नम्र होकर ईश्वरकी उपासना करो। यह बुद्धिकी शक्ति बढानेका मार्ग है।

यह मानवके सामने आदर्श ब्राह्मणका रूप मधुच्छन्दा ऋषिने अग्निके वर्णनसे इस सूक्तके द्वारा रखा है। इसका संक्षेपसे यह आशय है— (१) पौरोहित्य, ऋत्विक्कर्म, तथा हवनकर्ममें प्रवीण बन, (२) अंगरसकी विद्यामें, चिकित्साशास्त्रमें प्रवीण हो, (३) सत्यका पालन कर, (४) हिंसारहित कर्म कर, ऐसे कर्म कर कि जो देवोंको पसंद होंगे, (५) ज्ञानी बनकर, प्रज्ञाको विज्ञानमय करके, श्रेष्ठ कर्म कर, (६) अपने स्थानमें श्रेष्ठ बन, (७) धन, पोषण और वीरोंका यश प्राप्त कर, (८) श्रेष्ठ बन और श्रेष्ठोंके साथ रह, (९) उदार दाताका कल्याण कर, (१०) सबका हित करनेका यत्न कर, (११) जैसा पिता-पुत्र संबंध प्रेमका होता है, वैसा प्रेमका संबंध निर्माण कर। कभी द्वेष न कर। (१२) प्रतिदिन सुबह शाम ईश्वरोपासना मनको नम्र करके कर।

इतने शुभ गुणोंसे युक्त होनेसे मनुष्य देवत्वको प्राप्त करता है। यह दर्शन मधुच्छन्दा ऋषिने किया, जो इस सूक्तमें मानवधर्मके रूपमें हमें भी इन मंत्रोंके मननसे प्राप्त हो सकता है।

वेदोंमें अग्निवर्णनके सूक्तोंमें आदर्श ब्राह्मणका स्वरूप इस तरह है।

(२-१) वायुदेव (आदर्श क्षत्रिय)

द्वितीय सूक्तमें प्रथम त्रिक वायुदेवका है, जो मधुच्छन्दा ऋषिके दर्शनमें दूसरा है। इसमें मुख्य वाक्य यह है–

'हे दर्शत वायो ! आ याहि। हवं श्रुधि।
तव पपृक्षती उरूची धेना दाशुषे जिगाति।'

इसका आशय यह है– 'हे दर्शनीय वायो ! यहां आओ, और हमारी प्रार्थनाको सुन लो। तेरी हृदयस्पर्शी विस्तृत वाणी दाताकाही वर्णन करती है।'

यहां वायुका यौगिक अर्थ 'गतिमान् और शत्रुनाशक' है। (वा– गति-गन्धनयोः) जो अपनी तथा अपने समाजकी प्रगति करता है और जो शत्रुका नाश करता है वह वीर वायु है। वायुकाही वर्णन 'मरुत्' देवताके वर्णनसे वेदमें अन्यत्र आया है, जो वीरोंकाही वर्णन है। वायुही मरुत् हैं और वे मरनेतक उठकर लडनेवाले वीर हैं। इससे वायुका वर्णन वेदमें वीरोंका वर्णन है, यह बात स्पष्ट होती है। वायु जब प्रचण्ड वेगसे चलने लगता है, तब वह वृक्षोंको उखाड देता है, यही वीरोंका शत्रुको स्थानसे उखाड देना है।

वायुका प्रतिनिधि शरीरमें 'प्राण' है। शरीरमें प्राण अशुद्धिको दूर करता और बलको स्थापन करता है। प्राणही वीरभद्र है और रुद्र भी है। वे सब वीरही हैं। इस तरह वायु वीरत्वका प्रतीक माना गया है और इससे वेदमें क्षात्रधर्म प्रकट होता है। पाठक **मरुद्देवताके, प्राणदेवताके और वायुदेवताके** सूक्तोंमें वीरोंका पर्याप्त वर्णन देख सकते हैं। वैदिक ऋषि वायुदेवतामें क्षात्रभाव देखते हैं।

राजा, राजपुरुष, सेनापति, सैनिक आदि क्षत्रिय हैं, जो वायुके रूप हैं।

क्षत्रिय (दर्शत) दर्शनीय, सुंदर और सजधजसे रहनेवाले हों। वे सजकर बाहर आयें और सुन्दरतायुक्त वेषभूषासे समाजमें रहें और विचरें। इससे उनका प्रभाव जनतापर अत्यधिक हो सकता है। वे जनतामें सुंदर बनकर भ्रमण करें और (हवं श्रुधि) सब जनताकी पुकार सुनें। अर्थात् जनताके कष्ट जानें, उनकी परिस्थिति समझ ले। समझकर उनकी उचित सहायता करें; यह आशय यहां है।

क्षत्रियको उचित है कि वह (पपृञ्चती उरूची धेना) अपनी वाणीको हृदयस्पर्शी बनावे, वह जब बोले तब ऐसा बोले कि जो जनताका (पपृञ्चती) हृदय हिला देवे। दिलको हिला देनेवाला भाषण करे, (उरूची) विस्तृत विचारका प्रचार अपनी वाणीसे करे अर्थात् संकुचित विचारोंको अपने भाषणमें स्थान न दे। केवल व्यक्तिगत हितका विचार संकुचित विचार है और संपूर्ण मानवताका विचार विस्तृत विचार है। इसीका नाम (उरूची) विस्तृत भाव है। क्षत्रियके मनमे संकुचित भाव न रहे, पर विस्तृत, व्यापक और संपूर्ण मानवका भाव उसके मनमें रहे और वही उसकी वाणीसे प्रकट हो जावे। अर्थात् क्षत्रियके भाषणमें हृदय हिलानेकी शक्ति हो और व्यापक विचार हों और (धेना) उसकी वाणी तृप्ति और संतुष्टि करनेवाली हो तथा वह दाताकीही प्रशंसा करे। हर किसी कंजूसका वर्णन न करे। कंजूसका वर्णन न हो, पर उदार (दाशुषे) दाताकी ही प्रशंसा होती रहे। दाताही प्रशंसा करने योग्य है।

इस तरह क्षत्रिय वीर क्या बोले, क्या सुने और क्या करे, इसका वर्णन यहां किया है।

ये वीर सोमरसका पान करें, वे सोमरस अत्यंत शुद्ध किये हों। कवि इन क्षत्रियोंके शौर्यके कृत्योंका वर्णन करें। इत्यादि इस सूक्तका अन्य वर्णन पाठक सहजहीसे समझ सकते हैं, जो उन मंत्रोंमें स्पष्टही है।

इस तरह इस द्वितीय सूक्तमें उत्तम क्षत्रियके धर्मका वर्णन किया गया है।

(२-२) इन्द्र और वायु

मधुच्छन्दाके दर्शनेमें द्वितीय सूक्तका द्वितीय त्रिक इन्द्र और वायुका है। इन दोनों देवताओंका इकट्ठा वर्णन इस सूक्तके प्रारंभिक तीन मंत्रोंमें है। 'वायु' देवताके वर्णनमें क्षत्रियका वर्णन है और वायु क्षात्रधर्मका प्रतीक है, नमूना है, यह हमने पूर्व सूक्तमें देख लिया है। इस सूक्तमें इन्द्र देव प्रथम है और वायु उसका साथी है। इन्द्रका अर्थ (इन्+द्र) शत्रुका नाश करनेवाला है। वेदमें इन्द्रका यही एक प्रधान कर्तव्य वर्णन किया है। वह वृत्रादि शत्रुओंका सदा नाश करता है और अपने राष्ट्रको शत्रुरहित कर देता है। अतः यह राजा, राजन्य, राजपुरुष अथवा सेनापति है। इन्द्रको राजा कहते हैं, नरेन्द्र मानवोंके राजाकोही कहते हैं, सेनेन्द्र सेनापति है। देवेन्द्र देवोंका राजा है। इस तरह इन्द्र पद राजा, मुख्य, अधिपति अर्थमें है। वायुपद यहां सहायक सैनिकोंके अर्थमें है।

राजा और सैनिक, सेनापति और सैनिक आदि भाव कविने यहाँ इन इन्द्र वायु देवताओंमें देखे हैं। वस्तुतः इन्द्र विद्युत् है जो उत्तरीय ध्रुवमें सूर्य आनेके पूर्व प्रकाशमय दीप्तियुक्त है, जो सूर्यको लाती और आकाशमें स्थापन करती है। यहां इन्द्रका कार्य वृत्रादि असुरोंसे लडना और उनको परास्त करना तथा प्रकाशका मार्ग खुला करना है।

वायुभी इसका सहायक है। वायु बडे वेगसे चलता है, मेघोंको तितरबितर कर देता है और प्रकाशको खुला मार्ग कर देता है। इस तरह इन्द्रका सहायक वायु है। कविने यहां इन्द्र और वायुमें क्षत्रियोंके गुण देखे और उनके वर्णनसे क्षत्रिय-धर्मका वर्णन किया है। इन तीन मंत्रोंमें निम्न लिखित वाक्य मुख्य वाक्य हैं—

१ हे इन्द्रवायू! प्रयोभिः उप आ गतम्।
२ वाजिनीवसू, द्रवत् उप आ यातम्।
३ हे नरा! धिया मक्षु निष्कृतं उप आ यातम्।

(१) 'सेनापति और सैनिक (शत्रुको परास्त करके) नाना प्रकारके अन्नोंको लेकर यहां हमारे पास आ जायँ, प्रयत्नके साथ हमारे पास हमारी सुरक्षा करनेके लिये रहें। (२) ये अन्नोंको लेकर दौडते हुए अर्थात् शीघ्र हमारे पास आजायँ। (३) हे नेता लोगो! अपनी बुद्धि और कर्मशक्तिके साथ सत्वर यहां आजायँ।' इसका तात्पर्य यह है कि, हमारे सेनापति और सैनिक शत्रुका पराभव

करें, बहुत धन प्राप्त करें, बहुत अन्न प्राप्त करें और उस धन तथा अन्नके साथ हमारे पास आजायँ, हमारी सुरक्षा करें और वह धन और अन्न हमें बांट देवें। अन्य सूक्तोंके वर्णनका विचार साथसाथ करनेसे इस सूक्तसे यह भाव प्रकट होता है। यह क्षत्रियोंका कर्तव्यही है।

इन मन्त्रोंमें जो अन्य वर्णन है वह यही है कि ये इन्द्र और वायु (सेनापति और सैनिक) यहां अन्नके साथ आजायँ और उनके लिये तैयार किया हुआ सोमरस पीलें। इससे यह बात स्पष्ट होती है कि विजयी सैनिक विजय प्राप्त करके जब आते हैं, तब उनका सत्कार करनेके लिये स्थान स्थानपर सोमरस तैयार करके रखे रहें। वे आवें और उन रसोंका सेवन करें।

विजयी वीरोंका सत्कार इस तरह होता रहे, यह इसका आशय है।

(२-३) मित्रावरुणौ

मधुच्छन्दा ऋषिके दर्शनमें द्वितीय सूक्तका तीसरा त्रिक मित्र और वरुण देवताका है। मित्र और वरुण (सूर्य और चन्द्र) ये दो राजा हैं, इनके राज्यमें सभाके द्वारा राज्य चलाया जाता है। प्रजाजनही अपने लिये जैसा चाहिये वैसा राज्य चलाते हैं, अत ऐसे दो राजाओंका आपसमें युद्ध नहीं होता। वे परस्पर मित्रताके साथ रहते हैं।

'मित्र'का अर्थ मित्रभावसे बर्ताव करनेवाला, (मि+त्र) हित करके रक्षा करनेवाला है, । 'वरुण'का अर्थ श्रेष्ठ, वरिष्ठ है। ये इनके स्वाभाविक गुण हैं। ऐसे दो राजा आपसमें लडते नहीं, परंतु परस्पर सहायक होकर एक-दूसरेका भला करते रहते हैं। सब राजा लोग ऐसे बनें और परस्पर न लडते हुए मित्रभावसे परस्पर सहायक बनें, यही वेदका संदेश इन मन्त्रोंद्वारा प्रकट हुआ है।

(पूतदक्षं मित्रं) पवित्रताका बल मित्रके पास है और (रिशादसं वरुणं) शत्रुका पूर्णताके साथ नाश करनेकी शक्ति वरुणके पास है। (रिश-अदस्) शत्रुको खा जानेका बल वरुणका है। ये बल राजाके पास रहने चाहिये। (रिश) जो शत्रु क्रमशः शनैः शनैः नष्ट करता है, उसका नाम 'रिश' है। जैसा जलके स्पर्शसे लोहेका नाश होना है। इस तरह जो शत्रु शनैः शनै नाश करता है, वह 'रिश' कहलाता है।

१. पूतदक्षः रिशादसः च घृताचीं धियं साधन्ता- पवित्रताका बल और शत्रुनाशका सामर्थ्य ये दो शक्तियाँ स्नेहमयी बुद्धिको बढाती हैं और कर्मशक्तिकाभी विकास करती हैं। अर्थात् अपने अन्दर सामर्थ्यभी बढाना चाहिये, परंतु उसका उपयोग पवित्रताके साथ करना चाहिये तथा उस पवित्र बलका उपयोग शत्रुका नाश करनेके लिये करना चाहिये। ऐसा किया जाय, तो बडे बडे महत्त्वपूर्ण कर्म सुसंपन्न हो सकते हैं।

२ ऋतावृधौ ऋतस्पृशौ ऋतेन बृहन्तं क्रतुं आशाथे- सरलताको बढानेवाले, सरलताके साथ रहनेवाले, सरल मार्गसेही बडे बडे कर्मोंको सुसंपन्न करते हैं। यहां 'ऋत' का अर्थ 'न्याय्य, उचित, शुद्ध, ठीक, योग्य, सरल' है। यद्यपि यहां ऋतका अर्थ सत्य किया जाता है, तथापि ऋत और सत्यमें थोडा अन्तर है। जो सच्चा है, जो जैसा बना है वैसा कहना सत्य है, परंतु जो योग्य है वह ऋत कहलाता है। जो सत्य है, न्याय्य, शुद्ध, उचित, योग्य, ठीक, सरल और करने योग्य है, वह ऋत है। सत्य हो, पर ऋत है वा नहीं, यह देखना चाहिये और ऋतकाही आचरण करना चाहिये।

ये मित्र और वरुण ऋतका पालन करनेवाले हैं, सदा ऋतके साथ रहते हैं, इसलिये वे अपने शुद्ध पथसे बडेबडे कार्य सुसंपन्न करते हैं। जहां टेढापन बिलकुल नहीं है, जहां कुटिलता नहीं है, ऐसा सरल शुद्ध और योग्य मार्ग इनका है। दूसरोंको धोखा देना या फंसाना इनके मार्गसे बाहर है। इसी तरह सरल मार्गसे ये अपने सब व्यवहार करते रहते हैं।

३. कवी तुविजाता उरुक्षया अपसं दक्षं आसाथे- ये ज्ञानी विशेष सामर्थ्यसे युक्त हैं, विशाल स्थानमें रहते हैं और शुभ कर्मोंको सुसंपन्न करनेका सामर्थ्य धारण करते हैं। राजा लोग (कवि) ज्ञानी हों, सुविचारी हों, दूरदर्शी हों, (तुवि-जाता) बलके लिये प्रसिद्ध अर्थात् सामर्थ्यवान् हों, (उरु-क्षया) बडे बडे विशाल मंदिरोंमें रहें तथा महान् महान् कर्मोंको सुसंपन्न करनेका सामर्थ्य अपने पास रखें और बढावें।

इन तीन मन्त्रोंमें कहा है कि, राजा लोग आपसमें सर-

लतासे बर्ताव करें, मित्रतासे रहें, सरल और निष्कपट भावसे अपना कार्य करें, अपना बल बढावे और बडे बडे जनताके हितके कार्य करते जाँय। इन मंत्रोंका प्रत्येक पद बडा महत्त्वपूर्ण संदेश देता है। पाठक प्रत्येक पदका विचार करके योग्य मननपूर्वक मन्त्रका संदेश प्राप्त करें।

'मित्र'का अर्थ सूर्य है और 'वरुण का अर्थ चन्द्र है। 'ऋत'का अर्थ जल है। इनमें कविने दिव्य दृष्टिसे राजधर्म देख लिया है जो ऊपरके स्पष्टीकरणमें दर्शाया है।

(३-१) अश्विनौ

मधुच्छन्दा ऋषिके दर्शनमें तृतीय सूक्तका प्रथम त्रिक अश्विनौ देवताका है। अश्विनौ देवता वेदमें औषधि-प्रयोग-द्वारा आरोग्य देनेवाली कही है। अश्विनौ देवतामें दो देव हैं, पर वे साथसाथ रहते हैं, कभी पृथक् नहीं रहते।

दो तारकाएं हैं जिनको अश्विनौ बोलते हैं और जो मध्यरात्रिके पश्चात् उदय होते हैं। ये अश्विनौ हैं ऐसा कहा जाता है। मध्यरात्रिके उपरान्त इनका उदय होता है, ऐसा वेदका वर्णन है। दो वैद्य अश्विनौ हैं ऐसा कई मानते हैं, एक औषधि प्रयोग करनेवाला और दूसरा शस्त्रकर्म करनेवाला है। ये दोनों मिलकर चिकित्साका कार्य करते हैं। दो राजा हैं ऐसाभी कईयोंका मत है। परंतु दो तारकाएँ है, यह मत विशेष ग्राह्य है। ये दोनों तारकाएं साथसाथ रहती हैं, साथसाथ उदयको प्राप्त होती हैं, मध्यरात्रिके पश्चात् उदय होती हैं। अतः इनका नाम अश्विनौ होना संभवनीय है। इनके विषयमें निरुक्तकार ऐसा लिखते हैं-

अथातो द्युस्थाना देवताः। तासामश्विनौ प्रथमागामिनौ भवतः। अश्विनौ यद् व्यश्नुवाते सर्वं, रसेनान्यो, ज्योतिषान्यः। अश्वैरश्विनौ इत्यौर्णवाभः। तत् कावश्विनौ? द्यावापृथिव्याविव्येके, अहोरात्रावित्येके, सूर्याचन्द्रमसावित्येके, राजानौ पुण्यकृतावित्यैतिहासिकाः। तयोः काल ऊर्ध्वमर्धरात्रात्, प्रकाशीभावस्यानु, विष्टम्भमनु, तमोभागो हि मध्यमः, ज्योतिर्भाग आदित्यः। (निरुक्त १२।१।१)

'अब द्युलोकके देवताओंका वर्णन करते हैं। इन द्युलोककी देवताओंमें अश्विनौ प्रथम आनेवाले देव हैं। इनको अश्विनौ इसलिये कहा जाता है कि ये सबको व्यापते हैं। इनमेंसे एक रससे, जलसे, व्यापता है और दूसरा प्रकाशसे व्यापता है। और्णवाभ ऋषिका मत है कि अश्विदेवोंके पास घोडे थे इसलिये उनको अश्विनौ कहा गया। कौन भला अश्विनौ हैं? द्युलोक और भूलोक ऐसा कई कहते हैं, दिन और रात्रि ऐसा कईयोंका मत है, सूर्य और चन्द्र ऐसा कई मानते हैं, पुण्यकर्म करनेवाले ये दो राजा थे ऐसा ऐतिहासिकोंका मत है। ऐसे अश्विनौके संबंधमें नाना मत हैं। इनका समय मध्यरात्रिके उपरान्तका समय है। जब प्रकाश खुलने लगता है और अन्धकार कम होने लगता है, तब अश्विदेवोंका समय है। अन्धकार मेघादिके कारण होता है, इसलिये यह मध्यस्थानीय है और प्रकाश तो सूर्यसेही होता है, इसलिये वह द्युस्थानीय है। इस तरह अश्विनौ देवतामें प्रकाश और अन्धकारका समावेश होता है।'

अश्विदेवोंके विषयमें इतने मतभेद हैं, तथापि इनका उदय मध्यरात्रिके पश्चात् है यह निश्चित है। ये दो तारकाएँ हैं ऐसाभी अनेकवार कहा है। इनके वर्णनमें कविने जो दिव्य ज्ञान देखा, उसका विचार अब करना है-

१ **पुरु-भुजौ**= विशाल बाहुवाले। बाहु हृष्टपुष्ट और सुदृढ करने चाहिये।

२ **शुभस्-पती**= शुभ कर्मोंकी सुरक्षा करनेवाले। वीर अपने बाहुबलसे जनताके शुभ कर्मोंकी रक्षा करे और सर्वत्र शुभ कर्म होने योग्य परिस्थिति निर्माण करें।

३ **द्रवत्-पाणी**= हाथोंसे अति शीघ्रतासे कार्य करनेवाले। हाथोंसे, अंगुलियोंसे जो कार्य करना हो वह अति शीघ्र, अति चपलताके साथ किया जावे।

४ **पुरु-दंससा**= अनेक बडे बडे कार्य करनेवाले। अनेक बडे कार्य करनेवाले मनुष्य बने।

५ **नरा**= नेता। नेता बने।

६ **दस्रा**= शत्रुका नाश करनेवाले।

७ **नासत्या** = सत्यका पालन करें।

८ **रुद्र-वर्तनी** = भयानक मार्गसे जानेवाले। न डरते हुए कठिन मार्गसे भी आगे बढें।

९ **धिष्ण्या** = बुद्धिके कार्य करनेवाले।

१० **अश्विना** = घोडोंको पास रखनेवाले, सर्वत्र व्यापनेवाले, वेगवान्।

इन पदोंके विचारसे अश्विदेव किनगुणोंसे युक्त हैं, इसका

ज्ञान होता है और ये गुण अपने अन्दर बढाने चाहिये, इसकाभी ज्ञान उपासकको होता है। तथा—

११ यज्वरीः इषः चनस्यतम् = यज्ञके योग्य अन्नका सेवन करो। पवित्र अन्नका भोजन करो।

१२ शवीरया धिया गिरः वनतम् = अपनी तेजस्विनी एकाग्र बुद्धिसे दूसरोंका भाषण सुनो।

१३ युवाकवः वृक्तबर्हिषः सुताः आ यातम् = दूधके साथ मिलाये, तिनके निकाले अर्थात् अच्छी तरह छाने हुए, इन सोमरसोंका सेवन करनेके लिये आओ।

यहां पवित्र अन्नका सेवन करने, एकाग्र मनके साथ भाषण सुनने और रसपान करनेका वर्णन है। इन सब पदोंका और वचनोंका विचार तथा मनन पाठक करें और इनसे मिलनेवाला वेदका संदेश अपना ले।

(३-२) इन्द्र

मधुच्छन्दा ऋषिके दर्शनमें तृतीय सूक्तका दूसरा त्रिक इन्द्र देवताका है। इन्द्रके विषयमें पहिले कहा गया है। (पाठक ऋ० मं० १ सू० २ त्रिक २ देखें) यहां इस सूक्तमें इन्द्रके वर्णनमें निम्न लिखित पद महत्त्वपूर्ण हैं।

१ इन्द्र = (इन्+द्र) शत्रुका नाश करनेवाला वीर,

२ चित्र-भानु = विशेष तेजस्वी,

३ हरि-वः = घोडोंकी पालना करनेवाला।

वीर तेजस्वी बने और अपने पास उत्तम घोडे रखे, यह इन पदोंका भाव है। तथा—

४ धिया इषितः = बुद्धियोंद्वारा प्रार्थित, जिसकी प्रशंसा मन.पूर्वक की जाती है।

५ विप्रजूतः = विद्वानोंद्वारा प्रशंसित,

ये पद इन्द्रका वर्णन करते हैं। उपासक अपने अन्दर इन पदोंके भावोंको ढालनेका यत्न करें। तेजस्वी बनना, प्रशंसित होने योग्य श्रेष्ठ बनना, आदि बातें यहां है।

अन्य वर्णन सोमके हैं। (अण्वीभिः तना पूतासः सुताः), अंगुलियोंसे निचोडे, छाने गये ये सोमरस हैं। (नः सुते चनः दधिष्व) हमारे सोमयागमें अन्नका सेवन कर। इत्यादि अन्य वर्णन सहजहीसे समझमें आनेवाला है। अतः उसका विशेष स्पष्टीकरण करनेकी जरूरत नहीं है।

(३-३) विश्वे देवाः

मधुच्छन्दा ऋषिके दर्शनमें तृतीय सूक्तके अन्दर तृतीय त्रिक विश्वे देवा देवताका है। इसमें विश्वे देवा देवताके वर्णनमें जो महत्त्वपूर्ण शब्द हैं, उनका अर्थ उसी सूक्तके अर्थके नीचे (पृष्ठ १२ पर) दिया है। पाठक इन पदोंके अर्थोंका विशेष मनन करें और मानवधर्मका संदेश प्राप्त करें। (१) सबकी सुरक्षाके लिये यत्न करना, (२) मानवोंके संघोंकी संघटना करना, (३) दान करना, (४) सत्वर कार्य करना, सुस्तीका त्याग करना, (५) शीघ्र और उत्तम कार्य करना, (६) घातपात न करना, (७) कुशलतासे कार्य करना, (८) द्रोह न करना, छल कपट न करना, (९) सुखसाधन ढो कर लाना, ये वर्णन विश्वे देवोंके हैं। ये मनुष्योंको अपनाना चाहिये।

(३-४) सरस्वती

इसी दर्शनमें चतुर्थ त्रिक सरस्वती देवताका है। इसमें विद्याकी प्रशंसा है। इसका स्पष्टीकरण पूर्वोक्त स्थानमें (पृष्ठ १२-१३ पर) पाठक देख सकते हैं। यहां मधुच्छन्दा ऋषिके मन्त्रोंका प्रथमानुवाक समाप्त होता है।

द्वितीय और तृतीय अनुवाक

मधुच्छन्दा ऋषिके दर्शनके द्वितीय और तृतीय अनुवाकोंमें मिलकर ८० मंत्र हैं, इनकी इन्द्र देवता मुख्य है, केवल सूक्त ६।१-१० में मरुत् देवता अधिक है। इन सूक्तोंके सब पदोंका स्पष्टीकरण प्रत्येक सूक्तके अर्थके साथही किया है। अतः यहां उनके संदेशोंके विषयमें अधिक लिखनेकी आवश्यकता नहीं है।

सोम देवता

मधुच्छन्दा ऋषिके सोमदेवताके दस मंत्र नवम मण्डलके प्रथम सूक्तसे लिये हैं। ये यहां इसलिये लाये हैं कि मधुच्छन्दा ऋषिका संपूर्ण दर्शन पाठकोंके सामने आजायँ।

ये सब मंत्र १२० हैं। इतनाही मधुच्छन्दा ऋषिका तत्त्वदर्शन है। इन मंत्रोंके मननसे पाठक जान सकते हैं कि विश्वामित्र-पुत्र मधुच्छन्दा ऋषिने किस तत्वज्ञानका दर्शन करके प्रचार किया था।

शतर्चो अर्थात् सौ मंत्रवाले ऋषियोंमें मधुच्छन्दा ऋषिकी गणना है, क्योंकि इसके ११२ मंत्र यहां हैं और इसके पुत्रके-जेता ऋषिके-आठ मंत्र हैं। सब मिलकर १२० मंत्र होते हैं।

यहां मधुच्छन्दा ऋषिका दर्शन समाप्त हुआ।

गीताका राजकीय तत्त्वालोचन

(१)

कुरुक्षेत्रकी घोषणा

भगवान् श्रीकृष्णके द्वारा घोषित किये हुए भारतीय युद्धके हेतु

मानवी इतिहासमें हमें ऐसा अनुभव आता है कि, हमेशा युद्ध छिड जानेके समय बडे बडे धर्मतत्त्वोंकी घोषणाएं नेताओंके द्वारा उद्घोषित की जाती है और इन घोषणाओंमें ऐसा घोषित किया जाता है कि, इन इन तत्त्वोंके अनुसार भविष्य कालमें जनताका राज्यशासन चलाया जायगा। कुरुक्षेत्रमें जो भारतीय युद्ध हुआ था, जिसमें कौरव-पांडवोंके निमित्त भारत देशके प्राय: सब राजा लोग अपने अपने सैन्यविभागोंके साथ इकट्ठे होकर लडनेके लिये प्रवृत्त हुए थे, उस युद्धके प्रारंभमें इस भारतीय समरके युद्ध-हेतु भगवान् श्रीकृष्णद्वारा घोषित किये गये थे, जो '**श्रीमद्भगवद्गीता**' नामसे आज हमारे पास विद्यमान हैं और यह घोषणा आज ५००० वर्ष हो जाने पर भी, वैसी ही सम्मानके योग्य मानी जाती है।

युद्धके समयकी घोषणा

'**भगवद्गीता**' यह युद्धभूमिके ऊपर की गयी घोषणा है। यह घोषणा शान्तिके समय की हुई नहीं है, प्रत्युत बडे अशान्तिके समय, युद्ध छिडना जब अपरिहार्य हुआ था, जब दोनों ओरके दल युद्धके लिये तैयार हुए थे, तब की हुई यह घोषणा है। अर्थात् युद्धके पश्चात् जनताका राज्यशासन इस भूमिपर कैसे किया जायगा ऐसा विश्वमें घोषित करनेके लिये की गयी यह घोषणा है।

आजकलकी युद्धघोषणाएं युद्ध करनेवाले कुटिल राजनीतिज्ञ पुरुष अपने कुटिल हेतु सिद्ध करनेके लिये, जनताको भ्रममें डालने और उनको अपने वशमें करनेके लिये, किया करते है। परंतु यह '**भगवद्गीता**' रूपी घोषणा ऐसे महापुरुषने की थी, कि--

न मे पार्थास्ति कर्तव्यं त्रिषु लोकेषु किंचन।
नानवाप्तमवाप्तव्यं वर्त एव च कर्मणि॥ (भ. गी.)

" जिसको तीनों लोकोंमें अपना साम्राज्य बढानेकी बिलकुल इच्छा नहीं थी, अथवा और कुछ भी प्राप्त करनेकी इच्छा न थी। जनताका भला हो यही एकमात्र जिसके जीवनका मुख्य हेतु था और इसीके लिये जिसने अपने जीवनभरमें अविश्रान्त परिश्रम किये थे।" ऐसे सम्माननीय पुरुषकी यह घोषणा है, इसीलिये यह घोषणा आज दिनतक आदरके योग्य मानी जा रही है। जिसको अपना स्वार्थ साधन करनेका कोई दुष्ट हेतु नहीं होगा, उसकी घोषणामें किसी प्रकारका छल या कपट होनेकी संभावना ही नहीं हो सकती। यही कारण है कि, यह युद्धहेतुओंकी घोषणा निष्कलंक हुई और आजतक वैसी ही परिशुद्ध रही है। परंतु आजकलकी युद्धहेतुओंकी घोषणाएं करते ही उनका इन्कार भी किया जाता है और उनके उपयोग और प्रयोगमें कपटका बर्ताव भी दिखाई देता है।

यह भगवान्की घोषणा कोई नयी व्यवस्थाकी नये ढंगसे रचना करनेके लिये नहीं की गयी थी, परंतु '**सत्य सनातन**

शाश्वत मानवधर्म ' का जो अव्यवस्था, मानवोंकी शिथिलताके कारण बीचके कालमें उत्पन्न हुई थी, वह दूर करने और उसके स्थानपर धर्मकी सुव्यवस्थाका पुनः सचालन करनेके लिये अर्थात् प्राचीन धर्मव्यवस्थाकी पुनर्जाग्रति करनेके लियेही, की गयी थी। इससे यह सिद्ध होता है कि, इस घोषणाके करनेवालेके अन्दर थोडासा भी अहंकारका दोष नहीं था। इस विषयमें स्वयं भगवान् घोषणा करनेके समयही कहते है—

इमं विवस्वते योगं प्रोक्तवानहमव्ययम् ।
विवस्वान् मनवे प्राह मनुरिक्ष्वाकवेऽब्रवीत् ॥१॥
एवं परंपराप्राप्तमिमं राजर्षयो विदुः ।
स कालेनेह महता योगो नष्टः परंतप ॥ २ ॥
स एवायं मया तेऽद्य योगः प्रोक्तः पुरातन ॥

(भ. गी. ४।१-३)

' यह अव्यय सत्य सनातन (साम्य-) योग मैंने प्राचीन कालमें विवस्वनसे कहा था, विवस्वानने मनुसे कहा और मनुने इक्ष्वाकुसे कहा। इस तरह यह (साम्य) योग परम्पराद्वारा अनेक राजर्षियोंमें बहुत समयतक जाग्रत रहा था, परंतु [तुम जानतेही हो कि, मनुष्य स्वभावत ही मर्यादाके पालन करनेमे शिथिलसा रहता है, इसीलिये वह पथभ्रष्ट होता रहता है, इस कारण] बडा समय व्यतीत होनेपर इस (साम्य-) योग की शासनप्रणाली नष्ट हुई। वही आज मैंने तेरे सामने यहा पुन प्रकाशित की है। ''

इस तरह सत्य, सनातन, अव्यय और शाश्वत साम्ययोग की शासनमर्यादाकी यह घोषणा आप्तकाम (जो प्राप्त है उसमें तृप्त) अतएव अकाम (अधिक कमानेकी इच्छा न रखनेवाले) भगवान् श्रीकृष्णके द्वारा भारतीय युद्धके समय कुरुक्षेत्रके स्थानपर की गयी थी। इसके करनेमें कर्ताको नवीन प्रणाली (New order) प्रचलित करनेका अभिमान नहीं था, परंतु प्राचीन धर्मव्यवस्थाको शिरोधार्य माननेका निरभिमानही इसमें स्पष्टतापूर्वक दिखाई देता है। इस घोषणाका यही महत्त्व है।

यहां कई विचारक पूछेंगे कि, क्या युद्धभूमिपर भगवद्गीता जैसा बडा ग्रंथ कहनेके लिये जितना समय आवश्यक है, उतना मिल सकता है? कई तो मानते हैं कि, यह पीछेकी बनावट महाभारतमें पीछेसे घुसेडी गयी है। ऐसी अनेक शंकाएं आज इस गीताके विषयमें प्रचलित हैं; इसलिये यहां इस विषयमें कुछ कहना आवश्यक है।

क्या युद्धभूमिपर इतना समय मिलेगा ?

आजकल जो गीता है, वह १८ अध्याय और ७०० श्लोकोंकी है। इसमें धृतराष्ट्र और सजयके श्लोक कम कर देनेसे शेष श्लोक भगवान् श्रीकृष्ण और अर्जुनके संवादके है—

षट् शतानि सविंशानि श्लोकानां प्राह केशवः ।
अर्जुनः सप्त पञ्चाशत् सप्तषष्टिं तु सञ्जयः ॥४॥
धृतराष्ट्रः श्लोकमेकं गीताया मानमुच्यते ।

(म. भा भीष्म. ४३)

भगवान् श्रीकृष्णके कहे श्लोक	६२०
अर्जुनके ,, ,,	५७
सजयके ,, ,,	६७
धृतराष्ट्रका ,, ,,	१
कुल श्लोक	७४५

ऐसी गणना महाभारतमे है। ७०० श्लोकोंकी गीता है। धृतराष्ट्र और संजयके श्लोक युद्धक्षेत्रपर हुए संवादमें नहीं थे, इनको छोड देनेसे शेष ६७७ रहते हैं। ये श्लोक कृष्णार्जुन-संवादके हैं। इनके विचारपूर्वक पाठ करनेके लिये डेढ घण्टा लग सकता है। संवादके लिये समय थोडाही लगेगा, परंतु हम डेढ घण्टेकाही समय मानते हैं।

क्या महाभारतीय युद्ध शुरू होनेके समय दो वीरोंको आपसमे बातचीत करनेके लिये डेढ घण्टेका समय मिलना सम्भव था? यही प्रश्न हमारे सामने है। इसका विचार करनेके लिये भारतीय युद्धका स्वरूप जाननेकी आवश्यकता है।

द्वन्द्व और संकुल युद्ध

युद्ध दो प्रकारके है, एक 'द्वन्द्वयुद्ध' और दूसरा 'संकुल युद्ध'। भारतीय युद्ध द्वन्द्वयुद्ध था और राम-रावण का युद्ध संकुल युद्ध था। द्वन्द्वयुद्धमें सब युद्ध नियमोंके अनुसार होता है और संकुलयुद्धमें वैसा कोई नियम नहीं होता। द्वन्द्वयुद्धके कुछ नियम अब देखिये—

न कूटैरायुधैर्हन्याद्युध्यमानो रणे रिपून् ।
न कर्णिभिर्नापि दिग्धैर्नाग्निज्वलिततेजनैः ॥९०॥
न च हन्यात्स्थलारूढं न क्लीबं न कृताञ्जलिम् ।
न मुक्तकेशं नासीनं न तवास्मीतिवादिनम् ॥९१॥

न सुप्तं न विसन्नाहं न नग्नं न निरायुधम् ।
नायुद्ध्यमानं पश्यन्तं न परेण समागतम् ॥९२॥
नायुधव्यसनप्राप्तं नार्तं नातिपरिक्षतम् ।
न भीतं न परावृत्तं सतां धर्ममनुस्मरन् ॥९३॥
(मनुस्मृति ७)

"क्रूर शस्त्रोंका उपयोग करना नहीं; टेढेमेढे शस्त्रोंका उपयोग नहीं करना; विषदिग्ध शस्त्रोंका उपयोग करना नहीं चाहिये; रथमें रहनेवाले वीरने भूमिपर रहनेवालेपर हथियार नहीं चलाना; भयभीत, मुक्तकेश, भूमिपर स्वस्थ बैठनेवाला, 'मैं तेरा हूं' ऐसा कहनेवाला, सोया हुआ, कवच न पहना हुआ, वस्त्रहीन नग्न, आयुधरहित, न लडनेवाला, केवल युद्ध देखनेके लिये खडा रहा हुआ, दूसरेके साथ युद्ध करनेवाला, हाथमें पकडा शस्त्र जिसका नीचे गिरा है, रिश्तेदारकी मृत्युसे दुःखी, शारीरिक व्याधियोंसे दुःखी, घायल हुआ, युद्धसे निवृत्त होनेवाला, इतने लोगोंपर शस्त्र चलाना योग्य नहीं।"

इस तरहके और भी अनेक नियम थे, जो इस भारतीय युद्धमें बहुत अंशमे पाले गये थे। रथी रथीसे, घुडसवार घुडसवारसे, हाथीसवार हाथीसवारसे, पदाती पदातीसे ही लडते थे। सवेरे सन्ध्या तथा हवन पूजापाठ आदि करनेपर लडाई शुरू होती थी। शामके समय संध्या समयमें संध्या करनेके लिये लडाई बंद की जाती थी, रातके समय लडाई नहीं होती थी। सामनेवाला वीर तैयार होनेतक लडाई बंद रहती थी।

सामनेवाला वीर किसीसे बात करने लगा हो, किसी अन्य कार्यमें लग गया हो, तो उसके तैयार होनेतक युद्ध बंद रहता था। दोनों वीर परस्परसे पूछकर, एकदूसरेकी तैयारी होनेके पश्चात् लडना शुरू करते थे। रात्रिके समय परस्परके शिबिरोंमें जाकर परस्परका कुशल पूछते थे। दो वीर जब युद्ध करते थे, उस समय अन्य वीर तथा लोग उनका युद्ध देखनेके लिये बाजूके स्थानमें खडे रहते थे। भारतीय युद्धके अन्तिम दिनमें भीम और दुर्योधनका गदा युद्ध हुआ था। इस युद्धको देखनेके लिये भगवान् श्रीकृष्ण, बलराम आदि लोग चारों ओर आरामसे बैठे रहे थे। अन्तमें जिस समय भीमने दुर्योधन की जांघपर अपनी गदा मारी और इस आघातसे दुर्योधन जंघा टूट जानेसे घायल होकर गिर पडा, उस समय देखनेवाले वीरोंमेंसे बलराम क्रोधसे उठे। उन्होंने भीमकी निन्दा करके कहा कि 'तुमने जंघापर गदा मारी, यह गदा-युद्धके नियमोंके विरुद्ध हुआ है,' इतना कह कर भीमके वध करनेके लिये बलरामजी भीमपर दौड गये। श्री कृष्ण बीचमें जाकर उनको न समझाते, तो उस समय बलरामसे भीमका वध हो जाता। द्वन्द्व-युद्धके नियमोंका उल्लंघन करना इतना बुरा समझा जाता था।

ऐसी परिस्थितिमें भगवान् श्रीकृष्ण और अर्जुनकी बातचीत होनेके लिये घण्टा दो घण्टोंका समय मिलना सहजहीसे होनेवाली बात थी।

दूसरी बात यह थी कि पाण्डव युद्धसे निवृत्त हो जायं, इस लिये कौरवोंने बडा षड्यन्त्र रचा था। भगवद्गीताके प्रथम श्लोकमें धृतराष्ट्र पूछता है कि "मेरे पुत्र तथा पाण्डुके पुत्र युद्ध करनेके निमित्त कुरुक्षेत्रपर एकट्ठे हुए, इसके पश्चात् क्या हुआ?" (भ. गी. १।१) इस प्रश्नमें बात यह है कि 'मैंने संजय द्वारा पाण्डवोंको युद्धसे निवृत्त करनेका जो षड्यन्त्र रचा था, उसका परिणाम जैसा चाहिये था, वैसा अर्जुनादि पाण्डवोंपर हुआ, या नहीं?' कौरवोंकी ओर के लोग, पाण्डव युद्धसे निवृत्त हों, यही इच्छा करते थे। ऐसी स्थितिमें यदि अर्जुन युद्धसे निवृत्त होनेकी बातचीत करना चाहे, तो उसको पर्याप्त समय मिलने की संभावना थी।

युधिष्ठिरका भीष्मसे विनय

भारतीय युद्धके समयकी परिस्थिति ठीक तरह ध्यानमें आनेके लिये गीतोपदेश होनेके पश्चात् की एक घटना देखना आवश्यक है। गीताके प्रारंभमें अर्जुन उत्साहरहित होकर युद्धसे निवृत्त हुआ था, वह गीताका उपदेश सुननेके पश्चात उत्साहयुक्त हुआ और युद्ध करनेकी इच्छासे अपना गाण्डीव धनुष्य सम्भालकर वीरवृत्तिसे रथमें खडा हो गया। इतने में—

ततो युधिष्ठिरो दृष्ट्वा युद्धाय समवस्थिते ।
ते सेने सागरप्रख्ये मुहुः प्रचलिते नृप ॥ ११ ॥
विमुच्य कवचं वीरो निक्षिप्य च वरायुधम् ।
अवरुह्य रथात् क्षिप्रं पद्भ्यामेव कृताञ्जलिः ॥१२॥
पितामहमभिप्रेक्ष्य धर्मराजो युधिष्ठिरः ।
वाग्यतः प्रययौ येन प्राङ्मुखो रिपुवाहिनीम् ॥१३॥
(म. भा. भीष्म. ४२)

'धर्मराजने अपने शरीरपरसे कवच उतार दिया, शस्त्रास्त्र

नीचे रख दिया, अपने रथसे नीचे उतर गया, हाथ जोडकर भीष्मपितामह जिधर थे, उधर चुपचाप पैदल ही शत्रुकी सेनाके समीप वह जाने लगा। '

शत्रुके वीर लोग धर्मराज युधिष्ठिरके इस तरहके आगमन को देखकर उसकी निन्दा करने लगे, तथा अर्जुन, श्रीकृष्ण, भीम, नकुल तथा सहदेव अपने रथसे नीचे कूदकर युधिष्ठिरके पास पहुंचे और उसे पूछने लगे कि 'यह आप क्या कर रहे हैं?' उस समय सबको पता लगा कि, युधिष्ठिर भीष्म, द्रोण, कृप, शल्य आदि गुरुजनोंकी आज्ञा लेने और उनसे आशीर्वाद लेनेके लिये जा रहे थे। वे उनके पास गये। उन्होंने उनसे युद्ध करनेकी आज्ञा मांगी, उनकी मृत्यु कैसी होगी, इसके बारेमें पूछा, इस बारेमें हरएकसे आवश्यक बातचीत की और सबसे आशीर्वाद लेनेपर धर्मराज पुनः अपने रथपर आकर खडे हुए। इस समय सबसे जो बातचीत हुई, वह यहां देनेकी आवश्यकता नहीं है, तथापि भीष्मपितामहके साथ जो वार्तालाप हुआ, वह संक्षेपसे देखिये—

आमन्त्रये त्वां दुर्धर्ष त्वया योत्स्यामहे सह।
अनुजानीहि मां तात आशिषश्च प्रयोजय ॥१७॥

भीष्म उवाच—

यद्येवं नाभिगच्छेथा युधि मां पृथिवीपते।
शपेयं त्वां महाराज पराभावाय भारत ॥१८॥
प्रीतोऽहं पुत्र युध्यस्व जयमाप्नुहि पाण्डव।
अर्थस्य पुरुषो दासो दासस्त्वर्थो न कस्यचित्।
इति सत्यं महाराज बद्धोऽस्म्यर्थेन कौरवैः ॥४१॥
अतस्त्वां क्लीबवद्वाक्यं ब्रवीमि कुरुनंदन।

(म. भा. भीष्म ४३)

इसके अनन्तर धीरज धारण करनेवाले धर्मराज वीर युधिष्ठिरने उन समुद्रकी तरह दोनों ओरकी सेनाओंको युद्धके निमित्त तैयार और बार बार आगे बढती हुई देखकर, कवच उतारके अपने धनुष्यको नीचे रख दिया, फिर अपने रथसे उतर कर भीष्मपितामहकी ओर देखते हुए जाने लगे। उनके पास जाकर बोलने लगे कि-" हे अजिंक्य पितामह! आपके साथ जो मैं युद्ध करूंगा, उसके लिये आप मुझे अनुमति और आशीर्वाद दीजिये। भीष्म बोले- हे पृथ्वीपति धर्मराज! यदि तुम हमारे पास इस तरहसे न आते, तो मैं तुम्हारे पराजयके निमित्त तुम्हें शाप देता। हे पुत्र! मैं अब तुम्हारे ऊपर प्रसन्न हुआ हूं। तुम युद्ध करो, युद्धमें जय प्राप्त करो। हे धर्मराज! पुरुष अर्थका दास है, परंतु अर्थ किसीका दास नहीं है। हम लोग अर्थसे कौरवोंके साथ बद्ध हुए हैं, इसीलिये मैं तुमसे इस तरह क्लीब जैसा निःसत्त्व भाषण कर रहा हूं। "

इस तरह भीष्मपितामहने धर्मराजको आशीर्वाद दिया, विजय होगा ऐसा कहा और धर्मराजको बिदा किया। इसी तरह द्रोणाचार्य, कृपाचार्य, शल्य आदिसे धर्मराज जाकर मिले और प्रत्येकसे ऐसेही भाषण करके आशीर्वाद लेकर उनसे युद्ध करनेके लिये आज्ञा ली और अपने रथपर आकर विराजमान हुए।

उधर भगवान् श्रीकृष्ण कर्णके पास गये और उनसे धर्मराजकी सहायता करनेके लिये विनय करने लगे। कर्णने इन्कार किया। तब वे वापस अर्जुनके रथपर आकर विराजे।

इसके अनंतर धर्मराज ऊंची आवाजसे (म. भा. भीष्म. ४३।९४-९६) घोषणा करके बोले कि " जो कोई कौरवोंकी सेनासे हमारे आश्रयको आना चाहे, वह वहांसे हमारे पास आ जाय। यह सुनकर कौरवसेनासे वीर युयुत्सु निकला और पाण्डवोंकी सेनामें दाखल हुआ और यह इसका आगमन ढोल बजाकर सबको विदित किया गया। इतना होनेके पश्चात् धर्मराजने अपना कवच धारण किया, शस्त्र हाथमें लिये और पश्चात् युद्धका प्रारंभ हुआ है।

ऊपर कहे अनुसार भीष्म, द्रोण, कृप, शल्य और कर्णके पास जाने, उनसे प्रणाम करने, उनकी आज्ञा और आशीर्वाद लेने और वापस आनेके लिये थोडा समय नहीं लगा होगा, क्योंकि ये वीर बिलकुल पास पास नहीं थे। इसके पूर्व सेनाके व्यूह रचे गये थे और ये वीर अपने अपने नियत स्थानोंपरही खडे थे। कर्ण तो सब सेनाके बिलकुल पीछे था। लाखों सैनिकोंके पीछे खडे रहे कर्णके पास पहुंचनेके लिये कमसे कम एक मील तो अवश्यही चलना आवश्यक होगा। इतना भ्रमण पैदल ही किया है। प्रत्येकके साथ बातचीत करने, उनके पास पहुंचने और वहांसे आशीर्वाद लेकर दूसरेके पास जानेके लिये प्रत्येकके साथ १५ मिनिट भी लगे, तो डेढ घण्टेका समय चाहिये। भगवद्गीताका उपदेश सुनकर वीर अर्जुन सज्य होनेके पश्चात् इस तरह धर्मराजने घण्टा डेढ घण्टा इस आशीर्वाद लेनेके लिये लिया है। पूर्वस्थानमें दिये श्लोक देखनेसे पता लग सकता है कि, यदि धर्मराज इस तरह भीष्मादिकोंके पास

न जाता, तो उनमेंसे प्रत्येक उसको शाप देनेके लिये तैयार था। इसका अर्थ यही है कि, द्वन्द्वयुद्धका यही शिष्टाचार था, उसका पालन होना आवश्यकही था और भीष्मपितामह आदि वीर धर्मराजसे यही चाहते थे।

इससे सिद्ध हुआ कि, द्वन्द्वयुद्धके इन नियमोंको देखनेसे अर्जुनको श्रीकृष्णके साथ बातचीत करनेके लिये घण्टा दो घण्टे तथा प्रणामादि करके आशीर्वाद लेनेके शिष्टाचारके लिये धर्मराजको घण्टा दो घण्टेका समय मिलना सहजहीमें होनेवाली बात थी।

जो विचारक आजके युद्धोंको देखकर सभी युद्ध एक जैसे ही हैं, ऐसा मानते हैं और युद्धके प्रारंभमें इतना समय गीतोपदेशके लिये मिलनेकी संभावना नहीं है, ऐसा कहते हैं, वे द्वन्द्वयुद्धके इन नियमोंको जानते ही नहीं। अतः उनके इस अज्ञानके कारण वे ऐसा मानते हैं।

आज युरोपमें अथवा चीनमें जो युद्ध चल रहे हैं, वे 'संकुल युद्ध' हैं। आजके लोग द्वन्द्वयुद्ध करने इतने सभ्य नहीं रहे हैं। रामरावणका युद्ध इस तरहका संकुल युद्ध था और भगवान् रामचन्द्रजीकी सेनाने राक्षसोंकी नगरी दोवार जला दी थी, उसमें बालक, वृद्ध, स्त्रियां, संन्यासी आदि कितने जल मरे इसका कोई हिसाब नहीं था। संकुल युद्धोंके वर्णन राम-रावण-युद्धमें विचारक देख सकते हैं। कौरव-पाण्डवोंके युद्धमें जबतक भीष्म, द्रोण आदि माननीय वृद्ध सेनानायक जीवित रहे, तबतक धर्मयुद्धके पूर्वोक्त नियम जारी रहे। तबतक कुरुक्षेत्रपर थोडे थोडे संकुल युद्धभी हुए थे, परंतु इन वृद्ध सेनानायकोंकी दक्षताके कारण वे समय समयपर रोके गये। इनके पश्चात् वैसा नियम नहीं रहा। तथापि भारतीय युद्ध द्वन्द्वयुद्ध ही मुख्यतया था और रामरावण युद्ध मुख्यतया संकुल युद्ध था।

इससे सिद्ध हुआ कि, भारतीय युद्ध द्वन्द्वयुद्ध होनेके कारण उसके प्रारंभमें कृष्णार्जुनकी आपसकी बातचीतके लिये आवश्यक समय मिलना संभव था। क्योंकि द्वन्द्वयुद्धके नियमोंके अनुसार वैसा होना योग्य था।

भारतीय युद्धका समय

इस भारतीय युद्धका समय आजसे पूर्व ५००० वर्षोंका था। यदि गीता समरभूमिपर कही गयी होगी, तो वह इतनी प्राचीन होनी चाहिये। परंतु आजकल महाभारतका बनानेका समय दो सवा दो सहस्र वर्षोंका समझा जाता है। महाभारत के तीन संस्करण हुए-भगवान् व्यासजीका '**जय**,' वैशंपायन का '**भारत**' और सौतीका '**महाभारत**' है, ऐसा विद्वान् लोग मानते हैं। जय ८००० श्लोकोंका था, भारत २४००० श्लोकोंका और महाभारत १००००० श्लोकोंका था। तृतीय संस्करण विक्रमपूर्व दोतीन सौ वर्ष पूर्व बना था। यद्यपि 'जय और भारत' ग्रंथरूप से आजतक किसीको कहीं भी उपलब्ध नहीं हुए, तथापि विद्वान् लोग महाभारतके आतरिक प्रमाणोंसे ऐसा इस समय मान रहे हैं। इनका कथन है कि भगवद्गीता तृतीय संस्करणके समय महाभारतमें प्रविष्ट हुई होगी। अतः इस विषयमें विशेष खोज करनी चाहिये।

यदि भाषाका प्रमाण माना जायगा, तो श्रीमद्भगवद्गीताकी भाषा पाणिनीपूर्व दीखती है। इस गीतामें '**त्वां**' का प्रयोग '**त्वां**' के स्थानपर किया मिलता है। इसी तरह '**त्रैविद्या मां सोमपाः**' (भ गीता ९।२०) जैसे कुछ छन्दोंमें भी प्राचीन झलक दीखती है, तथा पाणिनिमुनिकृत व्याकरणके अनुसार जो प्रयोग अशुद्ध सिद्ध होंगे, वैसे कई प्रयोग गीतामें मिलते हैं, जैसे—

गीताका प्रयोग	पाणिनीका प्रयोग
निवसिष्यसि (१२।८)	निवत्स्यसि
मा शुचः (१४।५)	मा शोचः; मा शोचीः
प्रसविष्यध्वं (३।१०)	प्रासविष्यध्वं
संयमतां (१०।२९)	संयच्छता
हे सखेति (११।४१)	हे सखि इति (सखीति)
प्रियायार्हसि (१०।४४)	प्रियाया अर्हसि
शक्य अहं (११।४८,५४)	शक्योऽहं
सेनानीनां (१०।२४)	सेनान्यां
योगस्य जिज्ञासुः (६।४४)	योगं जिज्ञासुः
धर्मस्य अश्रद्दधानाः (९।३)	धर्मे अश्रद्दधानाः
विभूतयः (१०।१६,१९)	विभूतीः
अपतुद्यात् (२।८)	अपनुदेत्

इतनेही अपप्रयोग नहीं हैं. परस्मैपद आत्मनेपद आदि विषयमें भी बडी गडबड है। कविके काव्यमें क्वचित् एकाध अपप्रयोग रहे तो वह क्षम्य हो सकता है। गीतामें ऐसा दीखता है कि, उसका लेखक पाणिनीय व्याकरणसे परिचित न होता

हुआ, वह किसी प्राचीन व्याकरणके अनुसार अपना काव्य लिखता है। अतः हम कह सकते है कि, पाणिनीके पूर्वका यह ग्रंथ है। भगवद्गीताका लेखक असामान्य था, वैदिक तत्त्व-ज्ञानका उत्तम ज्ञाता था, धर्माधर्मका निर्णय करनेमें सिद्धहस्त था, मानवधर्मके सनातन धर्मतत्त्वोंका ज्ञाता था। ऐसा लेखक यदि पाणिनीय व्याकरणके सर्वमान्य होनेके पश्चात् का होता, तो उसके इस अद्वितीय ग्रथमें ऐसे अपाणिनीय प्रयोग इतनी संख्यामें नहीं आते। इसलिये मानना पडेगा कि, भगवद्गीता पाणिनीके पूर्वकी लिखी है। पाणिनीका काल विक्रमपूर्व सहस्र वर्षके करीब मानते हैं, अतः उसके पूर्व गीताका रचनाकाल होना संभवनीय है। यद्यपि शब्दप्रयोगोंका प्रमाण निःसंदेह प्रमाण नहीं है, तथापि अन्य प्रमाणोंके साथ इसका कुछ न कुछ मूल्य होना संभव है।

पिंगल नामक एक छोटा भाई पाणिनीका था, जो पिंगल-सूत्रका कर्ता था, यह जनमेजयके सर्पसत्रमें सदस्य हुआ था। यदि यह बात सत्य होगी, तो पाणिनीका काल और भी प्राचीन मानना पडेगा। क्योंकि जनमेजय राजाका समय पाण्डवोंके निकट पश्चात् काही है। सर्वानुक्र सूत्रके टीकाकार षड्गुरु आचार्यने अपनी व्याख्यामें यह बात लिखी है। पाणिनीय करके जो प्रसिद्ध है, उस वेदांग शिक्षा ग्रंथके भावप्रकाश नामक टीकाके प्रारंभमें भी ऐसाही कहा है (देखो परिभाषा ७,९)। यद्यपि इसके माननेमें कई आपत्तियां है, तथापि दो प्राचीन विद्वान् ऐसा अपनी टीकामें लिखते है, यह तो निः-संदेह विचारणीय है। यदि दो प्रमाण मानने योग्य होंगे, तो पाणिनीका समय जनमेजयके समय होगा और गीता इसके पूर्वकी होगी। तथापि ये प्रमाण संदेहयुक्त है।

श्रीमद्भगवद्गीताका उपक्रम और उपसंहार भारतीय युद्धके साथ निःसंदेह संबन्ध रखनेवाले हैं। अर्जुन युद्धसे विमुख हुआ था, गीता श्रवण करनेके पश्चात् वह युद्ध करके विजयी हुआ। ये गीताके आदि अन्तके वचन गीताका समय भारतीय युद्धका ही समय है, ऐसा बताते है।

गीताकी रचना वैदिक वचनोंके आधारोंपर अर्थात् वेदके मंत्रोंपर हुई है, यह इसकी प्राचीनताका प्रबल प्रमाण है। इस प्रमाणका विचार जब हम पूर्वोक्त अपाणिनीय प्रयोगोंके साथ करेंगे, तब ये दोनों प्रमाण मिलकर गीताकी प्राचीनता निः-संदेह सिद्ध कर सकेंगे। यहां हमें सब वैदिक प्रमाण देनेके लिये आवश्यक समय नहीं है, परंतु नमूनेके लिये हम एक दो प्रमाण देते हैं।

गीता अ ४।१-२ में कहा है कि, "मैंने (श्रीकृष्णने) यह साम्ययोग विवस्वान्से कहा, विवस्वानने मनुसे कहा, मनुने इक्ष्वाकुसे कहा। यह परंपराद्वारा राजश्रेष्ठोंको ज्ञात रहा, परंतु पश्चात् नष्ट हुआ, जो आज मैं (श्रीकृष्ण) फिरसे तुम्हें (अर्जुन को) कह रहा हूं।"

इस कथनमें (१) मैं, (२) विवस्वान, (३) मनु, (४) इक्ष्वाकु और (५) अन्य राजर्षि इनका उल्लेख है। यहां विवस्वानको उपदेश देनेवाला,'मैं' कौन था, इसका पता नहीं चलता। अर्जुनको उपदेश करनेवाला 'मैं' भगवान् श्रीकृष्ण है, इसमें संदेह नहीं है, परंतु विवस्वान्से बडा उपदेशक 'मैं' कौन था, इसका निर्देश यहां नहीं है। इसका पता वेद और ब्राह्मण ग्रंथोंसेही मिलेगा।

'अष्टौ पुत्रासो अदितेः' (ऋ. १०।७२।८) ऐसा अदितिके आठ पुत्रोंका वर्णन ऋग्वेद करता है। अध्वर्यु ब्राह्मण में इन आठ पुत्रोंके नाम ये दिये है—' (१) विष्णु, (२) मित्र, (३) वरुण, (४) धाता, (५) अर्यमा, (६) अंश, (७) भग, (८) विवस्वान।' इनमें पहिला 'विष्णु' है और आठवां 'विवस्वान' है। विष्णु सबसे बडा भाई है और विवस्वान् सबसे छोटा है। इस कारण सबसे बडे भाईने सबसे छोटे भाईको इस साम्य-योगका उपदेश किया होगा, यह संभवनीय बात है। छोटा भाई बडे भाईकी बात मानेगा। भगवान् श्रीकृष्ण विष्णुका अवतार है। इस तरह वैदिक वचनसे और वैदिक परंपरासे विवस्वान् को उपदेश करनेवाला कौन था, इसका पता लगा।

उक्त मन्त्र 'बृहस्पति' का है। इस बृहस्पतिका वर्णन गीता **'पुरोधसां च मुख्यं . बृहस्पतिं'** इस तरह (गीता १०।२४ में) आदरके साथ करती है, क्योंकि विष्णु और विवस्वान् की माताका वर्णन करनेवाला यह देव-पुरोहित है।

'मनुर्वैवस्वतो राजा' (श. ब्रा. १३।४।३।३) अर्थात् विवस्वान् का पुत्र मनु है, अतः विवस्वानने मनुसे साम्यधर्मका उपदेश किया, यह ठीक प्रतीत होता है। इसी तरह मनुका पुत्र इक्ष्वाकु है, अतः मनुने इक्ष्वाकुको यह ज्ञान

दिया। इस तरह वैदिक परंपरासे 'अहं (विष्णु), विवस्वान्, मनु, इक्ष्वाकु ' इन चारोंका ठीक ज्ञान होता है।

ऋग्वेदमें " **अहं मनुरभवं सूर्यश्च, अहं कक्षीवान् ऋषिरस्मि विप्रः।** " (ऋ. ४।२६।१) ऐसा मन्त्र है। ठीक ऐसे वेदमंत्रोंकी तरह गीताका विभूतियोगका वर्णन है। वेदमें ऐसे मन्त्र बहुत है और वे इस विभूतियोगका उगम है।

ऋग्वेदमें '**पुरुष एवेदं सर्वं**।' (ऋ. १०।९०।२), में कहा है। गीतामें '**वासुदेवः सर्वं**।' (गीता. ७।१९) कहा है। गीताके विश्वरूपका वर्णन इस तरह वेदमें है। ऊपर के दोनों वचनोंमें पदोंकी रचना भी कैसी एकसी है सो देखिये। वेदोंमें ' विश्वरूप ' पद जिस तरह परमेश्वरके लिये प्रयुक्त हुआ है, वैसाही गीतामें ग्यारहवे अध्यायमें ' विश्वरूप-दर्शन ' है। इस विश्वरूपदर्शन का मूल वेदमें है।

विश्वरूपका वर्णन करनेवाले वेदमन्त्र अनेक है, इस विषयका वर्णन आगे आनेवाला है, अतः उसका निर्देश यहां हम करना नहीं चाहते। उपनिषद्का अर्थात् वेदशिरोभागका संबंध तो गीताके साथ सभी मानते है। इस तरह वेदके साथ प्रत्यक्ष संबंध रखनेवाली गीता है, वैदिक परंपराका साक्षात् दर्शन यहां हो सकता है। गीताके कई वचन वेदमन्त्रोंके प्रकाशमें ही सुस्पष्ट होते है। इस तरह गीताका लेखक वेदके साथ केवल परिचितही नहीं था, प्रत्युत वेदकी परंपराको ही गीतामें रखना चाहता था। यही गीताके प्राचीन होनेका प्रबल प्रमाण है।

भारतीय युद्ध विक्रमसंवत्‌के पूर्व ३००० वर्षोंके समयमें हुआ था, इसमें संदेहही नहीं, क्योंकि यह बात ग्रहोंकी गतिसे सिद्ध होनेवाली है। मिसर देशके एक पिरामिदमें एक लकडी-की मूर्ति मिली है। इस मूर्तिपर गीताके " **जीवभूतः सनातनः, शरीरमवाप्नोति यच्चाप्युत्क्रामति।** " (गी. १५।८) इस श्लोकका शब्दशः अनुवाद मिला है। इस मूर्तिके साथ जो वस्तुएं उस कबरमें मिलीं, वे भारतीय वस्तुएं थीं। (देखो, अमेरिकन नेशनल जीओग्राफिकल मेगजीन अक्तूबर १९४१ का अंक)। जीव दूसरा शरीर लेता है, यह पुनर्जन्मवाद मिसरवासियोंके तत्त्वज्ञानमें नहीं था, इसीलिये वे मुर्देको सुखाकर रख देते थे। ऐसे देशकी कबरमें भारतीय वस्तुओंके साथ भारतीय विचार-गीताका ही विचार-मिलना एक आश्चर्यजनक बात है। यह अनुवाद गीताके श्लोकका ही है, क्योंकि ऐसा वचन दूसरी जगह नहीं है। यह कबर विक्रम-पूर्व तीन सहस्र वर्षोंके समयकी है।

ये तथा ऐसे कई प्रमाण है कि, जो गीताका समय भारतीय युद्धका समयही है, ऐसा निश्चित करते है। भारतीय युद्ध आजसे पूर्व पांच सहस्र वर्षोंके समय हुआ था और उसी समय गीता कही गयी थी। सब अन्य प्रमाणोंसे गीताका उपक्रम उपसंहार तथा आजतक चला आया विश्वास ये दो प्रमाण हम मुख्य समझते है। महाभारतका जो निर्माता है, अर्थात् जिसने जय और भारतका महाभारत बना दिया, उसका कहना यही है कि गीताको भारतीय युद्धके समय उपदिष्ट हुई ऐसा मानकर उसका विचार करो। जब किसी काव्यका विचार करना हो, तो उसके रचयिताके आदेशके अनुसारही उसका विचार करना योग्य है। इसलिये महा-भारतके लेखकके कथनानुसार हम इस गीताको कुरुक्षेत्रकी भूमिमें अर्जुनको कर्तव्यप्रवण बनानेके लिये उपदेशद्वारा कथित काव्य मानकर ही गीताका अध्ययन हम करना चाहते है। अर्थात् यह गीता कुरुक्षेत्रपर की गयी युद्ध हेतुओंकी घोषणा है। इस दृष्टिसे ही इस गीता-काव्यका हम विचार करेंगे।

भारतीय युद्ध क्यों हुआ ?

श्रीमद्भगवद्गीताद्वारा जिन तत्त्वोंकी घोषणा भारतीय युद्धमें की गई, वह भारतीय युद्ध क्यों हुआ, इसका विचार करना अब आवश्यक है। भारतीय युद्ध घरेलु युद्ध था, यह भाईयोंका आपसका युद्ध था। यह कोई एक राष्ट्रका दूसरे राष्ट्रके साथ युद्ध नहीं था। एक कुटुंबके चचेरे भाईयोंमें इतना बडा युद्ध क्यों हुआ, यह विचार करके देखने योग्य बात है। यद्यपि यह घरेलु युद्ध था, तथापि इसमें करीब ४० लाख वीर संमिलित हुए और काटे गये। इस दृष्टिसे यह युद्ध बडा युद्ध था। राज्यशासनविषयक किन मतभेदोंके कारण यह युद्ध हुआ, यह देखना यहां अब आवश्यक है।

विष्णु, विवस्वान्, मनु, इक्ष्वाकु आदि राजश्रेष्ठोंको जो साम्ययोग कहा गया था, वही भगवान् श्रीकृष्णजीने इस युद्धके प्रसंगमें अर्जुनसे कहा। ये श्रेष्ठ राजालोग वनमें जाकर ध्यानधारणा नहीं करते थे, ये प्रजापालनतत्पर राजा थे। अर्थात् यह साम्ययोग राज्यशासनका योग है, इसमें संदेह नहीं हो सकता। अर्जुन तो भिक्षा मांग कर ध्यान करनेके

लिये जंगलमें जानेके लिये तैयार ही हुआ था। इस गीताके उपदेशसे वह वनमें जानेसे रुक गया और राज्यकी बातोंको सोचने लगा। इस प्रत्यक्ष परिणामका विचार करनेसे भी पता चल सकता है कि, गीतामें राज्यशासनविषयक निर्देश है। वे गुप्त रीतिसे इस काव्यमें हैं, उनका पता लगाना चाहिये और उनका राज्य-संचालन-योगकी दृष्टिसे विचार करना चाहिये।

पूर्व इतिहास

हस्तिनापुरकी राजगद्दीपर राजा विचित्रवीर्य था, वह पुत्रहीन मर गया। इसलिये व्यासजीके साथ नियोग करके अम्बिका, अम्बालिका नामक विचित्रवीर्यकी रानियोंने क्रमशः धृतराष्ट्र और पाण्डु ये दो पुत्र प्राप्त किये। धृतराष्ट्र बडा था, परंतु अन्धा था, इसलिये राजगद्दीके लिये अयोग्य समझा गया। पाण्डु छोटा था तथापि उसमें कोई दोष नहीं था, इसलिये राजगद्दीके लिये वह योग्य समझा गया। पाण्डु बडा शूरवीर था, उसने राज्यवैभव बढाया, परंतु किसी कारण उसे स्त्रीसंगसे दूर रहना पडा, इस लिये वह उत्साहहीन होकर, राज्य छोड, अपनी दोनों स्त्रियोंके साथ हिमालयमें जाकर निवास करने लगा। वहां पांच देवजातिके वीरोंसे नियोगका संबंध होकर पाण्डुके स्त्रियोंमें पांच पाण्डव उत्पन्न हुए। इसके पश्चात् पाण्डुकी मृत्यु हुई। ये पांचों पाण्डव पाण्डुके राज्यत्याग करनेपर जन्मे थे।

इधर हस्तिनापुरके राज्यका त्याग करके पाण्डु वनमें गया, राज्यपर कोई नहीं रहा, इसलिये अन्धे धृतराष्ट्रकोही राजगद्दीपर बिठला दिया। राजगद्दीपर बैठनेके पश्चात् इसको एक सौ एक पुत्र हुए।

हिमालयसे पांचों पाण्डव हस्तिनापुरमें आये और धृतराष्ट्रके एक सौ एक पुत्रोंके साथ रहने, पढने और पाले जाने लगे। इन सबकी पढाई पितामह भीष्मकी निगरानीमें द्रोणाचार्य और कृपाचार्यके द्वारा होने लगी। धृतराष्ट्रके पश्चात् राजगद्दी पाण्डवोंके हाथमें जायगी, यह विचार दुर्योधनादिकोंको तथा धृतराष्ट्रको रातदिन सताने लगा। राजनीतिकुशल कणिकाचार्यने धृतराष्ट्रसे कहा कि किसी कपट युक्तिसे पाण्डवोंका नाश करो। राज्यव्यवहारमें नीति अनीतिका कुछ भी विचार करना योग्य नहीं। धृतराष्ट्रको तथा उसके लडकोंको यह विचार पसंद आया और पाण्डवोंके साथ अनेक प्रकारके कुव्यवहार होने लगे। उनको विष दिया, जलमें डुबा देनेका यत्न हुआ, लाक्षागृहमें जलानेका प्रयोग हुआ, सांपोंसे कटवाया, ऐसी अनेक कपटयुक्तियां धृतराष्ट्रके पुत्रोंने कीं। परंतु पितामह भीष्म, आचार्य द्रोण, भगवद्भक्त विदुर और भगवान् श्रीकृष्ण पाण्डवोंके सहाय्यकारी थे। इसलिये पाण्डव बच गये। अनेक चेष्टाएं होनेके पश्चात् आधा राज्य पाण्डवोंको दिया और उनका शासन उत्तम था, इसलिये उनका राज्य तथा ऐश्वर्य बढने लगा, वैसा धृतराष्ट्रके पुत्र न बढा सके। धर्मराजने राजसूय यज्ञ किया और सब राजाओंको परास्त करके वह सम्राट् बन गया। यह देखकर दुर्योधन मनमें जलने लगा। युद्धमें तो दुर्योधनको पांडवोंपर विजय प्राप्त करनेकी आशा ही नहीं थी, इसलिये द्यूत खेलनेके लिये धर्मराजको बुलाया और उसमें दुर्योधनकी जीत हुई। इस कपट-द्यूतसे पाण्डवोंका सब राज्यवैभव दुर्योधनको मिला और द्यूतकी शर्तोंके अनुसार पाण्डव वनमें गये। नियमानुसार वे बारह वर्ष वनमें और एक वर्ष अज्ञातवासमें रहे। पश्चात् वापस आकर अपना राज्य वापस मांगने लगे। तब सम्राट् बन बैठे दुर्योधनने कहा कि, सुईकी नोकपर जितनी मिट्टी रहेगी, उतनी मिट्टी भी विना युद्धके नहीं मिलेगी। राजाके इतना हट करनेके कारण युद्धका अवसर उत्पन्न हुआ। इस समय राजा दुर्योधनका कथन इस तरहका था—

दुर्योधनका कथन

१ हम धृतराष्ट्रके औरस पुत्र, धृतराष्ट्र राजगद्दीपर आरूढ होकर राज्य करने लगे, उस समय उत्पन्न हुए हैं। इसलिये राजगद्दी हमारी है।

२. पाण्डवोंका अधिकार राजगद्दीपर नहीं, क्योंकि वे उनके पिताके राज्यत्याग करनेके पश्चात् नियोगसे उत्पन्न हुए है, पण्डुके औरस पुत्र नहीं हैं।

३. हमारा पिता राजा धृतराष्ट्र ज्येष्ठ होनेके कारण राजगद्दीका सच्चा अधिकारी है और हम भी उनके औरस पुत्र हैं, अतः राजगद्दी हमारी है।

४. बीचमें मंत्रियोंकी संमतिके अनुसार पण्डुको राज्यगद्दी मिली, वह मंत्रियोंकी अनधिकार चेष्टा थी। कुछ समय पण्डुने राज्य किया, इससे उनका अधिकार नहीं सिद्ध हो सकता। वह सब अनधिकार चेष्टा ही है। इसलिये पण्डुकोही जहां

अधिकार नहीं था, वहां उनके पुत्रोंका अधिकार कैसे सिद्ध होगा ? और उनके अनौरस, क्षेत्रज, नियोगजन्य पुत्रोंका तो अधिकार होना संभवही नहीं है ।

५. पाण्डवोंकी आचारपद्धति भी विचित्र है । इन पांचोंकी मिलकर एकही धर्मपत्नी है । इस हस्तिनापुरके प्रदेशमें ऐसी प्रथा नहीं है । हमारे कुलका आचार ऐसा नहीं है । इस कारण इनका अधिकार इस राजगद्दीपर हो नहीं सकता ।

६. हम जिसको व्यभिचार कहते हैं, वही इनका दैनंदिनीय सदाचार है । इससे सिद्ध होता है कि ये हमारे वंशके नहीं हैं।

७. द्यूतके समय की शर्तें इन्होंने पूर्ण नहीं की है । इस देशमें सौर वर्ष चलता है । सौर वर्षके अनुसार न इनका १२ वर्षोंका वनवास हुआ है और नाही १ वर्षका अज्ञातवास पूर्ण हुआ है । इस तरह १३ वर्ष संपूर्ण होनेके पूर्व ही ये प्रकट हुए हैं, अतः द्यूतकी शर्तोंके अनुसार इनको पुनः १२ वर्ष वनवास और १ वर्ष अज्ञातवास करना चाहिये, तत्पश्चात् ये अपना राज्य-अधिकारविषयक वार्तालाप कर सकते हैं, उससे पूर्व इनको अधिकारही नहीं है ।

८. द्यूतके समयकी शर्तें पूर्ण हुईं तो हम इनके अधिकार का विचार सहानुभूतिसे करेंगे, उससे पूर्व नहीं ।

९. बारह वर्ष वनवासमें तथा एक वर्ष अज्ञातवासमें रहनेके कारण इनका राज्य चलानेका अनुभव कम हुआ है । भारतवर्षीयोंका हित देखनेका भार हमारे ऊपर है । अत. उन भारतीयोंको इन जंगलियोंके अधीन कर देना हमारे लिये उचित भी नहीं है । अतः ये पाण्डव प्रथम राज्यसंचालनके योग्य बनें और पश्चात् राज्यका अधिकार मांगनेका यत्न करें ।

१०. यदि इनमें राज्यसंचालनकी योग्यता होती, तो ये राज्यसे भ्रष्टही क्यों होते ? ये राज्यसे भ्रष्ट हुए. इसीसे इनकी ना-लायकी सिद्ध हो रही है । क्या ऐसे नालायकोंको इतनी बडी जनताका राज्य देकर इस जनताका हम विश्वास-घात करेंगे ? यह कदापि नहीं हो सकता । इसलिये जबतक ये राज्यसंचालनमें समर्थ नहीं सिद्ध होंगे, तबतक इनको राज्य देना अयोग्य है ।

संक्षेपसे दुर्योधनका यह कथन था । इसका उत्तर पाण्डवोंकी ओरसे ऐसा दिया जाता था—

पाण्डवोंका उत्तर

१. धृतराष्ट्र यद्यपि बडा था, तथापि अन्धा था। कोई भी अन्धा है (गी. रा. त.) राज्य चलानेके लिये राजा होने योग्य नहीं समझा जाता। इसलिये शास्त्रकी अनुकूलता, उसकी योग्यता और समर्थता की दृष्टिसे हमारे पिता पाण्डुमहाराजको ही राजगद्दी मिलनी योग्य थी। अतः अपने निजी योग्यतासे ही वे राजा हुए थे न कि किसी की कृपासे। एकवार हमारे पिताका राज्यपर अधिकार सिद्ध हुआ, वह किसी विशेष कारणके बिना रद्द नहीं हो सकता। उन्हींके हम पुत्र हैं, अतः राज्यके हम अधिकारी हैं। शारीरिक वैगुण्यके कारण धृतराष्ट्र ही अनधिकारी था, अतः उनके पुत्र भी अनधिकारी हैं।

२ हम पाण्डव नियोगजन्य पुत्र हैं और नियोगजन्य पुत्रोंको स्मृतियोंने पितृवित्तका अधिकारी माना है। वह स्मृति यहां चलती है, अतः इस देशकी स्मृतिके अनुसार हमही राज्यके अधिकारी हैं। यदि नियोग अप्रमाण है, तब तो नियोगजन्य होनेके कारण धृतराष्ट्र भी राज्यके अधिकारी सिद्ध नहीं होंगे, फिर उनके पुत्रोंका तो अधिकार सुतरां नहीं होगा। जिस कारण नियोगजन्य धृतराष्ट्रका अधिकार राज्यपर है ऐसा प्रतिपक्षी मान रहे हैं, उसी कारणसे हमभी अधिकारी हैं।

३. शारीरिक व्यंगके कारण धृतराष्ट्र राज्यके लिये अयोग्य सिद्ध हुआ। जबतक वह शारीरिक व्यंग रहेगा, तबतक वह अयोग्यही रहेगा। यद्यपि दूसरे योग्य वीरके अभावके कारण वह राज्यगद्दीपर आया है, तथापि उसकी अयोग्यता हटी नहीं है, अतः अयोग्यके पुत्र अयोग्यही होंगे। यहां अयोग्यका अर्थ राज्यके लिये अयोग्य ऐसा है।

४. नियोगजनित पुत्र किसी धर्मशास्त्रके अनुसार अनधिकारी नहीं सिद्ध हो सकता।

५. हमारी आचारपद्धति हिमालयके पुण्य प्रदेशकी आचारपद्धतिके अनुकूल है, क्योंकि हमारा जन्म उस पुण्य प्रदेशका है। सब भाइयोंकी एक धर्मपत्नी वहां आज भी होती है और यही वहांकी सनातन धर्ममर्यादा है। हिमालयके लोग वैसेही आर्य हैं, जैसे यहांके है। धर्मकी गति बडी सूक्ष्म है।

६ देशभेदके अनुसार आचारभेद होते ही हैं। एक देशका आचार दूसरे देशसे विभिन्न रहता है, इसीलिये वह कदापि निन्दनीय नहीं माना जा सकता। उस देशके आप्त पुरुष उस विषयमें क्या कहते हैं, यही देखना चाहिये।

७. द्यूतके समयकी शर्तें हमने पूर्ण रूपसे पालन की हैं। उस

समय सौर वर्षके अनुसारही ये वर्ष गिनना चाहिये, ऐसा नहीं कहा गया था। हम चान्द्र वर्ष मानते हैं, इसलिये चान्द्र वर्ष गणनासे शर्तोंका पूर्णतया पालन किया गया है। शर्तोंकी पूर्णता होनेके कारण हमारा राज्य हमें वापस मिलना चाहिये।

८. शर्तोंके पालनमें कोई अन्य दोष रहा नहीं है।

९. वनवास और अज्ञातवासमें रहनेके कारण हममें कोई असमर्थता नहीं हुई है, प्रत्युत शहरनिवासियोंकी अपेक्षा हम शीतोष्णादि द्वन्द्व सहन करनेमें अधिक समर्थ बने हैं। इस कारण हमारी क्षमता बढ गयी है। इसका सबूत भी है। वनवासमें गन्धर्वोंने धृतराष्ट्र-पुत्रोंका पराभव किया था, उस समय हमने उनको छुडवाया था, इसी तरह उत्तर-गोग्रहणके समय हमने उनका पराभव करके उनपर विजय पाया था। इससे हमारीही राज्यरक्षणकी क्षमता सिद्ध हो रही है।

१०. धृतराष्ट्र-पुत्रोंने कपटद्यूतसे हमारा राज्य छीन लिया था, वीरतासे नहीं। उन्होंने सभामें स्त्रीपर वस्त्रहरणका अत्याचार किया, हमें लाक्षागृहमें जलानेका यत्न किया। इन पापोंके करनेसे वेही आततायी सिद्ध हुए हैं। अतः आततायियोंको राज्यसे नीचे उतारनाही योग्य है। धर्मपालनमें तत्पर रहनेसे हमारा अधिकार सिद्ध हुआ है और आततायी होनेके कारण उनका अधिकार नहीं रहा है। इसलिये पाण्डवोंका राज्य पाण्डवोंको वापस मिलना चाहिये, क्योंकि पाण्डवोंने राजसूय यज्ञद्वारा सम्राट् पद प्राप्त किया था, वैसा धृतराष्ट्रके पुत्रोंको अभीतक प्राप्त नहीं हुआ है।

इस तरह पाण्डवोंका कथन था। परंतु धृतराष्ट्रके पुत्रोंके अधीन राज्य, सैन्य, कोश और अधिकारी वर्ग था, इसलिये केवल वचनोंद्वारा अपने पक्षका अधिकार सिद्ध करनेसे पाण्डवोंका राज्य पाण्डवोंको वापस मिलना मुश्किलही था। कोई सम्राट् वचनोंसे नमते नहीं। वैसाही यहां हुआ। संधि करनेके लिये जब भगवान् श्रीकृष्ण राजा दुर्योधनकी राजसभामें आये, उस समय दुर्योधनने कहा था कि 'बिना युद्ध किये सूईके अग्रपर रहनेवाली मट्टी भी नहीं मिलेगी।' इतना अन्याय करनेके कारण युद्ध करना अनिवार्य हुआ। दोनों पक्ष युद्धकी तैयारियां करही रहे थे। पाण्डवोंकी सेना ७ अक्षौहिणी और कौरवोंकी ११ अक्षौहिणी सिद्ध हुई। इस समय धृतराष्ट्रने एक बडा षड्यन्त्र रचा और उसमें पाण्डवोंको फंसाना चाहा। वह षड्यन्त्र अब देखिये—

धृतराष्ट्रका षड्यन्त्र

जब धृतराष्ट्रने देखा कि युद्ध अनिवार्य है, तब उसने संजयको पाण्डवोंकी छावनीमें भेजा और निवृत्तिपरक धार्मिक उपदेशद्वारा पाण्डवोंको युद्धसे निवृत्त करनेका प्रयत्न किया। वह जानता था कि पाण्डव धार्मिक वृत्तिके लोग हैं, अतः उनपर धार्मिक वचनोंका प्रयोग अच्छा परिणाम करेगा। धृतराष्ट्रकी प्रेरणासे संजयने पाण्डवोंसे जो उपदेश किया, वह यह है- (देखो म. भा. उद्योग. अ. २० से ३२)

'हे पाण्डवो! धृतराष्ट्र तुम्हारा सदा हितही चाहता है। पर वह वृद्ध है। अतः लाचार हुआ है। दुर्योधन उसका सुनता नहीं, इस कारण धृतराष्ट्र बडाही दुःखी रहता है। हे पाण्डवो! तुम उसका अन्तःकरण देखो। वह रातदिन तुम्हारे कल्याणकी बातें सोचता है। पर तुमने यह क्या सोचा है? तुम्हारे जैसे सात्विक और धार्मिक लोग युद्ध कर रहे हैं, यह सचमुच आश्चर्यकी ही बात है। युद्ध तो कसाईयोंका काम है। यह तुम्हारे जैसे धार्मिकोंके लिये कदापि योग्य नहीं है। वास्तवमें तुमने कौरवोंके सब अपराधोंकी क्षमा करनी चाहिये। क्योंकि तुम बडे धार्मिक, बडे सात्विक और बडे शान्तिके रक्षक हो। ऐसा होनेपर अब तुम अपनेही भाइयोंकी कतल करोगे? और यह किस लिये? ऐहिक क्षणभंगुर दुःखमय असार संसारके राज्यके लिये सब आप्त पुरुषोंका वध करोगे? हाय हाय! आजतक जो तुमने धर्मका पालन किया, क्या उसका यही फल है? यह विश्व नश्वर है और यहांके सभी भोग नश्वर हैं। क्या तुम्हारे भाइयों और गुरुजनोंका वध करके कमाया राज्य तुम्हारे पासही चिरस्थायी रहेगा? अपने संबंधियोंके रक्तसे भीगे हुए भोग भोगनेसे तुम्हें आनंद कैसे मिलेगा? क्षणभंगुर भोग भोगनेके लिये, इतना वध करनेके लिये तुम्हारे जैसे धार्मिक लोग प्रवृत्त हुए हैं, यही एक बडे आश्चर्यकी घटना है। क्या तुम अपने भाइयोंको मार कर चिरकाल जीवित रहोगे? तुम्हें मृत्युका भय है ही नहीं! फिर तुम अपने परलोकका साधन न करते हुए, इस कसाईके कामको करके नरकका साधन क्यों कर रहे हो? भीख मांगकर भी मनुष्य रह सकता और धर्मका पालन कर सकता है। अशाश्वत और मायामय असार संसारके क्षणभंगुर भोगोंके लोभमें फंसकर तुम यह भयानक क्रूर संहार करनेमें प्रवृत्त हुए हो। यह जैसा तुम्हारे लिये इस लोकमें निंदनीय है, वैसाही

परलोकमेंभी बडी बाधा डालनेवाला है। अतः इस घोर कर्मसे निवृत्त हो जाओ। क्षत्रियोंका धर्म बडा खराब है, वह पापही है। अतः इसको छोडकर, वनमें जाकर तप करो, पुण्य प्राप्त करो और परलोकका शाश्वत सुख प्राप्त करो। इस घोर युद्धको करनेसे तुम्हें इस लोकमें निंदा और परलोकमें बाधा होगी। इसलिये तुम युद्धसे निवृत्त हो जाओ। "

इस तरह संजयने पाण्डवोंको युद्धसे निवृत्त होनेका उपदेश किया, इसका परिणाम अर्जुनके मनपर स्थायी रूपसे हुआ। इस कारण जब दोनों सैनिकोंमें अपने भाई, गुरुजन, संबंधीही हैं ऐसा उन्होंने देख लिया और इस युद्धमें ये मारे जायगे, ऐसा जब उसका निश्चय हुआ, तब उसने अपने शस्त्रास्त्र फेंक दिये और "मैं युद्ध नहीं करूंगा," ऐसा कहकर वह युद्धसे निवृत्त हुआ। कपटी धृतराष्ट्रने संजयद्वारा उपदेश करके जो करना चाहा था, वही अर्जुनने किया और युद्ध-निवृत्ति-के कारण देते हुए वही संजयके वचन अर्जुनने अपनी वक्तृतामें भगवान् श्रीकृष्णके सामने दुहराये।

वीर अर्जुन युद्धसे निवृत्त हुआ, यह देखकर भगवान् श्रीकृष्ण आश्चर्यसे चकित हुए। अर्जुनसे ऐसी अपेक्षा थी ही नहीं। परंतु जो नहीं होना चाहिये, वही हुआ।

धृतराष्ट्र तो इसी अर्जुनकी युद्धनिवृत्तीकी अपेक्षा कर रहा था। इसीलिये वह दोनों सेनाओंके तैयार हो जानेपर बडी आतुरतासे पूछता है-

धर्मक्षेत्रे कुरुक्षेत्रे समवेता युयुत्सवः।
मामकाः पाण्डवाश्चैव किमकुर्वत संजय ॥

(भ. गी. १।१)

इस श्लोकमें धृतराष्ट्र पूछ रहा है कि "मेरे और पण्डुके सैनिक कुरुक्षेत्रमें युद्धके लिये उपस्थित हुए, उसके बाद क्या हुआ?" इस प्रश्नमें धृतराष्ट्रकी मनशा स्पष्टतासे यही दीख रही है कि मैंने संजयके द्वारा जो निवृत्तिका उपदेश करवाया, उसका इष्ट परिणाम पाण्डवोंपर हुआ या नहीं?

साम्राज्यवादी लोग जिन लोगोंके मन अनेक कपटयुक्तियोंसे अपने काबूमें करना चाहते हैं, उनमें धर्मवचनोंका प्रयोग करके जिन लोगोंको निवृत्तिके पथपर चलानेका यत्न भी शामिल है। पाण्डवोंको युद्धसे निवृत्त करनेके लिये धृतराष्ट्रने यही प्रयोग किया था, उसका परिणाम भी अच्छाही निकल आया। अर्जुनने युद्ध न करनेका निश्चय किया, इस कारण राजा धृतराष्ट्रके मनोरथ सफल हुए।

युद्धके प्रारंभमें राजा धृतराष्ट्र चिन्तासे बडा व्याकुल हुआ दीखता है। साम्राज्यवादी सदाही ऐसी चिन्तासे ग्रस्त रहते हैं, क्योंकि केवल पाशवी बलसे संपादित, संवर्धित और संरक्षित साम्राज्यके अन्तर्गत जो दलित हुए लोग रहते हैं, वे किस समय अपने विरुद्ध उठेंगे, उसका कोई नियम नहीं रहता। इसलिये सम्राट् के मन सदा इस चिन्तासे ग्रस्त हुए रहते हैं। धृतराष्ट्रकी भी यही चिन्ता थी।

अर्जुनके युद्धसे निवृत्त होनेसे दुर्योधनादिके पक्षके लोग आनंदित हुए और पाण्डव पूर्ण रूपसे उदासीन हुए। ऐसी अवस्थामें पाण्डवपक्षके नेता भगवान् श्रीकृष्णने अर्जुनको युद्धके हेतु समझा दिये और उसको युद्धके लिये प्रवृत्त किया। यहां केवल अर्जुनकोही समझानेका उद्देश्य नहीं था, अर्जुनके मिषसे अपने उद्देश्योंकी घोषणा विश्वके कल्याणार्थ यहां की गयी है, इसलिये इस घोषणाका विशेष महत्त्व है। अतः इस घोषणाके कुछ महत्त्वपूर्ण वचन अब देखिये—

परित्राणाय साधूनां विनाशाय च दुष्कृताम्।
धर्मसंस्थापनार्थाय संभवामि युगे युगे ॥

(भ. गी. ४।८)

युद्धके हेतु

१. हम सज्जनोंका संरक्षण करेंगे,
२ हम दुष्टोंको दण्ड देंगे,
३. हम मानवी व्यवहारकी उत्तम व्यवस्था स्थायी रूपसे प्रस्थापित करेंगे,
४ हरएक झगडेके समय हमारा यही उद्देश्य रहेगा।

जगत्में मानवोंके कल्याणके उद्देश्यसे यह घोषणा की गयी है। दलित जातियोंके लिये यह आश्वासन है। राज्यसे भ्रष्ट होनेका अनुभव पाण्डवोंने लिया था, राज्यसे भ्रष्ट होनेके कारण उनके सब सद्गुण मारे गये थे, उनके लिये कोई आशा नहीं रही थी। ऐसी अवस्थामें की हुई यह घोषणा है। धृतराष्ट्रके राज्यमें सज्जन सुरक्षित नहीं थे, दुष्ट लोग प्रबल हुए थे, मानवोंकी सुरक्षितताके लिये कोई स्थायी सुव्यवस्था नहीं थी, वे वचनोंका पालन भी नहीं करते थे, ऐसी अवस्थामें सर्वत्र अव्यवस्था उत्पन्न हुई थी। उसको दूर करनेके लिये यह

घोषणा की गयी थी। धृतराष्ट्रके राज्यमें सबको समदृष्टिसे भी देखा नहा जाता था, इसको दूर करनेके लिये जो घोषणा की गयी वह यह है—

समभाव

विद्याविनयसंपन्ने ब्राह्मणे गवि हस्तिनि।
शुनि चैव श्वपाके च पण्डिताः समदर्शिनः॥
(भ. गी ५।१८).

५. विद्वान् ब्राह्मण, गौ, हाथी, कुत्ता और चाण्डाल इनपर हमारी समदृष्टि रहेगी।

विद्याविनयसंपन्न, श्रेष्ठ कुलमें उत्पन्न ब्राह्मण और नीच कुलमें उत्पन्न कुत्तोंका मांस खानेवाला चाण्डाल इनके बीचमें क्षत्रिय, वैश्य और शूद्र आगये है। पशुओंमें गौसे लेकर कुत्ते-तक सब पशु आगये है। इस घोषणाका अर्थ यह है कि, हमारी राज्यव्यवस्थामें इन सबपर सम न दृष्टि रहेगी। ब्राह्मणों-का विद्याके कारण पक्षपात नहीं होगा और चाण्डालोंका उनकी अज्ञानताके कारण तिरस्कार भी नहीं होगा। सबकी पालना, सुरक्षितता और उन्नति होनेके लिये सबको समान रीतिसे अवसर प्राप्त होता रहेगा। तथा और देखिये—

अपि चेत्सुदुराचारो भजते मामनन्यभाक्।
साधुरेव स मन्तव्यः सम्यग्व्यवसितो हि सः ३०
मां हि पार्थ व्यपाश्रित्य येऽपि स्यु पापयोनयः।
स्त्रियो वैश्यास्तथा शूद्रास्तेऽपि यान्ति परां गतिम् ३२
(भ गी ९)

दुराचारीका सुधार

६ दुराचारी मनुष्य भी हमारी शासन-प्रणालीमें आकर हमारी व्यवस्थाके अनुसार चलेगा, तो वह साधु समझा जायगा।

सबकी उन्नति

पापयोनिमें उत्पन्न हुए नीच जातिके लोग, वैश्य, शूद्र और स्त्रिया भी हमारी व्यवस्थाके अनुसार परम श्रेष्ठ योग्यताको प्राप्त कर सकेंगी, उनकी उन्नतिमें किसी प्रकारकी रुकावट नहीं रहेगी।

इस तरह वैश्य, शूद्र, अन्त्यज और स्त्रियोंकी समान भावसे उन्नति होनेका मार्ग इस घोषणाद्वारा खुला हुआ। तथा और देखिये—

योगक्षेमका उत्तरदायित्व

अनन्याश्चिन्तयतो मां ये जनाः पर्युपासते।
तेषां नित्याभियुक्तानां योगक्षेमं वहाम्यहम्॥
(भ. गी ९।२२)

८ अनन्य होकर जो मनुष्य मेरी इस आयोजनामें नित्य और निरंतर संमिलित होकर कार्य करते रहेंगे, उनका योगक्षेम मैं चलाऊंगा।

यहा अपनी आयोजनामें संमिलित होनेवालोंको निश्चिन्त बना दिया है। वे चिन्ता छोडकर अपने कार्य करते जाँय। उनके घर बार आदि सबकी उत्तम व्यवस्था तथा उनके पोषण पालन आदि सब कार्य राजशासन द्वारा होते जाँयगे। इस तरह इस घोषणाद्वारा कार्य करनेवालोंकी चिन्ता दूर की हैं। तथा और भी देखिये—

स्वकर्मसे सिद्धि

स्वकर्मणा तमभ्यर्च्य सिद्धिं विन्दति मानवः॥
(भ गी. १८।४६)

९ अपने कर्मसे उसकी पूजा करनेसे उत्तम सिद्धि मनुष्यको प्राप्त होगी।

जिस मनुष्यमें जो सत्कर्म अच्छी तरह करनेका सामर्थ्य है, वह मनुष्य वही सत्कर्म हमारी आयोजनामें आकर करता रहे। उसीसे उनकी परम उन्नति हो सकेगी। इस तरह हरएक अवस्थामें रहनेवाला मनुष्य तथा हरप्रकारका शुभ कार्य करने-वाला मनुष्य अपनी उन्नति करनेमें समर्थ होगा, यह विश्वास इस घोषणा द्वारा सबको दिलाया है। तथा—

कुशलतासे कर्म करो

कर्मण्येवाधिकारस्ते मा फलेषु कदाचन।
मा कर्मफलहेतुर्भू मा ते संगोऽस्त्वकर्मणि॥४७॥
योगस्थः कुरु कर्माणि संगं त्यक्त्वा धनंजय।
सिद्ध्यसिद्ध्योः समो भूत्वा समत्वं योग उच्यते४८
तस्माद्योगाय युज्यस्व योगः कर्मसु कौशलम्॥५०॥
(भ. गी. २)

१० तुम अपना कर्म अत्यंत कुशलतासे और सिद्धि असिद्धिका विचार न करते हुए करो। कर्मका फल प्राप्त करनेका हेतु कभी मनमें न धर। कर्म न करनेकी ओर अपनी रुचि न बढा।

हमारी आयोजनामें आकर कार्य करनेवाले इस तरह कार्य करें। जो कर्म करें वह अपनी कुशलताकी पराकाष्ठा करके करें, उसमें किसी तरहकी कसूर न करें। ऐसे कार्यकर्ता के योगक्षेमकी चिन्ता हम करेंगे।

भगवद्गीतामें ये दसही घोषणाएं है ऐसी बात नहीं और भी अधिक अनेक महत्त्वपूर्ण घोषणाएं हैं। यहां केवल नमूने के लिये दस घोषणाएं बतायीं हैं। भगवद्गीता एक काव्य है, अतः उसपरसे कवित्वका चोगा उतारना चाहिये, तथा 'धर्म-संस्थापना' का अर्थ 'मानवोंकी धार्मिक, राजकीय, सामाजिक, औद्योगिक आदि सब प्रकारकी उन्नति की सुव्यवस्था' ऐसा है, यह जानना चाहिये। यह अर्थ लेकर इस गीताकी घोषणाओंका विचार करना उचित है। इससे विचारकोंके मनमें यह बात स्थिर होगी कि, इस ग्रंथकी घोषणाएं मानवी उन्नतिके साथ संबंध रखनेवाली हैं।

अतः क्रमशः इनका विचार किया जायगा।

---

(२)

श्रीमद्भगवद्गीताकी कुछ संज्ञाओंका पारिभाषिक अर्थ

श्रीमद्भगवद्गीता एक 'शास्त्र' है। इसके शास्त्र होनेके विषयमें इसी ग्रंथमें लिखा है—

इति गुह्यतमं शास्त्रं इदं उक्तं मयाऽनघ।
एतद् बुद्ध्वा बुद्धिमान् स्यात् कृतकृत्यश्च भारत॥
(भ० गी० १५।२०)

यः शास्त्रविधिमुत्सृज्य वर्तते कामकारतः।
न स सिद्धिं अवाप्नोति न सुखं न परां गतिम्॥
तस्मात् शास्त्रं प्रमाणं ते कार्याकार्यव्यवस्थितौ।
ज्ञात्वा शास्त्रविधानोक्तं कर्म कर्तुं इहार्हसि॥
(भ०गी० १६।२३-२४)

'हे निष्पाप अर्जुन! यह अत्यन्त गुह्य शास्त्र मैंने तुम्हें कहा है। इसको जाननेसे मनुष्य बुद्धिमान और कृतकृत्य होता है। जो इस शास्त्रका त्याग करके मनमाना बर्ताव करता है, उसको न सिद्धि, न सुख और न श्रेष्ठ गति प्राप्त होती है। इसलिये कार्य और अकार्यके निश्चय करनेके लिये यही शास्त्र तेरे लिये प्रमाण है। इस शास्त्रके विधानसे जो कर्तव्य निश्चित होगा, वही तुमको करना योग्य होगा।'

प्रत्येक अध्यायके अन्तमें जो संकल्प दिया होता है, उसमें **'योगशास्त्रे'** ऐसा निर्देश है, वहां भी इस भ० गीताको शास्त्र कहा है। इस तरह भ० गीता एक शास्त्र है। जो शास्त्र होता है, उसकी अपनी विशेष परिभाषा होती है। यदि उसकी परिभाषाका ज्ञान न होते हुए किसी शास्त्रका अध्ययन किया जाय, तो उस तरहके अध्ययनसे उस शास्त्रका यथार्थ ज्ञान नहीं हो सकेगा। इस कारण हमें अपना गीताशास्त्रका अध्ययन शुरू करनेके पूर्व इस गीताशास्त्रकी परिभाषाका ज्ञान प्राप्त करना चाहिये। इसका उपक्रम हम अब करते है—

धर्म-संस्थापना

'जब जब धर्मकी ग्लानि होती है और अधर्मका जोर बढता है, तब महात्मा लोग जन्म लेते है,' ऐसा गीतामें कहा है—

यदा यदा हि धर्मस्य ग्लानिर्भवति भारत।
अभ्युत्थानं अधर्मस्य तदाऽऽत्मानं सृजाम्यहम्॥ ७
परित्राणाय साधूनां, विनाशाय च दुष्कृताम्।
धर्मसंस्थापनार्थाय संभवामि युगे युगे ८
(भ० गी० ४।७-८)

'सत्पुरुषोंका परित्राण, दुष्टोंका विनाश और धर्मकी स्थापना करनेके लिये युग युगमें महात्मा अवतीर्ण होते हैं।' इन श्लोकोंमें '**धर्मकी ग्लानि**' '**अधर्मका आक्रमण**' और '**धर्मकी संस्थापना**' ये पद बडे महत्वके हैं। यहां जो धर्मकी संस्थापना कही है, वह माननीय जरदुष्टके पारसी धर्म, पै० ईसाके इसाई धर्म, पै० मोहमदके मोहमदीय धर्म अथवा भ० गौतम बुद्धके बुद्ध धर्म, किंवा पू० महावीरके जैनधर्म जैसी धर्म-स्थापना है, या और कुछ है, इसका विचार होना आवश्यक है।

पूर्वोक्त धर्मोंके समान भगवान् श्रीकृष्णने किसी धर्मकी स्थापना नहीं की, यह बात सब जानतेही है। भगवान् श्रीकृष्णको कोई भी धर्माचार्य नहीं कहता, परंतु वे '**व्यवस्थाके निर्माता**' अवश्य थे। वह कौनसी व्यवस्था है, इसका विचार करनेसे इस धर्मसंस्थापनाका पता लगना संभव है। इसलिये हम इस जनपदकी व्यवस्थाका विचार करते हैं—

भगवान् श्रीकृष्णजीने अपनी परंपरा इसी गीतामें कही है, वह यह है —" मैं (आदित्योंका विष्णु), विवस्वान्, मनु, इक्ष्वाकु, अनेक राजर्षि, भगवान् श्रीकृष्ण, अर्जुन।" यह परंपरा (गी० ४।१-२ में) कहा है।

'**आदित्यानां अहं विष्णुः।**' (गी. १०।२१) और '**पाण्डवानां धनंजयः।**' (गी. १०।३७)

ऐसा अपनी विभूतिके विषयमें वर्णन गीतामेंही है। प्रारंभमें विष्णुने जो ज्ञान विवस्वान्‌से कहा था, वही मनु, इक्ष्वाकु और अनेक राजर्षियोंकी परंपराद्वारा भगवान् श्रीकृष्णतक आया और वही ये इस युद्धके समय अर्जुनको दे रहे हैं। यह क्षत्रियोंकी परंपरा है। इनमेंसे एक भी ईसा या बुद्ध जैसा धर्मप्रवर्तक नहीं था। ये सब राज्य करनेवाले क्षत्रिय थे। और राज्य चलानेमें युद्ध आदि करना, दुष्टोंको दण्ड देना, प्रजाका पालन करना आदि कर्मही ये सब राजालोग करते रहे थे। इनमेंसे एक भी शम, दम, आदि तप करके शरीर सुखानेमें प्रसिद्ध हुआ ब्राह्मण दीखता नहीं है। यदि शम दम तप साधनही भगवान् श्रीकृष्णको अभीष्ट होता, तो वही अर्जुन कर रहा था। अर्जुन तो वनमें जाकर कंदमूल खाकर देह क्षीण करनेकी तप करनेके लिये उत्सुकही था। भगवान् श्रीकृष्णने अर्जुनको इस तपसे निवृत्त किया और युद्ध करके राज्यकी व्यवस्था करनेके कार्यमें लगाया। यही कार्य विवस्वान्, मनु, इक्ष्वाकु आदि राजर्षियोंने किया यह इतिहासमें प्रसिद्ध है। यहांका राजर्षि पद 'राजाओंमें श्रेष्ठ राजा' इस अर्थका बोधक है, 'राजाओंमें शम दम आदि तप करनेवाला राजा', नहीं; परंतु जो राजा अपना राज्य उत्तम रीतिसे चलाता है, सब प्रजाजनोंकी उत्तम पालना, पोषणा और उन्नति करता है, वह राजर्षि है, अर्थात् वही राजाओंमें श्रेष्ठ राजा है। यहांका 'ऋषि' पद श्रेष्ठताका वाचक है। भगवान् श्रीकृष्णजीने जो ज्ञान अर्जुनको दिया, वह ऐसे राजाओंमें अति श्रेष्ठ राजाओंके शासन-व्यवहारमें जीवित और जाग्र तथा, वह लुप्त हुआ था, जिसकी पुनर्जाग्रति भगवान् श्रीकृष्णजीने की।

इससे स्पष्ट होता है कि, यहांका 'धर्म' पद राज्यशासनकी सुव्यवस्थाके लिये आवश्यक कर्तव्योंका बोध कराता है। इस विषयमें गीताका एक वचन देखने योग्य है—

राजविद्या राजगुह्यं पवित्रं इदं उत्तमम्।
प्रत्यक्षावगमं धर्म्यं सुसुखं कर्तुं अव्ययम्॥

(भ० गी० ९।२)

'यह भगवद्गीताशास्त्र राजाओंकी विद्या है, यह राजाओंका गुह्य ज्ञान है, यह उत्तम पवित्रता करनेवाला है, यह प्रत्यक्ष अनुभव देनेवाला, धर्मरूप, करनेके लिये सुसाध्य और जिसके लिये बहुत व्ययकी आवश्यकता नहीं ऐसा है।' यहां भ० गीताके ज्ञानको '**राजविद्या** और **राजगुह्य**' कहा है। बहुतोंने इन पदोंके अर्थ 'श्रेष्ठ विद्या और श्रेष्ठ गुह्य' ऐसे किये हैं। परंतु पूर्वोक्त परंपराका विचार करनेसे यहां अब स्पष्ट हो गया है कि, यह श्रेष्ठ राजाओंका राज्यशासनविषयक ज्ञान है और उस राज्यशासनके प्रबन्धमें जो कुछ गुह्य बातें होतीं हैं, उनका संग्रह इसमें है।

इस विषयमें वेदके प्रमाण यहां देखना योग्य हैं। '**धर्माय सभाचरं**' (वा० य० ३०।६; काण्व० ३४।६) अर्थात् धर्म जाननेके लिये राजसभाके सभासदसे जाकर मिलो। यदि किसीको राज्यशासन-व्यवस्थाके संबंधमें ज्ञान प्राप्त करना हो, तो वह मनुष्य जाकर राजसभाके सुयोग्य सभासदसे मिले और उससे राज्यशासनविषयक ज्ञान प्राप्त करे। इससे 'धर्म' शब्दका अर्थ अतिस्पष्ट हुआ। यहां धर्म शब्दका 'राजाओंका राज्यशासनसंबंधी कर्तव्य' ऐसा अर्थ है। यही राजाओंके वशका गुह्य है और राजप्रबंधकारिणी सभाके सदस्यकेही वह जाना जा सकता है। भगवान् श्रीकृष्ण जिस धर्मसंस्थापनाके

लिये कटिबद्ध हुए थे, वह यही राज्य-प्रबंधकी सुव्यवस्था थी और इसकी कुछ विशेषता सिद्ध करनेके लियेही भगवान् श्रीकृष्णका जीवन व्यतीत हुआ, यह बात इतिहासमें सुप्रसिद्ध-ही है। इतना सिद्ध होनेके पश्चात् इसमें किन बातोंका अन्तर्भाव होता है, इसका विचार करना चाहिये।

राज्यशासनकी सुव्यवस्थाका अर्थ राज्यके अन्तर्गत जनता की सब प्रकारकी सुव्यवस्थाही है। हम महाभारतमें देखते हैं कि, जहां पाण्डव राज्य करने लगते थे, वहां नयीं नयीं बस्तियां बसतीं थीं और छोटे ग्रामोंके बडे नगर हो जाते थे। और कौरवोंकी राज्यपद्धतिसे उनके नगरोंकी जनसंख्या कम होती थी। यह राज्यशासनकी पद्धतिका ही भेद है।

भगवान् श्रीकृष्ण इससेभी कुछ विशेष उच्च सुधार शासन-प्रबंधमें करना चाहते थे और इस कार्यके लिये उन्होंने अर्जुन-को अपने हाथमें लिया था। जब अर्जुन 'युद्ध नहीं करूंगा,' ऐसा कहने लगा, तब भगवान् श्रीकृष्णने उससे कहा कि, 'तू इस युद्धमें निमित्तमात्र खडा रह'–

मयैवैते निहताः पूर्वमेव
निमित्तमात्रं भव सव्यसाचिन् ॥ (भ. गी. ११।३३)

यदि तू निमित्तमात्र इस युद्धमें खडा न रहा तो तुम्हारे स्थानपर दूसरा योद्धा आजायगा। तुम्हारे युद्ध न करनेसे युद्ध टलनेवाला नहीं है।

भगवान् श्रीकृष्णकी विश्वव्यापक आयोजना 'धर्मसंस्थापना विशेष रीतिसे करनेके लिये' निश्चित हो चुकी थी। और इसी-लिये '**राजविद्या**' और '**राजगुह्य**' का उपदेश भगवान् श्रीकृष्णने यहां अर्जुनको कहा था। इससे निःसंदेह सिद्ध होता है कि, 'राजविद्या' और 'राजगुह्य' का अर्थ राज्यशासनकी विद्या और राज्यशासनके गुह्य हैं। और जो धर्मसंस्थापना भगवान् श्रीकृष्ण करना चाहते थे, वह जनताके शासनसंबंधी व्यवस्थाही थी। जनतामें चार वर्ण और चार आश्रम होते हैं। इनके कर्तव्य देखनेसे कौनसे कर्तव्य इस व्यवस्थामें संमिलित होते हैं, इसका पता लगना संभव है, इसलिये अब उनका विचार करते हैं–

चार वर्णोंकी व्यवस्था

ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य और शूद्र ये चार वर्ण आर्योंको वर्ण व्यवस्थामें हैं। धर्मसंस्थापनासे इन चारोंकी सुव्यवस्था होनी चाहिये। इसीतरह चार वर्णोंके बाहर जो रहते हैं, वे अवर्ण कहिये, अन्त्यज कहिये, या उनको और कोई नाम दीजिये। वे चार वर्णोंके बाहरके हैं, परंतु राष्ट्रमें उनका स्थान है, इस-लिये उनकी भी व्यवस्था लगानी चाहिये। गीता ५।१८ में '**पण्डित और श्वपाक** (**चाण्डाल**)' को समदृष्टिसे देखने-की घोषणा हुई है, तथा गीता ९।३२ में '**पापयोनि**यों तथा **शूद्रों**को भी परम उन्नतिका साधन करनेका अवसर मिलेगा' यह घोषणा भी अन्त्यजोंकी उन्नतिका समावेश 'धर्म-संस्था-पना' में भगवान् श्रीकृष्णजीने किया था, इसकी सिद्धता करती है। 'श्वपाक और पापयोनि' ये नाम उन जातियोंके हैं कि जो चतुर्वर्णसे बाहेरके हैं।

वेदमंत्रोंमें नरमेधके प्रसंगमें ये सब वन्य जातियाँभी यज्ञके मण्डपमें लाकर सबकी उन्नतिके साथ उनकी उन्नतिकी साधना करनेका विधि स्पष्ट रूपसे विद्यमान है। इस वैदिक रीतिका पुनरुत्थान गीतामें किया गया है। अर्थात् पापयोनियोंके सुधार-की आयोजना भी धर्मसंस्थापनामें संमिलित है।

चारों वर्णोंके कार्य

मनुष्यकी उन्नति कर्मोंसे होगी। कर्म करनेकी मनुष्यमें जैसी शक्ति होगी, वैसी उसकी उन्नति होना संभव है। इसलिये यहाँ हम देखते है कि, चार वर्णोंकी उन्नतिके लिये गीताका कार्यक्रम क्या है।

१. ब्राह्मणोंके कर्म– शम, दम, तप, शुद्धता, क्षान्ति (क्षमा करना), सरलता, ज्ञान, विज्ञान, आस्तिक्य (ईश्वरपर विश्वास) ये नौ कर्म ब्राह्मणके हैं–

शमो दमस्तपः शौचं क्षान्तिरार्जवमेव च।
ज्ञानं विज्ञानमास्तिक्यं ब्रह्मकर्म स्वभावजम् ॥
(गी. १८।४२)

इनमें '**ज्ञान** और **विज्ञान**' जनतामें बढानेकी व्यवस्था राजप्रबंधसे पाठशाला आदि द्वाराकी जा सकती है, तथा नगरकी शुद्धता भी राजप्रबंधद्वारा होना संभव है। शेष बातें ज्ञान और विज्ञानके बढनेसे मनुष्य अपने स्वभावसेही कर सकता है। क्योंकि ज्ञानविज्ञानपरही अन्य सब बातें निर्भर हैं। और ये नौ गुण मानव-सभ्यताकी कसोटियाँही हैं।

२ क्षत्रियके कर्म– शौर्य, तेजस्विता, धैर्य, दक्षता, युद्धसे पलायन न करना, दान, राज्यका शासन करना, ये सात क्षत्रियके कर्म हैं–

शौर्यं तेजो धृतिर्दाक्ष्यं युद्धे चाप्यपलायनम्।
दानमीश्वरभावश्च क्षात्रं कर्म स्वभावजम्॥
(गी. १८।४३)

युद्ध-शास्त्रकी उत्तम शिक्षासे तथा नियममें रहनेका अभ्यास करनेसे ये कर्म मनुष्योंमें बढाये जा सकते है। राजप्रबंधद्वारा यह शिक्षा क्षत्रियोंको देना योग्य है।

३. **वैश्योंके कर्म-** कृषि, गोरक्षा (पशुपालन) और वाणिज्य ये वैश्योंके कर्म हैं-

कृषि-गोरक्ष्य-वाणिज्यं वैश्यं कर्म स्वभावजम्॥
(गी. १८।४४)

इन तीनों कर्मोंकी शिक्षा राज-प्रबंधद्वारा दी जा सकती है। कृषि, गोरक्षा, पशुपालन, व्यापार-व्यवहार, धनव्यवहार आदिकी शिक्षाके बडे बडे विद्यालय खोल कर इन विषयोंका ज्ञान दिया जा सकता है।

४. **शूद्रोंके कर्म-** शूद्रोंके दो वर्ग हैं, एक असच्छूद्र और दूसरे सच्छूद्र। इनमेंसे एक त्रैवर्णियोंकी सेवा करके उपजीविका करता है और दूसरा विविध शिल्पोंसे अपनी आजीविका चलाता है। "**शिल्पैर्वा विविधैर्जीवेत्।**" ऐसा स्मृतिकारोंने कहा है।

चौदह विद्याएँ और चौसठ कलाएँ इस तरह इन चार वर्णोंमें रहती है। और 'धर्मसंस्थापना' में इन विषयोंके ज्ञानवृद्धिका संपूर्ण प्रबंध होता है। चार वर्णोंके इन कर्मोंका जो विचार करेंगे, उनको इस बातका पता लग जायगा कि, मनुष्योंकी उन्नतिके लिये जो जो आवश्यक विद्याएं हैं, वे सब इनमें समायी हैं। और यदि कोई नयी विद्या उत्पन्न होगी, तो उसकी शिक्षाका भी प्रबंध करना इस धर्मसंस्थापना करनेवालेका आवश्यक कार्य हो जाता है। अतः 'धर्मसंस्थापना' का अर्थ धर्मकी नयी रीतिसे स्थापना करना (Establishing a new order of religion) नहीं है। अर्थात् यहाँ बुद्ध जैसे नये धर्मकी स्थापनाका भावही नहीं है। परंतु चारों वर्णोंके जो जो उन्नतिके और आजीविकाके कार्य है, उनकी उन्नति और व्यवस्था करना है (Establishing, by mutual co-operation, a new order in social, moral, industrial& economic conditions of society)

प्राचीन समयमें बडे बडे गुरुकुल थे, जहां सहस्रों नवयुवक पढते थे और उनमें ज्ञान विज्ञान, कला हुनर, युद्ध, यंत्र आदि सब प्रकारका ज्ञान दिया जाता था। अतः 'धर्मसंस्थापना' में जो 'धर्म' पद है वह केवल (Religion) मजहबका वाचक नहीं है। प्रत्युत वह चार वर्णोंके संपूर्ण व्यवसायोंका बोधक है और इन व्यवसायोंमें सब प्रकारके औद्योगिक जीवनका भी अन्तर्भाव होता है। इस 'धर्म' पदका ठीक ठीक तात्पर्य समझनेके लिये संपूर्ण व्यावसायिक जीवनका विचार करना चाहिये। वह सारा विचार हम यहां करना नहीं चाहते। यहां केवल धर्म और धर्मसंस्थापनाका भावही स्पष्ट करना है। यह भाव ध्यानमें न लिया जाय, तो मजहबवाचक आशय ध्यानमें आ जाता है, जो अर्थका अनर्थ होता है। भगवान् श्रीकृष्णजी जो धर्मकी संस्थापना करना चाहते थे, वह विवस्वान्, मनु, इक्ष्वाकु तथा अनेक राजाओंकी परम्परामें व्यक्त हुई संस्थापना है। इनमें मनुकी धर्मव्यवस्था हमारे पास है, जिसका नाम '**मनु-स्मृति**' है। इस स्मृतिको देखनेसे पता लग जायगा कि, 'धर्मव्यवस्था' का स्वरूप क्या है। इसी तरह अन्यान्य स्मृतियाँ भी देखने योग्य हैं।

पूर्व स्थानमें जो चार वर्ण कहे हैं, इन चार वर्णोंमेंसे प्रत्येकमें कई जातियाँ संमिलित हैं। प्रत्येक जातिका एक एक धंधा निजधंधा है। जो दूसरी जातवाला कर नहीं सकता। एक वर्णका धंधा दूसरा वर्ण न करे, इस प्रकारकी प्रतिबंधक व्यवस्थासे उस धंधा करनेवालेके धंधेको आपही आप संरक्षण मिलता है। इस रीतिसे यह संरक्षण (Protection) की योजना है। अपना कर्म जितना चाहिये उतना उन्नत करनेका अधिकार प्रत्येक धंधेवाली जातिको है। परंतु दूसरी जातिका धंधा करनेमें उसको प्रतिबंध है। इस योजनासे सबकी उन्नति और सबका संरक्षण होता है। आजकलके 'युनियन, गिल्ड्' आदिसे यही किया जा रहा है। उन्नति और संरक्षणकी दृष्टिसे प्राचीन वर्णव्यवस्थाकी, आजकी युनियन या गिल्डकी व्यवस्थासे तुलना करना योग्य है। इस बातका अधिक विचार करनेवाले इसका अधिक विचार करें। हमें यहां केवल सूचना मात्र लिखना है।

चार वर्णोंकी व्यवस्थामें संरक्षणका तत्त्व किस तरह रहा है, इसका विचार गीताके निम्नलिखित श्लोकसे हो सकता है—

स्वे स्वे कर्मण्यभिरतः संसिद्धिं लभते नरः॥४५॥
श्रेयान् स्वधर्मो विगुणः परधर्मात्स्वनुष्ठितात्।

'स्वभावनियतं कर्म कुर्वन्नाप्नोति किल्बिषम् ॥४७॥
(गी. १८)

' अपने अपने कर्ममें जो मनुष्य तत्पर रहता है, वही उत्तम सिद्धिको प्राप्त करता है। अपना कर्तव्य गुणहीन हुआ तो भी वह श्रेयस्कर है, दूसरेका कर्तव्यकर्म करनेके लिये कितनाभी सुगम हो तो भी वह श्रेयस्कर नहीं होता। अपने स्वभावसे नियत हुआ कर्तव्यकर्म मनुष्य करता रहे। वैसा करनेसे मनुष्य पापी नहीं होता।'

यह उपदेश अर्जुनको किया है। अर्जुन क्षत्रिय था, उसका कर्म युद्ध करना था। वह उस कर्मको छोडना चाहता था और ब्राह्मणका शम दम आदि कर्म करना चाहता था। भगवान् कहते हैं कि, क्षत्रियके लिये क्षत्रियोचित कर्महीं करना चाहिये, ब्राह्मणका कर्म कितना भी करनेके लिये सुगम दीख पडे, परंतु वह क्षत्रियके लिये योग्य नहीं है। इस तरह भगवान् श्रीकृष्ण जो 'धर्मसंस्थापना' करना चाहते थे, उस व्यवस्थामें क्षत्रियको ब्राह्मणका कर्म करना मना था। इसका हेतु आर्थिक व्यवस्थाके साथ संबंधित है। ब्राह्मणका कर्म अनुत्पादक (Unproductive) है, क्षत्रियका कर्म उत्पादक कामधन्देंकी सुरक्षा करना है और वैश्य शूद्रोंके कर्म उत्पादक (productive) है। ब्राह्मण अर्थका उत्पादन नहीं करते, इसलिये उनकी संख्या राष्ट्रमें मर्यादित रहनी योग्य है। उत्पादक कामधन्धेवालोंकी संख्या भी राष्ट्रीय आवश्यकतानुसार ही रहनी चाहिये। इसलिये इसपर राजाकी निग्रानी रहनी चाहिये।

यदि मनुष्यकी वैयक्तिक रुचिपर यह छोड दिया जाय, तो राष्ट्रकी आर्थिक व्यवस्थापर उसका अनिष्ट परिणाम होगा, जैसा जैन बौद्धोंके धर्मोंके समयमें हुआ। इन धर्मोंने संन्यास और भिक्षु बननेका सबको उपदेश दिया, पात्र और अपात्र तथा राष्ट्रकी आवश्यकताकी ओर दृष्टि नहीं दी। इससे अनुत्पादक मनुष्योंकी संख्या राष्ट्रमें बढ गयी और आर्थिक अव्यवस्था उत्पन्न हुई, तथा साथही साथ संरक्षक दल भी कम हुए। जिधर देखो उधर संन्यासी और भिक्षु हुए और समयपर देशकी रक्षा करनेके लिये आवश्यक क्षत्रिय दल भी नहीं रहे। इसका जो परिणाम होना था, वह हुआ। इसलिये कौन क्या कर्म कर रहा है, इसपर राजाका नियंत्रण रहना चाहिये। इसीका नाम **' धर्मसंस्थापना '** है और मनमाना आचार व्यवहार बढ जानेका नाम **' धर्मकी ग्लानि '** है। धर्मग्लानिसे राष्ट्रका बचाव करना चाहिये और सारे राष्ट्रपर ' धर्मसंस्थापक ' का नियन्त्रण अवश्य चाहिये।

मान लीजिये कि युद्धका समय उपस्थित है, उस समय सब क्षत्रियोंको रणके लिये सुसज्ज होना चाहिये। अतः किसी क्षत्रियको उस समय संन्यासी या भिक्षु होकर वनमें जानेका अधिकार नहीं रहेगा। इतनाही नहीं, परंतु सब क्षत्रियोंको संग्राममें भेजकर आन्तरीय सुव्यवस्थाकी सुरक्षा करनेका भार उस समय अन्य वर्णोंके सिरपर रहेगा। इस विषयमें मनुका एक श्लोक देखने योग्य है-

शस्त्रं द्विजातिभिर्ग्राह्यं धर्मो यत्रोपरुध्यते।
द्विजातीनां च वर्णानां विप्लवे कालकारिते ॥
(मनु० ८।३४८)

' जब धर्मपर संकट आ जाय, तब ब्राह्मण और वैश्यने भी हाथमें शस्त्र पकडना चाहिये।' अर्थात् इस समय क्षत्रिय समरभूमिपर जावे और ब्राह्मणों और वैश्योंके युवकोंने आन्तरिक सुरक्षा स्थापित करनी चाहिये। ऐसी अवस्थामें यदि क्षत्रियही संन्यास लेने लगे, तो उनके उस विचारका नियमन राजाको करना चाहिये।

श्रीमद्भगवद्गीताका जो कथन है कि ' स्वधर्मही श्रेयस्कर है, परधर्म भयावह है, ' इसका यह अर्थ है। धर्म शब्दका यह प्रपंच देखने योग्य है। यहां धर्मका अर्थ स्नानसंध्यादि कर्म नहीं है। यहांका धर्म ' राष्ट्रीय, सामाजिक, आर्थिक और औद्योगिक सुव्यवस्था ' है। इसलिये यह सुव्यवस्था प्रस्थापित करनेके लिये समय समयपर बडे बडे महात्मा आते हैं और धर्मसंस्थापना करते हैं। यहां धर्मसंस्थापनाका अर्थ प्रत्येक वर्णके कर्तव्यकी राष्ट्रीय आवश्यकतानुसार व्यवस्था है। स्नानसंध्यादि अथवा जपतपादिका यहां संबंध नहीं है। भलेही ये कर्म द्विजोंके लिये आवश्यक हों, परंतु यहांकी जो व्यवस्था है, वह राष्ट्रके अन्तर्गत जितने भी लोग हैं, उन सबके कर्मोंकी परस्परानुकूलतासे तथा परस्परकी आवश्यकतानुसार सुव्यवस्था लगाना है। अतः यहांका ' धर्म ' पद राष्ट्रीय, सामाजिक, औद्योगिक, तथा आर्थिक सुव्यवस्थासे अधिक संबंध रखता है।

इसी दृष्टिसे **' धर्म्यं युद्धं ।'** (गी. २,३१); **' धर्म्यं संग्रामं ।'** (गी. २।३३) इन वचनोंमें कहा ' धर्मयुद्ध ' इस चारों वर्णोंकी सुरक्षा करनेके लिये तथा पूर्वोक्त व्यवस्था ठीक-

तरह चलानेके लिये आवश्यक हुआ युद्ध, ऐसा स्पष्ट है। इस श्रीकृष्ण-अर्जुनके संवादको '**धर्म्यं राजगुह्यं**' (गी ९।२) राज्यका शासन करनेका यह गुह्य ज्ञान है, ऐसा जो कहा है, वह अत्यंत योग्य है। '**धर्म्यामृतं**' (गी १२।२०) अमरत्व प्राप्त करनेका यह धर्म है, अर्थात् राज्यका अमरत्व यहां विवक्षित है। इस गीताशास्त्रोक्त राज्यशासनशास्त्रके अनुकूल जिस राष्ट्रका राज्यशासन चलेगा, वह राष्ट्र सदा जीवित और जाग्रत रहेगा, अर्थात् वह राष्ट्र अमरपनका अनुभव ले सकेगा।

इस 'धर्मपर श्रद्धा न रखनेवाले जो होंगे, वे नाना प्रकारके दुःख भोगेंगे' (गी ३।३) ऐसा कहकर जनताको भगवान्ने सावध भी किया है। यह 'धर्म शाश्वत' है (गी १४।२७) अर्थात् कभी यह निरुपयोगी नहीं होता। इसका उपयोग शाश्वत है। समय बहुत व्यतीत होनेके कारण यह पुराना नहीं होगा। इतने विवरणसे 'धर्मसंस्थापना' का अर्थ तथा 'धर्म' पदका अर्थ समझमें आ सकता है।

योग और साम्ययोग

योग शब्दके अनेक पारिभाषिक अर्थ भगवद्गीतामें है। जो कर्म तथा अनुष्ठानके अर्थ है उनका तात्पर्य आगे उस उस विषयके प्रवचनके प्रसंगमें बताया जायगा। यहां केवल राज्यशासनविषयक तात्पर्य बताते हैं-

(गी. ४।१-३ में कहा है-) 'यह योग मैंने (विष्णुने) विवस्वान्से कहा था, मनु इक्ष्वाकु तथा अन्य राजर्षियोंको यह परंपरासे प्राप्त हुआ था, परंतु कुछ समयके व्यतीत होनेपर यह योग नष्ट हुआ। यही पुरातन योग मैं तुझसे (अर्जुनसे) आज कह रहा हूं। क्योंकि तू मेरा भक्त है और मित्र भी है, इसलिये मैंने यह गुप्त बात तेरे सामने प्रकट की है।'

यहां तीन वार 'योग' शब्द आया है, एक वार 'रहस्य' पद है। आगे अर्जुनके कथनमें इसीको 'साम्य योग' कहा है-

योऽयं **योग**स्त्वया प्रोक्तः **साम्येन** मधुसूदन। (गी. ६।३३)

'हे भगवन्! जो यह साम्ययोग तूने मुझे कहा,' ऐसा इसका वर्णन अर्जुन कर रहा है। साम्ययोगका अर्थ जिसमें सब मानवोंपर साम्यदृष्टि रखी जाती है, समभावसे सबको देखनेका जिसमें प्रधान कार्य होता है, वही साम्ययोग है।

पूर्व स्थानमें हमने यह देख लिया है कि, जो व्यवस्था भगवान् श्रीकृष्ण करना चाहते थे, उस व्यवस्थामें चाण्डाल, पापयोनि, श्वपच, स्त्री, शूद्र आदि सबको अपनी उन्नति करनेके लिये समानही अवसर मिलनेवाला था, राजप्रबंधके सम्मुख ये सब समान भावसे खडे रह सकते थे। यह समभाव दर्शानेके लियेही इस योगको अर्जुनने 'साम्ययोग' कहा है।

मनु आदि राजर्षियोंसे जो योग कहा था, वह निःसंदेह राज्यशासनका योग था। आज मनुस्मृति तथा अन्यान्य स्मृतियोंमें यही योग हमें दिखाई देता है। विवस्वान्ने जो राज्य चलानेका योग मनुसे कहा, वहीं मनुने अपनी स्मृतिमें लिखकर रखा। यद्यपि आजकी मनुस्मृति भृगु ऋषिकी लिखी है, तथापि मनुकी स्मृतिके आधारपरही यह आश्रित है, इसलिये इसीको मनुका धर्मशास्त्र (law of Manu) कहते है। (Law, order, justice, equity and righteous living) विधि, व्यवस्था, न्याय, समता और सदाचार आदि सबके विषयमें इस तथा अन्य स्मृतियोंमें बहुत कुछ कहा है। 'योग' पदका इतना विस्तृत अर्थ यहां है, '**साम्ययोग**' का अर्थ (order of equanimity) समत्वकी दृष्टिसे की हुई आयोजना ऐसा है। अर्थात् ये सब भाव राज्यशासनके साथ संबंध रखनेवाले है, इसीलिये यह राज्यशासनका योग विवस्वान्, मनु, इक्ष्वाकु, अन्य श्रेष्ठ राजा, और अर्जुनवीर आदिसे कहा था। इनमेंसे एक भी राज्यशासन छोडकर वनमें तप करनेके लिये जानेका इच्छुक नहीं था और जो अर्जुन वनमें जानेके लिये तैयार हुआ था, वह वनगमनसे निवृत्त होकर युद्ध करने और विजयप्राप्तिके पश्चात् राज्यशासनकी नयी व्यवस्था जारी करनेके लिये सिद्ध हुआ। अतः यह 'योग' अथवा 'साम्ययोग' राज्यशासनकी एक विशेष पद्धतिका नाम है, इसमें संदेह नही हो सकता।

अर्जुनको वनगमनसे निवृत्त करनेके लियेही यह 'साम्ययोग' कहा गया था, वैसा परिणाम अर्जुनपर हुआ भी, इससे इस योगका स्वरूप स्पष्ट हो जाता है।

भक्त और भक्ति

पूर्वस्थानमें (गी० ४।३ में) अर्जुनको भक्त कहा है और अर्जुनने श्रीकृष्णकी भक्ति की थी, ऐसाही कहा जाता है। आजकल भक्तिका अर्थ देवताके नामका जप करना है। चारों ओर आजकलके भक्तजन कांसेके ताल अथवा मंजिरे

लेकर ईश्वरके नामका घोष करते रहते हैं और ऐसे कर्मको हम बडी भक्ति कर रहे हैं ऐसा मानते हैं। इनको जनता भी 'भक्त या भगत' कहती है। परमेश्वरकी यही सेवा समझी जाती है। परंतु आजकलकी यह कासेके मंजिरे कूटनेकी भक्ति अर्जुनने नहीं की थी। अर्जुनने भगवान् श्रीकृष्णकी सेवा भी बहुतायतसे नहीं की थी। प्रत्युत भगवान् श्रीकृष्णनेही अर्जुनकी बहुत सेवा की थी। रथ चलानेका कार्य अर्जुनके लिये श्रीकृष्णजीने किया था, अर्जुनके घोडोंकी सेवा भी उन्होंनेही की थी। इसके आतिरिक्त हर समय उनकी सहायतार्थ स्वयं भगवान् दौडते दीखते हैं। अर्जुनने भगवान् श्रीकृष्णकी सेवा करनेके स्थानपर भगवानने ही अर्जुनकी बडी सेवा की थी। इतना होनेपर अर्थात् भगवान्से इतनी सेवा लेनेपर भी अर्जुनही भगवान्का भक्त कहा गया है। यह कैसे हुआ इसका विचार करना आवश्यक है।

भक्त किसको कहते हैं, इसका पता लगाना आवश्यक है। जैसा महाभारतमें भगवान् श्रीकृष्णका भक्त अर्जुन है, वैसाही भगवान् रामचन्द्रजीका भक्त हनुमान् रामायणमें है। इस हनुमान्ने भी श्रीरामचन्द्रका नामघोष कासेके ताल बजाकर नहीं किया। इस तरह प्राचीन भक्तोंका जीवन-चरित्र देखनेसे आज जो भक्तिका मार्ग प्रचलित है, वैसा किसीने भी किया नहीं दीखता है। तथापि इनके समान दूसरे कोई भक्त नहीं हुए, ऐसाभी कहा जाता है, अतः इसका विचार करना चाहिये।

अर्जुनने और हनुमान्जीने अपने जीवनभरमें क्या किया? श्रीकृष्णका अर्जुनने और श्रीरामचन्द्रजीका हनुमान्ने नाम-जप किया था, इस विषयमें कोई प्रबल प्रमाण उपस्थित नहीं है। परंतु भगवान् रामचन्द्रजीने और श्रीकृष्णजीने जो जानपदकी सुव्यवस्था करनेकी बडी आयोजनाका कार्य शुरू किया था, शत्रुओंका नाश करने और सज्जनोंकी सुरक्षा करनेका जो कार्य शुरू किया था, उसमें तन और मनसे जो भी कुछ होना उनसे संभव था, वह उन्होंने भरसक प्रयत्न करके, तथा थोडी भी कसूर न करते हुए किया। यदि इन महान् भक्तोंके चरित्रसे किसी रहस्यका पता लगना संभव है, तो यही रहस्य यहां स्पष्ट दिखाई देता है। पर आजकलके भक्त न तो सज्जनोंका परित्राण करनेमें अपना जीवन लगाते हैं, न दुष्टोंको दूर करनेका यत्न करते हैं और नाही जानपदकी शासनविषयक सुव्यवस्था करनेमें अपना कर्तव्य करते हैं। भगवान्ने जो अपने जीवनोद्देश करके कहे है, उनमेंसे ये भक्त कुछ भी नहीं करते, प्रत्युत मंजिरे बजाते और सेंकडोंकी संख्यामें इकट्ठे होकर ईश्वरका नाम जपते रहते हैं। सब लोग आजकल इनकोही भक्त कहते है।

परंतु हमें अर्जुन और हनुमान्की जीवनीका आदर्श अपने सामने रखना चाहिये और जैसा उन्होंने बर्ताव किया, वैसाही हमें करना चाहिये।

अर्जुन और हनुमानजीने अपने जीवनभरमें क्या किया? भगवान् श्रीकृष्णजीने तथा श्रीरामचन्द्रजीने पूर्वोक्त प्रकार मानवोंकी सुव्यवस्था प्रस्थापित करनेके हेतुसे क्रमशः कौरवों और रावणादि राक्षसोंका नाश करनेकी तथा उस समयके सज्जनोंकी रक्षा करनेकी आयोजना निश्चित की थी और तदुपरान्त राज्यशासनद्वारा चारों वर्णोंकी सुव्यवस्था करनेकी योजना की थी। इस आयोजनामें जो भी कुछ हो सकता था, वह अर्जुनने तथा हनुमानजीने किया था।

इससे यही बोध मिलता है कि, (१) सज्जनोंकी सुरक्षा, (२) दुष्टोंका नाश और (३) धर्मकी स्थापना यह त्रिविध कार्य परमेश्वरका अपना कर्य है। भक्तोंको यह कार्य जितना हो सकता है उतना तन मन धन लगाकर करना चाहिये। और इन कर्मोंके द्वारा परमेश्वरकी सेवा करनी चाहिये। इन कर्मोसेही परमेश्वरकी सेवा हो सकती है। जिसकी सेवा करनी होगी, उसके प्रिय कार्य करनेमें उसे सहायता करना चाहिये, यही उसकी सेवा है और जो सेवा है वही भक्ति भी है।

'भज्-सेवायाम्' इस धातुसे 'भक्ति' शब्द बना है। अर्थात् 'भक्ति' का अर्थ 'सेवा' है। सेवा परमेश्वरकी ही करनी चाहिये। परमेश्वर जो करना चाहता है, वह पूर्वोक्त तीन कर्मोंद्वारा सूचित हुआ है। वह त्रिविध कार्य ईश्वरका प्रिय कार्य है। उस कार्यको जितना पूर्ण रीतिसे हो सकता है, उतनी पूर्णतासे करना और वह ईश्वरार्पणबुद्धिसे करना, उसके लिये पारितोषिक मिलनेकी इच्छा न करना, उक्त कार्य ईश्वर-सेवाके भावसे करना, यही ईश्वरभक्ति है। पूर्वोक्त त्रिविध कार्य करनेके लिये अपने आपको सुयोग्य बनानाही यहां मानवोंको करने योग्य अनुष्ठान है। अस्तु। यहां भगवद्गीतामें जो भक्ति कही है, उसका लक्षण और स्वरूप कहा गया है।

ईश्वरके नामका जप अथवा मनन करना भी एक बडा

साधन है। परंतु आजकलके समान केवल नामका घोष नहीं, परंतु नामके अर्थका मनन करना और उससे बोधित होनेवाले भावको अपने जीवनमें ढालना। इसके कुछ उदाहरण देखिये- '**हरि**' ईश्वरका नाम है। 'दुःखोंका हरण करनेवाला' यह इसका अर्थ है। लोगोंके दुःखोंको दूर करनेका जितना सामर्थ्य अपनेमें होगा, उतना लगाकर जनताकी सेवा करनेसे यह नाम पूर्णतया अपने जीवनमें ढाला जा सकता है। 'राम' नामका अर्थ 'आनन्द देनेवाला' है। जो जनताका आनन्द बढानेका कार्य करता है, वह राम नामका भजन करता है। इस तरह सहस्रों नाम परमेश्वरके संस्कृतभाषामें सुप्रसिद्ध है। इन नामोंको केवल रटनेसे वह लाभ कदापि नहीं होगा कि, जो अर्थके मननसे और अर्थको अपने जीवनमें ढालनेसे होना संभव है। ईश्वरके नामोंको अपने जीवनमें ढालना यह एक अनुष्ठान है, जो मनुष्यकी उन्नति करनेमें समर्थ है।

अर्जुन और हनुमानजी यदि श्रीकृष्ण और श्रीरामचन्द्रजीके नाम रटतेही रहते और उनकी विशाल आयोजनामें संमिलित होकर कार्य न करते, तो उनके उपास्य देवोंने उनको कभीका दूर किया होता। अर्जुन तो स्वयंही नाम रटने आदि साधन करनेके लिये वनमें जाही रहा था। वनमें जाकर वह 'कृष्ण कृष्ण' करके नाम जप करता रहता। परंतु भगवान् को वह अभीष्ट नहीं था। अतः उन्होंने उसको वनमें जानेसे रोक दिया और अपनी देशव्यापी आयोजनामें संमिलित किया।

इससे सच्ची भक्तिकी कल्पना हो सकती है। भक्ति सेवाका ही नाम है। इसमें 'अनन्य-भक्ति' की विशेषता अधिक है। भ० गीतामें अनन्यभक्तिका उल्लेख अनेक वार आया है। इसका अधिक विचार आगेके प्रवचनोंमें आनेवाला है। तथापि इस विषयमें यहां इतनाही कहना है कि आजकल 'अन्-अन्य-भक्ति' का अर्थ ऐसा समझा जाता है कि 'अपने उपास्य देवको छोडकर किसी अन्य देवताकी भक्ति न करना'। यह अर्थ न गीतामें है और नाही उपनिषदोंमें। भ० गीतामें 'अनन्यभक्ति' का अर्थ 'अनन्य होकर सेवा करना' ऐसा है।

'उपासक और उपास्य' में अन्यभाव नहीं है, उपास्य और उपासक मिलकर एक सत्ता है, उपासक उपास्यसे अन्य अर्थात् भिन्न नहीं है, ऐसा जान कर जो सेवाकी जाती है, वह अनन्य भक्ति भ० गीताको अभीष्ट है। अपने स्वीकृत उपास्यको छोडकर किसी दूसरे उपास्यकी पूजा न करना, यह आजकल समझा जानेवाला अर्थ भ० गीतामें नहीं है। इस विषयके प्रमाण और स्पष्टीकरण आगे योग्य अवसरपर आ जायगा। 'अनन्य भक्ति' का महत्त्व भ० गीतामें विशेष है, पर वह अभिन्न होकर सेवा करनेसेही सिद्ध होनेवाला है।

यज्ञका महत्त्व

भ० गीतामें यज्ञका स्थान बडा ऊंचा है। आजकल 'यज्ञ' का अर्थ इतनाही समझा जाता है कि, अग्निमें हविर्द्रव्योंकी आहुतियाँ देना। पर वैदिक यज्ञ-संस्थामें इतनाही भाव यज्ञका कभी नहीं था। भगवद्गीताने व्यापक वैदिक यज्ञ संस्थाके तत्त्वको अच्छी तरह प्रकट किया है-

दैवमेवापरे यज्ञं योगिनः पर्युपासते।
ब्रह्माग्नौ अपरे यज्ञं यज्ञेनैवोपजुह्वति ॥२५॥
श्रोत्रादीनीन्द्रियाण्यन्ये संयमाग्निषु जुह्वति।
शब्दादीन्विषयानन्य इन्द्रियाग्निषु जुह्वति ॥२६॥
सर्वाणीन्द्रियकर्माणि प्राणकर्माणि चापरे।
आत्मसंयमयोगाग्नौ जुह्वति ज्ञानदीपिते ॥२७॥
द्रव्ययज्ञास्तपोयज्ञा योगयज्ञास्तथापरे।
स्वाध्यायज्ञानयज्ञाश्च यतयः संशितव्रताः ॥२८॥
अपाने जुह्वति प्राणं प्राणेऽपानं तथापरे।
प्राणापानगती रुध्वा प्राणायामपरायणाः ॥२९॥
अपरे नियताहाराः प्राणान्प्राणेषु जुह्वति।
सर्वेऽप्येते यज्ञविदो यज्ञक्षपितकल्मषाः ॥३०॥
यज्ञशिष्टामृतभुजो यान्ति ब्रह्म सनातनम्।
नायं लोकोऽस्त्ययज्ञस्य कुतोऽन्यः कुरुसत्तम३१
एवं बहुविधा यज्ञा वितता ब्रह्मणो मुखे।
कर्मजान्विद्धि तान्सर्वानेवं ज्ञात्वा विमोक्ष्यसे३२
श्रेयान् द्रव्यमयाद्यज्ञाज्ज्ञानयज्ञः परंतप।
सर्वं कर्माखिलं पार्थ ज्ञाने परि समाप्यते ॥३३॥
(गी. ४)

(१) योगी देवताके उद्देश्यसे यज्ञ करते हैं, (२) ब्रह्मकी अग्निमें कोई अपने यज्ञकाही समर्पण करते हैं, (३) संयम अग्निमें श्रोत्रादि इंद्रियोंका हवन करते हैं, (४) इन्द्रियकी अग्निमें शब्दादि विषयोंका हवन करते हैं, (५) आत्मसंयमरूप अग्नियोंको

ज्ञानद्वारा प्रदीप्त करके उसमें सब इंद्रिय-कर्मोंका और अपने प्राणके कर्मोंका हवन करते हैं। (६) कई द्रव्यका यज्ञ करते हैं, (७) दूसरे तपका यज्ञ करते हैं, (८) तीसरे योगसाधनरूप यज्ञ करते हैं, (९) चौथे स्वाध्याय ज्ञानका यज्ञ करते हैं, (१०) कई अपानमें प्राणका हवन करते हैं, (११) दूसरे प्राणमें अपानका हवन करते हैं, (१२) तीसरे प्राण और अपानकी गतिका विरोध करके प्राणायाम करते हैं, (१३) कई आहारको नियत करके प्राणोंका प्राणोंमें हवन करते हैं, ये सब यज्ञका तत्त्व जानते हैं और यज्ञद्वारा अपने पापोंका नाश करते हैं। यज्ञ करके जो शेष अन्न रहता है, उसका सेवन करनेवाले सनातन ब्रह्मको प्राप्त करते है। यज्ञ न करनेवालेको इस लोकमें भी सुख नहीं होगा फिर दूसरे लोकमें उनको स्थान कैसा मिलेगा? ऐसे अनेक यज्ञ वेदके द्वारा कहे गये है, ये सब कर्मसेही सिद्ध होनेवाले है, ऐसा जाननेसे मनुष्य मुक्त होगा। द्रव्य-यज्ञसे ज्ञान-यज्ञ श्रेष्ठ है, क्योंकि सब कर्म ज्ञानमें ही समाप्त होता है।'

यहां कई प्रकारके यज्ञ कहे है। इनमेंसे कुछ यज्ञ ऐसे हैं कि जो शरीरके अन्दर ही होते हैं, जैसे (१) इंद्रियोंका संयमाग्निमें हवन, (२) विषयोंका इंद्रियाग्निमें हवन, (३) इंद्रियकर्मों और प्राणकर्मोंका आत्मसंयममें हवन, (४) अपान का प्राणमें और प्राणका अपानमें हवन, (५) आहारका नियमन करके प्राणोंका प्राणोंमें हवन। ये यज्ञ व्यक्तिके शरीरके अन्दर होनेवाले यज्ञ है। तथापि इनका भी परिणाम समाजके तथा राष्ट्रके क्षेत्रमें बडा होता है, उदाहरणके लिये देखिये-

विषयोंका इंद्रियाग्निमें हवन- इसका अर्थ यह है कि यमनियमपूर्वक विषयोंका ग्रहण करना और उनका उपभोग लेना। जो विषय मनुष्यका कल्याण करनेवाले है उनका ही नियमपूर्वक उपभोग लेना चाहिये, इससे आवश्यक सुखोपभोगोंकी उत्पत्ति करनेका कार्य राष्ट्रमें बढ जाता है। जैसा योगीको गौका घी और दूध ही प्राणायामके अभ्यासके कालमें सेवन करना आवश्यक है। यदि ऐसे योगी राष्ट्रमें अधिक हुए तो इनके लिये गौका दूध और घी अधिक लगेगा। यह आवश्यकही बात है। ब्रह्मचारियोंके लिये अवश्य योगाभ्यास और प्राणायाम किया जाय तो राष्ट्रमें लाखों लोग दूध और घीका सेवन अधिक करने लगेंगे और उतना दूध और घी अधिक लगेगा। इसी तरह अन्यान्य विषयोंके भोगोंका संबंध न्यून वा अधिक होनेपर उसका परिणाम राष्ट्रपर होने लगता है।

स्वाध्याय-ज्ञान-यज्ञ- यह ज्ञान यज्ञ ही है। अपने ज्ञानका यज्ञ करनेका तात्पर्य अपना ज्ञान दूसरोंको यज्ञभावसे देना। यह ज्ञान चारों वर्णोंके कार्य व्यवहारका तथा अध्यात्म-सुधाका होना संभव है। अर्थात् यह ज्ञानयज्ञ राष्ट्रकी मर्यादा तक अथवा बाहरभी व्यापनेवाला हो सकता है और राष्ट्रका उत्कर्ष अथवा अपकर्ष होना इसी पर अवलंबित है।

इतने विचारसे यह स्पष्ट हो रहा है कि, ये यज्ञ यद्यपि वैयक्तिक से दीखते है, तथापि इनका संबंध राष्ट्रकी उन्नतिके साथ घनिष्ठ है। राष्ट्रमें शम दम तप संयम करनेवाले अधिक होंगे, तो उनका सुपरिणाम राष्ट्रकी सभ्यतापर अधिक होगा, और उससे जनताका सुख भी अधिक बढेगा और समाजमें शान्ति भी सुस्थिर रहेगी।

द्रव्ययज्ञ- द्रव्यका यज्ञ, धनका यज्ञ भी राष्ट्रकी उन्नतिके लियेही है। धन जिनके पास होता है वे सर्वमेधयज्ञ करते है और अपना धन राष्ट्रके हितके लिये समर्पण करते हैं। इस द्रव्यसे राष्ट्रके सहस्रों कार्य होते रहते हैं। प्राय. सभी यज्ञों केलिये धन लगताही है और सभी यज्ञोंसे राष्ट्रका हितही होता है।

इन यज्ञोंमें एक तत्त्व है, वह निम्नलिखित श्लोकोंमें वर्णन किया है-

> यज्ञार्थात् कर्मणोऽन्यत्र लोकोऽयं कर्मबंधनः।
> तदर्थं कर्म कौन्तेय मुक्तसंगः समाचर ॥९॥
> सहयज्ञाः प्रजाः सृष्ट्वा पुरोवाच प्रजापतिः।
> अनेन प्रसविष्यध्वमेष वोऽस्त्विष्टकामधुक् ॥१०॥
> देवान्भावयतानेन ते देवा भावयन्तु वः।
> परस्परं भावयन्तः श्रेयः परमवाप्स्यथ ॥११॥
> इष्टान् भोगान् हि वो देवा दास्यन्ते यज्ञभाविताः।
> तैर्दत्तानप्रदायैभ्यो यो भुंक्ते स्तेन एव सः ॥१२॥

(गी. ३)

'यज्ञको छोडकर जो अन्य कर्म होते हैं, उनसे कर्ताको बंधन होता है। इसलिये असंग भावसे यज्ञरूप कर्म करना चाहिये। प्रजापतिने प्रजाको यज्ञके साथ उत्पत्ति करके प्रजासे कहा कि, 'इस यज्ञसे तुम उन्नतिको प्राप्त होवो। यही यज्ञ तुम्हारा अभीष्ट तुम्हें देगा। तुम यज्ञके द्वारा देवोंकी संभावना करो और देव तुम्हारी सहायता करें। इस तरह परस्पर

संभावना करते हुए परम श्रेयको प्राप्त करो। देवताओंको यज्ञद्वारा हविर्भाग न देते हुए जो स्वयंही भोग करता है, वह चोर है।'

इसमें (**परस्परं भावयन्तः परं श्रेयः अवाप्स्यथ**) यह वाक्य यज्ञका स्वरूप बता रहा है। परस्परकी संभावना करना चाहिये। परस्परकी संभावनाही यज्ञ है। परस्परकी संभावनाका अर्थ परस्परका संमान, आदर और प्रेमभाव, तथा परस्परके हितके लिये परस्परका त्यागभाव है। परस्परके प्रेमभावसे जो परस्परका त्याग परस्परके लिये होता है वही यज्ञका मुख्य तत्त्व है। यह यज्ञचक्र है, इसका सतत परिभ्रमण होते रहना चाहिये-

यज्ञचक्रका प्रवर्तन

एवं प्रवर्तितं चक्रं नानुवर्तयतीह यः।
अघायुरिन्द्रियारामो मोघं पार्थ स जीवति॥

(गी. ३।१६)

'इस यज्ञचक्रका प्रवर्तन जो नहीं करता, वह पापी है। इन्द्रियोंके लिये ही सुख चाहनेवाला यह पापी व्यर्थही जीवित रहता है।' यह यज्ञका चक्र परिवर्तित होते रहना चाहिये। इस यज्ञचक्रकी गतिके समझनेके लिये एक दो उदाहरण यहां देते है-

(१) समुद्रके या पृथ्वीपरके पानीकी भाप होकर मेघ होते हैं और मेघोंसे वृष्टि होकर पुनः नदियां, तालाव और समुद्र भर जाते है, यह वृष्टिका चक्र चलता रहता है। किसी स्थानपर यह चक्र घूमना बंद हुआ, तो अनर्थ होगा। (२) वृक्षसे बीज गिरते और बीजोंसे वृक्ष होते हैं। यह भी एक चक्र ही है। इसके चलनेसे सुख होगा, यह चक्र बंद होनेसे अकाल होंगे और मनुष्योंको मरनाही होगा। (३) मनुष्यके शरीरमें खूनका दौरा होता है, मलिन रक्तका शुद्ध होने और उस शुद्ध रक्तके दौरेसे सब शरीरका आरोग्य होता है। यह खूनका दौरा न होगा, तो सूजन आकर मनुष्य मरेगा।

ऐसे सैंकडों चक्र चल रहे हैं, इसीलिये सबको सुख हो रहा है। इन चक्रोंके बंद हो जानेसे दुःखही दुःख होगा। मनुष्योंने अपने पासका हवि देवोंको देना है और देवोंने अपनी शक्ति मानवोंके लिये देनी है। यही परस्पर संभावनारूपी यज्ञ है।

अब इसको राष्ट्रके व्यवहारमें देखिये। राजा और प्रजा, धनपति और कर्मचारी, ज्ञानी और शिष्य, समर्थ और असहाय्य आदि दो प्रकारके लोग राष्ट्रमें रहते हैं। ये परस्पर संघर्ष कर रहे हैं। यदि ये परस्परकी संभावना करेंगे, परस्परका संमान, परस्परकी सहायता और प्रेमसे परसस्पका हित करेंगे, तो उससे जो यज्ञ उत्पन्न होगा, वही सबकी उन्नति करेगा। यही करना सब को योग्य है। यहां यज्ञका राष्ट्रीय स्वरूप स्पष्ट हुआ है। गीताको यही अभीष्ट है।

'यज्' धातु 'देवपूजा-संगतिकरण-दान-' अर्थमें है, इसधातुसे 'यज्ञ' शब्द बना है। 'देवपूजा-संगति-दान' ये अर्थ यज्ञमें मुख्यतया है। अपने से जो बडे हैं उनका संमान करना योग्य है, अपने बराबरीके जो लोग है, उनसे संगठन करना योग्य है और अपनेसे जो कम अथवा न्यून शक्तिवाले हैं, उनके लिये अपनी शक्तिका दान करना चाहिये। ये तीन ही प्रकारके लोग जनतामें होते हैं। यज्ञसे इन तीनोंके साथ इस तरह संबंध आता है। इससे तीनोंकी प्रसन्नता होती है, जो इस यज्ञका सुफलही है। यज्ञसे इस तरह राष्ट्रके सब लोगोंका संगठन होकर उन्नति होती है। इस विषयमें आगेके प्रवचनमें विशेष विवरण आनेवाला है। इसलिये यहां इतना निर्देश ही पर्याप्त है।

इसी तरह कई संकेतके पद गीतामें हैं, जिनके पारिभाषिक अर्थ राष्ट्रीय हितका साधन करनेका भाव बता रहे हैं। हमने यहां धर्म, धर्मकी संस्थापना, योग, साम्ययोग, राजविद्या, राजगुह्य, भक्त, भक्ति, यज्ञ, यज्ञचक्र-प्रवर्तन आदि संज्ञाओंका गीतामें जो पारिभाषिक अर्थ है, वह देख लिया। इससे पता लगा कि ये पद राष्ट्रीय भावनाका विचार और प्रचार करनेके लिये गीतामें प्रयुक्त हैं।

जो राज्य-शासन-पद्धति भगवान् श्रीकृष्ण प्रचलित करना चाहते थे, उस पद्धतिके लिये पोषक अर्थ इन पदोंमें है और इस अर्थके साथ ये पद गीतामें प्रयुक्त हुए हैं।

गीतामें और भी अनेक संज्ञाएँ हैं, परंतु इन सबका विचार आगेके प्रवचनमें किया जायगा।

(३)

सब विश्व एकही अखण्ड जीवन है

विश्वरूपका दर्शन

श्रीमद्भगवद्गीतामें परमेश्वरके स्वरूपका वर्णन यथार्थ रीतिसे वैदिक परंपराके अनुसार किया है। संपूर्ण गीताके तत्त्वज्ञानकी रचनाका यही आधार है। इसलिये इस लेखमें हम इसी ईश्वर के स्वरूपका विचार करना चाहते हैं।

श्रीमद्भगवद्गीताका ग्यारहवाँ अध्याय **'विश्वरूप-दर्शन'** नामसे सुप्रसिद्ध है। विश्व-रूप-दर्शनका अर्थ परमेश्वरके सत्य-स्वरूपका साक्षात्कार है। यह विश्वरूप परमेश्वरकाही निजरूप है, उस प्रभुके इस प्रत्यक्ष होनेवाले सत्य स्वरूपका दर्शन करानेके लिये ही यह ग्यारहवाँ अध्याय लिखा या कहा गया है। विश्वका रूपही जिस प्रभुका रूप है, उसका साक्षात्कार इस अध्यायमें कराया है। संपूर्ण भगवद्गीतामें यह ग्यारहवाँ अध्याय मुख्य है और यही गीताके संपूर्ण तत्त्वज्ञानकी आधारशिला है। सब तत्त्वज्ञान इस विश्वरूपकी कसौटीपर परखे जायँगे, इतना महत्त्व इस अध्यायको है। इतनाही नहीं परंतु जो अनेक वैदिक सूक्तोंमें ईश्वर-स्वरूपके विषयमें कहा है, वही संक्षेपसे इस ग्यारहवें अध्यायमें कहा है। अतः यह ग्यारहवाँ अध्याय वेदके अनेक सूक्तोंका सार है। परमेश्वरके सत्य स्वरूप का दर्शन इस अध्यायद्वारा कराया गया है। परमेश्वरको गुप्त न रखते हुए, परमेश्वरको छिपाकर न रखते हुए, इस अध्यायद्वारा परमेश्वरको प्रकट करके उसका सबके सामने दर्शन कराया है।

इतने महत्त्वका यह अध्याय है, परंतु इस अध्यायकी ओर विचारकों और पाठकोंका दुर्लक्ष्य ही हुआ है। बहुत विचारक मानते हैं कि यह अध्याय आलंकारिक काव्यमय वर्णनात्मक है, अतः इसका तत्त्वज्ञानके विचार करनेके समय कुछ विशेष महत्त्व नहीं है। ऐसा कहकर इस अध्यायकी ओर बहुत विचारक दुर्लक्ष्यही करते हैं।

हम अब बतायेंगे कि, भगवद्गीताके तत्त्वज्ञानका आधारही यह अध्याय है और यह अध्याय केवल काव्य नहीं है, परंतु विशेष महत्त्वकी गुप्त बातें प्रकट करनेवाला है। जिस एक तत्त्वके समझनेसे सब तत्त्वोंका बोध हो जाता है, वही एक तत्त्व इस अध्यायद्वारा प्रकट किया गया है। यह कैसा है, सो अब देखिये—

विश्वरूपका अर्थ

'विश्व+रूप' का अर्थ अब देखिये। इस पदके कई अर्थ होते हैं, वे सब यहां देते हैं—

१. विश्व=[All, whole, entire, universal, every one, **विश्वं**= universe, whole world; **विश्व**= The soul]= सब, अखण्ड, संपूर्ण विश्वव्यापी, प्रत्येक, विश्व, जगत, संपूर्ण अखंड जगत, आत्मा।

२. रूप=[Form, figure, appearance, quality of colour, any visible object or figure, beautiful form, elegance, grace, an image.] आकृति, आकार, रूप रंगका गुण, दृश्य वस्तु वा पदार्थ, सुंदर रूप, ललितता, लावण्य, शोभा, कोमलता, भव्यता, प्रतिरूप।

३. विश्वरूप = [Omniform, all-formed, having all forms] = सर्वरूप, अखण्डरूप, जिसके सब रूप है, सब रूपोंवाला।

इन अर्थोंको देखनेसे 'विश्वरूप' के जो अर्थ होते हैं वे ये हैं—" सब रूपोंवाला, संपूर्ण अखण्डित रूपवाला, विश्वव्यापक आकारवाला, प्रत्येक रूपसे युक्त, संपूर्ण विश्वही जिसका रूप है। आत्माकाही यह रूप है, जो इस संसारमें दीखता है। जो शोभा, सौंदर्य, लालित्य, लावण्य, कोमलता, भव्यता, विशालता है, वह उस आत्माकी ही है।" विश्वरूपके ये अर्थ है।

'विश्वरूप-दर्शन' का अर्थ यह है कि, 'जो इस विश्वमें दीखता है, वह परमेश्वरका स्वरूप है, यह जानकर उसका दर्शन करना, दीखता है वह प्रभुका रूप है ऐसा जानकर उस

रूपकी ओर देखते हुए मैं परमेश्वरका रूपही देखता हूं, ऐसा समझना। '**सर्वेश्वरसिद्धान्त**' अर्थात् ' जो है वह सब ईश्वरही है ' ऐसा ज्ञान (Pantheism) यहां बताया है।

यहां 'विश्व-रूप' में जो 'रूप' पद है, वह केवल आंखसे दीखनेवाले रूपकाही वाचक नहीं है। '**रूप्** = रूपक्रियायां [To form, to see, to consider, to observe carefully, to find out, to investigate] = आकार होना या आकार करना, देखना, विचार करना सोचना, ख्यालसे निरीक्षण करना, खोजना, खोज करना, ढूंढना, अन्वेषण करना, गवेषणा करना।' रूप् धातुके ये अर्थ है।

इन अर्थोंको देखनेसे स्पष्टतया पता लगता है कि, 'रूप' पदमें केवल आखसे दीखनेवालेही विषयोंका अन्तर्भाव नहीं होता, प्रत्युत प्रत्येक इंद्रियसे जो ज्ञान मिलता है, तथा मन आदि आन्तरिन्द्रियसे विचार और मननद्वारा जो समझमें आता है, वह सब रूप उस विश्वरूपमें शामिल है। मनुष्यके संपूर्ण इंद्रियों और आन्तरिक साधनोंसे जिसका ज्ञान होता है वह सब रूप 'विश्व-रूप' ही है। इसलिये ग्यारहवें अध्यायमें जिस विश्वरूपका वर्णन है, वह विश्वरूप केवल आंखसे दीखनेवाला रूपही नहीं है, प्रत्युत जो आन्तरिक और बाह्य इंद्रियोंसे ग्राह्य होता है, वह सब इस 'विश्वरूप' में शामिल है। गीताके दसवें अध्यायमें भी ईश्वरका विशेष प्रभावी स्वरूप बताया है, वह सब आंखसे दीखनेवाला नहीं है, परंतु वह इस विश्वरूपमें है। जैसा आत्मा (२०), मन चेतना (२१), ओं, जपयज्ञ (२२), काम (२८), काल (३०), वायु (३१) अध्यात्मविद्या, वादविवाद (३२), अ (३३), मृत्यु, कीर्ति, वाणी, स्मृति, मेधा, धृति, क्षमा (३४), तेजस्विता, जय, व्यवसाय, सत्त्व (३६), दण्ड, नीति, मौन, ज्ञान (३८) इन श्लोकोंमें कहे ये ईश्वरके रूप विश्वरूपमें संमिलित है और ये केवल आंखसे दीखनेवाले नहीं हैं। इससे सिद्ध हुआ कि जो आंखको छोडकर अन्यान्य इंद्रियोंसे ग्रहण होता है, वह भी विश्वरूपमें अन्तर्भूत होता है।

केवल चर्मचक्षुसे विश्वरूप दिखाई नहीं देता, इसलिये तो गीता ११।८ में अर्जुनको दिव्यदृष्टि दी ऐसा कहा है। गी. ११।३२ में कहा है कि 'मैं काल हूं।' परंतु 'काल' (समय) तो रूप देखनेवाली आंखसे दीखनेवाली वस्तु नहीं है। 'वायु' भी विश्वरूपका रूप है, ऐसा गी. ११।३९ में कहा है। पर वायु तो आंखसे दीखनेवाली वस्तु नहीं है। इस तरह ग्यारहवें अध्यायमें भी ऐसे रूप कहे हैं कि जो आंखसे दीखते नहीं हैं। अतः यह सिद्ध हुआ कि सब इंद्रियोंसे जिसका ज्ञान होता है वह सबही यह विश्वरूप है।

दिव्य दृष्टि

अर्जुनको दिव्य दृष्टि दी और पश्चात् 'विश्वरूप' का दर्शन उसने किया ऐसा गीता ११।८ में लिखा है। इससे बहुतसे लोग समझते हैं कि यह किसी तरहका मन्त्रप्रयोग अथवा किसी प्रकारका योगनिद्राका प्रयोग होगा। कई समझते हैं कि जैसा चित्रपटका दृश्य दीखता है, उस प्रकारका दृश्य अर्जुनको दीखा होगा, अथवा बडा आकाशव्यापी कराल देह अर्जुनके सामने खडा हुआ होगा। परंतु यह सब कल्पनामात्र है।

दिव्य दृष्टि कोई मन्त्रप्रयोग नहीं है, यह योगनिद्राका भी प्रयोग नहीं है और किसी तरहका योगसामर्थ्य भी नहीं है। यह एक वस्तुको ओर देखनेकी रीति है। सभी मनुष्य विश्वका रूप देखतेही है। ऐसा कोई मनुष्य नहीं है कि, जो विश्वका रूप देख नहीं सकता। अर्जुनके सामने संपूर्ण विश्व था और वह अन्य मनुष्योंकी तरह विश्वरूपको देखही रहा था। सूर्य, चन्द्र, तारागण, पृथ्वी, वृक्ष, पर्वत, नदियां, समुद्र, मेघ इत्यादि पदार्थ विश्वमें है और सब लोग इनको देख रहे है। यही विश्वका रूप है। अर्जुन इसको देखही रहा था। पर इस तरहके देखनेमें और दिव्य दृष्टिके देखनेमें थोडासा भेद है। मनुष्य प्रत्येक वस्तुके खण्डित रूपको देखता है। एक वस्तुका रूप दूसरी वस्तुके रूपसे पृथक् है, ऐसा वह देखता है। हरएक मनुष्य इस विभिन्नताका अनुभव करता है। सर्वसाधारण मनुष्य की दृष्टि भिन्नताको देखती है। इस विभिन्नताको दूर करके एकताको लानेवाली दृष्टि 'दिव्य दृष्टि' कहलाती है। इसके समझानेके लिये हम एक दो उदाहरण लेते हैं—

विविधतामें एकता

१. सोनेके नाना प्रकारके जेवर बनाये। प्रत्येक जेवरका उपयोग और पहननेका स्थान विभिन्न रहता है, परंतु सबमें सुवर्णभाव समान रहता है। यहां जेवर-दृष्टि विभिन्नताकी दृष्टि है और सुवर्णकी दृष्टि एकताकी दृष्टि है।

२. मिश्रीके अनेक खिलोने किये। प्रत्येक खिलोना विभिन्न है, परंतु सबमें मिश्रीपन एकही है।

प्रत्येक मनुष्य जेवर और खिलोने देखताही है और साथ साथ सुवर्ण और मिश्रीको भी देखता है। कोई भी मनुष्य ऐसा नहीं है कि जो जेवर देखता हुआ सुवर्णको देखता न हो। दोनों प्रकारकी दृष्टि मनुष्यमें है। केवल एकत्वकी दृष्टिका उपयोग वह विश्वके विषयमें नहीं करता, क्योंकि प्रत्येक पदार्थ विभिन्न है ऐसाही वह हर समय देखता है, इसलिये एकत्वकी दृष्टिका उदय उसमें नहीं होता। अर्थात् सभी मनुष्य विश्वरूपको देखही रहे हैं। एक भी मनुष्य ऐसा नहीं है कि जो विश्वरूपको नहीं देखता हो। परंतु वह इसमें विभिन्नताका अनुभव करता है, विभिन्नतामें व्यापक जो एकता है, उसका वह साक्षात्कार नहीं करता। यह एकत्वकी दृष्टि समझानेसे समझमें आ सकती है। यह गीताके सातवें अध्यायमें समझा दी है, देखिये—

भूमिरापोऽनलो वायुः खं मनो बुद्धिरेव च।
अहंकार इतीयं मे भिन्ना प्रकृतिरष्टधा॥ ४॥
अपरेयमितस्त्वन्यां प्रकृतिं विद्धि मे पराम्।
जीवभूतां महाबाहो ययेदं धार्यते जगत्॥ ५॥
(भ. गी. ७)

'पृथ्वी, आप्, तेज, वायु, आकाश, मन, बुद्धि, अहंकार, और जीवभाव यह नौ प्रकारकी ईश्वरकी प्रकृति है।' अर्थात् यह नौ प्रकारका ईश्वरका शरीर है। प्रकृतिका अर्थ शरीर है। मनुष्यके शरीरमें भी ये नौ तत्त्व हैं। ईश्वरने कहा कि अपने विश्वरूप देहमें भी येही नौ तत्त्व है। यहां पता लगा कि इन नौ तत्त्वोंका जैसा मानव-देह बना है, वैसाही इनही नौ तत्त्वोंका ईश्वरका भी देह बना है। ये नौ तत्त्व एकके अन्दर दूसरा ऐसे एकसे एक सूक्ष्म है।

जीवभाव सबके अन्दर है, उसके साथ अहंकार और बुद्धि रहती है, बुद्धिके बाहर मन, मनके बाहर आकाश, इसके पश्चात् वायु, तेज, जल और पृथ्वी है। यह परमात्माका शरीर है, ऐसा भगवान् यहां कहते हैं। मान लो कि यह ऐसाही है। ऐसा माननेसे जहां जहां ये तत्त्व होंगे, वहां वहां परमात्माका देह है, ऐसा कहा जायगा!

इतनी सूचना मिलनेपर हरकोई जान सकता है कि जहां पृथ्वी, आप, अग्नि, वायु अथवा आकाश है, वह सब परमात्माका शरीरही है। ये पञ्च महाभूत कहां नहीं है? इस विश्वमें ऐसा कोई स्थान नहीं है कि जहां ये पञ्चमहाभूत नहीं है। अतः यह निःसंदेह सत्य हुआ कि, जहां परमेश्वरका देह नहीं है, ऐसा भी कोई स्थान इस विश्वमें नहीं है। आत्माको हम देहसे पहचानते है, उसी तरह परमात्माको विश्वदेहसेही हम जान सकते है। देहको देखकरही आत्माका ज्ञान होता है। देहको छोडकर केवल आत्माको जानना असंभव है, इसी तरह विश्वरूपी देहसेही परमात्मा, परब्रह्म अथवा ईश्वर साक्षात् हो सकता है।

ॐ खं ब्रह्म। (वा. य. ४०।१७)

'ओंकारसे जाना जानेवाला ब्रह्म आकाशवत् है' अथवा मानो आकाशही उसका देह है। इसी तरह अग्नि भी उसका देह है। अग्नि कहां नहीं है? विचार करनेपर पता लगेगा कि, अग्नि सर्वत्र है। पृथ्वी, जल, वृक्ष, प्राणी, सूर्य, चन्द्र आदि सबमें अग्नि भरा है। यदि अग्नि परमात्माका शरीर है तब तो अग्नि सर्वत्र होनेके कारण परमात्माका देह सर्वत्र है। इसी तरह जहां जहां जीवभाव है, वहां परमात्माका देह है। जीवभावभी सर्वत्र है, कमसे कम सब प्राणी तो परमात्माके देही हुए। भगवद्गीताकी इस दिव्य दृष्टिको ध्यानमें धारण करनेसे सब प्राणी परमेश्वरके देह बन गये! आकाश परमात्मा का शरीर होनेसे संपूर्ण आकाश ही परमात्माका शरीर प्रतीत होने लगेगा। इस तरह गीतामें कहे परमात्माके नवविध शरीर है, इतना जाननेसे परमात्माका साक्षात्कार विचार करनेसे प्रत्येकको हो सकता है। एक एक तत्त्व कहां कहां है, यह देखो और वह परमात्माका शरीर है ऐसा निश्चय करते जाओ।

इस तरहके अभ्याससे विश्वरूप एक अखण्ड परमात्मा है, ऐसा दीख सकता है। एक मनुष्य दूसरे मनुष्यका शरीर ही देख सकता है, कोई कभी किसीके आत्माको देखही नहीं सकता। इससे यह सिद्ध हुआ कि 'आत्मा' सदा ही अदृश्य वस्तु है। अतः आत्मा कभी किसीको दीखही नहीं सकता। जैसा आत्मा अदृश्य वस्तु है, वैसाही परमात्मा भी अदृश्य ही है। दोनों मिलकर एक ही वस्तु है और वह अदृश्य है और देहधारी परमात्मा दृश्य है। परमात्माका देह 'पृथ्वी-आप्-तेज-वायु-आकाश-मन-बुद्धि-अहंकार-जीव' मिलकर तथा एक एक भी है। जहां इन नौमेंसे कोई वस्तु दीखे, समझलो

कि वह परमात्माका शरीर है, अर्थात् वही परमात्मा है।

सब प्राणियोंमें ये नौ तत्त्व है, अतः गीताके उक्त कथनानुसार यह सिद्ध हुआ कि सब प्राणी ईश्वरके शरीर हैं, अतः सब प्राणी परमात्माके रूपही सिद्ध हुए। इसी तरह सब वृक्ष भी उक्त हेतुसे परमात्माके शरीर अतः परमात्माके रूप सिद्ध हुए।

सूर्य चन्द्र सब तारागण तैजस तत्त्ववाले होनेके कारण, और तेज या अग्नि परमात्माका शरीर होनेके कारण ये सब तेजोगोलक परमात्माके शरीर अतः परमात्माके रूप सिद्ध हुए। पृथ्वी, वायु, जल ये परमात्माके शरीर अतः परमात्माके रूप ही है। अब प्रश्न यह होगा कि, गीताका पूर्वोक्त वचन माननेसे ऐसी कौनसी वस्तु कहा होगी कि, जो इन नौ तत्त्वों की बनी न होनेके कारण परमात्माके शरीरसे बाहर होगी? अर्थात् ऐसी कोई वस्तु नही है। जो भी इस विश्वमें है, वह सब परमात्माका शरीर है, क्योंकि वह इन नौ तत्त्वोंका बना हैं। अतः सभी विश्व परमात्माका शरीर सिद्ध होगा और उसी कारण सब विश्वका जो रूप दिखाई देता है, वह परमात्माका ही रूप सिद्ध होगा।

यही प्रत्यक्ष-विश्वरूप दर्शन है। हरकोई इस तरहके विवेकसे परमेश्वरके इस रूपका साक्षात्कार कर सकता है। इस तरहके एक तत्त्वके दर्शनके पूर्व जैसा विश्व दिखाई देता था वैसाही उसको अब भी दिखाई देगा, परंतु पहिले जो भेद-दर्शन होता था, उस स्थानपर अब अभेद दीखेगा।

वेदमें यही कहा है। देखिये वेदमंत्र ऐसा कहते है—

नारायणके रूप

ब्राह्मणोऽस्य मुखमासीद्बाहू राजन्यः कृतः।
ऊरू तदस्य यद्वैश्यः पद्भ्यां शूद्रो अजायत॥१२॥
सहस्रशीर्षा पुरुषः सहस्राक्षः सहस्रपात्।
स भूमिं विश्वतो वृत्वात्यतिष्ठद्दशाङ्गुलम्॥१॥
पुरुष एवेदं सर्वं यद्भूतं यच्च भव्यम्॥ २॥

(ऋ १०।९०)

ये मंत्र यजुर्वेद और अथर्ववेदमें भी है। इनका आशय यह है— "ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य और शूद्र ये इस परमात्माके मुख, बाहु, जंघा और पांव हैं। इस पुरुषके हजारों सिर, हजारों आंख, (हजारों बाहु और हजारों जांघें) तथा हजारों पांव हैं। यह पुरुष इस रूपमें इस पृथ्वीपर चारों ओर रहता है और वह और भी अधिक है। यह परमात्मा ही यह सब कुछ है, जो भूतकालमें था, जो वर्तमान कालमें है और जो भविष्य कालमें होगा, वह सब यह परमात्मा ही है।"

पूर्वोक्त विवरणसे यह सब वर्णन स्पष्ट हो सकता है। जहां पञ्चभूत, अन्तःकरण चतुष्टय और जीव ये परमेश्वरके देह हुए, वहां सभी प्राणी उस प्रभुके ही रूप हो चुके है। इस विषयमें अधिक लिखनेकी आवश्यकता ही नहीं है।

रुद्रदेवताका रूप

वाजसनेयी यजुर्वेद संहिताके १६ वें अध्यायमें रुद्रदेवताके रूप गिनाये हैं। सभी यजुर्वेद संहिताओंमें वह रुद्राध्याय न्यूनाधिक प्रमाणसे है। इसमें सब मनुष्य, सब प्राणी, सब वृक्ष-वनस्पति तथा सब स्थावर पदार्थ रुद्रदेवताके रूप हैं, ऐसा कहा है। इतनाही नहीं परंतु वहां इनमेंसे बहुतोंके नाम भी गिनाये है। इनमें 'मन्त्री, सेनानी, निषङ्गी, कक्षाणापति, इषुधिमान्, सभा, सभापति, इषुकृत्, धन्वकृत्, रथी, अश्व, कुलाल, कर्मार, स्तेन, स्तेनपति' ऐसे सभी प्रकारके व्यवसायियोंके अर्थात् मानवोंके नाम गिनाये है। ये सब रुद्रके रूप हैं। यहां रुद्रपद ईश्वरवाचक है। अर्थात् ये ईश्वरकेही रूप है। जो सिद्धान्त पुरुषसूक्तने प्रस्तुत किया, वही रुद्रसूक्तने परिपुष्ट किया है। इस रुद्रसूक्तमें चारों वर्णोंके लोग गिनाये है, जो रुद्रके रूप कहे है। चोर डाकू आदि दुष्ट लोग भी रुद्रके रूप हैं, फिर मंत्री और सेनापति रुद्रके रूप होनेमें संदेह कैसे हो सकेगा?

इस तरह वेद ईश्वरके विश्वरूपका वर्णन करता है और यह अपना सिद्धान्त है, ऐसा कहता है। भगवद्गीताने पूर्वोक्त दिव्य दृष्टिका तत्त्व कहकर यही कहा है। पञ्च महाभूतोंको परमेश्वरका शरीर माननेसे सभी विश्व परमात्माका शरीर अर्थात् परमात्माका स्वरूप बन चुका, यह तो सब मानेंगे ही। इतनी दिव्य दृष्टिकी सिद्धता सप्तम अध्यायके प्रारंभमेंही कह देनेके पश्चात् उसी अध्यायमें आगे जाकर कहते हैं कि—

वासुदेवः सर्वं इति०। (गी. ७।१९)

'परमेश्वरही सबकुछ है' अर्थात् यहां जो भी कुछ है, वह सबका सब रूप परमेश्वरकाही स्वरूप है। यहां वेदवचन और गीतावचन कितना समान है सो देखिये-

पुरुष एवेदं सर्वं। ऋ. (१०।९०।२)
वासुदेवः सर्वं। (गी. ७।१९)

दोनों वचन कैसे एक जैसे है, यह यहां देखने योग्य बात है। वेदवचनोंके साथ गीताका इतना घनिष्ठ संबंध है। इतना वेदवचनोंका गीतावचनके साथ संबंध देखनेके पश्चात् हम अब भगवद्गीताके ग्यारहवें अध्यायने विश्वरूपका वर्णन किस तरह किया है, सो देखते है। गीतामें ईश्वरके स्वरूपका वर्णन ऐसा किया है—

१. अनेक-बाहु-उदर-वक्त्र-नेत्रं, (१६)
२. अनन्तवीर्यं, अनन्तबाहुं, (१९)
३. बहुवक्त्र-नेत्रं, बहुबाहु-उरु-पादं, बहु-उदरं, बहु-दंष्ट्रा-करालं, (२३)
४ अनेक-वक्त्र-नयनम्, (९)

यहां परमेश्वरको अनेक मुख, अनेक नेत्र, अनेक दाढें, अनेक उदर, अनेक बाहु, अनेक जांघें, अनेक पाव तथा अन्यान्य अवयव भी अनेक है, ऐसा कहा है। हम मूर्तियोंको जो देखते हैं, वहां अनेक मुख और अनेक हाथ होनेपर भी पेट एकही होता है। अनेक पेटोवाली मूर्ति अभीतक किसीने देखी नहीं। अनेक पेट होनेका अर्थ यही है कि, जितने पेट होंगे, उतने पृथक् प्राणी होंगे। अर्थात् पूर्वोक्त वर्णनमें 'अनेक-उदर, बहु-उदर' ये पद सिद्ध कर रहे है कि, यह वर्णन किसी एक प्राणीका नहीं है, प्रत्युत यह अनेक विभिन्न और परस्पर पृथक् प्राणियोंका मिलकरही यह वर्णन है। यहां विचारक देखेंगे तो उनको पता लग जायगा कि वेदमंत्रका और गीतावचनोंका वर्णन समानही है। देखिये—

वेदका वर्णन	**गीताका वर्णन**
सहस्र-शीर्षा	अनेक-वक्त्रं, बहुवक्त्रं
सहस्र-अक्ष.	अनेक-नेत्रं, बहु-नेत्रं, अनेक-नयन
सहस्र-पात्	बहु-पादं
सहस्र-बाहुः	बहु-बाहुं, अनन्त-बाहुं

इस तरह वेदकेही पद गीताके वर्णनमें जैसेके वैसेही लिये गये हैं। अब देखिये कि गीता ईश्वरके स्वरूपके विषयमें और क्या कहती है?

१ अनन्तरूपः। विश्वरूपः। (१६)
२ विश्वमूर्तिः। (४६)
३ सर्व। सर्वः असि। (४०)

ये पद ईश्वरके स्वरूपका मनन करनेके समय बडे महत्त्वके है। निःसन्देह ये पद ईश्वरका स्वरूप बता रहे हैं।

(१) ईश्वरके रूप अनंत हैं, ईश्वर विश्वरूपही है, (२) यह विश्व-संसार-ही ईश्वरकी मूर्ति है, (३) ईश्वर सब है, जो है वह सब ईश्वरही है।

गीताके ये पद बहुतही महत्त्वके है। (१) '**अनंतरूप**' पदसे ईश्वरके अनन्त रूप है ऐसा सिद्ध हुआ, (२) '**विश्व-रूप**' पदसे यह विश्व ही ईश्वरका शरीर है ऐसा स्पष्ट हुआ, (३) '**विश्वमूर्ति**' पदसे यह स्पष्ट हुआ कि ईश्वरकी मूर्ति ही यह यह विश्व है, और (४) '**सर्व**' पदसे यह सिद्ध हुआ कि वह ईश्वर सब कुछ है। जो भी कुछ इस विश्वमें है वह सब ईश्वरही प्रत्यक्ष है।

यहांका '**सर्व**' पद ऐसा है कि जो इस विश्वके अन्तर्गत किसी भी वस्तुका त्याग नहीं करता। जो भी बुरे भले पदार्थ यहां हैं, वे सबके सब ईश्वरके रूप है। वे ईश्वरकेही रूप है। प्रत्यक्ष ईश्वरही उन सब रूपोंमें हमारे सामने खडा है। सब स्थावर जंगम पदार्थ ईश्वरस्वरूप होनेसे सब प्राणी और सब मानव तो ईश्वरस्वरूप निःसंदेहही सिद्ध हुए। अर्थात् ईश्वरके अनंत सिर, नेत्र, मुख, बाहु, छाती, पेट, जघाए और पाव है, ऐसा जो ऊपरके वर्णनमें कहा है, वह सब मानवोंको समष्टिरूपमें देखकर ही वर्णन किया है। इस समय अपने भारतवर्षमें ४० करोड मानव है, इतनेही इस प्रभुके मुख तथा मस्तक है, इस संख्याके द्विगुणित नेत्र कान हाथ और पाव हैं। इस तरह देखनेसे 'अनंतबाहु, बहुवक्त्रनेत्र,' आदि वर्णन यथार्थ वर्णन हैं ऐसा स्पष्ट हो जाता है। पृथ्वीपर जो मानव-समाज है, वह सब एकही परमेश्वरका अखण्ड रूप है। जो ज्ञानी है वे इसके मस्तक है, जो शूर है वे इसके बाहु है, जो धनी है वे इसके पेट है और जो कर्मचारी है वे इसी प्रभुके पांव हैं। इस तरह हमारा उपास्य प्रभु मानवरूपमें हमारे सामने उपस्थित है।

पशुपक्षी आदि सब प्राणी तथा कृमिकीट आदि सब रूप उसी प्रभुके रूप है। वृक्षवनस्पति, सब स्थावर पदार्थ ये भी सब उसीके रूप हैं। इस विश्वमें ऐसा कोई पदार्थ नहीं कि जो ईश्वरके स्वरूपसे पृथक् और विभिन्न हो।

कोई भी वस्तु हो, वह ईश्वरका स्वरूप है, ऐसा मानकरही उसके साथ बर्ताव करना चाहिये। हम व्यवहारमें किसी

वस्तुको आदरभावसे देखते हैं और किसी दूसरीसे तिरस्कार का व्यवहार करते है। ऐसा करना उचित नहीं है। सब विश्व एक और अखण्ड जीवन है। जब यहां केवल अकेला एक ईश्वरही ईश्वर है, तब किसके साथ तिरस्कार किया जा सकता है? सबके साथ प्रेम और आदरकाही बर्ताव होना योग्य है। भ० गीताने इस विश्वरूपका वर्णन करके यही कहा है कि, सबके साथ समभावसे प्रेममय व्यवहार करना चाहिये।

भ० गीताने इस तरह विश्वको ही ईश्वरका रूप बताया है। परंतु हमारे भारतवासियोंने अबतक इस ईश्वरका स्वीकारही नहीं किया! केवल अकेले रामानुजाचार्यहीं विश्वको परमेश्वर-का देह मानते है, अन्य सब विश्वको तुच्छ, त्याज्य, हेय, दु:ख-हेतु मानते है! पर जो परमेश्वरकाही शरीर है वह त्याज्य कैसे हो सकता है? परंतु वैसा लोगोंने माना है यह सत्य है।

द्वैती लोग तो इस विश्वको त्याज्य मानही रहे है, परंतु श्रीमत् शंकराचार्यजीने भी अद्वैत-सिद्धान्त प्रतिपादन करते हुए इस विश्वको भ्रम, ईश्वरसे पृथक् और दु:ख-हेतु माना है। जैन बौद्ध तो इस विश्वको क्षणिक और दु:खस्वरूप मानतेही हैं। परंतु वेदने, उपनिषदोंने और गीताने विश्वको परमेश्वर-का रूप माना है। अतः हमें विश्वको क्षणिक और दु:खरूप न मानते हुए उसको परमात्मरूप अतएव सुखदायी मानना उचित है।

अबतक हमने वेदवचन और गीताके वचन देखे, अब उपनिषदोंके वचन देखो, जो इस संबंधमें देखने योग्य हैं-

आत्मा वा इदं सर्वम्। (छां. उ. ७।२५।२)
ब्रह्मैतत् सर्वम्। (बृ. उ. ५।३।१)
सर्वाणि भूतानि आत्मा एव अभूत्। (ईश उ. ७; वा य. ४०।७, काण्व य. ४०।७)
सर्वं ह्येतद् ब्रह्म। (माण्डूक्य उ. २)
सर्वं ह्ययमात्मा। (नृ. उ. ७)
ब्रह्मैवेदं सर्वं सच्चिदानन्दरूपं। (नृ. उ. ७)
नारायण एवेदं सर्वम्। (ना. उ. २)
सर्वं खलु इदं ब्रह्म। (छां. उ. ३।१४।१)
अहमेवेदं सर्वम्। (छां. उ. ५।२।६; ७।२५।१)
एतदात्म्यमिदं सर्वम्। (छां. उ. ६।९।४)
स एवेदं सर्वम्। (छां. उ. ७।२५।२)
इदं सर्वं यदयमात्मा। (बृ. उ. २।४।६; ४।५।७)
ओंकार एवेदं सर्वम्। (छां. उ. २।२३।४)

इन सब उपनिषद्वचनोंमें भी यही कहा है कि यह सब विश्व ब्रह्म, आत्मा, नारायण रूपही है। 'ब्रह्म, परब्रह्म, आत्मा, परमात्मा, नारायण, ओंकार, वासुदेव, देव, महादेव, रुद्र, इन्द्र, अहं, सः,' आदि सभी संकेत उस एक वस्तुके द्योतक है, कि जो एकही है और जिससे यह विश्व बना है। संपूर्ण उप-निषदोंका सार यही है।

सर्वाणि भूतानि आत्मा एव। (ईश. ७)

यह ईश उपनिषद्का वचन है। यहां स्पष्ट कहा है कि सब भूत आत्मा ही है। यहा 'भूतानि' का अर्थ पंचमहाभूत समझो अथवा सब प्राणीमात्र समझो। जो भी इस विश्वमें है वह सब बना हुआ है, इसलिये 'भूत' कहलाता है। ये सब बने हुए पदार्थ 'आत्मा' ही है अर्थात् 'आत्मस्वरूप' ही है। जिस तरह सुवर्णके जेवर बनते है, वैसेही आत्माके ये सब भूत बने है। अब एक उपनिषद् का वचन देखिये-

अग्निर्मूर्धा चक्षुषी सूर्यचन्द्रौ दिशः श्रोत्रे
वाग्विवृताश्च वेदाः। वायुः प्राणो हृदयं विश्वं
अस्य पद्भ्यां पृथिवी ह्येष सर्वभूतान्तरात्मा॥
(मुण्डक उ. २।१।४)

इसी अर्थका श्रीमद्भागवतका एक श्लोक देखिये-

इन्द्रादयो बाहव आहुरुस्राः कर्णौ दिशः
श्रोत्रममुष्य शब्दः। नासत्यदस्रौ परमस्य
नासे घ्राणोऽस्य गन्धो मुखमग्निरिद्धः॥२९॥
द्यौरक्षिणी चक्षुरभूत्पतंगः पक्ष्माणि विष्णो-
रहनी उभे च। तद्भ्रूविजृम्भः परमेष्ठि धिष्ण्यं।
आपोऽस्य तालू रस एव जिह्वा॥३०॥
(श्री भागवत २।१)

इन दोनों वचनोंके प्रतिपादनके अनुसार निम्नलिखित तालिका बनती है-

जीवात्माके	परमात्माके
व्यक्तिके शरीरमें अवयव	विश्वदेहमें देवता
मस्तक	अग्नि
भौंवें	नक्षत्र

आंख	सूर्यचन्द्र
पलकें	दिनरात
नाक	अश्विदेव
कान	दिशाएँ
बाहू	इन्द्रादि देवता
वाणी	वेद
मुख	प्रदीप्त अग्नि
प्राण	वायु
तालु	आप्
जिह्वा	रस
हृदय	अन्तरिक्ष
पांव	पृथ्वी

इस तरह यह ' सर्वभूतान्तरात्माका विश्व शरीर है ' और इस विश्व-शरीरके कुछ अंश लेकर यह जीवका पिण्ड-शरीर बना है । यह जीवका शरीर भी उस विश्व-शरीरका एक अंश है, वह उससे सर्वथा पृथक् नहीं है । परमेश्वरकी विश्वमूर्तिमें जीव-शरीर एक बिन्दु है । इस तरह दोनोंका अनन्य संबंध है।

यह विश्वही परमेश्वरकी प्रचण्ड मूर्ति है और वह मूर्ति स्वयं प्रभुही बन जाता है। इस विषयमें ऋग्वेदका एक मन्त्र देखिये-

रूपं रूपं प्रतिरूपो बभूव तदस्य रूपं प्रतिचक्षणाय ।
इन्द्रो मायाभिः पुरुरूप ईयते युक्ता ह्यस्य हरयः शता दश ॥ (ऋ. ६।४७।१९)

' प्रत्येक रूपके लिये वह प्रभु प्रतिरूपी बना है । यह उसका रूप उसको देखनेके लिये ही है। इन्द्र अपनी अनेक शक्तियोंसे अनन्त रूप होकर विचर रहा है, क्योंकि इसके रथको दस सौ घोडे जोते रहते है । '

यह मन्त्र परमेश्वरका स्वरूप जाननेके लिये अत्यंत उपयोगी है। "इन्द्रो मायाभिः पुरुरूप ईयते ।" ' प्रभु अपनी निज अनन्त शक्तियोंसे अनन्त रूप बनकर विचर रहा है ' यह कितना स्पष्ट वचन है । इससे और अधिक स्पष्ट क्या कहा जा सकता है ? एक एकमें सैकडों प्रकारकी शक्तियां हैं, ऐसे दस घोडे इसके रथको जोते हैं। यह रथ शरीरही है और दस इंद्रियाँही ये दस घोडे है, प्रत्येक इंद्रियमें सैकडों प्रकारकी शक्तियाँ है ।

इन्द्र अर्थात् प्रभुही अपनी अनन्त शक्तियोंसे अनन्त रूप धारण करके विचर रहा है। अर्थात् ये विश्वमें दीखनेवाले अनन्त रूप उसी प्रभुके रूप है, एक एक रूपमें एक शक्ति अथवा अनेक शक्तियाँ प्रकट हो रहीं है । इसी लिये इस विश्वमें गुणोंकी, शक्तियोंकी और कर्मोंकी विविधता दीख रही है। सूर्य और अग्निमें तेज, जलमें शीतता, अन्नमें पुष्टि, औषधियोंमें रोग दूर करनेकी शक्ति, तथा इसी तरह अन्यान्य पदार्थोंमें अन्यान्य शक्तियाँ हैं। ये सब शक्तियाँ ईश्वर की निज शक्तियाँ हैं और वे शक्तियाँ इन वस्तुओंके रूपोंमें विश्वमें प्रकट हुई हैं। इस विषयमे निम्नलिखित मन्त्र देखने योग्य हैं—

तदेवाग्निस्तदादित्यस्तद्वायुस्तदु चन्द्रमाः ।
तदेव शुक्रं तद्ब्रह्म ता आपः स प्रजापतिः ॥
(वा. यजु. ३२।१; काण्व यजु ३५।२३)

तदेवाग्निस्तद्वायुस्तत्सूर्यस्तदु चन्द्रमाः ।
तदेव शुक्रममृतं तद्ब्रह्म तदापः स प्रजापतिः ॥
(तै आ. १०।१।२, महाना उ १।२)

' वह ब्रह्मही अग्नि, सूर्य, वायु, चन्द्रमा, शुक्र, अमृत, ब्रह्म, जल और प्रजापति है । ' इसपर सायणाचार्य ऐसी टिप्पणी लिखते हैं, " **यद्यज्जगदविद्यादृष्ट्या नानाविधं प्रतीयते, तत्सर्वं विद्यादृष्ट्या अखण्डैकरसं ब्रह्मैव ।** (सा. भा. तै. आ. १०।१।२) = अविद्याकी दृष्टिसे विश्वमें जो अग्नि वायु आदि विभिन्न पदार्थ दिखाई देते है, वे सब ब्रह्मही है। ऐसा विद्याकी दृष्टिसे दिखाई देता है । विद्यादृष्टिही मनुष्योंका हित करनेवाली है और अविद्यादृष्टि दुःख बढानेवाली है, इसमें संदेह नहीं हो सकता । जो तत्त्वज्ञान नहीं जानते वे पृथ्वी आप् तेजको विभिन्न मानते है, परंतु जो तत्त्वज्ञानी है, वे सबको ब्रह्म मानते है और सबकी ओर समदृष्टिसे देखते है ।

पूर्वोक्त मन्त्रमें ' तत् ' पद ब्रह्मवाचक है । ' **तत् एव शुक्रं** ' ऐसा कह कर उस मन्त्रने कहा है कि जो शुक्र है वह ब्रह्मही है । अर्थात् मनुष्यके अथवा पुरुषके शरीरमे जो वीर्य है वह ब्रह्म ही है । यह ब्रह्म होनेसे इससे उत्पन्न होनेवाली सब प्रजा ब्रह्मरूपही बन गयी और पुरुषसूक्तके कथनके अनुसार ब्राह्मण क्षत्रिय वैश्य शूद्र उस पुरुषके ही अवयव कहे गये थे, वह सिद्धान्त आपही आप सिद्ध हुआ, क्योंकि ब्रह्मरूप वीर्यसे उत्पन्न होनेवाले ब्रह्मरूपही हो सकते हैं । ब्रह्मसे दूसरे किसीकी उत्पत्ति होना संभवही नहीं है । यही बात ऋग्वेदके निम्नलिखित मन्त्रमें कही है—

इन्द्रं मित्रं वरुणं अग्निं आहुः, अथो दिव्यः स सुपर्णो गरुत्मान्। एकं सत् विप्रा बहुधा वदन्त्यग्निं यमं मातरिश्वानं आहुः।

(ऋ. १।१६४।४६)

'(एकं सत्) एकही सत् है, उस एक सत्को (विप्राः बहुधा वदन्ति) ज्ञानी अनेक प्रकारोंसे वर्णन करते हैं। उसी एक सत्को ज्ञानी लोग अग्नि, वरुण, इन्द्र, यम, मातरिश्वा, मित्र, सुपर्ण गरुत्मान् आदि नाम देते हैं और उन नामोंसे उसी एक सत्का विविध प्रकार वर्णन करते हैं।'

इस मन्त्रका विचार करनेसे पता लग सकता है कि सत् एकही है, उस एक सत्काही वर्णन अग्नि आदि देवताओंके सूक्तोंमें विविध प्रकार होता है। इससे यह सिद्ध हुआ कि—

सर्वे वेदा यत् पदं आमनन्ति।

(कठ उ. १।२।१५)

वेदैश्च सर्वैरहमेव वेद्यः। (भ. गी. १५।१५)

स. वेदोंके विविध देवताओंके सूक्तों द्वारा एकही परमात्माका वर्णन होता है। एकही सत् है और उस एक सत्का अग्नि आदि नामोंसे वर्णन होता है। इसका अर्थही यह है कि एकही सत्के ये विभिन्न रूप हैं। एकही सत्से बना यह संपूर्ण विश्वका रूप बना है। संपूर्ण विश्व मिलकर एकही सत् है। इसी भावको तैत्तिरीय आरण्यकका मन्त्र बता रहा है—

सहस्रशीर्षं देवं विश्वाक्षं विश्वशंभुवम्।
विश्वं नारायणं देवं अक्षरं परमं विभुम्॥

(तै. आ. १०।११।१)

इसका सायण भाष्य यह है— ". **सहस्रशीर्षं... अनन्तशिरस्कं...सर्वजगदात्मकं विराड्रूपं महेश्वरस्य देहः। अस्मदादीनां शिरांसि सर्वाण्यपि तदीयान्येव इति अनन्तशिरस्त्वम्। ... अस्मदादीन्यक्षाणि इंद्रियाणि तदीयान्येव. विश्वं जगदात्मकम्०।**"

'यह नारायण देव, महादेव हजारों शिरों और हजारों अवयवोंवाला है, क्योंकि हम सब प्राणियोंके सिर, आंख, नाक, कान आदि अवयव उसीके अवयव हैं, अतः उसके अवयव हजारों हैं।' जितने प्राणी हैं उतने सभी रूप ईश्वरके हैं, ऐसी पूर्वोक्त भाष्यमें श्री सायणाचार्यकी टिप्पणी भी स्पष्ट है। यह ईश्वर 'विश्वरूप' है, इतनाही नहीं, परंतु यह प्रत्यक्ष 'विश्व' ही है। उक्त मंत्रमें 'विश्व' पद प्रभुकाही वाचक है। विष्णु-सहस्रनाममें प्रारंभमें ही कहा है कि-

विश्वं विष्णुः। (विष्णु स. ना. १)

'विष्णुका स्वरूप विश्वही है।' जो विश्व है वही विष्णु है और जो विष्णु है वही विश्व है। विष्णु व्यापक देवको कहते हैं, वह व्यापक विष्णु देव यह प्रत्यक्ष दीखनेवाला विश्वही है। यही सब शास्त्रोंमें कहा वर्णन भगवद्गीताके ग्यारहवें अध्याय में 'विश्वरूप-दर्शन' कराते हुए किया है। यहां वेद, उपनिषद्, भगवद्गीता, विष्णुसहस्रनाम, श्रीमद्भागवत आदि सब ग्रंथोंकी एकही संमति कैसी है, सो पाठक यहां देखें। अब इस विषयका गीताका वर्णन देखिये—

पश्यादित्यान्वसून्रुद्रान् अश्विनौ मरुतस्तथा।११-६
अनेकवक्त्रनयनमनेकाद्भुतदर्शनम्।
अनेकदिव्याभरणं दिव्यानेकोद्यतायुधम्॥१०॥
दिव्यमाल्याम्बरधरं दिव्यगन्धानुलेपनम्।
सर्वाश्चर्यमयं देवमनन्तं विश्वतोमुखम्॥११॥
तत्रैकस्थं जगत्कृत्स्नं प्रविभक्तमनेकधा।
अपश्यद्देवदेवस्य शरीरे पाण्डवस्तदा॥१३॥
पश्यामि देवांस्तव देव देहे
सर्वांस्तथा भूतविशेषसंघान्।
ब्रह्माणमीशं कमलासनस्थं
ऋषींश्च सर्वानुरगांश्च दिव्यान्॥ १५॥
अनेकबाहूदरवक्त्रनेत्रं
पश्यामि त्वां सर्वतोऽनन्तरूप॥ १६॥
अनन्तबाहुं शशिसूर्यनेत्रं
पश्यामि त्वां दीप्तहुताशवक्त्रम्॥ १९॥
रूपं महत्ते बहुवक्त्रनेत्रं
महाबाहो बहुबाहूरुपादं।
बहूदरं बहुदंष्ट्राकरालं
दृष्ट्वा लोकाः प्रव्यथितास्तथाऽहम्॥ २३॥
अमी च त्वां धृतराष्ट्रस्य पुत्राः
सर्वे सहैवावनिपालसंघैः।
भीष्मो द्रोणः सूतपुत्रस्तथासौ
सहास्मदीयैरपि योधमुख्यैः॥ २६॥

वक्त्राणि ते त्वरमाणा विशन्ति
दंष्ट्राकरालानि भयानकानि।
केचिद्विलग्ना दशनान्तरेषु
संदृश्यन्ते चूर्णितैरुत्तमाङ्गैः ॥ २७ ॥
वायुर्यमोऽग्निर्वरुणः शशाङ्कः
प्रजापतिस्त्वं प्रपितामहश्च ॥ ३९ ॥ (भ. गी. ११)

' देखो, इस परमेश्वरके रूपमें ये द्वादश आदित्य हैं, ये अष्ट वसु हैं, ये ग्यारह रुद्र हैं, दो अश्विनीकुमार हैं, सब मरुद्गण हैं।' इन्हें इस रूपमें देखो। (६) यह वर्णन देवतागणोंका है, यह ईश्वरका आधिदैवत स्वरूप है।

' देखो, इस ईश्वरके रूपमें अनेक मुख, अनेक नेत्र हैं, इस रूपमें अनेक अद्भुत देखने योग्य स्वरूप दीख रहे हैं। अनेक दिव्य आभूषण यहां इस देवने पहने हैं, अनेक दिव्य आयुध हाथमें लिये हैं। इस ईश्वरने दिव्य वस्त्र ओढे हैं, विलक्षण पुष्पमालाएं धारण की हैं, अनेक प्रकारके चन्दन और अंगराग लगाये हैं। यह आश्चर्यपूर्ण देव अनन्त है और चारों ओर मुख करके यहां खडा है।' (१०-११) यह वर्णन प्रत्यक्ष सामने दीखनेवाले सैनिकोंका है, वे ही अर्जुनके सामने नाना आभूषण और नानाविध आयुद्ध लिये खडे थे, नाना वस्त्र पहन कर नाना प्रकारके चन्दन लगाये खडे थे। विश्वरूपमें परमेश्वरके ये अर्जुनके सामनेवाले सैनिकोंके रूप खडे थे। ये लोग चारों ओर मुख किये खडे थे। सब सैनिकोंको परमेश्वरके रूपमें शामिल करके यह प्रत्यक्षकाही वर्णन है।

' इस एक प्रभुमें संपूर्ण विश्व एक हुआसा, परंतु अनेकधा विभक्त हो कर रहासा दीखता है।' (१३) यहांके वर्णनमें यह बात स्पष्ट हुई है, कि संपूर्ण विश्व एकही है तथापि प्रत्येक वस्तुकी विभिन्नताके कारण विभिन्नभी है अर्थात् यहां एकत्वमें विभिन्नता और विभिन्नतामें एकता है।

' इस विश्वरूप ईश्वरके देहमें सब देव दिखाई दे रहे हैं, सब भूतोंके संघ इसमें हैं, कमलासन ब्रह्मा, ईश, ऋषि और दिव्य सर्पभी यहां है।' (१५) यह वर्णन भूतकालका है। ये सब ऋषिगण अतीत कालके हैं।

' देखो, इस ईश्वरके रूपमें अनेक बाहु, अनेक पेट, अनेक मुख और नेत्र हैं, इसके नेत्र चन्द्रसूर्य हैं, इसका मुख प्रदीप्त अग्नि है, इस ईश्वरके रूपमें मुखादि अनंत अवयव हैं। (१६, १९, २३) ' सब लोगोंके सब अवयव ईश्वरके ही अवयव हैं ऐसा जानकर यह प्रत्यक्ष दृश्यकाही वर्णन है।

' देखो, ये सब धृतराष्ट्रके पुत्र अन्य सब राजाओंके समेत, तथा भीष्म, द्रोण और कर्ण तथा हमारी सेनाके मुख्य वीरोंके समेत हे प्रभो, तेरे मुखमें प्रविष्ट हुए हैं। तेरे मुखमें प्रविष्ट होकर ये पीसे जा रहे हैं, कई तो तेरी दाढोंमें चूर्ण हो चुके हैं।' (२६, २७) यह वर्णन भविष्यकालका है, युद्ध शुरू होनेके पश्चात् बननेवाली यह घटना है।

'हे प्रभो! तू वायु, यम, अग्नि, वरुण, चन्द्रमा और प्रजापति पितामह है। (३९) ' यह वर्णन अधिदैवतका है (और यह मंत्र ६ के साथ पढने योग्य है।)

अस्तु। इस तरह इस वर्णनमें भूत कालका वर्णन है और भविष्य कालका भी है। जो वर्तमान समयका वर्णन है, वह वहां समक्ष दीखनेवालाही है। अर्जुनको जब पता लगा कि यह युद्ध अनिवार्य है, तब उसको पता लगा कि अब ये मर चुके हैं। तब वह भविष्यकालका वीरोंके चूर्ण होनेका वर्णन विचारकी भूमिकामें देखकर करने लगा है।

युरोपका अबका युद्ध शुरू होनेके ४।५ वर्ष पूर्वही द्रष्टा लोग " यूरोप की सभ्यता युद्धकी खाई में जलकर भस्म होगी " ऐसे लेख विश्वासपूर्वक लिख रहे थे। वैसाही हुआ। अर्जुन को भी जब विश्वव्यापिनी दृष्टि आगयी और युद्धकी अनिवार्यता स्पष्ट हुई, तब वह वीरोंके पीसे जानेक दृश्य अपनी अन्तर्दृष्टिसे देखकर ऐसा वर्णन कर रहा है। अस्तु। यहांके वर्णनमें बहुतसा वर्णन अर्जुनके सामने प्रत्यक्षसाही दीखनेवाला वर्णन है। इस वर्णनकी यह विशेषता देखने योग्य है।

जब भ० गी० ७।४-५ के कथनानुसार पञ्चमहाभूत परमेश्वरका देह प्रतीत हुए, तब अखण्ड विश्वही पाञ्चभौतिक होनेके कारण वह सब ईश्वरका देहही है, ऐसा प्रतीत हुआ, तब अर्जुनको अभेदमें भेद और भेदमें अभेद देखनेकी दिव्य दृष्टि प्राप्त हुई और तत्पश्चात् उसके सामने यह अखण्ड विश्व एक मूर्तिके समान खडा हुआ।

यही विश्वका रूप सबके आखोंद्वारा दीख रहा है। किसीके आंख इसको देखते नही ऐसी बात नहीं है। सबके विश्वरूपको देखनेपर भी उनको इस बातका पता नहीं है कि, यह एकही विश्वात्माका रूप है। इसलिये वे ऐसा समझते हैं कि ये रूप

विभिन्न है। परंतु जब उनको इस बातका पता लगेगा कि, जहा जहा पञ्चमहाभूत और अन्तःकरण-चतुष्टय है, वह सब एक और अद्वितीय परमेश्वरका देहही है, तब उन्हे पता लग जायगा कि, अखण्ड एकताही इस विविधतामें है। यह जाननाही दिव्य दृष्टि है। यह दृष्टि हर किसीको विशिष्ट प्रकारके ऊपर बताये मननसे प्राप्त हो सकती है। अर्जुनको यह दृष्टि सातवें अध्यायके उपदेशके प्रसंगमें प्राप्त हो चुकी थी, इसीलिये यहां ग्यारहवें अध्यायमे 'दिव्य दृष्टि देता हूँ' ऐसा कहकर भी दी नहीं। क्योंकि दिये हुए ज्ञानको दुहरानेका कुछ भी प्रयोजन नहीं है।

सब लोग विश्वको देख रहे हैं। दिव्य दृष्टिवाला उसमें एकता और अखंडितता देखता है और सर्वसाधारण मनुष्य विविधताको देखकर मोहित होता है। यही दोनोंमे भेद है।

गीता तत्त्वज्ञानका ग्रंथ है, परंतु भाषा काव्यमयी है। इस-लिये काव्यका चोगा उतार कर शुद्ध तत्त्वज्ञानकी दृष्टिसे जो सत्य वहां रहा है, वही देखना चाहिये। तब जैसा विश्वरूप दीखेगा, वह ऊपर बताया है। अब हमारे सम्मुख एक प्रश्न खडा होता है वह यह कि क्या यह विश्वरूपी परमेश्वरका वर्णन यहीं इस ग्यारहवें अध्यायमे ही है, या गीतामें अन्यत्र भी है? दशमाध्यायमें जो ईश्वरकी विभूतियॉ कहीं हैं, उसकी संगति इस विश्वरूपसे कैसी लगेगी? इसका विचार करनेके लिये हम द्वितीय अध्यायसे इस विश्वरूप-दर्शनके सूचक जो वचन हैं, उनका क्रमशः विचार करते है—

(१) द्वितीय अध्यायमें '**नित्यः सर्वगतः आत्मा**' (श्लोक २४ में) कहा है। सबका सर्वगत एकही आत्मा है ऐसा माननेसे विश्वान्तर्गत सभी रूप इसी एक आत्माके हैं, ऐसा स्वयंही सिद्ध होता है। यह द्वितीयाध्यायमेंही विश्वरूपका, एक आत्माका, संकेत है।

(२) तृतीय अध्यायमें १५ वें श्लोकमें '**सर्वगतं ब्रह्म**' कहा है। सर्वव्यापक एकही ब्रह्म यहां कहा है। विश्वके सभी पदार्थोंमें यह पूर्णतया व्यापक है। अतः तीसरे अध्यायमें विश्व-रूपके सूचक ये पद है।

(३) चतुर्थ और नवम अध्यायमें निम्नलिखित श्लोक देखने योग्य हैं—

ब्रह्मार्पणं ब्रह्म हविर्ब्रह्माग्नौ ब्रह्मणा हुतम्।
ब्रह्मैव तेन गन्तव्यं ब्रह्म-कर्म-समाधिना॥
(भ. गी. ४।२४)

अहं क्रतुरहं यज्ञः स्वधाहमहमौषधम्।
मन्त्रोऽहमहमेवाज्यमहमग्निरहं हुतम्॥
(भ. गी. ९।१६)

'ब्रह्मही अर्पण है, ब्रह्मही हविर्द्रव्य है, ब्रह्मरूप अग्निमें ब्रह्मही आहुतियॉ देता है। ब्रह्मही सब कर्म है, ऐसी बुद्धि होनेपर वही ब्रह्मको प्राप्त होता है। वह स्वयं ब्रह्म बनता है।' (४।२४)

'मै ही क्रतु हूं, मै ही यज्ञ हूं, मैं स्वधा हूं और मैं ही हवन करनेकी औषधियॉ हूं, मै मन्त्र हूँ, मै ही घृत हूँ और मैं अग्नि हूँ और मै ही हवनकी आहुति हूँ।' (९।१६)

जब विश्वरूप दर्शन करके सब पदार्थ ब्रह्मरूप होंगे तत्पश्चातही ये मंत्र सत्य हैं ऐसा सिद्ध हो सकता है। सब विश्व ब्रह्मका रूप होनेपरही ब्रह्मरूप अग्निमें ब्रह्मरूप हविको ब्रह्मरूप यजमान हवन करता है, यह सत्य प्रतीत होगा। अन्यथा जो विश्वरूप दर्शनका तत्त्व नहीं जानते, वे इन गीता-वचनोंको (Absurd) अर्थहीन और मूर्खताके वचन कहतेही हैं। परंतु इससे उनहीकी मूर्खताका पता लगता है। सब विश्वभरमे एकही एक सत् है, उसीके ये सब रूप हैं, ऐसा अनुभव करनेसेही यजमान, ऋत्विज, अग्नि, वेदि, हविर्द्रव्य, मंत्र आदि सब उस एकही 'सत्' के रूप है ऐसा प्रतीत होगाही। फिर उस एक 'सत' को 'ब्रह्म' कहो वा 'अहं' कहो। चतुर्थ अध्यायके पूर्वोक्त श्लोकमें उसको 'ब्रह्म' कहा है और नवम अध्यायके श्लोकमे उसीको 'अहं' कहा है। सब विश्वही ब्रह्म होनेसे मैं (अहं) भी ब्रह्मही हो जाता हूं, क्योंकि कौन किस तरह उस एक सत्से बाहर हो सकता है? अस्तु। इस तरह चतुर्थ और नवम अध्यायोंके ये वर्णन विश्वरूपी ब्रह्मकी एक अखंड सत्ताका स्वीकार करनेके पश्चातही किये गये हैं।

(४) पञ्चम अध्यायमें निम्न लिखित श्लोक इस विषयमें मन-नीय है—

विद्याविनयसंपन्ने ब्राह्मणे गवि हस्तिनि।
शुनि चैव श्वपाके च पण्डिताः समदर्शिनः॥
(भ. गी. ५।१८)

'विद्वान् ब्राह्मण, गाय, हाथी, कुत्ता और श्वपाक अर्थात् कुत्तेका मांस खानेवाला चाण्डाल इनको पण्डित लोग सम-

बनाए रखनेमें वर्तमान है, उस वस्तुके वास्तविक तत्वके व्यतिरिक्त अन्य कुछ नहीं ÷। यहांपर वस्तु 'तत्व'से अभिप्राय उसके अस्तित्वसेही है; उसके हमारे मनमें रहनेवाले कल्पित 'तत्व'से नहीं, जिसका उल्लेख पहिले किया जा चुका है और जो उस वस्तुके बाह्य अस्तित्वके निरपेक्ष भी मनमें रह सकता है। आत्मरक्षाका यह प्रयत्न उस वस्तुके अस्तित्वसे असंभिन्न है। और चूंकि यह प्रयत्न ईश्वरीय शक्तिकी आवश्यकतासे प्राप्त होता है अतएव यह मर्यादित कालवाचक न होकरके अनिश्चित कालका द्योतक' है +।" क्योंकि वस्तुका विनाश उसके स्वरूपसे तो प्राप्त हो ही नहीं सकता। अतएव यदि कोई वस्तु अस्तित्वसे-रहित होती भी दिखाई पडे तो वह बाह्य कारणोंसे ऐसी होती है।

स्पिनोझाके मतमें आत्मरक्षाका प्रयत्न प्राणियों या वनस्पति-जगत् तकही सीमित नहीं, यह जड वस्तुओंमें भी रहता है। चेतन अचेतन तथा स्थावर जंगम सृष्टिकी ऐसी कोई वस्तु नही जो इस प्रयत्नसे शून्य हो। इसी दृष्टिसे वि. ८ तक स्पिनोझाने 'प्रत्येक वस्तु' यह सर्वसामान्य निर्देश किया है। स्पिनोझाके दर्शनमें जैसा कि प्रो. वॉल्फसनने कहा है, चेतन अचेतनके भेदको कोई स्थान नहीं। उसमे तो शरीर और मन-या विचार और विस्तारके प्रकारोंका भेद है। वि. ४-८ तक स्पिनोझाने विस्तारके प्रकार या शरीरके संबंधमें इस प्रयत्नका विचार किया है। शरीरके मुख्य धर्म गति और स्थिति है, अतएव समस्त शरीर इसी प्रयत्नमें संलग्न रहते है। जड वस्तुओंमें भी आत्मरक्षाका प्रयत्न देखनेकी यह प्रवृत्ति किसी हद तक मध्ययुगमें और स्पष्ट रूपसे पुनर्जागति-कालमें दिखाई देती है। इस कालके दार्शनिकोंने इस प्रयत्न को 'स्वाभाविक प्रीति'-(Natural Love) कहा है। स्पिनोझाकी दृष्टिसे भी 'स्वाभाविक प्रीति, इस प्रयत्नका अपर पर्याय है।

शरीरसे अब स्पिनोझा मनकी ओर बढता है। मनका मुख्य प्रयत्न विचारमें संलग्नता है। फिर चाहे उस विचारके विषय स्पष्ट और सुव्यक्त कल्पनाएं हों या उलझी हुई कल्पनाएं। और चूंकि ज्ञानवत्ता मानवीय मनका असाधारण धर्म है, इस लिये शरीरके असमान मनको अपने इस प्रयत्नका ज्ञान भी रहता है। साथ ही मनका यह प्रयत्न अनियत काल तक रहनेवाला है §। मनके स्वसंरक्षणके प्रयत्नके यह मानी होते हैं कि मन शरीरके अस्तित्वको प्रस्थापित करे, अस्तित्वाभावको नहीं। "मनमें ऐसी कोई कल्पना नहीं जो शरीर के अस्तित्वका निषेध करे, क्योंकि ऐसी कल्पना मनके विरुद्ध है×"। मनके इसी प्रयत्नको स्पिनोझाने आगे चलकर वह इच्छा कहा है जिसके द्वारा प्रत्येक मनुष्य विवेककी प्रेरणानुसार स्वसंरक्षाके लिये प्रयत्न करता है ※। चूंकि मनको शरीरका और शरीरमें होनेवाली सब बातोंका ज्ञान होता है और विचारोंके क्रम और संबंधमें तथा वस्तुओंके क्रम और संबधमें सहचार है इसलिये यह निष्कर्ष निकलता है कि "यदि कोई वस्तु शरीरकी क्रियात्मक शक्तिको घटाती बढाती है, सहायक या प्रतिबंधक होती है, तो उस वस्तुकी कल्पना हमारे मनकी वैचारिक शक्तिको भी घटाती बढाती, सहायक या प्रतिबंधक होती है ▪"। शरीरके इन्हीं परिणामों और उनकी कल्पनाओं को जिनके द्वारा मनकी सक्रिय शक्ति घटती बढती, सहायता प्राप्त करती या प्रतिबद्ध होती है, स्पिनोझा भाव कहता है।

आत्मसंरक्षणका यह प्रयत्न केवल शरीरका, केवल मनका या मन और शरीर दोनोंका एकसाथ हो सकता है। जब वह केवल मनसे संबंध रखता है, तब स्पिनोझा उसे इच्छा (Will) कहता है; परंतु जब वह शरीर और मन दोनोंसे संबंध रखता है, तब वह उसे 'वासना' (appetite) कहता है। इसी प्रकार कामना भी शरीर और मन दोनोंसे संबंध रखनेवाले प्रयत्नकाही नाम है, परंतु वासना और कामनामें यह भेद है कि "कामना मनुष्योंके संबंधमें तब कही जाती है जब उन्हे अपनी वासनाओंका ज्ञान होता है।" अर्थात् कामना ज्ञानयुक्त वासना है। "Desire is appetite with consciousness thereof." आगे चलकर स्पिनोझा सक्रिय भावोंके विचारमें इच्छाको प्रयत्न (Conatus) से भी अभिन्न बतलाता है। "इच्छाका हमारी विचार-शक्ति या सक्रियतासे भी संबंध है।" ●

इस प्रकार 'प्रयत्न', 'इच्छा', 'वासना', 'कामना' सब संबंधी शब्द हैं, इन सबमें समान बात है, आत्मरक्षाका प्रयत्न 'यह प्रयत्न एक स्वतंत्र क्रिया नहीं है, परंतु यह एक ऐसी क्रिया है जो नित्य ईश्वरीय स्वभावकी आवश्यकतासे प्राप्त

÷ वही वि. ७ + वही वि. ८ § वही वि. ९ × वही. वि. १० ※ नी. शा. भा. ४ वि. १८ स्प. ▪ वही. वि. ११. ● वही. वि. ५८५

होती है। अतएव कामना (Desire) किसी ऐसी वस्तुका अनुसरण नहीं है जिसकी अच्छाईका पहिले ही निर्णय कर लिया गया हो क्योंकि यह निर्णय तो कामनाके उत्तरभावी है। "यह बात नहीं कि कोई वस्तु अच्छी है इसलिये हम उसके लिये प्रयत्न, इच्छा, अभिलाषा या कामना करते हों; परंतु इसके विपरीत हम किसी वस्तुको अच्छी इसीलिये समझते हैं चूंकि हम उसके लिये प्रयत्न, इच्छा, अभिलाषा, या कामना करते हैं।" ×

स्पिनोझा जिन्हें प्रमुख निष्क्रिय भाव कहता है वे तीन ही हैं– कामना (desire), सुख (pleasure) और दुःख (pain)। कामना स्वयं आत्मसंरक्षणकी दिशामें प्रयत्न है, इस प्रयत्नकी वृद्धि सुख है और इस प्रयत्नका ह्रास ही दुःख है। "सुख मनुष्यका कम पूर्णतासे अधिक पूर्णताकी ओर संक्रमण है।" "दुःख मनुष्यका अधिक पूर्णतासे न्यून पूर्णताकी ओर अवस्थांतर है *।"

डेकार्टने छः प्रमुख भाव माने थे, परंतु स्पिनोझा साग्रह प्रतिपादन करता है कि "इन तीनसे बाहर मैं अन्य कोई भी प्रमुख भाव अंगीकार नहीं करता। मैं आगे चलकर बतलाऊंगा कि अन्य सब भाव इन्हीं तीनोंसे उत्पन्न होनेवाले हैं। ॥"

परप्राप्त निष्क्रिय भाव
(Derivative Passive Emotions)

सुख दुःख और कामना येही प्रमुख भाव हैं। हमारे अन्य समस्त भाव इन्हींसे उपलब्ध होते हैं, यथा प्रीति, द्वेष, आशा, भय, इत्यादि। इन भावोंके उतने ही प्रकार हैं जितने कि उन वस्तुओंके जिनका हमपर असर होता है। परंतु स्पिनोझाने कुल मिलकर जिनमें तीन प्रमुख भावोंकाभी समावेश है, ४८ भावोंकी परिभाषाएं दी हैं। इन भावोंके विषयमें स्पिनोझाके एक विद्वान् आलोचक जॉन केअर्ड (John Caird) ने यह कहा है– । "स्पिनोझा इन प्रमुख भावोंसे साहचर्यके सिद्धांतकी सहायता लेकर तर्किक मेलमिलाप और हेरफेरकी प्रक्रिया द्वारा भावोंकी श्रमपूर्वक की हुई रचना उपस्थित करता है जो मनोवैज्ञानिक विश्लेषणकी दृष्टिसे चाहे जितनी कुशलताका काम हो, तथापि यह उसकी तात्त्विक रचनाके विकासमें कोई नई बात नहीं जोडती; और इस दृष्टिसे अन्य भागोंकी अपेक्षा इसका मूल्य कम ही है +"। परंतु केवल मनोवैज्ञानिक दृष्टिसे इनका महत्त्व कितना अधिक है, यह एक दूसरे उद्धरणसे स्पष्ट मालूम हो जायगा। "स्पिनोझाका भावनाओंके मनोविज्ञान (psychology of feelings) का विवेचन केवळ स्पिनोझा द्वारा किये हुए ही नहीं, परंतु संपूर्ण मानसशास्त्रके क्षेत्रमें किये गये अत्यंत उत्कृष्ट कोटिके कार्योंमें गणना किये जानेके योग्य है। प्रथम, उसको इस बातका श्रेय है कि उसने मानवीय भावों तथा मनोविकारोंकी शुद्ध वैज्ञानिक समीक्षाकी आवश्यकता और समर्थनीयता प्रस्थापित की... दूसरे, उसने भावोंका स्वरूप विशद करनेकी दृष्टिसे अत्यंत महत्त्वपूर्ण समस्त दृष्टिकोणोंको बहुत ही अच्छी तरहसे उपस्थित किया।" %

उपर्युक्त दोनों अवतरणोंमें स्पिनोझाके भावोंके विवेचनकी योग्य आलोचनाका समावेश हो जाता है। अतएव हम इनका तात्त्विक महत्त्व अधिक न होनेसे, साथ ही स्थलसंकोचके कारण स्थालीपुलाकन्यायसे कुछ भावोंकी परिभाषाएं देकर इनके संबंधमें कुछ मोटी मोटी बातें ही सामने रखेंगे।

"प्रीति बाह्य कारणकी कल्पनासे युक्त सुख है।" द्वेष बाह्य कारणकी कल्पनासे युक्त दुःख है। "क्रोध वह कामना है जिसके द्वारा हम द्वेषके कारण अपने द्वेष्यको हानि पहुंचाना चाहते हैं।" ७

वि. १२-१३ में स्पिनोझाने प्रमुख और परप्राप्त भावोंमे अंतर बतलाया है। भाव प्रमुख तब होता है जब हमारी सुखदुःखकी अनुभूतिका कारण बाह्योपस्थित कोई वस्तु होती है और जिसके फलस्वरूप यदि वह सुखदायी हो तो हम उसकी इच्छा करते हैं अर्थात् उसको बनाए रखनेके लिये पूरा पूरा यत्न करते हैं, परंतु यदि वह दुःखदायी हो तो हम उसके विनाशके लिये या हमसे दूर हटानेके लिये प्रयत्न करते हैं। परंतु कभी कभी हमें ऐसी वस्तुओंसे भी सुखदुःखका अनुभव

× वही, वि. ९ स्प. * वही, भावोंकी परिभाषा २,३ ॥ वही वि. ११ स्प. + Spinoza by John Caird, p. 233 % Hist. of Mod. Phil. Vol. I by Hoffding, pages 320-321 ७ नी. शा. भा. ३ भावोंकी परिभाषाएं ६,७,३६

होता है जो स्वयं तो उपस्थित नहीं होतीं परंतु जिनकी उपस्थितिकी मनद्वारा कल्पना कर ली जाती है। इसी प्रकार मन कल्पनाद्वाराही सुखकारक वस्तुओंके काल्पनिक अस्तित्वकी तो रक्षा चाहता है और दुःखकारक वस्तुओंके काल्पनिक अस्तित्वका अभाव; ये सुख, दुःख तथा कामनाके परप्राप्त भाव हैं। जब सुख और दुःख वास्तविक अस्तित्ववान् बाह्य कारणोंसे जन्य न होकर उन कारणोंकी कल्पनासे होते हैं, तब उस सुख और दुःखको अनुक्रमसे प्रीति और द्वेष कहना चाहिये। सुख और दुःखकी अनुभूतिके समान ही प्रीति और द्वेषकी अनुभूति भी प्रीति-विषयकी उपस्थिति या रक्षा और द्वेष्य वस्तुका अपसार या विनाशके प्रयत्नसे अपृथग्भावी है। *

मन द्वारा सुख दुःखके कारणोंके अस्तित्व, रक्षा, और विनाशकी ये कल्पनाएं योंही बेसिरपैर की उटपटांग नहीं हुआ करतीं। इन कल्पनाओंमें भी मन कुछ निश्चित नियमोंका अनुसरण करता है और अंततोगत्वा वास्तविक अस्तित्ववान् बाह्य कारणोंसेही नियत होता है। इन नियमोंमें प्रथम है भावोंके साहचर्यका नियम (Law of the association of emotions) इसके अनुसार जिस वस्तुने हमारे मन में किसी समय भी सुख दुःख और कामना उत्पन्न नहीं की वह वस्तु भी सुख, दुःख और कामना उत्पन्न करनेवाली वस्तुके साहचर्यसे हमारे मनमें ये तीनों भाव उत्पन्न कर सकती है। यह साहचर्य जैसा कि हमने पहिले देखा है, साम्य, विरोध और दैशिक या कालिक आसक्तिकी अवस्थाओं में होता है। उदाहरण, मनकी डांवाडोल स्थिति या अनिश्चय सादृश्यमूलक साहचर्यसे होती है।

दूसरा नियम है भावोंका अनुकरण (Imitation of emotions)। भावानुकरणका स्पिनोझा अत्यंत व्यापक सिद्धांतके रूपमें उपयोग करता है जिसका आविष्कारण विभिन्न रूपोंमें होता रहता है। इस नियमके अनुसार कोई वस्तु जो हमारे सुख दुःख कामनाका न तो प्रधान और न गौण कारण रही है, हममें ये सब भाव परंपरासे उत्पन्न कर सकती है; कारण, वह वस्तु दूसरोंमें ये भाव उत्पन्न करती है और हमारी भावानुकरणकी स्वाभाविक प्रवृत्तिके कारण हममें भी वे भाव उत्पन्न हो जाते हैं। हमें हमारे प्रीतिभाजनोंके विनाश और सुरक्षिततासे क्रमसे दुःख और आनंद होता है। इसी प्रकार हमें हमारे द्वेष्योंके सुखसे दुःख और दुःखसे सुख होता है। भावोंका इस प्रकारका अनुकरण हमारे प्रिय या द्वेष्य जनोंतकही सीमित नहीं। मनुष्यताके नाते हम ऐसे मनुष्यके भावोंका भी अनुकरण करते है जिनके प्रति हमारे मनमें कोई भी भाव नहीं होते। भावानुकरणका एक और प्रकार है परोपकारकी भावना। इसके द्वारा हम उन कार्योंकी ओर अभिमुख होते हैं जिनके कारण दूसरोंको सुख होता है। इसी प्रकार दूसरोंको दुःखदायक कार्योंसे हम पराङ्मुख होते है। इसी प्रकार अन्याय भाव समझने चाहिये।

सक्रिय भाव (Active Emotions)

निष्क्रिय भाव, जैसा कि हम देख चुके हैं, जिन्हें स्पिनोझा मनकी निष्क्रियता (Passiveness) भी कहता है, हमेशा बाह्य कारणजन्य होते हैं और मनुष्य स्वयं उनका अपर्याप्त या आंशिक कारण होता है। इनके ठीक विपरीत सक्रिय भाव है या वे भाव जो मनकी क्रियाशीलतासे संबध रखते हैं, और जिनका मनुष्य पर्याप्त कारण होता है। प्रमुख निष्क्रिय भाव तीन हैं, परतु सक्रिय भाव केवल दो ही हैं- सुख और कामना (desire)। कारण दुःख या उसके समस्त उपप्रकार विना किसी अपवादके मनकी वैचारिक अर्थात् क्रिया-शक्तिका ह्रास या अवरोध करते है। सक्रिय भावके रूपमें कामना विवेककी प्रेरणानुसार आत्मरक्षाका प्रयत्न है और सुख मनका सत्य या पर्याप्त कल्पनाओंके द्वारा होनेवाले आत्मचिंतनसे जन्य आनंद है। पर्याप्त कल्पनाओंके चिंतनकी ज्ञानवत्तासे मनको अपनी बढी हुई क्रियाशक्तिका अनुभव होता है अर्थात उसे अपनी क्रियाशीलताके कारण सुखके भावका अनुभव होता है। समस्त सक्रिय भाव हमारी शक्तिके कार्य हैं और उसीकी अभिव्यक्ति करते है।

सक्रिय और निष्क्रिय सुख और इच्छाके भावोंका यह अंतर, जैसा कि प्रो वॉल्फसनने सूचित किया है, स्पिनोझाके अपने पारिभाषिक शब्दोंमें वही अंतर है जो एरिस्टॉटलने विवेकपूर्ण और अविवेकपूर्ण इच्छाओं तथा विवेकज सुख और इन्द्रियजन्य सुखमें किया था।

* वही वि. १३ स्प.

सक्रिय भावोंसे होनेवाले कार्य मनकी यथार्थ विवेक-शक्तिके या विवेकशील मनके परिणाम या आविष्करण हैं। मनकी इन उदात्त प्रवृत्तियोंकी समष्टिको स्पिनोझा चारित्र्य बल, (fortitude-strength of character) कहता है; अर्थात् इस प्रकारकी प्रत्येक प्रवृत्तिमें चारित्र्य बल-प्रकट होता है। चारित्र्य-बलके बिना इस प्रकारकी प्रवृत्ति संभवही नहीं।

इस चारित्र्य बलके भी दो भेद हैं- (१) आत्मबल (Animositas, vigour of soul) और उदार या विशाल मनस्कता (generositas, magnanimity) "आत्मबलसे मेरे मानी उस इच्छासे है जिसके द्वारा प्रत्येक मनुष्य एक मात्र अपने विवेकके आदेशानुसार आत्मरक्षाके लिये प्रयत्न करता है। उदार या विशालमनस्कतासे मेरा अभिप्राय उस इच्छासे है जिसके द्वारा प्रत्येक मनुष्य एकमात्र अपने विवेककी प्रेरणानुसार दूसरे मनुष्योंको सहायता देनेका और उनका अपने साथ मैत्रीके बंधनों द्वारा ऐक्य करनेका यत्न करता है। आत्मबलसे सिर्फ आत्म-कल्याणसे संबंध रखनेवाले कार्य होते हैं और मनौदार्यसे परकल्याणके कार्य। आत्मबलके विविध रूप हैं युक्ताहार-विहार, प्रशांतमनस्कता, संकटकालमें प्रसंगावधान इत्यादि। इसी प्रकार मनौदार्य या विशालमनस्कताके विभिन्न रूप हैं सुशीलता, सौजन्य, दया इत्यादि × " चारित्र्यबल इन सबमें प्रकट होता है।

भावोंके इस विवेचनके उपसंहारमें स्पिनोझा कहता है- " ऊपर मैंने जो कुछ कहा है उससे यह स्पष्ट है कि हम बाह्य कारणों द्वारा अनेक तरहसे इतस्ततः खदेडे जाते हैं और उलटे सीधे व दुवेगसे चलायमान होनेवाली समुद्रकी उत्ताल तरंगोंके समान, अंतिम परिणाम और अपने भाग्यसे अनभिज्ञ हम ऊपर नीचे आंदोलित होते रहते हैं+।" इस प्रकारकी अवस्थाके कारण और उनसे छुटकारा पानेके उपायोंका विचार बंध और मोक्षके अगले दो प्रकरणोंमें होगा।

व्यावहारिक खण्ड

(Practical Philosophy)

[प्रकरण १८]

मनुष्यका बंध या भावोंकी प्रबलता
और
सदाचारसंपन्न जीवनका मार्ग

चतुर्थ भागका उपक्रम स्पिनोझा इस प्रकार करता है-'मनुष्य की भावोंको अपने अधीन करनेकी या उनके वेगको रोकनेकी असमर्थताको ही मैं बंध या दास्य कहता हूं, क्योंकि मनुष्य जब अपने भावोंका शिकार होता है तब वह अपने आपका प्रभु न होकर भाग्याधीन होता है; यहांतक कि प्रायशः अपने श्रेयका परिज्ञान होते हुए भी वह अश्रेयका ही अनुसरण करनेमें बलात् नियोजित होता है। ऐसा क्यों है और भावोंमें अच्छा और बुरा क्या है, यह मैं इस भागमें बतलाऊंगा। परंतु प्रथम पूर्णता और अपूर्णता, अच्छे और बुरेके संबंधमें कुछ प्रास्ताविक बातें कह देना उचित होगा।'* स्पिनोझाकी तात्विक भूमिकाके अनुसार यथार्थ दृष्टिसे पूर्णता अपूर्णता, अच्छा बुरा ये वास्तविक न होकर मनुष्यकी कल्पनाएं हैं। मनुष्य प्रथम अपने मनमें अच्छे बुरे या पूर्णापूर्णके आदर्श कायम कर लेते हैं और तदुपरांत मानवनिर्मित, उसी प्रकार निसर्गनिर्मित, वस्तुओंके अच्छे बुरे या पूर्णापूर्ण होनेका निर्णय करते हैं। 'मनुष्य निसर्गकी कृतियोंको पूर्ण या अपूर्ण अपने पूर्वग्रहोंके अनुसार ही कहनेके अभ्यस्त हैं; वस्तुओंके यथार्थ ज्ञानसे नहीं। और भी इस निर्णयके मूलमें होती है वस्तुओंकी एकदूसरीसे तुलना। इसी प्रकार अच्छे बुरेका निर्णय मनुष्यकी कल्पनाएं हैं और यह निर्णय वस्तुओंकी एकदूसरीसे तुलनाके कारण

× वही वि. ५९ स्प. + वही. * नी. शा. भा ४ प्रस्तावना

होता है। वस्तु-स्वरूपमें अच्छा या बुरा कुछ नहीं होता... इसलिये एकही वस्तु एकसमयावच्छेदेन अच्छी या बुरी, या उदासीन हो सकती है। उदा० संगीत उदास मनुष्यको आह्लाद-प्रद होता है; शोकग्रस्त मनुष्यके लिये बुरा और बहिरेके लिये न अच्छा न बुरा।"×

वस्तुओंका तात्त्विक स्वरूप पूर्णापूर्ण या अच्छा बुरा नहीं। वह तो आवश्यक रूपसे जो है सो है। शेष सब हमारी सापेक्ष कल्पनाएं हैं। इसलिये यथार्थ या तात्त्विक दृष्टिसे इनका कुछ मूल्य नहीं। इनका व्यावहारिक उपयोग तो अवश्य है। वस्तुओंको जब हम पृथक् रूपसे देखते हैं, तब हम उन्हें प्रकारों की दृष्टिसे देखते हैं, अतएव इस मर्यादित दृष्टिसे सम्पता या पूर्णताका क्रम कहा जा सकता है, यद्यपि तत्त्वदृष्टिसे नहीं। सत्यासत्य या पूर्णापूर्णकी इन कल्पनाओंके द्वारा हमारे आदर्शोंसे समीपता या दूरता मालूम हो सकती है। इसलिये, "अच्छेसे मेरा अभिप्राय उससे है जिसे हम निश्चित रूपसे हमारे लिये उपयोगी समझते हैं+।" बुरेसे मेरा अभिप्राय उससे है जिसे हम निश्चित रूपसे हमारे किसी भी प्रकारके श्रेयःसाधनमें बाधक समझते हैं।"

चतुर्थ भागके १ से १८ विधानोंतक स्पिनोझा भाव और सद्गुणोंके परंपरागत भेदका निषेध करता है। शेष विधानोंमें मानवीय आचारका प्रतिपादन है जिनमेंसे वि. १८ से २८ तक सद्गुण और सुखके संबंधका विवेचन है; वि २९-४० तक समाजकी उत्पत्ति तथा स्वरूपका वर्णन है और अंतमें कुछ विशिष्ट सद्गुणोंका वर्णन है।

भाव और सद्गुण।

हम देख चुके है कि स्पिनोझाके पूर्ववर्ती दार्शनिकोंके अनुसार मनुष्य अपने भावोंके विषयमें स्वतंत्र नहीं है, परंतु सद्गुण उसकी स्वेच्छाके विषय हैं जो उसके ज्ञान या इच्छापर अवलंबित होते हैं। अतएव भावोंके लिये मनुष्य स्तुति निंदाका पात्र नहीं, परंतु सद्गुणों और दुर्गुणोंके लिये तो अवश्य है। इन्हीं मतोंके खंडनसे चतुर्थ भागका प्रारंभ होता है। इच्छा-स्वातंत्र्यका पहिलेही निषेध किया जा चुका है और यह बतलाया जा चुका है कि क्रियाएं भी भावोंकी तरह बाह्य कारणोंद्वारा नियत होती हैं। चूंकि भाव और क्रियाएं (Actions) दोनों बाह्य कारण जन्य हैं, अतएव दोनों केवल ज्ञान या इच्छामात्रसे हटाए नहीं हट सकते। इस दृष्टिसे सुखदुःखके भाव और सद्गुण-दुर्गुणादिमें कोई अंतर नहीं। एक भाव दूसरे प्रबलतर भावसेही हटाया जा सकता है, क्योंकि पहिले भावके बाह्य कारणोंकी अपेक्षा दूसरे भावके उत्पादक बाह्य कारण भी अधिक सबल होते हैं। ठीक यही बात क्रियाको भी लागू होता है।

प्रथम विधानमें स्पिनोझा कहता है कि भाव ज्ञान (knowledge) से नहीं हटाया जा सकता। भाव जिसे मनकी निष्क्रियता कहा जा चुका है, एक उलझी हुई अतएव मिथ्या कल्पना है। इस कल्पनासे बाह्य शरीरोंका यथार्थ ज्ञान नहीं हो सकता। इस दृष्टिसे यह मिथ्या ज्ञान अभावात्मक (negative) है। तथापि भाव स्वयं अभावरूप नहीं। उदाहरण-हम सूर्यकी ओर देख कर यह कल्पना कर लेते हैं कि वह हमसे २०० फीटकी दूरीपर है। यह कल्पना तो उलझी हुई और मिथ्या है, तथापि हमारे ऊपर सूर्यकी उष्णता और प्रकाशसे होनेवाले परिणामके कारण जो भाव उत्पन्न होता है, वह भावरूप होनेसे सूर्यके अंतरके यथार्थ ज्ञानसे नहीं हटाया जा सकता, यद्यपि यह यथार्थ ज्ञान हमारी गलतीको दूर कर देगा। यह भाव तो इसी प्रकारके अन्य बलवत्तर भावसेही हटाया जा सकता है, जो प्रथम भावको अभिभूत कर सके।

ज्ञानके समान इच्छा (Will) भी भावको नहीं हटा सकती। इच्छाके विषयमें यह कहा जा चुका है कि वह आत्मसंरक्षणका दृढ प्रयत्न है या आत्मरक्षामें तत्परता है। अतएव स्पिनोझा इच्छाको प्रयत्नादि शब्दोंद्वारा भी सूचित करता है। मनुष्य केवल ईश्वर या नित्य और अनंत प्रकृतिके क्रमकाही प्रकार और अंश नहीं। वह प्रकृतिके सामान्य क्रमका भी अंश है। वह असंख्य विशिष्ट वस्तुओंमें से एक है और ये विशिष्ट वस्तुएं बाह्य कारण रूपसे उसपर प्रभाव रखती है, "क्योंकि यह असंभव है कि मनुष्य निसर्गका एक अंश न हो और उसके सामान्य क्रमका अनुसरण न करे।" इसके फल-स्वरूप, "जहांतक हम निसर्गके एक ऐसे अंश हैं जिसकी कल्पना अपने स्वयंसे दूसरे अंशोंके निरपेक्ष नहीं की जा सकती, वहांतक हम निष्क्रिय हैं।" वैसे तो वह शक्ति जिसके द्वारा मनुष्य अपने अस्तित्वमें दृढ रहता है, ईश्वरकी

× नी. शा. भा. ४ प्रस्तावना + वही, प. १ वही प. २ वही, परिशिष्ट ७ वही वि २

ही वास्तविक शक्ति है जिसे हम निसर्गका अनंत और नित्यक्रम भी कहते हैं, परंतु जिसका आविष्करण अपने अपरिच्छिन्न रूपमें न होकर मनुष्यके रूपमें अर्थात् अपने परिच्छिन्न रूपमें होता है। ।" इसलिये मनुष्यकी यह शक्ति या प्रयत्न मर्यादित है और बाह्य कारणोंकी शक्ति उससे कई गुना अधिक होती है।२" इसलिये यह असंभव है कि मनुष्य निसर्गका एक अंश न हो या यह कि उसमें सिर्फ ऐसे परिवर्तन हों जो एकमात्र उसीके स्वभावसे समझे जा सकें और जिनका वह पर्याप्त कारण हो।३" इसके फलस्वरूप मनुष्य आवश्यकतया अपनी निष्क्रियताओंका शिकार रहता है। इन भावों या निष्क्रियताओंकी शक्ति और वृद्धि सिर्फ बाह्य कारणकी शक्तिसे मर्यादित होती है, हमारी स्वयंकी शक्तिसे नहीं, ४ और यह शक्ति मनुष्यकी क्रियाओं या शक्तिसे इतनी बढ जा सकती है कि वे भाव मनुष्यमें बद्धमूल हो जाते हैं। ५ जब कोई भाव मनुष्यमें इस प्रकार अपना घर कर लेते हैं तब उनका अपसारण या विनाश या उनपर प्रभुत्व उनके विरोधी भावोंसे ही हो सकता है।" ६

भाव और सद्गुणके भेदको तिलांजलि देनेके साथ ही भौतिक और नैतिक अच्छे बुरे का भेद भी दत्तांजलि हो जाता है। स्पिनोझा अच्छे या भले (the good) की परिभाषामें पूर्ववर्ती दार्शनिकोंकी अच्छेकी सुखवादी (hedonistic) और उपयोगितावादी कल्पनाओंको (utilitarian conceptions) मिलाकर एक कर देता है। कभी वह अच्छेको निश्चयात्मक रूपसे उपयोगी कहता है ७ और कभी प्रत्येक प्रकारके सुखकोही अच्छा कहता है। ८ परंतु पूर्ववर्ती दार्शनिकोंकी तरह स्पिनोझाकी अच्छे बुरेकी कल्पनामें स्वेच्छा या इच्छा-स्वातंत्र्यको कोई स्थान नहीं। अच्छे और बुरे की तो हमें सिर्फ जानकारी रहती है। अच्छा, फिर चाहे वह भौतिक हो या नैतिक, सुखकी जानकारी है और बुरा दुःख की जानकारी है। " अच्छे या बुरेका ज्ञान सुख और दुःखके भावोंके अतिरिक्त, जहांतक हमें उनका ज्ञान है, कुछ नहीं।"९

अब अगले दस विधानोंमें स्पिनोझा यह बतलाता है कि भावोंके संघर्षमें निर्बल भाव किस प्रकार इच्छा या ज्ञानके निरपेक्ष सबल भावों द्वारा अपसारित होते हैं। वह भाव जिसका कारण हमारी दृष्टिसे वर्तमान होता है, उस भावसे प्रबल होता है, जिसका कारण हमारी दृष्टिसे वर्तमान नहीं होता, फिर वह चाहे भविष्यकालीन हो या भूतकालीन। १० इसी प्रकार निकट भविष्यकालीन वस्तुका प्रभाव हमपर सुदूर भविष्य कालीन वस्तुसे अधिक तीव्र होता है; वैसेही निकट भूत कालीन वस्तुकी स्मृतिका प्रभाव सुदूर भूतकालीन वस्तुकी स्मृतिसे अधिक प्रबल होता है। ११ आवश्यक वस्तुसे होनेवाला भाव, समान परिस्थितिमें संभाव्य या आकस्मिक वस्तुके भावसे अधिक प्रबल होता है। ऐसे ही अवर्तमान संभाव्य वस्तुके प्रति होनेवाला भाव यादृच्छिक वस्तुके प्रति होनेवाले भावसे प्रबलतर होता है। इसी प्रकार अवर्तमान यादृच्छिक वस्तुके भावसे भूतकालीन वस्तुका भाव अधिक सबल होता है।१२

इच्छाओंके इस संघर्षमें अच्छे या बुरेका यथार्थ ज्ञान यथार्थत्व या सत्यत्व रूपसे किसी भावको नहीं रोक सकता, लेकिन (सबल) भावरूपसे वह ऐसा कर सकता है। अच्छे और बुरेके ज्ञानसे उत्पन्न होनेवाली कामना (Desire) हमपर आक्रमण करनेवाले अन्य भावोंसे जन्य दूसरी कामनाओंद्वारा दबा दी जा सकती है। किसी वस्तुके भविष्यकालीन अच्छे और बुरेके ज्ञानसे उत्पन्न होनेवाली कामना वर्तमान क्षणमें सुखकारक वस्तुकी कामनाकी अपेक्षा जल्दी दबा दी जा सकती है, या वशमें की जा सकती है। इसी तरह संभाव्य कोटिक वस्तुके अच्छे और बुरेके यथार्थ ज्ञानसे जन्य कामना वर्तमान वस्तुओंकी कामनाकी अपेक्षा कहीं अधिक आसानी के साथ आधीन की जा सकती है। सुखसे उत्पन्न होनेवाली कामना समान परिस्थितिमें, दुःखजन्य कामनासे बलवत्तर होती है।×

१७ वें विधानके स्पष्टीकरणमें स्पिनोझा कहता है, "मैं समझता हूं कि विवेककी अपेक्षा मनुष्य अविचारित सिद्ध मतोंसे क्यों प्रभावित होते हैं, तथा अच्छे और बुरेका सच्चा ज्ञान मनुष्यके मनमें संघर्ष क्यों उत्पन्न करता है और प्रत्येक प्रकारकी निष्क्रियता द्वारा मनुष्य क्यों जित होता है, इसका

१ वि २ प्र. २ वही वि. ३ ३ वही, वि. ४ ४ वही वि. ५ ५ वही वि. ६ ६ वही वि. ८
७ वही प १ ८ नी. शा. भा ३. वि. ३९ स्प. नी. शा. भा. ४ वि. ८ ९ १० वही वि ९ और उ. सि.
११ वही वि. १० १२ वही वि. ११-१३ × वि १४-१८ (वही)

कारण मैं अब दिखला चुका। इस प्रकारकी अवस्थाने ही कविके इन उद्गारोंको जन्म दिया है।

" The better path of gaze at and approve, the worse -I follow "

'' जानामि धर्मं न च मे प्रवृत्तिः
जानाम्यधर्मं न च मे निवृत्तिः। ''

सारांश यह कि भाव इच्छा या ज्ञानसे नहीं हटाए जा सकते, लेकिन अन्य बलवत्तर भावोंसेही हटाया जा सकते हैं। भाव भी अन्य भौतिक शक्तियोंके समान निसर्गकी नित्य आवश्यक व्यवस्थासे निकलते है और भौतिक शक्तियोंके समानही इनमें परस्पर संघर्ष होता रहता है, जिससे सबल भाव निर्बल भावोंको दबा देते हैं। भौतिक जगत्की अन्य अनिष्ट बातोंकी तरहही मनुष्यको भावोंके इस संघर्षके कारण बुराई या दुःख अर्थात् अपनी आत्मसंरक्षणके प्रयत्नकी सक्रिय शक्तिके ह्रासको सहन करना पडता है। यही मनुष्यकी निर्बलता और अस्थिरता है; या जैसा कि इस प्रकरणके उपोद्घातमें कहा जा चुका है, यही वह भावोंको रोकने या वशमें करनेकी असमर्थता है जो मनुष्यका बंध है; क्योंकि मनुष्य इनके हाथकी कठपुतली बन जाता है और अपना प्रभुत्व खो देता है। अतएव मनुष्य अपने लिये हितकर बातोंको जानते हुए भी अहितकर बातें हठात् करता है।

परंतु क्या मनुष्य ऐसाही इन भावोंके हाथका खिलौना बना रहेगा? क्या इनको वशमें करनेकी उसके पास कोई साधन नहीं? इसके उत्तरमें स्पिनोझा कहता है, " ऊपर मैंने जो कुछ लिखा है उसका उद्देश्य यह निकालना नहीं है कि अज्ञान ज्ञानसे अधिक उत्कृष्ट है, या विवेकी पुरुष और मूर्ख अपने भावोंको वशमें करनेमें एकसा हैं। किंतु मेरा उद्देश्य यह है कि विवेक भावोंको अधीन करनेकी दिशामें क्या कर सकता है और क्या नहीं, इस निर्णयके पूर्व हमारे स्वभाव की सबलता और निर्बलताका ज्ञान कर लेना जरूरी है +" जिस प्रकार भौतिक शक्तियोंसे हमारी रक्षाके साधन हैं, उसी प्रकार भावोंसे हमारे बचावके साधन भी हैं। विवेक और विवेकज ज्ञान मनुष्यके पास ऐसे साधन हैं जिनके द्वारा मनुष्य केवल निसर्गस्थ प्रतिकूल शक्तियोंपरही विजय प्राप्त नहीं करता, परंतु अपने ऊपर होनेवाले भावोंके आक्रमणको भी रोक सकता है। आत्मसंरक्षणके सबल साधनरूपसे विवेक निसर्ग की प्रतिकूल शक्तियोंके विरुद्ध बलवत्तर अनुकूल शक्तियोंकी उपस्थापना करके उन्हें अपने अधीन कर लेता है। इसी प्रकार आत्मजय या आत्मसंयमनके साधनरूपसे वह निष्क्रिय भावोंके विरुद्ध सबलतर सक्रिय भावोंको उपस्थापित करके उनपर विजय प्राप्त करता है। यह विवेकही द्वितीय प्रकारका ज्ञान है जिसका उल्लेख ऊपर किया जा चुका है। यह उलझा हुआ या मिथ्या ज्ञान नहीं है और न यह किसी एकाकी विशिष्ट घटनाकाही ज्ञान है। यह वस्तुओंका पर्याप्त ज्ञान है। तथापि विवेकशील आचरण इच्छा-स्वातंत्र्यका द्योतक नहीं। यह तो निसर्गका एक अंग है जो विचाररूप गुणकी आवश्यकतासे निकलता है। स्पिनोझा जब विवेकके अनुसार आचरण करनेके लिये प्रबोध करता है, तब वह मनुष्यको अपनी स्वतंत्र इच्छाका उपयोग करनेके लिये नहीं कहता। वह वस्तुओंका ऐसा यथार्थ ज्ञान प्राप्त करनेके लिये कहता है जिसमें विवेक स्वयं पलता हो, ताकि वह रूढ होते होते इतना सबल हो जाय कि अवसर पडनेपर अपनी पूर्ण शक्तिका परिचय दे सके। तब वह भावोंके सम्मुख आते ही उनको दबानेके लिये सदैव दक्ष मिलेगा और यह क्रिया इतनी स्वाभाविक हो जायगी जितनी कि आखोंपर संकट आते ही पलक मूंदनेकी क्रिया। इस अर्थमें ज्ञानही सच्चा सद्गुण है और विवेकशील जीवन ही सद्गुणसंपन्न जीवन है।

विवेक भावोंके आक्रमणोंके विरुद्ध मनुष्यके कल्याणके लिये किस प्रकार सहायक होता है इसको स्पिनोझाने अपने ' विवेक के आदेश ' (Dictates of reason)में बतलाया है। चूंकि विवेककी मांग अस्वाभाविक नहीं होती, अतएव वह प्रत्येकसे आत्मप्रीतिकी मांग करता है अर्थात् इस बातकी कि प्रत्येक मनुष्य उसीकी खोज करे जो उसके लिये वास्तवमें उपयोगी हो, उसीकी चाह करे जो उसे पूर्णताके अधिक समीप ले जाय और प्रत्येक अपनी शक्तिभर आत्मरक्षाका प्रयत्न करे। पुनः चूंकि सद्गुण अपने स्वभावके नियमानुसार आचरण करनाही है और प्रत्येक मनुष्यका आत्मरक्षाका प्रयत्न अपने स्वभावके नियमानुसारही होता है, अतएव यह निष्कर्ष निकलता है कि सद्गुणकी बुनियाद है आत्मरक्षाका प्रयत्न और सुख मनुष्यकी आत्मरक्षाकी शक्तिमेंही है सद्गुणकी

+ वही, वि १७ स्प.

चाह सद्गुणके लियेही होनी चाहिये, क्योंकि इससे बढ़कर अधिक अच्छी या अधिक उपयोगी ऐसी कोई वस्तु नहीं जिसके लिये इसकी इच्छा की जाय। विवेकशील लोग अर्थात् वे लोग जो विवेकके अनुसार ही उपयोगी वस्तुओंकी चाह करते हैं, अपने लिये ऐसी कोई भी बात नहीं चाहते जिसकी इच्छा वे मनुष्य-मात्रके लिये न करें, अतएव वे अपने आचारमें न्यायनिष्ठ, प्रामाणिक और सन्माननीय होते हैं। इस प्रकारके हैं वे विवेका-देश।

अतएव यह सिद्धान्त कि प्रत्येक (मनुष्य) अपने स्वयंके श्रेयकी खोज करनेके लिये बाध्य है, अधर्मका मूल न होकर, जैसा कि कुछ लोगोंका विश्वास है, धर्म और सद्गुणकाही मूल है।"1 ये विवेकादेश चतुर्थभागके शेषविधानोंकी एक तरह प्रस्तावना ही है।

सद्गुण और सुख

प्रत्येक मनुष्य अपने स्वभावके नियमानुसार जिसमें अपना भला सोचता है (सुख)उसीकी इच्छा करता है और बुरे (दुःख) से कतराता है 2। अच्छा या भला वही है जो सुख-कारक और उपयोगी है। आत्मरक्षामें इन तीनोंका समावेश हो जाता है। अतएव प्रत्येक मनुष्य इसीकी इच्छा करता है। यह आत्मतत्त्व परम प्रेमास्पद है जिसकी अनिच्छा किसी को नहीं। अतएव आत्मघातकी प्रवृत्ति नितान्त अस्वाभाविक है और कभी देखनेमें आवेगी तो वह बाह्य कारणोंके दबावसे हो सकती है। "मनुष्य अपने स्वभाव की आवश्यकतासे अपने अस्तित्वको मिटानेका प्रयत्न करे यह बात उतनी ही असंभव है जितनी कि अभावसे भावकी उत्पत्ति। "3

यद्यपि आत्मरक्षाकी यह स्वाभाविक शक्ति सबमें समान है, तथापि कुछ लोग इसका उपयोग अधिक दक्षतासे और अधिक अच्छी तरहसे करते हुए देखे जाते हैं। आत्मरक्षाकी शक्तिका यह परिमाण उस व्यक्तिका 'सत्व' या शक्ति या सद्गुण है (virtue) [यह virtue, का यूनानी तत्व ज्ञानमें यह अर्थ है।] कोई मनुष्य अपने सत्व या सद्गुणके अनुसार आचरण करता हुआ तब कहा जाता है जब वह अपनी पूरी पूरी शक्ति लगाकर आत्मरक्षा करता है। इसी दृष्टिसे स्पिनोज़ा शक्ति और सद्गुणको पर्यायवाची शब्द मानता है और इसीलिये सद्गुणको " अपने तत्व या स्वभावके नियमानुसार क्रियाशीलताकी योग्यता "4 कहता है।

" मनुष्य जितनाही अधिक अपने लिये उपयोगी वस्तु अर्थात् आत्मरक्षाके लिये प्रयत्न करता है और उसको प्राप्त कर-नेमें समर्थ होता है, उतना ही अधिक वह सद्गुणसंपन्न है; इसके विपरीत, जितनाही अधिक वह इस दिशामें अदक्ष या उदासीन रहता है उतनाही अधिक वह निर्बल है। 5" चूंकि आत्मरक्षा ही वह चरम श्रेय है जिसकी प्राप्ति सबका लक्ष्य है अतएव यही सुख भी है। इसीलिये, "किसीको सुखी होनेकी सम्यक् आचारकी और सम्यक जीवन निर्वाह करनेकी तब तक इच्छा नहीं हो सकती जब तक, साथ ही साथ अस्तित्व रखने की, क्रिया करनेकी और जीवित रहनेकी, दूसरे शब्दोंमें वास्त-विक अस्तित्वकी इच्छा न हो। 6" चरम श्रेय होनेके कारण ही " आत्मरक्षाका प्रयत्न सद्गुणकी पहिली और एकमात्र बुनियाद है, क्योंकि इसके पहिले किसी भी सद्गुणकी कल्पना तक नहीं की जा सकती।* " इस प्रकार अन्य समस्त सद्गुणों की प्रेरणा अन्ततोगत्वा इसी आत्मरक्षाके मुख्य सिद्धान्तसे मिलती है। इसलिये सद्गुणके अनुसार आचरण करनेका अर्थ आत्म-रक्षाके प्रयत्नके अनुसार आचरण करना ही है। इसीका अर्थ यह है कि मनुष्यको अपने स्वभावके नियमानुसार अर्थात् विवेकके अनुसार आचरण करना चाहिये। अतएव सद्गुणके अनुसार आचरण विवेकपूर्ण आचरण है, अपर्याप्त कल्पनामूलक नहीं+ इस लिये "सद्गुणानुसारी आचरण, या विवेकके आदेशानुसार क्रिया, आत्मरक्षा या जीवन-निर्वाह, उद्यी या आत्मोपयोगी वस्तुका अनुसन्धान एकही बात है। ×" जिस प्रकार आत्म-रक्षाका यत्न सद्गुणका मूल है, उसी प्रकार सद्गुणका अंतिम लक्ष्य भी यही है। "कोई भी आत्मरक्षार्थ यत्न किसी दूसरेके लिये नहीं करता।ꕥ " वह जीवन जिसकी रक्षा अपना साध्य स्वयं ही है, विवेकपूर्ण जीवन है। " विवेकके अनुसार हमारे जितने

---

1 वही. वि. १८ स्प.　2 वही. वि. १९　3 वही वि. २० स्प.　4 वही. प. ८ और वि. १८ स्प.
5 वि. २० वही　6 वि. २१ वही　* वही, वि. २२ और उ. सि.　+ वही. वि. २३　× वही. वि. २४
ꕥ वही, वि. २५ तु " आत्मनस्तु कामाय सर्वं प्रियं भवति।"

Regd. No. B. 1463

संपूर्ण महाभारत।

अब संपूर्ण १८ पर्व महाभारत छप चुका है। इस सजिल्द संपूर्ण महाभारतका मूल्य ७५) रु. रखा गया है। तथापि यदि आप पेशगी म० आ० द्वारा संपूर्ण मूल्य भेजेंगे, तो यह ११००० पृष्ठोंका संपूर्ण, सजिल्द, सचित्र ग्रन्थ आपको रेलपार्सल द्वारा भेजेंगे, जिससे आपको सब पुस्तक सुरक्षित पहुंचेंगे। आर्डर भेजते समय अपने रेलस्टेशनका नाम अवश्य लिखें। महाभारतका वन, विराट और उद्योग ये पर्व समाप्त है।

श्रीमद्भगवद्गीता।

इस '**पुरुषार्थबोधिनी**' भाषा-टीकामें यह बात दर्शायी गयी है कि वेद, उपनिषद् आदि प्राचीन ग्रन्थोंकेही सिद्धान्त गीतामें नये ढंगसे किस प्रकार कहे हैं। अतः इस प्राचीन परंपराको बताना इस '**पुरुषार्थ-बोधिनी**' टीका का मुख्य उद्देश है, अथवा यही इसकी विशेषता है।

गीताके १८ अध्याय तीन विभागों में विभाजित किये हैं और उनकी एकही जिल्द बनाई है। मू० १०) रु० डाक व्यय १॥)

भगवद्गीता-समन्वय।

यह पुस्तक श्रीमद्भगवद्गीता का अध्ययन करनेवालोंके लिये अत्यंत आवश्यक है। '**वैदिक धर्म**' के आकार के १३५ पृष्ठ, चिकना कागज सजिल्द का मू० २) रु०, डा० व्य० ।=)

भगवद्गीता-श्लोकार्धसूची।

इसमें श्रीमद् गीताके श्लोकार्धोंकी अकारादिक्रमसे आद्याक्षरसूची है और उसी क्रमसे अन्त्याक्षरसूची भी है। मूल्य केवल ॥=), डा० व्य० =)

आसन।

'योग की आरोग्यवर्धक व्यायाम-पद्धति

अनेक वर्षोंके अनुभवसे यह बात निश्चित हो चुकी है कि शरीरस्वास्थ्यके लिये आसनोंका आरोग्यवर्धक व्यायामही अत्यंत सुगम और निश्चित उपाय है। अशक्त मनुष्यभी इससे अपना स्वास्थ्य प्राप्त कर सकते हैं। इस पद्धतिका सम्पूर्ण स्पष्टीकरण इस पुस्तकमें है। मूल्य केवल २॥) दो रु० और डा० व्य० ।≈) सात आना है। म० आ० से २॥।≈) रु० भेज दें।

आसनोंका चित्रपट- २०"×२७" इंच मू० ।) रु., डा. व्य. -)

मंत्री-स्वाध्याय-मण्डल, औंध (जि० सातारा)

मुद्रक आणि प्रकाशक- व० श्री० सातवळेकर, भारत-मुद्रणालय, औंध.

ज्येष्ठ सं. २००२
जुलै १९४५

विषयसूची।

१ एकसे अनेक १
२ भगवद्गीताकी राजनैतिक दृष्टिसे आलोचना २
३ गीताका राजकीय तत्त्वालोचन संपादक ३३-८८
(३) सब विश्व एक अखंड जीवन है विश्वरूपका दर्शन ३३
(४) विश्वरूपदर्शनका परिणाम ३५
(५) अनन्य-योग ४७
(६) भागवत राज्यशासन ५७
(७) कर्मयोग ६९
(८) कर्मफलत्याग ७९

संपादक
पं. श्रीपाद दामोदर सातवळेकर

वार्षिक मूल्य
म. ऑ. से ५) रु.; वी. पी. से ५।=) रु.
विदेशके लिये १५ शिलिंग।
इस अंकका मू. ।।) रु.

क्रमांक ३०७

वर्ष २६ क्रमांक ३०७, ज्येष्ठ संवत् २००२, जुलै १९४५ अङ्क ७

एकसे अनेक

एक एवाग्निर्बहुधा समिद्धः, एकः सूर्यो विश्वमनु प्र भूतः ।
एकैवोषाः सर्वमिदं विभाति, एकं वा इदं विबभूव सर्वम् ॥

(ऋ ८।५८।२)

' एकही अग्नि अनेक प्रकार से प्रदीप्त होता है, एकही सूर्य सब विश्वरूप अनुकूलतापूर्वक होता है, एक ही उषा इस सब को प्रकाशित करती है, एक ही (तत्त्व है, जो) यह सब हुआ है, बना है । '

एक अग्नि है, अनेक यज्ञोंमें वही एक अग्नि अनेक नाम पाता है । आहवनीय, गार्हपत्य, दक्षिणाग्नि ऐसे अनेक नाम एक ही अग्निके होते हैं । सूर्य एक ही है जो सब विश्वके रूपमें प्रभावित होता है । सूर्यसे पृथ्वी और पृथ्वी से सब प्राणी होते हैं, इसी तरह सूर्यसे ही यह सब संसार हुआ है । एक ही उषा है जो सब चराचरको प्रकाशित करती है, इसी तरह एक ही तत्त्व है जिससे यह सब विश्व अर्थात् स्थिर चर बना है । एक ही सत् है जो अग्नि वायु सूर्य जल विद्युत् आदि रूपोंमें प्रकट हुआ है । सत् एक ही है, जिसके ये अनंत रूप हुए है ।

भगवद्गीताकी राजनैतिक दृष्टिसे आलोचना

भगवद्गीताकी आलोचना धार्मिक तथा आध्यात्मिक दृष्टिसे करनेकी रीति सुप्रसिद्ध है। आजतक इस गीताकी आलोचना धार्मिक तथा आध्यात्मिक दृष्टिसे बहुतोंने अनेक वार की है। आज हमने इसकी आलोचना राजनैतिक दृष्टि से की है जो इस अंक में पाठकों के सामने रखी है।

भगवद्गीता अध्यात्मशास्त्र का ग्रंथ है, इसमें संदेह नहीं है। परन्तु अध्यात्मशास्त्र केवल परलोकका ही विचार करता है ऐसा कहना अशुद्ध है। अध्यात्मशास्त्र संपूर्ण मानव-जीवनकी बुनियाद है, इसलिये मानवजीवनके उपयोगी जितने शास्त्र हैं, उनकी बुनियादमें अध्यात्मशास्त्र रहना ही चाहिये। इस बातको इस समयके विचारक ध्यान में रखते नहीं है। यह इनकी भूल है।

आजकल प्रत्येक शास्त्रको एक दूसरेसे संपूर्णतया पृथक् मानने की प्रवृत्ति बढ गयी है। वैदिक धर्म की दृष्टि से यह प्रवृत्ति सर्वथा असिद्ध है। वैदिक धर्म की परंपरासे सब शास्त्रों की बुनियाद अध्यात्मशास्त्र है। इसलिये राजनैतिक विचारों की बुनियाद अध्यात्मशास्त्र कैसी है, यह बात आजकल के दिनोंमें अधिक स्पष्ट होनी चाहिये। इस हेतुसे ही हमने इस लेखमाला में यह बताने का यत्न किया है और बताया है भगवद्गीता का सिद्धान्त वैदिक राजशासन के लिये किस दृष्टीसे अनुकूल है।

अध्यात्मज्ञान से सब दु:ख दूर हो सकते हैं और सब सुख तथा आनन्द प्राप्त हो सकते है। यदि यह सत्य है तो निःसन्देह अध्यात्मज्ञान से राजनैतिक दुःख भी दूर होंगे और राजकीय सुख भी प्राप्त होंगे।

अर्जुन की जीवनीमें जो परिवर्तन हुआ, वह राजनैतिक परिवर्तन ही है। स्वराज्यप्राप्ति का कार्य छोड कर वन में जाकर ध्यान-धारणा करने की इच्छा अर्जुन कर रहा था। भगवद्गीता का उपदेश सुन कर, उसने वनगमनका विचार और वहां जाकर ध्यानधारणा करनेका विचार छोड दिया और सामने खडे रहे अपने राष्ट्रीय शत्रुको परास्त करके, अपने स्वराज्य को प्राप्त करके तीस वर्ष तक राज्यके शासन प्रबंधके लिये आवश्यक व्यवहार करने में दत्तचित्त हुआ। भगवद्गीताका यह राजनैतिक परिणाम है।

आजकल समझा जाता है कि वृद्ध मनुष्य जगत् के व्यवहारके लिये निकम्मा हो जानेपर अध्यात्मशास्त्र का पाठ करे। पर यह धारणा सर्वथा अनुचित और वैदिक प्रणाली के सर्वथा विरुद्ध है। अध्यात्मशास्त्र का महत्त्वपूर्ण ग्रंथ बृहदारण्यक उपनिषद् है। इसमें अध्यात्मज्ञान का उपदेश करनेके पश्चात् ऐच्छिक सुप्रजाजनन करनेकी रीति कही है। इसका सरल आशय यही है कि अध्यात्मज्ञान तारुण्य की अवस्थामें ही होना चाहिये। तभी तो वह इष्ट सन्तान उत्पन्न कर सकता है। यदि वृद्धके लियेही अध्यात्मज्ञान का अधिकार होगा, तब तो यथेच्छ सन्तान उत्पन्न करनेका उपदेश उसके लिये निरर्थक ही होगा। इसलिये हम कहते हैं कि आजकल लोगोंका ख्याल विपरीत बना है उसको ठीक करना आवश्यक है।

इस हेतुसे हमने इस लेखमाला में अध्यात्मशास्त्र के आधारपर राज्यशासन किस तरह चल सकता है, इसका विचार किया है। आशा है यह लेखमाला भगवद्गीतापर नयी रोशनी डालेगी और हमारे आर्यशास्त्रोंके अन्दर जो गुह्य विद्या है, उसका प्रकाश करेगी।

'संपादक'

दृष्टिसे देखते हैं।' विद्वान् ब्राह्मण और अनाडी चाण्डालपर समबुद्धि किस तरह रखी जा सकती है? सर्वथा विपरीत परिस्थितिके द्योतक ये पद हैं। जिस समय विचारक ऐसा मानेंगे कि सभी विश्व ब्रह्मकीही मूर्ति है, तब वे दोनों ब्रह्मके स्वरूप होंगे और ब्रह्मरूप होनेकी समानता तब उनमें होगी। पण्डित लोग यही समानता सर्वत्र देखते हैं, अतः उनकी दृष्टिमें ब्राह्मण, गौ, हाथी, कुत्ता और चाण्डाल ब्रह्मके विश्वरूपमें समानतया ब्रह्मरूप हैं। ब्रह्मकाही रूप यह विश्व है इसका स्वीकार करनेपर इस श्लोकका कथन सत्य है और प्रत्यक्षभी है। अन्यथा इसकी सत्यता किस तरह सिद्ध होगी? अतः विश्वरूप-दर्शनकी सूचना इस अध्यायमें यह श्लोक दे रहा है।

(५) छठे अध्यायमें '**सर्वत्र-सम-दर्शन**' (श्लो. २९ में) कहा है। 'सर्वत्र ब्रह्मका दर्शन' ऐसा इसका आशय है। संपूर्ण विश्वको ब्रह्मरूप माननेकी सूचना देनेवाला यह वचन इस अध्यायमें है। पूर्वोक्त अध्याय चतुर्थ और नवमके संबंधमें जो लिखा है, वही यहां अनुसंधान करना योग्य है।

(६) सप्तम अध्यायमें तो 'दिव्यदृष्टि' की कूंजी ही (श्लो. ४-५ में) कही है और उस दृष्टिसे '**वासुदेवः सर्वं**' ऐसा श्लो० १९ में कहा है। सबही विश्व वासुदेवरूप होनेका स्पष्ट वर्णनही यहां है। वस्तुतः यहां ही 'विश्वरूप-दर्शन' किया गया है, अथवा यों कहो कि इसीके स्पष्टीकरणार्थ आगे ग्यारहवां अध्याय लिखा गया है। ग्यारहवें अध्यायका दो पदोंमें सारही इस अध्यायमें दिया है।

(७) अष्टम अध्यायमें कहा है कि '**अव्यक्ताद्व्यक्तयः सर्वाः प्रभवन्त्यहरागमे। रात्र्यागमे प्रलीयन्ते तत्रैवाव्यक्तसंज्ञके।**' (१८) एक अव्यक्त तत्त्वसे ये सब व्यक्तियाँ सृष्टिके प्रारंभमें प्रकट होती हैं और प्रलयमें ये उसीमें लीन भी होती हैं। अर्थात् एकही अव्यक्त सत् है, वह अनेक व्यक्त रूपोंमें प्रकट होता है। अतः यह विश्व उस एक अव्यक्तका रूपही है।

(८) नवम अध्यायमें '**समोऽहं सर्वभूतेषु**' (श्लो १९ में) कहा है। सब भूतोंमें समान रूपसे अवस्थित ईश्वर है, ऐसा कहनेसे सब भूत ईश्वरकेही रूप हुए। यद्यपि 'सब भूतोंमें सम' का अर्थ दोनों प्रकारसे हो सकता है, तथापि गीताके पूर्वोक्त सब अध्यायोंके प्रतिपादनके साथ मिलनेवालाही अर्थ लेना यहां उचित है, इसलिये पूर्वोक्त भाव हमने यहाँ लिखा है।

(९) दशम अध्यायमें '**विष्टभ्याहमिदं कृत्स्नमेकांशेन स्थितो जगत्।**' (४२) सब जगत्को अपने एक अंशके द्वारा व्यापकर रहा हूं, इस कथनको देखनेसे नवम अध्यायके वचनके अनुसारही इसका अर्थ समझना चाहिये, यह बात पुनः यहाँ विस्तारसे कहनेकी आवश्यकता नहीं है। इस दशम अध्यायमें ईश्वरकी विभूतियाँ कहीं हैं। इनका अब विचार करते हैं-

ईश्वरकी विभूतियाँ

गीताके इस दशम अध्यायमें तथा सप्तम अध्यायमें श्लो. ८ से ११ तक ईश्वरकी विभूतियाँ कहीं हैं। इनको देखनेसे जो विभूति कही है उसको छोडकर अन्य रूप ईश्वरके नहीं होंगे, वे किसी अन्य सत्ताके होंगे, ऐसा प्रतीत होना संभव है, अतः इसका विशेष विचार करना आवश्यक है। दशम अध्यायमें कहीं विभूतियाँ अब देखिये-

१ पाण्डवानां धनंजयः। (३७)
२ स्रोतसामस्मि जाह्नवी (३१)
३ मेरुः शिखरिणामहम् (२३)

(१) पाण्डवोंमें अर्जुन ईश्वरकी विभूति है, (२) स्रोतोंमें गंगा नदी ईश्वरकी विभूति है, (३) तथा पर्वतोंमें मेरु ईश्वरकी विभूति है।

यदि ये वचन आत्यन्तिक सत्य माने जायगे, तो पाण्डवोंके धर्म भीम आदि भाई, नदियोंमें यमुना सिन्धु आदि नदियाँ तथा हिमालय आदि पर्वत ईश्वरकी विभूति नहीं है ऐसा मानना पडेगा। परंतु सप्तम अध्यायमें 'ईश्वरही सब विश्व है' ऐसा (श्लोक० १९ में) कहा है। यदि ईश्वरही सब कुछ है, तब तो पांचों पाण्डव ईश्वरकेही रूप है, सभी स्रोत और सभी पर्वत ईश्वरकेही रूप हैं, फिर दशम अध्यायमें ऐसा क्यों कहा कि पाण्डवोंमें अर्जुनही ईश्वर स्वरूप हैं? इसका हेतु यही है कि 'सब विश्व ईश्वरका रूप है' यही सत्य है, वही ग्यारहवें अध्यायमें कहना है, उस उपदेशको स्वीकार करनेकी तैयारी करनेके लिये दशम अध्यायमें विशेष रूपमें ईश्वरकी विभूति कहां कैसी है सो बताया है। जिस समय शिष्य या विचारकके मनमें 'पाण्डवोंमें अर्जुन ईश्वरकी विभूति है' ऐसा पता लग जायगा, तब वही साधक प्रश्न पूछेगा कि यदि पाण्डवोंमें अर्जुन ही ईश्वरकी विभूति हैं, तब तो क्या अन्य पाण्डव ईश्वरके रूप

नहीं है? फिर वे किसके रूप हैं? क्या ईश्वरसे भिन्न कोई सत्ता है कि जिसके धर्म भीम आदि पाण्डव रूप माने जा सकते हैं? यदि ईश्वरसे भिन्न दूसरी सत्ता मानी जायगी, तब तो ' ईश्वरही सब कुछ है '(७।१९) का तात्पर्य क्या होगा? क्योंकि उसमें केवल एक ही अद्वितीय परमेश्वरकी सत्ता मानी है। जब ऐसे अनेक प्रश्न साधकके मनमें उठ खडे होंगे, तब उसको ग्यारहवें अध्यायका उपदेश कहनेसे वह उसके मनमें ठीक जँचेगा। संपूर्ण विश्वरूप एक ही अद्वितीय परमेश्वरका स्वरूप है, ऐसा उसका निश्चय होनेसे वही मानने लगेगा कि ' ईश्वर ही सब कुछ है,' यही सिद्धान्त वाक्य है। बीचका दसवा अध्याय ग्यारहवे अध्यायका उपदेश लेनेकी तैयारी करनेके लिये ही था। जब ग्यारहवों अध्याय साधकके मनमें सुस्थिर होगा, तब दसवाँ अध्याय उसने भूलनाही है। क्योंकि दसवाँ अध्याय आंशिक सत्य बतानेके लिये ही है। पूर्ण सत्य ग्यारहवें अध्यायमें कहा 'परमेश्वरका विश्वरूप है ऐसा दर्शन करना ही है।' जब वह दर्शन होगा, तब सप्तम अध्यायमें कहा सिद्धान्तिक सत्य ' ईश्वरही सब कुछ है ' यह उसके मनमें अटल रूपसे सुस्थिर होगा और उसके लिये इस विश्वमें ईश्वरको छोड कर दूसरी कोई सत्ता नहीं रहेगी। संपूर्ण विश्वके साथ वह भी ईश्वरका रूप बनेगा और उस समय वह स्वयं ईश्वरसे अभिन्न अतएव अनन्य होगा। यही स्थिति प्राप्तव्य है। क्योंकि जो एक सिद्धान्त जाननेसे जब जाना जाता है, वह यही ज्ञान है।

अनन्य भाव

इतना अनुभव परमेश्वरके विश्वरूपके संबंधमें करनेके पश्चात् ' अनन्य ' पदसे किस भावका ज्ञान लेना है, इसका पता लग जाता है। गीतामें-

पुरुषः स परः पार्थ भक्त्या लभ्यस्त्वनन्यया ८।२२
भक्त्या त्वनन्यया शक्य अहमेवंविधोऽर्जुन ११।५४
अपि चेत्सुदुराचारो भजते मामनन्यभाक् ९।३०
अनन्येनैव योगेन मां ध्यायन्त उपासते १२।६
मयि चानन्ययोगेन भक्तिरव्यभिचारणी १३।१०
भजन्त्यनन्यमनसो ज्ञात्वा भूतादिमव्ययम् ९।१३
अनन्यचेताः संततं यो मां स्मरति नित्यशः ८।१४
अभ्यासयोगयुक्तेन चेतसा नान्यगामिना ८।८
अनन्याश्चिन्तयन्तो मां ये जनाः पर्युपासते ९।२२

इतने वचनोंमें अनन्यभावका वर्णन किया है। इनमें—

(१) **अनन्यभक्ति** (८।२२, ११।५४) **अनन्यभाक्** (९।३४)

(२) **अनन्ययोग** (१२।६;१३।१०)

(३) **अनन्यमनाः** (९।१३), **अनन्यचेताः**(८।१४) **अनन्याः चिन्तयन्तः** (९।२२) **अनन्यगामी चेतः** (८।८)

इतने तीन विभाग यहां दीखते हैं। यह अनन्यभाव की प्राप्ति विश्वरूप-दर्शनसे होती है। विश्वरूप-दर्शनसे संपूर्ण विश्वरूप एक अखण्ड अद्वितीय परमात्माका रूप सिद्ध होते ही, 'मैं भी उस विश्वरूपका अंश हूँ' यह सिद्ध होता है और यह सिद्ध होते ही 'मै भी प्रभुके रूपमें एक अंश हूं' यह स्वयमेव सिद्ध होगा। इस तरह साधक ईश्वर-स्वरूप बनते ही वह ईश्वरसे अपृथक् अर्थात् अनन्य हुआ। नर और नारायण यहां एक बने, जीव और शिव एक ही हुए। इस समय साधक ' प्रभु ही सब कुछ है, ' ऐसा कहेगा, अथवा 'मै ही सब हूं ' ऐसा भी कहेगा।

अनन्य बन कर ईश्वरका मनन करनेका यह भाव है। ईश्वरसे अपृथक् होनेके पश्चात् ही गीताका उपदेश व्यवहारमें आ सकेगा। और यह ज्ञान दुष्प्राप्यभी नहीं है। जो साधारण समझदार लोग हैं, वे इस ज्ञानको प्राप्त कर सकते हैं, अपना सकते है और व्यवहारमें भी ला सकते हैं। अनन्य पदका जो अर्थ आज समझा जाता है, वह यहां नहीं है।

इसका फल

इस समयतक ईश्वरके विश्वरूपका वर्णन हमने किया, इससे ये बातें सिद्ध हुईं-

१. ईश्वर विश्वरूप है। जो भी कुछ इस विश्वमें है, वह सब प्रभुका रूप है।
२. ईश्वर विश्वरूपी होनेसे वह दीख रहा है, वह अदृश्य नहीं है।
३. विश्वरूपकी सेवा करनाही मनुष्यकी उन्नतिका एकमात्र साधन है।
४. विश्वरूप ईश्वरका रूप होनेसे वह हेय, दुःखरूप, त्याज्य नहीं है, क्योंकि ईश्वर सच्चिदानन्द स्वरूप है।

जैसा बीजका विस्तार होकर वृक्ष बनता है और उसके फूल और फलही विकासकी पराकाष्ठा है, इसी तरह ईश्वररूप बीजका विस्तार होकर यह विश्व बना है, अतएव यह पूर्णताकी पराकाष्ठा है, अतः विश्वके विषयमें जो हीन भाव धारण करते हैं, वह हीनताका भाव सत्वर त्यागने योग्य है।

६. जो विचार-धाराऐं विश्वको दु खमूलक मान कर प्रचलित हुई हैं वे सबके सब गीताके इस विश्वरूप परमेश्वरके सिद्धान्तसे परास्त हो चुकी हैं।

अस्तु। 'परमेश्वर विश्वरूप है' इस सिद्धान्तको माननेसे विश्वके विचारमें, तथा मानवोंके व्यवहारमें बडी भारी क्रान्ति तथा उथल-पुथल होनेवाली है। आजके विश्वव्यवहारमें राजा-प्रजा, पूंजीपती- कर्मचारी, प्रगतिकरनेवाले- परागतिमें रहे आदिकोंका झगडा चल रहा है। ये अपने आपको अज्ञानवश विभिन्न मान रहे हैं। गीताका कथन है कि दोनों मिलकर एक ही अखण्ड जीवन है और दोनों मिलकर परमेश्वरके विश्वरूप हैं। गीताके सिद्धान्तके अनुसार राजा तथा राजपुरुष प्रजाको ईश्वर-स्वरूप मानकर उसकी सेवा करनेमें अपनी कृतकृत्यता समझेंगे, इसी तरह प्रजा, पूंजीपति और मजदूर भी विश्वसेवाके भावसे अपने जीवन सफल और सुफल करेंगे। गीताके सिद्धान्तका स्वीकार करनेसे परस्पर सेवासे परस्परका हितसाधन ही एक मात्र सबका ध्येय होता है।

इस तरह गीताका यह ' विश्वरूप-दर्शन ' केवल कविकल्पना नहीं है, केवल तात्त्विक चर्चाका विषय नहीं है, केवल भक्ति-रसकी उमंग नहीं है, तथा मंत्रका या इन्द्रजालका चमत्कार भी नहीं है। यह जीवित और जाग्रत सत्य सिद्धान्त है और इसीके आधारसे मानवी व्यवहारके सब पहलू खुलनेवाले हैं और सपूर्ण मानवोंके व्यवहारमें शान्ति और सुखका राज्य यदि किसी दिन शुरू होनेकी आशा हो सकती है, तो वह इसी सिद्धान्त के सार्वत्रिक जाग्रतिसे ही संभव है।

आगेके प्रत्येक प्रवचनमें इस विश्वरूप-दर्शन का संबध आनेवाला है, इसलिये विचार करनेवाले इस सिद्धान्तको अपने मनमें सुस्थिर करनेका यत्न करें।

(४)

ईश्वरके विश्व-रूप-दर्शनका मनुष्यके आचार-व्यवहारपर परिणाम

यह विश्वरूप परमेश्वरका स्वरूप है, यह विश्वरूप अखण्ड एकरस एकही जीवन है और परमेश्वरकी अनन्त शक्तियों नानाविध रूपोंसे इस विश्वरूपमें प्रकट हो रहीं हैं, ऐसा जानने मानने और अनुभव करनेपर मनुष्यके जीवनमें उसके आचार-व्यवहार पर परिणाम क्या होंगे, इसका अब विचार करना है।

१. अनन्य-भावका दृढीकरण

यह सब विश्व एक अद्वितीय परमेश्वरका अखण्ड स्वरूप है, ऐसा मालूम होनेसे सबसे प्रथम **' मैं उस परमेश्वरके रूपमें शामील हूं '** यह ज्ञान होगा और अपने आपको तुच्छ हीन दीन माननेका अब कोई कारण नहीं है, यह उसका निश्चय होगा। 'मै ईश्वरसे सर्वथा पृथक् हूं और ईश्वर पूर्ण है और मैं अपूर्ण हूं,' ऐसा जो मै जानता और मानता था, वह अज्ञान था। मैं निःसंदेह परमेश्वरके स्वरूपमें संमिलित हूं, यह ज्ञान होकर इस ज्ञानसे साधककी शक्ति बढेगी।

महासागरका जलबिन्दु जैसा महासागरसे पृथक् नहीं होता, वृक्षका पत्ता जैसा वृक्षसे पृथक् नही होता, कपडेमें सूत्र अथवा सूत्रमें कपास जैसा पृथक् नहीं होता', जेवरसे सुवर्ण जैसा पृथक् नहीं होता, उस तरह मैं जीव विश्वात्मासे पृथक् नही हूं।

जिस तरह आकाश, मठाकाश और घटाकाशमें आकाश तत्त्वतः एकही है वैसाही जीव और शिव एक, अभिन्न और अनन्य है, यह ज्ञान इस समय विश्वरूपका दर्शन करनेसे होता है। अत इस ज्ञानसे अपनी तुच्छता और हीनता निःसंदेह दूर होती है, तथा विश्वके सभी पदार्थोंकी तुच्छता और हीन-दीनता इससे दूर होती है और सब विश्वके पदार्थ ब्रह्म-स्वरूप बन जानेसे श्रेष्ठताके समतलमें विराजने लगते हैं। विश्वरूप-दर्शनसे सबसे प्रथम लाभ यह होता है कि व्यक्तिकी और संसारकी दीनता, हीनता और तुच्छता एकदम दूर होती है। और सब विश्व सच्चिदानन्दस्वरूप प्रतीत होने लगता है, क्योंकि यदि ईश्वर सच्चिदानन्दस्वरूप है, तब तो, उसका स्वरूप जो यह विश्व है, वह सदाही सच्चिदानन्दस्वरूप अवश्य होना चाहिये, ऐसा उसका निश्चय होता है।

इससे शून्यवादियों और जगत्को भ्रम, हीन दीन तुच्छ और त्याज्य माननेवालोंके सब भ्रमवाद दूर हो चुके हैं। इन मिथ्या विचारकोंके भ्रान्तवादसे गीताका यह आनन्दवाद निःसंदेह श्रेष्ठ है।

२. विश्व आनन्दमय है

परमेश्वर सच्चिदानन्दस्वरूप है, इसलिये उसका स्वरूप जो विश्व वह भी सच्चिदानन्दस्वरूपही है और वैसाही होना चाहिये। ईश्वरही विश्वरूप बना है, अत जैसा ईश्वर पूर्ण है, वैसाही यह विश्व भी पूर्ण है-

पूर्णमदः पूर्णमिदं पूर्णात्पूर्णमुदच्यते।
पूर्णस्य पूर्णमादाय पूर्णमेवावशिष्यते॥
(उपनिषच्छान्ति)

'वह (ईश्वर) पूर्ण है और यह (विश्व भी) पूर्ण है, क्योंकि पूर्णसे जो उत्पन्न होता है, वह भी पूर्णही होता है। पूर्णसे पूर्ण निकालनेपर पूर्णही अवशिष्ट रहता है।' अर्थात् परमेश्वर पूर्ण है, उससे उत्पन्न हुआ यह विश्व भी, उससे होनेके कारण पूर्णही है, क्योंकि पूर्णसे पूर्णकीहि उत्पत्ति हो सकती है, पूर्णसे कभी अपूर्ण नहीं उत्पन्न हो सकता। पूर्ण पर-मेश्वरसे पूर्ण विश्व निकलनेपर उस ईश्वरमें कोई न्यूनता नहीं उत्पन्न हुई है, क्योंकि पूर्णसे पूर्ण निकलनेपर पूर्णही अवशिष्ट रहता है। वैसा यह पूर्ण विश्व ईश्वरसे निकलनेपर वह ईश्वर वैसा का वैसाही, पहिले जैसाही, परिपूर्ण रहा है। उसमें कुछ भी न्यून वा अधिक नहीं हुआ। यही उसकी पूर्णताका प्रणाम है।

ईश्वरसे विश्व कैसा बना, इस विषयमें कई उदाहरण शास्त्र-कारोंने दिये हैं। गीताने ईश्वरको '**विश्वरूप, विश्वमूर्ति, विश्व, सर्व**' ऐसा कहा है। जो कुछ सब है वही ईश्वर है, विश्वकी मूर्तिही ईश्वर है। इससे गीताका सिद्धान्त यह स्पष्ट प्रतीत होता है कि ईश्वररूप उपादान कारणसे, ईश्वररूप कर्ताने विश्वरूप को बनाया है। 'अभिन्न-निमित्त-उपादान-कारण' ऐसा शास्त्रकार इसको कहते हैं।

जिस तरह सोनेके जेवर बने, तो वे जेवर सुवर्णके रूपसे पृथक् नहीं होते, मिश्रीने खिलोने बनाये तो वे मिश्रीरूपही बनते हैं, लकडीके मेज खुर्सी संदूक आदि पदार्थ बने तो लकडीसे विभिन्न नहीं बनते, इस तरह ईश्वरसे बना हुआ यह विश्व ईश्वरके स्वरूपसे सर्वथा भिन्न होना असंभवही है। इन इदाहरणोंसे पता लग सकता है, कि ईश्वरसे विश्व कैसा बना और उसका स्वरूप ईश्वरमयही किस तरह है।

अग्निसे चिनगारियां निकलती हैं, वे सब अग्निरूपही होती हैं। जलकी भांप और जलका बर्फ यह सब जलरूपही होता है। यदि समुद्रमें बर्फके छोटे मोटे टुकडे पडे रहे, तो क्या वे जलसे पृथक् समझे जायेंगे? इसी तरह परमेश्वरके अथांग महासागरमें ये विश्वान्तर्गत पदार्थ हैं, ये परस्पर विभिन्न दीखने पर भी ईश्वर-रूपताकी दृष्टिसे अभिन्नही हैं।

कपासका सूत्र और सूत्रका कपडा बनता है। वह सब प्रकारका कपडा कपासमयही रहता है। वैसाही यह विश्व पर-मात्मस्वरूप है। परमात्माका सूत्रात्मा बना और सूत्रात्मासे विश्व बन गया है। इस तरहके उदाहरणोंसे उपनिषदादि ग्रंथोंने यह विश्वरूपी ईश्वरका कूट प्रश्न अति स्पष्ट किया है।

मिश्रीके राजा, राणी, सैनिक, ओहदेदार, रथ, घोडे आदि अनेक खिलोने बनाये। खेलमें वे यथास्थान रहेंगे, परंतु दूधमें मीठासके बढानेके लिये उनमेंसे कोई लिया तो कोई हानिलाभ नहीं होगा। राजा या उसका सेवक कोई भी हो दूधमें डाल-नेसे एकसीही मीठास बढावेगा। इसी तरह विश्वमें नाना रस उत्पन्न करनेके लिये जो विविधता निर्माण हुई है, उस कारण उन सबके ईश्वर-स्वरूपकी आनन्द घनतामें कोई न्यूनता या अधिकता नहीं है। इस तरह विश्व आनन्दमय है, सर्वत्र इस

आनन्दमयताका अनुभव लेना चाहिये । यदि कोई इस विश्वमें आनंदका अनुभव नहीं करता, तो वह दोष उसीमें होगा, विश्वमें कोई दोष नहीं है । विश्व स्वयं पूर्ण जैसा चाहिये वैसाही है ।

३. विश्व सच्चिदानन्दस्वरूपही है

विश्वरूप परमेश्वर गीताने माना है, इसीसे सिद्ध होता है कि यह विश्व सच्चिदानन्दस्वरूपही है । विश्व तथा विश्वान्तर्गत प्रत्येक वस्तु 'है' इसलिये वह 'सत्' है, इसमे किसीको संदेह नहीं हो सकता। वह प्रकाश रही है, वह अनुभवमें आ रही है, इस लिये वह ज्ञानका विषय है। इसलिये विश्व 'चित्' भी है । इसी तरह विश्वके सभी पदार्थ सुखभी देते हैं। बिलकुल कभी भी सुख न देनेवाला पदार्थ इस विश्वमें है ही नहीं, इस कारण यह विश्व आनन्दमय भी है । इस विश्वमें बिलकुल आनन्द न हो तो कोई भी जीवितही नहीं रहेगा । मनुष्य इस आनन्दको प्राप्त करता है, इसीलिये जीवित रहता है । मनुष्य अपने दिनभरके अनुभवका विचार करेगा, तो उसे पता लग जायगा कि, उसको आनन्द मिल रहा है ।

गाढ निद्रा, अन्नसे तृप्ति, विश्रान्ति, प्रिय वस्तुकी प्राप्ति आदि अनेक ऐसे अवसर हैं कि, जिनमें यह मनुष्य विश्वका आनन्द भोगता ही रहता है । दिनके आनन्दके क्षण अधिक और दुःखके क्षण कम होते हैं । वह जिसको दुःख मानता है वह भी बहुत समय आनन्दकाही हेतु होता है । जैसा विद्यार्थी विद्या पढनेमें दुःख अनुभव करता है, परंतु वह सुखकाही हेतु है । इस तरह सहस्रों अनुभव हैं । अतः यह विश्व गीताके विश्वरूप-दर्शनके अनुसार सच्चिदानन्दस्वरूप है । क्योंकि जिसका रूप यह विश्व है वही स्वयं सच्चिदानंद है।

इस विश्वरूप-दर्शनसे जगद्दुःखवाद दूर हुआ है । तथा जगत् दुःखमय है, ऐसा मानकर जो जो विचारधाराएं प्रचलित हुई हैं, वे सब दूर करने योग्य, अतएव त्याज्य सिद्ध हुईं। यह बात यहां स्मरण रखने योग्य है ।

४. परमेश्वर विश्वरूपमें प्रत्यक्ष दीखता है

परमेश्वर विश्वरूप है, विश्वका रूप दीखता है, अतः परमेश्वर भी दीखता है, अर्थात् विश्वके रूपका दर्शनही परमेश्वरका दर्शन है । परमेश्वर प्रत्यक्ष है और विश्वके रूपसे वह सबके सामने विराजता है । विश्वरूप-दर्शनका सिद्धान्त बताकर परमेश्वर अदृश्य है, यह मत गीताने दूर किया है । विश्वरूप परमेश्वर है, अखण्ड विश्व परमेश्वर है और विश्वकी प्रत्येक वस्तु परमेश्वरका रूप है । इस विश्वमें ईश्वरके विना कोई दूसरी वस्तु नहीं है । इसलिये जो वस्तु दीखती है, वही ईश्वरका रूप है । विश्वरूप परमेश्वर प्रत्यक्ष दीखता है । इस प्रत्यक्ष ईश्वरको छोडकर अप्रत्यक्षके पीछे पडना, प्रत्यक्ष ईश्वरकी सेवा न करते हुए अप्रत्यक्षका ध्यान करनेमें यत्न करना व्यर्थ है । इस विषयमें गीताका कथन ऐसा है—

क्लेशोऽधिकतरस्तेषां अव्यक्तासक्तचेतसाम् ।
अव्यक्ता हि गतिर्दुःखं देहवद्भिरवाप्यते ॥
(गी. १२-५)

'अव्यक्तपर जिनका चित्त लगा है उनके लिये बडे कष्ट हैं, क्योंकि अव्यक्तकी गति देहवान् मनुष्योंके लिये दुःख देनेवाली है । ' हम जो विचार कर रहे हैं वह (देहवद्भिः) देहधारी मानवोंका ही विचार कर रहे हैं। देहधारी मानवोंके लिये अव्यक्तकी गति दुःखसे ही प्राप्त होनेवाली है । अर्थात् सुखसे प्राप्त होनेवाली गति यही व्यक्त विश्वरूपकी प्राप्तिही है । क्योंकि विश्वरूप प्रत्येक मानवको प्राप्त ही है । अतः विना आयास इसकी सेवा मनुष्यके द्वारा हो सकती है ।

मनुष्यकी उन्नति ईश्वरकी सेवा करनेसे ही होनेवाली है, दूसरा कोई मार्ग मनुष्यके लिये नहीं है । जिस ईश्वरकी सेवा करनेसे मनुष्यकी उन्नति होनेवाली है, वह ईश्वर विश्वरूप है । इसलिये इस विश्वरूप ईश्वरकी सेवा करनाही मनुष्योंका धर्म है और मनुष्यका कर्तव्य भी यही है ।

प्राचीन समयमें भक्त अर्जुनने तथा भक्त हनुमान्ने क्रमशः प्रत्यक्ष भगवान् श्रीकृष्ण और भगवान् रामचन्द्रजीकी सेवा की थी । किसी अप्रत्यक्ष अव्यक्तका ध्यान नहीं किया था, नाही किसी प्राचीन विभूतिकी मूर्तिकी उपासना की थी । भक्तका विश्वरूपमें जो भगवान् है, उसकी ही सेवा या उपासना करना योग्य है ।

विश्वरूपोंमें अनन्त रूपोंमें भगवान् प्रकट हुआ है। ब्राह्मण क्षत्रिय वैश्य शूद्रके रूप भगवान्के क्रमशः मस्तक बाहु ऊरु (जंघा) और पांव हैं। इनमें सब मानव आ गये । इसी तरह पशु पक्षी, वृक्ष वनस्पति, स्थावर स्थूल और वायु विद्युत् आदि सूक्ष्म सृष्टि परमेश्वरका रूप है और यह सब उपास्य

और संसेव्य है । इस विश्वकी सेवाही मानवकी उन्नति करनेवाली है । यही कामधेनु है जो मानवको इष्ट वस्तु दे सकती है ।

ब्राह्मण क्षत्रिय वैश्य शूद्र रूप परमेश्वर मानवरूपमें है; गौ अश्व अजा अवि आदि रूप परमेश्वर पशु रूपमें है, इसी तरह वृक्ष वनस्पतियोंमें परमेश्वर है । ये सब परमेश्वरके रूप सेवा करने योग्य हैं । हिंदू धर्ममें मानवोंकी पूजा तो होती ही है, गौ अश्व हाथी आदि पशुओंकी पूजा भी है, वट पिप्पल उदुंबर आदि वृक्ष भी पूजे जाते हैं, गंगा यमुना नर्मदा तापी आदि नदियां पूजी जाती हैं, पर्वतोंकी पूजा है, प्रसिद्ध स्थानोंकी पूजा है । कई लोग हिंदुओंकी यह पूजा देखकर विस्मयसे चकित होते हैं । परंतु विश्वरूप परमेश्वरको माननेवालोंकी दृष्टिसे यह सब पूजा ठीक ही है, क्योंकि इनमेंसे प्रत्येक वस्तु ईश्वरका स्वरूप है । परंतु हिंदु केवल उन ईश्वरस्वरूप वस्तुओंपर चंदन फूल और अक्षता चढाते हैं और उनकी पूजा हुई ऐसा समझते हैं, यह गलती है । इनकी सेवा करनी चाहिये । उदाहरणके लिये देखिये, हिंदु तो गौपर चन्दन फूल और अक्षता चढाते हैं और गौकी पूजा की ऐसा समझते हैं । पर यह पूजा भी नहीं, उपासना भी नहीं और सेवा तो बिलकुल ही नहीं है । यह एक पूजाका भ्रम ही है । भ्रमसे कार्य होना असंभव है ।

दूसरे विदेशी लोग गौकी उत्तम सेवा करते हैं और उनपर गौ देवता प्रसन्न होकर उनको वह प्रतिदिन तीस चालीस सेर दूध देती है । इसका नाम सेवा है । और जो हिंदु कर रहे हैं वह एक उपहास मात्र है । ऐसा उपहास करनेसे गौकी प्रसन्नता होना असंभव है । यहां उपासना, सेवा और पूजाका तत्त्व स्पष्ट हुआ ।

विश्वरूप उपासनामें ब्राह्मण क्षत्रिय वैश्य शूद्रोंकी, नाना पक्षियोंकी, वृक्षवनस्पतियोंकी तथा स्थावरोंकी भी सेवा जितनी हो सकती है उतनी करनी योग्य है । उन की प्रसन्नता होनेतक सेवा करनी चाहिये, प्रसन्नता होनेपर वे वर भी देते हैं ।

मनुष्योंमें जो मानव अति हीन अवस्थामें हैं उनको हर प्रकारकी सहायता देना उनकी सेवा है । स्वच्छता, स्नान, पुष्पमाला, नैवेद्य (भोजन या फलाहार) आदि द्वारा उनकी सेवा भी इसमें आ जाती है ।

यहा गीताने प्रत्यक्ष दीखनेवाले विश्वके रूपकी सेवा कही है और प्रत्यक्ष दीखनेवाले संसारको क्षणिक हीनदीन दुःखमय अतः हेय और त्याज्य माननेवालोंके मतोंका निराकार किया है ।

आजकल प्रायः सभी संप्रदायोंने संपूर्ण जगत्‌को तथा सब संसारको त्याज्य ठहराया है और ईश्वरको उपास्य माना है । गीताने विश्वकोही ईश्वरका रूप बताकर उनके मतोंका खंडन किया और विश्वरूपही संसेव्य करके बताया है । इससे पता लगेगा कि गीता पाठकोंको किधर ले जा रही है । आजकलके जो संप्रदाय जगत्‌को हेय और त्याज्य मानते हैं, उन सबका खण्डन गीताने किया है । और विश्व-सेवाही मानवोंका धर्म निश्चित किया है । देखिये गीता क्या कहती है-

अवजानन्ति मां मूढा मानुषीं तनुमाश्रितम् ।
(गी. ९।११)

' मानवदेहमें आश्रय लिये मुझ-ईश्वर-का मूर्ख लोग अपमान करते हैं ।' ईश्वर मानवोंके देहोंमें अवतीर्ण हुआ है, उसकी सेवा न करते हुए मूर्ख लोग उसका अपमान करते हैं और दूसरे किसीकी सेवा करते हैं । यह प्रतिदिन हो रहा है । भूखा गरीब दरिद्री मानव द्वारपर भीख मांगनेके लिये आ जाय तो उसको गालियाँ देते हैं और मन्दिरोंमें जा कर वहाँ सहस्रों रु० का चढावा चढाते हैं और समझते हैं कि हमने ईश्वरकी पूजा की, यह कितने आश्चर्यकी बात है ?

इस तरह मानव-देहोंमें अवतीर्ण हुए ईश्वरका तो सर्वत्र निरादर हो रहा है, इतनाही नहीं, परंतु पशु पक्षी वृक्ष आदि रूपोंमें अवतीर्ण हुए ईश्वरका भी निरादरही हो रहा है । परंतु मूर्ति या घर (मंदिर, गिरजाघर या मसजिद जो) उपासना या सेवा चाहताही नहीं उसपर भोग चढाये जा रहे हैं !! इस तरह गीताके निर्देश देखने योग्य हैं, वे मनुष्यको ठीक मार्गपर लानेमें समर्थ हैं ।

५. परमेश्वरका विश्वरूप पवित्र है

परमेश्वरका यह विश्वरूप देखनेकी इच्छा देवभी करते रहते हैं (गी. ११।५२) अर्थात् यह रूप दिव्य तथा पवित्र है इसमें संदेह नहीं है । अनन्य भक्तिसेही इस रूपका दर्शन हो सकता है (गी. ११।५३) । अर्थात् जो देव देखना चाहते हैं और जो अनन्यभक्तिसे प्राप्त होता है, वह दोषयुक्त हीन दीन नहीं हो सकता । अतः विश्वरूप पवित्र वस्तु है । हम सब मानव इस विश्वरूपमें हैं, इस पवित्र विश्वरूपमें हमारा निवास है । गीताका विश्वरूप हमें इस जगत्‌की पवित्रताका संदेश देता है ।

परंतु आजकल ऐसा समझा जाता है कि यह जगत् एक बडा जेलखाना है और उस बडे जेल खानेमें हम सब मानव कैदी हैं। अथवा यह सब संसार एक बडा जाल है और उसमें हम जालमें जकडे हुए मत्स्य जैसे है। यहांसे छुटकारा पाना हमारा कर्तव्य है। अथवा यह संसार एक भुलभुलैया है, मानवोंको भ्रांत बनानेके लिये रचा हुआ यह इन्द्रजाल है। इसमें फँसना नहीं चाहिये। इस तरहके मत आजकल हमारे समाजमें प्रचलित हैं। इन सब भ्रान्त मतोंका खंडन गीताने विश्वको परमेश्वरका स्वरूप बता कर दिया है। परमेश्वरका स्वरूप यह विश्व न जेलखाना है, न जाल है, न भुलभुलैया है, न यहां फंसानेका कोई कार्य है। यह एक अत्यंत पवित्र कार्य-क्षेत्र है, जिसके साथ अपना अनन्य संबंध जानकर अनन्यता अर्थात् अ-पृथक्ताके अनुकूल कर्तव्य करके कृतकृत्य बनना है।

गीताका यह विश्वरूप-दर्शन समझमें आनेपर पूर्वोक्त सभी भ्रमवाद नष्ट होते हैं और हम एक उच्च कार्य-भूमिपर आरूढ होते हैं, जहां मनुष्य स्वतंत्रतासे विचर सकता है और अपनी उच्चताकाभी अनुभव कर सकता है।

६. विश्वरूपमें जन्म लेना बंधन नहीं है

विश्वरूप परमेश्वरका रूप है, इसलिये उसमें जन्म लेना बुरे कर्मका फल मानना अयोग्य है। परंतु जगत्को दुःखमय माननेवालोंने जन्म दोषमूलक माना है। उनकी विचारधारा ऐसी है- मिथ्याज्ञानसे प्रवृत्ति होती है, प्रवृत्तिसे कर्म होते हैं, कर्मसे दोष होते हैं, दोषोंसे दुःख होना स्वाभाविक है, दुःख भोगनेके लिये जन्म धारण करना पडता है, जन्मसे शरीर मिलात है, शरीरमें दुःख-भोग भोगना होता है। शरीर मिलनेपर दुःख भोगना अनिवार्यही है। इस लिये यदि दुःख दूर करनेकी इच्छा है, तब तो शरीर धारण न हो ऐसी व्यवस्था करनी चाहिये। इस विषयमें उनकी विचार-धारा ऐसी है- यदि दुःख नहीं चाहिये तो शरीर नहीं लेना चाहिये, शरीर मिलनेका कारण दोष है अतः दोष नहीं होने चाहिये, दोष तो कर्मसेही होते हैं। इसलिये निर्दोष रहनेके लिये कर्म छोडना चाहिये। पर कर्म तो छोडना कठिन है। अब क्या किया जाय? कर्म तो वासनासे अथवा प्रवृत्तिसे होते हैं, इसलिये प्रवृत्तिही अथवा वासनाही नष्ट करनी चाहिये। वासनाहीन और प्रवृत्ति-शून्य मनुष्य श्रेष्ठ है, क्योंकि उससे प्रवृत्तिही न होनेके कारण कोई कर्म नहीं होंगे और कर्म न होनेसे दोष नहीं होंगे, इस कारण वह निर्दोष होगा। निर्दोष हुआ तो उसके भोगनेके लिये कोई दुःख नहीं होंगे, इसलिये उसकी मुक्ति होगी। इस तरह इन्होंने प्रवृत्तिशून्य मनुष्य निर्माण करनेकी युक्ति सोची थी। पर यह सब असत् विचारधाराही है। क्योंकि यह विचारधारा मनुष्यको प्रवृत्तिहीन, कर्महीन और वासनाशून्य बनानेकी इच्छा करती है। ऐसा बनना तो सर्वथा असंभव ही है और संभव हुआ तो वह मनुष्यकी उन्नतिका घात करनेवाली ही व्यवस्था होगी। मनुष्यका आत्मा सतत प्रयत्नशील है। 'अत् = सातत्य-गमने' इस धातुसे 'आत्मा' शब्दकी सिद्धि होती है, इससे इसका अर्थ 'सतत गमन, सतत प्रयत्न, सतत कर्म करनेवाला' ऐसा है। यह अर्थ आत्माका स्वभाव बता रहा है कि वह प्रवृत्तिशून्य नहीं हो सकता। मानवका भी स्वभाव सतत यत्न करनाही है। देखिये, गीताका वचन इस विषयमें—

> **न हि कश्चित्क्षणमपि जातु तिष्ठत्यकर्मकृत्।**
> **कार्यते ह्यवशः कर्म सर्वः प्रकृतिजैर्गुणैः॥**
> (गी. ३।५)

'कोई एक क्षणभरभी कर्मके विना ठहर नहीं सकता, वह अवश होकर प्रकृतिके गुणोंके द्वारा कर्म करताही रहेगा।' अर्थात् मनुष्यकी प्रकृति अपने स्वाभाविक गुणोंसे मनुष्यसे कर्म करावेगी। इतनी मनुष्यकी स्वाभाविक प्रवृत्ति कर्म करनेके लिये तत्पर है। ऐसा होते हुए इन अकर्मण्य लोगोंने जो अकर्म-वाद खडा किया, उसमें उनकी इच्छा मनुष्यको प्रवृत्तिशून्य बनानेकी थी, परंतु यह मानवो प्रवृत्तिके सर्वथा विरुद्धही है, अतएव त्याज्य है। वह सिद्ध न होनेवाली इच्छा है। इनकी सब इच्छा शरीर धारण करना न पडे यही है। पर भगवान्के विश्वरूपमें आने और उसका अंश बननेसे ये इतने क्यों घबराते हैं? प्रभुके शरीरका अंश बनकर प्रभुके कार्यमें सहभागी होनेसे तो मानवकी मुक्ति होनेवाली है। परंतु इनकी इच्छा यह है कि प्रभुके शरीरका एक एक अंश प्रवृत्तिशून्य बनकर प्रभुके शरीरसे दूर होता रहे और प्रभुका शरीरही क्षीण बनता जाय! पर क्या ऐसा होना संभव है? क्या प्रभु इन कर्मशून्यवादियों-की इच्छासेही जीवित रहनेवाला है? ऐसा मानना निरी मूर्खता है।

वास्तवमें गीताने विश्वरूपको प्रभुका स्वरूप बताकर इन

प्रवृत्तिशून्य लोगोंके मतपर कुठाराघात किया है और बताया है कि जन्म लेकरही प्रभुके शरीरका अंश बनने और प्रभुके कार्यमें संमिलित होनेका बडा भाग्य मनुष्यको प्राप्त हो सकता है। अतः मानवको प्रवृत्तिशून्य बनानेका ध्येय अशुद्ध है।

भगवद्गीताने बताया कि विश्वरूपी प्रभुकी एक विश्वव्यापक महती आयोजना होती है, उसको जानकर उसमें नियत हुआ अपना कर्तव्य कर्म मनुष्यको करनाही चाहिये। इस कार्यके करनेके लिये मनुष्यको अपनी योग्यता बढानी चाहिये। प्रवृत्ति-शून्य बनना तो युक्तियुक्त नहीं है, इतनाही नहीं, वह सर्वथा अयोग्यही है। प्रभुकी विश्वकल्याणकी आयोजनामें अपनी सत्प्रवृत्तिको सहचारी बनाना चाहिये और अपनेसे जो हो सकता है वह करनाही चाहिये।

इस तरह भगवद्गीताने प्रवृत्तिहीनताकी वृद्धि करनेकी इच्छा करनेवाले इन कर्महीन लोगोंकी विचारधाराको समूल जडसेही उखाड दिया है। और विशेष प्रकारका कर्मवाद सबके सामने सबकी उन्नतिके लिये रख दिया है।

७. जन्म देनेवाला गृहस्थाश्रम श्रेष्ठ है

एकवार जो प्रवृत्तिशून्य मानव बनानेकी विचारधारा शुरू हुई वह मनुष्योंको कर्महीन बनाकरही नहीं ठहरी, परंतु उसने संतान उत्पन्न करनेवाले गृहस्थाश्रमकोही हीन, दोषपूर्ण अतएव त्याज्य ठहराया, और जिस स्त्रीके कारण गृहस्थाश्रमकी सांगता, सफलता और सुफलता हो सकती है, उस स्त्रीको भी पापकी खान बना दिया! इस विषयमें इनकी विचार परंपरा ऐसी है-

स्त्रीके साथ विवाह किया जाता है, इस विवाहसे-अर्थात् इस गृहस्थाश्रमके स्त्रीपुरुष संबंधसे मनुष्यका जन्म होता है और जन्म तो दोषोंके दुःखरूप फल भोगनेके लियेही होता है, अतः जन्मसेही मुक्ति या छुटकारा पानेका यत्न करना चाहिये। परंतु प्रारंभमेंही विवाह न करते हुए ब्रह्मचर्यसे रहना योग्य है। क्योंकि स्त्री तो पापकी खान है, अतः उसीसेही तो मनुष्यका जन्म होता है और जन्म तो दोषोंके कारणही होता है। उसमें सहाय्य करनेवाली स्त्री है, इसलिये स्त्रीसे संबंधही वर्ज्य करना योग्य है।

इस तरह इन्होंने आजन्म ब्रह्मचर्य और संन्यासका माहात्म्य बढाया। विवाह न करनाही श्रेष्ठ माना गया। प्राचीन वैदिक परंपरामें गृहस्थाश्रम श्रेष्ठ था, अतिश्रेष्ठ था, सुवीर पुत्र उत्पन्न करना मातापिताका कर्तव्य था। वह सारी सुविचार-धारा इन लोगोंने नष्ट की और अशक्यप्राय आजन्म ब्रह्मचारी बनानेकी कुविचार धारा शुरू की। इन्होंने देशभरमें चारों ओर ब्रह्मचारी, संन्यासी और भिक्षु बनानेका यत्न किया, जिसमें कभी सफलता होनेकी संभावनाही नहीं थी और वैसाही हुआ। इन्होंने स्व-मतावलम्बियोंका तो घात किया, परंतु राष्ट्रकाभी बडा घात किया! क्योंकि कर्महीनतासे किसका कल्याण हो सकता है?

कुमारपनमें ब्रह्मचर्य, तारुण्यमें गृहस्थाश्रम, उत्तर आयुमें वानप्रस्थ और पश्चात् अति अल्प पुरुषोंका संन्यास, यह वैदिक परंपरा अत्यंत उत्तम थी। उसको इन्होंने तोड दिया, इससे देशकी बडी ही हानि हुई।

वास्तवमें भगवद्गीताके अनुसार ईश्वरका अंश जीव बनकर गर्भमें आता है। -

ममैवांशो जीवलोके जीवभूतः सनातनः।
मनःषष्ठानींद्रियाणि प्रकृतिस्थानि कर्षति।

(गी० १५।७)

'प्रभुका एक सनातन अंशही इस जीवलोकमें जीव हुआ है, वह पञ्च ज्ञानेंद्रियोंके साथ छठे मनको अपने साथ लेकर देहको प्राप्त करता है।' इस गीताके कथनके अनुसार जीव प्रभुका एक अंश है, जिस तरह धधकती हुई आगसे चिनगारियाँ निकलती हैं, वैसेही प्रभुके शरीरसे जीवरूप चिनगारियाँ निकलती हैं। प्रभुके शरीरका अंश, प्रभुकाही अंश दुःख भोगनेके लिये आता है, ऐसा मानना असंभव है। प्रभुका अंश जो अवतार लेता है वह प्रभुकी महती आयोजनामें संमिलित होनेके लियेही आता है। जो स्त्री इस जीवको अपने गर्भमें नौ मासतक धारण करती है, उसकी योग्यताका क्या वर्णन किया जा सकता है? इसीलिये माताको **'स्वर्गादपि गरीयसी'** कहा है। गृहस्थधर्मके अनुसार स्त्रीपुरुष-संबंध भी पूर्वोक्त कारणही अच्छा संबंध है। क्योंकि इसी संबंधसे प्रभुके अंशको यहां विश्वमें आकर अपने पिताकी विश्वकल्याण की आयोजनामें संमिलित होनेकी संभावना होती है।

प्रभुके जीवभूत अंश अपने साथ इंद्रियोंकी शक्तियाँ लेकर आकाशमें विचरते हुए देखते हैं कि, अपने योग्य स्थान कहां है। जहां पवित्र स्थान होगा, वहां वे प्रवेश करते हैं। यदि इन प्रवृत्तिशून्यवादियोंके विचार-प्रवाहके अनुसार सभी
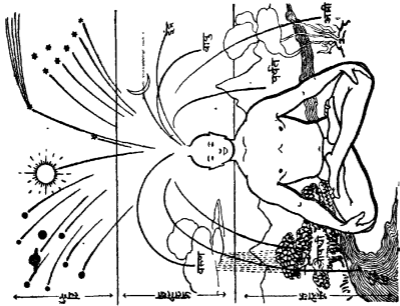
जीवके देहमें तैंतीस देवताओंका प्रवेश और उनका देहमें स्थान
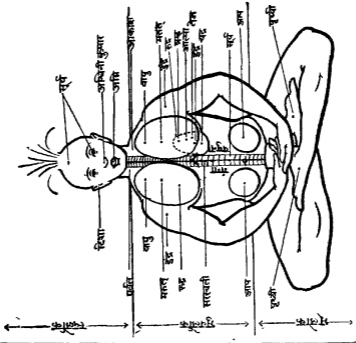
जीवके देहमें त्रिलोकी और त्रिलोकीके अन्तर्गत सब देवताओंका अंशभावसे अवस्थान

जीवकी यज्ञभूमि

(यज्ञभूमिमें देवता और ऋषियोंका कार्य)
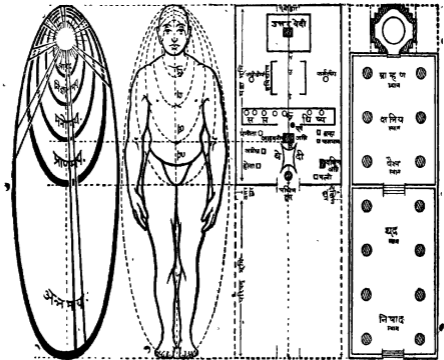
स्त्री पुरुष ब्रह्मचारी हुए तो वे जीव जो प्रभुसे उत्पन्न हुए विचर रहे थे, वे कहां प्रविष्ट होंगे ? अर्थात् इन शून्यप्रवृत्तिवादियोंका सभी उपक्रम प्रभुके विरुद्ध विद्रोह करनेके समान मूर्खताकाही है। वह बात सिद्ध होनेवाली कदापि नहीं थी। प्रभुके साथ विरोध किस तरह सिद्ध होगा ?

गीता तो कहती है कि, प्रभुके अंश जीव हैं, वे प्रभुके विश्व-कल्याणके विश्वव्यापी कार्यमें शामील होनेके लिये अवतीर्ण होनेके लिये आना चाहते हैं। उनको गर्भमें धारण करनेकी संभावना स्त्री-पुरुष-संबंधसेही होती है, अतः गृहस्थाश्रम श्रेष्ठ है। स्त्री पुरुष-संबंधभी श्रेष्ठ है, क्योंकि भगवान् ही कहते हैं कि–

धर्माऽविरुद्धो भूतेषु कामोऽस्मि। (गी. ७।११)

'धर्मसे जो विरुद्ध नहीं, ऐसा काम ईश्वरकी विभूतिही है।' काम ईश्वरकी विभूति है, अतः इस कामकी संभावना जिस गृहस्थाश्रममें होती है और जिस स्त्री-पुरुषके संबंधसे होती हैं, वह गृहस्थाश्रम और वह स्त्रीसंबंध परमेश्वरकी विभूतिके सहाय्यकारी हैं। अतः आत्यंतिक ब्रह्मचर्य अयोग्य है। विरला कोई करे तो करे, पर वह सार्वत्रिक होने योग्य नहीं है। गीताने इस तरह इन ब्रह्मचर्य तथा संन्यासका अतिरेक करनेवालोंका खंडन किया है।

परमेश्वरके विश्वरूपमें जन्म लेकरही विराजना संभव है, इसलिये जन्म पवित्र है, वह जन्म स्त्रीसे होता है इसलिये स्त्री पवित्र है और स्त्रीसे संबंध गृहस्थाश्रमसे होता है, अतः गृहस्थाश्रम भी श्रेष्ठ है। जो अज्ञान इनके विरुद्ध अज्ञानियोंके द्वारा फैलाया गया है, वह सब दूर फेंकने योग्य है। गीताके विश्वरूपदर्शनने यह सब यथायोग्य रीतिसे सिद्ध किया है।

गर्भवासकी निंदा बहुतोंने की है और। वह सब अशास्त्रीय है। संतोंके ग्रंथोंमें लिखा है कि गर्भके नाक कान और मुखमें मल मूत्र और कृमि जाते हैं। वह गर्भस्थ जीव विष्टामें पकता रहता है। यह सब अशास्त्रीय वर्णन अज्ञानकाही द्योतक है। जहाँ परमेश्वरका अंश नौ मास विराजनेवाला है, वह स्थान कितना पवित्र होगा! गर्भकी स्थिति इतनी उत्तम होती है कि वह देखनेसे पता लगता है कि विधाताका चातुर्य अप्रतिम है। गर्भ अवस्थामें किसी तरहके क्लेश नहीं होते। परंतु जिनको जन्मसे और शरीरसेही घृणा हुई थी, उन्होंने ऐसे अशास्त्रीय वर्णन किये और मूर्खोंने ये सत्य मान लिये। गर्भ देवताका मंदिर है, वह एक पवित्र स्थान है और उसमें सब देवोंके अंश पाले और पोसे जाते हैं। अस्तु। इस तरह विश्वरूप-दर्शनसे इस सब मिथ्या ज्ञानका खंडन हो चुका है।

८. परमेश्वरका पुत्र जीव है

परमेश्वर पिता है, जीव उसके पुत्र हैं। इस विषयमें गीताका कथन स्पष्ट है—

पिताऽहमस्य जगतः माता धाता पितामहः।
(गी. ९।१७)

तासां ब्रह्म महद्योनिः अहं बीजप्रदः पिता।
(गीता १४।४)

पिताऽसि लोकस्य चराचरस्य
त्वमस्य पूज्यश्च गुरुर्गरीयान्। (गी. ११।४३)
पितेव पुत्रस्य सखेव सख्युः
प्रियः प्रियायार्हसि देव सोढुम्। (गी. ११।४४)

'चराचरका पिता परमेश्वर है, परमेश्वर अपना बीज अथवा वीर्य अपनी प्रकृतिमें डालता है, जिससे यह संसार उत्पन्न होता है।' इसी वीर्यके अंशसे मानवकी उत्पत्ति हुई है। वेदमें भी मानवोंको '**शृण्वन्तु विश्वे अमृतस्य पुत्राः।** (ऋ. १०।१३।१) कहा है। अमृतस्वरूप परमात्माके पुत्र ये सब जीव हैं। पिताके सभी अवयवोंके अंश पुत्रमें पिताके वीर्यके द्वारा आते हैं। पिताके विश्वदेहमें तैंतीस देवताएं हैं, जीवके देहमें उन तैंतीस देवताओंके अंश विभिन्न अवयवोंमें हैं। इस तरह पिता पुत्रका साम्यभी है। इस साम्यको देखनेसे पता लग सकता है कि, निःसंदेह यह मानव ईश्वरकी छोटी मूर्तिही है और ईश्वरका सब ऐश्वर्य इस पुत्रमें अंशरूपसे रहता है। अर्थात् इस ऐश्वर्यकी वृद्धि करना मनुष्यका कर्तव्य होता है। (पृ. ४१-४२ परके चित्र देखो)

वेदमें कहा है कि '**सप्त ऋषयः प्रतिहिताः शरीरे।**' (वा. य. ३४।५५) मनुष्यके शरीरमें सप्त ऋषि तप कर रहे हैं। अतः यह सप्त ऋषियोंका पवित्र आश्रम है। वेदका यह वर्णन देखने योग्य है। तैंतीस देवताओंका मंदिर भी शरीरको वेदने कहा है। '**सर्वा ह्यस्मिन् देवता गावो गोष्ठ इवासते।** (अथर्व. ११।८।३२) 'सब देवताएँ गौवें गोशालामें रहनेके समान रहती हैं।' इस तरह वेदने मानव देहको देवताओंका मंदिर, ऋषियोंका पवित्र आश्रम और परमे-

श्वरके पुत्रके लिये रहनेके हेतुसे निर्माण किया मन्दिर कहा है। जीवको ईश्वरका अंश और ईश्वरका पुत्र गीताने भी कहा और बताया है कि यह शरीर एक पवित्र वस्तु है। इस शरीरको आधुनिक विचारकोंने जेलखाना, पिंजराही नहीं कहा, परंतु पीप विष्ठा और मूत्रका गोला या गढा बनाया और वैसा वर्णन भी किया है। वेदमें शरीरका आदर दीखता है, गीताने भी शरीरको '**आत्माका कार्यक्षेत्र**' (गी १३।१) कहा है। उस स्थानपर शरीरको पीप और मलमूत्रका गढा कहना एक घृणा उत्पन्न करनेवाला अज्ञान ही है। आज ऐसीही शरीरकी निंदा करना अच्छा माना जाता है। पर यह सब भ्रम-जाल है।

शरीरको मलमूत्रका गढा माननेसे जो शरीरके विषयमें घृणा उत्पन्न हुई, उससे 'शरीरका त्याग' ही अपना श्रेष्ठ ध्येय उन विचारकोंको निश्चित करना पडा है। जो शरीर पवित्र मंदिर था, वही पाखाना इन लोगोंने किया !! इनको क्या कहा जाय? एक वार शरीर पाखाना मालूम हुआ तो इस शरीरमें कौन और क्यों अधिक देरतक रहनेकी इच्छा करेगा? पाखानेसे तो शीघ्र तिशीघ्र छुटकारा पानेकी इच्छाही सब लोग करते हैं। देवता-मंदिरमें और ऋषियोंके पवित्र आश्रममें रहनेकी वैदिक कल्पना जबतक जीवित और जाग्रत थी, तबतक दीर्घ आयु प्राप्त करना और इस शरीररूपी आश्रम तथा मंदिरको अधिकाधिक पवित्र रखना ध्येय था। परंतु जबसे शरीरको पाखाना अथवा मलमूत्रका गढा माननेका कुविचार जारी हुआ, तबसे शरीर सुखानेके उपायही जारी हुए, यहांतक कि स्नान न करना, मुख न धोना भी तप माना गया !! इस तरह आजके विचार और प्राचीन विचारोंमें जमीन आस्मानका अन्तर है। विश्वरूप दर्शन-कराकर गीताने ये सब आधुनिक कुविचार दूर किये हैं। और सनातन वैदिक मार्गपर मानवोंको लानेका यत्न किया है। पर आश्चर्यकी बात यह है कि गीताके विश्वरूपदर्शनका पाठ करनेवाले लोगभी इस जगत्को बंधन मान रहे हैं !!!

जीव अपने आपको परमेश्वरका पुत्र समझे। मैं नर हूं और नारायण बननेकी शक्ति अपनेमें है, इस बातको न भूले। परमेश्वरके पुत्रको जेलखानेमें डालनेवाला यहां कोई नहीं है, परमेश्वरका पुत्र जहां जायगा वहांकी सब पारतंत्र्यकी जंजिरें टूट जायेंगी, यह सत्य बात यहां ध्यानमें रखनी योग्य है।

परमेश्वररूपी वृक्ष-बीजसे विश्वरूपी महावृक्ष प्रकट हुआ है। बीजमें जो शक्ति गुप्त थी, वही शक्ति वृक्षरूपमें प्रकट हुई है। वृक्ष बनना यह बीजका स्वभावही है। बीजका वृक्ष बननेसे बीजसेही। किसी दूसरे हीन पदार्थका प्रकटीकरण हुआ ऐसा नहीं कहा जा सकता। फल फूलों सहित वृक्ष यह बीजकी शक्तियोंका वैभव है। इसी तरह परमात्मरूपी बीजसे जो यह विश्वरूपी प्रचंड वृक्ष बना है, वह किसी तरह हीन दीन या न्यून नहीं है। '**पूर्ण अदः पूर्ण इदं**' वह बीज पूर्ण था, उससे बना यह वृक्षभी पूर्णही है। इस तरह इस विश्वरूपी वृक्षका महत्त्व वर्णन किया गया है।

अब प्रश्न यह होता है कि बीजका वृक्ष बन जानेपर और वह सुपुष्प और सुफल हो जानेपर उस वृक्षको छोडकर पुनः बीजकी ओर जाना आवश्यक है या वृक्षकी ही सेवा करना योग्य है? आजकल जगत् को छोडकर मूलकी खोज करो, ऐसा कहा जाता है, अतः इस विषयमें गीताका संदेश क्या है, यह देखना आवश्यक है।

गीताने तो बतायाही है कि, विश्वरूपी सुफल वृक्षकी ही सेवा उपासना या परिचर्या करो। यह युक्ति-युक्त भी है। बीजमें जो शक्तियां गुप्त थीं, वही वृक्षमें प्रकट हो गयी हैं। अतः वृक्षका त्याग करके बीजकी ओर जानेकी कोई आवश्यकता नहीं है, यह गीताका संदेश है। जो लोग वृक्षका त्याग करके जडकी खोज करते रहेंगे, उनके हाथ मिट्टीही लगेगी। बीज तो कभीका वृक्षरूपमें ढला जा चुका है, अतएव वह बीज कभी मिलनेवाला नहीं है। जो प्राप्त होनेवाली वस्तु है, वह वृक्षही है और उसके फल, फूल, पत्ते और छाया है। वही संसेव्य है।

इसलिये विश्वरूपही मानवोंके लिये संसेव्य है। इस प्रत्यक्ष दीखनेवाले विश्वरूपका त्याग करके किसी अदृश्य सत्ताकी प्राप्तिका यत्न करना यह निरर्थक आयास मात्र है। यह विश्वरूपदर्शनका संदेश सबको ध्यानमें धरने योग्य है।

९. जन्मका उद्देश्य

ईश्वरका अंश जीव बनकर इस परमेश्वरके विश्वरूपमें जन्म लेता है। इसमें परमेश्वर तो सदा पवित्र है, उसका अंश भी पवित्र है, वह पवित्र विश्वरूपमें आता है। इसका हेतु यह है कि परमपिता परमात्माके विश्वकल्याण करनेके कार्य करनेके लिये मैं समर्थ बन जाऊं और उस कार्यमें मैं सहयोगी बनूं। वैदिक समयमें इस विषयमें इस तरह कहा जाता था। [illegible] अपने

साथ तैंतीस देवताओंके अंशोंको लेकर जीव बननेके लिये आता है, वह अपने जन्मके लिये सुयोग्य स्थान देखता है और वहां प्रवेश करता है। माताके उदरमें नौ महिने रहकर जन्म लेता है और अपने पिताके समान यज्ञ करना चाहता है। परम-पिता परमात्मा सदा यज्ञ करता है, वैसेही यह अमृतपुत्र भी यज्ञ करता है। ऐसे सौ यज्ञ करके वह जीव शतक्रतु बनता है। यह वैदिक वर्णन भी पूर्वोक्त वर्णनके समानही है और दोनोंका भाव एकही है। अर्थात् विश्वरूपमें जन्म लेकर आना किसी तरह हानि करनेवाला नहीं है।

विश्वरूपमें विश्वरूपका एक भाग बनकर रहना एक बडे भाग्य-का साधन है। परमेश्वरके विश्वशरीरका एक भाग होना कभी बुरा नहीं हो सकता। इसलिये शरीर-धारणसेही घृणा उत्पन्न करने-वाली जो विचार धारा है, वह बिलकुल ठीक नहीं है। शरीर धारणसे कुछभी बिगडता नहीं है, शरीर कोई किसी तरह बुरा नहीं है, वह मानवोंका अर्थात् जीवोंका कार्यक्षेत्र है। इसीसे तो प्रभुके कार्यमें सहभागी होनेकी संभावना है। अपने जीवनका जो यह उद्देश है, उसको कभी भूलना उचित नहीं है। और इसको सामने रखते हुए अपने शरीरको, अपने जीवनको, तथा इस जगत्को बुरा कहना भी ठीक नहीं है।

प्रभुका कार्य "(१) **साधुओंका परित्राण, (२) दुष्टोंका दमन और (३) धर्मकी संस्थापना**" यह त्रिविध है। इसमें जो होना संभव है, वही कार्य तन मन धन लगाकर करना योग्य है। यही अपने जीवनका उद्देश है। भक्त-वर अर्जुन तथा हनुमानजीने यही कार्य किया था और वे उससे कृत-कार्य भी हुए थे। वैसाही हरएकको करना उचित है।

१० मूर्त और अमूर्त मिलकर विश्वरूप परमेश्वर है

यह विश्वरूप मूर्त और अमूर्त ऐसा द्विविध है। साकार निरा-कार, जड चेतन, दृश्य अदृश्य ऐसा द्विविध है। पृथ्वी आप तेज यह साकार है, वायु आकाश आदि निराकार है। येही मूर्त और अमूर्त हैं, और साकार निराकार भी येही हैं। मूर्त अथवा साकारको तुच्छ समझनेकी विचार-परंपरा ठीक नहीं है, क्योंकि यह इस पवित्र विश्वरूपकाही एक विभाग है।

दूसरी बात यह है कि, साकार निराकार ऐसी कोई वस्तु स्थायी रूपसे इस विश्वमें नहीं हैं। पानी जमनेसे बर्फ बनता है और पानीकी भांप भी बनती है। भांप, पानी और बर्फ ये एकही जलतत्त्वके तीन रूप हैं। इसी तरह घन पदार्थ अति सूक्ष्म करनेसे वायुरूप बनकर अदृश्य होते हैं और वायु-रूपसे पुनः घनीभवन होकर दृश्यभी होते हैं। इसलिये घन, द्रव और वायुरूप ये तीन अवस्थाएँ हैं, वस्तुएं नहीं।

जड चेतनके विषयमेंभी ये दो पदार्थ पृथक् अस्तित्ववाले नहीं हैं। किसीने आजतक जडको चेतनसे पृथक् अनुभव नहीं किया और एक बोतलमें जड और दूसरीमें चेतन ऐसा रखनेके लिये भी कोई शास्त्रज्ञ आजतक समर्थ नहीं हुआ। क्योंकि ये दो कल्पनागत भेद हैं, ये वस्तुगत भेद नहीं।

जिस तरह मिश्रीका डेला होता है और उसमें मीठासभी होती है, उस तरह जड और चेतन एक दूसरेके साथ मिले जुले हैं। ये पृथक् दो वस्तुएँ नहीं हैं। आजकल इनको एक दूसरेसे पूर्णतया पृथक् ऐसे दो पदार्थ मानते हैं, वह मानने और समझनेवालोंकी भूल है। जड और चेतन मिलकर एक 'सत्' होता है, जिसका यह विश्वरूप बना है। विश्वरूप अनेक वस्तु-ओंकी खिचडी नहीं है, एकही ईश्वर, परमात्मा, परब्रह्म, आत्मा, ब्रह्म, सत्, वासुदेव आदि नामोंसे निर्दिष्ट होनेवाली एकही वस्तुका यह रूप 'विश्वरूप' नामसे प्रसिद्ध है। उस एक सद्वस्तुमें अनन्त गुण हैं, इस कारण इस विश्वरूपमें विविधता आ गयी है। एक एक गुणका विकास होकर विश्वके नाना पदार्थ बने हैं। विश्वके नानात्वका यही एकमात्र कारण है। इस तरह मूल एकही 'सत्' के विश्वान्तर्गत नाना प्रकारके रूप बने हैं। तथापि नाना रूपोंसे इस विश्वरूपमें एकही सत् विराज रहा है। यहां विभिन्नता होते हुए उसमें अभिन्नता है। इस विश्वमें नाना प्रकारके द्वन्द्व होनेपरभी वह सत् निर्द्वन्द्व रूपही है। अनेक रूपोंमें वह एकही सत् प्रकट हुआ है।

इससे मूर्तामूर्त, सगुण निर्गुण, साकार निराकारकी भेद कल्पना, तथा उस भेदकी कल्पनापर जो मतमतान्तरोंकी कल्पना-एँ खडी की गयी हैं, वे सब निर्मूल हैं यह सिद्ध हुआ और इस तरह एकही सत् विश्वके रूपसे विराज रहा है, यह बात सिद्ध हुई।

भगवद्गीताने परमेश्वर विश्वरूप है, ऐसा कहकर कितनी भ्रान्त कल्पनाओंका निराकरण किया है, इसका विचार इस प्रकार हो सकता है। कोई साधक उक्त कारण इन भ्रान्त कल्पनाओंमें न फंसे। जो कुछ उस साधकका बनना है, जो

कुछ उस साधकने करना है, जो कुछ उस साधकको साध्य है, वह सब इस विश्वरूपके साथ संबंधित है, यह सब लोग जानें और अपना कर्तव्य करके कृतकार्य बने।

११. क्षर पुरुष, अक्षर पुरुष और उत्तम पुरुष

क्षर, अक्षर और पुरुषोत्तम ये पुरुष भगवद्गीतामें कहे हैं। ये तीन पुरुष परस्पर पृथक् हैं, ये दो हैं या एक हैं, इस विषयमें बहुतही लोग संदेह करते हैं —

द्वाविमौ पुरुषौ लोके क्षरश्चाक्षर एव च।
क्षरः सर्वाणि भूतानि कूटस्थोऽक्षर उच्यते॥१६॥
उत्तमः पुरुषस्त्वन्यः परमात्मेत्युदाहृतः।
यो लोकत्रयमाविश्य बिभर्त्यव्यय ईश्वरः॥१७॥
यस्मात्क्षरमतीतोऽहमक्षरादपि चोत्तमः।
अतोऽस्मि लोके वेदे च प्रथितः पुरुषोत्तमः॥१८
यो मामेवमसंमूढो जानाति पुरुषोत्तमम्।
स सर्वविद्भजति मां सर्वभावेन भारत॥१९॥
(भ० गी० १५।१६-१९)

इस गीताके वचनमें (१) क्षर, (२) अक्षर, (३) पुरुषोत्तम ये तीन नाम आये हैं। क्या ये तीन परस्पर विभिन्न पुरुष हैं? यदि ये तीन हैं और ये परस्पर पृथक् हैं, तब तो **'वासुदेवः सर्वं।'** (गी. ७।१९) 'वासुदेवही सब कुछ है' यह वचन असिद्ध हुआ। यदि यह असिद्ध हुआ, तब तो एक ईश्वरका रूप विश्वरूपही है, यहभी असिद्ध हुआ। इस तरह ये तीन पुरुष परस्पर पृथक् माननेसे गीताके सबही महत्त्वके सिद्धान्त उलटपुलट हो जाते हैं। इसलिये ये तीन पुरुष कैसे हैं, इसका विचार करना चाहिये।

क्षर पुरुष- जड पदार्थ, जिसके टुकडे होते हैं,

अक्षर पुरुष- चेतन तत्त्व, जिसके टुकडे नहीं हो सकते जो अखण्डतया सर्वत्र है।

ये जड+चेतन मिश्रीका ढेला और मीठास जैसे एक दूसरेके साथ मिले जुले हैं। ये परस्पर विभिन्न नहीं हैं। एकही वस्तुका जैसा जडत्व गुण है, वैसाही चेतनत्व भी एक गुण है। इन दोनों गुणोंसे युक्त जो वस्तु है, उसीका नाम पुरुषोत्तम है। अर्थात् एकही पुरुषोत्तम नामकी वस्तु है जिसके गुण जड और चेतन ये दो हैं।

ढेला+ मीठास= **मिश्री**'

इसमें '**मिश्री**' यह एकही वस्तु है, उसका 'ढेला' यह एक भाव है और 'मीठास' यह दूसरा भाव है। ये दोनों भाव 'मिश्री' मेंही सदा रहते हैं। इसलिये 'मिश्री' ही एक सत्य वस्तु है। ढेला और मीठास ये दो उसीके भाव हैं, ये दोनों भाव सर्वथा परस्पर पृथक् वस्तुरूप नहीं हैं। इसी तरह जड प्रकृति, चेतन जीव और पुरुषोत्तम ये तीन पदार्थ परस्पर पृथक् नहीं हैं, प्रत्युत-

जड+ चेतन= **पुरुषोत्तम**

एकही पुरुषोत्तम है, जिसका एक भाव जड प्रकृति अथवा क्षर पुरुष है, दूसरा भाव चेतन अथवा जीवभाव है। ये दो भाव जिसमें समाये हैं वह एकही परमात्मा सत्य वस्तु है। इसीका रूप यह विश्वरूप है। इससे सिद्ध हुआ कि, 'वासुदेवही सब कुछ है' यही सत्य सिद्धान्त है। अतः न यहां तीन पदार्थ हैं, और नाही दो हैं। सर्वथा एकही एक 'सत्' है, जिसका यह विश्व बना है।

इस जडचेतन वादका भी यहाँ निर्मूलन हुआ और वे एकही सद्वस्तुके दो भाव हैं, यह भी सिद्ध हुआ।

इसतरह परमेश्वर विश्वरूप है, यह जो भगवद्गीताने कहा, उससे प्राप्त होनेवाला यह बोध है। इस विश्वरूप परमेश्वरके सिद्धान्तने अनेक भ्रमजाल बढानेवाले अपसिद्धान्तोंका खंडन किया है, जिनमेंसे थोडासा नमूना यहां बताया है। शेष बातें विचार करनेसे स्वयं स्पष्ट हो सकतीं हैं, इसलिये संक्षेपसे यह लेख यहीं समाप्त करते हैं।

(५)

अनन्ययोग

अन्यभाव और अनन्यभाव

१. मनुष्यका व्यवहार

अन्यभाव और अनन्यभाव ये दो भाव मनुष्यके व्यवहारमें दिखाई देते हैं। '**अन्यभाव**' का अर्थ 'दूसरेपनका भाव' है और '**अनन्यभाव**' का अर्थ 'जहां दूसरेपनका भाव नहीं है ऐसा एकत्वका भाव'। ये दोनों भाव मनुष्यके व्यवहारमें दिखाई दे सकते हैं। परंतु इस समय संसारमें सर्वत्र व्यवहारमें केवल 'अन्यभाव' ही दिखाई देता है। 'अनन्यभाव' क्वचित् कोई महात्मा साधु सन्त अपने व्यवहारमें लाता होगा, तो होगा। परंतु सर्वसाधारण जनताके व्यवहारमें 'अन्यभाव' ही सर्वत्र दिखाई देता है।

यह मेरा घर, यह मेरा खेत, यह मेरा बन, यह मेरा परिवार, यह मेरा ग्राम, यह मेरा देश, यह मेरी जाति, यह मेरा संप्रदाय, यह मेरा धर्म; इस तरह सब लोग बोलते हैं। अर्थात् इस घरबार आदिपर मेरा अधिकार है, किसी दूसरेका अधिकार इनपर नहीं है।

यह दूसरेका घर है, यह दूसरेका खेत है, यह दूसरेका ग्राम है, यह दूसरेका देश है, यह दूसरी जाति है, यह दूसरेका परिवार है, यह दूसरेका धन है, यह दूसरेका धर्म है इत्यादि अन्यपनका भाव ही आजके मानवोंके व्यवहारमें स्पष्ट दिखाई देता है। हरएक कार्यक्षेत्रमें यह अन्यभावका व्यवहार है और आजकी मानवी उन्नतिकी जो सीमा है, इसमें यह अन्यभाव रहेगा ऐसाही दीखता है।

'**मैं**' और '**मैं नहीं**'; यह मेरा है और यह मेरा नहीं, इस तरहका व्यवहार अन्यभावसे होनेवाला व्यवहार है और यही आजकल सर्वत्र है। मानवी व्यवहारमें दिनरात यही व्यवहार चल रहा है। मानवी व्यवहारसे इस अन्यभावको छोडना प्रायः अशक्यसा हो चुका है, इतना यह मानवोंके साथ सुदृढ हो गया है।

२. द्वैत और द्वन्द्व

'**अन्य, भिन्न, भेद, द्वैत** और **द्वन्द्व**' ये पद इस अन्यभावके बोधक पद हैं। इनमें 'द्वन्द्व' पद युद्धका वाचक है। यद्यपि '**अन्य, भिन्न, भेद, द्वैत**' ये पद युद्धके वाचक नहीं हैं, तथापि वे युद्धकी स्थितिके निःसंदेह पोषक हैं। अन्यका अर्थही भिन्नता है, भिन्नता भेददर्शक है, भेदमें दो पक्ष होतेही हैं, दो पक्षोंमें द्वैत रहना अनिवार्य है और जहां दो पक्ष होंगे, वहां युद्धभी होगा ही। इस तरह अन्यभावसे भिन्नता, भिन्नतासे भेद, भेदसे द्वैत, द्वैतसे द्वन्द्व और द्वन्द्वकाही अर्थ युद्ध है। अर्थात् अन्यभावका परिणाम युद्धही है। इस समय इस विश्वमें 'अन्यभाव' का राज्य होनेके कारण चारों ओर हरएक कार्यक्षेत्रमें युद्ध और संघर्ष चल रहा है, अशान्ति बढ रही है, संहार हो रहा है। यह प्रत्यक्ष दीखनेवाली बात है, अतः इसकी सिद्धता करनेके लिये अन्य प्रमाण देनेकी आवश्यकता नहीं है। इस जगत्में सर्वत्र अन्यभावसेही सब व्यवहार चलाये जा रहे हैं, इसलिये हर जगह क्षणक्षणमें युद्ध जारी है। युद्ध बंद करनेके लिये भी बडी युद्धकी तैयारी की जाती है, इससे और बडे संघर्ष होते जाते हैं। इस तरह सब जगत् अशान्तिकी अग्निमें जल रहा है।

मानव जबतक अन्यभावसे व्यवहार करते रहेंगे, तबतक युद्धकी अग्नि भडक जाना अनिवार्यही है। अन्यभावसे व्यवहार करते हुए शान्तिकी इच्छा करना यह वैसाही है, जैसा कि धधकती हुई आग चारों ओर जलती रखकर बीचमें शीतलताकी इच्छा करना। यह सर्वथा असंभव है। पर आजके मानव 'शान्तिके लिये युद्धकी तैयारी' करनेके इच्छुक हैं और वैसा करते भी हैं। इसलिये वे युद्धके बीज बो रहे हैं और अशान्तिके फल भोग रहे हैं।

यदि हम किसी तरह मानवी व्यवहारसे इस '**अन्यभाव**' को हटा देंगे, तो युद्ध दूर होनेकी संभावना उत्पन्न हो सकती है।

पर जो अन्यभाव मानवोंके व्यवहारोंमें आ गया है और स्थान-स्थानपर घर करके बैठा है, वह कैसा दूर हो सकेगा? और यदि वह दूर नहीं होगा तो युद्धकी अग्नि भी कैसी शान्त होगी ? और संघर्षमय जीवन भी कैसा शान्तिका जीवन बनेगा ? यह एक बडा भारी प्रश्न हमारे सम्मुख है।

३. विश्वरूपमें अनन्यभाव है

भगवद्गीताके ग्यारहवें अध्यायने परमेश्वरका रूपही यह विश्व है, ऐसा बताकर इस विविधतापूर्ण विश्वको अनन्यभावसे युक्त बताया है। परमेश्वर एक अद्वितीय और अनन्य है। उसी एकका यह विश्वरूप है, अतः यद्यपि इसमें विविधता दीखती है तथापि ईश्वरके एक होनेसे एकता भी है। मनुष्य विश्वमें है, वह विश्वका एक अंश है, अतः यह विश्वके रूपमें समाविष्ट है, विश्वसे अपृथक्, अनन्य और अद्वितीय है। विश्वके साथ एकरूप है। विश्वसे यह पृथक् नहीं है। विश्वसे मनुष्यका अनन्यसंबन्ध है।

गीताके विश्वरूप-दर्शनने यह सिद्ध किया है कि, मनुष्य विश्वसे भिन्न नहीं है। जिस एक ईश्वरका यह सब विश्वरूप है, उसका एक बिन्दु यह मानव है। विश्वरूपमें सब मानवोंका सामूहिक रूप संमिलितही है, विश्वरूपसे वह पृथक् नहीं है।

यदि संपूर्ण विश्वका रूप एक अद्वितीय परमेश्वरका रूप है, तब तो इस विश्वमें सब मानव समाविष्ट होनेके कारण सब मानवोंके रूप विश्वरूपमें समाये हैं। अतः किसीका रूप विश्वरूपसे पृथक् नहीं है, इस कारण सब मिलकर अनन्य हैं। सब मिलकर एकही सत्ता अथवा एकही जीवन है। यहां पृथक् पृथक् अनेक सत्ताएँ नहीं हैं। सब मिलकर एकही ईश्वरका एकही अखण्ड, अद्वितीय और एकरस रूप है। इस तरह विश्वरूप का दर्शन कराकर गीताने अनन्यभावका संदेश दिया है। यहां प्रश्न हो सकता है कि क्या यह संदेश व्यवहारमें लाया जा सकता है? या यह केवल तात्त्विक सिद्धान्तिक चर्चामेंही रहनेवाला संदेश है? हम यह समझ रहे हैं कि गीताका उपदेश मानवी व्यवहारमें लानेके लियेही है, गीताका उपदेश केवल चर्चाके लियेही नहीं है। अतः सोचना चाहिये कि, यह अनन्यभाव किस तरह व्यवहारमें आ सकता है? यह बडा विचार करने योग्य प्रश्न है। पर इसका हल करना आवश्यक है। अनन्यभावके उपदेशके प्रसंगमें गीताने अनन्यभावसे उपासना या भक्ति करनेके लिये कहा है। देखिये -

४. अनन्यभक्ति और अन्यभक्ति

अनन्याश्चिन्तयन्तो मां ये जनाः पर्युपासते।
तेषां नित्याभियुक्तानां योगक्षेमं वहाम्यहम्।
येऽप्यन्यदेवताभक्ता यजन्ते श्रद्धयान्विताः।
तेऽपि मामेव कौन्तेय यजन्त्यविधिपूर्वकम्॥
(भ. गी. ९।२२-२३)

"(ये जनाः) जो लोग (अन्-अन्याः) अन्यभावसे व्यवहार न करनेवाले अर्थात् अनन्य होकर कार्य करनेवाले (मां उपासते) मुझ ईश्वरकी उपासना करते हैं, (तेषां नित्य-अभियुक्तानां) उन नित्य तत्परतासे कार्यमें निमग्न हुए लोगोंका (अहं योगक्षेमं वहामि) मैं योगक्षेम चलाता हूँ। पर जो (अन्य देवता-भक्ताः) देवताको अपनेसे अन्य या विभिन्न मानकर भक्ति करते हैं, वे विधि छोडकर क्यों न सही, परंतु ईश्वरकी ही भक्ति करते है।

अनन्यभक्त

यहां दो प्रकारके भक्त कहे हैं। एक '**अनन्याः चिन्तयन्तः नित्य-अभियुक्ताः**' अर्थात् जो अपने आपको ईश्वरसे अभिन्न समझनेवाले, इसी अभिन्नताका मनन करनेवाले, नित्य अपना कर्म कुशलताके साथ करनेवाले, नित्य सत्कर्ममें तत्पर रहनेवाले हैं, वे अनन्यभक्त कहलाते हैं। विश्वरूप ईश्वरमें अपने रूपका समावेश हुआ है, यह जाननेवाले, अपने आपको ईश्वरसे अभिन्न अनुभव करनेवाले, अतएव अपने आपको ईश्वरसे सदा अभिन्न या अनन्य देखनेवाले, सदा अपनी अवस्थिति ईश्वरमें है यह जाननेवाले, इसी अभिन्नता-की अर्थात् जीव-शिवकी एकताकी सतत अपने मनमें जाग्रति रखनेवाले और जो भी व्यवहार उनको करना पडे वह व्यवहार ईश्वरही ईश्वरके साथ व्यवहार कर रहा है, इस भावनासे करनेवाले जो भक्त हैं, वे अनन्यभक्त कहलाते है।

अन्यभक्त

दूसरे '**अन्य-देवता-भक्ताः**' कहलाते हैं। अपनेसे भिन्न देवता है और देवतासे भिन्न मैं हूं ऐसा मानकर किसी देवताकी भक्ति करनेवाले जो होते हैं, वे अन्यभक्त हैं। इनकी भक्ति विधिको छोडकर होती है, तथापि वे भक्ति करते हैं, अविधिपूर्वकही क्यों न सही, परंतु वे भक्त तो अवश्य हैं। विधिपूर्वक भक्ति न होनेसे उनके फलमें कुछ न कुछ त्रुटी

अवश्य रहेगी। परंतु इनमें अन्यभावकाही दोष विशेष है। इस विषयमें उपनिषदोंमें इस तरह कहा है–

> **येऽन्यथाऽतो विदुः, अन्यराजानस्ते क्षय्यलोका भवन्ति।** (छां. ७।२५।२)

'जो अपनेसे विभिन्न उपास्यको मानते हैं वे दूसरेको अपना राजा मानते हैं, अर्थात् वे दूसरेके गुलाम या दास बनते हैं, इसलिये उनके लोक क्षीणभावसे युक्त होते हैं।' यही देवताको अपनेसे विभिन्न माननेका दुष्परिणाम है। '**अन्य-राजानः**' यह भी एक बुराही परिणाम है। ये लोग दूसरेको अपना राजा करते हैं, और उनके गुलाम ये बनते हैं। स्वराज्य प्राप्त करके उसमें 'स्वराट्' बनना केवल अनन्यभावसे सिद्ध होनेवाली बात है। मैंही अपना राजा हूं, मैं स्वयंशासक हूं, यह बात अनन्यभावसे सिद्ध होनेवाली है। परंतु अन्यभावसे दूसरेकी गुलामी होती है, इसलिये 'अन्यदेवता भक्ताः' अविधिपूर्वक भक्ति करते हैं ऐसा कहा है। किसी दूसरेको अपने ऊपर राजा नियत करना और उसकी गुलामीमें रहना कोई ज्ञानी होनेका चिन्ह नहीं है। वेदका ज्ञान तो सबको आजादी देनेवाला है, सबको स्वातंत्र्य देनेवाला है। इसलिये 'अन्यभाव' सराहनीय नही है, इस विषयमें और भी एकवचन उपनिषद्का देखिये —

> **अथ योऽन्यां देवतामुपास्तेऽन्योऽसौ, अन्योऽहमस्मीति, न स वेद, यथा पशुः, एवं स देवानाम्। यथा ह वै बहवः पशवो मनुष्यं भुञ्ज्युः, एवमेकैकः पुरुषो देवान् भुनक्ति, एकस्मिन्नेव पशावादीयमानेऽप्रियं भवति, किमु बहुषु, तस्मादेषां तन्न प्रियं, यदेतन्मनुष्या विदुः॥** (बृ. १।४।१०)

'परंतु जो अन्य देवताकी उपासना करता है और मुझसे देवता विभिन्न है और मैं देवतासे भिन्न हूं ऐसा मानता है, वह मानो, देवताओंका पशुही है। जिस तरह अनेक पशु मनुष्यके लिये भोग देते हैं, इस तरह अकेला अकेला वह मनुष्य देवोंको भोग चढाता रहता है। हमारा एक पशु चुरा लिया गया, तो हमें कितना दुःख होता है! फिर अनेक पशु चुराये जानेपर तो बहुतही दुःख होगा। वैसेही मनुष्यको ब्रह्मज्ञान हुआ तो वह बात देवोंके लिये प्रिय नहीं लगती, क्योंकि उससे देवोंके भोग कम होते हैं।'

यहां अन्यभावकी भक्तिका कितना दुष्परिणाम है, यह स्पष्ट बताया है और यहभी बताया कि अन्य देवताकी भक्ति करना बुरा है। देवोंका पशु बननेसे स्वयं 'स्वराट्' बनना कई गुणा अच्छा है। जो भक्ति करनेके लिये देव और भक्तमें भेदभाव अवश्य चाहिये ऐसा मानते हैं, उनको गीताका तत्त्व नहीं समझा और उपनिषद्का भी तत्त्व उनके ध्यानमें नहीं आया, ऐसा समझना योग्य है। अन्यदेवता मानकर उसकी अन्यभावसे भक्ति करना, यह अविधिपूर्वक भक्ति है, ऐसा जो गीताने कहा उसका यह तात्पर्य है।

अनन्यभक्त श्रेष्ठ भक्त है और अन्यभक्त विधिहीन भक्ति करनेवाले हैं। अनन्यभक्त स्वयं देवतारूप बने होते हैं और अन्यभक्त देवतासे विभक्त होकर देवताके दास्यमें रहते हैं।

५. देव और भक्त

यहां '**देव** और **भक्त**' यह एक द्वन्द्व कहा है। इससे अनेक द्वन्द्वोंकी कल्पना की जा सकती है। देव और भक्त, राजा और प्रजा, मालिक और मजदूर, ऐसे अनेकानेक द्वन्द्व आप विचारमें ले सकते हैं। और यही परिणाम वहां देख सकते हैं।

जिस तरह अनन्यभक्ति करनेवाले भक्त अपने आपको देवतासे अनन्य, अपृथक् तथा अविभक्त मानते हैं और देवतारूप बनकर उसकी भक्ति करते हैं; उसी तरह स्वराज्यशासनमें प्रजा अपने आपको राज्यशासन-यन्त्रसे अनन्य, अपृथक् तथा अविभक्त मानती है और स्वयं अपना शासन अपने हितके लिये स्वयं करनेका अनुभव करती है, वह 'स्व-राट्' पदवीको प्राप्त होती है। इसी तरह मजदूरभी जहां अपने आपको मालिक समझते हैं, सब कारखाना अपनी मिलकियतका है ऐसा अनुभव करते हैं। अपने आपको मालिकसे अभिन्न, अपृथक् तथा अनन्य अनुभव करते हैं, वे भी अपने क्षेत्रमें 'स्व-राट्' ही हैं।

अब अन्यभावसे क्या होता है सो देखिये– पूर्वोक्त उपनिषद्वचनमें कहाही है कि, वे देवताके पशुके समान बनते हैं, वे देवताके गुलाम होकर रहते हैं, वे देवताके लिये भोग देते रहेंगे। यही बात राज्यशासनके विषयमें वैसाही अनर्थ करनेवाली है। अन्यभावके राज्यशासनमें प्रजा सम्राट्के भोग बढाती है, राजपुरुषोंके द्वारा दलित होकर पीसी जाती है।

प्रजा अपने आपको राज्याधिकारियोंसे विभिन्न मानती है, और राजा, राजपुरुष तथा प्रजामें बडा संघर्ष रहता है, इस कारण दोनोंके लिये दुःख होता रहता है। अन्यभावका परिणाम संघर्ष ही है। इसी तरह मालिक और मजदूरोंमें भी अन्यभावसे संघर्ष-ही सदा चलता रहता है। मालिक मजदूरोंसे ज्यादह काम लेनेकी इच्छा करता है और मजदूरी कम देना चाहता है और मजदूर भी वैसाही बदला लेनेका यत्न करते हैं। इस तरह अन्य-भावसे लडाई, झगडे और संघर्ष होते हैं। इसको उपनिषत्कारने '**अन्य राजानः**' दूसरेको राजा मानकर उसकी गुलामी करनेवाले कहा है, गीताने '**अन्य-देवताः**' अपनेसे विभिन्न देवताकी भक्ति करनेवाले कहा है। दोनोंका आशय एकही है। अपने ऊपर दूसरा राजा लाकर रखा, अथवा अपने ऊपर दूसरा देव लाकर रखा अथवा किसी दूसरे मालिकके नीचे यह कार्य करने लगा, तो सबका तात्पर्य एकही है। यह गुलामी ही है। अन्यभावमें दूसरेकी गुलामी स्वीकारनी पडती है। दोनोंमें जो प्रबल होगा, वह दूसरेको गुलाम करेगा और गुलामी-में असह्य दुःखही दुःख है। इसलिये अन्यभाव दुःख बढानेवाला है। और अनन्यभाव सुखका संवर्धन करने-वाला है।

धर्मव्यवस्थामें, राज्यव्यवस्थामें, उद्योगव्यवस्थामें तथा अन्य सब व्यवस्थाओंमें जहाँ जहाँ यह अन्यभाव रहेगा, वहीं वह पीडाही उत्पन्न करेगा। और जहां अनन्यभाव रहेगा, वहां सुख बढेगा। इसीलिये गीताने 'अनन्यभाव' का पुरस्कार किया है और 'अन्यभाव' को बुरा कहकर उससे दूर रहनेके लिये आदेश दिया है। अनन्यभक्तोंकी सब प्रकारकी जिम्मे-वारी भगवान् अपने सिरपर लेते हैं, इसका कारण यही है।

विश्वरूप ईश्वरमें अपने आपकी स्थितिका अनुभव करना और अपने आपको ईश्वरसे अभिन्न, अपृथक् और अनन्य मानना, यही इस अनन्यभक्तिमें मुख्य है। राज्यव्यवस्थामें भी प्रत्येक प्रजाजन अपने आपको राज्यशासनसे अपृथक्, अनन्य और अभिन्न समझे और अपनी इच्छाका सूत्रपात राज्य-शासनमें देखे, यह 'स्वराट्' बननेका श्रेष्ठ स्वराज्यशासनसेही सिद्ध हो सकता है। सब कारखाना व्यवहारतः अपना है, ऐसा यदि प्रत्येक मजदूरको विदित होगा, तो उसकी परवशता तत्काल दूर होगी और वह अपने आपको उसका स्वामी मानने लगेगा। यहां विचारक यह ठीक तरह समझें कि जो बात 'देव और भक्त' में है, वही 'राजा और प्रजा' में है, और वही 'मालिक और मजदूर' में है। मूल नियममें कोई भिन्नता नहीं है। सर्वत्र नियम एकही कार्य कर रहा है। अभिन्नताका, अनन्यताका, अपृथग्भावका नियमही सर्वत्र सुख देनेवाला है और पृथग्भावसे सर्वत्र लडाई, झगडेही होनेवाले हैं।

६. देवविज्ञान, भूतविज्ञान और आत्मज्ञान

आजतक भक्तिके नियम राज्यशासन और व्यापार व्यव-हारमें किसीने लगाये नहीं हैं। इसलिये वही बात यहां हमने अधिक स्पष्ट करके बतायी है। वेद, उपनिषद्, गीता आदि ग्रंथोंमें दैवतविज्ञानही कहा जाता है, क्वचित् कदाचित् भूतविज्ञान अथवा मानवधर्म-विज्ञान किसी स्थानपर कहते हैं। परंतु सर्वत्र दैवतविज्ञानही कहा जाता है। उस दैवतविज्ञानसे मनुष्योंने मानवी व्यवहारका विज्ञान जानना चाहिये। यह सार्वत्रिक नियम है, परंतु यह नियम आजकलके लोग भूल गये हैं। इसलिये यहां अन्यभक्ति और अनन्यभक्ति केवल आधिदैवत क्षेत्रमें ही लेनेकी नहीं है, प्रत्युत अधिभूत क्षेत्रमें तथा अधियज्ञ अथवा अधिकर्म क्षेत्रमेंभी देखने योग्य है, यह विशेष रूपसे बताया है। गीताका विचार करनेवाले इसका विशेष रूपसे विचार करें। '**यद्देवा अकुर्वंस्तत्करवाणि**' जैसा देवोंने किया वैसा हम आचरण करते हैं। इस वचनसे पूर्वोक्त नियमकी सिद्धि होती है। आजकल कोई इस तरह भक्तिको राजकीय क्षेत्रमें वा उद्योगक्षेत्रमें नहीं देखते, यह उनका दोष है। हमें अब इस नियमका पता लगा है, इसलिये हम मानवी व्यवहारके सभी पहलुओंमें अन्यभाव तथा अनन्यभावके आचरणसे क्या क्या परिणाम होंगे सो देख लेंगे। गीताके सभी आधिदैविक वर्णन मानवी व्यवहारमें इस तरह देखनेसेही गीताका उपदेश व्यव-हारमें किस तरह लाया जा सकता है, इसका ज्ञान होना संभव है।

७. भक्त और भक्ति

भक्त और भक्तिका स्वरूप तथा उनके कर्तव्योंका अब विचार करना चाहिये। 'भज् = सेवायां' इस धातुसे भक्ति और भक्त पद बने हैं। '**भजते यः सः भक्तः**' जो सेवा करता है वह भक्त है। 'भज्' धातुका अर्थ 'सेवा करना, पूजा करना, आदर सत्कार करना है'। अर्थात् भक्तका अर्थ 'सेवा करनेवाला, पूजा करनेवाला, आदर सत्कार करनेवाला' है। आजकल भक्त वह कहा जाता है कि जो 'ईश्वरके नामका

जप करता रहता है।' पर गीताकी दृष्टिसे वही कर्म भक्तका नहीं है। सेवाभाव मुख्य है, पूजाभाव तथा आदरभाव मुख्य है। जिसके मनमें आदरभाव है, पूजाभाव और सेवाभाव है, वह भक्त है।

अपने कर्मसे अनन्यभावसे विश्वरूप ईश्वरकी सेवा करना, पूजा करना तथा उसके विषयमें आदर व्यक्त करनाही भक्ति है। और यह भक्ति 'मैं उपास्यसे पृथक् नहीं हूँ,' ऐसा मानकर करनी चाहिये।

जो तो अपने आपको विश्वरूपका अंश अनुभव करता है और इस विश्वरूपको-परमेश्वरका रूप जानता और मानता है, वह ईश्वरसे अपने आपको अनन्य, अविभक्त तथा अपृथक् समझकरही, जो कुछ कर्म करना होगा वह करेगा। जब यह अनन्य संबंध ईश्वरके साथ अपना अटूट है, इसका ज्ञान इसको होगा, तब इसका ईश्वरके साथ नित्ययोगही होता रहेगा। इसीको गीताने '**नित्ययुक्तः; नित्य-अभि युक्तः**' कहा है। इसका योग ईश्वरके साथ सतत, दिनरात और प्रतिक्षण होता रहेगा, इसमें कभी वियोग होनेकी संभावना नहीं है। विश्वरूपका ठीक ठीक ज्ञान हो जानेपरही यह 'नित्य-योग' होना संभव है। क्योंकि जो विश्वरूपको समझ चुके हैं, वे विश्वरूपसे अपने आपको किस तरह पृथक् समझ सकेंगे? वे तो विश्वरूपसे अपने आपके अनन्यत्व अर्थात् एकरूपत्वकाही अनुभव कर सकते हैं।

'अनन्य'का अर्थ गीताके अनुवादकोंने बडा विलक्षण किया है। देखिये–

अनन्याश्चिन्तयन्तो मां..... ॥

I. Those people who, thinking on Me with singleness of purpose (Dr. Belvalkar)

II. Those who worship Me alone thinking of no other (Annie Besant)

इसी तरह 'अनन्य'का अर्थ आजकल समझा जाता है, परंतु पूर्वोक्त कारणसे वह अर्थ ठीक नहीं है। इसका वास्तविक ठीक भाव यह है–

III. Those, who identify themselves with me, realize that they are not separate from Me, meditate on Me (or think of Me, or worship Me).

'अनन्य होकर मेरा चिन्तन, ध्यान या पूजन वा आदर सत्कार करते हैं।' यह इसका वास्तव अर्थ है। पर 'मुझे छोडकर किसी अन्य देवताकी पूजा नहीं करते' ऐसा अर्थ अनन्य भावका मानते और करते हैं। वह सुतरां अशुद्ध है और गीताके सिद्धान्तसे वह अर्थ बहुतही दूर है।

विश्वरूपका सिद्धान्त ठीक तरह न समझनेसे यह अर्थका अनर्थ हो गया है। अनन्य भक्त श्रेष्ठ भक्त है, क्योंकि वे ईश्वर-स्वरूप बनकर भक्ति करते हैं, सेवा करते हैं। सबका समानतया आदर सत्कार करते हैं। अनन्य होकर जो भक्ति करते हैं वेही श्रेष्ठ भक्त और ये विधिपूर्वक भक्ति करनेवाले भक्त हैं। येही नित्य-अभि-युक्त अर्थात् सब प्रकारसे सर्वकाल भक्ति करनेवाले हैं। इनसे जो होता है, वह ईश्वरकाही सदा सत्कार होता है। ये जो भी करते रहते हैं, वह इनसे ईश्वरकीही सेवा होती रहती है। इनका ईश्वरके साथ सदा संबंध रहता है, संबंध कदापि त्रुटित नहीं होता।

ईश्वरकी भक्ति

ईश्वरका रूप क्या है और उसकी भक्ति क्या है, इसका विचार अब करना चाहिये। ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य और शूद्र ये ईश्वरके सिर, बाहू, उदर और पांव हैं। पशु पक्षी वृक्ष वनस्पतियों तथा जल, स्थल, काष्ठ, पाषाण आदि सबका सब वस्तुजात परमेश्वरका स्वरूप है। इसके साथ आदरका बर्ताव करना चाहिये, इसका सत्कार करना चाहिये, इसकी सेवा करनी चाहिये।

यह सच्ची भक्तिका स्वरूप है। भक्ति मुख्यतः सेवा ही है। वह सेवा आदर और सन्मानके साथ होनी चाहिये। यह संपूर्ण विश्वही सेव्य है। जहां जैसी सेवा करनी आवश्यक होगी, वहां वैसी सेवा करना भक्तका कर्तव्य है। पर यह सेवा अनन्य भावसे करनी चाहिये।

ईश्वर और भक्तका एक द्वन्द्व यहां कहा है, राजा प्रजाका दूसरा द्वन्द्व है, मालिक मजदूरका तीसरा द्वन्द्व है। वैद्य और रोगीका चौथा द्वन्द्व है। गुरुशिष्यका पांचवाँ द्वन्द्व है। ऐसे अनेक द्वन्द्व इस विश्वमें हैं। उन सबमें अनन्यभाव सुस्थिर रूपसे रहना चाहिये। वैद्य या डाक्तरके मनमें ऐसा भाव रहना चाहिये कि

'मेरा और रोगीका मिलकर एकही अखण्ड और अनन्य जीवन है।' इस आत्मीयताके भावसे रोगीकी सेवा करनी चाहिये। सभी द्वन्द्वोंके विषयमें यही अनन्यभाव रहना चाहिये। किसी भी स्थानमें अन्यभाव रहा तो वह सेवा विधिपूर्वक नहीं होगी और अन्यभावके सब दोष वहां उत्पन्न होंगे। इस भयसे दूर रहना चाहिये।

अनित्य भक्त

पूर्व स्थानमें नित्य भक्तके गुणोंका वर्णन किया गया है। दूसरे भक्त 'अनित्य भक्त' हैं। ये अनित्य भक्त अपना ईश्वरके साथ संबंध नित्य है ऐसा नहीं जानते। जिस किसी समय हम मंदिरमें जायंगे, वहां जाकर भजन अथवा पूजन करेंगे, उसी समय ईश्वरके साथ अपना संबंध होगा तथा जिस समय हम मंदिरमें नहीं रहेंगे, भजनपूजन नहीं करेंगे, उस समय हमरा ईश्वरके साथ संबंध नहीं है, ऐसा इनका ख्याल है। सदा सर्वदा ये समझते हैं कि ईश्वर अपनेसे भिन्न है और हम ईश्वरसे भिन्न हैं। इनकाही नाम **'अन्य-देवताः'** **'अन्य-राजनः'** वा **'अनित्य-भक्ताः'** है।

ये ऐसा मानते हैं कि देवता मंदिरमें हैं और हम प्रपंचके कार्यव्यवहारमें हैं, प्रपंचके इस नश्वर जगत्के व्यवहारमें ईश्वर कहां है? परमार्थ तो इस दुःखमय प्रपंचसे सर्वथा पृथक् है। हम जिस समय मंदिरमें जायंगे, उस समय देवतापर भोग चढावेंगे, उससे देवताका संतोष होगा, उसकी कृपासे हमारे पाप दूर हो जायगे। मंदिरमें भक्ति करनी होती है, घरमें और बाजारोंमें व्यवहार होता है। भक्ति भिन्न है और व्यवहार भिन्न है, ऐसा ये लोग मानते हैं, इसलिये ये व्यवहारमें मनमाना छल कपट करते रहते हैं और उससे जो लाभ होगा उसमेंसे कुछ भाग देवताको अर्पण करते हैं। यह है अन्य देवताकी भक्ति!!! ये नहीं जानते कि हमारा छल कपट पूर्वक किया हुआ व्यवहार ईश्वरसेही किया गया व्यवहार है और हमने छल कपटसे किये कमाईका भाग देवताको देकर हमने देवताको ही अपने छलकपटमें भागी बनाया है!! अस्तु, इस तरह विश्वरूपका यथार्थ ज्ञान न होनेके कारण व्यवहारमें और परमार्थमें जो विभेद माना गया है, उस कारण कितने अनर्थ हो गये हैं। यद्यपि ये अन्यदेवता माननेवाले ईश्वरकाही भजनपूजन करते हैं, परंतु वह विधिहीन भजनपूजन है और यह अनर्थकारक भी है।

इन अन्य देवताके भक्तोंसे ईश्वरकी भक्ति सदा नहीं हो सकती। ये किसी समय भक्ति करेंगे और किसी समय व्यवहार करते रहेंगे।

परंतु जो **'अनन्य भक्त'** हैं अर्थात् संपूर्ण विश्वरूपको परमात्माका रूप मानते और जानते हैं, वे अपने आपको ईश्वरांश अनुभव करते हैं और संपूर्ण विश्वको भी ईश्वरस्वरूप देखते हैं। इस तरह अपना और विश्वका अनन्य संबंध है, यह देख कर वे जो व्यवहार करते अथवा जो भी कुछ करते हैं, वह उनका कर्म ईश्वरके साथही होता रहता है। इसलिये उनका व्यवहार और परमार्थ एकही बना होता है। जहां वे जायंगे वहां उनका उपास्य उपस्थित है और वहां वे उसकी भक्ति अर्थात् सेवा करेंगे। कोई क्षण ऐसा नहीं होगा कि जिसमें वे ईश्वरसे दूर होंगे और उनसे ईश्वर दूर रहेगा। वही संपूर्ण पपंचको परमार्थ बनाना है। जीवितके सब क्षणोंमें इसीसे परमेश्वरकी अखण्ड भक्ति हो सकती है। यही अनन्य भक्ति है और यही विधिपूर्वक भक्ति है, अतः यही कृतार्थ करनेवाली है।

बहुत लोग ऐसा समझ रहे हैं कि व्यवहार और ईश्वर-भक्तिमें भिन्नता है। कई लोग रविवार या शुक्रवारके दिन मन्दिरमें जाकर प्रार्थना करनेमें ईश्वरकी भक्ति हुई ऐसा समझते हैं। कई लोग एकादशी, शिवरात्रि, सोमवार आदि दिनोंमें ईश्वरकी भक्ति करनी होती है, ऐसा मानते हैं। इस तरह कई लोग समझते हैं कि मन्दिरों, गिरजाघरों और मस्जिदोंमें जानेसे अथवा काशी, रामेश्वर, जेरुशलेम, मक्का-मदिना आदि स्थानों जानेसेही ईश्वरभक्ति हो सकती है। वे सब मतवाले लोग अपने आपको तथा सब विश्वको ईश्वरसे सर्वथा पृथक् माननेवाले हैं। ये जो करते हैं वह अन्यदेवता-भक्तिही है, यह सब अविधिपूर्वककी हुई प्रक्रिया है और इसका परिणाम मानवी मनकी गुलामी ही है। दूसेरको अपने सिरपर राजा करके बिठलाना और स्वयं उसका दास बननेके समान यह हानिकारक है।

इस तरह अनन्य भक्ति श्रेष्ठ है। वे बैठते हैं तो ईश्वरमें बैठते हैं, वे उठते हैं तो ईश्वरमें उठते हैं, वे बोलते हैं तो ईश्वरके साथ बोलते हैं और वे जो व्यवहार करते हैं वह ईश्वरके साथही व्यवहार करते हैं। इसी कारण वे 'नित्याभियुक्त' अर्थात् ईश्वरके साथ नित्य संयुक्त हुए रहते हैं। अतः उनका सभी व्यवहार ईश्वरके साथही होता रहता है। इसलिये उनका

ऐसा एकभी क्षण नहीं होता, कि जिसमें वे अपने ईश्वरसे पृथक् हुए हों।

९. अनन्यभक्तिसे लाभ

पुरुषः स परः पार्थ भक्त्या लभ्यस्त्वनन्यया।
(गी. ८।२२)

पूर्वोक्त प्रकार की हुई अनन्यभक्तिसेही उस परम पुरुषकी प्राप्ति होती है। '**परः पुरुषः अनन्यया भक्त्या लभ्यः**' का अर्थ भी अनुवादकोंने विलक्षण किया है। 'The supreme person is attained by single-pointed devotion.' (Dr. Belvalkar)

'The highest spirit may be reached by unswerving devotion to Him alone.' (Annie Besant)

'अनन्यभक्ति' का अर्थ 'एकाग्र भक्ति' ऐसा समझा जाता है, पर यह अर्थ ठीक नहीं है। उपास्य देवताको छोडकर किसी अन्य देवताकी भक्ति न करना यह भी अर्थ इसका समझते हैं। पर ये अर्थ अशुद्ध हैं। इस विश्वमें दूसरा कोई नहीं है, केवल अकेला एकही प्रभु विश्वरूप होकर यहां है, ऐसा निश्चित रूपसे समझ कर की हुई उसकी भक्ति अनन्य भक्ति है। गीतामें 'अनन्य' पदका यह अर्थ है और यही महत्त्वका सिद्धान्त है। इसको ठीक तरह समझनेके विना गीताका आशय समझना असंभव है। यही अनन्यभावका सिद्धान्त गीताने निम्नलिखित श्लोकमें अधिक स्पष्ट किया है-

भक्त्या त्वनन्यया शक्य अहमेवंविधोऽर्जुन।
ज्ञातुं द्रष्टुं च तत्त्वेन प्रवेष्टुं च परंतप॥
(गी. ११।५४)

'इस तरह की गयी अनन्य भक्तिसेही (अहं) मुझको अर्थात् ईश्वरको (द्रष्टुं) देखनेकी, (ज्ञातुं) जाननेकी और (तत्त्वेन प्रवेष्टुं) तत्त्वतः ईश्वरमें प्रविष्ट होनेकी संभावना हो सकती है।' यहां ईश्वरको (द्रष्टुं) देखनेकी शक्यता लिखी है, अर्थात् इस विश्वरूपसेही ईश्वर देखा जा सकता है, यह स्पष्ट है। (ज्ञातुं) ईश्वरको जाननेका अर्थ ही विश्वको और विश्वरूपको अर्थात् उसके अन्तर्गत पदार्थोंका जानना है।

यहां 'प्रवेष्टुं' अर्थात् 'ईश्वरके अन्दर प्रविष्ट होना' लिखा है। विश्वरूप ईश्वर माननेपरहि उसमें प्रविष्ट होना संभवनीय है। तत्त्वतः सब मानव ईश्वरमें प्रविष्ट हुए हैं। वे अपना प्रवेश ईश्वरमें है यह बात जानें या न जानें, यह बात दूसरी है, परंतु विश्वरूप ईश्वरमें वे प्रविष्ट हैं, इसमें संदेह नहीं। अनन्य होनेसेही ईश्वरमें अपना प्रवेश हुआ है, इसका ज्ञान हो सकता है।

विश्वरूप ईश्वर देखा जाता है, विश्वरूप ईश्वर जाना जाता है और विश्वरूप ईश्वरमें अपना प्रवेश भी है। यह बात इस वचनमें स्पष्ट हुई है। जो ईश्वर आजकल लोग मानते हैं न वह देखा जाता है, न जाना जाता है, और नाही उसमें अपना प्रवेश होनेका ज्ञान किसीको प्रत्यक्ष रूपसे हो सकता है। अतः '**ज्ञातुं, द्रष्टुं, प्रवेष्टुं**' ये गीताके तीन पद विश्वरूप ईश्वरका वर्णन करनेके लिये ही प्रयुक्त हुए हैं, अतः ये पद अत्यंत महत्त्वके हैं। इनमें '**द्रष्टुं**' पदसे ईश्वरके विश्वरूपका देखना ही विवक्षित है, इसमें संदेह नहीं हो सकता। उपनिषदोंमें भी कहा है-

आत्मा वा अरे द्रष्टव्यः श्रोतव्यो मन्तव्यः।
(बृ. उ.)

'आत्मा देखना चाहिये, आत्माका वर्णन सुनना चाहिये और आत्माका मनन करना चाहिये।' इस उपनिषद्वचनमें '**द्रष्टव्य**' पदसे आत्मा देखा जाता है ऐसा स्पष्ट रूपसे प्रतीत होता है। विश्वरूप आत्माही देखा जाता है, अथवा देखा जाना संभव है। इसलिये इस उपनिषद्के वचनमें भी विश्वरूप आत्माकाही वर्णन है। इस तरह परमेश्वर विश्वरूप है, यहं गीताका सिद्धान्त माननेपरही उसके साथ अपना अनन्य भाव जाना जा सकता है। यह अनन्य भाव ठीक ठीक रीतिसे सबसे प्रथम जानना और अनुभव करना चाहिये। क्योंकि गीताने जो कुछ विशेष कहा है वह यही है।

इस स्थितिका वर्णन करनेके लिये हम एक दो उदाहरण लेते हैं। एक जलबिन्दु जीव है और महासागर विश्वरूप परमेश्वर है। वह जलबिन्दु महासागरमें कहीं भी घूमे, परंतु सदा वह बिंदु उस महासागरका भाग बनकरही रहेगा, अर्थात् वह महासागरसे अभिन्न वा अनन्यही रहेगा। वह महासागरका 'मैं अंश हूं और महासागर मेरा अंशी है, ऐसा जानेगा और अपना उससे अनन्य संबंध है यह बात वह कभी भूलेगा नहीं। यही अनन्य भाव है। हम परमेश्वरमें वैसेही हैं जैसे जलबिन्दु

महासागरमें। गीतामें कहा ही है 'कि ईश्वरका अंश जीव बना है।'

बाहर वायु है उसका अंश हमारा प्राण बना है और श्वास-उच्छ्वासका कार्य करता है। यह हमारा प्राण बाह्य वायुसे अभिन्न तथा अनन्यही है। इस तरह यह अनन्य भाव देखना चाहिये।

ईश्वरके मुख बाहु घुटने और पाव क्रमशः ब्राह्मण क्षत्रिय वैश्य शूद्र हैं। इनका परस्पर संबंध कैसा रहना चाहिये? इस प्रश्नका उत्तर हमें यहां मिलता है। ब्राह्मण क्षत्रिय वैश्य शूद्र अथवा राष्ट्रके ज्ञानी शूर व्योपारी और कारागिर ये अपने आपको परस्परसे पृथक् न समझें, परंतु अनन्य तथा अपृथक् समझें। और अनन्यभावसे अपना व्यवहार करें। अनन्यभाव अभेद्य संघटनाका द्योतक है।

हमारे देहमें सिर बाहु उदर और पांव ये यद्यपि परस्पर पृथक्से दीखते हैं तथापि वे इस देहसे अनन्य या अपृथक् हैं। जबतक ये अनन्य रहेंगे तबतकही देह सुरक्षित रहेगा, जिस समय ये पृथक् होंगे अथवा पृथक् भावसे बर्तेंगे उस समय देहका नाशही होगा।

राष्ट्रके ज्ञानी शूर किसान और कारीगर अनन्यभावसे सुसंगठित होंगे, या रहेंगे, तबतकही राष्ट्रका बल बढता जायगा, जिस समय उनका अनन्यभाव नष्ट होगा और हरएक अपने आपको पृथक् समझता जायगा, अपने आपको पृथक् मानेगा तब उस राष्ट्रका बल सर्वथा नष्ट होता जायगा।

शत्रुका आक्रमण उसी समय होता है कि जिस समय राष्ट्रमें अन्यभाव बढा है। और शत्रुको परास्त करना हो तो राष्ट्रीय जीवनमें अनन्यभाव बढाना चाहिये, अथवा जो अनन्यभाव है उसको जाग्रत करना चाहिये। अनन्य भक्तिका राष्ट्रीय जीवनमें इसी तरह परिवर्तन होता है।

मानवोंके सभी व्यवहार इस अनन्यभावसे होने चाहिये, यह गीताका संदेश है। तथा और देखिये—

नित्ययुक्त योगी

अनन्यचेताः सततं यो मां स्मरति नित्यशः।
तस्याहं सुलभः पार्थ नित्ययुक्तस्य योगिनः १४
मामुपेत्य पुनर्जन्म दुःखालयमशाश्वतम्।
नाप्नुवन्ति महात्मानः संसिद्धिं परमां गताः १५

(गी. ८)

'जिसका चित्त अनन्यभावसे युक्त है और जो अनन्यभावसे सदा-ईश्वरकी-सेवा करता है, उस नित्ययुक्त योगीके लिये मैं सुलभतासे प्राप्त रहता हूँ। इस तरह मुझ-ईश्वरको-प्राप्त करनेपर पुनर्जन्म, दुःख और क्षणभंगुरताके भाव उससे दूर होते हैं, क्योंकि ये महात्मा लोग परम सिद्धिको प्राप्त हुए होते हैं।'

नित्ययुक्त योगी वह है कि जो परमेश्वरसे सदाही संयुक्त रहता है, कभी वियुक्त नहीं होता और अपना कर्तव्य अनन्यभावसे करता है। विश्वरूप परमेश्वरसेही किसीको नित्य संयुक्त रहनेकी संभावना है। मनुष्यका सभी व्यवहार विश्वरूपके साथ सदा होता रहता है। अर्थात् हरएकका व्यवहार सदा विश्वके साथ होता ही है। उस व्यवहारको ईश्वरके साथ करने योग्य व्यवहारके समान करना, यही यहाँ मुख्य है। ऐसे योगीके लिये किसी तरहका कोई भय नहीं रहेगा।

पूर्व श्लोकमें '**नित्य-अभि युक्त**' पद है और इस श्लोकमें '**नित्य युक्त**' पद है। दोनोंका आशय एकही है। तथा इनका संबंध अनन्यभावके साथ घनिष्ठ है। नित्य युक्तके विषयमें निम्न लिखित श्लोक देखने योग्य हैं—

तेषां ज्ञानी नित्ययुक्त एकभक्तिर्विशिष्यते।
प्रियो हि ज्ञानिनोऽत्यर्थं अहं स च मम प्रियः॥१७॥
उदाराः सर्व एवैते ज्ञानी त्वात्मैव मे मतम्।
आस्थितः स हि युक्तात्मा मामेवानुत्तमां गतिम्॥१८
वासुदेवः सर्वमिति स महात्मा सुदुर्लभः॥१९॥

(गी. ७।१७-१९)

'इनमें ज्ञानी नित्ययुक्त होता है और वही ज्ञानी एकभक्ति करता है। ज्ञानी ही मेरा आत्मा है और वही युक्तात्मा है, क्यों कि यही सब कुछ वासुदेव है, ऐसा अनुभव करता है।'

यहांका ज्ञानी 'सब विश्वको जो परमेश्वर मानता है वही है।' ज्ञानीका यही प्रधान लक्षण है। 'वासुदेवही सब कुछ है' ऐसा समझनाही ज्ञान है। यह संपूर्ण विश्वको परमेश्वरका रूप मानता है, अपने आपको उस रूपमें देखता है और विश्वरूप परमेश्वरसे स्वयं अनन्य होता है। यही **नित्ययुक्त, नित्याभियुक्त** तथा **युक्तात्मा** हो सकता है। क्योंकि इसके लिये परमेश्वरसे भिन्न कोई वस्तु यहां नहीं होती। जिस किसीके साथ उसका संबंध होता है, वह ईश्वरका रूपही

होता है, अतः उसका ईश्वरके साथ नित्य-संबंध आता है, अतः उसका नित्ययुक्त होना एक सहजही सिद्ध होनेवाली बात है। यही बात गीतामें इस तरह कही है-

महात्मानस्तु मां पार्थ दैवीं प्रकृतिमाश्रिताः।
भजन्त्यनन्यमनसो ज्ञात्वा भूतादिमव्ययम् ॥१३॥
सततं कीर्तयन्तो मां यतन्तश्च दृढव्रताः।
नमस्यन्तश्च मां भक्त्या नित्ययुक्ता उपासते ॥१४
ज्ञानयज्ञेन चाप्यन्ये यजन्तो मामुपासते।
एकत्वेन पृथक्त्वेन बहुधा विश्वतोमुखम् ॥१५॥

(गी. ९)

'दैवी प्रकृतिका आश्रय करके अनन्य मन होकर वे मेरा भजन करते हैं, मेरी सेवा करते हैं। सदा मेराही वर्णन करते हैं, दृढव्रती होकर जो यत्नके साथ मेरीहि सेवा करते हैं। वे नित्ययोगी कहलाते हैं। एकत्वसे तथा पृथक्त्वसे वे विश्वतो-मुख परमेश्वरकीही भक्ति या सेवा करते है।'

यहां परमेश्वर '**विश्वतो-मुख**' है, ऐसा कहा है। सब ओर जिसके अनन्त मुख हैं, ऐसा यह सब प्राणी-समष्टि-रूपही विश्वरूपी प्रभु है। यह सदा सेवा करने योग्य है। मानव प्राणी, गवादि पशु, येही विश्वतो-मुख परमेश्वरके सर्वत्र मुख हैं। येही मनुष्यके लिये संसेव्य हैं। नित्ययुक्त, युक्तात्मा, नित्याभि-युक्त होकर जिस प्रभुकी सेवा करनी चाहिये, वह यही विश्व-रूप प्रभु विश्वतो-मुख है। इसका दर्शन करो और इसीकी सेवा करो।

१०. अनन्ययोग

गीताने कहा अनन्ययोग सिद्ध करनेकी रीति यही है। इस विषयमें निम्न लिखित श्लोक देखो-

मयि चानन्ययोगेन भक्तिरव्यभिचारिणी।

(गी. १३।११)

क्लेशोऽधिकतरस्तेषां अव्यक्तासक्तचेतसाम्।
अव्यक्ता हि गतिर्दुःखं देहवद्भिरवाप्यते ॥ ५ ॥
ये तु सर्वाणि कर्माणि मयि संन्यस्य मत्पराः।
अनन्येनैव योगेन मां ध्यायन्त उपासते ॥ ६ ॥
तेषामहं समुद्धर्ता मृत्युसंसारसागरात्।
भवामि न चिरात् पार्थ मय्यावेशितचेतसाम् ॥ ७ ॥
मय्येव मन आधत्स्व मयि बुद्धिं निवेशय।
निवसिष्यसि मय्येव अत ऊर्ध्वं न संशयः ॥ ८ ॥

(गी. १२)

'ईश्वरकी अनन्ययोगसे अव्यभिचारिणी भक्ति करनी चाहिये।' अनन्ययोगसेही सच्ची अव्यभिचारिणी भक्ति होगी। क्योंकि जहा दूसरा उपास्य कोई होगा, वहाँ एक उपास्यको छोडकर दूसरे उपास्यका स्वीकार करनेकी संभावना हो सकेगी। परंतु एकही एक विश्वरूप परमेश्वर जहां होगा, वहाँ भक्तिमें व्यभिचार, अर्थात् एकको छोडकर दूसरेकी भक्ति करनेकी संभावनाही नही रहेगी। अतः विश्वरूप ईश्वरका स्वीकार करने परही ईश्वरसे अनन्ययोग और अव्यभिचारिणी भक्ति होनेकी संभावना है। आगे कहते हैं—

'जो सब कर्म मुझ-ईश्वरमें-समर्पण करते हैं और अनन्य-योगसे मेरी ध्यानद्वारा उपासना करते हैं, उनका उद्धार मैं करता हूं। मुझ-ईश्वरमें मन लगा दो, मुझ ईश्वरमें बुद्धि लगा दो, ऐसा करनेसे तू मुझ ईश्वरमेंही रहेगा, इसमें संदेह नहीं है।'

यहां भी देखिये कि सब कर्म ईश्वरमें अर्पण करने हैं। यदि ईश्वर विश्वरूप होगा, तभी सब कर्मोंका ईश्वरमें समर्पण होना संभव है। क्योंकि विश्वके साथही मनुष्यके सब कर्म होते हैं। कोई ऐसा कर्म नहीं है कि जो विश्वके साथ न होता हो। इस कारण विश्वरूप ईश्वरका स्वीकार करनेसेही अपने सब कर्मोंका संबंध ईश्वरके साथ आ सकता है। '**मयि निवसिष्यसि**' मुझमें निवास अर्थात् ईश्वरमें निवास भी तब होगा कि जब विश्वरूप ईश्वरका स्वीकार होगा। इस तरह विश्वरूप ईश्वरका स्वीकार करनेसेही '**अनन्य-योग, अव्यभिचारिणी भक्ति, ईश्वरमें संपूर्ण कर्मोंका समर्पण, ईश्वरमें मन और बुद्धिको लगाना और ईश्वरमें निवास करना**' ये सब बातें सिद्ध होंगीं। तथा—

अभ्यासयोगयुक्तेन चेतसा नान्यगामिना।
परमं पुरुषं दिव्यं याति पार्थानुचिन्तयन् ॥

(गी. ८।८)

'अभ्यासयोगमें युक्त हुए अनन्यगामी चित्तसे चिन्तन करनेसे साधक परम दिव्य पुरुषको प्राप्त होता है।' यहां 'अनन्य-गामी चित्त' की प्रशंसा की है। जहां उपास्य होने योग्य अनेक आकर्षक देव होंगे, वहां एकपरही मन लगाना

और दूसरेपर न लगाना, यह संभवही नहीं है। मन ऐसा चंचल है कि, वह किस समय खिसककर दूसरेपर चला जायगा, इसका कोई नियम नहीं है। अतः अनेक विभिन्न देवता आकर्षणके योग्य माननेसे एकपरही चित्त टिकेगा, यह संभवही नहीं है। परंतु यदि विश्वरूप एकही परमेश्वर है, यह सिद्धान्त प्राप्त हुआ, तब तो विश्वभरमें कहां भी मन गया, तोभी वह विश्वरूपी एकही परमेश्वरपरही टिकेगा और आपही आप उसका अन्यत्र दौडना बंद होगा।

सर्दीमें अग्निके साथ प्रेम और गर्मीमें शीत जलसे प्रेम होना स्वाभाविकही है। परंतु जब विश्वरूप परमेश्वरका स्वीकार करनेपर जल और अग्नि ये दोनों रूप परमेश्वरकेही हो गये, तो फिर अग्निपर प्रेम हो या जलपर, वह सब एकही ईश्वरपर प्रेम होगा और चित्तका सञ्चार विभिन्न स्थानोंमें होनेका दोष न होते हुए, चित्त कहीं गया, तो वह एकही ईश्वरके रूपमें सुस्थिर रहेगा। इस तरह विश्वरूप ईश्वरमेंही "**चित्तका अनन्यगामित्व** तथा **अव्यभिचारिणी भक्ति**" का होना संभव है। किसी अन्य उपायसे इसकी सिद्धि नहीं है। ऐसे साधकको सदाही परम पुरुषकी अर्थात् विश्वरूप परमात्माकी प्राप्ति होती है, वह स्वयं उसीका एक अंग होकर रहता है अर्थात् स्वयं परम पुरुषरूप होनेकी सिद्धि इस समय उसको प्राप्त होती है। किसी अन्य साधनसे यह सिद्धि नहीं हो सकती। इसका फल देखिये कितना महान् मिलता है—

अपि चेत् सुदुराचारो भजते मां अनन्यभाक्।
साधुरेव स मन्तव्यः सम्यग्व्यवसितो हि सः ३०
क्षिप्रं भवति धर्मात्मा शश्वच्छांतिं निगच्छति।
कौन्तेय प्रतिजानीहि न मे भक्तः प्रणश्यति ३१
मां हि पार्थ व्यपाश्रित्य येऽपि स्युः पापयोनयः।
स्त्रियो वैश्यास्तथा शूद्रास्तेऽपि यान्ति परां गतिम्॥
किं पुनर्ब्राह्मणाः पुण्या भक्ता राजर्षयस्तथा।
अनित्यमसुखं लोकमिमं प्राप्य भजस्व माम् ३३
(गी. ९)

"दुराचारी पुरुषभी यदि अनन्य होकर भक्ति करेगा, तो वह साधु बनेगा। क्योंकि वह उत्तम मार्गपर आ चुका है, अतः वह धर्मात्मा बनेगा और शाश्वत शान्ति प्राप्त करेगा। परमेश्वर का अनन्यभक्त विनष्ट नहीं होगा। पापी स्त्रियां और वैश्य शूद्रभी अनन्य भक्तिसे श्रेष्ठ स्थितिको प्राप्त होंगे, फिर ब्राह्मण क्षत्रिय और भक्त राजर्षि उन्नत होंगे इसमें क्या संदेह है?"

अनन्यभावसे भक्ति करनेका यह महान् फल है। मनुष्य दुराचारी और झगडालू क्यों बनता है? द्वैतसे, अन्य भावसे व्यवहार करनेके समय वह दूसरा है, वह मुझसे भिन्न है, अतः उसको लूटनेसे क्या होगा? क्यों न वह लूटा जाय? ऐसे विचार प्रबल होनेसे, वे दुर्विचार मानवी मनमें स्थिर हो जाते हैं और इस कारण मनुष्य दुष्ट बनता है। द्वैत और द्वन्द्वके कारण तथा अन्यभावके कारणही दुष्टता उत्पन्न होती है और बढती है। इसपर उपाय अनन्यभावका स्थिरीकरणही है। जब अन्यभावही मिट गया तो कौन, किस तरह, किससे लडेगा? लडाई, झगडे, फिसाद और स्पर्धा मिटानेवाला इस तरह यह अनन्यभाव है। यह अनन्यभाव किस हदतक, किस मर्यादा तक, मनुष्यके व्यवहारमें आ सकता है, इस विषयमें निम्नलिखित दो श्लोक देखने योग्य हैं—

ब्रह्मार्पणं ब्रह्म हविर्ब्रह्माग्नौ ब्रह्मणा हुतम्।
ब्रह्मैव तेन गन्तव्यं ब्रह्मकर्मसमाधिना॥
(गी. ४।२४)

अहं क्रतुरहं यज्ञः स्वधाहमहमौषधम्।
मन्त्रोऽहमहमेवाज्यमहमग्निरहं हुतम्॥
(गी. ९।१६)

'अर्पण, हवि, अग्नि, आहुति यह सब ब्रह्मही है। जिसको ऐसा प्रतीत होता है, वह ब्रह्मही होता है।' तथा 'क्रतु, यज्ञ, स्वधा, औषधियाँ, मंत्र, घृत, अग्नि और आहुति मैं हूँ।' यहां ब्रह्म और मैं ये पद समानार्थक हैं। इस विश्वमें जो भी कुछ है वह ब्रह्म है, वही ईश्वर है और मैं ईश्वरका अंश होनेसे मैं भी वह सब हूं। यहाँ ब्रह्मरूपसे, ईश्वररूपसे अथवा मेरे रूपसे सर्वत्र समभाव है। सर्वत्र अनन्यभावही है।

विश्वरूप ईश्वर है ऐसा माननेसे क्रतु, यज्ञ, समिधा, मंत्र, आहुति, यजमान सब ईश्वरकेही रूप हो चुके हैं। किसीमें किसी तरह विभेद रहा नहीं है। यह अनन्यभाव केवल यज्ञ-क्षेत्रमें ही लेना नहीं है, यह सर्वत्र देखना चाहिये। अर्थात् सर्वत्र यह अनन्यभाव देखनेसे ऐसा सिद्ध हो जाता है कि-'राजा, मंत्री, सेनापति, राजसभा, सभाध्यक्ष, सदस्य, सैनिक, ओहदेदार, सब कर्मचारी, सब जनता, पशु-पक्षी, वृक्ष-वनस्पति, स्थावर जंगम ये सब ब्रह्मके रूप हैं। अदालतमें दोनों पक्षकार और न्यायाधीश ये सब ईश्वरके रूप हैं। विद्यार्थी, शिक्षक और

परीक्षक ये सब ईश्वरके रूप है, रोगी और चिकित्सक और दवा ये तीनों परमेश्वरके रूप हैं। इस तरह जितना व्यापक क्षेत्र बढाना आवश्यक होगा, उतना विचारसे बढाइये और वहांतक ईश्वर-रूपकी वहां समानता है, यह देखिये।

सब विश्वही ईश्वरका स्वरूप हुआ है और विश्वसे कोई पदार्थ छूटा नहीं है। आप जितना अधिक वर्णन करना चाहते हैं, उतना वर्णन करते जाईये। जितना वर्णन करेंगे वह सब विश्वरूपका वर्णन होगा।

अनन्यभावसे व्यवहार

बहुत लोगोंका ख्याल ऐसा है कि तत्त्वज्ञान केवल विचार और चर्चाके लियेही है। परंतु गीताशास्त्र केवल चर्चाके लिये कहा नहीं गया। विवस्वान् मनु इक्ष्वाकु तथा अन्यान्य राजर्षि लोग केवल बातें करनेके लियेही इसका उपयोग और प्रयोग नहीं करते थे। वे इस तत्त्वज्ञानका उपयोग राज्य चलानेके लिये करते थे और भगवान् श्रीकृष्णने जो यह गीताशास्त्र कहा वह केवल चर्चा करनेके लियेही नहीं कहा। वह राज्यशासन चलानेके योग्य अर्जुनको बनानेके लियेही कहा था।

राज्य-शासन और समाज-शासन अन्यभावसे चलाना चाहिये या अनन्यभावसे चलाना चाहिये ? यह प्रश्न हमारे सम्मुख इस समय है। इस समय जो राज्ययंत्र चलाया जा रहा है, वह अन्यभावसे चलाया जा रहा है। गीताका संदेश यह है कि वह अनन्यभावसे चलाया जावे।

अनन्यभावसे राज्यशासन चलाना हो तो आजकलके सब व्यवहारके नियम बदलने पडेंगे, आजकलके विधिनियम और कानून बदलने पडेंगे। परंतु गीता कहती है कि, अनन्यभावके शासनसे सब सुखी होंगे, इसलिये यह अनुभव लेकर देखने योग्य बात है।

हम इसका विचार आगेके प्रवचनोंमें करेंगे।

---

(६)

भागवत राज्यशासन

भगवान् श्रीकृष्णने जो राज्यशासन कहा, उसको '**भागवत राज्यशासन**' कहा जाता है। भगवद्गीताकी परंपरा ही राजाओंकी परंपरा है, इस विषयमें गीतामेंही प्रमाण है—

इमं विवस्वते योगं प्रोक्तवानहमव्ययम्।
विवस्वान् मनवे प्राह, मनुरिक्ष्वाकवेऽब्रवीत् ॥१॥
एवं परंपराप्राप्तं इमं राजर्षयो विदुः।
स कालेनेह महता योगो नष्टः परंतप ॥२॥
स एवायं मया तेऽद्य योगः प्रोक्तः सनातनः।
भक्तोऽसि मे सखा चेति रहस्यं ह्येतदुत्तमम् ॥३॥

(गी. ४)

"यह योग विवस्वान्, मनु, इक्ष्वाकु, अन्य श्रेष्ठ राजे इनकी परंपरामें था, वह भगवान् श्रीकृष्णने अर्जुनसे कहा है।" श्रीकृष्ण और अर्जुन भी क्षत्रिय ही थे। इस परंपरामें एक भी क्षत्रियसे भिन्न नहीं है। अर्थात् यह क्षत्रियोंके उपयोगका शास्त्र है। वहां इसको 'योग' कहा है। योग शब्दसे घबराने की जरूरत नहीं है। 'योग' का अर्थ 'कुशलतासे की गयी योजना' है।

योगके अर्थ

'योग' पदके विभिन्न शास्त्रोंमें विभिन्न अर्थ है—

१ अध्यात्मशास्त्रमें—			योगका अर्थ ध्यान-धारणा है
२ वैद्य	,,	,,	,, औषधिकी योजना है
३ कारीगरीके	,,	,,	,, दो वस्तुओंका जोडना है
४ व्यवहार	,,	,,	,, कामधंधा Business है
५ इन्द्रजाल	,,	,,	,, हस्तलाघव (Trick) है
६ युद्ध	,,	,,	,, युद्धसाहित्यका जोड है
७ कर्मयोग	,,	,,	,, कुशलतासे होनेवाला कर्म है
८ ज्योतिष	,,	,,	,, ग्रहोंका मेल युति है
९ राज्यशासन	,,	,,	,, कुशलतासे शासनप्रबंध है

इस तरह 'योग' शब्दके अर्थ विविध शास्त्रोंमें विविध हैं। आजकल केवल योगशास्त्रका अर्थही सब लोग जानते हैं, परंतु जिस समय हमारी सभ्यता जीवित थी, उस समय यह 'योग' शब्द सार्वत्रिक था और अपने अपने शास्त्रीय परिभाषाके अनुसार हरएक उसका अर्थ जानता था। इस कारण आज प्रत्येक शब्दका अर्थ समझना मुश्किल हुआ है और एकही आध्यात्मिक अर्थ सर्वत्र लगानेके कारण अर्थकी गोलमाल भी बहुत हो चुकी है।

जो लोग अर्थका विचार करते हैं, वे अध्यात्मशास्त्रकी दृष्टिसेही विचार करने लगते हैं। गीताग्रंथके विषयमें यही बात इस समय बन चुकी है। गीताशास्त्र राज्यव्यवहारके लिये आवश्यक निर्देश देता है, यह बात सब भूल चुके हैं और उस कारण यह गीताशास्त्र महाराजाओंकी परंपरामें प्रचलित था, इसका भी विचार सर्वथा लुप्त हो चुका है। और जो गीताके पास देखता है, वह उसको अध्यात्मशास्त्र मानकरही देखता है।

यहांतक इस गीताशास्त्रका दुर्दैव बढ चुका है कि प्रायः लोग समझते हैं कि, वृद्ध होनेके पश्चात् सब प्रपंच करनेके पश्चात् यह गीता पढनी चाहिये। कोई मरने लगा तो उस समय गीताका पाठ शुरू करते है, जैसा कि इस लोकके साथ गीताका कोई संबंधही नहीं है!

वास्तवमें यह शास्त्र क्षत्रियपरंपरामें सहस्रों वर्ष जीवित और जाग्रत रहा शास्त्र है। इस आध्यात्मिक तत्त्वज्ञानकी आधारशिलापर राज्यशासनकी पद्धति विशिष्ट रीतिसे स्थायी हो चुकी थी, अनेक श्रेष्ठ राजाओंके अनुभव इस शास्त्रमें संमिलित हो चुके थे अथवा अनेक राजाओंने इस पद्धतिके अनुसार अपना राज्य चलाया था। जिनके राज्यशासनमें यह ग्रंथ था, उनमेंसे एक भी राजा केवल ध्यानधारणामें निमग्न हुआ नहीं था। सबके सब बडे प्रतापी राजा थे। इसलिये हम यहां कह सकते हैं कि गीताका विचार व्यावहारिक दृष्टिसेही होना आवश्यक है। इस दृष्टिसे विचार न होनेके कारण शब्दोंके अर्थ भी लोगोंको बदलने पडे हैं। इस विषयमें निम्नलिखित श्लोक देखने योग्य हैं-

राजाओंकी विद्या

राजविद्या राजगुह्यं पवित्रमिदमुत्तमम्।
प्रत्यक्षावगमं धर्म्यं सुसुखं कर्तुमव्ययम्॥ २॥

अश्रद्दधानाः पुरुषा धर्मस्यास्य परंतप।
अप्राप्य मां निवर्तन्ते मृत्युसंसारवर्त्मनि॥ ३॥
(गी. ९)

'यह गीताशास्त्र राजाओंकी (राज्य चलानेकी) विद्या है, यह गीताशास्त्र राज्यका (शासन करनेका) गुह्य ज्ञान है। यह (राज्यशासन शास्त्र) पवित्र है और उत्तम है, इसका फल प्रत्यक्ष दीखनेवाला है। यह राजाओंका धर्म है। यह करनेके लिये सुखदायी है और इसके आचरणके लिये (अ-व्ययं) व्यय भी बहुत करना नहीं पडता। इस धर्मपर जो पुरुष श्रद्धा नहीं रखते, वे मेरी योग्यताको प्राप्त नहीं होते, परंतु दुःखदायी मार्गमें जाकर दुःख भोगते रहते हैं।'

यहांकि '**राज-विद्या**' का अर्थ 'राज्यशासन करनेकी विद्या' (Science of administration of kingdom) है, उसका अर्थ 'श्रेष्ठ विद्या' ऐसा आजकल किया गया है। **राजविद्या**— King-craft, regel policy, state policy, administration of state, administration of Government, politics, ये अर्थ कोशोंमें मिलते हैं।

इसी तरह '**राज-गुह्य**' का अर्थ 'श्रेष्ठ गुह्य' ऐसा करते हैं, परंतु इसका अर्थ Secrets in administration of government, secrets in Royal policy, secrets in state policy, secrets in politics, ऐसा है।

गीताके राज्यशासनसंबंधी स्पष्ट निर्देश करनेवाले पदोंके अर्थ इस तरह आजकल बदल दिये गये हैं, जो इस समय सब मान रहे हैं। इसका कारण इतना ही है कि, गीताको राज्यशासन-शास्त्रका प्रमाण ग्रंथ न मानते हुए, लोगोंने केवल अध्यात्मका ग्रंथ माना है। इतनाही नहीं, परंतु अध्यात्मका संबंध राजकारणसे स्थायी रूपसे तोड दिया गया है।

ऊपर दिये गीतावचनमें '**राजविद्या**' और '**राजगुह्य**' ये पद विस्पष्ट रीतिसे राजशासनका बोध करानेवाले हैं। यह राज्यशासन गीतोक्त राज्यशासन है। यह (**सुसुखं कर्तुं**) करनेके लिये सुगम है (very easy to perform)। और इसमें (**अ-व्ययं =**) व्यय भी बहुत नहीं होता। इस विषयमें हम आगे बतायेंगे कि यह कैसे सिद्ध होता है। जिसमें

अधिक व्यय करना न पडे और जो करनेके लिये सहजहीसे होनेवाला हो, वह राज्यशासन सबसे ' उत्तम ' ही होगा, इसमें संदेह ही क्या हो सकता है ?

ऊपर दिये दूसरे श्लोकमें यह कहा है कि इस विधिनियमपर जो श्रद्धा नहीं रखते, वे परम पदको न प्राप्त होते हुए मृत्यु और दुःखको प्राप्त होते हैं।

विश्वरूप ईश्वर है, ऐसा मानकर सब मानव उस विश्वरूपमें हैं, यह जानकर वे भी ईश्वरस्वरूप हैं इस बातका अनुभव करते हुए, सबका परस्पर अनन्य संबंध है यह देखकर वैसा व्यवहार जो करते हैं और अन्यभावको दूर करके जो यहां बर्तते हैं, वेही इस राज्यशासनको चला सकते हैं।

इसमें द्वन्द्वभाव न रहनेके कारण स्पर्धा नहीं होगी, संघर्ष नहीं होंगे, परस्पर अनन्यभावसे परस्परकी सहायता और आत्मीयताके साथ विश्व-सेवाही सब करते रहेंगे। संक्षेपमें इस राज्यशासनका यह स्वरूप है। इसीलिये इसके चलानेके लिये अधिक व्यय लगता नहीं, क्योंकि हरएक मनुष्य दूसरेको लूटने की इच्छा न करता हुआ, उसकी सेवाही करेगा। इसलिये शान्तिके रक्षण करनेके लिये विशेष प्रबंध करनेकी आवश्यकता यहां नहीं होगी। इसका विस्तार हम आगे उचित स्थानपर करेंगे, यहां केवल संक्षेपसे सूचनामात्र लिखा है।

आध्यात्मिक राज्यशासन

' भागवत-राज्यशासन ' का ही नाम **'आध्यात्मिक राज्यशासन '** है। हम भी गीताको अध्यात्मशास्त्र मानते हैं, परंतु हमारे अध्यात्मशास्त्रमें राज्यशासनका समावेश होता है, जो आजकलके लोग माननेसे इन्कार करते हैं। हम राज्यशासनको अध्यात्मशास्त्रका एक विभाग मानते हैं और आजकलके विचारकोंने अध्यात्म और राज्यशासनको परस्पर भिन्न मान रखा है। इस विषयमें इसी प्रवचनमें हमारी भूमिका स्पष्ट हो जायगी। गीताका अध्यात्मशास्त्र होना निम्नलिखित प्रमाणसे सिद्ध है—

मदनुग्रहाय परमं गुह्यं अध्यात्मसंज्ञितम्।
यत्त्वयोक्तं वचस्तेन मोहोऽयं विगतो मम॥
(गी. ११।१)

अर्जुन कहता है कि, 'भगवान् श्रीकृष्णने जो गुह्य अध्यात्मज्ञान कहा उससे मेरा मोह दूर हुआ।' यह अर्जुनके अनुभवकी बात अर्जुनने कही है। यहां अर्जुनका मोह कौनसा था और वह दूर होकर उसका मन कैसा बना यह देखिये। अर्जुन स्वराज्य-प्राप्तिके लिये युद्ध करके शत्रुका पराभव करनेके लिये युद्धभूमिपर आया था। वहां उसको मोह हुआ और वह युद्धसे निवृत्त होकर वनमें जाकर रहनेकी इच्छा करने लगा। इससे एक रीतिसे शत्रुकी सहायता ही अर्जुन करने लगा था। गीताका अध्यात्मज्ञान सुननेके पश्चात् वह शत्रुका नाश करनेके लिये तैयार हुआ, और गीतोक्त स्वराज्यशासन चलानेके लिये वह उद्युक्त हुआ। गीताके अध्यात्म-ज्ञानका यह परिणाम देखने योग्य है।

गीताके उपदेशका ग्रहण करनेसे अर्जुन स्वराज्यके लिये यत्न करने लगा और आजकलके लोग स्वराज्यके यत्न करना तो दूर रहा, परंतु ये तो संसारको त्यागनेका ही विचार करने लगते हैं। इतनी गीताके समझनेमें गडबडी हो गयी है। जो अध्यात्मज्ञान क्षत्रियोंके लिये उपयोगी था, वही आज निरुपयोगी समझा जाने लगा है! इसीलिये गीताकी परंपरा क्षत्रिय-परंपरा है, यह जानकर ही उसका विचार करना उचित है। अस्तु ऊपर दिये वचनसे गीता ग्रंथ अध्यात्मशास्त्र है, यह सिद्ध हुआ। अब अध्यात्मका अर्थ देखिये—

स्व-भावोऽध्यात्ममुच्यते। (गी ८।३)

' स्व भाव ही अध्यात्म कहलाता है।' स्वभावका अर्थ क्या है? **' भाव '** का अर्थ Being, existing, existence, अस्तित्व है। ' स्व ' का अर्थ है अपना अर्थात् ' स्व-भ व' का अर्थ 'अपना अस्तित्व, अपनी स्थिति, one's own existence। स्वभावही अध्यात्म है, इसका अर्थ अपना अस्तित्व बतानेवाला अध्यात्मशास्त्र है, अध्यात्मशास्त्र अपने अस्तित्वकाशास्त्र है।

अपने अस्तित्वका स्वरूप क्या है, वह कैसा था, कैसा होगा, अपना अस्तित्व शाश्वत कैसा टिक सकता है, इसका विचार अध्यात्मशास्त्र करता है। राज्यशासन भी अपने राष्ट्रीय अस्तित्व कैसा था, कैसा है, कैसा शाश्वत टिकेगा, अपना नाश करनेवाले शत्रु कौन हैं, उनकी शक्ति कितनी हैं, उनका पराभव करनेके लिये हमें किस योगका अनुष्ठान करना चाहिये, इत्यादि विचार जैसा अध्यात्ममें करना पडता है, ठीक वैसाही राज्य-शासनमें करना पडता है।

*

अध्यात्मशास्त्र व्यक्तिगत आत्माका विचार करता है, यह बात सुप्रसिद्ध है। सभी जानते हैं कि व्यक्तिगत आत्मा, बुद्धि, चित्त, अहंकार, इंद्रिय और शरीरका विचार अध्यात्म करता है। अनेक व्यक्ति मिलकर राष्ट्र होता है। इसलिये व्यक्तिके गुणोंका विस्तार ही राष्ट्र-विचार होना स्वाभाविक है। इस कारण जो नियम व्यक्तिके अस्तित्वमें लगेंगे वे ही राष्ट्रीय अस्तित्व में लगना स्वाभाविक है। यदि व्यक्तियोंकाही राष्ट्र बना है, तब तो व्यक्तिके नियम विकसित होकर राष्ट्रके नियम बन सकते हैं।

इस तरह अध्यात्मके नियम व्यक्तिमें और राष्ट्रमें लगन स्वाभाविक है। गीतामें कहा है कि—

अध्यात्मविद्या विद्यानाम्। (गी. १०।३२)

'विद्याओंमें अध्यात्मविद्या ईश्वरका स्वरूप है।' अर्थात् यह विद्या मुख्य है। सब विद्याओंकी यही आधार-शिला है। इस तरह राज्यशासन-विद्याके मूल सिद्धान्त भी इस अध्यात्म-विद्यामें प्रतीत होना स्वाभाविक है।

व्यक्ति और राष्ट्र

यहां व्यक्ति और राष्ट्रका संबंध देखना चाहिये। अनेक व्यक्तियोंकाही राष्ट्र बनता है। जैसा मिट्टी का घडा बना तो वह मिट्टी के गुण-धर्मोंसे युक्त होता है, सोनेके जेवर बने तो सोनेपन उनमेंसे हटता नहीं, इसी तरह व्यक्तियोंके बने राष्ट्रसे व्यक्तिपनके गुणधर्म दूर नहीं हो सकते। इस विषयमें देखिये—

व्यक्तिमें	राष्ट्रमें	
गुण	गुणी	
ज्ञानशक्ति	ज्ञानी	(ब्राह्मण)
शौर्यशक्ति	शूर	(क्षत्रिय)
धनसंग्रह	व्यापारी	(वैश्य)
कर्म	कर्मचारी	(शूद्र)
अज्ञान	असंस्कृत	(निषाद)

व्यक्तिमें जो शक्तिरूप गुण हैं वेही राष्ट्रमें शक्तियुक्त पुरुष हुए हैं। उनमें वही शक्ति है जो व्यक्ति में थी, परंतु परम उत्कर्षको पहुंची है। व्यक्तिमें ज्ञानगुण था, अथवा ज्ञानरूप-शक्ति थी, वही राष्ट्रमें ज्ञानी जन अर्थात् ब्राह्मण वर्णके रूपमें दीख रही है। व्यक्तिमें शौर्य था, उससे वह अपनी सुरक्षा करता था, यही स्वसंरक्षणका गुण जिनमें परिणतावस्थाको पहुंच गया, वे क्षत्रिय कहलाये गये। मनुष्यमें धनलालसा, भोगलालसा है, अतः वह अपने पास भोग्य पदार्थ इकट्ठे करता है। यह गुण जिनमें बढ गया वे वैश्य कहलाये गये, वे राष्ट्रमें धनधान्य इकट्ठा करते हैं और उसका सर्वत्र फैलाव करते हैं। व्यक्तिमें कर्म करनेका गुण है, जिनमें कर्मकी कुशलता बढ गयी वे कर्मचारी, कर्मकुशल शूद्र हुए। इस तरह व्यक्तिमें जो ज्ञान-शौर्य-धनसंग्राहकत्व-कर्मकर्तृत्व ये गुण थे, वेही गुण राष्ट्रमें ज्ञानी, शूर, व्यापारी और शूद्र अथवा ब्राह्मण-क्षत्रिय-वैश्य-शूद्र नामसे प्रसिद्ध हुए। गुण वे ही हैं, परंतु व्यक्तियोंमें विशेष गुणोंकी पराकाष्ठा हुई, इसलिये वे वर्ण अथवा वर्ग वा जाति कहलाये।

ज्ञान-शौर्य-भोगलालसा-कर्मचातुर्य ये चार गुण व्यक्तिमें रहते हैं। प्रमाण न्यून वा अधिक होगा, यह बात और है, परंतु सब मानवोंमें, सब व्यक्तियोंमें ये चार गुण तो अवश्य रहते है। ये गुण संस्कारसे विकसित होते हैं, इसलिये सबमें 'असंस्कार' भी स्वभावसे रहता ही है। ब्राह्मण ज्ञान के संस्कारसे संपन्न हुए, तो वे क्षत्रियके संस्कारसे विरहित रहेंगे। इस तरह कुछ न कुछ असंस्कारका बात हर एकमें किसी न किसी रूपमें रहेगी ही। इसी तरह राष्ट्रमें संपूर्ण जनतापर कितने भी शुभ संस्कार किये गये तो भी कुछ न कुछ लोग संस्कारहीन रहेंगे ही।

इस तरह व्यक्तिमें ज्ञान, शौर्य, भोगलालसा, कर्मशक्ति और असंस्कृतता गुणरूप से रहना स्वाभाविक है और राष्ट्रमें ज्ञानी, शूर, व्यापारी, कर्मचारी और असंस्कृत अथवा ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य, शूद्र और निषाद ये रहेंगे ही। राष्ट्रमें पहिले चार वर्ण नागरिक शुभ संस्कारोंसे सुसंपन्न रहेंगे और ये वर्गीकृत (classified) कहलायेंगे, और पांचवा अवर्गीकृत (unclassified) रहेगा।

सब राष्ट्रोंमें ऐसा होना स्वाभाविक है। यहां इतने विवरणसे स्पष्ट हुआ कि ज्ञान-शौर्य-भोग-कर्म शक्तिके कारण जो उन्नति वा अवनतिके नियम व्यक्तिमें लग सकते है, वेही राष्ट्रमें लग सकते हैं। व्यक्तिका प्रमाण छोटा और राष्ट्र विस्तार बडा, इतना ही भेद रहेगा। जो लोग समझते हैं कि अध्यात्म शास्त्र-व्यक्तिका ही विचार करता है, उनको अब अपने मतमें परिवर्तन करना पडेगा और कहना पडेगा कि अध्यात्मशास्त्रके नियम व्यक्तिमें जो

लगते ही हैं, परंतु समाज और राष्ट्रमें भी विस्तृत प्रमाण में लगते हैं, क्योंकि वे ही व्यक्तिके गुण राष्ट्रमें विस्तृत प्रमाणसे रहते हैं। इसी लिये अध्यात्म-विद्या सब विद्याओंकी आधार-शिला है, ऐसा जो कहते हैं, वह इस तरह सत्य है।

यहां हमने व्यक्ति और राष्ट्रका एक ही नियम देखा और दोनोंमें संकोच और विस्तारके विना कोई फर्क नहीं यह जान लिया—
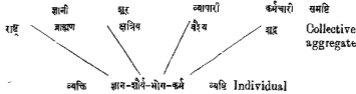
पुरुष और प्रकृति

यहां तक हमने व्यक्तिमें गुण और राष्ट्रमें गुणोंका संबंध देख लिया है। अब अध्यात्म शास्त्रमें जिस पुरुष और प्रकृति का विशेषतया विचार होता है, उसका इस राज्य-शासनमें किस तरह संबंध आता है, इसका विचार करेंगे। सब जानते हैं कि 'पुरुष' नाम आत्माका है और 'प्रकृति' नाम उसकी शक्तिका है, देहका है। आत्मा या पुरुष सर्वशक्तिमान् होता हुआ भी 'अ-कर्ता' है, स्वयं कुछ भी नहीं करता, अतः कहा है कि—

असङ्गोऽयं पुरुषः। (बृ. ४।३।१५,१६)
आत्मा.. अकर्ता। (श्वे १।९)
विद्धि अकर्तारं अव्ययम्। (गी. ४।१३)
आत्मानं अकर्तारं पश्यति। (गी १३।३०)

'पुरुष संगरहित है, अकर्ता है,' 'आत्मा अकर्ता है।' अर्थात् आत्मा स्वयं कुछ करता नहीं है, जो कुछ कर्म होता है वह प्रकृतिके द्वारा किया जाता है। सब कर्म प्रकृति ही करती है। आत्मा केवल द्रष्टा है, कर्ता नहीं। इस विषयमें गीताका कथन ऐसा है—

प्रकृत्यैव च कर्माणि क्रियमाणानि सर्वशः।
यः पश्यति तथात्मानं अकर्तारं स पश्यति॥
कार्य-कारण-कर्तृत्वे हेतुः प्रकृतिरुच्यते॥

(गी. १३।२९,२०)

'प्रकृति सब कर्म करती है, सब प्रकारके कर्म प्रकृतिके द्वारा ही सदा होते हैं और आत्मा अकर्ता है' ऐसा जो देखता है वही सब ओरसे सत्य देखता है। तथा कार्य, कारण और कर्तृत्व इन सबका हेतु प्रकृति है। इस तरह प्रकृति सब करती है और आत्मा अकर्ता है, यह सिद्धान्त गीताने प्रतिपादन किया है। यह बहुत काल पूर्व कपिल महामुनिने अपने सांख्य-दर्शनमें कहा हुआ सिद्धान्त है। देखिये—

असङ्गोऽयं पुरुषः। (सां. द. १।१५)
मूलप्रकृतिरविकृतिः महदाद्याः प्रकृति-विकृतयः सप्त। षोडशकस्तु विकारो न प्रकृतिर्न विकृतिः पुरुषः॥ ३॥ अगुणस्य सतः॥ ६०॥

(सांख्या-कारिका)

जो मूल प्रकृति है, वह सब विकृतियाँ निर्माण करके सृष्टि उत्पत्तिके सब कार्य करती है। पुरुष अर्थात् आत्मा न प्रकृति है और नाही विकृति है। वह आत्मा अगुण होनेके कारण स्वयं कुछ भी करता नहीं। इस तरह प्रकृति ही सब कार्य करनेवाली है और पुरुष कुछ भी कर्म नहीं करता है। प्रकृति-पुरुषका स्वभाव वर्णन इस तरह सांख्यशास्त्रने किया है, वही गीताने लिया है।

सब लोग जानते हैं कि 'प्रकृति' का अर्थ 'प्रजा' है। देखिये 'प्रकृति' के अर्थ कोशों में इस तरह मिलते हैं—

प्रकृतयः= Kinig's ministers, A body of ministers or councellors, minsitry, the subjects of a king, the Coustituent elements of the state, the king, the minister, the allies, treasury, army, Territory, fortresses, and the Corporations of citizens= स्वामी-अमात्य-सुहृत्-कोश-राष्ट्र-दुर्ग-बलानिच। (मनु ९)

२९४ में ऐसाही एक श्लोक है—

स्वाम्यमात्यौ पुरं राष्ट्रं कोशदण्डौ सुहृत्तथा ।
सप्त प्रकृतयो ह्येताः सप्ताङ्गं राज्यमुच्यते ॥

(मनु. ९।२९४)

राजा, मंत्री, नगर, राष्ट्र, कोश, दण्डशास्त्र, सुहृत् यह सात प्रकार का राज्य होता है, इसीका नाम ' प्रकृति ' है । ऊपर दिये कोशोंके अर्थोंमें भी येही भाव हैं। मंत्रीमंडल, दरबार, प्रतिनिधिसभा, राजाके सलाहगार, सब प्रजाजन, जनता, सेना, कार्यकर्ताओंके संघ, कौले आदि सब मिलकर राजाकी '**प्रकृति**' कहलाती है। सर्वसामान्य रीतिसे प्रकृतिका अर्थ ' प्रजा ' है। ऊपर सप्तविध प्रकृति कही है। ये प्रकृतिके भेद सात, नौ, पचीस या बहत्तर तक गिनाये हैं । विविध कार्य व्यवहारके कारण राष्ट्र में जितने कार्य होंगे, उतने इस प्रजारूप प्रकृति के भेद मानना योग्य ही है । इतने विवरणसे यह सिद्ध हुआ कि-

अध्यात्ममें	राष्ट्रमें
१ आत्मा, पुरुष	१ राजा, महाराजा
अकर्ता	अकर्ता
२ प्रकृति	२ प्रजा (प्रकृति)
सब कार्य करनेवाली	सब कार्य करनेवाली

राष्ट्रमें राजा स्वयं कुछ न करे, प्रजाही सब कार्य करे, यही अध्यात्मशास्त्रका नियम राष्ट्रमें जैसा का वैसा ही सुरक्षित रहा है, यह बात देखने योग्य है ।

आजकल स्वराज्यशासन (Self-government) में प्रजा अपने हितका संवर्धन करनेके लिये, स्वयंही, अपने प्रतिनिधियोंद्वारा, अपना राज्यशासन करे, उसमें राजा दखल न देवे, वह केवल द्रष्टा ही रहे, ऐसा जो कहते हैं वही अध्यात्म-सिद्धान्तद्वारा आपही आप सिद्ध हो चुका है। जो स्वयं विचार करना चाहते हैं, वे इसका विचार करें। प्रकृति और पुरुषका जो संबंध अध्यात्ममें वर्णन किया है, वही संपूर्ण जिम्मेवारीके स्वराज्यशासनमें पूर्णतासे स्वयं प्रकट हुआ है।

ऋषि मुनि लोग आत्मा और प्रकृतिके नामसे सर्वगामी मूल सिद्धान्त बोलते थे। वे अपने,अपने न्यून वा अधिक कार्य-क्षेत्रके संकोच वा विस्तारके अनुसार मनुष्य देखें और अपने व्यवहारमें अपनावे । गीतामें कहा है-

प्रकृतेः क्रियमाणानि गुणैः कर्माणि सर्वशः ।
अहंकारविमूढात्मा कर्ताऽहमिति मन्यते ॥

(गी. ३।२७)

' प्रकृतिके गुणोंसे सब प्रकारके कर्म किये जाते हैं, अर्थात प्रकृतिही सब कुछ करती है, आत्मा अकर्ता वास्तविक है, परंतु अहंकारसे मूढ बना हुआ आत्मा मूर्खतासे अपने आपको कर्ता मानता है।' और इस मूढताके कारण फंसता है। यहां स्पष्ट हुआ कि (प्रकृति) प्रजाही अपने गुणकर्मोंके अनुसार अपने विकासके सब कर्तव्य करे, (आत्मा, पुरुष, स्वामी) राजा उन प्रजाके किये कर्मोंका निरीक्षण करे, प्रजाका चातुर्य देखकर सन्तुष्ट हो जावे, परंतु स्वयं उस कर्ममें अपना हस्ताक्षेप न करे। जो मूढ बनकर प्रकृतिके कर्मोंका बुरा भला संबंध अपने साथ लगानेका यत्न करेगा, वह बंधनमें पडेगा।

जो राजा स्वयं अपने ऊपर सब कर्तव्यका बोझ लेता है, स्वयं कर्म करनेका अभिमानी होता है, वह 'अहंकार-विमूढ-आत्मा ' है, वह आदर्श राजा नहीं है। आदर्श राजा वह है कि जो स्वयं कुछ भी न करे और जिसके राज्यमें प्रकृति-रूप प्रजाको पूर्ण आजादी है । जो अध्यात्मशास्त्रके मुख्य सिद्धान्त हैं वेही ठीक उत्तम स्वराज्यशासनके भी सिद्धान्त हैं।

प्रकृतिं पुरुषं चैव विद्ध्यनादी उभावपि।
विकारांश्च गुणांश्चैव विद्धि प्रकृतिसंभवान् ॥

(गी. १३।१९)

' प्रकृति और पुरुष ये दोनों अनादि हैं । प्रकृतिसेही त्रिगुण और उनके कारण नाना प्रकारके विकार होते हैं, जिनसे सब सृष्टिकी उत्पत्ति होती है। ' इस तरह सब कुछ कार्य प्रकृतिसे होता है। पुरुष अथवा आत्मा प्रकृतिका अध्यक्ष वा अधिष्ठाता है, उसकी अध्यक्षतामें प्रकृति सब कार्य करती है, परंतु वह आत्मा कुछ न करता हुआ प्रकृतिकी सब कारागिरी देखता है। इसी तरह और भी देखिये-

प्रकृतिं स्वामवष्टभ्य विसृजामि पुनः पुनः ।
भूतग्राममिमं कृत्स्नं अवशं प्रकृतेर्वशात् ॥८॥
न च मां तानि कर्माणि निबध्नन्ति धनंजय ।
उदासीनवदासीनं असक्तं तेषु कर्मसु ॥९॥
मयाध्यक्षेण प्रकृतिः सूयते सचराचरम् ।
हेतुनानेन कौन्तेय जगद्विपरिवर्तते ॥ १० ॥

(गी. ९)

'मैं प्रकृतिका अधिष्ठाता होकर प्रकृतिके वशमें हुए सब प्राणिमात्रको बारंवार उत्पन्न करता हूं। मैं उन कर्मोंके विषयमें उदासीन रहनेके कारण अर्थात् ये सब कर्म प्रकृतिसे होनेके कारण ये कर्म मुझे बंधनकारक नहीं होते। मेरी अध्यक्षतामें यह मेरी प्रकृति चराचर जगत्को उत्पन्न करती है, इससे यह जगचक्र फिरता रहता है।'

यह आत्मा तो प्रकृतिका अधिष्ठाता वा अध्यक्ष है। अध्यक्ष का कार्य सभाकी कार्यवाहीका निरीक्षण करना होता है। दो विवादमान पक्षोंमें किसीका भी पक्ष अध्यक्ष नहीं लेता। कोई नियमबाह्य कार्यवाही न हो यह अध्यक्ष देख सकता है। इसके अतिरिक्त वह केवल निरीक्षकही रह सकता है। अधिकसे अधिक वह सभाका निर्णय जाहीर कर सकता है। इसी तरह राज्यशासनमें राजसभाकी कार्यवाही राजा देखे, उसमें हस्ताक्षेप न करे, यह केवल अध्यक्षही अर्थात् निरीक्षकही रहे। अध्यक्षका अर्थ (अधि-अक्ष) अपनी आंखसे निगरानी करनेवाला है। राजाका इतनाही कार्य है। राजसभाकी कार्यवाहीपर हस्ताक्षर करे। शेष सब राज्यशासनकी जिम्मेवारी प्रजाकी अर्थात् प्रजाके प्रतिनिधियोंकी रहे, वेही सब कार्य करते रहें।

यहां प्रकृतिके सत्व, रज और तम ये तीन गुण सब कार्य करते हैं ऐसा कहा है। (देखो ३।२७; और १३।१९) यहां राष्ट्रमें तीन गुण अर्थात् तीन गुणधारी लोगही सब कार्य करते हैं, देखिये-

अध्यात्ममें	राष्ट्रमें
पुरुष, आत्मा	स्वामी, राजा
प्रकृति	प्रजा, जनता
(गुणत्रयविलास)	(गुणत्रयविलास)
१ सत्व	१ ज्ञानी (ब्राह्मण)
२ सत्व+रजस्	२ शूर (क्षत्रिय)
३ रजः+तमस्	३ व्यापारी (वैश्य)
४ तमस्	४ कर्मचारी (शूद्र)

प्रकृतिके तीन गुण हैं, इसीलिये चार वर्ण बने हैं। किसी लकडीको तीन स्थानपर काटनेसे चारही टुकडे होते हैं। इस तरह तीन गुणोंके कारण मानवी समाजके चार वर्ण हुए हैं। सत्वके ब्राह्मण, तमोगुणके शूद्र और सत्वके पास झुके रजोगुण के क्षत्रिय और तमोगुणके पास झुके रजोगुणके वैश्य इस तरह प्रकृतिके तीन गुणोंके कारण ही चार वर्ण राष्ट्रमें बने हैं और ये चार वर्णोंके लोगही राष्ट्रका सब कार्य करते हैं। अध्यात्मके सिद्धान्त राष्ट्रव्यवहारमें किस तरह लिये जाते हैं यह, यहां देखिये।

अध्यात्म, अधिभूत और अधिदैवत

भगवद्गीतामें बार बार '**गुह्यं अध्यात्म-संज्ञितं**' गुह्य अध्यात्मज्ञ न कहता हूं ऐसा कहा है। इस ज्ञानमें गुह्यता किस रीतिसे रखी है सो यहां देखना अब आवश्यक है। गीतामें क्या और सभी धार्मिक ग्रंथोंमें या तो अध्यात्मका विचार होता है अथवा अधिदैवतका विचार होता है। बीचके अधिभूतके विषयमें कमही लिखा होता है। हम जिस मानव-धर्मका यहां विचार करना चाहते हैं वह अधिभूतका विचार है। वह विचार स्पष्टताके साथ कहीं लिखा नहीं होता, परंतु वह विचार अध्यात्म और अधिदैवत विचारके अनुसंधानसे जानन होता है। वह कैसा जाना जाता है, वह रीति यह है—

१ **अध्यात्मज्ञान—** वह है कि जो व्यक्तिके अन्तर्गता शक्तियोंका ज्ञान है, आत्मा, बुद्धि, मन, इंद्रियां, शरीर आदिके विषयका ज्ञान।

२ **अधिभूत ज्ञान—** यह दो प्रकारका है- (१) प्राणियोंके संबंधका ज्ञान, मानवोंके व्यवहारका ज्ञान, (२) और दूसरा पञ्चमहाभूतोंका विज्ञान। उपनिषदोंमें और गीतामें यह पद दोनों अर्थोंमें प्रयुक्त होता है। हमें इस लेखमें पहिला अर्थही लेना है, क्योंकि हमें मानव-धर्मका निर्णय करना है।

३ **अधिदैवत ज्ञान—** अग्नि, इन्द्र, वायु, सूर्य आदि देवताओंके संबंधका ज्ञान।

अध्यात्ममें व्यक्तिके अन्तर्गत शक्तियोंका ज्ञान, अधिभूतमें प्राणिसमष्टि, विशेषतः मानव-समष्टि का ज्ञान और अधिदैवतमें दैवी शक्तियोंका ज्ञान समाविष्ट होता है। इस तरह इन तीनोंके द्वारा संपूर्ण विश्वका यथार्थ ज्ञान होता है। इस विषयमें कुछ सामान्य नियम ऋषिमुनियोंने अपनी प्रज्ञासे निर्धारित किये हैं, जो यहां मानवधर्मका विचार करनेके समय अवश्यही ध्यानमें धारण करने चाहिये।

पिण्ड-ब्रह्मांण्डकी एकता

पिण्ड और ब्रह्माण्डमें एकही नियम कार्य कर रहे हैं, तथा

पिण्ड-ब्रह्माण्डकी तत्त्व-दृष्टिसे एकता है। जो ब्रह्माण्डमें है वह सूक्ष्म रूपसे पिण्ड में है और जो पिण्डमें है वही विस्तारसे ब्रह्माण्डमें है यह जानना आवश्यक है। देखिये, बाहरके विश्वमें पञ्चमहाभूत हैं वेही अल्प अंशसे इस पिण्ड देहमें हैं। अस्थि हड्डी आदिरूपसे पृथ्वी, रक्तरूपसे जल, उष्णताके रूपमें अग्नि, प्राणके रूपमें वायु और अवकाशके रूपसे आकाश इस शरीरमें है। यह तो सभी जानते हैं। जो पञ्च तत्त्व विश्वमें है वेही पञ्च तत्त्व शरीरमें हैं। अतः दोनों स्थानोंमें उनके नियम समानही हैं, क्योंकि स्वभाव दोनों जगह वही है।

विश्वका एक अंश यह प्राणी है, अतः विश्वान्तर्गत सभी तत्त्व इसमें हैं। यदि पञ्चमहाभूत विश्वमें है तो वेही शरीरमें हैं, यदि प्रकृति-पुरुष विश्वमें हैं तो वे देहमें भी हैं। विश्वव्यापक प्रकृति पुरुषका एक छोटासा अंश यह जीवका शरीर है, इसी लिये पिण्ड-ब्रह्माण्डके नियम एक जैसे हैं, केवल पिण्ड छोटा है और ब्रह्माण्ड बडा है, इतनाही अन्तर है। भगवद्गीतामें नवधा प्रकृतिका वर्णन इसी ज्ञानको देनेके लिये किया है, सो अब देखिये—

भूमिरापोऽनलो वायुः खं मनो बुद्धिरेव च।
अहंकार इतीयं मे भिन्ना प्रकृतिरष्टधा ॥ ४ ॥
अपरेयमितस्त्वन्यां प्रकृतिं विद्धि मे पराम्।
जीवभूतां महाबाहो ययेदं धार्यते जगत् ॥ ५ ॥

(गी. ७)

'पृथ्वी, आप्, तेज, वायु, आकाश, मन, बुद्धि, अहंकार, और जीव यह नौ प्रकारकी ईश्वरकी प्रकृति है।' ईश्वरका नाम पुरुष है, वह अकर्ता है। जो कार्य होता है, वह सब यह नवधा प्रकृति करती है। जैसी यह नवधा प्रकृति विश्वात्माके देहमें है वैसी ही जीवके देहमें भी है। जीवके देहमें जो अंश हैं, वे अल्प हैं और विश्वात्माके देहमें विशाल रूपसे हैं। छोटापन और बडापन छोड दिया जाय, तो दोनों स्थानपर नवधा प्रकृति समान रूपसे है, दोनों स्थानोंपर एक जैसे ही नियम कार्य कर रहे हैं, अथवा दोनों स्थानोंपर एकही प्रकृति है। यह नवधा प्रकृति दो स्थानोंमें है, यह हम अपने विचारके लिये मान रहे हैं, वास्तवमें सब विश्वभरमें एकही एक प्रकृति है। अब इनके संकेत तीनों स्थानोंमें देखिये—

अध्यात्म	अधिभूत	अधिदैवत
जीवशरीरमें	राष्ट्रमें	विश्वमें
जीव	राजा	ईश्वर
प्रकृति	प्रजा	प्रकृति
अहंकार	स्वराष्ट्र भाव	अहंकार
मन	सभा (प्रतिनिधि) (मनन करनेवालोंका संघ)	वैकारिक
कान	दूरदर्शी	आकाश (दिशा)
प्राण	शूर, सैनिक	वायु
वाक्	वक्ता	अग्नि
रुची	चिकित्सक	जल
गन्ध	पोषक	पृथ्वी
प्राण	वीरभद्र (सेनापति)	रुद्र
"	सैनिक	मरुत्
वीरता	योद्धा (राजा)	इन्द्र
रोगप्रतिकारकता	चिकित्सक वैद्य	अश्विनौ
"	दवाईयां	औषधि
ज्ञान, वाक्	ज्ञानी	अग्नि

(पृ. ६५ पर चित्र देखो)

इन तालिकाओंसे पता लग सकता है कि जो संबंध पिण्ड और ब्रह्माण्डका है, व्यक्ति और विश्वमें है, वही संबंध व्यक्ति और व्यक्तिसमूहमें अथवा एक मानव और मानवसमूह अर्थात् राष्ट्रमें है। इस तालिकाको सामने रख कर हम अध्यात्मके सिद्धान्तोंसे ही राष्ट्रव्यवहार अर्थात् राज्यशासन व्यवस्थाको जान सकते हैं।

पुरुष और राजा अकर्ता रहे

१. अध्यात्मशास्त्रके अनुसार ब्रह्म, आत्मा, या पुरुष स्वयं अकर्ता है, वह केवल द्रष्टा है, केवल निरीक्षक है, उसी तरह राज्यशासनमें राजा स्वयं केवल द्रष्टा, साक्षी, असंग, तथा अकर्ता रहे, वह केवल अध्यक्ष रहे।

२. अध्यात्मशास्त्रके अनुसार प्रकृति ही सब सृष्टिकी रचना करती है, पालना करती है, तथा संहार भी करती है, सब विकार करती है, सब प्रपंच फैलाती है। जो जो विश्वमें उलथ-पुलथ हो रही है वह सब प्रकृतिकाही कार्य है, इसी तरह राष्ट्र-शासनमें भी प्रकृति अर्थात् सब प्रजाजन अथवा प्रजा-द्वारा नियुक्त हुए प्रतिनिधि अथवा मन्त्रणा करनेवाले मन्त्री

पुरुष
प्रकृति
कामः
(संकल्प)
सगुणा, सक्रिया-शक्ति
देवमाता, अदिति
प्राज्ञ
महत्तत्त्व (बुद्धि)
(आसुरी, मति, ख्याति, प्रज्ञा)
तैजस्
अहंकार (वैकारिक)
(अभिमान, पृथग्भाव, व्यक्तिभाव)
हिरण्यगर्भ
त्रिगुण
सत्त्व
रज
तम
मन
पञ्चतन्मात्रा
पञ्च ज्ञानेंद्रिय
पञ्च कर्मेंद्रिय
पञ्चमहाभूत
सर्व जगत्सृष्टि
पिण्ड
व्यष्टि
व्यक्ति
कार्यशक्ति
पिण्ड-समूह
समष्टि
संघ
कर्तृत्ववानोंका संघ
ब्रह्माण्ड
परमेष्ठी
विश्व
काम
संकल्प
माया प्रकृति
आदि शक्ति
बुद्धि प्रज्ञा
मन्त्रिमण्डल
बुद्धिमान्संघ
प्राज्ञ
महत्तत्व
आसुरी, मति ख्याति, प्रज्ञा
मन
अहंकार
मननशील-संघ
प्रातिनिधिक सभा
तैजस्
अहंकार
अभिमान, पृथग्भाव
ज्ञानशक्ति
ज्ञानी-संघ
Literary associations
हिरण्यगर्भ
सत्त्वसृष्टि
शौर्य ,,
वीर-संघ
Army Divisions
रजस्+सत्त्व
भोग ,,
वैश्य-संघ
Trade unions
रजस्+तमस्
कर्म ,,
कर्मचारी-संघ
Labour unions
तमस्
शरीर
राष्ट्र
विश्व

शासन-व्यवहारका कार्य करें। संपूर्ण राष्ट्रका सारा प्रपंच प्रजाके द्वारा, प्रजाकी उन्नतिके लिये जैसा चाहिये वैसा प्रजाजनोंके द्वारा नियुक्त हुए पुरुषोंद्वारा चलाया जावे।

अध्यात्म-शास्त्र की बुनियादपर इस तरह आर्योंका राज्य-शासन-शास्त्र खडा हुआ है। इसका विस्तार जितना चाहिये उतना बताया जा सकता है, अथवा विचार करके जाना जा सकता है। परंतु यहां हमें अधिक विस्तार करनेकी आवश्यकता नहीं है। हमने यहां यह सिद्ध किया कि प्रजाके अधीन राज्यशासनके सर्वाधिकार रहने चाहिये, यह जो आधुनिक स्वराज्यशासनका महासिद्धान्त आज सिद्ध हुआ है ऐसा मानते हैं, वह अध्यात्मशास्त्रने कई हजार वर्ष पहिले ही सिद्ध करके रखा है। आर्योंके राज्यशासनमें यह बात अतिप्राचीन समयमें भी सिद्धान्तरूपसे मानी जाती थी, इस विषयमें थोडेसे वेदके मन्त्र देखिये—

स विशो अनुव्यचलत्, तं सभा च समितिश्च सेना च सुरा च अनुव्यचलत्। (अथर्व)

"वह [राजा] प्रजाके अनुकूल चलता है, इसलिये सभा, समिति, सेना और कोश उसके अनुकूल होते हैं। " अर्थात् ग्रामसभा, राष्ट्र-समिति, सेना और राष्ट्रीय धनकोश प्रजाके अधिकारमें रहते हैं और जो राजा प्रजाकी आज्ञानुकूल चलता है, उसको इनकी अनुकूलता मिलती है। जो राजा प्रजापर अत्याचार करता है, वह सेना और कोशके बलके कारण ही करता है। वह बल प्रजाके अधीन रहा तो राजाके अत्याचार होनेकी संभावना ही नहीं है। गीताने यह बात 'प्रकृति (प्रजा) ही सब कुछ करती है, स्वामी आत्मा (राजा) किसी भी कर्तृत्वका अभिमान न धारण करे। जो स्वयं कार्य करनेका अभिमानी होगा वह दुःखका भागी होगा। ' (गी. ३।२७) इस गूढार्थक सिद्धान्त द्वारा कही है। यदि पूर्वोक्त परिभाषा ठीक तरह समझ में आ गयी, तो इस गूढ वचनका अर्थ स्वयं स्पष्ट हो सकता है।

विड् वै गर्भो राष्ट्रं पसो, राष्ट्रमेव विशि आ हन्ति, राष्ट्री विशं अत्ति, तस्मात् राष्ट्री विशं घातुकः। (श० प० ब्रा०)

'प्रजा नाना प्रकारके विभेदोंसे विभिन्न रहती है, राजा अनियंत्रित परंतु संघटित रहता है, इस लिये ऐसा राजा प्रजापर आघात करता है, मानो अनियंत्रित राजा प्रजाको खा जाता है, इसलिये अनियंत्रित राजा प्रजाके लिये घातक है।' यहां कहा है कि प्रजामें विभिन्न पक्ष उपपक्ष रहते हैं, राजा की शक्ति संघटित रहती है। इसलिये राजा अपनी संघटित शक्तिसे प्रजाके पक्षोपपक्षोंमें आघात करता और उनको संघटित होने नहीं देता, इस तरह प्रजाके हितका नाश करता है और अपने हाथमें सब शक्ति केन्द्रित करता है, इसी कारण केन्द्रीभूत शक्ति ही दुःखका हेतु है। इस तरह शक्तिका विकेन्द्रीकरण (decentralization of power) का महत्त्व बताकर शक्तिके केन्द्रीकरणका निषेध किया है।

सभा च मा समितिश्चावतां प्रजापतेर्दुहितरौ संविदाने। येना संगच्छा उप मा स शिक्षात् चारु वदानि पितरः संगतेषु॥ (अथर्व)

'ग्रामसभा और राष्ट्र समिति ये प्रजापालक राजाकी कन्याएं हैं। राजा इनका पिता है और ये कन्यासी हैं। इन सभाओंके सदस्य राजाको सुयोग्य शिक्षा देते रहें। राजा इनके विषयमें जब कभी बोलना हो, उस समय शुभ भाषण ही करे।'

इस मन्त्रमें राजशासन करनेवाली सभाओंके विषयमें बडे महत्त्वके सिद्धान्त कहे गये हैं।

१. **ग्रामसभा** ग्रामके प्रबंधका कार्य करे प्रत्येक ग्राममें ग्रामसभा द्वारा सब कार्य होता रहे,

२ **राष्ट्र समिति** द्वारा संपूर्ण राष्ट्रका प्रबंध होता रहे।

इस तरह प्रत्येक ग्राममें ग्रामसभा कार्य करती रहेगी तो राष्ट्रमें जितने ग्राम होंगे उतनी ग्रामसभायें उस राष्ट्रमें होंगी। उनके प्रतिनिधि राष्ट्र-समितिमें आकर मध्यवर्ती सभाके द्वारा सब राष्ट्रका प्रबंध करते रहेंगे। प्रतिग्राममें ग्रामसभा रहनेके कारण अधिकारका विभक्तीकरण (decentralization of power) हुआ है और मध्यवर्ती महासमितिमें आवश्यक शक्ति भी है। ये दोनों प्रजाकी सभाएं ही हैं।

३. राजाकी आज्ञासे इनकी उत्पत्ति होती है। इसलिये राजा इनका जनक है, परंतु ये राजाकी कन्याएँ होनेके कारण पत्नीवत् प्रजाकी सभाओंका भोग राजा नहीं कर सकता। ये सभाएं (दुहिता=दूरे हिता) राजाके अधिकारसे दूर रहनेसे ही हितकारक हैं। सभा और समितिकी स्वतंत्रता यहां

कही है।

४. राजा प्रजा-पति अर्थात् प्रजाके पालनका कार्य करता रहे और उस प्रबंधमें सभा और समितिकी सलाह लेता रहे।

५. उक्त राज-सभाओंके सभासद अपना मत निष्पक्ष होकर राजाको देते रहें, इस समय (पितरः) वे अपने आपको राजाके पिता माता जैसे समझें। पुत्रको समझानेके समान राजाको समझा देवें।

सा उदक्रामत् । सा सभायां न्यक्रामत् ।
सा समितौ न्यक्रामत् । सा आमंत्रणे न्यक्रामत् ।
(अथर्व.)

'वह प्रजाकी शक्ति ग्रामसभामें उत्क्रान्त हुई, वह राष्ट्र-समितिमें और मन्त्री-मण्डलमें उन्नत हुई।' इस तरह ग्राममें ग्रामसभा, राष्ट्रमें राष्ट्रीय समिति और मन्त्रीमण्डल प्रजाके प्रतिनिधियोंका बनता है और इसके द्वारा राष्ट्रका राज्यशासन चलाया जाता है। सभा, समिति और मंत्रीमण्डल ये सब प्रजाकी ही संस्थाएँ हैं। अतः इनसे होनेवाला राज्यशासन प्रजा अपने द्वारा अपनी उन्नतिके लिये जैसा चाहिये वैसा करती है, उसमें राजाका हस्ताक्षेप नहीं होता, यह सब बात ऊपरके वेदमन्त्रोंसे सिद्ध है। यही बात गीताने 'प्रकृति सब कुछ प्रपंच करती है, स्वामी केवल द्रष्टा है, असंग है।' इतने संकेतमात्रसे कहा है और साख्यशास्त्रने भी अध्यात्मिक सिद्धान्तके द्वारा वही ज्ञान प्रकट किया है।

राजाओंका राजा परमेश्वर है। 'उस परमेश्वरको हम अकर्ताके रूपमें स्वीकार करनेको तैयार हैं, वह कुछभी कर्म स्वयं न करें। जो करना हो वह उसकी प्रकृति करे।' ऐसा कहनेवाले ऋषि उससे छोटे पृथ्वीपरके राजाके अनियंत्रित राजा किस तरह स्वीकार कर सकेंगे? जो राजाओंके राजासे डरते नहीं और जो उसपर प्रकृतिका आवरण डालते हैं, वे पृथ्वीपरके छोटे राजापर प्रजाके नेताओंका आवरण डालनेसे क्योंकर डरेंगे?

अस्तु। इस तरह प्रजातंत्र राज्यका आदेश वेद देता है, अध्यात्मशास्त्रमें वही अपने ढंगसे कहा है, गीतामें उसीका अनुवाद किया है। और यह बात तत्त्वज्ञानसे अध्यात्मके सिद्धान्त द्वारा बतानेके कारण स्थायी रूपसे सिद्ध हो चुकी है, क्योंकि वैदिक तत्त्वज्ञान चर्चा करनेके लिये ही केवल नहीं, है, प्रत्युत आचरणके लिये ही है।

एक को व्यक्ति कहते हैं और अनेक व्यक्तियोंका समूह विशेष एकरूपतासे रहने लगा तो उसको राष्ट्र कहते हैं। मनुष्य संघ बनाकर रहनेके लियेही उत्पन्न हुआ है। मनुष्य अकेला रहा तो उन्नत नहीं हो सकता। इसलिये इसको वेदने 'व्रातः' ऐसा सामुदायिक जीवन दर्शानेवाला नाम दिया है। व्यक्तिमें जो गुण स्वभावसे रहते हैं, वेही राष्ट्रमें गुणी पुरुषोंमें प्रकट हुए दीखते हैं, देखिये—

व्यक्तिमें	राष्ट्रमें
गुण	गुणी
ज्ञान	ज्ञानी
कारीगरी	कारीगर
बल	बली, बलिष्ठ

इस तरह अनेक गुणोंके विषयमें जानना उचित है। इससे स्पष्ट पता लग जायगा कि, व्यक्तिके नियमही राष्ट्रमें लगते हैं। आर्यशास्त्र व्यक्तिके नियम बतानेके अध्यात्मविद्याकी महती वर्णन करता है, उसी तरह अधिदैवत विद्याका भी वर्णन करता है। इनके अनुसंधानसे मानवी समष्टि अर्थात् राष्ट्रके शासन-विषयक ज्ञानका बोध लेना उचित है। इसी तरह ज्ञान लेनेके विधिको गुह्य ज्ञान कहते हैं। इससे पता लग सकता है कि यह ज्ञान क्षत्रिय-परंपरामें क्यों रहा था। क्षत्रियोंको राज्य-शासनमें इसका उपयोग था, इसीलिये यह विद्या उनमें रही थी।

अध्यात्मविद्याके संपूर्ण सिद्धान्त इस तरह राज्यशासनमें लिये जा सकते हैं। यहां हमने मुख्य सिद्धान्तोंका राज्य-शासनमें परिवर्तन करनेकी प्रक्रिया भी स्पष्ट रूपसे सिद्ध करके बतायी है, जिससे हरएक आध्यात्मिक सिद्धान्तसे राज्यशासनके नियम निश्चित रूपसे देखे जा सकते हैं। आगे भी हम यही कार्य करेंगे। गीताके नवम अध्यायमें अध्यात्मविद्याके साथ राजविद्याका विचार बताया है, उसमेंसे कुछ वचन अब बताते हैं—

निष्पक्ष राजा

समोऽहं सर्वभूतेषु न मे द्वेष्योऽस्ति न प्रियः॥२९॥
अपि चेत्सुदुराचारो भजते मामनन्यभाक् ।
साधुरेव स मन्तव्यः सम्यग्व्यवसितो हि सः॥३०॥

मां हि पार्थ व्यपाश्रित्य येऽपि स्युः पापयोनयः।
स्त्रियो वैश्यास्तथा शूद्रास्तेऽपि यान्ति परां गतिम् ३२
किं पुनर्ब्राह्मणाः पुण्या भक्ता राजर्षयस्तथा।
अनित्यमसुखं लोकं इमं प्राप्य भजस्व माम् ॥ ३३ ॥
(गीता अ. ९)

' सर्व मनुष्योंके साथ राजा निष्पक्ष होकर बर्ताव करेगा। राजाके लिये न कोई शत्रु है और नाहीं कोई प्रिय। दुराचारी भी यदि राष्ट्र-सेवाके कार्यमें लगेगा, तो उसको साधु माना जायगा (अर्थात् पूर्व समयके दुराचारसे उसको सदाके लिये अनिष्ट नहीं समझा जायगा। सुधारके लिये सबको समान अवसर मिलेगा।) पापयोनि, शूद्र, स्त्रियां तथा वैश्य भी उच्च योग्यता प्राप्त कर सकते हैं, फिर भला पवित्र ब्राह्मण और क्षत्रियोंकी उन्नति होगी अर्थात् उनको भी योग्य अवसर मिलेगा यह क्या कहना चाहिये ? '

इस तरह ये वाक्य जैसे अध्यात्ममें लगते हैं, वैसेही ये राज्यशासनकी नीति भी प्रकट कर रहे हैं। अब और कुछ वचन देखिये —

' न च मत्स्थानि भूतानि' (५) = ईश्वरके आश्रयमें ही सब भूत नहीं हैं, वे स्वतंत्र हैं। राजाके आधारसेही सर्वथा सब मनुष्य नहीं हैं। सब प्रजा स्वतंत्र है। प्रजाकी शक्ति स्वतंत्र है। प्रजा रही तो ही राजा रह सकता है, परंतु राजाके न होते हुए भी प्रजा रहती है। राजा सापेक्ष है, प्रजा निरपेक्ष रह सकती है।

'भूतग्रामः प्रकृतेर्वशात् अवशः ' (८) = सब भूत प्रकृतिके वश हैं, अतः वे परतंत्र हैं। सब मनुष्य प्रजाकृत नियमोंसे बंधे हैं, अतः वे जैसा चाहिये वैसा बर्ताव नहीं कर सकते हैं। प्रत्येक मनुष्य उसके संघके नियमोंसे बंधा है। ' यदि कोई मनुष्य 'मैं नहीं लडूंगा' ऐसा कहेगा, तो भी प्रजाकी प्रेरणा होनेपर उसको लडना ही होगा। ' (गी. १८-१९) इतना प्रजाका अधिकार राष्ट्रकी रक्षाके समय प्रत्येक मनुष्य पर है।

'जगत् विपरिवर्तते ' (१०) = जगत् का परिवर्तन होता है। इसलिये उस परिवर्तनके अनुसार शासनके नियमोंमें भी परिवर्तन होना उचित है।

' राक्षसी और आसुरी कार्य करनेवालोंका ज्ञान, कर्म और आशाऍं व्यर्थ हैं। ' (१२) = उनका परिणाम किसीके लिये लाभदायक नहीं हो सकता। इसलिये ' दैवी प्रकृतिका आश्रय करना सबको योग्य है। ' (१३) दैवी प्रकृतिका आचार सत्य अहिंसा आदि आगे गीतामें बताया है।

' अनन्यभावसे जो लोग राज्यके कर्ममें दत्तचित्त होते हैं, उनका योगक्षेम राजसत्तासे चलाया जायगा।' (२२) यह कार्यकर्ताओंके लिये विश्वासका स्थान है। इस तरह विश्वासपूर्वक सब लोग राष्ट्रके कार्यमें दत्तचित्त हों।

इस तरह नवम अध्यायमें वचन हैं। वे मुख्यतया अध्यात्म विद्याका प्रतिपादन करते हैं, परंतु वे पूर्वोक्त रीतिसे राजविद्याका भी उपदेश देते हैं। शब्दोंका मुख्य प्रयोग अध्यात्मज्ञान देनाही है, इसलिये राजविद्याका अर्थ देखनेके समय वाक्यरचना और अर्थके विवरणमें आवश्यक हेरफेर करना पडता है। इस तरह देखनेसे गीताके आध्यात्मिक सिद्धान्तोंसे राज्यशासन सिद्ध हो सकता है, क्योंकि उसमें किसी स्वार्थी मानवका स्वार्थी हाथ नहीं होता। वह तो मौलिक नियमोंपर आश्रित हुआ राज्यशासन होगा और वे मौलिक नियम अटल हैं, इसलिये यह राज्यशासन भी स्थायी सुख देनेवाला होगा।

गीतामें केवल नवम अध्यायमें ही इस तरहके मौलिक आध्यात्मिक नियम हैं, जो राज्यशासनमें परिवर्तित हो सकते हैं ऐसी बात नहीं है। हम आगे जाकर अनेक प्रवचनोंमें बतायेंगे कि, सभी गीतशास्त्रके नियम इसी तरह मानवी आचरणमें लाने योग्य हैं।

आगे क्रमशः यही विषय चलेगा। यह विषय नवीन है, इसलिये विचार करनेवाले बडी सावधानीसे इन विचारोंका निरक्षण करते जायँ। और इसको अपनाते रहें।

(७)

कर्म -- योग

कर्म करना प्राणीकी प्रवृत्ति है।

श्रीमद्भगवद्गीतामें कर्मयोगका विशेष महत्त्वके साथ वर्णन है। वैसे तो गीतामें अनेक योग कहे हैं, परंतु '**कर्मयोगो विशिष्यते**।' (गी. ५।६) कर्मयोगकी विशेषता कही है, क्योंकि कर्मका संबंध प्रत्येक मानवके साथ, प्रत्येक प्राणीके साथ, निजधर्मरूपसे है—

न हि कश्चित् क्षणमपि जातु तिष्ठत्यकर्मकृत्।
कार्यते ह्यवशः कर्म सर्वः प्रकृतिजैर्गुणैः॥
(गी. ३।५)

'कोई प्राणी एक क्षणभरभी कर्म किये विना नहीं रहता, प्रकृतिके गुणोंसे अवश होकर वह कर्म करता ही है।' अर्थात् कर्म किये विना रहना मनुष्यके लिये अशक्य है। इस मनुष्यने प्रयत्न करके कर्म न किया, तोभी शरीर-स्वभावसे कर्म होही जायगा।

एक सतत चलनेवाली मोटार है ऐसी कल्पना कीजिये। वह चलतीही रहेगी। वह कदापि बंद नहीं होगी। ऐसी अवस्थामें अन्दर बैठनेवाले मनुष्योंको उचित है कि वे उस मोटारको उत्तम मार्गपरसेही चलावें, नहीं तो वह मोटार अपनी गतिसे जहां कहीं जाकर गढेमें गिर जायगी, स्वयं टूट जायगी और अन्दर बैठनेवालोंको भी तोड देगी। मनुष्यकी अवस्था ऐसी ही है। मनुष्यसे कर्म होतेही रहेंगे, क्योंकि मनुष्यका स्वभावही कर्म करनेका है। जिस किसी अवस्थामें मनुष्य हो वहां उससे कुछ न कुछ कर्म होतेही जायँगे।

पश्यन् शृण्वन् स्पृशन् जिघ्रन् अश्नन् गच्छन्,
स्वपन् श्वसन्। प्रलपन् विसृजन् गृह्णन्
उन्मिषन् निमिषन्नपि॥ (गी. ५।८-९)

'देखना, सुनना, स्पर्श करना, सूंघना, खाना, जाना, सोना, श्वास लेना, शब्द बोलना, देना, लेना, पलकें मूंदना और बंद करना ये कर्म तो मानवसे होतेही रहते हैं।' और भी बात यह है कि, मनुष्यने कुछ भी कर्म न किया तो उस समय वह 'चुप रहना' रूप कर्म करेगाही। इस तरह यह मनुष्य कर्मके विना रह नहीं सकता।

परंतु ये शरीर-धर्मके कर्म क्या कामके हैं? मनुष्यको जो कर्म करने चाहिये वे ये कर्म नहीं। वेदने मनुष्यको '**क्रतु, यज्ञ**' ऐसे नाम दिये हैं और बताया है कि मनुष्य यज्ञमय है। अर्थात् वहां उद्देश्य यह है कि मनुष्य यज्ञरूप बने। यज्ञरूप कर्मके विना यह कुछ भी न करे। यहां दो कर्मोंका विचार आता है। एक **यज्ञरूप कर्म** और दूसरे **अयज्ञरूप कर्म**। अतः इनका विचार करके निर्णय करना चाहिये कि यह मनुष्य अयज्ञरूप कर्म छोडकर केवल यज्ञरूप कर्मही किस तरह करे और उनके योगसे अपना जीवन किस तरह पवित्र कर सके। इसका विचार करते समय गीतोक्त तीन कर्म हमारे सम्मुख आते है—

कर्मके तीन भेद

किं कर्म किमकर्मेति कवयोऽप्यत्र मोहिताः।
तत्ते कर्म प्रवक्ष्यामि यज्ज्ञात्वा मोक्ष्यसेऽशुभात् १६
कर्मणो ह्यपि बोद्धव्यं बोद्धव्यं च विकर्मणः।
अकर्मणश्च बोद्धव्यं गहना कर्मणो गतिः १७
कर्मण्यकर्म यः पश्येदकर्मणि च कर्म यः।
स बुद्धिमान् मनुष्येषु स युक्तः कृत्स्नकर्मकृत् १८
(गी. ४)

'कर्म क्या है और अकर्म क्या है, इस विषयमें बडे बडे ज्ञानीभी मोहित हुए हैं। इसलिये कर्मके विषयमें मैं तुझे कह देता हूं, जिसको जाननेसे अशुभ कर्मसे तू बच जायगा। मनुष्यको कर्मके विषयमें जानना चाहिये, विकर्मके बारेमें भी जानना चाहिये और अकर्म क्या है सोभी जानना चाहिये। कर्मका परिणाम बडाही सूक्ष्म होता है। जो मनुष्य कर्ममें अकर्म होता है ऐसा देखता है और अकर्ममें कर्म होता है ऐसा अनुभव करता है, वह मनुष्योंमें बडाही बुद्धिमान् है इसमें

संदेह नहीं है। वही कुशलतासे कर्म करनेवाला है और वही संपूर्ण कर्मोंको यथावत् करनेवालाभी है।'

इन गीताके श्लोकोंमें कर्मका बडा तत्त्वज्ञान कहा है। इनमें सबसे प्रथम कर्मके तीन प्रकार कहे हैं। कर्म, अकर्म और विकर्म ये तीन प्रकारके कर्म हैं। प्रथमतः हमें कर्मका मूल धात्वर्थ देखना है। 'कृ' = करना, इस अर्थका यह धातु है। कर्म करना इतना इसका अर्थ है। 'कृ+मन् = कर्मन्' इस तरह कर्म पद बनता है। कुछ करनेमें मन लगाना और वह करना, अर्थात् मनःपूर्वक कुछ करनेका अर्थही कर्म है। जिसमें मनुष्यका मन नहीं लगा, जो मनुष्यसे आपही आप बन गया, वह उसका कर्म नहीं हो सकता। मन लगाकर किये कर्मकाही मनुष्य जिम्मेदार रहता है।

केवल 'कर्म' का अर्थ क्रिया मात्र है। वह कोई अच्छी बात नहीं। केवल हाथ उठानाभी कर्म है। पर उसका क्या उपयोग है? इसलिये जिस कर्मका हम विचार करना चाहते हैं, वह केवल क्रिया मात्र नहीं है। जिस कर्मके करनेसे मनुष्य-का 'यज्ञ' नाम सार्थक होता है, उस कर्मका विचार हम करना चाहते हैं। उसके करनेके समय हमारे सामने '**कर्म, अकर्म** और **विकर्म**' ये तीन प्रकारके कर्म आते हैं। इनका अब हम विचार करते हैं –

'**विकर्म**'= (**विरुद्धं कर्म**) = अशुद्ध रीतिसे किया कर्म, अन्याय कर्म, जो कर्म मनुष्यको करना योग्य नहीं वह कर्म, जो निषिद्ध है, जो हानिकारक है, जिसके करनेसे व्यक्तिकी और समाजकी हानि होती है, जो करना मनुष्यकी उन्नतिके लिये योग्य नहीं, अपवित्र कर्म, कुकर्म ऐसा जो है वह कर्म 'विकर्म' कहलाता है। (**विविधं कर्म**)– विविध प्रकारके कर्म एकही समयमें करना, अनेक कार्यव्यवहारोंको एकही समय करना, इस कारण किसीपर भी चित्तका न लगना और इस कारण सब कर्मोंका बिगडना, (**विगतं कर्म**) कर्मको छोडना, आरंभ किये कर्मको हाथसे छोड देना। ये तीन अर्थ विकर्मके हैं। परंतु यहां विरुद्ध तथा निषिद्ध कर्म यही पहिला अर्थ लेना चाहिये, क्योंकि अन्य अर्थ इसीमें समा जाते हैं।

जो तो विरुद्ध अथवा निषिद्ध कर्म है वह तो किसीको भी करना उचित नहीं है। धर्मशास्त्रके तथा मानवी उन्नतिके विरुद्ध जो भी कर्म होंगे वे कर्म सर्वथा त्यागनेही चाहिये। इसी तरह कर्मका त्याग करना अथवा अपनेसे न होनेवाले अनेक कर्मोंको करते जाना भी उचित नहीं है। ये सब विकर्म हैं और ये मानवताकी हानि करनेवाले हैं। मनुस्मृतिमें अनेक विकर्मोंका उल्लेख है, देखिये–

कितवान् कुशीलवान् क्रूरान् पाषण्डस्थांश्च मानवान्।
विकर्मस्थान्शौण्डिकांश्च क्षिप्रं निर्वासयेत्पुरात्॥ २२५
एते राष्ट्रे वर्तमाना राज्ञः प्रच्छन्नतस्कराः।
विकर्मक्रियया नित्यं बाधन्ते भद्रिकाः प्रजाः॥ २२६
(मनु० ९)

'जुआरे, धूर्त, क्रूर कर्म करनेवाले, पाखण्डी, मद्यविक्रेता, ऐसे हानिकारक कर्म करनेवाले मनुष्योंको राजाने अपने राज्यसे बाहर हटा देना चाहिये। क्योंकि राजाके राज्यमें ये छिपे चोरही है। अच्छी प्रजाको ये कष्ट देते हैं, अतः राजा इनसे अपनी प्रजाका बचाव करे।'

इस मनुस्मृतिके वचनमें विकर्मोंके कुछ उदाहरण दिये हैं। इनके मननसे विकर्मोंकी कुछ न कुछ कल्पना आ सकती है। विकर्म अनेक प्रकारके हैं। मनुष्य ये विकर्म करते हैं और अपना तथा दूसरोंका नाश करते हैं। ये निषिद्ध कर्म हैं, ये करने नहीं चाहिये। यहां विकर्मोंका विचार हम समाप्त करते हैं।

'**अ-कर्म**' – (न कर्म) –कर्म न करना, आलस्यमें रहना, कर्म करनेकी योग्यता न होना, कर्म करनेकी अक्षमता, कर्म करनेका अधिकार न होना, कर्मके स्थानमें भी जो बैठनेका अधिकारी नहीं है, कर्म करने पर भी जो न कियासा होता है, असंग भावसे कर्म जो दोषसे बचाता है। लेप न लगानेवाला कर्म।

ये अकर्मके अर्थ हैं। यह 'अकर्म' पद गीतामें दो प्रकार-के अर्थोंमें आ गया है, देखिये–

मा ते संगोऽस्त्वकर्मणि। (गी. २।४७)
कर्म ज्यायो ह्यकर्मणः। शरीरयात्रापि च ते
न प्रसिद्ध्येदकर्मणः। (गी. ३।८)
न हि कश्चित् क्षणमपि जातु तिष्ठत्यकर्मकृत्।
(गी. ३।५)

'तेरी रुचि आलस्यमें न हो, कर्म न करनेसे कर्म करना श्रेष्ठ है, कर्म न करनेसे शरीरभी नहीं चल सकता। कोई प्राणी एक क्षणभर भी कर्म छोड नहीं रह सकता।' इन वचनोंमें

अकर्मका अर्थ कर्म न करना अथवा आलस्य ऐसा है। परंतु–

कर्मण्यकर्म यः पश्येदकर्मणि कर्म यः ॥ (गी. ४।१८)

आत्मानं अकर्तारं स पश्यति। (गी १३।२९)

मां विद्धि अकर्तारमव्ययम्। (गी. ४।१३)

'कर्ममें अकर्म और अकर्ममें जो कर्मको देखता है। आत्माको जो अकर्ता जानता है।' यहां अकर्म और अकर्ता ये पद कर्म न करनेके वा आलस्यके द्योतक नहीं हैं, परंतु असंग वृत्तिसे किये कर्मके बोधक है। यह अकर्म उच्च अवस्थाका बोधक है। यह कर्म दोष उत्पन्न करनेवाला नहीं है, परंतु मनुष्यकी उन्नति करनेवाला है। परंतु जो आलस्य- अर्थ बताने वाला अकर्म है, वह दोष बढानेवाला है, क्योंकि उससे शरीर भी रहनेकी संभावना नहीं है, फिर उन्नतिकी तो आशाही कैसे की जा सकती है? अस्तु। इस तरह गीताके वचनोंमेंही यह स्पष्ट हुआ कि एक '**अकर्म**' पद आलस्यका बोधक है और दूसरा श्रेष्ठ कर्मका बोधक है। आलस्य बडा घातक है, मनुष्यको चाहिये कि वह अपने आपको उससे दूर रखे।

जो कर्म करनेपर भी कर्म न करनेके समान और निर्दोष रहता है वह श्रेष्ठ अवस्था है, इसमें उत्तमोत्तम कर्म होते रहते हैं। और एक 'अकर्म' की अवस्था है, जिसमें कर्म होते है, परंतु सामूहिक दृष्टिसे, समाज वा राष्ट्रकी दृष्टिसे वे करके भी न करनेके बराबर होते है। जैसे स्नान, भोजन, स्वकीय शोभा, केवल अपने अस्तित्वके लियेही जो आवश्यक है वे श्वास उच्छ्वास जैसे कर्म। ये कर्म तो मनुष्यको करनेही चाहिये, क्योंकि मनुष्यका जीवितही इनपर निर्भर है। परंतु ये किये वा न किये, तो समाज वा राष्ट्रकी दृष्टिसे कोई लाभ नहीं है, इसलिये ये करनेपरभी न किये जैसे है, अत ये कर्म होनेपर भी अकर्मही हैं। एक मनुष्यने अपने स्वास्थ्यके लिये कपडे पहन लिये, स्नान वा भोजन किया, इससे समाजका क्या लाभ हुआ? केवल वैयक्तिक अस्तित्वके साथ जो कर्म संबंधित हैं वे इस अकर्ममें आते हैं और इनका मूल्य समाजकी उन्नतिकी दृष्टिसे बहुतसा नहीं है।

विकर्म और अकर्मका विचार इस तरह किया, इससे यह सिद्ध हुआ कि 'विकर्म' तो सर्वथा त्याज्य है, आलस्य अर्थवाला अकर्म भी त्याज्य है, केवल अपना अस्तित्व रखनेके लिये जो कर्म आवश्यक है, वह तो करनाही चाहिये, परंतु उसका सामाजिक मूल्य बहुतसा नहीं है। तीसरा अकर्म जो श्रेष्ठ है वह तो करनाही चाहिये। यद्यपि उसका शास्त्रीय नाम 'अकर्म' है तथापि वह 'कर्म' में आता है। वह मनुष्यकी उन्नति करने वाला है। अब हम कर्मका विचार करते है–

कर्मका लक्षण

कर्मके तीन भेद कहे और उनमेंसे दो भेदोंके लक्षणभी बताये। इसलिये अब कर्मके तीसरे भेदोंका लक्षण जानना सुगम है। जिसमें पूर्वोक्त दो कर्मके भेदोंके लक्षण साथ नहीं होंगे, ऐसे लक्षण इस कर्मके होना संभव है। अर्थात् जो विरुद्ध अथवा निषिद्ध कर्म नहीं, जो करनेपर भी न करनेके बराबर नहीं होता, जो केवल वैयक्तिक अस्तित्वके लियेही सहायक नहीं होता, प्रत्युत जो सब विश्वरूपकी सेवाके लिये या पूजाके लिये किया जाता है, वह 'कर्म' है। इस विषयमें गीतामें ऐसा कहा है–

स्वकर्मणा तमभ्यर्च्य सिद्धिं विंदति मानवः।

(गी १८।४६)

'अपने कर्मोंसे परमेश्वरकी पूजा करनी चाहिये।' यह गीताका कथन मनन करने योग्य है। साधारण मनुष्य घरमे आ गया तो मनुष्य विशेष कुछ नहीं करता, परंतु कोई बडा पूजनीय पुरुष आया तो उसके आतिथ्यकी विशेष तैयारी करता है और यदि उसके घर महान् आत्मा अथवा कोई महाराजाही आनेवाला हो तो अपनेही घरकी नहीं परंतु अपना घर, घरका बाहेरका भाग और आनेका मार्गतक सजाता है और अपनेसे जितना उत्तमसे उत्तम हो सकता है उतना उसका स्वागत करता है। अब यहा तो साक्षात परमेश्वरकाही स्वागत और पूजन करना है, फिर उसकी तयारीमें वह कसूर कैसी करेगा? इसलिये वह कर्मभी उत्तम रीतिसे करता है और सब प्रकारकी तैयारी भी उत्तमसे उत्तम करता है।

परमेश्वरकी पूजा अपने कर्मोंसे करनी है। परमेश्वरके लियेही अपने कर्म समर्पित होने हैं। इस इरादेसे जो कर्म करेगा वह अपने कर्ममें किसी तरहसे न्यूनता नहीं रखेगा। ईश्वरको अपने कर्म अर्पण करनेके विषयमें गीताके वचन ये हैं—

यत्करोषि यदश्नासि यज्जुहोषि ददासि यत्।
यत्तपस्यसि कौन्तेय तत्कुरुष्व मदर्पणम् ॥

(गी. ९।२७)

मत्कर्मकृन्मत्परमो मद्भक्तः संगवर्जितः।
निर्वैरः सर्वभूतेषु यः स मामेति पाण्डव ॥
(गी. ११।५५)

अभ्यासेऽप्यसमर्थोऽसि मत्कर्मपरमो भव।
मदर्थमपि कर्माणि कुर्वन्सिद्धिमवाप्स्यसि ॥
(गी. १२।१०)

युक्त आसीत मत्परः (गी. २।६१; ६।१४)

ये तु सर्वाणि कर्माणि मयि संन्यस्य मत्पराः।
अनन्येनैव योगेन मां ध्यायन्त उपासते।
(गी. १२।६)

चेतसा सर्वकर्माणि मयि संन्यस्य मत्परः।
बुद्धियोगमुपाश्रित्य मच्चित्तः सततं भव ॥
(गी. १८।५७)

' जो तू करेगा, जो खायेगा, जो हवन करेगा, जो देगा, जो तप करेगा, वह मुझे (विश्वरूपके लिये) अर्पण करो ॥ मेरे (विश्वरूपके) लिये कर्म कर, मेरी (विश्वरूपकी) सेवा कर, अन्यत्र किसीके संगका विचारही न कर (क्योंकि विश्वरूप ईश्वरको छोडकर दूसरा यहां कोई नहीं है), सब प्राणियोंके विषयमें वैररहित व्यवहार कर ॥ मेरे (विश्वरूपकी सेवाके) लिये कर्म करनेकाही एक विचार अपने मनमें धारण कर, मेरे (विश्वरूपके)लिये कर्म करनेसेही तू सिद्धिको प्राप्त होगा ॥ मेरे (विश्वरूपके) लिये कुशलतासे कर्म कर। जो अपने किये सब कर्म मेरे (विश्वरूपके) लियेही अर्पण करते हैं और अनन्य हो कर मेरा (विश्वरूपका) ही ध्यान करते हैं, वे सिद्धि प्राप्त करते है ॥ मनसे अपने सब कर्म मेरे (विश्वरूप) के लिये अर्पण करके मेरे (विश्वरूप) परही सतत अपना चित्त लगा दो । '

यहां अपने सब कर्म परमेश्वरको अर्पण करनेका भाव स्पष्ट है। यह भाव सब जानतेभी है। पर आजकलके लोग ऐसा समझते है कि यह विश्वरूप भ्रमजाल अतएव तुच्छ है, निराकार परमेश्वर इससे भिन्न है, उसको अपने कर्म अर्पण करने हैं। पर यह बात ऐसी है कि जो प्रत्यक्षका तो त्याग करना और अप्रत्यक्षके लिये यत्न करना। इससे होता यह है कि अप्रत्यक्ष तो मिलना नहीं है और प्रत्यक्ष तो छोडही दिया है।

गीताने ईश्वर विश्वरूप है ऐसा कहा है वह प्रत्यक्षभी है। वह कहताभी है कि अपनेको क्या चाहिये और क्या नहीं चाहिये, इसका तो विचारही नहीं करना, इतना हीं नहीं परंतु ' मानवी देहोंके रूपसे अवतीर्ण हुए ईश्वरकी निंदा करना और जो कभी कुछ कहता नहीं उसके पीछे पडना ' (गी. ९।११) यह मानवोंका व्यवहार ठीक नहीं है।

विश्वरूप ईश्वर सदा सर्वदा कहता रहता है कि अपनेको यह दो। देखिये, शिष्यरूपमें परमेश्वर आपके सामने आता है और विद्या पढाओ करके कहता है, निष्पक्ष होकर उस परमेश्वरकी सेवा विद्याके अध्यापनरूप अपने कर्मसे करो। मानवोंके रूपोंमें परमेश्वर दुकानोंपर आता है, कुछ खरीदना चाहता है, उस समय अपना तोल संभालो। अपने देशमें परमेश्वरको उचित नैवेद्य न मिलनेसे लाखोंकी संख्यामें भूखसे मरना पडा है, दवाईसे दूर रहना पडा है। पर अन्यत्र अन्न सडनेसे फेंक दिया गया है। ये अत्याचार कोई कम नहीं हैं। दिनरात हम परमेश्वरके साथही व्यवहार कर रहे हैं, क्योंकि विश्वरूप परमेश्वर है, आप विश्वके साथही व्यवहार कर रहे हैं, अतः आप जो कर रहे हैं, वह परमेश्वरके साथ ही व्यवहार हो रहा है। वह कैसा हो रहा है, वह देखिये।

रेलमें एक मनुष्य सोता है और दस मानवोंको बैठनेकी जागा रोक लेता है, इस कारण जो कष्ट होते हैं, वे विश्वरूपको कष्ट हो रहे हैं। एक सेठ अपने घरमें लाखों रु० का धान्य संग्रह करके रख लेता है, और महंगा करके बेचता है, इससे वह विश्वरूपकोही कष्ट पहुंचाता है। एक मनुष्य अथवा कुछ मानव-समूह मिलकर एक मंडली बनाते हैं, और ऐसी व्यापार व्यहारकी रचना कर देते हैं कि जिससे लाखों लोगोंका कष्ट बढता है। राज्य-व्यवहार के सूत्र अपने अधीन करते हैं और करोडो मानवोंको नाना प्रकारसे उन्नतिके मार्गोंसे रोक रखते हैं, अपने स्वार्थ-साधनके लिये युद्धोंकी रचना करते हैं जिसमें लाखों लोग मरते और जखमी होते हैं। ये सब कुव्यवहार विश्वरूप परमेश्वरके साथ हो रहे हैं। इससे विश्वरूप परमेश्वर संत्रस्त हो रहा है। जबतक उसका कोप शान्त न होगा, तबतक युद्धसाधन बढने मात्रसे शान्ति नहीं रहेगी। यहां तो विश्वसेवाका भाव इन लोगोंके अन्तःकरणमें उत्पन्न होना चाहिये। विश्वसेवाके स्थानपर ' विश्वका भोग मैं करूंगा और अन्योंको उससे वंचित रखूंगा ' यह भाव बढाया जा रहा है और यही भाव बढ रहा है, यदि इन लोगोंमें विश्वरूप परमेश्वरकी सेवा करना अपना धर्म है। यह बात सुस्थिर होगी, तो यही विश्वकोही स्वर्गधाम बनायेंगे, परंतु इन्होंने विश्वको मृत्युधाम बना दिया है।

इतने विचारसे स्पष्ट हुआ कि कर्म कैसे होने चाहिये। जो केवल व्यक्तिके अस्तित्वके लियेही कारण होनेवाले न हों और जो व्यक्ति और समाजका घात करनेवाले न हों, परंतु विश्वरूप परमेश्वरकी सेवा करनेके लिये किए कर्म हों वेही कर्म हैं और वेही गीताके 'कर्म' शब्दसे बोधित होते हैं। यजुर्वेदके आरंभमेंही कहा है कि-

देवो वः सविता प्रार्पयतु श्रेष्ठतमाय कर्मणे, आप्यायध्वम् । (य. १।१)

'सब जगत्‌का उत्पन्न करनेवाला देव आप सब मानवोंको श्रेष्ठतम कर्म करनेके लिये प्रेरणा करे, आप सब बढ जाओ।' यहां '**श्रेष्ठतम कर्म**' कहा है। कर्म, श्रेष्ठ कर्म, श्रेष्ठतर कर्म और श्रेष्ठतम कर्म, ऐसे कर्मके प्रयोजन और उन्नतिके विचारसे भेद होते हैं। कर्मका अर्थही श्रेष्ठतम कर्म है, जो विश्वरूपकी सेवाके लिये किया जाता है। जो भी कुछ कर्म किया जाय, वह विश्वरूपकी सेवा करनेके लियेही होना चाहिये।

यहां प्रश्न उत्पन्न हो सकता है कि जो कर्म अपने जीवन-के निर्वाहके लिये आवश्यक हैं उनको किस तरह करना चाहिये या किस तरह निभाना चाहिये? इसके उत्तरमें निवेदन यह है कि अपना जीवनभी विश्वरूप ईश्वरके विश्वरूप जीवनके साथ एकरूप हुआ देखना चाहिये। अपने आपको विश्वरूप ईश्वरसे अनन्य, अपृथक्, अर्थात् विश्वरूपमें संमिलित मानना और अनुभव करना चाहिये। ऐसा विचार मनमें स्थिर होनेसे अपना अस्तित्व भी विश्वरूप परमेश्वरके अस्तित्वके साथ एकरूप हो जायगा। फिर तो अपने जीवनके लिये किये कर्म भी विश्वरूपके लिये किये कर्मके समान ही हो जायेंगे। यही 'अकर्ममें कर्मका होना है।' (गी. ४।१८)

सर्वसाधारणतया विश्वरूपको परमेश्वर माननेवाला मनुष्य प्रारंभमें ऐसा समझ सकता है कि- 'मैं भोजन करता हूं वह इस लिये कि उससे मैं जीवित रहूं और विश्वरूप ईश्वरकी सेवा करनेमें समर्थ होऊं। मैं व्यायाम इसलिये कर रहा हूं कि उससे मेरा बल बढेगा और उससे विश्वरूपकी विशेष सेवा होगी। मैं विश्राम ले रहा हूं वह इसलिये कि मुझे उससे उत्साह प्राप्त हो, जिससे मैं विश्वरूपकी सेवा विशेष रूपसे कर सकूं।'

प्रथमारंभमें इस तरह मनुष्य अपने जीवन-निर्वाहके लिये किये जानेवाले कर्मोंके विषयमें कह सकता है। परंतु विशेष योग्यता होनेके बाद वह स्वयं विश्वरूपकाही अंग बनकर कार्य करता है और उसमें पृथग्भावभी नहीं रहता।

इस तरह विचार करनेपर यह स्पष्ट हुआ कि अखण्ड विश्वरूपकी सेवा करनेके सद्भावसे तथा अनन्यभावसे जो कर्म किये जाते हैं, वेही 'कर्म' कहलाते हैं और वेही उद्धारक कर्म हो सकते हैं। यहां हमने 'अखण्ड विश्वरूप' की सेवा ऐसा कहा है। यह महत्त्व की बात है, अतः इसका स्पष्टीकरण करना चाहिये-

अखण्ड विश्वरूपकी सेवा

विश्वरूपकी सेवा करनेके लिये जो किया जाता है वह 'कर्म' है, ऐसा यहा कहा है। इस विषयमें जो सावधानी रखनी चाहिये वह यह है कि जिस विश्वरूपकी सेवा करनी है वह अखण्ड और एक विश्वरूप है। यहां पृथक् पृथक् टुकडे नहीं है। सब विश्व मिलकर एकही सत्ता है।

सब विश्व मिलकर एकही अखण्ड और अनन्य सत्ता है, इसके भूलनेसे बडे अनर्थ हो सकते हैं। अपनी जाति पृथक् है, अपना धर्म स्वतंत्र है, अपना देश भिन्न है, ऐसा छोटे दायरेका अभिमान जाग्रत करनेसे अथवा जाग्रत होनेसे बडे बडे भयानक परिणाम होते हैं। यह हम आज भी देख रहे है। प्रत्येक देशकी भक्ति पृथग्भावसे बढनेसे ये अनर्थकारक युद्ध छिड गये हैं और जनताका संहार कर रहे हैं। धर्मके कारण कितने युद्ध हुए वे इतिहासोंमें दिखाई देंगे, पर आज भी भारतके विच्छेदके लिये जो माग हो रही है वह इसीका परिणाम है। अतः विश्वरूप अखण्ड एकरस है, इसमें टुकडे नहीं हैं, यह बात ध्यानमें धारण करनी चाहिये और इसके अनुसार अखण्डके अविरोधसे अपने कर्म करने चाहिये। नहीं तो वह विश्वसेवा नहीं होगी, परंतु वह विश्वका घातही होगा।

मनुष्यसे जो सेवा होगी वह खण्डकीही सेवा होगी, क्योंकि विश्वतक मनुष्यकी पहुंचही नहीं हो सकती। परंतु जिस खण्डकी सेवा करनी है, वह खण्ड अखण्ड विश्वरूपका है, यह जानकर सेवा करनी चाहिये।

इस लिये एक उदाहरण लेते हैं। मान लें की किसीको अपने मातापिताकी सेवा करनी है, तो वह क्या करता है? माता पिताके किसी अवयवकी मालिश अथवा कुछ अन्य सेवा करता है। सेवा संपूर्ण शरीरकी कभी हो ही नहीं सकती। वह तो किसी एक अवयवकी ही एक समय होगी। परंतु वह अवयव

उस पिताके अखण्ड शरीरका अवयव है, इस अनन्यभावसे उस अवयवकी सेवा करनेपर उसमें कोई दोष नहीं उत्पन्न होता। इसी तरह हम जो सेवा करते हैं, वह उस अवयवकी करते हैं कि जहां कुछ न्यूनता हो, जहां दुःख होता है। नीरोग और निर्दोष शरीरकी सेवा करनेकी जरूरत भी नहीं। इसी तरह विश्वरूपमें भी जहां जिसकी आवश्यकता है वहां वह पूर्ण करनाही विश्वरूपकी सेवा है। और वह अखण्ड-भावसेही होनी चाहिये।

खण्डित भावसे की हुई सेवा अनर्थकारी ही सिद्ध होगी। अब विचार कीजिये कि विश्वरूपकी सेवा कैसी और कबसे शुरू करनी चाहिये? विश्वरूपमें जहा कष्ट होंगे वहां जाकर सेवा करनी चाहिये। दलित जाति है, पददलित परतंत्र देश हैं, जहां मानवता भी प्रकट नहीं हो रही है, वहां सेवाका क्षेत्र है। और यह सेवा अखण्ड परमात्माकी सेवा करनेके भावसे करनी चाहिये।

इस तरह विचार करनेपर पता लग सकता है कि सेवाका क्षेत्र इतना विस्तृत है कि उसके लिये कितने भी लोग मिलकर कार्य करने लगें, तो वह क्षेत्र थोडेसे समयमें समाप्त होनेवाला नहीं है। इतना यह प्रचण्ड कार्य है। आजतक वेद, उपनिषद् और गीताने यह विश्वसेवा करनेका उपदेश किया, परंतु किसीने सुना नहीं। वैदिक ऋषि–मुनियोंने इस विश्वसेवाका कार्य किया था, परंतु आगे वह कार्य बंद हुआ। गीताके समय भगवान् श्रीकृष्णजीने यह शुरू किया, पर आगे इसको निभानेवाले कोई नहीं मिले। इसलिये यह वहीं बंद हुआ। अब इसका पुनः उद्धार करना चाहिये।

सनातन धर्म

वास्तवमें देखा जाय तो हमारा सनातन धर्म विश्वसेवाकाही धर्म है। 'सना-तन' का अर्थ ही 'सेवाभावका फैलाव करना' है। 'सन्' धातुका अर्थ (सन् संभक्तौ) सम्यक् भक्ति करना है; अर्थात् सम्यक् सेवा करना है। 'तन' का अर्थ विस्तार अथवा फैलाव है। अर्थात् 'सना-तन' का अर्थ विश्वरूपकी सेवा करनेके कर्तव्यका विस्तार करना' है। सनातन धर्म संपूर्ण विश्वरूपकी प्रसन्नताका ही विचार करता है। वह छोटे छोटे दायरोंका विचार ही नहीं करता। इसके बादके उत्पन्न हुए मतमतान्तर अपने अपने फिरकोंका विचार करते हैं।

परमेश्वरके विश्वरूपकी सेवा अखण्ड और अनन्यभावसे करनेसे ही सबका तारण होनेवाला है, यह बात सनातन धर्ममें प्रथम पहचान ली और वेदद्वारा वह प्रकट भी की गयी। उपनिषदोंने और गीताने उसीका अनुवाद किया है। अस्तु। इस तरह विश्वरूप ईश्वरकी अनन्य और अखण्ड भावसे सेवा करना ही मनुष्यका शाश्वत धर्म है।

जितना इस धर्मका आचरण होगा, उतना ही मानवका सार्थक हो सकता है। सब शास्त्रोंमें इसी धर्मका अनेक ढंगोंसे विवरणही किया है, इसका थोडासा नमूना देखिये—

> त्याज्यं दोषवदित्येके कर्म प्राहुर्मनीषिणः।
> यज्ञदानतपः कर्म न त्याज्यमिति चापरे ॥३॥
> यज्ञदानतपः कर्म न त्याज्यं कार्यमेव तत्।
> यज्ञो दानं तपश्चैव पावनानि मनीषिणाम् ॥५॥
> एतान्यपि तु कर्माणि संगं त्यक्त्वा फलानि च।
> कर्तव्यानीति मे पार्थ निश्चितं मतमुत्तमम् ॥६॥
> (गी. १८)

'कर्मका त्याग करना दोष बढानेवाला है, अतः यज्ञ, दान, तप रूप कर्म करने ही चाहिये। कभी इनका त्याग करना योग्य नहीं है। ये कर्म मनुष्योंकी पवित्रता करनेवाले हैं। फलका त्याग करना और भोगका संग छोडकर ये कर्म करना उचित है, ऐसा मेरा निश्चित और उत्तम मत है।' यह कर्मको विषयमें भगवान् का आदेश है। इससे यज्ञ दान और तप ये कर्म करना हरएकको आवश्यक है, यह बात यहां सिद्ध हुई।

तप

यहां कहा तप तो शीत उष्ण सहनद्वारा अपनी शक्ति बढानेका उत्तम साधन है। तथापि इसका वर्णन गीतामें इस तरह किया है--

> देवद्विजगुरुप्राज्ञपूजनं शौचमार्जवम्।
> ब्रह्मचर्यमहिंसा च शारीरं तप उच्यते ॥१४॥
> अनुद्वेगकरं वाक्यं सत्यं प्रियहितं च यत्।
> स्वाध्यायाभ्यसनं चैव वाङ्मयं तप उच्यते ॥१५॥
> मनःप्रसादः सौम्यत्वं मौनमात्मविनिग्रहः।
> भावसंशुद्धिरित्येतत्तपो मानसमुच्यते ॥१६॥
> श्रद्धया परया तप्तं तपस्तत्त्रिविधं नरैः।
> अफलाकाङ्क्षिभिर्युक्तैः सात्त्विकं परिचक्षते ॥१७॥

सत्कारमानपूजार्थं तपो दम्भेन चैव यत् ।
क्रियते तदिह प्रोक्तं राजसं चलमध्रुवम् ॥१८॥
मूढग्राहेणात्मनो यत्पीडया क्रियते तपः ।
परस्योत्सादनार्थं वा तत्तामसमुदाहृतम् ॥१९॥
अशास्त्रविहितं घोरं तप्यन्ते ये तपो जनाः ।
दम्भाहंकारसंयुक्ताः कामरागबलान्विताः ॥५॥
कर्षयन्तः शरीरस्थं भूतग्राममचेतसः ।
मां चैवान्तःशरीरस्थं तान्विद्ध्यासुरनिश्चयान् ६
(गी. १७)

इस स्थानपर जो विस्तारसे तपका वर्णन किया है, वह विचारपूर्वक देखने योग्य है। यहां शारीरिक, वाचिक और मानसिक तप कुछ उदाहरण देकर बताया है—

१. शारीरिक तप— देव, ब्राह्मण, गुरु और विशेष ज्ञानीका सत्कार करना, शुचिताका वर्धन करना, सरलतासे व्यवहार करना, ब्रह्मचर्यका पालन करना और अहिंसाका आचरण करना, ये शारीरिक तप हैं। (१४)

यहां विचार करनेयोग्य बात यह है कि अहिंसाके बर्तावसे निर्वैर भावकी वृद्धि होनेके कारण अनन्त सामाजिक संघर्ष दूर हो सकते हैं। ब्रह्मचर्यके पालनसे वीर्यकी स्थिरता होनेसे आरोग्य बल और दीर्घ आयुष्य प्राप्त हो सकता है। इतना ही नहीं परंतु गृहस्थाश्रममें भी मर्यादित ब्रह्मचर्यके पालनसे व्यभिचारादि अनेक सामाजिक दोष दूर होते हैं। (आर्जवं) सरल व्यवहारसे छल कपट आदि सब कुटिल व्यवहार दूर हो सकते हैं। (शौचं) शुद्धता और पवित्रतासे वैयक्तिक और ग्रामीण तथा राष्ट्रीय आरोग्य सुस्थिर हो सकता है। विद्वानोंका गौरव करनेसे अन्योंको विद्वान् होनेकी उत्तेजना मिलती है। इस तरह इनका राष्ट्रीय महत्त्व जानना उचित है।

२. वाचिक तप— जिससे दूसरेका मन न दुखे ऐसा भाषण करना, सत्य बोलना, प्रिय लगे ऐसे रीतिसे बोलना और हितकारक जो हो वही बोलना, स्वाध्याय करना यह वाचिक तप है। सतत उत्तम ग्रंथोंका अध्ययन करना और अपना ज्ञान बढाते रहना, सत्य प्रिय और हितकारक भाषण करना, कभी असत्य अप्रिय और अहितकारी भाषण न करना, तथा चुभनेवाला भाषण कभी न करना, यह वाचिक तप है। इससे वाचिक कर्मोंका निर्णय हो सकता है।

३. मानसिक तप— मनकी प्रसन्नता रखना, मनकी सौम्यता धारण करना, मौन रखना अर्थात् अधिक न बोलना, आत्मसंयम अथवा मनोनिग्रह करना, तथा मनोभावकी शुद्धता और पवित्रता करना यह मानसिक तप है, अर्थात् ये मानसिक कर्म ही हैं। इनसे केवल वैयक्तिक ही नहीं, अपितु सामाजिक और राजकीय स्वास्थ्य भी मिल सकता है।

४. सात्त्विक तप— फलकी आकांक्षा न करते हुए योगयुक्त होकर अर्थात् नियमोंके अनुकूल रहकर जो तप-पूर्वोक्त तप-किया जाता है वह सात्त्विक तप कहलाता है। यह शारीरिक, वाचिक और मानसिक ऐसा त्रिविध हो सकता है।

५. राजस तप— अपना संमान हो, अपनी कीर्ति बढे इसलिये दम्भसे अर्थात् आन्तरिक इच्छा न होते हुए केवल दिखावेके लिये जो तप किया जाता है वह क्षणिक फल देनेवाला राजस तप कहलाता है। यह भी शारीरिक, वाचिक और मानसिक ऐसा त्रिविध हो सकता है।

इसके कई उदाहरण ये हो सकते हैं। किसी पाठशालाको दान दिया तो अपनी मूर्ति वहां रखनेकी शर्त लगाना, इस तरह अपने संमानके लिये जो किया जाता है वह राजस तप है। इससे भी राष्ट्रमें कुछ न कुछ लाभही होता रहता है।

६. तामस तप— मूढतासे, न समझते हुए, अपने शरीरको बडी पीडा देकर, अथवा दूसरेको उखाडनेके लिये जो तप करते हैं, वह तामस तप है। यह भी शारीरिक, वाचिक और मानसिक ऐसा त्रिविध है। यह क्लेश बढानेवाला है, अतः यह न किया जाय तो अच्छा है।

अशास्त्रीय ढंगसे, दम्भ अहंकारसे युक्त, काम राग और बलसे युक्त होकर, सब शरीरके इंद्रियोंको अत्यंत कष्ट देकर, आत्माकोभी अति दुःख देकर जो किया जाता है वह आसुरी तप है। यह तो जैसा करनेवालेको क्लेश देता है वैसा दूसरोंको भी कष्ट देता है। यह आसुरी तप करना उचित नहीं।

यहां तपके अन्दर कितने कार्य आते हैं, इसका संक्षेपसे ही वर्णन किया है। जो इसका विचार करेंगे वे जान सकते हैं कि इनमेंसे सात्त्विक और राजस तथा शारीरिक, वाचिक और मानसिक तप करने योग्य हैं। परंतु तामसिक तप सबके क्लेश बढानेवाले होनेके कारण उनसे दूर रहना योग्य है।

*

दान

अब दानका विचार करते हैं। दानमें भी सात्त्विक, राजस और तामस ऐसे तीन भेद हैं। दान उनको दिया जाता है जिनके पास न्यूनता हो। न्यूनताकी पूर्णता करनेके लिये दिया दान यह एकसे होनेवाला सामाजिक स्वास्थ्यका महत्त्वपूर्ण कर्म है इस विषयमें गीताके निर्देश देखिये—

दातव्यमिति यद्दानं दीयतेऽनुपकारिणे।
देशे काले च पात्रे च तद्दानं सात्त्विकं स्मृतम् २०
यत्तु प्रत्युपकारार्थं फलमुद्दिश्य वा पुनः।
दीयते च परिक्लिष्टं तद्दानं राजसं स्मृतम् ॥२१॥
अदेशकाले यद्दानमपात्रेभ्यश्च दीयते।
असत्कृतमवज्ञातं तत्तामसमुदाहृतम् ॥२२॥
(गी १७)

१. सात्त्विक दान दान देना योग्य है, दान देना अपना कर्तव्य है ऐसा जानकर, प्रत्युपकारकी इच्छा न करते हुए योग्य देशमें, योग्य समयमें और योग्य मनुष्यको जो दान दिया जाता है, वह सात्त्विक दान कहलाता है। यह सात्त्विक दान सबका कल्याण कर सकता है। देनेवाला कौन है यह लेनेवालेको पता न लगे और मैंने किसको दिया इसका दान देनेवालेको भी पता न हो, परंतु योग्य समयमें योग्यको जो दान पहुंचता है, वह सात्त्विक दान है।

२. राजस दान- राजस दान वह दान है कि जो बदला लेनेकी इच्छासे दिया जाता है, इसका फल मुझे अवश्य मिलना चाहिये ऐसा उद्देश्य रखकर जो दिया जाता है और जो अति कष्टसे दिया होता है, वह राजस दान है। यह दान अल्प अंश से लाभ करता ही है, परंतु इसमें दाताको भी क्लेश होते हैं और लेनेवालेको भी दुःख होता है, इसलिये यह दान मध्यम है।

३. तामस दान- देश, काल और पात्रताका विचार न करते हुए, सत्कार करनेका विचार छोडकर तथा दूसरेका अपमान करके जो दान दिया जाता है, वह तामस दान है। इस तामस दानसे दानका तो फल मिलता ही नहीं, प्रत्युत सबकोही क्लेश होते हैं। इसलिये ऐसा दान करना किसीको भी उचित नहीं है।

यहां सात्त्विक, राजस और तामस दानका विचार करके गीताने दान विषयको अति स्पष्ट किया है। दान तो धर्मका जीवन ही है। जो समर्थ हैं उनको अपने सामर्थ्यका प्रदान असमर्थोंके हितके लिये करना आवश्यक ही है। यह दान कैसा करना चाहिये इस विषयमें ये गीताके निर्देश अत्यंत बहुमोल हैं। इनका योग्य विचार करके सबको अपना दानभाव सुधारना योग्य है।

यज्ञ

यज्ञमयही मनुष्यका जीवन होना चाहिये। '**क्रतुमयोऽयं पुरुषः**' ऐसा उपनिषदोंका कथन है, वह अतीव मनन करने योग्य है। इस यज्ञके तीन विभाग करके गीताने इस यज्ञको किस तरह करना चाहिये और किस तरह नहीं, यह बात समझा दी है, देखिये-

अफलाकांक्षिभिर्यज्ञो विधिदृष्टो य इज्यते।
यष्टव्यमेवेति मनः समाधाय स सात्त्विकः ॥११॥
अभिसंधाय तु फलं दम्भार्थमपि चैव यत्।
इज्यते भरतश्रेष्ठ तं यज्ञं विद्धि राजसम् ॥१२॥
विधिहीनमसृष्टान्नं मन्त्रहीनमदक्षिणम्।
श्रद्धाविरहितं यज्ञं तामसं परिचक्षते ॥१३॥
(गी. १७)

१ सात्त्विक यज्ञ-फल-भोगकी इच्छा न करते हुए विधिके अनुसार केवल कर्तव्यबुद्धिसे ही जो यज्ञ किया जाता है, वह सात्त्विक यज्ञ कहलाता है।

२ राजस यज्ञ- फल भोगकी इच्छासे, दम्भसे तथा अपना महत्त्व बढानेके लिये जो यज्ञ किया जाता है वह राजस यज्ञ है।

३ तामस यज्ञ- विधिको छोडकर, मन्त्र न कहते हुए, अन्नदान और दक्षिणा न देते हुए श्रद्धारहित होकर जो यज्ञ किया जाता है, वह तामस यज्ञ है।

इस तरह यज्ञका वर्णन गीता करती है। यज्ञका गीतामें किया अर्थ यहां लेना उचित है। द्रव्ययज्ञ, स्वाध्याययज्ञ, तपोयज्ञ, योगयज्ञ ऐसे अनेक वैयक्तिक और राष्ट्रीय यज्ञ गीताने चतुर्थ अध्यायमें कहे हैं। गीता जिस रीतिसे विचार करती है उस तरह मनुष्यका अखण्ड जीवनही यज्ञमय करनेका विचार गीता सोचती है, ऐसा दीखता है। केवल हवन-सामग्रीका यज्ञ यह एक यज्ञका प्रतीकमात्र है। गीताकी दृष्टिसे बुद्धि, मन, प्राण, इंद्रिय, शरीर, समाज और राष्ट्रके संपूर्ण

व्यापार इस यज्ञमें शामील होते हैं, इतना व्यापक दृष्टिकोण गीताने रखा है। ये सब यज्ञ सात्त्विक, राजस और तामस होनेसे कौनसा कर्म किस विभागमें संमिलित होता है इसका पता हरएकको लग सकता है। यहां इसका अधिक विचार करनेकी आवश्यकता नहीं है, क्यों कि उससे बहुतही विस्तार होगा। परंतु यहां हमें यज्ञ दान और तपकी कसौटीही देखनी है. वह पूर्वोक्त गीताकी विचार-धारासे स्पष्ट हो गयी है। अपना कर्म तामस न बने परंतु सात्त्विक बने, इसका विचार हरएकको करना चाहिये।

सहज कर्मका त्याग न करो

यद्यपि मनुष्यकी प्रकृति सात्त्विक राजसिक वा तामसिक ऐसी त्रिविध निश्चित हुई रहती है और उस प्रकृतिका उलंघन करना अशक्य है, तथापि अपने अपने प्रकृतिसे नियत हुए क्षेत्रमें अधिकसे अधिक उत्तम कर्म करनेका यत्न हरएक कर सकता है और वही हरएकका ध्येय होना योग्य है।

सहजं कर्म कौन्तेय सदोषमपि न त्यजेत् ॥

(गी. १८।४८)

' अपनी प्रकृतिके अनुसार नियत हुआ कर्म सदोष हुआ तो भी उसका त्याग करना योग्य नहीं है।'

अर्थात् क्षत्रियका युद्ध-कर्म नियत है, उसमें वधरूप दोष होता ही है, इसलिये इस वधरूप दोषको देखकर क्षत्रियको उचित नहीं है कि वह अपना सहज प्राप्त कर्म छोडनेका यत्न करे। क्यों कि वह कदापि छोडना नहीं चाहिये, ऐसा गीताने स्पष्ट कहा है। अपना कर्म छोडनेकी स्वतंत्रता किसीको भी नहीं है।

मनुष्य सामाजिक जीवन रखनेवाला प्राणी है। अतः समाज का स्वास्थ्यहीं उसका ध्येय होना चाहिये। ऐन युद्धके समय क्षत्रिय वीर अपने नियत कर्ममें हिंसा है यह देखकर उस कर्मका त्याग करके वनमें तप करनेके लिये जाने लगें, तो राष्ट्रपर अनर्थका प्रसंग आ जायगा। इसीलिये सहज कर्मका कभी त्याग नहीं करना चाहिये, ऐसा जो गीताने कहा वह योग्य ही है।

सहज कर्मका अर्थ यह है कि प्रत्येक मनुष्यकी जन्मतः प्रवृत्ति सात्त्विक राजस अथवा तामस नियत हुई रहती है। आहार रहनसहन आदिसे वह प्रवृत्ति प्रकट भी होती रहती है। उस प्रवृत्तिके अनुसार उसकी प्रगति ज्ञानार्जन, युद्ध, व्यापार वा कारीगरीके कर्मोंमें होती है। यह प्रवृत्ति सहज प्रवृत्तिही होती है और बदलनेकी इच्छा करनेपर भी नहीं बदलती। इस प्रवृत्तिसे नियत हुआ कर्म उससे अच्छी तरह हो सकता है। इसीलिये क्षणिक मोहके कारण उसमें बदल करना उचित नहीं है।

यज्ञमें ' देवपूजा+संगतिकरण+दान ' ये तीन कर्म प्रधान हैं। सत्कार करने योग्य जो होंगे उनका सत्कार करना, जनता का संगठन करना, और जो हीन दीन और असहाय होंगे उनको सहायतार्थ दान देना यह यज्ञ है। संपूर्ण राष्ट्रका धारण इससे होती है। इस यज्ञमें अनेक कर्म आते हैं जिनका विचार सोचनेवाले यथासमय कर सकते हैं। हम इतनीही कसौटी बताना चाहते हैं कि जहां योग्य पुरुषोंका सत्कार होता है, राष्ट्रका संगठन करनेकी योजना होती है और दीनोंका उद्धार करनेके कार्य होते हैं वहां यज्ञ हो रहा है ऐसा समझना योग्य है। हरएक कर्म इस कसौटीसे परखना चाहिये।

कर्म कैसे करने चाहिये ?

कर्म करनेके समय वे कैसे करने चाहिये, इसका भी विचार करना आवश्यक है इसविषयमें गीताके निर्देश स्पष्ट हैं—

योगस्थः कुरु कर्माणि ॥ (गी. २।४८)

' योगमें अवस्थित होकर कर्म करो ' यह कर्म करनेके विषयमें गीताकी आज्ञा है। यहां प्रश्न उत्पन्न होगा कि योगका यहां क्या अर्थ है ? इसके उत्तरमें निम्नलिखित गीता-वचन देखने योग्य हैं-

योगः कर्मसु कौशलम् । (गी. २।५०)
समत्वं योग उच्यते । (गी. २।४८)
समाधावचला बुद्धिस्तदा योगमवाप्स्यसि । (गी २।५३)
अनन्येनैव योगेन मां ध्यायन्तः ॥ (गी. १२।६)

इससे यह स्पष्ट हुआ कि " (१) कर्ममें कुशलता, (२) समभाव, (३) अचञ्चल बुद्धि, और (४) अनन्यभावका नाम योग है" और ऐसे चतुर्विध योगसे कर्म करने चाहिये। (१) कौशल्य (Skill in action), (२) समवृत्ति (equanimity), (३) चञ्चल न होनेवाली बुद्धि (immovable resolute mind) और (४) अनन्यभाव (identity) इन चार कसौटियोंसे सिद्ध हो सकता है कि यह कर्म योगके

अनुसार हुआ या नहीं। इस तरह चतुर्धा परीक्षित योग-बुद्धिसे कर्म करना चाहिये। इस विषयमें गीताके निम्नलिखित निर्देश देखनेयोग्य है—

१. न कर्मणामनारंभान्नैष्कर्म्यं पुरुषोऽश्नुते।
न च संन्यसनादेव सिद्धिं समधिगच्छति॥
(गी. ३।४)

२. कार्यते ह्यवशः कर्म सर्वः प्रकृतिजैर्गुणैः॥ (३।५)

३. नियतं कुरु कर्म त्वं कर्म ज्यायो ह्यकर्मणः।
शरीरयात्रापि च ते न प्रसिद्धयेदकर्मणः।
(गी. ३।८)

४. तस्मादसक्तः सततं कार्यं कर्म समाचर।
असक्तो ह्याचरन् कर्म परमाप्नोति पूरुषः॥
(गी. ३।१९)

५. कर्मणैव हि संसिद्धिमास्थिता जनकादयः॥
(गी. ३।२०)

६. मयि सर्वाणि कर्माणि संन्यस्याध्यात्मचेतसा।
निराशीर्निर्ममो भूत्वा युध्यस्व विगतज्वरः॥
(गी. ३।३०)

(१) 'कर्म न करनेसे नैष्कर्म्यकी सिद्धि मनुष्यको प्राप्त नहीं होती,' अर्थात् कर्म न करनेसे कर्मके दोषोंसे मनुष्य बच नहीं सकता। मनुष्यसे कर्म होता ही रहता है और उसमें दोष भी होते ही है। इसलिये दोषोंसे बचनेके लिये दूसराही उपाय सोचना चाहिये।

(२) 'मनुष्य अपनी प्रकृतिके स्वभावके अनुसार कर्म करताही रहता है।' इसलिये अपने स्वभावसे नियत हुआ कर्म मनुष्य अवश्य करे, उसे कभी न छोडे।

(३) 'नियत हुआ कर्म मनुष्य अवश्य करे। कर्म न करनेसे कर्म करना अच्छा है, कर्म न करनेसे शरीर भी जीवित नहीं रहेगा।' इसलिये जो अपने गुणकर्मानुसार उत्तमसे उत्तम कर्म हो सकता है, वह मनुष्य अवश्य करे।

(४) 'आसक्ति छोडकर, कर्म-फलकी भोगेच्छा छोडकर कर्तव्य कर्म मनुष्य करे। इसीसे परम श्रेष्ठ स्थिति उसको प्राप्त हो सकती है।'

(५) 'कर्मसे ही जनक आदि राजा लोग परम सिद्धिको प्राप्त हो चुके हैं।' यह प्राचीन लोगोंका अनुभव देख कर इस समयमें भी वैसा ही आचरण करना सबको योग्य है।

(६) 'ईश्वरके लिये सब कर्मोका समर्पण करके ममत्व छोड कर नियत हुआ युद्ध करो।'

ये कर्मयोगके निर्देश गीता देती है। विश्वरूप ईश्वर है, उस ईश्वरसे मैं भिन्न नहीं हूं यह जानकर जो मैं कर्म कर रहा हूं वह ईश्वरके साथही हो रहा है, यह अनुभव करते हुए अपने कर्म करना मनुष्यको उचित है। जिस कर्मसे मनुष्यकी अखण्ड उन्नति होती रहती है वे येही कर्म हैं। ये कर्म मनुष्य करे।

ईश्वरके साथही अपने कर्म हो रहे हैं, ईश्वरकोही समर्पित मेरे कर्म होते हैं, ऐसी भावना मनुष्यके मनमें यदि रहेगी तब तो मनुष्यसे अनुचित कर्म होनेकी संभावना ही नहीं है।

जब किसी बडे महात्माके लिये हम कुछ कार्य करते हैं, तो हम बडी सावधानीके साथ करते रहते हैं, फिर विश्वात्माके लिये जब हम कुछ कर्म करनेकी इच्छा करेंगे, तो हम विशेषही सावधानी रखेंगे। आजकल विश्वरूप ईश्वरकी कल्पना लुप्त हुई है इसलिये मनुष्य सावधानी नहीं रखता। इसी लिये भ० गीताने विश्वरूप दर्शन कराके मनुष्यको सावधान किया है। इस भावनासे मनुष्यसे कभी अशुद्धि होही नहीं सकती, परंतु प्रतिक्षण कर्मकी शुद्धता बढतीही जायगी और मनुष्यकी उन्नति उतनेही प्रमाणसे अधिकाधिक होती ही जायगी। ऐसा यह कर्मयोग है और वह सबके लिये है। हर-एक मनुष्यका इसमें अधिकार है।

चारों वर्णोंके कर्म

इस कर्मयोगमें ज्ञानद्वारा ब्राह्मण, रक्षणद्वारा क्षत्रिय, कृषि तथा व्यापारद्वारा वैश्य और नाना प्रकारके हुनरोंके कार्योंद्वारा शूद्र राष्ट्र-कार्य ही करता रहता है। वह अनन्यभावसे तथा कुशलतासे करेगा तो राष्ट्रका कितना कार्य होना संभव है यह विचार करनेवाले जान सकते हैं। अर्थात् कर्मयोग कोई केवल चर्चाका विषय नहीं है, वह प्रत्यक्ष राष्ट्रीय कार्यक्रम जनताके सम्मुख विशेष रूपसे रखता है। यह कार्यक्रम राष्ट्रकार्य करनेवालोंको योजनापूर्वक जानना और आचरणमें लाना चाहिये।

(८)

क्या कर्म-फल-त्यागसे व्यवहार हो सकता है ?

' कर्म-फल-त्याग ' का महत्त्व गीताने अत्यंत ही वर्णन किया है। **कर्म-फल-त्याग** का सिद्धान्तही गीताकी विशेषता है। इसलिये इसका विशेष विचार करनेकी आवश्यकता है। प्रथमत हम **' कर्म-फल-त्याग '** का अर्थ गीतामें क्या है, इसका विचार करेंगे, और पश्चात् उसका व्यवहारमें उपभोग हो सकता है वा नहीं, और यदि हो सकता है, तो किस तरह और वह लाभदायक होगा या नहीं, इसका विचार करेंगे।

कर्म-फल-त्यागका अर्थ, कर्मका स्वरूप

' कर्म-फल-त्याग का अर्थ क्या है, सो यहां देखना अब अनिवार्य है। **' कर्म '** क्या है, **' कर्मका फल '** क्या है और उस **' कर्म-फलका त्याग '** का आशय क्या है, इन तीन प्रश्नोंका विचार यहां करना चाहिये।

' कर्म ' का अर्थ हमने ' कर्म-योग ' के प्रकरणमें देख लिया है। जो निषिद्ध अथवा हानिकारक नहीं है, जो केवल व्यक्तिके ही अस्तित्वके लिये उपयोगी होनेवाला नहीं है, तथा जो विश्वरूप ईश्वरकी सेवा तथा पूजाके लिये ही किया जाता है, वह कर्म है। अपने कर्मसे ईश्वरकी-अर्थात् विश्वरूपकी पूजा करनी चाहिये। इस तरह विश्वरूप ईश्वरकी सेवाके लिये जो किया जाता है, वही कर्म है।

शमो दमस्तपः शौचं क्षान्तिरार्जवमेव च।
ज्ञानं विज्ञानमास्तिक्यं ब्रह्मकर्म स्वभावजम् ॥४१॥
शौर्यं तेजो धृतिर्दाक्ष्यं युद्धे चाप्यपलायनम्।
दानमीश्वरभावश्च क्षात्रं कर्म स्वभावजम् ॥४३॥
कृषिगोरक्ष्यवाणिज्यं वैश्यं कर्म स्वभावजम्।
परिचर्यात्मकं कर्म शूद्रस्यापि स्वभावजम् ॥४४॥
स्वे स्वे कर्मण्यभिरतः संसिद्धिं लभते नरः।
(गी. १८)

ब्राह्मणोंके कर्म- इंद्रियोंका शमन, आत्मसंयम, शीतोष्णसहनरूप तप, शुद्धता, क्षमा, सरलता, ज्ञान और विज्ञान तथा आस्तिक्य ये ब्राह्मणके स्वभाज कर्म हैं। ब्राह्मणका क्षेत्र ज्ञान है।

क्षत्रियोंके कर्म- शौर्य, तेजस्विता, धैर्य, दक्षता, युद्धसे न भागना, दान देना, प्रभुत्व (अधिकार चलाना) यह क्षत्रियका स्वाभाविक कर्म है। क्षत्रियका कार्यक्षेत्र राष्ट्र-संरक्षण है।

वैश्योंके कर्म- खेती, पशुरक्षा और व्यापार यह वैश्योंका कार्य-क्षेत्र है।

शूद्रके कर्म- अन्य तीनों वर्णोंकी सेवा, (तथा अन्य स्मृतियोंके अनुसार विविध शिल्प) यह शूद्रका कार्य-क्षेत्र है।

सूचना- जिसका जो कर्म नियत हुआ है, वह मनुष्य वही कर्म करे। इससे उसको परम उच्च पद प्राप्त हो सकता है। जिस कर्ममें जिसकी प्रवीणता है, उसको छोडकर वह किसी दूसरा कर्म करनेमें प्रवृत्त न हो। इससे कर्म-कर्ताको संरक्षण (Protection) मिलता है और स्पर्धा भी कम होती है। इसलिये कोई मनुष्य स्वकर्म न छोडे, यह नियम निःसंदेह राष्ट्रीय महत्त्वका है।

मनमाने कर्म करनेकी आज्ञा जहा होगी, वहा व्यर्थ स्पर्धा बढेगी, वह अशान्ति फैलानेवाली ही है। इसीलिये कहा है—

श्रेयान् स्वधर्मो विगुणः परधर्मात्स्वनुष्ठितात्।
स्वभावनियतं कर्म कुर्वन्नाप्नोति किल्बिषम् ॥४७॥
सहजं कर्म कौन्तेय सदोषमपि न त्यजेत्।
(गी. १८)

' अपना कर्म गुणहीन या कष्ट देनेवाला हुआ और दूसरेका कर्म सहजहीसे सिद्ध होनेवाला हुआ, तो भी अपना कर्म नहीं छोडना चाहिये। ' अपना कर्म करना ही श्रेयस्कर है।

यहां विचार करनेसे सबको स्पष्ट हो सकता है, कि ज्ञान-क्षेत्र, वीरक्षेत्र, वणिक्क्षेत्र और कर्मचारीक्षेत्र ये चार प्रकारके ही क्षेत्र हरएक देशमें होते हैं और वेही यहां कहे गये हैं। इन

चार कर्मक्षेत्रोंका विचार करनेसे संपूर्ण राष्ट्रके कार्यक्षेत्रका विचार हुआ है।

ब्राह्मणके ज्ञानक्षेत्रमें सब प्रकारकी विद्याविज्ञानकी उन्नति और प्रचारके कार्य आते हैं। उपदेशक, अध्यापक, सभाके कार्य, नाना प्रकारके विज्ञानके और दर्शनोंके सब कार्य इस क्षेत्रके हैं।

क्षत्रियके वीरताके क्षेत्रमें राष्ट्रके अन्तर्गत और बाहरके सुरक्षाके सब प्रबंध, सेनाविभाग, जलस्थलपार्वतीय दुर्ग विभाग, वैमानिक विभाग आदि सभी कार्य आते हैं।

वैश्य वर्गके क्षेत्रमें सब प्रकारकी खेती, धान्य फल फूलकी उपज करनेका प्रबंध, उसकी विक्रीका प्रबंध, तत्संबंधी व्यापार व्यवहार, गौ, घोडे आदि पशुओंकी पालना करना, पशुओंके गुण धर्मोका संवर्धन करनेका सब कार्य इस विभागमें आ-सकता है।

शूद्रवर्गके कार्य-क्षेत्रमें नाना प्रकारके कला-कौशलके हुनरके सब कार्य आते हैं। यावत् कला समावेश इसमें होता है।

राष्ट्रकी जो जो आवश्यकता है और नवीन परिस्थितिके अनुसार जो जो नवीन आवश्यकता उत्पन्न होगी, वह सब इस चार कार्य-क्षेत्रोंमें समायी होती है। इसमें किसी तरहकी न्यूनता होनेकी संभावना ही नहीं है। कर्मोका यह स्वरूप यहां स्पष्ट हुआ है।

कर्म करनाही चाहिये

प्रत्येक मनुष्यको अपना अपना कर्म करनाही चाहिये। किसी मनुष्यको स्वकर्म छोडनेका अधिकार नहीं है। देखिये—

कर्मण्येवाधिकारस्ते, मा फलेषु कदाचन।
मा कर्मफलहेतुर्भूः मा ते संगोऽस्त्वकर्मणि॥
(गी. २।४७)

'कर्म करनेका मनुष्यको अधिकार है, फलपर उसका अधिकार नहीं, फलकी अपेक्षासेही कोई कर्म न करे और कर्म भी कोई न छोड देवे।' अर्थात् हरएकको अपना नियत कर्म करनाही चाहिये, वह कर्म कर्तव्य करके करना चाहिये, उसका फल मुझे मिलेगा ऐसी इच्छासे वह नहीं करना चाहिये और फल मिलता नहीं, इसलिये कर्म करनाही छोड दूंगा ऐसा कह कर कर्म छोडना भी नहीं चाहिये। राष्ट्रके सब मानव कर्मसे जकड कर बांधे गये हैं।

संपूर्ण राष्ट्रकी जनता ब्राह्मण-क्षत्रिय-वैश्य-शूद्रोंमें विभक्त हुई है। कोई राष्ट्रका मनुष्य इससे बाहर नहीं है। जो जंगली लोग हैं, वे भी शूद्रवर्गमें शामिल हैं, उनको असच्छूद्र कहा जाता है। संपूर्ण राष्ट्रकी जनता इन चार वर्णोंमें समायी है। और ये सब लोग अपने अपने कर्मोंसे बंधे हैं। इनको अपना अपना नियत कर्म करना ही चाहिये, फल मिले या न मिले, तो भी अपना नियत कर्म करते रहना चाहिये। किसी अवस्थामें किसीको अपना नियत कर्म छोडनेका अधिकार नहीं है। इतना ही नहीं परंतु अपना कर्म छोडकर दूसरेके कर्म भी नहीं करना चाहिये।

प्रत्येक वर्णके प्रत्येक मनुष्यके लिये गीताका यही आदेश है। अर्थात् राष्ट्रके सभी मनुष्य अपने अपने कर्ममें दत्तचित्त रहेंगे। ये कर्म कुशलतासे करने चाहिये, यह भी उतनाही आवश्यक है। फल नहीं मिलता इसलिये मैं अपना कर्म कैसा भी, जैसा होगा वैसा करूंगा, ऐसा करना माना नहीं जायागा। जितनी अधिकसे अधिक कुशलतासे कर्म करना संभव होगा उतनी कुशलताके साथ अपना कर्म करना चाहिये।

योगस्थः कुरु कर्माणि। (गी. २।४८)

अर्थात् जो अपना अपना कर्म करना चाहिये, वह अत्यंत कुशलताके साथ करना चाहिये। कैसा भी करना योग्य नहीं है। और इतना करनेपर भी—

मा कर्मफलहेतुर्भूः। (गी. २।४७)

'अपने कर्मके फलकी आशा मनमें नहीं रखनी चाहिये।' अर्थात् कर्मका फल मिले या न मिले, दोनों अवस्थाओंमें अपना कर्म उत्तमसे उत्तम रीतिसे करना चाहिये। भगवान् स्वयं अपने विषयमें कहते है—

न मां कर्माणि लिम्पन्ति न मे कर्मफले स्पृहा।
(गी. ४।१४)

'मेरी इच्छा कर्मफलपर नहीं है, अतः मुझे कर्मोका दोष नहीं लगता।' और भगवान् कहते हैं–

न मे पार्थाऽस्ति कर्तव्यं त्रिषु लोकेषु किंचन।
नानवाप्तमवाप्तव्यं वर्त एव च कर्मणि॥२२॥
यदि ह्यहं न वर्तेयं जातु कर्मण्यतंद्रितः।
मम वर्त्मानुवर्तन्ते मनुष्याः पार्थ सर्वशः॥२३॥
उत्सीदेयुरिमे लोका न कुर्यां कर्म चेदहम्।
संकरस्य च कर्ता स्यामुपहन्यामिमाः प्रजाः॥२४॥
(गी. ३)

' हे अर्जुन ! मुझे कुछ भी कर्तव्य करनेकी आवश्यकता नहीं है। मुझे अप्राप्त कुछ भी नहीं है, जिसकी प्राप्तिके लिये मुझे कर्म करनेकी आवश्यकता हो। तथापि मैं कर्म करताही हूं। यदि मैं कर्म न करूं तो लोग भी कर्म छोड देंगे और सब जनतामें संकरका अनर्थ हो जायगा। ' यह स्वयं भगवान् कह रहे हैं। श्रीकृष्ण भगवान्को सभी सुख प्राप्त थे, तथापि वे सतत कर्म करते थे, फलकी तो उनको अपेक्षाही नहीं थी। यही सबके लिये उत्तम उदाहरण है। यही मानवोंके लिये आदर्श है।

यदि ब्राह्मण अपने आपमें सन्तुष्ट होकर अपना अध्यापन और ज्ञान-प्रसारका कार्य छोड देंगे, यदि क्षत्रिय अपने सुखमें लगकर जनताकी सुरक्षाका कार्य छोड देंगे, यदि वैश्य पर्याप्त धन मिला है, इसलिये पशुपालन, वाणिज्य और खेती करना छोड देंगे और यदि शूद्र अपनी कारीगरी छोड देंगे, तो समझो, वह राष्ट्रका नाशही है। और राष्ट्रका नाश होनेसे सर्वस्वकाही नाश है। इसलिये कितनी भी सुखसंपदा हुई तो भी अपना अपना कर्तव्य कर्म किसीको भी छोडना उचित नहीं है।

' कर्म छोडना नहीं चाहिये ' इसी आदेशमें गीताका महत्त्व है। राष्ट्रकी स्थितिका कर्मके साथ संबंध है, मानव-समाजकी सुस्थिति कर्मके ऊपर निर्भर है। इसलिये कर्म छोडना नही चाहिये। बडे आदर्श पुरुष सतत कर्म करते रहते हैं, इसका हेतुही यह है। यहां कर्मका स्वरूप सबके ध्यानमें आयाही होगा। हरएकको अपना नियत कर्म करना चाहिये, कर्म छोडना नहीं चाहिये, तथा साथ साथ कर्मके फलकी भी इच्छा नहीं धरना चाहिये। इतना विचार यहांतक हुआ। कर्मफलका अर्थ अब देखते हैं–

कर्मका फल

कर्म क्या है, इसका विचार हुआ। अब इस कर्मके फलका स्वरूप देखना चाहिये। ब्राह्मणका कर्म विद्याका पढाना है। विद्या पढानेवाले अध्यापकके लिये विद्याकी पढाई कराने-रूप अपने किये कर्मका क्या फल मिलता है? क्षत्रिय रक्षाका कार्य करता है, वह नगरमें रक्षा करता रहे अथवा सेनामें भरती होकर युद्धमें कार्य करे, उसको उसके कर्मके लिये कौनसा फल मिलता है? पशुओंकी पालना, खेती और व्यापार करनेसे

वैश्यको कौनसा फल मिलता है? और शूद्रके परिचर्या करनेपर उसको कौनसा फल मिलता है अथवा कारीगरीके कार्य करनेके लिये कारीगरको कौनसा फल मिलता है? सभी जानते है कि अध्यापकको महावारी वेतन मिलता है, नगररक्षकों और सैनिकोंको भी वेतन मिलता है, वैश्योंको व्यापार-व्यवहारमें लाभ मिलता है और मजदूरोंको वेतन मिलता है। यह वेतन या लाभ अनेक प्रकारोंसे मिल सकता है। किसी राज्यव्यवस्थामें महावारी नगद रुपयोंमें वेतन मिलेगा, किसी अन्य राज्यव्यवस्थामें भूमि मिलेगी, अन्य किसी राज्यव्यवस्थामे दक्षिणा या पारितोषिक, पदवी या आभूषण अथवा कुछ ईनाम मिलेगा। जो भी कुछ मिले, वह इतना होगा कि उससे उस कर्मकर्ताका गुजारा होगा और वह आगे भी अपना कार्य चला सके इतनी व्यवस्था उसकी उससे होगी।

इसका नाम दक्षिणा हो, वेतन हो, ईनाम हो, पारितोषिक हो या अन्य कोई हो, सबका तात्पर्य एकही है। जो कर्म उस मनुष्यने राष्ट्रकी सेवाके लिये किया, अथवा विश्वरूप ईश्वरकी सेवाके लिये किया, उसके बदले उसका जीवननिर्वाह होने योग्य जीवन-साधन उसको मिला, यही कर्मका फल है। यह केवल संमानके शब्दसे या संमानके चिह्नसे नाना प्रकारके बडे धन-कोशोंतक अनेक प्रकारका हो सकता है। पर वह कर्मके बदले कर्मकर्ताको सन्तोष होने योग्य होना चाहिये। यह कर्मका फल आज जिस रूपमें मिलता है, उसी रूपमें एक सहस्र वर्ष-पूर्व वा सहस्र वर्षोंके बाद मिलना चाहिये, ऐसा कहना योग्य नहीं है। क्योंकि समय समयपर पदार्थोंका मूल्य बदलता रहता है, इसलिये अपने अपने समयके अनुसार जो योग्य होगा, वही कर्मका फल उसको उस समय मिलना योग्य है, ऐसा हम कहेंगे।

आजकी भाषामें कर्मफलको हम वेतन, जीवन-साधन, मुशाहिरा, या पारितोषिक नाम दे सकते हैं। 'फल' में जितना अर्थ है उतना अर्थ वेतनमें नहीं है, तथापि आजकी भाषामें 'वेतन' पदसे उसका कुछ न कुछ भाव आ सकता है। इसलिये हम अपने इस विवरणके लिये **' कर्म-फल '** के लिये **' जीवन-वेतन '** पद रखते हैं। विचार करनेवाले इस पदसेही हमारा आशय समझ लें और तात्पर्यका बोध लें।

कर्मके फलका त्याग

इस समयतक 'कर्म' और 'कर्मफल' का विचार हमने किया

अब 'कर्मफलका त्याग' कैसा किया जा सकता है और उसका महत्त्व क्या है, सो देखना है। कर्मका फल वेतन है, यह हमने इससे पूर्व बताया ही है, उसका त्याग अथवा दान करना है। इस विषयमें गीतामें अनेक प्रकारके शब्दप्रयोग किये हैं। क्या वे एकही भावके दर्शक हैं वा भिन्न भावोंके दर्शक हैं, इसका विचार हमें यहां करना है। कर्म-फल-त्यागके निम्नलिखित श्लोक प्रथम देखिये—

युक्तः कर्मफलं त्यक्त्वा शान्तिमाप्नोति नैष्ठिकीम्।
अयुक्तः कामकारेण फले सक्तो निबध्यते॥
(गी ५।१२)

'(युक्तः) कर्मको कुशलतासे समाप्त करके जो उस कर्मके फलका त्याग करता है, वह नैष्ठिक शान्तिको प्राप्त होता है। पर जो (अयुक्त) कर्मको कुशलतासे न करके फलभोगकी इच्छासे फलपर आसक्त होता है, वह फलके बंधनमें पडता है।' यहां दो प्रकारके कर्मचारी कहे हैं-(१) एक कर्मफलका त्याग करनेवाले और (२) दूसरे कर्मफलका भोग करनेवाले। पहिले शान्तिका अनुभव करके आनन्दमें रहते हैं और दूसरोंको वैसी शान्तिका अनुभव नहीं मिलता। ये तो दो प्रकारके कर्मफलका त्याग और भोग करनेवाले हैं। अर्थात् एक अपना वेतन न लेनेवाले और दूसरे अपना वेतन लेनेवाले। आज भी अ-वैतनिक स्वयंसेवकोंका महत्त्व अधिक माना जाता है, और वैत-निक कर्मचारियोंका उनसे कम। अब हम कर्मफलका अर्थ 'वेतन' लेकर गीताके एक वचनका अर्थ करते है-

कर्मणि एव अधिकारः ते, मा फलेषु कदाचन।
मा कर्मफलहेतुर्भूः, मा ते संगोऽस्तु अकर्मणि॥
(गी. २।४७)

'(१) कर्म करनेमे तेरा अधिकार है, अपने अधिकारके अनुसार कर्म करो, (२) वेतनपर तेरा अधिकार नहीं होगा, (३) वेतन मिलेगा इस इच्छासे, वेतनपर दृष्टि रखकर रहना तुम्हें योग्य नहीं है, (४) वेतन नहीं मिलता, इसलिये मैं कर्म नहीं करूंगा, ऐसा भी अपना मत न बनाओ। अर्थात् वेतन मिले वा न मिले, तुम्हें कर्म करना अनिवार्य है।' यहां अवैतनिक स्वयंसेवकोंका महत्त्व वर्णन किया है। अवैतनिक स्वयंसेवक राष्ट्रकी एक प्रकारकी बडीतारी शक्ति है।

जीवन-निर्वाह कैसे होगा?

वेतन नहीं लेना, अवैतनिक सेवा करना, यह आदर्श है, इसमें संदेह नहीं, परंतु इनकी आजीविका कैसी चलेगी? यह शंका यहां उपस्थित होगी। इसका उत्तर गीताने दिया है-

अनन्याः चिन्तयन्तो मां ये जनाः पर्युपासते।
तेषां नित्याभियुक्तानां योगक्षेमं वहाम्यहम्॥
(गी. ९।२२)

'अनन्य अर्थात् अपृथग्भावसे जो लोग विश्वरूप ईश्वरका चिन्तन करते हैं और उसकी अपने कर्मोंसे सेवा करते हैं, उन नित्य कुशलतासे कर्म करनेवाले लोगोंका मैं (ईश्वरही) योग-क्षेम चलाता हूं।' अर्थात् जो विश्वरूप परमेश्वरकी सेवा वेतन-की अपेक्षा न करते हुए नित्य करते रहते हैं, उनका सब प्रकारका योगक्षेम विश्वरूपकी ओरसेही होता है। इससे स्पष्ट हुआ कि, उनके जीवननिर्वाहकी चिन्ता करनेकी उनको कोई किसी तरह आवश्यकता नहीं है। इसतरह गीताने अवैतनिक सेवकोंके योगक्षेमका प्रबंध शासनप्रबंधद्वारा किया है। अतः कार्यकर्ता निश्चित होकर अपने कर्म उत्तमसे उत्तम और पूर्ण-ताके साथ करते रहें, कार्य सतत करें। उनका जीवनविषयक सब प्रबंध प्रजापति-संस्थाद्वारा किया जायगा।

कर्मफलत्यागके अनेक भेद

कर्मफलके त्यागमें अनेक विभेद हैं, उनका अब विचार करना चाहिये, देखिये-

(१) अनाश्रितः कर्मफलं कार्यं कर्म करोति यः।
(गी. ६।१)

'अपने कर्मके फलका (अर्थात् अपने वेतनका अपने जीवननिर्वाहके लिये) जो आश्रय नहीं करता, परंतु जो अपना कर्तव्य कर्म यथायोग्य रीतिसे करता रहता है,' वह श्रेष्ठ कार्य करता है।

(२) सर्वकर्मफलत्यागं ततः कुरु यतात्मवान्
(गी. १२।११)

ध्यानात् कर्मफलत्यागः त्यागाच्छान्तिरनन्तरम्॥
(गी. १२।१२)

सर्वकर्मफलत्यागं प्राहुः त्यागं विचक्षणाः।
(गी. १८।२)

यस्तु कर्मफलत्यागी स त्यागीत्यभिधीयते॥
(गी. १८।११)

'सर्व कर्मोंके फलोंका त्याग करो और अपनी शक्तिसे प्रयत्न

करते रहो, (कर्मोको करते जाओ)। ध्यान करनेसे अपने किये कर्मोके फलका त्याग करना श्रेष्ठ है, इससे उत्तम शान्ति मिलती है। अपने कर्मके (वेतनरूप) फलका त्याग करनेकोही त्याग कहते हैं। अपने कर्मोका फल जो त्यागता है वही त्यागी कहलाता है।' यहां कर्मफलका अर्थ हमने 'वेतन' माना है। जो कर्म वह करता है, परंतु उसके बदले वेतन या पारितोषिक नहीं लेता, परंतु उस फलका त्याग करता है, उसको श्रेष्ठ कहा है।

यहां यह बात हरएकके सामने स्पष्ट होगी कि (१) कर्मके फलका जीवननिर्वाहके लिये आश्रय न करना, और (२) कर्मके फलका त्याग करना, इनमें भेद अवश्य है। कोई मनुष्य अपने वेतनके आधारपरही जीवित नहीं रहता, इसका अर्थ उसका आजीविकाका आधार वेतनसे पृथक् है ऐसा होता है। और दूसरा कोई अपने वेतनका त्याग करता है, इसका अर्थ वह अपना वेतन लेता है और पश्चात् उसका त्याग करता है। अर्थात् 'कर्मफलका अनाश्रय' और 'कर्मफलका त्याग' ये दो विभिन्न भाव हैं। और भी देखिये—

(३) त्यक्त्वा कर्मफलासंगं नित्यतृप्तो निराश्रयः।
(गी. ४।२०)

'कर्मके फलके संगका त्याग करके उस फलका आश्रय न करता हुआ सदा नित्यतृप्त रहता है।' यहां वेतनका भोग स्वयं न करना, उसका आश्रय अपने जीवननिर्वाहके लिये न करना यह मुख्य बात कही है। यहां वेतन लेनेसे इन्कार नहीं है, उसका स्वयं संग करना अथवा न करना ही यहां अभिप्रेत है। संगका अर्थ विषयभोगेच्छा यहां स्पष्ट है। इसके कई उदाहरण देखने योग्य हैं—

योगस्थः कुरु कर्माणि संगं त्यक्त्वा धनंजय।
(गी. २।४८)

ध्यायतो विषयान् पुंसः संगस्तेषूपजायते।
संगात्संजायते कामः कामात्क्रोधोऽभिजायते।
(गी. २।६२)

ब्रह्मण्याधाय कर्माणि सङ्गं त्यक्त्वा करोति यः।
लिप्यते न स पापेन पद्मपत्रमिवाम्भसा॥
(गी. ५।१०)

कायेन मनसा बुद्ध्या केवलैरिन्द्रियैरपि।
योगिनः कर्म कुर्वन्ति सङ्गं त्यक्त्वात्मशुद्धये॥
(गी ५।११)

एतान्यपि तु कर्माणि सङ्गं त्यक्त्वा फलानि च।
कर्तव्यानीति मे पार्थ निश्चितं मतमुत्तमम्॥
(गी १८।६)

कार्यमित्येव यत्कर्म नियतं क्रियतेऽर्जुन।
सङ्गं त्यक्त्वा फलं चैव स त्यागः सात्त्विको मतः॥
(गी १८।९)

नियतं संगरहितं अरागद्वेषतः कृतम्।
अफलप्रेप्सुना कर्म यत्तत्सात्त्विकमुच्यते॥
(गी १८।२३)

मत्कर्मकृन्मत्परमो मद्भक्तः सङ्गवर्जितः।
(गी ११।५५)

शीतोष्णसुखदुःखेषु समः सङ्गविवर्जितः॥
(गी १२।१८)

'संग छोडकर कुशलतासे कर्म कर। विषयोंके ध्यानसे विषयोंके साथ संग करनेकी बुद्धि होती है। संगसे काम और काम न मिलनेसे क्रोध बढता है। ब्रह्ममें अपने सब कर्मोको अर्पण करके जो संगभाव छोडकर कर्मोको करता है, वह दोषोंसे अलिप्त रहता है। शरीर, मन, बुद्धि और केवल इंद्रियोंसे योगी लोग संग छोडकर कर्म करते है। सग और फलोंका त्याग करके कर्तव्य कर्म करना चाहिये। सग और फल छोडकर रागद्वेष न धरते हुए जो नियत कर्म किया जाता है, वह सात्त्विक कर्म है। संगवर्जित होकर मुझ विश्वरूप प्रभुके लिये कर्म कर। शीत-उष्ण, सुख-दु खमें सम होकर संग छोडकर मनुष्य कर्म करे।'

इन वचनोंमें सङ्ग छोडना और फल छोडना, ऐसा दोनोंको छोडनेके विषयमें कहा है। इससे सङ्ग और फल ये दो पृथक् बातें हैं ऐसा सिद्ध होता है। 'सङ्ग' का अर्थ 'विषयोंसे सङ्ग अर्थात् विषयभोग' भोगोंकी इच्छा है। और 'फल' का अर्थ वेतन यह पहिले बतायाही है।

कर्मका फल 'वेतन' है और वेतनसे विषयोपभोग प्राप्त किये जाते हैं और प्राप्त होनेपर उसका भोग होता है। यह भोग-प्रवृत्तिही संग है। 'सङ्ग छोडना' ऐसा जो कहा जाता है, उसका अर्थ 'भोगोंकी इच्छाका त्याग करना' है। कर्मफलत्यागसे यह स्वतंत्र भाव है। कर्मका फल लेकर भी भोगोंका त्याग किया जा सकता है। जैसा एक मनुष्य अपने कर्मके लिये महावार एक सहस्र मुद्रा लेता है, परंतु स्वयं

भोगेच्छारहित रहकर उस सब वेतनका दान विद्यार्थियोंके लिये करता है। यहा उन्होंने अपने कर्मका फल लिया, परंतु स्वयं नहीं भोगा। इसलिये ' कर्म-फल-त्याग ' और है और ' फल-संग-त्याग ' और है। तथा ' कर्मफलका अनाश्रय ' भी और ही है। तथा और देखिये—

मा कर्मफलहेतुर्भूः (गी २।४७)

' कर्मका फल प्राप्त करनेका हेतु मनमें न धर। '

असङ्गेन फलाकाङ्क्षी। (गी. १८।३४)

' असङ्गसे फलकी इच्छा करनेवाला ' राजस कहलाता है।

रागी कर्मफलप्रेप्सुर्लुब्धो हिंसात्मकोऽशुचिः ॥ (गी. १८।२७)

' भोगी, अपने कर्मके फलकी इच्छा करनेवाला, लोभी, हिंसाशील और अपवित्र कर्ता राजस होता है। '

त्यक्त्वा कर्मफलासंगं नित्यतृप्तः। (गी ४।२०)

' कर्मके फलका संग करनेका भाव छोडकर जो नित्य तृप्त रहता है। '

फले सक्तो निबध्यते। (गी ५।१२)

' फलमे आसक्त होनेवाला बन्धनमें पडता है। '

अभिसंधाय तु फलं। (गी. १७।१२)

' फलकी इच्छासे जो कर्म किया जाता है।' वह राजस है।

फलमुद्दिश्य वा पुनः। (गी १७।२१)

' फलके उद्देश्यसे जो किया जाता है। ' वह राजस है।

अनभिसंधाय फलं। (गी. १७।२५)

' फलका ध्येय न रखकर ' यज्ञ दान तप करते है।

सुखसंगेन बध्नाति। (गी १४।६)

' सत्वगुण सुखसे साथ संगसे बाध देता है। '

कर्मफलका त्याग करनेके विचारके साथ ये वचन देखने योग्य हैं। देखिये इन वचनोंके ये निम्नलिखित पद महत्त्वके हैं-

कर्म-फल-हेतुः (२।४७) = कर्म-फलका हेतु मनमें धारण करके ही कर्म करनेवाला। वेतनपर दृष्टि रखकर कार्य करनेवाला कभी उन्नत नहीं हो सकता।

फलाकांक्षी (१८।३४) = कर्मके फलरूप वेतनकी ही इच्छा करनेवाला। कर्मका कुछ भी हो, अपना वेतन मिले यही इच्छा करनेवाला।

कर्म-फल-प्रेप्सु (१८।२७) = कर्मकी फलकी इच्छा करनेवाला। यह भी अपने वेतनपर दृष्टि रखनेवाला है।

फले सक्तः (५।१२) **फलं अभिसंधाय** (१७।१२) **फलं उद्दिश्य** (१७।२१) = ये सब अपने कर्मके फलके साथ बंधे होते हैं, ये वेतनपर दृष्टि रखनेवाले हैं, इसलिये ये (**फले सक्तो निबध्यते** । ५।१२) बंधे गयेसे बंधनमें पडे रहते हैं। जहां वेतन मिलेगा वहीं ये टिकते हैं, कोई तत्त्वकी या सिद्धान्तकी बात इनके साथ नहीं होती। केवल वेतनही इनकी दृष्टिके सामने रहता है। वेतनके लिये चाहिये सो हीन कर्म भी ये कर सकते हैं। अतः कर्मफलपर आसक्ति रखना अधःपातका लक्षण है। इसीलिये-

तदित्यनभिसंधाय फलं यज्ञतपःक्रियाः।
दानक्रियाश्च विविधाः क्रियन्ते मोक्षकांक्षिभिः ॥ (गी १७।२५)

' फलकी इच्छा न करते हुए बंधनसे मुक्ति पानेकी इच्छा करनेवाले यज्ञ, दान, तप आदि कर्म करते हैं। '

यहां बंधनसे छुटनेकी इच्छा करनेवाले फलकी इच्छा न करते हुए कर्म करते है ऐसा कहा है, क्योंकि यदि उनका लक्ष्य कर्मके फलकर रहा तो बंधनका त्याग होनेकी संभावनाही नहीं है। अर्थात् कर्मका फल भोगनेकी इच्छासे बंधन और कर्मके फलका त्याग करनेसे बंधनकी निवृत्ति होती है।

कर्मका फल भोगनेसे बंधन कैसा होता है सो देखिये। एक मनुष्य अपने वेतनपर ही अपना गुजारी चलाता है, वेतन न मिला तो वह भूखा मरेगा। वह तो लाचारीसे वेतनके लिये जैसा चाहिये वैसा नीच कर्म करेगा ही। यही बंधन है। पर जो वेतनकी पर्वाह नहीं करता, वह मनुष्य उतना बंधनमें नहीं रहेगा। यह बात हरकोई जान सकता है और यह बात व्यवहारमें भी दीख सकती है। वेतनके लिये लाचारीसे रहनेवाले और वेतनकी पर्वाह न करनेवाले ऐसे दोनों प्रकारके कर्मचारी होते हैं। इनमें वेतनकी पर्वाह न करनेवाले श्रेष्ठ होते हैं।

परंतु वेतनकी पर्वाह करना अथवा पर्वाह न करना यह एक गौण बात है। यहां तो कर्मके फलका त्याग करना है अर्थात् अवैतनिक सेवाका भाव यहा मुख्य है, वह वैतनिक सेवकोंसे कई गुना श्रेष्ठ है।

हमने यहां तक ' कर्मफलका आश्रय न करना, ' ' कर्म-फलका त्याग ' और ' कर्म-फलका असंग ' ये तीन फल-त्यागके भेद देखे, अब और कोई भेद होंगे तो देखना है।

(४) मय्यर्पितमनोबुद्धिर्मामेवैष्यस्यसंशयम् । गी ८।७
यत्करोषि यदश्नासि यज्जुहोषि ददासि यत् ।
यत्तपस्यसि कौन्तेय तत्कुरुष्व मदर्पणम् ।
(गी. ९।२७)

' मुझ (विश्वरूप) में अपना मन और अपनी बुद्धि अर्पण करनेसे तू मुझेही नि.संदेह प्राप्त होगा, इसमें संदेह नहीं है। जो तू करेगा, खायेगा, हवन करेगा, देगा, तप करेगा वह सब कर्म मुझे (विश्वरूप ईश्वरके लिये) अर्पण कर।' यहां शरीर, वाणी, मन और बुद्धिसे जो जो कर्म होगा, वह विश्वरूप परमेश्वरके लिये अर्पण करनेको कहा है। इसमें कोई ऐसा कर्म समर्पण न होने योग्य रहता ही नहीं। कर्मके समर्पणका अर्थ कर्म और कर्मफल इन दोनोंका समर्पण है, क्योंकि कर्महीं समर्पण होनेसे उसका फल कर्ताको मिलनेकी संभावनाही नहीं है। सभी का समर्पण यहां कहा है। संपूर्ण जीवनकाही समर्पण करनेका भाव यहां स्पष्ट है, क्योंकि शरीर, वाणी, मन और बुद्धिके समर्पणका भावही सर्वस्व-समर्पणमें है।

यह भाव निम्नलिखित गीताके वचनोंसे प्रकट हो रहा है-

मत्कर्मकृत् मत्परमः मद्भक्तः संगवर्जितः ।
(गी ११।५५)

मत्कर्मपरमो भव । (गी. १२।१०)

' मेरे लिये कर्म करनेवाला और स्वयं भोग न करनेवाला ' यह वर्णन स्पष्ट बताता है कि, कर्म और कर्मके फल विश्वरूप ईश्वरके लियेही समर्पण करने हैं। यहाका ' संगवर्जित ' पद बता रहा है कि कर्म करनेवाला उसके कर्मफलके भोगसे भी स्वयं दूर रहे। कर्मके समर्पणका यही आशय है। 'संगवर्जितः, मत्कर्मकृत् ' ये पद बता रहे हैं कि, साधक ' विश्वरूप ईश्वरके लिये कर्म करे और उनके फलोंका भोग (संग) स्वयं न करे ' अर्थात् फल भी उसी विश्वरूप ईश्वरको अर्पण करे। तथा—

(५) अनाश्रितः कर्मफलं कार्यं कर्म करोति यः ।
स संन्यासी च योगी च न निरग्निर्न चाक्रियः ॥
(गी. ६।१)

काम्यानां कर्मणां न्यासं संन्यासं कवयो विदुः ।
(गी. १८।२)

मयि सर्वाणि कर्माणि संन्यस्याध्यात्मचेतसा ।
निराशीर्निर्ममो भूत्वा युध्यस्व विगतज्वरः ॥
(गी. ३।३०)

सर्वकर्माणि मनसा संन्यस्यास्ते सुखं वशी ।
(गी. ५।१३)

ये तु सर्वाणि कर्माणि मयि संन्यस्य मत्पराः ।
अनन्येनैव योगेन मां ध्यायन्त उपासते ॥
(गी. १२।६)

चेतसा सर्वकर्माणि मयि संन्यस्य मत्परः ।
बुद्धियोगमुपाश्रित्य मच्चित्तः सततं भव ।
(गी १८।५७)

' कर्मके फलका आश्रय न करके जो कर्तव्यकर्म करना है वही संन्यास और वही योग है। भोगकी कामनाका त्यागही संन्यास है। अध्यात्मबुद्धिसे मुझ विश्वरूप ईश्वरमें सब कर्मोंका न्यास करना और भोगकी आशा छोडकर, ममत्वरहित होकर यह युद्धरूप कर्म कर। सब कर्मोंका मनसे संन्यास करके इंद्रियोंको वशमें रखनेवाला सुखसे रहता है। जो सब कर्म मुझ विश्वरूप ईश्वरमें अर्पण करके अनन्ययोगसे मुझ विश्वरूप ईश्वरकाही ध्यान करते हैं। मनसे सब कर्मोंका अर्पण मुझ विश्वरूप ईश्वरमें करके साम्यबुद्धिरूप योगका आश्रय करके सतत मुझपर चित्त लगाकर रह।'

यहा संन्यासका तत्त्व कहा है। सब कर्तव्य कर्म तो करनेही चाहिये। किसीको अपना कर्म छोडना नहीं है। परंतु उन कर्मोंके फलोंका अपने लिये भोग करना नहीं है। यह कर्मसंन्यास नहीं है, परंतु कर्मफलका संन्यास है। त्यागके विषयमे ऐसा कहा है.

कुरु कर्माणि संगं त्यक्त्वा । (गी. २।४८)
त्यक्त्वा कर्मफलासंगं । (गी. ४।२०)
कर्माणि संगं त्यक्त्वा करोति । (गी. ५।१०)
कर्म कुर्वन्ति संगं त्यक्त्वा । (गी. ५।११)
कर्मफलं त्यक्त्वा । (गी. ५।१२)
त्याज्यं दोषवत् कर्म । (गी. १८।३)
कर्माणि संगं त्यक्त्वा फलानि च कर्तव्यानि ।
(गी. १८।६)
सहजं कर्म न त्यजेत् । (गी. १८।४८)
सर्वकर्मफलत्यागं प्राहुस्त्यागं । (गी. १८।२)
यस्तु कर्मफलत्यागी स त्यागी (गी. १८।११)

' अपनी सहज प्रवृत्तिसे प्राप्त कर्तव्य कभी त्यागना उचित नहीं है। कर्तव्य कर्मका त्याग करना दोष बढानेवाला है। इसलिये कर्मका त्याग न करते हुए कर्मके फलका त्याग करना योग्य है। जो कर्मके फलका त्याग करते हैं, वेही त्यागी कहलाते है।'

इस तरह कर्मफलत्यागके विषयमें गीतामें अनेक आदेश हैं। इनमें जो शब्दोंके प्रयोग हैं, वे यद्यपि एक तात्पर्यके बोधक हैं, तथापि व्यवहारमें उनके कई भेद होना संभव है। अतः उनका विचार करते हैं—

संकलन

फलत्याग	फलभोग
१ फलेषु ते अधिकारः मास्तु (२।४७)	फलेषु अधिकारः अस्ति
२ कर्मफलहेतुः मा भूः (२।४७)	कर्मफलहेतुः भूः
३ कर्मफले मे स्पृहा न (४।१४)	कर्मफले स्पृहा
४ अफलप्रेप्सुः (१८।२३)	फलप्रेप्सुः
५ संगं त्यक्त्वा **आत्मशुद्धिः** (५।११)	रागी कर्मफल प्रेप्सुः लुब्धो हिंसात्मकोऽशुचिः (१८।२७)
६ फलं अनभिसंधाय (१७।२५)	फलं अभिसंधाय (१७।१२)
७ मदर्पणं कुरु (९।२७)	फलं उद्दिश्य (१७।२१)
८ संगवर्जितः मत्कर्मकृत् (११।५५)	
कर्मफलं त्यक्त्वा **शान्तिः** (५।१२)	फलाकांक्षी (१८।३४)
त्यागाच्छान्तिः (१२।१२)	फलभोगेन अशान्तिः
९ कर्मणां न्यासं (१८।२)	
कर्माणि संन्यस्य (३।३०)	फले सक्त **निबध्यते** (५।१२)
कर्मफलं अनाश्रितः कार्यं करोति (६।१)	कर्मफलं आश्रित
सर्व-कर्म-फलत्यागं कुरु (१२।११)	कर्मफलभोग.
१० कर्मफलासंगं त्यक्त्वा नित्यतृप्तः (४।२०)	फलभोगादतृप्त
मदर्पणं कुरुष्व (९।२७)	स्वभोगाय करोति

कर्मफलत्यागका विचार करनेके समय कमसे कम इतने वाक्योंका विचार होना आवश्यक है। यहां हमने इन अर्थोंके समान गीताके अन्यान्य वचन लिये नहीं हैं, क्योंकि उनका आशय इनके समानही है। यहां दो विचार-धाराएं स्पष्ट दीखती हैं। देखिये-

त्यागियोंकी विचारधारा	भोगियोंकी विचारधारा
१ हरएक मनुष्य उत्तमसे उत्तम कर्म करे, परंतु वेतन न लेवे।	१ कर्म करे और अपने भोगके लिये वेतन लेवे।
२ वेतनके उद्देश्यसे ही कर्म न करे।	२ वेननके उद्देश्यसे कर्म करे।
३ (भगवान् कहते हैं कि-) कर्मका फल लेनेकी मेरी इच्छा नहीं है (यह आदर्श है)।	३ (साधारण मानव करता है) मैं तो वेतनके लिये ही कर्म करता हूं।
४ कर्मके फलकी इच्छा न करनेवाले।	४ वेतनका भोग करनेवाले।
५ फलभोग छोडनेसे शुद्धि होती है।	५ फलभोगसे अपवित्रता बढती है।
६ वेतनका हेतु न धरके कर्म कर।	६ वेतनकी इच्छासे ही कर्म करूंगा।

७ विश्वसेवाके लिये फल अर्पण करो।	७ अपने लिये फल भोगना।
८ फलभोग छोडनेसे शान्ति होती है।	८ फलभोगसे अशान्ति होती है।
९ वेतनपर अपनी जीविका आश्रित न रखो।	९ वेतनसे ही जीवनका होना।
१० फलसंगत्यागनेसे तृप्ति।	१० भोगसे अतृप्ति।

हरएक देशमें अवैतनिक और वैतनिक ऐसे दो प्रकारके सेवक मिलते हैं। अवैतनिक स्वयंसेवक अपनी सेवा तो उत्तम-से उत्तम करता है, पर उसके बदले कुछ भी लेता नहीं। वैतनिक सेवक वेतनकी इच्छासे सेवा करता है, इसको वेतन न मिला तो वह बिगड बैठता है, अथवा शत्रुके पास भी जाता है, और वेतन लेकर उसकी सेवा वैसीही करता है। अवैतनिक स्वयंसेवक इस तरह शत्रुके पास कभी जा नहीं सकता क्योंकि वह उच्च ध्येयसे प्रेरित होता है। यहां अवैतनिक सेवकोंकी योग्यता हमारे सामने आ गयी है। गीतामें भी कर्मफलका त्याग करनेवालोंकी योग्यता विशेष कही है, और फलभोगी बंधनमें पडते हैं, ऐसा कहा है-

अध्यात्ममें अवैतनिक सेवक

अपने शरीरमें अर्थात् अध्यात्ममें भी वैतनिक सेवक आंख, नाक, कान, त्वचा और जिह्वा है, ये सुखभोगसे प्रसन्न और दु:ख भोगना पडे तो असंतुष्ट होते हैं और विश्राम भी चाहते हैं। हाथ, पांव, मुख, शिश्न और गुदा ये भी ऐसेही हैं। पर यहां दशप्राण अवैतनिक सेवक हैं, जन्मसे मृत्युतक ये इसकी रक्षामें दत्तचित्त रहते हैं। कभी विश्रामतक नहीं लेते। इसलिये प्राणोंका महत्त्व इस शरीरमें विशेष कहा है।

उपनिषदोंमें जहां जहां इसका विचार आया है, वहा प्राणका सर्वोपरि महत्त्व वर्णन किया गया है। यही राष्ट्रमें अवैतनिक स्वयंसेवकोंका महत्त्व है। वे सचमुच फलका हेतु न धरते हुए विश्वसेवाकी इच्छासे कर्म करनेवाले होते हैं। अपना कर्म उत्तमसे उत्तम करें, विश्वसेवाके भावसे कर्म करें। ऐसे कर्म करनेवालोंका सब योगक्षेम प्रबंधकारिणी सभासे होता रहे।

अ-व्यय राज्यशासन

इस कर्मफलत्यागका विचार करनेसे पता लग सकता है कि, यह भागवत राज्यशासन चलानेमें (अ-व्ययं) कम व्यय लगता है, इसका यही हेतु है। अवैतनिक सेवक विश्वसेवा-वृत्तिसे कार्य करनेवाले यहां स्वकर्तव्य समझकर यहांका कार्य करनेवाले होते हैं। वेतनपर इनकी दृष्टि नहीं होती, प्रत्युत विश्वसेवा ही अपने जीवनका साफल्य करनेवाली है और यही ईश्वर-पूजा है, ऐसा इनका विचार रहता है। राज्यप्रबंधसे इनका सब योगक्षेम चलता है और ये उत्तमसे उत्तम कर्तव्य करते हैं, इसलिये किसी तरह इनके कर्म-प्रबंधमें दोष भी नहीं होता।

यद्यपि ये सब कर्मफलत्यागी हैं तथापि इनके अन्दर कर्मफलका त्याग करनेके अनेक भेद होनेके कारण इनमें भी अनेक भेद होते हैं। पूर्वोक्त श्लोकोंमें '**त्याग, दान, अनाश्रय, न्यास, संन्यास, समर्पण, संगवर्जन**, ये पद दीखते है। ये अर्थ एकही अर्थ बतानेवाले नहीं है, यद्यपि तात्पर्य सबका एकजैसाही होता है।

दान तो उसपर अपना अधिकार जमानेके पश्चात् हो सकता है। इसलिये जो सेवक अपने वेतनका दान करते हैं वे वेतन लेते अवश्य हैं। लेनेके पश्चात् वे उसका स्वयं भोग नहीं करते, परंतु उसका दान अपनी इच्छासे करते हैं।

त्याग करनेवाले प्रथमसे भी वेतन नहीं लेंगे। त्याग और दानमें यह भेद है। वेतनपर जिनकी आजीविका नहीं होगी, वे उसका अनाश्रय कर सकते हैं। इनका जीविकाका निर्वाह किसी अन्य रीतिसे अथवा अपनी जायदादसे होता होगा। समर्पण तो स्वीकार करनेपरही हो सकता है।

न्यास और संन्यास ये पद किसी जगह 'धरोहर' रखनेके भावके बोधक हैं। इस धरोहरसे किसी प्रकारकी नियत आयोजनासे सूदका अथवा मूलधनका किसी विशेष कार्यके लिये दान मिल सकता है। ये सब पद एकही आशय बतानेवाले नहीं हैं, यह निश्चित बात है। व्यवहार करनेके समय अपने अपने वेतनके दानका स्वरूप हरएक दाता पृथक् पृथक् रख सकता है। और कई तो अपने वेतन लेने या न लेनेके विषयमें पूर्ण रूपसे उदासीन भी रहेंगे।

जिस समय कर्मफलत्यागका नियम राज्यव्यवहारमें आनेवाला होगा, उस समय इसका विचार सोचा जा सकता है। आज हम इसको केवल कल्पनाओंमेंही रखते हैं। परंतु यह बात भागवत-शासनमें मुख्य बात है, यह यहां भूलना योग्य नहीं है।

जो संपूर्ण विश्वको ईश्वरका स्वरूप समझेंगे और अपने

कर्मसे उसकी पूजा करना अपना कर्तव्य है यह मनमें निश्चित करेंगे, उनके विषयमें वेतन लेनेका प्रश्नही उत्पन्न नहीं हो सकता। क्योंकि ईश्वरकी पूजा करनेसे न कोई वेतन मांगता है और न कोई देता है। वह तो हरएकका कर्तव्यही है। कर्तव्य तो करनाही चाहिये।

प्राचीन समयकी व्यवस्था

प्राचीन समयमें यह व्यवस्था जारी थी। देखिये, राष्ट्रमें बडे बडे गुरुकुल होते थे। जहां सहस्रों राष्ट्रपुत्र विद्याध्ययन करते थे। गुरु फीज मांगता नहीं था और न शिष्य प्रतिमास फीज देता था। गुरु अपना कर्तव्य समझता था कि जो आये उसको विद्या पढाना। बालक राष्ट्रकी नयी पिढी है, वह ईश्वरका स्वरूप है, विद्यादानद्वारा उस ईश्वरके स्वरूपकी पूजा करना गुरु अपना कर्तव्य समझता था और इस विद्यादानरूप कर्मके लिये वेतन लेनेका उसके मनमें विचार भी नहीं आता था। क्योंकि सरस्वतीका प्रवाह अखण्ड चालू रखना चाहिये, विद्या दानसेही प्रसन्न होती है, कुमाररूपी ईश्वर-स्वरूपकी सेवा करके गुरु अपने आपको कृतकृत्य होनेका अनुभव करते थे। विद्याका विक्रय करनाही दण्डनीय अथवा हीन कर्म माना जाता था। इस देशमें ऐसा एक समय था।

अबका समय फीज देनेके विना कुछ भी विद्या मिलती नहीं, ऐसा है।

इन गुरुकुलोंमें धनीके पुत्र, राजपुत्र, तथा गरीबके पुत्र समान भावसे पाले और पोसे जाते थे। क्योंकि सभी ईश्वरके विश्वरूप-भावसे समही समझे जाते थे। आज वह बात रही नहीं है।

गुरुकुलोंमें गुरु कर्तव्य-बुद्धिसे विद्या पढाता था। विद्याका विक्रय करना बुरा समझता था। शिष्य तैयार होनेके पश्चात् अपनी पराकाष्ठा करके गुरुको दक्षिणा देता था। इतनाही नहीं परंतु क्षत्रिय और वैश्य भी मुक्त हस्तसे गुरुकुलोंको बडेबडे दान देते थे। इसलिये ये ऋषियोंके आश्रम बडेही समृद्ध रहते थे। ये इतने समृद्ध रहते थे कि बडे बडे राजा सैनाके साथ आये तो उनका वहां उत्तम आतिथ्य होता था। और समय-पर स्वार्थी राजा आश्रमोंको लूटते भी थे, जिसका बुरा फल उनको मिल भी जाता था।

आश्रम इतने समृद्ध होनेपर भी वहांके आचार्य और कर्मचारी तथा ब्रह्मचारी अत्यंत त्यागभावसे रहना अपना कर्तव्य समझते थे। इसलिये संपत्ती होनेपर भी धनका उन्माद उनपर नहीं चढता था। संपत्तिका सच्चा उपयोग किस तरह किया जाना चाहिये इसका आदर्श यहां दिखाई देता था। कर्मफलका त्याग यहां इस तरह था।

सभी व्यवहार इस तरहसे होते थे। सब धनी लोग सर्व-मेध यज्ञ करके अपना सब धन जनताके कल्याणके लिये देते थे। एक राजा इस तरह सर्वस्व देनेके पश्चात् मिट्टीके पात्रोंका उपयोग करनेमें भी अपना सन्मान समझता था। अपने कमाये धनका दान हो, त्याग हो, न्यास हो, वा जो कुछ भी अर्पण हो, परंतु उसका स्वयं भोग करना और दूसरोंको उनसे वंचित रखना यह बात नहीं थी। कर्मफलत्यागमें यही भाव मुख्य है।

आजकल कर्म करनेवाला समझता है कि इस कर्मसे कमायी संपत्तिका भोग करना मेरा अधिकारही है। सब कानून तथा सब विधिनियम आज फलभोगका अधिकार कर्ताका है, ऐसाही मान रहे हैं। एक वैश्य व्यापारव्यवहारसे बहुत संपत्ति कमाता है, और उस संपत्तिसे बहुत धान्यादि खरीद कर अन्योंको उनके लाभसे वंचित रखता है। इस तरह धनहीन प्रतिदिन दुःखी हो रहे है। आज अनेक प्रकारके विशेष कर लगाकर धन राज्यशासनके कोशमें लिया जाताही है। वही बात '**कर्मफलत्याग**' के सिद्धान्तसे प्राचीन समय गीताने करना चाही थी जो आज 'सुपर टॅक्स' से जबरदस्तीसे करवाई जा रही है। राष्ट्रहित करनेके लिये कर्मका फलरूप जो धन है, वह किसी स्थानपर संग्रहीत होना योग्य नहीं। पर वह स्वयं-स्फूर्तिसे हो जाय वा कानूनकी दहशतसे हो यही प्रश्न है। कर्मफलत्याग-सिद्धान्तसे गीताने यह स्वयंस्फूर्तिसे करवानेका यत्न किया है। मनुष्य अपने अपने कर्म करें, परंतु उन कर्मोंका धनरूप वा वेतनरूप फल वे स्वयं न लें, वे उस फलको विश्वरूप ईश्वरकी सेवाके लिये अर्पण करें। हरएक कर्मचारी यदि ऐसा बनेगा और ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य और शूद्र यदि कर्मफलत्यागी बनें, तो निःसंदेह किसी स्थानपर धनका संग्रह बढ जानेमें जो अनन्त दुःख उत्पन्न हो रहे हैं, वे कभी नहीं होंगे, और यह स्वेच्छासे होनेके कारण आज जो सुपर टॅक्सकी वसूलीमें छल-कपट बढ रहे हैं वे भी नहीं बढेंगे।

इस तरह 'कर्मफलत्याग' का सिद्धान्त राष्ट्रीय-महत्त्व का है। यह एक सामाजिक और आर्थिक सुव्यवस्थाकी विशेष पद्धति है और आर्थिक विषमतासे होनेवाले अनेक दुःखोंको दूर करनेका यह एक बडा उत्तम साधन है। समाजमें समता स्थापन करनेकी भी यह एक उच्च पद्धति है।

Regd. No. B. 1463

मुद्रक और प्रकाशक- श्री० दा० सातवळेकर, भारत-मुद्रणालय, औंध.

आषाढ सं. २००२
अगस्त १९४५

विषयसूची।

१ महान् प्रभु २२३
२ सर्वव्यापक ईश्वर २२४
३ आर्योंपर गोमांसभक्षकका दोषारोपण
पं० शिवपूजनसिंहजी २२५
४ राममाता कौसल्या
पं० विष्णुशास्त्री पंडित २३४
५ गीताका राजकीय तत्त्वालोचन
संपादक ८१-११२
(८) कर्मफलत्याग ८१
(९) योग और व्यवहार ९०
(१०) श्रीमद्भगवद्गीताका ध्येय १०१
६ स्पिनोझा और उसका दर्शन
पं. श्री. मा. चिंगळे, M. A. १०५-१२०

संपादक
पं. श्रीपाद दामोदर सातवळेकर

वार्षिक मूल्य
म ऑ से ५) रु; वी. पी से ५।=) रु
विदेशके लिये १५ शिलिंग।
इस अकका मू ॥) रु.

क्रमांक ३०८

वर्ष २६ क्रमांक ३०८, आषाढ संवत् २००२, अगस्त १९४५ अङ्क ८

महान् प्रभु

त्वमस्य पारे रजसो व्योमनः स्वभूत्योजा अवसे धृषन्मनः ।
चकृषे भूमिं प्रतिमानमोजसः अपः स्वः परिभूरेष्या दिवम् ॥

(ऋ. १।५२।१२)

हे प्रभो ! तू इस आकाशके भी परे विद्यमान है, तेरी शक्ति तुझमें स्वतः सिद्ध है और उस शक्तिसे तू सबकी रक्षा करनेके लिये सदा सिद्ध रहता है। तूने इस भूमि आदिको अपने सामर्थ्यका नमूना जैसा बनाया है। तू इस जलप्रवाहको, इस दिव्य प्रकाशको और इस द्युलोकको भी घेरकर स्थिर रहा है।

हे प्रभो ! जैसा तू यहां है वैसाही आकाशके भी परे है। यह सब ब्रह्माण्ड तूनेही रचा है। यह सब अद्भुत शक्ति तेरी अपनी निज शक्तिही है। ऐसी अपार शक्ति तुझमें है यह हम अनुभव कर रहे हैं। इस भूमि आदिकी रचना करनेद्वारा तुमने अपने महान बलका अनुभव हमें दिया है। हरएक स्थानमें तेरी अद्भुत शक्तिका पता लग रहा है, ऐसा एक भी स्थान नहीं है कि जहां तेरी शक्तिका अनुभव होता न हो। जलप्रवाहोंको बहने देना, प्रकाश गोलोंको प्रकाशित करना, नाना नक्षत्रोंको यथा स्थान सुरक्षित रखना और हरएक स्थानमें अद्भुत रचना चातुर्य दर्शाना यह तेराही सामर्थ्य है।

सर्वव्यापक ईश्वर

प्रभु एक है और वह सर्वव्यापक है। जिसतरह मिट्टी भीगी हो, तो उसमें लबालब जल भरपूर भरा रहता है, उसतरह इस विश्वमें ईश्वर भरपूर लबालब भरा है। जिस-तरह महिनोतक बहुतही वृष्टी होनेपर सब भूमी भरपूर भीगी होती है और जो भी मिट्टी ली जाय उसके साथ जल स्वयं आता है और जलके विना मिट्टीका प्राप्त करना असंभवसा होता है, उससे भी अधिक ईश्वर सब वस्तुओंमें भरपूर भरा ह, लबालब भरा है। थोडासा भी स्थान रिक्त नहीं है। जो भी वस्तु आप प्राप्त करेंगे उसमें उस वस्तुके साथ आप ईश्वरको भी प्राप्त करते हैं। ईश्वरके प्राप्त किये विना किसी भी वस्तुकी प्राप्ति करना असंभवही है।

जिसतरह धूपमें पडीं वस्तुएं गर्म हो जातीं हैं और उनमेंसे किसी वस्तुको उठाया जाय तो उसके साथ गर्मी भी मिलती है। उसीतरह विश्वव्यापक प्रभुकी गर्मीमें विश्वकी सब वस्तुएँ तप रही हैं। आप किसी भी वस्तुको लेंगे, तो उसके साथ उसके अन्दर व्यापनेवाली गर्मीको भी लेना-ही होगा। गर्मीको अलग करके किसी वस्तुका लेना जैसा असंभव है, उसीतरह परमात्मासे भरपूर भरा विश्व है इसलिये हरएक वस्तुके लेनेसे परमात्मा भी लियाही जाता है और उस वस्तुसे होनेवाला आपका व्यवहार परमात्मासे ही होता है।

भीगी मिट्टी आप उठायें और जलको न उठायें यह कैसा संभवनीय हो सकेगा? गीली मिट्टीके साथ मिट्टी जैसी आयेगी, वैसाही जल भी आयेगाही। आप मिट्टीही लेते हैं और जलको नहीं लेते ऐसा यदि आप मानते हैं तो वह आपकी गलती है।

इसीतरह तपी भूमिमेंसे थोडी मिट्टी आप उठावेंगे तो उस मिट्टीके साथ गर्मी भी आपको लेनीहि पडेगी, गर्मीके विना मिट्टी लेना असंभव है। इसीतरह आप विश्वमें व्याप्त प्रभुको मानते हैं और समझते हैं कि हमारा परमेश्वरके साथ कोई वास्ता नहीं यह कैसे सत्य हो सकता है? आप विश्वके अन्तर्गत पदार्थोंसे तो दिनरात व्यवहार करतेही हैं, फिर यह कहिये कि उन पदार्थोंमें व्यापकर रहनेवाले प्रभुके साथ आपका व्यवहार हो रहा है या नहीं। हरएक समय जो व्यवहार आप कर रहे हैं वह जैसा उस वस्तुके साथ कर रहे हैं वैसेही आप परमेश्वरके साथही व्यवहार कर रहे हैं। परमेश्वर दखल दिये विना आपका कोई व्यवहार होही नहीं सकता।

आप समझते हैं कि आप ईश्वरको देखते नहीं हैं, कदाचित् यह सत्य भी होगा। आप मानते हैं कि आप ईश्वरका ख्याल नहीं करते, संभव है कि यह भी सत्य हो। पर जो चीज सर्वव्यापक है और सर्वज्ञ भी है और सर्व-साक्षी भी। उसके न जानते हुए आप किसके साथ क्या कर सकते हैं?

अर्थात् आप जाने या न जाने, माने या न माने, आप समझें या न समझें। आप जो भी व्यवहार कर रहे हैं वह ईश्वरके साथही व्यवहार कर रहे हैं। अतः आपको उचित है कि श्रद्धासे आप जान लीजिये कि प्रभु सर्वत्र व्याप्त है, कोई वस्तु उससे खाली नहीं है और आप किसी भी वस्तुसे कोई व्यवहार क्यों न कर रहे हों, वह सब व्यवहार प्रभुके सामने हो रहा है और प्रभुके साथही हो रहा है।

आपके व्यवहारका साक्षी प्रभु है। ऐसा आप आजसे मान लीजिये। ऐसा मानकर आप अपने व्यवहार कीजिये। इसतरह व्यवहार करनेसेही शुद्ध उत्तम और पवित्र व्यवहार होंगे।

जिस कर्ममार्गसे मानव बंधनसे मुक्त होता है वह कर्म-मार्ग यही है। इसतरह अपने कर्म करनेसें मनुष्य बंधन-से मुक्त हो जाता है, कृतकृत्य होता है।

जीवनका सार्थक करनेका यही मार्ग है। क्या आप इसका अनुभव लेंगे?

' आर्योंपर गोमांसभक्षणका दोषारोपण '

(लेखक- रीसर्च स्कॉलर शिवपूजनसिंह कुशवाहा ' पथिक ' ' साहित्यालङ्कार ' ' साहित्यरत्न ' ' साहित्य-शिरोमणि ' ' सिद्धांत-भास्कर ' C/o-दी मल्ला शू कम्पनी, मेस्टन रोड, कानपुर)

अखिल विश्वमें आर्योंकी सभ्यता और संस्कृति सबसे प्राचीन है। जिस समय पाश्चात्य लोग असभ्य थे उस समय आर्यावर्त सभ्य तथा उन्नतिके शिखरपर था + आर्योंका खानपान क्या था, इसपर बडा मतभेद है। युरोपीय इतिहासवेत्ताओं तथा उनके अनुयायी राजेन्द्रलाल मित्र और महाशय रमेशचन्द्रदत्त सरीखे भारतीय विद्वानोंका भी मत है कि प्राचीन आर्य गोमांस भक्षक थे × राजा राजेन्द्रलाल मित्रजीने अपने ग्रन्थमें आर्योंके गोमांस भक्षणके पक्षमें अनेकों व्यर्थ परिश्रम किये हैं ☙ बंगालके कश्चित् स्वामी रामनाथ सरस्वती भी इसी पक्षमें थे। अध्यापक विनोदविहारीराय नामक एक ईसाईने भी ' ऋषियोंका खान-पान' नामक पुस्तिका लिखकर आर्योंपर गो, बैलादि खानेका दोषारोपण किया है जिसका मुँह तोड उत्तर विद्वद्वरेण्य पं० जे० पी० चौधरीजी काव्यतीर्थ, काशीने ' वेद और पशुयज्ञ ' नामक पुस्तकमें दिया है। ❧

कई भारतीय विद्वान् महीधर, उव्वट, सायणप्रभृतिने भी अपने वेदभाष्योंमें गोमांसका वर्णन किया है। पाठकोंके विनोदार्थ श्री सायणाचार्यजी भाष्योंके अनुवाद नीचे दिये जाते हैं।

' आर्योंके भोजनमें मांस शामिल था। घोडा, गाय, बैल, सूअर, साँढ, भेड, भैंसा, और बकरादिका मांस उनका प्रिय भोजन था।' (ऋ० १०।८३।१३-१४; ८।७७।१०)।'

'मांसको लोहेकी सीकमें गूँथकर ये उसे भूनते थे या पानीमें उबालते थे ' (ऋ० १।१६२।११)।

एक स्थानपर तो इन्द्रका भी कथन है कि, 'मेरे लिये बीस बैल मारना, जिन्हें खाकर मैं मोटा बनूँगा ' (ऋ० १०।८६।१४)।

'हट्टे-कट्टे बैल चुनकर भोजनके लिये मारे जाते थे।' (ऋ० १०।२७।२)।

'बैलका मांस खूब पकाया जाता था' (ऋ० १०।२८।३)।

एक-एकबार सौ-सौ भैंसेभी कटते थे' (ऋ० ६।१७।११)।

'गौ और वृषभकी आहुति (ऋ० ६।१६।४७)' वृषभ तथा मेषकी आहुति (ऋ० १०।९१।१४; १०।१६९।३) खूब प्रचलित थी। जगह-जगह गो हत्या-स्थान (कसाईखाना) भी होता था'— (ऋ० १०।८९।१४)

खड्गद्वारा गौओंको टुकडे-टुकडे कर देते थे' (ऋ० १०।७९।६)*

ये हैं वेदाचार्य श्री सायणाचार्यजी भाष्यकारके हृदयोद्गार! अब हम अपने अन्वेषणद्वारा यह प्रदर्शित करना चाहते हैं प्राचीन आर्य गोभक्षक नहीं, वरन् गौरक्षक थे। वेदोंमें कहीं भी मांस भक्षणका वर्णन नहीं है।

श्री महीधर, उव्वट, सायणप्रभृतिके भाष्योंको देखकर-ही मोक्षमूलर, ग्रीफिथप्रभृति पाश्चात्य भाष्यकारोंने आर्योंपर गोमांस भक्षणका दोषारोपण किया है।

+ देखो 'महान् भारत' नामक पुस्तक।

× प्रो० रामदेवजीकृत 'भारतवर्षका इतिहास' प्रथम भाग, द्वितीयावृत्ति पृ० १६७

☙ Mitra: "Beef in Ancient India," a Chapter in "Indo Aryans," Vol. I.

❧ 'वेद और पशुयज्ञ' नामक पुस्तक 'चौधरी एन्ड सन्स, नीचीबाग, काशी'से प्रकाशित हुई है, मूल्य ४ आने।

* मासिक पत्रिका 'गङ्गा' भागलपुरका 'वेदाङ्क' प्रवाह २, जनवरी १९३२ ई. तरङ्ग १, पृष्ठ २१८, कॉलम १ में, साहित्याचार्य पं. महेन्द्रमिश्र 'मग'का 'ऋग्वेदकी कुछ उल्लेखनीय बातें' शीर्षक लेख देखो

क्या उन तांत्रिक भारतीय भाष्यकारोंके अश्लील भाष्यों-को पठकर किसी भी सहृदय पाठकको वेदपर श्रद्धा हो सकती है? नहीं। इसी कारण तो जैन, बौद्ध, चार्वाक प्रभृति नास्तिक सम्प्रदायोंका आविर्भाव हुआ।

वेदोद्धारक महर्षि दयानन्दजी महाराजकी कृपाका परिणाम है कि अब भारतीय आर्योंको वेदोंपर श्रद्धा होने लगी है। आर्यसमाजका तो मुख्योद्देश्य वेद–प्रचारही है। वे 'गोरक्षक' थे। आपने 'गोकरुणानिधि' नामक पुस्तिका लिखकर स्पष्ट अपना मत प्रदर्शित किया है। उन तांत्रिक भाष्यकारोंके भाष्योंका भी 'ऋग्वेदादि भाष्य-भूमिका' नामक ग्रन्थमें किञ्चित आलोचना किया है।

कतिपय व्यक्ति 'बलि,' 'आलम्भ' 'मधुपर्क' और 'गोघ्न' शब्दोंसे पशुहिंसा निकालते हैं।

परन्तु 'बलि' शब्दका अर्थ मारनाही नहीं होता। बलि-वैश्वदेवमें काकबलि, श्वाबलि होती है, पर कौवे और कुत्ते मारे नहीं जाते, प्रत्युत उनको उनका बलि-भाग दिया जाता है, जिससे बलिका अर्थ मारना नहीं, भाग सिद्ध होता है।

'आलम्भ'का अर्थ मारना वेद, व्याकरण-विरुद्ध है। श्री राजेन्द्रलाल मित्रने 'वध' अर्थ करके भूल की है।

'निघण्टु'में हिंसार्थक ३३ धातु यास्कमुनिने गिनाई हैं+ इनमें 'आलम्भ' धातु नहीं है। 'आ' उपसर्गपूर्वक 'लभ्' धातुका अर्थ हिंसा करना नहीं हो सकता है।

पारस्कर गृ० सू० उपनयन प्र० में **'अथास्य दक्षिणां समधिहृदयमालभे'** तथा विवाहप्रकरणमें— **दक्षिणां समधिहृदयमालभते'** आये हैं।

यहाँ ब्रह्मचारी और कन्याके हृदय-स्पर्शका वर्णन है।

'मीमांसा-दर्शन' अ० २ पा० ३ सू० १७ की 'सुबोधिनी-टीका'में स्पष्ट लिखा हुआ है कि –

'आलम्भः स्पर्शो भवति' अर्थात् 'स्पर्श' का नाम 'आलम्भ' है।

'मधुपर्क'— **'समांसो मधुपर्को भवति'** यह प्रमाण अनार्ष है। यह वाममार्गियोंकी लीला है।

'मधुपर्के दधिमधुघृतमपिहितं कांस्ये कांस्येन।'

कांसेके पात्रमें कांसेके पात्रसे ढके हुए दही, शहद, वा मधुर द्रव्य और घृत ये मिले हुए मधुपर्क कहलाते हैं। इसपर 'गदाधरी टीका' यों है:—

'आज्यमेकपलं ग्राह्यं दध्नस्त्रिपलमेव च।
मधुनः पलमेकं तु मधुपर्कः स उच्यते॥'
'मधूनां मधुररसात्मकानां द्रव्याणां पर्को योगो यस्मिन्सः।'

शब्दार्थसे भी मीठे पदार्थोंके संयोगका नाम मधुपर्क है। मधुपर्क शुभकार्योंमें वर या अतिथिको दिया जाता है। और शुभकार्योंमें पशुहिंसाका निषेध पुराणसे भी है।

'देवयज्ञे पितृश्राद्धे तथा माङ्गल्य कर्मणि।
तस्यैव नरके वासो यः कुर्यात् जीवघातनम्॥'
(पद्मपुराण।)

अर्थात्– देवयज्ञ पितृश्राद्ध तथा सम्पूर्ण मंगलमय कार्योंमें जो जीवहिंसा करता है उसे नरक भोगना पड़ता है।

'गोघ्न'– लोग कहते हैं **'गोघ्नोऽतिथिः'** = अतिथिके लिये गौ मार दी जाती थी। परन्तु यह अर्थ भी अनार्ष है।

'पाणिनि मुनि'ने अपने सूत्रमें लिखा है– **'दाशगोघ्नौ सम्प्रदाने'** इससे 'गोघ्न' शब्द सम्प्रदानार्थमें सिद्ध होता है न कि मारनेके अर्थमें।

'हन्' धातुके ३ अर्थ होते हैं– ज्ञान, गमन और प्राप्ति। 'गो' का अर्थ है वाणी, पृथ्वी, जल, स्वर्ग वा सुख विशेष, माता, इन्द्रिय, नेत्र, सूर्य, चन्द्र।

इसलिये 'गोघ्न'का अर्थ हुआ– 'गौः हन्यन्ते प्राप्यते दीयते यस्मै स गोघ्नः' = जिसके लिये गौ दान की जाती है वह अतिथि 'गोघ्न' कहलाता है।

'गोघ्न'के और भी अर्थ हो सकते हैं यथाः—

(क) जिसके लिए जलका प्रबन्ध किया गया हो।
(ख) जिसके लिये सुखकी सामग्री प्राप्त की गई हो।
(ग) जिसका वाणीसे सत्कार किया गया हो।

वेदोंमें गायके लिये 'अघ्न्या' शब्द प्रयुक्त है।

'सुयवसाद्भगवती हि भूया अथो वयं भगवन्तः स्याम। अद्धि तृणमघ्न्ये विश्वदानीं पिब शुद्धमुदकमाचरन्ती॥' (ऋ० १।१६४।४०)

+ निघण्टु अ० २, खं. १९

निघण्टुकार कहते हैं:- 'अघ्न्या, उस्रा, उस्रिया, अही, मही, अदितिः, इळा, जगती, शक्वरी। (नि० २।११)

'अघ्न्या' = अघ्न्या अहन्तव्या भवति। अघ्नी न हन्तव्या वा। न घ्नति अखण्डनीया वा '

(निरु० ११।४४)

अर्थात्- जो वधके योग्य न हो (Aghnya is one that ought not be killed.) महाभारतमें भी इसकी पुष्टि है- अघ्न्या इति गवां नाम क एता हन्तुमर्हति। महच्चकार कुशलं वृषं गां वाऽलभेत्तु यः'

(शान्तिपर्व अ० २६३)

अनेक लोग यह समझते हैं कि गोमेध, अश्वमेध आदि यज्ञोंमें गौ, घोडे आदि पशु मारे जाते थे; परन्तु यह समझनेवालेकी भूल है।

वेदमें आता है— 'राजसूयं वाजपेयमग्निष्टोमस्तदध्वरः। अर्काश्वमेधावुच्छिष्टे जीवबर्हिर्मदिन्तमः॥'

(अथर्व० ११।७।७)

अर्थात्— राजसूय, वाजपेय, अग्निष्टोम, अर्कमेध, अश्वमेध आदि सब 'अध्वर' (हिंसारहित) यज्ञ है, जो कि प्राणीमात्रकी वृद्धि करनेवाला और सुख शान्ति देनेवाला है।

इस मंत्रमें 'राजसूय' आदि सभी यज्ञोंको 'अध्वर' कहा है, जिसका एकमात्र अर्थ 'हिंसा रहित यज्ञ' है।

'अध्वर' शब्द निषेधार्थ नञ् पूर्वक 'ध्वर' हिंसायां धातु से बनता है। 'ध्वरो हिंसा तदभावोऽत्र सोऽध्वरः।'

यज्ञका अर्थ है- 'यज्ञः, वेनः, अध्वर, मेधः' आदि (निघण्टु ३।१७)।

यास्क ऋषि कहते हैं:- 'अध्वर इति यज्ञनाम। ध्वरति हिंसाकर्मा, तत्प्रतिषेधः'- (निरुक्त १।८)

अर्थात् हिंसाकर्मका निषेध है वह 'अध्वर' यज्ञ है।

अतएव - अश्वमेध, गोमेध आदिका अर्थ है—

'राष्ट्रं वा अश्वमेधः- (शतपथ ब्रा० १३।१।६।३)।

'अन्नं हि गौः' (श० ब्रा० ४।३।१।२५)

अर्थात्- न्यायपूर्वक राज्य करना अश्वमेध है, घी तथा सुगन्धित वस्तुओंका अग्निमें होम करना अश्वमेध है, विद्यादिका दान देना अश्वमेध है।

अन्न, इन्द्रियाँ, पृथ्वी आदिको पवित्र रखना, सूर्यकी किरणोंसे उपयोग लेना गोमेध है।

जब मनुष्य मर जाय तब उसके शरीरका विधिपूर्वक दाह करनाही नरमेध है। पशुओंके नाम और औषधियोंके नाम एकही शब्दसे रक्खे गये हैं जिन्हें देखकर मांसभक्षण करनेवाले अर्थका अनर्थ करते हैं।

वृषभ = ऋषभकन्द। श्वान = कुत्ताघास। अश्व = अश्वगंधा। अज = अजमोदा। गो = गौलोमी। महिष = गुग्गुल, महिषाक्ष। मेष = जीवशाक। रुधिर = केसर।+ वेदोंमें गौरक्षा तथा मांसभक्षणके विरुद्ध अनेकों मंत्र है। यथाः-

'यजमानस्य पशून्पाहि' (यजु० १।१) = यजमानके पशुओंकी रक्षा करो।

(O God, protect the Cattle of Yajaman.)

'मा हिंसीः पुरुषं जगत्'— (यजु० १६।३) = पुरुषार्थयुक्त मनुष्यादि संसारको न मार।

(Do not ye torture man and other animals.)

'पशूंस्त्रायेथाम्'— (यजु० ६।११) = पुरुष और स्त्री तुम दोनों अपने पशुओंकी रक्षा करो।

(Ye men and women, both of you together protect your Cattle)

'मां हिंसीस्तन्वा प्रजाः' (यजु० १२।३२) = पालने योग्य प्राणियोंको न मार।

'द्विपादव चतुष्पात्पाहि'— (यजु० १४।८) = मनुष्यादि दो पगवाले प्राणियों तथा चार पैरवाले गौ आदिकी रक्षा करो।

'मा हिंसीर्द्विपादं पशुं'— (यजु० १३।४७) = दो पगवाले मनुष्यादि तथा गवादि पशुजीवको मत मार।

'इमं मा हिंसीः एक शफं पशुम्' (यजु० १३।४८) =इस एक खुरयुक्त देखने योग्य घोडे, गौ आदि पशुको न

+ अधिक जाननेके लिये देखो 'वैदिकसम्पत्ति' द्वि० संस्करण पृ० ५९५; 'वेद और पशुयज्ञ' पृष्ठ १७।

मारो। (Do not slaughter this one hoofed animal).

'गां मा हिंसीः' (यजु० १३।४३) = गाय मत मारो।

' अविं मा हिंसीः ' (यजु० १३।४४) = भेडोंको न मारो।

' एकशफो वा एष पशुर्यदश्व. । तं मा हिंसीरिति (शत० ब्रा० ७।५।२।३३) = एक शफाका अर्थ घोडा है। उसे मत मारो। (By one-hoofed is meant a horse; Do not slaughter him).

' यः पौरुषेयेण क्रविषा समङ्क्ते यो अश्व्येन पशुना यातुधानः। यो अघ्न्याया भरति क्षीरमग्ने तेषां शीर्षाणि हरसाऽपि वृश्च ॥ '
(ऋ. १०।८७।१६; अथर्व० ८।३।१५).

अर्थः- (यः यातुधानः) जो पीडा देनेवाला राक्षस (पौरुषेण क्रविषा) मनुष्यके मांससे (अश्व्येन) अश्वके मांससे (पशुना) अन्य अजा आदि पशुओंके मांससे (समङ्क्ते) अपना पोषण करता है और (यः) जो (अघ्न्यायाः) न मारने योग्य गौके (क्षीरम्) दूधको (भरति) हरण करता है। अर्थात् किसीतरहसे उसका लोप संसारसे करता है (अग्ने) हे परमात्मन्! (तेषां) उन दुष्टोंके (शीर्षाणि) मस्तकको (हरसा) अस्त्रसे (वृश्च) छेदन कर।

(A man who nourishes himself on the flesh of man, horse or other animals or of birds, who, having killed untorturable cows, debars them from their milk, O Agni (god), the king, award him with the highest punishment or give him the sentence of death).

' यः आमं मांसमदन्ति पौरुषेयं च ये क्रविः। गर्भान् खादन्ति केशवास्तानितो नाशयामसि ॥ '
(अथर्व० ८।६।२३)

अर्थः- (ये) जो मनुष्य (आमं मासं) कच्चे मांसको (अदन्ति) खाते हैं (पौरुषेयं च) और जो मनुष्यके पकाये हुए मांसको खाते हैं (ये) जो (क्रविः) आंतोंको जो (गर्भान्) अण्डोंको (खादन्ति) खाते हैं (तम्) उन (केशवाः) बुरे बालोंवाले पिशाचरूप दुष्टोंका हे परमेश्वर! (इतः) यहाँसे (नाशयामसि) नाश कीजिये।

(We ought to destroy them who eat ' amamansa ' (cooked as well as uncooked meat, and also the Cow-meat), and 'pauruseya Kravi' (meat involving the destruction of males and females), who eat foetus (including eggs) and them who have thus made their bodies the graveyards),

' संवत्सरीणं पय उस्रियायास्तस्य माशीद्यातुधानो नृचक्षः। पीयूषमग्ने यतमस्तितृप्सात्तं प्रत्यञ्चमर्चिषा विध्य मर्मन् ॥ '
(ऋ० १०।८७।१७)

अर्थः- (नृचक्षः) हे मनुष्योंके शुभाशुभकर्मोंके देखनेवाले व्यापक ईश्वर! (उस्रियायाः) गौका (संवत्सरीणम्) वार्षिक (पयः) जो दूध होता है (तस्य) उसको (यातुधानः) वह दुष्ट राक्षस (मा अशीत्) प्राप्त न करे क्योंकि वह गौओंको मारकर खानेवाला है अतः उसको गोदुग्ध प्राप्त न हो क्योंकि (पीयूषम्) वह दूध अमृत है इसलिये वह देवोंका भाग है राक्षसोंका नहीं (अग्ने) हे ईश्वर! (यतम) जो राक्षस (तितृप्सात्) गौके दुग्धसे अपनेको तृप्त करना चाहता है (तम् प्रत्यञ्चम्) इस दुष्ट राक्षसको (मर्मन्) मर्मस्थानमें (अर्चिषा) अपने तेजसे (विध्य) विध्य कीजिए।

' होता यक्षदश्विनौ छागस्य हविष आत्तामद्य मध्यतो मेद उद्भृतं पुरा द्वेषोभ्यः पुरा पौरुषेय्या गृभो घस्तां नूनं घासे अज्राणां यवसप्रथमानां सुमत्क्षराणां शतरुद्रियाणामग्निष्वात्तानां पीवोपवसनानां पार्श्वतः श्रोणितः शितामत उत्सादतोऽङ्गादङ्गादवत्तानां करत एवाश्विना जुषेतां हविर्होतर्यज ॥ '
(यजु० २१।४३)

प्रो० चन्द्रमणिजी ' विद्यालङ्कार, ' ' पालीरत्न ' इसका अर्थ अपने ग्रन्थ × में इस प्रकार करते हैं:-

× ' वेदार्थ-दीपक निरुक्त भाष्य ' पूर्वार्ध, प्रथमावृत्ति पृष्ठ २४४—२४५.

(होता अश्विनौ यक्षत्) यज्ञकर्ता गृहस्थ अध्यापक उपदेशकोंका अन्नादिद्वारा सत्कार करे ' (छागस्य हविष आत्ताम्) वे बकरीके दूध दहीको खावें। (अद्य मध्यतः उद्‌भृतं मेदः पुरा द्वेषोभ्यः पुरा पौरुषेय्याः गृभः घस्तां) सद्यः उस दहीमेंसे निकाले हुए घीको वे स्वाद आदि दुर्गुणसे पहले, और पौरुष देनेकी शक्ति निकल जानेसे पूर्व भक्षण करें। (नूनं घासे अज्राणां, यवसप्रथमानां, पीवोपवसनानां) घासके आश्रय चलने फिरनेवाली, मुख्यतया तृणोंको खानेहारी, और बलका निवास करानेहारी बकरियोंके (सुमत् क्षराणां, शतरुद्रियाणां अग्निष्वात्तानां) सुमतिनाशक, विविध रोगोत्पादक, तथा जाठराग्नि-मन्दकारः मांसको (पार्श्वतः, श्रोणितः, शितामतः, उत्सादतः अङ्गात् अङ्गात् अवत्तानां) जो पार्श्व प्रदेशसे, कटिसे, बाहु जिगर या मेदासे, एवं अन्य नाशकारी अङ्गी अङ्गसे काटा जाता है (करतः एव) उसका त्यागही करो अर्थात् ऐसे हिंसाजनक, हानिकारक तथा घृणित मांसका सेवन कभी मत करो। (अश्विना हविः जुषेतां) हे अध्यापक उपदेशको ! बकरीके दूध दही घी आदि ग्राह्य उत्तम पदार्थोंका सेवन करो। (होतः यज) हे यज्ञकर्त्ता गृहस्थ ! तू अश्विओंका सत्कार कर। '

उपर्युक्त मन्त्रमें बडे स्पष्ट शब्दोंमें बकरीके मांस खानेका निषेध है, जिसके लिये पाँच हेतु दिये गए हैं- (१) हिंसा, ये बकरियाँ केवल घास, तृण खाकर, गुजारा करती हैं, और उपकारी इतनी हैं कि फिर भी अपने दुग्धादिके द्वारा हमें बल प्रदान करती हैं। ऐसे निर्दोष पशुको मांसभक्षणके लिये मारना कितना घोर पाप है। (२) मांसभक्षणसे सुबुद्धिका नाश होता है। (३) सैकडों प्रकारके रोग उत्पन्न होते हैं। (४) और जाठराग्नि मन्द पड जाती है। (५) मांस कटि, योनि, जिगर आदि घृणित अंगोंसे प्राप्त होता है। एवं मांस--भक्षण--निषेधके साथ साथ 'हविषः आत्ताम्'' हविः जुषेतां ' आदि शब्दोंमें मन्त्रके पूर्व और अन्तमें बकरीके केवल घी, दुग्ध, दही आदिके सेवनकी आज्ञा दी गई है। परन्तु फिर भी महीधर उव्वट आदि भाष्यकार इस मन्त्रका अनर्थ किए विना नहीं रहते। वे बकरेके अंग अंगको काटकर खानेमेंही कल्याण समझते हैं।......

'छाग' शब्द 'छागस्य इदम्' निर्वचनसे बकरीके दूध आदिके लिये लोकमें प्रयुक्त होता है। 'छागस्य हविषः' समुत्क्षराणां, शतरुद्रियाणां, अग्निष्वात्तानां, अवत्तानां' यहाँ कर्ममें षष्ठी है। मेदस्=स्निग्ध घृत, ऋ० ३-२१-१ में 'मेदसो घृतस्य' कहते हुए घृतके लिये विशेषणके तौरपर 'मेदस्'का प्रयोग किया है। 'रुद्र' शब्द रोगवाचक, यजुर्वेदके रुद्राध्याय (१६ अध्याय) में स्पष्टतया आता है। 'अग्निष्वात्तानाम्-' अग्निः सु आत्तं गृहीतं यैस्तेषाम्। पीवोपवसनानाम्-पीव्नः उपवसनं यैस्तेषाम्। वृद्ध्यर्थक 'प्यै' धातुसे 'क्वनिप्' संप्रसारण और दीर्घ (उणा० ४-११५)। बकरीके दूध दही तथा घृतकी सुश्रुत (सूत्र स्थान ४५ अध्याय) में बहुत अधिक प्रशंसा की है, पाठक वहाँसे देख सकते हैं।'

गौकी हिंसाका निषेध वेदमें और भी हैं—

'गां मा हिंसीरदितिं विराजं-' (यजु० १३।४२) = गायकी हिंसा न कर क्योंकि वह (अ-दितिं) काटनेके अयोग्य है और (विराजं) विशेष तेजस्वी है।

'आरे गो-हा' (ऋ० ७।५६।१६)
'आरे ते गो-घ्न'- (ऋ० १।११४।१०)
'गायकी हिंसा करनेवालेको दूर रक्खो।'

वेद स्पष्टतया जौ, चावल, उडद (माष) खानेकी आज्ञा है—

'व्रीहिमत्तं यवमत्तमथो माषमथो तिलम्।
एष वां भागो निहितो रत्नधेयाय दन्तौ मा हिंसिष्टं पितरं मातरं च'- (अथर्व. ६।१४०।२)

अर्थ.- (व्रीहिं) चावलोंका (अत्तं) भोजन कीजिए, (यवं) जौ (अत्तं) खाइये, (माषं) उडद अथवा (तिलं) तिल भक्षण कीजिये, (रत्नधेयाय) रमणीयताके लिये आप सब लोगोंका यही भाग है। आपके दांत रक्षकोंकी तथा मान्य कर्ताओंकी हिंसा न करें। चावल, जौ, माष, तिल, आदि पदार्थ खाने चाहिए और किसी प्रकार बडोंकी हिंसा नहीं करनी चाहिये।

'आ यः सोमेन जठरमपिप्रतामन्दत मघवा मध्वो अन्धसः। यदीं मृगाय हन्तवे महावधः सहस्रभृष्टिमुशना वधं यमत्॥' (ऋ० ५।३४।२)

अर्थ+-- (यः) जो (मघवा) उत्तम धन सम्पन्न होकर (मध्वः अन्धसः सोमेन) मधुर अन्नके पुष्टिकारक अंशसे (जठरम् अपिप्रत) पेट भरले वह भी (अमन्दत) तृप्ति-लाभ और उत्तम हर्ष प्राप्त कर लेता है। (यत्) और जो (ईम्) सब तरफ (हन्तवे मृगाय महावधः) हत्यारे सिंह-के पेट भरनेके लिए भारी हत्याकाण्ड होता है अथवा (मृगाय हन्तवे महावधः) मृगादि पशुको मारनेके लिए भारी वध होता है। (उशनाः) जीवोंको चाहनेवाला, दयाशील पुरुष ऐसे (सहस्रभृष्टिं) हजारों जीवोंके भूने जानेरूप (वधम्) वधकाण्डको (यमत्) रोक दे।

समीक्षा- १ वेदका यह मंत्र कितना स्पष्ट और गंभीर है। राजनीतिकी दृष्टिसे देखिए। यदि 'मघवा' अर्थात् ऐश्वर्यवान् राजा अपने 'जठर' अर्थात् राष्ट्रके मध्यभागको मधुर अन्न और उत्तर ऐश्वर्यसे स्वर्ण व्यापार आदिसे पूर्ण कर ले अर्थात् कृषि और व्यापारसे ऐश्वर्यवान् हो जाय तो उसे अपने हिंसा व्यसनको पूर्ण करनेके लिए संग्राम कर हत्याकाण्ड मचानेकी आवश्यकता नहीं है। क्योंकि वेद कहता है कि यह कार्य एक प्रकारसे (हन्तवे मृगाय महावधः) हिंसाकारी सिंहके लिए महा हत्याकाण्डके समान है। अर्थात् सिंह जिस प्रकार हिंसाकी प्रवृत्तिसे नाना पशुओंको मारता है उसी प्रकार बलवान् राजा अन्य तुच्छ राष्ट्रोंका नाश किया करता हैं। इसतरहके हिंसा विनोदके लिए किए गए हत्याकाण्डमें (सहस्र-भृष्टिः) हजारों जानें आग-में भुन जाती हैं। युद्धमें प्रयुक्त अग्नेयास्त्र, तोपों और बन्दूकोंके आगे सहस्रोंकी बस्तियाँ और लाखों प्राणी बेर-हमीसे भून डाले जाते हैं। ऐसी स्थितिमें वह राजा या दयार्द्र हृदय पुरुष जो वस्तुतः इन सब जीवोंके या अपने अधीन प्रजाको भी हृदयसे चाहता है और लोकमें अपना कल्याण, क्षेम चाहता है, वह 'उशना' है, वह अवश्य ऐसे हजारोंको भून डालनेवाले महावधको रोक दे।

-२ जैसे यह सत्य राष्ट्रपर राजाके प्रति लागू होता है उसी प्रकारे यह सिद्धान्त एक व्यक्तिपर भी लागू होता है। यदि धनाढ्य अमीर आदमी अपना पेट उत्तम अन्न और औषधि वनस्पति आदिसेही भर ले तो उसे सिंहवत् हत्यारा होकर अपने लिए नाना प्राणियोंका महावध नहीं करना चाहिए। क्योंकि धनके बलपर अमीरीके नशेमें अपनेको शेर स्वभावका क्षत्रिय बना लेनेकी झोंकमें मांस, कबाब, को खानेका यत्न करेंगे। यदि एक मनुष्य दो मुर्गी भी मारता है तो १०० घरोंकी बस्तीमें भी कमसे कम एक दिन-में दो सौ मुर्गी मारी जावेंगी। वे सभी मारे गए प्राणी भून भूनकर मांसाहारी लोग खा जायेंगे। इसी प्रकार यदि बडे शहरोंकी कल्पना करें तो हजारों प्राणियोंका वध और हजारोंका आगपर भूने जाना स्पष्ट हो जाता है। कलकत्ता, लाहौर आदिके कसाईखानोंमें हजारों गायों बैलोंका रोज मारे जाने और भून भानकर इन नर-पशुओंके पेटमें चले जानेकी सत्यता सहजमेंही देखनेमें आती है। यही अधिक मात्रामें पशुओंका मारा जाना 'महावध' कहाता है। इसमें सहस्रों प्राणी आगमें भुन जाते हैं इस कारण यह वध 'सहस्र-भृष्टि' है। 'उशना' अर्थात् अपने राष्ट्र-का कल्याणक्षेम चाहनेवाले पुरुषको चाहिये कि वह ऐसे संहारको रोक दे। पेटके लिए सहस्रों प्राणियोंका आगपर भून डालना कहाँतक कल्याणक्षेम कर सकता हैं। यह प्रत्येक समझदार भले मानसको सोचना चाहिये। इस वेद-मन्त्रपर मांस दलके अनुयायी लोगोंको अवश्य विचार करना चाहिये।

एतद्‌ वा उ स्वादीयो यदधिगवं क्षीरं वा मांसं वा तदेव नाश्नीयात्। (अथर्व० ९।६।९ [३९])

अर्थात्- गायका यह क्षीर (दूध), दधि और घृतही खाने योग्य है, मांस नहीं। श्री वेदव्यासजी भी कहते हैं कि—

'सुरामत्स्यमधुर्मांसमासवं कृशरौदनम्।
धूर्तैः प्रवर्तितं ह्येतद् नैतद्वेदेषु कल्पितम्॥'
(महाभारत शां० मो० २६५।९-१०)

अर्थात्- शराब, मछली, अंगूरी आदि मीठी शराब, मांस, गन्नेके रसकी बनी शराब, और मांसौदन यह सब पाख-ण्ड धूर्तोंने चलाया है, वेदमें इसकी कल्पना भी नहीं।

'बृहदारण्यकोपनिषद्' में एक वाक्य है जिसे मांस-भक्षणके पक्षपाती सभी पाश्चात्य विद्वान् तथा उनके भारतीय शिष्यवर्ग स्वपक्ष समर्थनके लिए दिया करते हैं।

+ मासिक पत्र 'वैदिक-विज्ञान' अजमेर, नवम्बर सन १९३२ ई०, पृष्ठ ८७-८८

अतएव उस वाक्यपर विचार करना अनिवार्य है ।

'अथ य इच्छेत्पुत्रो मे पण्डितो विगीतः समितिंगमः । शुश्रूषितां वाचं भाषिता जायेत सर्वान्वेदाननुब्रुवीत सर्वमायुरियादिति मांऽसौदनं पाचयित्वा सर्पिष्मन्तमश्नीयातामीश्वरौ जनयितवा औक्षेण वाऽऽर्षभेण वा ॥' (बृहदा० १०।६।४।१८)

श्रीशंकराचार्यजीका मत– 'विविधं गीतो विगीतः प्रख्यात इत्यर्थः। समितिंगमः सभां गच्छतीति प्रगल्भ इत्यर्थः। पाण्डित्यस्य पृथग् ग्रहणात् । शुश्रूषितां श्रोतुमिष्टां रमणीयां वाचं भाषिता संस्कृताया अर्थवत्या वाचो भाषितेत्यर्थः। मांसमिश्रमोदनं मांसौदनम् । तन्मांस नियमार्थमाह– औक्षेण वा मांसेन। उक्षा सेचनसमर्थः पुंगवस्तदीयं मांसम् । ऋषभस्ततोऽप्यधिकवयास्तदीयमार्षभं मांसम् ।' ⊠

भाष्यानुवाद– 'जो पुरुष चाहे कि मेरा पुत्र पण्डित, प्रख्यात, प्रगल्भ (चतुर), सुन्दर अर्थवाली वाणी करनेवाला, चारों वेदोंका वक्ता, सम्पूर्ण आयुके भोगनेवाला होवे, वह पुरुष जवान अथवा उससे कुछ अधिक उम्रवाले बैलका मांस चावलोंके साथ पकाकर उसमें घृत डालके अपनी स्त्री सहित खावें ।'

महाशय रमेशचन्द्रदत्तजी बङ्गालीका मत– 'यदि कोई पुरुष चाहे कि उसके घरमें विद्वान् पुत्र उत्पन्न हो जो प्रसिद्ध सुवक्ता करनेवाला वेदोंको जाननेवाला और चिरञ्जीव हो तो उसको और उसकी स्त्रीको बैलका मांस और घी खाना चाहिये ।' ●

मुझे इस अर्थको देखकर अत्यन्त क्षोभ होता है कि श्री शंकराचार्यजी ऐसे सुविज्ञ इसतरह घृणित अर्थ क्यों किये। गाय, बैल, भेड, बकरी तो आर्योंकी अति प्रियवस्तु है ।

मुगलोंमें मुहम्मद तुगलक और अकबरने अपने राज्यमें गोहत्या बन्द करा दी थी × यहाँपर 'मांसौदन,' 'औक्षेण' 'ऋषभेण' पदोंको देखकर लोग भ्रममें पड जाते हैं। परन्तु यहाँ 'मांसौदन' पाठ नहीं है 'माषौदन' ऐसा पाठ है । एक बार अशुद्ध छप गया उसपर किसीने ध्यान न दिया जिससे मांसाहारियोंने अपना तात्पर्य निकाल लिया।

वेदोंके मूर्धन्य पंडित, विद्वद्वरेण्य श्री शिव शङ्करजी शर्मा 'काव्यतीर्थ' अपने 'भाष्य' में लिखते हैं- माषौदन= सबसे पहले एक महान् प्रमाद बहुत दिनोंसे चला आता हुआ प्रसिद्ध होता है । 'मांसौदन' शब्द यहाँ नहीं चाहिये किन्तु 'माषौदन' अर्थात् माषौदनके स्थानमें मांसौदनं लेखकोंके भ्रमसे वा किसी मांस प्रिय विद्वान् के कर्तव्यसे इस प्रकारके परिवर्तन हुआ है ऐसा प्रतीत होता है क्योंकि श्रीमन्थकर्ममें दश प्रकारके अन्नके नाम आए हैं वे ये हैं व्रीहि, यव, तिल, माष, अणु, प्रियङ्गु, गोधूम, मसूर, खल्व और खलकुल और इन दश अन्न सर्वौषध मिलाकर मन्थ बनाया जाता है और उसके विधिपूर्वक ग्रहणसे यहाँतक फल कहा गया है कि सूखे वृक्षके ऊपर भी यदि वह मन्थ रक्खा जाय तो उसमें पत्ते लग जायँ इत्यादि वर्णन इसी उपनिषद् के षष्ठाध्यायके तृतीय ब्राह्मणमें देखिए । यहाँपर देखते हैं कि तिल शब्दके बाद 'माष' शब्द आया है । इसी प्रकार 'तिलौदन' के पश्चात् 'माषौदन' आना चाहिये न कि 'मांसौदन' क्योंकि १७ वें खण्डमें तिलौदन शब्द आया है अतः १८ वें खण्डमें अवश्य माषौदन चाहिये । पूर्वमें भी क्रम देखते हैं कि क्षीरौदन, दध्योदन, और उदौदन शब्द आये है अब क्षीर, दधि, और अन्नको त्याग झट मांसका विधान कर देना यह असंगत प्रतीत होता है अतः यहाँ 'माषौदन' ही शब्द है यह सिद्ध होता है 'माष' उडदको कहते है ' ॐ ...

विद्वद्वर्य, शास्त्रार्थ-महारथी पं० जे० पी० चौधरीजी काव्यतीर्थ, काशी अपनी पुस्तक ‡ में लिखते हैं–

'गर्भाधानके समय माषौदन चाहिये न कि मांसौदन जो गर्भाधानमें सर्वथा वर्जनीय है। पुस्तकमें एक वार जो

⊠ देखो– 'शांकरभाष्य बृहदारण्यकोपनिषद्' संवत् १९९९ वि. में गीताप्रेस, गोरखपुरमें मुद्रित और प्रकाशित, पृष्ठ १३५२)

● प्रो. रामदेवजीकृत 'भारतवर्षका इतिहास' प्रथम खंड, द्वितीयावृत्ति पृष्ठ १७८.

× मासिकपत्रिका 'त्याग-भूमि' अजमेर वर्ष २, खण्ड २, अंश ६, संवत् १९८५ वि० पृ० ६३९ से ६७३ तक 'बादशाही जमानेमें गोरक्षा' शीर्षक लेख ।

ॐ 'बृहदारण्यकोपनिषद् भाष्यम्' पृष्ठ ७७६-(संवत् १९६८ वि० में वैदिक यन्त्रालय अजमेरमें मुद्रित प्रकाशित, प्रथमावृत्ति)।

‡ 'वेद और पशुयज्ञ' पृष्ठ ४५ ।

अशुद्ध छप गया तो छप गया, कोई उसपर ध्यान देकर शुद्ध नहीं कर देता। '

महामहोपाध्याय पं० आर्यमुनिजी अपने ग्रन्थमें 'माषौदन' ही मानते हैं। ॐ

चतुर्वेद भाष्यकार पं० जयदेवशर्मा 'विद्यालङ्कार' 'मीमांसातीर्थ' का मत- 'मेरा सिद्धान्त है कि वहाँ पाठभेद है, 'मांस' नहीं, बल्कि 'माष' शब्द है।×'

वैदिक रीसर्च स्कॉलर पं० भगवद्दत्तजी बी. ए. का मत- 'वहाँ 'मांस' शब्द नहीं बल्कि 'माष' शब्द चाहिये।'+

अब देखना चाहिये कि गर्भाधानके समय वैद्यकशास्त्र किन किन वस्तुओंके खाने तथा किन किनके न खानेका विधान करता है।

चरकशारीरस्थान- (अ० ४।१६)

'गर्भोऽपघातकरास्त्विमे भावाः...न रक्तानि वासांसि बिभृयात् न मदकराणि चाद्यान्यभ्यवहरेत् न यानमधिरोहेत् न मांसमश्नीयात् सर्वेन्द्रियप्रतिकूलांश्च भावान् दूरतः परिवर्जयेत् ॥'

ये पदार्थ गर्भके हानि करनेवाले हैं- रक्त कपडा पहनना, मदकारक पदार्थोंका सेवन, मांस खाना, यानपर चढना- इसलिये गर्भाधानमें इनका सेवन करे-

सुश्रुत शरीराध्याय २ में लिखा है—

'ततोऽपराह्णे पुमान् मासं ब्रह्मचारी सर्पिः स्निग्धः सर्पिक्षीराभ्यां शाल्यौदनं भुक्त्वा मासं ब्रह्मचारिणीं तैलस्निग्धां तैलमाषोत्तराहारां नारीमुपेयाद्रात्रौ सामादिभिरभिविश्वास्य विकल्प्यैवं चतुर्थ्यां षष्ठ्यां दशम्यां द्वादश्यां च उपेयादिति पुत्रकाम ॥

अर्थ- गर्भाधान करनेवाला महीनेभरतक ब्रह्मचारी रहा पुरुष गर्भाधानके दिन अपराह्णमें घीसे स्निग्ध, घी और दूधके साथ शाली चावलके भातको खाकर एक मासतक ब्रह्मचारिणी रहनेवाली तिल तैलसे स्निग्ध, तैल और उडद प्रधान आहार की हुई स्त्रीको गर्भकी हानिकारक बातें समझा बुझा देनेपर सबतरहसे प्रेमोत्पादन करके चतुर्थी, षष्ठी, दशमी, द्वादशीमें पुत्रकी इच्छासे गमन करे। '

'चरक' शा० स्थान० अ० ८।२ में गर्भाधानमें 'उडद' हीका उल्लेख है। यथा—

'मधुरौषधसंस्कृताभ्यां घृतक्षीराभ्यां पुरुषं स्त्रियं तु तैलमाषाभ्याम् ॥'

अर्थ-वर्गोक्त मधुर औषधियोंसे संस्कार किस घृत और दुग्धसे पुरुषको, तैल और उडदसे स्त्रीको गर्भाधानके योग्य करे।

'ऋषभ' और 'ओक्षेण' × भी औषधियोंके नाम हैं।

'ऋषभो वृषभो धीरो विषाणी द्राक्ष इत्यपि'- (भा०)

ये नाम ऋषभक औषधिके हैं। यह हिमाद्रि शिखरपर मिलती है। बैलके सींगके आकारकी होती है- पत्ते छोटे छोटे होते हैं। यह शीतल रखनेवाली बलवर्धक औषधि है और शरीरमें वीर्यको बढाती है! चखनेमें मीठी, क्षयवातादि रोगोंका नाश करती है।

'राजनिघण्टु' पृ० ४४० में लिखा है- 'शृंगी, अतिविषा, कर्कटशृंगी, ऋषभञ्च' अर्थात्--शृंगी औषधिके अन्य नाम 'अतिविषा,' 'कर्कटशृंगी' और 'ऋषभ' हैं। पण्डित पीताम्बरजीने भी 'ऋषभ' का अर्थ यहाँपर औषधिही किया है।

अथर्ववेदमें एक मन्त्र आता है कि गर्भाधानके समय 'ऋषभ' औषधि खानी चाहिये न कि बैल।

'यानि भद्राणि बीजान्यृषभा जनयन्ति च।
तैस्त्वं पुत्रं विन्दस्व सा प्रसूर्धेनुका भव ॥'
(अथर्व० ३।२३।४)

ॐ 'वैदिक कालका इतिहास' पृष्ठ ५५

× मेरे और पं० जीके मध्यमें इस विषयमें ता० ३०।१०।१९४३ ई० को आर्य प्रादेशिक प्रतिनिधि सभाकी स्वर्ण जयन्तीपर लाहौरमें बातचीत हुई थी- लेखक।

+ मेरे और पं० जीके मध्य ता० ३१।१०।१९४३ को श्री पूज्यपाद स्वामी श्रीअभेदानन्दजी महाराज (पं० वेदव्रतजी) तथा विद्यावारिधि पं० विजयमित्रजी 'व्याकरणाचार्य' 'शास्त्रीके सामने लाहौरमें बातचीत हुई थी- लेखक।

× ओक्षेण, उक्षको 'वाचस्पत्य-बृहदभिदानमें 'ऋषभौषधि' लिखा है जिसका प्रमाण यह है 'उक्षा भद्रो, बलीवर्द, ऋषभो, वृषभो, वृषः, अनड्वान्, सौरभेयो गौः। शृंगी तु ऋषभो वृषः (अमर) अर्थात्- 'उक्ष' शृंगी वा काकडासिंगी नाम औषधिका नाम है।

अर्थः- ' भविष्यमें पिता बननेकी कांक्षावाले हे मनुष्य ! तू आरोग्यवर्धक ऋषभकी बीजकी सहायतासे पुत्र उत्पन्न कर और भविष्यमें माता कहलानेवाली स्त्रीको पुत्रवती और स्तनोंमें खूब दूधवाली होने दे।'

इस वेदमन्त्रके सामने कौन ऐसा मूर्ख होगा जो कहेगा कि मनुष्यको पुत्रोत्पत्तिके लिये ऋषभ औषधिके अतिरिक्त बैलका मांस खाना चाहिए।

अब प्रिय पाठकवृन्द ! समझ गए होंगे कि यहाँ 'माषौदन, औक्षेण, ऋषभेणका अर्थ मांस, बैल आदि नहीं किन्तु उडद तथा ऋषभक नामक औषधि है।

अतएव उस मंत्रका सत्यार्थ यों हुआ:- इसके बाद (य. इच्छेत्) जो कोई इच्छा करे (मे पुत्रः पण्डितः) मेरा पुत्र पंडित (विगीतः) विजयी (समितिङ्गम.) सभाओंमें जाने योग्य सभ्य (शुश्रूषितां) सुशिक्षित श्रवणेच्छाजनक (वाचं) वाणीका (भाषिता) बोलनेवाला (सर्वान् वेदान्-अनुब्रुवीत) सब वेदोंको पढे पढावे (सर्व--आयुः--इयात्) सम्पूर्ण आयुको भोगे (वा) इस प्रकार (जायेत) उत्पन्न हो वे (सर्पिष्मन्तम्) घृतयुक्त (माषौदनं) उडद और चावलको (पाचयित्वा) पकवाकर (ऋषभेण) अष्टवर्गोक्त ऋषभक नामक महौषधिके साथ (अश्नीयाताम्) स्त्रीपुरुष खावें तो (इति) इस औक्ष्णेन) ऋषभक महौषधिके निषेक प्रयोगसे (ईश्वरौ) दोनों समर्थ होते हुए (वे) अवश्य (वा) ऐसा (जनयितः) उत्पन्न करते हैं।'

उपर्युक्त प्रमाणोंसे यह स्पष्ट सिद्ध हो गया कि आर्य लोग निरामिष भोजी थे और गोरक्षा उनके धर्मका एक प्रधान अङ्ग था। अतएव प्राचीन आर्ष--साहित्यके जिन वाक्योंके अर्थ सायण, महीधर, + उव्वट, मैक्समूलर, ग्रीफिथ तथा अर्वाचीन विद्वान् श्रीरामनाथ सरस्वती, श्री स्वामी शङ्कराचार्यजी, सर रमेशचन्द्रदत्तजी, गुरुकुलकाङ्गडीके स्नातक पं० जयचन्द्रजी विद्यालङ्कार ❀ महापण्डित त्रिपिटकाचार्य राहुल सांकृत्यायन, मांस--भक्षणपरक अर्थ करते हैं वे वैदिक अर्थशैलीसे अनभिज्ञ हैं।

आशा है वैदिक साहित्यके मनीषिगण इसपर विचार करेंगे।

× ' गर्भवती गौको मारकर उससे हवन करना चाहिये- ' (महीधरभाष्य यजु० ३५।२०)।

गौकी चर्बीसे पितरोंके निमित्त हवन करना चाहिए- ' (,, ,, ,, ८।३०)।

❀ आप अपने ग्रन्थ ' भारतीय इतिहासकी रूप रेखा ' जिल्द प्रथम संस्करण पृष्ठ ४६० में (पूर्व नन्द-युगका जीवन और संस्कृतिका वर्णन करते हुए) लिखते हैं:- ' गोमांस इस युगतक भक्ष्य था, और अतिथिके आनेपर विवाहमें तथा श्राद्धमें वह आवश्यक गिना जाता था।'

पुनः पृष्ठ २०६ में लिखते हैं:- ' आर्य लोग पूरे मांसाहारी थे। गायको उस समय भी अघ्न्या अर्थात् न मारने लायक कहने लगे थे, तो भी विवाहके समय; २ या अतिथिके आनेपर; ३ बैल अथवा वेहत् (बाँझ गाय) को; ४ मारनेकी प्रथा थी।'

[२. ऋ० १०।८५।१३; अथर्व० १४।१।१३; ३. अथ० ९।६(४)।९; ४. ऐत० ब्रा० १०।१५].

जबकि वेदोंमें स्पष्ट आता है कि- ' मा गामनागामदितिं वधिष्ट' (ऋ० ८।१०१।१५)= अखण्डित निर्दोष गौको नहीं मारना चाहिये।

' यदि नो गां हंसि......तं त्वा सीसेन विध्यामो (अथर्व० १।१६।४)= यदि कोई हमारी गौको मारे तो उसे गोलीसे उडा देना चाहिये।

राममाता कौसल्या

(लेखक- वाल्मीकिवाक्प्रदीप पं० विष्णु दामोदर शास्त्री पण्डित)

राममाता कौसल्या दक्षिण कोसल देशके राजा भानुमान् की कन्या और उत्तर कोसल देशके अर्थात् अयोध्याके राजा दशरथ की श्रेष्ठ महिषी थी। इस कौसल्याके विषय में आनन्द-रामायणमें ऐसा वर्णन मिलता है-

अयोध्यायास्तु सान्निध्ये देशे श्री कोसलाह्वये।
कोसलायां महापुण्यः कोसलाख्यो नृपोऽभवत् ३२
तस्यासीद्दुहिता रम्या कौसल्या पतिकामुका।
तस्यां दशरथेनाशु विवाहो निश्चितो मुदा ॥३३॥
(आनंद-रामायण, सारकाण्ड अ. १)

अर्थात् उत्तर कोसल देशके साथ दक्षिण कोसल देश लगा हुआ था। उत्तर कोसलकी राजधानी अयोध्या थी। दक्षिण कोसल देशकी राजधानी कोसला थी। यहां पुण्यशील राजा राज्य करता था। उसकी रूपवती सुन्दरी कन्या कौसल्या नाम की थी। वह कन्या उपवर होनेपर उसका विवाह दशरथके साथ करनेका निश्चय हुआ और थोडे समयके पश्चात् यह विवाह हुआ। इससे दशरथ और कौसल्या ये भाई बहन थे, ऐसा जैनबौद्ध ग्रंथोंके आधारपर जो कई विद्वान् कहते हैं, वह असंगत है, ऐसा सिद्ध होता है। इस कोसल राजाका नाम अर्थात् कौसल्याके पिताका नाम भानुमान् था।

कौसल्याको उस समयके रिवाजके अनुसार एक सहस्र ग्राम 'स्त्रीधन' रूपमें पितासे मिले थे। (देखो अयोध्याकाण्ड, सर्ग ३१ श्लोक २२-२३)

कौसल्याका वैवाहिक जीवन

दशरथ राजाका प्रेम कैकेयी राणीपर था, अतः वह प्रायः कैकेयीके महलमेंही रहता था। इसलिये कौसल्याके विषयमें वह उतना प्रेम नहीं दिखाता था। कैकेयीके साथ विवाह होनेतक जो पतिसुख कौसल्याको मिला होगा वही होगा, क्योंकि कैकेयी भी कौसल्याका अपमान बारबार करती रहती थी। तथापि शीघ्रही रामको राज्य मिलेगा, तब मुझे सुखके दिन आयेंगे, ऐसा विचार करके कौसल्या सब दुःख सहन करती रहती थी। यह बात कौसल्याके भाषणसेही स्पष्ट होती है-

न दृष्टपूर्वं कल्याणं सुखं वा पतिपौरुषे।
अपि पुत्रे विपश्येयं इति रामास्थितं मया।
(अयोध्याकाण्ड स. २०)

पर रामका वनवास होनेके कारण कौसल्याकी सब आशाएं विनष्ट हो गयीं और वह पूर्ण रूपसे उदास बनी।

गृहिणी कौसल्या

जब अनेक वार प्रार्थना करनेपर भी कैकेयीने कुछ भी न सुना और रामको वनवासके लिये अरण्यमें भेजना अनिवार्य हुआ, तब दशरथको कौसल्याका स्मरण हुआ। तब उसने कहा-

यदा यदा हि कौसल्या दासीव च सखीव च।
भार्यावत् भगिनीवच्च मातृवच्चोपतिष्ठति ॥ ६९ ॥
(अयो० १२)

'मेरी रानी कौसल्या दासीके समान, सखीके समान, भार्या और बहनके समान, तथा माताके समान हर एक प्रकारकी मेरी सेवा शुश्रूषा करनेके लिये उपस्थित रहती है।' मैंने उनके साथ उदासीनताका व्यवहार किया, पर उसके अन्दरकी पतिनिष्ठा कम नहीं हुई। इस दशरथके भाषणसे स्पष्ट होता है कि कौसल्या आदर्श गृहिणी थी।

कौसल्याका शील

जिस दिन श्रीराम वनवासमें गये, उसी दिनसे राजा दशरथ कौसल्याके मंदिरमें रहने लगे। श्रीराम और सीता के वनवास जानेके दिन कौसल्याने पुत्रशोकसे संतप्त होकर राजा दशरथको बहुत कुछ बुराभला कहा (देखो अयोध्या. स. ४३-४४)। तब राजा दशरथने कौसल्याके सामने हाथ जोडे और उससे क्षमा मांगी। तब कौसल्याको मालूम हुआ कि "मेरा यह भाषण पतिव्रता स्त्रीके लिये

योग्य नहीं हुआ, पति कैसा भी हुआ तो भी उसकी निन्दा करना पत्नीके लिये कदापि योग्य नहीं है। अतः अपना भाषण कुलीन पतिव्रता स्त्रीके लिये अयोग्य हुआ।" जब यह विचार कौसल्याके मनमें आया, तब उसको पश्चात्ताप हुआ और वह बडो जोरसे रोने लगी और उसने कहा कि "केवल पुत्रशोकसे विवश होकर मैंने ऐसा भाषण किया, मैं क्षमाकी याचना करती हूं।" इसके पश्चात् कभी कौसल्याने ऐसा भाषण नहीं किया। अन्ततक पतिके साथ रहकर वह उसकी उचित सेवाही करती रही।

कैकेयी कौसल्याकी बारबार निंदा करती थी, पर कौसल्याका बर्ताव कैकेयीके साथ बहिनके समानही होता था। देखो—

तथा ज्येष्ठा हि मे माता कौसल्या दीर्घदर्शिनी।
त्वयि धर्मं समास्थाय भगिन्यामिव वर्तते॥
(अयो. ७३।१०)

भरतने कैकेयीसे कहा कि 'माता कौसल्या तेरे साथ भगिनीके समान बर्ताव करती है और तुम्हारा बर्ताव इस तरह क्यों हुआ?'

कौसल्याका पुत्रवात्सल्य

श्रीराम वनमें जानेके पश्चात् कौसल्या पुत्रशोकसे संत्रस्त हुई और वह दशरथसे बोली—

अथास्मिन्नगरे रामः चरन् भैक्ष्यं गृहे वसेत्।
कामकारो वरं दातुं अपि दासं ममात्मजम्॥
(अयो. ४३।४)

'यदि कैकेयी अपने पुत्र-भरतके लिये राज्य देना चाहती थी, तो वह भले ही राज्य ले लेती, पर श्रीरामचन्द्रके लिये बनवासका वर मांगनेकी उसके लिये कोई आवश्यकता नहीं थी। राम यहीं घरमें रहता और घरघरमे भीख मांगकर अपना निर्वाह कर सकता था। इससे भरतको राज्य मिल जाता और राम मेरे पास रहता और पुत्रशोकके कष्ट मुझे न होते।' तथा—

त्वद्वियोगान्न मे कार्यं जीवितेन सुखेन च।
त्वया सह मम श्रेयः तृणानां अपि भक्षणम्॥
(अयो. २१।२६)

'हे राम! तेरे वियोगसे मुझे सुखमय जीवन कदापि प्राप्त नहीं होगा, परंतु तेरे साथ रहते हुए मैं घास खाकर भी आनन्दसे रहूंगी।' इससे कौसल्याका पुत्रप्रेम प्रकट होता है। इतना शोक होनेपर भी कौसल्याकी मनोवृत्ति धर्ममार्गसे भ्रष्ट नहीं हुई। वह पुत्रशोकसे दशरथको कठोर भाषण बोली, पर तत्कालही पश्चात्तापपूर्वक उसने क्षमाकी भी याचना की। इससे स्पष्ट होता है कि वह पूर्ण रूपसे पतिव्रता-धर्मपर सुदृढ थी और साथ साथ पुत्रवत्सला भी थी।

कैकेयीके कहनेके अनुसार रामको वनवास हुआ, यह देखकर लक्ष्मण बहुतही क्रोधित हुआ और बोला कि—

गुरोरप्यवलिप्तस्य कार्याकार्यमजानतः।
उत्पथप्रतिपन्नस्य कार्यं भवति शासनम्॥
अमित्रभूतो निःसंगं वध्यतां बध्यतां अपि।
(अयोध्या. २१।१३)

'पिता भी क्यों न हो, वह कार्याकार्य न जानता हो और टेढे मार्गसे जाने लगे, तो उसको शासन करना योग्य है। जो शत्रु होगा उसका वध किया जाय, अथवा उसको बंधनमें रखा जाय, यही योग्य है।' ऐसा जब क्रोधित लक्ष्मणने कहा, तब कौसल्या बोली—

भ्रातुस्ते वदतः सौम्य लक्ष्मणस्य श्रुतं त्वया।
यदत्रानंतरं तत्त्वं कुरुष्व यदि रोचते॥
(अयो. २१।२१)

'हे राम! तेरे भाई लक्ष्मणका यह भाषण तुमने सुना ही है, अब यदि तुझे यह पसंद है, तो ऐसा कर।' ऐसा कहनेमें कौसल्याने वैसा करनेको आज्ञा नहीं दी, प्रत्युत 'मुझे यह पसंद नहीं। पर यदि तू चाहता है तो कर' ऐसा भाव यहां स्पष्ट है। पित्राज्ञाके अनुसार वन-गमन करनेके लिये रामचन्द्र कितना सिद्ध है, यह देखनेका भी यहाँ कौसल्याका उद्देश्य होगा।

कई लोग कहते हैं कि, कौसल्याने यहां लक्ष्मणके कहनेके अनुसार करने के लिये अनुज्ञा दी, यह ठीक प्रतीत नहीं होता। कौसल्या जैसी धर्मनिष्ठ पतिव्रता अपने पतिका वध या कारावास करनेके लिये आज्ञा देगी, यह संभवही नहीं है।

इस समय कौसल्या के सामने दो प्रश्न थे, एक पति-भक्ति और दूसरा पुत्रप्रेम ! वृद्धावस्थामें कौसल्याको पतिसे दूर रहना भी योग्य नहीं था और पुत्रका वियोग भी उसके लिये असह्य ही था। पर क्षणमात्र उसने श्रीरामचन्द्रजीसे कहा कि 'तू मुझे अपने साथ वनमें ले चलो' तब श्रीरामने कहा कि—

कैकेय्या वंचितो राजा मयि चारण्यमाश्रिते ।
त्वया चैव परित्यक्तः न नूनं वर्तयिष्यति ॥
(अयो. २४।११)

'कैकेयीसे वंचित हुआ राजा, मेरे अरण्यमें जानेके बाद यदि तू भी यहां न रही, तो निःसंदेह मर जायगा।' इसलिये तेरा यहां रहना राजाके हितके लिये आवश्यक है, ऐसा कहनेपर कौसल्याने वह मान लिया है। इससे उस की पतिभक्ति उत्तम रीतिसे व्यक्त होती है। ऐसी पतिव्रता स्त्री पतिका वध करनेके लिये अनुज्ञा देगी, यह संभवही नहीं है।

कौसल्याका सीताके लिये उपदेश

जब सीता रामके साथ वनमें जानेके लिये सिद्ध हुई तब कौसल्याने उसको अपने हृदयके साथ मिलाया और प्रेमसे जो उपदेश किया, वह प्रत्येक स्त्रीको अन्तःकरणमें धारण करने योग्य है। यहां कौसल्याने सीताको प्रथम असती स्त्रियोंके लक्षण कहे और पश्चात् सतीके लक्षण बताये हैं—

असत्यः सर्वलोकेऽस्मिन् सततं सत्कृताः प्रियैः।
भर्तारं नानुमन्यन्ते विनिपातगतं स्त्रियः ॥२०॥
एष स्वभावो नारीणां अनुभूय पुरा सुखम्।
अल्पामप्यापदं प्राप्य दुष्यन्ति प्रजहत्यपि ॥२१॥
असत्यशीला विकृता दुर्गा अहृदयाः सदा।
असत्यः पापसंकल्पाः क्षणमात्रविरागिणः ॥२२॥
न कुलं न कृतं विद्यां न दत्तं नापि च श्रुतम्।
स्त्रीणां गृह्णाति हृदयं अनित्यहृदया हि ताः ॥२३॥
(अयोध्या. ३९)

'जो स्त्रियां पतिव्रता नहीं, उनको कितना भी सुख दिया तोभी वे कष्टके समयमें पतिकी सेवा नहीं करतीं, उस कठिन समयमें वे पतिका तिरस्कार भी करती हैं। असती स्त्रियां ऐश्वर्यके समयमें सुख भोगतीं हैं, पर विपत्कालमें पतिकी तिरस्कारपूर्वक निंदा करती हैं। असती स्त्रियाँ असत्यभाषणी, कुकर्म करनेमें तत्पर, दुष्ट पुरुषोंके पीछे जानेवाली, अपने पतिपर प्रेम करती नहीं और पर पुरुषपर प्रेम करती हैं। अल्प कारणसे ही पतिका द्वेष करने लगती हैं। असती स्त्रियां अपने पतिके कुल, पुरुषार्थ, ज्ञान, दान, बहुश्रुतपन आदिकी पर्वाह नहीं करती। ऐसी असन्मार्गप्रवृत्त स्त्रियां पुरुषके कुलकी अथवा यशकी पर्वाह नहीं करती, वे पर पुरुषपर रत रहती और पापकर्म करती हैं। इसका कारण यह है कि, इनका चित्त अत्यंत चञ्चल रहता है और उनका प्रेम भी क्षणभंगुरही रहता है।'

इस तरह कौसल्याने असती स्त्रियोंके लक्षण कहकर पश्चात् साध्वी स्त्रियोंके लक्षण कहे, सो अब देखो—

साध्वीनां तु स्थितानां तु शीले सत्ये श्रुते स्थिते।
स्त्रीणां पवित्रं परमं पतिरेको विशिष्यते ॥२४॥

'सती स्त्रियां शीलयुक्त तथा सच्चारित्र्ययुक्त होती हैं, वे सत्यनिष्ठ रहती हैं, श्रेष्ठ पुरुषोंके उपदेशोंपर उनकी श्रद्धा होती है, कुलमर्यादाका पालन वे करती हैं, कुलके यशका संरक्षण करती हैं। सब धर्मोंमें एक पतिव्रताधर्मका पालनही श्रेष्ठ धर्म है।' अतः हे सीते—

स त्वया नावमंतव्यः पुत्रः प्रव्राजितो वनम्।
तव देवसमस्त्वेषो निर्धनः सधनोऽपि वा ॥२५॥

'तू इस (रामचन्द्र) का कभी अपमान न कर, यद्यपि यह वनमें भेजा गया है, तथापि यह तेरे लिये आदरणीय ही है, देवताके समान यह तेरे लिये पूजनीय है। यह धनवान् हो अथवा निर्धन, यह तेरे लिये सेवा करने योग्य ही सदा है।'

इस तरह कौसल्याने प्रथम दुर्वृत्त स्त्रियोंके दुर्गुणोंका वर्णन करके सीताको बताया कि इन दुष्ट भावोंसे तुम्हें बचना चाहिये। तथा आगे सद्वृत्त स्त्रियोंके सुलक्षण कहकर उसको कहा कि इन सुलक्षणोंको धारण करना चाहिये।

कौसल्याका दातृत्व

कौसल्याका दातृत्व बहुतही बडा था। प्रतिवर्ष गुरुकुलसे सेकडों स्नातक कौसल्याके पास आते थे और अपने विवाह के लिये सहायता मांगते थे। कौसल्या उन सबका विवाह करा देती थी और उनको और भी यथेष्ट द्रव्य देती थी, जिससे उनका संसार अच्छी तरह चल सकता था। राम

वनवासको जाने लगा, उस समय वह लक्ष्मणसे कहता है-

मेखलीनां महासंघः कौसल्यां समुपस्थितः।
तेषां सहस्रं सौमित्रे प्रत्येकं संप्रदापय ॥ २१ ॥
(अयो० ४२)

' छात्रकोंका संघ कौसल्याके पास दान मांगने आया है, उनमेंसे प्रत्येक को हे लक्ष्मण ! सहस्र सुवर्ण मुद्राओंका दान कर । ' अर्थात् इससे उनका विवाह भी होगा और उनका संसार भी अच्छी तरह चलेगा ।

इससे पता लगता है कि कौसल्याके पास कितनी संख्यामें दान मांगनेके लिये स्नातक आते थे। इतना दान-धर्म कौसल्या करती थी ।

राममाता कौसल्या और युधिष्ठिरमाता कुन्तीकी तुलना

कौसल्याका पुत्रप्रेम अन्धा है, ऐसा प्रतीत होता है। अपना पुत्र अपनेसे दूर न होवे, पुत्रसे अपना वियोग न हो, पुत्रको भीक मांगनेका अवसर आ गया तो भी हर्ज नहीं, पर वह अपनेसे दूर न हो। उसको दीन अवस्थामें रहनेका समय आ गया तो भी हर्ज नहीं, परंतु वह दूर न जाय, ऐसी इच्छा कौसल्याकी दीखती है। अर्थात् कौसल्याके पुत्रप्रेममें पुत्रकी अभ्युदयकी इच्छा दीखती नहीं है ।

' मेरा पुत्र राम बडा होकर जब राजा होगा, तब मुझे सुखके दिन दीखेंगे ' यही कौसल्याकी इच्छा प्रतीत होती है। ' अपने पुत्रपर अन्याय है, उसका राज्य छीना गया है, यह अयोग्य हुआ है। निष्कारण वह दुःखमयी अवस्थातक गिराया गया है, इसका राज्य उसको शीघ्र मिलना चाहिये ' इत्यादि बातें कौसल्याके मनमें आयीं नहीं हैं। देखिये, कौसल्या ऐसा बोल रही है—

त्वद्वियोगान्न मे कार्यं जीवितेन सुखेन वा ।
त्वया सह मम श्रेयः तृणानामपि भक्षणम्॥२६॥
(अयोध्या. २१)

अथास्मिन्नगरे रामः चरन्भैक्ष्यं गृहे वसेत्।
कामकारो वरं दातुं अपि दासं ममात्मजम् ॥४॥
(अयोध्या. ४३)

' हे राम ! तेरा वियोग होनेपर मुझे जीवनसे क्या कार्य है और सुखसाधनोंसे भी क्या करना है ? तेरे साथ मैं घास खाकर भी आनंदमें रहूंगी। मेरा राम इस नगरमें रहे और चाहे भीख भी मांगे, अथवा दास बनकर भी रहे, पर मुझसे दूर न हो। कैकेयीका पुत्र चाहे राज्य प्राप्त करे और मेरा पुत्र उसका दास बने। ' यह कौसल्याका भाषण स्पष्ट है। इसमें उसका पुत्रप्रेम अन्धा है, ऐसा स्पष्ट दीखता है। इसमें वीरताकी झलक बिलकुल नहीं है। पुत्रके जीवितकी दुर्दशाकी कल्पना भी बिलकुल नहीं, पुत्र अपने पास रहे इतनी ही इच्छा यहां है। इसमें राजकारण कुछ भी नहीं है। इसके साथ कुन्तीकी तुलना करो ।

कुन्ती वनमें न जाय, अपने पास रहे, इस इच्छासे युधिष्ठिरका भाषण ऐसा है-

यदा राज्यमिदं कुन्ति भोक्तव्यं पुत्रनिर्जितम् ।
प्राप्तव्या राजधर्मास्ते तदेयं ते कुतो मतिः ॥२५॥
किं वयं कारिता कुन्ति भवत्या पृथिवीक्षयम् ।
वनाच्चापि किमानीता भवत्या बालका वयम्॥२६
प्रसीद मातर्मा गास्त्वं वनमद्य यशस्विनि ।
श्रियं यौधिष्ठिरां तावत् भुंक्ष्व मातर्बलार्जिताम्२८
(म० भा० आश्रमवासिक पर्व, कुन्ती-प्रस्थान, अ. १६।१७)

' हे कुन्ती ! तेरे पुत्रोंने शत्रुका पराभव करके राज्य प्राप्त किया है, ऐसे समयमें राज्यश्रीका भोग करना छोडकर वनमें जानेकी बुद्धि तेरी क्यों हुई है ? यदि तुम्हे राज्य नही चाहिये था, तो इतना वीरोंका संहार क्यों हमसे करवाया ? हम वनमें गये हीं थे, फिर हमें वापस क्यों लाया ? हे माता ! प्रसन्न हो, वनमें न जा। मैंने स्वपराक्रमसे प्राप्त की राज्यसंपदाका भोग कर। ' इस पर कुन्ती क्या कहती है, सो देखो -

एवमेतद् महाबाहो यथा वदसि पाण्डव ।
कृतं उद्धर्षणं पूर्वं मया वः सीदतां नृपाः ॥१॥
द्यूतापहृतराज्यानां पतितानां सुखादपि ।
ज्ञातिभिः परिभूतानां कृतं उद्धर्षणं मया ॥२॥
कथं पाण्डोर्न नश्येत सन्ततिः पुरुषर्षभाः।
यशश्च वो न नश्येत इति चोद्धर्षणं कृतम् ॥३॥
यूयं इन्द्रसमा लोके देवतुल्यपराक्रमाः ।
मा परेषां मुखप्रेक्षाः स्थ इत्येवं तत्कृतं मया ॥४॥

कथं धर्मभृतां श्रेष्ठः राजा त्वं धर्ममाश्रितः।
पुनर्वने न दुःखी स्याः इति चोद्धर्षणं कृतम्॥५॥
नाहं राज्यफलं पुत्राः कामये पुत्रनिर्जितम्।
पतिलोकानहं पुण्यान् कामये तपसा वृतान्॥६॥
श्वश्रूश्वशुरयोः पादान् शुश्रूषन्ती वने त्वहम्।
गांधारीसहिता वत्स्ये तापसी मलपंकिनी ॥७॥
(म. भा. आश्रमवासिकपर्व, सर्ग १७)

' हे युधिष्ठिर ! तेरा कहना सत्य है। तुम्हारी अवनति हो रही थी, इसलिये तुम्हारे उद्धारके लिये मैंने तुम्हें उन्नतिका उपदेश किया था। द्यूतमें तुम्हारे शत्रुओंने तुम्हारे राज्यका अपहरण किया था, इसलिये तुम सब ऐश्वर्योंसे वंचित हो गये थे, अपने ज्ञातिबांधवोंसे तुम पीडित हुए थे, इसलिये तुम्हारे उद्धारका उपदेश मैंने तुम्हे किया था। किस उपायके करनेसे पाण्डुकी संतान नष्ट नहीं होगी, और उनका यश भी विनष्ट नहीं होगा, इसका विचार मैं रातदिन करती थी और उसके परिणाम-स्वरूप मैंने तुम्हारा उत्साह बढाया था। तुम इन्द्रके समान तेजस्वी और देवोंके समान पराक्रमी हैं, अतः तुम्हें उचित नही था कि तुम दूसरेके मुखकी ओर ताकते रहे, इसलिये मैंने तुम्हारा उत्साह बढाया था। तुम सब धर्माचरण में करनेवालोंमें श्रेष्ठ और धर्मानुकूल आचरण करनेवाला सच्चा राजा है ऐसे तुझे वनवास जैसी आपत्ति फिरसे प्राप्त न हो इसलिये मैंने तुम्हारा उत्साह बढाया था। तुमने कमाये राज्यका उपभोग लेते हुए बैठनेकी मेरी इच्छा नही है। परंतु मैं अपने तपोबलसे पतिलोककी प्राप्तिकी इच्छा करती हूं। अब पाण्डुका वंश नष्ट होने लगा था उसका उद्धार हो चुका है। तुम विनाशके गढेमें गिर रहे थे, उनकी उन्नति हो गयी है। इस तरह मेरे जीनेका सार्थक हुआ है। इसलिये पतिव्रताधर्मका आचरण करके गांधारी और धृतराष्ट्रकी सेवा करनेमें अपना अन्तिम आयुष्य व्यतीत करनेकी मैं इच्छा करती हूं, इस हेतु मैं अब तपोवनमेंही जाऊंगी।'

अब कौसल्या और कुन्तीके वचनोंकी तुलना कीजिये-

(१) कौसल्या-

न दृष्टपूर्वं कल्याणं सुखं वा पतिपौरुषे।
अपि पुत्रे विपश्येयं इति रामास्थितं मया।

(मैंने पतिसे सुख वा कल्याणका अनुभव नहीं किया था अब मेरा पुत्र बडा होगा ओर मुझे सुख देगा, इस विश्वाससे मैंने जीवित धारण किया था।)

कुन्ती—

नाहं राज्यफलं पुत्राः कांक्षये पुत्रनिर्जितम्।
पतिलोकानहं पुण्यान् कांक्षये तपसार्जितान्॥

(मैं पुत्रोंसे प्राप्त किये राज्यसुखकी इच्छा नहीं करती, परंतु तपसे प्राप्त पुण्य पतिलोककी प्राप्ति करनेकी इच्छा करती हूं।)

(२) कौसल्या—

अथास्मिन्नगरे रामश्चरन्भैक्ष्यं गृहे वसेत्।
कामकारो वरं दातुं अपि दासं ममात्मजम्॥

(इस अयोध्या नगरीमें राम भीक मांगता हुआ भी घरमें रहे, अथवा मेरा पुत्र दासही क्यों न बने, पर राम घरमें रहे ऐसा वर लेना था।)

कुन्ती—

यूयं इन्द्रसमा लोके देवतुल्यपराक्रमाः।
मा परेषां मुखप्रेक्षाः स्थेत्येयं तत्कृतं मया॥

(तुम इन्द्रके समान तेजस्वी और देवोंके समान पराक्रमी हो, इसलिये दूसरोंके मुख ताकते न रहो इसलिये मैंने तुम्हें वैसा उत्साह बढानेका उपदेश किया था।)

(३) कौसल्या—

त्वद्वियोगान्न मे कार्यं जीवितेन सुखेन वा।
त्वया सह मम श्रेयः तृणानामपि भक्षणम्।

(तेरा वियोग होनेपर मेरे जीवितसे और सुखसे मुझे क्या प्रयोजन है ? तेरे साथ मैं घास खाकर भी आनंदसे रहूंगी।)

कुन्ती—

कथं पांडोर्न नश्येत सन्ततिः पुरुषर्षभाः।
यशश्च वो न नश्येत इति चोद्धर्षणं कृतम्।

(पाण्डुकी संतान किस उपायसे नष्ट न हो और उनका यश किस तरह विनाशको प्राप्त न हो इस लिये मैंने वह उत्साह वर्धनका उपदेश तुम्हें किया था।)

इससे स्पष्ट होता है कि कुंतीके स्वभावमें जो तेजस्विता और वीरता है वह इतिहासमें भी अतुलनीय है। वैसी तेजस्विता कौसल्यामें नहीं थी।

'**कर्म-फल-त्याग**'से शान्ति और सुख होता है, ऐसा गीताने कहा और फलपर आसक्त होनेसे मनुष्य बंधन में पडता है, ऐसा भी कहा है। इसका अब विचार करते है। ऐसा मान लें की एक मनुष्य बडा बुद्धिमान् और चतुर है। वह राष्ट्रशासनमें कुछ कार्य करता है और दो चार हजार वेतन अपने कर्मके फल-स्वरूपमें पाता है। वह वेतन वह अपने पास अपने घरमें रखता है। एक 'सेफ' (तिजोरी) खरीदना, उसकी चावियां सुरक्षित रखना, चोर न आ जाये इसलिए उसका बंदोबस्त करना, अधिक धन जमा होनेके बाद रखवाली करनेके लिये कोई पहारेदार रखना आदि सब चिन्ता और बंधन आज हरएक सहन करही रहा है। बैंकमें रखे तो उसके न टूटनेकी चिंता उसके हृदयको जला देती है। यही अनुभव-

कामकारेण फले सक्तो निबध्यते। (गी. ५।१२)

'स्वार्थवश होकर फलभोगपर आसक्त हुआ मनुष्य बंधनमें पडता है।' अदालतों में नानाप्रकारके मुकदमे बढ रहे है, नये नये कानून धनिकोंकी ओरसे और मजदूरोंकी ओरसे बढाये जा रहे हैं। ये कैसे बंधन फलभोगके कारण हो रहे हैं, सो देखिये।

वही चार हजार रु० वेतन पानेवाला बुद्धिमान् मनुष्य अपना वेतन स्वयं घरमें नहीं लाता, परंतु अपने नाम फलत्यागियोंमें दर्ज करके रखता है और प्रजापतिकी शासन-व्यवस्थाके राष्ट्रीय महाकोशमें जमा करता है और उस शासनव्यवस्थासे अपना योगक्षेम चलानेसे बडा शान्तिका अनुभव करता है। इसके घरमें सेफ रखनेकी जरूरत नहीं, न इसको चोरका भय है, इसके घरमें उपनयन, शादी या और कोई ऐसे उत्सव या संस्कार हों, तो इसकी योग्यतानुसार सब व्यय राजप्रबंधसे होता रहता है, हाथी घोडे वाद्य सब राजप्रबंधसे उसके घर आते हैं, उत्सव यथासांग होता है और इसको किसी तरह चिन्ता नहीं होती।

क्या यह व्यवस्था शान्ति और समाधान देनेवाली नहीं है? अपना कर्तव्य कर्म उत्तम कुशलतासे करनेका एकमात्र भार कर्तापर रहता है। शेष सब भार राजप्रबंधपर होते हैं और किसी तरहका कर्ताको कोई क्लेश नहीं है। यदि इस समय ऐसी राज्यप्रबंधकी व्यवस्था प्रचलित होगी, तो कितनी शान्ति जनताको मिलेगी, इसकी कल्पना विचार करनेवाले विचारसेही कर सकते हैं। यहां व्ययरहित सुप्रबंधकी व्यवस्था कैसी हो सकेगी यह स्पष्ट हुआ है।

कालकी अनुकूलता और साधनोंकी विपुलताके अनुसार इस शासन-प्रबंधमें न्यूनता वा अधिकता होना या करना योग्य ही होगा, परंतु मूल सिद्धान्त जो '**कर्मफलत्याग**' में प्रकट किया गया है, वह उत्तम सिद्धान्त है, इसमें संदेह नहीं है और वह ख्याली भी नहीं है, वह व्यवहारमें लाने योग्य है। इतनाही नहीं परंतु उससे उत्तम प्रबंधकी व्यवस्था हो सकती है। और न्यून व्ययसे जनतामें अधिक शान्ति भी रह सकती है।

आजतक इस कर्मफलत्यागके सिद्धान्तको सबने ख्याली माना था, कर्मफलको भी केवल अमूर्त अदृश्य अपूर्व रूप माना था, और वह अमूर्त परमेश्वरको मनसे ही समर्पण करनेतक मर्यादित माना था, पर वह सब अशुद्ध विचारसरणी थी। आज हम इसको प्रयोगमें लाने योग्य और प्रत्यक्ष व्यवहारमें लाने योग्य समझते हैं और इस दृष्टिसे इसका यहा विवरण किया है। प्रत्यक्ष व्यवहारमें प्रयोग करनेकी स्थितिमें इसको लाना विशेष विचार और प्रयोग करनेवालोंके अधीन है।

'कर्मफलत्याग'का व्यावहारिक दृष्टिसे जितना विचार अधिक किया जायगा उतनी यह बात स्पष्ट हो जायगी कि '**कर्म-फल-त्याग**' की जडमें वैयक्तिक धनसंपदा न हो यह विचार जीवित और जाग्रत है। विश्वरूप परमेश्वर है अतः सब विश्वभरकी धनसंपदा विश्वरूप ईश्वरकीहि है, वह किसी व्यक्तिकी नहीं है। गीताका आदर्श जनताको गृहरहित **(अ-निकेत)** तथा 'अपरिग्रह' (असंग्रह) वान् बनाना है। जब सब धनसंपदा विश्वरूपकी मानी जायगी तो व्यक्तिका स्वामित्व उसपरसे स्वयंही हट जायगा, और '**अपरिग्रह**' क्या और '**अनिकेत**' क्या और '**कर्मफलत्याग**' क्या ये सब सहजहीसे सिद्ध होंगे।

कर्मफलत्यागका विचार उसको व्यवहारमें लानेकी दृष्टिसे करनेकी ओर प्रवृत्ति जनतामें बढेगी, तब कभी गीता व्यवहारमें लानेका विचार मूर्तरूपमें आजायगा। उस समय कदाचित् आजके पूंजीपति गीताके विरोधी बनकर खडे हुए दीखेंगे, परंतु वह गीताका व्यवहार शुरू होनेका ही पहिला दिन सिद्ध होगा, अतः हम उस दिनका स्वागतही करेंगे।

(९)

योग और व्यवहार

योगका व्यवहारमें संबध है या नहीं है, इसका विचार अब करना है। बहुत लोग ऐसा मानते है कि योगका व्यवहारके साथ कोई संबंध नहीं है और योगका साधन करनेके लिये जनसमूहसे दूर जाना चाहिये। कोई योगसाधन करने लगा, तो सर्वसाधारण लोग उसकी ओर सदेहकी वृत्तिसे भी देखते है। परंतु हम जिस समय अन्दर घुसकर योगके सब अंगोंका विचार करते है, तब हमें उसकी उपयोगिता विशेष ही प्रतीत होने लगती है। इसलिये इस योगकी व्यावहारिक उपयोगिता को लक्ष्यमें रखकर हम इसका यहा विचार करते है।

भाषामें योगके प्रयोग

भाषामें इस 'योग' शब्दके प्रयोग अत्यधिक हैं। किसी अन्य पदके जितने प्रयोग नहीं होते, उतने इस योगके भाषामें प्रयोग है। देखिये— **'योग, प्रयोग, संयोग, अनुयोग, नियोग, दुर्योग, वियोग, नियोग, अधियोग, अतियोग, सुयोग, उद्योग, अभियोग, प्रतियोग, परियोग, उपयोग, अभिप्रयोग, विप्रयोग '** इत्यादि अनेक प्रकारसे यह 'योग' पद प्रयुक्त हुआ भाषामें दीखता है। जैसा युज् धातुका भाषामें व्यापक प्रयोग होता है वैसा शायदही किसी अन्यका प्रयोग होता होगा। इतना योगका प्रयोग बता रहा है कि, इस योगकी उपयोगिता बहुतही बडी है। विना उपयोगके किसी पदका प्रयोग इतनी विविध पद्धतिसे नहीं हो सकता।

गीतामें योगका उपयोग

गीतामें 'योग'का प्रयोग विशेष ही है। विशेष रीतिसे जो प्रयोग गीतामें है, वह छोड भी दिया जाय, तो भी निम्नलिखित प्रयोग प्रसिद्ध हैं–

कर्मयोग—

कर्मयोगेन योगिनाम्। (गी. ३।३)

कर्मेन्द्रियैः कर्मयोगं असक्तः स विशिष्यते। (गी. ३।७)

संन्यासः कर्मयोगश्च निःश्रेयसकरावुभौ।
तयोस्तु कर्मसंन्यासात्कर्मयोगो विशिष्यते॥ (गी. ५।२)

कर्मयोगेन चापरे। (गी. १३।२४)

ये कर्म-योगके उल्लेख गीतामें हैं, और यहां कर्मत्यागकी अपेक्षासे कर्मयोग विशेष महत्त्वका है, ऐसा भी कहा है। इसी तरह–

ज्ञानयोग—

ज्ञानयोगेन सांख्यानां (गी. ३।३)

श्रेयान् द्रव्यमयाद्यज्ञाज्ज्ञानयज्ञः परंतप। (गी. ४।३३)

ज्ञानयज्ञेन चाप्यन्ये यजन्तो मामुपासते॥ (गी. ९।१५)

ज्ञानयज्ञेन तेनाहमिष्टः स्यामिति मे मतिः॥ (गी १८।७०)

ऐसे वचनोंमें ज्ञानयोगका उल्लेख है। इसी तरह बुद्धियोग का उल्लेख देखिये–

बुद्धियोग—

दूरेण ह्यवरं कर्म बुद्धियोगात्॥ (गी. २।४९)

ददामि बुद्धियोगं तं येन मामुपयान्ति ते॥ (गी. १०।१०)

बुद्धियोगमुपाश्रित्य मच्चित्तः सततं भव॥ (गी. १८।५७)

तत्र तं बुद्धिसंयोगं लभते पौर्वदेहिकम्॥ (गी. ६।४३)

बुद्धियुक्तो जहातीह उभे सुकृतदुष्कृते॥ (गी. २।५०)

कर्मजं बुद्धियुक्ता हि फलं त्यक्त्वा मनीषिणः॥ (गी. २।५१)

इत्यादि वचनोंमें बुद्धियोगका प्रयोग दीखता है। ऐसेही भक्तियोगका उपयोग देखिये–

भक्तियोग—

मां च योऽव्यभिचारेण भक्तियोगेन सेवते। (गी. १४।२६)

यहां भक्तियोग पद आया है। निम्नलिखित वचनमें ब्रह्मयोग पद है-

ब्रह्मयोग—

स ब्रह्मयोगयुक्तात्मा सुखमक्षय्यमश्नुते॥ (गी ५।२१)

निम्नलिखित वचनमें ' संन्यासयोग ' पद प्रयुक्त हुआ है-

संन्यासयोग—

संन्यासयोगयुक्तात्मा विमुक्तो मामुपैष्यसि॥ (गी. ९।२८)

निम्नलिखित वचनमें ' अभ्यासयोग 'का उल्लेख है-

अभ्यासयोग

अभ्यासयोगयुक्तेन चेतसा नान्यगामिना॥ (गी. ८।८)

अभ्यासयोगेन ततो मामिच्छाप्तुं धनंजय॥ (गी. १२।९)

निम्नलिखित वचनमें ' अनन्ययोग ' का उल्लेख है—

अनन्ययोग—

मयि चानन्ययोगेन भक्तिरव्यभिचारिणी॥ (गी. १३।१०)

अनन्येनैव योगेन मां ध्यायन्त उपासते। (गी. १२।६)

निम्नलिखित वचनमें ' साम्ययोग ' पद है-

साम्ययोग—

योऽयं योगस्त्वया प्रोक्तः साम्येन मधुसूदन। (गी. ६-३३)

इहैव तैर्जितः सर्गो येषां साम्ये स्थितं मनः। (गी. ५।१९)

निम्नलिखित गीता वचनमें ' आत्मयोग ' पद है—

आत्मयोग—

मया प्रसन्नेन तवार्जुनेदं रूपं परं दर्शितमात्मयोगात्। (गी. ११।४७)

निम्निलिखित वचनमें ' आत्मसंयमयोग ' पद है—

आत्मसंयमयोग—

आत्मसंयमयोगाग्नौ जुह्वति ज्ञानदीपिते। (गी. ४।२७)

निम्नलिखित वचनमें ' ध्यानयोग ' पद है—

ध्यानयोग—

ध्यानयोगपरो नित्यं वैराग्यं समुपाश्रितः। (गी १८।५२)

निम्नलिखित श्लोकोंमें ' वियोग ' पद है—

वियोग

तं विद्याद्दुःखसंयोगवियोगं योगसंज्ञितम्। (गी. ६।२३)

रागद्वेषवियुक्तैः इंद्रियैः। (गी. २।६४)

निम्नलिखित श्लोकोंमें ' संयोग ' पद है—

संयोग—

दुःखसंयोगवियोगं योगसंज्ञितम्। (गी ६।२३)

क्षेत्रक्षेत्रज्ञसंयोगात् तद्विद्धि। (गी. १३।२६)

विषयेंद्रियसंयोगात्। (गी. १८।३८)

दम्भाहंकारसंयुक्ताः। (गी १७।५)

इनके अतिरिक्त निम्नलिखित पद गीतामें आ गये हैं— ' योग, योगक्षेम (९।२२), योगधारणा (८।१२), योगबल (८।१०), योगभ्रष्ट (६।४१), योगमाया (७।२५), योगयज्ञ (४।२८), योगयुक्त (५।६-७,८।२७), योगयुक्तात्मा (६।२९), योगवित्तम (१२।१), योगसंसिद्ध (४।३८), योगसंसिद्धि (६।३७), योगसंज्ञित (६।२३), योगसंन्यस्तकर्मा (४।४१), योगसेवा (६।२०), योगस्थ (२।४८), योगारूढ (६।३-४), योगी (३।३ इ०), योगेश्वर (११।४, १८।७५,७८), महायोगेश्वर (११।९) इनके अतिरिक्त अध्यायके नामोंमें निम्नलिखित योगके नाम है—(१) विषादयोग, (२) सांख्ययोग, (३) कर्मयोग, (४) ज्ञानकर्मसंन्यासयोग, (५) संन्यासयोग, (६) ध्यानयोग, (७) ज्ञानविज्ञानयोग, (८) ब्रह्माक्षरयोग, (९) राजविद्याराजगुह्ययोग, (१०) विभूतियोग, (११) विश्वरूपदर्शनयोग, (१२) भक्तियोग, (१३) प्रकृतिपुरुषविवेकयोग, (१४) गुणत्रयविभागयोग, (१५) पुरुषोत्तमयोग, (१६) दैवासुरसंपद्विभागयोग, (१७)

श्रद्धात्रयविभागयोग। इनही अध्यायोंके नाम ये भी मिलते हैं— (४) आत्मसंयमयोग, (६) अध्यात्मयोग, (७) ज्ञानयोग, (८) महापुरुषयोग, (१८) मोक्षयोग, इस तरह और भी नाम हैं। परंतु इनमें ये ही मुख्य हैं।

एकही गीतामें इतने योगोंका निर्देश है। इससे भी अधिक निर्देश इसी गीतामें अप्रत्यक्ष रूपसे मिल सकते हैं, परंतु उनका विचार हम यहां छोड देते हैं। इतने योगके विविध रूप बताकर गीताने एक रीतिसे योगका माहात्म्य ही वर्णन किया है। इससे योगका महत्त्व ही सिद्ध हो रहा है। इसीलिये इस योगका विचार करना आवश्यक है।

योगका अर्थ

युज् (समाधौ, ४ आत्मने०), युज् (योगे, ७ उभय०) युज् (संयमने, १ परमै०, १० उभय०) ये धातु हैं। 'चित्तकी वृत्तियोंका विरोध करना, जोडना, संयम करना' ये इसके अर्थ हैं। येही अर्थ यहां लेने हैं। चित्तकी और वृत्तियोंका विरोध करना, आत्मसंयम करना, मनको स्वाधीन करना, इन्द्रियोंको स्वाधीन रखना, शरीरको स्वाधीन रखना' ये अर्थ योगके हैं। जोडना भी एक है, अर्थात् ईश्वरके साथ अपना संबंध जोडना यह अर्थ ही योगका ध्येय और साध्य बताता है। इंद्रिय-निग्रह आदि सब उसके साधन हैं।

योगका संबंध अपनी शुद्धता करना है और परमेश्वरके साथ मिलना है, तथा सामाजिक संबंधकी पवित्रता करना है, इसीलिये ये धातु आत्मनेपदी और परस्मैपदी तथा उभयपदी हैं। उभयपदी धातु दोनों का संबंध जोडते हैं, आत्मनेपद अपनी शुद्धता करनेके लिये स्वयं अनुष्ठान करना चाहिये यह भाव बताता है और परस्मैपद दूसरे मनुष्यों अथवा पदार्थोंके साथ सुयोग्य बर्ताव करनेकी सूचना दे रहा है। यह सब ध्यानपूर्वक देखने योग्य है।

योगका गीतोक्त अर्थ

योग पदका अर्थ गीताने अपनी निज परिभाषानुसार स्वतंत्र किया है—

योगः कर्मसु कौशलम्। (गी. २।५०)
समत्वं योग उच्यते॥ (गी. २।४८)
योगस्त्वया प्रोक्तः साम्येन। (गी. ६।३३)
अचला बुद्धिस्तदा योगमवाप्स्यसि॥ (गी. २।५३)

'(१) कर्मकी कुशलता, (२) सर्वत्र समवृत्ति, (३) बुद्धि की स्थिरता ये योगके अर्थ हैं।' कुशलतासे कर्म उत्तम होते है, सर्वत्र समवृत्तिसे किसीसे पक्षपात नहीं होता और बुद्धिकी स्थिरतासे जो कार्य करना हो उसमें स्थिर रूपसे अपनी बुद्धि लगती है, जो वह कार्य निर्दोष करनेमें सहायक होती है। ये तीनों अर्थ योगका सामाजिक अर्थात् जनताके साथ विशुद्ध संबंध बताते हैं। मनुष्यसे समाज, जनता या राष्ट्रके लिये जो कर्म होने हैं, वे अत्यंत कुशलताके साथ समभावके साथ, तथा चित्तकी स्थिरताके साथ अर्थात् चित्तको चंचल न करते हुए होने चाहिये। यह भाव इन अर्थोंसे टपकता है।

अष्टांगयोग

यद्यपि गीतामें पूर्णतया अष्टांग-योगका वर्णन किसी एक स्थानपर नहीं है, तथापि गीता अष्टांग-योगका स्वीकार करती है और उस विषयके आवश्यक निर्देशभी देती है, इसलिये इन आठ अङ्गोंका विचार यहां करना योग्य है—

यम-नियम-आसन-प्राणायाम-प्रत्याहार-धारणा-ध्यान-समाधयोऽष्टावङ्गानि॥२९॥ अहिंसा-सत्य-अस्तेय-ब्रह्मचर्य-अपरिग्रहा यमाः॥ ३०॥ शौच-संतोष-तप-स्वाध्याय-ईश्वरप्रणिधानानि नियमाः॥ ३१॥ स्थिरसुखमासनम्॥ ४६॥ श्वासप्रश्वासयोर्गतिविच्छेदः प्राणायामः॥४९॥ धारणासु योग्यता मनसः॥ ५३॥ स्वस्वविषयासंप्रयोगे चित्तस्य स्वरूपानुकार इव इन्द्रियाणां प्रत्याहारः॥ ५४॥ (यो. पा २)
देशबन्धः चित्तस्य धारणा॥१॥ तत्र प्रत्ययैकतानता ध्यानम्॥२॥ तदेव अर्थमात्रनिर्भासं स्वरूपशून्यमिव समाधिः॥३ त्रयमेकत्र संयमः॥ ४॥ (यो. पा ३)

यम, नियम, आसन, प्राणायाम, प्रत्याहार, धारणा, ध्यान, समाधि यह अष्टांग योग है। इनका संक्षेपसे विचार गीतामें किया गया है। हम भी यहां गीताके अनुसंधानसेही इन योगके आठों अंगोंका संक्षेपसे विचार करेंगे। और इनका व्यक्तिसे और समाजसे कितना घनिष्ठ संबंध है, उसकी भी चर्चा साथ साथ करेंगे।

यम और नियम

योग-साधनकी तैयारी करनेके लिये ये प्रारंभिक साधन हैं। ये जैसा व्यक्तिका हित साधन करते हैं, वैसेही समाजका भी हित करते हैं। इतनाही नहीं, परंतु ये समाज और राष्ट्रके हित करनेके लिये अत्यंत आवश्यक हैं। देखिये, नियमोंकी कितनी आवश्यकता है-

नियम

१ शौच- शुचिता= पवित्रता, शुद्धता। शारीरिक, वाचिक और मानसिक ऐसी त्रिविध पवित्रता व्यक्तिका आरोग्य तथा मानसिक स्वास्थ्य साधन करनेके लिये अत्यावश्यक है। शारीरिक पवित्रतासे नीरोग शरीर रहता है, वाचिक पवित्रतासे अपवित्र शब्द-प्रयोग नहीं होते और झगडोंसे बचना संभव होता है, तथा मानसिक पवित्रतामें सद्विचारोंका प्रवाह चालू रहता है। यह पवित्रता समाजमेंभी शान्ति प्रस्थापित करनेके लिये अत्यावश्यक है। शारीरिक पवित्रतासे रोगोंका संसर्ग नहीं होगा, वाचिक तथा मानसिक पवित्रतासे परस्पर संघर्ष और कलह नहीं होंगे। इनके अतिरिक्त ग्राममें तथा राष्ट्रमें जितनी उक्त प्रकारकी पवित्रता बढेगी, उतनी सुख शान्ति सुस्थिर रहेगी, इसमें संदेह नहीं है। गीतामें इस विषयमें कहा है—

शुचौ देशे प्रतिष्ठाप्य स्थिरमासनमात्मनः ॥
(गी ६।११)

शुचीनां श्रीमतां गेहे योगभ्रष्टोऽभिजायते।
(गी. ६।४१)

अनपेक्षः शुचिर्दक्षः। (गी. १२।१६)
शौचं एतज्ज्ञानं। (गी १३।८-११)
शौचं...संपदं दैवीमभिजातस्य। (गी १६।३)
शौचं ..शारीरं तप उच्यते। (गी. १७।१४)
शौचं ..ब्रह्मकर्म स्वभावजम्। (गी. १८।४२)
न शौचं ..तेषु (असुरेषु) विद्यते (गी. १६।७)

'आसनोंका अभ्यास शुद्ध स्थानमें बैठकर करो। योगाभ्यास करनेवाला पवित्र श्रीमानोंके घरमें जन्म लेता है (यहां शारीरिक, वाचिक और मानसिक पवित्र कुलोंका यह वर्णन है।) जो भोगोंकी अपेक्षा नहीं करता, वह पवित्र रहता है। पवित्रता ज्ञानसे होती है, दैवी संपदासे जो युक्त रहते हैं वे शुद्ध रहते हैं। शुद्धता यह शारीरिक तप है। शुद्ध रहना ब्राह्मणोंका स्वाभाविक कर्म है। जो असुर और राक्षस प्रवृत्तिवाले है उनमें पवित्र आचार व्यवहार नहीं रहता।' इस वर्णनमें शुद्धता और पवित्रताका पर्याप्त महत्त्व दिखाया है। आसुरी वृत्तीवालोंमें पवित्रता नहीं होती, दैवी वृत्तीवालोंका यह स्वाभाविक गुण है। शारीरिक, वाचिक, मानसिक, देशविषयक, कुलाचारोंकी ऐसी सब प्रकारकी शुचिता करनी चाहिये।

२. संतोष- मनकी संतुष्टी, शान्ति और प्रसन्नता। जो प्राप्त होगा उसमें आनन्द माननेसे संतोष होता है। स्वार्थकी मात्रा इससे कम होती है, इसलिये संतोष की वृत्तीसे स्वार्थ बढनेके कारण उत्पन्न होनेवाले झगडे कम होते है, अतः यह गुण भी व्यक्ति और समाजका हित करनेवाला है। इस विषयमें गीताने ऐसा कहा है-

आत्मन्येव च संतुष्टः तस्य कार्यं न विद्यते।
(गी ३।१७)

संतुष्टः सततं योगी यतात्मा। (गी १२।१४)
सन्तुष्टो येन केनचित्। (गी.१२।१९)

'अपने अन्दरही अन्दर जो सन्तुष्ट रहता है, उसके लिये कोई कर्तव्य करना शेष नहीं रहता। आत्मसंयम करनेवाला योगी संतुष्ट रहता है। जो प्राप्त होता है उससे जो संतुष्ट रहते हैं।' यहां संतोषका महत्त्व बताया है। संतोषसे स्पर्धा, संघर्ष और झगडे कम होते है, अतः इस गुणसे समाजमें शान्ति रह सकती है।

३. तप- शीत उष्ण आदि सहन करनेका सामर्थ्य, द्वन्द्व सहन करनेकी शक्ति। धर्म-कार्य करते समय जो कष्ट होंगे उनको सहन करनेका सामर्थ्य। कोई कर्म करते समय कष्ट अवश्य होंगे, वे सहन हुए तो ही वह कार्य हो सकता है। कष्ट सहे विना कोई कर्म बनेगा ही नहीं, इसलिये कहते हैं कि तपके बिना कुछ भी बनता नहीं। ईश्वरने तपसे ही यह विश्व बनाया, ऐसा इसीलिये कहते हैं। इस तरह तप सब कार्योंके लिये अत्यावश्यक है।

तपः। (गी १०।५; १६।१; १७।७)
शारीरं तपः। (१७।१४) **वाङ्मयं तपः।** (१७।१५)
तपः। (१७।१६, १८; १९; २४; २७, २८;
१८।३,५)

तपका वर्णन गीतामें विशेषही विस्तारसे है। इतना इसका

महत्त्व है। इस तपसे जैसी व्यक्तिकी वैसी समाजकी उन्नति होती है।

४. स्वाध्याय- अच्छे अच्छे ग्रंथोंका अध्ययन और उत्तम सत्य ज्ञान प्राप्त करना। गीतामें १६।१, १७।१५ और ४।२८ इन तीन स्थानोंमें स्वाध्यायका वर्णन है। ज्ञान प्राप्त करना और ज्ञान देना, अध्ययन करना और पढाना, यह सब वाचिक तप है। सभी मानवता ज्ञानपरही अवलंबित है। ज्ञानके विना मनुष्यत्वका विकास संभवही नहीं है। इसलिये स्वाध्यायका महत्त्व व्यक्तिकी और समाजकी उन्नतिके लिये विशेष है।

५ ईश्वरप्रणिधान- ईश्वरकी भक्ति, ईश्वरके लिये अपने कर्मका फल समर्पित करना, ईश्वरके लिये सर्वस्व समर्पण करना। विश्वरूप ईश्वरकी सेवाके लिये अपना जीवन लगाना।

तस्मात् प्रणम्य प्रणिधाय कायं
प्रसादये त्वां अहं ईशं ईड्यम्। (गी ११।४४)

ईश्वरके सामने उसकी सेवाके लिये अपना देह समर्पित करके ईश्वरकी आराधना करता हूं। इस तरह गीतामें ईश्वरकी भक्तिपूर्वक आराधना करनेके विषयमें निर्देश है।

योगसाधनकी तैयारीके ये पांच नियम हैं। ये व्यक्तिकी तैयारी करके उसका सामर्थ्य बढाते हैं, तथा समाजका संघर्ष भी कम करके उसकी शान्ति बढाते हैं। ईश्वरकी सेवा, भक्ति और आराधना करनेकी योग्यता इन नियमोंके पालनसे मनुष्य में आती है। अब पांच यमोंका मनन करते हैं—

६. अहिंसा- अहिंसा भाव एक बडाभारी सामाजिक शुभ गुण है। मनुष्यका मनुष्यसे आचरण अहिंसाभावसेही होना चाहिये। अहिंसाभाव मानवी आचरणका उत्तम सूत्र है। मनुष्यके आचरणमें कायिक, वाचिक और मानसिक अहिंसा होनी चाहिये। कठोर शब्दोंका प्रयोग करना वाचिक हिंसा है, घातपातके विचार मानसिक हिंसा है, प्रत्यक्ष शस्त्रादिसे दूसरेका नाश करना कायिक हिंसा है। मनुष्यके व्यवहारमें किसी तरह की हिंसा होना योग्य नहीं है। गीतामें १०।५; १३।७; १६।२; १७।१४ में अहिंसाका वर्णन किया है और इसको दैवी संपत्तिमें गिना है। संपूर्ण विश्व ईश्वरका स्वरूप है, इसीमें मैं और दूसरा भी शामील हैं। सब विश्व मिलकर एकही जीवन है। यदि मैं किसीकी हिंसाका विचार करूं तो मैं अपनी ही हिंसाका विचार करनेके समान आत्मघात करनेवाला हो जाऊंगा। अपनाही घात करना किसीको भी उचित नहीं, इसीलिये हिंसावृत्तीका धारण करना भी किसीको उचित नहीं है। विश्वरूप ईश्वरको माननेवालेके आचरणमें हिंसाका रहना संभवही नहीं है, क्योंकि किसीपर आघात किया तो वह ईश्वरपर ही आघात होगा, ऐसा वे जानते हैं।

७. सत्य- सत्यका पालन करना, सत्य भाषण करना। उच्च तथा सरल व्यवहारका सूत्र सत्यही है। गीतामें १०।४; १६।२, १६।७, १८।१५; १८।६५ इतने स्थानोंमें सत्यका महत्त्व वर्णन किया है। सब विश्व ही सत्यपर प्रतिष्ठित है। मनुष्यके सब व्यवहार सत्यसे ही उत्तम चलते हैं। सत्यका पालन इसीलिये करना चाहिये कि यह संपूर्ण विश्वही एक अखण्ड सत्य परमेश्वरका रूप है। जिसके साथ आप असत्यका व्यवहार करेंगे वही ईश्वरका रूप है, फिर आप ईश्वरसे ही असत्यका व्यवहार करनेसे बच कैसे सकते हैं? किसीसे असत्याचरण करनेसे अपने आपसे ही असत्य व्यवहार करनेके समान वह अप्रशस्त होगा। विश्वरूप ईश्वर माननेवाले किससे असत्य बर्ताव कर सकेंगे?

८. अस्तेय- चोरी न करना। यह स्तेय भी अनेक प्रकार का है। यज्ञ न करनेवालेको गीताने चोर कहा है (३।१२)। विश्वरूप ईश्वरको माननेवाला किस तरह किसकी चोरी करेगा? जिसकी चोरी करेगा वही ईश्वरका रूप है। इसलिये जिस किसीकी चोरी करेगा वह भी ईश्वरकी ही चोरी होगी। फिर वह करेगा कैसी? इसलिये विश्वरूप ईश्वरको माननेसे हिंसा, असत्य और चोरी अवश्य ही दूर होगी।

९. ब्रह्मचर्य- विवाहपूर्व ब्रह्मचर्याश्रमका पालन करना और विवाहके पश्चात् नियमोंसे रहना, यह ब्रह्मचर्य है। ब्रह्मके साथ आचरण करनेके समान आचरण करनेका नाम ब्रह्मचर्य है। गीतामें ८।११, १७।१४; और ६।१४ इतने स्थानोंमें ब्रह्मचर्यका वर्णन है। विश्वरूप ईश्वर है, अथवा यह विश्व सबका सब ब्रह्मही है (**सर्वं खलु इदं ब्रह्म**)। यह समझनेपर सबके साथ वह ईश्वरके साथ करने योग्यही आचरण करेगा। अर्थात् सबके साथ परम आदरसे जैसा करना चाहिये वैसाही आचरण होगा। यही आदर्श आचरण है।

१०. अपरिग्रह- अपने पास बहुत संचय न करना। आवश्यकतासे अधिक अपने पास धान्य संचय करनेसे दूसरोंको उससे वंचित रखना पडता है और दूसरोंको वंचित रखनेका ही अर्थ ईश्वरको वंचित रखना है, क्योंकि विश्वरूप ही ईश्वर है।

विश्वमें जो है वह विश्वरूप ईश्वरका है, उसमें मेरा उतनाही है कि जितना मैं अपने अन्दर पचन कर सकता हूं। उससे अधिक लिया जाय तो वह सिरपर चढके हमारा ही भोग करने लगता है। इसलिये उससे अधिक अपने पास संग्रह करनेका कार्य पाप उत्पन्न करनेवाला है। परिग्रहवृत्ति इस जगत्में चारों तर्फ बढ रही है, इसी कारण संघर्ष बढ रहे है। जो अपने पास अत्यधिक संग्रह कर रहे है, उनका द्वेष बुभुक्षितोंद्वारा होना स्वाभाविक है। अधिक संग्रह करनेकाही अर्थ विश्वरूप ईश्वरके साथ वंचना करना है। अपने अत्यधिक संग्रहसे जो भूखा मरता है वह भी विश्वरूपी ईश्वरही है। इसीलिये वह भूखा मरनेवाला संघर्षके लिये खडा होता है। आजकलके सभी कानून या विधिनियम परिग्रह करनेके मानवी अधिकारको मान रहे है। जब समाज अपरिग्रहवृत्तिसे चलेगा, तो आजके कानूनोंमें अनेक कानून बेजरूरीके सिद्ध होंगे। 'परिग्रहका त्याग करनेसे मनुष्य ब्रह्मरूप होता है' ऐसा गीता १८।५३ में कहा है। यह ठीक ही है। संपूर्ण विश्व ही परमेश्वर है, यह मालूम होनेसे सब विश्वके भोग संपूर्ण ईश्वरके लिये ही है यह उसको प्रतीत होता है, फिर वह अपने पास उनका संग्रह अत्यधिक करेगा कैसे? इसलिये ब्रह्मरूप बनना, विश्वरूप ईश्वरका स्वीकार करना और अपरिग्रह व्रत का पूर्ण पालन होना एकही समय होनेवाली बाते है।

यतचित्तात्मा निराशीः अपरिग्रहः। (गी. ६।१०)

'अपना संयम करनेवाला, अपने भोग बढानेकी इच्छा न करनेवाला अपने पास अधिक संग्रह नहीं करता।' इस विश्व में जो युद्ध हो रहे हैं वे सबके सब अपने पास भोग संग्रह करनेकी वृत्तिसे हो रहे है। गीताने और योगने 'अपरिग्रह व्रत' का उपदेश करके सब संघर्षोंकी जड ही उखाड कर फेंक दी है।

अहिंसा, सत्य, अस्तेय, ब्रह्मचर्य और अपरिग्रह ये पांचों यम विश्वरूप ईश्वरका स्वीकार करनेसे पूर्णतया सिद्ध होनेवाले हैं, और इन नियमोंकी कल्पना भी विश्वरूप अखण्ड ईश्वरकी कल्पनापर ही आश्रित है। समाज और राष्ट्रकी शान्ति यदि स्थापन होनी चाहिये तब तो इन पांच यमोंका पालन होना अत्यंत ही आवश्यक है। इससे सिद्ध हो सकता है कि योगका आचरण समाजकी सुस्थितिके लिये अत्यंत आवश्यक है। आदर्श समाज निर्माण करनेका ध्येय योगियोंके सामने सदा रहता आया है।

स्वराट्

भागवत राज्य-शासनमें जैसे नागरिक बनानेकी आकांक्षा रहती है, वे ये नागरिक है। ये स्वयं शासक हैं, इनका अपने ऊपर शासन रहता है। इनकोही 'स्व-राट्' कहा जाता है। अपना आचरण ये स्वयं परखते रहते हैं और परिशुद्ध करते जाते हैं। जिनके आचरणमें पूर्ण अहिंसा भाव है, सत्यका पालन जिनका स्वभाव हुआ है, चोरी करनेकी भावनाही जिनके मनमें नहीं उठती, ब्रह्मचर्य जो पालन करते हैं अर्थात् व्यभिचारका भावही जिनमें नहीं रहता, अपने पास अत्यधिक संचय जो नहीं करते, जो काया वाचा मनसे पवित्र और शुद्ध रहते हैं, जो सदा संतुष्ट रहते है, कष्ट होने पर भी धर्माचरण छोडते नहीं, जो सदा ज्ञान प्राप्त करते रहते है, जिनको विश्वरूप ईश्वर अपना सेव्य है इसका पता है और जो उसकी सेवाके लियेही सब कर्म करते रहते हैं, वे 'स्वराट्' है। वेही अपने ऊपर अपना शासन करते हैं और वेही भागवत राज्य-शासनके सुयोग्य नागरिक है।

जहां ऐसे नागरिक होंगे वहा राज्य चलानेके लिये कमसे कम व्यय लगेगा, यह बात स्वयंही सिद्ध है, क्यों कि इनसे अपराध होनेही नहीं है।

इनसे अपराध नहीं होंगे, अतः पुलीस, अदालते, अन्य प्रकारके बंदोबस्त रखनेकी आवश्यकता नहीं है। इस कारण यहांका राज्य-शासन अल्प व्ययमें होगा। यह बात निःसंदेह सत्य है।

यहांतक योगके यम और नियम इन दो अंगोंकाही विचार किया गया। योगके येही दो प्राथमिक अंग है। भागवत राज्य-शासनके शिक्षणालयोंमें तथा प्रत्येक गृहस्थीके घरमें, गुरुकुलोंमें तथा ऋषिकुलोंमें इनकी शिक्षा दी जाती थी। शिक्षा का यह एक आवश्यकही विषय था। इस शिक्षासे सुशिक्षित बने नागरिक भागवत राज्यशासन चलाते थे। विचार करनेवाले इसकी कल्पना कर सकते हैं। प्रत्येक विद्याकी शिक्षाके लिये अहिंसा सत्य अस्तेय और अपरिग्रहकी शिक्षा आवश्यक होती थी। आज विज्ञानकी ज्ञानवृद्धि करके विज्ञानी लोग हिंसक शस्त्रों और अस्त्रोंकी वृद्धि कर रहे हैं। यदि इनको अहिंसा, सत्य, अस्तेय और अपरिग्रहकी शिक्षा मिलेगी, तो येही शास्त्रज्ञ उपकारक रीतिसे शास्त्रकी प्रगति करके जनहित

साधनमें अधिक दक्ष होंगे। अब विपरीत ही हो रहा है। इसका कारण यही है कि शिक्षामें यम नियम नहीं सिखाये जाते।

अब योगके अन्य अंगोंका विचार करेंगे।

आसन

'आसन' एक प्रकारके खिंचावके व्यायाम हैं। इनके करनेसे रुधिरका दौरा शरीरमें ठीक होता है और आरोग्य प्राप्त होता है, शरीरमें स्थिरता और सुखका अनुभव होता है। आसनोंसे बल नहीं बढेगा। शरीरकी नसनाडियां शुद्ध होंगी और आरोग्य बढेगा। बलवर्धनके लिये दूसरे व्यायाम करने चाहिये। खुली हवामें खेल तथा बलवर्धक व्यायामकी साथ रही, तो आसनोंसे बडा लाभ हो सकता है। केवल आसनोंसे शरीर शुद्ध होकर जो स्थिरतासे एक आसनमें बहुत देरतक बैठनेका अभ्यास होता है, वह ध्यानधारणामें बडा उपयोगी है। आसन व्यायाम विशेषतः इसीलिये है। गीतामें आसनके विषयमें ऐसा कहा है—

शुचौ देशे प्रतिष्ठाप्य स्थिरं आसनं आत्मनः।
उपविश्यासने युञ्ज्यात् योगमात्मविशुद्धये।
समं कायशिरोग्रीवं धारयन्नचलं स्थिरः॥
संप्रेक्ष्य नासिकाग्रं स्वं दिशश्चानवलोकयन्॥
(गी. ६।११-१३)

"शुद्ध और पवित्र स्थानमें अपना आसन लगाओ। उस आसनपर बैठकर आत्मशुद्धिके लिये योगका अभ्यास करो। शरीर, सिर और गर्दन सम रेखामें रखकर अचल नासाग्रपर दृष्टि लगाकर इधरउधर न देखो।"

यह ध्यानयोगका वर्णन है। मनःस्थैर्य तथा अन्य बहुतसे लाभ इससे होते हैं। इसका प्रारंभ आसनसे होता है। शरीर, गला और मस्तक समरेषामें रखनेसे मज्जा-प्रवाह मस्तिष्कसे पृष्ठवंशमें होता है। पृष्ठवंशमें तेढापन आनेसे मनकी शक्ति तथा बुद्धिका प्रभाव कम होता है, इसलिये आसनमें शरीर-गला-मस्तकको समरेषामें रखनेका उपदेश विशेष महत्त्व रखता है। बैठने चलने फिरनेके समयमें भी इस नियमका पालन होना योग्य है।

प्राणायाम

आसन शरीरका व्यायाम है और प्राणायाम प्राणका व्यायाम है। शरीरमें- (१) मज्जासंस्थान, (२) प्राणसंस्थान, (३) रुधिराभिसरणसंस्थान (४) और पाचनसंस्थान ऐसे चार मुख्य संस्थान हैं, ये सभी महत्त्वके हैं तथा इनमें प्राणसंस्थानका महत्त्व अधिक है, क्योंकि रुधिरकी शुद्धता इस स्थानमें होती है और शरीरको नवजीवन प्राप्त होता है। प्राणको अन्दर लेना और बाहर छोडनेके दोनों व्यापार स्वाभाविक रीतिसे होनेवाले श्वासोच्छ्वासकी क्रियासे ठीक नहीं चलते। स्वाभाविक होनेवाले श्वासोच्छ्वाससे फेंफडोंका तीसरा भागही कार्यमें लगता है, शेष दो भाग व्यवसायरहित रहते हैं। पूर्ण प्राणायाम करनेसेही संपूर्ण फेंफडे कार्य करते हैं। फेंफडोंमें रक्त शुद्ध होता है, इसलिये फेंफडे पूर्णतया कार्यमें लानेकी बडी आवश्यकता है। इसीलिये पूर्ण प्राणायाम करनेसे पूर्ण फेंफडे कार्य करते है और तीन गुणा अधिक रक्तशुद्धि होती है। शुद्ध रक्त मिलनेसे सब शरीर नीरोग होता है।

पूर्ण प्राणायाम होनेसे मस्तिष्क और मज्जाके केन्द्रभी अच्छा कार्य करने लगते हैं। इसलिये प्राणायामसे मनपर उत्तम परिणाम होता है।

इसी तरह प्राण अन्दर लेनेसे पेट बाहर फूलता है और प्राण बाहर छोडनेसे पेट अंदरकी ओर खींचा जाता है। और पूर्णतया प्राण बाहर छोडनेसे नाभीसे भी नीचे तक खिंचाव होता है। इससे मलशुद्धि होनेमें मदत होती है अर्थात् प्राणायामसे मज्जा, रुधिर, पचन और प्राण इन चारों संस्थानोंपर इष्ट और शुभ परिणाम होता है, इसीलिये प्राणायामका महत्त्व-योग ग्रंथोंमें वर्णन किया है।

आसन और प्राणायाम अनेक प्रकारके हैं और उनका परिणाम भी संपूर्ण शरीर पर होता है और आरोग्य तथा रोग दूर होनेके लाभ होते है। इन सब आसनों और प्राणायामोंका वर्णन यहां करनेकी कोई आवश्यकता नहीं है। यहां इनके विषयमें थोडासाही दिग्दर्शन करना पर्याप्त है। यहां प्राणके स्थिर होनेसे मन स्थिर होने लगता है, यह हठयोगकी क्रिया है। इसमें आसनसे शरीर और प्राणसे श्वसनक्रियाको स्थिर करके मनको शान्त करनेकी पद्धति मानी जाती है।

राजयोगमें सुविचार द्वारा बुद्धिकी पवित्रता करके उसमें मनको सद्विचारों द्वारा एक विचारमें स्थिर किया जाता है। एक बार मन स्थिर होने लगा तो स्वयंही प्राण और शरीर काबूमें आते हैं। यह राजयोगकी प्रक्रिया है।

इस तरह दोनों योग मनको स्थिर करनेके लिये यत्न करते हैं। ये दोनों मार्ग गीतामें वर्णन किये हैं। गीतामें कहा है—

सर्वाणि प्राणकर्माणि आत्मसंयमयोगाग्नौ जुह्वति
(गी. ४।२७)

अपाने जुह्वति प्राणं प्राणेऽपानं तथापरे ।
प्राणापानगती रुद्ध्वा प्राणायामपरायणाः ॥२९॥
अपरे नियताहाराः प्राणान् प्राणेषु जुह्वति ॥३०॥
(गी. ४)

स्पर्शान् कृत्वा बहिर्बाह्यान् चक्षुश्चैवान्तरे भ्रुवोः।
प्राणापानौ समौ कृत्वा नासाभ्यंतरचारिणौ।
(गी ५)

भ्रुवोर्मध्ये प्राणमावेश्य सम्यक्
स तं परं पुरुषमुपैति दिव्यम्। (गी. ८।१०)
मूर्ध्न्याधायात्मनः प्राणमास्थितो योगधारणाम्॥
(गी. ८)

प्राणापानसमायुक्तः पचाम्यन्नं चतुर्विधम् ॥
(गी. १५।१४)

धृत्या यया धारयते मनः प्राणेन्द्रियक्रियाः ।
योगेनाव्यभिचारिण्या धृतिः सा पार्थ सात्त्विकी।
(गी. १८)

" सर्व प्राणकर्म आत्मसंयममें समर्पण करते हैं, प्राण अपान की गति बंद करके अपानमें प्राण और प्राणमें अपान लगाकर प्राणायाम करते हैं। आहारको नियत करके, प्राण और अपान सम करते हैं। भ्रूमध्यमें प्राण लाकर परम पुरुषको प्राप्त करते हैं। मूर्धामें प्राण लगा देते हैं और योगधारणामें स्थिर रहते हैं। " ये सब प्राणायामकी विभिन्न क्रियाएं हैं। इसमें मुख्य बात यह है कि प्राणकी गतिको बंद करनेसे शरीरके सभी मज्जाकेन्द्र उद्दीपित होते हैं, शरीरके सब छिद्र अधिक खुलते हैं और चारों ओरसे प्राणका शरीरके गात्रगात्र और नसनसमें प्रवेश होने लगता है। प्राणायामसे मानो शरीरके सभी केन्द्र उत्तेजित होते हैं। पसीना आनेसे रोमरोमकी शुद्धि हो जाती है।

प्रत्याहार

आत्मसंयमद्वारा इंद्रियोंको विषयोंसे शनैः शनैः उपराम करके निवृत्त करनेका नाम प्रत्याहार है। इसके अभ्याससे कुछ कालके पश्चात् इंद्रियोंकी प्रवृत्तिही विषयोंकी ओर नहीं होती। यहां विषयोंसे पूर्णतया निवृत्त करनेका भाव नहीं है, प्रत्युत इंद्रिय-प्रवृत्ति संयमित हो और मर्यादासे अधिक न बढ़े, यही

यहां साध्य है। गीतामें प्रत्याहार पद नहीं है तथापि यह आशय निम्न जैसे वचनोंमें कहा है--

यदा संहरते चायं कूर्मोऽङ्गानीव सर्वशः।
इंद्रियाणीन्द्रियार्थेभ्यस्तस्य प्रज्ञा प्रतिष्ठिता॥
(गी. २।५८)

'जैसा कछुवा अपने अवयवोंको सिकुड लेता है, वैसा इंद्रियोंके विषयोंसे जो अपने इंद्रियोंको वापस लेता है, उसकी बुद्धि स्थिर हुई ऐसा कहते हैं।'

गीताभरमें संयमका ही उपदेश अनेक रीतिसे किया गया है। इस प्रत्याहारसे समाज और राष्ट्रके व्यवहारमें भी बडा लाभ हो सकता है। इंद्रियोंके अत्यधिक भोगोंकी इच्छासे ही जो अनन्त आपत्तियॉं समाजमें उपस्थित होती हैं, उनको दूर करके समाजमें शान्ति स्थापन करना हो, तो वह कार्य प्रत्याहार-द्वाराही सिद्ध हो सकता है।

धारणा, ध्यान और समाधि

किसी स्थानपर चित्तका टिकाना ' धारणा ' कहलाता है। धारणाकी विशेष स्थिरता होनेसे वही 'ध्यान' बनता है। इसमें ध्येयके साथ तद्रूप होनेका अनुभव आता है। इसी ध्यानकी स्थिति बढकर जब अपने आपको भूलना हो जाता है, तब वही ' समाधि ' कहलाता है। और धारणा-ध्यान-समाधिका एकीकरण ही ' संयम ' है। अर्थात् धारणा ध्यान समाधि और संयम ये सब चित्तकी एकाग्रताके ही अनेक भेद है। अन्तःकरणका, मन बुद्धि चित्त अहंकारका बल बढानेके लिये इनका उपयोग है। एकाग्र हुआ मन बडाही सामर्थ्यवान् बनता है।

आस्थितो योगधारणां। (गी. ८।१२)
ज्ञानात् ध्यानं विशिष्यते।
ध्यानात् कर्मफलत्यागः॥ (गी. १२।१२)
ध्यानेनात्मनि पश्यन्ति। (१३।२४)
ध्यानयोगपरो नित्यं। (गी. १८।५२)
अनन्येनैव योगेन मां ध्यायन्तः उपासते॥
(गी. १२।६)

'धारणापर स्थिर रहता है। केवल ज्ञानसे ध्यान अधिक महत्त्वका है। ध्यानसे अपने अन्दर आत्माका दर्शन करते हैं। अनन्ययोगसे ईश्वरका ध्यान और उसकी उपासना करते हैं।

इस तरह धारणा और ध्यानका गीतामें वर्णन है। समाधि का वर्णन गीताने ऐसा किया है—

समाधौ अचला बुद्धिः तदा योगमवाप्स्यसि ॥
(गी. २।५३)

'समाधिमें बुद्धि स्थिर होती है, तब योग सिद्ध होता है।' यहांतक हमने अष्टांग योगका, पातंजल योगदर्शनका, वर्णन और गीताका वर्णन देख लिया और जान लिया कि अष्टांग योगका वर्णन गीतामें है। सब अंगों और उपांगोंका वर्णन इधर उधर बिखरा है। यह सब वर्णन एक स्थानपर न होनेसे लोग समझते हैं कि गीतामें अष्टांग योगका वर्णनही नहीं है, परंतु स्थान स्थानका वर्णन देखनेसे पता लग जाता है कि गीताने अष्टांग योगका एक भी अंग उपांग नहीं छोडा है और ये सब अंग अपने एक विश्वरूप जीवनकी सेवाके लिये उपयुक्त करके लिये हैं। यही गीतोपदेशकी विशेषता है। अस्तु।

इतने विवरणसे यह बात स्पष्ट हो जाती है, कि यह अष्टांग योग वैयक्तिक तथा सामाजिक उन्नतिके लिये अत्यन्त साधक है। इसके अहिंसा, सत्य, अस्तेय, ब्रह्मचर्य, अपरिग्रह, शुद्धता, संतोष, तप स्वाध्याय, ईश्वरपूजा ये उपांग सामाजिक और राष्ट्रीय व्यवहारकी परिशुद्धता करनेवाले हैं, अतः इनका राष्ट्रीय महत्त्व है।

इसी तरह आसन, प्राणायाम, प्रत्याहार, धारणा, ध्यान और समाधि ये अंग मनुष्यकी वैयक्तिक उन्नति करनेवाले हैं और साथ साथ पूर्वोक्त उपांगभी वैयक्तिक उन्नतिके साधन हैं। व्यक्तिको सुयोग्य बनाकर, उसको शक्तिसंपन्न करके, समाजकी जिम्मेवारी निभानेके योग्य बनाकर, राष्ट्रके अंगमें यथास्थान स्थापन करना यह योगसे साध्य होनेवाली बात है।

विश्वरूप परमेश्वर है और सब मानव उसके विश्वरूपमें समाये हैं। इसलिये उनपर एक विशेष उत्तरदायित्व है। वह उत्तर दायित्व निभाने योग्य उनको सामर्थ्यशाली बनाना चाहिये, यह कार्य योगसे सिद्ध होता है। ब्राह्मण क्षत्रिय वैश्य शूद्रोंको अपने अपने कर्तव्य उत्तम रीतिसे निभानेके लिये समर्थ बनाना यह योगसेही सिद्ध होनेवाला कार्य है। विश्वरूप ईश्वरकी सेवा करनाही मनुष्यका कर्तव्य है। वह कर्तव्य उत्तम रीतिसे निभानेके लिये मनुष्यकी कुछ विशेष योग्यता होनी चाहिये, केवल अशिक्षित और असंस्कृत मनुष्य यह कार्य योग्य रीतिसे कर नहीं सकता। इसलिये उसको संस्कारसंपन्न करना और सुशिक्षासंपन्न करना आवश्यक है, वह कार्य योगसाधनसे होता है। चारों वर्णोंके कार्य राष्ट्र-सेवाके लिये अत्यावश्यक कार्य हैं, इनके करनेके लिये विशेष योग्यता प्रत्येक वर्णके मानवों-में होना अवश्यक है। वह शिक्षाका कार्य योगसाधनके द्वारा होता है। योगसाधनसे होनेवाला कार्य संस्काररूप है, शास्त्र-शिक्षा गुरुकुलकी शिक्षा-प्रणालीसे होती रहती है और स्वभाव-को सुनियमोंसे सुसंबद्ध करना योगसाधनसे होता रहता है।

अष्टांग योगके संबंधमें इतना लिखना पर्याप्त है। अब उत्तम नागरिक बनानेके लिये गीताकी जो अन्यान्य सूचनाएं हैं उनका अब विचार करते हैं।

दैवी और आसुरी वृत्ति

गीताके सोलहवें अध्यायमें मानवोंकी दैवी और आसुरी प्रवृत्तियोंका विचार किया है। दैवी प्रवृत्तिसे क्या परिणाम होता है और आसुरी प्रवृत्तिसे कैसा परिणाम होता है, इसका विचार यहां देखनेके लिये मिलता है। दैवी प्रवृत्तिकीही नागरीक हो और आसुरी प्रवृत्ति उसमें कम हो, यह शिक्षाका साध्य है। देखिये इसका विचार-

दैवी वृत्ति

अभयं सत्त्वसंशुद्धिः ज्ञानयोगव्यवस्थितिः ।
दानं दमश्च यज्ञश्च स्वाध्यायस्तप आर्जवम् ॥१॥
अहिंसा सत्यमक्रोधस्त्यागः शान्तिरपैशुनम् ।
दया भूतेष्वलोलुप्त्वं मार्दवं ह्रीरचापलम् ॥२॥
तेजः क्षमा धृतिः शौचमद्रोहो नातिमानिता ।
भवन्ति संपदं दैवीमभिजातस्य भारत ॥३॥
दैवी संपद्विमोक्षाय...मता ॥५॥ (गी. १६)

"(१) निर्भयता, (२) जीवनकी शुद्धता, (३) स्वाधी-नता प्राप्त करनेका ज्ञान प्राप्त करनेकी इच्छा, (४) योगसाधन करके अपनी उन्नति करनेका यत्न करनेकी आतुरता, (५) दान देना, (६) आत्मसंयम, (७) यज्ञ करना (अर्थात् श्रेष्ठोंकी पूजा, समानोंका संगठन, और दीनोंकी सहायता करना), (८) स्वाध्याय द्वारा ज्ञानकी उन्नति, (९) तप अर्थात् सत्कर्म करनेमें कष्ट सहन करनेकी शक्ति, (१०) सरल आचरण करना (आचरणमें कपट, छल, टेढापन न रखना), (११) अहिंसा, (१२) सत्य, (१३) क्रोध न करना, (१४) त्याग

त्याग, (१५) शान्ति, (१६) चुगलखोरी न करना, (१७) प्राणियोंपर दया करना, (१८) लोभ न धरना, (१९) स्वभावकी, मृदुता धारण करना, (२०) बुरा कर्म करनेकी लज्जा, (२१) चञ्चलता स्वभावमें न रखना, (२२) तेजस्विता, (२३) सहन-शक्ति, (२४) धैर्य, (२५) शुद्धता, (२६) द्रोह न करना, (२७) बहुत घमंड न धरना, ये २७ गुण, जिसमें दैवी संपत्ति है, उसमें रहते हैं ।" उत्तम नागरिकके ये लक्षण यहां गिनाये हैं ।

इनमें ' जीवनी शुद्धता, ज्ञान और योग सिद्ध करनेकी इच्छा, दान, आत्मसंयम, यज्ञ, स्वाध्याय, तप, अहिंसा, सत्य, त्याग ' ये गुण योगके यमनियमोंमें आ गये हैं । तथा इनमेंसे कई कर्म फल-त्यागमेंभी आचुके हैं । इनके पालन करनेसे अन्य गुण स्वयं आ जाते हैं, वे ये हैं– ' निर्भयता (सत्कर्म करनेमें किसीसे न डरना), सरल आचरण, क्रोध न करना, शान्ति धरना, चुगली न करना, सब पर दया करना, लोभ न धरना, स्वभावमें मृदुता धारण करना, बुरा कर्म करनेसे डरना, चञ्चलताका त्याग करना, तेजस्विता, सत्कर्म करनेमें होनेवाली निन्दास्तुतिका सहन करना, धैर्य, द्रोह न करना, घमंड न करना, ये गुण यहां अधिक कहे हैं । ये सब गुण विश्वरूप ईश्वर माननेसे स्वयं सिद्ध होनेवाले हैं । उदाहरणार्थ देखिये– सरल आचरण करना । विश्वरूप परमेश्वर है यह माननेपर जिस किसीसे जो आचरण करना हो वह ईश्वरके साथ होनेवाला आचरण होनेके कारण सरल ही होना अनिवार्य है । क्रोध न करना, चुगली न करना भी विश्वरूप ईश्वरपर क्रोध कौन कर सकता है, चुगली भी किसके साथ करनी होगी ? घमण्ड ईश्वरसे कौन और कैसा करेगा ? इस तरह ये सभी दैवी गुण विश्वरूप परमेश्वर माननेसे स्वयं सिद्ध होनेवाले हैं । ये दैवी गुण जिस शिक्षा-प्रणालीसे स्थिर होंगे, वह शिक्षा-प्रणाली देशमें होनी चाहिये ।

यदि कई राष्ट्र विशेष शिक्षा-प्रणालीसे विशेष शौर्यवीर्यादि गुण अपने लोगोंमें बढा रहे हैं ऐसा हम आज भी देखते हैं, तो दैवी शिक्षाके बढानेसे दैवी शुभ गुणोंकी वृद्धि हम क्यों कर देशदेशान्तरकी नयी पुश्तमें नहीं कर सकेंगे ? शिक्षासे सब कुछ होना संभवनीय है ।

आसुरी प्रवृत्तिके घोर परिणाम

अब हम आसुरी प्रवृत्तिके कैसे भयानक परिणाम होते हैं उनका विचार करते हैं । इस विषयमें गीताका कथन ऐसा है—

प्रवृत्तिं च निवृत्तिं च जना न विदुरासुराः ।
न शौचं नापि चाचारो न सत्यं तेषु विद्यते ॥७॥
असत्यमप्रतिष्ठं ते जगदाहुरनीश्वरम् ।
अपरस्परसंभूतं किमन्यत्कामहैतुकम् ॥८॥
एतां दृष्टिमवष्टभ्य नष्टात्मानोऽल्पबुद्धयः ।
प्रभवन्त्युग्रकर्माणः क्षयाय जगतोऽहिताः ॥९॥
काममाश्रित्य दुष्पूरं दम्भमानमदान्विताः ।
मोहाद्गृहीत्वाऽसद्ग्राहान् प्रवर्तन्तेऽशुचिव्रताः ॥१०॥
चिन्तामपरिमेयां च प्रलयान्तां उपाश्रिताः ।
कामोपभोगपरमा एतावदिति निश्चिताः ॥११॥
आशापाशशतैर्बद्धाः कामक्रोधपरायणाः ।
ईहन्ते कामभोगार्थं अन्यायेनार्थसंचयान् ॥१२॥
इदमद्य मया लब्धं इमं प्राप्स्ये मनोरथम् ।
इदमस्तीदमपि मे भविष्यति पुनर्धनम् ॥१३॥
असौ मया हतः शत्रुः हनिष्ये चापरानपि ।
ईश्वरोऽहमहं भोगी सिद्धोऽहं बलवान् सुखी १४
आढ्योऽभिजनवानस्मि कोऽन्योऽस्ति सदृशो मया
यक्ष्ये दास्यामि मोदिष्ये इत्यज्ञानविमोहिताः १५
अनेकचित्तविभ्रान्ता मोहजालसमावृताः ।
प्रसक्ताः कामभोगेषु पतन्ति नरकेऽशुचौ ॥१६॥
आत्मसंभाविताः स्तब्धा धनमानमदान्विताः ।
यजन्ते नामयज्ञैस्ते दम्भेनाविधिपूर्वकम् ॥१७॥
दम्भो दर्पोऽभिमानश्च क्रोधः पारुष्यमेव च ।
अज्ञानं चाभिजातस्य पार्थ संपदमासुरीम् ॥४॥
अहंकारं बलं दर्पं कामं क्रोधं च संश्रिताः ।
मां आत्मपरदेहेषु प्रद्विषन्तोऽभ्यसूयकाः ॥१८॥
त्रिविधं नरकस्येदं द्वारं नाशनमात्मनः ।
कामः क्रोधस्तथा लोभस्तस्मादेतत्त्रयं त्यजेत् ॥२१॥
एतैर्विमुक्तः कौन्तेय तमोद्वारैस्त्रिभिर्नरः ।
आचरत्यात्मनः श्रेयस्ततो याति परां गतिम् २२
(गी. १६)

आसुरी प्रवृत्तिके दुर्जन कैसा आचरण करते हैं इसका यह विस्तारसे वर्णन गीताने किया है । अतः हम भी इसका थोडेसे विस्तारसे ही विचार करते हैं—

आसुरी प्रवृत्तिके लोग यह नहीं जानते कि किस सत्कर्मकी ओर प्रवृत्ति होना उचित है और किस असत्कर्मसे निवृत्त होना योग्य है। यह विचार न होनेके कारण जो करना नहीं चाहिये वही वे करते हैं और जो करना योग्य होगा वह वे नहीं करते। इसका विपरीतही परिणाम उनपर होता है। इन आसुरी प्रवृत्तिके लोगोंमें पवित्रता, शुद्धता, शुद्ध सदाचार तथा सत्य नहीं होता। वे प्राय अपवित्र रहते हैं, दुराचार करते है और असत्य व्यवहारमें रमते हैं।

यह जगत् असत्य है ऐसा वे कहते हैं। इस जगत्को किसी (ईश्वरका) आधार ही नहीं है तथा इसका नियामक भी कोई नहीं है, ईश्वर करके यहा कोई नहीं है, ऐसा उनका मत रहता है। यह जगत किसी क्रमसे उत्पन्न नहीं हुआ अर्थात् परस्पर तत्त्व मिलकर सृष्टिकी उत्पत्ति नहीं होती, यह स्वयं-सिद्ध जगत् आपही आप उत्पन्न होता है और विनष्ट भी होता है। अतः यहां भोग भोगना एक मात्र उद्देश्य स्पष्ट है। यदि ये क्रम उत्पत्ति मानेंगे तो आत्मासे आकाश वायु अग्नि जल पृथ्वी ओषधि अन्न और प्राणी ऐसा क्रम मानना पडेगा। ऐसा क्रम माननेसे अन्तमें आत्म-तत्त्वको मानना पडेगा। इसलिये ये क्रम-सृष्टि नहीं मानते। तथा ये पंचमहाभूत के अणु स्थायी मानते हैं, वे परस्परसे उत्पन्न नहीं हुए ऐसा मानते हैं। इसलिये ईश्वरके माननेसे ये इन्कार करते हैं। जब कोई नियामकही इनके मतसे नहीं रहा, तो खाओ पीओ और आनंद करो, यही इनका कार्य रहता है। अतः बली निर्बलोंको खा जाता है।

बलीका ही राज्य हो ऐसा विचार ये प्रसृत करते हैं, इस-लिये सबका एक अखण्ड आत्मा ये मानते नहीं। आत्मभाव ही इनके विचारसे जानेके कारण इनकी बुद्धि विशाल न होती हुए अल्प होती जाती है और अपने हिततक ही वह विचार करती है। ये अपनी शक्ति बढाते हैं और बडे भयंकर कर्म करते हैं और उस कर्मसे जगत्का नाशही करते हैं और वैसा नाश करनेसे इनको बडा आनन्द होता है।

जिसकी कभी पूर्णता नहीं होती ऐसे कामका आश्रय करके ये अपने भोग बढाते हैं, दम्भ मान और घमण्डसे युक्त होकर, अपवित्र कार्योंको कराते हैं और मूढतासे असद्विचारों को पकड बैठते हैं और वैसे कार्य करते जाते हैं।

अपरिमित चिन्ताको ये बढाते जाते हैं, इससे उनकाही नाश होता है, यह वे देखते हैं, परंतु उसी चिन्ताको ये बढाते रहते हैं, अपने कामोपभोग बढाते रहते हैं और यही साध्य है ऐसा ये मानते हैं।

अनेक आशाओंके पाशोंसे ये बांधे जाते हैं, कामक्रोधमें लिपटे रहते हैं, इस तरह कामेच्छाकी वृद्धि करनेके कारण अपनी कामपूर्ति करनेके लिये ये अन्यायसे धनका बडा संचय करते रहते हैं। परंतु इससे इनकी भोगेच्छा शान्त नहीं होती।

ये कहते हैं कि देखो, आज मैंने यह प्राप्त किया है, कल इस मनोरथको मैं सफल करूंगा, यह तो मेरे पासही रहेगा, इसके पश्चात् पुनः यह धन मैं प्राप्त करूंगा। इस तरह मेरा धन बढता ही जायगा।

आज इस शत्रुका नाश मैंने किया है, कल मैं दूसरे शत्रुओं को भी नष्टभ्रष्ट कर दूंगा। तब मेरा कोई शत्रुही अवशिष्ट नहीं रहेगा। तब सबका मैं ही अधिपति हो जाऊंगा, मैं ही भोग भोगूंगा, मैं ही सबसे बलवान् होऊंगा, अतः मैं ही अधिक सुखी हो जाऊंगा।

मैं धनी हूँ, मैं ही उत्तम कुलवान् हूं, मेरे समान इस पृथ्वीपर कौन कहां है? मैं बडे बडे यजन करूंगा, मैं बडे बडे दान दूंगा, इससे मेरा यश चारों ओर बढता ही जायगा, इस तरह मैं आनन्दका अनुभव करूंगा। ऐसे अज्ञानसे उत्पन्न हुए विचारोंसे वे मोहित हो जाते हैं।

अनेक कुविचारोंसे वे भ्रान्त होते है, अनेक मोह-जालोंसे वे घेरे जाते हैं, नाना प्रकारके कामोपभोगोंमें आसक्त होकर अन्तमें अपवित्र नरकमें जा गिरते हैं।

अपनी ही घमण्डमें मस्त होनेवाले, अपने मतका कभी परिवर्तन न करनेवाले, धन मान और घमण्डसे युक्त ये लोग बडे ही दम्भसे अविधिपूर्वक बडे बडे यज्ञके आडम्बर रचते हैं। परंतु उनमें कुछ भी श्रद्धा अथवा भक्ति नहीं होती। वे जो करते हैं, वह सब आडम्बरके लिये दम्भसे करते हैं।

दम्भ, घमंड, अभिमान, क्रोध, कठोरता, अज्ञान, बलकी घमंड ये आसुरी प्रवृत्तिके स्वाभाविक लक्षण हैं। ये अपने कर्मोंसे अपने और पराये देहोंमें रहनेवाले मुझ ईश्वरका ही द्वेष करते हैं और यथेच्छ निंदा भी करते हैं।

काम क्रोध और लोभ यह नरकका त्रिविध द्वार है। यह

जैसा अपना नाश करता है वैसाही सबका नाश करता है, इसलिये इसे छोडना उचित है। इन तीन द्वारोंसे नरकका मार्ग जाता है, अतः इस मार्गका त्याग करनेवालाही अपने कल्याण का मार्ग आक्रमण कर सकता है और परम गतिको प्राप्त कर सकता है।

इस तरह आसुरी प्रवृत्तिवालोंका वर्णन अति विस्तारसे गीताने किया है और बताया है कि यह मार्ग कल्याणका नहीं है। जगत्‌में नाना देशोंमें येही लोग अधिकार पर दीखते हैं, येही कार्य व्यवहारमें विशेष महत्त्वके स्थानपर दीखते हैं और इनकेही कारण जगत्‌में भयानक युद्ध छिड गये हैं और आगेभी बडे भयानक युद्ध छिड जायँगे। इनकेही कारण जगत्‌का नाश हो रहा है और होगा।

इस लिये गीताका कथन यह है कि देशदेशान्तरमें ऐसी विद्या और शिक्षा प्रचलित की जाय कि जो दैवी भावकी वृद्धि मानवोंमें करे और आसुरी प्रवृत्तिको कम करे। ऐसी शासनकी व्यवस्था रची जाय जिससे राज्य-शासन दैवी भावनावालोंके ही अधीन रहे और आसुरीवृत्तिवाले एक तो कम हों, अथवा दब जायँ। आसुरी वृत्तिवालोंको खुली छुट्टी जो चाहे सो करनेके लिये न रहे।

भागवत राज्यशासनमें दैवी भावनाको उत्तेजना मिलेगी, आसुरी भावनाको कम किया जायगा और सब लोग अपना शासन स्वयंही करनेवाले हों ऐसा किया जायगा।

आगे भगवद्गीतामें सत्त्व रज तम प्रवृत्तिवाले लोगोंके लक्षण विस्तारपूर्वक दिये हैं। वे इसलिये कि उनसे सब मनुष्य परखे जांय और उस परीक्षासे उनका गुण निश्चित किया जाय। तथा इस गुणके अनुसार सात्त्विकोंको सात्त्विक कर्म, राजसिकोंको राजसिक कर्म तथा तामसिकोंको तामसिक कर्म दिये जाय। अपने गुणोंके अनुसार उनको यथायोग्य कर्म मिलनेसे वे उन कर्मोंको योग्य रीतिसे करेंगे और उनसे विश्वकी सेवा यथायोग्य रीतिसे होती रहेगी।

यह मानवोंकी गुण-परीक्षाका विषय बडा भारी व्यापक और अत्यंत महत्त्वका है। यहां इसकी सूचना मात्र देनी पर्याप्त है।

योगका व्यवहारमें अत्यंत उपयोग है और सब मानवोंको इसीसे सुख प्राप्त होगा, यह बात इस विवरणमें बतायी है।

---

(१०)

श्रीमद्भगवद्गीताका ध्येय क्या है ?

अब श्रीमद्भगवद्गीताका ध्येय क्या है, इसका विचार करना है। भगवद्गीता युद्धके समय कही गयी थी और उसका उद्देश्य स्थायी शान्ति संपूर्ण जनतामें स्थापित करनाही था। इस विषय में गीतामें कहा है—

मां च योऽव्यभिचारेण भक्तियोगेन सेवते।
स गुणान् समतीत्यैतान् ब्रह्मभूयाय कल्पते॥२६॥
ब्रह्मणो हि प्रतिष्ठाहं अमृतस्याव्ययस्य च।
शाश्वतस्य च धर्मस्य सुखस्यैकान्तिकस्य च
॥२७॥ (गी. १४)

'जो मुझ विश्वरूपकी अव्यभिचारिणी भक्ति-सेवा करता है, वह गुणातीत होकर ब्रह्मभावको प्राप्त होता है। मैं विश्वरूप अव्यय अमृत ब्रह्मकी प्रतिष्ठा हूं और शाश्वत धर्म और अक्षय सुखका भी आश्रय हूं।' यहां शाश्वत धर्म और अक्षय सुखका विचार बताया है। विश्वरूपके वर्णनमें वह विश्वरूप—

'**शाश्वत-धर्म-गोप्ता**' (११।१८) शाश्वत धर्मका संरक्षक करके वर्णन किया है। इससे स्पष्ट हो जाता है कि विश्वरूप ईश्वर शाश्वत धर्मकी रक्षा करके अक्षय सुख देनेवाला है। इसी तरह और भी देखिये—

आपूर्यमाणमचलप्रतिष्ठं
समुद्रमापः प्रविशन्ति यद्वत्।
तद्वत् कामा यं प्रविशन्ति सर्वे
स शान्तिमाप्नोति न कामकामी। (गी. २।७०)
निर्ममो निरहंकारः स शान्तिमधिगच्छति।
(गी. २।७१)
ज्ञानं लब्ध्वा परां शान्तिमचिरेणाधिगच्छति।
(गी. ४।३९)
तत्प्रसादात् परां शान्तिं स्थानं प्राप्स्यसि
शाश्वतम् ॥ १८।६२
मत्प्रसादात् अवाप्नोति शाश्वतं पदमव्ययम्।
(गी. १८।५६)

' भरे समुद्रमें नदियां मिलनेपर भी जैसी अपनी मर्यादा वह समुद्र नहीं छोडता, वैसा जो नाना विषयोंके मिलनेपर भी नहीं उछलता वह शान्ति प्राप्त करता है। ममत्व और अहंकार छोडनेसे शान्ति मिलती है। ज्ञान मिलनेसे श्रेष्ठ शान्ति मिलती है। विश्वरूप ईश्वरके प्रसादसे श्रेष्ठ शान्ति और शाश्वत स्थान प्राप्त होता है। '

यहां तथा अन्यत्र भी शाश्वत शान्तिका ध्येय गीताने सबके सामने रखा है। गीतोक्त धर्मका पालन इसीलिये करना चाहिये कि उससे स्थायी शान्ति मिले और अखण्ड सुख भी प्राप्त हो।

गीतामें पिण्डब्रह्माण्डकी एकता मानकरही सब उपदेश दिया गया है। जो नियम व्यक्तिकी शान्तिके लिये उपयोगी हैं, वेही नियम राष्ट्रकी शान्तिके लिये विस्तृत प्रमाणपर प्रयुक्त होनेसे उपयोगी होते हैं।

१. कामोपभोगोंके विषयमें संयम,
२ घमंड छोडना तथा ममत्व छोडना, अर्थात् यह मेरा है और यह पराया है, ऐसे छोटे छोटे दायरे व्यवहारमें न करते हुए अखण्ड भावसे सबके हितका विचार करना,
३. यथार्थ ज्ञान प्राप्त करना,
४. विश्वरूपको अपनी सेवासे प्रसन्न करके उसका प्रसाद प्राप्त करना।

विश्वशान्तिके ये चार उपाय संक्षेपसे हैं। जैसी इनसे व्यक्तिको शान्ति और सुख मिलेगा, वैसेही समाज और राष्ट्र-को भी इनके पालनसेही शान्तिसुख मिलेगा। परंतु इनका पालन राष्ट्रने या समाजने करना चाहिये। वास्तवमें गीताका ध्येय '**विश्वशान्ति**' है, क्योंकि गीताके तत्त्वज्ञानमें एकही अखण्ड अविभक्त विश्वरूप है और उसकी प्रसन्नता रहनाही अभीष्ट है।

व्यक्तिके समर्पणसे समाजकी शान्ति और समाजके समर्पण-से विश्वशान्ति करना गीताके लिये इष्ट है। इसीका नाम ' यज्ञ ' है। परंतु व्यक्ति अपनी शान्तिके लिये राष्ट्रका विचार छोड देवे अथवा एक राष्ट्र अपनी शान्तिके लिये विश्वरूपका विचार छोड देवे, यह गीताके तत्त्वज्ञानसे विपरीत है।

इसलिये जो नियम गीतामें व्यक्तिके लिये हैं ऐसा दीखता है, वेही विस्तृत रूपसे विशाल प्रमाणपर राष्ट्रके जीवनमें उतरने चाहिये। सूत्ररूपसे यह सिद्धान्तिक बात प्रथम ध्यानमें धरनी चाहिये। तब गीताके उपदेश केवल व्यक्तिके लियेही नहीं हैं, प्रत्युत समाज और राष्ट्रके लिये भी हैं, यह बात ध्यानमें आ जायगी और तब गीता समझमें आवेगी। इस समयतक गीता के आदेश व्यक्तिकेही आचरणमें लानेके लिये हैं ऐसा मानकर बहुत व्यक्तियोंने अपना सुधार किया और वे शाश्वत शान्ति-को प्राप्त हुए। परंतु उससे गीताका मुख्य ध्येय जो '**विश्व-शान्ति**' है वह सफल होनेकी परिस्थिति थोडीसी भी बनी नहीं है। इसलिये इस विषयमें नये ढंगसे प्रयत्न करनेकी आवश्यकता है।

विश्वसेवाही ध्येय है

गीताधर्मका ध्येय विश्वरूपकी अखण्ड सेवा है। गीतामें भगवान् श्रीकृष्ण बहुत स्थानोंपर विश्वरूप-भावसे बोलते हैं। वहां वही भाव समझना उचित है। ' विश्वरूप ' परमेश्वर है, वह अखण्ड है, उसमें फिरके और जातीयताके भेद नहीं हैं। संपूर्ण विश्व एक अखण्ड तथा अनन्य है। वही इसी अनन्य रूपमें सेवा करने योग्य है। इसकी सेवा करनेके लिये सबकी निर्मिति हुई है।

सूर्य प्रकाश देता है, वायु बहता है, मेघ बरसता है, वृक्ष फलते हैं, नदियां बहती हैं, अग्नि जलता है, यह सब विश्व-सेवाके लिये ही है। इसी तरह मनुष्य देखता, सुनता, श्वास लेता, कर्म करता, जीवित रहता है वह विश्वरूपका अंश करके जीवित रहता है। यह विश्वरूपका अंश है और वह विश्वरूपका

अंशही रहेगा। अंशका कर्तव्य है कि वह अंशीका सेवा करे, अपना जीवन अंशीकी शाश्वत शांतिके लिये अर्पण करे। अंशीसे पृथक् होनेका यत्न न करे, क्योंकि वह इच्छा सफल होनेवाली नहीं है।

अंश और अंशी एक साथ ही रहेंगे, अंश अंशीके शरीरका ही भाग रहेगा, इसलिये अंशको स्वतंत्र सत्ता नहीं है। अंश जीवित रहता है तो अंशीमें ही जीवित रहता है और यदि मरता है तो भी अंशीमें ही मरता है। अंश अंशीसे पृथक् हो नहीं सकता और पृथक् होनेके लिये जो जो यत्न किया जायगा वह सब दुःख उत्पन्न करनेवाला ही होगा।

इसीलिये अंशीका कर्तव्य इस 'अनन्यभाव' को जानना और अनन्यभावसे अंशीकी सेवा करना ही है। गीतामें यह '**अनन्य-योग**' से बताया है। यही मुख्य सिद्धान्त है। विश्वरूप अंशी है और विश्वरूपके अन्तर्गत प्रत्येक पदार्थ उसका अंश है। सूर्य, चन्द्र, वृक्ष, वनस्पति, पशु पक्षी, मनुष्य ये सब विश्वरूप के अंश हैं। जिस धर्मका हम विचार करना चाहते हैं वह मानवोंका धर्म है। अन्य प्राणी और अन्य पदार्थ अपने स्वभावधर्मसे चलही रहे हैं। मानवमें स्वतंत्र बुद्धि है, अतः वह उलट पुलट करना चाहता है और उसके परिणामरूप सुख दुःख भोगता रहता है। मनुष्य कष्टमें न पडे, इसलिये इस धर्मका विवेचन किया जाता है।

यहां अब कहा है कि मनुष्य अपने आपको इस विश्वरूपका अंश देखे, समझे और अनुभव करे और अंश अंशीकी सेवासे हो कृतकृत्य होनेवाला है यह जाने और अपना कर्तव्य विश्व-सेवा नियत हुआ है यह जाने और वैसा करे।

विश्वरूप ही ईश्वरका रूप है, यह गीताने ११ वें अध्यायमें दर्शाया है। इस विश्वरूपमें विश्वके सब पदार्थ आते हैं वैसा मैं भी उसीमें हूं और उसी विश्वरूपका मैं अंश हूं। यह ज्ञान प्राप्त करना और इसीका मनन करके इसीको अपनाना चाहिये, इसीको 'ज्ञान' कहते हैं। मनुष्यके लिये जो भी कुछ ज्ञातव्य है वह यही है। इसीसे सब मानवी व्यवहार परखे जायेंगे, सब धर्म और अधर्मका निर्णय इसीसे होगा, सब कर्तव्य और अकर्तव्यका निश्चय इसीसे होगा, अन्य सब ज्ञान मानो इसीका विवरण है।

'अहिंसा' मानवोंको क्यों पालन करनी चाहिये? सत्यकी पालना क्यों करनी चाहिये? अस्तेयका पालन क्यों करना चाहिये? इन सब आशंकाओंका एकही उत्तर है कि संपूर्ण विश्वरूप अखण्ड एकही सत्ता है, सब उसके अंश हैं, इसलिये परस्पर आचार व्यवहारमें अहिंसा सत्य अस्तेय ये नियम पालन करना आवश्यक ही है। मैं अब कैसा बर्ताव करूं? इस प्रश्नका जो उत्तर है वही उत्तर उक्त शंकाओंका है। जब एकही सत्ता है, तब कौन किसकी हिंसा करे? इस तरह सब शंकाओंका समाधान विश्वरूप समझनेसे हो सकता है। इसीलिये इसको ज्ञानका परम ज्ञान मानते हैं।

मनुष्यको जो कुछ समझना आवश्यक है वह यही है। इसीसे मनुष्यके व्यवहार शुद्ध होनेवाले हैं। यही ज्ञान है। जो अन्यान्य शास्त्र हैं, उनका नाम विज्ञान है।

संपूर्ण विश्वरूप एक अखण्ड और अनन्य सत्ता है। दूसरा यहां कोई पदार्थ है ही नहीं, फिर विधर्मका विचार आता कैसा है वह प्रश्न उत्पन्न होना स्वाभाविक है। इसका उत्तर यह है कि जैसा महासागरका जल एकही है, तथापि वह एक जगह दबनेसे दूसरी जगह ऊपर उठता है और वैसा ऊपर उठनेसे ऊपरका, बीचका और नीचला ऐसे उस एकके ही तीन भेद होते हैं वैसाही सर्वत्र विधर्म भावनाके विषयमें जानना चाहिये।

इस विश्वरूपमें उसीका मन सर्वत्र है और यह उक्त प्रकार सत्त्व-रज-तम भेद उत्पन्न करता है। ये तीन भेद भी वस्तुके नहीं परंतु स्थितिके भेद हैं। जैसा 'तमस्' का अर्थ 'गति-रहित स्थिति' है, 'रजस्' का अर्थ 'गतिमय स्थिति' है, 'सत्त्व' का अर्थ 'सम स्थिति' है। विचार करनेसे पता लग सकता है कि गतिमय, गतिरहित और सम ये अवस्थाएं या स्थितिके भेद हैं, ये पृथक् वस्तुएं नहीं हैं। एकही वस्तुकी ये तीन स्थितियाँ होती हैं। त्रिगुणात्मक विश्वका यही अर्थ है।

यही नियम समाजमें लगाकर देखिये। समाजमें कई पुरुष सत्त्वगुणी ज्ञानवान् समवृत्तिवाले होते है, कई रजोगुणी प्रयत्नवान् वीरवृत्तिवाले होते हैं, और कई आलस्यमें रत रहकर कुछ भी नहीं करते। कई चोरी आदि कुकर्म करते है। आज का समाज चोरी आदि करनेवालोंको जेलखानेकी सजा देता है अर्थात् आजका समाज उन चोरोंको चोरी करनेका जिम्मेवार समझता है और उनको जेलमें बंद रखनेके पश्चात् उसका कुछ भी विचार नहीं करता। परंतु विश्वरूपवादी इसका अन्य रीतिसे विचार करेगा। वह कहेगा कि ईश्वरका यह विश्वरूप है, सब मानव सम हैं, इनमें ये विधर्म करनेवाले कैसे उत्पन्न हुए? यह जो चोरीरूपी प्रतिक्रिया हो गयी वह किस सामाजिक

क्रियाका परिणाम है ? इस तरह विचार करनेपर उसको पता लग जायगा कि समाजमें जो परिग्रह करके अपने पास अत्यधिक संग्रह कर रहे हैं, उसका परिणामस्वरूप यह चोरीकी प्रवृत्ति है। यह देखकर विश्वरूपवादी समाजके परिग्रही लोकोंको दण्ड देनेका यत्न करेगा, अथवा उनको अपरिग्रहवान् बना देगा।

विश्वरूपवादी राज्यमें जेलखाना 'शिक्षालय' होगा, अथवा 'कारा-गृह' (कारीगरी सिखानेका स्थान) होगा। आजके जेलखानेसे जेली कदापि सुधरते नहीं, क्योंकि उनकी ठीक चिकित्साही नहीं होती। जिस तरह दवाखानेमें रोगियोंकी, तथा मानस चिकित्सालयमें मनोमालिन्यके रोगियोंकी चिकित्सा होती है, उसी तरह जेलखानोंमें इन आर्थिक रोगियोंकी चिकित्सा आर्थिक विषमता दूर करनेके उपायोंसे होनी चाहिये।

इसी तरह आजकलके कानून, तथा अन्यान्य व्यवहार प्रत्येक मनुष्यको पृथक् सत्तावान् मान कर हो रहे हैं, वे व्यवहार सब मानवोंका एक सामूहिक अस्तित्व है यह जानकर होंगे। इससे आजके कानूनोंमें बडा परिवर्तन करना होगा। और वह हितकारक ही सिद्ध होगा।

यहां देश, जाति, जन्म, रंग आदि कारणसे भेद और फिरके नहीं रहेंगे। संपूर्ण विश्व एकही कुटुंब होगा। सबको एक कुटुंबके अंग होनेका अधिकार रहेगा। मानवके अंगके गुणोंके कारण उससे जैसे कर्म होंगे वैसा उसको अधिकार प्राप्त होगा। 'विद्वान् ब्राह्मण, श्वपच चांडाल, स्त्रियां, वैश्य शूद्र, हाथी, घोडा, गाय आदि सबपर समदृष्टि रहेगी।' (गी. ५।१८) अर्थात् ये इनसे होनेवाले कर्म उत्तमसे उत्तम करें, परंतु इनको रहनसहनके लिये आवश्यक वस्तुएँ जैसी चाहिये वैसी हरएकको भरपूर मिलती रहेंगी। समवृत्तिका यही आशय है। रहनसहनकी समता पाली जायगी।

जो आज जातीय और देशविशेषके कारण झगडे होते हैं वे उस समय होनेका कारण ही नहीं होगा। क्योंकि वे प्रतिबंध रहेंगे ही नहीं।

विश्वरूप ईश्वर है, अर्थात् विश्वका प्रत्येक परमाणु और अणु ईश्वररूप है। आज सब मानते ही हैं कि विश्वमें ईश्वर भरा है और वह प्रत्येक अंशमें भरा है। यह मन्तव्य पृथक् है। क्यों विश्वको सर्वथा ईश्वरसे पृथक् मानकर ही उसमें उससे पृथक् ईश्वर है ऐसा माना जाता है? विश्वरूप ईश्वर माननेवाले वैसा नहीं मानते। वे ऐसा मानते हैं कि 'विश्वही ईश्वरका रूप है।' अथवा 'विश्वरूप ही ईश्वर है।' इससे यह सिद्ध होता है कि विश्वमें जो जर्रा, अणु वा परमाणु है, जो वस्तु है, वह ईश्वरका ही रूप है।

ईश्वरका अर्थ क्या है ?

आत्मा, ब्रह्म, ईश्वर आदि शब्द 'महासामर्थ्यवान् सत्ता' का भाव बताते हैं। यह सत्ता ज्ञानमय, सर्वसामर्थ्यमय, कर्मशक्तिमय और स्वयंप्रज्ञ है। अतः इस विश्वका प्रत्येक अणु परमाणु अनंत सामर्थ्यवान् है। इसमें किसी तरहकी न्यूनता नहीं है।

प्रत्यके पदार्थ, जो इस विश्वमें है, वह ईश्वरका स्वरूप है। सभी पदार्थ ईश्वरस्वरूप होनेसे वे सब परस्पर समान योग्यतावाले हैं। यह समता देखना यहां आवश्यक है। इसलिये कहा है-

सर्वत्र समबुद्धयः। (गी. १२।४)
सिद्ध्यसिद्ध्योः समो भूत्वा समत्वं योग उच्यते। (गी. २।४८)
साधुष्वपि च पापेषु समबुद्धिर्विशिष्यते। (गी. ६।९)
समः शत्रौ च मित्रे च। (गी. १२।१८)
समः सर्वेषु भूतेषु। (गी. १८।५४)

'सर्वत्र समबुद्धि रखना उचित है। सिद्धि और असिद्धि आदि द्वंद्वोंके विषयमें समभाव रखना ही योग्य है। इस समत्वकोही योग कहते हैं। साधु और पापी, शत्रु और मित्र, अर्थात् सब भूतोंके विषयमें समभाव रखना योग्य है।' सभी विश्वरूपके समान अंश हैं, यह जो जानेगा वही शत्रु और मित्र के विषयमें समभाव रखेगा। यह समभाव रखना विश्वरूप-दर्शनसेही हो सकता है। यह समभाव आचरणका मार्ग बताता है। आचरण भी सबके साथ सम ही होना योग्य है। शत्रुके साथभी समभाव रखना है, और जो शत्रु नहीं हैं उनसे तो समभाव रखनाही चाहिये।

सब के विषयमें समदृष्टि और समभाव रखना चाहिये, यह गीताका संदेश है। विषम भाव सब लोग रखते ही हैं और

उससे लडाई झगडे बढा रहे हैं। गीताने लडाई की निवृत्ति करने और शांतता स्थापन करने के लिये सम भाव धारण करनेका उपदेश किया है।

सब विश्वरूप ही ईश्वरका रूप है। इसलिये विश्वरूप के सभी अंशोंके साथ समभाव रखना अत्यावश्यक ही है।

ईश्वरकी सत्ता

यहां 'ईश्वर' शब्द कई विचारकोंको चुभनेवाला हो सकता है। वेद तथा उपनिषदोंने 'ईश्वर' पद का प्रयोग क्वचित् किया है। '**ब्रह्म, आत्मा, सत्, एक, सर्व**' ये पद वेद और उपनिषदोंमें दीखते हैं। 'ईश्वर' पद विशेष कर हम ही आजकल प्रयुक्त कर रहे हैं। प्राचीन ऋषि 'सत्' शब्द बर्तते थे और वही युक्तियुक्त और तत्त्वज्ञानके कार्यमें उपयोगी था। 'ईश्वर' पदके साथ अनेक प्रकारची कल्पनाएं लगीं हैं वैसी 'सत्, आत्मा, ब्रह्म' के साथ नहीं हैं। 'सत्' का अर्थ 'जो है,' 'आत्मा' का अर्थ 'सतत प्रेरणाशील तत्त्व,' 'ब्रह्म' का अर्थ 'सबसे बडा सामर्थ्यवान्' ये पद 'ईश्वर' पदसे निःसंदेह अच्छे हैं। आजकल हम 'ईश्वर' पद इसलिये प्रयुक्त करते है कि वह सब को प्रिय है।

हम जो 'ईश्वर' पद यहां प्रयुक्त करते है, वह '**सबसे आदरणीय और संमान देने योग्य सत्ता**' इस अर्थसे प्रयुक्त करते हैं। यही अर्थ 'ब्रह्म, आत्मा, सत्' आदि पदोंसे बोधित होता है। यह अर्थ ध्यानमें लानेसे यह बोध लिया जा सकता है कि विश्वान्तर्गत जिस किसी पदार्थसे व्यवहार करना हो वह अधिकसे अधिक आदरसे और अधिकसे अधिक संमानसे करना योग्य है। शत्रुसेभी आदरसे और संमानसे व्यवहार किया जा सकता है। इसी लिये गीताने कहा ही है कि 'शत्रु, मित्र, पापी और साधुओंके साथ समभाव रखो।' (गी. १२।१८;६।९) फिर जो शत्रुत्व नहीं करते उनसे आदरके साथ व्यवहार करना योग्यही है, इसमें क्या संदेह हो सकता है?

मुक्तिका स्वरूप

आजकल 'मुक्ति' का स्वरूप बहुत ही विलक्षण माना जाता है। जो बालक जैसा इच्छारहित रहता है वह मुक्त है ऐसा कहते हैं। मूढवत् व्यवहार करनेवालेको भी मुक्त कहते हैं। जब मूढवत् व्यवहारकी बात तो कई आधुनिक नवीन

उपनिषदोंमें भी मानी है। जिसकी अपनी कुछभी इच्छा नहीं वह जहां बैठा वहीं बैठा रहेगा। इसलिये इसको 'परेच्छा-प्रवृत्त' कहते हैं। 'महाराज! स्नानके लिये उठिये' ऐसा शिष्यके कहनेसे जो उठता है और वैसे ही अन्य व्यापार करता है वह परेच्छा-प्रवृत्त मुक्त कहलाता है। ऐसे मुक्त आजकल कमसे कम बाहरके दिखावेके लिये बहुत हो है।

जो स्वयं सरल बोलते नहीं, एक पूछनेपर दूसरा ही उत्तर देते हैं, किसी व्यवहारकी जिनको शुद्ध नहीं होती, जो केवल प्राणधारणमात्र करते है, परंतु व्यवहारके किसी कामके नहीं, वे मुक्त हुए हैं ऐसा आजकल समझा जाता है, परंतु गीताका मुक्तका अर्थ कुछ और ही है।

यतेंद्रियमनोबुद्धिः मुनिः मोक्षपरायणः।
(गी. ५।२८)

दानक्रियाश्च विविधाः क्रियन्ते मोक्षकांक्षिभिः।
(१७।२५)

जरामरणमोक्षाय मामाश्रित्य यतन्ति ते। (७।२९)
भूतप्रकृतिमोक्षं च ये विदुः यान्ति ते परम्।
(१३।३४)

बंधं मोक्षं च या वेत्ति बुद्धिः सा पार्थ सात्त्विकी।
(१८।३०)

अहं त्वा सर्वपापेभ्यो मोक्षयिष्यामि। (१८।६६)
ज्ञानं विज्ञानसहितं यज्ज्ञात्वा मोक्ष्यसेऽशुभात्॥
(९।१)

शुभाशुभफलैरेवं मोक्ष्यसे कर्मबंधनैः। (९।२८)
तत्ते कर्म प्रवक्ष्यामि यज्ज्ञात्वा मोक्ष्यसेऽशुभात्।
(४।१६)

विगतेच्छाभयक्रोधो यः सदा मुक्त एव सः॥
(५।२८)

हर्षामर्षभयोद्वेगैर्मुक्तः। (१२।१५)

यहां मुक्तका वर्णन स्वयं गीतानेही किया है। 'ज्ञान प्राप्त होनेसे अशुभसे मुक्ति होती है (और शुभकी प्राप्ति होती है।) सब पापोंसे मुक्ति होती है। सात्त्विक बुद्धि बंध क्या और मोक्ष क्या है, इसको यथावत् जानती है। इंद्रिय, मन और बुद्धिका संयम करनेसे मोक्ष प्राप्त होता है। मोक्षकी इच्छा करनेवाले दान आदि क्रिया करते हैं। जरा-मरणसे मुक्त होने-

के लिये मुझ विश्वरूपका आश्रय करके प्रयत्न करते हैं। इच्छा भय और क्रोध जिसमें नहीं वह सदा मुक्तही है। हर्ष, क्रोध, भय और खेदसे जो दूर है वह मुक्त है। ' यहां गीता मोक्षकी सत्य कल्पना देती है। वह प्रचलित कल्पनासे बहुतही दूर है।

यहां ज्ञानविज्ञानसे मुक्ति कही है। ज्ञानविज्ञान प्राप्त होनेपर जो मुक्ति मिलती है, उस मुक्तिमें और उस मुक्त मनुष्यमें फिर जडता और मूढता आ जायगी ऐसा मानना युक्तियुक्त नहीं है। मुक्त होनेपर उसमें सहजसिद्ध ज्ञान रहेगा, तर्कना करनेके विनाही स्वयंस्फूर्तिसे ज्ञान उसमें दीखेगा।

शुभाशुभफलदायी कर्मोंसे उसको बंधन नहीं होगा। सब प्रकारके कर्म करके भी वह बंधमुक्त रहेगा। क्योंकि कर्मोंके बंधनसे विना यत्न छुटकारा पानेकी युक्ति उसको अवगत रहेगी। उसमें पापसंकल्प नहीं रहेंगे, क्योंकि पापसंकल्प संकुचित भावसे उत्पन्न होते हैं और वह तो विश्वरूपके साथ अनन्य हुआ रहता है। जो सब अखण्ड विश्वरूपको जानेगा उसमें पापसंकल्प कदापि उत्पन्नही नहीं होंगे। वह सदा अनन्यभावसेही विचार करेगा।

यह मुक्त पुरुष जो गीताने कहा है, वह जडमूढवत् क्यों दिखेगा? ज्ञानी और विज्ञानी, निर्दोष कर्म करनेवाला, पापसंकल्पोंसे स्वभावतः दूर रहनेवाला परंतु सदाही विश्वरूपके लिये स्वभावतः कर्म करनेवाला जडमूढवत् क्यों रहेगा? इस कारण मुक्त जडमूढवत् रहेगा, यह कल्पनाही त्याज्य है।

नित्य शुद्ध बुद्ध मुक्त

भगवद्गीताका आदर्श मुक्त पुरुष भगवान् श्रीकृष्ण है। ये नित्य-शुद्ध-बुद्ध-मुक्त स्वभाव हैं। इनको कुछ भी प्राप्तव्य नहीं है तथापि वे सदा जनताके हितके लिये कर्म करते रहे थे। कर्म करनेपर भी सदा अलिप्त थे। वक्ताओंमें उत्तम वक्ता, राजनीतिज्ञोंमें अद्भुत राजनीतिज्ञ, ज्ञानियोंमें ज्ञानी, चतुरोंमें चतुर, गृहस्थियोंमें उत्तम गृहस्थी। इस तरह सब प्रकारसे ये आदर्श पुरुष हैं और ये स्वभावतः शुद्ध बुद्ध और मुक्त हैं।

मनुष्य 'शुद्ध' भी चाहिये, 'बुद्ध' अर्थात् ज्ञानी भी चाहिये, और 'मुक्त' भी चाहिये। जो बुद्ध होगा उसके ज्ञानका उपयोग जनताके हितके लिये होनाही चाहिये। जो शुद्ध होगा उसके आचरणमें शुद्धाचार दीखना चाहिये। जो मुक्त है, उसकी शुद्धता बुद्धता और मुक्तता उसके जीवनमें दीखनी चाहिये। आजकलकी कल्पना कि मुक्त पुरुष जड मूढ उन्मत्तवत् रहता है यह यद्यपि अनेक विद्वान् मानते हैं, तथापि न वह वेदमें है और न गीतामें कही है, अतः वह त्याज्यही है।

'शुद्ध-बुद्ध-मुक्त' ये तीन पद ध्यानमें धारण करने योग्य है। शुद्ध होनेसे बुद्ध होता है, बुद्ध होनेसे मुक्त होता है। बुद्ध तब होता है जब इसको विश्वरूप ईश्वरका यथावत् ज्ञान होता है, क्योंकि विश्वरूपकी सेवासेही शुद्धता और मुक्तता होनी है।

हम बीजका वृक्ष हुआ देखते हैं, वृक्ष फूलता है और फलता है यह भी देखते हैं। फलों और फूलोंसे लदे हुए वृक्षको देखनेके समय हमें पता रहता है कि यह सब विस्तार एक छोटेसे बीजकाही है। अब आप विचार कीजिये कि फलों और फूलोंसे लदे वृक्षके पास जाकर, उसकी शीतल छायासे, उसके फूलोंके सुगंधसे तथा उसके फलोंके रसके आस्वादसे आनन्दकी प्राप्ति करनी योग्य है अथवा उसकी जडें उखाडकर उसके मूल बीजकी खोज करना योग्य है?

ईश्वररूप जगद्बीजसे यह विश्वरूप महावृक्ष फैला है, यह फूलों और पल्लवों और फलोंसे लबालब भरा है। जो लोग इसको त्याग दो और इसके मूलकी खोज करो ऐसा जो कहते हैं, उनके मतसे यह सिद्ध होता है कि इस विश्वके बननेसे कुछ न कुछ बिगाड हुआ है, इसलिये इस वृक्षका त्याग करके मूल बीजको ढूंढना चाहिये। परंतु गीताने इस अपसिद्धान्तको नहीं माना और कहा कि बीजके ढूंढनेमें व्यर्थ कष्ट है, यही विश्वरूप उपास्य है। यही विश्वरूप मनुष्यका संसेव्य है। मूल बीजमें जो शक्तियां गुप्त थीं, वह सब इसमें प्रकट हुई है, उनसे आनन्द प्राप्त करना चाहिये।

इस विश्वरूपके साथ अपना अखण्ड तथा अनन्य संबंध देखना चाहिये और अनन्य होकरही उस विश्वरूपकी उपासना तथा सेवा करनी चाहिये। यही गीताधर्म है। इससे जितने मतमतान्तर इस विश्वको तुच्छ, हेय, त्याज्य, हीन तथा दीन मान रहे हैं, वे सबके सब परास्त हुए हैं।

विश्वको परमेश्वरका प्रत्यक्ष रूप बताकर गीताने लोगोंपर बडाही उपकार किया है। बोलनेवाला और सेवा लेनेवाला ईश्वर गीताने हमें दिया है। आप अपनी शक्तिके अनुसार इसकी अल्प वा अधिक सेवा कीजिये। वह प्रत्यक्ष ईश्वरको पहुंच

रही है, इसका आप अनुभव ले सकते हैं।

जो लोग घरपर आये भिकारीको अपशब्द बोलते हैं और भगा देते हैं और मंदिरमें जाकर मूर्तिपर धनके भोग चढाते हैं, उनका वह कर्म ईश्वरसेवामें गिना नहीं जायगा, यह गीतानि स्पष्ट शब्दोंसे कह दिया है।

विश्वरूप परमेश्वरका रूप है इसका स्वीकार करनेपर जो द्वारपर भिकारी आया वह भी ईश्वरका रूपही है, वह ईश्वर आपसे सेवा लेकर आपको कृतकृत्य करनेके लिये आया था। उसको तो आपने अपशब्दोंसे दूर भगाया, वहां प्रत्यक्ष आपने ईश्वरका द्रोह किया और जहां भोग नहीं चाहिये वहां भोग चढाकर आप अपना पाप धोना चाहते हैं। पर गीताके सिद्धान्तके अनुसार यह होनेवाला नहीं है।

मनुष्य अपने सब आचरण इस तरह परखते जांय, और देखें कि अपना आचरण विश्वरूप ईश्वरको मानकर हो रहा है या न मानकर हो रहा है। न मानकर जो होगा, वह गीताके सिद्धान्तके अनुकूल नहीं होगा। गीतापर श्रद्धा रखना और है और उसके अनुकूल आचरण करना और ही है।

विश्वरूपमें जन्म

जो जीव शरीर धारण करके जन्म लेता है, वह विश्वरूप ईश्वरके विशाल देहमें किसी स्थानपर अंशरूप होकर आता है। अपना विश्वरूप देहमें अस्तित्व जानना यह एक भाग्य है जो इस जीवको प्राप्त है। इसलिये जन्म दुःख भोगनेके लिये नहीं है, न यह पापके कारण होता है, न यह पारतंत्र्य है और नाही वह किसी दृष्टिसे बुरा है। देह न जेलखाना है, न पिंजरा है, न वह भ्रमजाल है, और नाही यह पापका फल है। ईश्वरके पवित्र देहमें जीवका निवास होता है। देह ऋषियोंका आश्रम है, वा वह देवतामन्दिर है और विश्वरूप महादेवके विशाल देहका वह अंश है।

न देह मिलनेसे पारतंत्र्य है और न देह छूटनेसे मुक्ति है। यह सब भ्रमसे दुष्ट मत प्रचलित हुआ है। इसीसे हमारा अधःपात हो चुका है, लोग इसीको लिये अबतक बैठे हैं। कीर्तनों और प्रवचनोंमें इसीका रसमय वर्णन किया जाता है। परंतु दुःखवादियोंकी यह विचारधारा बिलकुल एक क्षणभर भी ध्यान देने योग्य नहीं है।

वेद आदि ग्रंथोंमें शरीरका अभद्र शब्दोंसे कहीं भी वर्णन नहीं किया है। जहां साक्षात् ब्रह्मका अंश आकर बसता है और ३३ देवताएं बसती हैं वह स्थान अभद्र कैसे हो सकता है? पर आजकलके लोग जो चाहे सो कहें, परंतु यदि विश्वरूप ईश्वरका स्वरूप है, तब तो उसके सब अंश ईश्वरके रूप हैं, अतः भ्रमवादियोंकी उक्त विचारधारा असार है।

यह जीव यह केवल अंशभाव है। परमेश्वर स्वयं यज्ञस्वरूप है, यज्ञही ईश्वर है और ईश्वर ही यज्ञ है। अत. उसका अंश जीव भी यज्ञरूपही है। यह जीव ३३ देवोंके समेत यज्ञ करनेके लियेही आता है। अंशका यज्ञ संपूर्णकी तृप्तिके लिये होना है। यही बात जानने योग्य है। वेदके और गीताके धर्मने सबका दृष्टिकोनही बदल दिया है। विश्वसेवाके लिये मनुष्यका जन्म है। इस समय वह विश्वभोगके लिये अपना जन्म है, ऐसा मानता है। यही अशुद्ध विचार है।

जो विश्वरूपमें जीवका स्थान निश्चित करती है, वह माता उसी कारण श्रेष्ठ है। स्त्री जातिकी श्रेष्ठता इसी कारण है। यह ज्ञान जैसा स्त्रियोंको मिलना चाहिये, वैसाही पुरुषोंके लिये भी मिलना चाहिये। और दोनोंके द्वारा गृहस्थ आश्रमकी पवित्रता बढनी चाहिये।

अनिकेत स्थिति

गीतामें '**अनिकेत**' स्थिति विशेष महत्त्वसे वर्णन की है (गी. १२।१९) जिसको अपना निजका घर नहीं वह 'अनिकेत' कहलाता है। सब लोग हैरान होंगे। अनिकेत स्थिति वह है कि जिसमें अपना करके कुछ भी धन नहीं होता। क्या इस तरह सब रह सकते है? देखिये, प्राचीन आर्योंने अपने समाजकी रचना कैसी की थी।

ब्रह्मचर्यके २५ वर्ष, वानप्रस्थके- २५ वर्ष और सन्यासके २५ वर्ष मिलकर ७५ वर्ष अपनी निजकी जायदाद कुछ भी नहीं रहती थी। १०० सौ वर्षोंकी आयुमें ७५ वर्षकी आयु अनिकेत स्थितिमें जाती थी। बीचके गृहस्थाश्रमके २५ वर्ष घरबार जायदाद आदि होती थी। अर्थात् $\frac{3}{4}$ आयु अनिकेत स्थितिमें और $\frac{1}{4}$ आयु निकेत स्थितिमें गुजारी जाती थी।

मनुष्यमें अपना धन होनेकी जो इच्छा है वह भोग भोगनेके लिये २५ वर्ष रखे थे और अपना धन कुछ भी नहीं ऐसी अवस्थाके लिये आयुके ७५ वर्ष रखे गये थे। इस तरह प्राचीन लोगोंने धर्मकी व्यवस्थामें मानवी प्रवृत्तिको अच्छी तरह जान-

कर प्रयोगमें लाया था।

अनिकेत स्थिति होनेकी अवस्थामें ब्रह्मचारी, संन्यासी, भिक्षु, वानप्रस्थी आदिकोंके लिये रहनेके लिये घर तो अवश्य-ही चाहिये और घर तो होतेही थे। परंतु वे ब्रह्मचारी, वान-प्रस्थी और संन्यासियोंकी जायदादके नहीं होते थे। या तो राज्यसंस्थाके ये मकान होते थे अथवा आश्रमसंस्थाके होते थे। किसी व्यक्तिके नहीं होते थे।

सब धन, सब जायदाद, सब ऐश्वर्य विश्वरूपका है, सब धन सबका है, वह सबके हितके लिये खर्च होना आवश्यक है। उसपर किसी एक व्यक्तिका अधिकार नहीं होना चाहिये। यह इस अनिकेत स्थितिका तत्त्व है और यह समाजमें शान्ति स्थापनके लिये अत्यंत आवश्यक है।

धन कमाते हुए भी स्वेच्छासे धनहीन जैसे अर्थात् भोगेच्छाहीन रहनेका जो महान् तत्त्व गीताने कहा है, वह बडाही सामाजिक महत्त्वका तत्त्व है।

ऐसी अनिकेत स्थिति रहनेपर भी राष्ट्रके व्यवहार चलाये जा सकते हैं। ऐसी स्थितिके लोग कुछ भी नहीं करेंगे, ऐसा जो आजकल समझा जाता है, वह अशुद्ध विचार है। वेही लोग बडे बडे कार्य कर सकते हैं। सब धन, दौलत, मकान, जायदाद प्रजापतिकी है, उसपर प्रजापतिका अधिकार है, किसी एक व्यक्तिका नहीं। प्रजापतिकी राज्यशासन संस्थासे उस सब धनका बटवारा या उपयोग जैसा चाहिये वैसा प्रजा-जनोंके हितार्थ किया जायगा। इस तरह अनिकेत स्थिति एक प्रकारसे सामाजिक श्रेष्ठ विकासकी स्थिति है। यह कदापि भूलना नहीं चाहिये।

'स्व' को व्यापक बनाओ

प्रत्येक प्राणीमें 'स्व' अर्थात् 'अपनेपन' रहताही है। इस 'स्व' को अतिव्यापक बनना चाहिये और उसको विश्व जितना विस्तृत बनाना चाहिये। यह विश्वरूप वर्णनके द्वारा गीताने बताया है। जो विश्वरूप है वह-

ईश्वरका रूप है,
परमात्माका वह रूप है,
ब्रह्मका वह रूप है अथवा
मेरा वह रूप है।

इनका अर्थ समानही है। 'स्व' की व्यापकता एक व्यक्ति-तक मानना दोष उत्पन्न करनेवाला है। परंतु वही 'स्व' विश्वरूप जितना व्यापक हुआ तो वह परम सिद्धि है। भगवान् श्रीकृष्ण विश्वव्यापक 'स्व' वान्' थे और अर्जुन देह जितना अपना 'स्व' है ऐसा मान रहा था। यह गीता इन दोनोंमें हुए संवादरूप है।

विश्वरूप आत्माका अनुभव परम उच्च उन्नतिका सूचक है। व्यक्तिरूप आत्माका अनुभव अज्ञानका सूचक है।

इसलिये अपने वेदादि धर्मग्रंथोंमें 'स्वार्थत्याग' पद नहीं है। यह कल्पना विदेश है। स्वार्थको व्यापक-विश्वव्यापक-करनेका उपदेश अपने धर्ममें है। आत्मयज्ञ है, आत्मत्याग नहीं है।

अपने अन्दर विदेशी या विजातीय कल्पनाएँ कितनी आयी हैं इसका विचार करके निरीक्षण करना योग्य है। यज्ञमें हम 'देवपूजा-संगतिकरण-दान' करते हैं। परंतु 'स्वार्थ-त्याग' में अपनेकोही खो बैठते हैं। हमारी मुक्तिमें भी आत्मत्याग नहीं है। जो अनन्त पृथक् आत्माएँ हैं ऐसा मानते हैं वेही एक आत्मा दूसरेपर उपकार करता है ऐसा बोल सकते हैं। पर जो सबका एकही आत्मा सत् है, द्वितीय कोई वस्तु ही नहीं है ऐसा मानते हैं, उनके मतसे 'परोपकार' पदका अर्थही क्या है? जहां कोई 'पर' नहीं है वहां परोपकार' कैसा हो सकता है? गीताने नानात्मवाद का निर्मूलन किया है, इसलिये गीताका यह सिद्धान्त मानकर ही जो कहना होगा वह कहना योग्य है।

आत्मज्ञानके पश्चात् संतानोत्पत्ति

आजकल ऐसा मानते हैं कि आत्मज्ञानीको कुछ भी कर्तव्य नहीं रहता, इच्छाही नहीं होती फिर स्त्री-संबंध आदि कैसे होगा? पर ये भूलते हैं कि बृहदारण्यक उपनिषद्में ब्रह्मज्ञानके पश्चात् यथेष्ट संतान उत्पन्न करनेकी विधि लिखी है, तथा रैक्व नामक आत्मज्ञानीका इतिहास वहां दिया है। वह ब्रह्मज्ञानका उपदेश करनेके लिये दक्षिणा लेता है, उसमें कई ग्राम ईनाममें लेता है, राजपुत्रीसे शादी करता है, रथ घोडे आदि लेता है और ज्ञानका उपदेश करता है। इसलिये ब्रह्मज्ञान मरनेके समय प्राप्त करनेकी वस्तु है, ऐसा मानना भूल है। वह तो इस विश्वमें दैवी संपत्तिका विकास करनेके लिये ज्ञान है न कि शक्तित गात्रोंके लिये वे विचार हैं। वेदमें भी—

यो वै तां ब्रह्मणो वेद अमृतेनावृतां पुरिम्।
तस्मै ब्रह्म च ब्राह्माश्च आयुः प्राणं प्रजां ददुः॥
(अथर्व. १०।२।२९)

' जो ब्रह्मज्ञान जानता है उसको ब्रह्मकी कृपासे दीर्घ आयु, बलवान् प्राण अर्थात् जीवन, और उत्तम प्रजा होती है।'

क्या ब्रह्मकी कृपासे प्रजा होती है वह दत्तक प्रजा है या औरस है ? इसका तो विचार कीजिये। इसलिये मैं कहना चाहता हूं कि ब्रह्मज्ञान गृहस्थाश्रममें प्रविष्ट होनेके पूर्व अर्थात् ब्रह्मचर्याश्रममेंही होना चाहिये।

ब्रह्मप्राप्तिके लिये आचरण करनेकाही नाम ब्रह्मचर्य है। इसलिये ब्रह्मचर्य-समाप्तिके समय ही ब्रह्मज्ञान होना स्वाभाविक ही है। उसके पश्चात् गृहस्थाश्रममें प्रवेश होगा और ऐसे ज्ञानीसे जो संतान होगी वही 'सु-प्रजा' कहलायेगी। ऐसी जनसंख्या बढनेसे ही इस भूमिपर स्वर्गीय राज्य होगा और ये ही नागरिक भागवत राज्यशासन चलानेके लिये योग्य होंगे।

आज इस आदर्शसे हम गिर गये हैं। जो ऋषिमुनियोंका ध्येय था, वह दूरही रहा, परंतु भगवद्गीताने जो साधन मार्ग बताया वह भी आचरणमें लानेका पता भी नहीं है। इसलिये गीताका अध्ययन आचरणमें लानेकी दृष्टिसे करना चाहिये और ऐसा संघ स्थापन होना चाहिये कि जो गीतोपदेशका आचरण करता जाय।

विषयसूची

विषय	पृष्ठ
१. कुरुक्षेत्रकी घोषणा	१
भगवान् श्रीकृष्णके द्वारा घोषित किये हुए भारतीय युद्धके हेतु	,,
युद्धके समयकी घोषणा	,,
क्या युद्ध-भूमिपर इतना समय मिलेगा ?	२
द्वन्द्व और संकुल युद्ध	,,
युधिष्ठिरका भीष्मसे विनय	३
भारतीय युद्धका समय	५
गीताके अपाणिनीय प्रयोग	,,
अदितिके आठ पुत्र	६
वैदिक विभूति-योग	७
,, विश्वरूप-योग	,,
भारतीय युद्ध क्यों हुआ ?	,,
पूर्वइतिहास	८
दुर्योधनका कथन	,,
पाण्डवोंका उत्तर	९
धृतराष्ट्रका षड्यन्त्र	१०
युद्धके हेतु	११
समभाव	१२
दुराचारीका सुधार	,,
सबकी उन्नति	,,
योगक्षेमका उत्तरदायित्व	,,
स्वकर्मसे सिद्धि	,,
कुशलतासे कर्म करो	,,
२. श्रीमद्भगवद्गीताकी कुछ संज्ञाओंका पारिभाषिक अर्थ	१३
योगशास्त्र	,,
धर्म-संस्थापन	,,
धर्मकी ग्लानि	१४
अधर्मका आक्रमण	,,
राजविद्या और राजगुह्य	,,
चार वर्णोंकी व्यवस्था	१५
चारों वर्णोंके कार्य	,,
ब्राह्मणोंके कर्म	,,
क्षत्रियके कर्म	,,
वैश्योंके कर्म	१६
शूद्रोंके कर्म	,,
स्वकर्मसे सिद्धि	,,
स्वभावनियत कर्म	१७
द्विजातियोंका शस्त्रग्रहण	,,
धर्म्य युद्ध	,,
धर्म्य राजगुह्य	१८
योग और साम्ययोग	,,
भक्त और भक्ति	,,
भक्त अर्जुन	१९
भक्त हनुमान्	,,
भक्ति सेवा है	,,
यज्ञका महत्त्व	२०
अनेक यज्ञ	,,
विषयोंका इंद्रियाग्निमें हवन	२१
स्वाध्यायज्ञानयज्ञ	,,
द्रव्ययज्ञ	,,
परस्पर संभावना	२२
यज्ञचक्रका प्रवर्तन	,,
देवपूजा-संगतिकरण-दान	,,
३. सब विश्व एकही अखण्ड जीवन है	२३
विश्वरूपका दर्शन	,,
विश्वरूपका अर्थ	,,
विश्व, रूप, विश्वरूप	२३
दिव्य दृष्टि	२४
विविधतामें एकता	,,
नारायणके रूप	२६
रुद्रदेवताके रूप	,,
वेद और गीताके वर्णन	२७
अनन्तरूप, विश्वमूर्ति, सर्व	,,
आत्माही सब है	२८
जीवात्मा और परमात्मा	,,
इन्द्रका मायासे अनेकरूप होना	२९
सब वेद एकहाही वर्णन करते हैं	३०
विश्वही विष्णु है	,,
गीताका विश्वरूपवर्णन	,,

ईश्वरकी विभूतियों ३३
अनन्यभाव ३४
इसका फल ,,

४. ईश्वरके विश्वरूपदर्शनका मनुष्यके व्यवहारपर परिणाम ३५
अनन्यभावका स्पष्टीकरण ,,
विश्व आनन्दमय है ३६
,, सच्चिदानन्दरूपही है ३७
परमेश्वर विश्वरूपमें प्रत्यक्ष दीखता है ,,
अव्यक्त उपासनाके क्लेश ,,
मानवरूप ईश्वरकी निंदा ३८
परमेश्वरका विश्वरूप पवित्र है ३८
विश्वरूपमें जन्म लेना बंधन नहीं है ३९
कर्म करनेका स्वभाव ,,
जन्म देनेवाला गृहस्थाश्रम श्रेष्ठ है ४०
मेरा अंश जीव है ,,
जीवदेहमें ३३ देव (चित्र) ४१
,, त्रिलोकी ,, ,,
जीवकी यज्ञभूमि ,,
पंच कोश, स्थूल शरीर, यज्ञभूमि और मंदिर ,,
धर्मसे अविरुद्ध काम ४३
परमेश्वरका पुत्र जीव है ,,
शरीरमें सप्त ऋषि ,,
,, देवता ,,
वह पूर्ण है और यह पूर्ण है ४४
जन्मका उद्देश्य ,,
मूर्त और अमूर्त मिलकर ईश्वर है ४५
क्षर, अक्षर और उत्तम पुरुष ४६

५. अनन्ययोग ४७
अन्यभाव और अनन्यभाव ,,
द्वैत और द्वन्द्व ,,
विश्वरूपमें अनन्यभाव है ४८
अनन्यभक्ति और अन्यभक्ति ,,
अनन्य भक्त ,,
अन्य ,, ,,
क्षुद्रलोक ४९
देवोंका पशु ,,
देव और भक्त ,,
देवविज्ञान, भूतविज्ञान और आत्मज्ञान ५०
भक्त और भक्ति ५०
ईश्वरकी भक्ति ५१
अनित्य भक्त ५१
नित्य ,, ,,
अनन्यभक्तिसे लाभ ५३
आत्माका दर्शन, श्रवण और मनन ,,
नित्ययुक्त योगी ५४
अनन्ययोग ५५
अव्यभिचारिणी भक्ति ,,
ईश्वरमें निवास ,,
दिव्य पुरुषका दर्शन ,,
दुराचारीकी उन्नति ५६
ब्रह्मार्पण ,,
मैं क्रतु हूँ ,,
अनन्यभावसे व्यवहार ५७

६. भागवत राज्यशासन ५७
योगके अर्थ ,,
राजाओंकी विद्या ५८
राजविद्या, राजगुह्य ,,
आध्यात्मिक राज्यशासन ५९
स्वभाव ,,
व्यक्ति और राष्ट्र ६०
व्यष्टि समष्टि (चित्र) ६१
पुरुष और प्रकृति ,,
अध्यात्म, अधिभूत और अधिदैवत ६३
पिण्ड ब्रह्माण्डकी एकता ,,
पुरुष और राजा अकर्ता रहे ६४
पुरुष और प्रकृति (चित्र) ६५
निष्पक्ष राजा ६७

७. कर्मयोग ६९
कर्म करना प्राणीकी प्रवृत्ति है ,,
कर्मके तीन भेद ,,
कर्म, अकर्म, विकर्म ७०
कर्मका लक्षण ७१
अखण्ड विश्वरूपकी सेवा ७३
सनातन धर्म ७४
तप ,,
शारीरिक तप ७५
वाचिक ,, ,,

मानसिक तप ७५
सात्त्विक ,, ,,
राजस ,, ,,
तामस ,, ,,
दान ७६
सात्त्विक दान ,,
राजस ,, ,,
तामस ,, ,,
यज्ञ ,,
सात्त्विक यज्ञ ,,
राजस ,, ,,
तामस ,, ,,
सहज कर्मका त्याग न करो ७७
कर्म कैसे करने चाहिये ? ७७
चारों वर्णोंके कर्म ७८

८. क्या कर्मफलत्यागसे व्यवहार हो सकता है ? ७९

कर्मफलत्यागका अर्थ ,,
कर्मका स्वरूप ,,
ब्राह्मणोंके कर्म ,,
क्षत्रियोंके ,, ,,
वैश्योंके ,, ,,
शूद्रोंके ,, ,,
कर्मकर्ताको संरक्षण ,,
कर्म करनाही चाहिये ८०
कर्म छोडना नहीं चाहिये ८१
कर्मका फल ,,
कर्मके फलका त्याग ,,
जीवन-निर्वाह कैसे होगा ? ८१
कर्मफलत्यागके अनेक भेद ,,
कर्मफलका अनाश्रय ,,
सर्व-कर्म-फलत्याग ,,
कर्मफलसंगका त्याग ८३
संकल्प ८६
फलत्याग- फलभोग ,,
त्यागियोंकी विचारधारा ,,
भोगियोंकी ,, ,,
अध्यात्ममें अवैतनिक सेवक ८७
अ-व्यय राज्यशासन ,,
कर्मफलका त्याग, दान, अनाश्रय, न्यास, संन्यास, समर्पण और संगवर्जन ८७
प्राचीन समयकी व्यवस्था ८८
अनिकेत, अपरिग्रह और कर्मफलत्याग ८९

९. योग और व्यवहार ९०

भाषामें योगके प्रयोग ,,
गीतामें योगका उपयोग ,,
कर्मयोग, ज्ञानयोग ,,
बुद्धियोग, भक्तियोग ९१
ब्रह्मयोग, संन्यासयोग ,,
अभ्यासयोग, अनन्ययोग ,,
साम्ययोग, आत्मयोग ,,
आत्मसंयमयोग ,,
ध्यानयोग, वियोग, संयोग ,,
गीताके अनेक योग ,,
योगका अर्थ ९२
,, गीतोक्त अर्थ ,,
अष्टांगयोग ,,
यम और नियम ९३
नियम-शौच, संतोष, तप ९३
स्वाध्याय, ईश्वरप्रणिधान ९४
यम-अहिंसा, सत्य, अस्तेय, ब्रह्मचर्य, अपरिग्रह ,,
स्वराट् ९५
आसन, प्राणायाम ९६
प्रत्याहार, धारणा, ध्यान, समाधि ९७
दैवी और आसुरी वृत्ति ९८
दैवी वृत्ति ,,
आसुरी प्रवृत्तिके घोर परिणाम ९९

१०. श्रीमद्भगवद्गीताका ध्येय क्या है ? १०१

शाश्वत-धर्म-मोक्ष ,,
विश्वसेवाही ध्येय है १०१
ज्ञान विज्ञान १०३
जेलखाना शिक्षणालय हो १०४
ईश्वरका अर्थ क्या है ? ,,
ईश्वरकी सत्ता, मुक्तिका स्वरूप १०५
नित्य शुद्ध बुद्ध मुक्त १०६
विश्वरूपमें जन्म, अनिकेत स्थिति १०७
'स्व' को व्यापक बनाओ १०८
आत्मज्ञानके पश्चात् संतानोत्पत्ति ,,

व्यापार होते हैं, वे सब ज्ञानके ही होते हैं और मन जहांतक विवेकका आश्रय लेता है, अपने लिये उन वस्तुओंके अतिरिक्त जो इस ज्ञानकी साधक हैं, अन्य वस्तुओंको उपयोगी नहीं समझता। 1"विवेकका तत्व हमारे मनकी स्पष्ट और सुव्यक्त ज्ञान प्राप्त करनेकी शक्ति ही है। इसलिये विवेकके अनुसार प्रयत्न यह ज्ञान ही है। मनका विवेक व्यापार पूर्ण आत्मरक्षा का यत्न इस ज्ञानसे भिन्न नहीं। अतएव ज्ञानप्राप्तिका यत्न सद्गुणका आद्य और एकमात्र आधार है। और ज्ञानका लक्ष्य अपनेसे बाहर कुछ नहीं। इसलिये विवेकके अनुसार मन ज्ञान-साधक वस्तुओंसे बढकर अन्य वस्तुओंको हितकर नहीं समझ सकता। अच्छा या भला (good)भी इस ज्ञानको छोडकर और कुछ नहीं। "निश्चयात्मक रूपसे अच्छी या बुरी वस्तुएं ज्ञानसाधक और ज्ञानबाधक वस्तुओंके अतिरिक्त हम और नहीं जानते।"2

विवेकपूर्ण जीवनकी महत्ताका एक कारण यह है कि मनुष्य इस प्रकारके जीवनको अपनेमें रहनेवाले दैवी अंश द्वारा प्राप्त करता है। इसलिये स्पिनोझा कहता है- "मनका परम कल्याण (highest good) ईश्वरके ज्ञानमें ही है और मनका सर्वश्रेष्ठ सद्गुण (highest virtue) ईश्वरको जानना ही है। 3" मनके ज्ञानका ईश्वरसे बढकर और कोई विषय नहीं हो सकता, क्योंकि ईश्वर ही एक ऐसी नितांत निरपेक्ष अनंत सत्ता है जिसके बिना न तो कोई वस्तु रह सकती है और न उसकी कल्पना ही की जा सकती है। अतएव मनके लिये सर्वश्रेष्ठ उपयोगिता (Highest utility) या श्रेय ईश्वरका ज्ञान ही है। पुनः मन अपने ज्ञानके कारण ही सक्रिय होता है और ज्ञानके कारणही उसकी क्रियाएं सद्गुणानुसारी होती हैं। अब चूंकि मनके सर्वश्रेष्ठ ज्ञानका विषय ईश्वर है, अतएव मनका सर्वश्रेष्ठ सद्गुण भी ईश्वरका ज्ञानही है।" 4

समाज और शासनसंस्था

विवेकपूर्ण जीवनकी श्रेष्ठता प्रस्थापित करके अब स्पिनोझा सामाजिक जीवनके प्रमुख आधारोंका विवेचन करता है। इसका कारण यह है कि विवेकपूर्ण जीवन समाजमें ही पनप सकता है। समाज ही उसके लिये एकमात्र अनुकूल क्षेत्र है। एकाकी अवस्थामें मन अपूर्ण ही रहेगा। 'नीतिशास्त्र' में स्पिनोझाने शासनसंस्थाका प्रत्यक्ष विवेचन न करके* उसके सामाजिक पहलूका ही विचार किया है, या कहिये कि मनुष्यकी उस सहज सामाजिक प्रवृत्तिका (Social instinct) जो किसी भी शासनसंस्थाका मूलाधार होती है।

स्पिनोझा व्यक्तिके शरीरयंत्र या देहरचनासंबंधी नियमोंसे इस विवेचनका प्रारंभ करता है। निसर्गका सामान्य क्रम अंतःसबद्ध कार्य-कारणोंकी व्यवस्थाविशेष है। अतएव इसमें की कोई भी विशिष्ट वस्तु अपने अस्तित्व या क्रियामें बाह्य कारण निरपेक्ष नियत नहीं हो सकती। और भी, कार्य और कारण दोनोंका स्वरूप एकही गुण (चाहे विचार हो या विस्तार)के द्वारा समझनेके योग्य होना चाहिये, क्योंकि परस्पर विरुद्ध स्वभाववान् वस्तुओंमें कार्यकारणभाव नहीं बन सकता। इसी प्रकार जहां स्वरूपकी अत्यंत एकता होती है वहांपर भी कार्यकारणभाव संभव नहीं। यह तो स्वयंभू कारणके विषयमेंही संभव है, परंतु स्वयंभू कारणमें कार्यकारणभावका उपचार मात्र है। इसलिये कार्यकारणभावके लिये कुछ साधर्म्य और कुछ वैधर्म्य होना जरूरी है। यथा दो वस्तुओंमें एकही गुणकी प्रकारवत्ताका साधर्म्य होनेके साथही व्यक्तिगत वैधर्म्य भी हो सकता है। यह सर्वसामान्य नियम मनुष्यको भी लागू होता है, क्योंकि निसर्गस्थ अन्य व्यक्तिगत वस्तुओंके समान मनुष्यका अस्तित्व और उसकी क्रिया भी अन्य व्यक्तिगत वस्तुओंके द्वारा नियत है। 'मनुष्यके शरीरकी रक्षाके लिये दूसरे कई शरीरोंकी जरूरत है जिनके द्वारा मानो उसको सतत नवचैतन्य मिलता रहता है।' इन बाह्य शरीरोंमें कुछ तो उसके साथ साम्य रखनेके कारण उसके अनुकूल होते है और कुछ वैषम्यके कारण प्रतिकूल होते हैं। इसी अनुकूलता या प्रतिकूलताके कारण कुछ वस्तुएं आवश्यक रूपसे अच्छी हैं और कुछ बुरी। 5

व्यक्तिरचना (individual organism) के ये नियम समाजरचना (Social organism)को भी लागू

1 वही वि. २६ 2 वही वि. २७ 3 वही वि. २८ 4 वही प्र. 5 वही वि. २९-३१

* शासन-संस्थाका स्वतंत्र विवेचन स्पिनोझाके अन्य ग्रंथोंमें है यथा Tractatus Theologico Politicus and Tractatus Politicus

होते हैं। मनुष्यको जीवनकी अन्य आवश्यकताओंके साथ दूसरे मनुष्योंकी संगति भी आवश्यक है और इस दृष्टिसे हमारे समान स्वभावशील मनुष्य अत्यंत उपयोगी हैं। यद्यपि मनुष्यत्व इस रूपसे और विचार और विस्तारके प्रकार रूपसे सब मनुष्य समान हैं तथापि " विकारोंके अधीन होनेके कारण वे एक दूसरेसे मेल नहीं रख सकते।1" निष्क्रिय भावोंके द्वारा आक्रमित होनेके कारण मनुष्योंका एक दूसरेसे भेद हो सकता है और इस हदतक तो एक व्यक्ति भी अस्थिर और परिवर्तनशील है 2। इन्हीं निष्क्रिय भावोंद्वारा आक्रमित होनेके कारण वे एक दूसरेके विरोधी भी हो सकते है 3" परंतु " जहातक वे विवेकके आदेशानुसार आचरण करते हैं वहातक वे अपने स्वभावमें आवश्यक रूपसे मेल रखते हैं 4" इसी विधानके उपसिद्धांतमें स्पिनोझा कहता है कि निसर्गमें मनुष्यके लिये व्यक्तिगत रूपसे कोई वस्तु इतनी उपयोगी नहीं जितना कि विवेकशील मनुष्य। इसीलिये प्रायः हरेकको हम यह कहते हुए सुनते हैं कि ' मनुष्यके लिये मनुष्य ईश्वर है।' विवेकशील मनुष्यकी यह महिमा हमारे यहां की सत्संगतिकी महिमासे मिलती जुलती है।

विवेकशील मनुष्य परस्परविरोधी नहीं हो सकते, कारण ऐसे सद्गुणी लोग अपना परम कल्याण ईश्वरके ज्ञानमेंही समझते है जो सबके लिये समान होता है और सब समान रूपसे इसका आस्वादन कर सकते हैं 5। और भी, विवेकपूर्ण जीवन या ईश्वरीय ज्ञानकी यह विशेषता है कि इसको प्राप्त करनेवाला अपने लिये जिस कल्याणकी कामना रखता है उसी कल्याणकी कामना वह दूसरोंके लिये भी करता है; और ईश्वरीय ज्ञानकी अधिकाधिकताके साथ यह परार्थनिरतता (Alrsuistic desire) बढती ही जायगी।× सद्गुणी मनुष्यकी ईश्वरके यथार्थ ज्ञानमें तथा अपने परमानंदमें दूसरोंको सम्मिलित करनेकी यह इच्छा धार्मिक असहिष्णुता या धर्माधतासे कोसों दूर है, क्योंकि इसका आधार है विवेक। विवेकपूर्ण जीवनसे जन्य परकल्याणकी कामनाकोही स्पिनोझा धर्मपरायणता या धर्मनिष्ठा कहता है। विवेककी इन्हीं चेष्टाओंमें धर्म, धर्मनिष्ठा (Piety) और सम्मानके बीज मौजूद हैं। सम्मानका स्पिनोझा विशेष अर्थ करता है। " सम्मान वह इच्छा है जिसके द्वारा विवेकशील मनुष्य दूसरोंको मैत्रीके बंधनोंद्वारा अपना साथी बना लेता है।" यही वह मित्रता है जो शासनसंस्थाका मुख्य आधार है।6

स्पिनोझाद्वारा प्रदर्शित समाजकी उत्पत्ति तथा उसके स्वरूप के विषयमें हम तीन मुख्य सिद्धांत पाते हैं 7– (१) मनुष्यमें अपने साथियोंसे मेल रखनेकी नैसर्गिक प्रवृत्ति जो समाजको जन्म देती है। (२) मनुष्यके शरीरयंत्र और समाजपुरुषके शरीरयंत्रमें साम्य और समाजके सावयव या जैव (Organic) होनेकी कल्पना। (३) स्वभावसाम्य सामाजिक व्यवस्थाका मूल है।

स्पिनोझाको यह सम्मत है कि मनुष्य सामाजिक प्राणी है, अतएव समाज प्राकृतिक संस्था है, तथापि शासन-व्यवस्था कृत्रिम संस्था है। इसकी आवश्यकता इसलिये पडती है कि सभी मनुष्य विवेकशील नहीं हैं। अतएव वे एकदूसरेके मार्गमें बाधक न हों इसलिये सबके हितसंबंधोंकी रक्षाकी दृष्टिसे सबकी सम्मति और इकरार (Contract) से देशकी शासन-संस्थाका उदय होता है। स्पिनोझाका यह मत कि मनुष्य सामाजिक प्राणी है एपिक्युरियन्स (Epicurians) और हॉब्ज (Hobbes) के विरुद्ध एरिस्टॉटल, स्टॉइक्स (Stoics) और ग्रोशियस (Grotius) के मतोंसे मिलता जुलता है। एपिक्युरियन्स और हॉब्जके अनुसार मनुष्यको स्वभावतः एकदूसरेकी संगतिसे दुःख ही होता है, सुख नहीं। परतु एरिस्टॉटल इत्यादिके अनुसार मनुष्य सामाजिक प्राणी है। परंतु अपने शासनसंस्थासंबंधी इकरारके सिद्धांतमें स्पिनोझा एपिक्युरियन्स तथा हॉब्जसे साम्य रखता है। परंतु फिर भी इनके और स्पिनोझाके इस सिद्धांतमें कुछ

1 वही वि. ३२ 2 वही वि. ३३ 3 वही वि. ३४ 4 वही वि. ३५ 5 वही वि. ३६ 6 वही वि. ३७ और स्प.
7 Phil. of Spinoza by Wolfson vol. II pp. 244-245

× सर्वेऽपि सुखिनः संतु सर्वे संतु निरामयाः। सर्वे भद्राणि पश्यंतु मा कश्चिद् दुःखमाप्नुयात्॥ इसके अतिरिक्त हमारे यहांके ज्ञानोत्तर कर्मविषयक विवादमें स्पिनोझाका कौनसा पक्ष है, यह इन विधानोंसे बिलकुल स्पष्ट हो जाता है। स्पिनोझाका सर्वेश्वरवाद विश्वकल्याणकी कामनासे युक्त है।

ध्यान देने योग्य महत्वपूर्ण अंतर है 1। हॉब्जके अनुसार मनुष्यका मनुष्यसे भीषण संघर्ष यही मनुष्यका मूल स्वभाव है। अतएव शासनसंस्थाद्वारा नियत मृत्युके भयसेही वह समाजमें शान्तिपूर्वक रह सकता है। परंतु स्पिनोझाके अनुसार मनुष्यका मूल स्वभाव विवेकपूर्ण है। परंतु यह मूल स्वभाव अनिष्ट भावोंद्वारा अभिभूत होकर दूषित हो जाता है, इसलिये शासन-संस्थाकी आवश्यकता है। और भी, हॉब्जके अनुसार मनुष्यकी स्वाभाविक प्रेरणाओंको दबाते रहना ही शासनसंस्थाका उद्देश है, परंतु स्पिनोझाके अनुसार शासनसंस्था मनुष्यको अपनी स्वभावगत प्रेरणाओंके अनुसार आचरण करनेके लिये अनुकूल वातावरण उत्पन्न करके अवसर देती है। हॉब्जके अनुसार मनुष्य अपनी स्वाभाविक प्रवृत्तिके अनुसार जिस आत्माकी रक्षा करना चाहता है वह है नितात स्वार्थिनी और परद्वेषिनी; परंतु स्पिनोझाके अनुसार रक्षाकी विषय है वह विकसित आत्मा जिसकी उन्नतिका एक आवश्यक अंग है दूसरोंकी संगति या मनुष्य-समाज।

तथापि स्पिनोझाके अनुसार शासनसंस्था कृत्रिमही है और उसके नियम मनुष्यकृत हैं। जो प्राकृतिक नियमोंसे भिन्न तरहके हैं। अच्छे और बुरेकी नैसर्गिक कल्पना एक तरहकी है तो शासनसंस्थामें सर्वानुमतिसे निश्चित अच्छे बुरेकी कल्पना दूसरी तरहकी। पापपुण्यकी कल्पनाका उदय शासनसंस्थाके बिना संभव नहीं, फिर यह संस्था धार्मिक हो, यथा गिरजा या राजकीय। राजकीय या धार्मिक नियमों या आज्ञाओंका उल्लंघन पाप है जिसके लिये शासनसंस्था दंड देती है। शासन संस्थाकी आज्ञाओंका पालनही पुण्य है। इसी प्रकार न्याय अन्यायकी कल्पनाओंका प्रादुर्भाव भी शासन संस्थाके अंतर्गत ही हो सकता है, प्राकृतिक अवस्थामें नहीं। प्राकृतिक अवस्थामें तो पापके स्थानपर मनकी निर्बलता या दास्य या बंध ही होता है। 2

यद्यपि शासनसंस्था मनुष्यकृत अतएव कृत्रिम है, तथापि उसका आधार है मनुष्यकी नैसर्गिक सामाजिक प्रवृत्ति। अतएव शासनसंस्थाको हम जैव या सावयव (Organic) कह सकते हैं और इस दृष्टिसे उसकी तुलना मनुष्यकी शरीर रचनासे कर सकते हैं। जो बात मनुष्य-शरीरके लिये हितकर है वह सुशासित समाज-पुरुषके लिये भी हितकर है। मनुष्य-शरीरके लिये हम उपयोगी या हितप्रद उसे समझते हैं जिसके द्वारा वह अपने आपको अपनी चतुर्दिक् भौतिक परिस्थितिके सर्वथा अनुकूल बना लेता है। इस दृष्टिसे दूसरे शरीरोंद्वारा प्रभावित होना और दूसरे शरीरोंपर प्रभाव रखनाही मनुष्यके लिये उपयोगी या हितप्रद है। इसके विपरीत, इस दिशामें मनुष्य-शरीरको अक्षम बनानेवाली बातेंही उसके लिये हानिकर हैं 3। साथही हम शरीरके लिये उसे उपयोगी या हितप्रद समझते हैं जो केवल इसका भौतिक अस्तित्व बनाए रखनेमेंही सहायक नहीं है वरन् इसे अपने व्यक्तित्वकी तदात्मता (Identity of its personality) की भी रक्षा करनेके योग्य बनाती है। इस दृष्टिसे वेही बातें उपयोगी हैं जिनके द्वारा मनुष्य-शरीरके अंगोंकी गति और स्थितिके परिमाणकी रक्षा की जाती है। इस परिणाममें हेरफेर करनेवाली बातेंही बुरी हैं 4। क्योंकि मृत्युका अर्थ शरीरको शवभाव प्राप्त होना ही नहीं है। कभी कभी मनुष्यमें बिना शवभाव प्राप्त हुए भी इस प्रकारके परिवर्तन होते देखे जाते हैं कि उस मनुष्यको वही मनुष्य कहना दूभर हो जाता है। यद्यपि उसका शरीर वही बना रहता है। यही हाल शासनसंस्थाका भी है। जो बातें राज्यकी प्रजामें पूरी तरहसे मेल या ऐक्य प्रस्थापित करके राज्यको दृढता प्रदान करें वेही बातें अच्छी हैं। " जो भी कुछ मनुष्यके भाई-चारेका निर्वाह करे या जिसके द्वारा मनुष्योंमें सामजस्य बना रहे, वही अच्छा है और जो भी कुछ राज्यमें विरोध या विग्रह निर्माण करे वही बुरा है 5। व्यष्टि-देहके समान राज्य-पुरुषका नाश उसकी प्रजाके नाश होनेपरही होता हो यह बात नहीं, प्रजाके रहते हुए भी उसका नाश उस हालतमें कहा जा सकता है जिस हालतमें उसकी ऐतिहासिक अविच्छिन्नता तथा सांस्कृतिक परंपरा या विरासतकी रक्षा करनेवाली सांस्कृतिक तथा अन्य महत्वपूर्ण संस्थाओंका नाश हो जाय। समाज या राष्ट्र-पुरुष इसी परंपरागत विरासतकी रक्षाके कारण जीवित रहता है।

कुछ सद्गुण

नीतिशास्त्रके चतुर्थ भागके शेष विधानोंमें स्पिनोझा परंपरागत प्रथाका अनुसरण करके सद्गुणोंकी सूची देता है जिसमें प्रत्येक सद्गुणकी व्याख्या की गई है। भारतीय वाङ्मयमे

1 Ibid p. 247 2 नी. शा. भा. ४ वि. ३७ स्प. 3 वही वि. ३८. 4 वही वि. ३९ 5 वही वि. ४०

इसका सुंदर उदाहरण है। श्रीमद्भगवद्गीताके त्रयोदश अध्यायमें ७ वें श्लोकसे प्रारंभ होनेवाले ' अमानित्वमदंभित्वं ' से लगाकर ११ वें श्लोकतक गुणोंका वर्णन और उनपर महाराष्ट्र संत श्री ज्ञानेश्वरद्वारा की हुई सुंदरव्याख्या जिसमें ' एतज्ज्ञानमिति प्रोक्तं ' की व्याख्याके अनंतर ' अज्ञानं यदतोऽन्यथा ' की व्याख्यामें इन गुणोंके विरुद्ध अज्ञानोंके दोषोंका भी मार्मिक वर्णन है 1। स्पिनोझाने भी कुछ ऐसाही किया है । अंतिम सात विधानोंमें भावोंकी अधीनता या दास्यसे विमुक्त मनुष्य, (जिसे स्पिनोझा ' स्वतंत्र ' मनुष्य कहता है,) के आचरणका ब्यौरा दिया गया है जो हमारे यहाके ' स्थितप्रज्ञ ' के लक्षणोंकी याद दिलाता 2 है । इन सब बातोंमें यद्यपि स्पिनोझाने एरिस्टॉटल तथा मध्ययुगीन परंपराका अनुसरण किया है तथापि उसने अनेक स्थलोंपर प्रचलित परंपराके विरुद्ध प्रच्छन्न आक्षेप किये हैं । इनका स्थाली-पुलाक-न्यायसे हम कुछ दिग्दर्शन मात्र करेंगे ।

एरिस्टॉटलके अनुसार सद्‌गुण दो तरहसे निर्धारित होते हैं । प्रथम प्रकारके अनुसार सद्‌गुण किसी बातकी अत्यधिकता या अतिन्यूनता न होकर दोनोंके मध्यवर्ती होता है । द्वितीय प्रकारके अनुसार यह मध्य (mean) यथार्थ बुद्धि या विवेकके द्वारा निर्धारित किया जाता है । प्रथम प्रकारका उल्लेख स्पिनोझाने अप्रत्यक्ष रीतिसे किया है, परंतु दूसरे प्रकारका अनेक बार स्पष्ट उल्लेख किया है।

" द्वेष किसी भी हालतमें अच्छा नहीं होता । ईर्ष्या, उपहास, तिरस्कार, क्रोध, प्रतिकार तथा द्वेषसे संबंध रखनेवाले अन्य भाव बुरे हैं । द्वेषके भाव या इस प्रकारकी प्रेरणासे जन्य हमारी कामनाएं हीन या अधम कोटिकी या अन्याय्य होती है । 3 जो विवेकका अनुसरण करता है वह यथासंभव दूसरों द्वारा उसके प्रति किये गये द्वेष, क्रोध, तिरस्कार इत्यादिका बदला प्रेम या कृपालुताद्वारा चुकाता है । ... द्वेषका बदला द्वेषके रूपमें देनेसे वह और भी बढता है, परंतु प्रेमसे वह शांत हो जाता है और प्रेममेंही रूपांतरित हो जाता है । जो अपने प्रति किये गये अपकारोंका बदला द्वेषसे देता है वह सचमुच ही दयनीय है, परंतु जो प्रेमसे द्वेषको जीतना चाहता है वह अपनी लडाई सानंद और आत्मविश्वासके साथ लडता है । वह जिस आसानीसे एकका उसी आसानीसे अनेकका मुकाबला कर सकता है, और भाग्यकी सहायताकी यत्किंचित् भी जरूरत नहीं रखता । जिनको वह पराजित करता है वे अपनी हार सहर्ष स्वीकार कर लेते हैं और यह किसी असफलताके कारण नहीं वरन् अपनी बढी हुई शक्तियोंके कारण । 4

पश्चात्ताप या अनुतापको यहूदी तथा ईसाई धर्ममें अत्यंत महत्वपूर्ण स्थान प्राप्त हुआ है । परंतु स्पिनोझा उसके विषयमें कहता है- ' पश्चात्ताप या अनुताप सद्‌गुण नहीं है और न वह विवेकसे उत्पन्न होता है; परंतु जो किये हुए कामका पछतावा करता है वह दोनों तरहसे दयनीय या निर्बल है । ' परंतु इस विधानके स्पष्टीकरणमें स्पिनोझा अविवेकी लोगोंके लिये धर्माचार्योंद्वारा निर्दिष्ट पश्चात्तापसे शुद्धिका समर्थन करता है, कारण ऐसे लोगोंका पश्चात्तापके अभावमें मिथ्याभिमान या दर्प बढनेकी संभावना रहती है । 5

' अत्यधिक गर्व या निराशा आत्माके अत्यधिक अज्ञानके निदर्शक हैं । वैसेही ये मनकी अत्यधिक निर्बलताके द्योतक हैं। 6

' घमंडी मनुष्यको चापलूसों या खुशामदी टट्टुओंकी और परोपजीवी (Parasites) लोगोंकी संगति भाती है परंतु ऊंचे लोगोंसे नफरत होती है । ' 7

' विवेकसे उत्पन्न होनेवाली कामनामें अति नहीं हो सकती।'8

' विवेकके नेतृत्वमें हम वर्तमानकालीन न्यून भलाईके बजाय भविष्यकालीन अधिक भलाईको, इसी प्रकार भविष्यकालीन अधिक बुरेके बजाय वर्तमानकालीन कम बुरेको स्वीकार करते हैं । '9

' स्वतंत्र या मुक्त मनुष्यके सबसे नगण्य विचारका विषय होती है मृत्यु और उसकी बुद्धिमत्ता जीवनका चिंतन करती है, मृत्युका नहीं । '10 विवेकी पुरुष ' अभिनिवेश ' से मुक्त होता है । इस विधानमें स्पिनोझाका प्रच्छन्न रूपसे उन लोगोंपर आक्षेप है जो सर्वथा मृत्युको अपने सामने रखनेका उपदेश दिया करते थे ।

---

1 श्री. ज्ञानेश्वर कृत भावार्थदीपिका या ज्ञानेश्वरी 2 श्रीमद्भगवद्गीता, अ. २ श्लो. ५५ आगे 3 नी. शा. भा. ४ वि. ४५ और उ.सि.१,२ 4 वही वि. ४६ स्प. १ 5 वही वि. ५४ 6 वही वि. ५५-५६ 7 वही वि. ५७ 8 वही वि. ६१ 9 वि. ६५-६६ 10 वही वि ६७

'यदि मनुष्य स्वतंत्रही उत्पन्न हों तो वे जबतक स्वतंत्र हैं तबतक अच्छे और बुरेकी कल्पना नहीं करेंगे क्योंकि उनकी कल्पनाएं पर्याप्त ही होंगी; अतएव उन्हें बुरेकी कल्पना, इसी-लिये अच्छेकी कल्पना भी नहीं आएगी (क्योंकि ये सापेक्ष शब्द हैं)।'1

स्वतंत्र मनुष्यका साहस या सद्गुण संकटोंको दूर रखनेमें उतनीही श्रेष्ठतासे प्रकट होता है जितनी श्रेष्ठतासे वह आये हुए संकटोंपर विजय प्राप्त करनेमें।' 2 अर्थात् विवेकी पुरुषका साहस जहां एक ओर कायरतासे शून्य है वहां दूसरी ओर वह अविचारसे भी मुक्त है।*

स्वतंत्र मनुष्य अज्ञानियोंमें रह कर, जहांतक बन सके उनकी कृपा या अनुग्रह स्वीकार करना टालताही है, क्योंकि इससे विवेकको छोडकर उनकी इच्छाओंके अनुसार चलनेका अवसर आ सकता है। 3 †

केवल स्वतंत्र मनुष्यही एक दूसरेके प्रति पूर्ण रूपसे कृतज्ञ होते हैं; क्योंकि ऐसे मनुष्यही एक दूसरेके लिये पूर्ण रूपसे उपयोगी होते हैं और परस्पर प्रीतिभरे उत्साहसे एक दूसरेको लाभ पहुंचानेका यत्न करते हैं। 4

स्वतंत्र मनुष्य कभी छल या कपटपूर्ण काम नहीं करते परंतु सदैव सत्यसंध होते हैं। 5

अतमें, विवेकका अनुसरण करनेवाला मनुष्य एकान्तकी अपेक्षा शासन-व्यवस्थामें रहकर अधिक स्वतंत्र होता है। 6

[प्रकरण १९]

ज्ञानका सामर्थ्य और मनुष्यका मोक्ष

पाचवें भागका उपक्रम स्पिनोझा इस प्रकार करता है-'अंततोगत्वा मैं अपने नीतिशास्त्रके शेष भागकी ओर बढता हूं जो मोक्षमार्गविषयक है। अतएव मैं इसमें विवेककी शक्तिका विवेचन करके यह बतलाऊंगा कि, (१) विवेक कहांतक भावोंको वशमें कर सकता है और (२) मानसिक स्वतंत्रता या परमानंदका स्वरूप क्या है। तब हम यह देख सकेंगे कि ज्ञानवान् मनुष्य अज्ञानीसे कितना अधिक बल रखता है।'

उपर्युक्त अवतरणकी दोनों बातोंमें स्पिनोझा उन लोगोंके विरुद्ध जो इच्छास्वातंत्र्यमें विश्वास रखते हैं- इनमें स्पिनोझा स्टॉइक्स और डेकार्टका विशेष रूपमे उल्लेख करता है- यह बतलाना चाहता है कि, (१) किस प्रकार केवल मनकी शक्ति, विवेक या ज्ञानद्वारा, बिना इच्छास्वातंत्र्यका स्वीकार किये किसी हदतक, यद्यपि पूर्णरूपसे नहीं, भावोंको रोककर उन्हें वशमें किया जा सकता है, जो द्वितीय प्रकारके ज्ञानका परिणाम हैं; और (२) किस प्रकार मनकी कृतार्थता या परमानंदकी प्राप्ति तथा तत्संबंधी अन्य बातें केवल मनके स्वरूपके यथार्थ ज्ञानसे प्राप्त होती हैं। यह विषय ज्ञानके तृतीय प्रकारके परिणामोंके अंतर्गत है।

पाचवें भागके दूसरी दृष्टिसे तीन विभाग किये जा सकते हैं जिनमेंसे दोका तो स्वयं स्पिनोझानेही उल्लेख किया है। प्रथम विभागमें वर्तमान जीवनसंबंधी बातोंका विचार है (वि. १-२०)। दूसरेमें उस अवस्थाविषयक बातोंका विचार है जिसमे मनका शरीरसे संबंध छूट जाता है। तीसरे विभागमें विवेकपूर्ण धर्मका सामान्य विवेचन है।

नीतिशास्त्रके चतुर्थ भागमें यह बतलाया गया है कि किस प्रकार विवेकके नेतृत्वमें इच्छा और सुखके भाव निष्क्रिय न रहकर सक्रिय बन जाते हैं जिनके द्वारा अपने तथा दूसरोंके जीवनकी रक्षा और दूसरोंसे मित्रता की जाती है। साथही उन भावोंका भी वर्णन किया गया है जो विवेकके परिणाम हैं। अब इस भागके प्रथम दस विधानोंमें द्वितीय प्रकारके ज्ञानका

---

1 वि. ६८. वही. 2 वही वि. ६९ 3 वही वि ७० 4 वही वि.७१. 5 वही वि. ७२ 6 वही वि. ७३.

* तु. " तावद्भयस्य भेतव्यं यावद्भयमनागतं। आगतं तु भयं वीक्ष्य नरः कुर्याद्यथोचितम् "

† तु. " याच्ञा मोघा वरमधिगुणे नाधमे लब्धकामा " – कालिदास

व्यावहारिक दृष्टिसे विचार करके विकारों या निष्क्रियताओंसे बचनेके लिये कुछ व्यावहारिक सूचनाएं दी गई हैं, जिन्हें स्पिनोझा 'भावोंके विरुद्ध उपचार' कहता है (Remedies against the emotions) कहता है, क्योंकि उसके अनुसार अविवेकपूर्ण भाव मनकी व्याधि या रोग हैं। " चूंकि मनकी शान्तिकी व्यवस्था केवल ज्ञानद्वारा ही की जा सकती है, अतएव हम केवल मनके ज्ञानद्वाराही भावोंके विरुद्ध उपचारोंका विचार करेंगे, जिनका अनुभव तो सबको रहता है, परंतु जिनका यथार्थ निरीक्षण और सुव्यक्त ज्ञान नहीं रहता "*

पहिले विधानमें इस उपचारकी तात्विक भूमिका बतलाई गई है। यद्यपि मन और शरीरकी परस्पर एक दूसरेपर क्रिया नहीं होती तथापि मन शरीरके परिणामोंको नियंत्रित कर सकता है। इसके कारण इस प्रकार हैं– शरीर और मनका सहचार है। मन शरीरकी कल्पना या आकार (Form) है। मनको शरीरका और इसके द्वारा अन्य शरीरोंका ज्ञान है। इससे यह निष्कर्ष निकलता है कि " मनकी कल्पनाओंका क्रम और संबंध शरीरके परिणामोंके क्रम और संबंधके अनुसार होता है। इसके विपरीत, शरीरके परिणामोंका क्रम और संबंध मनमें वस्तुओंके विचारों और कल्पनाओंके क्रम और संबंधके अनुसार होता है। अब चूंकि मन अपनी विचारशक्ति विचार-रूप ईश्वरीय गुणसे प्राप्त करता है और इस प्रकार अपने क्षेत्रमें वह शरीरसे स्वतंत्र है। अतएव वह शरीरके परिणामोंके क्रम और संबंधका मेल अपनी कल्पनाओंके क्रम और संबंधसे बैठाल सकता है। इसलिये विवेक शरीरका मार्गदर्शक और नियंता हो सकता है और उसपर शासन भी कर सकता है। मनकी कमजोरी या निष्क्रिय भावोंके विरुद्ध उपचारकी दृष्टिसे इस सिद्धांतका यह मूल्य है कि विवेकको बर्तनेसे निष्क्रिय भाव सक्रिय हो जाते हैं और असदभिलाषाएं विवेकपूर्ण अभिलाषाओंमें रूपांतरित हो जाती हैं।

अब दूसरे विधानसे दसवें विधानतक भावोंके विरुद्ध उपचारोंका वर्णन करके वि. १०-२० में इन समस्त उपचारोंका पर्यवसान अंतिम रामबाण उपचार ईश्वरके प्रति प्रेममें कर दिया गया है। इन उपचारोंका मूलभूत सिद्धांत यही है कि भावोंका विनाश अधिक प्रबल और शक्तिशाली भावोंद्वारा किया जा सकता है। भला, ईश्वरसे बढकर और प्रबल भाव किसका हो सकता है?

व्याख्याके अनुसार निष्क्रिय भाव एक उलझी हुई कल्पना है। अतएव इसको दूर करनेका पहिला उपाय है कल्पनाकी उलझनको दूर करके उसे स्पष्ट और सुव्यक्त रूप देना। इसके लिये हमें अपने भावोंके परिशीलनद्वारा उनके यथार्थ स्वरूपका स्पष्ट आकलन कर लेना चाहिये। इससे हमको पता चलेगा कि हमारे तथाकथित अधिकांश भाव यथार्थ भावोंके विकृत रूपही हैं। ये विकृत भाव बढकर मनकी व्याधि बन जाते हैं। उदाहरण-मनुष्य स्वभावतः ही यह चाहता है कि अन्य मनुष्य उसके विचारानुसार रहें। अविवेक तथा अहंकारके कारण इस इच्छाका रूपांतर वैचारिक असहिष्णुता तथा धर्मच्छलमें हो जाता है, यद्यपि इस भावका शुद्ध रूप है, अपनी भलाईमें दूसरोंका हाथ बटाना। इसलिये विवेकी पुरुषमें यही भाव धर्मशीलताका रूप धारण करके दूसरोंको विवेकके मार्गपर लानेका प्रयत्न कराता है और उनके साथ मनुष्यता तथा दयालुताका व्यवहार करना सिखलाता है। इसलिये भावोंका इलाज उनके यथार्थ ज्ञानमें ही है, और हमारे बसभर यही उपाय सबसे बढ चढकर है क्योंकि मनकी शक्ति वैचारिक होनेसे वह (मन) पर्याप्त कल्पनाओंके द्वारा अपर्याप्त कल्पनाओंको दूर कर सकता है। इसलिये अपर्याप्त कल्पनाओंसे जन्य निष्क्रिय भाव उनके यथार्थ ज्ञानके साथ ही विलीन हो जाते हैं। इसलिये जितना अधिक हमारा ज्ञान होगा उतनाही अधिक हम भावोंकी निष्क्रियता दूर करके उन्हें अपने अधीन कर सकेंगे।

भावोंके यथार्थ स्वरूपके परिज्ञानका दूसरा फल यह होगा कि हम उन्हें उनके बाह्य कारणोंसे अलग कर सकेंगे जिनके साथ व्याख्याके अनुसार वे संबद्ध रहते हैं। यही दूसरा उपाय है। ' यदि हम मन शांति भंग करनेवाले किसी भावको उसके बाह्य कारणके विचारसे अलग करके दूसरे (सत्य) विचारोंके साथ जोड दें तो उस बाह्य कारणके प्रति हमारे प्रीति या द्वेषके भाव और इन भावोंसे उत्पन्न होनेवाली मनकी अस्थिरता वे सब नष्ट हो जाएंगे। '×

हमारे भाव जिन बुराइयोंको जन्म देते हैं उनका कारण प्रायः हमारे इस भ्रांत विश्वासमें होता है कि हमें जो कुछ

* नी. शा. भा. ५, प्रस्तावना × वही वि. १

होता है उसके कारण एकैक और स्वतंत्र हैं। हम किसी व्यक्ति से प्रेम या द्वेष यह समझकर करते हैं कि वह हमारे सुख या दुःखका एकाकी और स्वतंत्र कारण है। इस बुराईकी जडको दूर करनेका उपाय है यह समझना कि जो भी कुछ होता है उसका विशिष्ट कोई एक कारण या स्वतंत्र कारण न होकर अनंत कारणोंकी आवश्यक परंपरा है। जिनसे हम प्रीति या द्वेष करते हैं वे हमारे सुख या दुःखके एकाकी या स्वतंत्र कारण नहीं हैं। इसी प्रकार निराशाको दूर करनेका यह उपाय है कि जो भी कुछ होता है उसे आवश्यकता और अपरिहार्य कारणपरंपराका फल समझा जाय। " क्योंकि हम यह देखते हैं कि किसी वस्तुके नाशसे किसी मनुष्यका जो दुःख होता है वह उसके नाशकी अपरिहार्यताके ज्ञानसे बहुत कुछ कम हो जाता है। ... इसी प्रकार कोई भी एक अर्भकको उसके बोल न सकनेके लिये, चल न सकनेके लिये, विचार न कर सकनेके लिये या कई वर्ष अज्ञानावस्थामें बितानेके लिये दयनीय नहीं समझता। परंतु यदि अधिकांश लोग पूर्ण विकसित रूपमें ही जन्मे और अर्भक केवल एकाधही हो तो प्रत्येक उसपर दया करेगा, क्योंकि उस हालतमें अर्भकावस्था प्राकृतिक और आवश्यक न होकर निसर्गकी किसी त्रुटिके कारण होगी। "×

हमारे सम्मुख प्रत्यक्ष उपस्थित कारणोंद्वारा जन्यभाव हमारे मनमें इतना उद्वेग उत्पन्न नहीं करते जितना कि वे भाव जिनके कारण अनुपस्थित और अस्पष्ट होते हैं, यथा भय, निराशा, खेद इ. इनका संबंध उन वस्तुओंसे होता है जिन्हें हम अनुपस्थित समझते हैं। इनके कारण प्रत्यक्ष रूपसे हमारी पकडमें नहीं आ सकते। अतएव इनपर उपाय यह है कि हम अपने मनको वास्तविक और वर्तमान वस्तुओंकी कल्पनाओंसे भर दें ताकि ये अपने आप दूर हो जायें। इसके लिये वस्तुओं के सामान्य गुणधर्मोंका पूरा साज हमारे अधीन है जो सदैव वर्तमान और वास्तविक है और जिसके चिंतनसे हमारे भय तथा व्यग्रताएं दूर हो जाएंगी। " विवेकसे उत्पन्न होनेवाले या उत्पन्न किये जानेवाले भाव, यदि हम समयको ध्यानमें लें तो उन भावोंसे अधिक प्रबल होते हैं जिनका संबंध अनुपस्थित समझी जानेवाली वस्तुओंसे होता है। "+

स्वयं भावोंके स्वरूपके विचारसे भी हमारे ऊपर आक्रमण करनेवाले भावोंका निराकरण किया जा सकता है। प्रायः भावोंसे हमें दुःख तब होता है जब या तो हमें उनके कारणों का परिज्ञान नहीं होता या जब हम उनके मूलमें एकही कारण समझते हैं। बात यह है कि " किसी भी भावके जितने ही अधिक कारण एक समय और एक साथ होंगे, उतनाही अधिक वह भाव सबल होगा।"* इसलिये स्वयं भावके स्वरूपके ज्ञानके साथ साथ कारणबहुत्व तथा उनकी अपरिहार्यताका ज्ञान किसी भावकी तीव्रता और वेदनाको कम कर देगा। यदि हम अपने भावोंको मय उनके कारणोंके पूरी तरहसे समझ लें तो वे भाव विचारके प्रकाशमें अपनी निष्क्रियता खो देंगे और उनके यथार्थ स्वरूपके परिज्ञानसे जो आनंद होगा उसके कारण हम उनसे होनेवाले दुःखको बिसार देंगे। हम उनके अधीन न रहकर वे हमारे अधीन हो जायेंगे।

भावोंके विरुद्ध उपर्युक्त उपाय उनके आक्रमणको रोकनेकी दृष्टिसे अधिक उपयोगी हैं। " जबतक हमारे स्वभावके विपरीत भावोंका हमपर आक्रमण नहीं होता तबतक हममें हमारे शरीरके परिणामोंको बुद्धिके क्रमानुसार संवारने और उनमें संबंध बैठालनेका बल रहता है।"§ इस विधानके लंबे चौडे स्पष्टीकरणमें स्पिनोझाका आशय यह है कि हमें आग लगनेपर कुआँ खोदनेको आरंभ नहीं करना चाहिये। हमें संकटके समयके लिये पहिलेसे ही तैयार रहना चाहिये। हमें अपने भावोंकी ओरसे हरगिज असावधान नहीं रहना चाहिये। ये हमारे ऐसे अंतःशत्रु हैं कि सदा घात लगाए बैठे रहते हैं और जरा अवसर पातेही हमारी ढिलाईके कारण हमपर धावा बोल देते हैं। अतएव जबतक हमारे चित्तकी शांति भंग नहीं होती तभीतक हमें अपने वैचारिक शस्त्रास्त्र सुसज्जित कर लेने चाहिये, हमें यथार्थ आचरणके लिये कुछ व्यवहार्य उपदेशोंको कंठ करके उनका उचित अवसरपर उपयोग करना चाहिये, ताकि हम उनसे पूरे पूरे अभ्यस्त हो जायँ। उदाहरण जैसा कि पहिले कहा जा चुका है द्वेषका बदला प्रेमसे चुकाना चाहिये; द्वेषसे नहीं। हमें इस सिद्धांतका भली भांति मनन करना चाहिये और हमारे साथ किये जानेवाले अन्यायोंका विचार करके उनका बदला हम अंतःकरणकी विशालताद्वारा

× वही वि. ५-६ + वही वि. ७ * वही वि. ८ वही वि. ९ § वही वि. १०

किस प्रकार दे सकते हैं इसका भली भांति मनन कर लेना चाहिये, ताकि अवसर आनेपर हम अपने सिद्धांतको भली भांति बरत सकें... इसी प्रकार नियतिवादके अनुसार हमें यह न भूलना चाहिये कि हमारे सुख दुःख आवश्यक रूपसे होनेवाले हैं।... किसी बातके अच्छे पक्षकी ओरही हमें ध्यान देना चाहिये, बुरे पक्षकी ओर नहीं, क्योंकि बुरे पक्षका विचार चित्तकी रुग्णावस्थाका द्योतक है। कारण, जो सम्मानके दुरुपयोगके विरुद्ध सबसे जोरदार आवाज उठाते है और जगत्की व्यर्थता कहते नहीं थकते वे भीतरही भीतर इन दोनों बातोंके लिये लालायित रहते है।... इसी प्रकार जो अपनी प्रेमिकाके व्यवहारसे निराशा होते हैं वे स्त्रियोंकी चंचलता, धोखेबाजी तथा स्त्रियोंके सर्वसामान्य अवगुणोंकाही दिन-रात जप किया करते हैं; परंतु प्रेमिकाके एक कृपा-कटाक्षके साथही इन सब बातोंको विस्मृतिके अगाध सागरमें डुबा देते हैं। परंतु विवेकशील मनुष्य किसीके दोषोंकी ओर दृष्टि नहीं डालता और व्यर्थकी नुकताचीनी नहीं करता। वह तो सद्गुण और उनके कारणोंका सम्यक् ज्ञान प्राप्त करके इस ज्ञानसे मिलनेवाले आनंदसे अपने चित्तको आप्लवित कर देता है। जो इन सिद्धांतोंके अनुसार चलता है वह थोडेही समयमें अपनी समस्त क्रियाओंको विवेककी राह पर लगा देता है। 1

भावोंके विरुद्ध उपर्युक्त उपचारोंका रहस्य इस बातमें है कि वे हृदमें हमको दासत्वमें रखनेवाले निष्क्रिय भावोंके स्थानपर अधिक सबल सक्रिय भाव उत्पन्न करते हैं जो निष्क्रिय भावोंको अभिभूत करके उनका स्थान ले लेते हैं। भावोंकी सबलता दो अर्थोंमें विवक्षित है। प्रथमार्थमें सबल भाव अन्य भावोंसे अधिक स्थायी होता है और उनकी अपेक्षा अधिक बार आता है 2। सबल भाव अन्य भावोंसे मनको अधिक व्याप्त करता है। इन दोनों अर्थोंमे भावोंकी सबलताका कारण है उन वस्तुओंकी अधिक सख्याता, जिनसे वे सबंद्ध रहते है 2। ये वस्तुएं भी या तो वे हो सकती हैं जिनका हमें स्पष्ट और सुव्यक्त ज्ञान होता है अर्थात् वस्तुओंके सामान्यगुणधर्म या उनसे जो भी कुछ निगमित होता है 3, या अन्यान्य विशिष्ट वस्तुएं 4। परंतु चूंकि जो भी कुछ है सब ईश्वरमें है अतएव स्पिनोझा इस निष्कर्ष पर पहुंचता है कि ईश्वरके विचारसे उमडनेवाला भाव जिसे ईश्वरका प्रेम भी कहा जाता है; हमारे मनको ओतप्रोत भर देनेवाला वह प्रबलतम भाव है जिसके सामने दूसरे सभी भाव बेभाव हो जाते हैं। " मनके लिये यह संभव है कि वह समस्त शारीरिक परिणाम या वस्तुओंके प्रतिरूप ईश्वरकी कल्पनासे संबंद्ध देखे।' 5 ' जो अपने आपको तथा अपने भावोंको स्पष्ट और सुव्यक्त रूपसे समझता है वह इश्वरसे प्रेम करता है और यह प्रेम उतनाही अधिकाधिक होता जाता है जितना अधिकाधिक यह अपने आपको तथा अपने भावोंको समझता है।...क्योंकि स्पष्ट और सुव्यक्त ज्ञानसे सुख और समाधान मिलता है और इस सुख और समाधानके साथ ईश्वरकी कल्पना लगी रहती है 6। तात्पर्य्य यह कि मनकी समस्त आधिव्याधियोंके लिये अंतिम रामबाण उपाय है-

ईश्वरसे प्रेम।

स्पिनोझाकी उपर्युक्त विचार-प्रणली परंपरागत तत्वज्ञान या धर्मशास्त्रकी विचारप्रणालीसे नितांत अविरोधी है। स्पिनोझाका उद्देश इस बातमें किसीका विरोध करना था भी नहीं। उसका उद्देश्य सिर्फ ईश्वरकी रूढ मानव गुणारोपणयुक्त कल्पनाके स्थानमें ईश्वरके केवल और तात्विक रूपको रखना और साथही यह बतलाना था कि ईश्वर इस प्रकारके तात्विक और विशुद्ध रूपमेंभी सदाचारी मनुष्यके जीवनमें शक्तिका एक अखंड और अमित स्रोत हो सकता है; विपत्तिके समयमें उसका सहारा हो सकता है, और उसके मोक्ष (Salvation)का सुमेरु हो ही सकता है। इसी विषयका विचार अगले विधानोंमें है।

ईश्वरसे प्रेम और ईश्वरकी निर्गुणरूपता।

ईश्वरके व्यक्तित्वकी कल्पना स्पिनोझाको निरर्थक जान पडती है। इसके दो अर्थ हो सकते हैं। एक तो यह कि मनुष्यका ईश्वरके प्रति प्रेम इस प्रकारका हो मानो वह भी मनुष्यही है। दूसरा यह कि ईश्वरभी मनुष्यसे मनुष्यके समान व्यवहार करता है। इनमेंसे स्पिनोझा प्रथम अर्थ मान भी लेता है, तथापि दूसरे अर्थका वह अगले विधानोंमें खंडन करता है। परंतु इसके पहिले हम स्पिनोझाकी ईश्वरप्रेमविषयक कल्पना देख लें।

---

1 वही वि. १० स्प.   2 वही वि. ११.   3 वही वि. १२.   4 वही वि. १३.   5 वही वि. १४
6 वही वि. १५ और स्प.

यहूदी धर्ममें और बादमें ईसाई और इस्लाम धर्ममें भी मनुष्य और ईश्वरके संबंध निदर्शक मुख्य शब्द थे भय और प्रेम। परंतु क्रमशः भयको गौण स्थान प्राप्त होता गया और प्रेमनेही मुख्य स्थान ले लिया। इस प्रेमके संबंधमें भी चार बातें मुख्य समझी जाने लगीं जिन्हें हम स्पिनोझामें पाते हैं।+ (१) प्रेम प्रीति-विषयके साथ एकताका वाचक है। (२) प्रीति-विषयकी पूर्णापूर्णताके अनुसार प्रेमके भी प्रकार होते हैं। (३) ईश्वरके प्रति प्रेम ईश्वरके ज्ञानसे उत्पन्न होता है। (४) ईश्वरके प्रति प्रेममें अनन्यता होनी चाहिये।

पहिली बातका उल्लेख स्पिनोझाने अपने 'ईश्वर, मनुष्य और उसका कल्याण' (Short treatise) नामक ग्रंथमें किया है यथा, 'प्रेम किसी वस्तुसे प्राप्त होनेवाला सुख और उसके साथ एकता है।' इसी ग्रंथमें उसने ईश्वरसे प्रेम और ईश्वरके साथ एकताको एक दूसरेके पर्याय मानकर उपयोग किया है। परंतु नीतिशास्त्रमें एकतावाले अंशको प्रेमका तत्व न कहकर उसका गुणधर्म (Property) कहा है। (२) स्पिनोझाके अनुसार भी प्रीतिविषयके अनुरूप प्रेमके प्रकार होते है। प्रीतिविषयोंके भी उसने तीन प्रकार माने हैं। शाश्वत, अनित्य, और स्वरूपत: अनित्य परंतु स्वकारणसंबंधितया नित्य। इनमें सबसे श्रेष्ठ प्रकारका प्रेम है सत्य शाश्वत ईश्वरसे प्रेम। (३) मनुष्य ईश्वरसे इसीलिये प्रेम करता है चूंकि उसे उसका ज्ञान है। परंतु यह ज्ञान जो ईश्वर-प्रेमका मूल है सिर्फ तृतीय प्रकारका ज्ञान ही है जो अंतःप्रज्ञात्मक (Intuitive) और अव्यवहित (Immediate) होता है। द्वितीय प्रकारका ज्ञान परंपरासे कारण है, साक्षात् नहीं, क्योंकि वह व्यवहित है। (४) वि. १६ में स्पिनोझा कहता है कि 'इस ईश्वरके प्रति प्रेमको मनमें मुख्य स्थान मिलना चाहिये।'

यहांतक तो स्पिनोझाका परंपरागत सिद्धांतोंसे विरोध नहीं, मनुष्य ईश्वरसे व्यक्तिकी तरहही प्रेम कर सकता है यह माननेमें उसे कोई आपत्ति नहीं। परंतु उसका मुख्य विरोध इस बातसे है कि ईश्वर भी मनुष्यके साथ मनुष्यके समानही व्यवहार करता है। परंतु प्राचीन परंपराके अनुसार तो ईश्वर-पर भी मनुष्यके संबंधसे 'सुख,' 'आनंद,' 'दुःख,' 'शोक,' 'प्रेम' इत्यादि भावोंका आरोप किया गया है। इसके अनुसार ईश्वरभी मनुष्यसे प्रेम करता है। परंतु इन लोगोंका इसके लिये समर्थन इतनाही है कि इन शब्दोंका अर्थ ईश्वरके संबंधमें सामान्य वाच्यार्थसे बिलकुल भिन्न तरहका है, या वह लाक्षणिक ही है। स्पिनोझाका इनके विरुद्ध मुख्य आक्षेप यह है कि इस प्रकारकी खींचातानीसे लाभही क्या? तात्विक धरातलपर आरूढ होकर इनका निषेधही क्यों न कर दिया जाय, क्योंकि वस्तुस्थिति ऐसी ही है। यहापर यह न भूलना चाहिये कि स्पिनोझा प्राकृत जनोंके विश्वासोंमें दखल देना नहीं चाहता था। परंतु दार्शनिकोंसे उसका विरोध अवश्य था। उसके अनुसार 'ईश्वर सब निष्क्रिय भावों या विकारोंसे मुक्त है, सुखदुःखके भाव भी उसे स्पर्श नहीं करते।'1 इसका कारण यह है कि ईश्वरकी पूर्णतामें न्यूनाधिकता नहीं होती 2 'यथार्थ दृष्टिसे देखें तो ईश्वर न तो किसीसे प्रेमही करता है और न द्वेष।'3 ऐसी अवस्थामें यह कैसे संभव हो सकता है कि ईश्वर मनुष्य-द्वारा उसके प्रति किये गये प्रेम या द्वेषका बदला प्रेम या द्वेषसे दे? ऐसा माननेवालोंके मतमें तीन आपत्तियां आती है जिनसे स्पिनोझा अपने स्वयंका मत मुक्त समझता है – (१) ईश्वर भी यदि अपने व्यवहारमें मनुष्यके आचरणसे प्रभावित हो तो ईश्वरपर वैषम्य नैर्घृण्यका दोष आएगा, तथा समस्त बुराइयां और अन्यायकी जड ईश्वरकोही मानना पडेगा। यदि किसी मनुष्यके साथ अन्याय हुआ तो वह ईश्वरसे द्वेष करने लगेगा। परंतु इस मतका निषेध करनेसे 'ईश्वरसे कोई द्वेष नहीं कर सकता;'4 और 'ईश्वरके प्रति हमारा प्रेम द्वेषमें नहीं बदल सकता।'5 इसी प्रकार सुखदुःखादिके कारणोंके यथार्थ परिज्ञानसे हम ईश्वरको इनके लिये जिम्मेवार नहीं समझ सकते। फिर, ईश्वर और मनुष्यके परस्पर प्रेमके सिद्धान्तानुसार मनुष्यको यह प्रेम करनेमें स्वतंत्र माननेकी आपत्ति आती है जिसका निषेध पहिलेही किया जा चुका है। मनुष्य सर्वथा अपने मूल-कारणपर आश्रित है।

(२) यदि यह प्रेम परस्पर हो तो मनुष्यके ईश्वरके प्रति प्रेमकी विशुद्धता और निष्कामता जाकर इसे सौदागरीका रूप प्राप्त हो जायगा। परंतु ईश्वरका निष्काम और विशुद्ध प्रेमही

+ Phil. of Spinoza by Wolfson, Vol. II pp. 275-276

1 नी. शा भा. ५ नि. १७. 2 वही प्र. 3 वही. उ. सि. 4 वही नि. १८. 5 वही उ. सि.

एकमात्र चरम और सर्वश्रेष्ठ सुख है, सकाम और किसी प्रत्याशासे किया गया प्रेम नहीं। इस प्रेमके पारस्परिक रूपका निषेध करनेसे ' जो ईश्वरसे प्रेम करता है वह इस बातका प्रयत्न न करेगा कि ईश्वरभी इसके बदलेमें उससे प्रेम करे।'1

(३) ईश्वरभी यदि बदलेमें प्रेम करे तो अवश्यही ईश्वरके इस प्रेममें व्यक्तियोंके प्रेमके अनुसार तारतम्य होगा। इससे तो मनुष्योंमें एक दूसरेसे प्रेमके बजाय वैमनस्य बढकर सर्वत्र अशांति फैलेगी और सामाजिक स्थिरता को धक्का पहुंचेगा। परंतु इस सिद्धातका निषेध करनेसे ' ईश्वरके प्रति हमारा प्रेम ईर्षा और जलनके भावसे दूषित नहीं हो सकता; इसके विपरीत जितनाही अधिक हम और लोगोंको ईश्वरके साथ प्रेम-रशनाओं द्वारा बद्ध देखेंगे उतनाही अधिक यह बढता जायगा 2।'

ईश्वरसे ज्ञानमय प्रेम और अमरत्व

इस नये शीर्षकद्वारा सूचित विषयका उपक्रम स्पिनोझा इस प्रकार करता है- " भावोंके विरुद्ध उपाय-उपचार बतलानेके साथही मैं इस वर्तमान जीवनके संबंधमें जो कुछ कहना था सब कह चुका। इसलिये अब उन विषयोंकी ओर बढनेका उपयुक्त समय है जो शरीरसे असंबद्ध मनकी अवस्थासे संबंध रखते है। 3' मध्ययुगीन दार्शनिक भी प्राय: ईश्वरके प्रेमका विचार करके आत्माके अमरत्वका विचार किया करते थे, क्योंकि इनमें साध्यसाधनभावका संबंध समझा जाता था।

मन शरीरसे अपृथक्करणीय है। अतएव उसकी कुछ शक्तियां या व्यापार, यथा कल्पना और स्मृति जो संवेदनपर अवलंबित हैं, शरीरके विनाशके साथही नष्ट हो जाते हैं। परंतु चूंकि स्पिनोझाके मतानुसार मन भौतिक शरीरका धर्ममात्र नहीं है, अतएव शरीरके विनाशके साथ उसकी कुछही शक्तियोंका विनाश होता है। मनका वैचारिक तत्व ईश्वरसे संबंध रखता है, क्योंकि जैसा कि हमने देखा है, वह नित्य और अनंत विचाररूप ईश्वरीय गुणका एक प्रकार है। इस दृष्टिसे मन शरीरकी उत्पत्तिके पूर्व अनंत कालसे है और शरीरके विनाशके बादभी अनंत काल तक रहेगा। इसी दैवी शक्तिके कारण जिसे विवेक कहा जा चुका है, मन अपनी निष्क्रियताओंसे मुक्त होता है और नामरूपात्मक जगत् का मिथ्या कल्पनाओंसे छुटकारा पाता है। इसी विवेकशक्तिके कारण मन अपने अपूर्ण ज्ञानसे ऊपर उठकर तृतीय प्रकारका ज्ञान प्राप्त करता है और वस्तुओंके शाश्वत तत्वका आकलन करता है।

वैसे तो शरीर और मन अपृथक्करणीय हैं; अतएव जबतक एक है तबतक दूसरा भी है। परंतु अस्तित्व दो प्रकारका होता है। ' या तो वह एक विशिष्ट देश और कालसे संबंध रखता है या वह ईश्वरमें समाया हुआ रहता है और ईश्वरीय स्वभावकी आवश्यकताका परिणाम होता है। 4' शरीर जब प्रत्यक्ष रूपसे अस्तित्वमें होता है, तब मनका भी उसी प्रकारका अस्तित्व रहता है और वह कल्पना और स्मृति जो संवेदनामूलक हैं, की शक्तिसे युक्त होता है। परंतु शरीरके शांत होते ही मनकी इन शक्तियोंका भी अंत हो जाता है। ' मन केवल तभीतक कल्पना कर सकता है या विगत वस्तुका स्मरण कर सकता है जबतक शरीर वर्तमान है।' परंतु जब शरीरके अस्तित्वका लय हो जाता है तब भी आत्माका शुद्ध स्वरूपमें अस्तित्व रहता है। ' तथापि ईश्वरमें नित्यत्वके रूपसे तत्तत् मनुष्य-शरीरका तत्व व्यक्त करनेवाली कल्पना आवश्यक रूपसे है। 5' इसीलिये ' मनुष्यकी आत्मा या मन का शरीरके विनाशके साथ पूर्ण विनाश नहीं हो सकता, परंतु उसका वह रूप रहता है जो नित्य है। 6' यह नित्य रूप मन का वैचारिक तत्व है जो शरीरकी मृत्युके अनंतर अपने मूल स्थान विचाररूप गुणमें मिल जाता है। मन या आत्माके इस चिरंतन और अविनाशी स्वरूपके आगे इसका शरीरके साथ नाश होनेवाला परिच्छिन्न और नाशमान रूप बिलकुल नगण्य है। 7

मन या आत्मा नित्य है। वह शरीरकी उत्पत्तिसे पहिले भी है। यह मत प्राचीन यूनानी दार्शनिक प्लेटोके मतसे साम्य सूचित करता है, परंतु प्लेटो और स्पिनोझाके मतमें एक महत्वपूर्ण अंतर है जो स्पिनोझाने स्वयं स्पष्ट किया है। प्लेटो के मतसे हमें इस शरीरके पूर्ववर्ती अस्तित्वकी स्मृति रहती है,

---

1 वही वि १९. 2 वही वि. २०. 3 वि. २० स्प. 4 वही वि. २९ स्प. 5 वही वि. २२ 6 वही वि. २३
7 वही वि. ३८ स्प.

परंतु स्पिनोझा इस बातको नहीं मानता। 'आत्मा या मन नित्य है तथापि यह संभव नहीं कि हमें अपने शरीरसे पूर्व-कालीन अस्तित्वका स्मरण हो, क्योंकि शरीरमें इस प्रकारके अस्तित्वके कोई चिह्न नहीं मिलते और न नित्यताकी व्याख्या समयके रूपमें की जा सकती है या समयसे कुछ संबंध ही रख सकती है। तथापि हमें हमारी नित्यताका अनुभव और ज्ञान होता है। 1 '

अगले विधानोंमें इसी नित्यताके स्वरूपका विशदीकरण है।

ईश्वरका हमें साक्षात् और अव्यवहित ज्ञान अंत:प्रज्ञा (intuition) से होता है। यह तृतीय प्रकारका अतएव सर्व-श्रेष्ठ ज्ञान है। परंतु इसके पहिले ज्ञानके प्रारंभिक रूप भी है जिनके द्वारा हम ईश्वरकी महिमाको जान सकते हैं। इस ज्ञानका प्रारंभ हम विज्ञानोंसे या विशिष्ट वस्तुओंके ज्ञानसे भी कर सकते हैं। 'जितनाही अधिक हम विशिष्ट वस्तुओंको समझते हैं, उतना ही अधिक हम ईश्वरको समझते हैं। 2 ' यह तो हमारे ज्ञानका प्रारंभ है, परंतु ' मनका बडासे बडा प्रयत्न और श्रेष्ठसे श्रेष्ठ सद्गुण वस्तुओंको तृतीय प्रकारके ज्ञानसे समझना ही है। तृतीय प्रकारका ज्ञान ईश्वरके कुछ गुणोंकी पर्याप्त कल्पनाओंके द्वारा वस्तुओंके तत्वके पर्याप्त ज्ञानकी ओर बढता है और वस्तुओंको जितनाही अधिक हम इस प्रकारसे समझते हैं उतनाही अधिक अच्छी तरहसे हम ईश्वरको समझते हैं। 3'

मनुष्यके मनकी सर्वश्रेष्ठ प्रवृत्ति या शक्ति स्वभावतः ही इस प्रकार (तृतीय) का ज्ञान प्राप्त करनेकी ओर होती है और मनुष्यकी ज्ञानशक्तिके विकासके साथही एक बार उसे यदि यह चसका लग जाय तो वह बढताही जायगा। 'जितना ही अधिक मन वस्तुओंको तृतीय प्रकारके ज्ञानसे समझनेके योग्य होता है उतनाही अधिक वह वस्तुओंको इस प्रकारके ज्ञान द्वारा समझनेकी इच्छा करता है।' ज्ञानकी इस वृद्धिके साथ मनकी अधिकाधिक ज्ञानप्राप्तिके लिये आतुरता भी बढती जाती है, परंतु इस ज्ञानकी पूर्णताके साथही, अपना अभीष्ट मिलते ही मनको परम शांति और समाधान प्राप्त हो जाता है। 'इस तृतीय प्रकारके ज्ञानसे श्रेष्ठसे श्रेष्ठ मानसिक परितोष प्राप्त होता है। 4 ' यहींसे मनुष्य अमर जीवनका आस्वादन करने लगता है।

खंडित और उलझा हुआ प्रथम प्रकारका ज्ञान ईश्वरके या तृतीय प्रकारके ज्ञानकी उत्पत्तिमें सहायक नहीं हो सकता। तृतीय प्रकारके ज्ञान द्वारा वस्तुओंको जाननेकी कामना अथवा प्रयत्न द्वितीय प्रकारके ज्ञानसे ही उत्पन्न हो सकते हैं, प्रथम प्रकारके ज्ञानसे नहीं। 5 ' मन द्वितीय प्रकारके ज्ञान द्वारा वस्तुओंको उनके शाश्वत रूपमें देखता है। यह भी बतलाया जा चुका है कि वह बाह्य शरीरोंको केवल अपने शरीरके ज्ञान-द्वारा ही जानता है। अतएव यदि मन बाह्य वस्तुओंको शाश्वत रूपसे देखता है तो उसे यह ज्ञान अपने शरीरके शाश्वत रूपके द्वारा ही होना चाहिये, क्योंकि 'मन जो शाश्वतरूपमें देखता है वह शरीरके तत्वको शाश्वत रूपसे देखनेकी वजहसे देखता है, न कि उसके वर्तमान वास्तविक अस्तित्वके ज्ञानसे। 6 ' इसका कारण यह है कि वर्तमान अस्तित्वकाल परिच्छिन्न है और शाश्वत-रूपता कालसे संबंध नहीं रखती। 'हमारा मन चूंकि वह शरीरको और अपने स्वयंको शाश्वत रूपसे देखता है, अतएव उसे आवश्यक रूपसे ईश्वरका ज्ञान है; और इस बातका भी ज्ञान है कि वह स्वयं ईश्वरमें है और ईश्वरके द्वाराही विचार-विषय होता है। 7 '

' तृतीय प्रकारका ज्ञान अपने आकाररूप कारण (Formal cause) नित्यस्वरूप पर अवलंबित है। मनुष्यकी इस प्रकारके ज्ञानकी जितनीही अधिक शक्ति बढेगी उतनाही अधिक उसे अपने आपका तथा ईश्वरका ज्ञान होगा। दूसरे शब्दोंमें वह अधिक पूर्ण और कृतकृत्य होगा जैसा कि हम अंतमें देखेंगे। 8 '

' तृतीय प्रकारके ज्ञानसे हम जो भी कुछ समझते है उसमें हमें आनंद होता है और इस आनंदके साथही इसके कारण-रूप ईश्वरकी कल्पना लगी हुई रहती है। 9 ' इसलिये इसे ईश्वरका प्रेम भी कहा जा सकता है, क्योंकि प्रेमकी परिभाषा भी यही है ' प्रेम वह सुख है जिसके साथ बाह्य कारणकी कल्पना लगी रहती है।' परंतु इस प्रेम का स्वरूप लौकिक

1 वि. २३ स्प. वही 2 वि. २४ वही 3 वही वि. २५ और प्र. 4 वही वि. २७ 5 वही वि. २८ 6 वही वि. २९ 7 वही वि. ३० 8 वही वि. ३१ और स्प. 9 वही. वि. ३२

नहीं; वह तो आध्यात्मिक या ज्ञानमय है (Intellectual)। 'तृतीय प्रकारके ज्ञानसे उत्पन्न होनेवाला ईश्वरका यह ज्ञानमय प्रेम नित्य है।1' यह अनादि और अनंत है क्योंकि यह शरीरके साथ उत्पन्न या नाश होनेवाला नहीं है। साथही यह अखड एक-रस है, इसमें अपूर्णतासे पूर्णता की ओर संक्रमण या अन्य परिवर्तन नहीं होते। तृतीय प्रकारका ज्ञान और उससे होनेवाले ज्ञानमय प्रेम और आनंद जो इसके साथही संलग्न है, ये सब अपरिवर्तनीय है, क्योंकि 'ये सब पूर्णताएं मनमें नित्य रूपसे है यद्यपि हम यह कल्पना कर लेते है कि वे मनको अभी प्राप्त होती है। 2' तात्पर्य यह कि, वेदात की तरह यहा भी यह प्राप्ति गौण अर्थमें समझनी चाहिये। यह नित्य प्राप्तकी ही प्राप्ति है, नितात अप्राप्तकी प्राप्ति नहीं। 3

स्पिनोझाके अनुसार सामान्य रूपसे सुखकी व्याख्या अधिक पूर्णताकी ओर संक्रमण है। परंतु ईश्वरके ज्ञानमय प्रेमके साथ संलग्न सुख नित्य तथा अपरिवर्तनीय है, कारण यह सुख अपनी तरहका अनोखा है। स्पिनोझा इसे परम सुख (Blessedness) कहता है। 'सुख यदि अधिक पूर्णताकी ओर सक्रमण है, तो यह परम सुख मनकी स्वयंपूर्णता ही है।' 4

आत्माका वास्तविक रूप अमर है, अनाद्यनंत है; परंतु जिस अल्पावधिमें उसका शरीरसे संबंध रहता है सिर्फ तभी तक वह निष्क्रिय भावोंके अधीन रहती है। 5 परंतु इन भावोंका स्वरूप आत्माके स्वरूपसे सर्वथा विजातीय है। वे शरीरके साथही उत्पन्न होते हैं और शरीरके साथही नष्ट हो जाते है, सिर्फ ईश्वरका ज्ञानमय प्रेमही अमर है। आत्माके अमरत्व का अनुभव हम इस शरीरमें रहते हुए भी कर सकते हैं, यथा, जब हम अपने भावोंसे ऊपर उठकर तृतीय प्रकारकी ज्ञानदृष्टिको प्राप्त करके परम शांतिको प्राप्त होते हैं। आत्माके इस अमरत्वका आभास या अस्पष्ट कल्पना तो प्रायः सबको होती है, परंतु इसकी यथार्थ कल्पना नहीं होती। 'सामान्य लोगोंके मतोंकी ओर यदि हम दृष्टि डालें तो हम यह पाते हैं कि वे आत्माकी शाश्वत स्थितिसे अनभिज्ञ तो नहीं हैं, परंतु नित्यत्व और स्थायित्वमें भेद न कर सकनेके कारण वे अमरत्वको इसी परिच्छिन्न जीवनका सातत्य समझते हैं और वे इस नित्य (आनंदमय) स्थितिपर भी इस शरीरके अस्तित्वकालीन स्मृति-कल्पनादिसे जन्य अस्थिर भावोंका आरोप करते हैं। 6' यह उनके अयथार्थ या अपर्याप्त ज्ञानका फल है।

जॉन केअर्डने स्पिनोझाकी मुक्तिकी कल्पनाका आलोचनात्मक विवेचन करते हुए लिखा है 7 कि मनुष्यके कल्पनाजालको नष्ट करनेके लिये शरीरकी मृत्यु आवश्यक है। यह बात तो स्पिनोझाके सिद्धांतके अनुसार विवेकसे ही संपादित हो सकती है। मनका विजय शरीरके विनाशमें न होकर शरीर-संबंधी मिथ्या दृष्टिकोणके विनाशमें और समस्त वस्तुओंको उनके वास्तविक रूपमें देखनेमें ही है। अतएव स्पिनोझाको विवक्षित अमरत्व या मोक्ष यहीं और इसी जीवनमें प्राप्त किया जानेयोग्य है, या वेदान्तकी भाषामें मोक्ष अथवा परम पुरुषार्थ दृष्ट फल है– मृत्युके अनंतर होनेवाला अदृष्ट फल नहीं। साक्षात्कारात्मक ज्ञान और ज्ञानमय प्रेमकी सर्वोच्च भूमिकापर आरूढ होते ही हमारी कल्पनाका जगत विलीन हो जाता है और हम अनंतता और नित्यताके क्षेत्रमें विचरण करने लगते हैं। परमात्म-वस्तुका साक्षात्कारात्मक ज्ञानही मोक्ष है और मुक्तात्मा जिस नित्यताका अनुभव करती है उसमें शरीरकी स्थिति या विनाश न तो साधक है और न बाधक। इस विद्वान् आलोचकका आक्षेप इस बातपर है कि यदि मोक्ष पूर्णरूपसे दृष्ट फल है तब फिर विदेहावस्थामें और क्या विशेषता हो सकती है? यदि कुछ नहीं, तो स्पिनोझाका विदेह-स्थिति की ओर संकेत निरर्थक है। हम इस विद्वान् आलोचकके स्पिनोझाकी मुक्तिविषयक कल्पनाके विवेचनसे सहमत हैं, तथापि इस आक्षेपसे सहमत नहीं। हमारे विचारसे स्पिनोझा का विदेह-मुक्तिकी ओर सकेत समर्थनीय है। यह समर्थन हम वेदातके जीवन्मुक्ति और विदेहमुक्तिके भेद द्वारा करते हैं जिसे स्वयं स्पिनोझाने अपने कुछ विधानोंमें स्पष्ट किया है। यद्यपि जीवन्मुक्त भी मुक्तही है, तथापि इस अवस्थामें जबतक प्रारब्ध कर्मके कारण शरीरसे संबंध रहता है, तबतक 'अविद्यालेश' भी रहता है, या स्पिनोझाकी भाषामें संवेदनमूलक

---

1 वही वि ३३ 2 वही स्प. 3 वही. वि. ३१ स्प. और वि ३३ स्प. 4 वही वि. ३३ स्प. 5 वही वि. ३४ 6 वि ३४ स्प. वही. 7 Spinoza by John Caird, p. 291

कल्पना और स्मृति इत्यादिका पूर्ण रूपसे नाश नहीं हो सकता। परंतु विदेहमुक्तिकी अवस्थामें यह सब कुछ संभव नहीं। वह तो मुक्तिकी पूर्ण विशुद्ध अवस्था है। इसलिये स्पिनोझाका विदेह अवस्थाकी ओर संकेत इतना निरर्थक नहीं जितना कि उपर्युक्त विद्वान् आलोचक समझते हैं। परंतु इस सूक्ष्म संकेत या मर्मका यथार्थ स्वरूप अध्यात्मके अंतरगमें प्रविष्ट अनुभवी लोगोंके अनुभव द्वाराही समझा जा सकता है। इस दृष्टिसे हम भारतीय कुछ अधिक भाग्यशाली हैं।

अब स्पिनोझा यह बतलाना चाहता है कि, यह ईश्वरसे ज्ञानमय प्रेम ईश्वरके स्वयंके प्रेमसे भिन्न नहीं है। 'ईश्वरका अपने स्वयंके प्रति अनंत ज्ञानमय प्रेम है। 1' इस विधानके प्रमाणमें स्पिनोझा कहता है कि ईश्वर नितांत निरपेक्ष अनंत है और उसका परिपूर्ण रूप आनंदमय है, और इस आनंद-मय रूपमें उसे अपनी स्वयंभू कारणताका भी ज्ञान है। यही ज्ञानमय या चिन्मय प्रेम भी तो ज्ञान है। अब चूंकि मन ईश्वरके विचारका एक अंश ही है, अतएव इसका ईश्वरके प्रति प्रेम होगा और यह प्रेम ईश्वरके स्वयंके प्रेमका एक अंश होगा। 'मनका ईश्वरके प्रति ज्ञानमय प्रेम वही है जो ईश्वरका अपने लिये है, परंतु अपने अनंत रूपमें न होकर जहांतक वह मन के तत्वके नित्य रूपमें अपने आपको अभिव्यक्त करता है; अर्थात् ईश्वरके प्रति मनका ज्ञानमय प्रेम ईश्वरके अनंत आत्मप्रेमका एक अंश ही है। 2' इससे यह निष्कर्ष निकलता है कि ईश्वर अपने आत्मप्रेममें मनुष्यपर भी प्रेम करता है और इसके फलस्वरूप ईश्वरका मनुष्यके प्रति प्रेम और मन का ईश्वरके लिये ज्ञानमय प्रेम एकही बात है। 3' 'जो कुछ कहा गया है उससे हम यह यह भलीभाति समझ सकते हैं कि हमारा मोक्ष, हमारी कृतकृत्यता या धन्यता अथवा स्वतंत्रता किसमें है; अर्थात् ईश्वरके प्रति अनवरत और नित्य प्रेममें। इसी प्रेम या धन्यताको बायबलमें परमानंद (Glory) कहा गया है और यह उचित ही है क्योंकि इस प्रेमका संबंध चाहे ईश्वरसे हो या मनसे, इसे यथार्थताके साथ आत्मपरितोष (Acquiescence of spirit) कहा जा सकता है, जो परमानंद (Glory) से भिन्न नहीं है।' 4

प्रो. वॉल्फसनने बायबलकी यहूदी व्याख्याओंके अनुसार यह बतलाया है 5 कि 'Glory' शब्द प्रेम, धन्यता, शाश्वत सुख, अमरत्व तथा परमानंदका वाचक है। और भी, इसके द्वारा ज्ञानी आत्माकी ईश्वरके साथ एकता सूचित की गई है क्योंकि इस शब्दका उपयोग ज्ञानी आत्मा और ईश्वर दोनोंके संबंधमें किया गया है। स्पिनोझाको ये सब अर्थ विवक्षित हैं जैसा कि उसकी बायबलके साथ उपर्युक्त सम्मतिसे स्पष्ट है। सारांश यह कि स्पिनोझाकी अमरत्वकी कल्पना वही है जो मध्ययुगीन दार्शनिकोंमें सर्वसाधारण रूपसे प्रचलित थी। यह है ईश्वरके साथ एकता जिसे नीतिशास्त्रमें वह 'ईशप्रेम' कहता है। परंतु अगले विधानमें स्पिनोझा इनसे अपना एक बातमें विरोध प्रदर्शित करता है। इन दार्शनिकोंके मतसे यह एकता ईश्वरप्रदत्त पुरस्कार है तथा इसके विरुद्ध जानेसे दंड भी मिल सकता है यहांतक कि आत्माका पूर्ण विनाश या अस्तित्वा-भाव भी हो सकता है। इस मतको मानो चुनौती देकर स्पिनोझा कहता है- 'यह ज्ञानमय प्रेम मनके उस स्वरूपका आवश्यक परिणाम है जिसे हम ईश्वरके स्वरूपद्वारा नित्य समझते हैं।' 5 अतएव, 'निसर्गमें ऐसा कुछ नहीं जो इस ज्ञानमय प्रेमके विरुद्ध हो या इसका उच्छेद कर सके।' 6

अगले विधानमें स्पिनोझा कहता है, 'मन जितनीही अधिक बातें द्वितीय और तृतीय प्रकारके ज्ञानद्वारा समझता है बुरे भावोंका उसपर उतनाही कम प्रभाव होता है और उसके लिये मृत्युका भय उतनाही कम हो जाता है।' 7

ज्ञान और कर्म।

अबतक स्पिनोझाने ज्ञानकोही अमरत्वका साधन बताकर उसका विचार किया है। परंतु अब वह मोक्षमार्गमें कर्मका उचित स्थान निर्धारित करता है। हमारे यहांकी तरह पाश्चात्य दर्शनके प्राचीन और मध्ययुगीन खंडमें ज्ञान या कर्मका प्राधान्य विवादग्रस्त विषय रह चुका है 8 कर्मसे मतलब वहां भी धर्म-शास्त्रके अनुसार आचरण करनेका है। एरिस्टॉटल और प्रसिद्ध

1 नी. शा. भा. ५ वि ३५ और प्र. 2 वही वि. ३६ 3 वही उ. सि. 4 वही स्प.
5 Phil. of Spinoza, Vol. II by Wolfson pp. 311-317 6 नी. शा. भा. ५ वि ३७ स्प और वि.
7 वही वि. ३८ 8 Phil. of Spinoza, vol II by Wolfson. Pp, 320-327

यहूदी दार्शनिक ममोनाइडीज (Maimonides) ने तो ज्ञानहीको प्रधान बतलाया है, परंतु क्रेस्कास (Crescas) प्रभृति अन्य विचारकोंने कर्मको प्रधान कहा है। लेकिन ज्ञानका प्राधान्य माननेवाले इतना अवश्य स्वीकार करते थे कि नैतिक आचार या सदाचारसंपन्न जीवन मोक्षमार्गका प्रथम लेकिन आवश्यक सोपान है, यद्यपि मोक्षके लिये साक्षात् कारण ज्ञानही है। यह मत हमारे यहांके भगवान् श्री शंकराचार्यके 'ज्ञानादेव तु कैवल्यं' के सिद्धांतसे बिलकुल मिलता है। सूत्रकार भगवान बादरायणके सुप्रसिद्ध ब्रह्मसूत्रका प्रारंभही 'अथातो ब्रह्मजिज्ञासा' से होता है जिसमें 'अथ' का अर्थ 'यथोक्त साधन-संपत्तिके अनंतर' है। 'तस्मादथ शब्देन यथोक्तसाधनसंपत्त्यानंतर्यमुपदिश्यते। 1' स्पिनोझाभी कर्म-पूर्वक ज्ञानसेही मोक्ष मानता है, परंतु वह इस वादके धार्मिक आवरणको हटाकर अपनी विशिष्ट विचारप्रणालीके अनुसार इस प्रश्नका विचार करता है। उसके अनुसार प्रश्न यह है कि शरीरकी पूर्णता मनकी पूर्णता या अमरत्वमें सहायक है या नहीं? इसका उत्तर अस्तिपक्षमें ही है। 'जिसका शरीर अनेक बातें करनेकी क्षमता रखता है, उसके मनका अधिकांश भाग नित्य होता है।' 2 इतनाही नहीं, शरीरकी यह योग्यता हमारे जीवनकालमेंही हमारे उस शांति-सुखमें सहायक होती है जिसके कारण हम मृत्युके भयसे मुक्त होते हैं और कल्पना तथा स्मृतिजन्य दुष्ट भावोंके प्रभावसे बचे हुए रहते हैं 2 मनकी यह संभाव्य-क्षमता प्रत्यक्ष क्रियाओंके द्वारा पूर्णताको प्राप्त होती है। 'किसी वस्तुमें जितनीही अधिक पूर्णता होगी उतनीही अधिक वह वस्तु सक्रिय होगी और उतनीही कम निष्क्रिय होगी। ऐसेही, कोई वस्तु जितनीही अधिक सक्रिय होगी उतनीही अधिक वह पूर्ण होगी।' 3 इससे यह निष्कर्ष निकलता है कि हमारे मनका वही अंश परिपूर्ण कहा जा सकता है जिसके द्वारा हम सक्रिय हैं और यह परिपूर्ण अंश मनकी ज्ञानशक्ति है जो इसके निष्क्रिय और नाशमान भागसे भिन्न है।

अतएव हमारे मुख्य प्रश्न ज्ञान और कर्मके विवादमें हम इस निष्कर्षपर पहुंचते हैं कि यद्यपि कर्म बुद्धिकी पूर्णताका साधन है तथापि चरम सुख या मोक्ष स्वयं बुद्धिकी सक्रियता या ज्ञानमें ही है। मन या आत्मा अमर है, क्योंकि वह अनंत ईश्वरीय बुद्धिका एक अंश है। इस अमरत्वका अनुभव वह जीवन्मुक्त-दशामें कर सकता है। विदेह-मुक्तिकी अवस्थामें तो वह शरीरसे असंस्पृष्ट अपने शुद्ध स्वरूपमें रहता ही है।

विवेकपूर्ण धर्म (The Religion of Reason)

मध्ययुगीन दार्शनिक प्राय. ईश्वरके प्रेम तथा अमरत्वके पश्चात् इस्लाम या ईश्वरीय प्रेरणासे प्राप्त नियमों (Revealed laws) का वर्णन किया करते थे। इसी क्रमका अनुसरण करके स्पिनोझाने प्रथम दोका विचार किया। अब चूंकि वह इस्लामको स्वीकार नहीं करता, अतएव उसके स्थानमें दैवी नियमोंका अपनी दृष्टिसे विचार करता है। इसके अनुसार वि. ४१ में वह कहता है, 'यदि हमें अपने मनकी नित्यताका ज्ञान भी हो, तथापि हमें धर्म और धर्मनिष्ठा (Piety and religion) को, तथा उन सब बातोंको जिन्हें हम चतुर्थ भागमें आत्मबल और उदारतासे संबंध रखनेवाली कह चुके हैं, पहिली श्रेणीका महत्व देना चाहिये।' परंतु "सामान्य लोगोंकी धारणा और ही तरहकी होती है। अधिकतर लोग यह विश्वास रखते है कि उनकी स्वतंत्रता उनकी दुर्वासनाओंकी पूर्तिमेंही है, अतएव जहांतक दैवी नियमोंकी आज्ञानुसार चलनेके लिये बाध्य हैं वहांतक वे अपने हकोंका त्याग करते है। इस लिये धर्म, धर्मनिष्ठा, तथा मनकी दृढता-से संबंध रखनेवाली बातें उनके लिये भाररूप बन जाती हैं और वे यह आशा करते हैं कि वे इस भारको मृत्युके अनंतर उतार फेकेंगे और अपनी दासता अर्थात् धर्म और धर्मनिष्ठा के बदलेमें पुरस्कार प्राप्त करेंगे। वे दैवी आज्ञाओंका पालन,– जहांतक उनके निर्बल और अस्थिर मनोंके लिये यह कर सकना संभव है– केवल इसी आशासे करते हों यह बात नहीं; परंतु इसके साथही या मुख्य रूपसे तो वे मृत्युके अनंतर भीषण यातनाओंके रूपमें मिलनेवाले दंडके भयसे ही ऐसा करते हैं।' 4

इसके ठीक विपरीत होता है विवेकी पुरुषोंका दैवी नियमोंके विषयका दृष्टिकोण। विवेकी पुरुषोंके लिये दैवी नियम भार-रूप न होकर आनंददायक होते हैं। वे उन्हें अपने स्वभावके विपरीत नहीं जान पड़ते, परंतु विवेकपूर्णही दीखते हैं। पुनः वे उनका पालन किसी भय या प्रलोभनके कारण नहीं करते।

1 ब्रह्मसूत्र शांकर भाष्य। 2 नी शा. भा. ५ वि ३९ और स्प. 3 वही. वि. ४० 4 वही वि. ४१ स्प.

ईश्वर के प्रति निष्काम प्रेमही उनकी मुख्य प्रेरणा होती है। इसलिये अगले विधानमें स्पिनोझा कहता है कि ' परमानंद या धन्यता (Blessedness) सद्गुणका पुरस्कार नहीं; वह तो स्वयं सद्गुणही है। (और) न हम इस आनंदका उपभोग इसलिये करते हैं कि हमने अपनी दुर्वासनाओंको अपने अधीन कर लिया है, परंतु इसके विपरीत चूंकि हमें यह आनंद प्राप्त है इसीलिये हम अपनी दुर्वासनाओंका निरोध कर सकते सकते । × ' ' परमानंद ईश्वरके प्रति प्रेममेंही है और यह प्रेम तृतीय प्रकारके ज्ञानसे उद्भूत होता है। इसलिये यह मनकी सक्रियतासे संबंध रखता है, अतएव यह स्वयं सद्गुणही है। ... पुनः मन ईश्वरप्रेम या परमानंदका जितनाही अधिक आस्वादन करता है उतनाही अधिक उसका ज्ञान होता है अर्थात् भावोंपर उसका उतनाही अधिक प्रभुत्व होता । + ' सद्गुणका आचरण हमारी दुर्वासनाओंको वशमे करनेकी स्वतंत्रताके कारण नहीं होता, क्योंकि इच्छास्वातंत्र्य नाम की कोई वस्तु नहीं, अतएव हमारी दुर्वासनानाएं (Lusts) प्रबलतर भावोंके द्वाराही विजित हो सकती है। सदाचारसंपन्न जीवनके आनंदका अनुभव करतेही हमारी वासनाएं तथा अन्यान्य भाव वशमें हो जाएंगे क्योंकि सदाचार-संपन्न जीवनका आनंदही सर्वश्रेष्ठ भाव है।

अब उपसंहारमें स्पिनोझा कहता है– ' मनुष्यका भावोंपर प्रभुत्व और मनुष्यकी स्वतंत्रताके विषयमें मैं जो कुछ कहना या सब कह चुका। इससे यह स्पष्ट है ' कि ज्ञानवान् मनुष्य कितना बल रखता है और अज्ञानी मनुष्यसे जो केवल अपनी असदभिलाषाओं (Lusts) द्वारा हाका जाता है, कितना आगे बढा हुआ है। क्योंकि अज्ञानी मनुष्य किसी भी कालमें आत्मपरितोषको प्राप्त न करते हुएही बाह्य कारणोंके द्वारा नाना प्रकारसे केवल आकुलीकृत ही नहीं किया जाता, परंतु साथही इस प्रकारका जीवन व्यतीत करता है मानो उसे अपने आपका, ईश्वरका या वस्तुओंका भान ही न हो और ज्योंही उसकी निष्क्रियताओंका अंत होता है, त्योंही उसके स्वयंका भी अंत हो जाता है।

' इसके विपरीत, ज्ञानवान् मनुष्य या स्थितप्रज्ञका चित्र किसी भी कालमें क्षुब्ध नहीं होता। परंतु चूंकि उसे अपने आपका, ईश्वरका और वस्तुओंका ज्ञान होता है, अतएव वह किसी एक नित्य आवश्यकताके द्वारा कभी भी अस्तित्वसे शून्य नहीं होता वरन् सदैव सच्ची आत्मतुष्टिसे युक्त रहता है।

' यदि इस परिणामकी ओर ले जानेवाला मैंने बतलाया हुआ मार्ग अत्यंत दुष्कर1 मालूम होता है तथापि वह प्राप्तणीय है। कठिन तो यह अवश्य होना ही चाहिये क्योंकि कोई विरला ही इसको प्राप्त करता है।2 यदि मोक्ष हमारे इतना समीप होता और यदि वह अनायास ही लभ्य होता तो यह कैसे सभव था कि प्राय: सभी मनुष्य इसकी उपेक्षा करें? परंतु समस्त लोकोत्तर बातें जितनी कठिन, उतनी ही दुर्लभ होती है 3 '

'If the way in which I have pointed out as leadnig to this result seems exceedingly hard, it may nevertheless be discovered. Needs, must it be hard, since it is so seldom found How would it be possible, if salvation were ready to our hand, and could without great labour be found, that should be by almost all men neglected? But all things excellent are as difficult as they are rare.''

× वही वि. ४२ + वही प्र.

1 तु ' क्षुरस्य धारा निशितं दुरत्यया दुर्गं पथस्तत्कवयो वदन्ति। '

2 तु. मनुष्याणां सहस्रेषु कश्चिद्यतति सिद्धये। यततामपि सिद्धानां कश्चिन्मां वेत्ति तत्त्वतः॥ (श्रीमद्भगवद्गीता अ. ७ श्लो.३)

3 नी. शा. भा. ५ वि. ४२ स्प.

[प्रकरण २०]

उपसंहार

अब हम यथासंभव विस्तारपूर्वक स्पिनोझाके दर्शनकी विशेषताएं देख चुके। सत्रहवीं शताब्दिमें मध्ययुगीन अधिकार के विरुद्ध विद्रोहका जो लहर उठी उसका सच्चा प्रतिनिधित्व स्पिनोझाने किया। शब्द-प्रमाण, आप्तवाक्य या धर्मशास्त्रोंकी मर्यादाओंसे ऊपर उठकर स्पिनोझाने एकमात्र अपनी बुद्धि तथा आध्यात्मिक अनुभूतिके आधारपर सुसंबद्ध शास्त्र-रचना करके दिखाई। स्पिनोझाकी दार्शनिक रचनाके आगे डेकार्टकी दार्शनिक रचना फीकी पड जाती है।

" As a philosophy Spinozism is, in my humble opinion, incomparably superior to Cartesianism. "×

डेकार्टने सर्वसंशयवाद (universal doubt)का आश्रय तो लिया, परंतु जिस आसानीसे उसके संशय दूर हो गये वह गंभीरता उत्पन्न करनेके स्थानपर हास्यास्पद ही मालूम होती है। डेकार्टकी देन जितनी दर्शनके क्षेत्रमे है उससे कहीं अधिक विज्ञानके क्षेत्रमे है। डेकार्टके मतोंमें और तत्कालीन रूढ ईसाई धार्मिक मतोंमें विशेष अंतर नहीं। डेकार्टकी अधिकांश धारणाएं और मान्यताएं मध्ययुगीन है। इसलिये डेकार्टको स्पिनोझा के सदृश स्पष्ट सर्वेश्वरवादका स्वीकार करनेमें हिचकिचाहट मालूम हुई। परंतु स्पिनोझाने जैसे अपने जीवनमें वैसे ही बौद्धिक और आध्यात्मिक क्षेत्रमें अनुपम नैतिक साहसका परिचय दिया। स्पिनोझाके दर्शनमें पाश्चात्य दर्शनेतिहासमें एक सुदीर्घ कालसे चली आनेवाली अद्वैत की प्रवृत्ति अपनी चरम सीमापर पहुंच गई। उसने विचार और विस्तार दोनोंको ईश्वरीय गुण मानकर जड-चेतनके बीचकी अनुल्लंघनीय खाईको पारकर पूर्ण सर्वेश्वरवादकी प्रस्थापना की। उसने विश्वकी इस एकसूत्रतामें इच्छा, योजना तथा स्वतंत्रताके लिये कोई स्थान न रहकर खंड पडनेसे बचाया, जैसा कि अबतक होता आ रहा था।

इस प्रकार उसने विश्वकी व्यापक नियमबद्धता प्रस्थापित की। उसके मानवीय शरीर और मनकी एकताके सिद्धांतने इसी व्यापक सुसंबद्धताका निर्वाह करनेमे सहायता दी। इस प्रकार उसने धर्म और दर्शनके क्षेत्रमें वैज्ञानिक दृष्टिकोणका सफलतापूर्वक उपयोग करके दिखाया, क्योंकि विज्ञानका एक उद्देश्य विश्वकी यह व्यापक नियमबद्धता दिखलाना भी है। विश्वकी यह एकता– मूलतत्वसे लेकर घांसके तिनकेतक स्पिनोझाके लिये लाक्षणिक नहीं, वह तो अक्षरशः सत्य है।

' To appreciate Spinoza's conception of cosmic unity, one need only endeavour to understand thoroughly any single object or event

'All things by immortal power
To each other linked are,
That thou canst not stir a flower
Without troubling of a star. +"

स्पिनोझाके दार्शनिक विचार धार्मिक आग्रहोंसे मुक्त थे। समस्त आग्रह एक विशेष देश और कालके लियेही सत्य होते हैं या सत्य समझे जाते हैं। उनमें देशिक या कालिक व्यापकता का अभाव होता है। परंतु स्पिनोझाके दार्शनिक विचारोंका मुख्य आधार था उसकी आध्यात्मिक अनुभूति और इस अनुभूतिका अनुसरण करनेवाली उसकी स्वतंत्र प्रतिभा या विचार-शक्ति। अतएव उसमें हम समस्त संकीर्णताओं और एकांगिताओंका अभाव पाते है। केवल इतनी ही नहीं, उसमें हम हृदयकी वह विशालता और उदारता पाते हैं जो उसके दार्शनिक विचारोंको देश और कालकी मर्यादाओंसे अस्पृष्ट रखनेके साथही व्यापक और अमर बनाती है। प्रो वॉल्फ (Wolf)ने इसी आशयमे स्पिनोझाको ' सब मनुष्योंका और सब कालका तत्वज्ञ ' कहा है--

× Article on " Spinoza's conception of the Attributes of substance " by A. Wolf in Proceedings of the Aristotelian Society, vol. XXVII, 1926-1927 P. 185

+ Article Spinoza by A Wolf in Journal of Philosophical Studies, vol. II, No. 5. Jan. 1927 P.13

मुद्रक आणि प्रकाशक- व० श्री० सातवळेकर, भारत-मुद्रणालय, औन्ध.

श्रावण सं. २००२
सितंबर १९४५

विषयसूची।

१ कल्याणका मार्ग १
२ द्वितीय युद्ध समाप्त हुआ २
३ मेधातिथि ऋषिका दर्शन (संपादक) ३-३२
४ ईशोपनिषद् (समालोचना) (संपादक) १-८
५ स्पिनोझा और उसका दर्शन पं. श्री. मा. चिंगळे, M. A. १११-११६ १-८

संपादक
पं. श्रीपाद दामोदर सातवळेकर

वार्षिक मूल्य
म. ऑ. से ५) रु.; वी. पी. से ५।≈) रु.
विदेशके लिये १५ शिलिंग।
इस अंकका मू. ॥) रु.

क्रमांक ३०९

दैवत-संहिता ।

प्रथम भाग तैयार है। द्वितीय भाग छप रहा है।

आज वेद की जो संहिताएँ उपलब्ध हैं, उन में प्रत्येक देवता के मन्त्र इधरउधर बिखरे हुए पाये जाते हैं। एक ही जगह उन मंत्रों को इकट्ठा करके यह **दैवत-संहिता** बनवायी गयी है। प्रथम भाग में निम्न लिखित ४ देवताओंके मंत्र हैं-

देवता	मंत्रसंख्या	पृष्ठसंख्या	मूल्य	डाकव्यय.
१ **अग्निदेवता**	२४८३	३४६	३) रु.	।।।)
२ **इंद्रदेवता**	३३६३	३७६	३) रु.	।।।)
३ **सोमदेवता**	१२६१	१५०	२) रु.	।।)
४ **मरुद्देवता**	४६४	७२	१) रु	।।)

इस प्रथम भाग का मू. ६) रु. और डा. व्य. १।।) है।

इस में प्रत्येक देवता के मूल मन्त्र, पुनरुक्त-मंत्रसूची, उपमासूची, विशेषणसूची तथा अकारानुक्रम से मंत्रोंकी अनुक्रमणिका का समावेश तो है, परंतु कभी कभी उत्तरपदसूची या निपातदेवतासूची इस भाँति अन्य भी सूचीयाँ दी गयी हैं। इन सभी सूचीयों से स्वाध्यायशील पाठकों की बडी भारी सुविधा होगी।

संपूर्ण दैवतसंहिताके इसी भाँति तीन विभाग होनेवाले हैं और प्रत्येक विभाग का मूल्य ६) रु तथा डा. व्य. १।।) है। पाठक ऐसे दुर्लभ ग्रन्थ का संग्रह अवश्य करें। ऐसे ग्रन्थ बारबार मुद्रित करना संभव नहीं और इतने सस्ते मूल्य में भी ये ग्रन्थ देना असंभव ही है।

वेदकी संहिताएं।

वेद की चार संहिताओंका मूल्य यह है-

१ **ऋग्वेद** (द्वितीय संस्करण)	६)	डा० व्य० १।)
२ **यजुर्वेद**	२।।)	,, ,, ।।)
३ **सामवेद**	३।।)	डा० व्य० ।।)
४ **अथर्ववेद** (द्वितीय संस्करण)	६)	,, ,, १)

इन चारों संहिताओंका मूल्य १८) रु और डा. व्य. ३) है अर्थात् कुल मूल्य २१) रु. है। परन्तु पेशगी म० आ० से सहूलियतका मू० १८) रु० है, तथा डा० व्यय माफ है। इसलिए डाकसे मंगानेवाले १५) पंद्रह रु० पेशगी भेजें।

यजुर्वेद की निम्नलिखित चारों संहिताओं का मूल्य यह है-।

१ **काण्व संहिता** (तैयार है)	४)	डा० व्य० ।।।)
२ **तैत्तिरीय संहिता**	६)	,, ,, १)
३ **काठक संहिता** (तैयार है)	६)	डा० व्य १)
४ **मैत्रायणी संहिता** ,,	६)	,, ,, १)

वेदकी इन चारों संहिताओं का मूल्य २२) है, डा. व्य. ३।।।) है अर्थात् २५।।।) डा. व्य. समेत है। परंतु जो ग्राहक पेशगी मूल्य भेजकर ग्राहक बनेंगे, उनको ये चारों संहिताएं २२) रु० में दी जायगीं। डाकव्यय माफ होगा।

- मंत्री, स्वाध्याय-मण्डल, औंध, (जि० सातारा)

क्रमांक ३०९

वर्ष २६ श्रावण संवत् २००२, सितंबर १९४५ अङ्क ९

कल्याणका मार्ग

प्रति पन्थामपद्महि स्वस्तिगामनेहसम् ।
येन विश्वाः परि द्विषो वृणक्ति विन्दते वसु ॥

(वा० यजु० ४।२९)

"जो क्षेम और कल्याणका मार्ग है और जो पापरहित मार्ग है, उस मार्गको हम पकडते हैं, जिस-पर चलनेसे सब विद्वेषके भाव दूर होते हैं और ऐश्वर्य तथा सब सद्भाव प्राप्त होते हैं।"

मनुष्यके सम्मुख भले और बुरे ऐसे दोनों प्रकारके मार्ग आते हैं। भले मार्गसे जानेमें मनुष्य कठिनाइयोंका अनुभव करता है और बुरे मार्गमें उनके सामने बहुतसे प्रलोभन उपस्थित होते हैं। हमेशा ही ऐसी स्थिति रहती है। श्रेय और प्रेय ये दो मार्ग मानवके सम्मुख आते हैं। प्रेय मार्ग प्रिय दीखता है, पर अन्तमें घात करता है। श्रेय मार्ग प्रारंभमें कठिन प्रतीत होता है, परंतु अन्तमें अत्यंत सुख देता है। इसलिये मानवको चाहिये कि वह स्वस्ति अर्थात् कल्याण करनेवाले पापरहित मार्गसे ही जाय और पापके मार्गसे कभी न जाय। द्वेषभावको बढाना और झगडोंको उत्पन्न करना यह हमेशा ही बुरा है। यह नाशका मार्ग है। मनुष्य अपने आपको इससे बचावे और नेकीके सुसमृद्धिके, मार्गका ही सदा अवलंबन करता रहे।

द्वितीय युद्ध समाप्त हुआ; अब तीसरा युद्ध कब होगा ?

द्वितीय युद्धकी अब संपूर्ण रीतिसे समाप्ति हो गयी है। यह युद्ध इसलिये लडा गया कि इस भूमिपर भविष्यकालमें कभी युद्ध न हों। पहिले युद्धके समयमें भी ऐसी ही भाषा बोली जाती थी। पर परिणाम क्या हुआ? पहिला युद्ध समाप्त होनेके पश्चात् जो संधिपत्र बनाया गया, उसमें दोस्तोंने द्वितीय युद्धके बीज बोये थे। इसलिये यह द्वितीय युद्ध हुआ। जो बोया जाता है वही उगता है। युद्धके बीज बोये जानेके कारण यह द्वितीय युद्ध हुआ। यदि शान्तिके बीज बोये जाते, तो विश्वमें शान्ति स्थापन हो जाती। पर मित्रराष्ट्रोंमें शान्ति स्थापन करनेकी शक्ति ही नहीं है और नाही वैसी योग्यता है।

बारबार युद्ध युरोपमें क्यों होते है? यूरोपके मनमें युद्धकी पिपासा है, शान्तिकी नहीं, इसलिये युद्ध होना अनिवार्य है।

पहिले युद्धके समाप्तिके पश्चात् संधिके होनेपर सुविज्ञ लोगोंने कहा था कि यह संधि युद्धकी ज्वाला पुनः भडकानेवाला है, वैसाही हुआ। इस द्वितीय युद्धकी समाप्तिपर जो बर्ताव मित्र-राष्ट्र कर रहे हैं, उससे यह निःसन्देह प्रतीत होता है कि अब तीसरा युद्ध अवश्यही होगा। यूरोपके ही सुविचारक ऐसाही अब प्रतिपादन कर रहे हैं।

मित्र-राष्ट्रोंमें भी आपसमें परस्पर प्रेम नहीं है। एक दूसरे को खा जानेकी मनीषा इन मित्र-राष्ट्रोंमें है, यह इस समयमें भी दीख रहा है। प्रत्येक यही चाहता है कि हमें सबसे अधिक लाभ मिले और अपने मित्र वंचित रहें। भला ऐसी बुद्धि रखनेवाले ये दोस्त विश्वमें शान्ति किस तरह फैला सकते हैं?

विश्वमें समता, बन्धुता और शान्ति स्थापन करनेके लिये अपने प्रयत्न हो रहे हैं, ऐसा ये कह रहे हैं, पर इन्हींके पावोंके नीचे क्या हो रहा है? क्या अंग्रेज भारतीयोंसे समत्व, बन्धुत्व और शान्तिका बर्ताव कर रहे है? क्या भारतीयोंका स्वातंत्र्यके लिये प्रयत्न हो रहा है यह बात ये जानते नहीं? पर उसीके लिये हजारों भारतके सुपुतोंको जेलके अन्दर बन्द कर रखा है, कईयों को मशीनगनोंसे मार दिया है और नाना प्रकारके कष्ट भारतीयोंको दिया करते हैं! क्या यही इनकी समता और बन्धुता है?

भारतीय नेताओंके सामने आजतक कितने वचन दिये, स्वराज्य प्रदानकी कितनी बार आशाएं दिलायी गयीं, पर उनका परिणाम अन्तमें क्या हुआ? '**आज्ञां कालवर्ती कुर्यात्**' आज्ञाको दीर्घकालके प्रोग्राममें आगे बढाते रहो, इसी कुटिल राजनीतिका आश्रयही तो ये सदा करते रहे हैं और इतनी सहायता भारतसे प्राप्त होनेपर भी वैसाही नाटक इन्होंने थोडे दिनोंके पूर्व दिखा दिया!

क्या यही समता और बन्धुता है ना? और भी देखिये। अमेरिका तो अपने आपको स्वातंत्र्यप्रिय कहती है, पर वहां भी निग्रो जातिकी अवस्था क्या है? वहां तो छोटेसे अपराध पर निग्रोको जनता द्वारा जलाया भी जाता है। क्या यही समता और बन्धुभाव है? स्वातंत्र्यके जीवनरूप अमेरिकाके राष्ट्रीय जीवनमें इतना भयानक वर्णद्वेष है। भारतीयोंको तो वहां स्थायी होनेका भी अधिकार नहीं है! अंग्रेजो और अमेरिकनोंका तो यह व्यवहार है, अब रशियनोंका व्यवहार देखिये—

वहां तो विचार करनेका भी स्वातंत्र्य नहीं, न कर्मका स्वातंत्र्य है। जो सरकार कहेगी वही कार्य मनुष्योंको करना चाहिये। यदि उसकी रुचि उसमें न होगी तोभी उसको वही करना होगा। सरकारसे नियुक्त हुए कर्मको, अरुचिकर कर्मको भी त्यागनेका अधिकार मनुष्यको वहां नहीं है। विचार तो सरकारके अधिकारी करेंगे, जनता आदेशोंका पालन करती रहे। विचारस्वातंत्र्य, कर्मस्वातंत्र्य, लेखनस्वातंत्र्य आदि वहां कुछभी नहीं। किसीने एक कार्य छोड दिया, तो उसको दूसरा मिलेगा नहीं, भूखसे मरना पडेगा अथवा जेलमें करीब करीब शाश्वत कालतक रहना पडेगा। रूसी राज्यप्रबंध द्वारा स्वतंत्र विचारके उच्च मानव नहीं बन सकते, पर अच्छे आज्ञाकारी बनते हैं!

यह है मित्रराष्ट्रोंकी समता, बन्धुता और शान्तिकी अवस्था! जिनके घरमें स्वतंत्रता नहीं, वे दूसरोंको स्वातंत्र्य किस तरह देंगे? और उनके प्रयत्नसे विश्वमें शान्तिभी किस तरह स्थापन हो सकेगी?

इनकेही देशके विचारवान् लेखक लिख रहे हैं कि येही आपसमें लडेंगे! दीखता तो ऐसाही है। जिस तरह जर्मनी और जापानके साथ इनका अत्याचारका कुव्यवहार हो रहा है, उससे ऐसा स्पष्ट दीखता है कि इनसे शान्ति कभी नहीं स्थापन होगी। वीर राष्ट्र कभी अपमान नहीं सह सकता और ये उक्त वीर-राष्ट्रोंको अपमानित कर रहे हैं, येही तृतीय युद्धके बीज ये बो रहे हैं। जैसा करोगे, वैसाही भोगना पडेगा।

ऋग्वेदका सुबोध भाष्य

[काण्वदर्शनोंमें प्रथम विभाग]

मेधातिथि ऋषिका दर्शन

[मेध्यातिथि ऋषिके मंत्र इसमें संमिलित हैं]

ऋग्वेदमें मधुच्छन्दा ऋषिके पश्चात् मेधातिथि ऋषिके मंत्र आते हैं। मेधातिथि ऋषि काण्व गोत्रमें उत्पन्न हुए ऋषि है। इसलिये काण्वोंका एक विभाग करना योग्य प्रतीत हुआ। काण्व-दर्शन चार विभागोंमें प्रकाशित होगा। प्रथम विभागमें मेधातिथि और मेध्याथिति इन दो ऋषियोंके मंत्र रहेंगे और दूसरे तीन विभागोंमें काण्व गोत्रके अन्य सभी ऋषियोंके मंत्र रहेंगे।

मेधातिथि और मेध्यातिथि ये साथ साथ आनेवाले ऋषि हैं और ऋ. मं. ८।१ सूक्तके इकट्ठे ये दोनों ऋषि माने हैं। इसलिये इन दोनोंके मंत्र यहां इकट्ठे दिये है। इनके सूक्तोंका ब्यौरा ऐसा है। ये सब ३२० मंत्र इस विभागमें आये हैं–

ऋग्वेदके प्रथम मण्डल

सूक्तक्रम	ऋषि	देवता	मंत्रसंख्या
चतुर्थ अनुवाक			
१२	(काण्वो)मेधातिथिः	अग्निः	१२
१३	,, ,,	आप्रीय. [(१) समिद्धोऽग्निः, (२) तनूनपात्, (३) नराशंसः, (४) इळः, (५) बर्हिः, (६) देवीर्द्वारः, (७) उषासानक्ता, (८) दैव्यौ होतारौ, (९) तिस्रो देव्य, (१०) त्वष्टा, (११) वनस्पतिः, (१२) स्वाहाकृतिः]	१२
१४	,, ,,	विश्वे देवाः	१२
१५	,, ,,	[ऋतुसहिताः-] (१) इन्द्र, (२) मरुत, (३) त्वष्टा, (४) अग्नि, (५) इन्द्र, (६) मित्रावरुणौ, (७-१०) द्रविणोदा, (११) अश्विनौ, (१२) अग्निः	१२
१६	,, ,,	इन्द्र	९
१७	,, ,,	इन्द्रावरुणौ	९
			६६
पञ्चम अनुवाक			
१८	,, ,,	१-३ ब्रह्मणस्पति, ४ इन्द्रब्रह्मणस्पतिसोमा ५ ,, ,, ,, दक्षिणा, ६-८ सदसस्पतिः, ९ ,, नराशंसः वा	९

१९ (काण्वो) मेधातिथिः अग्निमरुतश्च ९
२० ,, ,, ऋभवः ८
२१ ,, ,, इन्द्राग्नी ६
२२ ,, ,, १-४ अश्विनौ, ५-८ सविता, ९-१० अग्नि, ११ देव्यः, १२ इन्द्राणीवरुणा-न्यग्नाय्यः, १३-१४ द्यावा पृथिवी, १५ पृथिवी, १६ विष्णुर्वा, १७-२१ विष्णुः २१
२३ ,, ,, १ वायुः, २-३इन्द्रवायू, ४-६ मित्रावरुणौ, ७-९ इन्द्रमरुत्वान्, १०-१२ विश्वे देवाः, १३-१५ पूषा, १६-२३ आपः, २४ अग्निः २४

७७

अष्टम मंडल

(प्रथमानुवाकान्तर्गत)

१ १—२ प्रगाथः (घौर· काण्वः) इन्द्र
३-२९ मेधातिथिः, मेध्यातिथिः (काण्वौ) ३०-३४ आसंग·
३०-३३ (प्लायोगी) आसंगः
३४ शश्वती (आंगिरसी) ३४
२ १-४० मेधातिथिः (काण्वः) इन्द्रः प्रियमेधः (आंगिरसः)
४१-४२ मेधातिथिः (काण्वः) ४१-४२ विभिन्दुः ४२
३ मेध्यातिथिः (काण्वः) इन्द्रः
२१-२४ पाकस्थामा (कुरुयानपुत्रः) २४

(पञ्चमानुवाकान्तर्गत)
३२ मेधातिथिः (काण्व·) इन्द्रः ३०
३३ मेध्यातिथिः ,, ,, १९

१४९

नवम मंडल

(प्रथमानुवाकान्तर्गत)

२ मेधातिथिः (काण्वः) सोमः १०

(द्वितीयानुवाकान्तर्गत)

४१ मेध्यातिथिः (काण्वः) ,, ६
४२ ,, ,, ,, ६
४३ ,, ,, ,, ६

१८

कुल मंत्रसंख्या ३१०

ऋषिवार मंत्रसंख्या

१ मेधातिथि (काण्वपुत्र)	१८५
२. मेध्यातिथि ,,	६१
३. मेधातिथि और प्रियमेध (मिलकर)	४०
४ मेधातिथि और मेध्यातिथि (मिलकर)	२७
५ आसंग (प्लायोगपुत्र)	४
६. प्रगाथ (घोरपुत्र, कण्वदत्तक)	२
७. शश्वती (अंगिरापुत्री)	१
	३१०

देवतावार मंत्रसंख्या

१ इन्द्रः	१४९
२. सोम·	२८
३. अग्निः	१७
४. विश्वे देवाः	१५
५. इन्द्रावरुणौ	९
६. अग्निर्मरुतश्च	९
७. ऋभवः	८
८. आपः	८
९. विष्णुः	६
१० इन्द्राग्नी	६
११. आसंगः (राजाकी दानस्तुति)	५
१२. अश्विनौ ,, ,,	५
१३. पाकस्थामा ,, ,,	४
१४. विभिन्दुः ,, ,,	२
१५. सविता	४
१६. द्रविणोदाः	४

१७. मित्रावरुणौ	४
१८. ब्रह्मणस्पतिः	३
१९. सदसस्पति·	३
२०. इन्द्रो मरुत्वान्	३
२१. पूषा	३
२२. द्यावापृथिवी	२
२३. इन्द्रवायू	२
२४. त्वष्टा	२
२५. इन्द्रब्रह्मणस्पतिसोमाः	१
२६. ,, ,, दक्षिणा च	१
२७. सदसस्पतिर्नराशंसो वा	१
२८. देव्यः	१
२९ इन्द्राणीवरुणान्यग्नाय्य	१
३० पृथिवी	१
३१. वायुः	१
३२ मरुतः	१
३३. इध्मः समिद्धोऽग्निः	१
३४. तनूनपात	१
३५. नराशंसः	१
३६. इळः	१
३७ बर्हिः	१
३८. देवीर्द्वारः	१
३९ उषासानक्ता	१
४०. देव्यौ होतारौ प्रचेतसौ	१
४१. तिस्रो देव्यः सरस्वतीळाभारत्यः	१
४२. वनस्पतिः	१
४३. स्वाहाकृतयः	१
कुल मंत्रसंख्या	३२०

इन ३२० मंत्रोंमें ४३ देवताओंका विचार हुआ है। कुल सात ऋषियोंके मंत्र इसमें हैं। प्रगाथ-आसंग-शश्वतीके ७ मंत्र छोड दिये जायँ, तो मेधातिथि और मेध्यातिथि इन दो ऋषियोंके मंत्र इसमें ३१३ हैं और इनमें भी अकेले मेधातिथिके २५३ इतने हैं। इसलिये यहा मेधातिथि मुख्य ऋषि है।

काण्व गोत्रके ऋषि

इस पुस्तकमें मेधातिथि और मेध्यातिथिके मंत्र लिये हैं। इसका कारण ये कण्वगोत्रके हैं और साथ साथ आनेवाले है, तथा मं० ८।१ में एकही सूत्रके ये दोनों इकट्ठे द्रष्टा हैं। ऋग्वेदमें कण्व ऋषि और कण्व गोत्रके ऋषि अनेक हैं, उनमें दो ऋषियोंकेही मंत्र यहां लिये हैं, शेष कण्व ऋषि और काण्वगोत्रके ऋषि ये हैं–

कण्वऋषि

१ (घोरपुत्र)'कण्व' ऋषिके मंत्र-	ऋ. १।३६-४३	९६	
	९।९४ मं.सं.	५	
			१०१

कण्व गोत्रके ऋषि

१	प्रस्कण्व (कण्वपुत्र)के मंत्र	ऋ. १।४४-५०	८२	
		८।४९	१०	
		८।९५	५	९७
२	देवातिथिः ,,	ऋ. ८।४		२१
३	ब्रह्मातिथि· ,,	५		३९
४	वत्सः ,,	६	४८	
	,,	११	१०	५८
५	पुनर्वत्सः ,,	७		३६
६	सध्वंसः ,,	८		२३
७	शशकर्ण ,,	९		२१
८	प्रगाथ.(घौर),,	८।११।१-२	२	
		१०	६	
		४८	१५	
		६२	१२	३५
९	प्रगाथः (कण्वपुत्र)	८।६३	१२	
		६४	१२	
		६५	१२	३६
१०	पर्वतः ,,	८।१२	३३	
		९।१०४	६	
		१०५	६	४५
११	नारदः ,,	८।१३	३३	
		९।१०४	६	
		१०५	६	४५

१२ गोषूक्त और अश्वसूक्ति काण्वायनौ		८।१४-१५		२८
१३ इरिम्बिठिः कण्वपुत्रः		८।१६-१८		४९
१४ सोभरिः	,,	८।१९-२२	९९	
		१०३	१४	११३
१५ नीपातिथिः	,,	८।३४		१५
१६ नाभाकः	,,	८।३९-४२		३८
१७ त्रिशोकः	,,	८।४५		४२
१८ पुष्टिगुः	,,	८।५०		१०
१९ श्रुष्टिगुः	,,	५१		१०
२० आयु	,,	५२		१०
२१ मेध्यः	,,	८।५३	८	
		५७-५८	७	१५
२२ मातारिश्वा	,,	८।५४		८
२३ कृश;	,,	५५		५
२४ पृषध्रः	,,	५६		५
२५ सुपर्णः	,,	८।५९		७
२६ कुरुसुति.	,,	८।७६-७८		३३
२७ कुसीदी	,,	८।८१-८३		२७

इतने २७ ऋषि काण्व गोत्रके शेष रहे हैं। यहा इस पुस्तक में मेधातिथि और मेध्यातिथि ये दो ऋषि लिये गये हैं। अत: शेष २७ रहे हैं। इनके मंत्र ९१२ ऋग्वेदमें हैं। अतः इनका प्रकाशन क्रमसे कम तीन विभागोंमें किया जायगा। इस विभागमें ३२० मंत्र मेधातिथि- मेध्यातिथिके लिये हैं। इसी तरह और तीन विभागोंमें काण्वोंके सब मंत्र आ जायेंगे।

सोमप्रकरण

इन ३२० मंत्रोंमें सोमदेवताके २८ मंत्र हैं, परंतु करीब २०० अन्य मंत्रोंमें सोमरस-पानका विषय साक्षात् या परंपरासे आया है। ३२० मंत्रोंमें बहुत करके १०० मंत्रोंके करीब ऐसे मंत्र हैं कि, *जिनमें सोमका कुछ भी विषय नहीं है*, शेष २२० के करीब मंत्र ऐसे हैं कि, जिनमें सोमरसका कुछ न कुछ वर्णन है। अष्टम तथा नवम मण्डलके जो मंत्र इस पुस्तकमें आये हैं, उनमें तो सबमें ही सोमका विषय है। अर्थात् मेधातिथि और मेध्यातिथिके ३२० मंत्रोंमें करीब करीब २२० मंत्रोंमें सोमका कुछ न कुछ वर्णन है, शेष करीब १०० मंत्र सोमके वर्णनके विना हैं। इससे ऐसा हम कह सकते हैं कि दो-तिहाई मंत्र सोमके वर्णनके लिये गाये गये हैं। इतना सोमका महत्त्व वेदोंमें है। इसी तरह वेदोंमें सर्वत्र है वा नहीं, यह देखनेकी बात है।

सोमके संबंधमें सोमके मंत्रोंका मनन करनेके प्रसंगमें विचार किया है और इन ३२० मंत्रोंके मननसे यह स्पष्ट हुआ है कि सोमरस नशा उत्पन्न करनेवाला नहीं है। इसका विचार आगेके मंत्रोंमें अधिक होनेवाला है। अतः पाठकोंसे इतनाही निवेदन है कि, वे इस विचारको यहीं समाप्त न समझे, परंतु अन्य ऋषियोंके मंत्रोंके साथ इस विचारकी तुलना करते जायँ और अन्तमें अन्तिम निर्णयतक पहुंच जायँ।

अर्थ करनेकी रीति

यहां हमने जो अर्थ करनेकी पद्धति उपयोगमें लायी है वह सरलसे सरल है। प्रथम मंत्र देकर उनका अन्वय दिया है। जो साधारण संस्कृत जानते हैं, वे अन्वयसे ही मंत्रोंका मतलब निकाल सकते हैं। जो संस्कृत ठीक नहीं जानते, उनके लिये नीचे सरल शब्दार्थ अन्वयके अनुसार ही दिया है। जो पद मंत्रमें नहीं है और पूर्वापर संबंधसे अध्याहृत लिये हैं वे गोल कंसमें ( ) दिये हैं। पाठक गोल कंसके अन्दरके शब्द शेष शब्दोंके साथ पढेंगे, तो मंत्रका सरल अर्थ समझ जायँगे।

हमने यहां मंत्रके पदोंका खुला अर्थ, स्पष्ट अर्थ, उत्तानार्थ-ही दिया है। किसी तरह अलंकार, श्लेष या यौगिक अर्थ देनेका यत्न नहीं किया। क्योंकि जिन्होंने ऐसा अर्थ करनेका यत्न किया है, उनके अर्थ सूक्तके अन्दर बैठनेवाले नहीं हुए हैं। प्रत्येक मंत्र फुटकर बताना योग्य नहीं। इसलिये हमने सूक्तके मंत्र इकट्ठे लिये हैं। जहां सूक्तके अन्दर अनेक देवताएँ आ गयीं हैं, वहां एक एक देवताके सब मंत्र इकट्ठे लिये हैं और संपूर्ण देवताके मंत्रोंका विचार इकट्ठा किया है। इस तरह मंत्रका अर्थ समझनेमें आसानी होती है और खींचातानीकी संभावना नहीं होती। इसलिये यही रीति हमने इस भाष्यमें उपयोगमें लायी है।

सरल संस्कृत जाननेवाला सरल भाषासे जो अर्थ जान सकता है, वही व्यक्त अर्थ है। गूढार्थ पीछेसे जिसका वह स्वयं निकाल सकता है। जब सरल अर्थका अच्छी तरह मनन

होगा, तब विचार और मनन करनेवाले पाठक मन्त्रोंके अन्दर गूढार्थका अनुभव कर सकते है। वह अवस्था पीछेसे बडे मननके पश्चात् और वैदिक विचार-धाराका आधिक अभ्यास होनेके पश्चात् आनेवाली है।

जनता इस समय सरल अर्थ जाननेकी अवस्थामें है। इसलिये यह बिलकुल सरल अर्थ जनताके सामने रखा है। जिस तरह जगत्के अन्दर सर्वसाधारण मानव पृथ्वी, जल, अग्नि, वायु, आकाश, सूर्य, चन्द्र, तारका, पशु, पक्षी, वृक्ष, वनस्पति आदिको देखता है और जैसा स्थूल दृष्टिसे देखता है, वैसाही स्थूल अनुभवसे इन पदार्थोंको समझ भी लेता है, उसी तरह यह सरल स्थूल अर्थ है। जब मानव अधिक मननशील होता है, जब वह अधिक विज्ञान प्राप्त करता है, तब पृथ्वीसे ही नानाप्रकारके सूक्ष्म पदार्थ विज्ञानकी सहायतासे पृथक्करण द्वारा खोज कर लेता है और उनका उपयोग करके अनंत सुख-साधन निर्माण करता है, वैसाही वह मनुष्य अधिक विचार करके इन्हीं मंत्रोंके अन्दर अधिक गुह्य तत्त्वोंका ज्ञान देख सकेगा। जैसा योगी श्री अरविंद घोषजीने इन्हीं मंत्रोंमें सूक्ष्मतम ज्ञान देखा है। यह अवस्था आगे सब पाठकोंको कभी न कभी प्राप्त होगी।

अनुभवके विना वैसा लेख लिखना योग्य नहीं। अथवा हम वेदका ऐसा अर्थ ढूंढ देंगे, ऐसी पहिलेसेही प्रतिज्ञा करके अर्थ लिखना भी ठीक नहीं है। इसलिये जिस सरल रीतिमें अशुद्धि होनेकी संभावना नहीं है अथवा कम है, वैसी सरल रीति हमने यहां उपयोगमें लायी है। इतनी दक्षता लेनेपर भी संस्कृतके एक एक शब्दके अनेक अर्थ होनेके कारण किसी एक पदका अर्थ एक विचारक एक मानेगा और उसी पदका अर्थ दूसरा विचारक वहां दूसराही मानेगा। इस तरह मतभेद होनेकी संभावना रहेगीही। हरएक भाष्यके विषयमें यह बात समानही है। इसलिये यह दोष किसी एकका माना नहीं जायगा। क्योंकि यह दोष सभी भाष्योंपर आना संभव है।

जैसा **'वाजः'** पदके अर्थ- 'पक्ष (पक्षीके), पंख, पर (पंखके), बाणके पीछे लगाये पर, युद्ध, लडाई, शब्द, (वाजं) घी, घृत, पके चावलोंका पिंड, अन्न, जल, प्रार्थनामंत्र, यज्ञ, बल, शक्ति, सामर्थ्य, धन, गति, वेग, मास (महीना)' कोशमें इतने हैं। वेदमंत्रोंमें ' युद्ध, अन्न, बल ' ये अर्थ मुख्यतः आते हैं। इनमें यहां इस फलाने मंत्रमें यही एक अर्थ योग्य है और दूसरा अयोग्य है, ऐसा निश्चयपूर्वक कहना प्रायः अशक्य है। ऐसा अनेक पदोंके विषयमें हो सकता है। इसलिये पदके अर्थके विषयमें मतभेद होगा। परंतु यह दोष अनिवार्य है।

कदाचित् २०-२५ वर्ष विचारपूर्वक वेदाध्ययन होनेके पश्चात् संभव है कि इस मंत्रमें इस पदका यही अर्थ है, ऐसा कहनेमें कोई समर्थ हो, तो उस समयकी बात और है। इसलिये यह मतभेद इस समय रहेंगे। तथापि हमने यावच्छक्य यत्न करके मतभेदके स्थान सरल अर्थ देकर दूर किये हैं।

मन्त्रोंसे बोध

' यद्देवा अकुर्वंस्तत्करवाणि ' (जो देवोंने किया वैसा मैं करूंगा) देवताओंका आचरण मानवोंके लिये मार्गदर्शक हो सकता है। यह नियम वैदिक ऋषि अनुभव करते थे। यही नियम हमने वेदमें देखा और वही अनुभव इस भाष्यद्वारा पाठकोंके सामने, जैसा समझा, वैसा रखनेका यत्न इस सुबोध भाष्य द्वारा किया है।

मन्त्रका जो सरल अर्थ है, उसमें भी जो मंत्रभाग विशेष ध्यानमें रखने योग्य हैं, वे सूक्तार्थके बाद पृथक् करके दिये ही हैं। वे स्वतंत्र रूपसे मानव-धर्मका बोध करतेही हैं। ये मंत्रभाग आगे अनेक सूक्तोंके अर्थके पश्चात् स्थान स्थानपर पाठक देख सकेंगे। ये मंत्र-भाग कण्ठस्थ करने योग्य हैं। स्मृतिशास्त्रके नियमोंके आधारही ये मंत्रभाग है। पाठक इनकी ओर इस दृष्टिसे देखें।

इसके अतिरिक्त हमने महत्त्वका मानवधर्मका भाग सूक्तोंमें देखा है, वह **' देवताका आदर्श स्वरूप '** है। अग्नि, इन्द्र आदि देवताओंमें ऋषि लोग अपनी अतींद्रिय दृष्टिसे कुछ आदर्श देखते हैं, वह आदर्श वे देवताके वर्णनमें रखते हैं। उन्नतर मानव बननेका ही वह आदर्श है। इस दृष्टिसे हमने ये सूक्त देखें और इनमें जो **'आदर्श उन्नतम मानव'** ऋषियोंने हमारे सम्मुख रखा, वह इस भाष्यके द्वारा जनताके सामने हमने रखा है।

ऋषिके सामने अग्नि केवल आग नहीं है, इन्द्र केवल विद्युत्प्रकाश नहीं है, सूर्य केवल प्रकाश-गोलही नहीं है।

एकं सत् विप्रा बहुधा वदन्ति।
अग्निं यमं मातरिश्वानमाहुः ॥
(ऋ० १।१६४।४६)

' एकही सत् है, वही अग्नि, वायु, इन्द्र, सूर्य आदि रूपसे हमारे सामने है। ' यह ऋषियोंकी आत्मानुभवकी दृष्टि है। जो अग्नि पदसे केवल आग समझेंगे, वे यही अग्नि वाक्पति कैसा है, वाणीरूपसे मुखमें कैसा रहता है, वह होता, पुरोहित और ऋत्विज् आदि कैसा है, वही वेदप्रकाशक कैसा है इन बातोंको जान नहीं सकेंगे। इसलिये वैदिक अग्नि केवल आग नहीं है। वह ऋषिके सम्मुख अतींद्रिय दृष्टिसे आयी एक आध्यात्मिक दैवी वस्तु है। पाठक देवताओंको ऐसा ही समझनेका यत्न करें। यह एकदम नहीं हो सकेगा, परंतु इसका अभ्यास करना पाठकोंके लिये आवश्यक है।

ऋषियोंने इन देवताओंमें मानवका उच्च आदर्श देखा है और वही वेदमें हमें इस समय मिल रहा है। देवता आदर्श गुणोंका पुञ्ज है, इसलिये देवता मानवके लिये आदर्श हो सकता है। अतः वेदमंत्रका अर्थ विशेष न होते हुए भी उन मंत्रोंमें जो देवताका आदर्श स्वरूप भक्तके सामने ऋषिने पेश किया है, उसमें मानवको ' उच्चतम मानवका आदर्श ' दीख सकता है। मनुष्य यह देवताका आदर्श अपने सामने रखे और वह अपनेमें ढालनेका यत्न करे। यही अनुष्ठान ' अतिमानव ' अथवा ' पुरुषोत्तम ' किंवा नरका नारायण बननेके लिये वेदद्वारा सूचित किया गया है।

देवताके विशेषण

इसलिये मंत्रोंमें देवताके जो विशेषण आते हैं, उनको साथ साथ इकट्ठे ध्यानमें धरनेसे मनुष्यके सामने एक ' **आदर्श पुरुष** ' खडा होता है, वही मनुष्योंका उच्चतम वैदिक आदर्श है, मनुष्योंका वही ध्येय है, प्राप्तव्य है और साध्य भी है। इसलिये मंत्रके संपूर्ण अर्थकी अपेक्षा ' **देवताके विशेषणोंसे जो ' आदर्श पुरुष बनता है,** ' वही विशेष महत्त्वका है और वही मानवके सामने वेदका दिव्य मानवका नमूना है। इसीलिये हमने प्रत्येक सूक्तके अर्थके पश्चात् उसमें आये विशेषणोंको इकट्ठा करके पाठकोंके सामने रखा है। इससे उस सूक्तने मानवोंके सामने जो आदर्श रखा है, वह पाठकोंके सामने खडा हो जायगा।

•

'**अग्नि**' ज्ञान-दाता, वक्ता, धनदाता, होता, पवित्रत करनेवाला और आरोग्य-रक्षक है। यह ज्ञानी ब्राह्मणका आदर्श पाठकोंके सामने है। ' **इन्द्र** ' शूर वीर, पराक्रमी, शत्रुका पराभव करनेवाला, कभी पराभूत न होनेवाला, शत्रुसे कभी घेरा नहीं जाता, परंतु शत्रुको घेर कर उनका नाश करता है। यह क्षत्रियके लिये उत्तम आदर्श है। ' **मित्रावरुणौ** ' ये दो राजे सभामें बैठते, आपसमें लडाई नहीं करते, प्रजाका हित करते और अपना बल सत्यमार्गकी वृद्धि करनेमें खर्च करते हैं। ये आदर्श राजा हैं। इस तरह अन्यान्य देवताओंके विषयमें जानना योग्य है। ऐसा जाननेके लिये सब आवश्यक साधन इस सुबोध भाष्यमें स्पष्ट रूपसे दिये हैं। आशा है कि पाठक इस पद्धतिसे वैदिक दिव्य आदर्श अपने सामने रखेंगे, उसको अपने जीवनमें ढालेंगे और स्वयं उच्चतर मानव बननेका यत्न करेंगे।

औंध (जि. सातारा)
श्रावण शु. पूर्णिमा
सं. २००२

निवेदक
श्री० दा० सातवळेकर,
अध्यक्ष-स्वाध्याय-मंडल

ऋग्वेदका सुबोध भाष्य

[(२) काण्वदर्शनोंमें प्रथम विभाग]

(१) मेधातिथि ऋषिका दर्शन

चतुर्थ अनुवाक

(१) आदर्श दूत

(ऋ० १।१२) मेधातिथिः काण्वः । अग्निः, ६ प्रथमपादस्य [निर्मथ्याहवनीयौ] अग्नी । गायत्री ।

अग्निं दूतं वृणीमहे होतारं विश्ववेदसम् । अस्य यज्ञस्य सुक्रतुम् १
अग्निमग्निं हवीमभिः सदा हवन्त विश्पतिम् । हव्यवाहं पुरुप्रियम् २
अग्ने देवाँ इहा वह जज्ञानो वृक्तबर्हिषे । असि होता न ईड्यः ३
ताँ उशतो वि बोधय यदग्ने यासि दूत्यम् । देवैरा सत्सि बर्हिषि ४
घृताहवन दीदिवः प्रति ष्म रिषतो दह । अग्ने त्वं रक्षस्विनः ५
अग्निनाग्निः समिध्यते कविर्गृहपतिर्युवा । हव्यवाड् जुह्वास्यः ६
कविमग्निमुप स्तुहि सत्यधर्माणमध्वरे । देवममीवचातनम् ७
यस्त्वामग्ने हविष्पतिर्दूतं देव सपर्यति । तस्य स्म प्राविता भव ८
यो अग्निं देववीतये हविष्माँ आविवासति । तस्मै पावक मृळय ९
स नः पावक दीदिवोऽग्ने देवाँ इहा वह । उप यज्ञं हविश्च नः १०
स नः स्तवान आ भर गायत्रेण नवीयसा । रयिं वीरवतीमिषम् ११
अग्ने शुक्रेण शोचिषा विश्वाभिर्देवहूतिभिः । इमं स्तोमं जुषस्व नः १२

अन्वयः- होतारं, विश्ववेदसं, अस्य यज्ञस्य सुक्रतुं, दूतं अग्निं वृणीमहे ॥१॥ विश्पतिं, हव्यवाहं, पुरुप्रियं, अग्निं अग्निं सदा हवन्त ॥२॥ हे अग्ने ! (त्वं) जज्ञानः, वृक्तबर्हिषे इह देवान् आवह। (त्वं) नः होता ईड्यः (च) असि ॥३॥ हे अग्ने ! यत् दूत्यं यासि । उशतः तान् वि बोधय । बर्हिषि देवैः आ सत्सि ॥४॥ हे घृताहवन दीदिवः अग्ने ! त्वं रिषतः रक्षस्विनः प्रति दह स्म ॥५॥ कविः, गृहपतिः, युवा, हव्यवाट्, जुह्वास्यः, अग्निः अग्निना सं इध्यते ॥६॥ सत्यधर्माणं, अमीव-चातनं, कविं, अग्निं देवं अध्वरे उपस्तुहि ॥७॥ हे अग्ने देव ! यः हविष्पतिः त्वां दूतं सपर्यति, तस्य प्राविता भव स्म ॥८॥ हे पावक ! यः हविष्मान्, देववीतये अग्निं आ विवासति, तस्मै मृळय ॥९॥ हे दीदिवः पावक अग्ने ! स (त्वं) नः देवान्

इह आ वह, नः हविः यज्ञं च उप (आवह) ॥१०॥ नवीयसा गायत्रेण स्तवानः सः (त्वं) वीरवतीं रयिं इषं नः आभर ॥११॥ हे अग्ने ! शुक्रेण शोचिषा, विश्वाभिः देवहूतिभिः, नः इमं स्तोमं जुषस्व ॥१२॥

अर्थ- देवोंको बुलानेवाले, सर्वज्ञ अथवा सब धनोंसे युक्त, इस यज्ञके उत्तम प्रकार संपन्न करनेवाले, अग्निको दूत रूपमें हम स्वीकार करते हैं ॥१॥ प्रजाओंके पालक, अन्न पहुंचानेवाले, सबको प्रिय, ऐसे तेजस्वी अग्निकी हि सदा प्रार्थना (हम) करते हैं॥२॥ हे अग्ने ! (तू) प्रकट होते ही, आसन फैलानेवाले भक्तके पास, यहां, सब देवोंको ले आ। (तू) हम सबके लिये देवोंको बुलानेवाला और प्रशंसनीय हो ॥३॥ हे अग्ने ! जब तू दूतकर्म करनेके लिये (देवोंके पास) पहुंचता है, (तब आनेकी) इच्छा करनेवाले उन (सब देवोंको) जगा दो। (उनको यहां ले आओ और) इस आसनपर सब देवोंके साथ बैठो ॥४॥ हे घीकी आहुतियां लेनेवाले प्रदीप्त अग्ने ! तू (हमारा) नाश करनेवाले क्रूर राक्षसोंमेंसे प्रत्येकको जला दो ॥५॥ कवि, गृहरक्षक, तरुण, अन्न पहुंचानेवाले, ज्वालारूपी मुखसे युक्त अग्निको (दूसरे) अग्निके द्वारा प्रदीप्त किया जाता है ॥६॥ सत्य धर्मके पालनकर्ता, रोगोंके नाशक, ज्ञानी अग्निदेवकी इस हिंसारहित यज्ञकर्ममें प्रशंसा करो ॥७॥ हे अग्निदेव ! जो अन्नोंका पति, तुझ जैसे दूतकी सेवा करता है, उसका तू रक्षक बन ॥८॥ हे पवित्रता करनेवाले अग्ने ! जो हविरन्नवाला भक्त देवोंके संतोषके लिये, तुझ अग्निकी सेवा करता है, उसे सुख दे ॥९॥ हे तेजस्वी पवित्रकर्ता अग्ने ! वह (तू) हमारे पास सब देवोंको यहां ले आ और हमारा अन्न और यज्ञ उनके समीप पहुंचा ॥१०॥ नवीन गायत्री छन्दके स्तोत्रसे प्रशंसित हुआ, वह (तू) वीरोंसे युक्त धन और अन्न हम सबके पास भर दे ॥११॥ हे अग्ने ! अपनी पवित्र दीप्तिसे और सब देवताओंके स्तोत्रोंसे युक्त होकर हमारे इस यज्ञका सेवन कर ॥१२॥

आदर्श राजदूत

यहां मेधातिथि ऋषिने अग्निके अन्दर आदर्श राजदूतका भाव देखा है। एक राज्यसे दूसरे राज्यमें जो जाता है और अपने राजाका संदेश वहांके कार्यकर्ताओंको पहुंचाता है और अपने राजाका कार्य जो करता है, वह उत्तम राजदूत कहलाता है। ऐसा राजदूत ' अग्नि ' है।

> अग्निर्देवानां दूत आसीत्
> उशना काव्योऽसुराणाम्। (तै. सं. २।५।८।७)

' अग्नि देवोंका दूत था और उशना काव्य असुरोंका दूत था।' ऐसा तैत्तिरीय संहितामें कहा है। एक यज्ञका राज्य भूमिपर है और दूसरा देवोंका राज्य है। यह दूत अग्नि यहांसे देवोंके पास जाता, उनको बुलाता और यज्ञमें उनको लाता है, उनको यज्ञमें यथास्थान बिठलाता और हविर्भाग यथायोग्य रीतिसे पहुंचाता है। यह इसका दूत-कर्म है।

जैसा अग्नि यज्ञमें दूतकर्म करता है, वैसा राजदूत राज्यशासनरूप यज्ञमें दूत कर्म करे। क्योंकि जैसा कर्म देव करते हैं वैसा मनुष्योंको करना चाहिये। इसलिये दूतके गुण जो इस सूक्तमें वर्णन किये हैं, उनका विचार करना चाहिये। देखिये—

राजदूतके गुण

१ **अग्नि**- वह तेजस्वी हो, निस्तेज फीका या उदास न हो। वह (अग्निः-अग्रणीः) अग्र भागतक अपना कार्य करनेवाला हो, कार्यको अन्ततक पहुंचानेवाला हो, वह प्रमुख अथवा मुख्य हो। (**अगति इति अग्निः**) वह गतिशील हो, हलचल करनेवाला हो। जिस कार्यके करनेके लिये जहांतक जाना आवश्यक हो वहांतक वह जाये और उस कार्यको संपूर्ण रूपसे सिद्ध करे, ऐसा दूत हो।

२ **होता**- बुलानेवाला, पुकारनेवाला दूत हो, वह अपना भाव उत्तम रीतिसे कहनेमें समर्थ हो।

३ **विश्व-वेदः**- सब प्रकारके ज्ञानसे युक्त हो, सब धन भी उसके पास हो। ज्ञान और धनसे वह युक्त हो। पर-राष्ट्रमें जाकर ज्ञानसे उनपर प्रभाव डाले और धनका भी प्रभाव डाले और अपना कार्य करे।

४ **यज्ञस्य सुक्रतुः**- कार्यको उत्तम रीतिसे संपन्न या सिद्ध करनेवाला दूत हो। (**यज्ञः- देवपूजा-संगति-करण-दानात्मकः**) वह दूत श्रेष्ठोंका सत्कार करे, संगठन करे और सहायता करे तथा साधनोंसे अपना कार्य सिद्ध करे। (१)

५ **विश्पतिः**- अपने प्रजाजनोंका पालन करनेवाला हो। उसका यही ध्येय सदा रहे कि अपनी प्रजाका उत्तम रीतिसे पालन हो।

६ हव्यवाड्- अन्न पहुंचानेवाला हो। अन्न उसके पास दिया जाय, अथवा जो पहुंचानेके लिये उसके पास दिया हो वह जिसको पहुंचाना हो वह ठीक उसको पहुंचा देवे।

७ पुरुप्रियः- वह सबको प्रिय हो। (२)

८ ईड्यः- प्रशंसाके योग्य कर्म करनेवाला हो। (३)

९ घृताहवन- घी खानेवाला।

१० दीदिवः- तेजस्वी।

११ रिषतः रक्षस्विनः दह- हिंसक शत्रुओंका नाश कर। (५)

१२ कविः- ज्ञानी, विद्वान्, जो दूसरोंको न दीखनेवाला हो उसको भी वह देखे और ठीक तरह जानकारी प्राप्त करे। वह दूर-दर्शी हो।

१३ गृहपतिः- अपने घरकी उत्तम रक्षा करनेवाला हो। अपना घर, अपना देश, अपना राज्य इसकी रक्षा कैसी हो सकती है, इसका उत्तम ज्ञान उसको हो।

१४ युवा- राजदूत तरुण हो, अथवा तरुणके समान बलवान् और ओजस्वी हो।

१५ जुह्वा-आस्यः- अग्नि ज्वालाके समान तेजस्वी भाषण करनेवाला हो। (६)

१६ सत्य-धर्मा- सत्य धर्मका पालन करनेवाला हो, वचन में और आचरणमें सचाई रखनेवाला हो, इससे वह सबका विश्वास संपादन करे।

१७ अमीवचातनः- दुष्टोंको दूर करनेवाला हो।

१८ प्राविता- जिसको वह अपना कहे उसकी सुरक्षा करनेकी शक्ति उसमें हो। (८)

१९ मृळय (मृळयिता)- सुख देनेवाला हो, जिसको वह अपना कहे उसको सुखी करे।

२० पावकः- वह पवित्र हो, पवित्रता करे। (९)

२१ देवान् आ वह- अपने साथ दिव्य जनोंको ले आवे, अपने साथ दिव्य विबुधोंको रखे। (१०)

२२. वीरवतीं रयिं इषं आभर- वीरोंके साथ रहनेवाला, धन और अन्न भरपूर ले आवे। जिसके साथ वीर रहते हैं ऐसाही धन और अन्न अपने पास रखे। (११)

२३ शुक्र-शोचिः- बलयुक्त तेज अपने पास रखे। (१२)

२४ विबोधय- जहां जावे वहां जागृति करे, सबको विशेष रीतिसे जगावे। (४)

उत्तम राज-दूतके इतने उत्तम गुण यहा इस सूक्तमें वर्णन किये हैं। जिस राजाके पास ऐसे उत्तम दूत होंगे वह निःसंदेह विजयी होगा। पाठक राजधर्मकी दृष्टिसे इस सूक्तके इन पदोंका विचार करें।

रोग-निवारण

अग्निका रोग-निवारक गुण इस सूक्तमें बताया है जो आरोग्यकी दृष्टिसे देखने योग्य है—

१ अमीवचातनः— अपचित अन्नका 'आम' पेटमें बनता है, यही आम नाना रोगोंको उत्पन्न करता और बढाता है। इसलिये रोगोंका नाम वेदमें 'अमी-व' (अर्थात् 'अमीवान्' किंवा 'आमवान्') कहा है। अनेक रोग इस आमसे उत्पन्न होते हैं, इस बातको लोग जानें और अपने पेटमें आमका संग्रह न होने दें, पेट स्वच्छ रखें और रोगसे मुक्त हों। रोगकी उत्पत्ति बता कर इस तरह इस पदने बडा महत्त्वपूर्ण ज्ञान यहां दिया है।

'अमीव' रोग है उनका 'चातन' समूल उच्चाटन करनेवाला 'अमी-व-चातन' है, रोगोंको दूर करनेवाला अग्नि है। यह रोगके मूलोंको दूर करता है। जाठराग्नि अच्छीतरह प्रदीप्त रहा तो पेटमें आमका संग्रह नहीं रहता और रोग दूर होते हैं। बाहर अग्नि जलने लगा तो उसमें वायुमें स्थित रोग-बीज जल जाते हैं और वायु शुद्ध होता है और इस रीतिसे नीरोगिता प्राप्त होती है। इसलिये कहा है—

ऋतुसंधिषु वै व्याधिर्जायते।
ऋतुसंधिषु यज्ञाः क्रियन्ते॥
(गोपथ. १।१९; कौ. ५।१)

'ऋतुकी संधिके समय रोग उत्पन्न होते हैं, इसलिये ऋतु-संधिमें यज्ञ किये जाते हैं।' यज्ञोंमें अग्नि प्रदीप्त होता है जो रोग-बीजोंको जलाता है तथा यज्ञमें विविध औषधियोंका हवन किया जाता है वह भी रोग निवारण करता है। अग्नि रोग दूर करनेवाला होनेसेही उसमें यज्ञ किये जाते हैं। रामायण में ऐसे वर्णन आते हैं कि-नगरोंमें जहा चार मार्ग मिलते हैं वहां प्रतिदिन अग्नि प्रदीप्त करके हवन किये जाते थे। पाठक कल्पना कर सकते हैं कि इस तरह नगरोंमें प्रत्येक चौराहेपर यदि हवन होंगे तो नगरकी वायु किस तरह शुद्ध होगी। प्रति-

दिन प्रत्येक घरमें हवन हो, नगरोंमें चार मार्ग मिलनेके स्थानों-पर हवन हो तथा देवताओंके मंदिरोंमें हवन हो । इस तरह होनेसे नगर आरोग्य-संपन्न हो सकेगा ।

२ **रिषतः रक्षस्विनः दह**- हिंसा करनेवाले राक्षसोंको जला दे । अर्थात् अग्नि हिंसक राक्षसोंको जला देता है । राक्षस और रक्षः (रक्षस्) ये पद जैसे बडे क्रूरकर्मा मानवोंके वाचक है, वैसेही वेदमें रोगजन्तुओंके भी वाचक हैं। (**रक्षान्ति एभ्यः**) जिनसे मनुष्योंको बचना चाहिये, वे राक्षस या रक्षस् है। रक्षस् क्षुद्रता-दर्शक पद है । सूक्ष्म कृमि ऐसा इनका अर्थ है । आगे अग्निके सूक्तोंमें राक्षस-वाचक अनेक पद आयेंगे, जिनका अर्थ रोगजंतु होगा । जहा ये पद आयेंगे वहा स्पष्टीकरणमें बताया जायगा, यहा सूचना मात्र लिखा है । 'रिष्' का अर्थ हिंसा करना है, नाश तथा घातपात करना है । ये जन्तु रोग उत्पन्न करके बडा संहार करते हैं इसलिये इनको यहां '**रिषतः**' (हिंसक) कहा है, जलानेसेही ये नष्ट होते हैं। अग्नि इनको जलाकर नष्ट कर देता है और सूर्य इनको अपने किरणोंसे नाश करता है। इसका वर्णन सूर्यके सूक्तोंमें आगे आनेवाला है । अग्नि रोग-बीजोंको किस तरह दूर करता है, इसका स्पष्टीकरण यहा कहा है।

३ **पावकः**- पवित्रता करनेवाला अग्नि है । अपवित्रतासे रोग-बीज बढते हैं। अग्नि पवित्रता करता है, इस कारण वह रोगोंका निवारण करता है । पवित्रता करनेवाले सभी पदार्थ रोग-निवारक होते हैं ।

४ **शुक्र-शोचिः**- पवित्रता बढानेवाले इसके किरण हैं, पवित्रता बढाकर रोग दूर करते हैं, इस कारण ये वीर्यवर्धक अथवा बलवर्धक भी हैं। सूर्य भी '**शुक्र-शोचिः**' है। 'शुक्र' पदका अर्थ 'पवित्र, बल, वीर्य, पराक्रम' है । पवित्र-तासे सिद्ध होनेवाले ये गुण हैं ।

५ **घृताहवनः**- घीका हवन अग्निमें होता है । यहां गौका घृत है । वेदमें गौको छोडकर भैंस आदि किसी अन्यके घीका वर्णन नहीं है । इसलिये जहा वेदमें घीका वर्णन हो वहा गौके घृतकाही वह वर्णन है, ऐसा समझना चाहिये । सब घी विषनाशक होता है, इसीलिये अग्निमें घीका हवन होता है । यह सूक्ष्म रूपसे वायुके साथ फैलता है और वायुको निर्विष या रोगबीज-रहित करता है । गौके घृतमें यह विष दूर करनेका गुण विशेषही है ।

६ **यज्ञस्य सुक्रतुः**- यज्ञका निष्पादकर्ता । यहां पूर्वोक्त गोपथ ब्राह्मणके वचनानुसार ऋतुसंधियोंमें रोग-नाशार्थ किये जानेवाले यज्ञोंका निष्पन्न-कर्ता ऐसा समझना उचित है ।

७ **हव्यवाह्**- हवन किये हुए औषधिद्रव्योंको तथा घृतादिको सूक्ष्म करके इतस्ततः वायुमें फैला देनेवाला और इससे रोगोंको हटानेवाला अग्नि है ।

इस रीतिसे कई अन्य पद अग्निके गुणोंका वर्णन कर रहे हैं, उनका विचार पाठक अवश्य करें ।

नवीन स्तोत्र

'**नवीयसा गायत्रेण स्तवानः**' (मंत्र ११) नवीन गायत्री छंदके स्तोत्रसे स्तुति जिसकी की गयी है, ऐसा अग्नि । इसमें गायत्री छन्दमें यह नवीन स्तोत्र किया गया, ऐसा प्रतीत होता है । इस विषयमें '**मंत्रपति, मंत्रद्रष्टा**' और '**मंत्र-कृत्**' ऐसे ऋषियोंके तीन वर्ग हैं । प्राचीन कालसे चले आये मंत्रोंका संग्रह करके उनकी पठन-पाठनसे रक्षा करनेवाले '**मन्त्र-पति ऋषि**' होते हैं । सनातन गुप्त ज्ञान अथवा तत्त्वज्ञानका दर्शन करनेवाले '**मन्त्रद्रष्टा ऋषि**' होते हैं। मंत्रोंकी रचना करनेवाले '**मन्त्रकृत् ऋषि**' कहलाते हैं। इस विषयमें तै० आरण्यकमें कहा है—

> नम ऋषिभ्यो मन्त्रकृद्भयो मन्त्रपतिभ्यः ।
> मा मां ऋषयो मन्त्रकृतो मन्त्रपतयः परा दुः ।
> माऽहं ऋषीन् मन्त्रकृतो मन्त्रपतीन् परा दाम् ॥
> (तै० आ० ४।१)

'मन्त्रकृत् और मंत्रपति ऐसे जो ऋषि हैं, उनको मेरा प्रणाम है। मन्त्रकृत् और मंत्रपति ऋषि मेरा तिरस्कार न करें और मैं मन्त्रकृत् और मन्त्रपति ऋषियोंका तिरस्कार कभी न करूंगा ।'

यहां 'मन्त्रकृत् और मन्त्रपति' का उल्लेख है। मन्त्रद्रष्टा पद निरुक्तमें है। मन्त्रकृत् जो ऋषि होते हैं उनको ही '**कारू**' (कारीगर) कहा है । यह कारू पद वेद-मंत्रोंमें अनेक वार आता है । कारूका अर्थ है करनेवाला, निर्माण कर्ता, रचना करनेवाला ।

मन्त्रपति और मन्त्रकृत् में भेद है। दोनों मन्त्रोंके द्रष्टा होते हैं। मन्त्रका अर्थ 'मनन करने योग्य ज्ञानका तत्त्व'। मन्त्रपति ऋषि उन मन्त्रोंमें इस गुप्त तत्त्वज्ञानको देखते हैं और उन प्राचीन समयसे चले आये मंत्रोंका संग्रह करते हैं और

पठन पाठन परंपराद्वारा उनको सुरक्षित रखने द्वारा पालन करते हैं। मन्त्रकृत् भी सनातन मनन योग्य गुप्त तत्त्वज्ञानको दिव्य दृष्टिसे देखते हैं और उनको मन्त्रमें रचनाविशेषसे सुस्थिर करते हैं अर्थात् दोनोंमें 'मननीय गुप्त तत्त्वज्ञानका दिव्य दृष्टिसे दर्शन 'समान ही है।

> युगान्तेऽन्तर्हितान्वेदान् सेतिहासान्महर्षयः।
> लेभिरे तपसा पूर्वं अनुज्ञाताः स्वयंभुवा ॥

' पूर्वयुगकी समाप्तिपर गुप्त हुए वेद इतिहासोंके समेत इस युगमें ऋषियोंने प्राप्त किये।' यहां इतिहास भी वैसेही प्राप्त हुए ऐसा लिखा है। अस्तु। मन्त्रद्रष्टा, मन्त्रकृत् और मन्त्रपति ये तीन प्रकार ऋषियोंके है, यही यहां ध्यानमें धरने योग्य बात है। यह विषय आगे आनेवाला है, अतः इसका अधिक विवरण आगे यथासमय आयेगा।

वीरोंके साथ रहनेवाला धन

' **वीरवतीं रयिं इषं च नः आ भर**' वीरोंके साथ रहनेवाला धन और अन्न हमें भरपूर भर दे। हमें ऐसा धन नहीं चाहिये कि जिसके साथ वीर न हों, ऐसा अन्न भी नहीं चाहिये जो वीरता तथा वीर्य उत्पन्न न करे। यहांका वीर पद ' पुत्र और शूर वीर' दोनोंका बोध करता है। पुत्रका भी नाम वीर इसलिये है कि वह (**वीरयति अमित्रान्**) शत्रुओंको दूर भगानेका सामर्थ्य रखता है। जो ऐसा सामर्थ्य रखता है उसीको ' **वीर** ' संज्ञा वेद देता है। ऐसे शूरवीर जिस धनके रक्षक होंगे और ऐसे शूरवीर जिस अन्नसे निर्माण होंगे वही धन और वही अन्न हमें चाहिये। निर्बलता उत्पन्न करनेवाला धन और अन्न हमें नहीं चाहिये।

मधुच्छन्दा ऋषिके दर्शनमें यह विषय (ऋ. १।१।३ में पृष्ठ ४ पर तथा ऋ. ८।१।१ में पृ. ३३ पर और पृ. ३६ पर) है वह वहां पाठक देखें और इसके साथ उसकी तुलना करें।

पुनरुक्त मंत्र-भाग

अग्ने देवान् इह आ वह। (मं० ३,१०)

यह चरण यहां दोवार आया है। मंत्र ३ और मंत्र १० तथा यही ऋ. १।१५।४ में भी है। अग्नि अपने रथपर सब देवोंको रखता है और यज्ञस्थानमें लाता है। इस विषयका स्पष्टीकरण ' **अग्निविद्या**' ग्रंथमें किया है, तथा दैवतसंहिता प्रथम भाग ' अग्निमंत्र-संग्रह ' की भूमिकामें गया किया है।

मनुष्यका शरीर अग्निका रथ है, इस रथको दस घोडे जोते है, ये दश इंद्रियाँही हैं। इस रथमें सब देवताएं हैं।

> यस्य त्रयस्त्रिंशद्देवा अंगे सर्वे समाहिताः।
> स्कम्भं तं ब्रूहि कतमः स्विदेव सः ॥ १३ ॥
> यस्य त्रयस्त्रिंशद्देवा अंगे गात्रा विभेजिरे।
> तान् वै त्रयस्त्रिंशद्देवानेके ब्रह्मविदो विदुः ॥ २७ ॥
> (अथर्व. १०।७)

'तैंतीस देव अंगोंके गात्रोंमें रहते हैं। शरीरका प्रत्येक अवयव इस तरह देवताका स्थान है। '

इस तरह इस शरीररूपी रथमें तैंतीस देवताए हैं। तैंतीस देवताका अर्थही सब देवताएं हैं, क्योंकि तैंतीस देवताओंके अन्तर्गत सब देवताएं है। जब इस शरीरका गर्भमें निवास होता है, तब यह अग्निदेव अपने साथ इन सब देवताओंको लाता है और इस रथपर रखता है और इस रथमें स्वयं बैठकर यज्ञभूमिमें लाता है। इस रीतिसे अग्निदेवके शरीररूपी रथपर बैठकर सब देवगण इस विश्वरूपी यज्ञभूमिपर आते हैं और यहा शतसांवत्सरिक यज्ञ करते है। शरीरमें जठराग्निमें डाली हुई आहुतियां यहांके सब देवताओंको यथायोग्य रीतिसे पहुंचतीं हैं। यह यज्ञ यहा चल रहा है। पाठक विचार करके इस यज्ञके गुप्त तत्त्वको जाननेका यत्न करें।'

ज्ञानी अग्नि

' **कविः अग्निः** ' मंत्र ६ और ७ में कहा है। यही अग्नि है। विद्वान्को संकृतमें ' **विदग्ध** ' कहते हैं। विशेष रीतिसे ज्ञानाग्निमें भूना या जला हुआ। ज्ञानाग्निसे जिसका अज्ञान पूर्णतया जल गया है. वह विदग्ध है। ' **विदग्ध** 'का अर्थ- 'जला हुआ, बुद्धिमान्, चतुर, कारीगर, विद्वान्, प्रिय, सुंदर' है। ये सब अर्थ अग्निके सूक्तोंमें पाठक देखेंगे।

अग्निना अग्निः समिध्यते...युवा। (मंत्र ६)

वृद्ध अग्निसे (ज्ञानीसे) युवा अग्नि (बुद्धिमान् युवक) प्रदीप्त किया जाता है, सिलगाया जाता है, ज्ञानी किया जाता है। मधुच्छन्दा ऋषिके दर्शनमें कहा है कि-

केतुं कृण्वन्नकेतवे। (ऋ. १।६।३).

' अज्ञानीके लिये ज्ञान देता है।' यही भाव अंशतः यहा है।

युवाको वृद्ध अपने अनुभवके ज्ञानसे प्रदीप्त करता है। एक दीपसेही दूसरा दीप जगाया जाता है। एक अग्निसेही उस तरह दूसरा अग्नि जगाया जाता है। यही व्यवहार इस विश्वमें हो रहा है। सूर्यका अग्नि शाश्वत टिकनेवाला है, उसके किरणोंको काचमणिसे सूखे घासपर कुछ समय तक रखा जाय तो यह अग्नि जाग उठता है। यही सूर्यरूपी एक अग्निसे अग्निरूपी दूसरे अग्निका जलाना है।

प्रजापालक

इस सूक्तमें '**विश्-पति**' पद द्वितीय मंत्रमें है। राजा प्रजापालक है। इस सूक्तमें कहे अनेक पद राजाके भी गुण बता सकते हैं। वह राजा (विश्पतिः) प्रजाका योग्य पालन करे, वह (हव्य-वाह्) अन्नको सब प्रजाजनोंतक पहुंचावे, किसीको भूखा न रखे, (विश्व-वेदाः) सब धनोंको पास रखे, सब ज्ञानोंको बढावे, (यज्ञस्य सुक्रतुः) राज्यशासनरूप यज्ञको अच्छीतरह निभावे, (रक्षस्विनः रिषतः दह) घातपात करनेवाले क्रूरकर्मा दुष्टोंका नाश करे, (देवान् इह आवह) ज्ञानदेव, वीरदेव, धनदेव, कर्मदेव और वनदेवोंको यहां उत्तम रीतिसे रखे और इनमें जो अदेव-असुर-होंगे उनका नाश करे, (सत्यधर्मा) सत्य धर्मसे राज्य करे, (पावकः) सर्वत्र पवित्रता करे, (मृळय) सबको सुख देवे, (अमीव-चातनः) सब रोगोंको दूर करनेका प्रबंध करे, इस तरह राज्यशासन करनेसे (पुरु प्रियः) सब प्रजाजनोंको प्रिय बने।

इस तरह विचार करके राज्यशासनकी विद्याका ज्ञान पाठक विचारपूर्वक प्राप्त करें।

---

(२) यज्ञकी तैयारी

(ऋ. १-१३) मेधातिथिः काण्वः (आप्रीसूक्तं, अग्निरूपा देवताः=) १ इध्मः समिद्धोऽग्निर्वा, २ तनूनपात्, ३ नराशंसः, ४ इळः, ५ बर्हिः, ६ देवीर्द्वारः, ७ उषासानक्ता, ८ दैव्यौ होतारौ प्रचेतसौ, ९ तिस्रो देव्यः सरस्वतीळाभारत्यः, १० त्वष्टा, ११ वनस्पतिः, १२ स्वाहाकृतयः। गायत्री।

सुसमिद्धो न आ वह देवाँ अग्ने हविष्मते । होतः पावक यक्षि च । १
मधुमन्तं तनूनपाद् यज्ञं देवेषु नः कवे । अद्या कृणुहि वीतये २
नराशंसमिह प्रियमस्मिन् यज्ञ उप ह्वये । मधुजिह्वं हविष्कृतम् ३
अग्ने सुखतमे रथे देवाँ ईळित आ वह । असि होता मनुर्हितः ४
स्तृणीत बर्हिरानुषग् घृतपृष्ठं मनीषिणः । यत्रामृतस्य चक्षणम् ५
वि श्रयन्तामृतावृधो द्वारो देवीरसश्चतः । अद्या नूनं च यष्टवे ६
नक्तोषासा सुपेशसाऽस्मिन् यज्ञ उप ह्वये । इदं नो बर्हिरासदे ७
ता सुजिह्वा उप ह्वये होतारा दैव्या कवी । यज्ञं नो यक्षतामिमम् ८
इळा सरस्वती मही तिस्रो देवीर्मयोभुवः । बर्हिः सीदन्त्वस्रिधः ९
इह त्वष्टारमग्रियं विश्वरूपमुप ह्वये । अस्माकमस्तु केवलः १०
अव सृजा वनस्पते देव देवेभ्यो हविः । प्र दातुरस्तु चेतनम् ११
स्वाहा यज्ञं कृणोतनेन्द्राय यज्वनो गृहे । तत्र देवाँ उप ह्वये १२

अन्वयः- हे पावक होतः अग्ने! सुसमिद्धः (त्वं) हविष्मते, देवान् नः आ वह, यक्षि च ॥१॥ हे कवे! (त्वं) तनूनपात् अद्य नः मधुमन्तं यज्ञं वीतये देवेषु कृणुहि ॥२॥ इह अस्मिन् यज्ञे प्रियं मधुजिह्वं हविष्कृतं नराशंसं उपह्वये ॥३॥ हे अग्ने! ईळितः सुखतमे रथे देवान् आ वह, (त्वं) मनुर्हितः होता असि ॥४॥ हे मनीषिणः! घृतपृष्ठं, बर्हिः आनुषक्

स्तृणीत, यत्र अमृतस्य चक्षणं ॥५॥ अद्य नूनं यष्टवे च, ऋतावृधः असश्चतः देवीः द्वारः विश्रयन्ताम् ॥६॥ सुपेशसा नक्तोषासा अस्मिन् यज्ञे उपह्वये, नः इदं बर्हिः आसदे ॥७॥ ता सुजिह्वौ होतारा दैव्या कवी उपह्वये, नः इमं यज्ञं यक्षताम् ॥८॥ इळा सरस्वती मही तिस्रः देवीः मयोभुवः । अस्त्रिधः बर्हिः सीदन्तु ॥९॥ अग्रियं विश्वरूपं त्वष्टारं इह उप ह्वये । (सः) केवलः अस्माकं अस्तु ॥१०॥ हे देव वनस्पते! देवेभ्यः हविः अव सृज, दातुः चेतनं प्र अस्तु ॥११॥ यज्वनः गृहे इन्द्रस्य यज्ञं स्वाहा कृणोतन । तत्र देवान् उपह्वये ॥१२॥

अर्थ- हे पवित्रता करनेवाले और हवन करनेवाले अग्ने! उत्तम प्रदीप्त हुआ तू हवन करनेवालेके ऊपर कृपा करनेके लिये, सब देवोंको हमारे पास ले आ और (उनके उद्देश्यसे) हवन कर ॥१॥ हे बुद्धिमान् अग्ने! (तू) शरीरको न गिरानेवाला है, अतः आज हमारे इस मधुर यज्ञ (के अन्न) को (देवोंके) सेवन करनेके लिये देवोंतक पहुंचा दे॥२॥ यहां इस यज्ञमें प्रिय मधुरभाषणी और हविकी सिद्धता करनेवाले तथा मनुष्योंद्वारा प्रशंसित (अग्निको) मैं बुलाता हूं ॥३॥ हे अग्ने! प्रशंसित हुआ (तू) उत्तम सुख देनेवाले रथमें (बिठलाकर) देवोंको (यहां) ले आ। (क्योंकि तू) मानवोंका हितकर्ता (और देवोंको) बुलानेवाला है ॥४॥ हे बुद्धिमान् लोगों! घीके समान चमकनेवाले आसन (यहां) साथसाथ फैला दो, जहां अमृतका साक्षात्कार होगा ॥५॥ आज निःसंदेह यज्ञ करनेके लिये, सत्यको बढानेवाले, दूसरेके साथ मिले न रहते हुए, ये दिव्य द्वार खुल जायँ ॥६॥ सुंदररूपवाली रात्रि और उषा (इन दो देवताओं)को इस यज्ञमें मैं बुलाता हूं, हमारा यह आसन (उनके) बैठनेके लिये है ॥७॥ उन उत्तम भाषण करनेवाले, (दोनों) याजक दिव्य कवियोंको मैं (यहां) बुलाता हूं, (वे) हमारे इस यज्ञको संपन्न करें ॥८॥ भूमि, सरस्वती और वाणी (ये) तीन देवताएं सुख देनेवालीं हैं, वे क्षीण न होतीं हुईं आसनपर बैठें ॥९॥ प्रथम पूजनीय नाना रूपोंके निर्माता कारीगरको यहाँ बुलाता हूं, वह केवल हमारा ही होवे ॥१०॥ हे वनस्पति-देव! देवोंके लिये हविरूप अन्न दो। दाताके लिये उत्साह प्राप्त होवे ॥११॥ याजकके घरमें, यज्ञशालामें, इन्द्रदेवताके लिये यज्ञ स्वाहा (करके) करें। वहां देवोंको बुलाता हूं ॥१२॥

आप्रीसूक्त

यह आप्रीसूक्त है। आप्री अथवा आप्रिय ये नाम वेदमें अग्निके हैं। यज्ञका प्रारंभ करनेकी तैयारीके ये आप्री-सूक्त हैं। वेदमें निम्नलिखित आप्रीसूक्त हैं-

ऋषि	स्थान	मंत्रसंख्या
१ मेधातिथिः काण्वः	ऋ. १।१३।१-१२	१२
२ दीर्घतमा औचथ्यः	१।१४२।१-१३	१३
३ अगस्त्यो मैत्रावरुणः	१।१८८।१-११	११
४ गृत्समदः शौनकः	२।३।१-११	११
५ विश्वामित्रो गाथिनः	३।४।१-११	११
६ वसुश्रुत आत्रेयः	५।५।१-११	११
७ वसिष्ठो मैत्रावरुणिः	७।२।१-११	११
८ असितः काश्यपः	९।५।१-११	११
९ सुमित्रो वाध्यश्वः	१०।७०।१-११	११
१० जमदग्निर्भार्गवः	१०।११०।१-११	११
११ प्रजापतिः	वा. य. २०।३६-४६ तै. सं. २।६।८, काठक ३८।६,	११
१२	वा० य० २०।५६-६६	११
१३	२१।१२-२२	११
१४	२१।२९-४०	११
१५	२७।११-२२	११
१६ ब्रह्मा	अथर्व० ५।२७	१२
१७	वा० यजु० २८।१-११	११
१८	२८।२४-३४	११
१९	२९।१-११	११
२०	२९।२५-३६	११
२१	परिशिष्ट	१३

इतने आप्रीसूक्त वैदिक संहिताओंमें हैं। जो वाजसनेयी यजुर्वेदमें हैं, वे प्रायः तैत्तिरीय, काठक, मैत्रायणी आदि याजुष संहिताओंमें हैं। इनमें प्रायः ११ देवताएं होती है, परंतु दो तीन सूक्तोंमें एक दो देवताएं अधिक हैं। इन सबमें देवताओं का क्रम एकसाही है। इसलिये केवल इन आप्री-सूक्तोंका ही

इकट्ठा अभ्यास करना योग्य होगा। तथापि यहां हम इसी सूक्तके विषयमें अपने विचार लिखते हैं।

देवताओंका क्रम

आप्री-सूक्तोंमें देवताओंका क्रम सर्वत्र एकसा रहता है, जो निम्नलिखित प्रकार है—

१ **सुसमिद्ध अग्निः**- प्रदीप्त प्रज्वलित अग्नि।

२ **तनूनपात्**- शरीरको न गिरानेवाला, शरीरका धारक अग्नि। शरीरमें उष्णता रहनेतक ही (तनू-न-पात्) शरीर गिरता नहीं। जब शरीरसे अग्नि चला जाता है, तब शरीर गिरता है। शरीरका कार्य इस तरह अग्निका कार्य है। (तनूनपात्) सूर्यरूपी शरीरका पुत्र विद्युत् अग्नि है और उसका पुत्र पार्थिव अग्नि है। इसलिये यह सूर्यका पोता है।

३ **नराशंसः**- मनुष्योंद्वारा प्रशंसित, नेताओंकी जहां प्रशंसा होती है, नेताही जिसकी प्रशंसा करते हैं।

४ **इळः**- (इडः, इलः, इडा, इला) प्रशंसा-योग्य, अग्नि, अन्न, प्रार्थनाका मंत्र।

५ **बर्हिः**- आसन, चटाई, दर्भ।

६ **देवीः द्वारः**- दिव्य द्वार।

७ **नक्तोषासा**- रात्री और उषा, उषाके पूर्वका रात्रीका भाग।

८ **दैव्या होतारा**- दिव्य होता गण।

९ **तिस्रः देवी**- तीन देवताएं, (१) **इळा**-मातृभूमि, (२) **सरस्वती**-मातृसभ्यता और (३) **मही** (भारती)- मातृभाषा।

१० **त्वष्टा**- कारीगर, रचना करनेवाला कर्ममें कुशल।

११ **वनस्पति**- औषधि, वनस्पति, साग

१२ **स्वाहाकृतिः**- (स्व-आ-हा) अपने स्वामित्वके अन्दर जो होगा, उसका समर्पण करना, यज्ञ करना।

१३ **इन्द्रः**- प्रभु, स्वामी, ईश्वर।

इनमें प्रायः ' **इन्द्र** ' नहीं रहता और ' **नराशंस** ' और '**तनूनपात्** ' में से कोई एक रहता है। इस तरह दो देवताओंके कम होनेसे शेष ग्यारह देवताएं रहती हैं जो बहुत आप्री-सूक्तोंमें रहती हैं।

प्रातःसमय का वर्णन

' **उषासानक्ता** ' अथवा ' **नक्तोषासा** ' इस देवतासे यह समय ब्राह्म मुहूर्तके पश्चात् भागका प्रतीत होता है। (नक्त) रात्रिके साथ (उषा) उषःकालका समय अर्थात् जिस समय में थोडीसी रात्रि भी है और उषा भी थोडीसी शुरू हुई है, ऐसा जो समय है, उस समय यज्ञकी तैयारी करनेका कार्य शुरू होता है। ये सब मंत्र इस समयके कार्यके सूचक हैं। (मंत्र७)

द्वारोंका खोलना

इस समय दिव्य द्वार, यज्ञ-शालाके द्वार खोले जाते हैं। ये दिव्य द्वार हैं क्योंकि इन द्वारोंमेंसे अन्दर आकर यज्ञमें मनुष्य संमिलित हो सकते हैं। यज्ञही सबसे परम श्रेष्ठ और उत्तम कर्म है। इन द्वारोंसे अन्दर आकर यज्ञ करना संभव है इसलिये इस पवित्र यज्ञके कारण ये द्वार भी पवित्र ही हैं। पवित्र यज्ञतक पहुंचानेवाले द्वार दिव्यही हो सकते हैं। (मं. ६)

ज्ञानी दिव्य होताओंको बुलाना

(कवी दैव्यौ होतारौ) ज्ञानी दिव्य होताओंको बुलाया जाता है। ये (सु-जिह्वौ) उत्तम मीठी जबानवाले, उत्तम वक्ता होते हैं। ये आते हैं और यज्ञको यथायोग्य रीतिसे सिद्ध करते हैं। (मं. ८)

अग्निको प्रदीप्त करना

ये ऋत्विज् यज्ञशालामें आते हैं और अग्निको (सुसमिद्ध) उत्तम रीतिसे प्रदीप्त करते हैं। क्योंकि प्रदीप्त और प्रज्वलित अग्निमेंही हवन किया जाता है। जिसकी ज्वालाएं होती हैं उस अग्निमेंही हवन होता है। यही अग्नि (पावकः) पवित्रता करता है और यजन करने योग्य होता है। (मं. १)

शरीरको न गिरानेवाला

मनुष्य तथा अन्य प्राणीके शरीर उसमें अग्नि रहनेतक, उनमें उष्णता रहनेतकही कार्य करते हैं, चलना फिरना आदि सब कर्म शरीरमें उष्णता रहनेतकही हो सकते हैं। उष्णता चली गयी, शरीर ठंडा हो गया, तो यह शरीर मुर्दा बनता है और कोई कार्य करनेमें समर्थ नहीं होता। इसलिये अग्निको ' तनू-न-पात् ' शरीरको न गिरानेवाला कहा है। संपूर्ण विश्वमें अग्निका यही कार्य है। सबको यथास्थानमें रखकर भ्रमण करानेवाला अग्निही है। (मं. २)

इसीलिये इसकी प्रशंसा (नर-आ-शंस) सभी मनुष्य करते हैं। क्योंकि सब ज्ञानी जानते हैं कि इसके बिना विश्वमें कुछ भी कार्य नहीं हो सकता। (मं. ३)

सुखतम रथ

जिससे अत्यंत सुख होता है ऐसे रथमें बैठकर यह अग्नि सब देवोंको इस यज्ञभूमिमें लाता है और (मनुर्हितः) मनुष्योंका हित करता है। इस विषयमें पूर्व सूक्तमें विशेष स्पष्टीकरण किया है। (मं. ४)

अमृतका दर्शन

यहांही 'अमृतका दर्शन' (**अमृतस्य चक्षणं**) होता है। यहां सब देवताओंके लिये (आनुषक्) साथ साथ आसन फैलाये हैं। आंख नाक कान आदि इंद्रियोंमें आसनोंपर ये देव आकर बैठते हैं और यज्ञ करते हैं। इस यज्ञमेंही अमृतका साक्षात्कार होता है। इसलिये कहा है--

ये पुरुषे ब्रह्म विदुः ते विदुः परमेष्ठिनम्।

(अथर्व १०।७।१७)

जो पुरुषमें ब्रह्म देखते हैं वेही परमेष्ठी प्रजापतिका दर्शन करते है। यही अमृतका दर्शन है। यहां जो यज्ञ चलता है उसका अन्तिम फल अमृतका साक्षात्कारही है। (मं. ५)

तीन देवियां

(इळा) मातृभूमि, (सरस्वती) मातृसंस्कृति, (मही-भारती) मातृभाषा ये तीन देवियां उपासनाके योग्य है। ये बडी सुख देनेवाली है। (इळा, इडा, इरा) अन्न देनेवाली भूमीमाता यह प्रथम उपास्य है। इसकी भक्तिके लिये '**मातृभूमि सूक्त**' (अथर्व १२।१ मे) है। उसका विचार यहां पाठक करें। यह स्थानका संबंध है। (सरस्-वती) प्रवाहसे अनादि जो सभ्यता है वह भी रक्षा करने योग्य है। यह मानवी जीवनका मार्ग बताती है। अनादिकालके साथ संबंध जोडनेवाली यही दिव्य भावना है जो अनंत कालमें एकताका भाव निर्माण करती है। प्राचीनतम ऋषियोंके साथ हमारा संबंध जोडनेवाली यही सरस्वती है। जिसतरह उत्पत्तिस्थानके साथ समुद्रका संबंध नदी जोडती है, उसीतरह यह सभ्यता प्रत्येक व्यक्तिका संबंध ऋषियोंसे जोडती है। यह कालका संबंध है, तीसरी देवता मही है, इसीको अन्य आप्रीसूक्तोंमें भारती कहा है। भारती नाम वाणीका है। मातृभाषाही भारती है। भूमि, सभ्यता और वाणी इनमें मनुष्यकी मानवता

रहती है। इसलिये यज्ञके द्वारा इनकी सुरक्षा और उन्नति की जाती है। जिस कर्मसे इनकी अवनति होगी, वे कर्म करने नहीं चाहिये और जिससे इनकी उन्नति होगी वे कर्म करने चाहिये। यही कर्म यज्ञनामसे प्रसिद्ध हैं। (मं. ९)

विश्वरूप त्वष्टा

त्वष्टा कारीगरका नाम है 'विश्वरूप त्वष्टा' है, जो मूल कारीगर है वह विश्वरूप है। '**विश्वं विष्णुः**' विश्वही विष्णु है और जो विष्णु है वही विश्व है अर्थात् विश्वरूप है। इस विश्वरूप देवकी ही सेवा करनी चाहिये।

नगरोंमें तर्खाण आदि जो (त्वष्टा) कारीगर हैं उनका संमान करना योग्य है। यज्ञमें उनका सन्मान होता है। यज्ञका मंडप वह तैयार करता है, यज्ञपात्र वह बनाता है, घर वह बनाता है। मानवी जीवनमें कारीगरोंका बडाभारी उपयोग है। ये कारीगर विश्वरूप अर्थात् नानारूप बनाते हैं। इसीलिये उनको सम्मानपूर्वक बुलाना योग्य है। (मं. १०)

वनस्पतियोंसे अन्न

(**वनस्पते ! देवेभ्यः हविः अवसृज**) हे औषधि-वनस्पतियों ! देवोंके लिये अन्नका निर्माण करो। (**पर्जन्यात् अन्नसंभवः**। गीता ३।१४) पर्जन्यसे अन्न उत्पन्न होता है। पर्जन्यसे औषधियां और (**ओषधिभ्यो अन्नं**) औषधियोंसे अन्न उत्पन्न होता है। यही अन्न देवोंको दिया जाता है और पश्चात् यज्ञशेषका सेवन किया जाता है। इसी यज्ञशेष अन्नको 'अमृत' कहते हैं। (मं. ११)

दाताको उत्साह

(**दातुः चेतनं अस्तु**) दाताके लिये उत्साह मिले। अधिक दान करते रहनेका उत्साह मनुष्योंमें बढे। इससे यज्ञ-कर्मकी वृद्धि होगी और मनुष्योंका हित होगा। (मं. ११)

स्वाहा करो

(**स्व-आ-हा-कृतिः**) जो अपनी वस्तु है, उसको सबकी भलाईके लिये अर्पण करनेका नाम 'स्वाहा कृति' है। इसीका नाम यज्ञ है। यज्ञकी यह उत्तमसे उत्तम व्याख्या है। यज्ञही श्रेष्ठतम कर्म है। मनुष्यका जीवनही एक शतसांवत्सरिक यज्ञ है। और इस यज्ञमें 'स्वाहा' ही मुख्य है अर्थात् समर्पणही मुख्य किया है। (मं. १२)

संक्षेपसे इस आप्री सूक्तका भाव इस तरह यहां दिया है।

शेष मंत्रोंके अर्थोंसे सूक्तका भाव स्पष्ट हो सकता है। अतः प्रत्येक मन्त्रके स्पष्टीकरणकी आवश्यकता नहीं है। प्रायः हरएक आप्री सूक्तके मंत्रोंमें देवताएं इसी क्रमसे होती हैं, और वर्णन के पद भी ऐसेही रहते है।

अग्निका वर्णन

('पावकः) पवित्रता करनेवाला, (होतः) बुलानेवाला, या हवन करनेवाला, (तनू-न-पात्) शरीरको न गिरानेवाला, शरीरधारक, (कविः) ज्ञानी, (नराशंसः) मनुष्योंद्वारा प्रशंसित, (मधुजिह्वः) मधुरभाषी, मीठी जबानवाला, (हविष्कृत्) अन्न सिद्ध करनेवाला, (मनुः-हित.) मानवोंका हितकर्ता, ये पद विचार करने योग्य है। ये गुण मानवोंको अपने अन्दर बढाने चाहिये।

---

(३) हिंसारहित कर्म

(ऋ. मं. १।१४) मेधातिथिः काण्व.। विश्वे देवाः (विश्वैर्देवैः सहितोऽग्निः)। गायत्री।

ऐभिरग्ने दुवो गिरो विश्वेभिः सोमपीतये । देवेभिर्याहि यक्षि च १
आ त्वा कण्वा अहूषत गृणन्ति विप्र ते धियः । देवेभिरग्न आ गहि २
इन्द्रवायू बृहस्पतिं मित्राग्निं पूषणं भगम् । आदित्यान् मारुतं गणम् ३
प्र वो भ्रियन्त इन्दवो मत्सरा मादयिष्णवः । द्रप्सा मध्वश्चमूषदः ४
ईळते त्वामवस्यवः कण्वासो वृक्तबर्हिषः । हविष्मन्तो अरंकृतः ५
घृतपृष्ठा मनोयुजो ये त्वा वहन्ति वह्नयः । आ देवान्त्सोमपीतये ६
तान् यजत्राँ ऋतावृधोऽग्ने पत्नीवतस्कृधि । मध्वः सुजिह्व पायय ७
ये यजत्रा य ईड्यास्ते ते पिबन्तु जिह्वया । मधोरग्ने वषट्कृति ८
आकीं सूर्यस्य रोचनाद् विश्वान्देवाँ उषर्बुधः । विप्रो होतेह वक्षति ९
विश्वेभिः सोम्यं मध्वग्न इन्द्रेण वायुना । पिबा मित्रस्य धामभिः १०
त्वं होता मनुर्हितोऽग्ने यज्ञेषु सीदसि । सेमं नो अध्वरं यज ११
युक्ष्वा ह्यरुषी रथे हरितो देव रोहितः । ताभिर्देवाँ इहा वह १२

अन्वय — हे अग्ने! एभिः विश्वेभिः देवेभिः सोमपीतये आयाहि। (अस्माकं) दुवः गिरः च (शृणुहि)। यक्षि च ॥१॥ हे विप्र अग्ने! कण्वाः त्वा आ अहूषत। ते धियः गृणन्ति। देवेभिः आ गहि ॥२॥ (हे अग्ने) इन्द्रवायू बृहस्पतिं मित्राग्निं पूषणं भगं आदित्यान् मारुतं गणं (यक्षि) ॥३॥ चमूषदः मत्सराः मादयिष्णवः द्रप्साः मध्वः इन्दव वः प्र भ्रियन्ते ॥४॥ हविष्मन्तः अरंकृताः वृक्तबर्हिषः अवस्यव. कण्वासः त्वां ईळते ॥५॥ (हे अग्ने) ये घृतपृष्ठाः मनोयुज. वह्नयः त्वा वहन्ति, (तैः) सोमपीतये देवान् आ (वह) ॥६॥ हे अग्ने! तान् यजत्रान् ऋतावृधः (देवान्) पत्नीवतः कृधि। हे सुजिह्व! मध्वः पायय ॥७॥ हे अग्ने! ये यजत्राः, ये ईड्याः, ते ते वषट्कृति मधोः जिह्वया पिबन्तु ॥८॥ विप्रः होता उषर्बुधः विश्वान् देवान् सूर्यस्य रोचनात् इह आकीं वक्षति ॥९॥ हे अग्ने! (त्वं) विश्वेभिः (देवैः), इन्द्रेण, वायुना, मित्रस्य धामभिः सोम्यं मधु पिब ॥१०॥ हे अग्ने! मनुर्हितः होता त्वं यज्ञेषु सीदसि। सः (त्वं) नः इमं अध्वरं यज ॥११॥ हे देव! अरुषीः हरितः रोहितः रथे युक्ष्वहि। ताभिः देवान् इह आ वह ॥१२॥

अर्थ— हे अग्ने! इन सब देवोंके साथ सोमपान करनेके लिये (यहां) आओ, (हमारी) पूजा (और प्रार्थनाके) शब्द (सुन लो। और इस) यज्ञकी पूर्तता करो ॥१॥ हे ज्ञानी अग्ने! कण्व तुझे बुला रहे हैं। तेरी बुद्धिकी (तथा

तेरे कर्मोंकी) प्रशंसा कर रहे हैं । (अतः) देवोंके साथ यहां आओ ॥२॥ इन्द्र, वायु, बृहस्पति, मित्र, अग्नि, पूषा, भग, (द्वादश) आदित्य और (उनचास) मरुतोंका समूह (इन सबको यहां बुलाकर इनके लिये यजन कर) ॥३॥ पात्रमें रखे आनन्दवर्धक, उत्साह बढानेवाले टपकनेवाले मधुर सोमरस यहां आपके लिये भरे रखे हैं ॥४॥ अन्न सिद्ध करनेवाले, अलंकृत हुए, (आपके लिये) आसन फैलानेवाले, अपनी सुरक्षाकी इच्छा करनेवाले ये कण्व तेरी स्तुति गाते हैं ॥५॥ (हे अग्ने !) जो घी (लगानेके समान तेजस्वी) पीठवाले, मनके (इशारेसे) जोते जानेवाले रथको ढोनेवाले (तेरे घोडे हैं उनसे तू) सोमपान करनेके लिये देवोंको (यहां) ले आ ॥६॥ हे अग्ने ! यज्ञ सिद्ध करनेवाले और सत्यकी वृद्धि करनेवाले (देवोंको उनकी धर्म-) पत्नियोंके साथ मिला दो और हे उत्तम जबानवाले (मधुरभाषणी देव ! उनको) मधुर सोमरस पिलाओ ॥७॥ हे अग्ने ! जो याजक हैं और जो स्तुति करने योग्य देव हैं, वे (सब देव) वषट्-कार (से यज्ञका) कर्म होनेके समय मधुर रसका अपनी जिह्वासे पान करें ॥८॥ ज्ञानी याजक उषःकालमें जागनेवाले सब देवोंको सूर्यके प्रकाशसे यहां ले आता है ॥९॥ हे अग्ने (तूं) सब देवों, इन्द्र, वायु और मित्रकी सब विभूतियोंके साथ मधुर सोमरस पी ॥१०॥ हे अग्ने ! मनुष्योंका हितकर्ता जाजक तू यज्ञोंमें बैठता है । वह (तूं) हमारे इस यज्ञका यजन कर ॥११॥ हे देव अग्ने! गतिमान् ढोनेवाली लाल घोडियाँ अपने रथको जोड । उनकेद्वारा देवोंको यहाँ ले आ ॥१२॥

मंत्रोंमें कण्वोंका नाम

इस सूक्तके दो मन्त्रोंमें **' कण्वा , कण्वासः '** ये पद है। पूर्व सूक्तमें **' नवीयसा गायत्रेण स्तवानः ।'** (ऋ० १।१२।११) नये गायत्री छन्दके स्तोत्रसे अग्निकी स्तुति की जाती है ऐसा कहा है । और इस सूक्तमें-

कण्वाः त्वा आ अहूषत । (२)
कण्वासः त्वां ईळते । (५)

' कण्व तेरी स्तुति करते है ' ऐसा कहा है । इस सूक्तका ऋषि **' मेधातिथिः काण्वः '** है अर्थात् यह कण्व गोत्रमें उत्पन्न है, अतः इसका गोत्रज नाम 'कण्व' है । हमारे गोत्रज सब कण्वऋषि अग्निकी स्तुति करते आये हैं, ऐसा यहां इसका आशय दीखता है। ' कण्व ' पद ' कण् ' धातुसे बनता है। ' कण् ' धातुका अर्थ कराहना है । जो कराहता हुआ चिल्लाता है वह कण्व है। जो दु:खे कराहता है वह कण्व है। यह अर्थ लेकर **' कण्वाः त्वा आ अहूषत। कण्वासः त्वा ईळते । '** इनका अर्थ दुःखसे त्रस्त हुए भक्त लोग तेरी स्तुति या उपासना करते हैं ऐसा भी होना संभव है। पर पूर्व सूक्तमें जो ' नया गायत्री छन्दका सूक्त ' करनेका उल्लेख है उसके साथ इसका संबंध देखनेसे यहां कण्व पद गोत्रवाचक प्रतीत होता है। पाठक इसका मनन करें ।

देवोंके साथ आना

अग्निका देवोंको अपने साथ लेकर आना इस सूक्तमें कई-वार कहा है—

एभिः विश्वेभिः देवेभिः आ याहि । (१)
हे अग्ने ! देवेभिः आ गहि । (२)
ये त्वा वहन्ति (तैः) देवान् आ (वहः) । (६)
विप्रः विश्वान् देवान् इह वक्षति ! (९)
रथे रोहितः युक्ष्व । ताभिः देवान् इह आ वह । (१२)

अग्नि अपने रथको लाल घोडियॉ जोतता है और उस रथमे सब देवोंको बिठलाता और यज्ञभूमिपर लाता है । लाकर उनको आसनोंपर बिठलाता और उन सबको सोमरस पिलाता है और वे उससे सोम पीते भी हैं । पूर्व सूक्तमे भी देवोंको यज्ञमें लानेका वर्णन है। अग्निकी घोडियॉ उसकी ज्वालायें या उषाकी किरणें मानी जायगी तो यह वर्णन केवल काल्पनिकही मानना पडेगा। यदि अग्निका रथ सत्य रथ है ऐसा मानना होगा, तो इन देवताओंकी छोटी छोटी मूर्तियां थीं ऐसा मानना पडेगा, पर वैसा माननेपर उनको सोमरस पिलाना संभव नहीं होगा।

इसलिये यज्ञभूमि यह कर्मभूमि है और यह मनुष्य शरीर अग्निका रथ है, इसमें दस इंद्रियॉ दस घोडे हैं, सब देव इस शरीररूपी रथमें यथा स्थान बैठे हैं, और अन्न तथा रसका भाग भी यथायोग्य रीतिसे ये सब देव सेवन करते हैं। पेटमें 'जाठर अग्निमें डाली आहुतियॉ सब शरीर स्थानीय देवोंके पास योग्य रीतिसे पहुंचती हैं। और यहां शतसांवत्सरिक यज्ञ चल

रहा है, यह अग्नि (शारीरिक उष्णता) यहांका मुख्य याजक अग्नि है। इत्यादि सत्य वर्णन यहा है ऐसाही मानना योग्य है। मनुष्य जीवन एक महान यज्ञ है और यह यज्ञ प्रत्यक्ष ही है।

यज्ञमें देवगण

यहांके यज्ञमें सब देवतागण यथास्थान विराजमान हैं (इन्द्र) मन है जो देवोंका राजा है, (वायु) मुख्य प्राण है, (बृहस्पति) वाणी और ज्ञान है, (मित्र) नेत्र है, (अग्नि) जाठर अग्नि, उष्णता और वाणीका प्रेरक शारीर अग्नि है, (पूषा) पोषक अन्नभाग, (भग) भाग्य, शोभा, ऐश्वर्य, (आदित्य) द्वादश महिने, कालके अवयव हैं, (मारुत गण) प्राण और उपप्राण, नाना जीवन शक्तियां (पत्नीवतः) इन की प्रेरक शक्तियां इस तरह ये सब देव यहां रहते हैं। हविष्यान्नका भोग करते है और आनन्द प्राप्त करके प्रसन्न होते है। पाठकोंको मननद्वारा इन देवताओंको जानना योग्य है।

सोमरस देवोंका अन्न

सोमरस ही देवोंका अन्न है। इस विषयमें कहा है–

अन्नं वै सोमः। (श. ३।९।१।८; ७।२।२।११)

एतद्वै देवानां परमं अन्नं यत्सोमः। (तै. ब्रा. १।३।३।२)

एतद्वै परमं अन्नाद्यं यत्सोमः। (कौ. १३।७)

एष वै सोमो राजा देवानां अन्नं। (श. १।६।४।५)

' यह सोमरस देवोंका अन्न है।' पूर्व आप्रीसूक्तमें (ऋ. १।१३।११ में) वनस्पतिसे अन्नकी प्रार्थना की है–

हे वनस्पते ! देवेभ्यो हवि अवसृज। (ऋ. १।१३।११)

इसका हेतु स्पष्ट है कि देवोंका अन्न वनस्पतिसे मिलता है। **' ओषधिभ्योऽन्नं '** ऐसा तै. उपनिषद्‌ने भी कहा है। इस सबका आशय यही है कि वनस्पतिसे अन्न प्राप्त होता है, जो देवोंको देकर मानवोंको सेवन करने योग्य है।

सोमके गुण

इस सूक्तमें सोमके निम्नलिखित गुण कहे गये हैं।

१ **इन्दुः**– तेजस्वी रस

२ **मत्सरः**– आनन्द कर, मद कर

३ **मादयिष्णुः**– उत्साहवर्धक, मद बढानेवाला

४ **द्रप्सः**– बूंद बूंद चूनेवाला, छानकर तैयार होनेवाला

५ **मधुः**– मधुर

६ **चमूषद्**– पात्रमें जो रखा आता है

७ **सोम्यं मधु**– सोमवल्लीका मधुर रस

सोमवल्लीका रस निकाला और छाना जाता है, वह पात्रोंमें भरा जाता है। वह मधुर है और हर्ष तथा उत्साह बढानेवाला है। यही आर्योंका मुख्य पेय था।

घोडे

घोडे किस तरह पाले जांय और रथके साथ जोतनेवाले घोडे कैसे हों, इस विषयमें इस सूक्तमें अच्छे निर्देश हैं देखिये-

घृतपृष्ठाः– घी लगाये समान घोडोंकी पीठ तेजस्वी हो।

मनोयुजः– इशारे मात्रसे वे जोते जांय और केवल इशारेसेही चलते रहें, ऐसे शिक्षित घोडे हों,

३ **वह्नयः**– ढोनेमें, भार ढोनेमें समर्थ हों, अग्निके समान तेजस्वी है। यह अग्निवाचक पद घोडोंके लिये प्रयुक्त हुआ है।

४ **अरुषी**– चपल, लाल रंगवाला,

५ **हरितः**– तेज चलनेवाले पीले रंगवाले घोडे,

७ **रोहितः**– लाल रंगवाले।

ऐसे घोडे रथको जोतनेके लिये उत्तम शिक्षित होकर तैयार रहे। **' रथे रोहितः युक्ष्व '** (मं. १२) रथमें लाल रंगवाले घोडे जोतो, जो इशारेसे चलनेवाले हों। ऐसे घोडे रथमें बैठनेवालेको सुख देंगे।

इस रथमें अग्निके साथ सब देव बैठते थे और इन सबको येही घोडे खींचकर लाते थे। इस सूक्तमें तृतीय मंत्रमें सात देव, बारह आदित्य और मरुद्गण ४९ गिनाये हैं, मरुतोंके पार्श्वरक्षक १४ मिलकर ६३ होते हैं। अर्थात् ये ८२ अथवा कमसे कम ६८ देव तो हुए। इनको रथमें बिठलानेके लिये रेलके बडे डब्बेके समान बडा भारी रथ होगा और इसको खींचनेके लिये कितने घोडे लगेंगे इसका पता नहीं। इसलिये इस सूक्तमें वर्णित रथ इस शरीरको मानना ही युक्तियुक्त है क्योंकि यहां सब देवताएं हैं और इसको दस घोडे जोते हैं और ये इस रथको खींचते भी हैं।

ये घोडे उत्तम शिक्षित हों, तथा तेजस्वी और चपल भी हों, अपना कार्य करनेकी क्षमता भी इनमें हो।

विप्र अग्नि

इस सूक्तमें अग्निको **' विप्र '** अर्थात् विशेष प्राज्ञ या ज्ञानी कहा है। अग्निके मंत्रोंमें आदर्श ब्राह्मणके गुण ऋषि देखते है ऐसा हमने मधुच्छन्दा ऋषिके दर्शनमें (पृष्ठ १५ पर)

कहा है। वही यहां इस पदसे स्पष्ट होता है। (सुजिह्व) उत्तम मीठी जबानवाला, मीठा भाषण करनेवाला, यह पद भी विद्वान्का ही वर्णन करता है।

देवोंके लक्षण

इस सूक्तमें देवोंके लक्षण जो आये हैं वे विशेषही मनन करने योग्य हैं—

१ यजत्राः– सतत यज्ञ करनेवाले, याजक। प्रशस्त कर्म करनेवाले,

२ ईड्याः– प्रशंसा करनेके लिये योग्य,

३ उषर्बुधः– उषःकालमें जागनेवाले, उषःकालमें उठकर अपना कार्य शुरू करनेवाले,

४ होता– हवन करनेवाला, देवताओंको बुलानेवाला,

५ मनुर्हितः– मनुष्योंका हित करनेवाला, जनताका हित करनेमें तत्पर,

६ ऋतावृधः– सत्यमार्गके बढानेवाले,

७ पत्नीवतः– गृहस्थाश्रमी।

ये गुण मनुष्योंको अपनाने योग्य हैं, मनुष्य उष कालमें उठें, हवन करें, जनताका हित करें, इसीलिये नाना प्रकारके कर्म करें।

उपासकोंके लक्षण

इस सूक्तमें उपासकोंके भी लक्षण कहे हैं वे भी मननके योग्य है—

१ कण्वाः– आर्त, दुःखसे त्रस्त, अपने दु खको जानने-वाले और उनको दूर करनेके इच्छुक, दुःखसे मुक्त होनेके मार्गको जाननेवाले, ज्ञानी जने,

२ वृक्त बर्हिषः– आसन फैलाकर उपासना करनेके लिये तत्पर,

३ हविष्मन्तः– हविष्य अन्न तैयार करके उसका समर्पण करनेवाले,

४ अरंकृतः– अलंकृत हुए, सजे हुए, अपना कर्म पूर्ण रूपसे सिद्ध करनेवाले, सुंदर रीतिसे अपना कर्तव्य करनेवाले,

५ अवस्यवः– अपना संरक्षण करनेके इच्छुक, अपनी सुरक्षा करनेमें तत्पर,

ये उपासकोंके लक्षण भी बोधप्रद हैं। ये अपनाने योग्य हैं।

अध्वर

यहां ' अध्वर ' नामक यज्ञका वर्णन है। अध्वर वह कर्म है कि जिसमें हिंसा, कुटिलता अथवा टेढापन बिलकुल नहीं होता। मनुष्यको ऐसे ही कर्म करने चाहिये। देवोंके सामने अकुटिल कर्म ही करना हैं।

देवोंके कार्य

तृतीय मंत्रमें कुछ देवोंके नाम गिनाये हैं। (इन्द्रः) शत्रु-नाश करनेवाला, (वायु) गतिमान, प्रगति करनेवाला, (बृहस्पतिः) ज्ञानी वक्ता, (मित्र) हितकर्ता, (अग्निः) प्रकाश देनेवाला, मार्गदर्शक, (पूषा) पोषण करनेवाला, (भगः) ऐश्वर्यवान्, (आदित्यः) लेनेवाला, धारणकर्ता, (मारुतोगणः) संघसे रहनेवाला। मनुष्योंको इन गुणोंको अपनाना चाहिये। जिससे उनमें देवत्वका विकास होगा।

इस तरह सूक्तका मनन करके बोध लेना उचित है।

---

(४) दुर्दम्य बल

(ऋ. मं. १।१५) मेधातिथिः काण्वः। [प्रतिदैवतं ऋतुसहितम् =] १ इन्द्रः, २ मरुतः, ३ त्वष्टा, ४ अग्निः, ५ इन्द्रः, ६ मित्रावरुणौ, ७-१० द्रविणोदाः, ११ अश्विनौ, १२ अग्निः। गायत्री।

इन्द्र सोमं पिब ऋतुनाऽऽ त्वा विशन्त्विन्दवः । मत्सरासस्तदोकसः ॥ १

मरुतः पिबत ऋतुना पोत्राद् यज्ञं पुनीतन । यूयं हि ष्ठा सुदानवः ॥ २

अभि यज्ञं गृणीहि नो ग्नावो नेष्टः पिब ऋतुना । त्वं हि रत्नधा असि ॥ ३

अग्ने देवाँ इहा वह सादया योनिषु त्रिषु । परि भूष पिब ऋतुना ॥ ४

ब्राह्मणादिन्द्र राधसः पिबा सोममृतूँरनु । तवेद्धि सख्यमस्तृतम् ॥ ५

युवं दक्षं धृतव्रत मित्रावरुण दूळभम् । ऋतुना यज्ञमाशाथे ६
द्रविणोदा द्रविणसो ग्रावहस्तासो अध्वरे । यज्ञेषु देवमीळते ७
द्रविणोदा ददातु नो वसूनि यानि शृण्विरे । देवेषु ता वनामहे ८
द्रविणोदाः पिपीषति जुहोत प्र च तिष्ठत । नेष्ट्रादृतुभिरिष्यत ९
यत् त्वा तुरीयमृतुभिर्द्रविणोदो यजामहे । अध स्मा नो ददिर्भव १०
अश्विना पिबतं मधु दीद्यग्नी शुचिव्रता । ऋतुना यज्ञवाहसा ११
गार्हपत्येन सन्त्य ऋतुना यज्ञनीरसि । देवान् देवयते यज १२

अन्वयः— हे इन्द्र ! ऋतुना सोम पिब । इन्दवः त्वा आ विशन्तु । तदोकसः मत्सराः ॥१॥ हे मरुतः ! पोत्रात् ऋतुना पिबत । यज्ञं पुनीत । हे सुदानवः ! हि यूयं स्थ ॥२॥ हे ग्रावः नेष्टः ! नः यज्ञं अभि गृणीहि । ऋतुना (सोमं) पिब । हि त्वं रत्नधा असि ॥३॥ हे अग्ने ! देवान् इह आ वह । त्रिषु योनिषु सादय । परि भूष । ऋतुना पिब ॥४॥ हे इन्द्र ! ब्राह्मणात्, राधसः, ऋतून् अनु, सोमं पिब । हि तव इत् सख्यं अस्तृतम् ॥५॥ हे धृतव्रता मित्रावरुणा ! युवं ऋतुना, दूळभं दक्षं यज्ञं आशाथे ॥६॥ द्रविणसः ग्रावहस्तासः अध्वरे यज्ञेषु (च) द्रविणोदाः देवं ईळते ॥७॥ द्रविणोदाः नः वसूनि ददातु, यानि शृण्विरे, ता देवेषु वनामहे ॥८॥ द्रविणोदाः नेष्टात् ऋतुभिः पिपीषति, (अतः हे याजकाः) इष्यत, जुहोत, च प्र तिष्ठत ॥९॥ हे द्रविणोदः । यत् ऋतुभिः त्वा तुरीयं यजामहे । अध, नः ददिः भव स्म ॥१०॥ हे दीद्यग्नी शुचिव्रता ऋतुना यज्ञवाहसा अश्विना ! मधु पिबतम् ॥११॥ हे सन्त्य ! गार्हपत्येन ऋतुना यज्ञनीः असि । देवयते देवान् यज ॥१२॥

अर्थ— हे इन्द्र ! ऋतुके अनुकूल सोमरसका पान करो । ये सोमरस तेरे अन्दर प्रविष्ट हों । वही घर इन आनन्द-वर्धक सोमरसोंका है ॥१॥ हे मरुतो ! पोतृनामक पात्रसे ऋतुके साथ (सोमरस) पीओ ! हमारे यज्ञको पवित्र करो । हे उत्तम दान देनेवाले (मरुतो) ! तुम वैसेही (पवित्रता करनेवाले) हो ॥२॥ हे पत्नीसहित प्रगतिशील याजक ! हमारे यज्ञकी प्रशंसा कर । ऋतुके अनुसार (सोमरसका) पान कर । तू रत्नोंका धारणकर्ता है ॥३॥ हे अग्ने ! अपने साथ देवों को ले आ । तीनों स्थानोंपर (उनको) बिठला । (उनको) अलंकृत कर । और ऋतुके अनुसार (सोमरसका) पान कर ॥४॥ हे इन्द्र ! ब्राह्मणके पाससे, उसके पात्रसे, ऋतुके अनुसार, सोमरस पी । क्योंकि तेरी मित्रता अटूट है ॥५॥ हे नियमोंके पालन करनेवाले मित्र और वरुण देवो ! तुम दोनों मिलकर, ऋतुके अनुसार, दुर्दमनीय बल बढानेवाले यज्ञको सिद्ध करते हैं ॥६॥ धन प्राप्त करनेकी इच्छा करनेवाले हाथमें सोम कूटनेके पत्थर लेकर यज्ञमें और प्रत्येक कर्ममें धन देनेवाले देवकी स्तुति गाते हैं ॥७॥ धन देनेवाला देव हमें वे अनेक धन देवे, कि जिन (धनोंका) वर्णन हम सुनते आये है। वे धन हम देवोंकोही (पुनः) अर्पण करेंगे ॥८॥ धन देनेवाला देव नेष्टृसंबंधी पात्रसे ऋतुके अनुसार (सोमरस) पीनेकी इच्छा करता है । (इसलिये हे याजको !) वहां जाओ, हवन करो, और पश्चात् (वहांसे) चले आओ ॥९॥ हे धनके दाता देव ! जिस कारण हम ऋतुओंके अनुसार तुझे चतुर्थ भागका अर्पण करते हैं, उस कारण हमारे लिये तू धनका दान करनेवाला हो ॥१०॥ हे तेजस्वी शुद्ध कर्म करनेवाले, ऋतुके अनुसार यज्ञ करनेवाले अश्विदेवो ! इस मधुर सोमरसका पान करो ॥११॥ हे फलदाता देव ! तू गार्हपत्यके नियमोंके अनुसार ऋतुके अनुकूल रहकर यज्ञ करनेवाला है, अतः देवत्व प्राप्तीकी इच्छा करनेवालेके लिये देवोंको हविर्भाग पहुंचा दे ॥१२॥

ऋतुओंके अनुकूल व्यवहार

इस सूक्तमें ऋतुके साथ रहकर कार्य करनेका मुख्य संदेश है । '**ऋतुना पिब**' (मं. १,३-४), '**ऋतुना पिबत**' (मं. २,११), '**ऋतून् अनु पिब**' (मं. ५) '**ऋतुभिः इष्यत**' (मं. ९), '**ऋतुभिः यजामहे**' (मं. १०), '**ऋतुना यज्ञनीः असि**' (मं १२), '**ऋतुना दूळभं दक्षं यज्ञं आशाथे**' (मं. ६) अर्थात् ऋतुके साथ रसपान करो, ऋतुओंके अनुकूल रसपान करो, ऋतुओंके साथ जाओ,

ऋतुओंके साथ यज्ञ करते हैं, ऋतुके अनुकूल यज्ञ चलानेवाला तू हो। ऋतुके अनुकूल रहनेसे दुर्दमनीय बल बढानेवाला यज्ञ होता है।

इनमें सबसे अन्तिम मन्त्रभाग बडा महत्त्वपूर्ण है।

न दबनेवाला बल

'**दूळभं दक्षं**' दुर्दमनीय अर्थात् न दबनेवाला बल मनुष्यको प्राप्त करना आवश्यक है। यह बल तब प्राप्त होगा जब मनुष्य '**ऋतुना यज्ञं आशाथे**' ऋतुओंके अनुकूल अपने कर्म करता रहेगा। यह महत्त्वपूर्ण संदेश इस सूक्तने दिया है। मनुष्य बल बढाना तो चाहता है, पर ऋतुके अनुकूल अपनी दिनचर्या करना नहीं चाहता। अतः उसको सिद्धि नहीं मिलती।

वर्षमें वसंत ग्रीष्म वर्षा शरत् हेमन्त और शिशिर ये छः ऋतु हैं, मानवी आयुष्यमें बाल, कुमार, युवा, परिहान, वृद्ध और जीर्ण ये छः ऋतु हैं। दिनमें भी उष काल, उदयकाल, मध्यान्ह, अपराह्न, सायंकाल और रात्री ये ऋतु है। इस तरह ऋतु स्थानस्थानपर काल विभागके अन्दर विद्यमान है। इनके अनुकूल अपना कार्य करना चाहिये। खानपान, कपडेलत्ते, आचार व्यवहार, आराम और विश्राम ऋतुके अनुसार करनेसेही मनुष्य उन्नत हो सकता है। इसका बल बढना होगा तो उसके योग्य ऋतुचर्यासेही बढ सकता है। अतः न दबनेवाला बल बढाना है यह ध्यानमें धारण करके ऋतुके अनुसार अपना आचार करना मनुष्यके लिये योग्य हैं।

इस सूक्तमें 'सोमपान' का विषय है इसलिये वह ऋतुके अनुसार पीना ऐसा कहा है। अर्थात् सोमरस दूध, दही, सत्तू, शहद आदिके साथ पीया जाता है। जिस ऋतुमें जैसा पीना योग्य होगा, वैसा पीना चाहिये जिससे वह बल बढाकर हित करेगा। अन्यथा वैसा लाभ नहीं होगा।

इस सूक्तमें सर्वत्र ऋतुके अनुसार सोम पीनेकाही उल्लेख है ऐसा भी नहीं है, देखिये—

ऋतुभिः इष्यत, प्रतिष्ठत। (मं. ९)
ऋतुभिः यजामहे। (मं १०)
ऋतुना यज्ञनीः असि। (मं. १२)

ऋतुओंके अनुकूल चलो, रहो। ऋतुओंके अनुसार यज्ञ करते हैं। ऋतुके अनुसार यज्ञ चलानेवाला हो। इत्यादि वचन मनुष्यको सर्वसामान्य आचार व्यवहारकी सूचना दे रहे हैं। मनुष्यको अदम्य बल प्राप्त करना है वह ऐसे ही आचारसे प्राप्त होगा।

इस सूक्तमें 'इन्द्र, मरुत्, त्वष्टा, अग्नि, मित्र, वरुण, द्रविणोदा, अश्विनौ' इन देवताओंका वर्णन है।

देवताके गुण

इस सूक्तमें देवताओंके कुछ गुण दिये हैं वे मनन करने योग्य है–

१ **सुदानव** (सु–दानु)= उत्तम दान करनेवाला, देने योग्य दान सत्पात्रमें देनेवाला।

प्रायः देव दाता होते हैं, पर यहां (सु-दानु) उत्तम दाता होनेका वर्णन है। केवल दातृत्वकी अपेक्षा उत्तम दातृत्व निःसंदेह प्रशंसाके योग्य है।

२ **रत्नधा**– रत्नोंका धारण करना। यह पद अग्निके (१।१।१ में) मंत्रमें अग्निका विशेषण आया है। वहां '**रत्न- धा- तम**' पद है। यहां '**रत्न- धा**' है।

३ **अस्तृतं सख्यं**– अटूट मित्रता। देवोंके साथ एकवार मित्रता हुई तो वह अटूट रहती है।

४ **दूळभं दक्षं**– अदम्य बलका धारण करना।

५ **द्रविणोदा**– धनका दान करना। ये गुण मनुष्योंको अपनाने योग्य है।

ऋत्विजोंके नाम

इस सूक्तमें '**ब्राह्मण**' (५), '**नेष्टा**' (३,९) और '**पोतृ**' (२) ये ऋत्विजोंके नाम आये हैं। ब्राह्मणका अर्थ यहां '**ब्राह्मणात् शंसी**:' नामक ऋत्विज है। यहां द्वितीय मंत्रमें 'पोत्र' पद है वह 'पोतृ' नामक ऋत्विजका स्थान हैं। पवित्रता करना इसका कार्य है यह ब्रह्माका सहायक है।

सोम कूटनेके पत्थर

इस सूक्तमें '**ग्राव-हस्तासः**' (मं. ७) पद है। पत्थर हाथमें लिये ऋत्विज सोमको कूटते और उसका रस निकारलते हैं। सोमका रस निकालनेका साधन यह है। आगे इसका वर्णन बहुत आनेवाला है।

गार्हपत्य

'गार्हपत्य' (मं. १२) पद यहां है। गृहपति धर्मका यह बोधक है। गृहस्थही यज्ञका अधिकारी है। अतः 'ग्ना-वः' (मं. ३) धर्मपत्नीके साथ नेष्टा नामक ऋत्विजका वर्णन देखने योग्य है। यहां यज्ञमें आनेवाले देवभी धर्मपत्नीयोंके साथ रहनेवाले हैं, यद्यपि हरएक यज्ञमें वे अपनी पत्नियोंको लाते हैं ऐसी बात नहीं है, तथापि वे गृहस्थी है। ऋत्विज भी (ग्ना- वः) धर्मपत्नीवालेही होते हैं। यजमानकी तो धर्मपत्नी यज्ञमंडपमें ही रहती हैं। इस तरह यह वैदिक यज्ञमार्ग गृहस्थियोंका मार्ग है। यह बात वेदका विचार करनेके समय अवश्य स्मरण रखनी चाहिये।

(५) भरपूर गौवें चाहिये

(ऋ० मं. १।१६) मेधातिथिः काण्वः। इन्द्रः। गायत्री।

आ त्वा वहन्तु हरयो वृषणं सोमपीतये । इन्द्र त्वा सूरचक्षसः ॥ १
इमा धाना घृतस्नुवो हरी इहोप वक्षतः । इन्द्रं सुखतमे रथे ॥ २
इन्द्रं प्रातर्हवामह इन्द्रं प्रयत्यध्वरे । इन्द्रं सोमस्य पीतये ॥ ३
उप नः सुतमा गहि हरिभिरिन्द्र केशिभिः । सुते हि त्वा हवामहे ॥ ४
सेमं नः स्तोममा गह्युपेदं सवनं सुतम् । गौरो न तृषितः पिब ॥ ५
इमे सोमास इन्दवः सुतासो अधि बर्हिषि । ताँ इन्द्र सहसे पिब ॥ ६
अयं ते स्तोमो अग्रियो हृदिस्पृगस्तु शंतमः । अथा सोमं सुतं पिब ॥ ७
विश्वमित्सवनं सुतमिन्द्रो मदाय गच्छति । वृत्रहा सोमपीतये ॥ ८
सेमं नः काममा पृण गोभिरश्वैः शतक्रतो । स्तवाम त्वा स्वाध्यः ॥ ९

अन्वयः— हे इन्द्र ! वृषणं त्वा त्वा सूरचक्षसः हरयः सोमपीतये आ वहन्तु ॥१॥ हरी इमाः घृतस्नुवः धानाः सुखतमे रथे इन्द्रं इह उप वक्षतः ॥२॥ प्रातः इन्द्रं हवामहे। अध्वरे प्रयति इन्द्रं। सोमस्य पीतये इन्द्रं (हवामहे) ॥३॥ हे इन्द्र ! केशिभिः हरिभिः नः सुतं उप आ गहि। हि त्वा सुते हवामहे ॥४॥ सः (त्वं) नः इमं स्तोमं आ गहि। इदं सुतं सवनं उप। तृषितः गौरः न पिब ॥५॥ इमे सुतासः इन्दवः सोमासः बर्हिषि अधि। हे इन्द्र ! तान् सहसे पिब ॥६॥ अयं स्तोमः अग्रियः, ते हृदिस्पृक् शंतमः अस्तु। अथ सुतं सोमं पिब ॥७॥ वृत्रहा इन्द्रः मदाय, सोमपीतये, विश्वं सुतं सवनं इत् गच्छति ॥८॥ हे शतक्रतो ! सः (त्वं) नः इमं कामं गोभिः अश्वैः आ पृण। स्वाध्यः त्वा स्तवाम ॥९॥

अर्थ— हे इन्द्र ! तुझे सामर्थ्यवान्को सूर्यके समान तेजस्वी घोडे सोमपानके लिये ले आवें ॥१॥ (ये) दोनों घोडे इन घीसे भीगे भूने धान्यके साथ उत्तम रथमें इन्द्रको बिठलाकर यहां (यज्ञके) पास ले आवें ॥२॥ प्रातःकाल इन्द्रकी प्रशंसा हम करते हैं। यज्ञके प्रारंभ होनेपर (मध्यदिनमें हम) इन्द्रकी स्तुति करते हैं। और सोमपान करनेके समय (शामके समय भी हम) इन्द्रकी स्तुति करते हैं ॥३॥ हे इन्द्र ! बालोंवाले घोडोंसे तुम हमारे सोमयागके पास आओ। क्योंकि तुम्हें सोमयाग शुरू होनेपर ही बुलाते हैं ॥४॥ वह तुम हमारे इस (अग्नि -) सोम यागके पास आओ। यह सोमरस (तैयार हुआ है उसके) पास (आओ)। और प्यासे गौर मृगके समान (इस रसको) पीओ ॥५॥ ये निचोडकर रखे रसीले सोमरस दर्भोंपर रखे हैं। हे इन्द्र ! उनका बल बढानेके लिये पान करो ॥६॥ यह अग्नि-ष्टोम यज्ञ मुख्य है, (वह) तेरे लिये हृदयस्पर्शी तथा आनन्ददायी हो। और इस निचोडे सोमरसको पीओ ॥७॥ यह वृत्रका वध करनेवाला इन्द्र, अपना उत्साह बढानेके लिये, सोमपानके उद्देश्यसे, सभी सोमयागके सवनोंमें जाता है ॥८॥ हे सौ यज्ञ करनेवाले इन्द्र ! वह (तुम) हमारी इस कामनाको गौओं और घोडोंसे पूर्ण करो। उत्तम ध्यानसे तुम्हारी स्तुति हम करते हैं ॥९॥

दिनमें तीनवार उपासना

इन्द्रकी तीनवार उपासना इस सूक्तके तृतीय मंत्रमें कही है।

इन्द्रं प्रातः हवामहे (प्रातःसवने)।
इन्द्रं अध्वरे प्रयति (माध्यंदिनसवने हवामहे)।
इन्द्रं सोमस्य पीतये (तृतीयसवने हवामहे)।

यज्ञमें प्रातःसवन प्रातःकालमें होता है, मध्यदिनमें माध्यंदिनसवन होता है, और शामको सायंसवन होता है। और शामको सोमरसका पान करते हैं। इन तीनों सवनोंमें इन्द्रकी स्तुति प्रार्थना उपासना होती है। यज्ञके तीन सवनोंके साथ इन्द्रकी तीनवार उपासना करनेका तत्त्व संबंधित है।

उपासककी इच्छा

(**गोभिः अश्वैः नः कामं आ पृण।** मं. ९) गौवें और घोडे पर्याप्त संख्यामें देकर हमारी कामना परिपूर्ण करो। हमारे घरोंमें पर्याप्त गौवें और घोडे रहें। घरकी पूर्णता गौओंसे होती है। घरमें दूध देनेवाली गौवें रहीं तो वहांके सब मनुष्य हृष्टपुष्ट रहते हैं।

इन्द्रके गुण

यहां इन्द्रके कुछ गुणोंका वर्णन है वह देखिये-

१ इन्द्रः— शत्रुका नाश करनेवाला, तेजस्वी वीर,

२ वृषणः— बलवान्, वीर्यवान्, सामर्थ्यवान्, वृष्टी करनेवाला,

३ वृत्रहा— वृत्र नामक असुरका वध करनेवाला वीर, घेर कर लडनेवाले घातक शत्रुका नाश करनेवाला,

४ शतक्रतुः- सेंकडों शुभकर्म करनेवाला वीर,

५ सूरचक्षसः हरयः वहन्ति- सूर्यके समान चमकनेवाले घोडे (इसके रथमें जोते रहते है जो इसको इधर उधर) ले जाते हैं। (यहां कमसे कम तीन या चार घोडे जाते है ऐसा वर्णन है।)

६ इन्द्रं सुखतमे रथे हरी वक्षतः— इन्द्रको अत्यंत सुखदायी रथमें बिठलाकर उसको दो घोडे यहां लाते है। (यहां दो घोडे जोते रहते हैं ऐसा वर्णन है। रथ भी अत्यंत सुंदर और अत्यंत सुखदायी है।)

७ केशिभिः हरिभिः आ गहि— उत्तम अयालवाले घोडोंको (रथके साथ जोतकर यहां) आओ। (यहां भी तीन या चार घोडोंका उल्लेख है।) यहां घोडोंकी सुंदर अयालका वर्णन है।

८ सहसे तान् पिब— बल बढानेके लिये वह इन्द सोमरसको पीता है। सोमपानसे बल उत्साह और वीर्य बढता है।

यहां इन्द्रके गुण, घोडोंका वर्णन और सोमका वर्णन है। पाठक इसका मनन करें।

---

(६) दो उत्तम सम्राट्

(ऋ. मं. १।१७) मेधातिथिः काण्वः। इन्द्रावरुणौ। गायत्री, ४-५ पादनिचृत् (५ हसीयसी वा) गायत्री।

इन्द्रावरुणयोरहं सम्राजोरव आ वृणे । ता नो मृळात ईदृशे ॥ १
गन्तारा हि स्थोऽवसे हवं विप्रस्य मावतः । धर्तारा चर्षणीनाम् ॥ २
अनुकामं तर्पयेथामिन्द्रावरुण राय आ । ता वां नेदिष्ठमीमहे ॥ ३
युवाकु हि शचीनां युवाकु सुमतीनाम् । भूयाम वाजदाव्नाम् ॥ ४
इन्द्रः सहस्रदाव्नां वरुणः शंस्यानाम् । क्रतुर्भवत्युक्थ्यः ॥ ५
तयोरिदवसा वयं सनेम नि च धीमहि । स्यादुत प्ररेचनम् ॥ ६
इन्द्रावरुण वामहं हुवे चित्राय राधसे । अस्मान्त्सु जिग्युषस्कृतम् ॥ ७
इन्द्रावरुण नू नु वां सिषासन्तीषु धीष्वा । अस्मभ्यं शर्म यच्छतम् ॥ ८
प्र वामश्नोतु सुष्टुतिरिन्द्रावरुण यां हुवे । यामृधाथे सधस्तुतिम् ॥ ९

अन्वयः- अहं इन्द्रावरुणयोः सम्राजोः अवः आ वृणे। ईदृशे ता नः मृळातः ॥१॥ चर्षणीनां धर्तारा, मावतः विप्रस्य अवसे हवं गन्तारा हि स्थ ॥२॥ हे इन्द्रावरुणा! अनुकामं रायः आ तर्पयेथां। ता वां नेदिष्ठं ईमहे ॥३॥ हि शचीनां युवाकु। सुमतीनां युवाकु। वाजदाव्नां (मुख्याः) भूयाम ॥४॥ इन्द्रः सहस्रदाव्नां क्रतुः, वरुणः शंस्यानां उक्थ्यः भवति ॥५॥ तयोः अवसा इत् वयं (धनं) सनेम, निधीमहि च। उत प्ररेचनं स्यात् ॥६॥ हे इन्द्रावरुणा! वां अहं चित्राय राधसे हुवे। अस्मान् सु जिग्युषः कृतम् ॥७॥ हे इन्द्रावरुणा! धीषु वां सिषासन्तीषु, अस्मभ्यं शर्म नू नु आ यच्छतम् ॥८॥ हे इन्द्रावरुणा! यां सधस्तुतिं हुवे, यां ऋधाते, सा सुष्टुतिः वां प्र अश्नोतु ॥९॥

अर्थ- मैं इन्द्र और वरुण नामक दोनों सम्राटोंसे अपनी सुरक्षा करनेकी शक्ति प्राप्त करना चाहता हूं। ऐसी स्थितिमें वे दोनों हमें सुखी करेंगे ॥१॥ (ये दोनों सम्राट्) मानवोंका धारणपोषण करनेवाले हैं। मुझ जैसे ब्राह्मणकी सुरक्षा करनेके लिये पुकारके स्थानतक जानेवाले होओ ॥२॥ हे इन्द्र और वरुण! हमारे मनोरथके अनुसार धन देकर हमें तृप्त करो। तुम दोनोंका हमारे समीप रहना ही हम चाहते हैं ॥३॥ शक्तियोंकी संघटना हुई है। और सुमतियोंकी भी एकता हुई है। अन्न दान करनेवालोंमें (हम मुख्य) बनें ॥४॥ इन्द्र सहस्रों दाताओंमें (मुख्य) कार्यकर्ता है, और वरुण (सहस्रों) प्रशंसनीयोंमें (मुख्य) प्रशंसित होने योग्य हैं ॥५॥ उनकी सुरक्षासे (सुरक्षित हुए) हम (धन) प्राप्त करना और संग्रह करना चाहते हैं। चाहे उससे भी अधिक धन (हमारे पास) हो ॥६॥ हे इन्द्र और वरुण! तुम दोनोंकी मैं अद्भुत सिद्धिके-लिये प्रार्थना करता हूं। (तुम दोनों) हमें उत्तम विजयी बनाओ ॥७॥ हे इन्द्र और वरुण! (हमारी) बुद्धियाँ तुम्हारा हि कार्य कर रही हैं, इसलिये हमें सुख देओ ॥८॥ हे इन्द्र और वरुण! जिस संमिलित स्तुति को हम करते हैं, जिसको तुम बढाते हैं, वही उत्तम स्तुति (हमसे) तुम्हें प्राप्त हो ॥९॥

दो प्रशंसनीय सम्राट्

इस सूक्तमें प्रशंसनीय उत्तम दो सम्राटोंका वर्णन है। ये क्या करते हैं सो देखिये-

१ चर्षणीनां धर्तारौ- जनताका धारणपोषण करते हैं। चर्षणीका अर्थ किसान खेती करनेवाले ऐसा है। सब किसानोंका उत्तम धारणपोषण ये करते हैं। प्रजाजनोंकी उन्नतिके लिये ही यत्न करते हैं। (मं. २)

२ सु जिग्युषः कृतं- अपने प्रजाजनोंको ये उत्तम विजयी करते हैं। अर्थात् ये उनको ऐसी सुशिक्षा देते हैं, कि जिससे इनके प्रजाजन सब कार्य व्यवहारमें उत्तम विजय पाते हैं। (मं. ७)

३ शचीनां युवाकु- (प्रजाजनोंकी) सब शक्तियोंकी संघटना करते हैं। (मं. ४)

४ सुमतीनां युवाकु- (प्रजाजनोंके) उत्तम विचारोंकी एकता करते हैं अर्थात् आपसका संघर्ष बढने नहीं देते। (मं. ४)

५ तयोः अवसा सनेम, निधीमहि, प्ररेचनं स्यात्- उनकी सुरक्षापूर्ण आयोजनासे प्रजाका धन बढता है, प्रजाके पास धनसंग्रह होता है और उनके पास जितना धन चाहिये उससे भी अधिक धन उनके पास हो जाता है। (मं. ६)

६ नः मृळात (१), अस्मभ्यं शर्म यच्छतं (मं. ८) हम प्रजाजनोंको (ये सम्राट्) सुखी करे, और सुख देवें। कभी ऐसा आचरण न करें कि जिसे प्रजा दुःखी हो सके।

७ विप्रस्य अवसे गन्तारौ- ज्ञानीकी सुरक्षा करनेके लिये ये तत्पर रहें। कभी ज्ञानीको कष्ट न दें। (मं. २)

८ अनुकामं तर्पयेथां- प्रजाजनोंको यथेष्ट संतुष्ट करते रहें। (मं. ३)

इस तरह ये दोनों सम्राट् अपने राज्यके प्रजाजनोंका सुख बढाते रहते हैं। ये आदर्श सम्राट् हैं इसलिये उनका वर्णन यहां ऐसा किया है।

९ इन्द्रः सहस्रदाव्नां क्रतुः- इन्द्र सहस्रों दानोंका कर्ता है। सहस्रों दाताओंसे भी अधिक उत्तम दानकर्ता है। और-

१० वरुणः शंस्यानां उक्थ्यः- वरुण प्रशंसा करने योग्य राजाओंमें अधिक प्रशंसा करने योग्य हैं।

वैदिक अनुशासनके अनुसार सम्राट् कैसे हों, यह आदर्श यहां बताया है। ऐसे सम्राट् हुए तो मानव अधिक सुखी हो सकते हैं।

पञ्चम अनुवाक

(७) सदसस्पति

(ऋ. मं. १।१८) मेधातिथिः काण्वः । १-३ ब्रह्मणस्पतिः, ४ इन्द्रो ब्रह्मणस्पतिः सोमश्च, ५ ब्रह्मणस्पतिः सोम इन्द्रो दक्षिणा च, ६-८ सदसस्पतिः, ९ सदसस्पतिर्नराशंसो वा। गायत्री।

सोमानं स्वरणं कृणुहि ब्रह्मणस्पते । कक्षीवन्तं य औशिजः १
यो रेवान् यो अमीवहा वसुवित् पुष्टिवर्धनः । स नः सिषक्तु यस्तुरः २
मा नः शंसो अररुषो धूर्तिः प्रणङ्मर्त्यस्य । रक्षा णो ब्रह्मणस्पते ३
स घा वीरो न रिष्यति यमिन्द्रो ब्रह्मणस्पतिः । सोमो हिनोति मर्त्यम् ४
त्वं तं ब्रह्मणस्पते सोम इन्द्रश्च मर्त्यम् । दक्षिणा पात्वंहसः ५
सदसस्पतिमद्भुतं प्रियमिन्द्रस्य काम्यम् । सनिं मेधामयासिषम् ६
यस्मादृते न सिध्यति यज्ञो विपश्चितश्चन । स धीनां योगमिन्वति ७
आदृध्नोति हविष्कृतिं प्राञ्चं कृणोत्यध्वरम् । होत्रा देवेषु गच्छति ८
नराशंसं सुधृष्टममपश्यं सप्रथस्तमम् । दिवो न सद्ममखसम् ९

अन्वयः— हे ब्रह्मणस्पते ! सोमानं स्वरणं कृणुहि । यः औशिजः, (तं) कक्षीवन्तं (इव) ॥१॥ यः रेवान्, यः अमीवहा, वसुवित्, पुष्टिवर्धनः, यः तुरः, सः नः सिषक्तु ॥२॥ हे ब्रह्मणस्पते ! अररुषः मर्त्यस्य धूर्तिः शंसः नः मा। नः रक्ष ॥३॥ यं मर्त्यं इन्द्रः ब्रह्मणस्पतिः सोमः च हिनोति, सः घ वीरः न रिष्यति ॥४॥ हे ब्रह्मणस्पते ! त्वं तं मर्त्यं अंहसः (पाहि), सोमः, इन्द्रः, दक्षिणा च पातु ॥५॥ अद्भुतं इन्द्रस्य प्रियं काम्यं सनिं सदसस्पतिं मेधां अयासिषम् ॥६॥ यस्माद् ऋते, विपश्चितः चन यज्ञः, न सिद्धति, सः (सदसस्पतिः) धीनां योगं इन्वति ॥७॥ आत् हविष्कृतिं ऋध्नोति, अध्वरं प्राञ्चं कृणोति, होत्रा देवेषु गच्छति ॥८॥ दिवो न सद्ममखसं, सुधृष्टमं सप्रथस्तमं नराशंसं अपश्यम् ॥९॥

अर्थः- हे ब्रह्मणस्पते ! सोमयाग करनेवालेको उत्तम प्रगतिसंपन्न करो । जैसा उशिक्पुत्र कक्षीवान् (उन्नत किया गया था वैसाही इसको करो) ॥१॥ जो (ब्रह्मणस्पति) सम्पत्तिमान, जो रोगोंका नाश करनेवाला, धनदाता और पुष्टिवर्धक तथा शीघ्रतासे कार्य करनेवाला है, वही हमारे ऊपर कृपा करता रहे ॥२॥ हे ब्रह्मणस्पते ! घातपात करनेवाले कपटी धूर्तकी निंदा हमारेतक न पहुंचे । इससे हमारी सुरक्षा करो ॥३॥ जिस मनुष्यको इन्द्र, ब्रह्मणस्पति और सोम बढा देते हैं, वह वीर निःसंदेह नष्ट नहीं होता ॥४॥ हे ब्रह्मणस्पते ! तुम उस मानवको पापसे (बचाओ), वैसेही सोम, इन्द्र और दक्षिणा उसको बचा देवे ॥५॥ मैं आश्चर्यकारक, इन्द्रके प्रिय मित्र आदरणीय और धनदाता सदसस्पति (सभाके अध्यक्ष)के पास मेधा बुद्धिको मांगता हूँ ॥६॥ जिसके विना ज्ञानीका भी यज्ञ सिद्ध नहीं होता, वह सदसस्पति हमारी बुद्धियोंको प्रेरित करे ॥७॥ हवि तैयार करनेवालेकी वह उन्नति करता है, हिंसारहित यज्ञको बढाता है, हमारी प्रशंसा करनेवाली वाणीको देवोंतक पहुंचा देता है ॥८॥ द्युलोकके समान तेजस्वी, प्रतापशाली और प्रसिद्ध तथा मानवोंद्वारा सुपूजित सदसस्पतिको मैंने देखा है ॥९॥

सभाका अध्यक्ष

'सदसस्पति' (सदसः-पति) का अर्थ सभाका अध्यक्ष है। सभाका प्रधान, परिषदका प्रमुख सदसस्पति कहलाता है। इस सभाके अध्यक्षमें कौनसे गुण हों, इस विषयमें इस सूक्तका कथन विचार करने योग्य है-

१ ब्रह्मणस्पतिः- (ब्रह्मणः पति)- ज्ञानका पति अर्थात् वह सभापति ज्ञानी हो, विद्यासंपन्न अथवा विद्वान् हो। (मं. १,३-५)

२ रेवान्- वह धनवान् हो, (मं. २)

३ वसुवित्- धनका महत्त्व जाननेवाला हो,

४ **अमीवहा**- रोगोंको दूर करनेवाला हो, वैयक्तिक, सामाजिक और राजकीय बीमारियोंको दूर हटानेवाला हो,

५ **पुष्टिवर्धनः**- पोषण करनेवाला हो, सबके पोषण करनेके साधनोंका उत्तम प्रयोग करनेवाला हो,

६ **तुरः**- फुर्तीके साथ कार्य करनेवाला हो,

७ **सुधृष्टः**- धैर्यवाला, धीरजसे युक्त हो, (मं. ९)

८ **स-प्रथस्तमः**- प्रसिद्ध हो, यशस्वी हो, कीर्तिमान हो।

९ **सद्म-मखः**- घरके समान सबको विस्तृत आधार देनेवाला हो, सबका हित करनेवाला हो,

१० **स्वरणं** (कृणोति)- (सु-अरणं) उत्तम मार्गसे जो सबको ले जाता है, सन्मार्गसे चलाता है, योग्यमार्ग बताता है। (मं १)

११ **यं ब्रह्मणस्पतिः हिनोति स न रिष्यति**- जिसको ज्ञानी बढाता है, वह नष्ट नहीं होता। (मं. ४)

१२ **सदसस्पतिः**- (सदसः पतिः)- सभाका वह पति हो, वही सभाका अध्यक्ष हो। (मं. ६)

१३ **अद्भुतः**- जो अद्भुत हो, जैसा वहां दूसरा कोई न हो,

१४ **प्रियः; काम्यः**- जो सबको प्रिय और सबके द्वारा इच्छा करने योग्य हो,

१५ **सनिः**- धन देनेवाला, उदार दाता हो,

१६ **मेधां**- (ददाति)- जो लोगोंको सुबुद्धि देता है।

१७ **स धीनां योगं इन्वति**- वह सबकी बुद्धियोंको प्रेरित करता है, सन्मार्गमें चलाता है, उन्नत करता है। (मं.७)

१८ **हविष्कृतिं ऋध्नोति**- अन्नका दान करनेवालेकी उन्नति करता है,

१९ **अध्वरं प्राञ्चं कृणोति**- हिंसारहित और कुटिलतारहित कर्मोंको बढाता है।

२० **होत्रा देवेषु गच्छति**- अपनी वाणीको देवोंतक पहुंचा देता है, अपनी वाणीको देवोंतक पहुंचा कर परिणामकारी बनाता है।

सभाका पति, परिषद्‌का अध्यक्ष ऐसा हो। इनमेंसे जो गुण अथवा जितने गुण अधिक होंगे उतनी उसकी योग्यता अधिक समझी जायगी।

ईश्वरही सभापति है।

इस विश्वरूपी सदस्‌का पति परमेश्वरही है, वही ब्रह्मणस्पति है और वही पूर्वोक्त गुणोंसे युक्त है। वही सब रीतिसे सचा सभापति है। '**नमः सभाभ्यः सभापतिभ्यश्च वो नमः**। (वा. य. १७) ऐसा रुद्राध्यायमें कहा है। सभा और सभापति ये परमात्माके रूप हैं, अतः उनके लिये प्रणाम है। 'परमात्माही जिसका रक्षक होता है उसका नाश नहीं होता। (मं. ४) यह सर्वदाही सत्य है। सच्चा ज्ञानपति वही है। यह जिसकी रक्षा करता है उसके पास किसीकी की हुई निंदा नहीं पहुंचती (३)। यही सच्चा रोग दूर करनेवाला और पुष्टि करनेवाला है, (२) इसीसे मेधाबुद्धिकी प्राप्तीकी प्रार्थना की जाती है (६)। इसीकी सहायताके बिना कोई कर्म सफल नहीं हो सकता (७)। इसीकी सब स्तुति करते हैं, यही द्युलोकके समान विस्तृत तथा तेजस्वी है (९)। इसीका विश्वरूपमें साक्षात्कार करना चाहिये।

प्रभुकी कृपासे जैसी उशिक्पुत्र कक्षीवानकी उन्नति हुई वैसीही हरएककी उन्नति हो सकती है। इस सूक्तमें सभापतिके वर्णनसे परमात्माका वर्णन किया है, इसका मनन पाठक इस तरह करें।

उशिक्पुत्र कक्षीवान्

दीर्घतमाका पुत्र उशिक, और उशिकका पुत्र कक्षीवान है। ऋग्वेदमें मं. १।११६ सूक्तसे १२५ तकके १४६ मंत्रोंका यह ऋषि है। सू. ९।१२६ के प्रथम ५ मंत्र इसीके है तथा नवम मंडलमें ७४ वे सूक्तके ९ मंत्र इसीके है अर्थात् १४६+५+९=१६० मंत्र ऋग्वेदमें इसके हैं। मेधातिथिके इस सूक्तमें औशिज कक्षीवान ऋषिकी उन्नति होनेका वर्णन है अतः मेधातिथिके पूर्वका यह कक्षीवान् होना उचित है।

'**सोमः यं मर्त्यं हिनोति सः न रिष्यति**'- सोम वनस्पति जिसकी सहायक होती है, वह क्षीण या दुर्बल नहीं होता, यह ठीक ही है। औषधियोंमें सोमवल्ली मुख्य है। सोमका नाम लेनेसे आयुर्वर्धक, पुष्टिकारक, रोगनाशक, स्फूर्तिवर्धक, मेधावर्धक सब औषधियोंका ग्रहण हुआ है। जिसको इन औषधि वनस्पतियोंकी सहायता होगी वह कदापि क्षीण हीनदीन दुर्बल अल्पायु या रोगी नहीं होगा। मं. ४ में '**रिष्यति**' पद है। सब हीनदीन दुर्बलताके भावोंका दर्शक यह पद है। सोमादि वनस्पतियां जिसकी सहायक होती हैं वह दुर्बल नहीं होता। यह सत्यही है।

बुद्धियोंका योग

(सः धीनां योगं इन्वति । ७) वह बुद्धियोंका योग प्राप्त करता है। सबकी बुद्धियोंका योग ईश्वरके साथही होना योग्य है क्योंकि वही सबकी बुद्धियोंको प्रेरणा करनेवाला है। जब बुद्धिका योग परमात्माके साथ होगा, तभी तो वह साक्षात्कारमें प्रत्यक्ष होगा। परमात्माका साक्षात्कार विश्वरूपमेंही होगा जैसा सभापतिका साक्षात्कार सभामें होता है।

पाठक इस तरह विचार करके इस सूक्तसे परमात्माका ज्ञान प्राप्त कर सकेंगे। सभापतिके कर्तव्य भी इसी सूक्तसे ज्ञात होंगे।

(८) वीरोंकी साथ

(ऋ. मं. १।१९) मेधातिथिः काण्वः । अग्निर्मरुतश्च । गायत्री ।

प्रति त्यं चारुमध्वरं गोपीथाय प्र हूयसे । मरुद्भिरग्न आ गहि १
नहि देवो न मर्त्यो महस्तव क्रतुं परः । मरुद्भिरग्न आ गहि २
ये महो रजसो विदुर्विश्वे देवासो अद्रुहः । मरुद्भिरग्न आ गहि ३
य उग्रा अर्कमानृचुरनाधृष्टास ओजसा । मरुद्भिरग्न आ गहि ४
ये शुभ्रा घोरवर्पसः सुक्षत्रासो रिशादसः । मरुद्भिरग्न आ गहि ५
ये नाकस्याधि रोचने दिवि देवास आसते । मरुद्भिरग्न आ गहि ६
य ईङ्खयन्ति पर्वतान् तिरः समुद्रमर्णवम् । मरुद्भिरग्न आ गहि ७
आ ये तन्वन्ति रश्मिभिस्तिरः समुद्रमोजसा । मरुद्भिरग्न आ गहि ८
अभि त्वा पूर्वपीतये सृजामि सोम्यं मधु । मरुद्भिरग्न आ गहि ९

अन्वयः- हे अग्ने ! त्यं चारुं अध्वरं प्रति गोपीथाय प्रहूयसे ॥ १ ॥ नहि देवः, न मर्त्यः, महः तव क्रतुं परः (भवति) ॥ २ ॥ ये अद्रुहः विश्वे देवासः महः रजसः विदुः ॥ ३ ॥ ये ओजसा अनाधृष्टासः उग्राः अर्कं आनृचुः ॥ ४ ॥ ये शुभ्रा घोरवर्पसः सुक्षत्रासः रिशादसः ॥ ५ ॥ ये देवासः नाकस्य अधि रोचने दिवि आसते ॥६॥ ये पर्वतान् ईङ्खयन्ति, समुद्रं अर्णवं तिरः (कुर्वन्ति) ॥ ७ ॥ ये रश्मिभिः आ तन्वन्ति, ओजसा समुद्रं तिरः (कुर्वन्ति) ॥ ८ ॥ हे अग्ने ! पूर्वपीतये त्वा सोम्यं मधु अभि सृजामि । (अतः तैः) मरुद्भिः आ गहि ॥ ९ ॥

अर्थ- हे अग्ने ! उस सुंदर हिंसारहित यज्ञके प्रति तुम्हें सोमरसका पान करनेके लिये बुलाते हैं ॥ १ ॥ ना ही कोई देव और न कोई मर्त्य (ऐसा है कि जो) तुम्हारे महासामर्थ्यसे किये यज्ञसे बढकर (कुछ कर्म कर सकता हो) ॥ २ ॥ जो द्रोह न करनेवाले सब देव (अर्थात् मरुद्गण) हैं, वे इस बडे अन्तरिक्षको जानते हैं ॥ ३ ॥ जो अपने विशाल बलके कारण अजेय उग्र वीर हैं और जो प्रकाशके स्थानतक पहुंचते हैं ॥ ४ ॥ जो गौर वर्णवाले, बडे शरीरवाले, उत्तम पराक्रमी और शत्रुका नाश करनेवाले हैं ॥५॥ जो ये (मरुत्) देव सूर्यके प्रकाशसे प्रकाशित हुए द्युलोकमें रहते हैं॥६॥ जो पर्वत जैसे मेघोंको उखाड देते हैं और जलराशीको तुछ करके उसके परे फेंक देते हैं ॥ ७ ॥ जो किरणोंसे व्यापते हैं और जो बलसे समुद्रको भी तुछ मानते हैं ॥ ८ ॥ हे अग्ने ! तुम्हारे प्रथम रसपानके लिये यह मधुर सोमरस मैं अर्पण करता हूं, अतः तुम उन (पूर्वोक्त वर्णन किये) मरुतोंके साथ आओ ॥ ९ ॥

वीरोंके साथ रहो

इस सूक्तमें प्रचण्ड वीरोंका वर्णन है। ' जो गौरवर्णवाले है, जिनके शरीर भयंकर हैं, जो क्षात्रकर्ममें अद्वितीय हैं और जो शत्रुका नाश करनेमें प्रवीण हैं, (५) जो बलवान् होनेके कारण अजेय हैं, जिनपर शत्रुका आक्रमण नहीं हो सकता, जो बडे उग्र शूरवीर हैं, जो तेजस्वी होनेसे सूर्यके समान प्रभावी हैं, (४) जो स्वयं किसीका द्रोह कभी नहीं करते, और जो सब विशाल स्थानको यथावत् जानते हैं (३), जो

पर्वतोंको भी उखाड दे सकते और समुद्रको भी लांघ देते हैं (७), जो तेजसे अथवा अपने प्रभावसे सर्वत्र व्यापते हैं और अपने बलसे समुद्रको भी तुच्छ समझते हैं (८) ऐसे ये मरुद्वीर हैं।

अग्निवीर ऐसा है कि जिसके बराबर कार्य करनेवाला न कोई देवोंमें हैं और नाही मर्त्योंमें है। ऐसा यह वीर पूर्वोक्त वीरोंके साथ इस यज्ञमें आजाय और मधुर सोमरस पीवे। हम ऐसे वीरोंको बुलाते हैं और उनका सत्कार करते हैं।

यहां मंत्रके पूर्वार्धमें वीरोंका वर्णन है और सब मंत्रोंका उत्तरार्ध एकही है। इसलिये हमने अन्तमें एकही बार उत्तरार्ध-का अर्थ किया है। प्रत्येक मंत्रमें पाठक उसका अनुसंधान करें।

पाठक पूर्वार्धका मनन करें और जाने कि, वीरोंमेंकिन गुणोंका उत्कर्ष होना चाहिये। ये गुण क्षत्रिय वीर अपनावें और अपने देशका (अ-द्रुहः) द्रोह न करते हुए अपनी वीरताका अधिकसे अधिक उत्कर्ष करें।

ये मरुत् वायुही हैं। अतः वायुके वर्णनसे यहां वीरोंका वर्णन किया गया है। वायु अन्तरिक्षमें रहता है इसीलिये वह अन्तरिक्षको जानता है (मं. ३), इस तरहके वर्णन पाठक विचारपूर्वक जान सकते हैं।

(९) दिव्य कारीगर

(ऋ. मं. १।२०) मेधातिथिः काण्वः । ऋभवः । गायत्री ।

अयं देवाय जन्मने स्तोमो विप्रेभिरासया	। अकारि रत्नधातमः	१
य इन्द्राय वचोयुजा ततक्षुर्मनसा हरी	। शमीभिर्यज्ञमाशत	२
तक्षन् नासत्याभ्यां परिज्मानं सुखं रथम्	। तक्षन् धेनुं सबर्दुघाम्	३
युवाना पितरा पुनः सत्यमन्त्रा ऋजूयवः	। ऋभवो विष्ट्यक्रत	४
सं वो मदासो अग्मतेन्द्रेण च मरुत्वता	। आदित्येभिश्च राजभिः	५
उत त्यं चमसं नवं त्वष्टुर्देवस्य निष्कृतम्	। अकर्त चतुरः पुनः	६
ते नो रत्नानि धत्तन त्रिरा साप्तानि सुन्वते	। एकमेकं सुशस्तिभिः	७
अधारयन्त वह्नयोऽभजन्त सुकृत्यया	। भागं देवेषु यज्ञियम्	८

अन्वयः- विप्रेभिः आसया अयं रत्नधातमः स्तोमः जन्मने देवाय अकारि ॥ १ ॥ ये इन्द्राय वचोयुजा हरी मनसा ततक्षुः (ते) शमीभिः यज्ञं आशत ॥ २ ॥ नासत्याभ्यां परिज्मानं सुखं रथं तक्षन्, धेनुं सबर्दुघां तक्षन् ॥ ३ ॥ सत्यमन्त्राः ऋजूयवः विष्टी ऋभवः पितरा पुनः युवाना अक्रत ॥ ४ ॥ (हे ऋभवः) वः मदासः मरुत्वता इन्द्रेण, च राजभिः आदित्यैः च सं अग्मत ॥ ५ ॥ उत देवस्य त्वष्टुः निष्कृतं नवं त्यं चमसं, (तं एकं) पुनः चतुरः अकर्त ॥ ६ ॥ ते (यूयं) सुशस्तिभिः नः सुन्वते एकं एकं त्रिः साप्तानि रत्नानि आ धत्तन ॥ ७ ॥ वह्नयः सुकृत्यया देवेषु यज्ञियं भागं अधारयन्त अभजन्त (च) ॥ ८ ॥

अर्थ- ज्ञानियोंने अपने मुखसे इस रत्नोंको देनेवाले स्तोत्रका, दिव्य जन्मको प्राप्त होनेवाले ऋभुदेवोंके लिये (पाठ) किया ॥१॥ जिन्होंने इन्द्रके लिये शब्दके इशारेसे चलनेवाले दो घोडे चतुराईसे बनाये (सिखाये); वे (ऋभु देव) शमीके (चमसादिके साथ) यज्ञमें आते हैं ॥२॥ अश्विदेवोंके लिये (उन्होंने) उत्तम गतिमान् सुखदायी रथ निर्माण किया और गौको उत्तम दुधारू बना दिया ॥३॥ सत्य विचारवाले, सरल स्वभाव, चारों ओर जानेवाले ऋभुओंने (अपने) मातापिताको पुनः जवान बना दिया ॥४॥ (हे ऋभुओ !) आपको आनन्द देनेवाला सोमरस मरुतोंके साथ इन्द्रके और चमकनेवाले आदित्योंके साथ आपको दिया जाता है ॥५॥ त्वष्टाके द्वारा बनाया वह नयाही चमस था, (ऋभुओंने उस एकहीको) चार प्रकारका बना दिया ॥६॥ वे (आप) स्तुतियोंसे (प्रशंसित होकर) हमारे सोमयाग करनेवाले ऋत्विजोंमेंसे प्रत्येकके लिये इक्कीस रत्नोंको धारण कराओ ॥७॥ अग्निके समान तेजस्वी (ऋभु देवोंने) अपने उत्तम कर्मोंसे देवोंमें (स्थान प्राप्त करके) यज्ञका हविर्भाग प्राप्त किया और उसका सेवन भी किया ॥८॥

दिव्य कारीगर

इस सूक्तमें ऋभु नामक दिव्य कारीगरोंका वर्णन है। इनकी कारीगरी इस सूक्तमें इस तरह वर्णन की गई है-

१ इन्द्रके लिये उत्तम शिक्षित घोडे इन्होंने दिये थे जो इशारे मात्रसे जैसे चाहे वैसे चलते थे। अर्थात् अश्वविद्यामें ऋभुदेव विशेष प्रवीण थे।

२ अश्विदेवोंके लिये इन्होंने उत्तम रथ बनाया, जो बैठनेवालोंके लिये बडा सुख देनेवाला था और चारों ओर अच्छी तरह चलाया जा सकता था। इससे सिद्ध है कि ऋभुदेव लकडीके काम तथा लोहेके काममें प्रवीण थे।

३ इन्होंने धेनुको अच्छी दुधारू बना दिया था। अर्थात् धेनुको दुधारू बनानेकी विद्या ऋभुदेव जानते थे।

४ वृद्धोंको तरुण बनाया। इससे सिद्ध है कि ये जीवन विद्या और औषधिप्रयोगोंमें प्रवीण थे और वृद्धोंको तरुण बनानेकी युक्ति जानते थे।

५ एक चमसके चार चमस बनाये। संभव है कि जैसा चमस त्वष्टाने बनाया था वैसेही इन्होंने चार बनाये होंगे।

६ इनके पास सात प्रकारके रत्न थे। जो उत्तम मध्यम कनिष्ठ भेदोंसे इक्कीस तरहके हो सकते है।

ऋभुदेवोंकी कथा

ऋभुदेवोंके संबंधमें ऐतरेय ब्राह्मणमें निम्नलिखित कथा मिलती है—

ऋभवो वै देवेषु तपसा सोमपीथं अभ्यजयंस्तेभ्यः प्रातःसवने वाचि कल्पयंस्तानाग्निर्वसुभिः प्रातःसवनादनुदत...तृतीये सवने वाचि कल्पयंस्तान् विश्वे देवा अनोनुद्यन्त, नेह पास्यन्ति, नेहेति, स प्रजापतिरब्रवीत् सवितारं, तव वा इमेऽन्ते वासास्त्वमेवैभिः सं पिबस्वेति। स तथेत्यब्रवीत्सविता तान्वै त्वमुभयतः परिपिबेति ...मनुष्यगन्धात्...॥ (ऐ. ब्रा ३।६)

" ऋभुदेव प्रारंभमें मनुष्य थे। तप करके वे देवत्वको प्राप्त हुए। प्रजापति और उसके साथ अपनी संमति रखनेवाले देव, इन देवोंने ऋभुओंको प्रातःसवनमें देवोंकी पंक्तिमें बिठलाकर सोमपान करानेका यत्न किया। परंतु आठों वसुदेवोंने उनको अपनी पंक्तिमें बैठने नहीं दिया। पश्चात् माध्यंदिन सवनमें ग्यारह रुद्रोंने उनको अपनी पंक्तिमें बैठने नहीं दिया, इसी तरह प्रजापतिने ऋभुओंको आदित्योंकी पंक्तिमें बिठलानेका यत्न तृतीय सवनमें किया, पर सभी देवोंने उनको अपनी पंक्तिमें बिठलानेसे इन्कार किया। (नेह पास्यन्ति, नेहेति) ये ऋभु यहां बैठकर सोमपान नहीं करेंगे, कदापि यह बात नहीं होगी, ऐसा सब देवोंने कहा। तब प्रजापति सविताके पास गया और उन्होंने उससे कहा कि हे सविता। ये तेरे साथ रहनेवाले और अच्छे कार्य करनेवाले हैं, अत तू अपने साथ इनको बिठलाकर सोमपान करो और इनको करने दो। सविताने कहा कि इन ऋभुओंको (मनुष्य-गन्धात्) मनुष्योंकी बू आ रही है, इसलिये ये देवोंमें कैसे बैठ सकते हैं? पर यदि हे प्रजापते! तुम स्वयं इनके साथ बैठकर सोमपान करोगे, तो मैं भी वैसा करूंगा। और एक वार यह प्रथा चल पडी तो चलती रहेगी। प्रजापतिने वैसा किया, तबसे ऋभु देवत्वको प्राप्त हुए।'

यह कथा ऐतरेय ब्राह्मणमें है। इसमें यदि कुछ अलंकार होगा, तो उसका अन्वेषण करना चाहिये। ऋ. १।११०।४ में कहा है-

विष्ट्वी शमी तरणित्वेन वाघतो मर्तासः सन्तो अमृतत्वमानशुः। सौधन्वना ऋभवः सूरचक्षसः संवत्सरे समपृच्यन्त धीतिभिः॥ (ऋ. १।११०।४)

'शान्तिपूर्वक शीघ्र कार्य करनेमें कुशल और ज्ञानी ऐसे ये ऋभु प्रथम मर्त्य होनेपर भी देवत्वको प्राप्त हुए। ये सुधन्वाके पुत्र सूर्यके समान तेजस्वी ऋभुदेव सांवत्सरिक यज्ञमें अपनी कर्म कुशलताके कारण संमिलित हो गये।'

अंगिराके पुत्र सुधन्वा, और सुधन्वाके पुत्र ऋभु, विभु और वाज ये तीन थे। इनमेंसे ऋभु बडे कारीगर थे इसलिये उनकी कारीगरीके कारण इनको देवोंमें शामील किया गया था। देव नामक जातीका एक दिग्विजयी राष्ट्र था, उस राष्ट्रमें मानवजातीके लोगोंको बसनेका अधिकार नहीं था। कभी कभी आवश्यकता पडनेपर कई मानवजातीके लोगोंको उसमें जाकर बसनेका अधिकार मिलता था। इसी तरह ऋभुओंको मिला था। ऋभु उत्तम कारीगर थे, उत्तम रथ बनाते थे, उत्तम शस्त्र बनाते थे, गौओंको अधिक दूध देनेवाली बनाते थे, वृद्धोंको जवान बनानेकी औषधियोजना ये जानते थे। देवजातीके लिये ऐसे कुशल कारीगरोंकी जरूरत थी अतः प्रजापतिने उन ऋभुओंको अपनी देवजातीमें लेनेका यत्न किया। प्रथम देवोंने इस प्रस्तावको स्वीकार नहीं किया, परंतु पश्चात् प्रजापतिका

प्रस्ताव देवोंने मान लिया और ऋभुओंकी गणना देवोंमें होने लगी।

आजकल अमेरिकामें भारतवासियोंको स्थायी रूपसे रहनेकी आज्ञा नहीं है। पर अब इस महायुद्धके कारण भारतीयोंको आज्ञा देनेका विचार वहां करने लगे है। इसी तरह यह ऋभुओंकी बात दीख रही है।

संभव है कि यह आलंकारिकही घटना हो। आलंकारिक होनेपर भी उससे यह बोध मिलता है कि जो जाती अपने राष्ट्रके हितके लिये उपयोगी है, ऐसा सिद्ध हो जाय, उस जातीको अपने राष्ट्रका अंग मानकर रहनेका अधिकार देना योग्य है। पर यह अधिकार देनेके लिये सब राष्ट्रवासी जातियोंके प्रतिनिधियोंकी संमति लेनी चाहिये, जैसीकी पूर्वोक्त ऐतरेय ब्राह्मणके वचनमें प्रजापति (राष्ट्रके अध्यक्ष) ने देवराष्ट्रकी प्रातिनिधिक देवसभाके सामने यह प्रस्ताव रखा था, और सबकी प्रथम प्रतिकूलता होनेपर भी आगे उनकी अनुकूलता युक्तिसे प्राप्त की और पश्चात् ऋभुओंको देवोंमें शामील किया गया।

इससे बडा भारी राष्ट्रीय संघटनाका बोध मिलता है उसको पाठक अवश्य विचार करें।

इस सूक्तमें भी **' देवेषु यज्ञियं भागं ऋभवः अधारयन्त, अभजन्त च** । (मं ८) ऐसा कहा है। ऋभुओंको प्रथम देवोंमें बैठकर यज्ञका हविर्भाग लेनेका अधिकार नहीं था, वह उनको मिला और पश्चात् वे उस भागका सेवन करने लगे।

प्रथम मण्डलके ११० वे सूक्तके साथ पाठक इसका विचार करें, इसका एक मंत्र ऊपर दिया है।

(१०) वीरोंकी प्रशंसा

(ऋ. मं. १।२१) मेधातिथिः काण्वः। इन्द्राग्नी। गायत्री।

इहेन्द्राग्नी उप ह्वये तयोरित्स्तोममुश्मसि । ता सोमं सोमपातमा १
ता यज्ञेषु प्र शंसतेन्द्राग्नी शुम्भता नरः । ता गायत्रेषु गायत २
ता मित्रस्य प्रशस्तय इन्द्राग्नी ता हवामहे । सोमपा सोमपीतये ३
उग्रा सन्ता हवामह उपेदं सवनं सुतम् । इन्द्राग्नी एह गच्छताम् ४
ता महान्ता सदस्पती इन्द्राग्नी रक्ष उब्जतम् । अप्रजाः सन्त्वत्रिणः ५
तेन सत्येन जागृतमधि प्रचेतुने पदे । इन्द्राग्नी शर्म यच्छतम् ६

अन्वयः- इह इन्द्राग्नी उप ह्वये। तयोः इत् स्तोमं उश्मसि। ता सोमपातमा सोमं (पिबतां) ॥ १ ॥ हे नरः! ता इन्द्राग्नी यज्ञेषु प्रशंसत। ता गायत्रेषु गायत ॥ २ ॥ मित्रस्य प्रशस्तये, ता सोमपा ता इन्द्राग्नी सोमपीतये हवामहे ॥३॥ इदं सुतं सवनं उप उग्रा सन्ता हवामहे। इन्द्राग्नी इह आ गच्छताम् ॥ ४ ॥ ता महान्ता सदसस्पती इन्द्राग्नी रक्षः उब्जतम्। अत्रिणः अप्रजाः सन्तु ॥ ५ ॥ हे इन्द्राग्नी! प्रचेतुने पदे तेन सत्येन अधि जागृतम्। (नः) शर्म यच्छतम् ॥६॥

अर्थ- इस यज्ञमें इन्द्र और अग्निको मैं बुलाता हूं। उनकी हि स्तुति करना चाहता हूं। वे सोमपान करनेवाले यहां सोमरस पीयें ॥१॥ हे मनुष्यो! उन इन्द्र और अग्निकी यज्ञोंमें प्रशंसा करो। गायत्री छन्दमें उनके काव्योंका गान करो ॥२॥ मित्रकी प्रशंसा करनेके समान, उन सोमपान करनेवाले इन्द्र और अग्निको सोमपानके लिये ही हम बुलाते हैं ॥३॥ सोमरस निकालनेपर, उन उग्रवीरोंको बुलाते हैं। वे इन्द्र और अग्नि यहां आ जायें ॥४॥ वे इन्द्र और अग्नि, बडे सभापति हैं, वे राक्षसोंको सरल स्वभाववाले बना देवें। वे सर्व भक्षक (राक्षस न सुधरे तो) प्रजारहित हो जावें ॥५॥ हे इन्द्र और अग्नि! चित् प्रकाशसे उज्वल हुए स्थानमें उसी सत्यके साथ तुम जागते रहो। और हमें सुख प्रदान करो ॥६॥

ईशावास्योपनिषद्

(संपादकीय समालोचना)

[अनुवादक- श्री० पं० **विनोबाजी भावे**, मराठीमें तथा हिंदीमें, प्रकाशक- श्री मंत्री ग्रामसेवा मण्डल, वर्धा। प्रस्तावलेखक- श्री कुन्दर दिवाण, मूल्य ४ आना]

पूजनीय लेखक

श्री पूजनीय विनोबाजी भावे ऐसी श्रेष्ठ व्यक्ति हैं कि, जिन्होंने उपनिषदों और भगवद्गीताको अपना जीवनरहस्य ही बनाया है। इनके लिये उपनिषद् पढनेके ग्रन्थ नहीं रहे, परंतु उनके दैनिक व्यवहारमेंही ये ग्रन्थ ढाले गये हैं। हम श्री पूजनीय विनोबाजीको ऐसी श्रेष्ठ व्यक्ति समझते हैं। और उनके लेखोंको ऐसीही श्रद्धाकी दृष्टीसे पढते हैं। इनका यह ईशोपनिषद्का अनुवाद है, इतना कहनेसे इसकी श्रेष्ठता सहजहीसे सिद्ध हो सकती है।

जो मनुष्य ईशोपनिषद्के अध्ययन करनेका इच्छुक है, वह इस पुस्तकको लेवे और इसका पाठ करे और इनके अर्थका मनन करे। निःसन्देह यह अनुवाद हरएक पाठकको अच्छा मार्गदर्शक होगा।

यह अनुवाद उत्तम है और संग्राह्य है, इतना कहनेसे, तथा श्री पूजनीय विनोबाजीपर हमारी अतुल श्रद्धा है, इतना कहने मात्रसे शास्त्रीय विचारोंके मतभेद दूर हुए, ऐसा नहीं समझना चाहिये। इसलिये हम थोडेसे शब्दोंसे नम्रतापूर्वक इसकी आलोचना आज यहां करना चाहते हैं। इस आलोचनासे श्री. विनोबाजीके विषयकी हमारी श्रद्धामें तथा इस पुस्तककी उत्तमातामें किसी तरहकी क्षति नहीं होगी, ऐसा हमारा विश्वास है।

दो पाठ

ईशोपनिषद्के दो पाठ हैं, (१) एक काण्वसंहिताका पाठ और (२) दूसरा वाजसनेयी संहिताका पाठ। यहां काण्वसंहिताका पाठ दिया है। जो सब भाष्यकारोंने स्वीकारा है और उपनिषदोंके संग्रह ग्रंथमें छापा है। परंतु वाजसनेयी संहिताका पाठ भी वैसाही प्रामाणिक है जैसा काण्वसंहिताका। अतः सत्यज्ञानकी चर्चा करनेके समय दोनों पाठोंका मनन करना योग्य है। हम ऐसाही यहां करेंगे।

शान्ति मन्त्र

ॐ पूर्णमदः पूर्णमिदं पूर्णात् पूर्णमुदच्यते।
पूर्णस्य पूर्णमादाय पूर्णमेवावशिष्यते॥
ॐ शान्तिः शान्तिः शान्तिः।

तीन शान्तियोंकी स्थापना करनेके लिये ही विशेष ज्ञान चाहिये। व्यक्तिमें शान्ति, समाज अथवा राष्ट्रमें शान्ति, और संपूर्ण विश्वमें शान्ति स्थिररूपसे स्थापन करनी चाहिये। वैदिक ज्ञानका यही ध्येय है। तीन वार '**शान्ति**'का उच्चारण करके ऋषियोंने यही ध्येय जनताके सम्मुख रखा।

विश्वशान्तिकी स्थापना करनेमें हरएक व्यक्तिका भाग अवश्य होगाहि, क्योंकि विश्वका अंशही व्यक्ति है। विश्वसे सर्वथा पृथक् व्यक्तिका अस्तित्व नहीं है। अंश-अंशी भावही व्यष्टि-समष्टिमें है। ओंकार जैसा व्यक्ति भावका वाचक यहा है, वैसाही समष्टि भावका भी वाचक है।

ओंकार

ओंकारमें 'अ-उ-म' ये तीन अक्षर है, और ये क्रमश 'आदि-उत्कर्ष-मान' के अर्थके साथ माण्डूक्य उपनिषद्में दिये हैं। तथा उसी स्थानमें व्यक्तिके जीवनकी जाग्रत-स्वप्न-सुषुप्ति इन तीनों अवस्थाओंके सूचक ये तीन अक्षर हैं ऐसा भी कहा है। अर्थात् जाग्रत-स्वप्न-सुषुप्तिमें मनुष्यका जीवन ऐसा व्यतीत होता रहे कि, जिससे वह 'आदि' अथवा प्रमुख बने, 'उत्तम' बनकर उत्कर्षको प्राप्त हो, तथा मान (Measure) अर्थात् मानवताकी मान मर्यादासे युक्त हो। और यह सब करते हुए व्यक्तिकी शान्ति, राष्ट्रकी शान्ति और विश्वशान्तिकी स्थापना करे। इसका अतिक्रम या व्यतिक्रम कभी न करे।

मनुष्यका संपूर्ण जीवन-व्यवहार उक्त त्रिविध शान्तियोंकी स्थापना लिये अनुकूल होना चाहिये, यह इसका तात्पर्य है। जिस ज्ञानसे यह सिद्ध होना संभव है, वह ज्ञान इस शान्तिमंत्रमें दिया है। इस मंत्रका अनुवाद श्री विनोबाजीने ऐसा दिया है-

ब्रह्म और विश्व

' वह (ब्रह्म) पूर्ण है, यह (विश्व भी) पूर्ण है। पूर्ण (ब्रह्म) सेहि पूर्ण (विश्व) निष्पन्न होता है। पूर्ण (ब्रह्म) मेंसे पूर्ण (विश्व) निकाल लेनेसे (अर्थात् उत्पन्न होनेसे) बाकी पूर्ण (ब्रह्म जैसाका वैसा) ही बच जाता है। (अर्थात् विश्वकी उत्पत्ति होनेसे ब्रह्ममें कुछभी घट वध या न्यूनाधिक नहीं होता।)'

इस अर्थमें (   ) ऐसे गोल कंसके अन्दर दिये शब्द हमारे हैं, उनको छोडकर जो शेष बचता है, वह श्री विनोबाजीका अर्थ है। वह अर्थ उत्तम है, पर हमारे लिखे शब्द उसमें मिलायें जांय, तो मंत्रका भाव अधिक स्पष्ट होता है, ऐसा हमारा ख्याल है। इसका विचार पाठक करें।

यह जो विश्व है वह ब्रह्मकाही रूप है। जैसा जेवर सोनेका, घडा मिट्टीका और वस्त्र कपासका रूप होता है। विश्वकी ओ इस ईश्वररूपकी दृष्टीसे देखना चाहिये यह यहां कहा है।

यदि व्यक्ति-समाज-विश्वमें उत्तम और स्थायी शान्ति स्थापन करनी है, तब तो विश्वके प्रत्येक अंशको ब्रह्मका रूप मानकरही व्यवहार करना चाहिये। ब्रह्मरूप माननेका तात्पर्य उस वस्तुको अत्यन्त संमाननीय और आदरणीय मानना ही है।

आज यूरोप अमेरिकाकी ' महा-त्रयी ' विश्वमें शान्ति स्थापन करनेकी भाषा बोल रही है, पर अंग्रेज हिंदुस्थानियोंको, अमेरिकन निग्रोंको और रूसी जपानियोंको ब्रह्मरूप वा आदरणीय माननेको तैयार नहीं हैं। यह है इनकी त्रुटी जो विश्वमें अवश्य तीसरा युद्ध करवायेगी। अतः जिनके हाथमें विश्वके बागडोर गये हैं, उनको परमात्मा विश्वरूप है, अतः संपूर्ण विश्व समान भावसे संमानयोग्य है, यह बात समझनी चाहिये। वैदिक ऋषियोंने यह ठीक तरह समझ लिया था।

यह शान्तिमंत्र ईशोपनिषद्के प्रारंभमें तथा अन्तमें पढा और मनन किया जाता है। जो आरंभ और अन्तमें होता है वही बीचमें रहता है। इसलिये हम इस शान्ति मन्त्रके मननके साथ ईशोपनिषद्का अब मनन करेंगे-

इसका प्रथम मंत्र यह है---

ॐ ईशा वास्यमिदं, सर्वं, यत्किं च, जगत्यां जगत्,
तेन त्यक्तेन भुञ्जीथाः, मा गृधः, कस्य स्विद्धनम्? ॥१॥

इस मंत्रपर माननीय लेखकने पांच टिप्पणियाँ लिखी हैं। उनका मनन सबसे प्रथम करना योग्य है।

पहिली टिप्पणी- 'ईश+आवास्यं' = ' ईशावास्यं ' इतना एक पूरा पद समझना चाहिये। ' ईशा ' और ' वास्यं ' ऐसे दो पद माननेसे व्यञ्जनान्त ' ईश् ' शब्द स्वीकारना पडता है। परंतु इस उपनिषद्की संज्ञा (नाम) तो ' ईश ' है, अर्थात् यह ' ईश' पद स्वरान्त है।

उपनिषदोंके नामोंसे वेदके पद पाठमें हस्ताक्षेप करना योग्य नहीं है। ' **ईशा वास्यं** ' ऐसे पद यहां प्राचीन परंपरासे माने जाते हैं। सब भाष्यकार ' ईशा' पद ' ईश् ' पदकी तृतीयाही मानते आये हैं। पदपाठका प्रमाण भी इसकी सहायता करता है। ' ईशावास्यं ' इतना एक पूरा पद मानना चाहिये, ऐसा जो लेखकजीने लिखा है, वह प्रमाण युक्त नही है। श्रीशंकराचार्य, उवट-महीधर आदि सब ' **ईशा वास्यं** ' ऐसे दो पृथक् पद मानते हैं, अतः वैसाही वेदके पद पाठानुरूप मानना योग्य है। यदि वेदमें अपने मतके अनुसार पद माननेकी परिपाठी पडजाय तो अनर्थ होनेमें देरी नहीं लगेगी।

जो तो कहा है कि उपनिषद्के नामोंमें स्वरान्त ' ईश ' पद है, तो वह ' ईशा ' पदका सुलभ उच्चारण मात्र है, इसी तरह ' मुण्डक ' उपनिषद्का ' मुण्ड ' इतनाही नाम वहां लिखा है। ' मुण्डकमाण्डूक्य ' कहनेके स्थानपर ' मुण्ड-माण्डूक्य ' कहना उच्चारण सुगमताका द्योतक है। अर्थात् ' ईश ' नाम कहा है इसलिये वहां स्वरान्तपद है और वह ' ईश ' है ऐसा मानना प्रमाण-हीन है। और यदि स्वरान्त पद चाहिये, तो ' ईशा ' पद स्वरान्तही है। अतः यह टिप्पणी माननेमें शास्त्र-प्रमाणका विरोध है।

दूसरी टिप्पणी- ' जगत् 'का अर्थ है ' जीनेवाला, जीवनवान् '। जगत्में सभी पदार्थ जीवनवान् हैं। जीवन कहीं सुप्त है, कहीं प्रकट है। सभी ईश्वरसे बसाया है।

' जगत् ' पदके अर्थमें विशेष मतभेद नहीं है। सभी पदार्थ जीवनवाले हैं यह भी ठीक है। 'सभी ईश्वरसे बसाया है' इसका अर्थ स्पष्ट होना चाहिये। एक राजा नया ग्राम बसाता है। क्या ऐसा यह सब जगत् ईश्वरने बसाया है? अर्थात् इस जगतसे ईश्वर सर्वथा पृथक् है अथवा जिस तरह सोना जेवरोंमें बसता है वैसा ईश्वर इस जगत्में बसा है? जैसी रुई सूतमें और सूत कपडेमें बसता है, वैसाही ईश्वर इस जगत्में बसा है। यदी यही आशय है, तब तो कोई मतभेद नहीं है।

व्यष्टि-समष्टि संबंध

जो ' जगत् ' का अर्थ माना जाय, वही अर्थ ' जगती ' का मानना पडेगा। क्योंकि जगत्की समष्टिही जगती है। 'जगत्यां जगत् ' इन दो पदोंने ' समष्टिके आधारसे व्यष्टि है ' यह बडा भारी वैदिक सिद्धान्त बताया है। ' जगत्यां ' यह आधारार्थक सप्तमी है। व्यष्टिका जीवन नष्ट होनेपर भी समष्टिका जीवन अविनाशी रहता है, इसलिये समष्टि आधार है और व्यष्टि उसके आश्रयसे रहनेवाली है, अतः समष्टिकी तुलनासे व्यष्टी गौण है और इसी कारण गौण होनेके हेतुसेही व्यक्तिको समष्टिके हितके लिये अपने सर्वस्वका त्याग या अर्पण करना चाहिये।

एक एक हिंदुव्यक्ति मरती हैं, परंतु हिंदुसमष्टि अर्थात् हिंदुजाती अमर है। इसीलिये हिंदुजातीकी उन्नतिकी साधनाके लिये प्रत्येक हिंदुव्यक्तिको अपना सर्वस्व अर्पण करना चाहिये। यही अर्थ हिंदीव्यक्ति और हिंदराष्ट्रकी दृष्टीमें देखा जा सकता है और एक मानव व मानवजातीके रूपमें भी देखा जा सकता है।

समष्टिके आधारपर व्यष्टी है, अतः समष्टि प्रधान है और व्यष्टि गौण है। इसी हेतुसे व्यक्तिको उचित है कि, वह समष्टिके हितार्थ त्यागका जीवन व्यतीत करे। व्यक्तिके त्यागके लिये हेतु समष्टिका हित है, यह बात यहां आधार और आधेय संबंधके द्वारा बतायी है। इसका संबंध आगेके मंत्रोंके साथ है इसलिये यह विवरण पाठक स्मरणमें रखें।

ईश्वरकी सत्ता

तृतीय टिप्पणी— ईश्वरकी सत्ताका स्वीकार करतेही मनुष्यका स्वामित्व-निरसन अनायासही हो जाता है।

ईश्वरकी सत्ता स्वीकारने मात्रसे मनुष्यका स्वामित्व-निरसन नहीं हो सकता। क्योंकि ईश्वरकी सत्ता माननेवाले बहुतही लोग इस भूमिपर हैं, परंतु व्यक्तिके स्वामित्वका निरास नहीं हुआ है। आजकलके सब देशोंके कायदे कानून या विधिनियम व्यक्तिका उसकी जायदादपर स्वामित्व सिद्ध करनेवालेही हैं, अर्थात् व्यक्तिका स्वामित्व मानकरही सब देशके मानव अपने व्यवहार कर रहे हैं, परंतु वे सब ईश्वरकी सत्ता मानतेही हैं। इसलिये यह टिप्पणी अपूर्ण है।

ईसाई और मोहमदीय तीसरे आस्मानमें अपने प्रभुकी सत्ता मानते हैं और इस भूमिपर उसका अधिकार उसके प्रेषितद्वारा चलता है ऐसा मानते हैं। हिंदुओंमें शैववैष्णवादि पंथ सुदूर स्थानमें ईश्वर मानते हैं, पर साथ साथ अवतार लेकर वह ईश्वर मानवोंमें निवास करता है ऐसा भी मानते हैं। हिंदुओंमें ईश्वर सबमें और सब ईश्वरमें ऐसा माननेवाले भी पंथ हैं और हिंदुओंमें सर्वेश्वरवादी भी हैं। वेद, भगवद्गीता और उपनिषद् सर्वेश्वरवादी ग्रन्थ हैं।

सुदूर ईश्वरवादी, अवतारवादी और सर्वेश्वरवादी ऐसे तीन भेद क्रमसे कम ईश्वरकी सत्ता माननेवालोंमें हैं। प्रत्येक वस्तुको ईश्वरका रूप माननेवाले सर्वेश्वरवादी कहलाते हैं। इन तीन विभिन्न मतोंके कारण उनके माननेवालोंके आचारोंमें भी भिन्नता हुई है और वैसा होना स्वाभाविक ही है। सर्वेश्वरवादी प्रत्येक वस्तुको ईश्वररूप देखता और वैसा व्यवहार उसके साथ करता है। परंतु जिनका ईश्वर सुदूर स्थानमें ही है और यहां नहीं है ऐसा विश्वास है और सुदूर स्थानमें रहनेके कारण वह अपने प्रेषित दूतके द्वारा यहांका कारोबार चलाता है। उनका आचार व्यवहार और संपूर्ण विश्वको ही ईश्वरका निजरूप माननेवालोंका आचार व्यवहार इसमें आकाश पाताल का अन्तर होना स्वाभाविक है। इसलिये केवल ईश्वरकी सत्ता मानने मात्रसे मनुष्यके स्वामित्वका निरास होता है, ऐसा मानना आंशिक सत्य है, संपूर्ण सत्य नहीं है।

(विश्वं विष्णुः) संपूर्ण विश्वको ही विष्णुका रूप माननेवाले सर्वेश्वरवादी विश्वको ही प्रत्यक्ष विष्णु देखते मानते और अनुभव करते हैं, इसलिये वे विश्व विष्णुका है मेरा नहीं ऐसा मान सकते हैं, पर जिनके मतसे विश्वसे पृथक् प्रभु है वे भला अपना स्वामित्व क्यों कर छोडेंगे ? इसलिये यह टिप्पणी आंशिक सत्य बता रही है ऐसा हमने कहा, अस्तु। अब इतने विवेचनके पश्चात् प्रथम मंत्र देखिये जिसका ऐसा अर्थ पूजनीय लेखकजीने दिया है—

" इस जगत्में जो कुछ भी जीवन है, वह सब ईश्वरने बसाया हुआ है। इसलिये तू ईश्वरके नामसे त्याग करके यथा-प्राप्त भोग किया कर। किसीके धनकी वासना न कर। "

चतुर्थ चरणका और एक अर्थ चतुर्थ टिप्पणीमें ऐसा दिया है- " तृष्णा मत कर, (क्योंकि) धन किसका है ? "

धन किसका है ?

हमारे मतसे यह टिप्पणीमें दिया अर्थ ही अधिक योग्य है

और वह मन्त्रार्थके स्थानपर देना योग्य था। ' यथा प्राप्त धनका भोग कर, किसी दूसरेके धनकी वासना न कर ' इस अर्थसे यद्यपि भोगपर मर्यादा आ गयी है, तथापि यह कोई आदर्श व्यवस्था नहीं है। भारत वर्षमें अनेक राजा महाराजा, सेठ साहुकार हैं, तथा अनेक देशोंमें भी हैं। यदि उनको ' यथा प्राप्त धनका भोग कर, किसी दूसरेके धनकी वासना न कर ' इतनाही कहा जाय, तो वे अपने करोडों रु० का भोग स्वयं करेंगे, और वे कहेंगे कि यह वेदकी आज्ञा हमने पालन की है। पर यथा प्राप्त धनका भोग करनेकी आज्ञा वेद नहीं देता, यह सब जानते ही हैं।

वैदिक धर्मकी दृष्टीसे तो सबका धन यज्ञके लिये ही है। यथा प्राप्त धन हो या जैसा भी धन आया हो, वह यज्ञके लिये है, वह व्यक्तिके भोगके लिये नहीं है। यज्ञ करनेके पश्चात्, सबकी तृप्ति होनेके पश्चात्, यज्ञशेष ही यजमान भक्षण कर सकता है। यज्ञशेष भक्षणका तत्त्व सर्वत्र वेदमें मान्य होनेसे, ' यथा प्राप्त धनका भोग करनेकी आज्ञा ' वेद दे नहीं सकता, यह सिद्ध है।

(**मा गृधः**) तृष्णा मत कर, मत ललचाओ, (**कस्य स्वित् धनं** ?) किसका भला धन है ? विचार तो करो। हरएक व्यक्ति मेरा धन है ऐसा कहते कहते, लडता झगडता है और अन्तमें सौ वर्षके पश्चात् चल बसता है। ऐसा होते होते इस विश्वमें धन तो रहताही है और मानव समाज भी (समष्टि पुरुष) रहता है अर्थात् समष्टिका वह धन है, व्यक्तिका नहीं। ' कः ' का अर्थ संस्कृत में ' कौन ' ऐसा भी है और 'परमेष्ठी प्रजापति' भी है। इसलिये **'कस्य स्वित् धनं'** का अर्थ ' धन भला किसका है ? ' ऐसा होता है और ' धन निःसंदेह प्रजापतिकाही है ' ऐसा भी होता है। इस तरह प्रश्न और उत्तर एकही मंत्रभागमें हैं। यह श्लेष है। प्रजापतिका धन है वह इसलिये कि वह प्रजाका पालन करता रहे, अर्थात प्रजाके पालन करनेके लिये ही यह धन प्रजापतिके अधिकार में दिया है। यदि प्रजापति प्रजाका सुयोग्य पालन न करेगा, तो वह प्रजापति ही नहीं रहेगा, और वह प्रजापालक न रहने के कारण उसका धनपरका अधिकार भी नहीं रहेगा।

'प्रजा ' शब्दसे मानव समष्टि तथा सब स्थिरचर समष्टि समझनी योग्य है। इसीका नाम विश्व है। इसीका नाम ' जगती' है। यहां मानवधर्म जो सिद्ध हुआ वह यह है-(१) व्यक्ति लालच न करे, (२) धन किसका है यह सोचे (और सोचते सोचते जाने कि धन सब प्रजाका यथावत् पालन होनेके लिये है। यह जानकर वैसाही समझे और उसके अनुकूल अपना व्यवहार करे।)

व्यक्ति क्यों लालच न करे ? इसका उत्तर यह है कि धन सब प्रजाके पालन करनेके लिये है, इसलिये किसीकी बढी हुई लालच दूसरोंकी पालनामें अवश्य बाधा डालती है, इस हेतुसे लालच करना अपराध है। यह लालच सामाजिक पाप है। इसलिये लालच नहीं करना यह व्यक्तिका धार्मिक कर्तव्य है। यदि व्यक्ति लालच न करे तो वह जीवे कैसे ? इसका उत्तर यह है कि (**तेन त्यक्तेन भुञ्जीथाः**) इसलिये वह व्यक्ति यज्ञसे भोग करे, दानसे भोग करे।

दो प्रकारके भोग

भोग दो प्रकारके हैं, (१) एक भोगसे भोग और (२) दूसरा त्यागसे भोग। भोगसे भोग अत्यंत मर्यादित हो सकता है, परंतु त्यागसे होनेवाला भोग अमर्याद है। उदाहरणके लिये देखिये किसी व्यक्तिके पास सौ मण गेहूं है, वह स्वयं भोग करेगा तो प्रतिदिन दो तीन सेर अधिकसे अधिक खा सकेगा, पर यदि वह उसकी रोटियां बनाकर लोगोंको खिलायेगा तो उससे सहस्रों मानव तृप्त होंगे। स्वयं रोटी खानेसे थोडासा आनंद होता ही है, परंतु सहस्रों गरीबोंको अन्नदान करनेसे उनके तृप्त हुए मुख देखनेसे जो आनन्द होता है वह है 'दानसे होनेवाले भोगका आनन्द। ' यह अमर्याद आनन्द है। यही यज्ञसे मिलनेवाला आनन्द है। और यज्ञशेषका भोग यही है।

'(१) इसलिये दानसे भोग कर, (२) मत ललचाओ, (३) धन भला किसका है ?-(उत्तर-सब धन प्रजाकी पालना करनेके लिये है, वह समष्टिका है, किसी भी एक व्यक्तिका उसपर अधिकार नहीं) ' यह मंत्रके उत्तरार्धका अर्थ हुआ।

मंत्रके पूर्वार्धमें ' **ईशा वास्यं इदं** ' इतनाही मुख्य मंत्र-भाग है, शेष सब शब्द ' इदं ' के स्पष्टीकरण करनेवाले हैं। ' ईश्वरद्वारा बसाया गया है यह (विश्व) ' इतना इसका शब्दार्थ है।

प्रश्न— (**इदं**) ' यह ' का अर्थ क्या है ?

उत्तर— (**सर्वं**)' सब ' है (इदं)' यह 'का अर्थ।

प्र०— 'सब'का अर्थ क्या है ?

उ०- (**यत् किं च**) ' जो कुछ है ' वही सब है।

प्र०– (**यत् किं च**) 'जो कुछ है' वह कैसा है ?

उ०– (**जगत्यां जगत्**) 'जगतीमें जगत्,' समष्टिके आधारपर व्यष्टि, ऐसा यह सब विश्व है।

इस तरह आगेके पद 'इदं' का स्पष्टीकरण करते हैं। '**समष्टिके आधारसे व्यक्ति रहती है, इस तरहका यह सब विश्व है, यह सब विश्व ईश्वरद्वारा बसाया हुआ है।** अर्थात् **ईश्वरही विश्वरूप लिये यहां बसा है।**

यहांका बसाया जाना, कपास सूत्रमें बसता है, सूत्र वस्त्रमें बसता है, सोना जेवरोंमें बसता है, मिट्टी घडेमें बसती है, वैसा बसना समझना चाहिये। क्योंकि सातवें मंत्रमें–

यस्मिन् सर्वाणि भूतानि
आत्मैवाभूद्विजानतः ॥ (मं. ७)

"जिस ज्ञानी (के जीवन) में सब भूत आत्माही हुए" ऐसा कहा है। ज्ञानीका यह अनुभव है। संपूर्ण विश्वही प्रभुका स्वरूप है, यह उसका अनुभव है। सब भूत (परम) आत्माही हुते हैं। यही ज्ञान है और यही ज्ञान अमरत्व देनेवाला और शोकमोह दूर करनेवाला है। '**ईशा वास्यं इदं**' काही यह सातवा मंत्र स्पष्टीकरण करता है। इसीलिये कपास सूत्रमें और सूत्र वस्त्रमें वसनेके समान यहांका भाव समझना चाहिये।

'वस्' धातुका अर्थ 'आच्छादन करना, वसना, रहना, निवास करना' आदि है। ईश्वर व्यापक है इतना कहनेसे ठीक बोध नहीं होता, यह व्यापकता वस्त्रमें कपास जैसी है, परंतु घडेमें भरे पानी जैसी नहीं और तपे लोहेमें उष्णता जैसी भी नहीं है। श्री विनोबाजीका सातवें मंत्रका अर्थ 'जिसके लिये सभी भूतमात्र आत्मरूप हो गये' ऐसा है। हम इसमें इतनाही बदल करना चाहते है– 'जिस ज्ञानीके (ज्ञानानुभवमें) सब भूत आत्मा ही हुए हैं।' वह शोकमोहसे दूर होता है। 'आत्मरूप' होना और 'आत्माही' होना इसमें थोडासा विभिन्न आशय है। वस्त्र कपासरूप नहीं, परंतु कपासही है। जेवर सुवर्णही है सुवर्णरूप नहीं। ऐसाही यह विश्व परमात्मा ही है न कि परमात्मरूप तथापि आत्मरूपका भी आशय यही है इसलिये मतभेद नहीं है। इतने मननके पश्चात् प्रथम मन्त्रका हमारा अर्थ ऐसा हुआ—

(१) '**ईश्वर इस (सब विश्व) में बसा है,** (२) इस सब (विश्व) में समष्टि (के आधार)में ही व्यष्टि (रहती) **है,** (३) (यह जानकर) इस हेतुसे दानसे (यज्ञसे, यज्ञावशेषकाही) भोग कर, (४) लालच न कर, (५) भला धन किसका है (यह सोच और जान कि प्रजापालकका प्रजापालनके लिये ही धन है।)

इसका स्पष्ट भाव यह है–

१. सब विश्व, सब भूतमात्र, प्रत्यक्ष साक्षात् ईश्वरही है,
२. इस विश्वमें समष्टिके आधारपरही व्यक्ति रहती है, इसलिये समष्टिके मुख्य और व्यक्ति गौण है, अतः व्यक्तिका समर्पण समष्टिके लिये होना चाहिये,
३. इस कारण सर्वस्वका यज्ञ कर और यज्ञशेषका अपने जीवननिर्वाहके लिये सेवन कर,
४. इससे अधिक भोगकी लालच न कर, क्योंकि वैसा करना समष्टिके दुःखका हेतु है, इसलिये वह पाप है, पापका भागी न बन,
५. धन किसका है ? सोचो। अपना धन माननेवाले सब चले गये, और उनका धन यहीं रहा है, अतः वह सब समष्टिकी पालनाके लिये ही है, किसी भी एक व्यक्तिका नहीं है।

यह ज्ञान सच्चे मानवधर्मकी बुनियाद है। इसी ज्ञानसे, और ऐसे ज्ञानपूर्वक होनेवाले व्यवहारसे ही विश्वमें शान्ति हो सकती है। अतः व्यक्ति, राष्ट्र और विश्वमें शान्ति स्थापन करनेका वही अधिकारी है, जो इस ज्ञानका अनुभव करता है और ऐसा बर्ताव करना जिसका स्वभाव बना है।

(**ईशा वास्यं इदं सर्वं**) इस सब विश्वमें ईश होकरही वसना योग्य है, गुलामके लिये यहां स्थान नहीं, अर्थात् संमान का स्थान नहीं, यह भी एक व्यवहारका भाव यहां दीख सकता है।

दो ज्ञेय पदार्थ

इस प्रथम मंत्रमें '**ईशा** वास्यं **इदं**' में 'ईश' और 'इदं' ये दोही पदार्थ ज्ञेय अर्थात् जानने योग्य हैं।

ईश	इदं
ईश	अनीश
आत्मा	अनात्मा
(आत्म)विद्या	अ(नात्म)विद्या
विद्या	अ——विद्या

इस तरह विचार करनेसे आत्मज्ञान और भूतज्ञान, आत्मविद्या और प्रकृतिविद्या ये दो ही विद्याएँ जानने योग्य हैं ऐसा सिद्ध होता है। प्रथम मंत्रके प्रथम चरणसे ही इन दो पदार्थों के ज्ञातव्य होनेका भाव सहज ही से ध्यानमें आता है।

प्रकृतिविद्यामें अनंत विद्याएँ हैं और आत्मज्ञानमें भी अनेक शास्त्र हैं। पर ये दो भेद ज्ञान क्षेत्रमेंही हैं। ये दोनों विद्याएं मिलकर ज्ञानका क्षेत्र है। मनुष्यके लिये ये दोनों विद्याएं आवश्यक हैं। प्रकृति विद्यासे मनुष्यका जीवन सुखमय हो जाता है और आत्मविद्यासे अमरत्वका आनंद मिल सकता है। जो केवल किसी एकही विद्यामें रमेंगे वे नष्ट होंगे, परंतु जो दोनोंका समन्वय करेंगे, वे ही सच्ची उन्नति प्राप्त करके इसी भूमिपर स्वर्गका साम्राज्य स्थापन करेंगे। यह सब हरएकके अनुभवमें आनेवाली स्पष्ट बात है।

इस उपनिषद्के ९-११ इन तीन मंत्रोंमें यही विषय आया है। ये ज्ञानक्षेत्रके तीन मंत्र हैं—

> अन्धं तमः प्रविशन्ति ये अविद्यामुपासते ।
> ततो भूय इव ते तमो य उ विद्यायां रताः ॥९॥
> अन्यदेवाहुर्विद्यया अन्यदाहुरविद्यया ।
> इति शुश्रुम धीराणां ये नस्तद्विचचक्षिरे ॥१०॥
> विद्यां चाविद्यां च यस्तद्वेदोभयं सह ।
> अविद्यया मृत्युं तीर्त्वा विद्ययामृतमश्नुते ॥११॥

इन तीन मंत्रोंका श्री पूजनीय विनोबाजीका अर्थ यह है—

" जो अज्ञानको ही साधन सर्वस्व मानते हैं वे घने अन्धेरेमें प्रवेश करते हैं। जो ज्ञानमें ही मग्न है वे मानों और भी घोरतर अन्धेरेमें प्रवेश करते हैं (९)। (आत्मतत्व) ज्ञान से भिन्न बताया गया है और अ-ज्ञानसे भी भिन्न बताया गया है। जिन्होंने हमें वह समझा दिया उन ज्ञानी पुरुषोंसे हमने यह सुना है (१०)। ज्ञान और अज्ञान दोनों सहित जो उस आत्मतत्त्वको जानते हैं वे (उस आत्मतत्त्वके सहारे) अज्ञान से मृत्युको लांघकर ज्ञानसे अमृतको पहुंचते हैं (११)। "

पूर्वोक्त हमारे विवरणके अनुसार हमारे मतके अनुकूल जो अर्थ बनता है वह हम अब देते हैं—

" जो (केवल) प्रकृतिविद्याकीही (असीम) भक्ति करते हैं वे घने अन्धेरेमें जाते हैं, पर जो (केवल) आत्मज्ञानमेंही रमते हैं, वे उससे भी घोर तर अन्धकारमें प्रविष्ट होते हैं (९)। आत्मविद्याका फल अन्य (अद्भुत) ही है, और प्रकृतिविद्याका फल (भी उससे) विलक्षण है, ऐसा हम, जो उपदेश करते आये हैं उनसे सुनते आये हैं (१०)। आत्मविद्या और प्रकृति-विद्या, इन दोनोंको साथ साथ (पढनेसे जो लाभ होते हैं, उनका जिनको) ज्ञान है, वे प्रकृतिविद्यासे (ऐहिक अपमृत्यु आदि अनेक) दुःखोंको दूर करके आत्मविद्यासे अमर बनते हैं (११)।

यहां विशेष विस्तार न करते हुए इतना कहना पर्याप्त है कि केवल प्रकृतिविज्ञानमें मग्न होनेसेही यूरोप अमेरिका और जापानका संघर्ष होकर इतना नाश हो चुका है। इन्होंने एक क्षणमें बडे बडे शहरोंका नाश करनेका शस्त्र निकाला है और इससे बढकर विनाशक शस्त्रोंकी खोजमें वे हैं। ऐहिक सुखके साधन अत्यधिक बढ गये हैं, परंतु शान्ति नहीं है यह है केवल भूतविज्ञानके पीछे पडे हुओंकी स्थिति! अब इधर भारत-वर्षमें देखिये यहां भारतीय हिंदु जनता ऋषियोंके उच्च अध्यात्म ज्ञानकी घमंडमें ऐसी मस्त है कि दैनिक आवश्यकता के लिये अन्न और वस्त्र है वा नहीं इसकी भी सुध इसको नहीं है और अन्नके अभावके कारण भूखे मरने और वस्त्रके अभावके कारण नंगे फिरनेकी अवस्था आचुकी है!

आजके अपने सामनेके ये प्रत्यक्ष उदाहरण हैं कि जिससे सिद्ध हो रहा है कि आत्मज्ञान और प्राकृतिक विज्ञान इन दोनोंका समन्वय करके पढाईकी आयोजना करना आवश्यक है, जिससे जनता प्रकृति विज्ञानसे दैनिक आवश्यकताओंकी पूर्ति-करके दैनिक दुःख दूर करके तन्दुरुस्त रहेगी और आत्म-ज्ञानसे आध्यात्मिक शान्ति प्राप्त करेगी; तथा जो धन और शक्ति परस्परके नाश करनेके लिये खर्च की जा रही है, वही परस्पर की सेवा और विश्वशान्तिके लिये खर्च करेगी। यह है वैदिक ऋषियोंका कार्यक्रम जो इन मंत्रोंद्वारा सूचित हो रहा है।

अध्यात्मज्ञान और प्रकृतिविज्ञानका समन्वय ही बडी भारी महत्त्वपूर्ण बात है, जो ईशोपनिषद्का विशेष अपूर्व महत्त्व सिद्ध कर रही है।

व्यक्ति और समाजका विकास

इसी तरह व्यष्टि समष्टिका विकास कैसा हो यह प्रश्न भी मानवोंको सता रहा है। ईशोपनिषद्के प्रथम मंत्रके द्वितीय चरणमें '**जगत्यां जगत्**' (समष्टिके आधारपर व्यष्टि रहती है) ऐसा कहा है। इस विषयमें हमने इसके पूर्व थोडासा लिखाही है। जगत्का समूह जगती है। व्यक्तिका नाश होता है यह सर्वत्र अनुभव है, पर संघ अविनाशी है यह उतनाही सत्य है।

एक मानव सौ वर्ष जीता है, अधिकसे अधिक डेडसौ वर्ष जीयेगा, पर अन्तमें मरेगा। पर मानवीसमाज अमर है। हरएक हिंदू मरनेपर भी हिंदू समाज सहस्रों वर्षोंसे जीवित है और ऐसाही आगे भी जीवित रहेगा। ऐसेही अन्य समाज जीवित रहेंगे। यह तो अनुभवकी प्रत्यक्ष बात है इसलिये इस विषयमें अधिक लिखनेकी जरूरत नहीं है। इसी '**जगत्यां जगत्**'से ईशोपनिषदके आगेके तीन मंत्रोंका अर्थ स्पष्ट हो जाता है—

जगति	जगत्
समष्टि	व्यष्टि
समाज	व्यक्ति
संभूति	असंभूति
Collectivity	Individuality

ईशोपनिषद्‌के मंत्र १२-१४ तकके तीन मंत्रोंमें संभूति-असंभूतिका विचार प्रस्तुत किया है। '**सं**' अर्थात् मिलकर '**भूति**' रहना होना जीना या व्यवहार करना '**सं-भूति**' का अर्थ है। '**संभूय समुत्थान**' का अर्थ क्षत्रियोंकी सेनाको मिलकर चढाई करना है, वैश्योंको व्यापारकी कंपनियों और शूद्रोंकी कारीगरीके संघोंका वाचक यह पद है। स्मृतियोंमें इसके कानून प्रसिद्ध है।

अर्थात् संक्षेपतः यही कहना है कि इन संभूति-असंभूतिके तीन मंत्रोंमें समष्टि-व्यष्टि जीवनका सिद्धान्त बताया है। इन तीन मंत्रोंमें इनके वाचक जो शब्द आये हैं वे भी मननके योग्य है—

संभूति	**असंभूति** (मं. १२)
संभव	**असंभव** (,, १३)
संभूति	**विनाश** (,, १४)
(Collectivism)	(Individualism)
(सांघिक जीवन)	(वैयक्तिक जीवन)

असंभूतिका पर्याय '**असंभव** और **विनाश**' है और संभूतिका पर्याय '**संभव**' है और संभूतिका संबन्ध अमृतके साथ है। अर्थात् संभूतिसे अमृत या अमर होनेका संभव है और यदि असंभूति अधिक बढाई जाय तो आगे विनाशही होगा। सांघिक जीवन और वैयक्तिक जीवनका संग्राम आज चल रहा है। सांधिक जीवनके 'समाजवाद, कम्यूनिझम, साम्यवाद और राष्ट्रीय समाजवाद' ये विचारप्रवाह हैं और व्यक्ति जीवनके 'आप मरे तो डुब गयी दुनिया' आदि अनेक विचारप्रवाह हैं। वेद और ईशोपनिषद् इस विषयमें क्या कहता है सो अब देखिये—

अन्धं तमः प्रविशन्ति येऽसंभूतिमुपासते।
ततो भूय इव ते तमो य उ संभूत्यां रताः ॥१२॥
अन्यदेवाहुः संभवादन्यदाहुरसंभवात्।
इति शुश्रुम धीराणां ये नस्तद्विचचक्षिरे ॥१३॥
संभूतिं च विनाशं च यस्तद्वेदोभयं सह।
विनाशेन मृत्युं तीर्त्वा संभूत्याऽमृतमश्नुते ॥१४॥

श्री पूजनीय विनोबाजीका अर्थ— 'जिन्होंने विरोधको ही साधनसर्वस्व मान लिया वे मानो घने अन्धेरेमें प्रवेश कर गये। जो विकासमेंही मग्न हो गये, वे मानो उससे भी घने अन्धेरेमें जा पहुंचे (१२)। (आत्मतत्व) विकाससे भिन्न और निरोधसे भी भिन्न बतलाया गया है। जिन्होंने हमें वह समझाया उन ज्ञानी पुरुषोंसे हमने ऐसा सुना है। (१३) विकास और निरोध दोनों सहित जो उस आत्मतत्त्वको जानते हैं वे (उस आत्मतत्त्वके बल) निरोधसे मृत्युको पारकर विकाससे अमृतको पहुंचते है (१४)।'

पूर्वोक्त विवरणके अनुसंधानसे होनेवाला हमारा अर्थ-"जो व्यक्ति (–स्वातंत्र्य-वाद)की उपासना करते हैं वे घने अन्धेरेमें जाते हैं और जो संघ (-सर्वस्व-वाद)मेंही रमते हैं वे उससे भी घने अन्धेरेमें जा पहुंचते हैं (१२)। संघ (-सर्वस्ववाद) का एक विलक्षण फल है और व्यक्ति (–स्वातंत्र्यवाद)का भी एक अद्भुत फल है ऐसा हम, इस ज्ञानका उपदेश करनेवालोंसे सुनते आये हैं (१३)। संघ (-सर्वस्ववाद) और व्यक्ति (-स्वातंत्र्यवाद) ये दोनों साथ साथ रहनेसे (अर्थात् दोनोंके समन्वयसे लाभ होता है) यह ज्ञान जो जानते हैं, वे व्यक्ति (-स्वातंत्र्यवाद) से(व्यक्तिकी) मृत्युका भय, (अर्थात् व्यक्तिनाशका भय) दूर करके संघ (-सर्वस्ववाद) के द्वारा अमरत्वकी प्राप्ति करते हैं (१४)।"

यहां हमने व्यक्ति-स्वातंत्र्यवाद और संघसर्वस्व-वाद ये दो शब्दप्रयोग मंत्रोंका आशय ठीक तरह ध्यानमें लानेकी सुगमता होने लिये प्रयुक्त किये हैं। Individualism और Collectivism के वे भावदर्शक हैं। संघसर्वस्ववादकेही दूसरे नाम 'समाजवाद, साम्यवाद (रूसीमत), राष्ट्रीय-समाजवाद (नाझीमत)' आदिक हैं। समाजवादमें व्यक्तिकी

स्वतंत्रता मारी जाती है और व्यक्तिस्वातंत्र्य वादसे संघटनाका बल बिलकुल नहीं रहता, यह सब आज जानतेही हैं।

इसके उदाहरण पाठक आजभी देख सकते हैं। हिंदुस्थानमें विशेष कर हिंदुसमाजमें व्यक्तिकी स्वतंत्रता इतनी अधिक हुई है कि प्रत्येक जाति स्वतंत्र और उसमें प्रत्येक व्यक्ति स्वतंत्र है। मैं स्वतंत्र हूं, मेरा दूसरेसे कुछभी संबंध नहीं, मैं मर गया तो दुनियां डूबनेदो मुझे उसका क्या है ? इस तरहके विचार हिंदुओंमें इतने बढ गये हैं कि व्यक्तिकी अत्याधिक स्वतंत्रतासे यह समाज संपूर्ण रीतिसे असंघटित होकर बिनाशको पहुंच रहा है। अन्य लोग इसके टुकडे कर रहे हैं तो भी इससे बचनेकी उपाययोजना यह कुछ भी नहीं करता। संघका बल उक्त कारण हिंदुसमाजमें बिलकुल नहीं है। दूसरी ओर जर्मनोंकी नाझी संघटना देखो, वहां संघजीवनही है, वहां व्यक्तिका अस्तित्व इतना दबाया गया था कि उसकी कोई सीमाही नहीं रही थी। इन दो नोकोंके अन्दर अन्यवाद यथा स्थान रखे जा सकते हैं।

व्यक्तिकी स्वतंत्रतासे व्यक्तिका विकास हो सकता है और संघजीवनसे संघटनाका बल बढ सकता है। ये दो लाभ इन दो विचारधाराओंके हैं अतः व्यक्तिकी भी उन्नति हो और संघटना का भी बल बढे ऐसा समन्वय करनेकी आकांक्षा वेदने अपने संदेशमें प्रकट की है, वह निःसंदेह योग्य है।

आज जगत् में इन व्यक्ति स्वातंत्र्यवाद और संघसर्वस्ववाद के बडे झगडे हो रहे हैं और ये संघर्ष मिटनेकी संभावना दीखती भी नहीं है। ऐसी दोलायमान अवस्थामें यदि वेदका मार्गदर्शन मान लिया जाय, तो नेताओंको अवश्यही सुयोग्य मार्गदर्शन हो सकेगा। व्यक्ति-स्वातंत्र्य अत्यधिक करनेसे समाजका विनाश होगा, इसलिये उसको मर्यादित करना चाहिये। समष्टि जीवनसे ही अमरत्व प्राप्त होना है। '**समष्टिः ईशः सर्वेषां**' (पंचदशी) समष्टि ही ईश है। यदि ईशका नाम समष्टि ही है तब तो '**ईशा वास्यं इदं सर्वं**'का अर्थ 'समष्टि ही इन सब व्यक्तियोंमें बसती है' यह ठीकही है। इससे भी समष्टि जीवनकी उपादेयता स्पष्ट होती है, परंतु यहाँ व्यक्तिस्वातंत्र्यको व्यक्तिकी उन्नतिके लिये अवश्य स्थान है, परन्तु वह समष्टिके लिये घातक न हो।

'विद्या-अविद्या' और 'संभूति-असंभूति' ये दोनों प्रकरण भाष्यकारोंको बडे सता रहे हैं। परंतु हमने इनका अर्थ प्रथम मंत्रके पदोंके आधारसे ही किया है और इससे ये दोनों प्रकरण ज्ञानक्षेत्र और आचारक्षेत्रके बडे भारी सामाजिक महासिद्धान्तोंका आविष्कार करनेवाले सिद्ध हो रहे हैं, इसका विचार पाठक करें। प्रथम मंत्रके पदोंके आधारसे बने ये अर्थ आन्तरिक प्रमाणोंके आधारपर आश्रित होनेके कारण अधिक मननीय हैं, साथही साथ सब सामाजिक समस्याओंका हल भी ये अर्थ करते हैं। पाठक इसका विचार करें।

कर्ममार्ग

द्वितीय मंत्रमें कर्म मार्गका उपदेश है वह मंत्र यह है—

कुर्वन्नेवेह कर्माणि जिजीविषेच्छतं समाः।
एवं त्वयि, नान्यथेतोऽस्ति, न कर्म लिप्यते नरे ॥२॥

श्री विनोबाजीका अर्थ- "(१) यहां कर्म करते हुए ही सौ वर्ष जीनेकी इच्छा करनी चाहिये, (२) तेरे लिये, देहवानके लिये, यही एक मार्ग है, (३) दूसरा नहीं, (४) आदमीको कर्म नहीं चिपकता।" यह अर्थ ठीक है केवल अन्तिम भागमें थोडासा मतभेद है।

'**नरे कर्म न लिप्यते**'=नरको कर्म नहीं चिपकता। यहां 'नर' पद महत्त्वका है। यही 'नर' मानवके योग्य कर्म करेगा तो नरका नारायण होगा। यह इसका अधिकार है। 'न-र' (न रमते) कर्मफल भोगमें जो रमता नहीं वह नर है। हरएक आदमी नर नहीं है। मनुष्य वाचक पद अनेक अवस्थाओंके वाचक हैं जैसा- '**जन**'= प्रजनन, संतान उत्पन्न कर सकनेवाला; **लोक**= देखनेवाला; **मनुष्य**= मनन करनेवाला; **नर**-भोगोंमें न रमनेवाला, नेता। इस तरह मनुष्य-वाचक सब शब्द केवल मानव वाचक नहीं हैं, परंतु मनुष्योंकी उन्नतिकी विविध अवस्थाओंके वाचक हैं। इनमें **नर** पदवी श्रेष्ठ अवस्थाकी द्योतक है। कर्म कुशलतासे करता रहेगा, परंतु फल-भोगके विषयमें जो आसक्त नहीं वह 'न-र' है। इसकोही कर्मका लेप नहीं लगता। अनासक्तियोगकी सूचना यह मंत्र यहां देता है। नर शब्दका यह श्लेषार्थ लेनेसे 'आदमीको कर्म नहीं चिपकता। (परंतु कर्मका फल चिपकता है।) ऐसा अध्याहार करनेकी आवश्यकता नहीं रहेगी।

'**शतं समाः जिजीविषेत्**'= कर्म करते हुए सौ वर्ष जीनेकी इच्छा करे। यह मंत्र 'सौ वर्ष जीनेकी इच्छा करे' ऐसा कहता है। बालकमें ऐसी महत्त्वाकांक्षा नहीं हो

सकेगी। सुबुद्ध तरुण ही ऐसी इच्छा कर सकता है। ८ वें वर्ष उपनयन, ९ वें वर्ष गुरुकुलमें प्रवेश, पश्चात् १२ वर्षोंका अध्ययन होकर २० वें वर्ष प्रबुद्ध तरुण होता है। कार्य अकार्य का ज्ञान इस समय मनुष्यमें हो सकता है और इस आयुमें यह प्रबुद्ध विद्वान १०० वर्ष जीऊंगा और १०० क्रतु करूंगा ऐसी प्रतिज्ञा कर सकता है। विद्या-व्रतस्नातक हुआ विद्वान विवाहित होकर ही सौ क्रतु करनेकी इच्छा कर सकता है। सौ क्रतु करनेके लिये ही सौ वर्ष जीना है। ये १०० वर्ष + १२ वर्ष गुरुगृहके विद्या पढनेके + और ८ वर्ष बालपनके मिलकर मानवी आयु १२० वर्षोंकी बनती है। अर्थात् १२० वर्ष जीनेकी इच्छा करना यह एक स्वाभाविक सी बात है, असाधारण बात नहीं।

छांदोग्य उपनिषद् (३।१६) में मानवरूपी यज्ञके २४;४४ और ४८ ये तीन सवन इतने वर्षोंके कहे है। इनका मिलान करनेसे ११६ वर्ष होते हैं। बालपनकी आयु इसमें मिलानेसे १२४ वर्ष होती है।।

आजकल जन्मपत्री करनेवाले १२० वर्षोंकी आयु मानते है और गणित करते हैं। अर्थात् १२० वर्षोंकी आयु मनुष्यकी है इसीलिये उसको १०० वर्ष जीनेकी इच्छा करो ऐसा कहा है। मनुष्यका अनुभवजन्य ज्ञान दीर्घआयुसेही प्राप्त होता है। यद्यपि केवल जीना मनुष्यका ध्येय नहीं हो सकता तथापि प्रशस्ततम कर्म करते हुए सौ वर्ष जीनेकी इच्छा मनुष्य करे, यह मानवके लिये योग्य है। यहा भी कर्म करते हुए ही सौ वर्ष जीनेकी इच्छा करे ऐसा कहा है। और यहांका 'कर्म'पद यजुर्वेदके प्रथम मंत्रद्वारा बताये ' प्रशस्ततम कर्म ' का वाचक है। यही यज्ञ है। अर्थात् यज्ञ करते हुए १०० वर्ष जीना है, यह तो श्रेष्ठ ही जीवन है। ऐसी आकाक्षा बुरी नहीं है।

आगे तृतीय मंत्रमें कहा है कि- ' आत्मघातकी लोग मरणोत्तर अज्ञानी योनियोंमें जाते हैं। ' आत्मघातकी बे लोक हैं कि जो पहिले दो मंत्रोंमें कहे आदेशानुसार नहीं चलते अर्थात्—

१. ईश्वर इस विश्वमें बसा है ऐसा जो नहीं मानते, सर्वेश्वरवाद नहीं मानते, अन्यमतोंका अवलंबन करते हैं,

२. समष्टिके आधारसे व्यष्टि है इसको नहीं मानते, परंतु संघसर्वस्ववाद अथवा व्यक्ति-स्वातंत्र्यवादको ही अन्तिम सीमातक पहुंचाते हैं,

३. त्यागका जीवन नहीं व्यतीत करते,

४ लालच करते हैं,

५. धन अपने भोगके लिये है ऐसा मानते हैं,

६. प्रशस्ततम यज्ञकर्म नहीं करते, और सौ वर्ष जीनेकी भी इच्छा नहीं करते, अकर्मण्य अवस्थामें रहकर क्षणभंगुरवाद मानते हैं,

७ यही एक पूर्वोक्त मार्ग है ऐसा इनका दृढ विश्वास नहीं होता, ये संशयवादी होते हैं,

८. प्रशस्ततम कर्मका, अनासक्त होकर कर्मफलत्याग करने से, कर्ताको लेप नहीं होता ऐसा ये नहीं मानते।

ऐसे जो हैं वे अन्धतम आसुरी योनीमें जन्म लेनेवाले आत्मघातकी लोग हैं। यहा आत्मघातकी और आत्मोन्नतिके दोनों मार्गोंका बोध पाठकोंको हुआ।

आगे आठवें मंत्रतक आत्माका और आत्मज्ञानीका वर्णन है वह योग्य है। सातवें मंत्रके विषयमें जितना वक्तव्य था वह पूर्व स्थानमें लिखा है।

आगे १४ वें मंत्रतकके विद्या- अविद्या, और संभूति–असंभूति इन दो प्रकरणोंके विषयमें इससे पूर्वही विवरण किया है।

पंदरहवें मंत्रमें ' सुवर्णके पात्रसे सत्यका मुख ढंका हुआ है। सत्यधर्मका उपासक उसको दूर करे। ' यह जैसा परमार्थमें वैसाही व्यवहारमें उपयोगी है। ओहदेदार सुवर्ण प्रयोगसे वश होते हैं। यह व्यवहारके जगत्का दोष है। इसकी शुद्धि होना उचित है।

सोलहवें मंत्रमें ' जो यह पुरुष है वह मैं हूं ' यह कथन 'अहं ब्रह्मास्मि ' जैसाही ' अहं पुरुषोऽस्मि ' यह वाक्य समानार्थक है अर्थात् जो ईश्वर इस विश्वकी वस्तु वस्तुमें बसा है वह मुझमें भी है, अतः वह मैं हूं। पहिले ' उसका मैं हूं ' ऐसा ज्ञान था, अब ' वही मैं हूं ' यह ज्ञान हुआ है। सोनेका जेवर है यह प्रारंभिक ज्ञान है, विचार करनेपर सोनाही जेवर है यह ज्ञान हुआ। प्रथम मंत्रके पद इसी अर्थके अनुसार जानने चाहिये।

सतरहवें मंत्रमें जीवका नाम ' क्रतु ' दिया है। जिसका स्वभाव कर्म करनेका है वह क्रतु है। ' हे कर्म करनेवाले! हे क्रतो! (ॐ स्मर) ओंकार वाच्य ईश्वरका स्मरण कर, (कृतं स्मर) किये हुए कर्मकी याद कर।' भतकालमें मैंने कैसा

कर्म किया, इसका स्मरण करनेसे आगे कैसा कर्म करना चाहिये इसका ज्ञान होता है। इस मंत्रमें दो वार (क्रतं स्मर) अपना किया हुआ याद कर ऐसा कहा है। क्योंकि ऐसा स्मरण करनेका अत्यधिक महत्त्व है। यहाका ' क्रतु ' पद ' शतक्रतु ' होनेका सामर्थ्य जीवमें है यह बता रहा है। जन, लोक, मनुष्य, नर, क्रतु ये पद एकसे एक ऊंचे जीवनके वाचक हैं।

आत्महनो **जनाः** (मं. ३)
असुर्या नाम ते **लोकाः** । (")
इति शुश्रुम **धीराणां** (मं. १०;१३)
न कर्म लिप्यते **नरे** (मं. २)
क्रतो ! क्रतं स्मर (मं. १७)

' जन ' पदका संबंध आत्महनसे है। ' लोक ' पदका संबंध अन्धतम असुर लोकसे है। ' धीर ' पदका संबंध उपदेश करनेवालेसे है। ' नर ' पद कर्मलेपकी निवृत्तिके साथ संबंध रखता है। ' क्रतु ' पद कर्म करनेके सातत्यसे संबंध रखता है। इससे समझमें आ सकता है कि ये पद विशेष हेतुसे प्रयुक्त हुए हैं।

वाजसनेयी पाठ

वाजसनेयी संहिताके अन्तमें यही उपनिषद् है। इसमें कुछ पाठभेद हैं। यहा संभूतिप्रकरण प्रथम है और विद्याप्रकरण बाद है। प्रथम मंत्रके अनुसंधानसे विद्याप्रकरण पहिले आना ही उचित प्रतीत होता है।

पंदरहवें मंत्रमें ' क्लिबे स्मर ' ऐसा एक भाग अधिक है। इसका अर्थ ' संकल्पित कार्यका स्मरण कर। ' कार्यसिद्धिके लिये ऐसा करना योग्य है। ह्रस्व ' क्लिब् ' पद ' संकल्पित ' अर्थ बताता है और दीर्घ ' क्लीब ' पद नपूंसकका वाचक है। यहां ह्रस्व ' क्लिब् ' पद व्यंजनान्त है।

सतरहवें मंत्रमें ' **आदित्ये पुरुषः सोऽहं** ' = जो सूर्य में पुरुष है वह मैं हूं, ऐसा कहा है। ब्रह्मका पहिला प्रकटीकरण सूर्य है और सूर्यसे पृथिवी और पृथ्वीसे स्थिरचर हुए हैं। यहाका प्रत्येक जीव सूर्यका अंश है। यह सर्वैक्य सिद्धान्त बतानेवाला संदेश है। सर्वेश्वरवादकी भी सिद्धि इसीसे होती है।

अन्य पाठभेद विशेष महत्त्वके नहीं है।

यहां ईश उपनिषद् पर हमारे विचार बताये हैं। शेष जो है वह सब योग्य है। यह उपनिषद्का अनुवाद हमारे पास भेजकर समालोचना करनेका अवसर हमें दिया इसलिये लेखक और प्रकाशकके हम धन्यवाद गाते हैं।

स्पिनोझा और उसका दर्शन

हरिरेव जगत् जगदेव हरिः,
हरितो जगतो नहि भिन्नवपुः ।
इति यस्य मतिः परमार्थगतिः,
स नरो भवसागरमुद्धरति ॥

लेखक

श्रीराम माधव चिंगळे, M.A.
तत्त्वज्ञानमन्दिर, अमलनेर

प्रकाशक

स्वाध्याय-मण्डल, औंध (जि० सातारा)

संवत् २००२

मूल्य २) रु०

प्राक्कथन

हिंदी भाषाभाषियोंके सम्मुख उच्च दार्शनिक स्पिनोझाके विषयमें यह अल्प कृति रखते हुए हमें अत्यंत हर्ष होता है। तत्वजिज्ञासाकी प्रवृत्ति देश और कालकी सीमासे मर्यादित नहीं हुआ करती। भौतिकवादप्रचुर पाश्चात्य देशोंने भी विभिन्न कालखंडोंमें श्रेष्ठ दार्शनिक तथा त्यागी महात्माओंको जन्म दिया है, जिनके धार्मिक तथा दार्शनिक विचार किसी भी देशके लिये ललामभूत हैं। श्री. पं. सातवलेकरजी द्वारा आयोजित इस ग्रंथमालाका उद्देश्य तत्वज्ञानसे प्रेम रखनेवाले परंतु विदेशी भाषाओंसे अपरिचित ऐसे हमारे देशबांधवोंके सम्मुख प्रमुख प्रमुख पाश्चात्य दार्शनिकोंके विचार संक्षेपमें, परंतु सारग्राही रूपमें रखनेका है। 'स्पिनोझा' को इस ग्रंथमालाका प्रथम पुष्प होनेका सौभाग्य प्राप्त हुआ है, जो अनेक कारणोंसे यथार्थ जान पडता है। सबसे प्रमुख कारण तो यह है कि स्पिनोझाके धार्मिक तथा आध्यात्मिक विचार भारतीय धार्मिक तथा आध्यात्मिक विचारोंसे बहुत कुछ साम्य रखते हैं, उनके अत्यंत निकट आते हैं; यहां तक कि मेरे परिचित स्पिनोझा-प्रेमी एक तत्वज्ञानके प्रोफेसर महोदयने मुझे लिखा कि 'स्पिनोझाके रूपमें हम उच्च कलेवरमें भारतीय आत्माकेही दर्शन करते हैं।' (He appears to me an Indian soul in Dutch body.)

इन प्रशंसात्मक उद्गारोंमें यत्किंचित् भी अतिशयोक्ति नहीं। स्पिनोझाका जीवन पूर्ण रूपसे धर्ममय था, तथा तत्वचिंतन उसका एकमात्र व्यवसाय था। उसका धर्म सप्ताहमें एकाध बार स्मरण किया जानेवाला नहीं था और उसका दर्शन शुष्क वाद तथा कोरी चर्चाका विषय नहीं था। शुष्क वाद और कोरी चर्चासे उसे घोर नफरत थी। स्वामी रामतीर्थके शब्दोंमें उसका धर्म 'नगद धर्म' था और उसका तत्वज्ञान व्यवहारिक तथा प्रत्यक्ष जीवनमें अवतारित था। महाराष्ट्र संत तुकारामके शब्दोंमें वह 'बोले तैसा चाले' (जैसा उच्चार वैसाही आचार) इस श्रेष्ठ संत कोटिका था। यही कारण था कि स्पिनोझा अपने ईश्वर या परमार्थ-वस्तुविषयक विचारोंमें वह निस्संदिग्धता प्राप्त कर चुका था जो साधकके लिये शक्ति तथा धैर्यका एक अखंड स्रोत बन जाती है। इसी परमार्थ-वस्तुविषयक अटूट श्रद्धाने, ज्ञानकी इसी परा निष्ठाने उसे वह दृढ आधार और वह उच्च धरातल प्रदान किया था जिसे पाकर उसने आजीवन उस आश्चर्यकारक आत्मिक बल और नैतिक साहसका परिचय दिया जो जीवनकी बिकटसे बिकट तथा प्राणहरणकी चेष्टा-सदृश प्रतिकूलसे प्रतिकूल परिस्थितिमें भी उसके जीवनका संगी बना रहा। यही कारण है कि वह उस स्थितप्रज्ञताको प्राप्त कर सका जो बिना महान् त्याग और अनवरत तपश्चर्याके सहसा प्राप्य नहीं।

इन कारणोंसे स्पिनोझा-विषयक अपने इस प्रबंधमें हमने धर्म तथा अध्यात्मसे संबंध रखनेवाले भारतीय दृष्टिकोण का अवलंब करना उचित समझा है, जिसकी स्थूल रूपसे तीन विशेषताएं कही जा सकती हैं- (१) तत्वज्ञान तथा धर्मका अपूर्व सामंजस्य और नितांत अविरोध; कारण धर्म तत्वज्ञान-का व्यावहारिक प्रत्यक्षीकरण है या व्यवहृत रूप है और तत्वज्ञान धर्मके मूलभूत तत्वोंका सैद्धांतिक रूप है। (२) तत्वज्ञानकी स्वानुभूति या 'आत्मप्रतीति' का ठोस अधिष्ठान। (३) व्यापक तत्वदृष्टिके रहते हुए भी व्याप्य तत्वोंसे अविरोध तथा उनकी रक्षा। ये तीनों बातें एक तरहसे स्पिनोझा के दर्शनको समझनेकी कुंजी हैं। इनमेंसे यदि एक भी बात ध्यानमें न रखी जाय तो स्पिनोझाके धार्मिक जीवनके तथा दर्शनके सच्चे रहस्यका यथार्थ आकलन असंभवसा जान पडता है। केवल इतनाही नहीं, इनको ध्यानमें न रखनेसे स्पिनोझाके दार्शनिक विचारोंमें अनेक दोष तथा असंगतियां दिखाई देंगी, परंतु जिनका वास्तविक उगम होगा आलोचकोंकी दृष्टिकी संकीर्णतामें ही। हमारे कहनेका आशय यह नहीं है कि स्पिनोझा के दर्शनमें एक भी असंगति नहीं या वह पूर्णतया निर्दोष है। वैसे तो बौद्धिक क्षेत्रमें शायद श्रेष्ठसे श्रेष्ठ कृति भी पूर्ण निर्दोष होनेका दावा नहीं कर सकती। हमारा आशय केवल इतनाही है कि किसी भी ग्रंथकारकी आलोचना करते समय

उस विशाल तथा उदार दृष्टिको न भूलना चाहिये जिसे Imaginative sympathy कहते हैं अर्थात् वह सहानुभूति जिसके द्वारा अपना तादात्म्य सामनेवालेके साथ किया जाता है। अपने आपको सामनेवालेकी परिस्थितिमें रख-कर विचार किया जाता है। हमारे इसी आशयको स्पिनोझाके अद्यतन श्रेष्ठ आलोचक प्रो वॉल्फसनने अच्छी तरहसे स्पष्ट किया है—

"In order to understand another we must completely identify ourselves with that other, living through imaginatively his experience and thinking through rationally his thoughts. There must be a union of minds, like the union of our mind with the Active Intellect which the medievals discuss as possibility and of which Spinoza speaks as a certainty" [The Philosophy of Spinoza by Prof. Harry A. Wolfson, Vol. I, p 31]

प्रो. वॉल्फसनने स्पिनोझाके दर्शनविषयक अपने ग्रंथमें इसी तत्वका अनुसरण किया जिसके फलस्वरूप वे उसके अंतरंगतक पहुंचकर उसके दर्शनके अंतर्तम रहस्योंका उद्-घाटन अत्यंत स्पष्ट रूपसे तथा अपूर्व आत्मविश्वासके साथ कर सके। इस बातकी स्वीकृति स्वय प्रो वॉल्फसननेही दी है-

"We had succeeded in penetrating into the mind of Spinoza and were able to see its workings, to sense its direction, to anticipate its movements, and to be guided to its goal.' (ibid, p. 30-31)

लेकिन इस उदारताके अभावमें अपने यथार्थ रूपमें समझे जानेके स्थानपर स्पिनोझा सरीखा श्रेष्ठ विचारक उन तीव्र स्वरूपकी परस्परविरोधी आलोचनाओंका केंद्र हुआ है जिनका एक ध्रुव तो उसे घोर नास्तिक, धर्मशत्रु तथा निरीश्वरवादी कहनेवाला है; केवल कनेवालाही नहीं, किंतु जिसके धर्ममार्तंड प्रतिनिधियोंने स्पिनोझाको उसके जीवन-कालमें धर्म तथा समाज बहिष्कृत किया था; और दूसरा ध्रुव, जिसका प्रतिनिधि कॅथॉलिक सेक्सन कवि नोवॅलिस (Novalis) है, उसको परम आस्तिक तथा 'ईश्वरप्रेमोन्मत्त' कहनेमें पर्यवसित है। दोनों ध्रुवोंके मध्यवर्ती विभेदोंकी भी कोई सीमा नहीं। निरीश्वरवाद, प्रत्ययवाद, अनुभववाद, (Atheism, Idealism, Empiricism), नामवाद वस्तुवाद (Nominalism, realism), आधुनिक विकासवादीके तुल्य कठोर अनीश्वरवादी प्रकृतिवाद, निसर्गातीत वाद इत्यादि अनेक 'Isms' या वादोंका आरोप स्पिनोझाके दर्शनपर किया गया है। किसी एकके मतमें तो उसके ग्रंथोंमें प्रचुर मात्रामें पाया जानेवाला आस्तिकताका अंश उसके वैज्ञानिक प्रत्यक्षवादको छिपानेवाला रमणीय बाह्यावरण मात्र है, जिसका एकमात्र उद्देश्य तत्कालीन धार्मिक आग्रहोंका मुंह बद रखनाही है। इस प्रकार जिस तात्विक ग्रंथको स्पिनोझा रेखागणितके सदृश निस्संदिग्ध बनाना चाहता था, उसीके संबंधमें यह सब कुछ हो, इसे विधिविधानकी विचित्रताके अतिरिक्त और क्या कह सकते हैं ? अस्तु।

प्रस्तुत निबंधका उद्देश्य ग्रंथमालाके उद्देश्यके अनुरूपही है अर्थात् स्पिनोझाके दार्शनिक विचारोंका परिचय कराना। स्पिनोझा संबंधी अन्य सब बातोंका विचार गौण है, अर्थात् उतनेही अंशमें उनका विचार किया गया है, जितना उसके दार्शनिक विचारोंका स्वरूप स्पष्ट करनेके लिये साक्षात् आवश्यक है या परंपरासे सहायक है। इसलिये हमने स्पिनोझा-संबंधी वादोंकी उस रंगभूमिमें उतरना उचित नहीं समझा जिसने स्पिनोझाके आलोचकोंको मुख्यतः दो भागोंमें विभाजित कर रखा है जो एक दूसरेसे यत्किंचित् भी मेल नहीं रखते। यह हमारे प्रस्तुत विषय-प्रतिपादनकी मर्यादाके बाहरकी बात है। अतएव हमने उन विवादास्पदवादी प्रतिवादियोंकी युक्तियोंका उल्लेख कर, फिर उनपर अपने स्वयंके निर्णयका सकारण प्रतिपादन करके ग्रंथका आकार बढानेकी अपेक्षा, यथासंभव आधुनिक विद्वानोंद्वारा अधिकतर सम्मत मतोंको लेकर चलनाही अधिक उपादेय समझा है। इस उपादेयताका दूसरा कारण यह भी है कि ये मत वे ही हैं जो अद्वैतसे बहुत कुछ मेल रखते हैं। 'प्रखर अद्वैत' (Rigorous Monism) ही तो स्पिनोझाकी सबसे बडी विशेषता थी, जिसके विषयमें किसीका भी मतभेद नहीं। इसीलिये वादग्रस्त मतोंका निर्णय भी यदि उसके 'एकमेवाद्वितीयम्' के मतके अनुकूल किया जाय तो स्पिनोझा

के दार्शनिक विचारोंको एक अनोखी सुसंगति प्राप्त हो जाती है जिसका निर्वाह करना स्पिनोझाका मुख्य उद्देश्य था और जिसके लिये उसने अपने प्रमुख दार्शनिक ग्रंथके बाह्यांगको रेखागणितका पूर्ण रूप दिया। अंतमें एक बातका उल्लेख अस्थानीय नहीं होगा। षड्विध लिंग तात्पर्य निर्णयकी श्रेष्ठ भारतीय मीमांसा-पद्धतिसे भी यदि देखा जाय, उपक्रम उपसंहारादिकी दृष्टिसे यदि विचार किया जाय तो भी स्पिनोझाके मतोंका निर्णय अद्वैतानुकूलही होगा। इस निबंधका उद्देश्य तुलनात्मक अध्ययन नहीं है। तुलनात्मक अध्ययनके लिये यह एक तरहसे जमीन तैयार करना है। तथापि बीचबीचमें वेदांत-दर्शनसे तुलनात्मक उल्लेख सिर्फ परिचित शब्दोंकी ओर संकेतके द्वारा स्पिनोझाके विचारोंके अधिक स्पष्ट करनेके उद्देश्य से ही हैं। कुछ लोगोंने स्पिनोझाके दर्शनकी तुलना विशिष्टाद्वैतसे की है। परंतु स्पिनोझाके निकट अध्ययनके अनंतर हमारे मनसे इस प्रकारकी तुलनाकी रहीसही संभावना भी निकल गई। विशिष्टाद्वैतके मूलभूत सिद्धांत (Fundamentals) स्पिनोझाके दार्शनिक सिद्धांतोंसे यत्किंचित् भी मेल नहीं खाते। हमें यह न भूलना चाहिये कि स्पिनोझाका 'प्रखर' अद्वैत है, 'विशिष्ट' अद्वैत नहीं। स्पिनोझा ईश्वरकी सगुण-रूपता, ईश्वर और जीव तथा जगत्‌में शरीर-शरीरीभाव, ईश्वर और मनुष्यका पारस्परिक प्रेम इ० इन सब बातोंका घोर विरोध करता है। स्पिनोझा सर्वेश्वरवादी है तथापि उसको यह सम्मत नहीं कि जीव और जगत् ईश्वरका शरीर है। परंतु इस प्रकारकी तुलनाके विषयमें सब प्रकारके निर्णय हम वाचकोंपरही छोड देते हैं।

प्रस्तुत निबंधकी मौलिकताके विषयमें कुछ कह देना उचित जान पडता है। इसमें सिर्फ स्पिनोझाको समझनेका प्रयत्नही मेरा अपना है। स्वयं भली भांति समझनेके बाद दूसरा प्रयत्न है यथासंभव सुबोध रूपमें स्पिनोझाके दार्शनिक विचारों को व्यक्त करना। अतएव मेरे इस प्रयत्नमें मैंने स्पिनोझापर उपलब्ध आलोचनात्मक सामग्रीका पूरा पूरा लाभ उठाया है। स्पिनोझापर अधिकांश आलोचनात्मक साहित्य जर्मन भाषामें है। अंग्रेजीमें उपलब्ध समस्त ग्रंथ भी युद्धके कारण प्राप्त नहीं हो सके। तथापि उपलब्ध ग्रंथोंको मैंने देखकर उनसे यथासंभव लाभ उठाया है। इनमें सबसे अधिक सहायता मुझे अमेरिकाके प्रो वॉल्फसनके 'स्पिनोझाका दर्शन' (२ भाग) (The Philosophy of Spinoza in two vols.) से मिली है। यह ग्रंथ स्पिनोझाके प्रमुख तात्विक ग्रंथ नीतिशास्त्रका सर्वांगसुंदर ऐतिहासिक आलोचनात्मक (Historic-critical) भाष्यही है। इसकी सबसे बडी विशेषता है स्पिनोझाके मतोंको स्वाग्रहनिरपेक्ष निष्पक्ष रूपसे समझना। मैंने अपने निबंधकी रचना तथा विषयका वर्गीकरण और तीसरे प्रकरणसे आगे अधिकांश शीर्षक इसी ग्रंथसे लिये हैं। इसके अतिरिक्त अनेक पूर्वपक्ष तथा स्पिनोझाके मूल ग्रंथकी अनेक अस्पष्ट बातोंके स्पष्टीकरण इसी ग्रंथसे लिये हैं। इस ग्रंथके बिना शायद इस निबंधको यह स्वरूप दे सकना संभव नहीं था। अतएव मैं इस विद्वान् लेखकके प्रति अपना अत्यधिक ऋण प्रकट किये बिना नहीं रह सकता×। परंतु प्रो. वॉल्फसन तथा स्पिनोझाके अन्य विद्वान् आलोचकोंके परिश्रमोंसे यथोचित लाभ उठाते हुए भी इनसे जहां जहां मेरे मतभेद हैं वहां वहां मैंने उन्हें सयुक्तिक और निर्भीक आलोचनाके रूपमें प्रकट किये हैं।

हिंदीमें पाश्चात्य-दर्शन-संबंधी ग्रंथ करीब करीब नगण्यसे हैं। अतएव पाश्चात्य दर्शनमें रूढ पारिभाषिक शब्दोंके हिंदी अनुवाद यह मेरे सम्मुख एक बडी समस्या रही है। मैंने यथासंभव योग्य शब्द-योजनामें अपनी तरफसे कोई प्रयत्न उठा नहीं रखा है। तथापि इस दिशामें विद्वानोंके अधिकाधिक प्रयत्नही विशेष लाभदायक सिद्ध होंगे।

अंतमें केवल भारतीय दर्शनसे परिचित वाचकोंसे एक सविनय प्रार्थना है। इस निबंधको पढते समय यदि वे कुछ सहानुभूतिपूर्ण दृष्टि रखें तो अधिक अच्छा हो। भारतीय दर्शनमें जिन्हें आत्माश्रय, अन्योन्याश्रय, चक्रक, अनवस्थादि दोष कहा जाता है, वे उन्हें इसमें अनेक स्थलोंपर दिखाई देंगे। तथापि यह न भूलना चाहिये कि किसी न किसी रूपमें इन दोषोंकी अपरिहार्यता हमारे यहांके समस्त दार्शनिकोंने स्वीकार की है। साथही यह न भूलना चाहिये कि भिन्न भिन्न देशोंके दार्शनिक विचार उन उन देशोंकी वैचारिक परंपराओंमें ही

× मैंने लेखकसे इस ग्रंथका उपयोग करनेके लिये इजाजत प्राप्त कर ली है। —लेखक

पलते हैं और अपना बाह्य रूप धारण करते हैं। अतएव स्पिनोझाके दर्शनमें मुख्यतः उसकी आध्यात्मिक अनुभूतिकी ओर ही ध्यान देना उचित होगा। किसी भी दर्शनमें सबसे मूल्यवान् बात यही होती है।

अंतिम काम है सहायता-स्वीकार। इस प्रबंध-लेखनकी प्रेरणाका श्रेय श्री. पं. सातवलेकरजी तथा प्रो. मा. रा. ओक, एम्. ए., को है जिनके प्रेमाग्रहके कारण इसे मूर्त स्वरूप प्राप्त हुआ है। प्रो. ओकजीने इसे आद्यंत पढ सुनकर अनेक उपयुक्त सूचनाओं द्वारा मेरी इस काममें बडी सहायता की है। फिर मैं अपने मित्र श्री. रमाकांत त्रिपाठी, एम्. ए., का आभारी हूं जिनने विवाद्य विषयोंपर बहस और चर्चा करके उन विषयोंके स्पष्टीकरणमें मेरी पर्याप्त सहायता की है।

रामनवमी, संवत् २०००
तत्त्वज्ञानमंदिर,
अमलनेर, पूर्वखांदेश

लेखक

विषयानुक्रमणिका

प्रास्ताविक खण्ड १
१. ऐतिहासिक प्रस्तावना १
२. स्पिनोझाका जीवनचरित्र १०
३. तात्त्विक भूमिका १५
४. ज्यामिति-पद्धति २१

तात्त्विक खण्ड [Metaphysics] २७
नीतिशास्त्र भाग १
५. ईश्वर, परमार्थ वस्तु, या मूलतत्व [Substance] २७
६. ईश्वरके अस्तित्वविषयक प्रमाण ३७
७. विचार और विस्तार ४१
८. ईश्वरकी कारणताका स्वरूप ४७
९. स्थायित्व, समय और नित्यत्व [Duration, Time and Eternity] ५२
१०. प्रकार [Modes] ५५
११. आवश्यकता और निष्प्रयोजनता [Necessity and purposelessness] ६४
१२. शरीर और मन ७०

वैज्ञानिक खण्ड [Anthropology] ७७
नीतिशास्त्र भाग २
१३. मनकी ज्ञानात्मक शक्तियाँ [The cognitive faculties] ७७
१४. सत्यासत्य या प्रामाण्याप्रामाण्य ८०
१५. ज्ञानके तीन प्रकार ८६
१६. इच्छास्वातंत्र्यका निषेध और नियतिवादका पुरस्कार ८९
नीतिशास्त्र भाग ३
१७. भावोंकी उत्पत्ति और उनका स्वरूप ९३

व्यावहारिक खण्ड [Practical Philosophy] १००
नीतिशास्त्र भाग ४
१८. मनुष्यका बंध या भावोंकी प्रबलता और सदाचारसंपन्न जीवनका मार्ग १००
नीतिशास्त्र भाग ५
१९. ज्ञानका सामर्थ्य और मनुष्यका मोक्ष १०९
२०. उपसंहार ११०

संकेत-सूची

हिंदी

उ. सि.– उपसिद्धांत (Corollary)

तु.– तुलना कीजिये

नी. शा. भा.– नीतिशास्त्र भाग

प.– परिभाषा (Definition)

प्र.– प्रमाण (Proof or Demonstration)

बु. सु.– 'बुद्धिका सुधार' (Amendment of the Intellect) नामक स्पिनोझाका ग्रंथ

वि.– विधान- (Proposition)

स्प.– स्पष्टीकरण (Scholium or note)

स्व. स.– स्वयंसिद्ध सत्य (Axiom)

अंग्रेजी

Def.– Definition

Hist.– History

Mod.– Modern

Phil.– Philosophy

Prop.– Proposition

Spi– Spinoza

"A philosopher for all men and for all times."* 'सर्वेश्वरवाद' के लेखक पिक्टनने भी इसी आशयसे कहा है कि सर्वेश्वरवाद देश और कालकी मर्यादाओंसे मुक्त होता है, जिसका सर्वश्रेष्ठ उदाहरण है सर्वेश्वरवादके श्रेष्ठ संदेशवाहक स्पिनोझाकी उदारता।

"Pantheism differs from the systems of belief constituting the main religions of the world in being comparatively free from any limits of period, climate or race. The best illustration of this characteristic of pantheism is the catholicity of its great prophet Spinoza." (Pantheism by Picton p. 7.)

दृष्टिकी इसी विशालता और व्यापकताके कारण परस्पर दीखनेवाले वाद उसमें अपूर्व सामंजस्यके साथ मिलते दिखाई देते हैं जिनमेंसे स्पिनोझाके संबंधमें एकाधही पर विशेष जोर देनेके कारक अब तक गलतफहमी उत्पन्न होती रही है। सत्रहवीं शताब्दिमें प्रचलित विभिन्न वैचारिक प्रवृत्तियाँ स्पिनोझाके दर्शनमें अत्यंत अविरोधके साथ मिलती हुई दिखाई देती हैं और उसकी मौलिकता इसी बातमें है कि इनके कारण उसके दार्शनिक विचारोंकी सुसंबद्धताको यत्किंचित् भी बाधा नहीं पहुंचती।§

---

* ibid. § (i) "Materialism and Idealism, Rationalism and Mysticism, Humanism and Naturalism, Egoism and Altruism– all these and many other similar issues find their 'reconciliation' in the 'full roundness' of Spinoza's philosophy. By this is not meant, as Professor Wolf remarks in an essay from which these phrases were taken, that it is an 'eclectic patch-work,' a 'mere compromise between opposite views.' It is completely individual and self-consistent account of reality which brings opposite views together by reason of its breadth of outlook. Its great characteristic is truth to fact and it has much to offer to all schools of interpretation. It is big enough to be a 'meeting place of extremes.' (Spinoza by Leon Roth, P 237)

(ii) "Rationalist and mystic, theologian and empirical scientist, have all seen their fellow in Spinoza, and as the waves of opinion rise and fall so yet other sides of his doctrine receive emphasis.

"To the present writer it is just this fact which is significant. Spinoza's thought is not simple, it is highly complex, it is a synthesis of many and various elements. The central point of interest about him then is just their common presence in his thought and their systematic inter-connection." (ibid p 219)

(iii) "Spinoza is the central thinker of the seventeenth century In him all lines of thought converge mysticism and naturalism, theoretical and practical interests, which, with other thinkers of his century, stand in more or less opposition to one another, and where they occur in the same personality, excite internal conflict,–he sought to carry out logically and to show that it is precisely by means of this logical carrying out that their reconciliation is to be effected While the majority of thinkers know of no other way in which to bind together the different stands of thought than to cut each one severally, and then to weave them together in a mere external union, the greatness of Spinoza's thought lies in this that he imposes no arbitrary limits, but relies entirely upon the harmony founded in the innermost nature of the thoughts themselves." (History of Modern Philosophy, Vol. I by Hoffding, p 292)

परंतु स्पिनोझाके इन्हीं विचारोंके कारण जिन्हें आज दर्शन-केक्षेत्रमें उसकी सबसे बडी और मूल्यवान् देन कहा जाता है, उसका घोर विरोध हुआ । १७ वीं शताब्दिमें धार्मिक आग्रहोंका जोर काफी था । इस कारण स्पिनोझाके प्रशंसकोंकी संख्या थोडी ही थी । उसकी मृत्युके अनंतर लगभग १०० वर्षोंतक उसके विचारोंका प्रभाव यद्यपि एकदमसे लुप्त नहीं हो गया, तथापि वह बहुतही कम रहा । उसके ग्रंथ बहुतही कम पढे जाते थे और जितने पढे जाते थे उनसे भी कम समझे जाते थे । स्पिनोझाके साथ किसी भी प्रकारका संबंध अप्रतिष्ठा-का चिह्न समझा जाने लगा । दार्शनिक डेविड ह्यूम (David Hume) ने उसके विचारोंका तिरस्कारभरे शब्दोंमें उल्लेख किया है ।1 एक दूसरे दार्शनिक लाइबनिस (Leibniz) का स्पिनोझासे अच्छा परिचय था । स्पिनोझाका उसके विचारोंपर खासा प्रभाव था, परंतु वह निंदाके भयसे इस ऋणको छिपाता रहा । इससे भी अधिक निंदाभरे शब्दोंमें स्पिनोझाका उल्लेख किया हुआ मिलता है यथा " The systematizer of atheism " अर्थात् ' नास्तिक-वादको सुसंबद्ध रूप देनेवाला ' और उसके दर्शनके विषयमें ये उद्गार है—

" a hypothesis most monstrous, the most absurd and the most diametrically opposed to the most evident notions of our mind which can be imagined " 2

परतु स्पिनोझाको भी भवभूतिके समान आत्मविश्वास था । वह भी भवभूतिके साथ यह कह सकता था—

ये नाम केचिदिह न. प्रथयन्त्यवज्ञां
जानन्ति ते किमपि, तान्प्रति नैष यत्नः ।
उत्पत्स्यतु हि मम कोऽपि समानधर्मा
कालो ह्ययं निरवधिर्विपुला च पृथ्वी ॥

आखिर वह समय आया जब स्पिनोझाके विचारोंका यथोचित मूल्य समझा जाने लगा ।१८ वीं शताब्दिके अंत और १९ वीं शताब्दिके प्रारभमें स्पिनोझाके ग्रंथोंको अभूतपूर्व प्रतिष्ठाका पद प्राप्त होने लगा । जर्मन जाकोबीने स्पिनोझाके दर्शनका खूब प्रशंसाभरे शब्दोंमें वर्णन किया, यद्यपि ऐसा करनेमें उसका उद्देश्य विशेष स्पृहणीय नहीं था । परंतु इससे स्पिनोझा की लोकप्रियता बढने लगी । उसके प्रशंसकोंमें श्रेष्ठ कवि, साहित्यिक और कलाकार भी थे । लेसिंग (Lessing), गेटे (Goethe), श्लीरमाकर (Schleirmacher), कोलरिज (Coleridge), वर्ड्स्वर्थ (Wordsworth), हीन (Heine), हक्सले (Huxley) इन सबपर स्पिनोझाके विचारोंका जादू छा गया । लेसिंगने मुक्त कंठसे स्पिनोझाको अपना गुरु माना और कहा कि, "बस दर्शन हो तो स्पिनोझाकाही हो ।"

" Lessing had actually said that Spinoza was his master and that Spinoza's philosophy was the only philosophy " 3

स्पिनोझाकी यह लोकप्रियता तत्कालीन बौद्धिक जगत्में दिनदूनी रात चौगुनी बढने लगी । उसके विचारोंने एक हलचल-सी उत्पन्न कर दी और तिरस्कृत पदसे उसे पूजाका सिंहासन प्राप्त हो गया । 4 इसका प्रमुख कारण यह था कि वह काल भावप्रधान था, तथा उसमें विचारगाभीर्यका अभाव था । अतएव स्पिनोझाके तर्कशुद्ध गंभीर विचारोंने तत्कालीन जगत्में वैचारिक स्वास्थ्य निर्माण करनेका काम किया । गेटेने मुक्त कंठसे स्पिनोझाका इस प्रकारका ऋण स्वीकार किया है । " बस, मैंने यहां (स्पिनोझामें) वह बात पाई जिसने (मेरे) भावोंकी उद्विग्नताको मिटा दिया ।"5 परतु गेटेको स्पिनोझाके दर्शनको दो बातोंने अत्यधिक रूपसे आकर्षित किया । एक तो है उसकी नितांत निःस्पृहता जो उसके बाह्य तथा वैचारिक जीवन की भांति उसकी आध्यात्मिक अनुभूतिमें भी

1 " hideous hypothesis " of that "famous atheist " – Hume

2 From Bayle's Dictionary, quoted by Leon Roth in ' Spinoza' p 201

3 Spinoza by Leon Roth, p. 210. (4) " The whole intellectual world was at once ablaze. From being a " dead dog " as Lessing had put it, Spinoza became an object of reverential worship " (ibid) (5) Goethe wrote in his autobiography " or what I may have put into it of my own, it is impossible for me to say. Enough that I found here that which stilled the emotions " (ibid p. 211)

ईश्वरके निष्काम प्रेमके रूपमें फूट पडती है। स्पिनोझाकी इस निष्काम ईश्वरीय प्रेमको व्यक्त करनेवाली पंक्ति गेटेने अपने हृदयमें अंकित कर ली। ‡ दूसरी बात थी व्यक्तिगत वस्तुओंमें भी ईश्वर की अभिव्यक्ति देखना। " The more we understand individual objects the more we understand God. " स्पिनोझा जगत् की क्षुद्रसे क्षुद्र वस्तुकोभी तिरस्कारभरी दृष्टिसे नहीं देखता। उसका जगत्‌की ओर दृष्टिकोण उपेक्षाका न होकर ज्ञान का है। वह जगत्‌की ओर पर्याप्त या तत्वदर्शीकी दृष्टिसे देखता है। इसमें उसे ईश्वरीय स्वभावकी आवश्यकता दिखाई देती है। इसलिये स्पिनोझाने भौतिक वस्तुओंके ज्ञान विज्ञानके लिये पर्याप्त अवकाश रखा। इसी कारण गेटे उसका अनन्य भक्त बन गया।

गेटेसरीखे भावुक सहृदय कविको, उसी प्रकार शोपेनहॉर सदृश घोर नैराश्यवादी (pessimist) को स्पिनोझाके ग्रंथोंके प्रत्येक पृष्ठमें चू पडनेवाली धार्मिकताकी भावनाने भी कम आकर्षित नहीं किया। स्पिनोझाके शब्द अंतःकरणकी गहराईसे निकलते है, अतएव वे पढनेवालेके अंतःकरणतक पहुंचे बिना नहीं रहते, बशर्ते कि अंतःकरणके द्वार किसी आग्रह विशेषद्वारा बंद न कर दिये गये हों। इसी आशयसे प्रो. वॉल्फ कहते हैं-

" Not only poets like Goethe but even pessimists like Schopenhauer have felt the spirit of religious peace that moves over the pages of Spinoza. And only what comes from the heart goes to the heart. " 1

स्पिनोझाका तृतीय प्रकारका या अंतःप्रज्ञात्मक ज्ञान आध्यात्मिक अनुभूतिका वह बिंदु है, जहांपर धर्म और तत्वज्ञानकी परिसमाप्ति होती है और जहां मौनकी भाषाही सच्ची भाषा है। वहां शब्दकी या बुद्धिकी गुजर नहीं। वहांसे तो वाणी लौट आती है। 'यतो वाचो निवर्तंते अप्राप्य मनसा सह।' प्रो वॉल्फ इसी बातको इस प्रकार कहते हैं—

" The fact is that Intuition, as Spinoza conceived it, is not a suitable object for discursive treatment. It is a kind of mystic vision, and what is mystical is inarticulate. That is why Spinoza writes so little about it. Yet it is the climax of his philosophy as a move of life, and its foundation as a system of thought. " 2

सुप्रसिद्ध जर्मन दार्शनिक काटके ग्रंथोंने सब प्रकारके आग्रहवादोंका मूलोच्छेद कर दिया। परंतु स्पिनोझाके दर्शनकी गणना यद्यपि आग्रहवादमेंकी जाती है तथापि काटके विचारोंसे उसे क्षति नहीं पहुंची। इतनाही नहीं, काटके विचारोंके बावजूद भी उनकी लोकप्रियता बढती गई। इसका कारण है, स्पिनोझाके दर्शनका अद्वैत। काटके विचारोंमें किसी न किसी प्रकारका द्वैत था। परंतु चूंकि दर्शनशास्त्रका लक्ष्य अद्वितीय मूलतत्वकी खोज है, अतएव स्पिनोझाके दर्शनकी लोकप्रियता घटनेके बजाय और भी बढ गई।* काटकी परंपराको चलानेवाला जर्मन-दार्शनिक फिक्टे (Fichte) स्पिनोझाके दर्शनसे अत्यधिक प्रभावित हुआ। शेलिंग (Schelling) तो स्पिनोझाका पूरा पूरा अनुयायी था। हेगेलने तो यहांतक कह डाला कि दार्शनिक

‡ " That marvellous saying: 'He who truly loves God, must not expect God to love him in return, ' with all the proportions that support it, all the consequences that flow from it, was the burden of all my thoughts. " ibid.

1 Journal of Philosophical Studies, Vol. I, No. 5 Jan. 1927; Article on Spinoza by Prof. A. Wolf, pp. 18-19. 2 ibid p. 18

* The new philosophy was to sweep away all dogmatisms, and Spinoza's system was (and is still) held to be the very type of all dogmatism. Yet, instead of being swept away, the dogmatism of Spinoza actually gained ground, and that not only in the literary and artistic world but in that of philosophy too... Spinozism was not vanquished by the critical philosophy but joined forces with it. The reason for this surprising result is to be

होनेके लिये स्पिनोझाके विचारोंमें सराबोर होना चाहिये। हेगेल सिर्फ यह कहने मात्रसे संतुष्ट नहीं हुआ। उसने स्वयं अपने कथनका अनुसरण किया। स्पिनोझाका तर्कवाद तो मानो हेगेलियन दर्शनकी नींव है।§

प्रो. वॉल्फके अनुसार यह समझना गलत होगा कि स्पिनोझा का दर्शन अब एक विगत कालकी वस्तु रह गई जो सिर्फ ऐतिहासिक जिज्ञासाके योग्य है। वह आज भी निष्प्राण नहीं। उसमें सप्राणता आज भी पर्याप्त है।1 स्पिनोझाके दर्शनकी यह सप्राणता प्रो वॉल्फ, डॉ अलेक्झांडर, प्रो. मॉर्गन, प्रो. व्हाइटहेड प्रभृति आधुनिक प्रथम श्रेणीके दार्शनिकोंके लेखोंसे बिलकुल स्पष्ट है। प्रो. मॉर्गनने अपने ' Life, Mind and Spirit ' नामक ग्रंथके प्रथम प्रकरणके पाचवें उप-विभागको यह शीर्षक दिया है- ' Back to Spionza ' पुनश्च स्पिनोझाकी ओर।' प्रो. मॉर्गन विकासवादी हैं। परंतु उन्हें अपने सिद्धांतोंके लिये स्पिनोझाके विचार पोषक अतएव आवश्यक जान पडते हैं।

अभी एकाध वर्ष पूर्व भारतवर्षमें अड्यार (मद्रास)से निकलने-वाली 'ब्रह्मविद्या'में भिक्षु आर्य असंगने स्पिनोझाके नीतिशास्त्रके कुछ भागोंका अनुवाद प्रकाशित किया है, जिसकी प्रस्तावनामें उक्त भिक्षुजीने अपने आपको गत बीस सालसे स्पिनोझाका उत्साही अनुयायी बतलाकर विश्वशांतिकी दृष्टिसे स्पिनोझाके विचारोंका प्रचार करनेकी इच्छा प्रकट की है।2

---

looked for in the characteristics of the two systems. The Kantian is throughout dualistic; the Spinozistic consistently a monism. They meet on the ground of morals; but to Kant morality is struggle–man against nature; to Spinoza morality is peace and reconciliation– man within nature. Both in ethics and logic the Kantian system rests on a "twofold root," the Spinozistic on a unity. Now philosophy is essentially unifying. It is the attempt to form one systematic view of the whole of experience. Its striving is therefore always and necessarily away from dualism in the direction of monism.

The interest in Spinoza was not suppressed but stimulated by the ferment aroused by Kant. The movement of thought after the creation of the great critical system found its motive in the need to rid it of its dualism. All the thinkers then at work were aiming, although by various means, at this same end. In Spinoza they had before them the ideal for which they strove; he offered, as it were, the antidote to Kant. Hence the attraction he exerted over them ...The clash between Spinoza and Kant led inevitably to the tremendous intellectual effort to absorb and develop the one in the other, which is the system of Hegel." (Leon Roth's Spinoza, Pp. 214-15)

§ " Fichte, the great continuer of the work of Kant, was profoundly affected by it, while Kant himself was more appreciative of it at the last. Schelling was an avowed Spinozist. Hegel not only enunciated but followed the dictum that to become a philosopher one must first look oneself in Spinoza's thought. " (ibid p. 214) " At the very foundation of Hegelianism, therefore stands, the Spinozistic logic. " (ibid p. 217)

1 "It is a grave mistake, I believe, to suppose that the philosophy of Spinoza is a thing of the past, and merely of historical interest. There is still plenty of vitality in it, even if it is not all vital; and the proper study of it has barely begun." (Journal of Philosophical Studies Vol. II, No. 5, Jan. 1927. Artice on Spinoza by Prof. A. Wolf, p. 5.)

2"...He is one of the greatest of western philosophers... I have been an ardent Spinozian for nearly twenty years, and would like to see his philosophy spread more in these days. It might bring greater understanding, and thereby peace and happiness to many, and so contribute its share towards general world-peace." (Bhikkhu Arya Asang in Brahm-Vidya, Vol VI, Part 2, 8th May 1942, Pp. 81-82)

एक समय वह था जब स्पिनोझाका नाम नास्तिकताका अपर पर्याय समझा जाता था । उसे नास्तिकोंका अग्रणी (prince of atheists) कहा जाता था। परंतु समयने स्पिनोझाके प्रति अन्यायका बदला चुकाया । आजकलके चर्च-मेन (churchmen) स्पिनोझाके साधुजीवन और उज्ज्वल चरित्र की केवल प्रशंसाही नहीं करते, वरन् उसे बायबलके आलोचनात्मक अध्ययनके लिये अग्रपूजाका मान देकर उसके उन्हीं सिद्धातोंका अत्यंत श्रद्धाके साथ उपदेश देते हैं, जिनके लिये उसे नास्तिक ठहराया गया था । *' सर्वेश्वरवाद ' पर एक छोटीसी पुस्तकके लेखक पिक्टनने तो स्पिनोझाके विषयमें यहांतक कहा है कि विलक्षण गुणोंसे युक्त यहूदी जातिने जिन आचार्योंको जन्म दिया है उनमें प्रथम स्थान यदि ईसा-मसीह को प्राप्त है तो दूसरा स्थान हेगके इस नास्तिक कहे जानेवाले यहूदी (स्पिनोझा) कोही बलात् देना पडता है ।†

प्रो. वॉल्फने स्पिनोझाके प्रति अपनी श्रद्धांजलि अर्पण करते हुए कहा है कि स्पिनोझाने अपने दार्शनिक विचारों द्वारा आगमी पीढियोंको भी उपकृत कर रखा है—

" And although he was not honoured by his generation, yet we remember him as one of the spiritual fathers who begat us, and many generations yet unborn will remember him, and feel grateful for the heritage of inspiration which humanity owes to him. "

इस प्रकार जिस कालने अपने समयमें गण्य मान्य समझे जानेवाले अनेक लोगोंको आज नामशेष कर दिया है, उसी कालने अपने समयमें तिरस्कृत स्पिनोझाको आज अमर बनाने का काम किया है । समयकी बलिहारी है । " कालाय तस्मै नमः । "

---

* " For a along time people were in the habit of assuming, on hearsay evidence, that Spinoza was the prince of atheists, and concluded from this that he must have been the prince of hell. All that has changed now; and enlightened churchmen not only speak respectfully of Spinoza's life and character, but proclaim his merits as the pioneer of modern Bible-study, and teach with deep piety some of the very doctrines for which Spinoza was branded as an atheist by his and subsequent generations. "

(Journal of Philosophical Studies, Vol. II, No. 5, Jan. 1927. Article on Spinoza by A. Wolf, p.4.)

† " And while surely everyone but a fanatical anti-christian must allow the greater prophetic worth of the Galilean,...it seems difficult to deny to the heretic Jew of the Hague the second rank among the teachers given to the world by that strangely gifted race. " (Pantheism by Picton, p. 75)

सहायक ग्रंथ

(1) Spinoza's Works- English Translation by Elwes, White Prof. A. Wolf and others.

(2) J. Caird—Spinoza.

(3) Pollock—Spinoza, His Life and Philosophy.

(4) Martinean—A Study of Spinoza.

(5) Joachim—A Study of the Ethics of Spinoza.

(6) Prof. Harry Austryn Wolfson—The Philosophy of Spinoza, Two Vols.

(7) Leon Roth—Spinoza (Leaders of Philosophy).

(8) Aeternitas— A Spinozistic Study-H. G. Hallett.

(9) Picton--Spinoza.

(10) Picton–Pantheism (Religions--Ancient and Modern).

(11) Chapters on Spinoza in various Histories of Philosophy.

(12) Articles on Spinoza in the Encyclopaedia Britannica and the Encyclopaedia of Religion and Ethics.

(13) Spinoza on Descarte's Philosophy by Britan– Introduction.

(14) The Correspondence of Spinoza, by A. Wolf.

(15) The Oldest Biography of Spinoza by A. Wolf.

(16) Article on Spinoza by Prof. A. Wolf, in Journal of Philosophical Studies, Vol. II No. 5, Jan. 1927.

(17) Article on Spinoza by Prof. A. Wolf (Spinoza's Conception of the Attributes of Substance) in Proceedings of the Aristotelian Society, New Series Vol. XXVII, 1926--1927.

(18) Five Types of Ethical Theory by C. D. Broad, Ch. II on Spinoza.

(19) Types of Ethical Theory by Martinean; Ch. III on Spinoza.

(20) The Dawn of Modern Thought by Mellone, Ch. II on Spinoza.

संपूर्ण महाभारत ।

अब संपूर्ण १८ पर्व महाभारत छाप चुका है । इस सजिल्द संपूर्ण महाभारतका मूल्य ७५) रु. रखा गया है। तथापि यदि आप पेशगी म० आ० द्वारा संपूर्ण मूल्य भेजेंगे, तो यह ११००० पृष्ठोंका संपूर्ण, सजिल्द, सचित्र ग्रन्थ आपको रेलपार्सल द्वारा भेजेंगे, जिससे आपको सब पुस्तक सुरक्षित पहुंचेंगे । आर्डर भेजते समय अपने रेलस्टेशनका नाम अवश्य लिखें। **महाभारतका** वन, विराट और उद्योग ये पर्व समाप्त हैं।

श्रीमद्भगवद्गीता ।

इस '**पुरुषार्थबोधिनी**' भाषा-टीकामें यह बात दर्शायी गयी है कि वेद, उपनिषद् आदि प्राचीन ग्रन्थोंकेही सिद्धान्त गीतामें नये ढंगसे किस प्रकार कहे हैं । अतः इस प्राचीन परंपराको बताना इस '**पुरुषार्थ-बोधिनी**' टीका का मुख्य उद्देश है, अथवा यही इसकी विशेषता है ।

गीता के १८ अध्याय तीन विभागों में विभाजित किये हैं और उनकी एकही जिल्द बनाई है । मू० १०) रु० डाक व्यय १॥)

भगवद्गीता-समन्वय ।

यह पुस्तक श्रीमद्भगवद्गीता का अध्ययन करनेवालोंके लिये अत्यंत आवश्यक है । '**वैदिक धर्म**' के आकार के १३५ पृष्ठ, चिकना कागज सजिल्द का मू० २) रु०, डा० व्य० ।≈)

भगवद्गीता-श्लोकार्धसूची ।

इसमें श्रीमद् गीताके श्लोकार्धोंकी अकारादिक्रमसे **आद्याक्षरसूची है** और उसी क्रमसे **अन्त्याक्षरसूची** भी है । मूल्य केवल ॥≈), डा० व्य० =)

आसन ।

'योग की आरोग्यवर्धक व्यायाम-पद्धति'

अनेक वर्षोंके अनुभवसे यह बात निश्चित हो चुकी है कि शरीरस्वास्थ्यके लिये आसनोंका आरोग्यवर्धक व्यायामही अत्यंत सुगम और निश्चित उपाय है । अशक्त मनुष्यभी इससे अपना स्वास्थ्य प्राप्त कर सकते हैं । इस पद्धतिका सम्पूर्ण स्पष्टीकरण इस पुस्तकमें है । मूल्य केवल २॥) दो रु० और डा० व्य० ।≈) सात आना है । म० आ० से २॥।≈) रु० भेज दें ।

आसनोंका चित्रपट- २०''×२७'' इंच मू० ।) रु., डा. व्य. -)

मंत्री-स्वाध्याय-मण्डल, औंध (जि०सातारा)

मुद्रक और प्रकाशक- व० श्री० सातवळेकर, भारत-मुद्रणालय, औंध.

स्वर्गीय दे० म० सुभाषचन्द्र बोस

वैदिक धर्म

विषयसूची।

१ परमेश्वरका सामर्थ्य १
२ देरी क्यों हो रही है ! २
३ मेधातिथि ऋषिका दर्शन
सपादक ३३-५६
४ कुरान और बाइबलमें सूर्योपासना
प गणपतराव गोरे २४१

संपादक
पं. श्रीपाद दामोदर सातवळेकर

वार्षिक मूल्य
म ऑ. से ५) रु ; वी. पी. से ५।=) रु.
विदेशके लिये १५ शिलिंग।
इस अंकका मू ॥) रु.

क्रमांक ३१०

क्रमांक ३१०

वर्ष २६ | भाद्रपद संवत् २००२, अक्टूबर १९४५ | अङ्क १०

परमेश्वरका सामर्थ्य

वनेषु व्यन्तरिक्षं ततान, वाजमर्वत्सु, पय उस्रियासु ।
हृत्सु क्रतुं, वरुणो अप्स्वग्निं, दिवि सूर्यमदधात्सोममद्रौ ॥
(ऋ० ५।८५।२)

" वरुण देवने वनोंके ऊपर आकाशको फेलाया है, घोडोंमें वेगको रखा है, गौओंमें दूध रखा है, हृदयों में यज्ञका भाव रखा है, जलो (से युक्त बादलों) मे (बिजलीरूप) अग्नि रखा है, द्युलोकमे सूर्यको और पर्वतपर सोम आदि औषधियोंको रख दिया है । "

परमेश्वरका सामर्थ्य कहा क्या कार्य कर रहा है, इसका वर्णन इस मत्रमें है । परमेश्वरने सर्वत्र आकाश फैलाया है जिसके अन्दर वन आदि खुली रीतिसे रहते हैं । तथा सभी पदार्थ रहते है । घोडोंमे वेग रखा है, इसी तरह बैलोंमें सामर्थ्य है, तथा इतर पशुओमें भी अन्य प्रकारके बल रखे हैं । गौओमें दूध जैसा अमृतरस रखा है, जिससे दही, मख्खन, घी आदि पदार्थ मानवोंको मिलते है । इनके सेवन करनेसे मनुष्य हृष्टपुष्ट बनते है । इसी तरह बकरीमे भी दूध रखा है और अन्यान्य स्त्री जानवरोमे भी दूध है, जो उनके बच्चोंका पोषण करता है । मानवोंके हृदयोंमें यज्ञ, दान, त्याग, उपकार आदि भाव रखे है, जिनके कारण मानव उच्चतर अवस्थामें पहुंचता है और नरका नारायण होता है । जलोंमें अग्निको रख दिया है । यदि जलोंमें अग्नि तत्त्व न होगा, तो जलका बर्फ ही बनेगा, इसलिये जलोंमे अग्निको रखकर ईश्वरने बडाभारी उपकार किया है । मेघोंमें विद्युत रखकर पर्जन्य होनेकी सुविधा उसीने की है । द्युलोकमें सूर्य है जो सबका चक्षु ही है । पर्वतोपर सोमादि उत्तमोत्तम औषधियां हैं जिनके सेवनसे मनुष्य नीरोग, हृष्ट-पुष्ट और दीर्घायु होता है । इस तरह सर्वत्र विश्वमे ईश्वरके शुभ कर्म है जिनसे मनुष्य अपनी हर प्रकारकी उन्नति प्राप्त कर सकता है । मनुष्य यह ईश्वरका कार्य देखे और उसकी भक्ति करे ।

देरी क्यों हो रही है?

पाठक पूछते हैं कि स्वाध्याय-मण्डलके प्रकाशनोंमें असाधारण देरी क्यों हो रही है? '**वैदिक धर्म**' भाषाका मासिक, '**पुरुषार्थ**' मराठीका मासिक, '**रामायण**' तथा अन्यान्य प्रकाशन पूर्ववत् यथासमय क्यों नहीं प्रकाशित होते? ऐसे प्रश्न पाठक पूछते है। पाठकोंका यह प्रश्न पूछना योग्य है। पर हमारे यहाकी आजकी अवस्था कैसी हुई है सो भी पाठक देखें—

औंध नगरी यद्यपि औंध रिसायतकी राजधानी है, तथापि यह केवल ४००० की आबादीका छोटासा एक पिण्ड (ग्राम) ही है। यह समुद्र-तलसे ३००० फीट ऊंचाईपर है और यह ऊंचाई चारो ओरसे है, इसलिये यहा सर्दी-गर्मीका मौसम सम रहता है। न बहुत गर्मी न बहुत सर्दी ऐसा यह स्थान है। और आरोग्यके लिये यह स्थान अच्छा समझा जाता है। जल, वायु प्राय सालभर अच्छा रहता है। इस कारणही स्वाध्याय-मण्डलने थोडेसे अर्सेमें इतना बहुत प्रकाशनका कार्य करके दिखाया है।

गत २६ वर्षोंमें यह स्थान आदर्श आरोग्यका रहा। चारों ओरसे लोग आते थे और यहाँकी जलवायुसे नीरोग होकर जाते थे। पर जबसे युद्ध शुरू होकर खराब धान्य खानेकी प्रथा शुरू हो गयी और यहाका अनाज मिलना मुश्कील हुआ, तबसे यहाकी जनताका आरोग्य बिगडने लगा। छोटी-मोटी बीमारियों का तो कोई हिसाबही नही है, पर प्लेग (ताऊन) गत डेढ वर्षसे यहा बैठा है। यह दो प्रकारका है- एकमे गले, काखे और जाघकी सांधिमे गाठे आती है और दूसरेमें छातीमें कफ संचय होता है। ज्वर तो होताही है। गत डेढ वर्षमे तीन वार इसका आक्रमण हुआ है और जिस स्थानमें सालमे एक दो भी मृत्यु नहीं होते थे, वहा प्रतिदिन कोई न कोई चल बसता है और कई बीमार तो पडेही रहते हैं।

औंध-निवासी जो बाहर जा सकते थे वे बाहर जा बसे हैं, जो वनमें जाकर रह सकते वे खेतो और जंगलोंमें गये हैं। जो तो किसी जगह जा नहीं सकते वेही यहाँ रहे हैं।

सभी सातारा जिलेमें और आजूबाजूके स्थानोंमें यह बीमारी फैली है। दक्षिणमें बेलगावतक फैली है और कोई भी गाव रोगरहित नहीं रहा है।

जिन्होंने प्लेगका टीका लगाया है उनकी मृत्यु फी सदी ३।४ होती है, पर जिन्होंने प्लेगका टीका नहीं लगाया उनकी मृत्यु फी सदी ७० तक हो रही है। औंध नगरकी जनतामें बहुतोंने टीका लगाया है, पर ५-७ सो ऐसे रहे है कि जिन्होंने नहीं लगाया। तीन बार प्लेगका आक्रमण होनेके कारण गत डेढ वर्षमें ३ बार टीका लगाना पडा है।

इस कारण हमारे स्वाध्याय-मंडळमें और मुद्रणालयमे जहा कर्मचारियोंकी उपस्थिति ८० के ऊपर थी वहा अब २० के करीब रहती है। इस कारण बडी मुश्कीलसे हम केवल दो मासिकही मुद्रित करते है और बाकीका कार्य कर्मचारियोंकी उपस्थितिकी अनुकूलतासे जितना होता है, करवा लेते है।

गत डेढ वर्षके समान कठिन समय कभी भी यहा नहीं आया था। हम आशा करते है कि ये दिन भी बहुत समय तक नही रहेंगे। पर आज जो मुद्रणकार्यमें देरी हो रही है, उसका कारण यह है।

सरकारी नियमके अनुसार हम अपना कार्य पूना आदि बडे नगरोंमें भेजकर वहा भी मुद्रित नहीं कर सकते, क्योंकि उन-पर भी सरकारका नियंत्रण लगा है और वे भी अपने संकटमेंही है। इस प्रातमें प्राय सभी प्रेसोंके कार्य सरकारसे नियंत्रित हुए हैं।

इसलिये हमारे अपने मुद्रणालयमें भी शीघ्र कार्य नहीं होता और बाहरसे भी मुद्रित नहीं होता। ऐसी अवस्था है। इसलिये ऐसी स्थितिमें जो हो सकता है, वही हम कर रहे हैं। परिस्थिति सुधारतेही पूर्ववत् कार्य हो जायगा।

मंत्री—स्वाध्याय-मण्डल औंध (जि० सातारा)

वीरोंके काव्यका गान

इन्द्र और अग्नि ये बडे (उग्रौ) उग्र वीर हैं, वे शत्रुका नाश करते हैं, ये (महान्ता सदसः पती) बडे भारी श्रेष्ठ और उत्तम सभापती हैं। सभापतिका कार्य वे उत्तम रीतिसे निभाते हैं।

दुष्टोंका सुधार

वे (रक्ष उब्जतं) वे राक्षसोंको ऐसी नियंत्रणामे रखें कि जिससे वे राक्षस अपनी क्रूरताका त्याग करके सरल स्वभाववाले बन जाय। यहां पाठक ध्यानमें यह बात धारण करें कि, यहां राक्षसोंका नाश करो ऐसा नहीं कहा, परंतु (उब्जतं) उनको सरल स्वभाव बनानेका आदेश दिया है। दुष्टोंकी दुष्टता दूर करनी चाहिये न कि उनका वध करना चाहिये। यदि उन्होंने अपनी दुष्टता न छोड दी, तो पीछे उनका वध करनेका अवसर आ जायगा। परंतु प्रथम सुधारनेका यत्न होना चाहिये यह मुख्य आदेश यहां स्मरण रखना योग्य है।

आगे जाकर (अत्रिणः अप्रजा सन्तु) यदि वे सर्वभक्षक दुष्ट दुर्जन न सुधरे, तो वे प्रजाहीन होते जाय ऐसा उनको शाप दिया है। यहांका '**अत्रिणः**' पद बडा महत्त्वका है। 'अद्' धातु खानेके अर्थमें है इससे यह पद 'अत्रिन्' बनता है। भक्षक ऐसा इसका अर्थ है। सर्वभक्षक क्रूर होते है। सबको खानेवाले, लोभी दुष्टजन जो हैं वे इस पदसे जाने जाते है।

ऋषिवाचक दूसरा 'अत्रि' पद है वह 'अत्' धातुसे बनता है। गमन करनेवाला ऐसा उसका अर्थ है। देशमे भ्रमण करके जो ज्ञानका प्रसार करता है वह 'अत्रि' है। यह ऋषिवाचक अत्रिपद भिन्न है और राक्षसवाचक 'अत्रिन्' पद उससे सर्वथा विभिन्न है।

यह सर्वभक्षक अत्रिन् पद दुष्ट राक्षसोका वाचक है वैसाही वह रोग क्रिमियोंका वाचक है। शरीरके रुधिरमेंसे लाल रक्त कणोंको जो क्रिमी खा जाते हैं वे 'अत्रिणः' रोगजन्तु हैं। प्रायः राक्षसवाचक सभी वैदिक पद रोगक्रिमियोंके वाचक वेदमें होते हैं। यह एक सर्व साधारण नियमही समझना योग्य है।

शंखेन हत्वा रक्षांसि अत्त्रिणो वि षहामहे।
(अथर्व० ४।१०।२)

अर्चिषा अत्रिणो नुदतं प्रतीचः॥ (अथर्व० ६।३२।३)

'शंखके द्वारा सर्व भक्षक (अत्रिणः रक्षांसि) राक्षसोंको दूर करते हैं। सूर्यके किरणोंसे (अत्रिण) सर्वभक्षक क्रिमियोंको दूर करते हैं।' यहां सर्व रक्तभक्षक पीलक बढानेवाले रोग क्रमियोंका नाश शंख (भस्म)से तथा सूर्यकिरणसे करनेका उल्लेख है। ये रोग क्रमिही है। सूर्य किरणमें रोगजन्तु मरते हैं और शंखके पीसकर पेटमें लेनेसे भी रोगक्रिमी मरते हैं। इस तरह वेदमें अत्रिन् पद रोग किमियोंका वाचक आया है।

इस (ऋ. १।२१) सूक्तमें अत्रिन् पद दुष्ट मानवोका वाचक हैं। और उनको सुधारनेका आदेश है। यह अहिंसासे सुधार करनेका आदेश है।

अहिंसा, सत्य और ज्ञान

(**प्रचेतुने पदे सत्येन अधि जागृतं**। ६) ज्ञानसे प्राप्तव्य स्थानमें सत्यके साथ जागते रहो। '**अहिंसा**'का व्रत, '**सत्य**'का पालन और '**ज्ञान**'से जागृति ये तीन साधन यहां मानवोंकी उन्नतिके लिये बताये है। यदि दुष्टोंका सुधार न हो सका तो उनको दण्ड देनेका आदेश वेदमें अन्यत्र है।

(१) **रक्षः उब्जतं**= राक्षसोंको सुधारो (उब्ज्=आर्जवे, सीधा बनाना (To make straight), टेढोंको सरल बनाना, क्रूरोंको अहिंसक बनाना। यह अहिंसासे सुधार है।

(२) **सत्येन अधि जागृतं**= सत्यके साथ जागो। यह सत्यकी पालनाका आदेश है।

(३) **प्रचेतुने पदे**— प्राप्तव्य स्थानको ज्ञानसे बताओ। यह ज्ञानकी महिमा है।

इस तरह इस एकही सूक्तमें ये तीन बातें बहुतही महत्त्व की हैं।

(११) वेगवान् रथ

(ऋ. मं. १।२२) मेधातिथिः काण्वः । गायत्री ।

(२२।१-४) अश्विनौ देवता

प्रातर्युजा वि बोधयाश्विनावेह गच्छताम् । अस्य सोमस्य पीतये १
या सुरथा रथीतमोभा देवा दिविस्पृशा । अश्विना ता हवामहे २
या वां कशा मधुमत्यश्विना सूनृतावती । तया यज्ञं मिमिक्षतम् ३
नहि वामस्ति दूरके यत्रा रथेन गच्छथः । अश्विना सोमिनो गृहम् ४

अन्वयः- प्रातर्युजौ वि बोधय । अश्विनौ इह अस्य सोमस्य पीतये आ गच्छताम् ॥१॥ या उभा अश्विना सुरथा रथितमा दिविस्पृशा देवा ता हवामहे ॥२॥ हे अश्विनौ ! वां या कशा मधुमती सूनृतावती तया सह यज्ञं मिमिक्षतम् ॥३॥ हे अश्विनौ ! सोमिनः गृहं, यत्र रथेन गच्छथः, वां दूरके न अस्ति ॥४॥

अर्थ- प्रातःकालके समयमें जागनेवाले अश्विदेवोंको जगाओ। वे अश्विदेव इस यज्ञमें इस सोमरसका पान करनेके लिये पधारें ॥१॥ ये दोनो अश्विदेव सुंदर रथसे युक्त हैं, वे सबसे श्रेष्ठ रथी हैं, और वे अपने रथसे आकाशमें संचार करते हैं, इन दोनों देवोंको हम बुलाते हैं ॥२॥ हे अश्विदेवो ! तुम्हारी जो मीठा सुंदर शब्द करनेवाली चाबूक है, उसके साथ यज्ञमें आओ ॥३॥ हे अश्विदेवो ! सोमयाग करनेवालेके घरके पास अपने रथसे तुम जाते हो, वह (तुम्हारे लिये बिलकुल) दूर नहीं है ॥४॥

चाबूक

अश्विदेवोंकी चाबूक (मधुमती सूनृतावती) मीठा और सुंदर शब्द करती है । उत्तम चाबूकका एक भान्तीका शब्द होता है। इस चाबूकके शब्दसे अश्विदेव आ रहे हैं ऐसा मालूम होता है। इनका रथ वेगवान् होनेसे इनके लिये कोई स्थान दूर नहीं है। जहां इनको पहुंचना होगा, वहां शीघ्रही वे पहुंचते हैं।

(२२।५-८) सविता देवता

हिरण्यपाणिमूतये सवितारमुप ह्वये । स चेत्ता देवता पदम् ५
अपां नपातमवसे सवितारमुप स्तुहि । तस्य व्रतान्युश्मसि ६
विभक्तारं हवामहे वसोश्चित्रस्य राधसः । सवितारं नृचक्षसम् ७
सखाय आ नि षीदत सविता स्तोम्यो नु नः । दाता राधांसि शुम्भति ८

अन्वयः- हिरण्यपाणिं सवितारं ऊतये उप ह्वये। सः देवता पदं चेत्ता ॥५॥ अपां नपातं सवितारं उप स्तुहि । तस्य व्रतानि उश्मसि ॥६॥ वसोः चित्रस्य राधसः विभक्तारं नृचक्षसं सवितारं हवामहे ॥७॥ हे सखायः ! आ नि षीदत । नः सविता नु स्तोम्यः । राधांसि दाता शुम्भति ॥८॥

अर्थ- सुवर्णके समान किरणोंवाले सविताको अपनी सुरक्षा करनेके लिये मैं बुलाता हूं। वही देवता प्राप्तव्य स्थानका बोध कर देता है ॥५॥ जलोंको न प्रवाहित करनेवाले सविताकी स्तुति करो । इसके लिये हम व्रतोंका पालन करना चाहते हैं ॥६॥ निवासके कारणीभूत नाना प्रकारके धनोंके दाता, मनुष्योंके लिये प्रकाशके प्रदाता, सूर्य देवका हम आवाहन करते हैं ॥७॥ हे मित्रो ! आ कर बैठ जाओ । हम सबके लिये यह सविता स्तुति करने योग्य है । सिद्धियोंके प्रदाता (सूर्य देव अब) प्रकाशित हो रहे हैं ॥८॥

सबका प्रसविता सविता

'**सविता वै सर्वस्य प्रसविता**' (श. ब्रा.) सविता सूर्य देव सब विश्वका प्रसव करनेवाला है। जिस तरह स्त्री अपने अन्दरसे संतानोंको प्रसवती है उसी तरह यह सूर्यदेव अपने अन्दरसे सब सृष्टीकी उत्पत्ति करता है।

सूर्य (सविता)
|
सूर्य मालिका
(बुध, शुक्र, पृथ्वी, मंगल, गुरु, शनि, वरुण और प्रजापति)
|
वृक्ष, कृमिकीट
|
मनुष्य
|
(श्वेत, लाल, पीत, भूरे और कृष्ण वर्णवाले मानव)

इस तरह यह सविता सब सृष्टीका प्रसव अपने अन्दरसे करता है। परब्रह्मसे सूर्य, और सूर्यसे सब सृष्टी होती है। यहां अपने अन्दरसे प्रसव करनेका तत्त्व पाठक स्मरण रखें।

(**अवसे सवितारं उप**) अपनी सुरक्षाके लिये सविता सूर्यकी उपासना करो। सूर्यही सब रोगबीजोंको दूर करता है, और आरोग्य बढाता है। सूर्य दीर्घायु करनेवाला है।

(**तस्य व्रतानि उश्मसि**) सूर्यके व्रतोंका पालन करना है। सूर्यसे आरोग्य प्राप्त करनेके जो नियम हैं उनको जानकर आचारमें लाना चाहिये।

(**नृ-चक्षः**) यह सूर्य मनुष्योंके लिये नेत्र जैसा है, सब लोगोंके लिये वह प्रकाश बताता है।

संपत्तिका विभाजन

संपत्तिका संग्रह एकके पास होना उचित नहीं है। इससे गरीब पीसे जाते हैं। इसलिये संपत्तिका बटवारा योग्य रीतिसे समाजमें होना उचित है।

'**वसोः विभक्ता सविता**' (मं० ७) मानवोंके निवासके लिये जो आवश्यक है वह वसु कहलाता है। उसीका नाम धन या संपत्ति है। इस धनका विशेष भाग करके उसका बटवारा यथायोग्य रीतिसे करना चाहिये। जिस तरह सूर्यकी संपत्ति 'प्रकाश' है, उसका सब वस्तुमात्रपर वह बटवारा करता है। जब सूर्य प्रकाशता है तब पृथ्वी, जल, पर्वत, वृक्ष, मानव आदीपर वह समानतया प्रकाशता है और सबको प्रकाशित करता है।

इसी तरह राजा अपने राष्ट्रमें संपत्तिका विभाजन यथायोग्य रीतिसे करे तथा करावे और सबको सुखी करे।

यह '**वसु-विभाग**' वेदमें अनेक सूक्तोंमें आयेगा। वहां इसका संपूर्ण अर्थ पाठक विचारपूर्वक देखें और मननसे जानें।

(२२।९-१५), ९-१० अग्नि, ११-१५ देव्यः।

अग्नि और देवपत्नियाँ

अग्ने पत्नीरिहा वह देवानामुशतीरुप । त्वष्टारं सोमपीतये ९
आ ग्ना अग्न इहावसे होत्रां यविष्ठ भारतीम् । वरूत्रीं धिषणां वह १०
अभि नो देवीरवसा महः शर्मणा नृपत्नीः । अच्छिन्नपत्राः सचन्ताम् ११
इहेन्द्राणीमुप ह्वये वरुणानीं स्वस्तये । अग्नायीं सोमपीतये १२
मही द्यौः पृथिवी च न इमं यज्ञं मिमिक्षताम् । पिपृतां नो भरीमभिः १३
तयोरिद् घृतवत् पयो विप्रा रिहन्ति धीतिभिः । गन्धर्वस्य ध्रुवे पदे १४
स्योना पृथिवि भवानृक्षरा निवेशनी । यच्छा नः शर्म सप्रथः १५

अन्वयः- हे अग्ने! उशतीः देवानां पत्नीः इह उप आ वह। (तथा) त्वष्टारं सोमपीतये (उप आ वह) ॥९॥ हे अग्ने! ग्नाः अवसे इह आ वह। हे यविष्ठ! अवसे होत्रां भारतीं, वरूत्रीं, धिषणां (आ वह) ॥१०॥ नृपत्नीः अच्छिन्नपत्राः देवीः अवसा महः शर्मणा नः अभि सचन्ताम् ॥११॥ इह इन्द्राणीं वरुणानीं अग्नायीं स्वस्तये सोमपीतये उप ह्वये ॥१२॥ मही द्यौः पृथिवी च नः इमं यज्ञं मिमिक्षताम्। भरीमभिः नः पिपृताम् ॥१३॥ गन्धर्वस्य ध्रुवे पदे तयोः इत् घृतवत् पयः विप्राः धीतिभिः रिहन्ति ॥१४॥ हे पृथिवि! स्योना, अनृक्षरा, निवेशिनी भव। सप्रथः शर्म नः यच्छ ॥१५॥

अर्थ- हे अग्ने ! इधर आनेकी इच्छा करनेवाली देवोंकी पत्नियोंको यहाँ ले आओ। तथा त्वष्टाको सोमपान करनेके लिये यहां ले आओ । हे अग्ने ! देवपत्नियोंको हमारी सुरक्षा करनेके लिये यहां ले आओ । हे तरुण अग्ने ! हमारी सुरक्षाके लिये देवोंको बुलानेवाली, भरणपोषण करनेवाली, सुरक्षा करनेवाली बुद्धिको यहां ले आओ ॥१०॥ जिनके आनेके साधन आविच्छिन्न हैं और जो मनुष्योंका पालन करती हैं, वे देवपत्नियाँ हमारी सुरक्षा करके बडे सुखके साथ हमारे पास (इस यज्ञमें) आ जायँ ॥११॥ यहां इन्द्रपत्नी, वरुणपत्नी और अग्निपत्नीको हमारी सुरक्षाके लिये और उनके सोमपानके लिये बुलाता हूं ॥१२॥ महान् द्युलोक और बडी पृथ्वी हमारे इस यज्ञके लिये (उत्तम रससे-जलसे) सिंचन करें। पोषणों द्वारा हमें पूर्ण करे ॥१३॥ गन्धर्व लोकके ध्रुव स्थानमें (अर्थात् अन्तरिक्षमें) इन दोनों -(द्यु और पृथ्वीके मध्यमें)- घीके समान जल, ज्ञानी लोक अपने कर्मों और बुद्धियोंके बलसे प्राप्त करते हैं ॥१४॥ हे पृथ्वी ! तू सुखदायिनी, कण्टकरहित और हमारा निवास करनेवाली बनो । और हमें विस्तृत सुख दो ॥१५॥

देवियोंका स्तोत्र

इस २२ वें सूक्तमें तृतीय सूक्त देवियोंको है । इसमें (भारती) भाषा, (धिषणा) बुद्धि, (इन्द्राणी) इन्द्र पत्नी [शूरता], (वरुणानी) वरुणपत्नी [रसिकता], (अग्नायी) अग्निपत्नी, द्यौ, मातृभूमी इनका वर्णन है । ये देवपत्नियाँ कैसी हैं सो देखो—

१ **उशतीः**- (हमारी सुरक्षा करनेकी) इच्छा करती है,

२ **अवः**- हमारी रक्षा करती हैं,

३ **भारती**- भरणपोषण करनेवाली,

४ **वरूत्री**- सुरक्षा करनेवाली,

५ **धिषणा**- बुद्धिमती, विदुषी,

६ **नृपत्नी**- मनुष्योंकी पालना करनेवाली,

७ **अच्छिन्न-पत्राः**- जिनके उडनेके विमान अटूट हैं, सुरक्षित यन्त्रसाधनोंसे युक्त,

८ **मिमिक्षतां**- उत्तम वृष्टी करें, जिससे उत्तम धान्य निर्माण हो,

९ **भरीमन्**- पोषण करनेवाला धान्य आदिक पदार्थ,

१० **घृतवत् पयः**- घी जैसा जल, उत्तम पाचक और पोषण परिशुद्ध जल,

११ **स्योना**- सुखदायी,

१२ **अनृक्षरा**- (अन्-ऋक्षरा) कण्टक रहित, (अ-नृ-क्षरा) जहा रहनेसे मनुष्योंको क्षीणता नहीं आती ऐसा रहनेका स्थान हो,

१३ **निवेशिनी**- रहनेके लिये सुखदायक ।

देवियोंके ये शुभ गुण हैं । इनसे हमारी उन्नति ये देवियाँ करें। मानवस्त्रियें क्या करें यह भी इन पदोंके मननसे समझमें आ सकता है । देवस्त्रियां जैसा आचरण करती हैं वैसा आचरण मानव स्त्रिया यहां करें । मानव स्त्रियोंके अनुकूल भाव उक्त पदोंमें गौण वृत्तीसे देखा जा सकता है । जैसा—

मनुष्यकी स्त्रियॉं (उशतीः) भलाई करनेकी इच्छा करें, (अवः वरूत्री) घरवालोंकी सुरक्षा करें, (भारती) भरण-पोषण करें, (धिषणा) सुबुद्ध हों, (नृ-पत्नी) कुटुंबके लोगोंकी पालना करें, (मिमिक्षतां) स्नेहयुक्त आचरण करें, (नृपत्नी) लोगोंका पालनपोषण करें, (भरीमन्) पालनपोषण करें, (घृतवत् पयः) घी और जल दें, (स्योना) सुखदायी हों, (अनृक्षरा) घर निष्कण्टक करें, घरमें कोई क्षीण न हो ऐसा व्यवहार करें, (निवेशिनी) सब लोग सुरक्षित रहें ऐसा प्रबंध करें ।

देवपत्नीयोंके सूक्त मानवपत्नीयोंके कर्तव्योंकी शिक्षा इस तरह देते हैं ।

मातृभूमिका राष्ट्रगीत

पंद्रहवाँ मंत्र वैदिक राष्ट्रगीत है। यह संघमें राष्ट्रगीत जैसा बोलनेके लिये है ' हे मातृभूमे ! हमारे लिये तू सुखदा-यिनी, कण्टकरहित (शत्रुरहित) होकर उत्तम रीतिसे हमारा निवास करनेवाली हो । और विस्तृत सुख हमें प्रदान करो अर्थात् तुम्हारे ऊपर हम सुखसे रहें । '

(२२।१६-२१) विष्णुः

अतो देवा अवन्तु नो यतो विष्णुर्विचक्रमे । पृथिव्याः सप्त धामभिः १६
इदं विष्णुर्वि चक्रमे त्रेधा नि दधे पदम् । समूळ्हमस्य पांसुरे १७

त्रीणि पदा वि चक्रमे विष्णुर्गोपा अदाभ्यः । अतो धर्माणि धारयन् १८
विष्णोः कर्माणि पश्यत यतो व्रतानि पस्पशे । इन्द्रस्य युज्यः सखा १९
तद् विष्णोः परमं पदं सदा पश्यन्ति सूरयः । दिवीव चक्षुराततम् २०
तद् विप्रासो विपन्यवो जागृवांसः समिन्धते । विष्णोर्यत् परमं पदम् २१

अन्वयः- विष्णुः सप्त धामभिः यतः पृथिव्याः वि चक्रमे, अतः नः देवाः अवन्तु ॥१६॥ विष्णुः इदं वि चक्रमे। त्रेधा पदं नि दधे। अस्य पांसुरे समूळ्हम्॥१७॥ अदाभ्यः गोपाः विष्णुः, धर्माणि धारयन्, अतः त्रीणि पदा वि चक्रमे॥१८॥ विष्णोः कर्माणि पश्यत। यतः व्रतानि पस्पशे। (सः) इन्द्रस्य युज्यः सखा ॥१९॥ विष्णोः तत् परमं पदं, दिवि आततं चक्षुः इव, सूरयः सदा पश्यन्ति ॥२०॥ विष्णोः यत् परमं पदं (अस्ति), तत् विपन्यवः जागृवांसः विप्रासः सं इन्धते॥२१॥

अर्थ- विष्णुने सातों धामोंसे जिस पृथ्वीपर विक्रम किया, वहांसे हमारी सब देव सुरक्षा करें ॥१६॥ विष्णुने यह विक्रम किया। उन्होंने तीन प्रकारसे अपने पद रखे थे। पर इसका एक पद धूली प्रदेशमें (अन्तरिक्षमें) गुप्त हुआ है ॥१७॥ न दबनेवाला, सबका रक्षक विष्णु, सब धर्मोंका धारण करता हुआ, यहांसे तीन पद रखनेका विक्रम करता है ॥१८॥ विष्णुके ये कर्म देखो। उनसे ही हम अपने व्रतोंको किया करते हैं। (वह विष्णु) इन्द्रका सुयोग्य मित्र है॥१९॥ विष्णुका वह परम स्थान द्यु लोकमें फैले हुए प्रकाशके समान, ज्ञानी सदा देखते हैं ॥२०॥ विष्णुका वह पद है कि जो कर्मकुशल, जाग्रत रहनेवाले ज्ञानी सम्यक् प्रकाशित हुआ देखते हैं ॥२१॥

विष्णु, व्यापक देव

विष्णु (वेवेष्टि इति) जो सब विश्वको व्यापता है, वह व्यापक देव विष्णु कहलाता है। यह व्यापक देव सात धामोंसे पृथ्वीपर विक्रम करता है। पृथिवी, आप, तेज, वायु, आकाश, तन्मात्रा और महत्तत्व ये सात धाम हैं जहां यह व्यापक प्रभु अपना विक्रम दिखाता है। इसका पराक्रम यहां सतत चलही रहा है। सब नक्षत्रादि तेजोलोक, तथा अग्न्यादि देव इसी व्यापक प्रभुकी महिमासे अपना अपना कार्य करनेमें समर्थ हुए हैं। उस व्यापक देवका सामर्थ्य लेकर ये सब देव (देवा. नः अवन्तु) हमारी सुरक्षा करें। (१६)

यह व्यापक प्रभुही यह सब, जो इस विश्वमें दिखाई देता है, वह सब पराक्रम करता है। जो यहां दीख रहा है वह सब उसीका पराक्रम अथवा उसीका सामर्थ्यही है। सात्विक, राजस और तामस ऐसे तीन स्थानोंमें तीन पद उन्होंने रखे है। द्युलोक सात्विक, अन्तरिक्ष लोक राजस और भूलोक तमोगुण प्रधान है, यहां इसके तीन पद कार्य करते हैं। इनमें बचिके अन्तरिक्षमें जो इनका कार्य है वह गुप्त है। द्युलोक प्रकाशित है, भूलोकपर तो मनुष्य कार्य करही रहे हैं अतः ये दो लोक स्पष्ट दीख रहे हैं। पर बीचका अन्तरिक्ष लोकका वायु अदृश्य है, विद्युत् भी अदृश्यही रहती है, पर कभी कभी दीखती है। इस तरह बीचके स्थानमें होनेवाला उसका कार्य दीखता नहीं। (१७)

यह व्यापक प्रभु किसीसे कदापि दबनेवाला नहीं है। यही सबकी सुरक्षा करता है और यही सबमें व्यापक है, अतः प्रत्येक वस्तुमें विद्यमान है। ये सब कार्य वही करता है। भूमि, अन्तरिक्ष और द्युलोकमें जो इसके तीन पद कार्य कर रहे हैं उनको देखो और उसका सामर्थ्य जानो (१८)

इस व्यापक प्रभुके ये सब कार्य देखो। ये कार्य सब विश्वमें सतत चल रहे हैं। इसीके व्यापक कार्योंके आश्रयसे मनुष्यके कार्य होते हैं। उसके किये कर्मोंका आश्रय करकेही मनुष्य अपने कार्य करता है। (जैसे उसके अग्निसे मनुष्य अपने अन्न पकाता है, उसके बीजसे यह खेती करता है इत्यादि)। यह इन्द्रका योग्य मित्र है। (व्यापक प्रभु जीवका मित्र है।) (१९)

इस व्यापक प्रभुका वह परम स्थान है जो आकाशमें जैसे प्रकाशित हुए सूर्यको मानव देखते हैं, उसी तरह ज्ञानी लोग सदा उसे देखते है। प्रत्येक वस्तुमें ये उसके कार्यको स्पष्टताके साथ सदा देखते हैं। (२०)

व्यापक प्रभुका वह स्थान है कि जो कर्मकुशल, जगनेवाले ज्ञानी सदा प्रकाशित अग्निके समान सर्वत्र प्रकाशित रूपमें

देखते हैं। (२१)

इस तरह इस सूक्तमें व्यापक प्रभुका वर्णन है। इसका पाठक मनन करें।

विष्णु-सूर्य

इस सूक्तके 'विष्णु' पदसे 'सूर्य' अर्थ लेकर कई विचारक इस सूक्तका अर्थ करते हैं। सूर्य अपने किरणोंसे सब विश्व व्यापता है यही विष्णुपन है। सूर्य दक्षिणायनसे उत्तरायणतक जो पृथ्वीके विभागोंपर न्यूनाधिक प्रकाश डालता है वे सात भाग यहांके सात स्थान हैं। भूमध्य रेषा एक स्थान है, इसके नीचे तीन और ऊपर तीन मिलकर ये सात भूविभाग होते हैं। ये सूर्यके आक्रमणसे न्यूनाधिक प्रकाशसे युक्त होते हैं।

उत्तरीय ध्रुवमें उत्तरायणमें सूर्योदय होकर वह सूर्य सतत छः मासतक ऊपरही ऊपर चारों और प्रदक्षिणा करनेके समान इर्दगिर्द घूमता रहता है। यहां दस बजेतक जितनी ऊंचाईपर सूर्य आता है उतनी ऊंचाईपर वह तीन महिनोंमें आता है और फिर नीचे उतरने लगता है, ये ही उसके तीन आक्रमण है। पहिला पीत, दूसरा लाल और तीसरा श्वेत। भूविभाग सात होते हैं और आकाशमें तीन विभाग होते हैं। यहां 'सप्त धाम' का अर्थ सात छन्द ऐसा सायनाचार्य करते हैं। कईयोंकी ऐसीही संमति है।

यहां सात छन्दोंका संबंध इस तरह है गायत्री २४, उष्णिक् २८, अनुष्टुप् ३२, बृहती ३६, पंक्ति ४०, त्रिष्टुप् ४४, और जगती ४८ अक्षरोंवाले ये सात छंद हैं। इन सात छंदोंके कुल अक्षर २५२ होते हैं, एक दिनके लिये एक अक्षर माना जाय तो इनके करीब साढे आठ महिने होते हैं। येही प्रकाशके महिने वहां उत्तरीय ध्रुवके पासके हैं। छः मास सूर्य दर्शन और उषा और अन्तके पूर्वका संधि प्रकाश मिलकर इतनेही दिन वहां प्रकाशके होते हैं। इसमें आश्चर्यकी बात यह है कि प्रथम गायत्री मंत्रका ध्यान होता है, ठीक गायत्रीके २४ अक्षर होते हैं, उतनाही समय सूर्यबिंबको ऊपर आनेमें लगता है। इसी तरह सातों छंदोंकी अक्षरोंकी गणना और प्रकाशके दिनोंकी गणना समान है। इसलिये सातों छंदोंद्वारा इसका विक्रम वर्णन किया है। अन्य वर्णन भी इसी तरह सुसंगत है।

इस उत्तरीय ध्रुवमें इन्द्र नाम उस प्रकाशका है कि जो सूर्य न होते हुए विलक्षण प्रकाश विद्युत्प्रकाश जैसा रहता है। यह इन्द्र सूर्यको ऊपर लाता और आकाशमें चढाता है ऐसा वर्णन वेदमंत्रोंमें है। देखो—

इन्द्रो दीर्घाय चक्षस आ सूर्यं रोहयद्दिवि॥ (ऋ. १।७।३)

'इन्द्रने सुदीर्घ प्रकाश करनेके लिये सूर्यको द्युलोकमें ऊपर चढाया।' यह इन्द्र और विष्णुकी मित्रता है।

इस तरह ये विद्वान् सूर्यपर यह सूक्त घटाते हैं। सूर्यका नाम विष्णु है ही वेदमें। ये अनेक अर्थ होनेपर भी इस सूक्तका परमात्मा, सर्वव्यापक प्रभुपरक अर्थ मारा नहीं जाता। क्योंकि वेदका मुख्य ध्येय वही है।

---

(१२) दो क्षत्रिय

(ऋ. मं. १।२३) मेधातिथिः काण्वः। १-१८ गायत्री, १९ पुरउष्णिक्, २१ प्रतिष्ठा, २०,२२-२४ अनुष्टुप्।

(२३।१-३) वायुः, इन्द्रवायू

तीव्राः सोमास आ गह्याशीर्वन्तः सुता इमे । वायो तान् प्रस्थितान् पिब ॥ १
उभा देवा दिविस्पृशेन्द्रवायू हवामहे । अस्य सोमस्य पीतये ॥ २
इन्द्रवायू मनोजुवा विप्रा हवन्त ऊतये । सहस्राक्षा धियस्पती ॥ ३

अन्वयः— हे वायो! इमे सोमासः सुताः। तीव्राः आशीर्वन्तः। आ गहि। प्रस्थितान् तान् पिब ॥१॥ दिविस्पृशा उभा देवा इन्द्रवायू अस्य सोमस्य पीतये हवामहे ॥२॥ सहस्राक्षा धियः पती मनोजुवा इन्द्रवायू विप्राः ऊतये हवन्ते॥३॥

अर्थ– हे वायो ! ये सोमरस निचोडे हैं। ये तीखे (हैं अतः इनमें) दुग्धादि मिलाये हैं। यहाँ आओ। और यहां रखे इन (रसोंको) पीओ ॥१॥ द्युलोकको स्पर्श करनेवाले इन दोनों इन्द्र और वायु देवोंको इस सोमरसके पान करनेके लिये हम बुलाते हैं ॥२॥ सहस्रों आंखोंवाले, बुद्धिके अधिपती, मन जैसे वेगवान ये इन्द्र और वायु हैं, इनको ज्ञानी लोग अपनी सुरक्षाके लिये बुलाते हैं ॥३॥

सोमरस

सोमरस (तीव्राः) तीखा रहता है। इसलिये केवल सोमरसका पान करना अशक्य है। अतः उसके अन्दर जल, दूध, दही, सत्तू आदि (आशीर्) मिलाया जाता है इसीको (आशीर्-वन्तः)मिलाया हुआ रस कहते हैं। ' **गवाशिर, यवाशिर, दध्याशिर** ' आदि पद इसीके वाचक आगे आयेंगे। जो वस्तु मिलायी जाती है उसको ' आशिर् ' कहते हैं। ' गवाशिर ' गौका दूध मिलाया सोमरस, ' दध्याशिर् ' (गौका) दही मिलाया सोमरस, ' यवाशिर् ' गौका आटा मिलाया सोमरस इत्यादि। सोमरस बडा तीखा होनेके कारण उसमें ऐसे पदार्थ मिलानेही आवश्यक हैं। शहद भी मिलाते हैं।

दो क्षत्रिय

इन्द्र और वायु ये दो क्षत्रियदेव हैं। ये किस तरह आचरण करते है देखिये–

१ दिविस्पृशौ– अन्तरिक्षमें, आकाशमें (विमान आदि वाहनोंसे) संचार करते हैं।

२ सहस्राक्षौ– (सहस्र-अक्षौ) हजारों आंखोंसे देखते हैं। अर्थात् ये सहस्रों गुप्तचर रखते हैं और अपने तथा शत्रु-देशका यथार्थ ज्ञान प्राप्त करते हैं। राज्यव्यवहारके लिये इसकी बडी आवश्यकता है।

३ मनोजुवौ– (मनः-जुवौ) मनके समान वेगवान। शीघ्र गतिवाले वाहनोंसे युक्त हैं।

४ धियः पती– बुद्धियोंके स्वामी। प्रजाके विचार जिनके साथ रहते हैं, प्रजाके विचारोंके स्वामी, प्रजाके कर्मोंके स्वामी। प्रजाके विचार और कर्म जिनके अनुकूल रहते हैं।

५ विप्राः ऊतये हवन्ते– ज्ञानीलोग सुरक्षाके लिये जिनको बुलाते हैं। अर्थात् राष्ट्रके ज्ञानी लोगोंका भी जिनपर पूर्ण विश्वास है।

राजा तथा राजपुरुष इन गुणधर्मोंसे युक्त रहने चाहिये। ऐसे गुण जिनमें होंगे वे राजा प्रजाके लिये अनुकूलही होंगे और प्रजा उनके विरुद्ध कुछ कार्यवाही कदापि करेगीही नहीं।

(२३।४-६) मित्रावरुणौ

मित्रं वयं हवामहे वरुणं सोमपीतये । जज्ञाना पूतदक्षसा ४
ऋतेन यावृतावृधावृतस्य ज्योतिषस्पती । ता मित्रावरुणा हुवे ५
वरुणः प्राविता भुवन् मित्रो विश्वाभिरूतिभिः । करतां नः सुराधसः ६

अन्वयः– वयं मित्रं वरुणं च सोमपीतये हवामहे। (उभौ) जज्ञाना पूतदक्षसा ॥४॥ यौ ऋतेन ऋतावृधौ, ऋतस्य ज्योतिषः पती, ता मित्रावरुणा हुवे ॥५॥ वरुणः प्राविता भुवत्। मित्रः विश्वाभिः ऊतिभिः (प्राविता भुवत्)। (तौ) नः सुराधसः करताम् ॥६॥

अर्थ– हम मित्रको और वरुणको सोमपानके लिये बुलाते हैं। (वे दोनों) बडे ज्ञानी और पवित्रकार्यके लिये अपने बलका उपयोग करनेवाले हैं ॥४॥ जो सरलतासे सन्मार्गकी वृद्धि करनेवाले और सन्मार्गकी ज्योतीके पालनकर्ता हैं, उन मित्र और वरुणको मैं बुलाता हूं ॥५॥ वरुण हमारी विशेष सुरक्षा करता है। मित्र भी सब सुरक्षाके साधनोंसे हमारी सुरक्षा करता है। (वे दोनों) हमें उत्तम धनोंसे युक्त करें ॥६॥

दो मित्र राजा

इस सूक्तमें दो मित्र राजाओंका उल्लेख है। मित्र और वरुण ये दो राजा हैं, इनका वर्णन ऋ. १।२।७-९ में है। (देखो ' मधुच्छन्दा ऋषिका दर्शन पृ. ९-१० और ३८-३९) ये दोनों राजा ऐसे हैं कि जो परस्पर मित्रभावसे आचरण करते और कभी द्रोह नहीं करते। अब इनका वर्णन इस सूक्तमें देखिये--

१ जज्ञानौ— वे ज्ञानी हैं, विद्यावान् हैं, प्रबुद्ध हैं।

२ पूत-दक्षसौ— पवित्र कार्य करनेके लिये ही अपने बलका ये उपयोग करते है, कभी अपने बलका उपयोग दुष्ट कार्यमें नहीं करते।

३ ऋतेन ऋतावृधौ— सरल मार्गसे ही सत्य मार्गकी वृद्धि करते हैं, सन्मार्गसे अभिवृद्धि करनेके लिये भी तेढे मार्ग का अवलंब नहीं करते। जो उन्नतिका साधन करना हो वह सीधे मार्गसे ही करते हैं।

४ ऋतस्य ज्योतिषः पती- सत्यकी ज्योती पालन करते है सत्य एक प्रकारची ज्योती है उसका पालन ये अखण्ड करते रहते हैं।

५ विश्वाभिः ऊतिभिः प्राविता भुवत्— सब प्रकार की सुरक्षा करनेके साधनोंसे हमारी सुरक्षा ये करते हैं। इनमें से प्रत्येक देव यही करता है।

६ सुराधसः नः करतां— उत्तम सिद्धि हमें ये प्राप्त करा देवें। 'राधस्' का अर्थ सिद्धि है। 'सुराधस्' का अर्थ उत्तम सिद्धि है। जो कार्य करना है उसमें उत्तम सिद्धि करा देते हैं।

दो राजा लोग इस तरह अपने राज्यमें बर्ताव करें, परस्पर भी मित्र भावसे रहें और प्रजाकी उन्नतिका साधन करें।

(२३।७-९) मरुत्वान् इन्द्र

मरुत्वन्तं हवामह इन्द्रमा सोमपीतये	। सजूर्गणेन तृम्पतु	७
इन्द्रज्येष्ठा मरुद्गणा देवासः पूषरातयः	। विश्वे मम श्रुता हवम्	८
हत वृत्रं सुदानव इन्द्रेण सहसा युजा	। मा नो दुःशंस ईशत	९

अन्वयः- मरुत्वन्तं इन्द्रं सोमपीतये आ हवामहे। (सः) गणेन सजूः तृम्पतु ॥७॥ हे विश्वे देवासः! इन्द्रज्येष्ठाः पूषरातयः मरुद्गणाः! मम हवं श्रुतम् ॥८॥ हे सुदानवः! सहसा युजा इन्द्रेण वृत्रं हतम्। दुःशंसः नः मा ईशत ॥९॥

अर्थ— मरुतोंके साथ इन्द्रको हम सोमपानके लिये बुलाते हैं। (वह) मरुद्गणके साथ तृप्त हों ॥७॥ हे सब देवो (मरुद्गणो)! तुम्हारे अन्दर इन्द्र श्रेष्ठ है, पूषाके समान तुम्हारे दान हैं, ऐसे मरुतो! मेरी प्रार्थना सुनो ॥८॥ हे उत्तम दाता (मरुतो!) बलवान् और अपने साथी इन्द्रके साथ रहकर वृत्रका वध करो। कोई दुष्ट हमारा स्वामी न बन बैठे ॥९॥

दुष्टके आधीन न होना

(दुःशंसः नः मा ईशत) कोई दुष्ट शत्रु हमारा मालिक न बन बैठे। यह इस सूक्तमें मुख्य संदेश है। सब मिलकर शत्रुका नाश करें और शत्रुका ऐसा नाश हो जावे कि वह फिर न उठे और कदापि हमारे ऊपर स्वामित्व न करे। किसी दुष्टके स्वामित्वका स्वीकार किसीको भी करना नहीं चाहिये।

(२३।१०-१२) विश्वे देवाः मरुतः

विश्वान् देवान् हवामहे मरुतः सोमपीतये	। उग्रा हि पृश्निमातरः	१०
जयतामिव तन्यतुर्मरुतामेति धृष्णुया	। यच्छुभं याथना नरः	११
हस्कारात् विद्युतस्पर्यऽतो जाता अवन्तु नः	। मरुतो मृळयन्तु नः	१२

अन्वयः— मरुतः विश्वान् देवान् सोमपीतये हवामहे। हि उग्राः पृश्निमातरः ॥१०॥ जयतां इव, मरुतां तन्यतुः धृष्णुया एति, यत् शुभं याथन ॥११॥ हस्कारात् विद्युतः अतः परिजाताः मरुतः नः अवन्तु, मृळयन्तु ॥१२॥

अर्थ— सब मरुत् देवोंको सोमपानके लिये हम बुलाते हैं। वे बडे शूरवीर हैं और भूमिको माता मानते हैं॥१०॥ विजयी लोगोंकी तरह, मरुतोंका शब्द बडी वीरताके साथ होता रहता है, जब वे शुभ कार्यके लिये आगे बढते हैं॥११॥ प्रकाशित हुई विद्युत्, उत्पन्न हुए मरुद्वीर हमारी रक्षा करें और हमें सुख देवें ॥१२॥

मातृभूमिके वीर

यहांका 'विश्वे देव' पद 'मरुतों' के वर्णन करनेके लिये आया है। ये (पृश्नि-मातरः) भूमिको अपनी माता मानते हैं, उस मातृभूमिके लिये बलिदान होते है। (शुभं याथन) ये जब शुभ कार्य करनेके लिये जाते है, तब उनके संघर्षका बडा शब्द होता है। ये बिजलीसे उत्पन्न हुए वीरोंके समान तेजस्वी वीर हैं। वे सबकी रक्षा करके सबको सुखी करें।

(२३।१३-१५) पूषा

आ पूषञ्चित्रबर्हिषमाघृणे धरुणं दिवः । आजा नष्टं यथा पशुम् १३
पूषा राजानमाघृणिरपगूळ्हं गुहा हितम् । अविन्दच्चित्रबर्हिषम् १४
उतो स मह्यमिन्दुभिः षड् युक्ताँ अनुसेषिधत् । गोभिर्यवं न चर्कृषत् १५

अन्वयः- हे आघृणे अज पूषन् ! चित्रबर्हिषं धरुणं (सोमं) दिवः आ (हर)। यथा नष्टं पशुम् आ ॥१३॥ आघृणिः पूषा अपगूळ्हं, गुहा हितं, चित्रबर्हिषं राजानं अविन्दत् ॥१४॥ उतो स मह्यं इन्दुभिः युक्तान् षट् अनुसेषिधत्, गोभिः यवं न चर्कृषत् ॥१५॥

अर्थ— हे दीप्तिमन् शीघ्रगन्ता पूषा देव ! तुम विचित्र कलगीवाले धारक शक्ति (बढानेवाले सोम)को द्युलोकसे ले आओ। जिस तरह गुम हुए पशुको (ढूंढकर लाते हैं) ॥१३॥ तेजस्वी पूषाने छिपे हुए, गुहामें रहनेवाले, विचित्र तुर्रेवाले (सोम) राजाको प्राप्त किया ॥१४॥ और उसने मेरे लिये सोमोंसे युक्त छः (ऋतुओंको) बार बार लाया, जिस तरह (किसान) बैलोंसे बारबार खेत कसता है ॥१५॥

सोमको ढूंढना

इस मंत्रमें सोमका वर्णन देखने योग्य है—

१ चित्रबर्हिः- विचित्र तुर्रेवाला सोमका पौधा होता है। जिस तरह मोरके सिरपर तुर्रा या कलगी होती है, उस तरह सोम तुर्रेवाला पौधा है।

२ धरुणः- यह स्थिर रहनेवाला पौधा है। जलयुक्त परंतु जरा कठिन स्थानपर यह उगता है।

३ दिवः आ- द्युलोकसे, पर्वतकी चोटीसे, पर्वतके ऊंचेसे ऊंचे स्थानसे यह सोम लाया जाता है। आठ दस हजार हात ऊंचाई परका सोम उत्तम समझा जाता है। जहां हिमालयके बर्फानी शिखर होते हैं, वह स्थान उत्तम सोमका है। यही द्युलोक है।

४ यथा नष्टं पशुं (आहरति)- जैसे अरण्यमें गुम हुए पशुको ढूंढकर लाया जाता है, प्रयत्नसे प्राप्त किया जाता है, उस तरह इतनी ऊंचाईपर जाकर विशेष प्रयत्नसे ढूंढ ढूंढ कर सोमको प्राप्त किया जाता है। इससे पता लगता है कि यह सोमवल्लि सहजहीसे प्राप्त होनेवाली नहीं है और संभवतः इस समय वह मिलना कठिन हुई होगी।

५ अपगूळ्हः- सर्वतोपरि गुप्त हुआ सोम है। वह आसानीसे नहीं मिलता।

६ गुहा हितः- गुफामें रहता है, गुप्त जगह मिलता है, जहां जाना मुश्किल है, ऐसे स्थानपर रहता है।

७ राजा- (राज्-दीप्तौ) सोम दीप्तिमान् है, प्रकाशता है। रात्रिके समय प्रकाशता है, अथवा इसका रस चमकता है (यह बात अन्वेषणीय है)।

८ इन्दुः- (इन्द्-ऐश्वर्ये) - प्रकाशनेवाला है। रात्रिके समय चमकता है। सामर्थ्य देनेवाला सोम है। (ये अर्थ अन्वेषणीय हैं)।

९ इन्दुभिः षट्- सोमोंके साथ छः ऋतुः रहते है! छहों ऋतुओंमें सोम मिलता है।

इस सूक्तमें सोमवल्लिका इतना वर्णन है। इससे सोमके विषयमें पता लगाना संभव है। यह मिलना कठिन है, यह इससे मालूम होता है।

बैलोंसे खेत

(**गोभिः यवं न चर्कृषत्**) गौओंसे जौका खेत कसा जाता है। यहाँ 'गौओंसे' इस पदका अर्थ 'बैलोंसे' ऐसा है। 'गौ' ही का अर्थ गौ और बैल है। गौओंको हलको जोता नहीं जाता और गौका अर्थ बैल भी है।

(२३।१६-२४) आपः, २४ अग्निः

अम्बयो यन्त्यध्वभिर्जामयो अध्वरीयताम् । पृञ्चतीर्मधुना पयः १६
अमूर्या उप सूर्ये याभिर्वा सूर्यः सह । ता नो हिन्वन्त्वध्वरम् १७
अपो देवीरुप ह्वये यत्र गावः पिबन्ति नः । सिन्धुभ्यः कर्त्वं हविः १८
अप्स्व१न्तरमृतमप्सु भेषजमपामुत प्रशस्तये । देवा भवत वाजिनः १९
अप्सु मे सोमो अब्रवीदन्तर्विश्वानि भेषजा । अग्निं च विश्वशंभुवमापश्च विश्वभेषजीः २०
आपः पृणीत भेषजं वरूथं तन्वे३ मम । ज्योक् च सूर्यं दृशे २१
इदमापः प्र वहत यत् किं च दुरितं मयि । यद् वाहमभिदुद्रोह यद् वा शेप उतानृतम् २२
आपो अद्यान्वचारिषं रसेन समगस्महि । पयस्वानग्न आ गहि तं मा सं सृज वर्चसा २३
सं माग्ने वर्चसा सृज सं प्रजया समायुषा । विद्युर्मे अस्य देवा इन्द्रो विद्यात् सह ऋषिभिः २४

अन्वयः— अध्वरीयतां जामयः अम्बयः, मधुना पयः पृञ्चन्तीः, अध्वभिः यन्ति ॥१६॥ याः अमूः (आपः) सूर्ये उप, याभिः वा सह सूर्यः, ताः नः अध्वरं हिन्वन्ति ॥१७॥ नः गावः यत्र पिबन्ति (ताः) आपः देवीः उपह्वये। सिन्धुभ्यः हविः कर्त्वम् ॥१८॥ अप्सु अन्तः अमृतं, अप्सु भेषजं, उत अपां प्रशस्तये देवाः वाजिनः भवत ॥१९॥ सोमः मे अब्रवीत् 'अप्सु अन्तः विश्वानि भेषजा। विश्वशंभुवं अग्निं। विश्वभेषजीः आपः च' ॥२०॥ हे आपः! मम तन्वे वरूथं भेषजं पृणीत। ज्योक् च सूर्यं दृशे ॥२१॥ मयि यत् किं च दुरितं, यत् वा अहं अभिदुद्रोह, यत् वा शेपे, उत अनृतं, इदं (सर्वं) आपः प्र वहत ॥२२॥ अद्य आपः अनु अचारिषं, रसेन सं अगस्महि। हे अग्ने! पयस्वान् (त्वं) आ गहि। तं मा वर्चसा सं सृज ॥२३॥ हे अग्ने! मा वर्चसा सं सृज, प्रजया सं, आयुषा सं (सृज)। देवाः अस्य मे विद्युः। इन्द्रः ऋषिभिः सह विद्यात् ॥२४॥

अर्थ— यज्ञ करनेवालोंके सहायक, माताओं (के समान ये जलप्रवाह अपने) मधुर रसको दूधमें मिलाकर, अपने मार्गोंसे जा रहे हैं ॥१६॥ जो यह (जल) सूर्यके सम्मुख है, अथवा जिनके साथ सूर्य है, वे जलप्रवाह हमारे यज्ञको आनन्दसे प्राप्त हों ॥१७॥ हमारी गायें जिस जलका पान करती हैं, उसी जलकी हम प्रशंसा गाते हैं। नदियोंके लिये हम हवि अर्पण करते हैं ॥१८॥ जलके भीतर अमृत है, जलमें औषधि गुण हैं। ऐसे जलोंकी प्रशंसा करनेके लिये, हे देवो! तुम उत्साही बनो ॥१९॥ सोमने मुझे कहा कि- 'जलोंके अन्दर सब औषधियाँ हैं, सबको सुख देनेवाला अग्नि है और सब तरहकी दवाईयाँ जल देता है' ॥२०॥ हे जलो! मेरे शरीरके लिये संरक्षक औषधि देओ, जिससे (नीरोग होकर) मैं बहुत दिनतक (बहुत वर्षोंतक) सूर्यको देखता रहूं ॥२१॥ मुझमें जो दोष हो, जो मैंने द्रोह किया हो, जो मैंने शाप दिया हो, जो असत्य भाषण किया हो, यह सब (दोष) ये जल (मेरे शरीरसे बाहर) बहा कर ले जावें (और मैं शुद्ध बन जाऊं) ॥२२॥ आज जलमें मैं प्रविष्ट हुआ हूं। मैं इस जलके रसके साथ संमिलित हुआ हूं। हे अग्ने! तू जलमें स्थित है, मेरे पास आओ। मुझे तेजसे युक्त करो ॥२३॥ हे अग्ने! मुझे तेजसे युक्त करो, प्रजा और दीर्घ आयुसे युक्त करो। देव मेरे इस अनुष्ठानको जानें। इन्द्र ऋषियोंके साथ इसको जाने ॥२४॥

जलचिकित्सा

जल सब प्रकारसे मनुष्योंका हित करता है। जैसी माताएं और बहिनें हित करती हैं, वैसाही जल प्राणियोंका हित करता है। (१६)

जल सूर्यके सम्मुख रहे अर्थात् वह सूर्य-किरणोंके साथ संबंध रखे, सूर्य-किरण उसको लगते रहें। ऐसा जल हिंसा नहीं करता अर्थात् अनेक दोषोंको दूर करता है और प्राणीको सुरक्षित रखता है। (१७)

जिन नदियोंमें हमारी गौवें जलपान करती हैं, वे नदियाँ स्तुतिके योग्य हैं, उन नदियोंके लिये हमें हवि अर्पण करना योग्य है। (१८)

जलमें अमृत है अर्थात् अपमृत्यु दूर करनेका गुण है, जलमें औषधिके गुणधर्म हैं। इसलिये जल प्रशंसाके योग्य है। (१९)

औषधियोंका राजा सोम है, उसका कहना है कि 'जलमें सब औषधियाँ हैं, जलमें विश्वको सुख देनेवाला अग्नि है और सब दवाइयाँ जलमें हैं। (२०)

जल मेरे शरीरको औषधिगुण देवे और मुझे दीर्घायु बनावे। मैं दीर्घ आयुतक सूर्यको देखना चाहता हूं अर्थात् मेरी दृष्टि दीर्घ आयुतक उत्तम रहे। (२१)

मुझमें जो दोष है, द्रोह भाव हैं, शापनेका दुर्गुण है, असत्य है, वह सब दोष जल मेरे शरीरसे दूर बहा देवे। अर्थात् जल-चिकित्सासे रोग बीज दूर होते हैं, मनके दुष्टभाव दूर होते हैं, गालियाँ देने और असत्य बोलनेकी दुष्प्रवृत्ति दूर होती है। जलसे शरीर निर्दोष होकर मन और वाणीकी भी शुद्धता होती है (२२)

जलमें प्रवेश करके अथवा जलका मेरे शरीरमें प्रवेश कराकर जलके रसके साथ मेरे शरीरका संयोग हुआ है। जलके अन्तर्गत उष्णता भी मेरे शरीरकी उष्णतासे मिल चुकी है। इससे मेरा तेज बढेगा।(२३)

जलका अग्नि मुझे तेजस्विता, सुप्रजा और दीर्घ आयुष्य देवे। सब देव और इन्द्र तथा सब ऋषि इस कार्यके लिये मेरी सहायता करें। अर्थात् इन सबकी सहायताके साथ मैं तेजस्वी, वर्चस्वी, दीर्घायु और सुप्रजावान् बनूंगा। (२४)

इस तरह इस सूक्तका विचार पाठक करें। यह सूक्त जल-चिकित्साका मूल है।

अष्टम मण्डल।

(१३) आदर्श वीर

(ऋ. मं. ८।१) १-२ प्रगाथो घौरः काण्वः, ३-२९ मेधातिथि-मेध्यातिथी काण्वौ, ३०-३३ आसङ्गः प्लायोगिः, ३४ शश्वती आङ्गिरसी ऋषिका। इन्द्रः, ३०-३४ आसङ्गः। १-४ प्रगाथ = (विषमा बृहती, समा सतोबृहती), ५-३२ बृहती, ३३-३४ त्रिष्टुप्।

मा चिदन्यद्वि शंसत सखायो मा रिषण्यत। इन्द्रमित्स्तोता वृषणं सचा सुते मुहुरुक्था च शंसत १
अवक्रक्षिणं वृषभं यथाजुरं गां न चर्षणीसहम्। विद्वेषणं संवननोभयंकरं मंहिष्ठमुभयाविनम् २
यच्चिद्धि त्वा जना इमे नाना हवन्त ऊतये। अस्माकं ब्रह्मेदमिन्द्र भूतु तेऽहा विश्वा च वर्धनम् ३
वि तर्तूर्यन्ते मघवन्विपश्चितोऽर्यो विपो जनानाम्। उप क्रमस्व पुरुरूपमा भर वाजं नेदिष्ठमूतये ४
महे चन त्वामद्रिवः परा शुल्काय देयाम्। न सहस्राय नायुताय वज्रिवो न शताय शतामघ ५
वस्याँ इन्द्रासि मे पितुरुत भ्रातुरभुञ्जतः। माता च मे छदयथः समा वसो वसुत्वनाय राधसे ६
क्वेयथ क्वेदसि पुरुत्रा चिद्धि ते मनः। अलर्षि युध्म खजकृत्पुरंदर प्र गायत्रा अगासिषुः ७
प्रास्मै गायत्रमर्चत वावातुर्यः पुरंदरः। याभिः काण्वस्योप बर्हिरासदं यासद्वज्री भिनत्पुरः ८
ये ते सन्ति दशग्विनः शतिनो ये सहस्रिणः। अश्वासो ये ते वृषणो रघुद्रुवस्तेभिर्नस्तूयमा गहि ९
आ त्व१द्य सबर्दुघां हुवे गायत्रवेपसम्। इन्द्रं धेनुं सुदुघामन्यामिषमुरुधारामरंकृतम् १०
यत्तुदत्सूर एतशं वङ्कू वातस्य पर्णिना। वहत्कुत्समार्जुनेयं शतक्रतुस्त्सरद्गन्धर्वमस्तृतम् ११

य ऋते चिदभिश्रिषः पुरा जत्रुभ्य आतृदः । संधाता संधिं मघवा पुरूवसुरिष्कर्ता विह्रुतं पुनः १२
मा भूम निष्ट्याइवेन्द्र त्वदरणाइव । वनानि न प्रजहितान्यद्रिवो दुरोषासो अमन्महि १३
अमन्महीदनाशवोऽनुग्रासश्च वृत्रहन् । सकृत्सु ते महता शूर राधसानु स्तोमं मुदीमहि १४
यदि स्तोमं मम श्रवदस्माकमिन्द्रमिन्दवः । तिरः पवित्रं ससृवांस आशवो मन्दन्तु तुग्र्यावृधः १५
आ त्व१द्य सधस्तुतिं वावातुः सख्युरा गहि । उपस्तुतिर्मघोनां प्र त्वावत्वधा ते वश्मि सुष्टुतिम् १६
सोता हि सोममद्रिभिरेमेनमप्सु धावत । गव्या वस्त्रेव वासयन्त इन्नरो निर्धुक्षन्वक्षणाभ्यः १७
अध ज्मो अध वा दिवो बृहतो रोचनादधि । अया वर्धस्व तन्वा गिरा ममा जाता सुक्रतो पृण १८
इन्द्राय सु मदिन्तमं सोमं सोता वरेण्यम् । शक्र एणं पीपयद्विश्वया धिया हिन्वानं न वाजयुम् १९
मा त्वा सोमस्य गल्दया सदा याचन्नहं गिरा । भूर्णिं मृगं न सवनेषु चुक्रुधं क ईशानं न याचिषत् २०
मदेनेषितं मदमुग्रमुग्रेण शवसा । विश्वेषां तरुतारं मदच्युतं मदे हि ष्मा ददाति नः २१
शेवारे वार्या पुरु देवो मर्ताय दाशुषे । स सुन्वते च स्तुवते च रासते विश्वगूर्तो अरिष्टुतः २२
एन्द्र याहि मत्स्व चित्रेण देव राधसा । सरो न प्रास्युदरं सपीतिभिरा सोमेभिरुरु स्फिरम् २३
आ त्वा सहस्रमा शतं युक्ता रथे हिरण्यये । ब्रह्मयुजो हरय इन्द्र केशिनो वहन्तु सोमपीतये २४
आ त्वा रथे हिरण्यये हरी मयूरशेप्या । शितिपृष्ठा वहतां मध्वो अन्धसो विवक्षणस्य पीतये २५
पिबा त्व१स्य गिर्वणः सुतस्य पूर्वपाइव । परिष्कृतस्य रसिन इयमासुतिश्चारुर्मदाय पत्यते २६
य एको अस्ति दंसना महाँ उग्रो अभि व्रतैः । गमत्स शिप्री न स योषदा गमद्धवं न परि वर्जति २७
त्वं पुरं चरिष्णवं वधैः शुष्णस्य सं पिणक् । त्वं भा अनु चरो अध द्विता यदिन्द्र हव्यो भुवः २८
मम त्वा सूर उदिते मम मध्यंदिने दिवः । मम प्रपित्वे अपिशर्वरे वसवा स्तोमासो अवृत्सत २९
स्तुहि स्तुहीदेते घा ते मंहिष्ठासो मघोनाम् । निन्दिताश्वः प्रपथी परमज्या मघस्य मेध्यातिथे ३०
आ यदश्वान्वनन्वतः श्रद्धयाहं रथे रुहम् । उत वामस्य वसुनश्चिकेतति यो अस्ति याद्वः पशुः ३१
य ऋज्रा मह्यं मामहे सह त्वचा हिरण्यया । एष विश्वान्यभ्यस्तु सौभगासंगस्य स्वनद्रथः ३२
अध प्लायोगिरति दासदन्यानासंगो अग्ने दशभिः सहस्रैः ।
अधोक्षणो दश मह्यं रुशन्तो नळाइव सरसो निरतिष्ठन् ३३
अन्वस्य स्थूरं ददृशे पुरस्तादनस्थ ऊरुरवरम्बमाणः । शश्वती नार्यभिचक्ष्याह सुभद्रमर्य भोजनं बिभर्षि ३४

अन्वयः— [प्रगाथो घौरः काण्वः]– हे सखायः ! अन्यत् चित् मा विशंसत । मा रिषण्यत । वृषणं इन्द्रं इत् स्तोत । सुते मुहुः उक्था शंसत च ॥१॥ अवक्रक्षिणं वृषभं, यथा अजुरं गां वृषभं न, चर्षणी-सहं, विद्वेषिणं, संवननां, उभयंकरं, मंहिष्ठं, उभयाविनं (स्तोत) ॥२॥

[मेधातिथि–मेध्यातिथी काण्वौ]– इमे जनाः यत् चित् हि ऊतये त्वा नाना हवन्ते । हे इन्द्र ! अस्माकं इदं ब्रह्म ते विश्वा अहा च वर्धनं भूतु ॥३॥ हे मघवन् ! विपश्चितः अर्यः जनानां विपः वितूर्यन्ते । (अस्मान्) उपक्रमस्व । पुनरूपं नेदिष्ठं वाजं ऊतये (अस्मभ्यं) आ भर ॥४॥ हे अद्रिवः ! त्वां महे च शुल्काय न परा देयाम् । हे वज्रिवः ! शताय सहस्राय, अयुताय च न (देयां), हे शतामघ ! न (देयां) ॥५॥ हे इन्द्र ! मे पितुः (त्वं) वस्यान् असि । उत अभुञ्जतः भ्रातुः (त्वं वस्यान् असि) । हे वसो ! मे माता (त्वं) च समा वसुत्वनाय राधसे छदयतः ॥६॥ क इयथ ? क इत् असि ? पुरुत्रा चित् हि ते मनः । हे युध्म ! खजकृत् (असि) । हे पुरंदर ! अलर्षि । गायत्राः प्र अगासिषुः ॥७॥ अस्मै (इन्द्राय) गायत्रं प्र अर्चत । यः पुरंदरः (सः) वावातुः । याभिः काण्वस्य बर्हिः आसदं उपयासत्, (ताभिः) वज्री पुरः भिनत् ॥८॥ ये ते दशग्विनः, ये शतिनः, (ये) सहस्रिणः सन्ति, ये ते वृषणः अश्वासः रघुद्रुवः (सन्ति), तेभिः नः तूयं आ गहि ॥९॥ अद्य सबर्दुघां सुदुघां उरुधारां धेनुं अलंकृतं गायत्रवेपसं इन्द्रं अन्यां हुवं तु आ हुवे ॥१०॥ सूरः

एतशं यत् तुदत्, (तत्) वंकू वातस्य पर्णिना शतक्रतुः आर्जुनेयं कुत्सं वहत् । अस्तृतं गंधर्वं त्सरत् ॥११॥ यः आभिश्लिषः ऋते चित् जन्तुभ्यो आतृदः संधिं संधाता मघवा पुरुवसुः विहुतं पुनः इष्कर्ता (भवति) ॥१२॥ हे इन्द्र ! त्वत् निष्ट्याः इव मा भूम । अरणाः इव (मा भूम)। प्र-जहितानि वनानि न (मा भूम)। हे अद्रिवः ! दुरोषसः अमन्महि ॥१३॥ हे वृत्रहन् ! अनाशयः अनुग्रास च इत् अमन्महि इत् । हे शूर ! सकृत् महता राधसा ते सु स्तोमं अनुमुदीमहि ॥१४॥ (अयं इन्द्रः) मम स्तोमं यदि श्रवत्, (तं) इन्द्रं अस्माकं पवित्रं तिरः ससृवांसः आशवः तुग्र्यावृधः इन्दवः मदन्तु । ॥१५॥ वावातुः सख्युः सधस्तुतिं अद्य तु आ आ गहि । मघोनां उपस्तुतिः त्वा प्र अवतु । अध ते सुष्टुतिं वश्मि ॥१६॥ अद्रिभि. सोमं सोत । हि एनं ईं अप्सु आ धावत । गव्या वस्त्रा इव वासयन्त इत् नरः वक्षणाभ्यः निः धुक्षन् ॥१७॥ अध ज्मः, अध वा दिवः, बृहतः रोचनात् अधि, अया तन्वा मम गिरा वर्धस्व । हे सुक्रतो ! जाता आ पृण ॥१८॥ इन्द्राय मदिन्तमं वरेण्यं सोमं सु सोत । शक्र. विश्वया धिया हिन्वानं वाजयुं एनं न पीपयत् ॥१९॥ त्वा सवनेषु सोमस्य गल्दया गिरा अहं सदा याचन्, मा चुक्रुधम् । भूर्णिं मृगं न, क ईशानं न याचिषत् ॥२०॥ मदेन इषितं, मदं उग्रं, उग्रेण शवसा, विश्वेषां तरुतारं मदच्युतं (पुत्रं) नः मदे ददाति स्म हि॥२१॥ शेवारे पुरु वार्या देवः मर्ताय दाशुषे रासते। स. विश्वगूर्तः अरिस्तुतः सुन्वते च स्तुवते च (रासते) ॥२२॥ हे इन्द्र ! आ याहि । हे देव ! चित्रेण राधसा मत्स्व । सपीतिभिः सोमेभिः उरु स्फिरं उदरं सर न आ प्रासि ॥२३॥ हे इन्द्र ! त्वा शतं सहस्रं हिरण्यये रथे युक्ताः, ब्रह्मयुजः, केशिनः हरयः सोमपीतये आ आ वहन्तु ॥२४॥ हिरण्यये रथे मयूरशेप्या शितिपृष्ठा हरी मध्व अन्धसः विवक्षणस्य पीतये त्वा आ वहताम् ॥२५॥ हे गिर्वणः ! पूर्वपा इव, अस्य सुतस्य पिब तु । परिष्कृतस्य रसिनः इयं आसुति. चारु. मदाय पत्यते ॥२६॥ यः एकः दंसना महान् उग्रः व्रतैः अभि अस्ति । स शिप्री आ गमत् । स न योषत् । हवं आ गमत्, न परि वर्जति ॥२७॥ हे इन्द्र ! त्वं शुष्णस्य चरिष्णवं पुरं वधैः सं पिणक् । अध त्वं भाः अनु चर. । यत् द्विता हव्य. भुव ॥२८॥ सूरे उदिते मम स्तोमासः त्वा आ अवृत्सत। दिवः मध्यं दिने मम, हे वसो ! प्रपित्वे अपिशर्वरे मम (स्तोमासः आ अवृत्सत)॥२९॥

[आसङ्गः प्लायोगिः]- हे मेध्यातिथे ! स्तुहि स्तुहि इत् । एते घ मघोनां ते मघस्य मंहिष्ठास. । निदिताश्वः प्रपथी परमज्याः ॥३०॥ वन्‍वतः अश्वान् अहं यत् श्रद्धया रथे आरुहम् । उत वामस्य वसुन. चिकेतति । य. याद्वः पशु अस्ति ॥३१॥ य ऋज्रा हिरण्यया त्वचा सह मह्यं ममहे । एष आसगस्य स्वनद्रथः विश्वानि सौभगा अभि अस्तु ॥३२॥ हे अग्ने ! अध प्लायोगिः आसंगः दशभि. सहस्रैः अन्यान् अति दासत् । अध उक्षणः रुशंत दश, नळा. इव सरस , मह्यं निः अतिष्ठन् ॥३३॥

[शश्वती आङ्गिरसी ऋषिका]- अस्य पुरस्तात् अनस्थ. स्थूर ऊरुः अव रंबमाणः । अभिचक्ष्य शश्वती नारी आह, अर्य ! सुभद्रं भोजनं बिभर्षि ॥३४॥

अर्थ— [घोर ऋषिका पुत्र, जो कण्वका दत्तक पुत्र हुआ था, वह प्रगाथ ऋषि कहता है]- हे मित्रो ! दूसरे किसी (देवताकी) प्रशंसा न करो । और व्यर्थ दुखी मत् होओ । बलवान् इन्द्रकी ही स्तुति करो । सोमयागमें वारंवार (इन्द्रके) काव्य ही गाओ ॥१॥ नीचे उतरकर लडनेवाला, महाबली, जैसी तरुण गाय (उपकार करनेवाली) या तरुण बैल बलिष्ठ होते हैं वैसे (उपकार कर्ता और) बलिष्ठ शत्रु-सैनिकोंको जीतनेवाला, शत्रुका द्वेष करनेवाला, प्रेमसे सेवा करने योग्य, (शत्रुओंका निग्रह और मित्रोंपर अनुग्रह इन) दोनोंको (यथायोग्य रीतिसे) करनेवाला, बडा उदार, दोनों प्रकारके लोगोंसे (यथायोग्य) आचरण करनेवाला (जो इन्द्र है, उसीका काव्य गायन करो) ॥२॥

[मेधातिथि और मेध्यातिथि ये कण्व गोत्रमें उत्पन्न हुए ऋषि काव्य गाते हैं]- ये सब लोग अपनी सुरक्षाके लिये तुम्हारी नाना प्रकारसे स्तुति करते हैं । हे इन्द्र ! हमारा यह स्तोत्र ही तुम्हारा सदा सब दिनोंमें (यशका) वर्धन करनेवाला हो ॥३॥ हे धनवान् ! (तुम्हारे उपासक) ज्ञानी लोग जनोंकी विपत्तियाँ दूर करते हैं । (अतः हमारे पास तुम) आओ । और बहुत प्रकारका समीपस्थ अन्न हमारी सुरक्षाके लिये (हमारे पास) भर दो ॥४॥ हे पर्वतपर रहने-वाले वीर ! तुम्हें बडे भारी मूल्यमें भी मैं नहीं देऊंगा। हे वज्रधारी वीर! सौ सहस्र और अयुत धनसे भी (मैं तुम्हें

नहीं दूंगा।) हे सैंकडों धनोंसे युक्त वीर ! (तुम्हें मैं) नहीं (दूंगा) ॥५॥ हे इन्द्र ! मेरे पितासे भी (तुम मेरे लिये) अधिक हो। और स्वयं भोग न भोगनेवाले भाईसे (भी तू बडा है)। हे सबको बसानेवाले वीर ! मेरी माता और (तुम) समान हो, अतः मुझे (सुखका) निवास करनेके लिये और (जीवनकी) सिद्धिके लिये आश्रय दो ॥६॥ (तुम) कहां गये थे ? और (तुम) कहां थे ? बहुत स्थानोंमें तुम्हारा मन जाता होगा। हे युद्धमें कुशल वीर ! (तुम) युद्ध करनेमें (प्रवीण) हो। हे शत्रुके कीले तोडनेवाले वीर ! आओ। यहां गायत्र (छन्दमें गान करनेवाले गायक) काव्य गान कर रहे हैं ॥७॥ इस (इन्द्रके लिये) गायत्र (छन्दमें काव्यगान) गाओ। यह शत्रुकी नगरियोंका भञ्जक वीर (काव्य) गायकोंका ही (रक्षक है)। जिन (गानोंके साथ यह इन्द्र) कण्व-पुत्रोंके यज्ञके प्रति गये थे, (और जिन गानोंके साथ) वज्रधारी इन्द्रने (शत्रुकी) नगरियोंका नाश किया था (उनका ही गान करो) ॥८॥ जो तेरे दस, सौ और सहस्रों (घोडे) हैं, जो बलवान् घोडे शीघ्र गतिवाले हैं, उनके साथ (तुम) शीघ्रही हमारे पास आओ ॥९॥ आज उत्तम दूध देनेवाली, सहज दुही जानेवाली, बहुत धारासे दूध देनेवाली गायके समान अलंकृत और गायत्रगानके प्रेमी और अन्य अन्न (देनेवाले) इन्द्रकी मैं स्तुति करता हूं ॥१०॥ सूर (नामक गन्धर्व)ने एतश (नामक राजा) को जब कष्ट दिया था, तब वक्रगतिसे चलनेवाले अति शीघ्रगामी (इन्द्रके) दोनों अश्वोंने अर्जुनीके पुत्र कुत्सको ढोया; तब अपराजित गन्धर्वको भी (उसने) परास्त किया ॥११॥ जो (इन्द्र) संधान द्रव्यके विना ही जोडोंको जोड देता है संधिको मिलाता है, वही धनवान् विविध ऐश्वर्यवाला (इन्द्र) विच्छिन्न अवयवको पुनः जोड देता है ॥१२॥ हे इन्द्र !, तुम्हारी (सहायतासे) हम नीच न बनें। तथा अधोगतिको प्राप्त न हों। वृक्षहीन वनोंकी तरह (हम संतानहीन) न हों। हे पर्वत दुर्गपर रहनेवाले वीर ! न जलनेवाले घरोंमें रहते हुए हम (तुम्हारे यशका) मनन करते रहेंगे ॥१३॥ हे वृत्रनाशक वीर ! हम शीघ्र कार्य न करनेवाले और उग्र वीर न होते हुए भी तुम्हारा ही यश गायेंगे। हे शूरवीर ! एक बार बडा धन प्राप्त होनेपर भी तुम्हारा ही सुन्दर स्तोत्र गायेंगे ॥१४॥ (यह) यदि मेरा स्तोत्र सुने (तो उस) इन्द्रको हमारे पवित्र छाननीसे छाने, शीघ्रगामी और जलोंसे बढाये सोमरस आनन्दित करेंगे ॥१५॥ उपासक मित्रोंके साथ (बैठकर) की हुई स्तुतिको (सुननेके लिये) आज यहां आओ। धनवानोंकी की हुई स्तुति भी तेरे पास ही पहुंचती है। और मैं भी तेरी अधिक स्तुति करना चाहता हूँ ॥१६॥ पत्थरोंसे सोमको (कूटकर) रस निकालो और इसे (अनेक) जलोंमें धोओ। गौओंके वस्त्रों (गौओंके दूध) से उसे आच्छादित करो (उसमें दूध मिला दो।) पश्चात् नदियोंसे दुहे जल (उसमें मिलाओ) ॥१७॥ अब (इन्द्र) पृथ्वीपरसे, द्युलोकसे अथवा बडे प्रकाशित अन्तरिक्षसे यहाँ आकर इसी विस्तारित हुए मेरे स्तोत्रसे (अपने यशकी) वृद्धि (को सुने)। हे उत्तम कर्म करनेवाले! उत्पन्न हुए मानवों को पूर्णतया तृप्त करो ॥१८॥ इन्द्रके लिये अत्यंत आनन्द बढानेवाले सोमका रस निकालो। वह सामर्थ्यवाला इन्द्र सब बुद्धिपूर्वक आरंभ किये कर्मोंके कारण आनन्दित होनेवाले युद्धेच्छुक इस (वीर) को सामर्थ्यसे युक्त करे ॥१९॥ सोमके रस छाननेके समय छाननीके शब्दोंके साथ मैं जब तुम्हारी याचना करूंगा, तब तुम्हें मैं क्रोधित न करूंगा। तुम (जैसा) भरणपोषण करता है (वैसाही) सिंह जैसा (भयंकर भी हैं)। तथापि कौन ऐसा है कि जो प्रभुसे भी याचना न करे ? ॥२०॥ आनन्दित हुए (भक्तसे) इच्छा किये हुए, आनन्दयुक्त उग्रवीर, वीरताके बलसे युक्त, सब शत्रुओंका नाश करनेवाले (शत्रुके) गर्वको दूर करनेवाले और हमारे आनन्दका वर्धन करनेवाले (पुत्रको) निःसन्देह (इन्द्रही) देता है ॥२१॥ यज्ञमें अनेक स्वीकार करने योग्य धनोंको (इन्द्र) उदार दाताके लिये देता है। वही सब कार्योंको उत्साहसे करनेवाले वीरोंसे प्रशंसित (इन्द्र) सोम रस निकालने और स्तुति करनेवालेके लिये धन देता है ॥२२॥ हे इन्द्र ! इधर आओ। हे देव ! तुम विलक्षण (सामर्थ्ययुक्त इस सोमरसरूप) धनसे आनन्दित होओ। साथ बैठकर किये इस सोमपानसे (तुम अपना) बडा विस्तीर्ण पेट, तालावके समान, भर दो ॥२३॥ हे इन्द्र ! सैंकडों और सहस्रों, सुवर्ण रथमें जोते, मंत्रोंके साथ चलाये जानेवाले, केशवाले हरिद्वर्ण घोडे, तुम्हें सोमपानके लिये ले आवें ॥२४॥ सुवर्ण रथमें मयूरके पंखोंके तूरे लगाये श्वेत पीठवाले दो घोडे प्रशंसनीय मधुर अन्न (सोमरस) के पानके लिये तुम्हें ले आवें ॥२५॥ हे प्रशंसनीय इन्द्र ! प्रथम (पीनेवाले) के समान, इस सोमरसका पान करो। यह सुसंस्कारसंपन्न रसीले सोमका पान

सुंदर है और यह आनन्द बढानेके लिये है ॥२६॥ जो एक अकेला ही अपने पराक्रमसे बडा वीर है, (वह इन्द्र) अपने वीर्योंसे (शत्रुको) परास्त करता है। वह शिरस्त्राण धारण करनेवाला (यहां) आवे। वह हमसे पृथक् न हो। वह हमारे बुलानेपर आ जावे, हमें कभी न छोड देवे ॥२७॥ हे इन्द्र ! तुमने शुष्ण (असुरके इच्छाके अनुसार संचलन करने वाले) नगर (के कीले) का अनेक आयुधों द्वारा चूर्ण कर डाला और प्रकाशके मार्गका अनुसरण किया। जिससे तुम दोनोंको वन्दनीय हुए हो ॥२८॥ सूर्यके उदय होनेके समयमें मेरे स्तोत्र तेरा यश गाते हैं, दिनके मध्यमें (मेरे स्तोत्र तेरी महिमा गाते हैं), हे सबके बसानेहारे वीर ! सायंकालके समय, तथा रात्रिके समय मेरे (स्तोत्र तेरा ही वर्णन करते हैं) ॥२९॥

[आसङ्ग प्लायोगी राजा कहता है]- हे ऋषे मेध्यातिथे ! इसी तरह (इन्द्रकी) स्तुति करो, स्तुति करो। ये (हम लोग) निःसन्देह धनवानोंमें तुम्हें सबसे अधिक धन देनेवाले हैं। (जिसके उत्तमसे उत्तम घोडे होनेके कारण दूसरोंके) घोडे निंदनीय हो गये हैं, उत्तम मार्गसे जो जाता है और जिसकी धनुष्यकी डोरी उत्तम है (ये वीर प्रशंसनीय हैं) ॥३०॥ धनसे लदे घोडोंको मैंने जब (रथमें जोतकर) उसपर मैं श्रद्धासे चढ चुका, तब उस सुन्दर धनको (मूल्यको) वही जानता है, कि जो मानवोंमें श्रेष्ठ पशुवाला है (अर्थात् वह बहुमूल्य दान है) ॥३१॥ जो शीघ्रगामी सुवर्णके आच्छादनसे युक्त रथ मुझे (मेध्यातिथिको) दिया, यह आसङ्ग (राजा) का शब्द करनेवाला रथ सब सौभाग्यों को जीतनेवाला होवे ॥३२॥ हे अग्ने ! प्लायोगीके पुत्र आसङ्ग दश सहस्रकी संख्यामें दूसरोंसे अधिक दान कर चुके हैं। अब तेजस्वी दस बैल, तालाबसे कमल-दण्डोंके ऊपर आनेके समान, मेरे साथ आकर चलने लगे ॥३३॥

[अङ्गिरसकी पुत्री शश्वती कहती है]- इस (आसग) के आगे अस्थिरहित स्थूल बडा अवयव लंबायमान दीखता है। यह देखकर उसकी नारी शश्वतीने कहा कि, हे स्वामिन् ! बहुत अच्छा भोगसाधन अब तुम धारण करते हो ॥३४॥

इन्द्रके गुणोंका वर्णन
' आदर्श वीर '

इस सूक्तमें इन्द्रका वर्णन किया गया है। इस वर्णनमें इन्द्रके ये गुण प्रकट हो रहे हैं—

१ वृषा- बलवान्, वीर्यवान्।

२ इन्द्रः- (इन्+द्रः)- शत्रुका नाश करनेवाला, (मं १)

३ अव-क्रक्षी- ऊपरसे नीचे उतर कर शत्रुपर वेगसे हमला करनेवाला, पहाडके कीलेमें रहता हुआ एकदम नीचे उतरता है और शत्रुपर आक्रमण करता है।

४ वृषभः- बैलके समान हृष्टपुष्ट,

५अ-जुरः- क्षीण न होनेवाला,

६ चर्षणी-सहः- शत्रुके सैनिकोंको जीतनेवाला, शत्रुकी सेनाको परास्त करनेवाला,

७ विद्वेषी- शत्रुका द्वेष तथा तिरस्कार करनेवाला,

८ संवननः- प्रेमसे वश करनेवाला, शक्तिसे सबको वश करनेवाला, विशेष रीतिसे सेवा करने योग्य, सन्मानके योग्य,

९ उभयंकरः- शत्रुका निग्रह और स्वजनोंकी सुरक्षा इन दोनोंको यथायोग्य रीतिसे करनेवाला,

१० मंहिष्ठः- बडा उदार, विशाल-हृदय, प्रशंसायोग्य,

११ उभयावी- दोनों प्रकारके लोगोंका सहायक, बलवान् और निर्बल आदि दोनों प्रकारके लोगोंका हित करनेवाला, (मं. २)

१२ मघवा (मघ- वान्)- धनवान्,

१३ विपश्चितः अर्यः जनानां विपः तूर्यन्ते- ज्ञानी लोग जनोंकी विपत्तियाँ दूर करते हैं। इन्द्र भी यही करता है। अतः लोगोंकी आपत्तियोंको दूर करना वीरका कर्तव्य है।

१४ पुरुरूपं नेदिष्ठं वाजं ऊतये आभर- अनेक प्रकारका समीपके स्थानसे मिलनेवाला अन्न (जनोंकी) सुरक्षा के लिये भरपूर ले आ। अन्न अनेक प्रकारका प्राप्त करना चाहिये, तथा जो पासके प्रदेशसे मिल सकता है, वही लाना चाहिये, क्योंकि वह सस्ता मिल सकता है। राजाका यह कर्तव्य है कि वह प्रजाको भरपूर अन्न प्राप्त करा देवे। इन्द्र ऐसाही करता है। (मं. ४)

१५ अद्रिवः (अद्रि+वः)- ' अद्रि ' पद पर्वतका तथा पर्वतपरके कीलेका वाचक है। इन्द्र पर्वतपरके कीलेमें निवास करता है और वहासे शत्रुके साथ लडता है। इसीलिये उसको

' अव क्रक्षी ' ऊपरसे नीचे उतर कर लडनेवाला, पर्वतसे नीचे उतर कर लडनेवाला (मं २ में) कहा है।

१६ वज्रिवः- वज्रधारी,

१७ शतामघ- सैकडों प्रकारके धन पास रखनेवाला, (मं. ५)

१८ वसुत्वनाय राधसे छदयन्- लोगोंका निवास उत्तम सुखसे युक्त करनेके लिये आवश्य सिद्धिया देनेवाला, लोगोंको सुखसे बसानेवाला, (मं ६)

१९ युध्मः- युद्ध करनेमें अत्यंत कुशल,

२० खजकृत् - हलचल, क्रान्ति, युद्ध करनेवाला,

२१ पुरंदरः- (पुरं+दरः)- शत्रुके नगरोंका, शत्रुके कीलोंका विनाश करनेवाला। यहां भूमिदुर्गका भाव ' पुर ' से लेना चाहिये। क्योंकि पुरीके चारों ओर दुर्ग होता था, इतनाही नहीं परंतु पुरीके चारों ओर दुर्गकी सात दीवारें होती थीं। दुर्गकी सात दिवारोंका भेदन करनेपर शत्रु अन्दर आ सकता था। ऐसी शत्रुकी पुरियोंका विनाश करनेवाला इन्द्र था। इससे इन्द्रके शत्रु कोई अनाडी नहीं थे ऐसा साफ प्रतीत होता है। जो वृत्र आदि असुर ऐसी नगरियोंमें बसते थे कि जिन नगरियोंकी जनसंख्या कीलोंमें सुरक्षित रहती थी और इन्द्रको ऐसे कीलोंको तोडना आवश्यक था। शत्रुको परास्त करनेकी ऐसी बडी तैयारी करनी चाहिये, यही बोध इससे मिलता है। (मं.७)

२२ वज्री पुरः भिनत्- शस्त्रधारी वीर शत्रुके अनेक पुरोंको, भूमिदुर्गमें रहे नगरोंको छिन्नभिन्न करता है। सब सुखसाधनोंसे जो नगरिया परिपूर्ण होती हैं (पूर्यते इति पुरः) उनको ' पुरि ' कहते है। ऐसे शत्रुके नगरोंको और उनके बाह्यवर्ती संरक्षक दुर्गोंको तोडना चाहिये। (मं ८)

२३ ते वृषणः रघुद्रुवः अश्वासः- इन्द्रके घोडे अत्यंत वेगवान् और बलवान् थे और ये दसों, सैंकडों और सहस्रों थे। (**दशग्विनः, शतिनः, सहस्रिणः सन्तिः**)। (मं. ९)

२४ धेनुः (इन्द्र.)- जैसी गौ दूधरूपी अन्न देती है वैसाही इन्द्र अनेक प्रकारके (इषं) अन्न प्रजाको देकर पोषण करता है। (मं. १०)

२५ शतक्रतुः- सैंकडों कर्म कुशलताके साथ करनेवाला,

२६ वंकू वातस्य पर्णिना अस्तृतं त्सरत्- तेढी गतिसे आगे बढकर वायुवेगसे अपराजित वा अजेय शत्रुको भी उखाड देता है। (मं. ११)

२७ संधिं संधाता- जोडोंको जोड देता है। मल्लयुद्धमें पांवों और हाथोंके संधि उखड जाते हैं, उनको ठीक यथायोग्य रीतिसे यथास्थान जोडनेकी विद्या जानता है। टूटी हड्डीको जोडनेकी विद्याको जाननेवाला। वीरोंको इसका ज्ञान अवश्य चाहिये।

२८ विहुतं पुनः इष्कर्ता- टूटे अवयवको, टूटी हड्डीको फिर से यथायोग्य जोडनेवाला,

२९ अभिश्लिषः ऋते - जोडनेके साधन न होते हुए भी पूर्वोक्त दोनों कार्य करनेवाला। (मं. १२)

३० पुरुवसुः-बहुत धन पास रखनेवाला। धनसेही राज्य चलाया जाता है, इसलिये इन्द्र अपने पास बहुतही धन रखता है। (मं. १२)

३१ वृत्र-हा- शत्रुका नाश करनेवाला,

३२ सुक्रतुः- उत्तम कर्म करनेवाला, कुशलतासे कर्म करनेवाला। (मं. १८)

३३ शक्रः- समर्थ, सामर्थ्ययुक्त, शक्तिमान् (मं. १९)

३४ भूर्णिः- भरण पोषण करनेवाला।

३५ ईशानः- प्रभु, स्वामी, अधिपति। (मं. २०)

३६ शेवारे दाशुषे पुरु वार्या रासते-स्पर्धामें दाताके लिये पर्याप्त धन देता है, उदार पुरुषोंकी सहायता करता है। (मं. २२)

३७ हिरण्यये रथे युक्ताः केशिनः वहन्ति- सुवर्णके रथमें संयुक्त हुए घोडे (इन्द्रको जहां जाना हो वहां) ले जाते हैं। (मं. २४)

३८ मयूरशेप्या शितिपृष्ठा हरी हिरण्यये रथे वहतां- मयूरके पंखोंके तुर्रे लगाये श्वेत पीठवाले दो घोडे सुवर्ण रथमें (बैठेमवाले इन्द्रको) ढोते हैं। (मं. २५)

३९ गिर्वण- प्रशंसनीय,

४० दंसना महान् उग्रः- बडे कर्म करनेवाला, बडा शूर,

४१ व्रतैः अभि अस्ति-अपने नियमोंके अनुसार शत्रुपर हमला करके उसको परास्त करता है।

४२ शिप्री- शिरपर शिरस्त्राण-लोहेका कवच-धारण करता है। (मं .२७)

४३ शुष्णस्य चरिष्णुं पुरं वधैः सं पिणक्- शोषक शत्रुके घूमनेवाले कीलेका मारक-शस्त्रोंसे चूर्ण करता है। यहां

(चरिष्णु पूः) हिलनेवाली नगरीका उल्लेख है। हिलनेवाला कीला, चलायमान दुर्ग। शत्रुके इस कीलोंका इन्द्र नाश करता है। अन्यत्र (आयसीः पूः) लोहेके कीलोंका वर्णन है। लोहेके बनाये, हिलने और एक स्थानसे दूसरे स्थानपर जानेवाले ये शत्रुके कीले हैं। ये आजकलके टैंक (Tanks) जैसे प्रतीत होते हैं। इनका नाश अपने शस्त्रोंसे इन्द्र करता है।

४४ हिता- दोनों प्रकारके लोगोंका हितकर्ता। धनी, निर्धन आदि दो प्रकारके लोग जनतामें होते हैं, उनका हित यह करता है। (मंत्र २ में **उभयंकर** और **उभयावी** ये पद इसी अर्थके साथ विचार करने योग्य हैं।)

४५ निंदिताश्वः- जिसके पास अत्यंत उत्तम घोडे होनेके कारण दूसरोंके घोडोंकी आपही आप निंदा जिसके कारण होती है। उत्तम घोडोंसे युक्त। इसका अर्थ हीन घोडोंवाला ऐसा नहीं है, यह बात स्मरण रहे।

४६ प्रपथी- उत्तम मार्गसे जानेवाला,

४७ परमज्या- उत्तम धनुष्यकी डोरी जिसके धनुष्यपर होती है। (मं. ३०)

ये इतने इन्द्रका वर्णन करनेवाले पद हैं। ये वीरोंका वर्णन करते हैं। राष्ट्रमें वीर कैसे हों इसका ज्ञान इन पदोंके मननसे हो सकता है। हरएक पाठकको इन गुणोंका मनन करके इनमेंसे जो गुण अपनेमें आसकते हैं, उनको अपनाना चाहिये। जयिष्णु राष्ट्रके अन्दरके तरुणोंको तो ये गुण अपनाने चाहिये। पूर्वोक्त मंत्रोंका अर्थ पढते समय इन पदोंका यह आशय पाठक ध्यानमें धारण करेंगे, तो मंत्रोंसे अच्छा बोध उनके मनमें उतर सकता है।

मेधातिथि और मेध्यातिथि इन दोनों ऋषियोंने यह आदर्श वीर पुरुष जनताके सामने रखा है। यही वीर युवाका वैदिक आदर्श है।

पुत्र कैसा हो ?

पुत्र कैसा उत्पन्न हो, इस विषयमें वेदमंत्रोंमें वारंवार अनेक उत्तम निर्देश आते हैं। उनके साथ इस सूक्तके निम्नलिखित वीर पुत्रके विशेष ध्यानमें रखने योग्य हैं-

पहिले यह स्मरण रखना चाहिये कि जो इन्द्रका आदर्श पूर्व स्थानमें 'आदर्श वीर पुरुष' के रूपसे रखा है, वैसाही पुत्र निर्माण होना चाहिये। इसी तरह अन्यान्य देवताओंके रूपोंमें जो आदर्श बताया है, वैसा पुत्र उत्पन्न करना वैदिक धर्मियोंके सामने आदर्श रूपसे सदा रहताही है। तथापि इस सूक्तमें निम्नलिखित गुण पुत्रके अन्दर हो ऐसा विशेष रूपसे कहा है—

१ मदेन इषितः- आनन्दसे इच्छा करने योग्य, जिसके गुणोंसे आनन्द होगा, ऐसे गुणोंवाला,

२ मदः- आनंद देनेवाला,

३ उग्रः- उग्र शूर वीर, प्रभावी, पराक्रमी,

४ उग्रेण शवसा युक्तः- प्रभावी बलसे युक्त, विशेष शक्तिमान्,

५ विश्वेषां तरुतारं- सब शत्रुओंका नाश करनेवाला, शत्रुओंके पार ले जानेवाला, शत्रुओंसे पार करनेवाला,

६ मदच्युतं- शत्रुओंके गर्वका नाश करनेवाला, शत्रुको परास्त करनेवाला। (मं २१)

ऐसा पुत्र इन्द्रकी उपासनासे मिलता है, ऐसा २१ वें मंत्रमें कहा है। इन्द्रके पूर्वोक्त गुणोंका मनन जो स्त्री और पुरुष करेंगे उनको ऐसा पुत्र होगा इसमें कोई आश्चर्यही नहीं है। वैदिकधर्मी स्त्रीपुरुष अपना पुत्र इन गुणोंसे युक्त हो ऐसा मनका निर्धार करें, मनमें यह बात सदा रखे।

घूमनेवाले कीले

इस सूक्तके २८ वें मंत्रमें '**चरिष्णु पूः**' (घूमनेवाला कीला) वर्णनमें आया है। ये कीले लोहेके होते थे, ऐसा अन्यत्र वर्णन है।

हत्वी दस्यून् पुर आयसीर्नि तारीत्। (ऋ २।२०।८)

इन्द्रने शत्रुओंका पराभव किया और उन लोहेके कीलोंको तोड दिया। '**शतं पूर्भिरायसीभिः नि पाहि।**' (ऋ. ७।३।७) सैकडों लोहेके कीलोंसे मेरा संरक्षण करो ऐसे मंत्रोंमें सैकडों लोहेके कीलोंका वर्णन है। यदि ये लोहेके कीले घूमनेवाले होंगे, तो निःसंदेह रथ जैसेही होंगे। आवश्यकतानुसार छोटे अथवा बडे भी हो सकते हैं। ये युद्धोंमें तोडे जाते हैं, और सैकडोंकी संख्यामें रहते हैं और सैकडों तोडे भी जाते हैं।

आजकलके टैंक (Tanks) जैसे ये प्रतीत हो रहे हैं। '**आयसीः पूः**' का अर्थ लोहेका कीला, पत्थरका कीला, ऐसा दो प्रकारका है, पर जो घूमनेवाला होगा वह तो लोहेका होनाही युक्तियुक्त है।

दिनमें चार वार आराधना

इस सूक्तके २९ वें मंत्रमें सूर्योदय, माध्याह्न, सायंकाल और रात्रिके समय ऐसी चार वार प्रभुकी आराधता करनेकी बात कही है। यहां मंत्र-पाठसे इन्द्रकी स्तुति करनाही लिखा है।

तीन पुत्र

इस सूक्तके ३० वें मंत्रमें (१) **निंदिताश्वः**, (२) **प्रपथी** और (३) **परमज्या** ऐसे तीन नाम आये हैं। कई अर्थ करनेवालोंके मतसे ये तीन राजपुत्र, आसंग राजाकेही तीन पुत्र है। '**एते मघोनां मघस्य मंहिष्टासः।**' (मं० ३०) इस मंत्रमें ' ये दाताओंमें धनके बडे दाता हैं ' ऐसा अनेकवचनी उल्लेख है, ये तीन राजपुत्र येही हैं, ऐसा कईयोंका मत हैं। ये तीन है इस लिये ' मंहिष्टासः ' यह पद बहुवचनमें तीनोंका बोध करनेके लिये यहां आया है, ऐसा उनका कथन है। हमारे मतके अनुसार जो अर्थ योग्य है वह ऊपर दिया है। पाठक अधिक विचार करें।

मं. ३१ में ' **याद्वः** ' पद है, ' यादवकुलमें उत्पन्न ' ऐसा इसका अर्थ कई मानते हैं। यदु-कुलमें उत्पन्न ऐसा इसका अर्थ है। मानवोंमें प्रसिद्ध ऐसा भी इसका अर्थ होना संभव है। यादवोंकी पशु-पालन-कुशलता पुराणोंमें सुप्रसिद्ध है। संभव है, उस कथाका मूल यहासे शुरू हुआ होगा।।

सोमपान

इस सूक्तमें सोमपानके लिये अनेकवार इन्द्र देवको बुलाया है। इस प्रसंगमें सोमके संबंधमें निम्नलिखित बातें दृष्टीगोचर होती हैं—

१ **पवित्रं तिरः सस्रुवांसः आशवः**— पवित्र छाननी से तिरछी चूनेवाली शीघ्रगामी धाराएं हैं। छाननीसे रस किस तरह नीचे स्रवता है, इसका पता यहां लगता है। (मं. १५)

२ **अद्रिभिः सोमं सोत**— पर्वतोंसे (पर्वतोंपर से लाये पत्थरोंसे) सोमको कूटकर उससे रस निकालो। यहां ' अद्रिः ' यह पर्वतवाचक पद ' पत्थर ' के लिये प्रयुक्त हुआ है। इसी तरह वेदमें 'गौ' पद दूधके लिये और ' नदी ' पद जलके लिये प्रयुक्त होता है। लुप्ततद्धित प्रक्रियाके ये उदाहरण हैं।

३ **अप्सु एनं आ धावत**— अनेक जलोंसे इसको अनेक बार धोओ। अनेक वार पानी डालकर सोमको धो डालो।

४ **वक्षणाभ्यः नरः निः धुक्षन्**— नदियोंसे मनुष्य जल (दुहते हैं) लाते हैं और इस जलका उपयोग सोमको बार-बार धोनेके कार्यमें किया जाता है।

५ **गव्या वस्त्रा वासयन्तः**— गौके वस्त्र सोमपर डाप देते हैं, पहनाते हैं अर्थात् गोदुग्धके साथ सोमरस मिला देते हैं। (मं. १७)

६ **स-पीतिभिः सोमेभिः**— सोमरस अनेक मनुष्य साथ साथ बैठकर पीते हैं। अनेकोंका सहपान होता है (मं. २३)

७ **मध्वः अन्धसा पीतिः**— मधुर अन्नरूप रसका पान। यह रस पीनेके समय मधुर होता है और सत्तु आदि मिलानेसे अन्नमय भी होता है। शहद और दूधके कारण इसमें मधुरता आती है। (मं. २५)

८ **पूर्वपाः**— जिस समय अधिक लोग बैठकर सोम पीने लगते हैं, उस समय उनमें जो विशेष सम्मानके योग्य होगा उसको रसपानका मान प्रथम दिया जाता है, वह प्रथम पीता है। उसका नाम ' पूर्वपाः ' वेदमें है। इसके पीनेके बाद अन्य उपस्थित लोग पीते हैं।

९ **परिष्कृतः**— यह रस अनेक संस्कार करके अधिक उत्तम बनाया जाता है। अनेक वार धोना, अनेक वार छानना, दूध शहद आदि मिलाना ये अनेक संस्कार इसपर किये जाते हैं।

१० **आसुतिः**— रसकी भाप करके उसका फिर जल बनानेका नाम आसुति है। ' आसव ' अर्थमें यह शब्द है। शुद्ध करने और अशुद्धि दूर करनेका यह एक साधन है। इसी कारण वृष्टिजल अन्य जलसे अधिक शुद्ध रहता है। सोमरसको यहां आसुति कहा है। इससे सोमरसकी भी भाप करके उसका फिर रस बनाते थे या नहीं, यह एक खोजका विषय है, ऐसा प्रतीत होता है। आसुति या आसव पदसे मद्यका भाव लेनेकी जरूरत नहीं है। क्योंकि साधारण जलकी भाप की जाती है और शुंडायंत्रसे उसका पुनः जल बनाया जाता है। आसवमें मद्यभाव अति अल्प रहता है, क्योंकि इससे मद्य नहीं आती। और शुंडायंत्रसे साधारण जल भी शुद्ध किया जाता है। इसी तरह सोमरस भी किसीने शुद्ध किया तो उसमें मद्यकी कल्पना करना अयोग्य ही है।

सोमको अनेक जलोंसे धोनेकी बात मंत्र १७ में है। भांग

इसी तरह धोयी जाती है। जितनी अधिक धोयी जाय उतनी अधिक अच्छी समझी जाती है। पर इससे यह सिद्ध नहीं हो सकता कि सोम भंगके समान नशा बढानेवाला है। केवल आधिक उत्साह बढाता होगा। चाय, कॉफी ये पेय केवल उत्साह बढाते हैं, इसलिये ये नशा करते हैं, ऐसा नहीं कहा जा सकता, इसी तरह सोमके विषयमें समझना योग्य है देखिये–

११ परिष्कृतस्य रसिनः आसुतिः चारु मदाय पत्यते– अनेक संस्कार किये सोमरसका शुद्ध (आसव) पीनेसे उत्तम आनंद देता है। यहां 'मद' पद है। इसके आनंद, उत्साह और उन्माद (नशा) ऐसे अर्थ हैं। हमारे मतसे यहां उत्साह रूप आनन्द अर्थ लेना योग्य है। मद्यका नशा अथवा भंगका नशा यहां अपेक्षित नहीं है। जबतक नशा होकर बेहोश होनेका स्पष्ट वर्णन न हो, तबतक हमें 'मद' पदका अर्थ आनंद और उत्साहही करना उचित है।

पितासे माताकी अधिक योग्यता

षष्ठ मन्त्रमें पिता और माताकी तुलना इन्द्रके साथ की है। वह मन्त्र ऐसा है–

> मे पितुः (त्वं) वस्यान् असि।
> मे माता (त्वं) च समौ। (मं. ६)

'मेरे पितासे इन्द्र अधिक श्रेष्ठ है, पर मेरी माताके साथ इन्द्र समानही है।' इससे पितासे माताकी योग्यता अधिक है यह सिद्ध होता है। पितासे इन्द्र श्रेष्ठ है और माताके बराबर है, अतः पितासे माता अधिक श्रेष्ठ है। (**अभुञ्जतः भ्रातुः वस्यान्।** मं. ६) स्वयं भोग न भोगते हुए पालन करनेवाले भाईसे भी माता और इन्द्र श्रेष्ठ है, इसमें संदेहही नहीं है, फिर जो भाई भोजन भी न देता हो उस की योग्यता तो सब प्रकारसे निकृष्टही है।

अस्थि जोडना

अस्थि और संधिको यथायोग्य रीतिसे जोडनेकी विद्याका उल्लेख मंत्र १२ में स्पष्ट है। (Bone setter) हड्डी जोडने की विद्या वैदिक समयमें उच्च स्थितिमें थी, यह बात इस मंत्रसे स्पष्ट प्रतीत होती है। बिना साधनोंके संधियोंको जोडा या हड्डियोंको यथास्थान संयुक्त किया जाता था, यह बात यहां स्पष्ट है।

सोमकी तीन जातियाँ

(**मदिन्तमः**) अत्यंत आनन्द बढानेवाला सोम, (**मदः**) आनंद देनेवाला, ऐसे प्रयोग वेदमें सोमके विषयमें मिलते हैं। 'मदः, मदिन्तरः, मदिन्तमः' ये पद सोमके 'मद' में तीन प्रकार हैं इसकी सिद्धता करते हैं। केवल 'मदिन्तमः' पदही तीन प्रकारोंका बोधक है। इसलिए सोममें कमसे कम तीन प्रकारके सोम तो अवश्यही होंगे, अथवा तीन प्रकारके संस्कार करनेसे उसमें तीन भेद होते होंगे। आधुनिक वैद्यक ग्रंथोंमें २४ भेद सोमके कहे हैं। पर यहा 'मदिन्तम' पदसे आनन्दवर्धक होनेमें जो न्यूनता वा अधिकता है उससे उत्पन्न हुए ये भेद हैं।

इन्द्रके घोडे

इन्द्रके रथको दो घोडे (हरी) जाते जाते थे (मं. २५)। परंतु सहस्रों घोडे उनके पास होनेका वर्णन मंत्र २४ में है। इन्द्रके पास अश्वशालामें सहस्रों घोडे होंगे। परंतु एक समयमें उसके रथको दोही घोडे जोते जाते होंगे। रथको एक, दो, तीन, चार, पांच और सात तक घोडे जोते जानेकी संभावना है। चार तक घोडे आजभी जोतते हैं।

इन्द्रका मोल

पञ्चम मंत्रमें 'शुल्क लेकर भी इन्द्रको मैं नहीं दूंगा' ऐसा एक भक्तका वचन है। देखिये—

> त्वां महे शुल्काय न परा देयाम्।
> शताय, सहस्राय, अयुताय, च न परा देयाम्।
> (मं. ५)

'हे इन्द्र! तुझे मैं बडे मूल्यसे भी नहीं दूंगा, नहीं बेचूंगा। सौ, सहस्र और दश सहस्र मूल्य मिलनेपर भी मैं नहीं दूर करूंगा, नहीं बेचूंगा।' इस मंत्रमें '**शुल्काय न परा देयां**' ऐसे पद हैं। मूल्यके लिये भी नहीं दूंगा, इसका अर्थ बेचना ही प्रतीत होता है। इस पर सायन भाष्य ऐसा है।

> महे महते शुल्काय मूल्याय न परा देयाम्।
> न विक्रीणामि। (सा. भाष्य ८।१।५)

'बडा मूल्य मिलनेपर भी मैं तुझे नहीं बेचूंगा' (I would not sell thee for a mighty price (ग्रिफिथ, विल्सन) 'परा दा' धातुका अर्थ बेचना है और देना या दूर करना भी है। शुल्क लेकर इन्द्रको दूर करनेका भाव यहां स्पष्ट है।

कितनी भी धनकी लालच मिली, तो भी मैं इन्द्रकी भक्ति नहीं छोडूंगा, यह आशय हमारे मतसे यहां स्पष्ट है। कितना भी धन मिले, परंतु मैं इन्द्रकीही भक्ति करूंगा। यह भक्ति की दृढता यहां बतायी है।

परंतु कई लोग यहां 'इन्द्रको बेचने' की कल्पना करते हैं। इन्द्रकी मूर्तियां थीं, ऐसा इनका मत है और वे मूर्तियां कुछ द्रव्य लेकर बेची जाती थीं, ऐसा इस मंत्रसे ये मानते हैं।

मंत्रोंके शब्दोंसे यह भाव टपक सकता है, इसमें संदेह नहीं है। '**शुल्काय न परा देयां**' मूल्य मिलनेपर भी मैं नहीं बेचूंगा। 'शुल्क' का अर्थ वस्तुमूल्य है, यदि यह बात मानी जायगी, तो देवताओंकी मूर्तियाँ थीं और उनकी पूजा और उनके जलूस होते थे, ऐसा मानना पडेगा। इस मतकी पुष्टिके लिये इन्द्रका रथमें बैठना, वस्त्र पहनना, यज्ञस्थानपर जाना, आदि मंत्रोंका वर्णन उत्सव मूर्तिके जलूस जैसा मानना पडेगा। अग्निके रथमें बैठकर अन्य देव आते हैं, यह भी वर्णन जलूसका होगा। क्योंकि देवताओंकी छोटी छोटी मूर्तियां होंगी, तोही रथमें सब देवोंका बैठना संभव है।

हमारे मतसे यह वर्णन आध्यात्मिक है। शरीररूपी रथमें सब देवताएं बैठीही हैं। पाठक योग्य और आयोग्यका विचार करें, इसलिये सब मत यहां पाठकोंके सम्मुख रखे हैं।

इस सूक्तके ऋषि

इस सूक्तके ऋषि निम्न लिखित हैं–

मंत्र १-२ घोर ऋषिका पुत्र प्रगाथ ऋषि, जो कण्वका दत्तक पुत्र बन गया था।

मं० ३-२९ कण्व गोत्रमें उत्पन्न मेधातिथि और मेध्यातिथि

मं० ३०-३३ प्लायोगीका पुत्र आसंग राजपुत्र

मं० ३४ आंगिरा ऋषिकी कन्या आसंगकी भार्या शश्वती स्त्री ऋषिका।

'मेध्यातिथि' ऋषिका नाम मं० ३० में आया है।

'प्लायोगि आसंग' नाम मं० ३३ में आया है। केवल 'आसंग' का नाम मं. ३२ में भी है।

'शश्वती' का नाम मंत्र ३४ में है।

'काण्व' का नाम मंत्र ८ में है।

हीन मानव

मंत्र १३ में '**निष्टयाः**' और '**अरणाः**' ये पद हैं। ये अन्त्यज हीन लोगोंके वाचक पद हैं। जो नीचे बैठनेका अधिकारी वह 'नि-स्थ्य' (निष्ठय) और जो अधोगतिको पहुंचा है वह 'अरण' है।

आसंगकी कथा

इस सूक्तका ३४ वां मंत्र देखने योग्य है। शश्वती आसंगकी धर्मपत्नी है। आसंग प्लायोग राजाका राजपुत्र है। आसंगका पुरुषत्व नष्ट हुआ था, अनेक उपायोंसे वह उसको पुनः प्राप्त हुआ। यह भाव इस मंत्रमें है, ऐसा कइयोंका कथन है। आसंग स्त्री बना था, वह फिर पुरुष बना, ऐसा कइयोंका मत है। (देखो ऋ. ८।३३।१९)

---

(१४) वीरका काव्य

(ऋ. मं. ८।२) १–४० मेधातिथिः काण्वः प्रियमेधश्चाङ्गिरसः, ४१–४२ मेधातिथिः काण्वः। इन्द्रः, ४१–४२ विभिन्दुः। गायत्री, २८ अनुष्टुप्।

इदं वसो सुतमन्धः पिबा सुपूर्णमुदरम्	अनाभयिन्ररिमा ते	१
नृभिर्धूतः सुतो अश्नैरव्यो वारैः परिपूतः	अश्वो न निक्तो नदीषु	२
तं ते यवं यथा गोभिः स्वादुमकर्म श्रीणन्तः	इन्द्र त्वास्मिन्त्सधमादे	३
इन्द्र इत्सोमपा एक इन्द्रः सुतपा विश्वायुः	अन्तर्देवान्मर्त्यांश्च	४
न यं शुक्रो न दुराशीर्न तृप्रा उरुव्यचसम्	अपस्पृण्वते सुहार्दम्	५

गोभिर्यदीमन्ये अस्मन्मृगं न व्रा मृगयन्ते । अभित्सरन्ति धेनुभिः ६
त्रय इन्द्रस्य सोमाः सुतासः सन्तु देवस्य । स्वे क्षये सुतपाव्नः ७
त्रयः कोशासः श्चोतन्ति तिस्रश्चम्व१ः सुपूर्णाः । समाने अधि भार्मन् ८
शुचिरसि पुरुनिःष्ठाः क्षीरैर्मध्यत आशीर्तः । दध्ना मन्दिष्ठः शूरस्य ९
इमे त इन्द्र सोमास्तीव्रा अस्मे सुतासः । शुक्रा आशिरं याचन्ते १०
ताँ आशिरं पुरोळाशमिन्द्रेमं सोमं श्रीणीहि । रेवन्तं हि त्वा शृणोमि ११
हृत्सु पीतासो युध्यन्ते दुर्मदासो न सुरायाम् । ऊधर्न नग्ना जरन्ते १२
रेवाँ इद्रेवतः स्तोता स्यात्त्वावतो मघोनः । प्रेदु हरिवः श्रुतस्य १३
उक्थं चन शस्यमानमगोररिरा चिकेत । न गायत्रं गीयमानं १४
मा न इन्द्र पीयत्नवे मा शर्धते परा दाः । शिक्षा शचीवः शचीभिः १५
वयमु त्वा तदिदर्था इन्द्र त्वायन्तः सखायः । कण्वा उक्थेभिर्जरन्ते १६
न घेमन्यदा पपन वज्रिन्नपसो नविष्टौ । तवेदु स्तोमं चिकेत १७
इच्छन्ति देवाः सुन्वन्तं न स्वप्नाय स्पृहयन्ति । यन्ति प्रमादमतन्द्राः १८
ओ षु प्र याहि वाजेभिर्मा हृणीथा अभ्य१स्मान् । महाँइव युवजानिः १९
मो ष्व१द्य दुर्हणावान्सायं करदारे अस्मत् । अश्रीरिव जामाता २०
विद्मा ह्यस्य वीरस्य भूरिदावरीं सुमतिम् । त्रिषु जातस्य मनांसि २१
आ तू षिञ्च कण्वमन्तं न घा विद्म शवसानात् । यशस्तरं शतमूतेः २२
ज्येष्ठेन सोतरिन्द्राय सोमं वीराय शक्राय । भरा पिबन्नर्याय २३
यो वेदिष्ठो अव्यथिष्वश्वावन्तं जरितृभ्यः । वाजं स्तोतृभ्यो गोमन्तम् २४
पन्यंपन्यमित्सोतार आ धावत मद्याय । सोमं वीराय शूराय २५
पाता वृत्रहा सुतमा घा गमन्नारे अस्मत् । नि यमते शतमूतिः २६
एह हरी ब्रह्मयुजा शग्मा वक्षतः सखायम् । गीर्भिः श्रुतं गिर्वणसम् २७

स्वादवः सोमा आ याहि श्रीताः सोमा आ याहि ।
शिप्रिन्नृषीवः शचीवो नायमच्छा सधमादयम् २८

स्तुतश्च यास्त्वा वर्धन्ति महे राधसे नृम्णाय । इन्द्र कारिणं वृधन्तः २९
गिरश्च यास्ते गिर्वाह उक्था च तुभ्यं तानि । सत्रा दधिरे शवांसि ३०
एवेदेष तुविकूर्मिर्वाजाँ एको वज्रहस्तः । सनादमृक्तो दयते ३१
हन्ता वृत्रं दक्षिणेनेन्द्रः पुरू पुरुहूतः । महान्महीभिः शचीभिः ३२
यस्मिन्विश्वाश्चर्षणय उत च्यौत्ना ज्रयांसि च । अनु घेन्मन्दी मघोनः ३३
एष एतानि चकारेन्द्रो विश्वा योऽति शृण्वे । वाजदावा मघोनाम् ३४
प्रभर्ता रथं गव्यन्तमपाकाच्चिद्यमवति । इनो वसु स हि वोळ्हा ३५
सनिता विप्रो अर्वद्भिर्हन्ता वृत्रं नृभिः शूरः । सत्योऽविता विधन्तम् ३६
यजध्वैनं प्रियमेधा इन्द्रं सत्राचा मनसा । यो भूत्सोमैः सत्यमद्वा ३७
गाथश्रवसं सत्पतिं श्रवस्कामं पुरुत्मानम् । कण्वासो गात वाजिनम् ३८
य ऋते चिद्गास्पदेभ्यो दात्सखा नृभ्यः शचीवान् । ये अस्मिन्काममश्रियन् ३९
इत्था धीवन्तमद्रिवः काण्वं मेध्यातिथिम् । मेषो भूतोऽभि यन्नयः ४०

शिक्षा विभिन्दो अस्मै चत्वार्ययुता ददत् । अष्टा परः सहस्रा ४१
उत सु त्ये पयोवृधा माकी रणस्य नप्त्या । जनित्वनाय मामहे ४१

अन्वयः— [मेधातिथिः काण्वः प्रियमेधश्च आङ्गिरसः]– हे वसो ! इदं अन्धः सुतं सुपूर्ण उदरं पिब। अनाभयिन्! ते ररिम ॥१॥ नदीषु निक्तः अश्वः न, नृभिः धूतः, अश्मैः सुतः, अव्यः वारैः परिपूतः ॥२॥ हे इन्द्र ! ते तं, यथा यवं, गोभिः श्रीणन्तः स्वादुं अकर्म, अस्मिन् सधमादे त्वा (पातुं आह्वयामः) ॥३॥ इन्द्रः इत् एकः मर्त्यान् देवान् च अन्तः इन्द्रः विश्वायु सोमपाः सुतपाः ॥४॥ उरुव्यचसं सुहार्दं यं शुक्रः न अप स्पृण्वते, दुराशीः न, तृप्राः न ॥५॥ यत् अस्मत् अन्ये ईं गोभिः मृगयन्ते, व्राः मृगं न, (ये च) धेनुभिः अभिस्सरन्ति ॥६॥ सुतपाम्नः देवस्य इन्द्रस्य स्वे क्षये त्रयः सोमाः सुतासः सन्तु ॥७॥ त्रयः कोशासः चोतन्ति। तिस्रः चम्वः सुपूर्णाः, समाने भार्मन् अधि ॥८॥ (हे सोम ! त्वं) शुचिः असि, पुरुनिष्ठाः, मध्यतः क्षीरैः दध्ना (च) आशीर्तः, शूरस्य मन्दिष्ठः (भव) ॥९॥ हे इन्द्र ! ते इमे सोमाः तीव्राः सुतासः शुक्राः अस्मे आशिरं याचन्ते ॥१०॥ हे इन्द्र ! तान् आशिरं श्रीणीहि। पुरोळाशं इमं सोमं (श्रीणीहि)। त्वा रेवन्तं शृणोमि ॥११॥ सुरायां दुर्मदासः न युध्यन्ते, पीतासः हृत्सु (युध्यन्ते). नग्ना, ऊधः न जरन्ते ॥१२॥ हे हरिवः ! रेवतः स्तोता रेवान् इत् स्यात्। त्वावतः मघोनः श्रुतस्य प्र इत् उ (स्यात्) ॥१३॥ अगोः अरिः, शस्यमानं उक्थं चन आ चिकेत। गीयमानं गायत्रं न ॥१४॥ हे इन्द्र ! पीयत्नवे नः मा परा दाः। शर्धते (च) मा (परा दा)। हे शचीवः! शचीभिः शिक्ष ॥१५॥ हे इन्द्र ! त्वायन्तः वयं सखायः तदिदर्थाः कण्वाः उक्थेभिः त्वा जरन्ते ॥१६॥ हे वज्रिन् ! अपसः तव नविष्ठौ अन्यत् न घ ईं आ पपन। तव इत् उ स्तोमं चिकेत ॥१७॥ देवाः सुन्वन्तं इच्छन्ति, स्वप्नाय न स्पृहयन्ति। अतन्द्राः प्रमादं यन्ति ॥१८॥ वाजेभिः अस्मान् अभि सु प्र ओ याहि। मा हृणीथाः। युवजानिः महान् इव ॥१९॥ दुर्हणावान् अस्मद् आरे (आगच्छतु)। सायं सु मो करत्। अश्रीरः जामाता इव ॥२०॥ अस्य वीरस्य भूरिदावरीं सुमतिं विद्म हि। त्रिषु जातस्य मनांसि (विद्म) ॥२१॥ कण्वमन्तं तु आ सिच। शवसानात् शतमूतेः यशस्तरं न व विद्म ॥२२॥ हे सोतः ! वीराय नर्याय शक्राय इन्द्राय ज्येष्ठेन सोमं भर पिबत् ॥२३॥ यः अव्यथिषु वेदिष्ठः जरितृभ्यः स्तोतृभ्यः अश्ववन्तं गोमन्तं वाजं (ददाति) ॥२४॥ हे सोतारः ! मद्याय वीराय शूराय पन्यं पन्यं इत् आ धावत ॥२५॥ सुतं पाता वृत्रहा आ गमत् घ। अस्मत् आरे शतमूतिः नियमते ॥२६॥ अश्वयुजा शग्मा हरी इह गीर्भिः श्रुतं गिर्वणसं सखायं आ वक्षतः ॥२७॥ हे शिप्रिन् ! हे ऋषिवः शचीवः ! सोमाः स्वादवः। आ याहि। सोमाः श्रीताः आ याहि। न (अयं) सधमादं अच्छ ॥२८॥ हे इन्द्र ! कारिणं वृधन्तः स्तुत , याः (स्तुतयः) च, त्वा महे राधसे नृम्णाय वर्धन्ति ॥२९॥ हे गिर्वाहः। ते गिरः याः च उक्था तुभ्यं च तानि सत्रा शवांसि दधिरे ॥३०॥ एषः एव तुविकूर्मिः इत्, एकः वज्रहस्तः सनात् अमृक्तः वाजान् दयते ॥३१॥ इन्द्रः दक्षिणेन वृत्रं हन्ता, पुरु पुरुहूतः महीभिः शचीभिः महान् ॥३२॥ विश्वाः चर्षणयः यस्मिन्, उत च्यौत्ना ज्रयांसि, मघोनः अनुमंदी घ इत् च ॥३३॥ एषः इन्द्रः एतानि विश्वा चकार। मघोनां वाजदावा यः अति शृण्वे ॥३४॥ प्रभर्ता गव्यन्तं रथं यं अपाकात् चित् अवति, स इनः वसु वोळ्हा हि ॥३५॥ विप्रः, अर्वद्भिः सनिता, शूरः नृभिः वृत्रं हन्ता, सत्यः विधन्तं अविता ॥३६॥ हे प्रियमेधाः ! सत्राचा मनसा एनं इन्द्रं यजध्व। यः सोमैः सत्यमद्वा भूत् ॥३७॥ हे कण्वासः ! गाथश्रवसं सत्पतिं श्रवस्कामं पुरुत्मानं वाजिनं गात ॥३८॥ पदेभ्यः ऋते चित् यः शचीवान् सखा नृभ्यः गाः दात्, ये अस्मिन् कामं अश्रियन् ॥३९॥ हे अद्रिवः ! इत्था धीवन्तं काण्वं मेध्यातिथिं मेषः भूतः अभि यन् अयः ॥४०॥

[मेधातिथिः काण्वः]– हे विभिन्दो ! अस्मै चत्वारि अयुता शिक्ष, परः अष्ट सहस्रा ददत् ॥४१॥ उत सु त्ये पयोवृधा माकी रणस्य नप्त्या जनित्वनाय मामहे ॥४२॥

अर्थ- [कण्वपुत्र मेधातिथि और अङ्गिरापुत्र प्रियमेध ये दो ऋषि]- हे सबके निवास करानेवाले वीर ! इस अन्नरूप सोमरसका पेट भरकर पान करो। हे न डरनेवाले वीर ! तुम्हें (हम सोमरस) देते हैं ॥१॥ नदियोंमें नहाये घोडेकी तरह, नेताओंद्वारा धोया गया, पत्थरोंसे (कूटकर) निचोडा, मेंढीके बालों (के बने कम्बलसे) छाना यह सोमरस

परिशुद्ध हुआ है ॥२॥ हे इन्द्र ! तुम्हारे लिये इस (सोमको), जौ की तरह, गौओंका (दूध) मिलाकर मीठा बनाया है, (इसलिये) इस साथ (साथ बैठकर) पान करनेके स्थानमें (रसपानके लिये तुम्हें बुलाता हूँ) ॥३॥ इन्द्र ही अकेला मानवों और देवोंके मध्यमें प्रभु है, जो सब आयु भर प्रथम सोमपान करनेका अर्थात् सोमरसका अधिकारी है ॥४॥ विशेष व्यापक उत्तम हृदयवाले जिस (इन्द्र) को वीर्यवर्धक (सोम कभी) अप्रसन्न नहीं करता, दुर्लभ (पदार्थों) को मिलाकर किया सोम और पुरोडाश भी उसको कभी अप्रसन्न नहीं करते ॥५॥ जो हमसे भिन्न लोग हैं, वे इस (इन्द्र) को गौओं (का दूध मिलाये सोमरस) के साथ ढूंढते हैं, जैसे व्याध हिरनको ढूंढते हैं, (तथा और कोई) गौओंके (दूध के साथ उसके पास) जाते हैं ॥६॥ सोमरसका पान करनेवाले इन्द्र देवके अपने स्थानमें ये तीनों सोमरस (प्रातः दोपहर और सायंकाल) निचोडकर (तैयार हुए ये उनके लिये ही) हों ॥७॥ ये तीन कोश (सोमरसको) स्रव रहे हैं। तीन कलश (सोमरससे) भरपूर भरे हैं, (यह सब) समान पान-स्थानमें (तैयार रखा है) ॥८॥ (यह सोमरस) पवित्र है, अनेक पात्रोंमें रखा है और इसके बीचमें दूध और दही मिला दिया है। (यह रस) शूरको आनन्द देनेवाला (हो) ॥९॥ हे इन्द्र ! तुम्हारे लिये ये सोमरस तीव्र हैं, रस निकालनेपर शुद्ध किये (ये रस) हमारे पाससे दूध आदि मिलाने की ही अपेक्षा करते हैं ॥१०॥ हे इन्द्र ! उन (सोमरसोंमें) दूध आदि मिलाओ। पुरोडाश और इस सोमको (साथ साथ) मिलाकर सेवन करो। तू धनसंपन्न (हे ऐसा मैं) सुनता हूँ ॥११॥ सुरापान करनेपर जिस तरह दुष्ट नशासे उन्मत्त हुए (लोग जगत्में) लडते हैं, उसी तरह ये सोमरस (पीनेवालेके) हृदय-स्थानोंमें (ही युद्ध करते हैं, अर्थात् उत्साह बढाते हैं, अतः) स्तोता लोग, गौके स्तनोंके समान, (तेरी सोमपानके बाद) प्रशंसा करते हैं ॥१२॥ हे उत्तम घोडोंसे युक्त वीर ! धनवान्‌की प्रशंसा करनेवाला धनवान् ही हो जाता है। (इसी नियमके अनुसार) तुम्हारे जैसे धनवान् और बहुश्रुतका (मित्र तुम्हारे जैसा ही होगा) यह निःसंदेह ही है ॥१३॥ अभक्तका शत्रु (इन्द्र है जो) गाया जानेवाला काव्य जानता ही है, तथा गाया जानेवाला गायत्र गान तत्काल ही (जानता है) ॥१४॥ हे इन्द्र ! घातक शत्रुके पास हमें न छोडना। हिंसकके हाथमें भी (हमें न देना)। हे समर्थ वीर! अपनी शक्तियोंसे (हमें योग्य) सहायता कर ॥१५॥ हे इन्द्र ! तुम्हारी प्रीतिकी इच्छा करनेवाले तुम्हारे मित्र तुम्हारीहि कामना करते हुए कण्व गोत्रमें उत्पन्न हम ऋषि स्तोत्रोंसे तुम्हारा ही यश गाते हैं ॥१६॥ हे वज्रधारी वीर ! कर्मप्रवीण तुम्हारे जैसेके यज्ञमें हम दूसरे किसी (स्तोत्र) को नहीं कहेंगे। केवल तुम्हारे ही स्तोत्रको हम जानते हैं ॥१७॥ देवता कर्मशील मानवको ही चाहते हैं। सुस्तको चाहते नहीं। आलस्यरहित (कर्मशील मनुष्य) विशेष आनन्दको प्राप्त करते हैं ॥१८॥ अन्नोंके साथ हमारे पास आओ। संकोच न करो। जिस तरह तरुण स्त्रीका पति बडा वीर (तरुणीके पास जाता है, वैसे ही तुम निःसंकोच हो हमारे पास आओ) ॥१९॥ शत्रुओंको असह्य होनेवाला वीर हमारे पास (आवे। बुलानेपर) सायंकाल न करे। जिस-तरह निर्धन दामाद (समयपर नहीं आता, वैसा न करे) ॥२०॥ इस वीरकी बहुत धन देनेवाली उत्तम बुद्धिको हम जानते हैं। तीनों लोकोंमें प्रसिद्ध (इस वीरके) मनोभावोंको (हम जानते हैं) ॥२१॥ कण्व जिसकी (भक्ति करते हैं, उस वीरके लिये) सोमरस दो। बलवान् और सैंकडों प्रकारोंसे रक्षा करनेवाले (इन्द्रसे) अधिक यशस्वी वीरको हम जानते ही नहीं ॥२२॥ हे सोमरस निकालनेवाले ! वीर, मानवोंके हितकारी, समर्थ इन्द्रके लिये प्रथम सोम दो, वह प्रथम पीवे ॥२३॥ जो कष्ट न देनेवालोंमें (अच्छे मानवोंको) जानता है, तथा वह उपासना और प्रार्थना करनेवालोंको घोडों और गौओंसे युक्त अन्न (देता है) ॥२४॥ हे सोमरस निचोडनेवालो ! आनन्दित होनेवाले शूर वीर (इन्द्र) के लिये स्तुतियोग्य सोमरस वारंवार दो ॥२५॥ सोमका रक्षक और वृत्रका नाशक (इन्द्र) यहां आ जावे। हमारे पास (आकर) सैंकडों रीतियोंसे सुरक्षा करनेवाले (इन्द्र) शत्रुओंको अपने अधीन करे ॥२६॥ मंत्रोंके साथ जोते जानेवाले सुखदायी दोनों घोडे यहाँ मंत्रोंद्वारा प्रशंसित मित्र इन्द्रको ले आवें ॥२७॥ हे शिरस्त्राणधारी वीर ! हे ऋषियोंके साथ रहनेवाले शक्तिवाले वीर (इन्द्र) ! ये सोमरस मधुर हैं। आओ। सोम (दूध आदिमें) मिलाये हैं। आओ। अभी यह (स्तोता) साथ साथ रसपान करनेके स्थानमें समीप (रह कर स्तुति करता है।) ॥२८॥ हे इन्द्र ! (तुझ जैसे) कारीगरके यशका वर्धन करनेवाले ये स्तोता और उनकी स्तुतियाँ, तुम्हें

बडे धनके लिये और बलके लिये बढाते हैं ॥२९॥ हे स्तुति-योग्य वीर। तुम्हारे लिये जो स्तोत्र और काव्य हैं वे तुम्हारे ही उन (प्रशंसनीय तथा तुम्हारेही) साथ रहनेवाले बलोंको धारण करते हैं ॥३०॥ यह (इन्द्र) निश्चयसे अनेक कर्मोंको करनेवाला है, वह एकही वज्रधारी और सदासे अजेय है, वही बलोको देता है ॥३१॥ इन्द्रने दाहिने हाथसे वृत्रका वध किया है, वह अनेक स्थानोंपर बहुत वार बुलाया जाता है। वह महती शक्तियोंके कारण बडाही (वीर) है ॥३२॥ सारी प्रजाएं जिसके अधीन रहती हैं, जिसमें सब सामर्थ्य और विजयी प्रयत्न हैं, वही धनवान् इन्द्र भक्तको (सत्कार्यमें) अनुमोदन करता है ॥३३॥ इसी इन्द्रने ये सारे (विश्व) बनाये हैं। वही यज्ञकर्ताओंको बल देता है और वही सर्वत्र विश्रुत है ॥३४॥ (सबका) भरण पोषण करनेवाला (वह इन्द्र) गौओंकी इच्छा करनेवाले रथी (भक्तको) जो अपवित्र शत्रुसे भी बचाता है, वह (सबका) स्वामी धनको ढोकर (भक्तको) देता है ॥३५॥ वह ज्ञानी, घोडोंसे (जहां चाहिये वहां) जानेवाला, शूर, वीरोंके साथ (रहनेवाला), वृत्रका वध करनेवाला, सत्य-पालक, (इन्द्र) कर्म करनेवालोंका संरक्षक है ॥३६॥ हे प्रियमेध ऋषि ! एकाग्र मनसे इस इन्द्रके लिये यज्ञ करो। जो सोम-रस (प्राप्त करके) सत्य आनन्द देनेवाला होता है ॥३७॥ हे कण्वो ! गाथाओंमें जिसका यश वर्णन किया है, सत्यके रक्षक, यशके इच्छुक, अनेक स्थानोंमें रहनेवाले, बलवान् इन्द्रका (काव्य) गाओ ॥३८॥ पदोंके चिह्न न रहनेपर भी जिस सामर्थ्यवान् मित्र (इन्द्रने) मनुष्योंको (ढूंढकर उनकी) गौवें वापस कर दीं, उन लोगोंने उसी (इन्द्र) से सब कामनाओंको प्राप्त किया ॥३९॥ हे पर्वत पर (के कीलेमें) रहनेवाले वीर ! इस तरह बुद्धिमान् कण्वपुत्र मेध्यातिथिके पास मेषके रूपसे आगे हो कर गया था ॥४०॥

[कण्वका पुत्र मेधातिथि ऋषि]- हे विभिन्दु ! (हे राजन् !) इस (ऋषि) को तुमने चालीस हजार धन दिया, पश्चात् आठ हजार और दिया ॥४१॥ अतः उन (गौमें) वृधकी वृद्धि करनेवाली, (धन) निर्माण करनेवाली, आनन्द बढानेवाली (दोनों द्यावा-पृथिवीकी) प्रजजनके लिये हम प्रार्थना करते हैं ॥४२॥

इन्द्रका सामर्थ्य

इस सूक्तमें पुनः इन्द्रके प्रचण्ड सामर्थ्यका वर्णन किया है, पाठक इसका अब विचार करें—

१ **वसु**- सबका निवास करनेवाला,

२ **अनाभयी**- (अन्-आ-भयिन्) निर्भय, भयरहित, (मंत्र १)

३ **मर्त्यान् देवान् अन्तः इन्द्रः**- मानवों और देवोंका प्रभु,

४ **विश्वायुः**- सब आयु, सब मानव जिसमें हैं, सर्वदा, (मं. ४)

५ **उरुव्यचाः**- अत्यंत व्यापक, विशेष विस्तीर्ण, सर्वत्र व्यापक (मं ५)

६ **सुहार्दः**- उत्तम हृदयवाला, मनसे कोमल, सहानुभूति रखनेवाला, (मं. ५)

७ **शुचिः**- पवित्र, (मं. ९)

८ **हरिवः**- घोडे जिसके पास हैं, (मं. १३)

९ **अगोः अरिः**- ज्ञानहीनका शत्रु, प्रगति न करनेवालेका शत्रु, (मं. १४)

१० **शचीवः**- सामर्थ्यवान, (मं. १५)

११ **दुर्हनावान्**- जिसका हमला भयंकर होता है, (मं.२०)

१२ **भुरिदावरीं सुमतिं**- बडे दान करनेकी बुद्धि (रखनेवाला), (मं. २१)

१३ **शवसानः**- बलवान्,

१४ **शतः ऊतिः**- सैंकडों सामर्थ्योंसे संरक्षण करनेवाला, (मं २२)

१५ **वीरः**- शूर वीर,

१६ **नर्यः**- मानवोंका हित करनेवाला, जनताका कल्याण करनेकी इच्छावाला,

१७ **शग्मः**- समर्थ, सामर्थ्यवान, (मं. २३)

१८ **मद्यः वीरः शूरः**- आनंदित शूर वीर। (यहां मद्य का अर्थ आनंद देनेवाला अथवा आनंदयुक्त है। यह अर्थ न लिया जाय तो 'मद्य' (शराब) अर्थ होगा और अनर्थ बनेगा। पाठक इस अर्थका स्मरण रखें।) (मं. २५)

१९ **पाता**- संरक्षण करनेवाला,

बाइबल तथा कुर्आनमें वैदिक सूर्योपासना

(लेखक— श्री॰ गणपतराव बा॰ गोरे, औंध, जि॰ सातारा)

खंड ९

[फेब्रुअरी १९४५ से आगे]

[यहूदी, ईसाई तथा वैदिक धर्ममें. God, Spirit, Angel तथा Prophet शब्दोंके समान अर्थ। बाइबल तथा कुर्आनके पैगम्बरों, देवदूतों आदिके नामोंमें वैदिक प्रत्यय। पैगम्बरों आदिके नामोंके केवल प्रत्ययही नहीं, सारे नामही वैदिक हैं। कुर्आनका जब्राईल वा जिब्रील वैदिक नाम है। बाइबलका गाब्रिएल वैदिक नाम है। व्यास ऋषि गब्रिएल कहलाए। जिब्रील शब्द और कुर्आनके भाष्यकार। गॅब्रिएल शब्द और बाइबल। वायु शब्दकी व्युत्पत्ति और अर्थ। बाइबलका मिकाएल तथा कुर्आनका मीकाल नाम भी वैदिक हैं। जिब्रील तथा मीकालको न समझनेके कारण यहूदियों-मुसलमानोंका मत-भेद। इस्राईल नाम वैदिक है। बाइबलका इश्माएल तथा कुर्आनका इस्माईल भी वैदिक शब्द हैं। शिवलिंगके आकर्षणसे मुसलमानोंको किब्ला बदलना पडा। अरब जातिका नाम केदार है। शिवजी तो समानतया सबोंके हैं। मुसलमानोंका शिव-पूजनसे घबराना। यहूदियोंका शिव-स्तोत्र गाना। बाइबलका काबेके शिवलिंगको येहोवा द्वारा प्रस्थापित मानना।]

(१६) बाइबल-परिभाषामें God, Angel तथा Prophet शब्दोंके वैदिक धर्मसे मिलते जुलते अर्थ।

कुर्आन मुसलमानोंको बाइबल आदि सभी पूर्वकी धर्म-पुस्तकोंको माननेकी आज्ञा देता है। बाइबल तथा कुर्आनमें वेदके समानही सूर्योपासना करनेका विधान है। इसके प्रमाण देनेसे पूर्व यह आवश्यक है कि बाइबलमें वारंवार उपयुक्त हुए God, Spirit, Angel तथा Prophet इन चार शब्दोंके अर्थ बाइबलके ही शब्दोंमें समझ लिये जाए। बाइबलके कन्कार्डन्समें जो Hints & Helps to Bible Interpretation दिया हुआ है उसमें क्रमशः स॰ ६५ से ६८ तक उक्त चारों शब्दोंकी विद्वत्ता-पूर्ण व्याख्याएं की गई हैं। ये व्याख्याएं वैदिक मन्तव्योंसे अत्यधिक समानता रखती हैं, यह पाठकोंके ध्यानमें तुरंतही आजायगा।

(1) GOD–is used of any one (professedly) Mighty, whether truly so or not, and is applied not only to the true God, but to the false gods, magistrates, judges, angels, prophets, etc.

अर्थ– [बाइबलमें] गाड शब्दका प्रयोग किसी भी एक (माने हुए) शक्तिमान् व्यक्तिके लिए किया गया है, फिर वह वास्तवमें वैसा हो या नहीं। यह शब्द केवल सत्यस्वरूप परमात्माकोही नहीं लगाया जाता, अपितु कृत्रिम देवताओं, न्यायाधीशों, देवदूतों, भविष्य-वक्ताओं वा प्रेषितों आदिके लिए भी उपयुक्त होता है।

[वैदिक धर्ममें भी ईश्वर, देव, देवी आदि शब्द परमात्मा तथा मनुष्य दोनोंसे लाते हैं]

(2) SPIRIT–is used of God himself, or the Divine Mind, His energy, influence, gifts, of the vital principle of animals, and of breath, wind, or air in motion etc.

For example see Genesis 1 1, 3 8, 6 3, 17, 8:1, 26 35 etc.

अर्थ– [बाइबलमें] स्पिरिट [आत्मा] शब्द -स्वयं गाड [परमात्मा] के लिए, अथवा दिव्य मन वा अतः-

करण, परमेश्वरी शक्ति वा उत्साह, परमेश्वरी प्रेरणा, परमेश्वर-प्रदत्त गुण, दान वा चमत्कारके लिये उपयुक्त हुआ है। स्पिरिट शब्द प्राणियोंके प्राणरक्षक द्रव्य, प्राण-वायु; तूफानी हवा वा आंधी, धीमा चलनेवाला वायु इत्यादि।

उदाहरणार्थ देखो उत्पत्ति १।१,३।८;६।३,१७;८।१;२६। ३५ आदि×

[वैदिक धर्ममें भी 'आत्मा' शब्दसे परमात्मा, जीवात्मा, शरीर, प्राण-वायु, जीवन-तत्व, आदि अनेकों बोध मिलते हैं।]

(3) ANGEL is used of a messenger (good or bad) from heaven or from men, and is applied to spirtual intelligences, to the pillar of cloud and fire, to the (pestilential) winds, to priests, prophets, ministers, dis-embodied spirits, etc.

अर्थ— एन्जिल [देवता] शब्द [बाइबलमें] (अच्छे वा बुरे) स्वर्गीय दूत अथवा मानवों द्वारा प्रेषित दूतके लिए उपयुक्त हुआ है। यह शब्द आत्मिक अवस्थाओं, मेघ और अग्निके स्तम्भ [सूर्य], प्राणघातक वायु, पुजारियों, भविष्य—वक्ताओं वा प्रेषितों, धर्म-धुरीणों, देह-रहित वा निराकार जीवात्माओंके लिये भी उपयुक्त हुआ है इत्यादि।

[वैदिकधर्ममें भी जड और चेतन दोनों प्रकारके देवता माने गये हैं। ऋषि, मुनि, महात्मा, माता, पिता, गुरु ये चेतन, तथा वायु, अग्नि, सूर्यादिकी किरणें, वेद-मंत्रोंके विषय आदि जड देवता माने गए हैं!]

(4) PROPHET-- is used of one who (professedly) announces the will or celebrates the works of God, whether these relate to things past, present or funure, and it is applied to Patriarchs, orators, singers and songstresses, priests and preachers.

अर्थ– [बाइबलमें] 'प्राफेट' = भविष्यवक्ता वा ऋषि उस पुरुषके लिए प्रयुक्त होता है जो श्रद्धापूर्वक परमात्माकी इच्छाको प्रकट करता है अथवा उसके कार्योंका स्तवन करता है- फिर चाहे ये इच्छाएं और कार्य भूत, वर्तमान वा भविष्य कालीन हों। आदि पुरुष, वक्ता वा पंडित लोग, गायक वा गायिकाएं, पादरी = पुजारी = पुरोहित, और धर्मोपदेशक इन्हें भी [बाइबलमें] 'प्रॉफेट' नामसे संबोधन किया गया है।

[The Concise Oxford Dictionary, Prophet=Inspired teacher, Revealer or Interpreter of God's will, अर्थात् जिसे वैदिक धर्ममें ऋषि, वेदमंत्रोंके गुह्य अर्थों, निसर्गके रहस्योंको जाननेवाला कहते हैं, वही बाइबलका Proqhet है। आप्टेके कोशमें—

द्रष्टृ = A seer, one who sees mentally; as in ऋषयो मंत्रद्रष्टारः, A Judge = न्यायाधीश। मराठी कुर्आनमें प्रॉफेटका अर्थ भविष्य-वक्ता और उर्दू कुर्आनमें पैगम्बर किया गया है, परन्तु हमारी दृष्टिमें ये दोनोंही अशुद्ध हैं। कारण भविष्य-वक्ता तो एक साधारण सामुद्रिक, रमाल, ज्योतिषि आदि भी है। पैगम्बर इसलिए अशुद्ध है कि ऋषि लोग अल्लाहका दिया हुआ पैगाम = सदेश नहीं पहुचाते, अपितु उसके कार्योंसेही उसे स्वयं जानते और दूसरोंको जनाते हैं]

(१७) बाइबल तथा कुर्आनके पैगम्बरों, देवदूतों आदि के नामोंमें वैदिक प्रत्यय।

१. ऋग्वेदके दूसरे शब्दकी महिमा

कुर्आनमें अजाजील, असराफील, मेकाईल, इब्राईल, इजराईल, इस्माईल, जिब्राईल इस प्रकारके अनेकों नाम पाए जाते हैं, जिनमें 'ईल' प्रत्यय [Suffix] लगा हुआ है। उच्चार-भेदके कारण बाइबलमें इन्हीं नामोंमें 'एल' प्रत्यय लगा हुआ दीखता है, तथा, Gabriel, Ishmael, Michael, Israel, Azarael or Azriel, Asriel इत्यादि। इनके विपरीत बाईबलमें सैकडों ऐसे भी नाम हैं जहां यह 'एल् = EL' शब्दोंके पहिले

×कन्कार्डेन्समें इस प्रकारके प्रमाण God, Angel, तथा Prophet के नीचे भी दिखाए गये हैं। विस्तार-भयसे हमने नहीं दिखाए। जिन्हें देखना हो वहीं देखें।

अर्थात् Prefix बनकर लगा हुआ है, यथा Elijab, Elisha, Eliab, Elizabeth, Elishama, Eliada इत्यादि।

इतने उल्लेखसे स्पष्ट हुआ कि बाइबल तथा कुरानमें 'इल' अथवा 'एल' शब्दको बडाही महत्त्वका स्थान प्राप्त है।

प्रश्न- इसका कारण क्या ? 'ईल' वा 'एल' का अर्थ क्या ?

उत्तर- महत्त्वका कारण यह है कि 'ईल' शब्द ऋग्वेदका दूसराही शब्द है—अग्निमीळे पुरोहितम् ॥ (ऋ० १।१।१)

अर्थ— मैं हितकारक अग्निकी स्तुति, प्रशंसा करता हूं।

१. संस्कृत कोशकारोंके अर्थ

यह 'ईळ वा ईड' शब्द 'इल्' धातुसे बना है, यथा- इल् 6P. (इलति, इयेल, ऐलीत्, एलितुं, इलित; or 10 U. इलयति or एलयति, ऐलिलत्) = To go, to move; to sleep; to throw, send, cast; to keep still, to become quiet. (German Eile; Greek Elao) ×

इसीसे 'इला' तथा 'इडा' ये दो शब्द बने हैं, जिनके अर्थ हैं—

'इला' (Feminine) closely connected with 'इडा' and 'इरा'। Flow, speech, the earth etc. इलासुता = Name of Sita 'इडा'. (Masculine) name of Agni (Fem.) A species of she goat. इडा-(Fem) or in Rigveda इळा= Refreshing draught, Animation; Recreation, Vital Spirit. (Rig. Atharwa) Offering; Libation (personified in the cow symbol of feeding and nourishment); A cow, the goddess of इडा or इळा; Name of Durga; Speech, Heaven; Earth +इतने विवेचनसे इलाः= [पुरुषलिंग] देव और इला [स्त्रीलिंग] देवी वा देवता सिद्ध हुई।

लेख बढनेके भयसे हम उक्त शब्दोंका हिन्दी अर्थ नहीं करते। परंतु सारांश यही है कि सभी बहनेवाली, चलनेवाली वस्तुएं इला, इडा, वा इरा नामधारी हैं। इरावती नदी = बहनेवाली नदी। चलते रहनेके कारणही वाणी = Speech, उषा = Dawn, गो = Cow, नदी = River पृथ्वी Earth अग्नि = Fire, वायु = wind ये सब संस्कृतमें इडा, इरा वा इला कहला सकते हैं।

३. ईसाई कोशकारोंके अर्थ—

यही इला जर्मन भाषामें ईल = Eile, तथा यवन भाषामें एलाव = Elao बना है। यही 'इला' अरबी भाषामें भी प्रवेशकर गया, यथा—

Ilah [इलाः] = खुदा = God. Ilahi [इलाही] = खुदाका = Divine, of God, Heavenly. या खुदा!= God !

Ilahiyat [इलाहियत्] = खुदाईपना = Divinity. खुदाका इल्म = Theolgy ये सब अरबी शब्द हैं।

कन्कार्डन्ससे पता चलता है कि वेदका 'इल्' धातु इब्रानी तथा अरामी भाषामें भी जा घुसा है! परिणाम-स्वरूप बाइबलमें इल = El शब्द २१२ जगह God = परमात्माके अर्थोंमें, १५ स्थानोंपर God = देवताके अर्थोंमें; और ३ स्थानोंमें Power = शक्तिके अर्थोंमें उपयुक्त हुआ है !!

अरामी भाषाका Elah [इलः] = God परमात्माके अर्थोंमें ७८ स्थानोंपर और God = देवता अर्थोंमें १६ स्थानोंमें बाइबलमें उपयुक्त हुआ है। अरामी भाषाका Eloi, इसीका Elohai [अरबीका इलाही] का अर्थ है My God ! हे मेरे परमेश्वर ! [मार्क १५ : ३४]

× The Practical Sanskrit-English Dictionary by V. S. Apte.

यह संस्कृत शब्द उपरोक्त बाइबलके Elisbama आदि शब्दोंसे मिलता है।

+ Sanskrit—English Dictionary by Sir Monier Monier-Williams

The New Royal Dictionary.

From Analytical Concordance to Bible.

मौ० म० अली भी फुट नोट १४० में Il = इलका अर्थ Allah अल्लाह करते हैं !!

(१८) पैगम्बरों आदिके नामोंके केवल प्रत्ययही नहीं सारे नामही वैदिक हैं !

यहांतक हमने केवल 'ईल वा एल' प्रत्ययकोही वैदिक सिद्ध किया है। परंतु बाइबलादिके देवदूतोंके कई नाम तो सारेके सारे संस्कृतके हैं, यथाः—

१. कुर्आनका जब्राईल वा जिब्रील नाम वैदिक है-

संस्कृतका 'विराज' शब्द रटते जानेसे 'जविरा, जविरा' ऐसा उलटा भास होता है। इसे ईलः प्रत्यय लगाइये, जविराईल तय्यार है ! अधिक बिगडकर जब्राईल, जिब्राईल और अन्तमें जिब्रील बन गया।

संस्कृतमें विराज वा विराट का अर्थ वायु, प्राण, वा आत्मा है। कुर्आन २६।१९३ में जिब्रीलको रूहुल् अमीन = Trustee Soul = विश्वासू-आत्मा कहा है। बाइबलमें इसे Holy Ghost = रूहुल् कुदुस = पवित्रात्मा कहा है। अरबीमें रूह का दूसरा अर्थ है Revelation= ज्ञानका प्रकटीकरण = वेद। अत रूहुल् अमीन का अर्थ हुआ 'ईश्वरी ज्ञानको अमानत [Trust or deposit] में रखनेवाली आत्मा' = सूर्य ! इ.

२ बाइबलका [गब्रिएल] भी वैदिक नाम है।

इब्रानी, यवन पारसी आदि भाषाओंमें 'भ' अक्षर नहीं है अतः वे 'भ'के स्थानमें भी 'ब' ही बोलते हैं ! नासदीय सूक्तमें है—

किमासीद् गहनं गभीरम् +॥ ऋ० १०।१२९।१

अर्थ— (गहनं गभीरं) बडा गंभीर [वायुका समुद्र] (किं आसीत्) क्या उस समय था ?

'गब्रिएल' शब्द इसी 'गभीर' शब्दका इब्रानी बिगाड है ! गभस्तिः, गभकरः, गभपाणिः, गभमालिन्, गभहस्तः, इन सब शब्दोंका आप्टेके कोशमें अर्थ है The Sun = सूर्य ! पारसी लोग अग्निके उपासक हैं, इसीलिए अरबी फारसी भाषामें उन्हें गब्र = आतिश परस्त = A fire worshipper* कहा गया.है। सूर्य सौंदर्यकी उपमा है, इसी कारण किसी सुन्दर युवकको गब्रू = A beautiful young man* कहते हैं। इन सब शब्दोंका मूल वेदका गभीर शब्द है।

आर्यलोग भी सूर्यके और होम करनेके कारण अग्निके उपासक हैं।

३. व्यास ऋषि गाब्रिएल कहलाए-

पारसियोंके धर्मपुस्तक झिंदावस्था में लिखा है कि जब व्यास ऋषि धर्मप्रचार करते हुए झर्तुष्तजीके पास पहुंचे तो उन्हें वहां गब्रिएलके नामसेही पुकारा गया था। पारसी भाषाका 'ग' अरबीमें नहीं है, अतः अरबीमें 'ग' के स्थानमें 'ज' बोला जाता है, यथा पारसीका गुनाह शब्द अरबीमें जुनाह लिखा जाता है। उन दिनों भारतसे बाहर जानेवाले धर्मप्रचारकोंको अग्निऐल [अग्निमीळे ऋ० १।१।१ अनुसार] कहते थे। पारसीमें अग्निको 'गब्र' कहते है। अतः अग्निएलही गब्रिएल बन गया है।'+

भाषाओंमें 'ज' तथा 'ग' स्थान बदलते हैं, यथा फारसी तथा हिन्दीमें 'गुलाब' का 'जुलाब' बन जाना। क्यों? इसलिए कि गुलाबकी सूखी वा ताजी पंखडियां चावलमें पकाकर खानेसे जुलाब = दस्त आते हैं ! इसी प्रकार यवन भाषाका Ge [जे = पृथ्वी] आंग्लभाषाका Go [गो = गमन् = गति] बना। इस प्रकारसे भी विराजसे जवरा, गबरा, गब्राईल, तथा गब्रिएल बन सकते हैं।

वस्तुतः Ge, तथा Go ये दोनों भी संस्कृतके ग अक्षरसे बने हैं, जिसका अर्थ है Going जाना, Moving आदि। हिलना

+ गभीर [गच्छति जलमत्र, गम् ईरन् मोतादेशश्च-उणादि ४।३५]
Deep (in all senses); secret; Mysterious; Difficult to be perceived or understood (Apte) गुप्त, दुर्बोध, तथा समझमें न आनेवाला वायुही है।

* The New Royal Dictionary

+ स्वर्गीय मास्टर लक्ष्मणजीकी 'वेद और कुर्आन पुस्तक। २ भाग १ पृ० २३४॥'

४. 'जिब्रील' शब्द और कुर्आनके भाष्यकार-

मौ० मुहम्मद अली अपने कुर्आनके भाष्यकी टीप सं० १४० में इब्न जरीर तबरीका मत दिखाते हुए लिखते हैं कि जिब्रील शब्द जब्र+इल इन दो अरबी शब्दोंसे बना है। जब्र = Servant* = सेवक + Il [इल] = Allah [अल्लाह] अर्थात् जिब्रीलका अर्थ हुआ Servant of God = परमात्माका चाकर [हनुमान वा सूर्य] इसी टीपमें आपने अबु इस्वन् इमाम अलीरुद्दीनका मत इस प्रकार लिखा है:—

Some commentators look upon both the words Tibril and Mikal as foreign words having no derivation in Arabic.

अर्थ- कई भाष्यकार जिब्रील तथा मिकाल इन दोनों शब्दोंको परकीय भाषाके शब्द समझते हैं, जिनकी व्युत्पत्ति अरबीभाषामें नहीं मिलती।

हमारा मत तो ऐसा है कि यह दो नामही नहीं अपितु बाइबल तथा कुर्आनके सैकडों नाम संस्कृतभाषाके हैं! अरबी-उर्दू डि० में जिब्रील = वही [प्रकटीकरण] लानेवाला खास फिरिश्ता' लिखा है।

५ गॅब्रिएल शब्द और बाइबल—

बाइबलके कन्कार्डन्समें Gabriel शब्दका अर्थ 'God is mighty = परमात्मा बलवान है, ऐसा दिया है। परमात्माके बलवान होनेमें किसीको संदेह नहीं, परंतु क्या ईसाई लोग गॅब्रीएलको परमात्मा मानते हैं? कदापि नहीं! वे उसे देवदूत वा परमात्माकी अनेक शक्तियोंमेंसे एक शक्ति मानते हैं। अतः अनुवाद करनेमें भूल हुई है ऐसा प्रतीत होता है। हमारे विचारमें गॅब्रीएलका अर्थ होना चाहिए God of might = बल-देव×। परमात्मा एक है और उसकी शक्तियां अनेक हैं, और इन्हींको देव, देवी, देवता, देवदूत, God, Spirit, angel, prophets आदि वैदिक साहित्य तथा बाइबलमें समानरूपसे माना गया है [देखो उक्त चार आंग्ल शब्दोंके अर्थ भाग २६ में] इतनी विवेचनासे सिद्ध हुआ कि बाइबलके अनुसार गॅब्रीएल वा जिब्रील 'बलके देव' हैं, फिर वह बल आत्मिक हो वा शारीरिक।

मुस्लिम साहित्यने जिब्रीलके अर्थ 'परमात्माका चाकर' किया। इस अर्थकी अशुद्धि हमने न्यु रायल डि० के प्रमाणसे सिद्ध करते हुए अरबी भाषाके अनुसार भी जिब्रीलको बल वा शक्तिका देव सिद्ध किया। इसी अर्थकी पुष्टि कन्कार्डन्सने की। अब आगे देखिए कि स्वयं ऋषि दयानन्द भी इसी अर्थको किस प्रकार परिपुष्ट करते हैं!

६. 'वायु' शब्दकी व्युत्पत्ति और

अर्थ- ऋषि दयानन्द सत्यार्थ प्रकाशके प्रथम समुल्लासमें लिखते हैं.—

---

* यह भी मौलानाकी खैंचातानी है! जब्रका अर्थ है जबरदस्ती = Force = जोर = शक्ति = बल। दंड = Impossition। जुल्म = oppression। इसी कारण अरबीमें अल्लाहका एक नाम जब्बार = जालिम = oppressor वा omnipotent [सर्व शक्तिमान] पड़ा है। इसी जब्रसे जब्राईल वा जिब्रील शब्द बने (The New Royal Dictionary) अब जिब्रील = God of might सिद्ध हुआ!!!

× इस प्रकारकी अनुवादकी भूल बाइबलमें सैकडों स्थानोंपर सर्वत्र हुई है!!! यह भूल वेदको न जानते हुए बाइबलका अर्थ करनेके कारण हुई है! अथर्ववेद २।१ में परमधाम=सूर्यका वर्णन है। देवता ब्रह्म वा आत्मा है। मंत्र३में है- यो देवानां नामध एक एव॥ अ० २।१।३॥ अर्थ- जो एक परमात्मा सब देवोंके नामोंको धारण करता है॥३॥ अर्थात् देवदूतों आदिके नाम [वे परमात्माके अंश होनेके कारण = उसके कुछके गुणोंको धारण करनेके कारण] तो परमात्मापर लागू हो सकते हैं, परंतु इतनेसे वे स्वयं परमात्मा नहीं कहला सकते! इसी कारण Gabriel का अर्थ God is mighty न करते हुए God of might ही करना उचित है। वायु आदि परमात्माके नाम हो सकते हैं, जैसे कि स्वयं ऋषि दयानन्दने भी सत्यार्थ प्रकाशमें लिखे हैं, परंतु इतनेसे वायु, जल, पृथ्वी, अग्नि आदि ब्रह्म वा परमात्मा बन नहीं सकते, ऐसा वेदका सिद्धान्त है। तभी तो वारंवार लिखना पडता है कि बाइबल तथा कुर्आनका एक भाष्य तो अवश्यही किसी वेदके विद्वानको करना चाहिए।

. ॐ.

'वा गतिगन्धनयोः' इस धातुसे वायु शब्द सिद्ध होता है। 'गन्धनं हिंसनम्' ['वायु' शब्द वा धातुसे निकला है जिसका अर्थ है गति देना अथवा मारना = To move or to kill]

यो वाति चराचरञ्जगद्धरति बलिनां बलिष्ठ: स वायुः।

अर्थ- जो चराचर जगत्का धारण-कर्त्ता, जीवन-दाता, तथा प्रलय-कर्त्ता है और जो बलवानोंमें सबसे अधिक बलवान है, उसीको वायु कहते हैं।' इसीमें सूर्यादि तेजवाले लोक उत्पन्न होते हैं और इसीके आश्रयसे रहते हैं। यही पृथ्वी तथा द्युलोकको धारण करनेवाला है। इसी कारण इसे हिरण्यगर्भः कहते हैं [देखो य० १३।४] ऐसा ऋषि दयानन्दका मत है। हिरण्यगर्भः का दूसरा अर्थ सूर्य भी है।

इतनी ऊहापोहके पश्चात जिब्रील तथा वायु देव एकही हैं, तथा दोनों 'बलके देव' हैं, ऐसा सिद्ध होता है। वायु-सेही सूर्यकी उत्पत्ति और स्थिति है-सूर्य वायुका पुत्र है, अत. सूर्य वा हनुमान भी जिब्रील सिद्ध होते हैं।

७. बाइबलका Michael अथवा Michal तथा कुर्आनका 'मीकाल' नाम भी वैदिक हैं-

कन्कार्डेन्समें मिकाएल अथवा मीकल इन दोनोंका अर्थ Who is like God दिया हुआ है। हमारा अर्थ होगा God-like = देवस्वरूप।

कुर्आनके भाष्यकार मौ० मु० अली फुटनोट १४० में मीकाल शब्द अरबीभाषाके मीक = Servant+ईल = Allah से बना हुआ [इब्ने जरीर तबरीके मतानुसार] लिखते हैं, और मीकालका अर्थ जिब्रीलके समान Servant of God [रामसेवक] ही करते हैं। फारसी भाषाकी जवाहिरुल् लुगात्में 'मीकाल = नाम फिरिश्ते जिनके सुपुर्द रिजक-रसानी [अन्न पहुंचाने] का काम है', ऐसा लिखा है।

वैदिक धर्मके अनुसार जीवोंको अन्न पहुंचाने अथवा उनका पालन-पोषण करनेका काम कौन देव करते हैं? जरायुज, अण्डज, स्वेदज प्राणियोंको विष्णु-देव अन्न पहुचाते हैं और वनस्पतियोंमें रस उत्पन्न करके सोम=चन्द्रमा उनका पालन-पोषण करते हैं। अतः मिकाएल नाम संस्कृतके मः+कः+ईल इन तीन शब्दोंसे बना है, जिनके आपटेकृत अर्थ हैं-

मः = चंद्रमा, यम, विष्णु, शिव, ब्रह्म।

कः = विष्णु, अग्नि, वायु, यम, सूर्य, आत्मा, ब्रह्म।

ईलः = देव।

अब गणितके हिसाबसे यदि समान गणवाची शब्द (Factors) दोनों ओरसे निकाल दिए जाएं तो म में चन्द्रमा तथा शिव और कः में अग्नि सूर्य, तथा वायु ये नाम शेष रहेंगे। अब निश्चयपूर्वक सिद्ध हुआ कि बाइबल तथा कुर्आनका क्रमशः मिकाईल तथा मिकाल वेदका मित्रावरुणौ ही है!!! मित्रावरुणौके अर्थ हैं सूर्य-चन्द्र, इत्यादि।

ऋग्वेद १।८०।११,१।३२।५,६।२०।२,५।३०।६,१।११।५ तथा १।१४।१ आदि अनेक मन्त्रोंमें इन्द्र और वृत्रके युद्धका वर्णन है। आश्चर्यकी बात है कि यही युद्ध बाइबलके प्रकाशित वाक्य (Revelation) अध्याय १२ में वर्णित है, और वहां इन्द्र = Michael और वृत्र = Dragon बताया गया है!!! अतः स्वयं बाइबलके अनुसार भी मीकाईल = इन्द्रदेव सूर्य है!!! यही देवासुर संग्राम है। यही सूर्य ओर अहि = सांप = बादलोंकी लडाई है।

पाठको! वैदिक देवताएं अनेक रूपोंमें कुर्आन और बाइबलमें घुसी हुई हैं, परंतु दुःख है कि आजतक किसीको अत्यावश्यक खोज करनेका अवसर नहीं मिला।

८. जिब्रील तथा मीकालको न समझनेके कारण यहूदियों-मुसलमानोंमें मत-भेद!

वैदिक देवताओंके स्वरूप तथा गुण-कर्म-स्वभावसे अपरिचित रहनेके कारण यहूदी और मुसलमान भी आपसमें उलझ पडे। मौ० मु० अली उसी फुटनोट १४० में लिखते हैं-

Michael was regarded by the Jews as a friend, " the great prince which standeth for the children of thy people (Daniel 12:1). And they looked upon Gabriel as their enemy

because he was considered to be an avenging angel who brought down Divine punishment upon the guilty. But in the Bible, as in the Holy Quran, Gabriel is mentioned as delivering Divine messages to men, as in Daniel 8 : 15 and Luke 1 : 19 and 26. According to Muqatal, the Jews considered Gabriel as their enemy because they thought he was charged to convey the gift of prophecy to the Israelites, and he conveyed it to another people i.e. the Ishmaelites (Razi Imam Fakhruddin).

अब पाठकही विचारें कि क्या कभी जिब्रील = वायु-देव वा सूर्य-देव तथा मिकाइल = मित्रा-वरुणौ किसी जाति विशेषसे प्रेम वा द्वेष कर सकते हैं? ये ईश्वरीय शक्तियां सदा निष्पक्ष रहकरही ससारमें कार्य किया करती हैं। परंतु इतना समझनेके लिए वैदिक सिद्धान्तोंका ज्ञान आवश्यक है।

९. Israel=इस्राईल नाम भी वैदिक है—

''कन्कार्डन्सके Israel का अर्थ Ruling with God दिया है। ई सन १७३९ पूर्व ह० याकूब (Jacob) हुए हैं। इस्राईल उनका नया नाम है (कन्कार्डन्स). ह० याकूब अथवा ह० इस्राईलके अनुयाई Iraelite=इस्राईल वा Jews = यहूदी कहलाते हैं।

यह इस्राईल शब्द वेदके असुर+ईलसे बना है। आपटेके कोशानुसारः—

असुर विशेषण है जो ब्रह्म तथा वरुणसे लगता है। इसके अर्थ हैं निराकार=Incorporeal तथा Divine= ईश्वरीय। ऋग्वेदमें यह शब्द परमात्मा देव = God, ब्रह्म=Divine अर्थोंमें आया है और कियेक मुख्य देवताओं इन्द्र, अग्नि, वरुण आदिसे लगाया गया है। अस् धातुका अर्थ है चमकना = To shine अतः असुरः का एक अर्थ सूर्य भी है।

अतः इस्राईल शब्द वेदका असुराईल है जिसके अर्थ हैं सूर्यदेव वा प्रकाशदेव। संस्कृतमें राज् धातुका अर्थ जहां एक और Shine = glitter = चमकना या प्रकाश देना है, वहां दूसरी ओर To rule or Govern=राज्य करना भी है। कदाचित् इस्राईलमें रा आनेसे कन्कार्डन्सने Ruling = राज्य अर्थ किया है। इस प्रकार इस्राईल शब्दमें भी सूर्य विद्यमान हैं!!

१०. बाइबलका Ishmael तथा कुर्आनका 'इस्माईल' भी वैदिक शब्द हैं—

११. शिवलिंगकी शक्तिसे मुसलमानोंने किब्ला बदल दिया!

कन्कार्डन्समें Ishmael का अर्थ है God (is) hearing = परमात्मा सुन रहा है। ऐसा अर्थ करनेका कारण यह है कि इब्रानी भाषाका Shama = शम शब्द बाईबलमें ७३० जगह Hear = सुननेके अर्थोंमें और १९६ जगह Hearken = ध्यान देनाके अर्थोंमें उपयुक्त हुआ है ×। यही शम अरबी भाषामें समू भ बना जिसके अर्थ हैं, सुनवाई, सुननेके साधन, कान। परंतु वैदिक धर्मको न समझने और बाईबल तथा कुर्आनका मिलान न करनेके कारणही ऐसा अर्थ किया गया है।

ह० इब्राहीमकी धर्मपत्नी साराकी बान्दी (maid) हाजरा (Hagar) के पेटसे ह० इब्राहीमने ह० इस्माईलको ई० सन १९११ वर्ष पूर्व उत्पन्न किया था।

मौ० मु० अली फुटनोट ६५५ में लिखते हैं कि ह० ईसाके स्वर्गवास होनेके बाद इस्राईल जातिमेंसे Spiritual inheritance = आत्मिक विरासत निकल कर इस्माईल कुलके ह० मुहम्मद साहेबको प्राप्त हुई। कुर्आन १९।५४-५ में ह० इस्माईलको पैगम्बर माना गया है। कुर्आन १४।३७ तथा उसपर फुटनोट १३१९ से पता लगता है कि ह० इस्माईल अर्बस्थानमें आकर मक्केके आसपास रहने लगे। कुर्आन २।१२५ तथा उसपर दिये हुए नोट १७० से पता लगता है कि बाइबलका Bethel, अरबीका बैतुल्लाः वा काबाका मंदिर जो ह० इब्राहीमसे भी सहस्रों वर्ष पूर्वका बना हुआ था, उसकी मरम्मत ह० इब्राहीम और ह० इस्माईलने की थी। फुटनोट १७० से पता चलता है कि इस काबा वा मक्केके मंदिरकी यात्रामें प्राचीन-

× देखो कन्कार्डन्समें Index Lexicon to the old Testament.

कालसे दूर दूरके लोग एकत्र होते थे, और उनमें ह० इब्राहीम भी आया करते थे ×। मक्केके आकर्षणने ह० इब्राहीम व ह० इस्माईलकोही नहीं स्वयं ह० मुहम्मद सा० तथा कुर्आनके कर्ता अल्लाहको भी अपनी ओर खींच लिया ! ! ! कुर्आन २।११५ में हैः—

पूर्व और पश्चिम अल्लाहकीही हैं। अतः आप जिस ओर भी (नमाज पढनेके लिए) मुख फेरेंगे, उसी ओर अल्लाहका सामना है (क्यों? इसलिए कि) निःसन्देह अल्लाह सर्वव्यापी और सर्वज्ञ है॥'

कुर्आन ७३।९ में भी कहा है कि अल्लाह पूर्व तथा पश्चिम दोनोंका स्वामी है।

यही वेदका मत है ! इसी बातका २।१४८ में अधिक स्पष्ट करते हुए अल्लाह कहते हैं:- 'और प्रत्येककी एक दिशा है जिधर वह (नमाज पढते हुए) अपना मुख करता है (अत: दिशाकी पर्वा न करते हुए, हे मुसलमानो!) तुम शुभ कर्मोंको अपनाओ.. ' यहां भी किब्ला (स्थान विशेषकी ओर मुख करने) से कर्मको प्रधानता दी गई है। परंतु ह० मुहम्मद साहेब ह० इब्राहीमके अनुयाई होनेके कारण मक्केके मंदिरकी ओर मुख करके नमाज पढना चाहते थे। इसी कारण लाचार होकर अल्लाहको भी अपना मत बदलना पडा !! अतः २।१४४ में अपनी उपरोक्त बातोंको रद्द करके वे ह० मुहम्मदको कहते हैं:—

'...तू (घबरा नहीं) जो 'किब्ला' तू चाहता है, उसीकी ओर मुख करनेकी आज्ञा हम तुझे देंगे। (अच्छा!) तो (अब नमाज पढते समय) आदर-सन्मानके मंदिर (काबा) की ओर अपना मुख किया कर। और (हे मुसलमानो! तुम भी) जहां कहीं रहो वहींसे अपने मुख उसी ओर किया करो. .' इसी आज्ञाके अनुसार भारतीय मुसलमान पश्चिमकी ओर मुख करके नमाज पढते है, इसलिए कि अर्बस्थान और मक्का भारतके पश्चिममें है+। अतः सिद्ध हुआ कि मक्केके मंदिरने स्वयं अल्लाहको भी अपने पक्षमें कर लिया, और २।११५ में दिखाई गई उसकी सर्वव्यापकता और सर्वज्ञतापर पानी फेर दिया!!! अस्तु।

प्रश्न– मक्केके मंदिरमें ऐसी कौनसी आकर्षण शक्ति है, जो ह० इब्राहीम ह० इस्माईल, ह० मुहम्मद और स्वयं अल्लाह (कुर्आनके कर्त्ता) को भी अपनी ओर खेंच सकती है?

उत्तर– वही Black stone=हजरल् अस्वद्=शिव लिंग (काला-पत्थर) जो ३५९ मूर्तियोंके निकल जानेके पश्चात् भी अबतक मक्केमें उपस्थित है, और जिसे चूमनेके बिना मुसलमानोंका मक्केका हज पूरा नहीं होता !!! यह हमाराही मत नहीं,ईसाई लेखकोंका भी यही मत है, जिसका स्वयं मौ० मु० अलीने फुटनोट १९१ में उल्लेख किया है।

११. अरब जातिका नाम केदार है !

१२. शिवजी तो समानतया सबके हैं !

इतने विवेचनके पश्चात् यह कहना पर्याप्त है कि ह० इब्राहीम, ह० इस्माईल, ह० मुहम्मद, और उनके अनुयाई मुसलमान शिवभक्त हैं। वैदिक धर्मके जून, जुलै १९४४ के अंकोंमें भी हमने दिखाया है कि यहूदियों ईसाइयों तथा मुसलमानोंमें शिवजी भिन्नभिन्न रूपोंमें विद्यमान हैं।

प्रश्न— जिस प्रकार यहूदी अपनेको ह० इस्हाईलकी सन्तान समझते हैं, उसी प्रकार मुसलमान भी अपनेको ह० इस्माईलकी औलाद समझते है। कारण क्या?

उत्तर— कारण यही है कि मक्केका शिवलिंग= Black stone और इस्माईल समान अर्थक शब्द हैं ! अश्मा संस्कृत शब्द है जिसका अर्थ है पत्थर+ईल=देव। अतः इस्माईल = Ishmael = अश्माईल = पाषाणदेव= शिवलिंग !!!

प्रश्न— तो क्या ह० इब्राहीमने अपने पुत्रका नाम पाषाणदेव रखा था?

× True according to it the Ka'ba existed before Abraham, but this does not imply that Abraham never visited it (F. Note 170).

+ इस हिसाबसे तुर्की लोग दाक्षिणकी ओर और मिश्र तथा सुदानके लोग पूर्वकी ओर मुख करके नमाज पढते होंगे!

उत्तर- जी हां ! महाराष्ट्रमें आजतक धोंडोपंत दगडोबा आदि नाम बच्चोंके रखे जाते हैं। 'अश्मा भव !' हे बालक ! तू पत्थरके समान दृढ हो। ऐसा वैदिक आशीर्वाद तो बालकके लिए आर्यसमाजकी संस्कारविधिमें भी मिलता है। अतः अश्माईल नाम वैदिक है !

पाठकोंको अधिक आश्चर्य यह सुनकर होगा कि जब ह० इस्माईलको पुत्र उत्पन्न हुआ तो उसने उसका नाम kedar = केदार रखा ! ! ! हिमालय पर्वतपर केदारलिंगकी यात्रा करनेको हजारों हिन्दू जाते है। स्वयं मौ० मु० अली लिखते हैं:—

In the Old Testament. Kedar, the son of Ishmael, stands for Arab nation (Foot note 1831)

इसी नोटमें बाइबल यशायाह ४२।११ से मौलवीजी सिद्ध करते हैं कि बाइबलके अनुसार अरब जातीका एक नाम केदार भी है !

भजन संहिता ११८।२२,२३ तथा १६ में यहूदियोंने जो शिव-स्तोत्र गाये हैं, वे पाठक आगे पढेंगे। इनसे सिद्ध होता है कि यहूदी भी शिव-भक्त तथा मक्केके शिव-लिंगके उपासक थे ! ! ! हिन्दू तो आज भी शिवके उपासक हैं। अतः शिव तो सबके हैं !

१४. मुसलमानोंका शिव-पूजनसे घबराना।
१५. यहूदियोंका शिव-स्तोत्र गाना।
१६. बाइबलका काबेके शिव-लिंगको येहोवा द्वारा प्रस्थापित मानना।

फुटनोट १४८ में मौ० मु० अली लिखते हैः-

That the kissing of black stone is not inconsistent with true monotheism...and as proof of this I may add here Umar's words. "Verily I know that thou art a stone; thou dost no good or harm in the world, and if it was not that I saw the prophet kiss thee, I would not kiss thee ".(Mishkat-ul-Masabih)

पाषाण पूजासे जी घबराता है परंतु छोड नहीं सकते ! एक ईश्वरोपासनामें काला पत्थर चूमना बाधा नहीं डालता!! ऐसी युक्ति कौन मानेगा ?

और ह० उमरकी इस युक्तिको भी केवल मुसलमानही मान सकते हैं कि 'मैं पत्थरको इसलिए चूमता हूं कि मैंने ह० मुहम्मदको इसे चूमते देखा था।' अन्य लोगोंकी दृष्टिमें तो यह एक पत्थरपूजाके लिए बहाना ढूंढना है— दलील नहीं है।

फुटनोट १९१ में भी मौ० मुहम्मद अलीने मुसलमानोंको पत्थर-पूजाके आरोपसे बचानेके लिए बडा यत्न किया है, यथाः—

1. " Kaba has never been supposed by any Muslim to possess any divine attribute "

परंतु उसी जगह अर्थात् २।१४९ में स्वयं कुर्आन काबेको **मस्जिदिल् हराम**=Sacred Mosque = पवित्र मंदिर कहता है। हम मौलवी साहेबसे विनयपूर्वक पूछते हैं कि क्या पवित्रताई Divine attribute नहीं है ? यदि काबेमें कोई भी ईश्वरी गुण नहीं तो फिर उसे बैतुल्लाह = अल्लाहका घर क्यों समझते हो ? क्या इस घरमें अल्लाह गुण-रहित होकर रहा करता है ?

२ और देखिए !

Even the idolatrous Arabs never worshipped the kaba, though they had placed idols in it which they worshipped (F. N. 191)

इम भी तो यही कहते हैं कि मुसलमान काबेको नहीं पूजते हैं, बल्कि उसमें रखे हुए शिवलिंगको।

३. और आगे देखिए !

It should also be borne in mind that the famous black stone was not one of the Arab idols, nor can the kissing of it in performing the pilgrimage be looked upon as a remnant of idolatry. That Stone stands only as a monumeut " The stone which the builders refused is become the head stone of the corner. Psalms *118:22* " (*F. N. 191*).

मौलवीजी ! सेमेटिक जातियोंकी पूजा चूमनेसे होती है। न्यायालयोंमें शपथ लेनेके समय मुसलमान कुर्आनको और ईसाई बाइबलको चूमा करते है। मस्जिदों और अपने घरोंमें भी खोलकर पढनेसे पूर्व वे इन्हें चूमा करते हैं। यह पुस्तक पूजा है और वह पाषाण पूजा ! Monument का अर्थ है 'यादगारीका पत्थर या सुतून' (The

new Royal Dictionary) मुसलमान तो चित्रकारी और यादगारें (Statues) आदि बनाना पाप समझते हैं ? फिर इन्हे चूमना कैसे ? ह० उमरके शब्द स्पष्ट कह रहे हैं कि हे पाषाण ! मैं निश्चयपूर्वक जानता हू कि तू [Monument नहीं अपितु] एक पत्थरही है । [और यद्यपि तुझे लोग पूजते हैं तथापि] तू संसारमें कुछ भी भलाई बुराई नहीं कर सकता । और यदि मैंने पैगम्बर [ह० मुहम्मद सा०] को तुझे चूमता न देखा होता, तो मैं तुझे नहीं चूमता ।' (मिश्कातुल् मसाबिः) मौलवीजी कुर्आन अथवा हदीससे तो इसे Monument सिद्ध नहीं कर सके, परंतु हमने इसे अस्माईल वा शिवलिंग सिद्ध कर दिया है !!! रही बात भजन सहिता ११८।२२ की । इससे भी मौलवीजीका Monument सिद्ध नहीं होता ! हां ! ऐसा सिद्ध होता है कि शिवलिंगकी स्थापना स्वय येहोवाने ह० इस्माईलके उत्पन्न होनेके सहस्रों वर्ष पूर्वकी थी !!! अगला भजन इस प्रकार है:—

This is the Lord's doing (Hebrew = This is from the Lord), It is marvellous in our eyes (23) Blessed be he that cometh in the name of the Lord, we have blessed you out of the house of the Lord (Psalms 118.26)

हिन्दी बाइबलका अनुवाद देखिए:— 'राजोंने जिस पत्थरको निकम्मा ठहराया था सो कोनेके सिरेका हो गया है (२२) यह तो येहोवाकी ओरसे हुआ । यह हमारी दृष्टिमें अद्भुत है (२३) धन्य है वह जो येहोवाके नामसे आता है । हमने तुमको येहोवाके घर [काबे = बैतुल्ला] से आशीर्वाद दिया है, (भजन सं० ११८।२६)

मौलवीजी ! Monument या यादगार होता, तो उसकी स्थापना ह० इस्माईलके पश्चात् होती ! परंतु यह 'म: क:' महाकालेश्वरका मंदिर तो अति प्राचीनकालमें हिन्दुओंने बनाया और उसमें शिवलिंग स्थापित किया था ! इसी प्राचीनताके कारणही बाइबलको स्पष्ट कहना पडा कि '**इस शिवलिंगकी स्थापना स्वयं येहोवा [अल्लाह] ने की है और यह शिवलिंग हमारी दृष्टिमें भी अद्भुत = चमत्कारिक है ! यह शिवलिंग इसलिए धन्य है, कि वह** [ह० इस्माईल आदि किसी मनुष्यकी यादगार न होते हुए] **स्वयं शिव = येहोवा अथवा अल्लाहके नामको धारण किए हुए है !!** [इस शिवलिंगकी उपस्थितीके कारणही यह मक्केका मंदिर काबा वा बैतुल्लाह = येहोवाका घर = शिव-मंदिर कहलाता है] **और इसी शिवस्थानसे हमने तुमको आशीर्वाद दिया है** ॥२६॥ पाठको ! बाइबलके प्रमाण तो मौ० मुहम्मद अलीके मतका अकाट्य खण्डन तथा हिन्दुओंके मतका बलपूर्वक समर्थन करते हैं !! परंतु सत्यको ग्रहण करना हर किसीका काम नहीं है । साथही हम कुर्आनके उन भाष्यकारोंका धन्यवाद करते हैं, जिन्होंने स्पष्ट लिख दिया कि जनाईल तथा मीकाईल अरबीके शब्द नहीं । होना भी नहीं चाहिए । क्योंकि वैदिकधर्मही सृष्टिका मौलिक धर्म और संस्कृत = वेदकी भाषाही संसारकी आदि भाषा है !! अतः पीछेसे उत्पन्न हुए मत-मतान्तरोंके अनेकों नाम इसी वैदिकभाषासे लिए गए हैं, और यही सिद्ध हो रहा है ।

दैवत-संहिता।

प्रथम भाग तैयार है। द्वितीय भाग छप रहा है।

आज वेद की जो संहिताएँ उपलब्ध हैं, उन में प्रत्येक देवता के मन्त्र इधरउधर बिखरे हुए पाये जाते हैं। एक ही जगह उन मंत्रों को इकट्ठा करके यह **दैवत-संहिता** बनवायी गयी है। प्रथम भाग में निम्न लिखित ४ देवताओंके मंत्र हैं-

देवता	मंत्रसंख्या	पृष्ठसंख्या	मूल्य	डाकव्यय.
१ **अग्निदेवता**	२४८३	३४६	३) रु.	।॥)
२ **इंद्रदेवता**	३३६३	३७६	३) रु.	।॥)
३ **सोमदेवता**	१२६१	१५०	२) रु.	॥)
४ **मरुद्देवता**	४६४	७२	१) रु	॥)

इस प्रथम भाग का मू. ६) रु. और डा. व्य. १॥) है।

इस में प्रत्येक देवता के मूल मन्त्र, पुनरुक्त मंत्रसूची, उपमासूची, विशेषणसूची तथा अकारानुक्रम से मंत्रोंकी अनुक्रमणिका का समावेश तो है, परंतु कभी कभी उत्तरपदसूची या निपातदेवतासूची इस भाँति अन्य भी सूचीयाँ दी गयी हैं। इन सभी सूचीयों से स्वाध्यायशील पाठकों की बडी भारी सुविधा होगी।

संपूर्ण दैवतसंहिताके इसी भाँति तीन विभाग होनेवाले हैं और प्रत्येक विभाग का मूल्य ६) रु. तथा डा. व्य. १॥) है। पाठक ऐसे दुर्लभ ग्रन्थ का संग्रह अवश्य करें। ऐसे ग्रन्थ बारबार मुद्रित करना सभव नहीं और इतने सस्ते मूल्य में भी ये ग्रन्थ देना असंभव ही है।

वेदकी संहिताएं।

वेद की चार संहिताओंका मूल्य यह है-

संहिता	मूल्य	डा० व्य०
१ **ऋग्वेद** (द्वितीय संस्करण)	६)	१।)
२ **यजुर्वेद**	२॥)	॥)
३ **सामवेद**	३॥)	।॥)
४ **अथर्ववेद** (द्वितीय संस्करण)	६)	१)

इन चारों संहिताओंका मूल्य १८) रु. और डा. व्य. ३) है अर्थात् कुल मूल्य २१) रु. है। परन्तु पेशगी म० आ० से सहूलियतका मू० १८) रु० है, तथा डा० व्यय माफ है। इसलिए डाकसे मंगानेवाले १५) पंद्रह रु० पेशगी भेजें।

यजुर्वेद की निम्नलिखित चारों संहिताओं का मूल्य यह है-।

संहिता	मूल्य	डा० व्य०
१ **काण्व संहिता** (तैयार है)	४)	।॥)
२ **तैत्तिरीय संहिता**	६)	१)
३ **काठक संहिता** (तैयार है)	६)	१)
४ **मैत्रायणी संहिता**	६)	१)

वेदकी इन चारों संहिताओं का मूल्य २२) है, डा. व्य. ३॥) है अर्थात् २५॥) डा. व्य. समेत है। परंतु जो ग्राहक पेशगी मूल्य भेजकर ग्राहक बनेंगे, उनको ये चारों संहिताएं २२) रु० में ही जायंगी। डाकव्यय माफ होगा।

– मंत्री, स्वाध्याय-मण्डल, औंध, (जि० सातारा)

Regd. No. B. 1463

मुद्रक और प्रकाशक- व० श्री० सातवलेकर, भारत-मुद्रणालय, औन्ध,

आश्विन सं. २००२
नवंबर १९४५

विषयसूची।

१ सबका एक मात्र प्रभु — १
२ एक और अनेक देव — २
३ मेधातिथि ऋषिका दर्शन — ५७-८२
४ भगवद्गीता और वेदगीता — ३३-४०
५ राष्ट्रभाषाका प्रश्न — २५१-२५६
६ वेदसूक्तावलि-कवि — २५७-२५८

संपादक
पं. श्रीपाद दामोदर सातवळेकर

वार्षिक मूल्य
म. ऑ. से ५) रु.; वी. पी. से ५।≈) रु
विदेशके लिये १५ शिलिंग।
इस अंकका मू. ॥) रु.

क्रमांक ३११

क्रमांक ३११

वर्ष २६ | आश्विन संवत् २००२, नवंबर १९४५ | अङ्क ११

सबका एकमात्र प्रभु

नीचीनवारं वरुणः कवन्धं, प्र ससर्ज रोदसी अन्तरिक्षम् ।
तेन विश्वस्य भुवनस्य राजा, यवं न वृष्टिर्व्युनत्ति भूम ॥

(ऋ० ५।८५।३)

" वरुण नीचेसे खुलनेवाले कोशको (मेघको) पृथ्वी और अन्तरिक्षके बीचमें निर्माण करता है। सारे भुवनका वह एकमात्र राजा, वृष्टि जौके खेतको बनानेके समान, भूमिको उससे रसवाली बना देता है। "

वरुण सबसे श्रेष्ठ देव है, वही एकमात्र सबका प्रभु है। वह आकाश और पृथ्वीके बीचमें ऐसा एक जलका कोश अर्थात् मेघ निर्माण करता है, कि जो नीचे पृथ्वीकी ओरसे खुलता है, और जो पृथ्वीको रससे परिपूर्ण बना देता है। वृष्टीसे ही सब पृथ्वी रसयुक्त होती है। जलसे सब वृक्षवनस्पतियाँ नाना रसोंसे भरपूर भरती हैं। पृथ्वीके अन्दरका रस वनस्पतियोंसे ही मनुष्योंको मिलता है। यह मेघ न हो तो कुछ भी वृष्टि न होगी, और वृष्टि न होनेसे पृथ्वीपर जल न होगा और रस भी नहीं मिलेगा।

एक और अनेक देव.

वैदिक धर्ममें अनेक देवोंका अस्तित्व देखकर अन्य धर्मके लोग तथा इस धर्मके भी अज्ञानी लोग घबराते हैं। परंतु वैदिक धर्ममें एक, तीन, तेंतीस और इसी अनुपातसे तैंतीस करोडतक देवताएं होनेपर भी एक प्रभुका होना स्वयं सिद्ध है।

मूल एक ही '**सत्**' है। उसको ब्रह्म, परब्रह्म, आत्मा, परमात्मा, देव, महादेव आदि कहते हैं। 'सत्, तत्, ॐ, ओं, ओम्, ओ३म्' आदि उसीके वाचक पद हैं, सभी नाम उसीके होनेपर भी वह स्वयं 'अ-नाम' ही है, नामरहितही वह है।

उसीके रूप पृथ्वी, आप, तेज, वायु, आकाश ये पंचतत्त्व हैं। पृथ्वीपर अग्नि, अन्तरिक्षमें विद्युत् और द्युलोकमें सूर्य उसीके रूप हैं। पृथ्वीपर वृक्ष, वनस्पति, पत्थर, नदी, समुद्र, आप्, जल आदि देवताएं उसीके रूप हैं, अन्तरिक्षमें वायु, प्राण, रुद्र, इन्द्र, चन्द्र, मेघ आदि हैं। द्युलोकमें- आकाशमें- सूर्य, ग्रह, नक्षत्र, तारागण आदि अनेक देव हैं। इस तरह उसी एकही सत्के ये सब देवगण रूप हैं। एक सत् है उसी को अग्नि इन्द्र आदि कहते हैं ऐसा श्रुति इसीका वर्णन करती है। इसका तात्पर्य यह है कि सब विश्व ही उसका रूप है।

इसके लिये एक अच्छा उदाहरण हम देते हैं। '**काल**' एकही है। इस कालके विपल, पल, घटि, मुहूर्त, प्रहर, दिन, रात्री, सप्ताह, पक्ष, मास, ऋतु, अयन, वर्ष, युग, चतुर्युगी, ब्रह्मदिन, ब्रह्मरात्री आदि विभाग हैं। पर इनके बननेसे कालमें कौनसा फर्क हुआ है? काल एक अखण्ड जैसा था वैसा है और वैसाही अखण्ड अनन्त रहेगा। कालकी एकता और अखण्डिततामें इतनी कालावयवोंकी कल्पनासे कोई हेरफेर नहीं होता।

इसी तरह अग्नि विद्युत् और सूर्य ये तीन प्रत्यक्ष परस्पर विभिन्न देव हैं, पर इनके विभेदसे तीनोंके आग्नेयपनमें कौनसा फर्क होता है? तीनों देव अग्नितत्त्वके ही रूप हैं। अर्थात एकही अग्नितत्त्व है ऐसा कहना और पृथ्वीपर अग्नि अन्तरिक्षमें विद्युत् और द्युलोकमें सूर्य है ये परस्पर विभिन्न हैं, ऐसा मानना यह कल्पनाका भेद हैं, वस्तुगत भेद नहीं है इस सबका तात्पर्य एकही है। अग्नितत्व एक है। यह तत्त्व दृष्टीसे एकता है और कल्पनाके भेदसे अग्न्यादिकोंकी भिन्नता भी है।

इसी तरह एक आत्मतत्त्व है और उससे बने ये तीन, तैंतीस या तैंतीस करोड देवताएं ठीक पूर्वोक्त उदाहरणोंके समानही तत्त्व दृष्टीसे एक परंतु वस्तुनिष्ठासे विभिन्न है। अतः ईश्वर एकही है, यह भी सत्य है, और देवताके नाना रूप उसीके रूप हैं यह भी सत्य है।

एकत्व और अनेकत्व यह कल्पनाके भेद हैं। तत्त्व दृष्टीसे सबकी एकताही है।

ओंकार सब शब्दोंमें व्यापक है अर्थात् 'ओ—३—म्' ध्वनिके ही सब भाषाओंके सब शब्द बने हैं। शब्दोंकी विभिन्नता है, भाषाकी विभिन्नता है, यह होते हुए भी ओंकारकेही ये रूप है, इसमें कोई संदेह नहीं है। इसी तरह यह देवता-व्यवस्थाके बारेमें समझना चाहिये।

तत्त्वतः एकही सत् है, वही आत्मा या ईश्वर है और उसीका यह विश्वरूप है, विश्वरूपही ईश्वर है, इसीलिये उसको 'पुरुरूप' कहते हैं और उसीको बहुरूप, सर्वरूप, विश्वरूप कहते हैं।

अथर्ववेदने '**ब्रह्म**' और **ब्राह्माः**' ये पद '**एक देव**' और '**अनेक देवता**' का बोध करानेके लिये प्रयुक्त किये हैं। एक '**ब्रह्म**' ही 'ईश्वर' है और '**ब्राह्माः**' अनेक देवता हैं। '**ब्रह्म**'के ही अन्यदेव बने होनेके कारण सब देवताओंको '**ब्राह्माः**' कहा है। ब्रह्म और ब्राह्म ये पद तत्त्वतः एकत्व बताते हैं।

इस तरह एक और अनेक देवताओंका तत्व निर्णय है। अनेक देवता मानना शास्त्रशुद्ध है और उस कारण प्रभुकी एकतामें कोई न्यूनता नहीं होती।

१० नियमते- शत्रुको अधीन करके नियमोंमें रखता है। (मं. २६)

११ ऋषिवः- ज्ञानियोंके साथ रहनेवाला, (मं. २८)

१२ कारी- कर्म करनेमें कुशल, कारीगर, (मं २९)

१३ तुविकूर्मिः- अनेक प्रशंसनीय कर्म करनेवाला,

१४ वज्रहस्तः- शस्त्र हाथमें लेनेवाला वीर,

१५ सनात् अमृक्तः- सदा विजयी, (मं ३१)

१६ विश्वा चर्षणयः यस्मिन्- सब मानव जिसका आश्रय करते हैं।

१७ च्यौत्ना ज्रयांसि यस्मिन्- सब बल और प्रभाव जिसमें हैं, (मं. ३३)

१८ वाजदावा- अन्न का दान करता है, (मं ३४)

१९ प्रभर्ता- विशेष रीतिसे भरण पोषण करनेवाला,

२० अपाकात् अवति- दुष्ट शत्रुसे बचाता है,

२१ इनः- स्वामी, प्रभु, मालिक है, (मं. ३५)

२२ विप्रः- ज्ञानी,

२३ अर्वद्भिः सनिता- घोडोंसे आनेवाला,

२४ सत्यः- सत्य-प्रतिज्ञ, सत्य-पालक,

२५ विधन्तं अविता- प्रयत्नशीलकी सुरक्षा करनेवाला, (मं ३६)

२६ सत्यमद्वा- सत्य आनन्द देनेवाला, (मं ३७)

२७ सत्पतिः- सत्यका पालन करनेवाला,

२८ वाजी- बलवान्, अन्नवान्,

२९ श्रवस्कामः- यशका इच्छुक, (मं.३८)

इन्द्रके ये गुण इस सूक्तमें वर्णन किये गये हैं। पूर्व सूक्तमें आये कई पद यहा पुनः नहीं रखे हैं। पाठक उनका अर्थ विचार करते समय मनमें ले सकते हैं। इस ऋषिने इस सूक्तमें जो आदर्श वीर मनुष्योंके सामने रखा है, वह इन पदोंसे वर्णित होता है। इस आदर्शकी कल्पना पाठक करें और उसको अपने सामने रखें और स्वयं वैसा बननेका यत्न करें। यही मनुष्यकी उन्नतिका अनुष्ठान है।

सोम-रस-पान

इस सूक्तमें भी सोमरसपानका बहुत वर्णन है। इस वर्णनमें निम्नलिखित बातें मननीय हैं-

१ सुतं अन्धः- यह सोमरस अन्न है, प्राणधारण करनेका सामर्थ्य (अन्-धः) इस रसमें है।

२ सुपूर्णं उदरं पिब- सोमरस पेटभर पीया जा सकता है (अर्थात् पेटभर पीनेसेभी हानि नहीं होगी) (मं १)

३ नदीमें घोडेको धोते है, वैसा यह (**धूतः**) जलोंसे धोया जाता है,

४ अश्मैः सुतः- पत्थरोंसे कूटकर रस निकालते है,

५ अव्यः वारैः परिपूतः- भेडीके बालोंसे बने कंबलसे छाना जाता है, (मं. २)

६ गोभिः श्रीणन्तः स्वादुं अकर्म- गौओंके दूध मिलानेसे यह रस मीठा होता है।

७ सधमादे (पातु)- साथसाथ अनेक वीर बैठकर पीते हैं, (मं. ३)

८ दुराशीः- (दुः-आशीर्)- बहुत प्रयत्नोंसे जिसमें अनेक मसाले मिलाये जाते हैं, (मं. ५)

९ गोभिः मृगयन्ते- गौवें पास होनेपरही जिस (सोमकी) खोज करते हैं। अर्थात् जिसके पास गौवें न हों, वे सोमरस पी नहीं सकते, क्योंकि वह बडा तीक्ष्ण होता है। (मं ६)

१० शुचिः- सोमरस पवित्र है।

११ पुरुनिष्ठाः- सोमरस अनेक पात्रोंमें रखा जाता है।

१२ मध्यतः क्षीरैः दध्ना च आशीर्तः- बीचमें दूध और दही मिलाया जाता है। (मं. ९)

१३ सोमाः तीव्राः- सोमरस तीक्ष्ण (तीखा) होता है इसलिये,

१४ आशिरं याचन्ते- उसमें (दूध आदि) मिलानेकी अपेक्षा रहती है (मं. १०)

१५ आशिरं, पुरोळाशं सोमं श्रीणीहि- दूध दही तथा पुरोळाशके साथ सोमको मिलाओ। पुरोळाश एक प्रकारकी मोटी रोटीसी होती है, उसके साथ सोम पीते हैं। (मं ११)

१६ पीतासः (सोमः) हृत्सु (युद्धयन्ते)- पीये गये सोमरस हृदयोंमें, मानसिक क्षेत्रमें, विचारोंमें हलचल मचाते हैं, अधिक उत्साह उत्पन्न करते है।

सोमरसका यह वर्णन पूर्व सूक्तके वर्णनके साथ देखें। इसमें कुछ वर्णन अधिक है। जैसा घोडा बार बार पानीसे धोया जाता है वैसा सोम धोया जाता है। जितना धोया जाय उतना अच्छा होता है। अनेक दुष्प्राप्य पदार्थ इसमें मिलाते हैं। (संभवतः) बादाम आदि पदार्थ होंगे; क्योंकि दूध दही सत्तु ये तो (दु आशीर्) दुष्प्राप्य नहीं थे। केवल

सोमरस पीया नहीं जाता, क्योंकि वह बडा तीखा रहता है। यह हृदयमें उत्साह उत्पन्न करता है।

क्या सोमपानसे नशा होती है ?

इस सूक्तसे पता चलता है कि पेटभर पीनेसेभी नशा नहीं होती। सोमरस पेटभर पीयाही जाता था। पेटभर जो रस पीया जाता था, वह नशा करनेवाला नहीं हो सकता। इस विषय में वेदका मंत्रही देखिये—

(१) हृत्सु पीतासो युध्यन्ते
(२) दुर्मदासो न सुरायाम्।
(३) ऊधर्न नग्ना जरन्ते ॥ (ऋ ८।२।१२)

१ (पीतास) पीये हुए सोमरस (हृत्सु) हृदय-स्थानोंमें (युध्यन्ते) स्पर्धा करते हैं, हलचल करते हैं, उत्साह उत्पन्न करते हैं। यह हृदय-स्थानमे होनेवाला विचारोंका युद्ध है, इसको (सुमदासः) उत्तम आनन्द और उत्साहका संवर्धन कह सकते हैं।

२ (सुरायां) सुरा पीकर (दुर्मदासः) दुष्ट नशासे भ्रान्त बने हुए लोग (न) जैसे जगत्में आपसमें परस्पर लडते हैं, [वैसा सोमपानसे नहीं होता, क्योंकि सोमरस हृदयस्थानमेंहि विचारोंका युद्ध करते रहते हैं।]

३ (न-ग्नाः) स्त्रियोंके साथ संबंध न रखनेवाले ब्रह्मचारी, अथवा (नग्ना – नजति इति) उपासक भक्त स्तोता (ऊधः न) जिस तरह गौके दूधकी (जरंते) प्रशंसा करते हैं, [वैसे ही वे सोमरसकी तथा सोमरस पीनेवाले इन्द्रकी प्रशंसा करते हैं।]

यहां सोमरस पेटभर पीनेसे मनमें उत्साहकी ऊर्मियां खलबली मचाते हैं, विचारोंमें युद्ध उत्पन्न करते हैं, यह सब विचार के क्षेत्रमेंही होता है, ऐसा कहा है। इसके विरुद्ध सुरापानकी स्थिति है। सुरापानसे ' दुर्मद ' (बुरी नशा) उत्पन्न होती है और उस बेहोशीमें जगत्में युद्ध होते हैं। सुरापानका युद्ध नशाका, ' दुर्मद ' अवस्थाका जगत्के बाह्य क्षेत्रमें है, और सोमपानसे होनेवाला युद्ध उत्तम उत्साहपूर्ण अवस्थामें होनेवाला हृदयके विचारोंके क्षेत्रमें है; यह दोनोंका भेद ध्यानमें धारण करना चाहिये। अब सुरापान और सोमपानके परिणामका विचार करना आवश्यक है—

सुरापानं	सोमपानं
दुर्मदासः	सुहार्द्
	सुमतिः
	शुचिः
	शुक्रः
	मद्यः
	मदः
	मन्दितमः

सुरापान से मनुष्य '**दुर्मद**' होता है, दुष्ट अर्थात् दोष-युक्त नशासे बेहोष होता है। इससे जो दुष्कृत्य हो सकते हैं, उनकी कल्पना पाठक कर सकते हैं।

सोमपान से **सुहार्द्** उत्तम हृदय बनता है, ' **सुमति** ' बुद्धि उत्तम होती है, '**शुचिः**' शुचिता आती है, ' **शुक्रः** ' वीर्य वृद्धि होती है, '**मद, मद्य मन्दितम** ' आनन्द उल्हास और विलक्षण स्फूर्ति होती है। इसके पीनेसे इन्द्रके जो गुण पूर्व स्थानोंमें वर्णन किये हैं, वे शरीरमें संवर्धित होते हैं। वह एकही हाथसे शस्त्र फेंककर वृत्रका वध करता है (मं. ३२)। सोमरस पेटभर पीया जाता है (मं. १)। वह प्राणोंकी धारणा करनेवाला एक उत्तम अन्न है, सुरा कदापि अन्न नहीं कहा जा सकता। सोमपानसे शरीरका भरण पोषण हो सकता है, वैसा सुरापानसे नहीं होता। सोमपानसे सैंकडों कर्म करनेकी स्फूर्ति उत्पन्न होती है, सुरापानसे बेहोशी और गलितगात्रता होती है। पेटभर सोमपान करनेपर भी मनुष्य बेहोश नहीं होता, परंतु उत्साहसे अपना कार्य ठीक तरह कर सकता है। इस तरह सोमपान और सुरापानके परिणाम परस्परविभिन्न हैं। सोमपानकी ऋषिमुनि स्तुति करते हैं, वेदमें सर्वत्र सोमपानकी प्रशंसा है, वैसी सुरापानकी कहीं भी प्रशंसा नहीं है।

' मद 'के अर्थ कोशमें ये हैं- (१) मतवालापन, उन्मत्तता, उन्माद, नशा, बेहोशी। (२) हाथीके गण्डस्थलसे चूनेवाला रस। (३) प्रेम, प्रीति, गर्व, आनंद, हर्ष, उत्साह। (४) शहद, कस्तुरी। (५) (पुरुषका) वीर्य। (६) मद्य, सोम। (७) सुंदर वस्तु। (८) नदी, जल-प्रवाह। इन अर्थोंमें ' मद ' पद आता है। ' **सुरा** ' का परिणाम ' उन्मत्तता, उन्माद, नशा और बेहोशी ' हैं और ' **सोम** 'का परिणाम ' प्रेम आनंद, हर्ष और उत्साह ' हैं। पूर्वोक्त विवरणका तात्पर्य यह है।

सोमरसके लिये 'आसुति' कहा है। यदि इससे इसको ' आसव ' माना जा सकता है, तब तो इसमें नशाके गुण-धर्म नहींके बराबरही होना संभव है, क्योंकि सोमरस दिनमें

तीन वार निकाला जाता है और तीन वारही पीया जाता है। इसलिये नशा उत्पन्न होनेवाली सडानसे उत्पन्न होनेवाली वस्तु उसमें नहीं उत्पन्न हो सकती। यहां प्रश्न उत्पन्न हो सकता है कि शराबके समान नशावाली वस्तु इसमें न हो, पर भंग जैसी होगी या नहीं? इस विषयमें बात यह है कि, वैसी भी नहीं, क्योंकि भंग पीनेसे भी मनुष्य कर्तृत्ववान् नहीं होता, पर यहां सोमपानसे कर्तृत्ववान् होता है। अतः सोमपानमें भंगके समान नशा उत्पन्न नहीं होता।

'मद, मद्य, प्रमद, संमद, मदिंतम' इन पदोंमें **'मद'** है और **'दुर्मद'** में भी **'मद'** है। मदका दुर्मद होना बुरा है। मद बुरा नहीं है, वह आनंद और उत्साहका जनक है। पेटभर सोमरस पीनेपर भी **'दुर्मद'** अवस्था नहीं होती, जो सुरापानसे और भंगपानसे होती है। यह बात ठीक तरह समझमें आनेसे सोमपानकी निर्दोषता सिद्ध हो सकती है। वेदमें 'दुर्मद' अवस्था सुरापानसे होती है, ऐसा कहा है और सोमपानसे 'मदिन्तम' अवस्था आती है। 'सु' और 'दुर्' में बहुतही फर्क है।

सोम	सुरा
सुमद	दुर्मद
सुमति	दुर्मति
सुहार्द	दुर्हार्द

इनमें जमीन आसमानका अन्तर है। 'सुमद, सुमति, सुहार्द' ये सोमके साथी हैं और 'दुर्मद, दुर्मति, दुर्हार्द' ये सुराके साथी हैं। पेटभर सोमरस पीनेपर भी सुमति नहीं हटती और सुहार्द स्थिर रहता है, यह सोमरसकी महिमा है। सुराकी दुर्गति दुर्मतिसे स्पष्ट हो जाती है। जो लोग कहते हैं कि सोमपानसे वैसाही नशा होती है जैसी सुरासे, उनको अपने प्रमाण पेश करने चाहिये। वीर इन्द्र दिनमें तीनवार पेटभर सोमरस पीता है और बेहोशीका चिह्न उस पर दीखता नहीं और वह सुमतिपूर्वक सब कार्य करता रहता है। यह सोमका परिणाम है। इसीलिये सोमपान स्तुतिके योग्य माना गया है। 'मद' पद देखनेसेही नशा की कल्पना जो करेंगे, वे फंसेंगे। क्योंकि सुमद-दुर्मदमें 'मद' है, पर 'सुमद' उपादेय है और 'दुर्मद' हेय है।

यहां यहभी कहना योग्य नहीं है कि, जैसी शराब थोडी लेनेसे बहुत बिगाड नहीं होता, परंतु अधिक लेनेसे नुकसान होता है, वैसाही सोमरसका होगा। सोममें 'दुर्मद' होनेकी संभावनाही नहीं है। सोमरस तो पेटभर पीया जाता है, गौओंको खिलाया जाता है, पेटकी दोनों बाजूएं बाहरसे पूरी भरी दीखनेपर भी 'दुर्मद' अवस्था नहीं होती, यह सोमरसकी विशेषता है। सोमरस पेटभर पीनेपर भी सुमति स्थिर रहती है।

सोमरस अन्न होनेसे केवल सोमरस पीकर भी मनुष्य जीवित रह सकता है, वैसी केवल सुरा पीनेसेही मनुष्य जीवित नहीं रह सकेगा। केवल निरा सोमरस बहुत तीखा होनेके कारण पीना अशक्य है वैसीहि सुराभी सर्वसाधारणके लिये केवल पीना अशक्य है। परंतु जो नशाबाज है, वेही केवल सुरा पी सकते हैं। सुरामें आम्लत्व रहता है, अतः उसमें दूध फट जायगा। सोममें वैसा नहीं होता। सोममें मिलाया दूध फटता नहीं, इसलिये सोमरसमें सुरापन नहीं है। और भंग जैसी मस्तिष्क बिगडनेकी भी संभावना नहीं है। पेटभर भंग पीनेवालेके मस्तिष्क बिगडे दीखते हैं। सोमरससे वैसा बिगाड नहीं होता।

सोमरसका विचार और आगे होगा। जैसे जैसे सूक्त हमारे सामने आ जायंगे, वैसा वैसा सोमरसका स्वरूप हमारे सामने खुलता जायगा। अतः इस विषयमें हम जो विचार करेंगे, वह वेद मंत्रके प्रतीक सामने रखकरही करेंगे जैसा इस समयतक किया है।

दरिद्री दामाद

(अ-श्रीरः जामाता) निर्धन दामादका उदाहरण मन्त्र २० में आया है। 'जिसका हमला बडा भयानक होता है, वह वीर इन्द्र शीघ्र हमारे पास आ जावे, निर्धन दामादके समान वह बुलाया जानेपर भी सायंकाल करके न आवे।' (मं २०) ऐसा इस मंत्रका भाव है, श्रीमान् ससुरालमें निर्धन दामाद दिनके समय जाना नहीं चाहता। किसी उत्सवके समय जिस समय बहुत धनी लोगोंकी उपस्थिति होती है, उस समय निर्धन दामाद आना भी नहीं चाहता। वह लज्जित होता हुआ रात्रिके अंधेरेमें, छिप छिपके चुपचाप आता है और एक ओर बैठता है। यह निर्धन दामादका जीवन बहुतही बुरा है, इसलिये लोगोंको उचित है कि वे ऐसे निर्धन न बनें। सधन वीर बनें और सुखपूर्वक ससुरालमें दिनके समय जानेके अधिकारी होकर रहें।

इन्द्र मघ-वान् है। धनवान् है, वीर है, इसलिये उसकी स्थिति निर्धन दाकाद जैसी नहीं है। वह बुलानेपर सत्वर आता है और प्रतिष्ठा पाता है। ऐसे सब लोग बनें। यह बात इस उदाहरणसे बतायी है।

घोडोंको धोना

'नदीमें ले जाकर घोडोंको अच्छी तरह धोया जाता था और बार बार धोया जाता था।' (मं २) इस तरह धोनेसे घोडोंका सौंदर्य और स्वास्थ्य अच्छा रहता है। यह बात इस सूक्तमें देखने योग्य है। इन्द्र और अश्वी घोडे पालनेके लिये प्रसिद्ध है। इन्द्र तो सहस्रों घोडोंको अपनी अश्वशालामें पालता था। इसलिये घोडोंका सौंदर्य और स्वास्थ्यके विषयमें कुछ न कुछ प्रबंध वैदिक समयमें होना स्वाभाविक है। हमेशा जो धन मागा है, वह गौएं और घोडोंके साथ मांगा है। 'अत्य' नामक घोडा घुडदौडके लिये वेदमें सुप्रसिद्ध है। प्रायः घरमें गौवें, घोडे रहतेही थे। इसलिये उनकी सुंदरता अधिक आकर्षक करनेके लिये उसको बारबार अच्छी तरह धोया जाता था। नदी न हो, तो अन्य जलसे भी घोडेका धोना मुख्य और आवश्यक बात है।

कर्मण्य और सुस्त

'देव कर्मण्य या कर्मशीलको चाहते हैं। सुस्तका तिरस्कार करते है। कर्मशील मानव अधिक आनंद प्राप्त करता है।' (मं १८) यहां कर्मशीलकी प्रशंसा है और आलसीकी निंदा है। आलसीके लिये सुखका स्थान नहीं है। उद्यमशीलके लिये-ही उन्नतिकी आशा हो सकती है। मंत्रमें 'सुन्वन्' पद है। सोमसे रस निकालना आदि इसके अर्थ है। यज्ञ करना इसका तात्पर्य है। कर्मण्य इसका भाव है।

ईश्वर= इन्द्र

इस सूक्तके कई मंत्रोंमें 'इन्द्र' पद 'ईश्वर, प्रभु, परमेश्वर' के लिये आया है।

१ **इनः**-स्वामी, प्रभु, मालिक, अधिपति। (मं. ३५)

२ **एष इन्द्रः एतानि विश्वा चकार**- इस इन्द्रने ये सब भूम्यादि लोक-लोकान्तर बनाये। (मं. ३४)

३ **प्रभर्ता**- विशेष रीतिसे सबका भरण-पोषण यही करता है। (मं ३५)

४ **विश्वा चर्षणयः यस्मिन्** - सब मानव इसीमें आश्रय लेते हैं, इसीमें है।

५ **सत्राचा मनसा इन्द्रं यजस्व**— एकाग्र मनसे इसका पूजन कर

इस तरह इन्द्र पदसे परमात्माका वर्णन यहां हुआ है। इसके कई विशेषण इस सूक्तमें फुटकर रूपमें ईश्वरपरक आये हैं।

पर्वतवाला इन्द्र

'अद्रि-वः' पद इन्द्रके लिये कई मंत्रोंमें आता है। अद्रि का अर्थ 'मेघ' मानकर मेघोंमें दीखनेवाले सूर्यपरक अथवा मेघोंमें चमकनेवाले बिजलीके प्रकाशपरक इसका अर्थ करने-की परिपाठी है। पर राज्यशासन विषयक अर्थ देखने और मानवी जीवनमें इसको ढालनेके समय इसका अर्थ 'पर्वतपर रहनेवाला' ऐसा करना योग्य है। पर्वतपर जो दुर्ग होते हैं उनमें रहकर शत्रुके साथ लडनेवाला, ऐसा इसका अर्थ हम समझते है।

सूक्तमें ऋषिनाम

इस सूक्तमें निम्नलिखित ऋषिनाम आये है-

'**कण्वाः** (मं. १६), **प्रियमेधाः** (मं. ३७), **कण्वासः** (मं. ३८), **काण्वः मेध्यातिथिः** (मं ४०) ये ऋषि वाचक पद मंत्रोंमें आये हैं और येही इस सूक्तके ऋषि है। '**विभिन्दुः**' (मं. ४१) नाम एक राजाका इसमें आया है, जिसने प्रियमेधको दिये दानका उल्लेख है।

बडा दान

'विभिंदु राजाने प्रियमेधके लिये चालीस हजार और आठ हजार दान दिया।' (मं. ४१) यह संख्या गौओंकी है या सुवर्ण मुद्राओंकी है अथवा किसी अन्य पदार्थकी है, इसका पता नहीं चलता। (ऋ. १।१२६।२) में '**शतं निष्कान्**' सौ निष्क दक्षिणामें मिलनेका उल्लेख है। '**निष्क**' सवा तोला सुवर्णसे बनता है। सवा तोलेका मूल्य ५ वर्ष पूर्व २५) रु. और आज १००) रु. है। '**सुवर्ण**' नामका एक सिक्का या मुद्रा प्रसिद्ध है। उसका वजन और मूल्य निष्क जैसाही है। वेदमंत्रोंमें निष्कका उल्लेख है। 'सुवर्ण' का सिक्केके अर्थमें है या नहीं यह खोज करनेकी बात है।

ऊपर अडतालीस हजारका जो दान है वह किस चीजका है इसका ठीक पता नहीं लगता।

विभिन्न लोग

(**अस्मत् अन्ये गोभिः ईं मृगयन्ते**) हमसे भिन्न जो दूसरे लोग हैं वे भी इस इन्द्रको गौओंका दूध निकालकर उसको अर्पण करनेके लिये ढूंढते हैं (मं ६)। यहां हमसे भिन्न दूसरे लोग वे हैं कि जो इन्द्रकी उपासना करनेवाले नहीं हैं, पर दूसरे किसीकी भक्ति करते हैं, परंतु इन्द्रके पास भी आनेके इच्छुक हैं।

उपासनासे ' हम ' और ' अन्य ' ये भेद यहां माने हैं।

' **अगोः अरिः** ' (मं १४) उपासना न करनेवालेका शत्रु इन्द्र है, अर्थात् भक्त या उपासकका वह मित्र या सखा है।

' **तव इत् स्तोमं चिकेत** ' (मं १७)- हे इन्द्र! तेराही स्तोत्र हम जानते हैं, किसी दूसरे देवका स्तोत्र हम जानतेही नहीं, इतनी एकाग्रतासे हम तुम्हारी उपासना करते हैं। यह एकाग्र उपासनाका वर्णन है।

---

(१५) प्रभुका महत्त्व

(ऋ. मं. ८, सू. ३) १-२४ मेध्यातिथिः काण्वः। इन्द्रः, २१-२४ पाकस्थामा कौरयाणः। प्रगाथ =(विषमा बृहती, समा सतोबृहती), २१ अनुष्टुप्, २२-२३ गायत्री, २४ बृहती।

पिबा सुतस्य रसिनो मत्स्वा न इन्द्र गोमतः। आपिर्नो बोधि सधमाद्यो वृधेऽस्माँ अवन्तु ते धियः १
भूयाम ते सुमतौ वाजिनो वयं मा नः स्तरभिमातये। अस्माञ्चित्राभिरवतादभिष्टिभिरा नः सुम्नेषु यामय १
इमा उ त्वा पुरूवसो गिरो वर्धन्तु या मम। पावकवर्णाः शुचयो विपश्चितोऽभि स्तोमैरनूषत ३
अयं सहस्रमृषिभिः सहस्कृतः समुद्रइव पप्रथे। सत्यः सो अस्य महिमा गृणे शवो यज्ञेषु विप्रराज्ये ४
इन्द्रमिद्देवतातय इन्द्रं प्रयत्यध्वरे। इन्द्रं समीके वनिनो हवामह इन्द्रं धनस्य सातये ५
इन्द्रो मह्ना रोदसी पप्रथच्छव इन्द्रः सूर्यमरोचयत्।
इन्द्रे ह विश्वा भुवनानि येमिर इन्द्रे सुवानास इन्दवः ६
अभि त्वा पूर्वपीतय इन्द्र स्तोमेभिरायवः। समीचीनास ऋभवः समस्वरन् रुद्रा गृणन्त पूर्व्यम् ७
अस्येदिन्द्रो वावृधे वृष्ण्यं शवो मदे सुतस्य विष्णवि।
अद्या तमस्य महिमानमायवोऽनु ष्टुवन्ति पूर्वथा ८
तत्त्वा यामि सुवीर्यं तद्ब्रह्म पूर्वचित्तये। येना यतिभ्यो भृगवे धने हिते येन प्रस्कण्वमाविथ ९
येना समुद्रमसृजो महीरपस्तदिन्द्र वृष्णि ते शवः।
सद्यः सो अस्य महिमा न संनशे यं क्षोणीरनुचक्रदे १०
शग्धी न इन्द्र यत्त्वा रयिं यामि सुवीर्यम्। शग्धि वाजाय प्रथमं सिषासते शग्धि स्तोमाय पूर्व्य ११
शग्धी नो अस्य यद्ध पौरमाविथ धिय इन्द्र सिषासतः।
शग्धि यथा रुशमं श्यावकं कृपमिन्द्र प्रावः स्वर्णरम् १२
कन्नव्यो अतसीनां तुरो गृणीत मर्त्यः। नही न्वस्य महिमानमिन्द्रियं स्वर्गृणन्त आनशुः १३
कदु स्तुवन्त ऋतयन्त देवत ऋषिः को विप्र ओहते।
कदा हवं मघवन्निन्द्र सुन्वतः कदु स्तुवत आ गमः १४
उदु त्ये मधुमत्तमा गिरः स्तोमास ईरते। सत्राजितो धनसा अक्षितोतयो वाजयन्तो रथाइव १५

कण्वाइव भृगवः सूर्याइव विश्वमिद्धीतमानशुः । इन्द्रं स्तोमेभिर्महयन्त आयवः प्रियमेधासो अस्वरन् १६
युक्ष्वा हि वृत्रहन्तम हरी इन्द्र परावतः । अर्वाचीनो मघवन्त्सोमपीतय उग्र ऋष्वेभिरा गहि १७
इमे हि ते कारवो वावशुर्धिया विप्रासो मेधसातये ।
स त्वं नो मघवन्निन्द्र गिर्वणो वेनो न श्रृणुधी हवम् १८
निरिन्द्र बृहतीभ्यो वृत्रं धनुभ्यो अस्फुरः । निरर्बुदस्य मृगयस्य मायिनो निः पर्वतस्य गा आजः १९
निरग्नयो रुरुचुर्निरु सूर्यो निः सोम इन्द्रियो रसः । निरन्तरिक्षादधमो महामहिं कृषे तदिन्द्र पौंस्यम् २०
यं मे दुरिन्द्रो मरुतः पाकस्थामा कौरयाणः । विश्वेषां त्मना शोभिष्ठमुपेव दिवि धावमानम् २१
रोहितं मे पाकस्थामा सुधुरं कक्ष्यप्राम् । अदाद्रायो विबोधनम् २२
यस्मा अन्ये दश प्रति धुरं वहन्ति वह्नयः । अस्तं वयो न तुग्र्यम् २३
आत्मा पितुस्तनूर्वास ओजोदा अभ्यञ्जनम् । तुरीयमिद्रोहितस्य पाकस्थामानं भोजं दातारमब्रवम् २४

अन्वयः- हे इन्द्र ! नः रसिनः गोमतः सुतस्य पिब, मत्स्व (च)। सधमाद्यः आपिः नः वृधे बोधि। ते धियः अस्मान् अवन्तु ॥१॥ ते सुमतौ वयं वाजिनः भूयाम । अभिमातये नः मा स्तः । चित्राभिः अभिष्टिभिः अस्मान् अवतात् । नः सुम्नेषु आ यामय ॥२॥ हे पुरूवसो ! मम याः इमाः गिरः (ताः) त्वा उ वर्धन्तु । (तथा) पावकवर्णाः शुचयः विपश्चितः स्तोमैः अभि अनूषत ॥३॥ अयं (इन्द्रः) ऋषिभिः सहस्रं सहस्कृतः समुद्र इव पप्रथे । अस्य सत्यः शवः सः महिमा यज्ञेषु विप्रराज्ये गृणे ॥४॥ देवतातये इन्द्रं इत्, अध्वरे प्रयति इन्द्रं, समीके वनिनः इन्द्रं, धनस्य सातये (च) इन्द्रं हवामहे ॥५॥ इन्द्रः शवः मह्ना रोदसी पप्रथत्, इन्द्र. सूर्यं अरोचयत्, इन्द्रे ह विश्वा भुवनानि येमिरे, सुवानासः इन्दवः इन्द्रे (येमिरे) ॥६॥ हे इन्द्र ! आयवः स्तोमेभि त्वा पूर्वपीतये अभि (स्तुवन्ति)। समीचीनासः ऋभवः सं अस्वरन्, रुद्राः पूर्व्यं गृणन्त ॥७॥ अस्य इत् सुतस्य विग्मवि मदे वृष्ण्यं शव. इन्द्रः वावृधे, अस्य तं महिमानं आयवः पूर्वथा अद्य अनु स्तुवन्ति ॥८॥ तत् सुवीर्यं त्वा यामि । तत् ब्रह्म पूर्वचित्तये (त्वा यामि)। धने हिते यतिभ्यः भृगवे येन, येन (च) प्रस्कण्वं आविथ ॥९॥ हे इन्द्र ! समुद्रं महीः अपः असृजः । ते यत् शवः वृष्णि । अस्य सः महिमा सद्यः न संनशे, यं क्षोणीः अनुचक्रदे ॥१०॥ हे इन्द्र ! यत् सुवीर्यं रयिं त्वा यामि (तत्) नः शग्धि। (तथा) सिषासते वाजाय प्रथमं शग्धि । हे पूर्व्य ! स्तोमाय शग्धि ॥११॥ हे इन्द्र ! धियः सिषासतः नः अस्य (तत् धनं) शग्धि यत् ह पौरं आविथ । हे इन्द्र ! (तथा) शग्धि, यथा रुशमं श्यावकं कृपं (आविथ), तथा स्वर्णरं प्र आवः ॥१२॥ अतसीनां तुरः मर्त्यः नव्यः कत् गृणीत ? नु स्वः गृणन्तः अस्य इन्द्रियं महिमानं नहि आनशुः ॥१३॥ हे इन्द्र ! स्तुवन्तः कत् उ देवता ऋतयन्तः, ऋषिः विप्रः कः ओहते ? हे मघवन् इन्द्र ! कदा सुन्वतः हवं आ गमः ? कत् उ स्तुवतः (आगमः)? ॥१४॥ त्ये मधुमत्तमाः गिरः स्तोमासः उत् उ ईरते । सत्राजितः धनसाः अक्षितोतयः वाजयन्तः रथाः इवः ॥१५॥ कण्वाः इव, सूर्याः भृगवः इव धीतं विश्वं इत् आनशुः। प्रियमेधासः आयवः स्तोमेभिः इन्द्रं महयन्तः अस्वरन्॥१६॥ हे वृत्रहन्तम इन्द्र ! हरी युक्ष्व हि । हे मघवन् ! उग्रः सोमपीतये ऋष्वेभिः परावतः अर्वाचीनः आ गहि ॥१७॥ हे इन्द्र ! इमे कारवः विप्रासः धिया मेधसातये ते वावशुः हि। हे मघवन्! गिर्वणः सः त्वं नः हवं, वेनः न, श्रृणुधि ॥१८॥ हे इन्द्र ! वृत्रं बृहतीभ्यः धनुभ्यः निः अस्फुरः । मायिन अर्बुदस्य मृगयस्य पर्वतस्य गाः निः आजः ॥१९॥ हे इन्द्र ! महां अहिं अन्तरिक्षात् निः अधमः, तत् पौंस्य कृषे। अग्नयः निः रुरुचुः । सूर्यः निः उ । इन्द्रियः रसः सोमः निः ॥२०॥ इन्द्रः मरुतः (च) यं मे दुः, कौरयाणः पाकस्थामा (अदात्), विश्वेषां त्मना शोभिष्ठं दिवि उप धावमानं इव ॥२१॥ पाकस्थामा मे सुधुरं, कक्ष्यप्रां, रोहितं, रायः विबोधनं अदात् ॥२२॥ यस्मै धुरं अन्ये दश वह्नयः प्रति वहन्ति। अस्तं वयः तुग्र्यं न॥२३॥ (अयं) आत्मा पितुः तनूः, वासः ओजोदाः अभ्यञ्जनं दातारं, पाकस्थामानं तुरीयं भोजं इत् अब्रवम् ॥२४॥

अर्थ- हे इन्द्र ! हमारे रसीले गोदुग्धमिश्रित छाने हुए सोमरसको पीओ और आनन्दित हो जाओ । साथ आनन्द लेनेवाले भाईके समान हमारी वृद्धि (करनेके विषयमें) सोचो । तेरी बुद्धियाँ हमारी सुरक्षा करें ॥१॥ तेरी सुबुद्धि (की

छायामें रहकर) हम बलवान् बनें । (हमारे) शत्रुके लिये हमारी हिंसा न हो । अनेक विलक्षण अद्भुत सहायताओंसे हमें बचाओ । हमें सुखोंके अन्दर योग्य रीतिसे पहुंचा दो ॥२॥ हे बहुत धनसे युक्त वीर ! मेरी जो ये वाणियाँ हैं वे तेरे (यशको) बढा देवें । (तथा) तेजस्वी पवित्र विद्वान् लोग स्तोत्रोंसे तुम्हारी प्रशंसा गायें ॥३॥ यह (इन्द्र) ऋषियोंके द्वारा सहस्रगुणित बलवान् बननेके कारण समुद्र जैसा विस्तीर्ण (यशवाला) हुआ है। इसका वह सत्य बल, और वह महिमा यज्ञोंके विप्रोंके राज्यमें गाते हैं ॥४॥ देवत्वका विस्तार करनेके लिये इन्द्रको (हम बुलाते हैं), कुटिलतारहित कार्य करनेके समय इन्द्रको (हम बुलाते हैं), युद्धमें विजयप्राप्ति करनेके लिये इन्द्रको ही (हम बुलाते हैं) और धनकी प्राप्तिके लिये भी हम इन्द्रको ही बुलाते हैं ॥५॥ इन्द्रने अपने बलकी महिमासे द्युलोक और पृथ्वीको इतना विस्तृत बनाया है । इन्द्रने सूर्यको प्रकाशित किया। इन्द्रमें ही सब भूत (रहनेके कारण) नियमसे चल रहे हैं। (और ये) सोमरस भी इन्द्रमें ही पहुंचते हैं ॥६॥ हे इन्द्र ! मनुष्य स्तोत्रोंसे तुम्हारी ही प्रथम सोमपान करनेके लिये प्रशंसा करते हैं । इकट्ठे हुए ऋभु (ऋभु, विभु और वाज ये तीनों) उच्च स्वरसे (तुम्हारा ही काव्य) गाते हैं और रुद्रवीर (मरुत् वीर) तुझ पुराण पुरुषकी ही प्रशंसा गाते हैं ॥७॥ इस सोमरसका उत्साह (सब शरीरमें) व्याप्त होनेपर (हमारा) वीर्य और बल भी इन्द्र बढाता है । इस (इन्द्र) की वह महिमा सब लोग पूर्व समयके समान आज भी गा रहे हैं ॥८॥ मैं उस उत्तम वीर्यको तुम्हारे पाससे मांगता हूँ। वह ज्ञान भी (तेरा) पहिले ही चिंतन किया जाय इसलिये (मैं मांगता हूं), युद्ध छिड जानेपर यतियों और भृगुके लिये जिससे (तुमने सहायता की थी), और जिससे प्रस्कण्वकी सुरक्षा की थी (वह बल भी मुझे चाहिये) ॥९॥ हे इन्द्र ! (जिस बलसे तुमने) समुद्र के लिये बडे जलप्रवाह प्रवाहित किये, वह बल तुम्हारा ही है। इसकी वह महिमा तत्काल ही नष्ट नहीं की जा सकती, जिस (महिमासे) पृथ्वी अनुकूलतासे गति करती है ॥१०॥ हे इन्द्र ! जिस उत्तम वीर्य बल और धनको तुमसे मांगता हूं, वह हमें दो । (तथा) भक्ति और बल चाहनेवाले (मुझे) प्रथम (यह) दो। हे पुराण पुरुष ! (तेरा यश) गानेकी शक्ति मुझे दे ॥११॥ हे इन्द्र ! बुद्धियोंकी उन्नति चाहनेवाले हमको (वह बल) दो कि जिससे पुरुके पुत्रकी रक्षा की थी। (तथा) हे इन्द्र ! रुशम, श्यावक और कृप (इन राजाओं) की (रक्षा की थी), उस तरह शुभ गति प्राप्त करनेवाले मनुष्यकी विशेष रीतिसे सुरक्षा कर ॥१२॥ प्रयत्नशील मानवोंमें कौन भला फूर्तिला नया मनुष्य (इन्द्रकी यथार्थ) स्तुति कर सकता है ? उत्तम उपासक भी इस इन्द्रकी शक्ति और महिमाको (यथार्थतः) नहीं जान सकते ॥१३॥ हे इन्द्र ! उपासकोंमें कौन भला (ऐसा है कि जो) देवताओंमेंसे (तुझे ही) ऋत स्वरूप जानते हैं ? कौन ऋषि और कौन विप्र तुम्हारी (ठीक ठीक) प्रशंसा कर सकता है ? हे धनवान् इन्द्र ! कब सोमयाग करनेवालेकी प्रार्थना सुनते ही तुम आवोगे ? (और) कब स्तोता उपासकके पास पहुंचते हो ? ॥१४॥ ये अत्यंत मधुर वाक्य और स्तोत्र कहे जा रहे हैं। जो विजयशील, धनदायी, अक्षय सुरक्षा करनेवाले, बल बढानेवाले रथों (में बैठनेवाले वीरों) की तरह हैं ॥१५॥ कण्वोंके समान ही, सूर्यके समान तेजस्वी भृगुओंको ध्यानका संपूर्ण (फल) प्राप्त हुआ था। प्रियमेध नामक (विद्वान्) मनुष्योंने स्तोत्रोंसे इन्द्रका यश बढाते हुए उच्च स्वरसे गायन किया था ॥१६॥ हे वृत्रका वध करनेवाले इन्द्र ! (अपने रथको) दो घोडे जोतो । हे धनवान् वीर ! तुम उग्र वीर सोमपानके लिये दर्शनीय मरुत् वीरोंके साथ दूर स्थानसे भी हमारे समीप आओ ॥१७॥ हे इन्द्र ! ये कारीगर और ज्ञानी जन मेधाकी वृद्धि करनेके लिये तुम्हें ही बारबार चाहते हैं। हे धनवान् स्तुत्य वीर ! वह तुम ज्ञानीके समान हमारा भाषण सुनो ॥१८॥ हे इन्द्र ! तुमने वृत्रको बडे धनुष्योंसे मारकर दूर फेंक दिया । कपटी अर्बुद और मृगयके पर्वत (परके दुर्ग) का भेदन करके गौओंको बाहर निकाल दिया ॥१९॥ हे इन्द्र ! (जब तुमने) बडे आद्रिको अन्तरिक्षसे नीचे हटाया, तब बडा सामर्थ्य (प्रकाशित) किया। (उस समय) सारे अग्नि प्रकाशित हुए, सूर्य भी प्रकाशित हुआ। इन्द्रको अर्पण करनेयोग्य सोमरस भी (तैयार हुआ)॥२०॥ इन्द्र और मरुतोंने जो मुझे दिया, कुरुयाणके पुत्र पाकस्थामाने भी (वैसा ही दान मुझे) दिया, (यह धन) सब (धनों) में स्वयं अधिक शोभावाला द्युलोकमें चलनेवाले (सूर्य) के समान (देदीप्यमान है) ॥२१॥ पाकस्थामाने मुझे उत्तम धुरामें लगाने योग्य, दोनों कक्ष्यामें भरने योग्य (हृष्टपुष्ट), लाल रंगवाला और धनोंको दर्शानेवाला (एक

घोडा) दिया ॥२२॥ जिसकी धुराको दूसरे दस घोडे ढोते हैं। जैसा घरके प्रति पक्षी (सदृश उडनेवालों) ने तुग्रपुत्र (भुज्यु) को लाया था ॥२३॥ (यह पाकस्थामा) अपने पिताके शरीरसे उत्पन्न हुए (औरस और सुयोग्य) पुत्र हैं। इसने वसने योग्य स्थान (या घर), बल देनेवाला (अन्न), और अञ्जन (ये तीन दान) दिये थे, (और) चौथा दान (इस घोडेका) दिया, (इसलिये मैंने) इस दाता पाकस्थामाका (यहां) वर्णन किया है ॥२४॥

इन्द्र– ईश्वर

इस सूक्तमें इन्द्रको परमेश्वरके रूपमें अधिक स्पष्ट वर्णन किया है, वे मन्त्र भाग यहाँ देखिये—

१ अयं (इन्द्रः) ऋषिभि सहस्रं सहस्कृतः समुद्र इव पप्रथे– इस प्रभुकी सहस्रों शक्तियोंका वर्णन अनेक ऋषियोंने किया है, वह प्रभु समुद्रके समान फैला है, अर्थात् वह अथांग गहरा है, सर्वत्र एकरस भरपूर भरा है और शांत तथा गम्भीर है। (मं. ४)

२ इन्द्रः शवः महा रोदसी पप्रथत्– प्रभुने अपनी महती शक्तिसे पृथ्वी और द्यौको फैला दिया है। (मं. ६)

३ इन्द्रः सूर्यं अरोचयत्– प्रभुने सूर्यको प्रकाशित किया है। (मं ६)

४ इन्द्रे ह विश्वा भूतानि येमिरे– प्रभुके द्वारा सभी भूत (स्थावर और जंगम) नियमसे चलाये जा रहे है। (मं.७) सबका संचालक वही प्रभु है।

५ अस्य महिमानं आयवः पूर्वथा अद्य अनुष्टुवन्ति– इस प्रभुकी महिमाको प्राचीन और आधुनिक (कवि) वर्णन करते हैं। (मं ८)

६ (तस्य) पूर्वचित्तये ब्रह्म– उसका प्रथम चिंतन करनेके लिये ज्ञान (ब्रह्मका ज्ञान) चाहिये। (मं. ९)

७ समुद्रं महीः अपः असृतः– इसीने बडी नदियोंके जल-प्रवाह समुद्रतक बहा दिये है। (मं. १०)

८ ते शवः वृष्णि– उसीका बल प्रतापवर्धक है। (मं. १०)

९ यं क्षोणीः अनु चक्रदे, सः अस्य महिमा सद्यः न संनशे– जिसके (नियमके) अनुकूल पृथ्वी (आदि सब लोक) शब्द करते हुए (घूम रहे हैं), उसका वह महिमा कभी नाश नहीं होता। (मं. १०) प्रभुका महिमा अखण्ड है।

१० पूर्व्यः– प्रभु सबसे प्राचीन, पुराण पुरुष, सबसे प्रथम उपस्थित, सबका आदि है। (मं. ११)

११ इत्थाः-नरं प्र आवः– आत्मविकासका जो प्रयत्न करते हैं, उसकी सुरक्षा वह प्रभु करता है। (मं. १२)

१२ अस्य इंद्रियं महिमानं नहि आनशुः· इस प्रभुकी जो महिमा है, वह किसी मनुष्यको पूर्णतया समझमें नहीं आ सकती। (मं. १३)

१३ सत्राजितः धनसाः अक्षितोतयः वाजयन्तः– उसके सतत विजय हैं, धनदान (उससे मिल रहे हैं), उसकी रक्षणकी शक्तियाँ अटूट हैं, उससे अनन्त बल मिलते हैं। (मं १५)

१४ आयवः इन्द्रं महयन्तः अस्वरन्– मनुष्य इस प्रभुकी महिमाका वर्णन करते हुए उच्च स्वरसे गान करते हैं। (मं. १६)

१५ कारवः विप्रासः मेधसातये धिया ते वावशुः– कारीगर (कवि) ज्ञानी मेधाबुद्धिकी वृद्धि करनेके लिये अपनी बुद्धिसे उसी प्रभुकी प्राप्ति करना चाहते हैं। (मं. १८)

१६ महां अहिं अन्तरिक्षात् निः अधमः तत् पौंस्यं— बडे मेघको अन्तरिक्षसे (पर्जन्य-रूपमें) नीचे गिराया यह बल (उस प्रभुकाही) है। (मं. २०)

१७ अग्नयः निः रुरुचुः, सूर्यः निः– अग्नि जलते हैं, सूर्य प्रकाशता है (यह सब महिमा उस प्रभुकी ही हैं)। (मं. २०)

१८ विश्वेषां शोभिष्ठं त्मना दिवि धावमानं– सब विश्वमें विशेष शोभासे युक्त और स्वयं द्युलोकमें दौडता जैसा दीखनेवाला (सूर्य है, यह भी उसकी महिमा) है। (मं. २१)

ये सब मंत्र इन्द्रका वर्णन कर रहे हैं, तथा ये प्रभु, ईश्वर, परमेश्वरकेही वर्णन हैं। इसका अधिक स्पष्टीकरण करनेकी जरूरत नहीं है। क्योंकि ये मंत्र अत्यंत स्पष्ट हैं।

स्मरण करने योग्य मंत्रभाग

इस सूक्तमें स्मरण रखनेयोग्य मंत्र-भाग ऊपर ईश्वरविषयक जो दिये हैं, वे हैं, पर साथ साथ निम्नलिखित मंत्र-भाग भी माननीय हैं–

१ सधमादः आपिः नः वृधे बोधि– (हमारे) साथ

साथ आनंद करनेके समय बैठनेवाला (मित्र या) बंधु हमारी उन्नति करनेका भी विचार करे। (मं. १) परस्पर एक दूसरे-की उन्नति करनेका विचार करना परस्परका कर्तव्य है। ऐसा कभी न हो कि आनन्दके समय तो सब आजायँ और सहायता करनेके समय कोई उपस्थितही न हो।

२ धियः अस्मान् अवन्तु- बुद्धियां हमारी सुरक्षा करें। (मं १) ऐसा न हो कि विचार-प्रवाहही हमारे घातक हो जायँ।

३ वयं वाजिनः भूयाम- हम बलवान् बनें। (मं २)

४ अभिमातये नः मा स्त- हमारे शत्रुके अधीन हम कदापि न हो जायँ। (मं.२)

५ सुम्नेषु नः आ यामय- सुखोंमें हमारी प्रगति हो। (मं. २)

६ विपश्चितः शुचयः पावकवर्णाः- विद्वान् पवित्र और तेजस्वी हों। (मं. ३)

७ समीके वनिनः- युद्धके समय विजयकी प्राप्ति की इच्छा करें। (मं. ५)

८ सुवीर्यं यामि- उत्तम पराक्रम करनेकी शक्ति चाहिये। (मं. ९)

९ सुवीर्यं रयिं यामि- उत्तम शौर्यके साथ रहनेवाला धन चाहिये। (मं. ११)

१० पौरं आविथ- नगरवासियोंकी सुरक्षा करो। (मं.१२)

११ अतसीनां तुरः नव्य मर्त्यः कः ? - प्रयत्नशील, फुर्तीसे कार्य करनेवाला नया (तरुण) मानव कौन है ? (मं १३) इसकी अपने समाजमें खोज करो।

१२ मायिनः निः अस्फुरः-कपटी शत्रुको दूर हटा दो। (मं. १९)

१३ (अयं पुत्रः) पितुः आत्मा तनूः— पुत्र पिताका आत्मरूप शरीरही है। औरस पुत्र पिताका आत्मीय शरीर है। (मं २४)

पंडितोंका राज्य

(यज्ञेषु विप्रराज्ये) यज्ञ-क्षेत्र यह पंडितोंका राज्य है। यज्ञसे सब जगत् का कल्याण होता है। इन यज्ञोंका वर्णन वेदोंमें सर्वत्र है और यह विद्वान् पंडितोंकाही कार्यक्षेत्र है।

ऋषिनाम और अन्य नाम

इस सूक्तमें निम्नलिखित ऋषिनाम आये हैं- **कण्वाः, भृगवः, प्रियमेधासः** (मं. १६), **कौरयाणः पाकस्थामा** (मं. २१), **पाकस्थामा** (मं. २२-२४), **भृगुः प्रस्कण्वः** (मं. ९), **ऋभुः** (मं. ८) इनमें काण्व गोत्रका इस सूक्तका ऋषि भी है, तथा कुरुयाण-पुत्र पाकस्थामा राजाके दानका वर्णन (मं. २१-२२) में है।

पौर (पुरु राजाका पुत्र), **रुशम, श्यावक, कृप** (मं. १२) ये नाम भी इस सूक्तमें आये हैं।

इस तरह इस सूक्तका विषय बडा मननीय और बोधप्रद है।

---

(१६) वीरकी शक्ति

(ऋ. मं. ८, सू. ३२) १-३० मेधातिथिः काण्वः। इन्द्रः। गायत्री।

प्र कृतान्यृजीषिणः कण्वा इन्द्रस्य गाथया । मदे सोमस्य वोचत १
यः सृबिन्दमनर्शनिं पिप्रुं दासमहीशुवम् । वधीदुग्रो रिणन्नपः २
न्यर्बुदस्य विष्टपं वर्ष्माणं बृहतस्तिर । कृषे तदिन्द्र पौंस्यम् ३
प्रति श्रुताय वो धृषत्तूर्णाशं न गिरेरधि । हुवे सुशिप्रमूतये ४
स गोरश्वस्य वि व्रजं मन्दानः सोम्येभ्यः । पुरं न शूर दर्षसि ५
यदि मे रारणः सुत उक्थे वा दधसे चनः । आरादुप स्वधा गहि ६
वयं घा ते अपि ष्मसि स्तोतार इन्द्र गिर्वणः । त्वं नो जिन्व सोमपाः ७

उत नः पितुमा भर संरराणो अविक्षितम् । मघवन्भूरि ते वसु ८
उत नो गोमतस्कृधि हिरण्यवतो अश्विनः । इळाभिः सं रभेमहि ९
बृबदुक्थं हवामहे सृप्रकरस्नमूतये । साधु कृण्वन्तमवसे १०
यः संस्थे चिच्छतक्रतुरादीं कृणोति वृत्रहा । जरितृभ्यः पुरूवसुः ११
स नः शक्रश्चिदा शकद्दानवाँ अन्तराभरः । इन्द्रो विश्वाभिरूतिभिः १२
यो रायोऽवनिर्महान्त्सुपारः सुन्वतः सखा । तमिन्द्रमभि गायत १३
आयन्तारं महि स्थिरं पृतनासु श्रवोजितम् । भूरेरीशानमोजसा १४
नकिरस्य शचीनां नियन्ता सूनृतानाम् । नकिर्वक्ता न दादिति १५
न नूनं ब्रह्मणामृणं प्राशूनामस्ति सुन्वताम् । न सोमो अप्रता पपे १६
पन्य इदुप गायत पन्य उक्थानि शंसत । ब्रह्मा कृणोत पन्य इत् १७
पन्य आ दर्दिरच्छता सहस्रा वाज्यवृतः । इन्द्रो यो यज्वनो वृधः १८
वि षू चर स्वधा अनु कृष्टीनामन्वाहुवः । इन्द्र पिब सुतानाम् १९
पिब स्वधैनवानामुत यस्तुग्र्ये सचा । उतायमिन्द्र यस्तव २०
अतीहि मन्युषाविणं सुषुवांसमुपारणे । इमं रातं सुतं पिब २१
इहि तिस्रः परावत इहि पञ्च जनाँ अति । धेना इन्द्रावचाकशत् २२
सूर्यो रश्मिं यथा सृजा त्वा यच्छन्तु मे गिरः । निम्नमापो न सध्र्यक् २३
अध्वर्यवा तु हि षिञ्च सोमं वीराय शिप्रिणे । भरा सुतस्य पीतये २४
य उद्नः फलिगं भिनन्न्यक्सिन्धूँरवासृजत् । यो गोषु पक्वं धारयत् २५
अहन्वृत्रमृचीषम और्णवाभमहीशुवम् । हिमेनाविध्यदर्बुदम् २६
प्र व उग्राय निष्टुरेऽषाळ्हाय प्रसक्षिणे । देवत्तं ब्रह्म गायत २७
यो विश्वान्यभि व्रता सोमस्य मदे अन्धसः । इन्द्रो देवेषु चेतति २८
इह त्या सधमाद्या हरी हिरण्यकेश्या । वोळ्हामभि प्रयो हितम् २९
अर्वाञ्चं त्वा पुरुष्टुत प्रियमेधस्तुता हरी । सोमपेयाय वक्षतः ३०

अन्वयः— हे कण्वाः ! ऋजीषिणः इन्द्रस्य सोमस्य मदे कृतानि गाथया प्र वोचत ॥१॥ यः उग्रः (सः) अपः रिणन् सृबिन्दं अनर्शनिं पिप्रुं अहीशुवं दासं वधीत् ॥२॥ हे इन्द्र ! बृहतः अर्बुदस्य वर्ष्माणं विष्टपं नि तिर । तत् पौंस्यं कृषे ॥३॥ वः श्रुताय ऊतये धृषत् सुशिप्रं प्रति हुवे । तूर्णाशं न गिरेः अधि ॥४॥ हे शूर ! सः (त्वं) मन्दानः गोः अश्वस्य व्रजं सोम्येभ्यः, पुरं न, वि दर्षसि ॥५॥ मे सुते उक्थे वा यदि रारणः, चनः दधसे, (तर्हि) आरात् स्वधा उप आ गहि ॥६॥ हे गिर्वणः ! इन्द्र ! ते अपि वयं घ स्तोतारः स्मसि । हे सोमपाः ! त्वं नः जिन्व ॥७॥ हे मघवन् ! उत संरराणः अविक्षितं पितुं नः आ भर । ते वसु भूरि ॥८॥ उत नः गोमतः हिरण्यवतः अश्विनः कृधि । इळाभिः सं रभेमहि ॥९॥ ऊतये सृप्र-करस्नं, अवसे साधु कृण्वन्तं, बृबदुक्थं हवामहे ॥१०॥ यः संस्थे शतक्रतुः, वृत्रहा, आत् ईं कृणोति चित् जरितृभ्यः पुरूवसुः ॥११॥ सः शक्रः नः चित् आ शकत् । इन्द्रः दानवान् विश्वाभिः ऊतिभिः अन्तराभरः ॥१२॥ यः रायः अवनिः महान् सुपारः सुन्वतः सखा, तं इन्द्रं अभि प्र गायत ॥१३॥ आयन्तारं महि पृतनासु स्थिरं, श्रवोजितं, ओजसा भूरेः ईशानं (अभि प्र गायत) ॥१४॥ अस्य सूनृतानां शचीनां नियंता नकिः । न दात् इति वक्ता नकिः ॥१५॥ सुन्वतां प्राशूनां ब्रह्मणां ऋणं न नूनं अस्ति । अप्रता सोमः न पपे ॥१६॥ पन्ये इत् उप गायत, पन्ये उक्थानि शंसत, पन्ये इत् ब्रह्म कृण्वत ॥१७॥ यः वाजी शता सहस्रा आ दर्दिरत्, (सः अयं) इन्द्रः अवृतः पन्यः यज्वनः वृधः ॥१८॥ हे इन्द्र ! अनु आहुवः कृष्टीनां स्वधाः अनु सु वि चर, सुतानां पिब ॥१९॥ हे इन्द्र ! स्व-धैनवानां, उत यः तुग्र्ये सचा, उत

यः तव अर्थं (तं सोमं पिब) ॥२०॥ मन्यु-शाविनं अति इहि। उशारगे सुषुवांसं (अति इहि)। इमं रातं सुतं पिब ॥२१॥ हे इन्द्र ! येनाः भरवाकश र्। (सः स्वं) परावत. तिस्र इहि। पञ्च जनान् अति इहि ॥२२॥ सूर्यः यथा रश्मिं, सृज। मे गिरः त्वा सध्र्यक् आयच्छन्तु, निम्नं आपः न ॥२३॥ हे अध्वर्यो ! शिप्रिणे वीराय सोमं तु हि आ सिंच। सुतस्य पीतये च भर ॥२४॥ य उग्रः फलिगं भिनत्, सिन्धून् न्यक् अवासृजत्। य. गोषु पक्वं धारयत ॥२५॥ ऋचीषमः वृत्र और्णवाभं अहीशुवं अहन्। अर्बुदं हिमेन अविध्यत् ॥२६॥ वः उग्राय, निष्टुरे अषाळ्हाय प्रसक्षिणे देवत्तं ब्रह्म प्र गायत ॥२७॥ अन्धसः सोमस्य मदे विश्वानि व्रता यः इन्द्रः देवेषु अभि चेतति ॥२८॥ त्वा सधमाद्या हिरण्यकेश्या हरी हितं प्रयः इह अभि वोळ्हाम् ॥२९॥ हे पुरुस्तुत ! त्वा प्रियमेधस्तुता हरी सोमपेयाय अर्वाञ्चं वक्षतः ॥३०॥

अर्थ- हे कण्वो ! सत्वर कार्य करनेवाले इन्द्रके, सोमपानसे उत्पन्न हुए उत्साहमें, किये पराक्रमोंका वर्णन गाथाके रूपमें गाओ ॥ १ ॥ जो उग्र वीर है, (उस इन्द्रने) जल-प्रवाहोंको खुला करते हुए सृबिंद, अनर्शनि, पिप्रु, अहीशु और दास (इन शत्रुओं) का वध किया था ॥ २ ॥ हे इन्द्र ! बडे भारी अर्बुदके विशाल देहको (और उसके) कीलेको तुम गिरा दो। यह पराक्रम तुमही करते हो ॥ ३ ॥ (हे भक्तो !) तुम्हारे ज्ञान और संरक्षणके लिये शत्रुका धर्षण करनेवाले शिरस्त्राणधारी वीरोंको मैं लाता हूं, जिस तरह स्रोतको पहाडसे लाते हैं ॥ ४ ॥ हे शूर ! वह (तू) आनन्दित होकर गौवों और घोडोंके रहनेके स्थानके द्वारको सोमयाग करनेवालोंके लिये, (शत्रुकी) नगरीके (द्वार खोलनेके) समान, खोलते हो ॥ ५ ॥ मेरे सोमरसमें तथा स्तोत्रपाठमें यदि तुम अनुरक्त हो और यदि (मुझे) अन्न देना चाहते हो, (तो) दूरसेभी अन्नके साथ (हमारे पास) आओ ॥ ६ ॥ हे स्तुति-योग्य इन्द्र ! तेरेही हम उपासक हैं। हे सोम पीनेवाले ! तुम हमें आनन्दयुक्त करो ॥ ७ ॥ हे धनवान् वीर ! और तुम प्रसन्न होकर अविनाशी धन हमे दो। तुम्हारे पास बहुत धन है ॥ ८ ॥ और (तुम) हमें गौओं, सुवर्ण और घोडोंसे युक्त करो। (जिससे हम) अन्नोंसे युक्त होकर मिलकर (अनेक यज्ञोंका) प्रारंभ करेंगे ॥ ९ ॥ सुरक्षाके लिये (सबसे प्रथम अपने) हाथ आगे करनेवाले (वीर) को, संरक्षणके लिये उत्तम कर्म करवाले (वीर) को, और जिनके काव्य गाये हैं (ऐसे वीरको), हम (सहायतार्थ) बुलाते है ॥१०॥ जो (राज्य-) संस्थामें (करने योग्य) सैकडों कार्य करता है और यह वृत्रहन्ता (वीर) ऐसेही (शत्रुवधके) कार्य करता है, तथा भक्तोंको बहुत धन देता है ॥ ११ ॥ वह समर्थ वीर हमको सामर्थ्यवान् बना देवे। यह इन्द्र दान देता है और सब सुरक्षाके साधनोंसे हमारी आन्तरिक पूर्णता करे ॥ १२ ॥ जो धनके रक्षक, बडे पार ले जानेवाले और यज्ञकर्ताके मित्र हैं, उन्ही इन्द्रका यश गाओ ॥ १३ ॥ जो (रक्षा करनेके लिये) आनेवाले, बडे युद्धोंमें स्थिर (रहकर लडनेवाले), यशको जीतनेवाले और अपने प्रभावसे बडे (धनके) स्वामी हैं, (उनका यश गाओ) ॥ १४ ॥ इसके सब शक्तियोंका कोई नियन्ता नहीं है। (तथा यह) नहीं देता ऐसा भी कोई नहीं कहता ॥ १५ ॥ सोमरस निकालनेवाले और सोमरस पीनेवाले (सोमयाजी) ब्राह्मणोंके पास कोई ऋण नहीं रहता है। (कोई) धनहीन सोमरस पीता नहीं ॥ १६ ॥ प्रशंसनीय (वीरका यश) गाओ, प्रशंसनीय (वीरके) स्तोत्र पढो और प्रशंसनीय (वीरकेही) ज्ञानरूप (काव्य निर्माण) करो ॥ १७ ॥ जिस बलवान् (वीर) ने सैंकडों और सहस्रों (शत्रुओंका) नाश किया है, (वह यह) इन्द्र (शत्रुओंद्वारा कभी) घेरा नहीं जाता, (यही) प्रशंसनीय (वीर) यज्ञकर्ताओंका संवर्धन करनेवाला है ॥ १८ ॥ हे इन्द्र ! बुलाये जानेके अनुसार मनुष्योंको स्वकीय धारक शक्ति देनेवाले अन्नके अनुकूल (होकर) विचरण करो और सोमरसका पान करो ॥ १९ ॥ हे इन्द्र ! अपने अन्दर (उत्पन्न) गौके दूधसे (मिश्रित), अथवा जलके साथ मिश्रित और तुम्हारे लिये रखा है (उस सोमरसका पान करो) ॥ २० ॥ (हे इन्द्र !) क्रोधसे यज्ञ करनेवालेको लांघ कर चले जाओ। और प्रतिकूल (हीन परिस्थितिके) स्थानमें जो यज्ञ करता है उसे भी लांघ दो। (वहांसे हमारे पास आओ और) यह दिया सोम पीओ ॥ २१ ॥ हे इन्द्र ! (हमारी) वाणी सुनो। (और सुनकर तू) दूरसे भी तीनों (हमारे सवनोंमें) आओ। पांचों प्रकारके मानवोंको लांघ कर (हमारे पास आओ) ॥ २२ ॥ सूर्य जैसा किरणोंको (देता है) वैसा (धन) देओ। मेरी प्रशंसापरक वाणियाँ तुम्हारे पास सरल पहुंच जायँ, जैसा निम्न स्थानके पास जल (जाता है) ॥२३॥ हे अध्वर्यो !

शिरस्त्राणधारी वीरके लिये सोमरस शीघ्रही अर्पण करो और सोमरस पीनेके लिये (पात्रमें) भर दो ॥ २४ ॥ जिसने जलके लिये मेघको छिन्नभिन्न किया और नदियोंको नीचेकी ओरसे बहने दिया, तथा जिसने गौओंमें प्ररिपक्व दूध धारण किया ॥ २५ ॥ सर्वत्र समान भावसे जिसकी प्रशंसा होती है, (उस इन्द्रने) वृत्र, और्णवाभ, अहीशुवका वध किया और अर्बुदको हिमसे विद्ध किया ॥ २६ ॥ (हे गायको !) उग्र वीर, त्वरासे कार्य करनेवाले, शत्रुका पराभव करनेवाले, नित्य साथ रहनेवाले आपके इन्द्रके लिये देवोंको प्रसन्न करनेवाला गान गाओ ॥ २७ ॥ अन्नरूप सोमसे उत्साह बढनेपर सारे कर्मोंका ज्ञान यह इन्द्र देवोंमें जगाता है ॥२८॥ वे साथसाथ उत्साह बढानेवाले, सुवर्ण जैसे बालोंवाले, दोनों घोडे हितकारक अन्नको ढोकर यहां ले आवें ॥ २९ ॥ हे अनेकों द्वारा प्रशंसित ! तुम्हें, प्रियमेधद्वारा जिनकी प्रशंसा हुई है, ऐसे दोनों घोडे सोमपानके लिये हमारे सम्मुख ले आवें ॥ ३० ॥

स्मरण रखने योग्य मंत्रभाग

१ सोमस्य मदे इन्द्रस्य कृतानि गाथया प्रवोचत- सोमपानसे बढे हुए उत्साहमें इन्द्रने जो पराक्रम किये उनकी गाथाओंका गायन करो । (मं. १) **अन्धसः सोमस्य मदे विश्वानि व्रता-** अन्नरूप सोमके उत्साहमें अनेक शुभ कार्य किये जाते है । (मं २८) इससे सिद्ध होता है कि सोमपान करनेके पश्चात् जो उत्साह आता है, उससे होनेवाले पराक्रम काव्यगायनके लिये योग्य समझे जाते हैं । अर्थात् सोमपानसे बेहोशी या नशा नहीं आती, मनुष्य सावध रहता है और अच्छे पराक्रम करता है ।

२ ऊतये धृषत् सुशिप्रं हुवे ।- सुरक्षाके लिये शिरस्त्राण-धारी शूरवीरको बुलाते हैं । (मं ४) शूरसेही सुरक्षा हो सकती है ।

३ मन्दानः पुरं वि दर्षसि- सोमपानसे आनन्दित हुआ तू शत्रुके कीलेको तोड देता है । (मं. ५) यह भी सोमपानके बाद होनेवाला पराक्रम है । ऐसे कार्यके लिये विचार करने योग्य मन रहना आवश्यक है ।

४ अविक्षितं पितु नः आभर- अक्षय अन्न हमारे लिये ले आ । (मं. ८) नीरोग अन्न लेना चाहिये ।

५ नः गोमतः अश्विनः हिरण्यवतः कृधि- हमें गौवों, घोडों और सुवर्णादि धनोंसे युक्त कर । (मं. ९) यहां ' हिरण्य ' पद सुवर्णके सिक्केका वाचक है । ' सुवर्ण ' तथा ' निष्क ' ये पद भी सिक्केके वाचक हैं ।

६ इळाभिः सं रभेमहि- अन्न प्राप्त होनेपर हम सब इकट्ठे होकर कार्य करेंगे । (मं. ९)

७ ऊतये सुप्र-करस्नं हवामहे- सुरक्षाके लिये हम तत्काल सहायतार्थ हाथ आगे बढानेवाले (वीर) को बुलाते हैं । (म १०)

८ अवसे साधु कृण्वन्तं हवामहे- सुरक्षाके लिये शुभ कार्य करनेवाले (वीर) को बुलाते हैं । (मं १०)

९ शतक्रतुः संस्थे ईं कृणोति चित्- सैंकडों प्रशस्त कर्मोंको करनेवाला अपनी संस्थामें निःसंदेह (शुभ कार्य) करता है । (मं. ११) किसी संस्थाको उन्नत करनेके लिये ऐसेही पुरुषकी आवश्यकता होती है ।

१० शक्रः नः आशकत— जो स्वयं समर्थ होता है, वह हमें भी सामर्थ्यवान् कर सकता है । (मं. १२)

११ दानवान् विश्वाभिः ऊतिभिः अन्तराभर- दाता वीर अपनी अनेक संरक्षक शक्तियोंसे हमारे अन्दरके छिद्र दूर कर सकता है । (मं १२) वीर तथा दूसरोंका भला करनेके लिये आत्मार्पण करनेवाला शूर पुरुषही ठीक तरहसे अपने सामर्थ्योंसे दूसरोंके दोष दूर कर सकता है और वहांकी न्यूनताओंको परिपूर्ण कर सकता है ।

१२ रायः अवनिः सुपारः महान् सखा- जो धनकी ठीक तरह रक्षा कर सकता है, वह दुःखोंसे पार करनेवाला बडा मित्रही है । (मं. १३) धन हरएक स्थानमें सहायता करता है, इसलिये धनका रक्षक बडा सहायक है । यहां 'धन' पदसे सब प्रकारका धन लेना उचित है ।

१३ पृतनासु स्थिरं, आयन्तारं, श्रवोजितं, ओजसा भूरेः ईशानं (प्रगायत)— युद्धोंमें अपने स्थानमें स्थिर रहकर लडनेवाले, सबको नियमोंमें रखनेवाले, यशस्वी, विजयी, अपनी शक्तिसे महान् अधिपति वीरके काव्यका गान करो । (मं. १४) ऐसे वीरोंके काव्योंका गान करना चाहिये ।

१४ अस्य सूनृतानां शचीनां नियंता नकिः- इस

वीरका सच्ची शक्तियोंको नियमनमें रखनेवाला दूसरा कोई नहीं है। (मं. १५)

१५ सुन्वतां ब्रह्मणां ऋणं न- यज्ञ करनेवाले ब्राह्मण ऋणरहित होते हैं। (मं. १६) 'यज्ञार्थात् कर्मणोऽन्यत्र लोकोऽयं कर्मबन्धनः।' (गी ३।९) यज्ञसे भिन्न कर्म मानवोंको बंधनमें डालते हैं। यह गीतावचन इस मंत्र-भागके साथ तुलना करने योग्य है।

१६ वाजी सहस्रा आदर्दिरत्, अवृतः, वृधः- बलवान् वीर सहस्रों शत्रुओंका नाश करता है, (स्वयं) घेरा नहीं जाता और (अपने लोगोंको) बढाता भी है। (मं. १८)

१७ कृष्टीनां स्व-धा अनु सुविचर- प्रजाजनोंकी निज धारणा-शक्तिको बढानेके लिये अनुकूल चालचलन करो।(मं.१९)

१८ मन्यु-साविनं, उपारणे सु-सुवांसं अति इहि- क्रोधसे यज्ञ करनेवाले, निंदित हीन स्थानमें कार्य करनेवाले, इन दोनोंको दूर करो। (मं. २१) अर्थात् शुभ कार्य मनकी प्रसन्नतासे करने चाहिये और सुयोग्य स्थानमें करने चाहिये।

१९ उग्राय निष्टुरे अषाळ्हाय प्रसक्षिणे ब्रह्म गायत- उग्र वीर, शीघ्रतासे कार्य करनेवाले, शत्रुपर प्रचण्ड आक्रमण करनेवाले, सदा सज्ज रहनेवाले वीरका काव्य गाओ। (मं. २७)

ये सब मंत्रभाग विचार करने योग्य हैं।

शत्रुके नाम

इस सूक्तमें निम्नलिखित नाम इन्द्रके शत्रुओंके आये हैं- सृबिंद, अनर्शनि, पिप्रु, अहीशुव, दास (मं २), अर्बुद, (मं. ३), वृत्र, और्णवाभ (मं. २६)

ऋषि-नाम

'प्रियमेध' यह एक ऋषिनाम इस सूक्तके मं. ३० वें मंत्रमें आया है। यह आंगिरस गोत्रमें उत्पन्न ऋषि है। इसके मंत्र ऋचा ८।२ (मं. ४०); ८।६८ (मं १९); ८।६९ (मं.१८), ८।८७ (मं ६); ९।२८ (मं. ६) में हैं (कुल मंत्र ८९) ८।२।१-४० इस सूक्तका अर्थ इसी पुस्तकमें आ चुका है।

मंत्र करना

इस सूक्तके १७ वें मंत्रमें '**पन्ये ब्रह्म कृणोत**' अर्थात् 'प्रशंसनीय (देवता)का मंत्र या स्तोत्र करो,' ऐसा कहा है। वेदके '**मंत्रपति, मंत्रकृत्** और **मन्त्रद्रष्टा**' ऋषि होते हैं। इनमेंसे 'मन्त्रकृत्' ऋषियोंका यह मंत्र स्पष्टीकरण करता है।

(१७) सत्यबली वीर

(ऋ. मं. ८, सू. ३३) १-१९ मेध्यातिथिः काण्वः। इन्द्रः। बृहती, १६-१८ गायत्री, १९ अनुष्टुप्।

वयं घ त्वा सुतावन्त आपो न वृक्तबर्हिषः। पवित्रस्य प्रस्रवणेषु वृत्रहन्परि स्तोतार आसते १
स्वरन्ति त्वा सुते नरो वसो निरेक उक्थिनः। कदा सुतं तृषाण ओक आ गम इन्द्र स्वब्दीव वंसगः २
कण्वेभिर्धृष्णवा धृषद्वाजं दर्षि सहस्रिणम्। पिशङ्गरूपं मघवन्विचर्षणे मक्षू गोमन्तमीमहे ३
पाहि गायान्धसो मद इन्द्राय मेध्यातिथे। यः संमिश्लो हर्योर्यः सुते सचा वज्री रथो हिरण्ययः ४
यः सुषव्यः सुदक्षिण इनो यः सुक्रतुर्गृणे। य आकरः सहस्रा यः शतामघ इन्द्रो यः पूर्भिदारितः ५
यो धृषितो योऽवृतो यो अस्ति श्मश्रुषु श्रितः। विभूतद्युम्नश्च्यवनः पुरुष्टुतः क्रत्वा गौरिव शाकिनः ६
क ईं वेद सुते सचा पिबन्तं कद्वयो दधे। अयं यः पुरो विभिनत्त्योजसा मन्दानः शिप्र्यन्धसः ७
दाना मृगो न वारणः पुरुत्रा चरथं दधे। नकिष्ट्वा नि यमदा सुते गमो महाँश्चरस्योजसा ८
य उग्रः सन्ननिष्टृतः स्थिरो रणाय संस्कृतः। यदि स्तोतुर्मघवा शृणवद्धवं नेन्द्रो योषत्या गमत् ९
सत्यमित्था वृषेदसि वृषजूतिर्नोऽवृतः। वृषा ह्युग्र शृण्विषे परावति वृषो अर्वावति श्रुतः १०

वृषणस्ते अभीशवो वृषा कशा हिरण्ययी । वृषा रथो मघवन्वृषणा हरी वृषा त्वं शतक्रतो ११
वृषा सोता सुनोतु ते वृषन्नृजीपिन्ना भर । वृषा दधन्वे वृषणं नदीष्वा तुभ्यं स्थातर्हरीणाम् १२
एन्द्र याहि पीतये मधु शविष्ठ सोम्यम् । नायमच्छा मघवा शृणवद्गिरो ब्रह्मोक्था च सुक्रतुः १३
वहन्तु त्वा रथेष्ठामा हरयो रथयुजः । तिरश्चिदर्यं सवनानि वृत्रहन्नन्येषां या शतक्रतो १४
अस्माकमद्यान्तमं स्तोमं धिष्व महामह । अस्माकं ते सवना सन्तु शंतमा मदाय द्युक्ष सोमपाः १५
नहि षस्तव नो मम शास्त्रे अन्यस्य रण्यति । यो अस्मान्वीर आनयत् १६
इन्द्रश्चिद्घा तदब्रवीत्स्त्रिया अशास्यं मनः । उतो अह क्रतुं रघुम् १७
सप्ती चिद्घा मदच्युता मिथुना वहतो रथम् । एवेद्धूर्वृष्ण उत्तरा १८
अधः पश्यस्व मोपरि संतरां पादकौ हर । मा ते कशप्लकौ दृशन्स्त्री हि ब्रह्मा बभूविथ १९

अन्वयः- हे वृत्रहन् ! सुतवन्तः आपः न, पवित्रस्य प्रस्रवणेषु वृक्तबर्हिषः, वयं घ स्तोतारः त्वा परि उपासते ॥१॥ हे वसो इन्द्र ! सुते निरेके उक्थिनः नरः त्वा स्वरन्ति । सुतं तृषाणः, स्वब्दी इव वंसगः, कदा ओकः आ गमः ? ॥२॥ हे धृष्णो ! कण्वेभिः सहस्रिणं वाजं आ दर्षि । हे मघवन् विचर्षणे ! धृषत् पिशंगरूपं गोमन्तं वाजं मक्षु ईमहे ॥ ३ ॥ हे मेध्यातिथे ! पाहि । अन्धसः मदे इन्द्राय गाय । यः हर्योः संमिश्लः, यः च सुते सचा, वज्री, (यस्य) हिरण्ययः रथः ॥ ४ ॥ यः सु-सव्यः सुदक्षिणः इनः, यः सुक्रतुः, यः सहस्रा आकरः, यः शतमघः, यः पूर्भित्, आरितः, (सः) इन्द्रः गृणे ॥ ५ ॥ य धृषितः, य अवृतः, यः श्मश्रुषु अस्ति । (यः) विभूतद्युम्नः, च्यवनः, पुरुस्तुतः, क्रत्वा शाकिनः गौः इव (भवति) ॥ ६ ॥ सुते सचा पिबन्तं कः वेद ? कत् वयः दधे ? यः अयं इन्द्रः शिप्री, अन्धसः मन्दानः, ओजसा पुरः विभिनत्ति ॥ ७ ॥ दाना, वारणः मृगः पुरुत्रा चरथं दधे । त्वा नकिः नि यमत् । सुते आ गमः। महान् ओजसा चरसि ॥८॥ य उग्रः सन् अनिष्टृतः स्थिरः रणाय संस्कृतः (सः) मघवा इन्द्रः यदि स्तोतुः हवं शृणवत्, न योषत् । आ गमत् ॥ ९ ॥ हे उग्र ! (त्वं) सत्यं इत्था वृषा इत् असि । वृषजूतिः न अवृतः । वृषा हि शृण्विषे । परावति वृषा अर्वावति (वृषा एव) श्रुतः ॥१०॥ हे मघवन् ! ते अभीशवः वृषणः, हिरण्ययी कशा वृषा । रथः वृषा, हरी वृषणा, हे शतक्रतो! त्वं वृषा ॥११॥ हे वृषन् ! सोता वृषा ते सुनोतु । हे ऋजीपिन् ! आ भर । हे हरीणां स्थातः ! तुभ्यं नदीषु वृषणं वृषा दधन्वे ॥ १२ ॥ हे शविष्ठ इन्द्र ! सोम्यं मधु पीतये आ याहि । अयं मघवा सु क्रतुः गिरः ब्रह्म उक्था च न अच्छ शृणवत् ॥१३॥हे वृत्रहन् शतक्रतो ! रथे-स्थां अर्यं त्वा रथयुजः हरयः अन्येषां या सवनानि तिरः चित् आ वहन्तु ॥ १४ ॥ हे महामह ! अद्य अन्तमं अस्माकं स्तोमं धिष्व । हे द्युक्ष सोमपाः ! ते मदाय अस्माकं सवना शंतमा सन्तु ॥ १५ ॥ यः वीरः अस्मान् आ अनयत्, सः (इन्द्रः) तवः शास्त्रे नहि रण्यति । मम नो रण्यति ! अन्यस्य अपि न रण्यति ॥ १६ ॥ इन्द्रः चित् घ तत् अब्रवीत् स्त्रिया मनः अशास्यं, उतो अह क्रतुं रघुम् ॥ १७ ॥ मदच्युता सप्ती रथं मिथुना चित् घ वहतः एव इत् । वृष्णः धूः उत्तरा ॥ १८ ॥ अधः पश्यस्व, मा उपरि । पादकौ संतरां हर । ते कशप्लकौ मा दृशन् । हि ब्रह्मा स्त्री बभूविथ ॥ १९ ॥

अर्थ- हे वृत्रवधकर्ता ! सोमका रस निकालकर, जलप्रवाहके (पास बैठनेके) समान पवित्र छाननीसे नीचे स्रवनेवाले (सोमरसकी धाराओंके पास) आसनोंको फैलाकर, हम उपासक तुम्हारे चारों ओर बैठते हैं ॥१॥ हे निवासक इन्द्र ! सोमरसके (छाननीसे) नीचे उतरनेके समय गायक नेताजन तुम्हारा ही यशगान करते हैं। सोम पीनेके लिये तृषित होकर, शब्द करते हुए (आनेवाले) बैलके समान, कब (तुम हमारे) घर आवेंगे ? ॥२॥ हे शत्रुका धर्षण करनेवाले ! कण्वोंने सहस्रगुणित सामर्थ्य (मांगा था, वह तुम उनको) दो । हे धनवान् दूरदर्शी इन्द्र ! शत्रुका पराभव करनेमें समर्थ, पीले रंगवाला (सुवर्णादि धनसे युक्त), गौओंसे युक्त, अन्न (-वाला सामर्थ्य) हमें शीघ्र मिलना चाहिये ॥३॥ हे मेध्यातिथे ! सोमपान करो। इस अन्नरूप सोमके उत्साहमें इन्द्रका स्तोत्र गाओ । वह (इन्द्र) दो घोडे (अपने रथको) जोतते हैं, जो सोमयागमें साथ रहते हैं, वज्र (अपने हाथमें) धारण करते हैं और (जिसका) सुवर्णका रथ है ॥४॥ जिनका बायां हाथ उत्तम है और दाहिना हाथ भी उत्तम (कार्यक्षम) है, जो स्वामी हैं, जो उत्तम कर्म करते

हैं, जो सहस्रों (शुभ गुणों) की खान हैं, सैंकडो धनोंसे युक्त हैं, जो शत्रुके कीलोंको तोडते हैं और जो (यज्ञोंमें) जाते हैं, (उस) इन्द्रकी स्तुति करो ॥५॥ जो (शत्रुओंका) धर्षण करते हैं, जो (शत्रुओं द्वारा) कभी घेरे नहीं जाते, जो दाढीमूछियोंवाले (शत्रुओंमें) घुसकर (युद्ध करते रहते) हैं। जो अनेक धनोंसे युक्त, शत्रुको हिलानेवाले, अनेकों द्वारा प्रशंसित (हैं, वे) प्रयत्न करनेवाले, शक्तिमानोंके लिये गौके समान (होते हैं) ॥६॥ सोमरस (तैयार होनेपर) साथ साथ बैठकर पीनेवाले (इन्द्रको) कौन जानता है ? कौन उसको अन्नका अर्पण करता है ? जो यह इन्द्र शिरस्त्राण धारण करनेवाले, अन्नरूप सोमरससे उत्साहित होनेवाले और अपने बलसे शत्रुके कीलोंको तोडनेवाले हैं ॥७॥ मदकी धाराओंका धारण करनेवाला हाथी जैसा अपने शत्रुको ढूंढता फिरता है, वैसा (इन्द्र सोमका मद-उत्साह धारण करके सोम-यज्ञकी खोज करनेके लिये) अनेक स्थानोंमें जाता है। (हे इन्द्र !) तुम्हें कोई अपने शासनमें नहीं रख सकता। सोमरस (के पान) के समय पधारो। (तुम) बडे बलके साथ संचार करते हो ॥८॥ जो उग्र (वीर होने) के कारण (जिसको युद्धसे) निवृत्त कोई नहीं कर सकता, जो सदा युद्धमें स्थिर रहते हैं, जो युद्धके लिये (शस्त्रोंसे) अलंकृत होकर (तैयार रहते हैं), वह धनवान् इन्द्र यदि स्तोताका शब्द सुनते हैं, तब तो वह अन्यत्र नहीं जाते, (परंतु वहीं) आते हैं ॥९॥ हे उग्र वीर !, तुम सचमुच ऐसे ही महा बलवान् हो, बलवानोंके पास आकर्षित होते हो और हमारे (शत्रुओंसे) कभी घेरे नहीं जाते। बलवान् (करके तुम) सुने जाते हैं। तुम (जैसे) दूरके स्थानमें बलवान् हैं वैसे ही समीपके स्थानमें (भी बलवान् करके) विख्यात हो ॥१०॥ हे धनवान् वीर ! तेरे घोडेकी रस्सियाँ बलवान् हैं, तुम्हारी सोनेकी चाबूक बलवान् है, तुम्हारा रथ बलवान् है, घोडे बलवान् हैं और हे सौ कर्म करनेवाले वीर ! तुम भी बलवान् हो ॥११॥ हे बलशालिन् ! सोमरस निचोडनेवाला बलवान् (याजक) तुम्हारे लिये सोमरस निकाले। हे सीधे आगे बढनेवाले वीर ! (धन यहां) भर दो। हे घोडोंके (रथमें) खडे होनेवाले वीर ! तुम्हारे लिये नदियों (के जल-प्रवाहों) में बलवर्धक सोमको बलवान् (याजक धोनेके लिये) धारण करतेहैं ॥१२॥ हे बलवान् इन्द्र ! सोमका मधुर रस पीनेके लिये आओ। (न आया तो) यह धनवान् उत्तम कर्म करनेवाला हमारी वाणी, स्तोत्र और गानको नहीं सुन सकता ॥१३॥ हे वृत्रवधकर्ता ,सैंकडो कर्मोंको करनेवाले वीर ! रथमें बैठनेवाले तुझ स्वामीको, रथके साथ जोते दोनों घोडे अन्योंके यज्ञोंका तिरस्कार करते हुए यहां (हमारे यज्ञमें) ले आवें ॥१४॥ हे परम पूजनीय वीर ! आज हमारे पासके इस स्तोत्रका धारण (श्रवण) करो। हे तेजस्वी सोमपान करनेवाले वीर ! तुम्हारे आनन्दके लिये किये हमारे सोमसवन (हमारे लिये) सुखदायी हों ॥१५॥ जो वीर (इन्द्र) हमारे नेता हुए हैं, वह (इन्द्र) न तुम्हारे शासनमें (रहना) पसन्द करते हैं, न मेरे (शासनमें रहना) पसंद करते हैं। और न किसी दूसरेकी शासनमें (रहना) पसंद करते हैं ॥१६॥ इन्द्रने ही निश्चयसे कहा था कि स्त्रीके मनको स्वाधीन रखना अशक्य है। और उसकी (बुद्धि तथा) कर्म-शक्ति छोटी होती है ॥१७॥ मदमत्त दो घोडे (इन्द्रके) रथको ले जाते हैं। उस बलवाम् (इन्द्रके रथकी) धुरा अधिक उत्तम है ॥१८॥ (हे स्त्री !) तुम नीचे देखा करो, ऊपर नहीं। पैरोंको पास रखते (हुए) चलो। तुम्हारे शरीरके दोनों भाग-मुख और पिंडरियां- कोई न देख सके (ऐसा कपडा पहनो)। क्योंकि तू (पहिले) ब्रह्मा (का कार्य करनेवाला पुरुष) था, उसकी स्त्री बनी है ॥१९॥

स्मरण रखने योग्य मन्त्रभाग

इस सूक्तमें निम्न लिखित मंत्र.भाग स्मरण योग्य हैं—

१ सहस्रिणं वाजं आ दर्षि- सहस्रों प्रकारका बल, (अन्न या वीर्य) दो। (मं. ३)

२ धृषत् पिशंगरूपं गोमन्तं वाजं ईमहे- शत्रुपर हमला करनेका सामर्थ्य बढानेवाला, सुवर्णके रूपमें विद्यमान, गौएं जिसके साथ रहती है, ऐसा सामर्थ्य हम चाहते हैं। (मं ३)

३ सुसव्यः सुदक्षिणः इनः- जिसके बायां और दाहिना ये दोनों हात उत्तम कार्य करते हैं, वह स्वामी योग्य है। (मं ५) दोनों हाथोंसे उत्तम कार्य करना आवश्यक है।

४ सुक्रतुः, सहस्रा आकरः, पूर्भित्— उत्तम कार्य करनेवाला, सहस्रों गुणोंकी खान, शत्रु-नगरोंको तोड डालने-

वाला वीर उत्तम है। (मं ५)

५ विभूतद्युम्नः, च्यवनः, पुरुस्तुतः- बहुत धनवाला, शत्रुको स्थानभ्रष्ट करनेवाला, अनेकोंद्वारा प्रशंसित वीर उत्तम है। (मं. ६)

६ धृषितः अवृतः-शत्रुओंपर जोरदार हमला करनेवाला, परंतु शत्रुओंसे कभी घेरा नहीं जाता, ऐसा बडा पराक्रमी वीर प्रशंसाके योग्य है। (मं. ६)

७ ओजसा पुरः विभिनत्ति- अपने बलसे शत्रुके किले तोड देता है। (मं ७)

८ मृगः पुरुत्रा चरथं दधे- (शत्रुको) ढूंढनेवाला वीर चारों ओर भ्रमण करता है। (मं. ८)

९ नकिः नियमत्- कोई (शत्रु इस वीरको अपने) शासनमें नहीं रख सकता। (मं. ८) अर्थात् यह कभी परास्त नहीं होता।

१० ओजसा महान् (भूत्वा) चरसि- निज बलके कारण बडा होकर विचरता है। (मं. ८)

११ उग्रः अनिष्टृतः स्थिरः रणाय संस्कृतः- उग्र प्रचण्ड वीर पराजित न होता हुआ, युद्धमें स्थिर रहता है, यह युद्धकी शिक्षा लेकर (सब शस्त्रास्त्रोंसे) सुसज्जित हुआ होता है। (मं. ९) यहांका '**संस्कृतः युद्धाय**' ये पद बडे महत्वके हैं। युद्ध-शिक्षा लेकर जो उत्तीर्ण होता है, वह '**रणाय संस्कृतः**' है। इस तरह युद्धकी शिक्षा दी जाती थी, यह इससे प्रतीत होता है। युद्धके संस्कारोंसे वीरोंको युक्त करना चाहिये, यह बात यहां स्पष्ट होती है।

१२ 'सत्य बली वीर' वे हैं कि जिसके रथ, घोडे, लगाम, चाबूक, आदि सब युद्ध साहित्य उत्तम और श्रेष्ठ बलसे युक्त हो, किसीमें किसी तरहकी न्यूनता न हो। और जो अपने देशमें और दूर देशमें भी बलवान् सिद्ध हो सकते हैं। (मं. १०-११)

१३ जो '**सच्चा वीर**' है वह किसी दूसरेकी पराधीनतामें नहीं रहता। (मं. १६)

१४ वृष्णः धूः उत्तरा- बलवान्की धुरा सदा ऊपर रहती है। (मं. १८)

स्त्रियोंके विषयमें

इस सूक्तमें स्त्रियोंके विषयमें आदेश आये हैं-

१ स्त्रियाः मनः अशास्यं- स्त्रियोंके मनको संयममें रखना कठिन है। स्त्रियोंके मनपर काबू करना अशक्य है। (मं. १७)

२ स्त्रियाः क्रतुः रघुः- स्त्रियोंके कर्म छोटे होते हैं, उनका सामर्थ्य कम होता है, उनकी बुद्धि छोटी होती है। (मं. १७)

३ हे स्त्री! **(अधः पश्यस्व)** नीचेकी ओर देखती हुई खडी रह। **(मा उपरि)** ऊपर न देखो। (**पादकौ संतरां हर**) पांव पासपास रखकर चलो। (**ते कशप्लकौ मा दृशन्**) तेरे शरीरके गात्र किसीको न दीखें, विशेषतः ओंठ और पिंडरियाँ ढंकी रहें अर्थात् सब शरीर कपडेसे अवगुंठित रहे। (मं. १९)

इस तरह इस सूक्तमें वचन हैं, जो स्मरण रखने योग्य हैं।

स्त्रीका पुरुष बनाना

इस सूक्तके अन्तिम मंत्रमें (**ब्रह्मा स्त्री बभूविथ**) ब्रह्माका कार्य करनेवाला पुरुष स्त्री बनी थी, ऐसा कहा है। इस औंध नगरीमें '**कुमारी गोदावरी**' नामकी एक कुमारी थी। उसकी एक तरुणके साथ शादी हो चुकी। स्त्री-पुरुषोंका मेल होनेसे पता लगा कि श्रीमती गोदावरीके अवयव ठीक स्त्रीके समान नहीं हैं। अन्तमें डाक्टरोंने शस्त्रप्रयोगसे ऊपरका भाग काटकर फेंक दिया, तब पता लगा कि वह अन्दरसे उत्तम पुरुष है। तब उस पुरुषकी शादी किसी दूसरी कुमारीसे हुई, प्रथम विवाह रद्द हुआ। यह परिवार अबतक जीवित है और बालबच्चोंके साथ आनंदमें है।

जन्मके १८ वर्षतक स्त्री रही हुई मानवीका इस तरह पुरुष हुआ। उक्त मंत्रमें पहिले पुरुष था, उसकी स्त्री बनी और पश्चात् वह पुरुष बना होगा। यह कैसा हुआ इसका पता लगाना चाहिये। (**ऋ. ८।१।३४ मंत्र देखो, वहां पुनः पुरुषत्व की प्राप्ति होनेका विधान है।**)

यहां मेधातिथिका दर्शन समाप्त हुआ।

नवम मण्डल

(१८) सोम देवता

(ऋ. मं. ९, सू २) १-१० मेधातिथिः काण्वः। पवमानः सोमः। गायत्री।

पवस्व देववीरति पवित्रं सोम रंह्या । इन्द्रमिन्दो वृषा विश १
आ वच्यस्व महि प्सरो वृषेन्दो द्युम्नवत्तमः । आ योनिं धर्णसिः सदः २
अधुक्षत प्रियं मधु धारा सुतस्य वेधसः । अपो वसिष्ट सुक्रतुः ३
महान्तं त्वा महीरन्वापो अर्षन्ति सिन्धवः । यद्गोभिर्वासयिष्यसे ४
समुद्रो अप्सु मामृजे विष्टम्भो धरुणो दिवः । सोमः पवित्रे अस्मयुः ५
अचिक्रदद् वृषा हरिर्महान्मित्रो न दर्शतः । सं सूर्येण रोचते ६
गिरस्त इन्द ओजसा मर्मृज्यन्ते अपस्युवः । याभिर्मदाय शुम्भसे ७
तं त्वा मदाय घृष्वय उ लोककृत्नुमीमहे । तव प्रशस्तयो महीः ८
अस्मभ्यमिन्दविन्द्रयुर्मध्वः पवस्व धारया । पर्जन्यो वृष्टिमाँइव ९
गोषा इन्दो नृषा अस्यश्वसा वाजसा उत । आत्मा यज्ञस्य पूर्व्यः १०

अन्वयः- हे सोम! देववीः, रंह्या पवित्रं अति पवस्व। हे इन्दो! वृषा इन्द्रं आ विश ॥१॥ हे इन्दो! महि वृषा, द्युम्नवत्तमः, धर्णसिः, प्सरः आ वच्यस्व। योनिं आ सदः ॥२॥ सुतस्य वेधसः धारा प्रियं मधु अधुक्षत। सुक्रतु. अपः वसिष्ट ॥३॥ यत् गोभिः वासयिष्यसे, (तत्) महान्तं त्वा सिंधवः महीः आपः अनु अर्षन्ति ॥४॥ समुद्रः विष्टम्भ· दिवः धरुणः अस्मयुः सोमः पवित्रे अप्सु ममृजे ॥५॥ वृषा, हरिः, महान्, मित्रः न दर्शतः, अचिक्रदत्, सूर्येण सं रोचते ॥६॥ हे इन्दो! ते ओजसा अपस्युवः गिरः मर्मृज्यन्ते, याभिः (त्वं) मदाय शुम्भसे ॥७॥ तव प्रशस्तय. महीः। घृष्वये उ लोककृत्नुं मदाय ईमहे ॥८॥ हे इन्दो! इन्द्रयुः मध्वः धारया, वृष्टिमान् पर्जन्यः इव, अस्मभ्यं पवस्व ॥९॥ हे इन्दो! यज्ञस्य पूर्व्यः आत्मा, गोषाः, नृषाः, अश्वसाः उत वाजसाः असि ॥१०॥

अर्थ— हे सोम! (तुम) देवोंको प्राप्त करनेकी इच्छा करता हुआ, वेगसे, इस पवित्र (छाननीसे) नीचे गिरो। हे सोम! तुम बल बढानेके लिये इन्द्रके पास प्राप्त हो ॥१॥ हे सोम! तुम महान् बलवान्, तेजस्वी और धारण शक्तिसे युक्त हो, (हमारे लिये) रसको प्रवाहित करो। और तुम अपने स्थानपरहि रहो ॥२॥ रस निचोडे बलदाता (सोम) की धारा प्रिय मधुर रसको दुहती है। उत्तम कर्मका करनेवाला (यह सोम) जल (रूप वस्त्र) पहनता है ॥३॥ जब (तुम) गौओंके (दूधके द्वारा) ढंक जाते हो, (तब) बडे होनेवाले तुझको नदियोंके जल आते हैं (जल तुम्हारेमें संमिलित होते हैं) ॥४॥ (यह सोमरस) समुद्र जैसा है, सबका स्तंभन करनेवाला, द्युलोकका धारण करनेवाला, हमारे (यज्ञमें) आनेवाला सोम इस पवित्र छाननीपर जलोंमें शुद्ध किया जाता है ॥५॥ बलवर्धक, हरे रंगवाला, बडा मित्रके समान दर्शनीय (यह सोम) शब्द करता है और सूर्य-प्रकाशके साथ प्रकाशित होता है ॥६॥ हे सोम! तुम्हारे बलसे कर्मकी प्रेरणा करनेवाली वाणियाँ शुद्ध होती हैं, जिनसे कि तुम आनन्दित होकर शोभते हो ॥७॥ तुम्हारी बडी प्रशंसाएँ हैं। शत्रुका घर्षण करनेके लिये उत्तम स्थानकी निर्मिति करनेवाले हम तुम्हें आनंद प्राप्त करनेके लिये चाहते हैं ॥८॥ हे सोम! इन्द्रको प्राप्त करनेकी इच्छा करता हुआ मधुर धारासे, वृष्टि करनेवाले मेघके समान हमारे सामने रस-रूपसे शुद्ध होते रहो ॥९॥ हे सोम! तुम यज्ञका प्राचीन आत्माही है, तुम गौ, वीर पुत्र, घोडे और अन्नका प्रदान करते हैं ॥१०॥

(१९)

(ऋ. मं. ९, सू. ४१) १-६ मेध्यातिथिः काण्वः । पवमानः सोमः । गायत्री ।

प्र ये गावो न भूर्णयस्त्वेषा अयासो अक्रमुः । घ्नन्तः कृष्णामप त्वचम् १
सुवितस्य मनामहेऽति सेतुं दुराव्यम् । साह्वांसो दस्युमव्रतम् २
शृण्वे वृष्टेरिव स्वनः पवमानस्य शुष्मिणः । चरन्ति विद्युतो दिवि ३
आ पवस्व महीमिषं गोमदिन्दो हिरण्यवत् । अश्वावद्वाजवत्सुतः ४
स पवस्व विचर्षण आ मही रोदसी पृण । उषाः सूर्यो न रश्मिभिः ५
परि णः शर्मयन्त्या धारया सोम विश्वतः । सरा रसेव विष्टपम् ६

अन्वयः— ये (सोमाः) गावः न, भूर्णयः त्वेषाः अयासः कृष्णां त्वचं अपघ्नन्तः प्र अक्रमुः ॥१॥ सुवितस्य सेतुं, अव्रतं दस्युं साह्वाँसः, दुराव्यं अति मनामहे ॥२॥ पवमानस्य शुष्मिणः स्वनः वृष्टेः इव शृण्वे, दिवि विद्युतः चरन्ति ॥३॥ हे इन्दो ! सुतः गोमत् हिरण्यवत् अश्ववत् वाजवत् महीं इषं आ पवस्व ॥४॥ हे विचर्षणे ! सूर्यः रश्मिभिः उषाः न, स (त्वं) पवस्व, मही रोदसी आ पृण ॥५॥ हे सोम ! नः शर्मयन्त्या धारया, रसा विष्टपं इव, विश्वतः परि सर ॥६॥

अर्थ- जो (सोमरस) गायोंके समान, वनमें जानेवाले तेजस्वी और गतिशील हैं, वे (अपनी) काली चमडीका नाश करते हुए, आगे बढते हैं ॥१॥ उत्तम कर्मोंके सेतु जैसे, तथा व्रतपालन न करनेवाले दुष्टोंको दबानेवाले, दुष्टमति शत्रुको परास्त करनेवाले (इस सोमकी) हम प्रशंसा करते हैं ॥२॥ सोमरस निकालनेके समय बलवर्धक (सोम) का शब्द मैं, वृष्टिके शब्दके समान, सुनता हूं । अन्तरिक्षमें इसकी दीप्तियाँ विचर रहीं हैं ॥३॥ हे सोम ! रस निकालनेपर गौवों, सुवर्ण, घोडों और बलोंसे युक्त बडा सामर्थ्यवान् अन्न (हमारे पास) भेजो ॥४॥ हे विशेष देखनेवाले (सोम) ! जैसा सूर्य किरणोंसे उषाओंको (भर देता है), वैसे ही तुम प्रवाहित होकर द्यावा-पृथिवीको पूर्ण करो ॥५॥ हे सोम ! हमें सुख बढानेवाली धारासे, नदी भूमिको भर देती है वैसे, चारों ओरसे पूरित करो ॥६॥

(२०)

(ऋ मं. ९, सू. ४२) १-६ मेध्यातिथिः काण्वः । पवमानः सोमः । गायत्री ।

जनयन्रोचना दिवो जनयन्नप्सु सूर्यम् । वसानो गा अपो हरिः १
एष प्रत्नेन मन्मना देवो देवेभ्यस्परि । धारया पवते सुतः २
वावृधानाय तूर्वये पवन्ते वाजसातये । सोमाः सहस्रपाजसः ३
दुहानः प्रत्नमित्पयः पवित्रे परि षिच्यते । क्रन्दन्देवाँ अजीजनत् ४
अभि विश्वानि वार्याभि देवाँ ऋतावृधः । सोमः पुनानो अर्षति ५
गोमन्नः सोम वीरवदश्वावद्वाजवत्सुतः । पवस्व बृहतीरिषः ६

अन्वयः— (अयं) हरिः, दिवः रोचना जनयन्, अप्सु सूर्यं जनयन्, गाः अपः वसानः (पवते) ॥१॥ एषः देवः सुत , प्रत्नेन मन्मना देवेभ्य धारया परि पवते ॥२॥ सहस्रपाजसः सोमाः, वावृधानाय तूर्वये वाजसातये, पवन्ते ॥३॥ प्रत्नं इत् पयः दुहानः पवित्रे परिषिच्यते । क्रन्दन् देवान् अजीजनत् ॥४॥ सोमः पुनानः विश्वानि वार्या, अभि (अर्षति), ऋतावृधः देवान् अभि अर्षति ॥५॥ हे सोम ! सुतः (त्वं) नः गोमत् वीरवत् अश्ववत् वाजवत् बृहतीः इषः पवस्व ॥६॥

अर्थ— यह हरा सोम, द्युलोकका प्रकाश उत्पन्न करता हुआ, जलोंमेंसे सूर्यको प्रकट करता है और गोदुग्ध और जलसे ढंका जाता है ॥१॥ यह सोमदेव रस निकालनेके बाद, प्राचीन मननीय स्तोत्रसे (प्रशंसित होकर), देवोंके लिये (अर्पण होनेके लिये) धारासे प्रवाहित होता है ॥२॥ सहस्रों प्रकारके बल बढानेवाले ये सोमरस, बल बढानेवाला अन्न देनेके लिये, छाने जा रहे हैं ॥३॥ पूर्वके समानही दूध जिसके लिये दुहा जाता है, वह सोम (इस समय) पवित्र छाननीपर सींचा जा रहा है। यह शब्द करता हुआ देवोंको प्रकट करता है ॥४॥ यह सोम छाना जानेपर संपूर्ण वरणीय वस्तुओं को (हमारे पास) भेजता और सत्यका संवर्धन करनेवाले देवोंको भी सामने लाता है ॥५॥ हे सोम ! रस निकालनेपर (तुम) हमें गौवें, वीरों, अश्वों और बलोंसे युक्त बहुत अन्न दो ॥६॥

(२१)

(ऋ. मं. ९, सू. ७२) १–६ मेध्यातिथिः काण्वः। पवमानः सोमः। गायत्री।

यो अत्यइव मृज्यते गोभिर्मदाय हर्यतः	। तं गीर्भिर्वासयामसि	१
तं नो विश्वा अवस्युवो गिरः शुम्भन्ति पूर्वथा	। इन्दुमिन्द्राय पीतये	२
पुनानो याति हर्यतः सोमो गीर्भिः परिष्कृतः	। विप्रस्य मेध्यातिथेः	३
पवमान विदा रयिमस्मभ्यं सोम सुश्रियम्	। इन्दो सहस्रवर्चसम्	४
इन्दुरत्यो न वाजसृत्कनिक्रन्ति पवित्र आ	। यदक्षारति देवयुः	५
पवस्व वाजसातये विप्रस्य गृणतो वृधे	। सोम रास्व सुवीर्यम्	६

अन्वयः- यः हर्यतः (सोमः) अत्यः इव, गोभिः मदाय मृज्यते। तं गीर्भिः वासयामसि ॥१॥ तं इन्दुं इन्द्राय पीतये, नः विश्वाः अवस्युवः गिरः, पूर्वथा शुम्भन्ति ॥२॥ पुनानः, हर्यतः सोमः विप्रस्य मेध्यातिथेः गीर्भिः परिष्कृतः, याति ॥३॥ हे पवमान इन्दो सोम ! अस्मभ्यं सुश्रियं सहस्रवर्चसं रयिं विदाः ॥४॥ इन्दुः अत्यः न, वाजसृत्, पवित्रे आ कनिक्रन्ति, यत् देवयुः अति अक्षाः ॥५॥ हे सोम ! गृणतः विप्रस्य वृधे वाजसातये पवस्व। सुवीर्यं रास्व ॥६॥

अर्थ— जो प्रवाहित (सोमरस), चपल घोडेके समान, गो (दुग्ध) के साथ आनन्दवर्धन करनेके लिये शुद्ध किया जाता है, उसको स्तुतियोंसे हम आच्छन्न करते हैं ॥१॥ उस सोमरसको, इन्द्रके पीनेके लिये, हमारी सब सुरक्षा चाहनेवाली वाणियाँ, पहिलेके समान, सुशोभित करती हैं ॥२॥ छाना जाकर, प्रवाहित हुआ सोमरस, विद्वान् मेध्यातिथिके लिये, स्तुतियोंसे परिष्कृत होकर (कलश पात्रकी ओर) जाता है ॥३॥ हे पवित्र होनेवाले चमकदार सोमरस ! हमारे लिये उत्तम शोभायुक्त, सहस्रों बलोंसे युक्त धन दो ॥४॥ यह सोमरस, चपल घोडेके समान, बलवान्, पवित्र छाननीमेंसे शब्द करता हुआ, तथा देवोंको प्राप्त होनेकी इच्छासे युक्त, नीचे चू रहा है ॥५॥ हे सोम ! स्तुति करनेवाले ज्ञानीकी वृद्धि करनेवाला अन्न देनेके लिये प्रवाहित होओ और उत्तम वीर्य भी दो ॥६॥

सोमरसका पान

सोमदेवताके चार सूक्त यहां हैं। पहिला मेधातिथिका है और बाकीके तीन मेध्यातिथिके हैं। ये दोनों काण्व गोत्रमें उत्पन्न, कण्वके पुत्र ही हैं। अष्टम मण्डलका प्रथम सूक्त इन दोनोंका देखा हुआ है और ये दोनों साथ साथ आते हैं, इसलिये इनके सूक्त यहां इकट्ठे लिये हैं।

नवम मण्डलमें	ऋषि	मंत्रसंख्या
सूक्त २	मेधातिथि	१० (एक सूक्त)
४१-४३	मेध्यातिथिः	१८ (तीन सूक्त)
		२८ कुल मन्त्र-संख्या

इन चार सूक्तोंमें अठाईस मंत्र हैं। इनमें सोमका वर्णन इस तरह किया गया है—

*

सूक्तमें ऋषिनाम

मं० ९ सू० ४३ मे ' **मेध्यातिथि** ' ऋषिका नाम है। (**विप्रस्य मेध्यातिथेः गीर्भिः परिष्कृतः सोमः**) ज्ञानी मेध्यातिथिकी स्तुतियोंसे सुसंस्कृत हुआ सोमरस है, ऐसा यहा वर्णन है। स्वयं मेध्यातिथिके स्तोत्रसे इस सोमरसपर विशेष संस्कार हुए हैं। इस तरह यह रस विशेष शुद्ध किया गया है। यह इसका तात्पर्य है।

इन दोनों ऋषियोंके नाम निम्न लिखित मंत्रोंमें आये हैं-

(ऋषि. सध्वंस काण्वः)

याभिः **कण्वं मेध्यातिथिं** (आवतं)(ऋ. ८।८।२०)

(ऋषिः कण्वो घौरः)

यं **कण्वो मेध्यातिथिर्धनस्पृतं०** । (ऋ. १।३६।१०)

यमग्निं **मेध्यातिथिः कण्व** ईधे०। (ऋ.१।३६।११)

अग्निः प्रावन्...**मेध्यातिथिं** । (ऋ. १।३६।१७)

(ऋषि प्रगाथो घौरः काण्व·)

मघस्य **मेध्यातिथेः** । (ऋ. ८।१।३०)

(ऋषि. मेधातिथिः काण्वः)

इत्था धीवन्तं अद्रिव **कण्वं मेध्यातिथिं** ।

(ऋ. ८।२।४०)

(ऋषिः मेध्यातिथिः काण्वः)

पाहि गायान्धसो मद इन्द्राय **मेध्यातिथे** ।

(ऋ. ८।३३।४)

(ऋषिः प्रस्कण्वः काण्वः)

यथा प्रावो मघवन् **मेध्यातिथिं** । (ऋ ८।४९।९)

(ऋषिः श्रुष्टिगुः काण्वः)

मघवन् **मेध्यातिथौ** (सुतं पिब)। (ऋ. ८।५१।१)

(ऋषिः मेध्यातिथिः काण्वः)

सोमो गीर्भि परिष्कृतः । विप्रस्य **मेध्यातिथेः** ।

(ऋ.९।४३।३)

(ऋषिः भृमारः)

यौ मेध्यातिथिमवतो । (अथर्व. ४।२९।६)

ऋग्वेदके सभी मंत्र काण्व गोत्रमें उत्पन्न हुए ऋषियोंके हैं। कोई तो 'आपने पूर्वज मेधातिथि अथवा मेध्यातिथिकी रक्षा की थी, वैसी मेरी रक्षा करो,' ऐसी प्रार्थना करता है।

अथर्ववेदमें भी एकवार इस ऋषिका नाम आया है। उक्त मंत्रोंमें मेधातिथि तथा मेध्यातिथि ये कण्वगोत्रके ऋषि हैं, ऐसा भी कहा है। हमारे विचारके लिये प्रस्तुत किये सूक्तमें ' विप्र मेधातिथिने स्तोत्र गाकर यह सोम परिष्कृत किया है।' ऐसा स्पष्ट वचन है। ये सब मंत्र ऋषियोंका विचार करनेके समय बडे उपयोगी हैं।

इन सोम-सूक्तोंमें जो सोमका वर्णन है, उससे निम्न लिखित बातोंका पता लगता है-

अन्तरिक्ष और द्युलोकमें निवास

सोम द्युलोकमें रहता है। भूमि, अन्तरिक्ष और द्यु ये तीन लोक हैं। भूमि यह पृथ्वीका पृष्ठभाग है, अन्तरिक्ष मेघमण्डल का मध्यस्थान है। मेघ हिमालयके शिखरके नीचे तक उतरते हैं, वहातक अन्तरिक्ष समझिये । जहां हिमाच्छादित शिखर शुरू होते हैं, वहासे द्युलोक शुरू होता है। हिमाच्छादित शिखर· परही उत्तम सोम मिलता है। अन्यान्य चोवीस तरहके सोम सर्वत्र मिलते हैं। पर सबसे श्रेष्ठ सोमवल्लि की उत्तम जाति बर्फानी पहाडोंके शिखरपर होती है। इस विषयमें देखिये—

१ **दिवः धरुणः**— द्युस्थानको सोम पकडता है।(२।५)

२ ' इन्दु ' पद चन्द्रमावाचक है। चन्द्रमावाचक सब पद सोमके वाचक हैं। चन्द्रमा अन्तरिक्षस्थानकी देवता है। अन्त-रिक्षमें रहनेका अर्थही पर्वत-शिखरपर रहना है।

३ वनस्पतिया पृथ्वीपर रहती हैं। सोम औषधियोंका राजा है, इसलिये वह पर्वत-शिखरपर रहता है।

इस तरह इसका पर्वत-शिखरपर रहना माना जाता है। मौंजवान् पर्वतके शिखरपर यह पौधा होता है, ऐसा कई मंत्रोंमें कहा है—

सोमस्य मौजवतस्य भक्षः ।(ऋ. १०।३४।१)

(सायणः) मुजवति पर्वते जातो मौजवतः ।

तत्र हि उत्तमः सोमो जायते ।

भक्ष पाने... मादयति ।

मौजवान् पर्वत पर उत्तम सोम होता है। वह सबसे उत्तम समझा जाता है। वह पीनेसे अधिक उत्साह बढता है अथवा मद अधिक आता है। मौजवान् पर्वत हिमालयका एक भाग है, इस तरह सोमके निवासस्थानके विषयमें अल्पसा पता लगता है।

सोमवल्लीको कूटना

सोमवल्ली पत्थरोंसे कूटी जाती है। इस विषयमें निम्नलिखित मन्त्रभाग देखने योग्य हैं-

कृष्णां त्वचं अपघ्नन्तः (सोमाः)- ऊपरकी काली त्वचाको नाश करके (प्रकट होनेवाले सोमरसके प्रवाह)। यहां ऊपरका छिलका जो हरिद्वर्णका होता है, उसपर कृष्णवर्णकी भी छाया होगी। इस छिलकेके दूर होनेपर अन्दरसे रस बाहर आता है। (कई अनुवादकोंने **काली त्वचावाले,** काले रंगके दुष्ट राक्षस ऐसा '**कृष्णां त्वचं**' का अर्थ किया है। पर यह भ्रम प्रतीत होता है। श्वेत वर्णके लोग शुद्धाचारी और काले रंगके लोग क्रूर और दुराचारी ऐसा कहना कठिन है। और यहां तो '**कृष्णां त्वचं**' पद हैं। त्वचाका अर्थ छिलका है। कृष्णपद नीला, काला, गहरा हरा आदि रंगोंके लिये प्रयुक्त होता है। इसलिये यहा सोमवल्लीके ऊपरके गहरे हरे रंगका सूचक यह पद है ऐसा हमारा मत है।)

वेदमें '**ग्रावाणौ**' देवताही है जो सोम कूटनेके पत्थरोंकी वाचक है। सोमपर ये पत्थर नाचते हैं ऐसे वर्णन मंत्रोंमें है। इससे सोमके कूटनेकी कल्पना हो सकती है। इस तरह कूट कूट कर सोमका चूरा किया जाता है जिसपर पानीका छिटकाव करके रस निचोडा जाता है।

सोममें जलका मिलान

सोमवल्ली जरासी खुष्कसी वल्ली है, जल मिलानेसेही उससे रस निकलता है। सोमके चूरेमें जल मिलानेका उल्लेख निम्नलिखित मंत्रोंमें है—

१ **अपः वसिष्ट-** जलका वस्त्र पहना। जल सोमके साथ मिला दिया। (मं. २।३)

२ **त्वा महीः आपः सिन्धवः अर्षन्ति-** हे सोम! तेरे पास बडे जलप्रवाह, नदियाँ प्राप्त होती हैं। सोममें नदियोंका जल मिलाया जाता है। (मं. २।४)

३ **समुद्रो अप्सु ममृजे-** यहां समुद्र नाम सोमरसका है। समुद्र जलोंमें शुद्ध होता है, अर्थात् सोमरस जलमें मिलाया और छाना जाता है। (समुद्र-सं+उत्-र) जिसमें एकत्र आये उत्साहवर्धक रस हैं उसका नाम समुद्र है। 'समुद्र जलोंसे शुद्ध किया जाता है' यह एक भाषाका विरोधालंकार है, असंभवसी यह बात दीखती है। पर उक्त अर्थसे यह सुसंगत है।

४ **हरिः अपः वसानः-** सोम जलोंमें वसता है। सोमरस जलके साथ मिलाया जाता है। (मं. ४२।१) जहा बहुत जल हो वहा सोम उगता है ऐसा इसका अर्थ प्रतीत होता है, पर वैसा इसका अर्थ नहीं है, क्योंकि हिमाच्छादित शिखरपर यह पौधा उगता है, वहाँ जल कमही रहता है और यह सोमका पौधा खुष्कसा भी रहा है, जल मिलानेसेहि उससे रस निकलता है। इससे सोमके साथ जल मिलानेकी बात स्पष्ट हो जाती है।

सोमरसमें दूध

सोमरस बडा तीखा रहता है, इसलिये उसमें जल, तथा दूध मिलानेके बादही वह पीया जाता है। इस विषयमें निम्नलिखित मंत्रभाग देखो—

१ **गोभिः वासयिष्यसे-** गौओंसे आच्छादित किया जाता है अर्थात् सोमरसमें दूध इतना मिलाया जाता है कि जिससे सोमरसका हरा रंग लुप्त होकर उसको दूधका रंग आता है। यहां 'गौ' का अर्थ गौका दूध है। (मं. २।४)

२ **हरिः गाः वसानः-** हरे रंगका सोम गौओंमें वसता है, गोदुग्धमें मिलाया जाता है। (मं. ४२।१)

३ **पयः दुहानः पवित्रे परिषिच्यते-** दूध जिसके लिये दुहा जाता है ऐसा सोम पवित्र छाननीपर सींचा जाता है। जलसे तर किया जाता है। (मं ४३।४)

४ **यः हर्यतः (सोमः) मदाय गोभिः मृज्यते-** जो सोमरस आनंद बढानेके लिये गौओं (के दूध)के साथ शुद्ध किया जाता है। सोमरसमें दूध मिलाकर भी छाना जाता है। (मं. ४३।१)

इस तरह जल मिलानेका और गौका दूध मिलानेका वर्णन वेदमंत्रोंमें है।

रस छाननेकी छाननी

सोमवल्लीका रस निकालते हैं और उसको छानते हैं। छाननेके लिये भेडीके बालोंकी कम्बल जैसी छाननी होती है। यह तीन गुणा किया कंबलही समझिये। इससे रस छाना जाता है। कूटे गये सोमवल्लीका चूरा दोनों हाथोंमें पकडा जाता है, दस अंगुलियों और दोनों हाथोंसे अच्छी तरह दबाकर रस निकालते हैं, यह रस उक्त छाननीसे छाना जाता है, क्योंकि सोमवल्लीके अनेक तिनके उसमें रहते हैं वे दूर करनेके

लिये छानना आवश्यक रहता है। रस छाननेपर जो शेष रहता है उसपर और भी जल छिडकाया जाता और अधिक रस निकाला जाता है। इस तरह छाननेकी रीति रहती है। इस छाननीको ' पवित्र ' कहा है क्योंकि इससे शुद्ध रस चूता हुआ नीचे उतरता है। इस विषयमें देखिये-

१ **पवित्रं अति पवस्व** (मं. २।१)- पवित्र छाननीसे, हे सोमरस, तू नीचे जा, छाना जा।

२ **पवित्रे सोमः अप्सु मर्मृजे-** पवित्र छाननीपर सोमके साथ जल मिलाकर शुद्ध किया जाता है। छाना जाता है। (मं. २।५)

३ **अचिक्रदत्-** छाननीसे नीचे उतरनेका शब्द होता है। नीचेके पात्रमें रहे रसमें ऊपरसे चूनेवाले रसकी धाराका यह शब्द है। (मं. २।६)

४ **मर्मृज्यन्ते अपस्युवः-** कर्म करनेमें कुशल लोग इसे छानते हैं। (मं. २।७)

५ **पवमानस्य स्वनः-** छाने जानेवाले रसका शब्द। जब ऊपरकी छाननीसे नीचेके पात्रमें रस टपकता है उस समय उसके टपकनेका एक भान्तीका शब्द सुनाई देता है। (वृष्टेः इव स्वनः) जैसा वृष्टीका शब्द होता है वैसाही यह शब्द सुनाई देता है। (मं ४१।३)

६ **क्रन्दन्-** सोम (छाननेके समय) शब्द करता है। टपकनेका शब्द होता है। (मं. ४२।४)

७ **पवित्रे आ कनिक्रन्ति-** पवित्र छाननीपर सोम छाना जानेके समय शब्द करता है। (मं. ४३।५)

नीचे एक बर्तन रखा है जिसमें रस छानकर लेना है, उसपर कंबलकी छाननी रखी है। उस कंबलपर सोम कूटकर रखा है। हाथों और अंगुलियोंसे दबाया और बारबार जलसे तर किया जाता है और जो रस आता है वह इस छाननीसे छानकर नीचे उतरता है। जब वह धारारूपसे या बूंदोंके रूपमें नीचे टपकेगा या चूएगा, तब उसका एक प्रकारका शब्द होगाही। उस शब्दका यह वर्णन है।

रस छाना जानेपर भी जल, दूध, दही, शहद या सत्तू आदि रुचीके अनुसार उसमें मिलाकर वह रस पीनेके योग्य बनाया जाता है जो देवोंको देकर पश्चात् पीते हैं।

सोमकी देवता प्राप्ति

सोमरस देवताओंके पान करनेके हेतुसे उनको दिया जाता हैं। यही सोमकी देवत्व प्राप्ति है। देखिये—

१ (सोमः) **देववीः-** देवोंको प्राप्त करनेकी इच्छा सोम करता है, देवताके पेटमें जानेसे *अपनी* कृतकृत्यता हुई ऐसा सोम मानता है। (मं. २।१)

२ **इन्दो, इन्द्रं विश-** हे सोम तू इन्द्रमें घुस जा।

३ **इन्द्रयुः-** इन्द्र देवताकी प्राप्ति करनेका इछुक।

४ **देवः सुतः धारया देवेभ्यः परिपवते-** यह सोमदेव निचोडा जानेपर धारासे देवोंके लिये अर्पित होनेके लिये छाना जाता है। (मं. ४२।२)

५ **देवान्- अजीजनत्-** देवोंको जन्म देता है। देवोंको प्रकट करता है। सोमपानके लिये देव आते हैं। (मं.४२।४)

६ **पुनानः सोमः ऋतावृधः देवान् अभि अर्षति-** पवित्रपरसे छाना जानेवाला सोम सत्यमार्गको बढानेवाले देवोंको प्राप्त करता है। (मं. ४२।५)

७ **देवयुः इन्दुः-** देवोंको प्राप्त करनेकी इच्छा करनेवाला सोमरस। (मं. ४३।५)

प्रथम देवोंको अर्पण करके पश्चात् ऋत्विज और यज्ञमें उपस्थित लोग सोमपान करते हैं।

सोमके गुणधर्म

इन सूक्तोंमें सोमके निम्नलिखित गुणधर्म कहे हैं—

१ **वृषा-** सोमरस बलका संवर्धन करता है, बल बढाता है। (मं. २।१)

२ **इन्दुः-** (इन्द् ऐश्वर्ये)- सोम तेजस्वी है, अन्धेरेमें चाद जैसा प्रकाशता है। (मं. २।२)

३ **द्युमत्तमः-** सोम अत्यंत तेजस्वी है।

४ **धर्णसिः-** धारणशक्ति देता है, शरीरमें ओज बढाता है।

५ **वेधाः-** विशेष उत्साह बढाता है, कर्मशक्ति बढाता है। (मं. २।३)

६ **प्रियं मधु-** यह रोचक प्रिय और मधुर रस है।

७ **सुक्रतुः-** उत्तम कर्मशक्ति बढाता है।

८ **धरुणः-** धारण शक्ति देनेवाला सोम है, शक्तिवर्धक है।

९ विष्टम्भः– विशेष रीतिसे स्तंभक गुण सोममें है, वीर्यको अधिक स्थिर करता है। शौचका अवष्टंभ करता है। (क्या इसे कब्जी करनेवाला कहा जाय ? इसका विचार वैद्योंको करना चाहिये।)

१० हरिः– सोमका रंग हरा है।

११ दर्शतः– सोमका रंग दर्शनीय मनोरम है।

१२ सूर्येण सं रोचते– सूर्य-प्रकाशसे अधिक चमकता है।

१३ मदाय शुम्भते–आनन्दके लिये शोभता है। सोमरस आनन्दवर्धक है। (मं. २।७)

१४ ओजसा (युक्तः)– सोमरस ओजससे युक्त है। सोमरसका यह रस ओज बढानेवाला है। (मं. २।७)

१५ घृष्विः– घर्षण सहन करनेवाला, जो अच्छा कूटा जा सकता है। शत्रुको कूटकर विनष्ट करनेका बल बढानेवाला। (मं. २।८)

१६ मध्वः धारया पवस्व– मधुर रसकी धारासे छाना जा। दूध मिलानेसे रसमें मधुरता आती है।

१७ त्वेषाः– तेजस्वी (मं. ४१।१)

१८ अयासः– गतिशील, प्रवाही,

१९ भूर्णिः– वन, भूमि, वनमें उत्पन्न होनेवाला,

२० सुवितः– उत्तम रीतिसे प्राप्त, शोभन, सुविधायुक्त, उत्तम कर्ममें उपयोगी।

२१ विद्युतः दिवि चरन्ति– इसकी किरणें द्युलोकतक जाती हैं, यह चमकता है। (मं. ४१।३)

२२ सूर्यो रश्मिभिः उषाः न रोदसी आ पृण– सूर्य जैसा उषाओंको अपने किरणोंसे भर देता है, वैसा सोम दोनों लोकोंको अपने तेजसे भर देवे, चमकता रहे। (मं. ४१।५)

२३ विचर्षणिः– विशेष दीप्तिमान्, विशेष देखनेवाला,

२४ शर्मयन्त्या धारया परि सर– सुख देनेवाली धारासे आओ। सोमरस सुख देता है। (मं. ४१।६)

२५ जनयन् रोचना दिवः– सोम द्युलोकका तेज बढाता है। सोम प्रकाशमान है। (मं. ४२।१)

२६ सहस्रपाजसः– सहस्रों प्रकारके बल बढानेवाला सोम है। (मं. ४२।३)

२७ सोमः वाजसातये तुर्वये पवन्ते– सोमरस बल बढानेवाला अन्न प्राप्त हो इसलिये छाने जाते हैं। (मं. ४२।३)

२८ इन्दुः वाजसृत्– सोमरस बल बढाता है, अन्न देता है। (मं. ४३।५)

सोमके ये गुण हैं। यह बल बढाता है, उत्साह बढाता है। शक्ति बढनेसे शारीरिक सुख भी मिलता है। यहां कई लोग 'मद' का अर्थ उन्माद, बेहोशी, अथवा नशा मानते हैं और सोम नशा लाता है, ऐसा समझते हैं। पर यहां नशा उत्पन्न होनेका समयही नहीं है। सवेर, दोपहर और शाम ऐसा तीनवार सोमका सवन होता है। सवनका अर्थ रस निकालना है। तीनवार रस निकालते हैं और देवताओंको तीनवार अर्पण करते हैं और तीनवार पीते हैं। इसमें नशा उत्पन्न करनेके लिये सडान होनेकी संभावनाही नहीं है। भंगके समान यह स्वयं न सडते हुए नशा करता है, ऐसाभी कई मानते हैं। पर 'सुक्रतु' (उत्तम कर्म करनेवाला) यह इसका वर्णन विशेष स्पष्टताके साथ बता रहा है कि मस्तिष्क बिगडनेसे होनेवाला दुष्कर्म इससे नहीं होता। इसीलिये यह 'सुक्रतु' है। इस कारण नशाकी कल्पना असंगत प्रतीत होती है।

सोमसे प्राप्त दान

सोम निम्नलिखित पदार्थ देता है—

१ गोषः– गौवें देता है। सोमरस निचोडनेवालेके पास दुधारू गौवें अवश्य चाहिये। क्योंकि उसमें गौका दूध अधिक प्रमाणमें मिलाना अवश्यक होता है। (मं. २।१०)

२ नृषाः– वीर पुत्र देता है। क्योंकि सोमरससे वीर्य-वृद्धि होती है, जिससे वीर संतान उत्पन्न होती है।

३ अश्वसाः– सोम घोडे देता है। वीरोंके पास घोडे रहना स्वाभाविक है।

४ वाजसाः– बल और अन्न देता है। सोम स्वयं अन्नही है। (मं. २।१०)

५ गोमत् हिरण्यवत् अश्वावत् वाजवत् महीं इषं आ पवस्व– गाईयाँ, सुवर्ण, घोडे और बलके साथ रहनेवाला अन्न दो। (मं. ४१।४)

६ गोमत् वीरवत् अश्वावत् वाजवत् बृहतीः इषः पवस्व– गाइयाँ, वीर पुत्र, घोडे, बल देनेवाले अनेक अन्न दो। (मं. ४२।६)

७ सोम ! सहस्रवर्चसं सुश्रियं रयिं विदाः– हे सोम ! तूं सहस्रों बलोंसे युक्त उत्तम शोभादायक धन दे। (मं. ४३।४)

सोमसे बल बढता है और बलसे सब प्रकारके धन प्राप्त किये जा सकते हैं, यही आशय यहां है।

मनुष्यके लिये बोध

सोमके वर्णनमें मनुष्यके लिये आचरणमें लाने योग्य बोध मिलता है, इसके सूचक पद ये हैं—

१ **देववीः, देवयुः**- दैवी शक्ति, देवत्वकी प्राप्ति करना चाहिये। नरका नारायण बननेकी इच्छा धारण करो। (मं. २।१)

२ **वृषा**- बलवान् बनो।

३ **रंहा पवित्रं अति पवस्व**- वेगसे पवित्रताकी कसौटी के पार जाओ, शीघ्र पवित्र बनो।

४ **द्युम्नवत्तमः**- तेजस्वी बनो।

५ **धर्णसिः योनिं आसीद**- धारण-शक्तिसे युक्त हो कर अपने स्थानमें स्थिर रहो। इतना सुदृढ बनो कि कोई शत्रु तुम्हें स्थानभ्रष्ट न कर सके।

६ **सुक्रतुः**- उत्तम कर्म कर। (मं. २।३)

७ **दर्शतः**- दर्शनीय बन।

८ **शुम्भसे**- शोभायुक्त बन।

९ **ओजसा अपस्युः**- बलसे कार्य करो। बलवान् बनो और बडे कार्य करो।

१० **लोककृत्नुः**- बडा कार्यक्षेत्र बनाओ। (मं. २।८)

११ **अयासः**- गतिमान्, प्रगतिशील बनो। (मं. ४१।१)

१२ **त्वेषाः**- तेजस्वी बनो।

१३ **सुवितस्य सेतुः**- दुःखसे पार जानेके लिये समर्थ हो जाओ।

१४ **दुराव्यं अव्रतं दस्युं साह्वान्**- दुष्ट व्रतहीन दस्युका पराभव करो। (मं. ४१।२)

१५ **शुष्मी**- बलवान् बनो।

१६ **हिरण्यवत्**- सुवर्णादि धन प्राप्त करो।

१७ **गोमत्, अश्ववत्, वाजवत्**- गौवें, घोडे और अन्न प्राप्त करो। (मं. ४१।४)

१८ **विचर्षणिः**- विशेष दूरदृष्टि प्राप्त करो।

१९ **विश्वतः विष्टपं शर्मन्त्या धारया परिसर**- चारों ओरसे भूमिपर सुखवर्धक विचार-धाराके साथ भ्रमण करो। (मं. ४१।६)

२० **वावृधानः**- बढते जाओ। (मं. ४२।३)

२१ **वाजसातिः**- अन्नका दान करो।

२२ **सहस्रपाजसः**- सहस्र प्रकारका सामर्थ्य प्राप्त करो।

२३ **विश्वानि वार्या अभि अर्षति**- सब स्पृहणीय धन प्राप्त करो। (मं. ४२।६)

२४ **अवस्युवः गिरः शुम्भन्तु**- अपना संरक्षण करनेका भाषण तेरी शोभा बढावे। (मं. ४१।६)

२५ **सुवीर्यं रास्व**- उत्तम पराक्रम करो। (मं. ४३।६)

२६ **सहस्रवर्चसं सुश्रियं विदाः**-सहस्रों बलोंसे युक्त उत्तम धनका दान करो।

इस तरह उक्त सूक्तोंका सोमका वर्णन यद्यपि वह सोमकाही वर्णन कर रहा है, तथापि उस वर्णनके शब्द उक्त बोध मानवोंको भी पूर्वोक्त प्रकार देते हैं। इसी तरह वेदके देवताके वर्णनसे मानवधर्म सिद्ध होता है। पाठक इस तरह मंत्रोंका अधिक विचार करके जितना बोध मिल सकता है, उतना ले सकते हैं।

यहां मेधातिथिका दर्शन

समाप्त

मेधातिथि ऋषिके दर्शनकी

विषयसूची

विषय	पृष्ठ
भूमिका	३
सूक्तवार मंत्रसंख्या	,,
ऋषि ,, ,,	४
देवता ,, ,,	,,
काण्वगोत्रके ऋषि	५
सोमप्रकरण	६
अर्थ करनेकी रीति	,,
मन्त्रोंसे बोध	७
देवताके विशेषण	८
मेधातिथि ऋषिका दर्शन	९
प्रथम मण्डल, चतुर्थ अनुवाक	
(१) आदर्श दूत	,,
आदर्श राजदूत	,,
राजदूतके गुण	१०
रोगनिवारण	११
नवीन स्तोत्र	१२
वीरोंके साथ रहनेवाला धन	१३
पुनरुक्त मन्त्रभाग	,,
ज्ञानी अग्नि	,,
प्रजापालक	१४
(२) यज्ञकी तैयारी	,,
आप्रीसूक्त	१५
देवताओंका क्रम	१६
प्रातःसमयका वर्णन	,,
द्वारोंका खोलना	,,
ज्ञानी दिव्य होताओंको बुलाना	,,
अग्निको प्रदीप्त करना	,,
शरीरको न गिरानेवाला	,,
सुखतम रथ	१७
अमृतका दर्शन	,,
तीन देवियाँ	,,
विश्वरूप त्वष्टा	,,
वनस्पतियोंसे अन्न	,,
दाताको उत्साह	,,
स्वाहा करो	,,
अग्निका वर्णन	१८
(३) हिंसारहित कर्म	,,
मंत्रोंमें कण्वोंका नाम	१९
देवोंके साथ आना	,,
यज्ञमें देवगण	२०
सोमरस देवोंका अन्न	,,
सोमके गुण	,,
घोडे	,,
विप्र अग्नि	,,
देवोंके लक्षण	२१
उपासकोंके लक्षण	,,
अ-ध्वर	,,
देवोंके कार्य	,,
(४) दुर्दम्य बल	,,
ऋतुओंके अनुकूल व्यवहार	२२
न दबनेवाला बल	२३
देवताके गुण	,,
ऋत्विजोंके नाम	,,
सोम कूटनेके पत्थर	,,
गार्हपत्य	२४
(५) भरपूर गौवें चाहिये	,,
दिनमें तीनवार उपासना	२५
उपासककी इच्छा	,,
इन्द्रके गुण	,,
(६) दो उत्तम सम्राट्	,,
दो प्रशंसनीय सम्राट्	२६
(७) सदसस्पति	२७
सभाका अध्यक्ष	,,
ईश्वरही सभापति है	२८
उशिक्पुत्र कक्षीवान्	,,
बुद्धियोंका योग	२९
(८) वीरोंकी साथ	,,
वीरोंके साथ रहो	,,
(९) दिव्य कारीगर	३०;३१
ऋभुदेवोंकी कथा	,,

विषय	पृष्ठ
(१०) वीरोंकी प्रशंसा	
वीरोंके काव्यका गान	३३
दुष्टोंका सुधार	,,
अहिंसा, सत्य और ज्ञान	,,
(११) वेगवान रथ	३४
अश्विनौ देवता, चाबूक	,,
सविता देवता	,,
सबका प्रसविता सविता	३५
संपत्तिका विभाजन	,,
अग्नि और देवपत्नियों	,,
देवियोंका स्तोत्र	३६
मातृभूमिका राष्ट्रगीत	,,
विष्णुः	,,
विष्णु, व्यापक देव	३७
,, सूर्य	३८
(१२) दो क्षत्रिय	,,
सोमरस, दो क्षत्रिय	३९
मित्रावरुणौ	,,
दो मित्र राजा	,,
मरुत्वान् इन्द्र	४०
दुष्टके अधीन न होना	,,
विश्वे देवा मरुतः	,,
मातृभूमिके वीर	४१
पूषा	,,
सोमको ढूंढना	,,
बैलोंसे खेत	,,
आपः, अग्निः	४२
जलचिकित्सा	,,
अष्टम मण्डल	४३
(१३) आदर्श वीर	,,
इन्द्रके गुणोंका वर्णन	४७
आदर्श वीर	,,
पुत्र कैसा हो ?	४९
घूमनेवाले कीले	,,
दिनमें बारबार उपासना	५०
तीन पुत्र, सोमपान	,,
पितासे माताकी अधिक योग्यता	५१
अस्थि जोडना	,,
सोमकी तीन जातियाँ	,,
इन्द्रके घोडे, इन्द्रका मोल	५१
इस सूक्तके ऋषि	५२
हीन मानव, आसङ्गकी कथा	,,
(१४) वीरका काव्य	,,
इन्द्रका सामर्थ्य	५६
सोमरसपान	५७
क्या सोमपानसे नशा होती है ?	५८
सोम और सुरा	५९
दरिद्री दामाद	,,
घोडोंको धोना, कर्मण्य और सुस्त	६०
ईश्वर= इन्द्र, पर्वतवाला इन्द्र	,,
सूक्तमें ऋषिनाम, बडा दान	,,
विभिन्न लोग	६१
(१५) प्रभुका महत्त्व	,,
इन्द्रः ईश्वर	६४
स्मरण करनेयोग्य मन्त्रभाग	,,
पंडितोंका राज्य	६५
ऋषिनाम और अन्यनाम	,,
(१६) वीरकी शक्ति	,,
स्मरण रखनेयोग्य मन्त्रभाग	६८
शत्रुके नाम, ऋषिनाम	६९
मन्त्र करना	,,
(१७) सत्यबली वीर	,,
स्मरण रखनेयोग्य मन्त्रभाग	७१
स्त्रियोंके विषयमें	७२
स्त्रीका पुरुष बनना	,,
नवम मण्डल	,,
(१८-२१) सोमदेवता	७३-७५
सोमरसका पान	७५
सूक्तमें ऋषिनाम	७६
अन्तरिक्ष और द्युलोकमें निवास	,,
सोमवल्लीको कूटना	७७
सोममें जलका मिलान	,,
,, दूधका ,,	,,
रस छाननेकी छाननी	,,
सोमकी देवता प्राप्ति	७८
सोमके गुणधर्म	,,
सोमसे प्राप्त दान	७९
मनुष्यके लिये बोध	८०
विषयसूची	८१

भगवद्गीता और वेदगीता

(ले०- श्री० पं० **जगन्नाथशास्त्री, न्यायभूषण, ज्यौतिषी,** प्रिन्सिपाल महिला संस्कृत कालेज, लैय्या)

(११) वेदाविनाशिनं नित्यं य एनमजमव्ययम् ।
कथं स पुरुषः पार्थ! कं घातयति हन्तिकम् ॥
(भगवद्गीता अध्याय २, श्लो २१)

अर्थ- (पार्थ) हे अर्जुन ! (यः) जो (पुरुष) पुरुष (एनम्) इस आत्माको (अविनाशिनम्) नाशरहित अर्थात् जो द्रव्यगुणादि परिच्छेदसे रहित (नित्यम्) सदैव एक रस रहता है (अजम्) जन्मसे रहित (अव्ययम्) अवयवों तथा गुणोंके उपचय और अपनयसे रहित (वेद) जानता है। (स.) वह (पुरुष.) सर्वात्मभावको प्राप्त हुआ विद्वान् (कथम्) क्यों अथवा कैसे (कम्) किसको (घातयति) हनन करवावे या (कम्) किसको (हन्ति) हनन करे अर्थात् वह न किसीसे हनन करवाता है न आप हनन करता है ॥ २१ ॥

वेदगीता (मंत्रः)

यो मर्त्येष्वमृत ऋतावा देवो देवेष्वरतिर्निधायि।
होता यजिष्ठो मह्ना शुचध्यै हव्यैरग्निर्मनुष ईरयध्यै।
(ऋ. ४।२।१)

अर्थ— (य) जो (अग्निः) जीवात्मा (देव) ज्ञानसे प्रकाशमान (मर्त्येषु) मरणधर्मवाले देहादि पदार्थोंमें (अमृतः) मरणधर्मसे रहित अर्थात् अमर (ऋतावा) सत्यधर्मसे युक्त अर्थात् नित्य (देवेषु अरतिः) इन्द्रियों और उनके विषयोंमें स्नेह न रखनेवाला यद्वा विद्वानोंमें संगति रखनेवाला [अरतिः= रमु क्रीडायां नञ्समासः अथ च " ऋ गतौ बहिवस्यर्तिभ्य-श्चेति अतिप्रत्ययः] (निधायि) स्थित है। वह (होता) दाता अथवा कर्मफल भोक्ता होकर (यजिष्ठ.) देवपूजनादिके लिए भगवद्भक्तोंकी संगति करनेवाला अथवा परमात्मभजन पूजन करनेवालोंमें श्रेष्ठ (मह्ना) अपने महत्त्वसे (शुचध्यै) प्रकाश करनेके लिए स्थित है। तथा वह ही (हव्यैः) अन्नादि पदार्थोंसे (मनुषः) मनुष्यमात्रको (ईरध्यै) प्रेरणा अर्थात् उन्नति करनेके लिए स्थित है। नित्यमें -

आत्मा वा इदमेक एवाग्र आसीत् नान्य-त्किञ्चन मिषत् । (तै उ. १)
प्राणैश्चित्तं सर्वमोतं प्रजानाम् ॥
(मुंड उप ३ ख १,९)

नित्यो नित्यानां चेतनश्चेतनानाम् ।
(कठोप. अध्या. २, व २)

स वा एष महानज आत्मा अन्नादः ।

अर्थ- सबसे पहिले यह एक आत्माही था, अन्य तनिक भी कुछ न था, इससे आत्माका भूतकाल सिद्ध है " सब प्रजाओंकी इन्द्रियोंके सहित अन्त करणमें ओतप्रोत है अर्थात् सारी सृष्टिमें व्यापक है, इससे आत्माका वर्तमानकाल सिद्ध है। (यस्मिन् प्रयन्त्यभि संविशन्ति) ' जिसमें यह सब प्रवेश कर जाते हैं इससे आत्माका भविष्यत्काल सिद्ध है। " वह नित्योंका भी नित्य है और चैतन्योंका भी चेतन है" इससे आत्माका नित्यत्व सिद्ध है। सो जो यह महान् अज है और अन्नाद है अर्थात् जन्मता नहीं जगत्‌रूप अन्नको प्रलयकालमें भक्षण कर जाता है अर्थात् सारा जगत् जिसमें प्रवेश कर जाता है सो यही आत्मा है।

तुलना- गीतामें जीवात्माको अविनाशी, नित्य, अज, अव्यय माना है न स्वय मरता है न किसीको मारता है। वेदमे भी मर्त्यप्राणिमोंमें अमर, तथा होता और नित्यस्वरूप, सत्स-गतिसे मुक्तिपानेवाला बतलाया गया है।

(२१) वासांसि जीर्णानि यथा विहाय नवानि गृह्णाति नरोऽपराणि। तथा शरीराणि विहाय जीर्णा-न्यन्यानि संयानि नवानि देहि ॥
(भगवद्गीता अध्या २, श्लो २२)

अर्थ- (यथा) जिस तरह (नर) मनुष्य (जीर्णानि) पुराने (वासांसि) वस्त्रोको (विहाय) त्याग कर (अपराणि) दूसरे (नवानि) नवीन (वासांसि) कपडोंको (गृह्णाति) धारण करता है। (तथा) उसी तरह (देही) जीवात्मा

(जीर्णानि) काल और कर्मके वशसे त्यागने योग्य पुराने (शरीराणि) शरीरोंको (विहाय) छोडकर (अन्यानि) नामरूप जाति और गुणविशेषोंसे विलक्षण दूसरे (नवानि) नये नये शरीरोंको (संयाति) प्राप्त होता है, न कि स्वयं विकृत होता है ॥ २२ ॥

वेदगीता (मंत्रः)

अनच्छये तुरगातु जीवमेजद् ध्रुवं मध्य आ पस्त्यानाम् । जीवो मृतस्य चरति स्वधाभिरमर्त्यो मर्त्येना सयोनिः ॥

(ऋ. १।१६४।३०; अथ ९।१०।८)

अर्थ– पस्त्यानाम् जीवात्माके शरीरोंके (मध्ये) दरमियान (अनत्) प्राणको धारण करता हुआ (तुरगातु) कर्मफल भोगनेके लिए चलता हुआ (जीवम्) अपने जीवन (एजत्) चलाता हुआ (ध्रुव.) स्थिर अर्थात् नित्यात्मा (आ+शये) वास करता है । (अमर्त्यः) मरण धर्मसे रहित यह जीवात्मा (मर्त्येन) नाश होनेवाले शरीरके साथ (सयोनिः) समान स्थानमे वास करता है । (मृतस्य) काल और कर्मके वशसे नाश हुए शरीरका (जीवः) जीवात्मा (स्वधाभि.) पूर्व शरीर छोडनेके अनन्तर अपनी धारक शक्तियोंके साथ (चरति) दूसरे देहमें भ्रमण करता है ।

(सायण भाष्यभी निम्नप्रकार है)

(अनेन देहस्य असारता) इस मंत्रसे देहकी अनित्यता (जीवस्य नित्यत्वं च प्रतिपाद्यते) जीवकी नित्यता सिद्ध की जाती है (इदं शरीरम्) यह शरीर (जीवाऽवस्थायाम्) जीवन अवस्थामें (अनत्=प्राणनं कुर्वत्) प्राणापानादि कर्म करता हुआ (जीवम्=जीवनवत्) जीवनकी तरह (तुरगात्=स्वव्यापाराय तूर्णगमनं सत्) अपने कामकाजादि व्यापारके लिए तेज चालवाला हुआ (एजत् = कम्पमानं सत्) काम्पता हुआ (शये = शते वर्तते) सोता है अर्थात् वास करता है (पश्चात् प्राणऽपगमनानन्तरम्) प्राणोंके जानेके अनन्तर (उक्तविलक्षणं सत्) पूर्वोक्त बातोंसे विलक्षण हुआ (ध्रुवम् = अविचलितं सन्) नित्य स्थिररूप रहता है । (पस्त्यानाम् = गृहाणां मध्ये) घरोंमें (अथैतेषु आशेते च स्थाणुवत्तिष्ठति) फिर इनमें सोता है अर्थात् स्थाणुवत् रहता है। (जीवस्य वैलक्षण्यमाह) जीवकी विलक्षणताको कहते हैं (मृतस्य = शरीरस्य सम्बन्धी) मृत शरीरका सम्बन्धी जीव (मर्त्येन) मरण धर्मवाले शरीरके साथ (सयोनिः पूर्वं समानोत्पत्तिस्थानम्) एकही स्थान उत्पत्तिका स्थान है (यद्यपि जीवस्य) अगरचे जीवका (न जन्म अस्ति) न जन्म है । (तथाऽपि वपुषस्तद्भावात्) तो भी शरीरके उसके साथ होनेसे (तत्सम्बन्धेन उपचर्यते) उसके सम्बन्धसे व्यवहार किया जाता है (मर्त्यः मरणस्वभावः) मरनेके स्वभाववाले (जीवापेतं वाव किलेदं म्रियते॥ इति श्रुतेः) जीवसे दूर हुआ हुआ यह शरीर मर जाता है, इस श्रुतिके कथनसे (उक्तस्वभावो जीवः) उक्त स्वभाववाला जीवात्मा (स्वधाभिश्चरति= पुत्रैः स्वधाकारपूर्वकदत्तैः अन्नैः चरति वर्तते) पुत्रोंद्वारा स्वधाकारके साथ दिये हुए अन्नसे रहता है ।

अथाऽपि मंत्रः

स तु वस्त्राण्यध पेशनानि वसानो अग्निर्नाभा पृथिव्याः । अरुषो जातः पद इळायाः पुरोहितो राजन् यक्षीह देवान् ॥

(ऋ. १०।१।६)

अर्थ-(राजन्) हे स्वशुभकर्मोंसे प्रकाशमान जीवात्मन् (सः) वह (अग्नि.) जीवात्मा (पृथिव्याः नाभा) पृथिवीके दरमियान (वस्त्राणि) पुराने कपडोंकी तरह (वस्त्राणि) जीवात्माके आवरण रूप पुराने शरीररूपी कपडोंको दूर करके (अध) फिर (इडायाः पदे) उत्तर वेदी अर्थात् उत्तर उत्तर जन्ममें —

एतद्वा इडायास्पदं यदुत्तरवेदी नाभिः ।

(तै. सं. ५।४।८)

पृथिवी पर अपर जन्ममें (पेशनानि) नूतन मनोहर रूपवाले (वस्त्राणि) जीवात्माके आवरण रूप शरीरोंको (वसानः) धारण करता हुआ (जात) संसारमें पुनर्जन्मको पाकर (अरुष) अपने शुभकर्मोंसे प्रकाशमान होता हुआ (पुरोहितः) स्वकर्मफलोंके उपभोगके लिये आगे आगे स्थित हुआ हुआ । अथवा पूर्णहितकारी । इस इह जन्ममें (देवान्) इन्द्रियोंको (यक्षि) सेवन करता है तथा श्रीमद्भागवते—

व्रजंस्तिष्ठन् पदैकेनयथैवैकेन गच्छति ।
तथा तृणजलूकैव देही कर्मगतिं गतः ॥

(स्कंध. १० अ० १ श्लो. २८)

तुलना- गीतामें पुराने वस्त्रोंके परित्याग, नए वस्त्रोंके ग्रहण करनेके दृष्टान्तसे जीवात्माकी नित्यता और पुनर्जन्म सिद्ध किया है। वेदमें भी जीवात्माकी नित्यता तथा पुराने देहोंका परित्याग नए देहोंका कर्म फलोंके उपभोगके लिए ग्रहण करना और स्थूल इंद्रियों तथा उनके विषयोंका उपभोग बताया है।

(१३) नैनं छिन्दन्ति शस्त्राणि नैनं दहति पावकः।
न चैनं क्लेदयन्त्यापो न शोषयति मारुतः॥
(भगवद्गीताऽध्याय २, श्लो० २३)

अर्थ- (शस्त्राणि) अस्त्रशस्त्रादि हथियार (एनम्) इस आत्माको (न छिन्दंति) नहीं काट सकते। (पावकः) आग भी (एनम्) इस आत्माको (न दहति) देहकी तरह भस्म नहीं कर सकती, (आपः) जल भी (एनम्) इस आत्माको (न क्लेदयन्ति) नहीं गला सकते, (च) और (मारुतः) पवन (एनम्) इस आत्माको (न शोषयति) नहीं सुखा सकता॥२३॥

वेदगीता (मंत्रः)

युष्माकं बुध्ने अपां न यामनि विथुर्यति न मही श्रथर्यति। विश्वप्सुर्यज्ञो अर्वागयं सु वः प्रयस्वन्तो न सत्रा चआगत॥
(ऋ. १।७७।४)

अर्थ- हे जीवात्माओ! (युष्माकम्) तुम्हारे बुध्ने (सघातात्मक देहमें (अयम्) यह जीवात्मा (न विथुर्यति) व्यथित अर्थात् नाश नहीं होता। (अयं) यह आत्मा (अपाम्) जलोंके (यामनि) मार्गमें (न विथुर्यति) गीला नहीं हो सकता। (अयम) यह जीवात्मा (मही) पृथिव्यादि वस्तु की तरह (न श्रथर्यति) शस्त्र अस्त्रादिसे वध नहीं किया जाता। (अयम्) यह (यज्ञः) विष्णुका अंश अथवा सत्संगतिकरनेवाला अथवा भगवद्भक्त यह जीवात्मा (विश्वप्सुः) स्वतंत्रतासे समग्र कर्म करनेवाला यद्वा स्वकर्मफलाऽनुरूप समग्र कर्मरूप हुआ हुआ (वः) आत्मअनात्मविवेकवाले तुम्हारे (अर्वाक्) सामने (सु) अच्छीतरह देहको छोडकर जानेवाला है। इसलिए तुम सब विवेकी अथवा अविवेकी पुरुष भी (प्रयस्वन्तः) देह विनाशवान् है आत्मा नित्य है इस बातको जाननेका प्रयत्न करते हुए (सत्राच.) चिन्तासे युक्त (आगत) संसारमें आवो। इस आत्माको अग्नि कुछ नहीं बिगाड सकती, जैसे उपनिषद्—

न तत्र सूर्यो भाति न चन्द्रतारकम्।
नेमा विद्युतो भान्ति कुतोऽयमग्निः॥

अर्थ-उस आत्माके महामण्डलमें न सूर्य प्रकाश कर सकता है, न चन्द्रमा, न तारागण, न बिजली, तो कब संभव हो सकता है कि इसके सम्मुख आग प्रकाश कर सके अथवा जला सके।

तुलना- गीतामें आत्माको आग, जल, वायु, शस्त्रादि नाश नहीं कर सकते प्रत्युत देहका नाश कर देते हैं यह सिद्ध किया। वेदमें भी ठीक ऐसे ही जीवात्माका न मरना और देह का काटना जलना आदि बताया है।

(१४) अच्छेद्योऽयमदाह्योऽयमक्लेद्योऽशोष्य एव च।
नित्यः सर्वगतः स्थाणुरचलोऽयं सनातनः॥
(भगवद्गीताऽध्याय २, श्लोक २४)

अर्थ- (अयम्) यह आत्मा (अच्छेद्यः) शस्त्रोंसे काटे जाने योग्य नहीं है। (अयम्) यह आत्मा (अदाह्य.) अग्निसे जलाने योग्य नहीं है। यह आत्मा (अक्लेद्यः) जलसे गलने योग्य नहीं है। (च) और (अशोष्यः एव) निश्चय करके वायुसे सुखाने योग्य नहीं है। इस लिए (अयम्) यह आत्मा (नित्य) नित्य अर्थात् तीनों कालोंमें एकरस है। (सर्वगतः) सबमें व्यापक है। (स्थाणुः) स्थिर स्वभाववाला है (अचलः) कहीं हिलनेवाला नहीं है (सनातन॰) सदासे चला आ रहा है। ॥२४॥

वेदगीता (मंत्रः)

पञ्चारे चक्रे परिवर्तमाने तस्मिन्ना तस्थुर्भुवनानि विश्वा। तस्य नाक्षस्तप्यते भूरिभारः सनादेव न शीर्यते सनाभिः॥
(ऋ १।१६४।१३; अथर्व ९।९।११, निरु. ४।२७)

अर्थ- (पञ्चारे) पाचज्ञानेंद्रिय या पञ्चकर्मेंद्रियों, या पञ्चमहाभूतोंके चक्रोंवाले (चक्रे) परिवर्तनशील देहरूपी चक्रके (परिवर्तमाने) पुनः पुनः परिवर्तन होनेवाले (तस्मिन्) उस देह चक्रमें (विश्वा) सारे (भुवनानि) प्राणी मात्र (आतस्थु) रहते हैं। (तस्य) उस चक्रके मध्यमें रहनेवाला यह जीवात्मा (अ-क्षः) न क्षय होनेवाला (भूरिभारः) सकल भारी देहके उठानेसे बहुतभारवाला (न तप्यते) दाहक्लेशादियोंसे पीडित नहीं होता। और यह आत्मा (सनात् एव) सदाहीसे एकरससे

चला आ रहा है अतः इसे सनातन कहते है । इसलिएही वह आत्मा (सनाभिः) सर्वदा एकरूपनाभिवाला (न शीर्यते) नहीं टूटता जैसे रथके आरे भारसे टूट जाते हैं और अक्षके नाश होनेसे रथ की नाभि मध्यभाग भी मुड जाता है या टूट जाता है वैसे यह आत्मा देहरूपी चक्रके चीरे जानेपर जलमे गीले होनेपर या अग्निसे जल जानेपर भी चीरा जाता है न गीला होता है और न जलता है इसलिए आत्मा नित्य है और देह अनित्य है ।

तुलना– गीतामें देहको छेद्य, क्लेद्य, शोष्य और अदाह्य कहा है आत्माको अछेद्य, अभेद्य, अक्लेद्य, अशोष्य, नित्य, सर्वगत, और सनातन कहा है । वेदमें भी देह चक्र आरे आदिके टूटनेसे नष्ट हो जाता है परन्तु आत्मा नित्य अच्छेद्य अभेद्य, अदाह्य कहा है ।

(२५) अव्यक्तोऽयमचिन्त्योऽयमविकार्योऽयमुच्यते ।
तस्मादेवं विदित्वैनं नाऽनुशोचितुमर्हसि ॥
(भगवद्गीता अध्याय २ श्लोक २५)

अर्थ– (अयम्) यह आत्मा (अव्यक्तः) अव्यक्त अप्रत्यक्ष, अर्थात् किसी भी इन्द्रिय द्वारा प्रत्यक्ष न होनेवाला है । (अयम्) यह आत्मा (अचिन्त्यः) अनुमानादि द्वारा चिन्ता करने योग्य नहीं है । (अयम्) यह आत्मा (अविकार्यः) न विकार होनेयोग्य (उच्यते) कहा जाता है । (तस्मात्) इसलिए (एनम्) इस आत्माको (एवम्) इस प्रकार (विदित्वा) जानकर (अनुशोचितुम्) इसके मरने मारनेका शोच करनेके लिये (न अर्हसि) योग्य नहीं है अर्थात् तू अपने बन्धुओंके मरने वा मारनेका शोच मत कर ॥२२॥

वेदगीता (मंत्रः)

को द॑दर्श प्रथ॒मं जाय॑मानमस्थ॒न्वन्तं॒ यद॑नस्था बिभ॑र्ति । भूम्या॒ असु॒रसृ॑गा॒त्मा क्व॑स्वित् को वि॒द्वांस॒मुप॑ गा॒त्प्रष्टु॑मे॒तत् ॥
(ऋ. १।१६४।४; अथ. ९।९।४)

अर्थ– (प्रथमम्) सबमें प्रथम अर्थात् अनादि (जायमानम्) शरीरमें प्रकट होते हुए आत्माको (कः) किसने देखा। अव्यक्त होनेसे उसे कोई पुरुष चक्षुरादि इन्द्रियोंसे नहीं देख सकता । (यत्) क्योंकि यह आत्मा (अनस्था:= न+अ+स्था:)= जो सर्वदा न रहे उसे अस्था कहते हैं जो अस्था न हो उसे अनस्था कहते एकरस रहनेवाला है और विकारसे रहित है । अथवा जो हड्डियोंसे रहित होकर (अस्थन्वन्तम्) विनाशी पृथिव्यादि संघातात्मक, अथवा हड्डियोंवाले देहको (बिभर्ति) धारण करता है । (भूम्याः) पार्थिव स्थूल शरीरका (असुः) प्राणरूप होकर धारण करनेवाला (असृक्) जो किसी बनाया (सर्जा) न गया हो यद्वा 'सृज् नाम रागकों है" जो देहादि के रागसे रहित हो । वह (आत्मा) जीवात्मा (क्वस्वित्) कहा रहता है इस चिन्ताके होनेसे वह आत्मा अचिन्त्य कहा गया है । (कः) कौन मनुष्य (विद्वांसम्) विद्वान् पुरुषके पास (एतत्) इस आश्चर्यमयात्मक वस्तु को (प्रष्टुम्) पूछनेके लिये (उपगात्) जाता है । तथाच—

'न तत्र चक्षुर्गच्छति न वाग्गच्छति न मनो न विद्मो न विजानीमो यथैतदनुशिष्यादन्य. देव तद्विदितादथो अविदितादधि इति शुश्रुम पूर्वेषां ये नस्तद्व्या चचक्षिरे ॥
(केनोप० खंड १, मं. ३)

अर्थ– उस आत्मामें आंख नहीं जाती अर्थात् वह अव्यक्त है । न वाणी जाती है अतः वाचातीत है, न मन जाता है अतः विद्वान् उस अव्यक्त, अचिन्त्य अविकार्य कहते हैं ।

तुलना- गीतामें आत्माको अव्यक्त, अचिन्त्य, अविकार्य कहा है जो ऐसा जानता है वह कभी किसी स्थान वा किसी वस्तुके लिये शोक नहीं करता ऐसा बताया है । वेदमें भी आत्मा हड्डी आदि रहित, देह धारक, अचित्य कहा है जिसके ज्ञानकी उपलब्धि विद्वान् पुरुषके पास जानेसे हो सकती है ।

(२६) अथ चैनं नित्यजातं नित्यं वा मन्यसे मृतम् ।
तथाऽपि त्वं महाबाहो नैवं शोचितुमर्हसि ॥
(भगवद्गीता अध्या. २, श्लो. २६)

अर्थ- (हे महाबाहो) हे विशाल बाहुवाले अर्जुन ! (अथ च) यदि तू (एनम्) इस आत्मको (नित्यजातम्) जब जब देह उत्पन्न होता है तब तब देहके साथही तत्काल आत्मा जन्म लेता है सदा जन्मता हुआ (वा) अथवा (नित्यं मृतम्) देहके मरनेपर देहके साथही मरनेवाला (मन्यसे) मानता है । (तथाऽपि) तो भी इस पक्षके स्वीकार करनेपर भी (त्वम्) तू (एवम्) हम धृतराष्ट्रके पुत्रोंके मारनेके लिये योग्य नहीं है इस रीतिसे (शोचितुम्) शोच करनेके लिए (नार्हसि) योग्य नहीं है ॥२६॥

वेदगीता (मंत्रः)

अयं पन्था अनुवित्तः पुराणो यतो देवा उदजायन्त विश्वे। अतश्चिदा जनिषीष्ट प्रवृद्धो मा मातरममुया पत्तवे कः ॥

(ऋ. ४।१८।१)

अर्थ- (अयं पन्था) प्रत्यक्ष प्रतीत होता हुआ यह जन्म-मरण मार्ग (पुराणः) अनादि कालसे (अनुवित्तः) यथा क्रम उत्पन्न होनेवाले सब जीवोंसे पाया जाता है (यत) जिस जन्म मार्गसे (विश्वे) सब (देवाः) ज्ञानी और अज्ञानी जीवात्मा (उदजायन्त) उत्पन्न होते हैं। (अत + चित्) इस योनि-मार्गसेही (प्रवृद्धः) गर्भमें अथवा संसारमें अतीव वृद्धिको प्राप्त हुआ हुआ (आ + जनिषीष्ट) यह जीवात्मा उत्पन्न होता है। (अमुया) इस नित्य जन्म मरणकी रीतिसे (मातरम्) शोकके माप करनेवाले ज्ञानको (पत्तवे) विनाशके लिये (मा + कः) मत कर, अर्थात् जन्मके साथ मृत्यु आवश्यक है इसलिये शोक व्यर्थही है ॥ १ ॥

तुलना- गीतामें अर्जुनके सन्तोषके लिये जन्मके साथ मृत्यु और मृत्युके साथ जन्म यदि आवश्यक है तो भी मृत्युके लिये शोक व्यर्थ है क्योंकि मृत्यु होनेपर पुनः जन्म होगा। ऐसा बताया है। वेदमें भी जन्ममरणका मार्ग पुरातन बताया है सब जीवात्मा देहके साथ जन्म लेते, बढते हैं और मरते है इसलिए किसीकी मृत्युपर शोक करना व्यर्थ है।

(२७) जातस्य हि ध्रुवो मृत्युः ध्रुवं जन्म मृतस्य च। तस्मादपरिहार्येऽर्थे न त्वं शोचितुमर्हसि ॥

(भगवद्गीताऽध्याय २, श्लो. २७)

अर्थ- (हि) जिस कारणसे (जातस्य) जन्म लेनेवालेकी (मृत्युः) मौत (ध्रुवः) अवश्यही होती है। (च) और (मृतस्य) मरे हुए का (जन्म) जन्मभी (ध्रुवम्) अवश्य होता है। (तस्मात्) इसलिये (त्वम्) तू (अपरिहार्ये + अर्थे) अवश्य होनेवाले इस विषयमें भी (शोचितुम्) शोच करनेके लिये (न + अर्हसि) योग्य नहीं है ॥ २७ ॥

वेदगीता (मंत्रः)

मृत्युरीशे द्विपदां मृत्युरीशे चतुष्पदाम्। तस्मात् त्वां मृत्योर्गोपतेरुद्भरामि स मा बिभेः॥

(अथ. ८।२।२३)

अर्थ- (द्विपदाम्) मनुष्य पक्षि आदियोंकी (मृत्युः) मौत (ईशे) प्रभुत्व करती है और (चतुष्पदाम्) चार पाऊंवाले जीवोंपर (मृत्युः) मौत (ईशे) अधिकार रखती है अर्थात् मृत्यु प्रत्येक प्राणीके लिए आवश्यक है। (तस्मात्) इस कारण (त्वाम्) तुझ जीवात्माको (गोपतेः) गो=पशु होता है पशु द्विविध है द्विपद और चतुष्पद। उन दोनोंके स्वामी (मृत्योः) मौतसे (उद्भरामि) ऊपर उठाता हूं। (स) वह तू मृत्युके भयको पाया हुआ (मा + बिभे) मौतसे भय मत कर ॥३१॥

तुलना- गीतामें प्रत्येक प्राणीकी मृत्यु अवश्यकी है जन्मके अनन्तर मृत्यु, और मृत्युके अनन्तर जन्म अवश्य होता है इसलिये न टलनेवाली बातमें शोक न करना चाहिये। ऐसा बताया। वेदमें भी प्रत्येक प्राणीकी मृत्यु अवश्य होती है मेरे शरण आनेसे मृत्युका डर दूर हो सकता है। अवश्य मृत्यु देखकर मृत्युसे किसीको भय न करना चाहिये, यह बताया है।

(२८) अव्यक्तादीनि भूतानि व्यक्तमध्यानि भारत। अव्यक्तनिधनान्येव तत्र का परिदेवना ॥

(भगवद्गीताऽध्याय २ श्लो. २८)

अर्थ-- (भारत) हे भरतकलोत्पन्नार्जुन ! (भूतानि) शरीर अथवा आकाशादि पञ्चमहाभूत (अव्यक्तादीनि) उत्पत्तिसे पहिले शरीर रहित होनेसे अव्यक्ताऽवस्था होनेसे देखे नहीं जाते। (व्यक्तमध्यानि) मध्यमें थोडे कालके लिये व्यक्त=शरीर-वाले होते हैं (अव्यक्तनिधनानि) अस्तकालमें भी अव्यक्तही रहते है। (तत्र) इनके शोकमें (का) क्या (परिदेवना) दुःख किया जा सकता है। अर्थात् इन भीष्मादिके लिये शोकसे जर्जरी भूत होकर क्यों दुःखी होना है ॥२८॥

वेदगीता (मंत्र)

तमिद्गर्भं प्रथमं दध्र आपो यत्र देवाः समगच्छन्त विश्वे। अजस्य नाभावध्येकमर्पितं यस्मिन् विश्वानि भुवनानि तस्थुः ॥

(ऋ १०।८२।६, वा. यजु. १७।३०)

अर्थ- (आपः) उत्पत्तिसे पूर्व संसारावस्थामें प्राप्त हुए हुए पदार्थमात्र (तम्+इत्) उस परमात्माके ही (गर्भम्) सर्व-लोकोंके उत्पत्तिस्थान प्रकृतिमेंही (प्रथमम्) पहिले (दध्रे) स्थित रहते हैं क्योंकि सब पदार्थ उत्पत्तिसे पूर्व अव्यक्ताऽव-

स्थामें रहते हैं। (यत्र) जिस परमात्मामें (देवाः) ज्योतिर्मय सूर्यादिलोक भी (समगच्छन्त) मध्यावस्थामें दृश्यमान होते हुए लीन हो जाते हैं। (विश्वे) सब भूतजात अर्थात् स्थावर जंगम मात्र (अजस्य) परमात्माके (नाभौ) मध्यमें (एकम्) मुख्य तथा (अर्पितम्) स्थित हैं। (यस्मिन्) जिस परब्रह्ममें (विश्वानि) सारे (भुवनानि) लोकलोकान्तर (अधितस्थुः) वास करते हैं। अर्थात् सब पदार्थ सृष्ट्युत्पत्तिसे पूर्व ब्रह्ममें थे अतः अव्यक्तरूप थे, विनाशानन्तर ब्रह्ममें लीन होनेसे भी अव्यक्त रहते हैं केवल मध्यस्थितिमें व्यक्त होते हैं। ऐसे पदार्थोंके लिये दुःखी होनेकी क्या आवश्यकता है।

उपनिषदें भी यही कहती हैं।

स यदा स्वपिति तदैनं वाक्सर्वैर्नामभिः सहाऽप्येति, चक्षुः सर्वैः रूपैः सहाऽप्येति, श्रोत्रं सर्वैः शब्दैः सहाऽप्येति, मनः सर्वैः ध्यानैः सहाऽप्येति, स यदा प्रबुध्यतेऽथैतस्मादात्मनः सर्वे प्राणा यथायतनं विप्रतिष्ठन्ते प्राणेभ्यो देवा देवेभ्यो लोका इति " अथ च " पावकात् विस्फुलिंगा सहस्रशः प्रभवन्त सरूपाः तथाऽक्षराद्विविधाः सोम्य भावाः प्रजायन्ते तत्र चैवापियन्ति '

(मुं. खं.१ मं ३)

तुलना- गीतामें भूतमात्रके विद्युत्के प्रकाशकी तरह मध्यकालमें प्रकाश बताकर दुःखित न होनेकी आवश्यकता बतलाई है। वेदमें पदार्थमात्रकी ब्रह्मसे उत्पत्ति ब्रह्ममें लीनता " मध्यकाल "में पदार्थमात्रका प्रकाश बताया है।

(२९) आश्चर्यवत्पश्यति कश्चिदेनमाश्चर्यवद्वदति तथैव चान्यः। आश्चर्यवच्चैनमन्यः शृणोति श्रुत्वाऽप्येनं वेद न चैव कश्चित् ॥

(भगवद्गीता अ. २, श्लो. २९)

अर्थ- (कश्चित्) कोई पुरुष (एनम्) इस आत्माको (आश्चर्यवत्) अलौकिक वा अद्भुत तत्त्वके समान (पश्यति) देखता है। (च) और (तथैव) वैसेही निश्चय करके (अन्य) कोई दूसरा पुरुष इस आत्माको (आश्चर्यवत्) विस्मयसे भरे हुए तत्त्वके समान (वदति) बोलता है। (च) और (अन्यत्) इससेभी अन्य पुरुष (आश्चर्यवत्) आश्चर्यमयके समान (शृणोति) सुनता है। (च) और (कश्चित्) कोई पुरुष (एनम्) इस आत्माको (श्रुत्वा+अपि) सुनकर भी (न+एव) निश्चयरूपसे नहीं (वेद) जानता है।

वेदगीता (मंत्रः)

उत त्वः पश्यन्न ददर्श वाचमुत त्वः शृण्वन्न शृणोत्येनाम्। उतो त्वस्मै तन्वं१ वि सस्रे जायेव पत्य उशती सुवासाः ॥

(ऋ. १०।७१।२)

अर्थ- (त्वः) कोई पुरुष (वाचम्) वर्णोके बोलनेवालेको (पश्यन्+उत) मनसे पर्यालोचना कर्ता हुआ भी (न ददर्श) जीवात्माके तत्त्वको नहीं देखता। (त्वः) कोई पुरुष (एनाम्) इस जीवात्माकी देहके उठाने, बोलने, सुनने, छूनेकी शक्तिको (शृण्वन्) सुनता हुआ भी (न शृणोति) नहीं सुनता कि यह आत्मतत्त्व क्या है। (त्वस्मै उत) किसी तत्त्वजिज्ञासु पुरुषके आगे हस्ताऽमलकन्यायकी तरह यह आत्मतत्त्व (तन्वम्) अपने विस्तृत शरीर अर्थात् अपने आशयको (वि सस्रे) खोलदेता है। जैसे (सुवासाः) अच्छे वस्त्रों वाली (उशती) पतिको चाहती हुई (जाया) भार्या निजस्वामीके निकट निजदेहको समर्पित करती है।

वेदगीता (मंत्रः)

शिवास्त एका अशिवास्त एकाः सर्वा बिभर्षि सुमनस्यमानः। तिस्रो वाचो निहिता अन्तरस्मिन् तासामेका वि पपाताऽनु घोषम् ॥

(अथ. ७।४४।१)

अर्थ- हे जीवात्मन्! (ते) तेरी (एकाः) इस देहमें चलने फिरनेवाला कौन है ऐसी आश्चर्यमयी कई बातें (शिवाः) कल्याण करनेवाले ' यद्वा शिव.! ' शिव! ऐसे वाक्योंसे आश्चर्यमयी हैं। (ते) तेरी (एकाः) कई एक बातें (अशिवाः) दुःख देनेवाली कोई आत्मा पृथक् नहीं यह देह ही सब कुछ करता है, ऐसी बाते नरकमें डालनेवाली अशुभ बातें हैं। परन्तु (सुमनस्यमानः) उत्तम मनवाला तू (सर्वाः) उन सब आत्मा क्या है देह है क्षणिक विज्ञान है, परमाणु है इन सब बातोंको (बिभर्षि) धारण करता है। (तिस्रः वाचः) आत्माके तत्त्वको आश्चर्यमय देखना, आश्चर्यमय कहना, आश्चर्यमय

सुनना यह तान प्रकारकी बातें (अस्मिन्) इस पुरुषमें (अन्त) अन्दिर (निहिताः) स्थित हैं। (तासाम्) उन तीनों बातोंमें से (एका) ज्ञानरूप वार्ता (घोषम्) हजारों बार कानमें सुने हुए शब्दको (अनु+विपपात) लक्ष्य करके भी विरुद्ध प्राप्त होती है अर्थात् हजारों बार सुनकर भी इस आत्माको नहीं जानते ॥१॥

जैसे उपनिषदोंमें भी कहा है—

सन्तमप्यसन्तामिव । स्वप्रकाशचैतन्यरूपमपि जडामिव। आनन्दघनमपि दुःखितमिव। निर्विकारमपि सविकारमिव। नित्यमप्यानित्यमिव। ब्रह्माभिन्नमपि तद्भिन्नमिव। मुक्तमपि बद्धमिव। अद्वितीयमपि सद्वितीयमिव ॥

अर्थ- यह आत्मा स्थिर रहनेपर भी न रहनेके समान। स्वप्रकाश चैतन्यरूप होनेपर भी जडके समान। आनन्दघन होनेपर भी दुःखितके समान। सर्व पञ्चभूतोंके विकारोंसे निर्मल और निर्द्वन्द्व होनेपर भी विकारवान्के समान। नित्य होनेपर भी अनित्यके समान, ब्रह्मसे भिन्न न होनेपर भी ब्रह्मसे भिन्न, सदा मुक्त होनेपर भी बद्धके समान। अद्वितीय होनेपर भी द्वितीयके साथ देख पडता है। यहां आश्चर्यमय घटनायें आत्माके लिये उपस्थित हैं—

यतो वाचो निवर्तन्ते अप्राप्य मनसा सह ।

अर्थ=वचन मनके साथ दौडते दौडते इसके अन्तको न प्राप्त होकर निवृत्त हो जाता है। अर्थात इसकी आश्चर्यमय लीलाको देखकर चुप हो जाता है।

तुलना- गीतामें आत्माके सम्बन्धमें लोगोंके विचार आश्चर्यमयवाले बताए हैं। वेदमें भी आत्माको आश्चर्यमय स्वरूप बताया है।

(३०) देही नित्यमवध्योऽयं देहे सर्वस्य भारत ।
तस्मात् सर्वाणि भूतानि न त्वं शोचितुमर्हसि॥

(भगव. अ. २, श्लो. ३०)

अर्थ- (हे भारत) भरत वंशोत्पन्नार्जुन ! (सर्वस्य) सब प्राणियोंके (देहे) देहमें (अयम्) यह (देही) जीवात्मा (अवध्यः) वध होनेयोग्य नहीं है तथा (नित्यम्) वह नित्य है। (तस्मात्) इसलिये (त्वम्) तू (सर्वाणि) इन सब (भूतानि) भीष्मादि जीवोंके लिये (शोचितुम्) शोक करने (न अर्हसि) योग्य नहीं है।

वेदगीता (मंत्रः)

आ पप्रौ पार्थिवं रजो बद्बधे रोचना दिवि ।
न त्वावाँ इन्द्र कश्चन न जातो न जनिष्यऽति
विश्वं ववक्षिथ ॥ (ऋ. १।८१।५)

अर्थ— (हे इन्द्र) हे जीवात्मन् ! तू (पार्थिवम्) पृथिवी के विकारवाले (रजः) लोक अर्थात् देहको (आपप्रौ) भरपूर करता है अर्थात् देहका स्वामी होकर रहता है। और (दिवि) हृदयाकाशमें (रोचना) प्रकाशमान विवेकको (बद्बधे) बाधता है अर्थात् हृदयमें विवेचनात्मक ज्ञानको धारण करता है। हे आत्मन् ! (त्वावान्) तुझ जैसा (कश्चन) और कोई भी (न) नहीं है (न जातः) और नहीं तेरे जैसा कोई उत्पन्न है और (न जनिष्यते) और नहीं कोई पदार्थ पैदा होगा। जब आत्माकी उत्पत्ति नहीं है तब उसकी मृत्यु क्यों होगी। इसलिये तू नित्य होता हुआ (विश्वम्) सारे देहको (अतिववक्षिथ) अत्यन्त उठाये हुए हो। इसलिये आत्माको अज और नित्य मानना चाहिये। तथा च " अपश्यमस्य महतो महित्वमम-र्त्यस्य मर्त्यासु विक्षु " (ऋ. १०।७९।१) अर्थ - (मर्त्यासु) मृत्यु होनेवाले (विक्षु) प्रजाओंमें या देहोंमें (अस्य) इस (महत·) महान् (अमर्त्यस्य) न मरनेवाले आत्माका महत्त्व (अपश्यम्) देखा है अर्थात् मरणधर्मी शरीरोंमें यह अमर और अविनाशी आत्मशक्ति रहती है ॥

तुलना- गीतामें देहको अनित्य, आत्माको नित्य बताकर, देहके नाश होनेपर शोक नहीं करना चाहिये यह सिद्ध किया है। वेदमें भी देहको मृत्युधर्मक और आत्माको अजर अमर बताया है।

(३१) स्वधर्ममपि चावेक्ष्य न विकम्पितुमर्हसि ।
धर्म्याद्धि युद्धाच्छ्रेयोऽन्यत् क्षत्रियस्य न विद्यते॥

(भगवद्गीताऽध्याय २, श्लो. ३१)

अर्थ- (च) और (स्वधर्मम्) राजा (क्षत्रिय)का युद्ध करना अपना सहजधर्म है " इसलिये तू अपने क्षत्रियधर्मको (अवेक्ष्य) देखकर (विकम्पितुम्) कम्पायमान होने योग्य (न + अर्हसि) नहीं है (हि) क्योंकि (धर्म्यात्) क्षत्रियों द्वारा सम्पादन किये जाने योग्य न्याययुक्त धर्मवाले (युद्धात्) युद्धसे (अन्यत्) और (श्रेयः) कल्याण करनेवाला कोई धर्म

(क्षत्रियस्य) क्षत्रियके लिये (न विद्यते) नहीं जाना जाता है ॥ ३१ ।

वेदगीता (मंत्रः)

युध्मो अनर्वा खजकृत् समद्वा शूरः सत्राषाड् जनुषेमषाळ्हः । व्यास इन्द्रः पृतनाः स्वोजा अधा विश्वं शत्रूयन्तं जघान ॥

(ऋ ७।२०।३)

अर्थ- (युध्मः) क्षत्रिय (अनर्वा) युद्धमें पीठ न दिखाने-वाला (खजकृत्) युद्धके करनेवाला "खले, खजं" युद्ध नाम, निघटु(समद्वा) दुष्टोंको मारकर सज्जनोंको प्रसन्न करनेवाला यद्वा युद्धको अपना धर्म समझनेवाला (शूरः) शूरता युक्त (जनुषा) जन्मसेही (सत्राषाट्) बहुतोंपर प्रभावके डालने-वाला (अषाढ्ः) स्वयं किसीके प्रभावमें न आनेवाला (स्वोजाः) अच्छे बलवाला (ईम्) यह (इन्द्रः) क्षत्रियात्मा (पृतनाः) शत्रुओंकी सेनाओंको (व्यास) परास्त कर देता है (अध) और (शत्रूयन्तम्) शत्रुताको करते हुए (विश्वम्) सारे शत्रु मण्डलको (जघान) नाश कर देता है। तथा च महाभा. शान्ति ५५।१४

क्षत्रियाणां तथा कृष्ण समरे देहपातनम् ।
अधर्मः क्षत्रियस्यैषः यच्छय्यां मरणं भवेत् ।
विसृजन् श्लेष्ममूत्राणि कृपणं परिदेवनम् ॥

(महाभा शा. ९७।२३)

आविक्षतेन देहेन प्रलयं योऽधिगच्छति ।
क्षत्रियो नाऽस्य तत्कर्म प्रशंसन्ति पुराविदः ॥

(महा शां ९७।२४)

न गृहे मरणं तात क्षत्रियाणां प्रशस्यते ।
शौण्डियाणामप्यशौण्डीर्यमधर्म्यं कृपणं च तत् ॥

(महा. शां. ९७।२४)

अर्थ- क्षत्रियोंका धर्म युद्धमें देहत्यागका है। "क्षत्रियके लिये यह महा अधर्म है जो बीमार होकर खाटपर पडकर मरना है जिसमें श्लेष्म मलमूत्रादि त्यागसे अतिकृपणतासे देह त्यागा जाता है। जो क्षत्रिय घावसे रहित देहको त्याग कर देता है अर्थात् विना शस्त्रप्रहारके देह त्याग करता है। तत्वज्ञानी क्षत्रिय लोग उसके इस कर्मको अच्छी दृष्टिसे नहीं देखते अर्थात् उसे क्षत्रिय नहीं गिनते। घरमें मरना क्षत्रियोंमें प्रशंसित नहीं गिना जाता, किन्तु ऐसा मरना निन्दितसे निन्दित अधर्म और अति कायरताका काम समझा जाता है। वैसे मनुस्मृतिःमें कहा है—

संग्रामेष्वनिवर्तित्वं प्रजानां चैव पालनम् ।
न निवर्तेत संग्रामात् क्षात्रं धर्ममनुस्मरन् ॥

अर्थ- प्रजाका पालना और संग्रामसे मुख न मोडना क्षत्रिय क्षात्रधर्मको स्मरण करता हुआ संग्रामसे न भागे वैसे वन्हिपुराणमें कहा है।

धर्मलाभोऽर्थलाभश्च यशोलाभस्तथैव च ।
यः शूरो वध्यते युद्धे विमर्दन् परवाहिनीम् ।
यां यज्ञसंघैस्तपसा च विप्राः स्वर्गैषिणो यत्र
न वै प्रयान्ति । क्षणेन तामेव गतिं प्रयान्ति
महाहवे स्वां तनुं संत्यजन्तः ॥

अर्थ— जो वीर शत्रुका बहुत बडी विशाल सेनाको मसलता हुआ युद्धमें मारा जाता है। वह धर्म अर्थ, यश इत्यादिको अच्छीतरह पाता है। स्वर्गकी इच्छा करनेवाले ब्राह्मण असंख्य यज्ञोंके करनेसे तथा कठिन तपस्यादिसे जिस गतिको नहीं पाते। संग्राममें अपने शरीरको छोडनेवाले क्षत्रिय लोग क्षणमात्रसे उस गतिको पा लेते हैं॥

तुलना- गीतामें अपने अपने वर्णोऽनुसार अपने अपने धर्मको करनेवाले पुरुष उत्तमगतिको पाते हैं। अर्जुन क्षत्रिय था उसे क्षात्र धर्मसे न हटनेका उपदेश दिया गया है। वैसे पुराण और मनुस्मृति, महाभारतने इसी सिद्धान्तका प्रतिपादन किया वेदमें युद्धमें पीठ न दिखना, शूर बनना, दूसरेपर क्षात्रप्रभाव डालना, अपने आप किसीसे न दबना, शत्रुता करनेवाले शत्रुका नाश करना पाप नहीं है ऐसा बताया है।

राष्ट्र-भाषाका प्रश्न

(लेखक- पं० ऋभुदेवशर्मा 'साहित्याऽऽयुर्वेदभूषण' 'शास्त्राचार्य'
आचार्य 'साङ्गवेदोपवेद विद्यालय' द० हैदराबाद)

यदि इतिहासकी हत्या न कर दी जाय तो मानना पड़ेगा कि आर्य आदिकालसे इसी भारतभूमिपर निवास करते आये हैं। वे विदेशी नहीं हैं, हाँ आर्योंनेही विदेशों में अपने उपनिवेश स्थापित किये और भूमण्डलकी जनता आर्योंकी ही सन्तति है।

इतनी बात स्वीकार कर लेनेपर हमें यह कहनेका पूर्ण अवसर है कि संस्कृतभाषा भारतके लिये विदेशीय-भाषा नहीं है। आर्य आदि-कालसे संस्कृत बोलते आये हैं और यही उनकी पवित्र और मातृभाषाके रूपमें पूजी जाती रही है।

आर्य बाहरसे नहीं आये। कुछ लोगोंका विचार है, बाहरसे आये। वे अपने विचारोंमें स्वतंत्र हैं, परन्तु मनु, इक्ष्वाकु तथा समग्र इक्ष्वाकु-वंश इसी पवित्र देशका पालन करता आया है यह इतिहास-विदित बात है। तब संस्कृत-भाषा और उसकी बेटियाँही इस देशमें निवासकी अधिकारिणी हैं, यह प्रत्येक न्याय-प्रिय मनुष्यको माननाही पड़ेगा।

यदि कोई कहे कि 'संसारमें प्रसिद्ध समस्त भाषाओंका मूल संस्कृत है, ऐसा स्वीकार कर लेनेपर माता किसी भाषासे विदेशीय होनेके कारण, द्वेष क्यों करे? इसका उत्तर यह है कि माता यदि इन्हें उनके स्थानसे हटाना चाहती हो, या उन्हें अपने यहाँके घरमें प्रवेशका अधिकार न देती हो तो अपराधी ठहरायी जा सकती है। उसने प्रत्येक भाषाको उसका क्षेत्र बाँट दिया है। अब यदि कोई भाषा अपनी दूसरी बहिनके स्थानपर अधिकार जमाना चाहेगी तो वह उसे अवश्य रोकेगी। English इंगलिश के लिये England और फारसीके लिये ईरान विस्तृत क्षेत्र है। परन्तु ये दोनों भारतपर अधिकार जमाना चाहती हैं। इन्होंने भारतकी राष्ट्र-भाषाको महत्त्वहीन कर दिया है। उसके रूपको परिवर्तित कर अपनी वेश-भूषा धारण कराई है। इन्हे इसका रूप भद्दा दीख रहा है। इनमें जीवनके योग्य कोई गुण ही स्वीकार नहीं करतीं। इनमेंसे एकने तो जाते जाते अपनी एक ऐसी पुत्रीको, जो भारतके सयोगसे उसे प्राप्त हुई, भारतीय भाषाके स्थानपर बिठा दिया है। वह अपने कुल-शीलको न देखती हुई निर्लज्जाकी भाँति भारतकी स्वामिनी होनेका राग आलाप रही है।

भारतकी सच्ची स्वामिनी आर्यभाषा या हिंदी है। हिंदी नामसे ही प्रतीत हो जाता है कि वह हिंदकी है और उसे हिन्दसे सम्बन्ध है। वह हिन्दकी शासिका है।

पतञ्जलिकृत महाभाष्य और यास्ककृत निरुक्तमें 'आर्या भाषन्ते' वाक्य सिद्ध करता है कि आर्योंकी भाषाही भारतीय भाषा है, ईरान या अफगानिस्तानकी भाषा नहीं। इसी लिये ऋषि दयानन्दने इस देशकी भाषाका नाम आर्य-भाषा रखा।

आर्योंकी भाषासे भारतीय महापुरुष और उनकी विचार-धारा निकाली नहीं जा सकती। ऐसी भाषा जो विदेशी महापुरुष, विदेशी पर्वत-नद-नदी और विदेशी विचार-धारासे परिप्लुत हो उसे कोई स्वदेश-भक्त स्वीकार नहीं कर सकता। यदि वह स्वीकार करता है तो वह अपनी निर्बलताके कारण राष्ट्रको गिरा रहा है और उसे उस विषयमें नेतृत्व करनेका अधिकार नहीं है।

मुसलमानोंके आक्रमणके साथ फारसी हमारे देशमें प्रविष्ट हुई। उनके राज्यमें उसीका सर्व-मान्य प्रभाव रहा। शनैः शनैः आक्रमण शान्त हुए और यहाँके मुसलमान फारसी भूलने लगे। उन्होंने मिश्रित भाषाको अपनाया और उनकी सैनिक-बाजार (उर्दू) में, जो भाषा बोली जाती थी, फारसीके शब्द ला लाकर उसे ही सजाना आरम्भ किया; परन्तु एक समय ऐसा भी आया जब फारसीका प्रभाव लुप्त हो गया था और उर्दूके कवि ठेठ ग्रामीण भाषा बोलने लग गये थे।

अंग्रेजी राज्यके साथ राजकीय (सरकारी) विद्यालय खुले। अंग्रेजी तथा दूसरी भाषाएँ भी पढाई जाने लगीं। संस्कृत और फारसीका भी प्रचार होने लगा। अब कवि लोग अपनी भाषाको संस्कृत और फारसीके निकट ले जाने लगे। भारतीयोंके लिये संस्कृतके निकट जाना स्वाभाविक और न्याय था परन्तु भारतीय मुसलमानोंका घृणा-वश संस्कृतसे दूर रहना और फारसी जैसी विदेशी भाषाके भारसे अपनी भाषाको दबाना कदापि उचित नहीं था। भारतीय मुसलमान अब भी अपने आपको विदेशी ही समझ रहे हैं। मिस्टर जिन्नाने तो अपने पक्षकी पुष्टिके लिये आर्यावर्तको विदेशी ठहराया और अपनेको विदेशी मानकर भारतपर अधिकार जमाना उचित माना। ऐसे लोग जो अपने आपको विदेशी मान रहे हों भारतीय जनता और भारतीय भाषाको कैसे जीवित रहने देंगे ?

दुर्दैव यह कि भारतीय राष्ट्रीय-महासभा मुसलमानोंको प्रत्येक मूल्यपर अपने हाथमें लेना चाहती है। मूल्य चुकानेके लिये उसने देशका विभाजन और अपनी राष्ट्र-भाषाका अपमान और उपहास तक स्वीकार किया है।

मुसलमान राष्ट्र-भाषाके नाम और रूपसे चिढते हैं अतः उसका नाम हिन्दुस्थानी और रूप फारसी होना चाहिये, ऐसा यदि कोई नेता कहे तो इसे राष्ट्रभाषाके पालनका यह अधिकार कदापि न देना चाहिये।

महात्मा गान्धीने राष्ट्र-भाषा-प्रचार-समितिसे अपना हाथ खींच लिया और हिन्दुस्तानी-प्रचार-सघको अपना सहयोग दे रहे हैं, यदि यह समाचार सत्य है तो राष्ट्रको इसका विरोध करना चाहिये। महात्माजी अन्य विषयोंमें नेतृत्व कर सकते हैं पर इस क्षेत्रमें उनका आना राष्ट्रके लिये अहितकर बात है।

लिपि और भाषाके दो रूप सभी लोग स्वीकार करते हैं। लौकिक रूप अस्थिर है और वह किसी भी रूपमें रह सकता है। पर विद्वानोंकी लिपि और भाषा तो अधिक वैज्ञानिक और राष्ट्रिय होनी चाहिये। जो लोग लिपि-सुधारके नाम-पर परम्परा-हीन कल्पना कर रहे हैं उन्हें विश्राम लेना चाहिये और पुरातन लिपिविदोंके हाथमें यह कार्य समर्पित करना चाहिये। यदि 'ख' के इस वर्तमान रूपमें दोष है तो उसके पुराने रूप वे के जा सकते हैं। आचार्य काकेलकर आदि की 'अे अै' इत्यादिकी परम्परा-हीन अयौक्तिक कल्पना भी एवमेव हेय है।

प्रेसकी कठिनाइयोंसे उद्विग्न सज्जन भी हमारी लिपिका सर्वनाश कर रहे हैं। हमारी शीघ्र लिपिके कारण उसके जो नवीन रूप बने हैं मुद्रण-विभाग उसे हटा सकता है, पर वास्तव लिपिमें परिवर्तनका उसे अधिकार नहीं होना चाहिये। 'क्त' यह वर्तमान रूप 'क्त' के शीघ्र लेख के कारण हुआ 'त्त' या 'त्र' रूप भी शीघ्रताके कारण बने हैं। बोलनेके अनुसार 'त्' को प्रथम और रको पश्चात् रखकर 'त्र' या 'त्र' रूप रख सकते हैं। मात्राओंकी असुविधा भी, 'कि' 'की' इत्यादि रूपोंमें मात्राओंका आकार छोटा बनाकर स्थान की बचत करके दूर कर सकते हैं।

भाषाका रूपान्तर

वेदके कालसे अब तक शब्दोंमें अनेक रूपान्तर हुए हैं, इन रूपान्तरोंसे अनेक नई भाषाओंका प्रादुर्भाव हुआ है। नई भाषाओंमें केवल शब्दोंकाही रूप नहीं परिवर्तित होता, अपितु बहुतसे पुराने शब्द छोड दिये जाते हैं। वैदिक 'पृथिवी' शब्द लोकमें 'पृथ्वी' शब्द द्वारा हटा गया। आज भी लौकिक भाषा-भाषी 'पृथ्वी' का ही प्रयोग विशेष रूपसे कर रहे हैं।

संवत् ८०० की राष्ट्र-भाषा—

जहँ मन-पवन न संचरइ, रबि-ससि नाह प्रवेस।
तहि तट चित बिस्राम करु, 'सरहे' कहिअउ बेस। जीवंतह जो नउ जरइ, सो अजरामर होइ;
गुरु उपए सें विमलमइ, सो पर धण्णा कोई॥
नाद न विन्दु न रवि-ससि-मंडल; चिअराअ साहबे मूकल। (हिं० सा० का इति०, मिश्रब० पृ०१९)

संवत् ८२५

ऊँचा-ऊँचा पावत नहिं बसई सवरी बाली,
मोरंगि पीच्छ परिहण सवरी गिवत गंजरी।

संवत् ८४०—

भाव न होइ, अभाव न जाइ,
आइस संबोहें, को पतिआई।
काहेरे किष भणिमइ दिवि परिच्छा;
उदक चाँद चिमि साँच न मिच्छा।

संवत् १०००—

पुत्ते जाए कवण सुख, अवगुण कवण मुएण;

जा बप्पी की मुंहडी, चंपिज्जइ अवरेण ।

दूसरा प्रकार—

संवत कर अब करौं बखानाः सहस्रसो संपूरन जाना। माघ मास कृष्णा पख भयउ; दुतिया रबि तृतिया जो भयऊ ॥ तेहि दिन कथा कीन मन लाई; हरिके नाम गीत चित आई ।

अभी तक फारसीके शब्दोंका दर्शन नहीं हुआ ।

संवत् १११९-

जो अणी परवानासे कोई उलंगण करेगा, जीसें श्री एकलींगजी की आण है । दुवे पचोली जानकीदास स० ११३९ (= सं० ११२९) काती बदि ३

संवत् ११६६—

करि सानिधि सरसत्ति देवि जीयरय कहाणउ; जंबू- स्वामिहिं गुणन गहण संखेवि बखाणउ ।

संवत् १२१२—

जब लगि महियल उग्गई सूर, जब लगि गंग बहइ जलपूर। जब लगि प्रीथमी नइ जगन्नाथ, जाणी राजा सिर दीजौ हाथ ॥

संवत् १२२५-

तिन ऋषि पुच्छिय ताहि कवन कारन इत अंगम; कवन थाम तुम नाम, कवन दिसि करिय सु जंगम ॥

संवत् १२५०-

आदि-अन्त लगि वृत्ति मन ब्रन्नि गुनी गुनराज; पुस्तक जल्हन हत्थ दै चलि गज्जन नृप काज। रघुनाथ-चरित हनुमंत-कृत भूप भोज उद्धरिय जिमि। पृथिराज-सुजस कवि चन्द-कृत चंदा नंद उद्धरिय तिमि ॥

संवत् १३१९—

सुदी वंशी स्थिर होई जेणे तुम्ही लाईं; सो परो मौरो गैरी आणता काई ।

गद्य—

पवण पुरो हो मण स्थिर करो हो, चन्द्रा मेली वा मन अबागमन हुं जे वारो बुद्धि राखो अपनेय ।

*

संवत् १३४५—

श्रीगुरुपरमानन्द तिनको दंडवत है । हैं कैसे परमानंद, आनन्द-स्वरूप है सरीर जिन्हिको । जिन्हीके नित्य गावै ते सरीर चेतन्नि अरु आनन्द होतु है ।...

संवत् १३५७

काजर क भीति तेलें सींचलि अइसनि रात्रि, पछेवां का वेगें काजर कमोट फूजल अइसन मेघ निविड मांसल अन्धकार देषू ।

संवत् १४१३

जिनवर सासणि आछइ साक; जासु न लब्भइ अन्त अपाक । पढहु गुनहु पूछहु निसु नेहू भिय पचमि फल कहिय न एहू ।

संवत् १३५१

भेद--पहेली मैं कही, सुन ले मेरे लाल !
अरबी, हिन्दी, फारसी, तीनों करो खयाल ।

टिप्पणी– यह कविता अमीर खुसरोकी है। इनके पिता तुर्क और माँ राजपूतनी थी। इनका जन्म पटियाला (पजाब) में हुआ था। ये अरबी, फारसी और हिन्दी तीन भाषा मानते हैं। उर्दू या हिन्दुस्तानी नहीं। इनमें अरबी और फारसी विदेशी हैं अतः भारतकी सनातन भाषा खुसरोके मतमें हिन्दी है ।

सवत् १४५० वि०—

चन्द्र ऊगइ-ऊगइ इसी क्रिया। कउण ऊगइ ? चन्द्र । जु ऊगइ, सु कर्ता, तिहां प्रथमा। जे कीजई, ते कर्म, तिहाँ द्वितीया।

संवत् १४५७–

महाराजाजी बिसकमाजी बोलाया । . हुकम थारा । बिसनपुरी, रुद्रपुरी, ब्रह्मपुरी बिचे अचलपुरी बसावउ । बिसनपुरीका बिसन लोक आया ।

संवत् १५००-

राजसिंह कुमार रत्नवती-सहित नाना प्रकार सुख-भोग भोगवइ छइ । घणउ काल हूओ । एक बार पिताइं मृगांक राजाइं प्रतीहार हाथि लेख मोकलीनइ कहाविलॅ-बच्छ, अमे वृद्ध हुआ। राज्य छॉडी, दीक्षा लेवानी उत्कण्ठा करू छउँ। घणा काल लग ताहरा दर्शननी उत्कण्ठा छई ।

रैदास- (लगभग सं० १४५७)

नरहरि, चंचल है मति मेरी; कैसे भगति करौं मैं तेरी। तू मोहिं देखे, हौं तोहिं देखूँ; प्रीति परस्पर होई; तू मोहिं देखै, तोहि न देखूं, यह पति सब बिधि खोई।

कबीर दास—

सहज कमलमें झिलमिल दरसै, आपुइ वसत अपारा। जोति-सरूप सकल जगव्यापी अघट पुरुष है पारा॥

संवत् १५३० वि०

जल भीतर यक बिरछा उपजै, तामैं अगिनि जरै। ठाढ़ी साखा पवन झकोरै, दीपक ज्योति बरै॥ माटीका गढ कोट बना है, जामैं फौज लरै। सूरबीर कोउ नजरि न आवै, नाहक रारि घरै॥

टि०- मुसलमान लेखक आक्षेप करते हैं कि हिन्दीवाले अरबी और फारसी शब्दोंको बिगाडकर लिखते हैं परन्तु वे स्वयं उर्दूमें संस्कृतके ब्राह्मण और सूर्य जैसे शब्दोंको उनके बरह्मन और सूरज आदि अशुद्ध रूपमें ही तत्पर रहते हैं।

संवत् १६२०—सूरदासजी—

देखु सखि, सुन्दरता को सागर।
बुधि-बिवेक-बल पार न पावत, मगन होत मन नागर॥

नन्ददासजी—

परम दुसह श्रीकृष्ण-बिरह-दुख ब्याप्यो तिनमें; कोटि बर लगि नरक-भोगदुख भुगते छिनमें।

संवत् १६३१— तुलसीदास—

अवधेसके द्वार सकार गई सुत गोद मैं भूपति लै निकसे। अवलोकत सोच-बिमोचनको ठगि सी रही, जे न ठगे, धिकसे। तुलसी मनरंजन अंजित अंजन नैन सु खंजन जातिकसे। सजनी ससिमें,सम सील उभै नव नील सरोरुह-से बिकसे।
(कवितावली)

गद्य (सं० १६८०) तुलसीकाल—

तब श्रीमहाराजकुमार प्रथम वशिष्ठ महाराजके चरन छुइ प्रनाम करत भए। फिरि अपर वृद्ध समाज तिनको प्रनाम करत भए। फिर श्रीराजाधिराज जू को जोहार करिके श्रीमहेन्द्रनाथ दशरथजूके निकट बैठत भए।

संवत् १७९१--१८८९ तक

बहती नदी पावँ परवारि ले री।
रूप-सो रतन पाय, जोबन-सो धन पाय।
नाहक गँवायबो गँवारन को काम है।

संवत् १८९४

' फिर कुलीनोंमें उपद्रव मचा और इसलिये प्रजाकी सहायतासे पिलिस-ट्रेटस नामक पुरुष सबोंपर पराक्रमी हुआ।'

इस संग्रहका उद्देश्य यह है कि पाठक अपनी राष्ट्र-भाषाके पर और पूर्व रूपोंको जान सकें। हमारी भाषा मोल नहीं ली गई। चुराई नहीं गई। कहीं दूसरे देशसे नहीं लाई। यह इसी देशमें उत्पन्न हुई, बढी और पुष्ट हुई। इसमें अपनी माताका रक्त है। यह दूसरी बात है कि प्रथम उसका क्षेत्र व्रज और अवध रहा और पुनः वह दिल्ली चली आई। पहले सन्त महात्माओंके घरमें पली, पश्चात् राजाओं और राज--प्रिय लोगोंके हाथ आ गई। उसमें रूप-भेद स्थान--भेदसे हुआ, परन्तु इससे वह दूसरी नहीं हो गई। सूरदास, तुलसीदास और कबीरदासकी भाषाओंमें भेद है परन्तु कोई भी विचारशील इनमें भेद नहीं मानता, आबाल-वृद्ध मूर्ख और विद्वान इनकी कविता-ओंको गाते, पढते और सुनते हैं। यदि इस प्रकारके भेद से इनकी भाषा एक हो सकती है तो दिल्ली और अवध या व्रजकी भाषा भी एक हो सकती है। हम किसी रूपमें लिखें वह हमारी भाषा होगी उसे हम राष्ट्रभाषा मानेंगे। हाँ,, सुगमताके लिये हम किसी एक ही रूपपर विशेष बल दें यह दूसरी बात है। उर्दूवालोंका यह आक्षेप कि हिन्दी नामकी भाषाका कोई रूप नहीं, अशुद्ध है। यह उर्दूका व्यर्थ पक्षपात है।

हिन्दुस्तानीके उदाहरण

कुछ विद्वानोंने हिन्दुस्तानी भाषाकी परिभाषा निश्चित की है और उस परिभाषाके अनुसार रीडरें बनाई गई हैं। यदि हिन्दुस्तानीका यही रूप रहेगा तो मानना पडेगा कि

भारतीयता भारतसे उठाई जा रही है तथा उसके स्थानपर ईरानी और अरबी भाव-भाषा जमायें जा रहे हैं। श्री० पं० चन्द्रबली पाण्डे, एम० ए०, ने 'बिहारमें हिन्दुस्तानी' नामक पुस्तिकामें उर्दू-प्रचारकोंका अच्छा भाण्डा फोड किया है। उस पुस्तकसे बिहारी-हिंदुस्तानीके कुछ निदर्शन देखिये—

'बहुत पुराने जमाने की बात है कि अयोध्यामें दशरथ नामके एक राजा राज करते थे, उनके राजमें रैयत बड़ी खुशीके साथ अपनी जिन्दगी बिताती थी। बादशाह इतने अच्छे थे कि वे कभी किसी को किसी चीज की तकलीफ न होने देते थे। सभी रियाया उनसे खुश थी। बादशाहके तीन रानियाँ थीं। तीनोंके नाम कौशल्या, कैकेयी और सुमित्रा थे। ये तीनों रानियां इस तरह हिलमिल कर रहती थीं मानो तीनों अपनी ही बहन हों, सभी रियाया और रानियोंको खुश देखकर बादशाहका भी दिल खुशीके मारे फूल उठता था' (श्री रामचन्द्रजी पृ० १)

'बादशाहने इन्हें पढानेके लिये एक गुरु बहाल कर दिया।' गुरुजी सभी लडकोंके पढानेके तरीकेसे पूरे वाकिफ थे। वे हर घडी इन्हें अच्छे रास्ते पर चलनेकी तालीम देते थे। कुछ ही दिनोंमें बादशाहके चारों बेटोंने सभी तालीम अच्छी तरह सीख ली।'

(श्रीरामचन्द्रजी पृ० २)

'हाँ बेशक! हिन्दू धर्मके हिसाब से तू यकीनी काबिले नफरत है।' (जगद्गुरु और भंगी, न० ६६ पृ० ६)

'पंडित रामलाल— औलादसे सिवा रजके कुछ नहीं मिलता।

पंडित शामलाल— औलाद दुनियाको जहन्नुम बना देती है।

पंडित करताकिशुन— औलाद दुनियाको जन्नत बना देती है।

(रंगमें भंग, नं० ६७ मजीद मल्लिक, पृ० १२)

ये हिंदुस्तानीके उदाहरण हैं। यदि आप हिंदुस्तानीके प्रवाह और नामपर ध्यान दें तो स्पष्ट समझ सकेंगे कि हिन्दीको ही कुछ लोगोंने हिंदुस्तानी नाम दिया। उनके समक्ष कोई भेद नहीं था। उन्होंने उत्तर भारतमें प्रचलित भाषाको हिन्दुस्तानी कहा। वे लोग अंगरेज थे और मुसलमानी राज्यकालमें भारतसे सम्बद्ध हुए। उन्होंने हिंदी और हिंद शब्द नहीं हिंदुस्तान और हिंदुस्तानी शब्द सुना था, अतः वे यहाँ की भाषाको हिंदुस्तानी कहने लगे। मुसलमानी कालमें दफ्तरोंमें उर्दू या फारसीका ही प्राबल्य था अतः उनकी हिंदुस्तानीका अर्थ उर्दू ही है। वे उर्दू न कहकर उसे हिन्दुस्तानी कहने लगे। परन्तु जब उनका राज्य जमने लगा और वे भारतसे परिचित होने लगे, तब उन्हें पता लगा कि यहां कोई साहित्यिक भाषा भी है और उसका नाम हिन्दी है। मुसलमानोंकी साहित्यिक भाषा उर्दू कहलाती है। फिर उन्होंने हिन्दी और हिन्दुस्तानीमें भेद करना आरम्भ किया। इंगलिश कोषोंमें जहाँ-कहीं हिन्दी और हिन्दुस्तानीमें भेद किया हुआ दिखाई देता है उसका कारण उपरोक्त ही है। भारतीयोंने हिन्दुस्तानी शब्द नहीं अपनाया। आर्य अपनी भाषा हिन्दी और मुसलमान अपनी भाषा उर्दू बतलाते रहे। जब कांग्रेसने राष्ट्र-भाषाका प्रश्न उठाया और हिन्दी-साहित्य-संमेलनके उद्योगसे हिन्दी राष्ट्र-भाषा मानी गई तो मुसलमान बिगड उठे। उन्होंने उर्दू पर बल दिया।

यद्यपि पहले मान लिया गया था कि हिन्दीका रूप सामान्य जनताकी भाषाको ही माना जायेगा और उसे हिन्दी या हिन्दुस्तानी नामसे पुकारेंगे परन्तु भारतको मुस्लिम बनानेका स्वप्न देखनेवाले इससे प्रसन्न नहीं हुए। उन्होंने हिन्दी नाम पर आक्षेप किया तब भी गान्धीजी आदिने हिन्दी नाम बदल कर हिन्दुस्तानी नाम दिया और अंगरेज जिस भाषाको हिन्दुस्तानी समझते थे उसी रूपको स्वीकार कर लिया। कांग्रेसमें हिन्दीके पक्षपाती भी थे। उन्हें यह बात अखरी परन्तु वे समझौतेके पक्षमें थे। रेडियो और हिन्दुस्तानीके कर्ता धर्ता लोगोंने हिन्दुस्तानीके नाम पर ठेठ उर्दूका प्रचार आरम्भ रखा तब हिन्दी प्रेमियों को यह बात असह्य हो गई। जब हिन्दी-प्रेमियोंने हिन्दी की रक्षाका प्रयत्न आरम्भ किया तब श्री गान्धीजी हिन्दी साहित्य सम्मेलनसे पृथक् हो गये। हिन्दुस्तानी या उर्दूका यह प्रेम कैसा है इसे पाठक ही सोचें परन्तु परिवर्तनशील भाषा किसीके नियंत्रणमें नहीं रही अब उसमें अरबी फारसी के शब्द नहीं घुसेड़े जा सकते जब तक कि अंगरेजोंके स्थानपर अरबी और ईरानी आक्रमणकारी अधिकार न कर लें।

पक्षपातकी सीमा

'हिन्दोस्तानी जबानकी जो तारीफ की गई है, उसमें साफ तौरसे मजकूर है कि यह जबान सिर्फ वही है जो शुमाली हिन्दोस्तानमें आम-तौरसे बोली जाती है, जिससे अन्दाजह होता है कि आजकलकी हिन्दीको हिन्दोस्तानी नहीं समझा जाता। लेकिन डिक्शनरी मुस्तलहात और रीडरोंकी तरतीबमें हम हिन्दीको फिर तसलीम कर लिया गया है और कहा गया है कि दोनों जबानसे अलफाज लिये जायँ। दिलके चोरको छिपाने की यह कोशिश हिन्दी-नवाबोंकी तरफसे एक अरसःसे हो रही है।...

(हमारी जबान, १ सितंबर १९३९ ई०, पृ० ११)

यह लेख एक बहुत बडे उर्दू-प्रचारकका है। हिन्दीकी सेवा उसे अखरती है। हिन्दुस्तानीके कोषमें हिन्दीसे भी सहायता लेना उसकी दृष्टिमें महापाप है। हॉ, केवल उर्दू से सहायता ली जाती तो वह कोष, सचमुच हिन्दुस्तान की आम-फहम भाषाका होता। हिन्दुस्तानमें इस्लामको छोडकर और कोई धर्म नहीं है। कुरानको छोड और कोई धर्म-पुस्तक नहीं है। यहॉके जितने मुसलमान हैं उनकी मातृभूमि अरब और फारस है। वे यहां विजयी बनकर बस रहे हैं। उन्होंने यहांकी आदि जातियोंका मूलोच्छेद कर डाला है अतः यह उचित ही है कि भारतकी भाषा अरबी या फारसी हो या कमसे कम इन दोनों भाषाओंके निकट रहनेवाली दासी उर्दू। उर्दू अरबी और फारसीकी बच्ची नहीं है, भारतीय मुसलमानोंकी भाँति उसमें रक्त संस्कृत, प्राकृत और अपभ्रंशका है और ऊपरी ठाट अरबी-फारसीका। यह दासताका ही चिह्न है। अपने देश और माता-पिताकी सेवा, भक्ति है; तो दूसरोंसे भीख मॉगना और उनके पास रहना दासता।

परन्तु भारतीय मुसलमान अभी यह बात नहीं समझते। उन्हें अपना कुछ बनानेकी चिन्ता नहीं है। यदि बनानेकी चिन्ता होती तो वे अपने लाभ-हानिको अवश्य सोचते। उनमें आर्य-जातिके प्रति घृणा भर दी गई है। अतः आर्यों का सर्वनाश कैसे हो? यही सोचते रहते हैं। उनका प्रत्येक कार्य हिन्दू-विरोधी है। आर्योंके विरोधमें पाकिस्तान खडा किया और आर्योंके विरोधमें ही उर्दू की तरक्की की जा रही है।

उर्दूवादी कहते हैं कि उर्दू ही भारतकी बोलचालकी भाषा है यही राष्ट्र-भाषा हो सकती है और इसीका प्रचार सबकी ओरसे होना चाहिये।

भारतकी बोलचालके कुछ उदाहरण देखिये—

प्रेम-दरपन

इक नादिर किस्सा मैं सुनाऊँ।
देखा नहीं जो तुमको दिखाऊँ॥'

(उस्मानिया कोर्स कक्षा ७। प्रका० अन्जुमन-तरक्कीये उर्दू देहली)

ऊपरका शीर्षक प्रेम-दर्पन और बीचकी भाषा नादिर किस्सा।

ख्वाबे राहत

ख्वाबे राहत भी है अजब चीज।
क्या आलमे-बेखुदी है छाया॥
ऐ नींद। नमूनये-किमायत।
तू ने हमें आंखसे दिखाया॥
तू आई, हुए हवास बेकार।
क्या जाने कि तू ने क्या सुँघाया॥ (कक्षा ७ पृ० ७३)

उर्दूकी भाषाके ये उदाहरण आपके सामने हैं। उर्दूके प्रचारसे हम सूर, तुलसी, कबीर, नानक, दादू, भूषण विहारी, भारतेन्दु, ऋषि दयानन्द तथा अन्य सहस्रों महात्माओंके उपदेश भरे वाक्योंसे वञ्चित हो जायेंगे। लिपि और भाषा छोडकर हम अपने पूर्वजोंसे कितने दूर हो जायेंगे यह सबके समझकी बात है। अतः यही उचित है कि हम हिन्दुस्तानी या उर्दूके चक्रसे बचकर विशुद्ध भारतीय भाषाका ग्रहण और सृजन करें। यही सच्ची वीरता और सच्ची देश-भक्ति है। उर्दूवालोंने कबीर सूर आदिको भारतीय नहीं माना, नहीं तो उर्दूको भारतकी राष्ट्र-भाषा बतानेका स्वप्न देखनेवाले उर्दूके इतिहासमें उनका भी नाम रखते और लिखते कि यह उर्दूका पुराना रूप है। परंतु उन्हें भारतीयतासे कोई सम्बन्ध नहीं।

वेद-सूक्तावलि

(कवि— श्री. लालचंदजी, लाहोर)

अग्ने नय सुपथा राये अस्मान्
विश्वानि देव वयुनानि विद्वान्।
युयोध्यस्मज्जुहुराणमेनो
भूयिष्ठान्ते नम उक्तिं विधेम॥ यजु०४०।१६॥

'हे सबको आगे ले जानेवाले सर्व नियन्ता प्रभो! हमें ऐश्वर्य प्राप्तिके लिये सुमार्गसे चला, हे देव सर्वत्र अन्तर्यामी ईश्वर! हमारे सब आचारों विचारोंको आप जानते हैं। हमसे कुटिलताको दूर कीजिये, तुमने हम भक्ति भावसे नम्रता पूर्ण हृदयके पवित्र भाव अर्पण करें॥'

सर्वज्ञ, हे प्रभु पूर्ण भगवन। शरण अपनी दीजिये,
प्रकाशमय, हे दिव्यज्योति! सुपथ गामी कीजिये।
दीजिये निज प्रेरणा, नित प्रेममय कल्याणमय
हे अग्रणी! आगे मुझे नित सुपथमें कर दीजिये।
जिस मार्गमें आचरण अपना श्रीपति सबको करे
सन्मार्ग ऐसा सामने ऐश्वर्य-युत कर दीजिये।
चर अचर सब जगतको धारणा तुम्ही होकर रहे
हे नियन्ता, सर्व प्रेरक! शरण अपनी दीजिये।
सबके हृदयमें वास तेरा, जगतमें व्यापक तुम्हे
जानते सब भावनाएं, संकल्प शुभ कर दीजिये।
कुटिलता छल कपटसे रखकर हमें नित ही अलग,
ऐश्वर्य युत सबको बनाकर शरणमें ले लीजिये।
दीजिये नित शरण अपनी कीजिये रक्षा सदा,
पाप हमको छू न पाए नियम ऐसा कीजिये।
पापसे हों अलग हम नित प्रेममें तेरे रमें
आनन्द पूर्ण मुदित मन, सुन्दर सुमन कर दीजिये।
आनन्दमय! आनन्दमें फूलें फलें हम नित्य ही,
नम्रतासे युक्त शक्ति दे, कृतारथ कीजिये॥
शरणमें तेरी रहे और नित समर्पण कर सके
निजकी सभी ही भावनाएं लग्न ऐसी दीजिये।
अन्तःकरणमें प्रेम तेरा नित्यही बहता रहे
वासनाको वह बहा ले जाय, ऐसा कीजिये।
सामने तेरे झुकें, पावें तुझे अपना सुहृद्
प्राप्त हो सामीप्य तेरा, कृपा ऐसी कीजिये।
भक्ति भरे सुन्दर वचन आराधनामें हम कहे,
जीवन हमारे वचन सम हों यही वर प्रभु दीजिये।
तुझको भजे हम सदाही, तुझमें हमारा रमण हो,
तुझसे मिलें सद्भावमें ऐसा हमें वर दीजिये।
अर्पण सहित नित भक्तिपूर्ण यह मिलन हो सर्वदा,
पृथकताका भास भी मनमें न आने दीजिये।
हों मिले तुझसे सदा जैसे कि सागर बून्दका
होता मिलन जगमें, निरंतर योग ऐसा कीजिये।
योग्य हो तव योगमें, सायुज्य हमको प्राप्त हो,
तू मैं बने, मैं तू बनूं, दृढ प्रेम ऐसा दीजिये॥

मधुमन्मे निक्रमणं मधुमन्मे परायणम्।
वाचा वदामि मधुमद् भूयासं मधुसन्दृशः॥
अथर्व- १।३४।३

'मेरा समीप आना माधुर्य पूर्ण हो, मेरा अलग होना माधुर्य पूर्ण हो, मैं वाणीसे मीठा बोलूं, मैं मधुरूप होऊं॥'

जब किसीके पास जाऊं तो भरा माधुर्यसे
हितसे सभीके पास बैठूं, हूं भरा माधुर्यसे।
मीठा वचन मुखसे सदा, उठते हुए नित मैं कहूं,
अलग होना भी मेरा नित हो भरा माधुर्यसे,
मैं सदा ही प्रेमपूर्ण मधुमय होता रहूं।
करता रहूं मंगल सभीका हो भरा माधुर्यसे॥

यां मेधां देवगणाः पितरश्चोपासते
तया मामद्य मेधयाग्ने मेधाविनं कुरु स्वाहा
यजु० ३२।१४

'दिव्यजन और अनुभवी पूर्वज जिस धारणवती बुद्धिसे कार्य संपादन करते रहे, हे तेजस्वी ईश्वर, हे सर्व प्रेरक सर्वनियन्ता, उस मेधाबुद्धिसे स्थिरमतिसे मुझे संपन्न कीजिये। मैं स्वार्थत्याग करता हूं॥'

दिव्यजन कर्तव्यरत जिससे यहां फूले फले॥
अनुभूत-ज्ञान प्रसादसे जो विमल यश भागी हुए॥

नित नए उत्साहसे कर्तव्यमें आगे रहे ॥
स्थिरमतिसे हे प्रभो ! अब युक्त मुझको कीजिये
मेधा उसीसे पूर्ण भगवन् ! पूर्ण अब कर दीजिये ॥
जिसमें स्थिर हो धारणा सत्‌ज्ञानकी सत्‌कर्मकी
पूर्णता हो ध्येय निश्चित साधना हो धर्मकी,
विस्मृत न हो शुभ भावना, नितकामना हो कर्मकी,
स्थिरमतिसे हे प्रभो ! अब युक्त मुझको कीजिये,
मेधा उसीसे पूर्ण भगवन् ! पूर्ण अब कर दीजिये ॥
दीजिये चैतन्यता ऐसी कि दृढता पूर्ण मैं,
कर्तव्यमें नितलग्नसे रत हूं सदा सुख पूर्ण मैं,
सत् असत् की परखकर हूं सत्यतामें पूर्ण मैं
स्थिर मतिसे हे प्रभो ! अब युक्त मुझको कीजिये,
मेधा उसीसे पूर्ण भगवन् ! पूर्ण अब कर दीजिये ॥

त्वं हि अग्ने अग्निना, विप्रो विप्रेण सन्त्सता
सखा सख्या समिध्यसे ॥
ऋ० ५।४३।१४

'हे अग्ने ! तू निसंदेह अग्नि द्वारा प्रदीप्त किया जाता है, तू विप्र, परमज्ञानी ज्ञानी द्वारा, तू सत् श्रेष्ठ, साधु श्रेष्ठ जन द्वारा और तू सखा सखा द्वारा ही प्रदीप्त किया जाता है, प्रकाशित किया जाता है ॥

आदर्श है सद्‌गुणोंका
तेजका और ज्ञानका
सत्यका और प्रेमका
सच्चा सुहृद् सन्मानका ॥
भावना शुभसे उदय हो
भाव तेरा हृदयमें
आत्मज्योति जाग जावें
हो उजाला हृदयमें ॥
हृदय आतुर हो उठे
हो तीव्र इच्छा मिलनकी
तू हो प्रकाशित हृदयमें
दीखे छटा तव किरणकी ॥
मेल ऐसा सुलभ हो
ज्यों ज्ञानमें ज्ञानी मिले,
सत्में मिले सत् जन सदा,
प्रेममें प्रेमी मिले ॥

हमारी आकांक्षा

दृढता लिए, स्थिरता सहित
पुरुषार्थ हम करते रहें ।
समता लिए मित्रों सहित
शुभ भाव नित भरते रहें ॥
दीर्घआयु मुदित मन
सुन्दर सुमन हों सभी ही ।
जगत्में कर्तव्य पालक
तेजयुत हो सभी ही ॥
सहओज बल शक्ति भरे
हम प्रेम भाजन हों सभी ।
प्रेम वितरण कर जगत्में
प्रेम रत होवें सभी ॥

हे प्रभो ! चैतन्यशक्ति
विपुल ऐसी दीजिये ।
मृत्युपर हम विजय पावें
भाव यह भर दीजिये ॥
श्रेष्ठता धारण करें
तुझ श्रेष्ठहीके संगमें ।
हों सदाचारी सभी
तुझ सत्य ही के संगमें ॥
आनंद नित मुद मोद हो
समता भरे भावोंके साथ ।
पूर्णता हो ध्येय सबका
सौन्दर्यके चावोंके साथ ॥

Regd. No. B. 1463

संपूर्ण महाभारत ।

अब संपूर्ण १८ पर्व महाभारत छप चुका है। इस सजिल्द संपूर्ण महाभारतका मूल्य ७५) रु. रखा गया है। तथापि यदि आप पेशगी म० आ० द्वारा संपूर्ण मूल्य भेजेंगे, तो यह ११००० पृष्ठोंका संपूर्ण, सजिल्द, सचित्र ग्रन्थ आपको रेलपार्सल द्वारा भेजेंगे, जिससे आपको सब पुस्तक सुरक्षित पहुंचेंगे। आर्डर भेजते समय अपने रेलस्टेशनका नाम अवश्य लिखें। **महाभारतका** वन, विराट और उद्योग ये पर्व समाप्त हैं।

श्रीमद्भगवद्गीता ।

इस '**पुरुषार्थबोधिनी**' भाषा-टीकामें यह बात दर्शायी गयी है कि वेद, उपनिषद् आदि प्राचीन ग्रन्थोंकेही सिद्धान्त गीतामें नये ढंगसे किस प्रकार कहे हैं। अतः इस प्राचीन परंपराको बताना इस '**पुरुषार्थ-बोधिनी**' टीका का मुख्य उद्देश है, अथवा यही इसकी विशेषता है।

गीता के १८ अध्याय तीन विभागों में विभाजित किये हैं और उनकी एकही जिल्द बनाई है। मू० १०) रु० डाक व्यय १॥)

भगवद्गीता-समन्वय ।

यह पुस्तक श्रीमद्भगवद्गीता का अध्ययन करनेवालोंके लिये अत्यंत आवश्यक है। '**वैदिक धर्म**' के आकार के १३५ पृष्ठ, चिकना कागज सजिल्द का मू० २) रु०, डा० व्य० ।=)

भगवद्गीता-श्लोकार्धसूची ।

इसमें श्रीमद् गीताके श्लोकार्धोंकी अकारादिक्रमसे आद्याक्षरसूची है और उसी क्रमसे अन्त्याक्षरसूची भी है। मूल्य केवल ||=), डा० व्य० =)

आसन ।

'योग की आरोग्यवर्धक व्यायाम-पद्धति'

अनेक वर्षोंके अनुभवसे यह बात निश्चित हो चुकी है कि शरीरस्वास्थ्यके लिये आसनोंका आरोग्यवर्धक व्यायामही अत्यंत सुगम और निश्चित उपाय है। अशक्त मनुष्यभी इससे अपना स्वास्थ्य प्राप्त कर सकते हैं। इस पद्धतिका सम्पूर्ण स्पष्टीकरण इस पुस्तकमें है। मूल्य केवल २॥) दो रु० और डा० व्य० ।ऽ) सात आना है। म० आ० से २॥ऽ) रु० भेज दें।

आसनोंका चित्रपट- २०''×२७'' इंच मू० ।) रु., डा. व्य. ~)

मंत्री—स्वाध्याय—मण्डल, औंध (जि०सातारा)

मुद्रक और प्रकाशक- व० श्री० [illegible], भारत-मुद्रणालय, औन्ध.

कार्तिक सं. २००२
दिसंबर १९४५

विषयसूची।

१ ईश्वरकी कुशलता २५९
२ धर्म केवल चर्चाविषय नहीं है २६०
३ हिंदी मुसलमानोंका कारनामा २६१
४ मुस्लीम लीगका स्वतन्त्र राष्ट्रीयत्व सपादकीय २८२
५ भारतके टुकडे करनेवाला आत्मनिर्णय
६ लक्ष्मण माता सुमित्रा प विष्णुशास्त्री २९३
७ भरतमाता कैकेयी २९५
८ अयोध्याकांड-परीक्षण सपादक २९८
९ गीता और वेदगीता प जगन्नथशास्त्री ३०१
१० वीरोंके पराक्रम प गारे ३०९

सपादक
प श्रीपाद दामोदर सातवळेकर

वार्षिक मूल्य
म ऑ स ५) रु वी पी से ५।-) रु
विदशके लिये १५ शिलिंग।
इस अकका मू ॥) रु

क्रमांक ३१२

क्रमांक ३१२

वर्ष २६ | कार्तिक संवत २००२, दिसंबर १९४५ | अङ्क १२

ईश्वरकी कुशलता

इमामू ष्वासुरस्य श्रुतस्य महीं मायां वरुणस्य प्र वोचम् ।
मानेनेव तस्थिवाँ अन्तरिक्षे वि यो ममे पृथिवीं सूर्येण ॥

(ऋ० ५।८५।५)

(श्रुतस्य असुरस्य वरुणस्य) कीर्तिमान् जीवनदाता सर्वश्रेष्ठ वरुणदेवकी (इमां महीं मायां) इस बडी कुशलताका (सु प्रवोचं) मैंने वर्णन किया है । (अन्तरिक्षे तस्थिवान् यः) अन्तरिक्षमें रहनेवाले उस देवने (मानेन इव) मापसे मापनेके समान (सूर्येण पृथिवी वि ममे) सूर्य (के प्रकाश) से (पृथिवीं वि ममे) पृथ्वीको मापा है ।

ईश्वरकाही सब वर्णन करते हैं, इसलिये वह सर्वत्र प्रसिद्ध है । वह (असुर—रः) जीवनका प्रदाता है । वह (वरुणः) वरिष्ठ है, श्रेष्ठ है । उसकी कुशलता बहुतही बडी है जिससे उन्होंने ऐसा अद्भुत विश्व रचा है । वह अन्तरिक्षमें सर्वत्र व्यापक है, वह अपनी रचनाद्वारा सूर्यके प्रकाशसे दिनरात पृथ्वीका मापन करता है । दिशा और काल इसीसे जाने जाते है । सूर्यके उदय और अस्त ये मान बिन्दु हैं । सब कालके अवयव ये मापनेके प्रमाण चिन्ह हैं । इसतरह यह मापन हो रहा है । प्रतिक्षण यह मापनका कार्य चल रहा है ।

धर्म केवल चर्चाका विषय नहीं है ।

धर्म केवल चर्चाका विषय नहीं है, यह आचरणका विषय है। इसलिये सब धर्मपुस्तक मनुष्योंके आचारके साथ संबंध रखते हैं। वेद, उपनिषद, भगवद्गीता आदि सभी ग्रंथ इसतरह मनुष्यके आचरणमें लानेके लिये हैं।

भगवद्गीतामें ' वेद-वाद-रताः ' ऐसा कहकर आचार न करते हुए केवल वेदके विषयोंकी चर्चा, शास्त्रार्थ और वाद-विवाद करनेमेंही मस्त रहनेवालोंकी बडी निंदा की है। जो चर्चाका विषय नहीं वह केवल चर्चामेंही समाप्त करनेवालोंकी निंदा नहीं होगी तो और क्या होगा ?

यदि कोई मनुष्य स्नान, भोजन और विश्रामकी केवल चर्चाही करता रहेगा, और कभी स्नान नहीं करेगा, भोजनकी सामग्री प्राप्त करके भोजन पकाकर उसका सेवन न करेगा और विश्राम भी न लेगा, उसको उस चर्चासे क्या लाभ होगा ?

इसीतरह धर्मके तत्त्वोंकी बात है। धर्मके तत्त्व मनुष्यके आचरणमें लानेके लियेही हैं। वे केवल ग्रंथोंमेंही नहीं रहने चाहियें। मनुष्यकी उन्नति तब होगी, कि जब उसके दैनिक व्यवहारमें धर्मतत्त्व ढाले जांयगे। आचारहि धर्मका प्रथम लक्षण है।

आज चारों ओर धर्मके तत्त्व सभामें प्रतिपादनके लिये बतें जा रहे हैं। आचरणके लिये नहीं। इससे मनुष्यकी हानि हो रही है। मानवकी अवनतिका कारण यही है। यदि यह मनुष्य बोलना कम करेगा और आचारकी ओर विशेष ध्यान देगा, तो उसका बडा लाभ हो सकता है।

ईश्वरने मनुष्यको एक मुख दिया है और अनेक कर्म करनेके इंद्रिय दिये हैं। इसका हेतु यही है कि यह बोले कम और अधिक उत्तम सदाचरण करे। पर यह बोलता है अधिक और सदाचारमें ध्यान कम रखता है।

मुखके दो काम हैं, एक बोलना और दूसरा खाना। इन दोनों कार्योंमें संयम रखनेसे लाभ और असंयमसे हानि होती है।

अधिक खानेसे अजीर्ण होकर नाना प्रकारके रोग होते है, अपमृत्युसे इसकी समाप्ती भी होती है। पर मनुष्य खानेमें संयम नहीं करता और भोग बढाता हुआ रोगोंसे त्रस्त होता है। यह मुखके एक कर्मका परिणाम है।

मुखका दूसरा कर्म वाणी है। वाणीपर संयम रहा तो कितना अच्छा होगा ? बोलनेमें कटुता रही तो अनेक झगडे उत्पन्न होते हैं। प्रायः मानवोंके झगडे मुखपर संयम न रहनेसेही हो रहे हैं।

इसलिये मुखके दोनों अत्यावश्यक और सुख देनेके लिये उत्पन्न हुए कर्म दुःख बढानेवाले मनुष्यने बनाये हैं।

इसीलिये चर्चा कम करनी चाहिये और जितना हो सके उतना धर्म आचरणमेंही लाना चाहिये। चर्चा इसीलिये है कि धर्मका तत्त्व ठीकतरह समझमें आजाय। पर जीवनभर चर्चाही करना मूढता है।

इसलिये मनुष्य धर्मके तत्त्व आचरणमें लानेकी पराकाष्ठा करे। तभी धर्म रक्षा करेगा। आचरणमें आया धर्मही सुरक्षा करता है।

हिंदी मुसलमानोंके कारनामोंका चिट्ठा

(खिस्ताब्द १२०० से १८००)

विभाग प्रथम

'किसी समय समूचे भारतवर्षपर 'कर्तुमकर्तुमन्यथा कर्तुम्' (सार्वभौम) शासन, लगातार छः सदियोंतक करनेवाले कौन बहादुर थे? हम। उसके पहले और कोई ऐसा शासक नहीं पैदा हुआ होगा,' कभी कभी मुसलमानोंके मुखसे निकलते हुए इन बातोंको सुननेपर मालूम पडता है, उपर्युक्त खयालहि उनके मनको अभिभूत किये हुए हैं। अपने समाजमें नवजागरण पैदा करनेके हेतु विद्वान् मुसलमान सज्जनोंने अपने इतिहासको कुछ अतिरंजित भी किया हो तो उसे क्षम्य समझना चाहिये। किन्तु इस सीमाके बाहर, अन्य समाज तथा शासकोंपर आतंक फैलाने, और अपना सांप्रदायिक स्वार्थ सीधा करनेके हेतु जब कोई इसतरह अतिशयोक्तिपूर्ण इतिहास-कथन करने लगे तो जाँचना आवश्यक हो जाता है कि इस गर्जन-तर्जनमें कहाँतक सचाई है। आश्चर्य तो यह है कि वे बडे गर्वके साथ कहनेकी हिम्मत करते हैं कि 'हिंदुस्थानका राज अंग्रेजोंने मुसलमानोंसे छीना है।' यदि यह सत्य हो, तो उन्हें इसके लिए खेद होना चाहिये और अपने पुरखाओंके दोषोंकी जाँच कर उज्ज्वल भविष्यत्के लिए उन दोषोंको दूर कर अपनी उन्नतिके लिए प्रयत्नशील रहना चाहिये। वह तो दूर रहा, उलटे, मुसलमानोंकी विचारधारायों होती है " हिंदुस्थानका साम्राज्य अंग्रेजोंने हमसे छीन लिया है' इसका अर्थ है.-' हम पहले यहाँके सम्राट रहे हैं और जब कि हम ऐसे विजेता थे तब (बीचके समयकी अक्षमताको छोडकर) अन्य समाजोंसे हमही अधिक योग्य हैं, इसलिये * हिन्दी राजनीतिमें हम बहादुरोंको अधिक महत्व दिया जाना चाहिये!' मुसलमान याने एक महत्वपूर्ण व्यक्ति यह खयाल भर देनेके लिए सर सय्यद अहमद-अलीगढ कॉलेजके प्रस्थापक कहते हैं -

If the Moslems joined the schemes of the Congress, he warned that the Viceroy would realise that 'a mohamedan agitation was not the same as a Bengali agitation.'

अर्थात्- कही मुसलमान कॉंग्रेसके कार्यक्रममें भाग लेने लगे तो, व्हॉईसरॉयको चेतावनी दी जाती है कि उन्हे पता चलेगा कि मुसलमानी आंदोलन कोई बंगालियोंका गडबड मचाना नही है (पाकिस्तानका सकट पृ० ३१३)

किन्तु इस अकडको पुष्टी देनेवाला कोई कार्य उनके अनुयायियोंने किया या नहीं, या वंगभंगके बादके तीस वर्षोंमें उनके लिये कोई मौका ही न आया आदि प्रश्न हमारे निर्वाचित ऐतिहासिक विषयकी कक्षामें नहीं आते. इससे, उन्हें छोडकर खिस्ताब्द १२०० से १८०० तकके कालखंडमें मुसलमानोंके प्रकट कारनामोंका निरीक्षण करनेके लिए यह चिट्ठा बनाया गया है।

मुसलमानी कार्यकालके प्रसिद्ध व्यक्ति हिन्दी राष्ट्रीयत्वकी दृष्टीसे, स्वाभाविकतया, दो भागोंमें बंट जाते हैं। अफगानिस्तान, इरान आदि विदेशोंसे आकर यहांके प्रदेशोंको जीतनेवाले विजेता अर्थात् विदेशी विजेता मुसलमान यह एक वर्ग है। और शेष उनका दूसरा वर्ग है जिनकी मातृभू 'हिंदुस्थान' ही थी और हिंदीलोग जिनके कोई बद थे × अर्थात् यह अपनौवा विदेशियोंसे पैदा होनेके लिये विजे-

* या इसका मुसलमान एक अजीब अर्थ करते हैं जो उनके हकमें होता है। वह यो है.- इसलिए अंग्रेज मुसलमानोंसे हिंदुओंपर अधिक विश्वास करते हैं जिससे मुसलमान व्यर्थमें पिछड जाते है, इससे अब आगे चलकर मुसलमानोंहीको महत्व दिया जाना चाहिये!

× किसी भी तरह धर्मांतरित मुसलमान इस दूसरे वर्गमें पडते हैं।

ताओंकी कुछ पीढियाँ इस देशमें हो चुकनी चाहिये। विजेतृत्वका अहकार गलकर मातृभूमीकी सेवाकी पवित्र भावना उनमें पैदा होनेके लिए काफी समय गुजरना आवश्यक था। अर्थात् उपर्युक्त परिभाषाके अनुसार जो राज्यकर्ता ' हिंदी मुसलमान ' (दूसरे वर्गके) हों उन्हींके कारनामेंही यथार्थमें हिंदीमुसलमानोंके गर्वका विषय हो सकता है।

हमारे निर्वाचित कालखंडके राजनैतिक उथलपुथल भी इसी 'देशी-विदेशी'के सिद्धांतपर होते थे। रॉलिन्सन अपने इतिहासग्रंथमें लिखता है:- 'दिल्लीमें हमेशा दो पक्ष हुआ करते थे। एक विदेशी मुसलमानोंका और दूसरा हिंदुस्थानकी मिट्टीसे पैदा हुए मुसलमानोंका। धर्मांतरित मुसलमानभी इसीमें शामिल थे। एक पक्ष एक राजाको सिंहासनपर बिठाना जहाँ दूसरा पक्ष उसे गिरानेकी कोशिशमें लगा रहता जिससे सुलतानोंकी सत्ताको दृढता तथा शान्तिका मौकाही नहीं मिला।'

किसी भी सत्ताधारीकी बहादुरीकी कसौटी, देशकी अंतर्गत स्पर्धामें यश-अपयशकी अपेक्षा बाहरी आक्रमणसे उसने देशकी रक्षा करनेमें कितनी सफलता प्राप्तकी यही मानना युक्तियुक्त होगा। भारत-भरमें बिखरे पडे देशी राजाओंको गिराकर वहाँ ' अफगान तुर्क ' लोगोने अपना राज जमाया और आगे चलकर मुगलोने लगभग समूचे देशभरमें उनको पराजित कर तथा राजपूतोंको हराकर एकछत्र साम्राज्य प्रस्थापित किया। इस कर्तृत्वमें हिंदीमुसलमानोंने जो हिस्सा लिया हो उतना अवश्य उनके नामे जमा हो जायगा। + किन्तु इसमें भी बहुतेरे संघर्षोंके अवसर घरेलू आपसी स्पर्धाके अर्थात् गौण श्रेणीके थे और इनका ब्योरा भी सर्वश्रुत है, इसलिए उन्हें छोडकर अब यह देखें कि इस देशके स्थायी नागरीक बननेके बाद मुसलमानोंने उनके पहलेके राजाओसे देशकी रक्षाके काममें, कुछ अधिक योग्यता दिखाई है ? उपर्युक्त कालखण्डमें ' हिंदुस्थान ' पर दोतरहके आक्रमण हुए।

(१) उत्तर-पश्चिमकी ओरसे स्थलमार्गसे और

(२) सागरतटसे जलमार्गसे।

इन आक्रमणोंके समय देशरक्षाका कार्य कहाँतक निभाया गया, उससे हिंदी मुसलमान राज्यकर्ताओंकी क्षमताका अन्दाजा लगाना है। स्थल-काल-भेदसे मुसलमान सत्ताधारियोंका वर्गीकरण विवेचनकी सुविधाके लिये यों किया जा सकता है:-

(१) दिल्लीसे केन्द्रीय राजसत्ताकी बागडोर सम्हालनेवाले मुसलमान सुलतान और बादशाह।

(२) बहामनी और उनकी शाखाओंके अधिपति।

(३) गुजरात, बंगाल आदि प्रांतोंके सूबेदार तथा सुलतान आदि।

इन सबको अब क्रमसे, देशरक्षाकी कसौटीपर कसें।

दिल्लीके सुलतान

गजनीका सुलतान महमूद और शहाबुद्दीन गोरी अफगानिस्तानके सत्ताधीश थे और ये भी खिस्ताब्द १२०० के पहले। इसलिये उनके बारेमें लिखनेकी आवश्यकता नहीं है। आगे चलकर दिल्लीमें गुलामवंशका कार्यकाल नजर आता है। उस वंशसे सुलतान ' बलबन ' और फिर 'अल्लाउद्दीन खिलजीने' उत्तर-पश्चिमी आक्रमणोंको रोका। किन्तु ये दोनों ' तुर्क-अफगान ' अर्थात् 'विदेशी मुसलमान विजेता' थे। उनके उत्तराधिकारी 'हिंदी-मुसलमान राजाओंने' उनके पराक्रमका कुछ हिस्सा भी कहीं भी नहीं दिखाया। उन बहादुर और सुयोग्य शासकोंके बाद, इसी कारण, उनका वंश हिंदी राजनैतिक क्षेत्रसे और इसीसे इतिहाससे ५-१० वर्षोंके अन्दर उठ गया।

तुगलक वंशके महम्मदने उत्तर-पश्चिमसे आक्रमण करनेवाले मुगलोंका सैनिक प्रतिकार न करते हुए भरपूर कर देकर जैसे तैसे अपनेको बचाया। सन १३९८ में स्वयं तैमूरने हिंदुस्थानपर बहुत बडी चढाई की। उस समयके सुलतान मुहम्मद तुगलक तथा वजीर ' इकबाल खॉं ' ने बहुत देरीके पश्चात् याने ' तैमूर ' के राजधानीतक पहुँचनेके पश्चात् ' फिरोजाबाद ' के पास सामना किया; किन्तु दोनों हारकर दूरके प्रांतमें भाग गये। उस समय प्रजा किसका मुँह ताके ? दिल्ली और आसपासके गाँवोंपर तो मान गाज गिरी।

+ साथ साथ १७—१८ सदीमें मराठों और सिक्खोंने मुसलमानोंको हराया था उसपर भी ध्यान देना चाहिये।

यह खबर फैल जातेही तैमूरके आतंकसे दक्षिणसे 'फैरोजशाह' नामक प्रसिद्ध बहामनी सुलताननें उसके पास अपना एलची नोजा और तैमूरका 'सार्वभौमत्व' मान लिया। असलमें ऐसे बाँके समयसे पहलेसे अपने दूतोंद्वारा असलियतका पता लगाकर दिल्ली तथा दक्षिणके सुलतानोंका क्या यह कर्तव्य न था कि आवश्यकतानुसार देशी राजाओंकी सहायतासे इस आक्रमणका डटकर मुकाबला करे? (इस विषयपर दूसरे लेखांकमें हम विस्तारसे विवरण करेंगे)। बादके सुलतान, 'सय्यद' तो 'तैमूरके उत्तराधिकारी' की हैसियतसे दिल्ली रहे और थोडेसे प्रदेशपर जैसे तैसे राज करते रहे।

उनके बाद 'इब्राहीम लोदी' के कार्यकालमें उत्तर-पश्चिमी सीमापर काबूलकी ओरसे 'बाबर' की चढाइयाँ जारी हो गयीं। पर उस समय भी वही पुराना ढर्रा चलता रहा! अपने देशपर आक्रमण करनेवाले शत्रुका उद्देश्य क्या है, उसकी सिद्धता तथा साधन किस श्रेणीके हैं और इनका मुकाबला करनेके लिये क्या क्या तैयारियाँ करनी चाहिये आदि बातोंपर जरा भी ध्यान न देते हुए 'सुलतान इब्राहीम लोदी' से नाराज कई सरदार दिल्लीमें बैठकर अपना उल्लू सीधा करनेके हेतु शत्रुको सहाय करनेकी सोच रहे थे। और स्वयं 'सुलतान' भी ऐसे कठिन समयमें पांचों महानदियोंको लांघकर शत्रुके आनेतक हाथपर हाथ धरे बैठा था। हाँ, पहले दो तुगलगकोंके समान शत्रुको कर देकर या कायरतासे भाग कर अपने प्राण सुलताननें नहीं बचाये, घमासान युद्ध करके अपनी सेनाके साथ उसने वीरगति पायी।

बस, यहाँपर दिल्लीके सुलतानोंका कार्यकाल समाप्त हो गया। दो तीन सदियोंतक यहाँ बसे हुए मुसलमान घराने पस्त हो गये और विदेशी मुगल इस अभागे देशके स्वामी बन बैठे! 'राजपूत बनाम अफगान' जितने झगडे पहले हो चुके उनसे पाठ लेकर दिल्लीके सुलतानोंनें देशकी रक्षाके लिये कुछ भी, सुधार नहीं किया, जिससे राजपूतोंके समान वे भी हतबल होकर परतंत्र बन गये!

यह भी नहीं कहा जा सकता कि एकही धर्मके बदे होनेसे दिल्लीके सुलतानोंनें विदेशी मुसलमान विजेताओंको अपना शत्रु न माना हो। दौलतखान लोदीको 'बाबर' को बुलानेपर जब पता चला कि वह तैमूरलंगके समान लूटमार कर लौट जानेवाला नहीं है, वह स्वयं पहाडोंमें भाग गया। क्योंकि 'बाबर' के हाथों 'इब्राहीम लोदी' को कुचल कर अपना उल्लू सीधा करनेका उसका दाँव खाली गया था। देरीसे क्यों न हो, किन्तु इब्राहीम लोदीने बाबरसे लोहा तो लिया! और इधर विदेशियोंने भी 'धर्मबंधु' होनेसे 'हिंदी मुसलमानोंको' लूटनेमें कुछ उठा न रखा। तैमूरने गुलाम बनाये हुओं तथा कत्ल किये हुए निरपराधोंमें मुसलमान भी थे। इसीलिये ऐसे सकटको 'राष्ट्रीय संकट मानकर सब मिलकर देशकी रक्षा करना आवश्यक था। तैमूरके तूफानके बाद इसी सतहपरसे सामाजिक एकताके प्रयत्न किये गये थे और कबीर, नानक आदि सन्तोंने अपने उपदेशोंसे इस प्रयत्नकी पुष्टी की थी।

दिल्लीके मुगल बादशाह

हिंदुस्थानके सभी मुसलमान शासकोंमें मुगल बादशाह 'क्षमता तथा भाग्य' के नाते बहुत संपन्न माने जाते हैं। 'बाबर' इस मुगल साम्राज्यका संस्थापक था। वह तो मध्य-एशियासे पहले काबुल और फिर भारतपर हमले करनेवाला अर्थात् 'विदेशी विजेता मुसलमान' था। उसकी इच्छा थी की उसकी मृत्युके बाद उसकी लाश काबूल (अफगानिस्तान) दफनायी जाय। वह चाहता तो काबुलके बराबर प्राकृतिक सौंदर्य—स्थान उसे कश्मीर हिमालयमें अवश्य मिलता। किन्तु ४१५ साल यहाँ रहनेवाले विदेशीको भारतके लिये इतना अपनावा क्यों कर पैदा हो सकता?

दूसरा बादशाह हुमायूँ था। माँ—बाप, जन्म, बचपन, भारतमें थोडासा तथा खण्डित शासनकाल आदि बातोंसे स्पष्ट है कि हुमायूँ भी भारतमें 'विदेशी' ही था। बीचके खण्डित १०–१५ वर्षोंतक दिल्लीमें 'सूरवंशी' सुलतानोंका शासन था। 'शेरशाह सूर' कोई मामूली बागी नहीं था। उसने अफगानोंका संगठन कर इन 'विदेशी' मुगलों× को भगा देनेका जतन किया। उसने अपने बर्तावसे सिद्धकर दिखाया था कि हिंदु-मुसलमान, अपने अपने धर्मको निबाहते हुए, 'धर्मनिर्विशेष' (धर्मको सार्वजनीन क्षेत्रमें न घसीट कर), राष्ट्रीय दृष्टिसे राजनैतिक कार्य कर सकते हैं। शेरशाह कुछ और समयतक

× बाबरकी नौकरीमें रहते हुएही मुगलोंको भगा देनेकी सम्भावना होनेकी बात कही थी।

जीवित रहता या उसके उत्तराधिकारी उसके समान सुयोग्य होते, तो 'बाबर की चढाई भी तैमूर या नादिरशाहकी चढाईसे अधिक महत्त्वपूर्ण न बनती। खैर! आगे इराणके शाहकी सहायतासे हुमायूंको फिरसे दिल्लीका राज मिला।

खिस्ताब्द १५४० में खदेडे जानेपर हुमायूँ इधरउधर सहारा ढूँढ रहा था कि भाग्यवश उमरकोट (सिंध) में 'अकबर' इस दुनियामें आया। इस हिसाबसे वह हिंदी नागरिक माना जा सकता है। फिर भी उसका पिता मुगल तथा माता 'हमीदाबानू' इरानी थी और अकबरके बरताव तथा विचारधारामें इरानी रुझानही झलकता था। वह मुगल तथा इरानी लोगोंको हिंदी लोगोंकी अपेक्षा अपने नजदीकके मानता था। बडे पदोंपर प्राय वह मुगल-तुर्क-इरानी विदेशी मुसलमानोंहीको नियुक्त करता था। पर उन्हींकी दो तीन पीढियोंके वंशजोंको हिंदी मुसलमानोंको उन पदोंपर कभी नियुक्त नही करता था। उन बेचारोंको निचले दर्जेकी नोकरियाँ करनी पडती थीं। क्या, यह हिंदी मुसलमानोंकाही नहीं हिंदी नागरिकत्वका अपमान नहीं है? जहाँ अकबरका यह रुख था वहाँ हिंदु और हिंदी मुसलमान भी मुगलोंको विदेशी हमलाखोर मानकर उनसे विरोधीभाव रखते थे। कुछ राजपूत राजाओंको अकबरने कुछ जगहें दी थीं, किन्तु उनसे राष्ट्रीय अपमान कैसे धुल सकता है? ऐसे भी ये पद बहुत थोडे थे और यदि हुमायूँके समान राज्य गवाँनेका वक्त आ जाय तो सुदूर इरानसे झट सहाय मिलने की संभावना कम होनेसे इसी देशके किसी बहादुर 'गुट' की अनुकूलता रहे, इस दूरदर्शीसे माडलिक बने राजपूतोंको प्रसन्न रखनेके लिये शायद कुछ बडे पदपर रखा गया होगा। स्व डॉ० बालकृष्ण जैसे विद्वान भी 'अकबर' बादशाहको 'विदेशी विजेता' मानते हैं। (भारतवर्षका संक्षिप्त इतिहास पृ० ९१।९३)

इसके बाद 'जहांगीर-शहाजहाँ से लेकर आगेके शासकों को 'हिंदी मुसलमान' कह सकते हैं। अर्थात् उनका वैभव आजके 'हिंदी मुसलमानो' के गर्वका विषय हो सकता है। तो अब देशरक्षाकी कसौटीपर उनके कार्यकालको चढाकर देखें उनकी क्षमता कहाँतक खरी उतरती है।

अकबर बादशाहने अपनी वीरता तथा चतुरतासे एक बडा साम्राज्य प्रस्थापित किया था। और सौभाग्यसे आगामी दो सदियोंतक विदेशियोंके आक्रमण भी न हुए। चंगेज-तैमूरके आक्रमणोंके अंधडकी रफ्तार तो यों भी बादके किसी आक्रमणोंमें धीमी पड गई थी।

इससे जहाँगिर-शहाजहाँ-औरंगजेब बादशाहोंकी परीक्षाका मौकाही नहीं आया। ऐसे भी इन बादशाहोंने गांधार-बलख' की तरफ हमले या चढाइयाँ आदि जो भी किया उनमें उनकी कमजोरीही झलक पडी। किन्तु यहाँ भारतके बाहरकी घटनाओंपर हम विचार नही करते। खैर!

उत्तर-पच्छिमसे होनेवाली तूफानी चढाइयाँ सौभाग्यसे लगभग बद हो चुकी थीं। किन्तु उसी समय पश्चिम समुद्रसे युरोपियनोंके नये ढंगके आक्रमण धीरे धीरे शुरू हो चुके थे। ये आक्रमक लोग, उनके आगमनकी दिशा, आक्रमणके साधन तथा ढग सब कुछ ऐसा तो नूतन तथा अजीब था कि किसीको लम्बे अर्सेतक कभी संदेह भी न हुआ होगा कि अपने देशपर यह एक आफत है या ये लोग आगे चलकर इस देशके स्वामी बन सकते हैं।

व्यापारिक उद्देशसे आये हुए पुर्तुगालियोंकी हवस किसतरह बढ रही है, केरल तथा कोंकण-गुजरातके किनारेपर वे क्या करतूते कर रहे हैं इन विषयोंमें स्विकरीके ईसाइयोंकी दार्शनिक चर्चासे बढकर अकबर जैसे दूरंदाज बादशाहको भी किसीतरह जानकारी नही थी। यदि होती तो ठीक अवसरपर उन विदेशियोंको रोकनेका कोई जतन उससे नही हुआ था। जहाँगीरने बंगाल-आराकानके देशी समुद्री डाकुओंका बंदोबस्त करनेके लिये 'हुगली'में पुर्तुगालियोंको गुदाम बनानेकी अनुज्ञा दी थी। किन्तु उन्होंने गुदाम तो बना लिये और डाकुओंका बंदोबस्त करनेके बदले उन्हींसे मिलकर भारतीय पोतोंको उपद्रव करने लगे! स० १६१३ में पश्चिमतटपरही मुगलोंके चार जहाज पकडनेका साहस किया। उस समय शक्तिशाली सागरीसामर्थ्य न होनेसे जहाँगीरने पुर्तुगालियोंको मात करनेके लिये अंग्रेजोंसे मित्रता की! अंग्रेज वकील सर थॉमस रोके प्रयत्नसे उसे व्यापार करनेका लाइसेन्स तो दे दिया; किन्तु बादशाहसे रोसाहबकी भेटका जो प्रतिवृत्त मिलता

है उससे पता चलता है कि राजनैतिक खास नीतिकी अपेक्षा बादशाहका सनकीपनही दीख पडता है। सुरत आदि बंदरगाह हथियानेपर अकबरने जलसेना बनानेका प्रारंभ किया था। किन्तु उसके उत्तराधिकारियोंने उस समुद्री बेडेके सुधारकी ओर आवश्यक ध्यान नही दिया जिससे पाश्चिमात्योंसे झगडनेके समय मुगलोंकी शक्ति दुबली मालूम होने लगी। बंगालके पुर्तुगालियोंका उपद्रव शहाजहाँके समयमें बहुत बढा था। तब बादशाहने हुगलीपर सेना भेजकर बहुतेरे पुर्तुगालियोंको पकडकर सजा दी। फिर भी शेष फिरंगियोंने 'चटगाँव' की ओरसे शाही जहाजोंको लूटना जारी रखा। केवल भूमीपर हरा देनेसे उन 'जलचरों' का पूरा बंदोबस्त थोडेही हो सकता था।

किसी किसी अवसरपर 'जंजीरेके सिद्दीके बेडे' से मुगलोंको कुछ सहायता मिलती रही। फिर भी युरोपियनोंके बेडेकी शक्तिके मुकाबलेमें सिद्दीका बेडा तो ऊँटके मुँहमे जीरेके समान था। औरंगजेबके समयमें बंगालके सूबेदार शाइस्तेखाँने अपना खुदका बेडा लैस रखनेका कुछ प्रयत्न किया था और कडे परिश्रमके बाद फिरंगियोंको बंगालसे पूरेपूरा खदेडा। किन्तु उनके बाद आये हुए अंग्रेजोने फिरंगियोंके पदचिन्होंपर चलना जारी रखा।

खिस्ताब्द १६७३में अर्थात् औरंगजेबके कार्यकालमें बम्बई-में आया हुआ डॉ० फ्रायर मुगलोंकी सागरीशक्तिके बारेमें लिखता है- 'बिना युरोपियनोंके परवाने तथा टडेलके, मुगली जहाज आवागमन नहीं कर सकते। सुरतकी खाडीमें तोपो तथा हथियारोंसे लैस कुछ मुगली जहाज है, किन्तु यह सब दिखावा है।' इस कथनकी सचाईका प्रमाण खिस्ताब्द १७०१ के निम्नलिखित उदाहरणसे मिल जाता है। कप्तान इब्राहीमखानके आधिपत्यमें एक मुगली जहाज मक्कासे सुरत आ रहा था। उसपर कई तोपे आदि सामग्री थी और साथमें ५० लाखका माल था। किसी अंग्रेजी जहाजने उसपर धावा बोलकर सब माल लूट लिया और कुछ लोगोंको भी गिरफ्तार किया। औरंगजेबके जवाब तलब करनेपर उत्तर मिला 'वे अंग्रेज हमारी कंपनी-की नौकरी छोडकर चले गये हैं।' और अंग्रेज अपने दायित्वसे बरी हो गये।

इसतरह कई बार चपतें पडनेपर भी औरंगजेब एकाद बार सैनिकसामर्थ्यसे अंग्रेजोंको डाँटता किन्तु फिर उन्हे व्यापारिक रियायतें देकर पुचकारता था। १७६० में मुगली सागरी बेडेकी दुर्बलताका पूरा भंडा फोड हो गया। सिद्दी-के बेडेको उपयोगी न जानकर मुगल बादशाहने अंग्रेजोंही को अपना 'दर्यासारंग' नियुक्त कर सुरतकी आमदनीका कुछ हिस्सा उनके बेडेके खर्चेके मदमें देना स्वीकार किया। खेदकी बात है कि इसतरह मुगल बादशाह + परावलंबी याने पराधीन बन गये।

मुगल साम्राज्यके अस्तके समय उत्तर-पश्चिमकी ओरसे फिरसे चढाइयो शुरू हो गयी। १७३९ में नादिरशाहने और फिर १७५६-६१ में अहमदशाह अब्दालीने 'तैमूर' की याद लोगोंको करा दी। **मुगल बादशाहोंकी गफलतसे तथा उससे भी बढकर दुर्बलतासे निरपराध प्रजे-का हरतरहसे भीषण संहार हुआ।** उस झमेलेमें पदभ्रष्ट हुए 'शाहआलम' दिल्लीका सिंहासन प्राप्त करनेके लिए सहाय हासिल करने इधरउधर भटक रहे थे और उनका दुर्बलतासे लाभ उठाकर 'बंगालकी अपनी धींगा-धींगी' वैध बतानेके लिए धूर्त अंग्रेज अधिकारी उनकी मुहरवाली 'सनद' प्राप्त कर रहे थे। हिंदुस्थान जैसे विशाल देशके शासककी यह दुर्दशा खेदजनक थी इसमे कौन इनकार कर सकता है?

विभाग दूसरा

बहामनी सुलतान

उत्तरभारतके दिल्लीके सुलतानोंके समान दक्षिणभारतमें 'बहामनी सुलतान' प्रमुख शासक बने थे। उनके राज्यका विस्तार तथा वैभव दिल्ली-साम्राज्यके लगभग समान था। भौगोलिक दृष्टिसे यह राज्य उत्तर-पश्चिमी सीमान्तसे दूर होनेके कारण वहाँ की घटनाओंसे बहामनी सुलतानोंका सीधा संबंध नही था। अलावा इसके, दिल्ली-साम्राज्यसेही यह राज्य अलग हुआ था जिससे उनके आपसमें इतना

+ खिस्ताब्द १७०० के औरंगजेबके आज्ञापत्र देखनेसे मालूम हो जाता है कि समुद्री डाकुओंसे हजके यात्रियोंके जहाजकी रक्षाका काम विदेशियोंकोही सौंपा गया था।

स्नेह भी नहीं था। मुगल बादशाहोंके साम्राज्य-विस्तारकी महत्वाकांक्षाके कारण आगोतर तो उनकी शाखारूप 'निजाम' के साथ तो मुगलोंकी कई लडाइयाँ भी हुई। दिल्लीके सुलतानों और बहामनी सुलतानोंकी नजरके सामने अपने अपने राज्य तथा सीमान्त कि थोडेबहुत प्रदेशोंका मानचित्र रहता था। समूचे हिंदुस्थानकी रक्षाकी चिंता उन्हे जरा भी न थी, केवल अपने सुखकीही उन्हें चिंता थी।

तैमूरकी चढाईके समय प्रसिद्ध बहामनी सुलतान 'फेरोजशाह' ने तैमूरका लोहा मानकर अपनी जानबचानेकी कोशिश की। प्रथम विभागमें इसका जिक्र हम करही चुके हैं। तैमूरका पोते 'पीरमहम्मदने' सिंधुको पारकर १३९७ में मुलतानपर कब्जा किया। १३९८ के मार्चमें समरकंदसे भारतपर चढाई करनेको तैमूर निकला। रास्तेके किलोंको कब्जा कर वह आगे बढता गया। पंजाबके शेखा खोखर तथा जसरथसे पीरमुहम्मद तथा तैमूरकी भिडना भी हुई। फिर पानिपतके रास्ते वह दिल्लीपर चढ आया। दिल्लीमें युद्ध, लूटमार आदि कर सीधे मीरत, हरिद्वार आदि उत्तरके कई शहर तथा प्रदेश उजाड कर १३९९ के मार्चमें पंजाबसे होते हुए वह अपने देशको लौट गया। इस कालखण्डकी घटनाओंपर गौर करनेसे पता चलता है कि दिल्लीके सुलतान महमूद तुगलक तथा बहामनी सुलतान फेरोजशाहने अल्लाउद्दीन खिलजी या बाजीराव (१ म) पेशवाके साहससे इस कालखण्डका उपयोग कर लिया होता तो उनकी संयुक्त सामर्थ्य बिलकुल बेकार जाता यह मानना दूभर है। स्वयं तैमूर लिखता हैः— 'दिल्लीकी सेना कुछ कम शूर नही थी, किन्तु उस सेनाके अफसर सुयोग्य नहीं थे'। हाँ, पर बिनाव्यापक राष्ट्ररक्षाकी लगनसे इतना परिश्रम कौन करे? 'फेरोजशाह बहामनी' जैसे प्रमुख शासकने प्रतिकारका रंचभर भी प्रयत्न न करते हुए जो लाचारी प्रकट की तथा शरण ली इसके जैसा उदाहरण भारतीय इतिहासमें शायदही मिलेगा। तैमूरके पास वकील तथा तोहफे भेजनेमें जितनी चतुरता तथा फुर्ती उसने दिखलायी उतनी यदि वह तैमूरसे लोहा लेनेमें दिखलाता तो!!

अब बहामनी सुलतानोंकी कार्यक्षमताकी और एक कसौटी है। सागरतटसे होनेवाले पराये आक्रमणसे देशकी रक्षा थी। किन्तु पहले तो लम्बे अर्सेतक इस मैदानी राज्यके लिये कोई सागरतट नहीं था और फिर जब वह राज्य सागरतटतक फैला तो बहुत जलद वह टूटने लगा और उससे निजामशाही, आदिलशाही आदि स्वतंत्र राज्य उठ खडे हुए। और उसी समय सागरतटपर फिरंगी आदि विदेशियोंका आगमन होनेसे उन स्वतंत्र छोटे छोटे राज्योंसे युरोपियनोंका संबंध शुरु हुआ। अब देखना चाहिये कि 'आदिलशाही' आदि राज्योंने देशरक्षाके लिये कौनसे जतन किये।

बिजापूरके आदिलशाह

सभी मुसलमानी सुलतानोंमें आदिलशाही शासकोंसे महाराष्ट्रका सबसे अधिक पाला पडा। कोंकण किनारेके 'गोवा' 'दाभोल' आदि प्रसिद्ध बंदरगाह उनके अधिकारमें थे।

असलमें विदेशी व्यापारियोंको अन्यदेशमें जा, व्यापार कर रहना हो तो उस देशके शासककी अनुमतिसे वहाँ रहना चाहिये और भारतीय इतिहासमें ऐसे उदाहरण भी मिलते हैं। किन्तु पुर्तुगालियोंका ढग कुछ औरही रहा। गोवा-दाभोलमें उनका प्रवेश एकतऱ्हसे वहाँके आदिलशाही शासनपर चोटही थी। पुर्तुगाली सरदार अलबुकर्कने सन १५१० में हमला कर गोवा बंदरगाह हथिया लिया। यह सवाद मालूम होतेही 'यूसफ आदिलशाह' सेनाके साथ गोवापर चढ आया तब अपनी शक्तिकी मर्यादा जानकर पुर्तुगाली सागरतटकी ओर पिछे हट गये। किन्तु यह पीछे-हट हारके कारण नहीं थी, यह एक चाल थी। फिरसे गोवा जीतकर उन्होने इसका प्रमाण दिया! अच्छे बेडेकी सहाय होनेसे फिरंगी आवश्यकनानुसार बाहरसे मदद ले आसकते थे और पीछे हटना पडे तो सागरका सहारा कुछ समयतक ले सकते थे। इन सब बातोंको जानते हुए भी बीजापूरके शासकोंने अपना समुद्री बेडा सिद्ध नहीं किया।

थोडेही समयके बाद 'यूसफ आदिलशाह' की मृत्यु हुई। उसका बेटा नाबालिग था। उसके वजीरने पहले 'पोलादखान' नामक सरदारको 'गोवा' जीतनेके लिये भेजा। यह काम उसके लिये भारी मालूम हुआ तब उसकी सहायताके लिये 'रसूलखान' को भेजा गया। किन्तु दुर्भाग्यसे येही दोनों आपसमें निजी बडप्पनके लिये प्रतिस्पर्धा करने लगे। पोलादखान गोवेसे निकल गया। रसूलखानने पुर्तुगालियोंसे जंग शुरु किया। ठीक उसी समय स्याम-मलायाकी ओर गया हुआ 'अल्बुकर्क' लौट आया और पुर्तुगालसे

भी और मदद आ पहुँची जिससे अल्बुकर्कने जोरोंसे हमला किया, रसूलखाँको हराया और गोवापर अधिकार कर लिया।

यह तो दुर्भाग्यही था कि ऐन मौकेपर पोलादखाँ और रसूलखाँमें व्यक्तिगत मान-अपमानकी बातपर मनमुटाव पैदा हुआ जिससे आदिलशाहका पक्ष दुबला बन गया। स० १५१२ की यह घटना है। फिर १५४७ में फिरंगियोंने आदिलशाहको हराकर 'दाभोल' बदरगाहपर कब्जा किया और सुलहकी शर्तके अनुसार उसे अपने हाथमें रखा। निदान १५७१ में आदिलशाह तथा निजामने-दोनोंने मिलकर–पुर्तगालियोंको खदेडनेके लिए क्रमसे 'गोवा' तथा 'चौल' पर चढाइयाँ कीं। आदिलशाहने एक लाख सेना और दो हजार हाथियोंके साथ ८।१० महीनोंतक युद्ध चलाया; किन्तु पुर्तगाली तोपों, अनुशासित शिक्षित बहादुरों और लैस बेडेके सामने मुसलमानी सेना और हाथीदलके सामने एक न चली। निदान घेरा उठा, गोवाको तिलांजली देकर आदिलशाह बीजापूर लौट गये। अपनी समुद्रीशक्तिको सँभालनेके लिए 'आदिलशाह'ने जंजीराके 'सिद्दी' को नियुक्त किया और उसे कुछ प्रदेशभी जागीरके तौरपर दे दिया। किन्तु यह तो उपर्युक्त घटनाके कई सालों बाद हुआ। और इस प्रबंधसे भी किसीतरह लाभ होनेकी बात इतिहासमें नही मिलती!

गोलकुण्डाके कुतुबशाह

'कुतुबशाही' बहमनी राज्यकी पूर्वी शाखा थी। पूर्वी किनारेका नाम 'चोलमंडल' है (जिसका बिगडा हुआ अंग्रेजी नाम कारोमांडल' है) इस तरफ 'पुर्तगालियों' 'ओलंदेजों' अंग्रेजों' तथा 'फ्रान्सीसि'योंने अनुक्रमसे मैलापूर अर्थात् सेंट टॉमे, पुलिकत, मद्रास, मच्छलीपटम् एवं पांदिचेरी आदि स्थानोंमें व्यापार शुरू किया। उनमेंसे कुछ पूर्वी किनारेके किसी नरेशके आश्रित बने, तो कोई 'कुतुबशाह' के कृपापात्र बने।

पश्चिममें आदिलशाहीको पुर्तगालियोंसे कितनी हानि पहुँची यह मालूम होते हुए भी 'कुतुबशाहों' ने फ्रान्सीसियों तथा अंग्रेजोंको व्यापारके परवाने एवं रियायतें देते समय उनपर आवश्यक बन्धन न लगाते हुए या उनकी हलचलपर नजर न रखते हुए कुछ लोगोंको ऊपरसे चुगीकीं सुविधाएँ कर दीं। सोनेके पत्रेपर बनाये परवानेपर 'मच्छलीपटम्' के गुदामके बारेमें यह शर्त थी कि अंग्रेज 'ईरानसे घोडे खरीद लायँ' (१६३३), किन्तु कौन जानता है कि ऐसी शर्तकी आवश्यकता क्या थी? क्या देशी व्यापारियोंद्वारा यह खरीदी नही हो सकती थी? ईरान तथा गोलकुण्डामें एक दूसरेके वकील भी एक दूसरेके दरबारमें थे। तब क्या यह परावलंबन 'सागरी' शक्तिकी कमी के कारण था? आगे चलकर वेही फ्रान्सीसी और अंग्रेज 'कुतुबशाहों' के सिरपर चढ बैठे।

फ्रान्सीसियोका बंदोबस्त करने स १६७१ में गोलकुण्डाके सेनापतिने 'सेंट टॉमे' उनसे छीन लेनेके हेतु चढाई की। एक वर्ष सिर पटकनेपर भी वह कुछ न कर सका। उसने अंग्रेजोंको सहायताके लिये बुलाया; किन्तु उन्होंने दाद न दी! इधर इसी अर्सेमें फ्रान्सीसियोंने 'सेंट टॉमे' के इर्द गिर्द अच्छी किलाबंदी की! फिर स. १६७७ में, चाहे 'अंग्रेजों'के मदद न करनेके कारण हो या अन्य किसी कारण वश हो— लिंगाप्पा नामक कुतुबशाहके सरदारने मद्रासको चार महीनोंतक घेरा डाला और अंग्रेजोंका व्यापार बंद किया। तब उन्होंने ३० हजार रु० जुर्माना दिया; किन्तु हमेशाके बर्ताव कोई इकरार या सुलह अंग्रेजोसे करवानेकी सावधानी न रखी।

ओलंदेज तथा पुर्तगाली ये विदेशी तो और बढ गये थे। किनारेकी गरीब जनताको कुछ लोगोंको पकडकर धर्मभ्रष्ट कर देने, गुलाम बनाने एवं चाहे जहाँ ले जाकर बेच देनेका काम जोरोंसे जारी था। ऐसे सैकडों गुलाम मद्रासमें अंग्रेजोंके पास थे। भिन्न भिन्न बदरगाहोंसे फ्रान्सीसियों, ओलंदेजों, अंग्रेजोंके बेडे आकर युद्ध करते थे किन्तु कुतुबशाह उनको दबानेके लिए उनसे जबाब तलब नही कर सकते थे।

अहमदनगरके निजामशाह

अबतक काफी हिंदी मुसलमान शासकोंके बारेमें चर्चा हो चुकी है। ये सब सुलतान तथा बादशाह विदेशी मुसलमानोंसे हिंदुस्थानमें पैदा हुए वंशज अर्थात् 'हिन्दुस्थानी मुसलमान' थे। उन्हींकी श्रेणीमें, मूलतः हिन्दु होकर भलीबुरी तरहसे धर्म बदलकर मुसलमान बने हों, उनको भी शामिल करने पडेगा। निजामशाहका मूलपुरुष 'बहिरी निजामशाह' विजयानगरके * तिमाप्पा

* कुछ कहते हैं कि यह बराडका कुलकर्णी (पटवारी) था। (हिंदुस्थानका कालक्रम इतिहास पृ. ५८)

नामक ब्राह्मणका बेटा था। बहमनी सुलतान किसी लडाईमें उस लडकेको पकड लाया था। वह बादमें मुसलमान बना × मुहम्मद गवानके और, अरब नाविकोंमें कुछ खास चतुरता होती तो उसे प्राप्त करना बिना धर्मांतरके भी असम्भव नहीं था। इस्लाममेंहीमें कोई अजेय शक्ति होती तो चितोड या विजयानगरके हिन्दु राजाओंसे वे कभी न हारते। मुसलमानों— विजेताओं — के जशके सच्चे कारण क्या थे, इसपर गौर न करते हुए विजेताओंकी हरबात श्रेष्ठ होती है इस नीतिपर चलनेवाले आँखके अँधे और गाँठ-के पूरे अंधानुकरणी परावलंबी जित लोगोंका, क्या, कभी उद्धार हो सकता है? राष्ट्रीय दृष्टिसे यह न्यूनगंड! (Inferiority Complex) हरसमय घातक सिद्ध होता है।

उसका सितारा चमका। 'दखनी-देसी-मुसलमानों' का कुछ समयतक वह अगुआ था। १४५० में 'जुन्नर' जाकर वह स्वतंत्र हो गया। उसके बेटे 'अहमद' ने 'अहमदनगर' बसाया।

अहमद निजामशाहने हबशी गुलाम 'याकूतखान' की बहादुरीसे कुलाबा जिलेके 'जंजीरा' स्थानको उसके कोली नायकसे छिनवाया (१४८९) और याकूतको वहाँका अधिकारी बना दिया। आगे चलकर हबसियोंने प्रकृतिसे पहलेही सुरक्षित उस स्थानकी किलाबंदीकी और धीरे धीरे समुद्री बेडा भी बनाया।

निजामशाह तो स्वयं आदिलशाह तथा मुगलोंसे लड-नेमें व्यस्त रहता था। उसकी ओरसे उसके सरदार–सूबे-दारही कल्याण-अलीबागके किनारेके प्रदेशका प्रबंध करते थे। उन सरदारोंको 'बढिया शराब' की बोतलें भेटमें देकर पुर्तुगालियोंने प्रसन्न किया और 'चौल—रेवदंडा' का प्रदेश हथिया लिया (१५६९)। इससे स्पष्ट होता है कि निजामको ये सरदार कहाँतक पूछते थे। (इसके पहले भी सन १५१२ के आसपास 'चौल' बंदरगाह फिरंगियोंके हाथ आ गया था! [ब्रिटिश रियासत - ११५]

किन्तु पुर्तुगालियोंके इस चंचुप्रवेशकी ओर ध्यान देनेके लिये उस समय 'निजामशाह' को फुरसद नहीं थी। यह मौका देखकर पुर्तुगालियोंने भी 'वसई' आदि स्थानोंमें ऊधम मचानेमें कुछ कमी न रखी। फिर १५७१ में फुरसदसे 'मुर्तुजा निजामशाह' ने 'आदिलशाह' से मिलकर (गोवापर चढाई करनेके लिये) इधर स्वयं चौल-रेवदण्डापर चढाई की। निजामशाहके बेडेके सरदार 'जजीराके सिद्दी' इस लडाईमें उनकी ओरसे कुछ करते थे या नहीं, भगवान् जाने! और यदि हो भी तो उनकी बहादुरी कहीं न चमकी और अन्तमें निजामको हारना पडा। (कई सुलतानोंको 'सिद्दी' पर बडा विश्वास था; हाँ, उनके तथा अंग्रेजोंके बढावेसे वह मराठोंको सताने काम अवश्य करता था; यह बात दूसरी है कि मराठी बेडेपर उसे कभी पक्की विजय नहीं मिली!) फिर १५९१ में 'कुर्ला' में किला बनाकर 'बुर्हान निजामशाह' ने वहाँसे युद्ध किया जिसमें वह हार गया। और पुर्तुगाली शेर बने!

गुजरातके सुलतान

इस वंशका मूल–पुरुष 'मुजफ्फरशाह' 'बहिरी निजामशाह' के जैसा पहले हिन्दु होकर फिर मुसलमान बन गया था। स १३९१ में दिल्लीके सुलतानने उसे 'गुज-रातका सूबेदार' बना कर भेजा। उसको, उस समय, हिंदुओंके समान 'छत्र चामर आदि राजचिन्ह दिये गये थे। समझमें नहीं आता कि एक सूबाको राजचिन्ह! और वह भी हिंदु ढंगके! क्यों दिये गये थे? यह सूबेदार पांच छः सालोंही में दिल्लीकी सत्ताको छोडकर स्वतंत्र गुजरात-का सुलतान बन बैठा; और तो और स्वयं पहले हिन्दु होते हुए भी हिन्दुओंको अधिक पीडा देनेवाला बना। इसी

× 'बहिरी' कैसे मुसलमान बना सो मालूम नहीं पडता। 'जजिया' के कारण या बलात् कई लोग धर्म बदल देते थे। किन्तु कुछ ऐसे भी थे जो एक विचित्र खयालसे मुसलमान बनते थे। खयाल यों था:—जब हर जगह मुसलमानी सत्ता-का फैलाव होही रहा है तब 'मुसलमान-धर्म' ही में कुछ खास अजीब सामर्थ्य होगी! अर्थात्, उसे प्राप्त करनेके लिये हमें भी मुसलमान बनना चाहिये। कालिकतके 'सामुरी' राजा अपने जहाजोंपर मल्लाह रखनेके लिये हिंदु लडकोंको मुसलमान बनाकर पालते थे! इससे बढकर बेवकूफीका उदाहरण मिलना मुश्किल है। असलमें केरलके सागरतटके प्रांतों-में नाविक हिन्दु मिलना कठिन नहीं था।

वंशमें आगे चलकर ' महमूद बेगडा ' विशेष प्रसिद्ध हुआ। उसने अपनी शूरता तथा क्रूरतासे काठियावाडके देशी समुद्री डाकुओंका पूरा बंदोबस्त किया। किन्तु विदेशी पुर्तुगालियोंके सामने उसे मुँह की खानी पडी। इसका ब्योरा यों है—

गुजरातके किनारेसे फिरंगियोंका संबंध कुछ दूसरेही तरहसे आया। आफ्रिकासे हिंदी महासागरद्वारा हिंदुस्थानके साथ अरब आदि मुसलमानोंका खासा व्यापार चलता था। उसे हडप जानेके लिये पुर्तुगीजोंने अरबोंको खदेडना शुरू किया। तब समूचे मुसलमानी देशोंमें खलबली मच गयी। तब स. १५०७ में मिश्रके सुलतानने अपने बेडेको ' अमीर हुसेन ' नामक सरदारके आधिपत्यमें लाल सागरसे वहाँ भेज दिया। गुजरातके प्रसिद्ध सुलतान महमूद बेगडा तथा दीवके नवाब ' मलिक ऐयाज ' ने भी सहायता दी। फिर बम्बईके नजदीक ' चौल ' के पास पुर्तुगाली बेडेसे उनकी भिडन्त हुई। मुसलमानोंकी विजय हुई, किन्तु जल्दही पुर्तुगालियोंने फिरसे संगठन कर ' दीव द्वीप ' के पास मुसलमानोंको करारी हार दी। कहते हैं कि गुजरातका बेडा बडा था फिर भी उसे पुर्तुगीजोंने हरा दिया। ' महमूद बेगडा ' ने ' मलिक ऐयाज ' का पक्ष छोडकर पुर्तुगालियोंसे गठबंधन किया। हाँ, इस समय ' दीव ' द्वीप पुर्तुगालियोंके ताबेमें नहीं गया था। आगे चलकर ' बहादुरशाह ' ने हुमायूँ के खिलाफ की लडाईमें सहाय करनेके कारण ' बसई ' तथा ' दीव ' द्वीप पुर्तुगालियोंको दे डाला था (१५३५)। उन दूरंदाजी लोगोंने दोनों स्थानोंमें बडे मजबूत किले बनवाये; और धीरे धीरे दमण, माहीम और बम्बई आदि स्थानोंपर पैर फैलाये।

' दीव ' वापिस ले लेनेके लिये सुलतान ' महमूद ' (३ य) ने तुर्किस्तानके ' सुलेमान सुलतान' का बेडा अपनी सहायताके लिये माँगा। उसने जलमार्गसे और महमूदने स्थलमार्गसे दीवके किलेको घेरा डालकर युद्ध शुरू किया। कई दिनतक यह कार्य चलता रहा किन्तु अन्तमें हिंदी मुसलमानोंको आपसी मनमुटावके कारण तुर्की बेडेकी सहायता भी बेकार हो गयी। इस घटनासे तुर्क आदि विदेशी मुसलमानोंका हिंदुस्थानियोंके बारेमें क्या मत बना होगा ?

खंभायतके सुलतानने भी 'दीव' जीतनेका एक बार यत्न कर देखा, किन्तु पुर्तुगालियोंने ऐसा तो उसे पछाडा कि वह अपनी कई तोपों तथा सामग्रीको रणांगणमें छोडकर भाग खडा हुआ। विजयसे उन्मत्त पुर्तुगालियोंने खम्भायत, सूरत तथा घोघा, आदि नगरोंमें कत्लकर तथा आग लगाकर अपनी क्रूरताकी परा काष्ठाका परिचय दिया।

यहाँतक, हिंदी मुसलमान शासकोंसे विदेशी गोरे लोगोंका पहलेपहल किस तरह संबंध आया और पहलेही झटकेमें वे कैसे हारे आदि बातोंको हम देख चुके हैं। राजनैतिक संबंध बढते गये, उसके साथ साथ युरोपियनोंने कैसा ऊधम मचाया और उसमें भी मुसलमान झुके, इसका विचार अगले विभागमें करेंगे।

प्रायः तत्कालीन हिंदी मुसलमान शासकोंको इन विदेशियोंका स्वभाव, उद्देश्य तथा सामर्थ्यका यथार्थ ज्ञान नहीं हो पाया होगा। सुविख्यात इतिहासकार श्री. सरदेसाईजी 'ब्रिटिश रिसायत'में लिखते हैं— युरोपीय लोग समुद्रतटके अप्रसिद्ध पांच दस स्थानोंपर कब्जा कर बैठे थे। औरंगजेब जैसा धूर्त बादशाह भी उनकी योग्यता बैलके सींगपर बैठी मक्खीकी जितनीही मानता होगा। सूरत आदि स्थानोंके सूबेदार उसे योग्य सूचनाएँ देते रहते थे, किन्तु उसने उनपर ध्यान नहीं दिया। उलटे, वह मानता था कि ये फिरंगी उसके कामके हैं।

इसके विरुद्ध युरोपीयोंने ' हिंदी सुलतानों तथा नवाबों ' की शक्ति और क्षमताको जल्दही ठीक पहचाना था, ऐसा दीख पडता है। फ्रान्सीसी यात्री बर्नियर (लगभग १६५८) कहता है—

'कोई फ्रान्सीसी सेनापति तीस हजार सेनाके साथ हिंदुस्थानमें पदार्पण करे तो मुगलोंसे वह देश आसानीसे जीत सकता है '

पलासीका युद्ध जीतनेके पहलेही १७४६ में जेम्स मिल नामक एक अंग्रेज अपने पत्रमें लिखता है— 'बंगाल प्रांत तो कोई अनधिकारी नवाब हडप बैठा है ' वह प्रांत थोडी मेहनतसे सागरकी ओरसे छीना जा सकता है। '

इससे भी पहले ' पुर्तुगालियों ' ने गुजरातके सुलतानों तथा आदिलशाहसे ' दीव—गोवा ' छीनही लिये थे ! इसका ब्योरा हम ऊपर देही चुके हैं।

विभाग तीसरा

हैदराबादके निजाम

मुगल बादशाहोंका दाक्षिणी सूबेदार ' मीर कमरुद्दीन ' अर्थात् निजाम-उल-मुल्क स. १७२४ से हैदराबादमें स्वतंत्र रूपसे शासन करने लगा था। उसे ' आसफजाह ' की उपाधि थी और उस समय दिल्लीके राजनैतिक क्षेत्रमें उसका बडा प्रभाव था। आज भी ' हैदराबादके निजाम ' हिंदी मुसलमानोंकी आकांक्षाओं तथा गर्वका स्थान है।

स. १७३९ में भारतपर नादीरशाहकी चढाई अंधड आया। उस समय ' निजाम-उल-मुल्क ' दिल्लीमें था। किंतु न उसकी बहादुरी, न उसकी राजनैतिक बुद्धिमानी मुगल बादशाह तथा देशके काम आयी। इसका कारण उसकी बढी हुई उम्र भी हो सकती है। किन्तु एक इतिहासकारका स्पष्ट कथन है कि निजाम तथा अवधका वजीर ' सआदत-खान ' मनसे बादशाहके अनुकूल नहीं थे; जहाँ अन्य इतिहासकार तो इन दोनोंको सीधे ' देशद्रोही ' मानते हैं।

निजाम-उल-मुल्क १७४८ में कालके गालमें गया। उसके पश्चात् उसके पुत्रोंमें राज्यके लिए झगडा शुरू हो गया। इससे पूर्वी किनारेके विदेशी अंग्रेज-फ्रान्सीसियोंपर उनका कोई दबाव तो रहाही नहीं; प्रत्युत अपने गृह-कलह-में उन विदेशियोंकी सहायताकी याचना वे करने लगे। यहाँसे हिंदी मुसलमान शासकोंकी अधोगतिका एक नया अध्याय शुरू हुआ। इसके पहले भी कई देशी राज्यकर्ता-ओंने पुर्तगालियोंकी सहायता लीही थी। किन्तु उस समय उसका स्वरूप भिन्न था। सौ-पचास वर्षोंकी संगति तथा अनुभवसे हिंदी नरेशोंकी शक्तिको विदेशी नाप चुके थे जिससे उनकी महत्वाकांक्षा, सामर्थ्य तथा संपत्ति बढने लगी थी।

फ्रान्सीसी सरदार ' बुसी ' निजाम सलाबतजंगकी सहायताके लिये, मय सेनाके औरंगाबाद पहुँचा। सला-बतजंगको राज्य मिल गया, किन्तु शासनकी बागडोर हाथ आनेपर भी वह अपनी सेनाका ठीक संगठन कर, बिना फ्रान्सीसियोंकी सहायतासे, शासन न कर सका। इससे उसकी दुर्बलताकी कल्पना कर सकते हैं।

इसी समय व्यापारिक स्पर्धाके कारण तथा युरोपमें अंग्रेजों तथा फ्रान्सीसियोंके आपसी शत्रुत्वके कारण भारतमें भी कर्णाटकके किनारेके प्रदेशोंमें झगडे शुरू हो गये थे। कहावत है कि ' दोनोंका झगडा तीसरेका लाभ '। किन्तु वह लाभ बलवान्‌हीको मिलता है और दुर्बलोंको अनुभव होता है कि पाडोंकी लडाईमें बाडको खुरकनवाली कहावत चरितार्थ होती है। देशी शासकोंमें यह बल न था कि वे इन विदेशियोंको ललकार सकते- ' हमारे देशमें आकर यह ऊधम मचानेवाले तुम होते हो कौन ? ' इसीसे इन विदे-शियोंके झगडेसे लाभ उठाकर एक एक करके दोनोंको पिलपिलाकर गलबाही देना हमारे नरेशोंसे न बन पडा !

उत्तरपश्चिमसे आखरी आक्रमण था ' अहमदशाह अब-दालीके हमले '। उनसे देशकी रक्षाका थोडासा यत्न निजाम गाजिउद्दिनने किया। किन्तु आगे चलकर इन नवा-बोंका स्वरूप राष्ट्रीय न रहकर उसका सांप्रदायिक रूप हिंदु विरुद्ध मुसलमान-बना और अन्य ' नजीबखान रुहीले ' और ' सुजाउद्दौला ' आदि प्रमुख मुसलमान गाजिउद्दिनके विरोधी बने। बडे दुर्भाग्यकी बात है कि मराठी शक्तिको नष्ट करनेपर भी वे मुसलमान शासक समूची ' हिंदी राजनीतिका ' तोल न सँभाल पाये। एक एक कर निजाम नवाब-वजीर एवं बादशाह सबके सब हिंदी मुसलमान नरेश विदेशी अंग्रेजोंके आगे झुकने लगे।

स. १७६८ में सलाबतजंगके उत्तराधिकारी निजामअलीने अंग्रेजोंकी तैनाती सेना अपने दरबारमें रख ली और अपना (समुद्रतटका) उत्तर सरकार प्रांत वार्षिक रकम लेना मुकर्रर कर अंग्रेजोंको दे डाला। इस अभागी घटनाका विकास आगे चलकर वेल्सलेकी ' तैनाती सेना ' की माण्ड-लिकत्वके चिह्नस्वरूप शर्तोंमें होकर निजाम परतंत्र बने।

बंगालके नवाब

नवाब ' अलीवर्दीखाँ ' बहुत सावधान था कि कहीं अंग्रेजोंका रोबदाब अपने प्रांतमें न बढे। वह ठीक जानता था कि अंग्रेज-फ्रान्सीसियोंने कर्णाटकके चंदासाहब महंमद-अली आदि शासकोंको कैसे नचाया था। इससे कहीं भी उसके प्रांतमें अंग्रेज किलाबंदी या सैनिक सिद्धता करते मालूम पडे वह झट उनसे जवाब तलब करता था। वह

कहता-' तुम अंग्रेज फ्रान्सीसी लोक तो व्यापारी हो; तुम्हें किलाबंदी ॐ या सेनाकी क्या पडी है ? मैं जो तुम्हारी रक्षाके लिये बैठा हूं '।

बूढा अलीवर्दीखाँ स. १७५६ में मर गया और ' सिराज उद्दौला ' बंगालका नवाब बना। अंग्रेज देशी शासकोंकी शक्ति परख कर अपना व्यापार–कारोबार सब जगह चालू रखते। नये नवाबने, ' अलीवर्दीखाँ ' के उपदेशके अनुसार अंग्रेजोंके ' उद्योगों ' को प्रतिबंध करना चाहा। अंग्रेजोंसे कलकत्ता नगर उसने जीत लिया। अंग्रेज ' कलकत्ता ' छोड गये किन्तु कुछ दूर हटकर जहाजोंहीमें कुछ दिनोंतक अपनी आगामी योजनाओं तथा नीतिको निश्चित करते रहे। और इधर ' सिराज उद्दौला ' अंग्रेजोंको खदेड देनेके भ्रामक आनंदमें बेखबर था। सिराज सनकी होनेसे जनता उससे अप्रसन्न थी। दूसरे, असंतुष्ट वारिसोंके विद्रोह तथा सैनिक अधिकारियोंकी धोखेबाजीके कारण नौजवान सिराजके मनमें होते हुए भी अंग्रेजोंको झुकानेके मनसूबे व्यर्थ हो गये। ऐसे भी उसमें विशेष क्षमता न थी। पलासीके युद्धके पहले सेनापति मीर जाफर आदि लोगोंके षड्यन्त्रका सुराग मिलनेपर भी ' नवाब ' ने, जैसा कि एक शासकको चाहिये था, कडा अनुशासन जारी कर सेनाकी बागडोर स्वयं संभालनेसे वह चूक गया या अन्य सुयोग्य अधिकारियोंकी नियुक्ति भी उसने नहीं की! प्रत्यक्ष स. १७५७के पलासीके क्रांतिकारी युद्धमें भी ' मीर जाफर ' की कौल देखकर भी उसने मीरजाफरसे कहा ' मेरी और मेरे राज्यकी रक्षाका भार अब तुमपर है ' और स्वयं राजधानीकी ओर भागा। वहाँ जाकर भी कुछ नया सैनिक संगठन कर युद्ध करनेका जतन न करते हुए राजमहलसे दूर भाग खडा हुआ। और अंग्रेजोंसे लगभग मुफ्तमें विजय प्राप्त हुई। अभागा सिराज उद्दौला पकडा गया और मीर जाफरके लडकेने उसे मार डाला।

' फिर 'मीर जाफर' बंगालका नवाब बना। उसने अबतकके किसी युद्धमें किसी तरफसे कोई जौहर नहीं दिखाया था। सिराजकी दुर्बलता (सनकीपन) तथा अंग्रेजोंकी सहायतासे उसे यह सौभाग्य प्राप्त हुआ था। इससे उसने अंग्रेजोंको बडे बडे इनाम बाँटे जिससे ' बंगालके नवाब ' का कोष खाली हो गया। सेनाको समयपर वेतन न मिला। तब नवाबको उलटे, अंग्रेजोंसे कर्ज लेना पडा। जब देखा कि नवाब कर्जके गढेमें पातालतक डूब गया है तब 'मीर जाफर' को गलबाही देकर अंग्रेजोने अपने एक पिट्ठू 'मीर कासिम' को ' नवाब ' बनाया।

और नये नवाबको अपनी इस नियुक्तिके उपलक्ष्यमें इनाम बाँटने और कर्ज चुकानेके लिए अंग्रेज तंग करने लगे। अपने कोषकी हालत सुधारनेके लिए मीर कासिमने चुंगीकी वसूलीपर अधिक ध्यान देना शुरू किया। किन्तु स्वय बादशाह तथा पुराने अधिकारियोंसे भिन्न भिन्न रियायतें ऐठनेवाले तथा उन रियायतोंके × बलपर रंगरेलियाँ उडानेवाले अंग्रेज मीरकासिमका चुंगीपर ध्यान देना क्या कर पसंद कर सकते थे ? इसीसे अंग्रेजोने मीर कासिमको निकाल दिया और फिरसे 'मीर जाफर' को नवाब बनाया। इस उथलपुथलमें बंगालकी नवाबी एक कठपुतली होनेकी बात स्पष्ट हो जाती है।

बेशक, दूसरोंसे ' मीर कासिम ' कुछ प्रयत्नशील था। उसने अपने बलपर तथा अवधके वजीर और बादशाहकी सहायतासे अंग्रेजोंसे दो लडाइयाँ कीं; किन्तु दोनों अवसरोंपर सबकी हार हुई और मुसलमानोंकी बहादुरीका भण्डाफोड हो गया। स. १७६५ में शाह आलम बादशाहने

ॐ औरंगजेबके हुक्मसे कर्णाटकके सूबेदारने ' मद्रास ' की किलाबंदीपर इसी तरह रोक लगायी थी। किन्तु धूर्त अंग्रेजोंने जरासा प्रतिकार कर और फिर रिश्वत देकर उसे चुप कर दिया था।

× फर्रुखसियर बादशाहको अंग्रेज डॉक्टरने एक बडी बीमारीसे चंगा कर दिया, इसके उपलक्ष्यमें बंगालके अंग्रेजी व्यापारपर बादशाहने चुंगी मुआफ कर दी थी। मुआफी तो अंग्रेज कंपनीको मिली थी किन्तु उसके अंग्रेज नौकर भी अपने व्यक्तिगत व्यापारमें उस रियायतसे लाभ उठाना चाहते थे, जिससे नवाबकी आवकमें बहुत घाटा आ जाता; और यही रियायत अपनेही देशके व्यापारियोंको न होनेसे उनका माल महँगा पडता जिससे धंदा डूब जाता। जब सब तरफसे इसके विरुद्ध आवाज उठी तो बंगालके नवाबने सभीको एक साथ चुंगी मुआफ कर दी। अंग्रेज सिट पिटाते रहे; हाँ, मीर कासिम उन्हें अखरने लगा।

ॐ.

अंग्रेजोंसे सुलह कर बंगालसे जमाबंदी वसूल करनेका अधि- कार उन्हें सुपुर्द कर दिया। एक दो और मुद्दतोंमें बंगाल प्रात पूरा अंग्रेजोंके अधिकारमें आ गया।

अवधके वजीर

नादिरशाहके हमलेके समय अवधका 'सादतखान' दिल्ली दरबारमें एक प्रमुख सरदार था। वह नादिरशाहसे स्पर्शसे अपनी संपत्तिको दूर रखनेके लिये प्रयत्नशील था। हो सकता है, वह नादिरशाहको अंदरसे मिला हुआ भी हो, स्वार्थका बुखार चढनेपर देशकी कौन सोचे? किन्तु न इतनेपर भी वजीर अपने स्वार्थकी रक्षा कर सका। अन्तमें वित्त-शोक तथा नादिरशाहके किये अपमानसे चिढकर 'सादतखान' जहर खाकर मर गया।

उसके पश्चात् 'सफदरजंग' अवधका सूबेदार बना। वह मुगल बादशाह मुहम्मदशाहका वजीर भी रहा। उसका बेटा सुजाउद्दौला अवधके वजीरके नाते अधिकार चलाता था तभी 'अब्दाली' के हमले हुए। वह इस उधेड बुनमें कई दिनोंतक पडा था कि 'वह हमेशा पडोसी रहे मराठोंका साथ दे या 'नजीबखान अब्दाली' के मुसलमान- पक्षमें शामिल हो जाय?' अब्दाली पक्षमें जानेके बाद मुसल- मानोंकी जीत हुई। हाँ, 'जीत' से कोई खास राजनैतिक लाभ मुसलमानोंको न मिला। और यह जीत भी तो परा- वलबनसे (अब्दालीकी मददसे) हुई थी वह कहाँतक संभाली जा सकती थी? बहुत जल्द मराठोंने फिरसे जोर लगाया और अपनी क्षतिकी पूर्ति कर ली जिससे सभी नरेश 'जैसे थे' ही रह गये। हाँ, इस झटापटीमें उधर 'बंगाल और कर्णाटक' में अपने पाँव फैलानेका अंग्रेजोंको बडा अच्छा मौका मिला।

दिल्लीके इन कई झमेलोंमें मुगल शाहजादा 'शाह- आलम' दिल्ली छोड दूर पूरबकी ओर कहीं गया था। वह 'सुजाउद्दौला' से कहता कि उसे दिल्ली पहुँचा दे; किन्तु सुजाने योजनाएँ बनानेमें कई दिन निकाले। फ्रान्सीसी अफसर लॉ कहता है 'दिल्लीके सरदारोंमें एकता नहीं है। सुजाउद्दौला जैसे लोग हृदयसे सहायता करें तो बादशाह तथा राज्यका प्रबंध ठीक तरहसे हो सकता है और अंग्रेजों- के ऊधमको भी रोका जा सकता है...।'

आगे चलकर बंगालके पदच्युत नवाब 'मीर कासिम' की ओरसे 'तीनों' ने मिलकर बक्सरमें अंग्रेजोंसे भिडन्त की; किन्तु हम पहले बता चुके हैं कि वे सब हार गये। फिर एक बार रूहेलोंकी सहायतासे वजीरने बंगालपर चढाई की। उसमें भी हार हुई; और कहीं अंग्रेज अपना 'अवध- प्रांत' हडप न जाय इस डरसे उसने ५० लाख रुपये देकर अंग्रेजोंसे सुलह कर ली।

सुजाउद्दौलेका बेटा असफउद्दौला अव्यवस्थित तथा दुर्बल होनेसे उसके राज्यका अनुशासन बिगड गया था। तब उसको ठीक करनेके लिए उसने अपने गाँठके खर्चसे एक ब्रिटिश पलटन अंग्रेजोंसे ले ली। फिर उसके खर्चका तकाजा अंग्रेजोंने शुरू किया। उसमेंसे इतिहासप्रसिद्ध 'अवधकी बेगमो' का काण्ड उपस्थित हुआ। आगे चलकर इसी पलटनका रूपांतर लॉर्ड वेल्स्लेकी तैनाती सेनामें और उससे उत्पन्न पराधीनतामें हुआ। और कुछ समयके बाद उस राज्यके मानचित्रपर 'लाल रंग' चढ गया।

मैसूरके सुलतान

सारे मुसलमानी सत्ता कालके (स० १७५० से १८००) आखरी पतनके कालखण्डमें 'हैदरअली तथा टिपू सुलतान' ये दोही मुसलमान शासकोंके नांव चमकते हैं। हैदरअली पंजाबसे मैसूर गया और अपनी क्षमताके बलपर बढते बढते 'मैसूर' राज्यका अधिपति बन गया। उसका शासन मजबूत तथा स्थिर होनेके पहलेही कर्णाटकमें अंग्रेजोंका पौरा बहुत कुछ गढ गया था जिससे उनका स्वर्चस्व पूर्ण रूपेण उखाड फेंकना हैदरअलीके लिए असम्भव हो गया। अलावा इस- के प्रादेशिक राज्यविस्तारकी महत्वाकांक्षाके कारण आस- पासके देशी सत्ताधारियोंके साथ झगडनेमें उसका समय तथा बल खर्च होते रहनेसे अंग्रेजोंके ऊधमकी ओर वह आवश्यक ध्यान न दे सका। कभी कभी उसे अंग्रेजोंके सामने हारना पडा। तथापि पाश्चिमात्योंकी शिक्षित सेना- की पद्धति आत्मसात् कर उसी तरीकेसे अंग्रेजोंका मुकाबला करनेवाला पहला देशी सुलतान 'हैदरअली' ही था। स. १७६७-६९ में अंग्रेजोंको हराकर हैदरने सीधे मद्रासपर चढाई की। तब अंग्रेजोंने युद्धखर्च देकर उससे संधि कर ली। ठंडी हवाके ताकतवर गोरे लोगोंपर गरम हवाके हमारे काले लोगोंने, 'गोवा' (१६८३), 'वसई' (१७३९), 'वडगाँव' (१७७९) जैसी विजयें प्राप्त कीं।

हमारी पराधीनतासे उत्पन्न 'मानसिक दुबलेपन'को दूर करनेके लिये इन विजयोंको हमेशा स्मरण रखना चाहिये। अस्तु। अंग्रेजोंसे दूसरा युद्ध लगभग स. १७८२ में चल रहा था तभी ५० सालकी उम्रमें हैदरअलीकी मृत्यु हुई।

उसके बाद 'टिपू' मैसूरका राजा हुआ। उसने भी युद्ध जारी रखा और 'बेदनूर' जीतकर सभी अंग्रेजोंको कैद किया। और नौ महीने घेरा डालकर 'मंगलूर' भी अंग्रेजोंसे छीन लिया। तब अंग्रेजोंने टिपूसे संधि कर ली। उसमें शर्त थी कि एक दूसरेका प्रदेश एक दूसरोंको लौटा दिया जाय; किन्तु टिपू इस यशकी रक्षा न कर पाया। राजनीतिका लचीलापन तथा ध्येयकी निश्चिति--इन बातोंका टिपूमें अभाव था। टिपू अपनेको निजामसे श्रेष्ठ मानता था। अर्थात् बहादुरीकी दृष्टिसे कुछ हदतक यह सत्य होते हुए भी, निजामका राज्य मैसूरसे पुराना और विस्तारमें भी बडा था, जिससे टिपूका गर्व निजामको खलता था। उसी तरह टिपूकी धर्मान्धतासे पेशवा आदि हिंदू शासक भी उससे नाराज रहते थे। और राज्यविस्तारके कारण तो त्रावणकोरके राजासे लेकर सभी खींचातानी करते थे। त्रावणकोर काण्डके बहाने राजनीतिचतुर अंग्रेजोंने निजाम तथा मराठोंको अपने पक्षमें मिलाकर टिपूसे लोहा लिया जिससे बहादुरीसे लडनेपर भी टिपूकी हार हुई। उस समयकी हानि तथा अपमानको धो डालनेके लिए टिपूने अफगानिस्तानके अमीर तथा मॉरिशसके फ्रान्सीसी गवर्नरसे सहायता प्राप्त करनेके लिये जतन किया। कुछ सैनिक सहायता उनसे मिली थी और अधिकके लिए टिपू इन्तेजार कर रहा था। किन्तु अंग्रेज इसे भाँप गये और उन्होंने ताबडतोब मैसूरपर बडी सेना भेज दी जिसने श्रीरंगपट्टम-टिपूकी राजधानी-को घेर लिया। बडी बहादुरीसे एक महीनेतक टिपूने किलेकी रक्षा की, किन्तु वह स्वयं गोलीका शिकार हुआ और अंग्रेज विजयी हुए।

टिपूकी यह आशा कि 'नेपोलियन' से अधिक सेना तथा समुद्री बेडा आवगा, व्यर्थ हुई। पहले जो कुछ फ्रान्सीसी सेना आयी थी वह भी कहाँतक कामकी कहा नहीं जा सकता। अफगानिस्तानके अमीर 'जमानशाह' से भी टिपूने संबंध जोडा था। इधर टिपूसे अंग्रेजोंका युद्ध छिडतेही 'जमानशाह' का पंजाबपर हमला होनेका संकेत था। किन्तु बना कुछ नहीं। ऐसे भी लगभग स. १७९९ में अंग्रेजोंके हितसंबंध 'पंजाब' तक पहुँचे भी न थे जिससे जमानशाहकी चढाईसे अंग्रेजोंपर कुछ प्रभाव पडता था, टिपूकी अप्रत्यक्ष रूपसे कुछ सहायता होती, सो भी संदेहास्पद है। पडोसके देशी राजाओंसे शत्रुता कर इस तरह बाहरी शासकोंकी सहायतासे 'हिंदी-मुसलमान' अपने राजको जमाना चाहते थे, क्या यह अदूरदर्शिता नहीं थी? गत इतिहासके विश्वासघातके ऐसे उदाहरणोंको उसे न भूलना चाहिये था।

दूसरे, 'बुसी' फ्रान्सीसी सेनापतिके विश्वासघात अनुभव तो बिलकुल ताजा था। अंग्रेज-फ्रान्सीसियोंमें जो विरोध था, उसकी भित्ति भारतीय झगडे नहीं थी; युरोपके झगडोंके कारण वह विरोध था। युरोपमें अंग्रेज और फ्रान्सीसियोंके बीच सुलह हो जानेकी खबर मिलतेही स. १७८४ के युद्धमें टिपूकी सहायताके निकली फ्रान्सीसी सेना पीछे लौट गयी। इससे टिपू कोई पाठ न सीखा। इस तरह राजनैतिक चालोंको न समझनेकी भूलोंके कारण उसकी बहादुरी उसके अपने या इस देशके काम न आयी।

राजनैतिक चिट्ठेका निचोड

ऊपर गिनाये पांच-छः सदियोंतक इस देशपर मुसलमानोंने शासन किया और बडे ऐशआराममें रहे, यह विवादके परे है। किन्तु अबतकके विवेचनसे यह सिद्ध हो चुका है कि हिंदी मुसलमान किसी तरह इस गर्वके हकदार नहीं हैं कि दूसरोंसे वे 'कुछ विशेषता' रखते हैं। बडी बडी विजयें प्राप्त करनेवाले तथा नये राज्योंको खडे करनेवाले कुतुबुद्दीन, बलबन, अल्लाउद्दीन खिलजी, और बहमनी, यूसफ आदिलशाह, कुली कुतुबशाह, मुगल सम्राट् बाबर आदि कई शासक, तथा महंमद गवान, मीरजुमला, मलिक अंबर, सिद्दी याकूतखान आदि कई वजीर तथा सरदार प्रायः विदेशी विजेता मुसलमान थे। उनकी क्षमताका जरासाही हिस्सा आनुवंशिक या धार्मिक एकरूपताके कारण हिंदी मुसलमानोंको हिसाबमें जमा हो सकता है।

उसके बाद उन विदेशी विजेताओंके वंशजोंने या 'मुसलमान' बने उनके शागिर्दोंने तथा धर्मबांधवोंने-अर्थात् 'हिंदुस्तानी मुसलमानों'के करतबको देखा जाय तो

प्राचीन राजाओंसे किसी तरह अधिक, चतुरता, राजनैतिक दूरंदाजी या बहादुरी, नहीं दिखायी, यह बात अबतकके कई मुसलमान राजवंशियोंके उदाहरणोंसे सिद्ध हो चुका है। पुराने राजपूत राजाओंके लचरपन, भोलापन तथा अन्य दोष देशको पराधीन बनानेमें जिस तरह काम आये, वेही दोष ' हिंदी मुसलमानों ' में भी देशकालके हिसाबसे जरासे भेदसे स्पष्ट मालूम हुए जिससे हिंदुस्तानकी रक्षाके वे अयोग्य साबित हुए और अंग्रेजोंके अंकित बने तथा जागतिक चढाऊपरीमें तो बहुतही पिछड गये। स्थान स्थान-पर यह दोषदर्शन हम कर चुके हैं, जिससे फिरसे नहीं दुहराते।

विभाग चौथा

भारतकी देशस्थिति

(११००—१८००)

अबतक तीन विभागोंमें राजनैतिक बनावोंपर- विदेशियोंसे देश-रक्षाके बारेमें — विवेचन किया है। अब उपर्युक्त कालखण्डमें साधारणतया देशस्थिति क्या थी, इसे देखना है। उस समय विद्या तथा कला, व्यापार—उद्योग, धार्मिक तथा सामाजिक हालत, आदि बातोंके विवेचनसेही यह चिट्ठा पूरा हो सकता है।

हाँ, इस बारेमें यथार्थ ज्ञान प्राप्त करनेके पूरे साधन हमारे पास नहीं है। इतिहास ग्रंथोंके बहुतेरे पृष्ठ ' युद्ध-विद्रोह— संधि ' आदि वृत्तान्तोंसेही भरपूर रहते हैं, उनमें कहीं भाग्यसे दो चार पृष्ठ जन-स्थितिके वर्णनपरक मिलते हैं। ' दूधकी प्यास छाछसे बुझा लें। ' इस न्यायसे इन्हीं अधूरे उल्लेखोंके आधारपर यहाँ हम विवेचन करेंगे।

जिस तरह पिछले विभागोंमें कुछ निकषोंको निश्चित कर मुसलमानी शासकोंके कारनामोंको उसपर चढाया उसी तरह साधारण देशस्थितिको भी दो तरहके निकषोंसे ' हिंदी मुसलमान शासकोंकी क्षमताको नाप सकते हैं। वे दो निकष ये हैं :—

(१) पुरानी संस्कृतिकी रक्षा। क्योंकि, उनका जीता हुआ ' हिंदुस्तान ' कोई ' कोरा कागज ' नहीं था।

(२) नयी कमाई और संवर्धन।

अब इन निकषोंपर चढानेके लिये मुख्य मुख्य विषय ये हैं-

(१) विद्या, विद्वान् तथा ग्रंथ
(२) शिल्पकला आदि
(३) व्यापार-धंधे
(४) समाजकी आर्थिक दशा
(५) धार्मिक तथा अन्य बातोंमें नागरिक स्वातंत्र्य।

अब पहले ' विद्या, विद्वान् तथा ग्रंथ ' की ओर मुसलमान सुलतानों तथा मुगल बादशाहोंका क्या रुख था, सो देखें।

पहले निकषके अनुसार बहुतेरे मुसलमान शासकोंने, संस्कृतिकी रक्षा की कौन कहे, जबतक बने ध्वंसही किया है, ऐसा कहना पडता है। इसके प्रमाणस्वरूप श्री मैथिलीकरण गुप्तकी ' भारत–भारती' से निम्नलिखित उद्धरण पेश करते हैं।

(क) ' तबकाते नासरी' में लिखा है कि ' कुतुबुद्दीन ऐबक ' के जमानेमें हिन्दुओंका एक कदीमी किताबखाना, जिसमें बहुत पुस्तकें थीं, जला दिया गया। जब विहार फतह हुआ तब एक लाख सिर्फ ब्राह्मणही कत्ल किये गये।

(ख) प्राचीन ' नालंदा ' और ' बुद्ध गया' के पुस्तकालय स. १२१२ में जला दिये गये।

(ग) फिरोज तुगलकने कोहानेमें बहुत संस्कृत पुस्तकें जलवा डालीं।

(घ) ' सैरमुताखरीन ' से मालूम होता है कि 'औरंगजेब ' जहाँ जो संस्कृत पुस्तक पाता था, जलवा देता था।

ऐसे भयंकर अत्याचार और कहीं हुए होंगे, तथा प्राचीन साहित्यकी कितनी हानि हुई होगी, सो तो प्रभु जाने!

इसके बाद कुछ मुसलमान शासकोंने गुणग्राही वृत्तिसे संस्कृत साहित्यका कुछ सम्मान भी किया है, जिससे उनका जिक्र भी संक्षेपमें यहाँ करना चाहिये।

बंगाल (गौर) के सुलतान हुसेनशाह तथा नसरतशाहने महाभारत तथा भागवत इन संस्कृत ग्रंथोंका अनुवाद प्रांतिक (बंगला) भाषामें करवाया और बंगला साहित्यको उत्तेजन दिया। अकबरके दरबारके ' फैजी ' नामक विद्वान्ने संस्कृत सीखी और उससे काव्यदर्शन तथा बीजगणित आदिका अध्ययन किया तथा 'नल-दमयंती' आख्यानपर फारसीमें कविता रची। इसी तरह ' बदाऊनी ' ने रामायण तथा महाभारतके फारसी अनुवाद किये। शाह-

जादा 'दाराशिकोह' ने उपनिषदोंका फारसी अनुवाद किया। अकबर तथा शाहजहाँके दरबारमें 'गंग' 'जगन्नाथ-पण्डित' जैसे हिन्दु विद्वानोंको सम्मानसे रखा गया था।

काफी मुसलमान शासक 'इतिहास तथा काव्य'में रस लेते थे। साहित्यमें फारसी भाषा तथा ईरानी संस्कृतिका खास प्रभाव था, साथमें रंगीलापन भी बहुत था। सिकंदर लोदीने वैद्यकशास्त्रको उत्तेजन दिया था। औरंगजेबने 'फतवाई-आलमगिरी' नामक कानूनका ग्रंथ बनवाया। फिरभी विज्ञान-विषयका अध्ययन बहुत कम होता था। उस समयके हिन्दुओंने, आवश्यक राजाश्रय न होते हुए भी जो ज्ञान-साधना की उससे कई लोगोंका विचार है कि, राजकीय अधिकार मुसलमानोंके अपने हाथमें रखते हुए भी यदि वे हिंदुशास्त्रों तथा विद्वानोंकी लगनसे सहायता करते तो उनसे पाश्चिमात्योंके साथ टकरा करभी अपना स्थान बनाये रखनेवाली 'प्राच्य' सभ्यताका उदय होकर उसका श्रेय मुसलमानोंको मिल जाता। बगदाद तथा दमिश्कके अरबोंके समान हिन्दी मुसलमानोंने ज्ञानसाधना न की, यह कभी अवश्य खटकती है। 'फेरिस्ता' 'इब्न-बतूता' आदि विदेशी मुसलमानोंको सुलतानोंने अनगिनत दान भलेही किया हो। किन्तु उस 'धनराशी' के साथ इस देशमें निर्मित फारसी साहित्यसे कुछ 'ज्ञान-कण' वे अपने साथ ले जा सके हैं? उसी तरह यहांके विद्वान् मुसलमान परदेश जाकर कुछ सम्मान प्राप्त कर सके हैं ?— ये प्रश्न भी विचारने योग्य हैं।

'समाजसुधारक' कुछ स्वतंत्र प्रतिभावाले मुसलमान कवियोंने फारसीके अलावा, 'खडी बोली' 'व्रज-भाषा' 'अवधी' आदि प्रांतिक बोलियोंमें भी रचनाएँ की हैं। 'अमीर खुसरो,' 'जायसी,' कबीर,' 'रहीम,' 'रसखान' आदि कवि इस बारेमें प्रसिद्ध हैं।

जनताके लिए शिक्षाके प्रबंधके नामपर खासकर मुसलमान बच्चोंके लिए मसजिदोंमें मुल्ला आदि लोगोंकी ओरसे कुछ पढाया जाता था। किन्तु हिन्दू बच्चोंके लिए उतनी भी चिंता, अपने कर्तव्यके भावसे, मुसलमान शासक शायद नहीं करते थे। काशी, उज्जैयिनी, पैठण, विजयनगर आदि स्थानोंमें कुछ महेनतु तथा तीव्र जिज्ञासु 'हिन्दु' विद्यार्थी ज्ञान प्राप्त करते थे। 'विद्यालय' के नामपर कुछ थोडीसी सुविधाएँ 'फिरोज तुगलक' या दक्षिणमें 'महंमद गवान' महमूदशाह बहमनी आदि शासकोंने की थीं। मुहम्मद तुगलक, बाबर, जहांगीर, शाहआलम, अली आदिलशाह आदि कुछ शासक और 'जहानआरा,' 'जेबुन्निसा' जैसी रनवासकी स्त्रियाँ स्वयं विद्वान्, बहुश्रुत, एवं रसिक थीं। उनमेंसे कुछ व्यक्तियोंकी 'आत्मकथाएँ' भी एक विशेष रचनाके नाते मनोरंजक तथा जानकारीसे भरपूर होनेसे इतिहास-लेखकोंकी दृष्टिसे महत्त्वपूर्ण हैं।

शिल्पकला

प्रायः मुसलमान राजकर्ताओंमें शिल्पका चाव काफी था। किन्तु पुरातत्त्व-रक्षा देशकी प्राचीन शिल्पकृतियोंकी रक्षा × के बारेमें सैनिक विजयोंके उन्माद तथा धर्मान्धतासे मुसलमान राज्यकर्ताओंका कलाप्रेम नष्ट-सा हो गया था।

हिंदुस्तानके 'हिंदु-बौद्ध-जैन' आदि सभी लोगोंके लिये शिल्पप्राविण्य, संगीत, नृत्य आदि विविध कलाओंका मुख्य आसरा 'मंदिर' ही होता था। इससे 'मंदिरोंकी तोड-फोडसे' उन कलाओंको अत्यंत हानि पहुँचती थी। विजयनगरके पतनके बाद वहाँके सुंदर मंदिर, मंडप, पुतले आदि चीजोंका मुसलमानोंने विध्वंस किया, वह तो उनकी उज्ज्वल सौंदर्याभिरुचि तथा कलाप्रेमपर हमेशाके लिये कालिख पुती गयी। खासकर अकबर जैसा बादशाह भी इस असभ्य क्रूरतासे न बच सका, यह बडे आश्चर्यकी बात है। चितौड जीतनेके बाद वहाँके हर व्यक्तिका तथा चीजका उसने अविचारसे बेहद नाश किया। युद्धके जोशमें अन-जानमें या अनिवार्य होनेसे नहीं, विजय प्राप्त हो जानेपर यह सब कुछ हुआ! और इसका कारण? यही कि चितौडके राजपूतोंने जयपूरवालोंके समान अकबरके हुंकारके साथही तत्काल आत्मसमर्पण नहीं किया।

हाँ, नयी रचनामें बहुतेरे मुसलमान राजाओंकी भव्य इमारतें आज भी उनका कलाप्रेम प्रदर्शित कर रही हैं। राजधानी 'दिल्ली' होनेसे वहां बहुतेरी रचनाएं हुईं, उसी

× फिर भी विशेषज्ञोंका मत है कि, अप्रत्यक्ष रूपसे जौनपूरके शर्की राजाओंकी इमारतोंमें तथा जहाँगीरकी इमारतोंमें हिंदु शिल्पकलाकी छाप दीख पडती है।

तरह अन्य छोटी रियासतोंमें भी उतनीही सुंदर कई रचनाएँ बनीं। जौनपूर (अवध) गौड (बंगाल), अहमदाबाद (गुजरात) बिजापूर गोलकुण्डा (दक्षिण) आदि स्थानोंके सुलतानोंने भव्य मसजिदें, राजमहल, मकबरे, एवं उद्यान बनवाये थे। दिल्लीकी कुतुबमिनार, जौनपूरकी जामा मसजिद, बीजापूरका गोल घुंबज मकबरा तथा इब्राहीम रोजा आदि रचनाएँ खास प्रसिद्ध हैं। कई राजाओंने नयी सुव्यवस्थित रचाईके बाजार तथा नगर और उनके इर्दगिर्द मजबूत और सुंदर परकोटे, आदि कामोंमें भी ध्यान दिया था। सुलतानी कार्यकालके बाद मुगलोंके समयमें इन कलाओंका अत्यंत उत्कर्ष हुआ। ' सिकरी ' की इमारतें, आगरेका जगद्विख्यात ' ताजमहल ' दिल्लीकी दिवान-ई-आम तथा दीवान-ई-खास देखनेसे उस समयकी कारीगरी की ठीक ठीक कल्पना कर सकते हैं। शहाजहाँका ' मयूरासन ' भी एकतरहकी श्रेष्ठ कलाकृतीका प्रतीक था।

अकबरने ईरानी तथा हिंदी कलाओंके मधुर मिश्रणसे एक मनोहर चित्रण-पद्धतिका आविष्कार किया। जेसूइटोंद्वारा इटलीकी कलाका उपयोग करके उस पद्धतिमें सुधार किया। जहाँगीरके पास ' सर टॉमस रो ' जैसे अंग्रेज वकीलको केवल खुशही नहीं बल्कि थकित कर देनेवाले चित्रकार थे।

राजवैभवको प्रकट करनेवाले इन सुंदर तथा भव्य कामोंको देखकर आँखें ठंडी करनेके बाद उससे प्रभावित न होता हुए उन राजाओंकी प्रजाकी हालतपर भी गौर करना चाहिये। श्री. रॉलिन्सन अपने इतिहासग्रंथमें लिखता हैः- 'जनताको उपयुक्त कामोंके बदले बहुमोल किन्तु अनुपयुक्त इमारतोंपर अनगिनत खर्च होनेसे लोगोंपर विपत्ति आयी। किसानोंकी बैलगाडियाँ जबरदस्ती इन कामोंके लिए मंगवायी जातीं। मजदूरी नाममात्र किन्तु कर भारी लगाये जाते। इन करोंके बोझसे देश मटियामेट हो गया। दण्डके भयसे लोगोंको दूसरोंके लिए मजदूरीके काम करने पडते थे। उनकी बुरी दशाका चित्र खडा करना कठिन कार्य है।' (हिंदी लोगोंका संक्षिप्त मध्ययुगीन इतिहास पृ० ८८)

व्यापारमें धनलाभ हो जाय तो वह भी फर्जी अपराधोंके बहाने छिन जानेका डर रहता था।

संगीत

जौनपूरके इब्राहीमशाह महंमदशाह कश्मीरके जैनुल अबिदीन, विजापूरके इस्माईल आदिलशाहने संगीतको उत्तेजन दिया। ' मुबारक खिलजी ' स्वयं भी नृत्य करता था। अकबर संगीतका शौकीन और ज्ञाता भी था। उसके पास तानसेन गवय्या था जिसने संगीतशास्त्रपर एक ग्रंथ भी लिखा है। शहाजहाँ स्वयं गाता तथा संगीतका शौकीन भी था। हाँ, ' नाटक ' पठनीय या दर्शनीय किसी रूपमें शायद नहीं था। हिंदुगायनका ढंग पिछड गया और मुसलमानी शासकोंको प्रिय ' ख्याल, गजल-कव्वालीका दौरदौरा शुरु हुआ। आज भी प्रायः माना जाता है कि नामवंत गवय्या तो कोई ' खाँसाहब ' होना चाहिये। फिर भी मुसलमानोंने ' रागदारी-ध्रुपद-चौताला ' आदि पुराने ढंगको अपनाया।

व्यापार-उद्योग

प्राकृतिक रूपसे दुनिया भरमें मुख्य धंधा तो खेती है। भिन्न भिन्न वायुमण्डल तथा उपजाऊ भूमिकी अनुकूलताके कारण हिन्दुस्तानमें, खेती ' बहुत और कई तरहसे होती है। सुलतान-शाहोंके समयमें और कुछ उसके बाद भी देशभरमें अशान्ति होनेसे खेतीको हानि पहुँचती थी। अलावा इसके, बादशाही वैभव तथा भव्य इमारतोंके कारण खेतीहरों तथा उनके बैलोंको बडा कष्ट होता था यह हम पहले ' शिल्पकला ' में बता चुके हैं।

' देश-रक्षा ' के बाद अब ' देश-संवर्धन ' पर विचार करें। खेतीके लिये उपयुक्त सिंचाई तथा नहर, तालाब आदि सुविधाओंकी ओर दक्षिणमें बहमनी सुलतानों तथा कुतुबशाहने काफी ध्यान दिया था। फिर उत्तर-भारतमें ' फिरोज तुगलक ' ने कई नहर, कुएँ आदि बनवाये थे। शहाजहाँके कार्यकालका अलीमर्दानकी नहर आज भी प्रसिद्ध है। फिरोजके बनायी कुछ नहरें भी अबतक चालू है।

मुलकी तथा ठीक वसूलीमें पहले अल्लाउद्दीन खिलजी, मुहम्मद तुगलकने नियम बनाये थे किन्तु उनसे जनताको कष्ट हुआ। जमीनकी नाप तथा दर्जा निश्चित करनेके बारेमें ' मुहम्मदगवान ' ' मलिक अंबर ' ' इब्राहीम आदीलशाह ' तथा ' अकबर ' का किया हुआ प्रबंध प्रसिद्ध है।

शान्तिके अभावमें खेतीके समान व्यापारकी हालत भी बिगड गयी। व्यापारके बारेमें मुसलमान राजाओंकी कोई निश्चित नीति न थी, जिससे देशी व्यापारियोंके हाथोंसे इस देशका व्यापार पहले अरब-ईरानी मुसलमानोंके हाथ तथा बादमें पुर्तुगालि आदि युरोपियनोंके हाथमें चला गया। लगभग स. १७०० में इंग्लंडमें हिंदी कपडेके आयातपर रोक लगानेवाले नियम-इंग्लंडके पैदा हुए कपडेकी रक्षाके लिए-लगाये गये। और वेही अंग्रेज हमारे देशमें हिंदी व्यापारियोंको भी न मिलनेवाली सुविधाओंको ऐंठ लेते थे। धर्मके नामपर हिन्दुओंने ' परदेश-गमन ' को निषिद्ध ठहराया, जिससे उनकी विचारगति संकीर्ण बननेसे आर्थिक, धार्मिक, राजनैतिक-हरक्षेत्रमें उनकी हानि हुई । किन्तु यह ' अटककी अटक ' जिनपर लागू न थी, ऐसे उस समयके हिंदी मुसलमानोंने, समझमें नहीं आता कि अपने देशके व्यापार अपने हाथमें क्यों न रखा? इस तरह विदेश-भ्रमणसे प्राप्त ज्ञानसे वे वंचित रहे और अपने राज्य-मदहोंमें मशगूल रहनेसे युरोपियनोंसे हराये गये !

व्यापारके लिये यातायातके साधन देशकी विशालताके हिसाबसे साधारण थे। ' शेरशहा सूर ' ने सोनारगाँव (ढाका) से सिन्धुतक, आगरासे दक्षिणमें बुरहानपुरतक, आगरासे जोधपुरतक सडकें बनवाईं । सडकोंके किनारे कुआँ तथा सरायोंका प्रबंध किया । ' फिरोज तुगलक ' ने नदियोंपर कई स्थानोंमें पुल बनवाये । मुगलोंके समयमें बहुत बडी तथा पक्की सडकें बन गयीं । दीर्घोद्योगी औरंगजेबने सैनिक आवागमनके लिये सडकों तथा सरायोंपर बहुत ध्यान दिया । सिकंदर लोदी, शेरशाह, औरंगजेबने घोडे तथा ऊँटपरसे सरकारी डाक जानेका खास प्रबंध किया । व्यापारी लोग अपनी सुविधा आप कर लेते थे । देशके चोरों तथा हत्यारोंका बंदोबस्त करनेकी ओर शेरशाह, शाहजहाँ आदि ठीक ध्यान देते थे ।

मुसलमान सुलतानोंकी ऐयाशीके कारण देशकी कई कलाओं तथा धंधोंको उत्तेजन मिलता था । कश्मीरमें शाल, अमदाबाद-खंबायतमें रेशमी कामदार तथा किनखाबी कपडा, बोरघाट (बंगाल) में रेशम, सोनारगाँव (ढाका) में मलमल, उसी तरह मुलम्मा चढानेका काम, पत्थर तथा धातुपर नक्काशी और पच्चीकारीका काम आदि कई उद्योग बहुत अच्छी तरह चलते थे । इमारतोंकी रचाईके कारण कारिगरोंको काम मिलता रहता था । यहाँकी कलापूर्ण वस्तुएँ उस समय तो युरोपीय चीजोंसेभी ऊंचे दर्जे की थीं ।

आर्थिक स्थिति

प्राचीन हिन्दु राजाओंकी असावधानता तथा अंत.कलहके कारण विदेशी मुसलमान राजा यहाँसे अनगिनत संपत्ति ले गये । उसी तरह मुसलमानोंके कार्यकालमें भी तैमूर-नादिरशाह अब्दालीने लूटमार कर इस देशको कंगाल बनाया। मुसलमान बादशाहोंकी विशाल सेना ऐश तथा इमारतोंके लिये भी प्रजाका द्रव्य शोषण किया जाता था । विदेशी मुसलमान शाहजादों, विद्वानों तथा बेकारोंको आसरा देनेमें भी देशकी संपत्ति खर्च होती थी और व्यापारद्वारा विदेशसे आनेवाली आमदनीकी कूँजी अरब-ईरानी-युरोपियन आदि विदेशियोंके हाथमें थी ।

बादशाही महसूल तथा तोशाखानेके हीरे-रत्नोंके ढेर और अमीर-उमरोंकी सब तरहसे मौज इससे जनताकी याली हालतका अंदाजा लगानेमें बडी भूल होगी । बहमनी राज्यके बारेमें रूसी यात्री ' निटिकन ' कहता है—

"सरदार लोग चांदीके पालकियोंमें जाते हैं, किन्तु आम जनता गरीबीसे इतनी सताई गयी है कि उनके डीलपर पूरा कपडा भी नहीं मिलता । बडे बडे पदोंपर मुसलमानही नियुक्त होते हैं । " अल्लाउद्दीन खिलजी साफ कहता है- 'जबतक हिंदुओंके पास पैसा है, तबतक वे कभी नहीं झुकेंगे। इसलिये उन्हें सिर उठानेकी इच्छातक न हो, इसलिये हिंदुओंके लिये हमेशा आजीविका प्राप्त करनेमें अडचनें पैदा करनेकी आज्ञाएँ मैं दिया करता हूं ।' सोलहवी सदीके सुप्रसिद्ध कविश्रेष्ठ तुलसीदासजी कहते हैं—

बनिनको बनिज, न चाकर को चाकरी ।
साँकरें सबै पै रामरावरे कृपा करी ।
दारिद्र-दसानन दबाई दुनी, दीनबंधु ।
दुरित-दहन देखि ' तुलसी ' हहा करी ।

ऐसे उल्लेख भी मिलते हैं कि किसी किसी समय बादशाह लगानमें रियायत, अकालग्रस्तोंको पैसोंकी सहायता तथा दालरोटी दिया करते थे । किन्तु इससे आम जनताकी दरिद्रता हमेशाके लिये कैसे मिट सकती है ?

धार्मिक स्वातंत्र्य

आजके ' नागरिक स्वातंत्र्य ' की गुंजाइश उस समयके ' धार्मिक-स्वातंत्र्य ' में हो सकती है। एक समय अल्ला-उद्दीनके सवालके जवाबमें काजी कहता है— " हिंदुओंका काम कर देना है। सरकारी अधिकारीके कहने भरमें उसकी थूक झीलनेके लिये हिंदू झट मुँह बाये खडा हो जाय। अन्य धर्मियोंको नीच समझना—हमारे धर्मकी यह नसियत है। " जहाँ राज्यकर्ताओंको ऐसे विचार हों, वहाँ हिंदुजनताको व्यक्तिस्वातंत्र्य या न्यायकी क्या आशा हो सकती है ? मुसलमानोंके बारेमें भी दीख पडता है कि कई बार राज्य का एक उत्तराधिकारी दूसरे उत्तराधिकारीसे, या एक व्यक्ति अपने विपक्षियोंसे अन्याय तथा निठुरतासे पेश आता था।

स्त्रियोंके बारेमें तो कई मुसलमानोंकी विचारगति अत्यंत संकीर्ण तथा निंदनीय होती थी। चितौडकी ' पद्मिनी ' को प्राप्त करनेके लिए अल्लाउद्दीनने चढाई की थी, यह तो प्रसिद्धही है। गुजरातकी राजकन्या 'देवलदेवी' को रास्तेमें पकड कर अल्लाउद्दीनके बेटे ' खिजरखान,' उसके बाद उसकी आँखे फोडकर ' मुबारक ' एवं उसे मारकर ' खुसरो ' ये तीन शासक अपने रनवासमें रखते हैं, यह दृश्य कितना हेय है ! मालवाके सुलतान ' बाजबहादुर ' पर अकबरके एक मुसलमान सरदारने चढाई कर उसके हरमको कैद कर उससे एक स्त्रीको उडाना चाहा, जिससे उसने आत्महत्या कर ली : यह बात अकबरसे जाहिर न हो, इसलिये उस दुष्टने सभी स्त्रियोंको कत्ल कर दिया !!

सुलतानोंके शासनमें हिंदुओंको धार्मिक स्वतंत्रता देनेवाला तथा पुराने जुल्मोंको धो आनेवाला केवल एकही नाम लिया जा सकता है और वह था ' कश्मीर ' का अबिदीन ! उसने सुलतानोंसे गिराये हुए मंदिर फिरसे बंधवाये, ब्राह्मणोंको अपने धर्मकृत्य करनेकी इजाजत दी और अन्य अन्याय्य कानूनोंको रद्द कर दिया- बडी अच्छी बात है। फिरोज तुगलक अपनी रियायाका हितकर्ता था, किन्तु केवल उन्हींका जब हिंदु ' मुसलमान ' बन जाय। किन्तु उसने भी हिंदुओंको जोरसे मंत्र बोलने तथा घंटा बजाकर मंदिरमें पूजा करना मना कर दिया था। शिया मुसलमानोंको भी उसने अपने मतका प्रचार नहीं करने दिया और उनके ग्रंथ भी जला दिये ! ' कबीर ' जैसे रामानंदके शिष्य मुसलमान महात्माके उदार सिद्धांतोंका प्रचार ' सिकंदर लोदी ' सहन न कर सका; उसने कबीरको काशीसे सीमा पार कर दिया। मथुराकी यमुनामें स्नान करना हिंदुओंको मना किया गया था।

दक्षिणके मुसलमान सुलतान भी इसी खयालके थे, यह बात रामदास, एकनाथ आदि संतोंके साहित्यसे मालूम हो जाती है। यह भी स्पष्ट है कि यदि 'शिवाजी' धर्म-निरपेक्ष महत्त्वाकांक्षाकी सिद्धिके लिए काम करता तो उसे राजनैतिक अधिकारोंके बारेमें अज्ञानी तथा बेफिक्र हिंदुओंसे अच्छा सहाय मिलना दूभर हो जाता।

बाबर तथा अकबर बेशक हिंदुओंको धार्मिक विषयमें इतना नहीं सताते थे। ' गौवधसे दूर रहो, अन्यधर्मियोंके मंदिर न ढहाओ- ' बाबरने हुमायूँको दिया हुआ यह उपदेश उसकी चतुरताको शोभा देता है। किन्तु शाहजहाँने काशीके ७६ मंदिर ढहानेकी आज्ञा दी थी (स. १६६२)। औरंगजेबने तो कमाल कर दिखाया। हिन्दुओंको हाथी या घोडेपर चढनेकी मनाही की × और शस्त्र रखनेकी भी मनाही की ! हिन्दुओंकी पाठशालाएँ तथा धार्मिक कथा-कीर्तन बंद कर दिया ! हिंदु-मुस्लिम एकताके लिए प्रस्थापित गुरु नानकके शान्त सिक्ख अनुयायी भी ऐसे अत्याचारोंसे कट्टर लडाकू बन गये। ' सरहिंद 'के मुगल सुबेदार वजीरखानने गुरु गोविंदसिंहके दो छोटी उम्रवाले बच्चोंको पकड कर आज्ञा दी की ' मुसलमान बनो या कत्ल हो जाओगे।' उनके इनकार करनेपर उन्हें दीवारमें क्रूरतासे चुनवा कर मार डाला ! धन्य हैं वे गुरुपुत्र जिन वीरोंने गीतापाठ करते हुए शान्तिसे मौतका स्वागत किया ! ' जजिया ' कर हिंदुओंके राष्ट्रीय तथा धार्मिक अपमानका सिक्का था। आमदनी बढानेकी दृष्टिसे इसके अलावा 'हिन्दु व्यापारियों ' पर मुसलमानोंसे बढकर चुंगी ली जाती थी, सो अलग।

हरिद्वार जैसे तीर्थक्षेत्रमें केवल नहानेके लिए हर हिन्दुको छः रुपये कर देना पडता था। बादशाही सेनामें नौकरी करनेवाले राजपूतोंसे भी ' जजिया ' वसूल करनेको औरंगजेबने आज्ञा दी थी।

× स्व. डॉ. बालकृष्ण कृत ' भारतीय संक्षिप्त इतिहास पृ० ११३ '

न्याय

व्यक्ति-व्यक्तिके झगडेका फैसला 'औरंगजेब' भी योग्य दिया करता था। दिल्ली, जौनपुर, गोलकुण्डा आदि कई स्थानोंके सुलतान योग्य न्याय मिलनेके बारेमें ध्यान देते थे। 'न्यायाध्यक्ष' काजी होता था। किंतु इस सारी सुविधाका लाभ राजधानीमें तथा उसके आसपास रहनेवालों तथा गांवोंके खास कर मुसलमानोंको मिलता था। हिंदुओंके बारेमें उनकी पुरानी ग्राम-पंचायतही न्यायदान करती थी। एकाध बार सुलतान या छोटे बडे अधिकारी हिंदुओंको न्याय देनेकी कोशिश करते। हिंदुधर्मशास्त्रके नियमोंका उपयोग नहीं किया जाता था; वह धर्मबाह्य भी तो था! लोग आपसमें संपत्तिका वारिस मुकर्रर करने आदि बातोंमें, अधिकसे अधिक, चौरीसे हिंदू कानूनोंका उपयोग कर लेते थे। आगे चलकर अकबरने 'मनुस्मृति' के आधारपर हिंदु अपराधियोंको दण्ड देनेकी पद्धति शुरू की।

सुलतानी कार्यकालमें उन्होंने देशके लिये क्या किया, इसका संतोषजनक उत्तर नहीं मिलता। उनके मनमें कभी यह भावनाही नहीं थी कि हिन्दु जनताके बारेमें उनका कुछ कर्तव्य है, न उनमें अपनी राजसत्ताको स्थिर करनेके लिये आवश्यक, दूरंदाजी थी। बिना प्रांताधिकारियोंकी राजनिष्ठाके और शासककी क्षमताके दूसरा कोई बंधन राजसत्ताको बनाये रखनेके लिये न था। सुलतानोंका शासन अनियंत्रित था। नियंत्रणके नामपर यही डर था कि किसी दिन खून होगा या विद्रोह होगा। सुलतानी सनकपर जनताका सुखदुःख अवलंबित था, जिससे राज्यप्रबंध कभी सुखदायक तो कभी कष्टप्रद होता था। सैनिक शक्तिसे सब कुछ होता था। मुगल बादशाहत भी सैनिक ढंगकी तथा कुछ अनियंत्रितसी थी। फिर भी यह तो कहना पडेगा कि मुगलोंने अपनी राज्यपद्धति व्यवस्थित तथा सुसूत्र बनानेकी ओर बहुत ध्यान दिया था। इस बारेमें अकबरका नाम चिरस्मरणीय हो गया है।

इस चिट्ठेके चौथे विभागके विवेचनसे सुलतानी कार्यकालमें देशकी हालतके बारेमें पाठक अंदाजा लगा सकते हैं। उनमेंसे खराब बातोंके लिए समझदार तथा नये विचार के मुसलमानोंको खेद भी होगा। हाँ, उन कलंकरूप बातोंके बारेमें उनको चाहिये कि वे न सत्यको छिपाये, न उसपर समर्थन करें। कई मुसलमान मानते हैं कि हिन्दुओंके साथ युरोपीय भी 'मुसलमान शासकों' पर जुल्म और अत्याचारका व्यर्थ अभियोग लगाकर उनके नामपर कलंक लगाते हैं! 'सर शफत अहमदखान' का उदाहरण लीजिये। अपनी 'ए स्कूल हिस्टरी ऑफ इंडिया' में सुलतानी कार्यकालके अमन-चैनके बारेमें यों लिखते हैं—

"सुलतानोंके कार्यकालको सरसरी दृष्टिसे देखनेपर मालूम होगा कि जितना उसे काला चितारनेका जतन किया जाता है उतना वह खराब नहीं था। सुलतानोंने राज्यप्रबंधको ठीक किया, सडकें बनायीं, जीवनकी अन्य सुखसुविधाओंको जुटाया, सभ्यताको बढावा दिया, कलाको उत्तेजन दिया, व्यापारको बढाया और देशमें शान्ति स्थापित की। यह सच है कि राजनैतिक शक्तिकी दृष्टिसे हिन्दुत्वको योग्य स्थान नहीं दिया गया था, किन्तु हिन्दुधर्मने अपना तेज बनाए रखा था; बल्कि उसे और बल प्राप्त हुआ था, यह कई सुधारवादियोंके ग्रंथोंसे स्पष्ट हो जाता है। हिन्दी सभ्यताको, थोडे समयके लिए रुकावट होनेपर भी मुस्लीमोंकी ओरसे काफी उत्तेजन मिलता रहता था।"

(पृ० १५३-१५४)

तीन सौ वर्षोंके दीर्घ कालखण्डमें छोटे बडे सुलतानोंने दो चार भी अच्छे काम न किये हों, यह कैसे हो सकता है? किन्तु उनका औसत-फल क्या था, इसपर अपना मत स्थिर करना चाहिये। प्रचलित ऐतिहासिक ग्रंथोंमें यदि असत्य या विपरीत बातें हों, तो प्रमाणोंके बलपर उनका खण्डन करनेके बाद सुलतानोंकी प्रशंसा करनेमें कोई हर्ज नहीं है। सबसे अच्छी बात यही होगी कि इतिहासके कथनमें कोई भी जानबूझकर गहरा या फीका रंग भरनेकी कोशिश न करे। हमारे मतसे, 'सुलतानी कार्यकाल' को यदि शान्ति-स्थापनाका प्रमाणपत्र दिया जाय, तो पहले 'शान्ति' शब्दका कोई नया अर्थ गढना चाहिये; या तो उस समयकी 'लूट-मार-आग-कत्ल' आदि घोर प्रसंगोंके वर्णनोंके सैंकडों पृष्ठ नष्ट करने चाहिये। सर शफत तो सुलतानोंके समयके 'चैतन्य, वल्लभाचार्य, रामानंद, विद्यापति' आदि संतोंका अस्पष्ट उल्लेख कर उनके किये जागरण तथा समाजसुधारका यश उन सुलतानोंको देना चाहते हैं; ऐतिहास दृष्टिसे यह गलत है। इन संतोंका कार्य सुलतानोंसे

बढावा मिलनेसे नहीं, प्रत्युत आत्मस्फूर्तिसे या विदेशी आक्रमणोंके चपेटे खाकर प्राप्त नयी दृष्टिके कारण होता था।

श्री सय्यद अमीनने मराठीमें प्रसिद्ध 'ऐतिहासिक प्रसिद्ध हिन्दी मुसलमान ' इस अभिनव ग्रंथमें प्रसिद्ध सात मुसलमान राजाओंकी जीवनियाँ दी हैं। ऐसे तो उनका दृष्टिकोण नवीन युगसे मेल खाता है। किन्तु उन्होंने एक स्थानपर लीपा-पोतीका प्रयत्न किया है। ' टिपू सुलतान ' की जीवनीमें आपने लिखा है-

" . उपर्युक्त विवेचनसे यह सिद्ध होता है कि विधर्मियोंसे टिपू सुलतानके संबंध कितने आदरभाव तथा सहिष्णुताके थे। खासकर पाश्चिमात्य ग्रंथकारोंने जो ढिंढोरा पीटा है कि टिपू हिंदुओंका द्वेषी था, कितना सफेद झूठ है, यह भी स्पष्ट हो जाता है।"

उपर्युक्त विवेचन का मतलब यही कि शृंगेरीके शंकराचार्य तथा अन्य हिंदु साधुओं और ब्राह्मणोंको टिपूने दान किया था। इससे श्री. अमीन सिद्ध करना चाहते हैं कि ' टिपू सुलतान ' हिंदुओंसे द्वेष नहीं करता था। यदि उनके कथनानुसार ' सहिष्णुता तथा आदरसे ये दान दिये गये हों तो उससे टिपूकी उदारताका बेशक परिचय मिल जाता है। किन्तु जब कि टिपू स्वयं अपने पत्रमें कहता है- ' हमारे शत्रुओंका नाश हो इसलिए तुम देवीको अभिषेक कर हमारे उत्कर्षकी कामना करो ' तब तो टिपूका स्वार्थी उद्देश्य स्पष्ट हो जाता है कि इन दानोंसे वह ऐसे अनुष्ठान करवाना चाहता था जिससे उसके संकट दूर हो जायँ ! संकटके समय हमेशासे अधिक कोमल, उदार और ईश्वर-भक्त बनना तो मनुष्यका स्वभावही है। इससे उसके सच्चे स्वभाव तथा बरतावका ठीक अनुमान नहीं लगाया जा सकता। इससे तो एक निःपक्षपाती लेखकका कर्तव्य हो जाता है कि टिपूपर लगाये जानेवाले ' हिंदुद्वेष ' तथा अत्याचारोंके अभियोगोंको, जो कई लोगोंसे लगाये गये हैं, जानबूझकर दर्ज करके, ऐतिहासिक खतपत्र तथा बखर आदि साधनोंके बलपर, उनका प्रमाण देकर खण्डन करे।

सत्यकी खोजकी दृष्टिसे मुसलमान लेखकोंकी यह लिपा-पोती अयोग्य होनेपर भी उसमें हिन्दु-मुस्लीम एकता तथा राष्ट्रीय एकताके लिए जो लगन दिखाई पडती है, वह अवश्य स्वागतके योग्य है। पिछली बातोंको फिर फिरसे आगे धरकर दूसरोंको दोषी ठहरानेके लिए इतिहासका अध्ययन नहीं होता। वह तो पिछली भूलोंको न दुहरानेकी सावधानी रखनेके लिएही करना योग्य है। खैर।

गत छः सदियोंके हिंदी मुसलमानोंके कारनामोंका चिट्ठा बनानेका संकल्पित कार्य पूरा हो चुका है। इससे क्या सिद्ध हुआ ? यही कि अन्य समाजोंको तुच्छ समझकर अपनी श्रेष्ठता (क्षमताके बारेमें) पर गर्व करने योग्य कोई पूंजी मुसलमानोंके गाँठमें नही बची है और उनका व्यापार ऐसे तो बेखबरदारीवाला तथा नुकसानदेह होनेसे उनकी पेढी अन्य लोगोंके समानही धूर्त ' अंग्रेज कंपनी ' के हाथ बिकी है और उन्हें अपने टेंटको खोलकर गुजारा करना पडता है ! इसलिए आगे चलकर तो कमसे कम एकाध ' तेजी ' का मौका हथिया कर नये ढंगसे धंधा चलानेमें अन्य देशबांधवोंकी सहायता करनाही उनके लाभमें होगा।

मुस्लीम लीगका स्वतंत्र राष्ट्रीयत्व !!!

मुस्लीम लीग सभी मुसलमानोंकी एकमेव प्रतिनिधि-संस्था तो है नहीं। कुछ थोडेसे मुसलमान लीगमें हैं जहाँ लीगके बाहर मुसलमानोंकी काफी बडी संख्या है। और वे राष्ट्रीय विचारोंके होनेसे लीगकी योजनासे बिलकुल सहमत नहीं है। लीगवालोंने, कई वर्षोंसे, अपनी भिन्नताको स्पष्ट करनेके लिए तरह तरहकी तरकीबें और चालें जारी की हैं। इनमेंसे कई तो उन्हींको संकटमें फंसाती हैं, फिर भी उनकी ये योजनाएं सुचारु रूपसे कई वर्षोंसे बन रही हैं, इसलिए उनमेंसे कुछ योजनाओंपर यहा विचार करेंगे।

मस्जिद और बाजा

मुसलमानोंका हठ है कि हिंदुओंका कोई भी जुलूस बाजोंके साथ मसजिदके सामनेसे न जाने दिया जाय। इस बातपर उन्होंने कई स्थानोंमें दंगे किये हैं। मसजिदके सामने गधे रेंकें, मोटरके भोंपू बजें, मेघोंका गर्जन हो तो उनको तकलीफ नहीं होती। किंतु हां, हिंदुओंके हलके और मधुर बाजे कभी न बजने चाहिये। और, इसके लिये उनके शरिअतमें कुछ प्रमाण हैं? अरे, रामराम भजो! उलटे, इनके ग्रंथोंसे पता चलता है कि पूज्य मुहम्मद पैगंबरके समय, स्वयं उन्होंने अन्य धर्मीयोंकी मण्डलीको बुलाकर मसजिदोंहीमें बाजोंके साथ उनके भजन गवाये थे। कोई भी मुस्लीम इससे इनकार नहीं कर सकता। मसजिदके बाहरही नहीं प्रत्युत मसजिदके अंदर भी बाजोंके साथ भजन गाये जायें और वेभी विधर्मियों-द्वारा गाये जायँ तोभी मुस्लीमोंके पैगंबरको उससे तकलीफ न हुई। किंतु, आज, उसी पैगंबरके अनुयायियोंकी मसजिदके सामनेसे, राजपदसे, बाजोंके साथ गुजरनेवाला जुलूस अखरता है, उनका माथा ठनकता है। स्पष्ट है, कि यह धार्मिक झगडा नहीं है, उनकी अधिकार-लालसाने यह झगडा मचाया है।

क्या, कोई मुस्लीम लीगवाला प्रमाणित कर सकता है, कि उसके पूज्य पैगंबरने जो किया वह ठीक नहीं था और वह स्वयं आज जो कर रहा है वह, पूज्य पैगंबरके आचरणके विरुद्ध होते हुए भी, ठीक है? असलमें मुसलमानोंका यह हठ है कि इस देशमें वही हो जो वे चाहें, धर्म से इसका कोई वास्ता नहीं है। इससे, स्पष्ट है कि ये झगडे धार्मिक नहीं हैं।

उर्दू भाषा

उर्दूके बारेमें उनका हठ भी इसी ढंगका है। भारतके बहुतेरे मुसलमान कुछही पीढियोंके पहले हिंदूही थे। शायद कोई तुर्किस्तानसे आया हो! आजकी हालत देखें तो मालूम होगा कि पंजाबके मुसलमान उर्दू नहीं, पंजाबी बोलते हैं। उसीतरह युक्तप्रांत बिहारके मुसलमान **हिंदी** या व्रज भाषा बोलते हैं। बंगालके मुसलमान संस्कृत-बहुल **'बांगला'** बोलते हैं। गुजरात काठियावाडके मुसलमान **गुजरातीही** बोलते हैं, यहांतक कि उनका हिसाब किताब गुजराती लिपिमें और गुजराती भाषामें लिखा होता है। उर्दूमें यदि वह काम वे करना चाहें तो असम्भव है। इसीतरह महाराष्ट्र, कन्नड, तामिलनाड, आंध्र, उत्कल, आसाम तथा केरल प्रांतके मुसल-मान उन उन प्रांतोंकी क्रमसे, कन्नडी, तामिळ, तेलुगु, उडिया, असमिया एवं मलयालम भाषाएं बोलते हैं, सिंधमें सिंधी और कुछ लोग उर्दू बोलते हैं। सीमाप्रांतमें पश्तोमें व्यवहार होता है। मतलब, किसी भी प्रांतमें उर्दू आम जनताकी भाषा नहीं है। किसी प्रांतमें जाइये, मालूम होगा कि उस प्रांतके मुसलमान अपने घरोंमें उस प्रांतकी प्रांतीय भाषा बोलते हैं। खास उर्दूमें उनके व्यवहार चलही नहीं सकते। हर प्रांतमें यही पाया जायगा।

इससे स्पष्ट होगा कि कुछ शिक्षितोंको छोडकर आम जनताकी दृष्टिसे देखा जाय तो मालूम होगा कि हर प्रांतमें वहाँके मुसल-मान उस प्रांतकी बोली बोलते रहे हैं और उनकी अलग उर्दू भाषा वहाँ प्रचलित होना या करना बिलकुल असम्भव है। फिरभी उनका हठ उर्दूको सब प्रांतोंकी भाषा बनाना है। यह हठ उनकी भी हानि करेगा, अब भी उन्हें उससे कष्ट होताही है।

हिंदुस्थानके सभी प्रांतोंकी आजकी प्रचलित भाषाओं तथा बोलीओं देखनेसे पता चलेगा कि संस्कृतके शब्दोंहीसे वे पुष्ट होती हैं। भारत भरमें एकभी ऐसी देशी भाषा नहीं बताई जा सकती जो अपना संबंध संस्कृत छोड किसी अन्य भाषासे बता सके।

पंजाबी (गुरुमुखी), बांगला, मराठी, कन्नड, तेलुगु तो संस्कृतमयी हैं जिससे उनका गाढा संबंध दिख पडता है। पश्तो, मल्यालम, असमिया, गुजराती, सिंधी, कश्मीरी गोर खाली, उडिया, हिंदी, बिहारी (मैथिली) ये भाषाएं भी संस्कृतहीसे संबंधित हैं। तमिलकी भित्ती भी संस्कृत ही है।

इसतरह प्राकृतिक संबंध होते हुए भी मुसलमानोंने अलीगढ तथा हैदराबादमें नये विद्यापीठ बसा कर अरबी तथा फारसी शब्दोंसे लदी उर्दू भाषाको बढाया और वही अपनी भाषा होनेका हठाग्रह शुरु किया, यह नया उद्यम वे जानबूझकर कर रहे है और इसका हेतु अपनी अलग * हस्तीको सिद्ध करना है। अपनेको एक अलग राष्ट्र मानकर उसे सिद्ध करनेके लिये यह धींगाधींगी हो रही है। किन्तु उनका यह दावा निस्संदेह कृत्रिम है।

जिस समय ये आजके मुसलमानोंके पुरखा हिंदु थे तब वे प्रांतिक भाषाही बोलते थे। और वेही प्रांतिक भाषाएं आज भी बोली जाती है। ध्यान रहे कि ये सारी बोलिया संस्कृतपरही आधारित है जो बिलकुल प्राकृतिक है। किन्तु जो बात बिलकुल सीधी और प्राकृतिक है उसे यदि मान लें तो फिर अपनी खिचडी अलग पकानेके कोई बहाना मुसलमानोंके पास नहीं रह जाता; इसीसे उर्दू भाषाको एक नया रूप देनेकी चेष्टायें दृढ निश्चयसेही रही हैं।

मुसलमानी बादशाह यहा रहे और उससे फारसी तथा उर्दूको खास खास स्थानोंमें प्रधानता प्रदान की गयी; सो तो ठीक हुआ। **किन्तु यह प्रधानता केवल दरबारमें थी; यह फारसी या उर्दू कभी हमारे चूल्हेतक पहुँचकर बोली न बनने पाई;** इस बातपर हमें सबका ध्यान आकर्षित करना है। इस स्थापनाकी स्पष्टताके लिये एक उदाहरण पेश करते हैं जो प्रत्यक्ष हमारे सामने है।

इसाईयोंको देखो

कुछ इसाईयोंने अपने घरोंमें अंग्रेजीमें बोलनेकी आदत डाली और **आज अंग्रेजी को राजनैतिक बल प्राप्त है।** जिससे कुछ हिन्दु भी अपनी चिट्ठी पत्री अंग्रेजीमें लिखने लगे हैं। और तो और, अपने आपको स्वतंत्र माननेवाले नरेश भी अपनी रियासतके आज्ञापत्र अंग्रेजीमें लिखवाते हैं और उनके अफसर भी रोमन लिपिमें हस्ताक्षर करते हैं। **फिर भी किसी प्रांतकी बोली अंग्रेजी नहीं बनी है।** देशी ईसाई अपने गांवके लागोंके साथ देशी भाषाहीमें बोलते हैं और उसीसे व्यवहारके काम करते हैं। उन्हें ऐसा करनाही पडता है। देशी बोलीकी उपयोग न करें तो आये दिनकी अपनी सुविधाओंको वे गवां बैठेंगे।

मान लीजिये, भारतके दुर्भाग्यसे इन ईसाई भाईयोंमें एकाध 'झीणा' टपक पडे और कहने लगे कि, 'हमारा एक अलग राष्ट्रीयत्व है' हमारी जबान अंग्रेजी है, हमरा महजब ईसाई धर्म है, हमारा वेश गोरोंका – सा है, हमारे रीति-रिवाज भिन्न है– इन कारणोंसे 'हमे, एक अलग राष्ट्र मानना चाहिये' और वह ईसाई झीणाइसे सिद्ध करनेके लिये मारपीट, दंगा फसाद कर ऐवं अडंगा लगावे तो क्या हिंदी ईसाईयोंकी भाषा अंग्रेजी मानी जाय ? और उनके साथ आम हिन्दुजनतासे सुलह करनेके लिये क्या, अंग्रेजी – मिश्रित देशी भाषाको आम लोगोंकी बोली बना दी जा सकती है ?

सौभाग्यसे देशी ईसाई लोगोंमें मुसलमानोंके हठाग्रहने अबतक प्रवेश नहीं पाया है – अच्छी बात है। भारतका सौभाग्य है। किन्तु कुछ मुसलमान लीगके सहारे जिन हेतु बडा ओंको प्रकट कर रहे है, वे सभी हेतु देशी ईसाईयोंमें पाये जाते हैं। हॉं, उनकी जनसंख्या कम है। **भाषा, धर्म, रीत-रिवाज, रहन-सहन, पुण्य-स्थान—इन सब बातोंमें ईसाई तथा मुसलमान लगभग एक जैसे हैं।** ईसाईयोंकी कुल जनसंख्या मुसलमानोंसे कम है और उपर्युक्त बातोंपर झगडा मचानेकी मनषा भी कम है।

मुसलमान तथा ईसाईकी तुलना यहापर मनोरंजक होगी.

विषय	मुसलमान	ईसाई
जन्मबोली	प्रांतिक बोली	प्रांतिक बोली
उनकी मानी हुई व्यवहार – भाषा	उर्दू	अंग्रेजी
धर्म	इस्लाम	ईसाई
रिवाज	इस्लामी	,,
टोपी	तुर्की फौज	गोरोंकी हॅट
वेष	पाजामा	पतलून
पुण्य-स्थान	मक्का	जेरुसलेम
मंदिर	मसजिद	गिरजाघर

इन दोनों लोगोंका रुझान धर्मांतर होनेसे विदेशी ढंगका है। तो भी ईसाई हिंदुराष्ट्रसे अपना संबंध, कायम रखना चाहते है, जहां ' लीग ' - वाले अपने आपको अलग राष्ट्र-के होनेका दिखावा कर रहे है। जिसतरह ईसाई लोगोंकी भाषा – ईंग्रेजी नहीं है उसीतरह मुसलमानोंकी बोली या भाषाभी उर्दू नहीं है। जिसतरह आज अंग्रेजी सरकारी भाषा है; उर्दूको यह सम्मान भी प्राप्त नहीं था। बादशाहोंके समय सरकारी भाषा फारसी थी तथा हिंदवी थी। और आज अंग्रेज उर्दूको कहीं कहीं सरकारी कामके उपयुक्त समझती है। किन्तु ध्यान रहे, उर्दू न किसी प्रांतकी भाषा बन सकी है न किसी जातीकी बोली – (मातृभाषा)। यद्यपि शिक्षित मुसलमानों-ने उनकी शिष्टभाषा अतीव कृत्रिमतासे अरबी मिश्रीत उर्दू बनायी है तो भी वह अबतक उनके रसोईघरमें आसन नहीं जमा सकी है।

प्रत्यक्ष स्थिति इसप्रकार होते हुए भी मुस्लीम लीगने ' फारसी अरबीसे बोझिल बनी उर्दूही उनकी भाषा होनेकी पुकार मचाना शुरू किया और राष्ट्रीयमहासभाने उनका विश्वास कर हिंदुस्तानीको राष्ट्रभाषा करार दिया और हिंदीमें उर्दूके शब्द मिलाना प्रारंभ कर दिया और हिंदुस्तानीही राष्ट्रभाषा होनेका डंका पीटा है।

आज किसी प्रांतमें कोई न्यायी जन जाय और देखे तो उसे मालूम होगा कि हिंदु-मुसलमानोंकी एकही बोली प्रांतभर मे होती है। क्योंकि, उसी स्थानके लोग धर्मांतरसे भिन्न धर्मी बने हुए हैं जिससे उनकी भाषा भिन्न होनेकी सम्भा-वना नहीं है, राष्ट्रीय महासभाको इस सत्यको देखना चाहिये था। यदि इसे वह जानती तो कदापि हिंदुस्तानीको राष्ट्रभाषा न कहती।

ईसाई लोग मुसलमानों जैसी तिकड़म् मचाएं तो उनसे समझौता करनेके लिये भी हिंदुस्तानीमें अंग्रेजी शब्दोंको मिलाना पडेगा और रोमन लिपिको राष्ट्रभाषाकी तीसरी लिपि मानना पडेगा ? ऐसा कभी दुनियामें किसीने किया नहीं है और कोई सज्जन करेगा भी नहीं। समझौतेके नामपर हिंदी भाषामें अंग्रेजी शब्दोंको मिला देना जिसतरह मूर्खता होगी उसी-तरह हिंदीमें अरबी – फारसी शब्दोंको घोल देना मूर्खता है। दोनोंकी गत बिलकुल एक – सी है। भेद इतनाही है कि लीगने हठाग्रह शुरू किया है और ईसाइयोंकी अक्ल अबतक ठिकाने होनेसे उन्होंने हठाग्रह नहीं किया है।

कुछ लोग, जो वस्तुस्थितिसे अनजान है, कहेंगे कि उत्तर-भारतके कई परिवारोंमें यह उर्दू चल पडी है। ऐसे सज्जनोंको हम बताना चाहते है कि कुछ शिक्षितोंमें ऐसी बोझिल भाषा हो भी किन्तु उनके घरकी औरतोंकी अबतक यह बोली नहीं बनी है और प्रांतकी बोली तो बिलकुल नहीं बनी है। कुछ पारसियों तथा ईसाइयोंने अपने घरोंमें अंग्रेजी बोलनेका रिवाज जारी किया है। किन्तु जिस गलीमें ये लोग रहते है उस गलीकी भी वह भाषा नहीं बन पायी है। उसीतरह शिक्षित लोग अंग्रेजी चाहे जितनी झाडें, आम जनताकी व्यवहारकी बोली तो अबतक भी देशी है। और राष्ट्रीयसभा तो देशी बोलीका विचार करती है। इसलिए उर्दू-हिंदी-फारसी-अरबी-अंग्रेजीमिश्रित भाषा, या फारसी अरबी शब्दोंसे बोझिल हिंदुस्तानी कभी राष्ट्रभाषा नहीं हो सकती। फारसी-अरबीका भारतीय भाषा हिंदीसे कोई संबंध नहीं है अब उसे जोडना एक अ-राष्ट्रीय काम है।

सभी भारतीय भाषाओंमें संस्कृत शब्द सदियोंसे मिलते रहे हैं। किसी विदेशी भाषाका संबंध तो केवल राजनैतिक कारणों-से आया और वहीं वह सीमित रहा। इसी कारणसे कुछ अंग्रेजी शब्द हमारी भाषाओंमें घुस पडे है। किन्तु उनसे हमारी बोली बिगाडनेका प्रयत्न नहीं हुआ है। फारसीकी वही गत बादशाहोंके कार्य कालोंमें हुई थी। किन्तु संस्कृत शब्दों का घुल-मिल जाना एक प्राकृतिक प्रक्रिया है जहाँ विदेशी भाषाओंपर यह लागू नहीं होता।

सो, जैसा कि हम ऊपर बता चुके है, राष्ट्रीय महासभाका हिंदुस्तानी भाषाको नये सांचेमें ढालना बिलकुल कृत्रिम है। यही बनावटी भाषा कभी स्थिर नहीं हो सकती। इसी कृत्रिम भाषाके स्वरूप तथा दो लिपियोंकी आनिवार्यताके बारेमें उत्तर भारतमें पराकाष्ठाका विरोध है इसका आभास महात्मा गांधी और श्रद्धेय पुरुषोत्तमदास टण्डनजीके पत्रव्यवहारको देख नेसे मिल जायगा।

लीगवाले मुट्ठीभर मुसलमान उर्दूको अपनी स्वतंत्र भाषा बनाना चाहते हैं, क्योंकि, उन्हें मुसलमानोंका अलग राष्ट्र

होनेकी बात सिद्ध करनेका चसका लगा है। उनकी सारी चेष्टाएं कृत्रिम है। भारतके सारे मुसलमान इससे सहमत नहीं है और न होंगे। तो फिर, कुछ थोडे हठीले लोगोंके लिए हमारी राष्ट्रीयमहासभा हमारी राष्ट्रभाषा हिंदीको इसतरह क्यों ..र दबोच रही है?

सौ डेढसौ रामभक्त तथा कृष्णभक्त मुसलमानोंके भजन तथा पद्य शुद्ध हिंदीहीमें पाये जाते हैं। आज आगाखानी संप्रदायकी पुस्तकें संस्कृतनिष्ठ भाषामें मिलती हैं। उनमेंसे एकका नाम है 'संध्या'। उन्हें संस्कृत शब्द भले लगते हैं तो फिर दूसरोंको वे अच्छे क्यों न लगें ? और फारसी-अरबी शब्दोंको घुसडनेपरही वह राष्ट्रभाषा बनती है ऐसा क्यों माना जाय?

सो, भारतकी राष्ट्रभाषा संस्कृतनिष्ठ हिंदीही होना परंपराके अनुसार योग्य है, वही भाषा अबतक मुसलमानभी उपयोगमें लाते रहे। दूसरे, यह नयी बननेवाली हिंदुस्तानी न हिंदुओंके समझमें आती है; न मुसलमान इसे समझ पाते है। मुठ्ठीभर लोगोंके संतोषके लिएही या बनावटी दोगली भाषा बनायी जा रही है।

उर्दू लिपि

साथमें मुठ्ठीभर लीगवालोंको शान्त करनेके लिये उर्दू लिपि भी हिंदुओंके सिर थोपी जा रही है। हर प्रांतमें प्रांतीय बोली है और प्रांतीय लिपि भी है, देवनागरी तो सर्वव्यापी राष्ट्रलिपि हुई है। क्योंकि, वह लगभग सभी प्रांतीय लिपियोंकी जननी है। उर्दू लिपि सरकारी (बादशाहोंके जमानेमें) लिपि थी और अंग्रेजोंने उसीको चलने दी है। उत्तर भारतकी स्त्रिया अबतक आम तौर उसे नहीं जानती हैं। वहांकी स्त्रिया देवनागरी पढ सकती हैं, उर्दू नहीं। जैसे आजकल अंग्रेजी लिपिको सरकारका बल प्राप्त है उसीतरह उर्दूको भी कहीं कहीं प्राप्त है। ईसाइयोंके साथ मित्रता बनानेके लिये रोमन लिपिका हर हिन्दुके लिये अनिवार्य करना और मुठ्ठीभर लीगवालोंके हठको संभालनेके लिये ..वै राष्ट्रमें उर्दूको प्रचलित करना अयोग्य है। न वह युक्तियुक्त है, न उचित, न आवश्यक ! मैत्री करनेके यह ढंग भी नहीं है। जो अलग होनेपर उतारू है उसके साथ मित्रता कदापि नहीं हो सकती।

इसलिये जो राष्ट्रीय रहनेके मुसलमान हों उनसे सख्य करना ठीक होगा। लीगवाले दुराराध्य है। पं जवाहरलालजी तथा वल्लभभाई पटेलने घोषणा कर दी है कि लीगवालोंको समझाना असम्भवसा है !! राष्ट्रसभाने जो बात आज घोषित की उसे कइयोंने पचास सालपूर्व भांपा था।

तुर्की टोपी

लीगवालोंने ' तुर्की टोपी ' को अपना चिन्ह बना रखा है; मानो भारतभरमें किसीतरहकी टोपीही न थी। यहाँ तो कईतरहकी टोपियाँ है। उनमेंसे एकका वे अपनाते तो उन्हें डर था कि वे यहींके बन जायगे। अपनेको अलग सिद्ध करनेके लिये उनको ' तुर्की टोपी ' चुननी पडी। भारतसे अपना कोई संबध नहीं यह दिखानेके लियेही लीगवालोंकी ये सब चेष्टाएं हो रही हैं। नहीं तो भला, विदेशी टोपी कौन देशप्रेमी लगायगा ? शायद इन लीगवालोंको भारतसे तुर्किस्तानके लिये अधिक अपनौवा मालूम होता होगा, तभी तो उन्होंने तुर्की टोपीको पसंद किया ?

उर्दूलिपि तथा उर्दूभाषाको बढावा देनेमें जो अलगावका विष है वही विष इस तुर्की टोपीके लगानेमें है। हिंदी भाषा नहीं चाहिये, हिंदी लिपि नहीं चाहिये, हिंदी टोपी नहीं चाहिये। तुर्की लिपि तथा तुर्की टोपी अपनानेमें यह विष ओतप्रोत है। वेषभूषाके बारेमें भी यह लागू है।

पवित्र—पुण्य—स्थान

इनका पुण्यस्थान भी विदेशमें अरबस्तानमें है। तुर्किस्तानके लोगोंने खिलाफतको उखाड फेका, उन्होंने अरबी शब्दों तथा लिपितकको छोड दिया। मसजिदोंकी जगह पाठशालाए स्थापित कीं। क्योंकि, वे उस सभ्यतासे ऊब गये थे जहा यहाके लीगवालोंने उसीकी रक्षाके लिये भारतमें आदोलन किया। और राष्ट्रीय महासभाने इस ' साप्रदायिक आंदोलन' को अपना बल प्रदान किया और हिंदुओंने इस आदोलनको इतने जोरसे चलाया कि उस समय हिंदुओंके शंकराचार्य भी जेलमें जा बैठे!!! नतीजा क्या निकला ! हिंदु-मुस्लीम एकता ? जरा भी नहीं। उलटे, लीगवालोंकी आकाक्षाए और भडक उठीं। तुर्कस्तान जिसे ठुकराए उसे ये यहापर क्यों अपनाएं और साप्रदायिक होनेपर भी राष्ट्रसभा उसे क्यों कर स्वीकार करें ?

मतलब, इस तरहका त्याग किसी कामका नहीं है। इस वर्ष राष्ट्रीय महासभाके ध्यानमें यह बात आ गयी; अच्छा हुआ। पं जवाहरलालजी नेहरू तथा श्री. वल्लभभाई पटेल इस वर्ष गरज उठे "**आजतक लीगके साथ समझौता करनेकी चेष्टा हमने की, फल कुछ नहीं निकला। हमारी सहनशीलताकी हद हो गयी। लीगने हमारे राष्ट्रपतिका भी अपमान किया। इससे, जबतक लीग हमसे क्षमा याचना न करे तबतक उससे समझौते की बात नहीं करेंगे।**" क्या ही अनमोल यह निर्णय है! हम मानते हैं राष्ट्रीय सभा आगे चलकर इसी नीतिपर कायम रहेगी। ठीक हुआ कि इतने वर्षोंके अनुभवोंके बाद एकबार तो सत्य प्रकट हुआ। अनुभवोंकी आगमें तपकर यह सत्य निकल आया है। इस बारेमें हमारे नेताओंकी वक्तृताएं अवलोकनीय है—

सरदार वल्लभभाई पटेल

जिस क्षणसे कॉंग्रेससे शुद्ध-खरे राष्ट्रीयत्व को त्याग दिया याने सांप्रदायिक मतदाता-संघको जिस क्षण कॉंग्रेसने स्वीकार किया उसी क्षणसेही यह (मुस्लीम लीगका) नटखटपन बढा है। उसके बाद कॉंग्रेस भूलें करती गयी। हम (लीगसे समझौता करनेके लिए) अंतिम सिरेतक पहुंच गये। बस, इतनाही बचा था कि यह मान्य करें कि कॉंग्रेस हिंदुओंकी संस्था है। अल्प मतवालोंको प्रतिनिधित्व, अल्पसंख्यकोंको संरक्षण यहासे प्रारंभ होकर हम बराबर बराबरके बँटवारेतक पहुंच गये। खैर, अब फिरसे कभी इन बातोंको कभी दुहराया नहीं जायगा। अब कॉंग्रेस कभी मुस्लीम लीगके पास नहीं जायगी।

" आज इस समय और इस स्थानमें मैं फिरसे एकबार स्पष्टातिस्पष्ट शब्दोंमें कॉंग्रेसकी स्थितिको बताता हूं। हमारेमें मतभेद होंगे। दोनों तरफ से भूलें हुई होंगी। किन्तु इन बातों की आडमें देशकी स्वाधीनताके मार्गमें रोडे अटकाना पाप है। हिंदुमुसलमानोंका प्रश्न आंतरराष्ट्रीय पंचोंके सामने रखनेको कॉंग्रेस सिद्ध है। यह योजना भी जिसे मान्य न हो ऐसे व्यक्ति- (मुसलमान) को कॉंग्रेसमें स्थान नहीं है। वह अवश्य मुस्लीम लीगमें जाय।"

पं. जवाहरलालजी नेहरू

"आजतक हमने पराकाष्ठाकी सहनशीलता दिखलायी। किन्तु समयही ऐसा आया है कि एकबार अब साफ साफ बोलना आवश्यक है। अब मुस्लीम लीग और कॉंग्रेसमें एका होना असम्भव है। लीग और कॉंग्रेसमें यदि झगडाही होना हो तो हम-उसके लिये तैयार हैं। स्वाधीनताके आंदोलनमें शामिल होनेके लिये चलनेवाली सौदेबाजी अब बस हो गयी है। हमारे राष्ट्रपतिका अपमान जिन गंदे शब्दोंमें झीणासाहबने किया है, क्या, तुम उसे भूल गये है? जबतक मुस्लीम लीगी नेता क्षमा-याचना नहीं करेंगे तबतक उनसे हम दस हजार मील दूर रहेंगे। जो लीगमें चला जायगा उससे हमें दूरही रहना चाहिये। एक दिन था, जब हम सभी मान-अपमान छोडकर मुस्लीम लीगको उसके घर जाकर मनानेका जतन करते थे। आपसके मनमुटावके मिटनेकी आशामें हमारे अत्यंत आदरणीय नेता भी उसके घर पैदल गये। किन्तु हमें मालुम हुआ की निराशाही हमारे भाग्यमें बदी थी। अब कभी ऐसी चेष्टाएँ हमसे नहीं होंगी। मुसलमानोंको जो संदेह हों, उन्हें जो डर हो उसे दूर करनेका हम अवश्यमेव जतन करेंगे। उनका विश्वास प्राप्त करनेके लिये हम पराकाष्ठाके प्रयत्न करेंगे। मुसलमानोंका विश्वास प्राप्तकर उन्हें कॉंग्रेसमें ले आना एक बात है, जहां मुस्लीम लीग जिन हकोंका दावा करती है उन्हें मानना दूसरी बात है। मैं पहली बात करूंगा। किन्तु दूसरी? असम्भव, कदापि नहीं।"

पं. गोविंदवल्लभपंत

"संसारभरमें एकभी उदाहरण नहीं मिलता जहां बहुसंख्यके जमातके हकोंको ठुकरानेका अधिकार अल्पसंख्यकोंको मिल जाता हो। किन्तु हमारे भारतमें मुस्लीम लीग यही कार्य कर रही है। ब्रिटिश सरकारका बल उसे यदि प्राप्त न होता तो क्या, मुस्लीम लीग ऐसी उदंडता दिखानेकी हिम्मत कर सकती थी? सांप्रदायिक प्रश्न आंतरराष्ट्रीय पंचोंके सामने रखनेको कॉंग्रेसने अपनी सिद्धता बतायी थी। किन्तु श्री. झीणा इसे भी नहीं मानते। ब्रिटिश सरकार इसलिये श्री. झीणाको बढावा देती है कि उससे भारतकी गर्दनमें गुलामीकी जंजीरको कसना आसान हो जाता है।"

वीर सावरकर

श्रीमान् सावरकरजी गत दस वर्षोंसे यह घोषणा करते आये हैं कि "**आओ तो तुम्हारे साथ, न आओ तो**

तुम्हारे बिना, और विरोध करोगे तो तुम्हें उखाडकर हम स्वराज प्राप्त करेंगे।"

ठीक यही घोषणा इस वर्ष राष्ट्रीय महासभाके नेताओंने की है। राष्ट्रीयमहासभा सारे देशकी सभा है। उसके अनुयायी काफी है। श्री. सावरकरजीके घोषणाके पीछे जितने अनुयायियोंका बल है उससे कई गुने अनुयायियोंका बल राष्ट्रीयमहासभाके इन नेताओंकी घोषणाके पीछे निसंदेह है। श्री. सावरकरजी दस वर्षोंसे जो कह रहे थे वही, उन्हीं शब्दोंमें, आज राष्ट्रीयमहासभाने मंजूर किया यह बडी प्रसन्नताकी बात है। अब इस घोषणाद्वारा हिंदुमहासभा तथा राष्ट्रीयमहासभा एकही सिद्धांत जनताको जता रही हैं। इसतरह लीगकी निंदा करना सांप्रदायिक वृत्ति नहीं है, वह राष्ट्रीय वृत्ति है।

भारतके टुकडे करनेवाला आत्मनिर्णय

(लेखकः- **वासुदेव जनार्दन गोस्वामी**. काव्यतीर्थ; अनु. साहित्यशास्त्री, वसंत-मित्र पुणे)

भारतके राजनैतिक क्षेत्रमें आज सबसे जटिल बनी समस्या है, मुसलमानोंके आत्मनिर्णयकी मांग। ऊपरसे योग्य दीख पडनेवाला किन्तु जिसका परिणाम भयंकर होनेवाला है ऐसा यह प्रश्न हिंदी राजनीतिमें आजकल उन्मुक्त बनकर ऊधम मचा रहा है। पाकिस्तान, समान अधिकार, व्यवस्थापिका सभामें हिंदुओंसे अधिक जगहें आदि सभी मांगें उपर्युक्त मांगके क्रोडपत्र हैं। असलमें आत्मनिर्णयकी इस केंद्रीय कल्पनाके भरोसेही मुस्लीम नेता आजकल अन्य सभी इधर उधरकी कल्पनाओं किंवा मांगोंका फैलाव देशके सामने खुला किया है, और वह फैलाव दिन-ब-दिन इतना बाधारूप हो रहा है कि कुछ प्रगति करनेवाली राजनीतिकी नैयाको फिरसे कुछ पीछे हटना पडता है जिससे वह जोरोंसे डांवाडोल होती जाती है। अल्पसंख्यक होनेके बहाने मुसलमानोंको रियायतें देनेकी मांगों की निर्लज्जता यहांतक बढ गयी है कि बॅ. झीणा आदिके मुखसे कभी कभी यह बातभी निकलने लगी है कि अंग्रेज हिंदुस्तान छोडते समय दिल्लीका सिंहासन मुसलमानोंको सौंप दें और सारे हिंदु उनकी प्रजा बनकर सुखसे रहें। हिंदुओंके साथ मुसलमान इस देशमें हिलमिल रहनेकी इच्छा हो तो यहांके राज्यविधानमें सभी क्षेत्रोंमें हिंदुओंसे अधिक, कमसे कम बराबरकी, संख्यामें मुसलमानोंको जगहें मिलनी चाहिये या तो मुसलमानोंको पाकिस्तानके नामपर देशका अमुक हिस्सा अलग सुपुर्द करना चाहिये; वह मुसलमानोंका स्वाधीन राष्ट्र बनेगा किसी हालतमें मुसलमान हिंदुओंकी वरिष्ठताको सहन नहीं करेंगे; अपना निर्णय वे स्वयं करेंगे, हिंदु उसमें हस्तक्षेप न करें; मुस्लीम सभ्यता, शिक्षा, भाषा आदि हर बातमें उनकी स्वतंत्र रीति इस देशमें होनी चाहिये—ये मुसलमानोंकी मांगें अब सुपरिचित हो गयी हैं।

इस मसलेपर भारतकी होनेवाले सर्वांगपूर्ण हितकी दृष्टिसे अच्छेबुरेका विचार करनेवाली प्रमुख राजनैतिक संस्थाएं हैं—कॉंग्रेस तथा हिंदुमहासभा। कॉंग्रेसकी नीति, इस विषयमें, कुछ सुहल करनेकी—एकाधबार कुछ झुकनेकी भी है। स्वाधीनताको प्राप्त करनेके लिये हिंदु-मुस्लीम एकता अनिवार्य होनेसे मुसलमानोंको आवश्यकतानुसार कुछ अधिक रियायतें देकर, कॉंग्रेस मानती है कि, भारतकी स्वाधीनताका मसला सबकी एकतासे सुलझाया जाय, जहां हिंदुमहासभाकी नीति है कि जैसेको वैसा इस न्यायसे बहुसंख्य मुसलमानोंकी हित-रक्षाके साथ उससे भी बहुसंख्य लगभग करोड हिंदुजनताका हित अक्षुण्ण रहना चाहिये। इसी बातपर अधिक जोर देकर वह उपर्युक्त मुस्लीम मांगोंका विरोध करती है। और उसे विश्वास है कि, इसी नीतिसे, केवल हिंदुओंके बलपर वह स्वराज्यमंदिरमें पहुंच सकेगी। इन दोनोंमेंसे कौनसी नीति उपयुक्त है इसका निर्णय तो भविष्यत् कालही करेगा। किन्तु अबतक तो दोनों संस्थाएं असफल रही हैं। ज्यों ज्यों अधिक उपाय किये जाते हैं त्यों त्यों दिनोदिन औरही अडचनें पैदा हो जाती हैं। आजकल तो अलगावकी भाषाही आत्मनिर्णयकी मांगके बहाने बोली जा रही है और वही राजनैतिक प्रगतिके मार्गका रोडा है। आजकल हमारे राजनैतिक जीवनमें एक प्रकारकी अकर्मण्यताही फैल चुकी है और उससे ऊबकर कुछ सुविचारी नेताभी थोडे

जलदबाजी करनेके मोहका संवरण नहीं कर सकते। उनके मनमें यह विचार कौंध जाता है कि 'जोभी मांगे देदो किन्तु एका करो।'

देशकी अन्य छोटी बडी जमातोंके समान मुसलमानोंका भी हित देखा जाय, उनके सभी हितसंबंधोंकी रक्षा हो, किसी-तरहकी कुण्ठितता न होते हुये उनकी सांस्कृतिक, शिक्षाविषयक, आर्थिक आदि समस्याएं ठीक तरहसे हल की जायें ये बातें सर्वमान्य तथा सब प्रकारसे योग्य होनेपर भी यह आत्मनिर्णयकी माग कहातक युक्तियुक्त है तथा देशको और भिन्न भिन्न जमातोंको कितनी लाभकारी है इसका विचार सामने आतेही मन संदेहशीलही बनता है। क्योंकि, आत्मनिर्णयका प्रश्न, केवल उनके हितसंबधकी रक्षाका न होकर, पूरीतरहसे अलग होकर, एक स्वतन्त्र राष्ट्र बनानेका दावा पेश करता है। तुम्हारा हमारेसे क्या नाता? तुम अलग, हम अलग– इस-तरहकी विभक्ततामें वह परिणत होता है और इसीसे वह भयकर है। केवल हितरक्षाका प्रश्न होता तो उसका विरोध करनेका कोई कारणही पैदा न होता। किन्तु आत्मनिर्णयकी माग इतनी सरल बात नहीं है; इसीसे उसपर गंभीरतासे सोचना चाहिये।

आत्मनिर्णयकी भिन्न भिन्न मीमांसाएँ

आत्मनिर्णयकी इस मागके समर्थनमें मुस्लीम नेताओंकी ओरसे हमेशा जो उपपत्तियाँ या कारण मीमांसाए बतायी जाती है वे यों है:–

मुसलमान भारतदेशमें हिंदुओंकी अपेक्षा अल्पसंख्य है किन्तु भिन्न भिन्न जमातोंसे बहुसंख्य है, जिससे देशके राज-नैतिक, सामाजिक, आदि सभी क्षेत्रोंमें अन्य छोटी जमातोंकी अपेक्षा मुसलमानोंको खास हक तथा अधिकार होंगेही; किन्तु साथ साथ प्रजातन्त्रकी रीतिके अनुसार सहजमें प्राप्त हिंदुओंकी निश्चित बहुमतिका दबाव भी उनपर जरा भी न होना चाहिये। आजकी व्यवस्थापिका सभाकी पद्धतिके अनुसार हिंदुओंको हमेशा बहुमति होनेसे हर बातमें हिंदुओंका प्रभाव तो रहेगाही जिससे मुसलमानोंके हितसबंधको हानि पहुँचेगी, इसलिये मुसलमान आजकी इस पद्धतिको कभी मान नहीं सकते, जिसका मतलब है, असमान अधिकारोंपर अवलंबित संयुक्त प्रजातंत्र इस देशके अनुकूल नहीं है। ऐसे प्रजातंत्रका अर्थ है मुसलमान हिंदुओंके गुलाम बने रहे। हिंदुओंकी अपेक्षा मुसलमानोंकी संख्या कुछ कम हो तो भी अन्य अल्पसंख्य जमातोंकी परि-भाषा उनपर लागू नहीं हो सकती। इस देशमें उन्हें बहुसंख्यकों के बराबरही समझना चाहिये जिससे बहुसंख्यकोंको प्राप्त सभी हक उन्हें भी मिलने चाहिये। मुस्लीमोंका प्रश्न किसी छोटी जमातका प्रश्न न होकर नौ करोड जनोंका तथा सभ्यता, धर्म आदि हरबातमें दुसरोंसे बिलकूल भिन्न होनेवाली एक महान् जमातका-प्रश्न है। भारतमें बसनेवाली किसी भी जमातसे मुसलमानोंकी सभ्यता, धर्म, भाषा, इतिहास आदि कई बातें बिलकूल भिन्न हैं, उनकी अपनी स्वतंत्र हस्ती है, स्वतंत्र महत्व है जिससे उनकी भावनाएं भी एक खास स्थान रखती है। और हैं ये सब बातें उनकी जो संख्याबल तथा शक्ति-से भी भरपूर नौ करोड जनसंख्यक एक विशाल जनसमूह की। जनसंख्याकी दृष्टिसेही देखा जाय तो, दुनियाके कुछ राष्ट्र छोड-कर, अन्य बडे बडे राष्ट्रोंसे टक्कर ले सकती है। यह करोड दो करोड जनसंख्या छोटे छोटे समाज यदि दुनियामें राष्ट्र गिने जा सकते है तो फिर इतनी बडा, नौ करोड जनसंख्यावाला, महत्वपूर्ण विशाल समाज क्योंकर स्वतंत्र राष्ट्र होनेका दावा नहीं कर सकता?

मुसलमानोंका इतिहास सम्मानपूर्ण विजेताओंका है। अकबर जैसे बादशाहोंका साम्राज्य उनका पृष्ठपोषक है। उनकी सभ्यता दुनियाकी किसी सभ्यतासे कम नहीं है। वह पुरानी है, उसका इतिहास उज्वल है। एक महान् धर्मका उसे बल प्राप्त है, उसने संसारमें कई राज्य या राष्ट्र बनाये हैं। उनकी भाषाका भी एक सामाजिक तथा सांस्कृतिक महत्व है। करोडों-से गिनती होनेवाले बहुसंख्य समाजकी वह भाषा है। लिपि, साहित्य आदि सभी बातोंमें उसका एक खास महत्व है। इस्लाम भी अपना एक विशिष्ट स्थान रखता है। उसकी तहमें मुहम्मदकी तपश्चर्या है और मक्का, मदीनाकी पवित्रता उसका समर्थन करती है। उनकी भारतमें नौ करोडकी संख्या तो एक अत्यंत महत्त्वपूर्ण बात है। और ये सभी बातें दूसरोंसे बिल-कुल भिन्न होनेसे मुस्लिम समाजकी एक अलग हस्ती है, अत-एव वह एक स्वतंत्र राष्ट्र है। देशकी अन्य जमातें यदि उसका सहयोग चाहती हों तो उस समाजकी सभ्यता, भाषा, धर्म आदि सभी बातोंको सब प्रकारसे ऊंचा या कमसेकम बराबरका वह स्थान मिलना चाहिये जो यहांकी सबसे अधिक बहुसंख्यक

हिंदुसमाजकी विशेषताओंको दिया जाता हो ! मुसलमानों-की उर्दूको स्थान होना चाहिये । मुस्लीम सभ्यताको राष्ट्रीय सभ्यताका स्थान मिलना चाहिये । व्यापार, उद्योग, व्यवस्थापिका सभा, सेना, धर्म, भाषा, संकृति आदि सभी बातोंमें हिंदुओंके बराबर अधिकार होना चाहिये । यदि इन बातोंको मान्य न किया जाय तो मुसलमान इस देशका बंटवारा करके अपना स्वतंत्र राष्ट्र बना लेंगे । उनका यह अधिकार है ।

आभासात्मक कल्पनाएँ

उपर्युक्त माँगों और उनके समर्थनमें बताये जानेवाले कारणोंकी तहमें एकमेव उद्देश्य है मुस्लीम समाजको एक अलग राष्ट्र होनेकी बात सिद्ध करना । क्योंकि, मुस्लीम नेता जानते हैं, और पूरीतरहसे जानते है, कि जबतक वे एक अलग राष्ट्रकी हैसियतसे अपनी हस्ती सिद्ध नहीं कर सकते तबतक उनकी आत्मनिर्णयवाली या ऐसी अन्य किसी भी माँगको कोई महत्त्व नहीं प्राप्त हो सकता । किसी राष्ट्रकी कोई जमात संख्यामें कितनी भी बडी क्यों न हो, उसकी भाषा, संस्कृति, धर्म आदि चाहे जितने विशाल तथा महत्त्वपूर्ण हों, फिर भी वह जमात एक महान् राष्ट्रका अंग होनेसे स्वतंत्र राष्ट्र नहीं बन सकती, अपनी हस्ती अलग नहीं मान सकती । अर्थात् मुस्लीम जमात इस देशकी बडी जमात होनेकी बात मान ली जाय तो वह अपने लिये किसी अलग अधिकारका दावा करही नहीं सकती । अपनी योग्यताकी मात्रामें अन्य जमातोंके साथ अधिकार तथा सुविधाओंको स्वीकार करना चाहिये । यही कारण है कि हरदिन नया कारण ढूँढकर मुसलमान अपना स्वतंत्र राष्ट्रीयत्व सिद्ध करनेपर उतारू हैं जिससे उन्हें विशेष अधिकार तथा सुविधाएं माँगनेका हक प्राप्त हो जाता है । मतलब विचारणीय विषय उनका अलग राष्ट्रीयत्वही है । यदि वह सिद्ध हो जाय तो उनकी किसी माँगका कोई भी विरोध नहीं कर सकेगा । क्योंकि, हर राष्ट्रको अपने हित-अहितका निर्णय करनेका पूरा अधिकार होता है । वह अपने प्रश्नोंका निर्णय स्वयं करता है; क्योंकि, उसके भलेबुरेके परिणामको उसे स्वयं भुगतना पडता है । यदि मुसलमान एक अलग राष्ट्र होनेकी बात सिद्ध हो जाय तो उनके निर्णयोंमें ननु-नच करनेका किसीको भी कोई हक नहीं है । किन्तु उनका अलग राष्ट्रीयत्व सिद्ध न हो सके तो फिर इस देशके हर व्यक्तिको राष्ट्रके हर प्रश्नपर अपना विचार बतानेका उतनाही हक है जितना कि मुस्लीम जमातको है । क्योंकि, राष्ट्रके किसी वर्ग या जमातका प्रश्न उस वर्ग या जमाततक सीमित न रहकर अन्य वर्गों तथा जमातोंके हिताहितके साथ गूँथा हुआ होता है । हर वर्गके हितसंबंध एक सूत्रमें पिरोये होते हैं, जिससे वे एक दूसरेपर अवलंबित होते हैं । उनमेंसे किसी एकपर कहीं भी आघात हो तो दूसरोंपर भी उसका असर अवश्यंभावी है । इससे, इस बातपर पहले विचार करना चाहिये कि मुस्लीम जनता यहाँ एक अलग राष्ट्र है या अन्य वर्गोंके समान वह भी इस राष्ट्रका एक घटक अंग है ।

मुस्लीम नेताओंके कहनेपर राष्ट्रकी परिभाषामें उनका धर्म, संस्कृति, भाषा, जनसंख्या आदि सभी या कुछ बातोंको सत्य माना जाय तोभी राष्ट्रकी परिभाषाके लिये किसी कामकी नहीं हैं। किसी समाज या वर्गका धर्म, संस्कृति, भाषा, जनसंख्या तथा इतिहास दूसरोंसे भिन्न हो या विशेषता रखता हो तो भी उस समाज या वर्गको अलग राष्ट्र बिलकुल नहीं, माना जा सकता । एक राष्ट्रमें कई धर्म, सभ्यताएं, भाषा हो सकती हैं उसी तरह एकही भाषा सभ्यता या धर्मवाले कई राष्ट्र हो सकते हैं ।

यदि धर्म या संस्कृतिसे अलग राष्ट्र होना सिद्ध हो जाता हो तो भारत या रूसमें कई भिन्न भिन्न राष्ट्र बन जाते; और इंग्लैंड, अमरीका या युरोपके अन्य ईसाईधर्मी राष्ट्र अपनी भिन्नता जरा भी न संभाल सकते; एशियाखंडमें बुद्ध धर्मीय चीन, जापान आदि राष्ट्रोंकी उन्नति न होती । धर्म तथा संस्कृति एक खास समाज या संप्रदायकी बात है; एक राष्ट्रमें ऐसे कई समाज या संप्रदाय रहते हों तोभी धर्म आदि उनकी निजी बात होती है, राष्ट्रकी बनावटके लिये उनकी खास आवश्यकता नहीं है और इसीसे वह समाज या संप्रदाय एक अलग राष्ट्र नहीं बन सकता ।

भिन्न भाषाके कारण राष्ट्र भिन्न होता है ऐसा माना जाय तो भारतहीमें प्रांतप्रांतमें अलग राष्ट्र बनाने पडेंगे । रूसमें कई भाषा-भाषी होनेसे एक राष्ट्रमें न रह सकेंगे, किंबहुना दुनियाके हर राष्ट्रके टुकडे करने पडेंगे । भाषा तो व्यवहारकी सुविधाका एक साधन है, वह वहांकी - प्राकृतिक तथा सांस्कृतिक वातावरण स्थितिके अनुकूल होनेसे राष्ट्रके हर प्रांतके छोटे छोटे समुदायोंकी भी भिन्न भाषाएं हो सकती हैं । भाषाका महत्त्व उन समाजोंके लियेही सीमित होता है । उसका बोझ दूसरोंपर नहीं लादा जा सकता, नहीं उसके बलपर

दूसरोंसे अलग हो एक स्वतंत्र राष्ट्र बनानेका हक प्राप्त हो सकता। अलग राष्ट्र सिद्ध हो जानेके बाद उसकी प्रजाकी सुविधाके लिये, उसके सार्वजनिक उपयोगके लिये एक राष्ट्रभाषाकी आवश्यकता पडती है यह सत्य है, किन्तु इसका यह मतलब नहीं कि भाषा है इसलिये राष्ट्र बन जाता है, बल्कि राष्ट्र है इसलिये सुविधाके साधनरूप एक राष्ट्रभाषाका होना आवश्यक है। अर्थात् भाषा अलग है इसलिये राष्ट्र अलग है यह कार्यकारण-भाव बेतुका है।

इतिहासके बलपर अलग राष्ट्र बनानेका विचार भी उपर्युक्त कल्पनाके समानही है। भारतके हर प्रांतका, यहांतक कि हर जातिका भी, इतिहास कई बातोंमें भिन्न है। हरजातिके धर्म, सभ्यता, शौर्य आदि कई क्षेत्रोंके महत्त्वपूर्ण कार्योंका ब्योरा इतिहासमें स्थान स्थानपर बिखरा पडा है और वे कार्यही उस उस जाति या समाजका इतिहास है। हर वर्गका कुछ न कुछ इतिहास तो होताही है। किसीका शिक्षा, कला आदि विषयोंका होगा, किसीका व्यापारविषयक होगा। कोई समाज राजनीतिमें चमक उठा होगा तो दूसरा वीरतामें। हर-एकके पीछे कुछ न कुछ परंपरा होती ही है और उसके लिये वह आदरणीय होती है; किन्तु इससे वह जाति या समाज अलग राष्ट्रके बननेके योग्य नहीं माना जा सकता।

मुसलमानोंकी जनसंख्या इस देशमें काफी है —नौ करोड है— इसलिये वह अलग राष्ट्र है यह विचार उसे तो ठीक मालूम होता है, संसारमें करोड दो करोड, कुछ स्थानोंमें तो कुछ लाख जनसंख्यावाले समाज भी राष्ट्र बन जाते है। फिर यह नौ करोडवाला विशाल समाज क्यों न राष्ट्र माना जाय? पांच करोडवाला इग्लैंड केवल राष्ट्रही नहीं, संसारके आधे हिस्सेपर सत्ता चलानेवाला साम्राज्य भी है। युरोपके कई बडे बडे राष्ट्र सात आठ करोड जनसंख्यावाले हैं तो फिर नौ करोड मुस्लीमोंहीको स्वतंत्र राष्ट्र बनकर रहनेका अधिकार हुई है। इस तरहकी युक्तियां मुस्लीम नेता पेश करते है, पर यह उपपत्ति-कारण मीमांसा-ठीक नहीं पाती। संसारमें कोई लिखित या अलिखित नियम नहीं पाया जाता कि किसी राष्ट्र-के बननेमें अमुक जनसंख्याका होना आवश्यक है। कुछ लाख या एक दो करोडवाले छोटे बाल्टिक या बाल्कन राष्ट्र हैं, जहां ५० करोडवाला विशाल चीन भी एक राष्ट्र है और हमारे-पासहीमें छोटे सिलोनको एक स्वतंत्र राष्ट्र होनेका सम्मान प्राप्त है। मतलब, अमुक जनसंख्या किसी राष्ट्रकी बनावटका आवश्यक अंग होही नहीं सकता। जनसंख्याका नाप भी क्या निश्चित करें? संसारमें जनसंख्या हर बस्तीको निश्चित प्रमाण-में बांटी थोडी जाती है? संसार स्वयं काट छांटकर समप्रमाण नहीं बना है; तो फिर उसकी जनसंख्या कैसे समप्रमाण होगी? भूमि तथा जलवायुकी अनुकूलता या प्रतिकूलतापर बस्ती अवलंबित है। धार्मिक आदि आक्रमणों या आर्थिक तथा प्रकृतिक विपत्तियोंसे बस्ती कम बेश होती रहती है। एक राष्ट्रमें प्रांतभेदके कारण बस्तीका प्रमाण कम-अधिक होता रहता है; अर्थात् ऐसा कोई नियम नहीं बन सकता कि अमुक जनसंख्या होनेपर ऐक राष्ट्र बनता है। और किसी राष्ट्रकी जनसंख्या देखकर उससे अधिक संख्यावाले अपने आपको एक अलग राष्ट्र नहीं मान सकते। यह युक्ति बेतुकी है। मुस-लमानोंकी जनसंख्या नौ करोड जितनी बडी होनेपरभी वह एक स्वतंत्र राष्ट्र नहीं बन सकती। देशकी सभी जातियों या समाजोंका भी जनसंख्याके बारेमें, यहांतक कि धर्म, सभ्यता, इतिहास, भाषा आदि कई बातोंमें, एक विशेष, महत्त्व होताही है किन्तु इसीसे वे अलग अलग राष्ट्र थोडेही बन जाते हैं? राष्ट्रकी बनावटकी भित्ती तो बिलकुल दूसरीही है और वह धर्म; सभ्यता, भाषा, इतिहास एवं जनसंख्या आदि, सभी बातोंसे भिन्न है। इनमेंसे एक या सब मिलकर भी, अलग राष्ट्र नहीं बना सकते; अर्थात् इन बातोंकी नींवपर रची हुई स्वतंत्र राष्ट्रीयत्वकी योजन भी एक कल्पना मात्र है— एक आभास है।

राष्ट्रकी परिभाषा

धर्म, भाषा आदि बातोंने राष्ट्रकी परिभाषामें कभी कोई स्थान तो पायाही नहीं है; प्रत्युत आजतक इस परिभाषामें स्थान पाया हुआ आर्थिक हित-संबंधका प्रश्न भी इस यांत्रिक युगने कहींका न रखा; उसे उडाही दिया। आज तो हर राष्ट्रके आर्थिक हितसंबंध अपने अपने देशकी मर्यादा कभी के लांघ चुके हैं और सारे संसारपर फैलते जा रहे हैं। दो राष्ट्रों-के कई विभिन्न समुदायोंके व्यापारिक आदि हितसंबंध एक दूसरेसे संबद्ध, यहांतक कि एक भी हो सकते हैं, जहां एक राष्ट्रके दो गुटों या व्यक्तियोंके हितसंबंध भिन्न भिन्न हो सकते है। भारतके व्यापारीका हित अमरीकावालेसे एकरूप होगा और अमरीकावाले व्यापारीका हित भारतवालेसे एकरूप

हो सकता है। आजके महाविशाल उद्योगोंके कारण उद्योग-पतियोंको घर बैठे भी समूचे संसारके साथ आर्थिक व्यवहार करना आसान हो गया है। तब यह बात भी राष्ट्रकी सीमा लांघ चुकी है।

राष्ट्रका भार अब केवल दोही बातोंपर अवलंबित है और वे दो बातें है; प्रादेशिक मर्यादा तथा शासन प्रबंध। धर्म, भाषा आदिही नहीं अर्थ-संबंध भी एकही राष्ट्रके भिन्न समाजोंके बारेमें भिन्न हो सकते है; किन्तु ये दो बातें किसी राष्ट्रकी दूसरेके जैसी नहीं होती; नहीं होनी चाहिये। और येही हैं राष्ट्र-स्वरूपकी कसोटियां। **जो जनसमूह किसी विशेष देशमर्यादाके भीतर समाविष्ट हो और तदनुसार समूचे देशपर शासन करनेकी एक शासन-व्यवस्था हो उसी जनसमूहको राष्ट्र कहते हैं।** फिर उसमें चाहे जितने धर्म हों, चाहे जितनी भाषाएं हों या आपसमें आर्थिक संबंध भी चाहे जितने भिन्न हों या कहीं देशके बाहर दूरतक फैले हुये हों। उस जनसमूहकी एकराष्ट्रीयतामें कोई बाधा नहीं पडती।

भारतके हिंदु, मुसलमान, सिक्ख आदि किसी भी समाजकी व्यक्ति अमरीकामें जाकर अपने जविनसंबंध उस राष्ट्रकी मर्यादामें पिरों दे और उस राष्ट्रकी शासनव्यवस्थाको माने तो वह अमरीका राष्ट्रका नागरिकत्व प्राप्त कर सकता है। जाति-भेद आदि बातोंको कोई महत्त्व नहीं रह जाता, अब राष्ट्र-भाषा, राष्ट्रधर्म, राष्ट्रीय इतिहास आदि बातोंपर भी ध्यान न दिया जाता हो, सो बात नहीं है। किन्तु हमेशाके अनुसार संकीर्ण अर्थमें नहीं, उनका विचार बहुत व्यापक अर्थमें किया जाता है। और वह भी उपर्युक्त दो सत्त्वोंके अनुसार एक राष्ट्रीयत्व सिद्ध हो जानेके बाद। सबकी सुविधाके लिये। उस-का ध्येय होता है राष्ट्रके अन्तर्गत व्यवहार आपसमें कीनाकपट न रखकर हों। वह राष्ट्रस्वरूपका परिचायक नहीं किन्तु अन्तर्गत व्यवहारका एक साधन होता है। राष्ट्रस्वरूपका निर्णय करनेके लिये परिभाषामें बताये गये दो बातेंही आवश्यक होती हैं। भारतवासियोंके लिये सबके लिये प्रादेशिक मर्यादाएं उत्तरमें हिमालाय, दक्षिणमें हिंदी महासागर, पश्चिममें सिंधुसागर और पूरबमें गंगासागर हैं। इन मर्यादाओंके भीतर रहनेवालोंकी रक्षा तथा संवर्धन करनेके लिये सारे देशकी एक शासनव्यवस्था है। इसीसे इन दो बातोंसे बंधी हुई यहांकी जनता एक राष्ट्र है। इसके अन्तर्गत सभी समाज, जाति, धर्म एवं वर्ग उस राष्ट्रके घटक अंग हैं। उनकी स्वतंत्र हस्ती नहीं है। नौ करोड मुसलमान समाज विशेष देशमर्यादासे दूसरोंसे अलग होता- खास खास प्रांतोंहीमें, सबसे अलग-इकट्ठी उनकी बस्ती होती तो एक अलग राष्ट्र होनेकी कल्पना-को कुछ अवलंब मिल जाता। किन्तु स्थिति बिलकुल उलटी है। देशके किसी भी एक हिस्सेमें सारा मुस्लीम समाज भरा हुआ नहीं है, वह तो देशकी चारों दिशाओंमें बिखरा पडा है। जिस स्थानमें वह बहुसंख्यक है वहां भी वह अन्य समाजोंसे दूर नहीं है। किसी स्थानमें मुसलमानोंकी तादाद अधिक है तो किसी स्थानमें हिंदुओंकी। सभी स्थानोंमें हिंदु, मुसलमानों-के साथ अन्य सभी जमातोंका मिश्रण, बस्तीकी दृष्टिसे, हुआ ही है। ऐसे तो आजके प्रांत सभी जातियोंके मेलेका रूप लिये हुए हैं। देशका कोई कोना ऐसा नहीं है जहां केवल शुद्ध एकही जातिकी बस्ती हो। भारतहीमें क्यों संसारके अन्य देशोंमें भी सभी व्यवहारोंमें उलझनें भरी पडी हैं। किसी भी राष्ट्रमें धर्म, भाषा, इतिहास आदि बातें विशुद्ध होनेवाली जनताकी बस्ती मिलतीही नहीं-रह नहीं सकती। इस देशमें मुसलमान स्थान स्थानमें बिखरे पडे हैं यही नहीं, भिन्न प्रांतों-के अन्य समजोंके रीत-रिवाजों, भाषा आदिका संस्कार उनपर हुआ है और उनके प्रतिदिनके व्यवहारमें ये संस्कार स्पष्ट दीख पडते है।

कोंकणके बहुतेरे मुसलमान उर्दूके अलिफ बेभी नहीं जानते जहां मराठीमें अच्छी छात्रवृत्तियां प्राप्त करते हैं। उनका रहन-सहनभी हिंदुओंके जैसाही होता है। यहांतक कि कुछ मुसलमान देवताओंकी पूजा करते हुएभी पाये जाते हैं। इस देशके बहुसंख्यक मुसलमान हिंदुओंसे भ्रष्ट होकर या धर्म बदलकर बने हुए होनेसे उनमें परंपरागत संस्कार बने रहे हैं और अनेक सदियोंके मेलजोलसे दूसरोंसेभी कुछ संस्कार उन्होंने पाये हैं, जिससे बहुसंख्य मुसलमान जीवनक्षेत्रमें किसीभी वर्गसे या हिंदुओंसे बिलकुल भिन्न रहाही नहीं है। और तो और, एक प्रांतका मुसलमान दूसरे प्रांतके मुसलमानों-की दृष्टिमें चाल-ढाल, रीत-रिवाज आदि बातोंमें भिन्न मालूम होता है। पंजाब कश्मीर तथा दक्षिणके किसी प्रांतके मुसल-मानोंकी रहन-सहनमें बहुत कुछ भिन्नता पायी जाती है। बात भी ठीक है।

ऐसा होना अनिवार्य है। देश देशमें बिखरे पडे किसी भी समाजकी सभ्यता आदि शुद्ध या अपनी मूल सभ्यतासे बिलकुल मिलती जुलती रहही नहीं सकती। दक्षिणमुसलमानोंके कई रिवाज तथा भावनाएं हिंदुरीत-रिवाजोंसे मिलते हैं जहाँ उत्तर-भारतके हिंदुओंमें स्त्रियोंको परदेमें रखना आदि रिवाज मुसलमानी रिवाजोंसे मिलते हैं। कोई भी समाज अन्य समाजसे हरबातमें भिन्न रहाही नहीं है जिससे उसकी कोई अलग हस्ती नहीं है। इसीसे वह अलग राष्ट्र नहीं बन सकता, किन्तु एक राष्ट्रका वह अंग – घटक – बन जाता है; फिर उसकी जनसंख्या चाहे जितनी बडी हो। राष्ट्र वही समाज बन सकता है जो स्वतंत्र हो दूसरोंसे हरबातमें भिन्न हो।

राष्ट्रकी परिभाषाके अनुसार केवल दो बातोंसे राष्ट्रत्व सिद्ध होता है। मुसलमानोंकी कोई अलग प्रादेशिक सीमा नहीं है; न कोई अलग शासन-प्रबंध है। जो अन्य समाजोंके लिये लागू है वही मुस्लीमोंपर लागू है; अर्थात् मुसलमान एक अलग राष्ट्र नहीं है। स्वतंत्र राष्ट्रत्वके उनके दावेका कोई आधार नहीं-सब वे पेंदीकी बातें हैं। भारतकी सभी जातियाँ मिलकर ही एक राष्ट्र बनता है।

राष्ट्रका निर्णय करो

भारतमें बसी हुई सभी जमातें मिलकर एक राष्ट्र बना है और वे जमातें भारतके अंग, घटक, होनेसे इस देशके मुसलमानोंकोही नहीं, बल्कि, इस देशके पुराने बहुसंख्य हिंदुओंको भी आत्मनिर्णय कर अलग राष्ट्र बनानेका हक नहीं है। कौन कितनी बडी है इसका कोई महत्त्व नहीं रह जाता। देखा जाता है कि वह राष्ट्रका एक घटक-अंग है या नहीं, यही उसके व्यवहारका नाप-दण्ड होता है। कोई भी जमात, चाहे वह कई बातोंमें महत्त्वपूर्ण हों, किसी राष्ट्रका अंग हो तो उसे अपने सारे व्यवहार राष्ट्र-व्यवहारसे सापेक्ष रखनेही चाहिये। उन्हें अवास्तव महत्त्व दिया नहीं जा सकता। राष्ट्र-जीवनका यह मुख्य नियम है। इसीके अनुसार भारतकी सभी जमातोंका प्रथम कर्तव्य है कि प्रत्येक समाज आत्मनिर्णयके झमेलेमें न पडते हुए सब मिलकर समूचे राष्ट्रका निर्णय करें। हर निःपक्षपाती व्यक्ति यही कहेगा।

(१)

लक्ष्मणमाता सुमित्रा

(ले— श्री. पं. विष्णुशास्त्री पण्डित)

सुमित्रा मगध देशके शूरसेन राजाकी कन्या थी और दशरथकी तीन रानियोंमें बीचकी रानी थी। कौसल्यासे नीचे और कैकेयीसे ऊपर इसका स्थान था। इसके विषयमें आनन्द-रामायणकार ऐसा लिखते हैं—

तत्तो राजा दशरथः सुमित्रां मगधेशजाम्।
विवाहेनापरां पत्नीं चकार दयितां प्रियाम्॥
(आनन्द सारकाड २।७०)

" मगध राजाकी कन्या सुमित्राके साथ दशरथ राजाने अपना विवाह किया और उसे अपनी प्रिय पत्नी कर लिया।" इससे स्पष्ट होता है कि सुमित्रा राजकन्या नहीं थी, वह हीन कुलकी कन्या थी, ऐसा जो कइयोंने प्रचार चलाया है, वह निराधार है। यदि सुमित्रा राजकन्या न होती और हीन कुलमें उत्पन्न हुई कन्या होती, तो उसका मुख्य रानियोंमें समावेश होना असंभव ही था। वह मुख्य तीन रानियोंमेंसे एक थी, इससे भी सिद्ध है कि वह राजकन्या थी।

कैकेयीके साथ विवाह होनेके पश्चात् जैसा कौसल्यासे तथा सुमित्रासे भी दशरथका मन वैसा प्रेमपूर्ण नहीं रहा जैसा कि रहना चाहिये था। पर सुमित्रा अत्यंत गम्भीर स्वभावकी थी, इसलिये कैकेयीके विवाहसे जो परिस्थितिमें बदल हुआ, वह उसने ठीक तरह जान लिया और अपना मन शान्त रखकर जैसा कौसल्याके साथ वैसाही कैकेयीके साथ अपना सुचारु संबंध रखा और अपना सुमित्रा नाम सार्थ किया।

इस सुमित्राने अपने एक पुत्र लक्ष्मणको श्रीरामचन्द्रजी के साथ और दूसरे पुत्रको भरतके साथ रखकर अपना दोनोंके साथ संबंध जोड दिया। राम राजा हो या भरत, अपना पुत्र उसमेंसे प्रत्येकके साथ है, इसलिये अपनी स्थिति भावी राजाके साथ उसने सुरक्षित कर दी। यह प्रसंगके अनुकूल बर्ताव करनेका कौशल्य सुमित्रामें स्पष्ट दीखता है और वह उसकी बुद्धिमत्ताकी उत्तम साक्षी दे रहा है।

सुमित्रा शान्तताप्रिय थी, इसलिये राजकारणसे सदा पृथक् ही रहती थी। तथापि प्रसंग आनेपर सत्पक्षको सहाय्य भी करती थी। जब श्रीराम वनमें जाने लगे, उस समय उसने अपने पुत्र लक्ष्मणको उसके साथ जानेका उपदेश करते समय कहा-

सृष्टस्त्वं वनवासाय स्वनुरक्तः सुहृज्जने।
रामे प्रमादं मा कार्षीः पुत्र भ्रातरि गच्छति ५
व्यसनी वा समृद्धो वा गतिरेष तवानघ।
एष लोके सतां धर्मः यज्ज्येष्ठवशगो भवेत् ६
इदं हि वृत्तं उचितं कुलस्यास्य सनातनम्।
दानं दीक्षा च यज्ञेषु तनुत्यागो मृधेषु च ७
लक्ष्मण त्वेवमुक्त्वासौ संसिद्धं प्रियराघवम्।
सुमित्रा गच्छ गच्छेति पुनः पुनरुवाच तम् ८
(अयोध्या सर्ग २०)

" हे लक्ष्मण! तेरा प्रेम रामपर विशेष ही है। इसलिये उसके साथ वनवासमें जानेकी आज्ञा मैं तुम्हें देती हूं। राम अपने मित्रोंपर अत्यंत प्रेम करनेवाला है, वह वनमें जाता है, उसके साथ तू जा, पर सदा सावध रहकर उसकी सेवा कर। राम आपत्तिमें हो या संपत्तिमें हो, वही तेरे लिये सेवा करने योग्य है। ज्येष्ठ भाईकी सेवा करनाही सज्जनोंका सर्वसंमत धर्म है। ज्येष्ठ भाईके अनुकूल बर्ताव करनाही तुम्हारे कुलके अनुकूल है, यही तेरे कुलकी परंपरा है, वैसेही सत्पात्रमे दान, यज्ञ-दीक्षा और युद्धमें देहत्याग ये इस क्षत्रिय कुलके आचार हैं।"

ऐसा उपदेश करनेके पश्चात् सुमित्राने लक्ष्मणसे कहा कि 'हे लक्ष्मण, तू जा, अवश्य जा ' तथा उसने और भी कहा—

रामं दशरथं विद्धि मां विद्धि जनकात्मजाम्।
अयोध्यां अटवीं विद्धि गच्छ तात यथासुखम्॥

" हे लक्ष्मण! रामको दशरथ समझो, सीताकोही मेरे

स्थानमें मानो और वनको अयोध्या जानो और सुखसे अरण्यमें जाओ । "

इस तरह सुमित्रा दोनों रानियोंके साथ समभावसे व्यवहार करती थी । तथापि वह सत्पक्षका पालनभी करती थी। इसलिये कौसल्याके साथ अन्याय किया जा रहा है यह देखकर भी अपने प्रिय पुत्र लक्ष्मणको श्रीरामके साथ वनमें जानेके लिये उसने आज्ञा दी ।

जब रामचन्द्र कौसल्याके मन्दिरमें गया और अपने वनवास जानेका वृत्तान्त उसने कौसल्यासे कहा, तब सुमित्रा वहां थी, कौसल्याके शोक करनेपर उसका सुमित्राने सान्त्वन किया । इतनीही नहीं, परंतु राम वापस आनेतक कौसल्याकी सेवा शुश्रूषा भी उसीने यथोचित रीतिसे की ।

दशरथका प्राणोत्क्रमण कौसल्याके मंदिरमेंही हुआ, उस समय सुमित्रा वहीं थी । इससे पता लगता है कि वह रामके वनवास-गमनसे वहीं कौसल्याकी सहायतार्थ रही थी ।

श्रीरामके साथ वनमें जानेके लिये लक्ष्मणको उत्साहित करनेमें सुमित्राकी बडी दूरदर्शिता दिखाई देती है। क्योंकि लक्ष्मण स्वभावसे तीक्ष्ण स्वभावका था और बडा क्रोधी भी था । कैकेयीके इस तरहके वर्तावके कारण लक्ष्मणका मन भरतके विषयमें बडा दूषित हुआ था और भरतपर तथा कैकेयीपर वह बडाही क्रुद्ध हुआ था। उसने कहा भी था कि—

भरतस्याथ पक्ष्यो वा यो वास्य हितमिच्छति ।
सर्वांस्तांश्च वधिष्यामि मृदुर्हि परिभूयते १४
(अयोध्या. सर्ग २१)

" भरत, उसका हित करनेवाला अथवा उसके पक्षका जो भी होगा, उसका अथवा उन सबका मैं वध करूंगा। अब नरमीसे काम नहीं लिया जायगा ।" तथा और—

अपि द्रक्ष्यामि भरतं यत्कृते व्यसनं महत् ।
त्वया राघव संप्राप्तं सीतया च मया तथा ११
यन्निमित्तं भवान् राज्याच्च्युतो राघव शाश्वतात्
संप्राप्तोऽयं अरिर्वीर भरतो वध्य एव हि १२
भरतस्य वधे दोषं नहि पश्यामि राघव ।
पूर्वापकारिणं हत्वा न ह्यधर्मेण युज्यते १३
पूर्वापकारी भरतः त्यागे धर्मश्च राघव ।
एतस्मिन् निहते कृत्स्नां अनुशाधि वसुन्धराम् १४
अद्य पुत्रं हतं संख्ये कैकेयी राज्यकामुका ।
मया पश्येत् सुदुःखार्ता हस्तिभिन्नमिव द्रुमम् १५
कैकेयीं च वधिष्यामि सानुबन्धां सबान्धवाम् १६
शराणां धनुषश्चाहं अनृणोऽस्मिन् महाहवे ।
ससैन्यं भरतं हत्वा भविष्यामि न संशयः ३०
(अयोध्या. सर्ग ९६)

" हे रामचन्द्र ! जिस भरतके कारण आप राज्यसे भ्रष्ट हो गये हैं और आप को, सीताको और मुझको यह बडा संकट प्राप्त हुआ है, वह भरत यदि मेरे सम्मुख आवेगा, तो बडाही अच्छा होगा। यह भरत यहां अब सम्मुख आगया है, अब यह वधके लिये योग्य है। हे राघव ! भरतका वध करनेमें तो किसी तरह दोष नहीं है। जो प्रथम अपराध करता है, उसका वध करनेमें कोई दोष नहीं है। इसलिये उसका वध करना इस समय योग्यही है। इसका वध करनेसे तुम संपूर्ण पृथ्वीका अधिपति हो जाओगे। राज्यकी अभिलाषा करनेवाली यह कैकेयी अपने पुत्रका वध होनेसे दुःखी हो जावे। इतनाही नहीं परंतु उनके बन्धु-बान्धवोंके समेत कैकेयीका भी वध मैं कर डालूंगा। यह देखो मैं आज सेनाके समेत भरतका वध करके अपने बाणोंके और धनुष्यके ऋणसे मुक्त हो जाऊंगा । "

लक्ष्मणके इस भाषणसे पता लगता है कि यदि केवल रामही अकेला वनमें चला जाता और लक्ष्मण अयोध्यामें रहता, तो लक्ष्मण क्रोधके मारे भरतादिके वध करनेके लिये भी प्रवृत्त होता और आपसी युद्धमें अयोध्यामें बडा रक्तपात हो जाता। यह देखकर दूरदृष्टिसे सुमित्राने लक्ष्मणको रामके साथ वनमें जानेके लिये आज्ञा दी और आपसी झगडा बढने नहीं दिया और राज्यके ऊपर आनेवाला बडा संकट दूर किया। साथ साथ राम और सीताकी रक्षा भी की और रामके साथ मित्रताभी संपादन की।

कैकेयी और सुमित्राकी तुलना ।

कैकेयी अत्यंत स्वार्थी और सुमित्रा अत्यंत स्वार्थ-त्यागी थी। अपने पतिके प्राणोंकी भी पर्वा न करके अपने

पुत्र भरतको राज्य प्राप्त हो, इसइच्छासे कैकेयी घोर कर्मसे पीछे नहीं हटती है, परंतु सुमित्रा राज्यका संकट दूर करने, आपसके झगडे दूर करने और श्रीरामचन्द्रकी सहायता करनेके लिये अपने पुत्रको वन भेजती है।

कैकेयी अति क्रोधी थी तो सुमित्रा अत्यंत शान्त थी।

कैकेयी और सुमित्रा दोनों पुत्रवात्सल्यवती थीं, परंतु कैकेयी स्वार्थी और सुमित्रा निःस्वार्थी थी।

कैकेयी स्वभावसे दुष्ट दीखती नहीं है, पर सारासार विचार करनेमें पूर्णतया असमर्थ दीखती है, अतः वह मन्थराके कहनेसे ऐसा घोर कर्म करनेमें प्रवृत्त हुई। परंतु सुमित्रा गंभीर व स्वतंत्र विचार करनेवाली थी, इसलिये उसने अच्छा मार्ग निकाला और अपने पुत्रको रामके साथ वन भेज दिया।

इस तरह कैकेयी और सुमित्राके स्वभावकी तुलना है।

(३) भरतमाता कैकेयी

कैकेयी केकय देशके अश्वपति राजाकी कन्या और दशरथकी तृतीय धर्मपत्नी थी और इसपर दशरथकी अत्यंत प्रीति थी। देवासुर-संग्राममें दशरथ राजा देवोंकी सहायतार्थ गया था, वह युद्धमें घायल होकर मूर्च्छित हुआ और उसका सारथी मारा गया, ऐसे समयमें कैकेयीने सारथ्यकर्म किया और बडे धैर्यसे दशरथका रथ रण-क्षेत्रसे बाहर निकाला और दशरथको सुरक्षित स्थानमें पहुंचा दिया और वहां उसकी अत्यंत सेवा-शुश्रूषा करके उसको मृत्युसे बचाया। इस कारण भी दशरथ राजा कैकेयीपर अति प्रसन्न था।

इस तरह दशरथ राजाके प्राण रक्षण करनेके कारण कैकेयी रानी कौसल्या, सुमित्रा और तीन सौ पचास अन्य रानियोंके सौभाग्यका संरक्षण करनेके लिये कारण बनी थी। अर्थात् सभी रानियोंपर उसके बडे उपकारही थे, अतः वह सबसे अधिक राजाको प्रिय थी, इसमें क्या संदेह हो सकता है? इस कारण कैकेयी अन्य रानियोंका अपमान ही करती थी, परंतु मुख्य रानी कौसल्याको भी वह अपमानित करती थी। तथापि मन्थरा द्वारा कुविचारका फैलाव करनेतक कैकेयीके मनमें रामके विषयमें किसी तरह बुरा विचार उत्पन्न नहीं हुआ था। इतनाही नहीं, परंतु श्रीरामपर कैकेयी प्रेमही करती थी। इस विषयमें वाल्मीकिकाही वचन देखिये—

मन्थराया वचः श्रुत्वा शयनात् सा शुभानना।
उत्तस्थौ हर्षसंपूर्णा चन्द्रलेखेव शारदी ॥ ३१
अतीव सा तु सन्तुष्टा कैकेयी विस्मयान्विता।
दिव्यं आभरणं तस्यै कुब्जायै प्रददौ शुभम् ॥ ३१
दत्त्वा त्वाभरणं तस्यै कुब्जायै प्रमदोत्तमा।
कैकेयी मन्थरां दृष्ट्वा पुनरेवाऽब्रवीत् इदम् ॥ ३३
इदं तु मन्थरे मह्यं आख्यातं परमं प्रियम्।
एतन्मे प्रियमाख्यातं किं वा भूयः करोमि ते ॥ ३४
रामे वा भरते वाऽहं विशेषं नोपलक्षये।
तस्मात् तुष्टास्मि यत् राजा रामं राज्येऽभिषेक्ष्यति ॥ ३५
न मे परं किञ्चिदितो वरं पुनः।
प्रियं प्रियार्हे सुवचो वचोऽमृतम् ॥
तथा ह्यवोचस्त्वमतः प्रियोत्तरम्।
वरं परं ते प्रददामि तं वृणु ॥ ३६
(अयोध्याकांड सर्ग ७)

"रामको दशरथ राजा यौवराज्यका अभिषेक करनेवाला है, यह वचन श्रवण करके कैकेयी अत्यंत प्रसन्न हुई और शयनसे उठकर मन्थराको अत्यंत मूल्यवान् आभूषण अर्पण करके बोली, हे मन्थरे। तूने यह अत्यंत प्रिय वृत्त मुझे इस समय कहा है। इसलिये मैं तेरा और अधिक प्रिय क्या करूं, कह। राम और भरतमें मुझे कुछ भी न्यूनाधिक प्रतीत नहीं होता है। रामके लिये कल राज्याभिषेक होगा यह सुनकर मैं अत्यंत संतुष्ट हो गयी हूं। अतः कह कि मैं तेरा और कौनसा प्रिय करूं?"

कैकेयीका यह भाषण मन्थराको बिलकुल पसंद नहीं आया और कैकेयीकी मूर्खता देखकर उसको बहुतही बुरा लगा। तथा उसने कैकेयीसे कहा कि- 'हे कैकेयी!

यदि राम राजा हुआ तो तेरा और भरतका कितना अधःपात होगा, इसका तू विचार तो कर। तू भी कौसल्याकी दासी बनकर रहेगी। भरत तो रामका दासही होगा।' इत्यादि अनेक प्रकारसे उस कुब्जाने कैकेयीके मनमें विष भर दिया। तथापि कैकेयीने नहीं माना और मन्थरासे अन्तमें कहा—

धर्मज्ञो गुणवान् दान्तः कृतज्ञो सत्यवान् शुचिः।
रामो राजसुतो ज्येष्ठो यौवराज्यं अतोऽर्हति १४
भ्रातॄन् भृत्यांश्च दीर्घायुः पुत्रवत् पालयिष्यति।
संतप्यसे कथं कुब्जे श्रुत्वा रामाभिषेचनम् १५
भरतश्चापि रामस्य ध्रुवं वर्षशतात् परम्।
पितृपैतामहं राज्यं अवाप्स्यति नरर्षभः १६
सा त्वं अभ्युदये प्राप्ते दह्यमानेव मन्थरे।
भविष्यति च कल्याणे किमिदं परितप्यसे १७
यथा वै भरतो मान्यः तथा भूयोऽपि राघवः।
कौसल्यातोऽतिरिक्तं च मम शुश्रूषते बहु १८
राज्यं यदि हि रामस्य भरतस्यापि तत् तदा।
मन्यते हि यथात्मानं तथा भ्रातॄंस्तु राघवः १९
(अयोध्या. सर्ग ८)

कैकेयी मन्थरासे कहती है कि– "राम बडा धर्मज्ञ, गुणवान्, मनोनिग्रही, कृतज्ञ और पवित्र आचारवाला है। तथा सब भाईयोंमें ज्येष्ठ है। इसलिये वही युवराज-पदके लिये योग्य है। यदि राम राजा हुआ तो वह सब भाइयोंका और सब अन्योंका अच्छा पालन करेगा। रामका राज्याभिषेक होगा, यह सुनकर हे कुब्जे! तुझे दुःख क्यों हो रहा है? रामके पश्चात् अपना पितृपितामहसे चला आया राज्य भरतको भी प्राप्त होगा। यह तो अत्यंत शुभ समय है, ऐसे समयमें आनन्द करनेके स्थानपर तू दुःख क्यों करती है? जैसा भरत मुझे प्रिय है, वैसाही राम मुझे उससे भी अधिक प्रिय है। वह मेरा अधिक प्रिय करता है। अतः रामको राज्य प्राप्त होनेसे वह भरतको ही प्राप्त होनेके समान है। राम सब भाइयोंको समानही मानता है।"

इस भाषणसे कैकेयीका मन प्रथम कैसा शुद्ध था, इसका पता लग सकता है। कौसल्याका अपमान कैकेयी करती थी, पर रामके विषयमें उसका मन दोषयुक्त नहीं था। मन्थराने उसके मनमें जो विष भर दिया, उससे वह दोष आगे उत्पन्न हुआ। यद्यपि कैकेयी स्वभावतः बुरी नही थी, तथापि दूसरेके द्वारा भडकाई जानेपर भडक उठनेवाली थे। अर्थात् वह स्वयं सत्य असत्य निर्णय करनेमें असमर्थ थी।

कैकेयीके विवाहके समय राजा दशरथने कैकेयीके पिताको, कैकेयीके पुत्रको राज्य देनेका वचन दिया था। इस विषयमें श्रीरामकाही वचन देखने योग्य है—

पुरा भ्रातः पिता नः स मातरं ते समुद्वहन्।
मातामहे समाश्रौषीत् राज्यशुल्कं अनुत्तमम् ३
(अयोध्याकाण्ड, सर्ग १०७)

'हे भरत! तेरे पिताने तेरी माताके साथ विवाह करनेके समय तेरे मातामहको ऐसा वचन दिया कि राज्य कैकेयीके पुत्रकोही दिया जायगा।'

यह रामचन्द्रका भाषण उस समयका है जिस समय भरत चित्रकूट पर्वतपर जाकर रामको वापस आनेका आग्रह कर रहा था और इसके लिये प्रायोपवेशन करनेके लिये भी सिद्ध था।

यदि यह वचन सत्य माना जाय, तो सत्यप्रतिज्ञ दशरथ राजाने भरतको राज्य न देते हुए, रामकोही राज्य देनेकी कार्रवाही क्यों की? (वा. कां. ६।२–५) तथा यदि इस वचनका पता श्रीरामको था, तो उसने दशरथको अपना वचन सत्य करनेकी सूचना क्यों नहीं दी? कदाचित् ऐसा होना संभव है कि पुत्रने 'पिताकी आज्ञा' मान्य करनी चाहिये, अन्य बातें करनेकी पुत्रको क्या आवश्यकता है?

मन्थराको भी इस वचनका पता नहीं था, नहीं तो कैकेयीको बहकानेके लिये इस वचनका वह अवश्यही उपयोग कर लेती। संभव है इस वचनका पता मन्थराको न हो अथवा उसी वचनको सुदृढ करनेके लिये दूसरे दो वरोंका उसने आश्रय लिया हो। तथापि मन्थराको इसका पता होता तो वह उसका उल्लेख अवश्य करती, अतः यही अनुमान हो सकता है कि उसको इस वचनका पता नहीं था।

संभव है कि विवाहके समय उसके सामने यह वचन न दिया गया हो। इससे पता चलता है कि यह वचन दशरथ और कैकेयीका पिता राजा अश्वपतिके बीचमें एकान्तमें ही

दिया गया होगा और रामको उसका पता पीछेसे किसी तरह लगा होगा। इस वचनको शपथका स्थायी स्वरूप भी प्राप्त न हुआ होगा। क्योंकि वचन एक वार बोलना और बात है और प्रतिज्ञापूर्वक उसका त्रिवार उच्चार करके शपथ करना और बात है। तथापि इस वचनका आश्रय करके राजा युधाजित्- अश्वपतिका पुत्र- युवराज भरतका पक्ष लेकर इस वचनकी पूर्ति करानेके लिये रामके राज्याभिषेकमें विघ्न उत्पन्न करनेका संभव था। इसीलिये रामका राज्याभिषेक भरतको मामाके घर रखकर ही करानेकी इच्छा दशरथने की थी।

शादी आदिके समय दिये वचन प्रतिज्ञाके स्वरूपके नहीं होते, ऐसा भी एक पक्ष है। इस विषयमें स्मृतिवचन देखिये—

कामिनीषु विवाहेषु गवां भक्षे तथेन्धने।
ब्राह्मणाभ्युपपत्तौ च शपथे नास्ति पातकम्॥
(मनु अ. ८, श्लोक ११२)

विवाहमैथुननर्मार्तसंयोगेषु अदोषं एके अनृतम्॥
(गौतम अ ६)

उद्वाहकाले रतिसंप्रयोगे प्राणात्यये सर्वधनापहारे। विप्रस्य चार्थे ह्यनृतं वदेयुः पञ्चानृतान्याहुरपातकानि॥ (वसिष्ठ स्मृ अ १६)
न नर्मयुक्तं वचनं हिनस्ति न स्त्रीषु राजन् न विवाहकाले॥ प्राणात्यये सर्वधनापहारे पञ्चानृतान्याहुरपातकानि॥
(म भा. आ पर्व ८२·१६)

इन वचनोंके अनुसार विवाह-समय, रतिकाल, सर्व धनका अपहार होनेके समय, प्राण जानेके समय, विद्वान् ब्राह्मणका बचाव करनेके लिये असत्य बोला जाय, तो वह दोषकारी नहीं होता। इस वचनके अनुसार दशरथने अपने विवाहके समय दिया हुआ वचन उसके लिये बंधनकारी नहीं हो सकता, ऐसा कई कहते हैं।

ये सब वचन हैं। विद्वान् वाचक इनका विचार करें। अस्तु।

मन्थराने कैकेयीके मनमें स्वार्थका विष भर दिया, तब वह स्वार्थवश होकर अन्ध बन गयी। अपने पतिकी मृत्युकीभी उसे पर्वाह न रही। ऐसी कैकेयीकी अवस्था देखकर वृद्ध मंत्री सुमंत्र बडे क्रोधसे कहने लगा कि- 'हे कैकेयी! तू अपने स्वार्थके लिये अपने पतिका बलिदान करनेके लिये भी तैयार हो गयी है, यह तेरी माताका दुष्ट स्वभाव तेरे अन्दर उतरा है।' ऐसा कहकर कैकेयीकी माताका वर्णन उसने कहा। वह वर्णन ऐसा है–

" कैकेयीका पिता अश्वपति राजा सिद्ध पुरुषके प्रसादसे सब पशुपक्षियोंकी भाषाओंको जानता था। उस सिद्ध पुरुषने यह विद्या राजाको सिखा देनेके समय यह भी उसे कहा था कि 'यदि तू इस भाषाका मतलब किसी दूसरेसे कहेगा, तो उसी क्षण तेरी मृत्यु होगी।' एक समय एक जृम्भ नामक पक्षीका भाषण सुनकर वह राजा अश्वपति हंस पडा। कैकेयीकी माताने वह देखकर हंसनेका कारण पूछा। राजाने कहा कि ' यदि मैं यह तुम्हें बता दूं तो तत्काल मेरी मृत्यु होगी। अतः तुझे मैं यह बता देनेमें असमर्थ हूं।' उसपर वह बोली, ' चाहे तू मर जा, पर मुझे इसका आशय बता दे। अन्यथा मैं अभी मर जाऊंगी।' तब वह राजा बडा दुःखी हुआ और साधुके पास जाकर उसने साधुको सब वृत्तांत कह सुनाया और पूछा कि अब क्या करना चाहिये। तब उस सिद्ध पुरुषने कहा कि ' वह चाहे मर जाय। यदि तू जीवित रहना चाहता है, तब तो तुम्हें उचित है कि यह बात उससे न कहो।' इस तरह राजा अश्वपतिने कैकेयीकी माताका त्याग किया, जिससे उसका प्राण बचा और वह आनन्दसे रहने लगा।"

सुमन्त्रने यह बात इस समय राजा दशरथको इसलिये सुनाई कि वह भी अपने बचावके लिये ऐसाही करे। वह कैकेयीका त्याग करे और अपनी जान बचावे। पर दशरथमें यह धैर्य नहीं था और रामने भी कैकेयीके वचनका स्वीकार करके वनमें जानेके लिये अपनी सिद्धता की थी। इस कारण सुमन्त्रके इस सूचनाका कोई परिणाम दशरथपर नहीं हुआ। (अयो. स. ३५श्लो. १७–२८ देखो)

इस तरह कैकेयीकी माताका वृत्तांत भी कैकेयीके समान ही तिरस्करणीय है। इसीलिये कहते हैं कि विवाहमें कुलशील देखना चाहिये।

रावणके साम्राज्यका नाश करनेकी इच्छा करनेवाले ऋषि और मुनि

(ले- पं. श्री दा सातवळेकर)

रावणके आसुरी साम्राज्यका नाश करनेकी आयोजना ऋषि और मुनियोंने श्रीरामके जन्मके पूर्वही राजा दशरथ के राजसूय और पुत्रकामेष्टियज्ञमें की थी। देवजातिके नेता इसकी सहायता गुप्त रूपसे कर रहे थे, पर भारतके उस समयके ३०० राजगण इस आयोजनामें किसी तरह शामील नहीं हुए थे। इस विषयमें इस समयतक बहुत लिखा गया है। अब ऋषि मुनि इस आसुरी साम्राज्यके नाशके लिये किस तरह यत्न करते थे, यह बात यहां देखिये-

तमप्रतिमतेजोभ्यां भ्रातृभ्यां रोमहर्षणम्।
विस्मिताः संगमं प्रेक्ष्य समुपेता महर्षयः ॥ १
अन्तर्हिता मुनिगणाः स्थिताश्च परमर्षयः।
ततस्त्वृषिगणाः क्षिप्रं दशग्रीववधैषिणः।
भरतं राजशार्दूलं इत्यूचुः संगता वचः ॥ ४
कुले जात महाप्राज्ञ महावृत्त महायशः।
ग्राह्यं रामस्य वाक्यं ते पितरं यद्यवेक्षसे ॥ ५
सदानृणमिमं रामं वयमिच्छामहे पितुः।
अनृणत्वाच्च कैकेय्याः स्वर्गं दशरथो गतः ॥ ६
एतावदुक्त्वा वचनं गंधर्वाः समहर्षयः।
राजर्षयश्चैव तथा सर्वे स्वां स्वां गतिं गताः ७

(अयोध्या. सर्ग ११३)

"उन असीम तेजस्वी बन्धुओंका शरीरपर रोंवें खडे करनेवाला यह वार्तालाप श्रवणकरके वहां गुप्त रूपसे (अन्तर्हिताः मुनिगणाः) इकट्ठे हुए मुनि और ऋषिगण आश्चर्यसे गद्गद हुए। गुप्त रूपसे संचार करनेवाले वे ऋषि-मुनि राम और भरतकी बहुत प्रशंसा करने लगे। रावणका आसुरी साम्राज्य नष्ट करने उस दुष्ट रावणका वध करनेकी इच्छा करनेवाले वे मुनिगण वहां इकट्ठे होकर भरतसे बोलने लगे- 'हे भरत! तुम कुलीन, ज्ञानी, सदाचारी और बडा यशस्वी हो। इस कारण तुम वैसाही आचरण करो जैसा कि श्रीरामचन्द्रजी महाराज कह रहे हैं। ऐसा करना तुम्हें योग्य है। राम कदापि पिताके ऋणमें न रहें। हम तो यही चाहते हैं। रामके वनवासमें आनेसे राजा दशरथ कैकेयीके ऋणसे मुक्त हो गये और सरल स्वर्गधामको पधारे हैं। इसलिये रामचन्द्रजी वनमेंही रहें और भरत अयोध्यामें जाकर राज्य करें।' ऐसा बोलकर वे ऋषिमुनि जैसे गुप्त मार्गसे आये थे, वैसेही गुप्त रीतिसे चले गये।

इससे स्पष्ट प्रतीत हो रहा है कि ये ऋषिमुनि रावणके आसुरी साम्राज्यका नाश करनेकी आयोजनामें लगे थे। उस आयोजनाकी सफलताके लिये राम और लक्ष्मणका वनमें रहना आवश्यकही था। रामचन्द्र वनमें न रहते तो आगेका प्रबंध सफल होना सर्वथा असंभव था। भरतके कहनेके अनुसार यदि उस समय रामचंद्र अयोध्यामें चले जाते और वनमें न रहते, तो ऋषियोंकी आयोजना सफल न होती। इसलिये ऋषि मनसे यही चाहते कि श्रीरामचन्द्रजी वनमेंही निवास करें। रामायणका वर्णन देखनेसे ऐसा स्पष्ट मालुम होता है कि ऋषिमुनि रामचन्द्रजीकी हलचलपर अपनी दृष्टि रखते थे। जहां जहां श्रीरामचन्द्रजी के वापस अयोध्या जानेका संभव उत्पन्न होता था, वहां कहींसे अचानक ऋषि आते थे और किसी न किसी युक्तिसे उनको वनमेंहि रहनेकी सलाह देते थे। उसी तरह राम और भरतके संवाद होनेके समय ऋषियोंका अचानक आना और भरतको अयोध्यामें रहने तथा रामको वनमेंही रहनेकी मंत्रणा देना, यह प्रसंग अनेक प्रसंगोंमेंसे एक है।

संपूर्ण रामायणमें ऋषि-मुनियोंकी यह गुप्त हलचल देखने योग्य है। ऋषियोंने यह भी कहा था कि रामका वनवास जनताका सुख बढानेवाला होगा। देखिये-

रामका वनवास राष्ट्रका सुख बढायेगा

न दोषेणावगन्तव्या कैकेयी भरत त्वया।
रामप्रव्राजनं ह्येतत् सुखोदर्कं भविष्यति ॥ ३०
देवानां दानवानां च ऋषीणां भावितात्मनाम्।
हितमेव भविष्यद्धि रामप्रव्राजनादिह ॥ ३१

(अयोध्या. सर्ग ९२)

जब भरत अपनी माता कैकेयीकी बडी निंदा करने लगा, तब भरद्वाज ऋषि भरतसे बोले- 'हे भरत! तुमने अपनी माता कैकेयीकी इस तरह निन्दा न करना। श्रीरामचन्द्रजीका वनवास अन्तमें जनताका हित करनेवाला ही सिद्ध होगा। देव, दानव, (मानव और) ऋषि इन सबका इससे हित होगा।'

यह हित क्या है, यह बात ऋषि बोलते नहीं, क्योंकि जो १०।१२ वर्षोंके बाद होनेवाली बात है, वह आज बोलना उचित नहीं है। (दशग्रीव-वधैषिणः) रावणका नाश करना चाहिये, यह बात सब ऋषि मनमें रखते थे। भरद्वाज ऋषि वनमें इसी कार्यके लिये बैठे थे। राम वनमें गये, यह देखकर उनको आनन्द हुआ।

इससे ऐसा स्पष्ट प्रतीत होता है कि ऋषियोंकी आयोजना रावणका आसुरी साम्राज्य नष्ट करनेके लिये हो चुकी थी। भरद्वाज ऋषि इसको अच्छी तरह जानते थे। इसीके लिये रामको वनमें ले जाना अत्यावश्यक था। रामके वनवास-गमनके लिये मन्थराको देवों और ऋषियोंने तैयार किया था और मन्थराने कैकेयीका मन कलुषित किया, जिससे रामचन्द्रजीका वनवास सिद्ध हुआ। रावणके राज्यका नाश करनेमें मन्थराकी सहाय्यता बडाही महत्त्व रखती है। मन्थराको वश करनेके लिये उसका कुछ लाभ भी कर दिया होगा। राम अभी वनमें आये हैं। आयोजनाकी सिद्धि में अभी बडी देरी है। इसलिये इस समय अपनी गुप्त बात बाहर प्रकट होना योग्य नहीं है। इस कारण भरद्वाज ऋषि मुख्य बातको प्रकट नहीं करते, पर इतना कहते हैं कि कैकेयीका कार्य इतना तिरस्कार करनेके योग्य नहीं है। रामका वनवास हितकारक सिद्ध होगा, और तब इससे सबको आनन्दही होगा। पर यहां वे यह नहीं कहते कि रामके वनवाससे जनताका आनन्द कैसा बढेगा ! यही तो गुप्त बात है।

कैकेयीपर क्रोध न करो !

कामाद्वा तात लोभाद्वा मात्रा तुभ्यमिदं कृतम्।
न तन्मनसि कर्तव्यं वर्तितव्यं च मातृवत् १९
मातरं रक्ष कैकेयीं मा रोषं कुरु तां प्रति।
मया च सीतया चैव शप्तोऽसि रघुनन्दन २८
(अयोध्या. सर्ग ११३)

" प्रेमसे किया हो अथवा लोभसे किया हो, जो यह तेरी माताने किया है, वह अब तू हे भरत ! मनमें न रख और माताके साथ पूर्ववत् मातृयोग्य प्रेमसे बर्ताव कर, माता कैकेयीकी सेवा कर और उसकी उत्तम प्रकार रक्षा कर। उसपर क्रोध न कर। हे भरत ! तेरे लिये मेरी तथा इस सीताकी शपथ है।"

ऐसा श्रीरामचन्द्रजी कहते हैं। रामचन्द्रजीको अबतक पताभी नहीं लगा था कि ऋषिमुनियोंकी बडी क्रान्तिकारी आयोजना रावणका आसुरी साम्राज्य नष्ट करनेके लिये चली है और मैं एक उसका पुर्जा हूं। उस समयके अनुभवसे रामचन्द्रजी इतनाही जानते थे कि ऋषि मुनियोंको राक्षसोंसे बहुतही कष्ट पहुंच रहे हैं, इसलिये ऋषियोंके धर्मकर्म ठीक तरह होनेके लिये राक्षसोंको दूर करना अत्यंत आवश्यक है। रामचन्द्र इतनाही जानते थे और इतनीहि अपनी जिम्मेवारी है, ऐसा समझते थे। श्रीरामचन्द्रजीके ऊपरका यह उत्तरदायित्व प्रतिदिन बढनेवाला है। रामचन्द्रजीके कुलाचार्य ऋषि वसिष्ठजी तथा उनके मित्र विश्वामित्र ऋषि ये दोनों उक्त आयोजना को यथावत् जानते थे, तथापि इनमेंसे किसीने भी श्रीरामचन्द्रजीको इस समयतक इस विषयमें कुछ भी नहीं कहा था, क्योंकि इस समय कहना उचित भी नहीं था।

भरद्वाज ऋषि तथा दूसरे गुप्त रूपसे संचार करनेवाले ऋषिमुनि ये सब भरतसे इतनाही कहते थे कि 'कैकेयीपर क्रोध न करो,' राम भी वैसाही कहते थे। यद्यपि श्रीरामचन्द्रजीको ऋषियोंकी हलचलका बिलकुल पता नहीं था, तथापि ऋषिमुनि सब उस बातको जानते थे। ये सब एकही बात कहते हैं और ऐसा भी कहते हैं कि रामके वनवाससे सब जगत्का कल्याण होगा, इसलिये इनको वह कल्याण किस परिणामसे होनेवाला है, इसका पता अवश्य ही था। श्रीरामचन्द्रजीको यद्यपि ऋषियोंके अन्दरकी बातका पता नहीं था, तथापि राक्षसोंका उपद्रव कम करना चाहिये, इतना तो वे अच्छी तरह जानते ही थे।

ऋषि विश्वामित्रने जो श्रीरामचन्द्रजीको शिक्षा दी थी, उसमें राक्षसनाश करनेकी बात बीजरूपसे थी। उसके पश्चात् उसने स्वयं वनवासमें राक्षसोंका उपद्रव प्रत्यक्ष देखा था और अनेक ऋषिमुनियोंने उसे कहाभी था। संभव है कि वे ऋषि भी आयोजनाका स्वरूप जानते ही होंगे। रामचन्द्रजी अत्यंत बुद्धिमान् थे, अतः जो देखा उससे उन्होंने अवश्यही सब परिस्थिति जानही ली होगी। सब ऋषि तो रावणका नाश करनेके लिये बद्धपरिकर थेही, इस लिये श्रीरामचन्द्रजीसे ऋषिमुनियोंके जो जो वार्तालाप

हुए होंगे, उन सबका एकही परिणाम श्रीरामचन्द्रजीपर होना था। यह मान लिया जायगा कि ऋषियोंने वैसी प्रकट बात नहीं की होगी, तथापि सबका संकेत एकही होगा और वह यह कि राक्षसोंके विषयमें उनके मनमें अप्रीति उत्पन्न करना। यह तो ऐसाही श्रीरामचन्द्रजीके मनमें बन चुका था।

ऋषियोंके कथन

चित्रकूटसे चलकर श्रीरामचन्द्रजी अत्रि ऋषिके आश्रम को पहुंचे। अत्रि ऋषि तथा उनकी धर्मपत्नी अनुसूयाने राम, लक्ष्मण और सीताका बडा स्वागत किया और उनको कुछ समयके लिये अपने आश्रममें ठहराया। सती अनुसूयाने सीताको पुष्पमाला, वस्त्र तथा आभूषण दिये तथा उबटना भी ऐसा दिया कि जिसके लगानेसे शरीर सतेज रह सके। साध्वी सीताने उस सबका स्वीकार किया। यह पुष्पमाला सदा ही उत्तम अवस्थामें रहनेवाली थी, वस्त्र ऐसा था कि जो कभी मलिनही न हो सके और उबटना तो शरीरका तेज बढानेवाला था।

अत्रि ऋषिकी आज्ञा लेकर जब रामचन्द्रजी आगे चलने लगे, तब वहांके सभी ऋषि रामसे बोले कि "यहां राक्षसोंका बहुत ही उपद्रव होता है, उसका निवारण करना तुम्हें योग्य है।" (अयोध्या० ११९-२०)

ऋषियोंने आगे जानेका मार्ग श्रीरामचन्द्रजीको बता दिया। तब राक्षसोंके नाश करनेका विचार करते हुए श्रीरामने उस वनमें प्रवेश किया। श्रीरामचन्द्रजीका इसके आगेका प्रयत्न राक्षसोंका नाश करनेके विषयमें ही हुआ है। ऐसा होना स्वाभाविक भी है। इन राक्षसोंका केन्द्र कहां है, इसकी भी खोज उन्होंने की होगी। क्योंकि वालीके वधके समय रामचन्द्रजीने कहा है कि "इस वनका राज्य मुझे राजा दशरथने दिया है और इस वनमें जो दुष्ट हैं उनको दण्ड देना मेरा कर्तव्य ही है। मैं यहांका राजा हूं और उस अधिकारसे मैंने तुम्हारा वध किया है अर्थात् इसी तरह अन्य दुष्टोंका भी मैं नाश करूंगा।" यहां यही सूचित हो रहा है।

रामके कारण राक्षस अधिक क्रुद्ध हुए

चित्रकूट पर्वतपर रामचन्द्रजीका निवास होनेके पूर्व और निवास होनेपर भी उस स्थानमें बहुतही तापसी रहते थे। रामचन्द्रजी वहां निवास करनेपर तो तापसियोंकी संख्या बहुत ही बढ गयी। पर जैसा जैसा रामचन्द्रजीका निवास वहां होने लगा, और उनके शौर्यवीर्यका प्रभाव राक्षसोंको मालूम होने लगा, वैसा वैसा राक्षसोंका उपद्रव अधिकाधिक होने लगा। तापसी इससे बडे दुःखी हुए। वे आपसमें इस बारेमें बोलते थे, पर रामचन्द्रजीके सम्मुख आकर बोलनेमें संकोच करते थे, क्योंकि वह राजपुत्र थे और उनका बर्ताव भी उत्तम था। इसलिये वे तापसी उनको कैसे कह सकते थे कि 'तुम्हारे कारण यह राक्षसों का उपद्रव हमें पूर्वकी अपेक्षा अधिक हो रहा है।' इसलिये वे आपसमें बातें करते थे, पर खुले तौरपर कोई बोलता न था। पर प्रतिदिन राक्षसोंका उपद्रव बढने लगा, इसलिये अन्तमें कई ऋषियोंने रामचन्द्रजीसे कहा—

त्वन्निमित्तमिदं तावत्तापसान्प्रतिवर्तते।
रक्षोभ्यस्तेन संविग्नाः कथयन्ति मिथः कथाः१०
रावणावरजः कश्चित्खरो नामेह राक्षसः।
उत्पाट्य तापसान्सर्वाञ्जनस्थाननिवासिनः ११
धृष्टश्च जितकाशी च नृशंसः पुरुषादकः।
अवलिप्तश्च पापश्च त्वां च तात न मृष्यते १२
त्वं यदाप्रभृति ह्यस्मिन्नाश्रमे तात वर्तसे।
तदाप्रभृति रक्षांसि विप्रकुर्वन्ति तापसान् १३
प्रतिघ्नन्त्यपरान् क्षिप्रमनार्याः पुरतः स्थितान्।
तैर्दुरात्मभिराविष्टानाश्रमान्प्रजिघांसवः।
गमनायान्यदेशस्य चोदयन्त्यृषयोऽद्य माम् १८
खरस्त्वय्यपि चायुक्तं पुरा राम प्रवर्तते।
सहास्माभिरितो गच्छ यदि बुद्धिः प्रवर्तते २१
सकलत्रस्य संदेहो नित्यं युक्तस्य राघव।
(अयोध्या. सर्ग ११७)

'हे रामचन्द्रजी! तुम्हारे कारण ही ये ऐसे घोर कष्ट इन तापसियोंको राक्षसोंद्वारा दिये जा रहे हैं। इस कारण ये सब तापस गण इस चित्रकूटको छोडकर दूसरे स्थानपर जानेकी इच्छा कर रहे हैं और कई गये भी हैं। रावणका एक छोटा भाई खर इस नामवाला है, वह यहां रहता है और इन ऋषियोंको सताता है। आपका यहांका निवास उसको पसंद नहीं है। (क्रमशः)

भगवद्गीता और वेदगीता

(ले०- श्री० पं० जगन्नाथशास्त्री, न्यायभूषण, ज्योतिषी, प्रिन्सिपल, महिला संस्कृत कालेज, लैय्या)

(३२) यदृच्छया चोपपन्नं स्वर्गद्वारमपावृतम् ।
सुखिनः क्षत्रियाः पार्थ लभन्ते युद्धमीदृशम् ॥
(भ. गी. अ. २, श्लो. ३२)

अर्थ— (हे पार्थ !) हे पृथाके पुत्र अर्जुन ! (यदृच्छया) प्रयत्नके बिना (उपपन्नम्) अपनेआप प्राप्त हुए हुए (च) और (अपावृतम्) सम्मुख खुले हुए (स्वर्गद्वारम्) वैकुण्ठके द्वारवाले (ईदृशम्) इस प्रकारके (युद्धम्) युद्धको (सुखिनः) बडे सुखी, विशाल भाग्यवाले (क्षत्रियाः) क्षत्रिय लोग (लभन्ते) लाभ करते हैं ॥३२॥

वेदगीता (मंत्रः)

ये युध्यन्ते प्रधनेषु शूरासो ये तनूत्यजः ।
ये वा सहस्रदक्षिणास्ताँश्चिदेवापि गच्छतात् ॥
(ऋ० १०।१५४।३; अथर्व. १८।२।१७, तै. आ. ६।३।२)

अर्थ— (ये) जो (शूरासः) शूर वीर क्षत्रिय योग (प्रधनेषु) वीरोंके युद्ध करनेसे जहां भूषणादि बिखरे हुए होते हैं, ऐसे युद्धस्थलोंमें (युध्यन्ते) युद्ध करते हैं और जो उन संग्रामोंमें (तनूत्यजः) शरीरोंका त्याग करते हैं (वा) अथवा (ये) जो क्षत्रिय (सहस्रदक्षिणाः) हजारों दक्षिणावाले यज्ञ करते हैं, या हजारों स्वर्णमुद्राएँ दान देते हैं, वह जिन लोकोंको प्राप्त होते हैं, हे वीर ! तू (अपि) भी (तान् चित्) ऐसे लोकोंको प्राप्त हो ॥ (यही वचन मनु० ७।८९ में भी आया है ।)

आहवेषु मिथोऽन्योऽन्यं जिघांसन्तो महीक्षिताः ।
युध्यमानाः परं शक्त्या स्वर्गं यान्त्यपराङ्मुखाः ॥

अर्थ— युद्धमें एक दूसरेको हनन करनेकी इच्छा रखनेवाले जो क्षत्रिय राजा हैं, वे अपनी पूर्ण शक्तिके अनुसार युद्धसे मुख न मोडते हुए परस्पर युद्ध करते हुए स्वर्गलोकको पहुंच जाते हैं ।

तुलना— गीतामें क्षत्रियका युद्धमें लडकर मरना, स्वर्गकी प्राप्तिका साधन बताया है । वेद और मनुमें भी युद्धमें लडकर मृत्यु पाना स्वर्गका साधन बताया है ।

(३३) अथ चेत्त्वमिमं धर्म्यं संग्रामं न करिष्यसि ।
ततः स्वधर्मं कीर्तिं च हित्वा पापमवाप्स्यसि॥
(भ. गी. अ. २, श्लो. ३३)

अर्थ— (अथ चेत्) फिर यदि (त्वम्) तू (इमम्) इस (धर्म्यम्) क्षत्रियधर्मानुसार धर्ममय (संग्रामम्) युद्धको (न करिष्यसि) न करेगा, (ततः) तो (स्वधर्मम्) अपने क्षत्रियधर्मको (च) और (कीर्तिम्) नेकनामीको (हित्वा) छोडकर (पापम्) पापहीको (अवाप्स्यसि) प्राप्त होगा ॥३३॥

वेदगीता (मंत्रः)

वि दुर्गा वि द्विषः पुरो घ्नन्ति राजान एषाम् ।
नयन्ति दुरिता तिरः ॥
(ऋ० १।४१।३)

अर्थ— (राजानः) क्षत्रिय लोग (एषाम्) इस युद्धमें लडनेवाले सेनापतियोंके (पुरः) सामने (दुर्गा) कठिनसे कठिन शस्त्रास्त्रोंको अथवा कठिनतासे पहुंचने योग्य नगरोंको (वि घ्नन्ति) अच्छी तरहसे नाश कर देते हैं । और (द्विषः) शत्रुओंको भी (वि घ्नन्ति) अच्छी तरहसे नाश कर देते हैं (तथा) और (दुरिता) स्वधर्मका परित्याग और अपकीर्तिमयी बुराइयोंको (तिरः + नयन्ति) दूर कर देते हैं । (वह समझते हैं कि यदि स्वधर्म-परिपालनके लिये युद्ध न किया जावे, तो स्वधर्म-परित्याग करनेसे बदनामी होगी ।)

(३४) अकीर्तिं चापि भूतानि कथयिष्यन्ति तेऽव्ययाम् ।
संभावितस्य चाकीर्तिर्मरणादतिरिच्यते ॥
(भ. गी अ. २, श्लो. ३४)

अर्थ— (च) और (भूतानि) सब लोग तेरी (अव्ययाम्) बहुत समयतक रहनेवाली (अकीर्तिम्) महा घोर अपयशको (कथयिष्यन्ति) कथन करेंगे (च) और ([illegible]) श्रेष्ठ आदरणीय पुरुषोंकी (अकीर्तिः) बदनामी (मरणात्) उसके मरनेसे भी (अतिरिच्यते) अति दुःखदायी होती है ॥३४॥

वेदगीता (मंत्रः)

यद्चरस्तन्वा वावृधानो बलानीन्द्र प्र-
ब्रुवाणो जनेषु । मायेत् सा ते यानि युद्धा-
न्याहुर्नाद्य शत्रुं ननु पुरा विवित्से ॥

(ऋ० १०।५४।२; शतप० ११।६।१।१०)

अर्थ— (इन्द्र) हे क्षत्रियात्मन् ! (तन्वा) तू अपनी शूरतावाले शरीरसे (वावृधानः) नेकनामी आदिसे वृद्धिको प्राप्त होता हुआ (जनेषु) लोगोंमें (बलानि) अपनी सामर्थ्यको (प्रब्रुवाणः) अच्छी तरहसे प्रकाशित करता हुआ (यत्) जिस काम(अचरः) अब करना चाहता है, (ते) तेरी पहिले पैदा की हुई (सा) वह कीर्ति (माया इत्) झूटीही होगी और (पुराविदः) तेरे पहिले किये हुए युद्धोंकी कीर्तिको जाननेवाले लोग (यानि) जिन (युद्धानि) तेरे युद्धोंको (आहुः) आपसमें बातें करते हैं, वह भी (माया इत्) व्यर्थही हो जाएंगीं । क्योंकि (अद्य) आज या अब (शत्रुम्) मारने योग्य शत्रुको (न विवित्से) तू जानना नहीं चाहता । (ननु) क्या (पुरा) पहिले युद्धोंके समयमें भी (शत्रुम्) शत्रुको तूने हाथियोंमें लिया था ऐसा भी नहीं माना जा सकता ?

तुलना— गीताके ३३, ३४ श्लोकोंमें संग्रामसे हटनेका फल स्वधर्मपरित्याग और अपकीर्ति, प्रत्युत अपकीर्तिको मरनेसे भी अधिक दुःखदायी बताया है । वेदमें भी पूर्वकृत संग्रामोंसे उत्पन्न हुई हुई कीर्तिका नाश और जगत्में बदनामी होना, वीर पुरुषके लिये बताया गया है ।

(३५) भयाद्रणादुपरतं मंस्यन्ते त्वां महारथाः ।
येषां च त्वं बहुमतो भूत्वा यास्यसि लाघवम् ॥

(भ. गी. २, श्लोक ३५)

अर्थ— हे अर्जुन ! (महारथाः) भीष्म, द्रोण, दुर्योधनादि महारथी (त्वाम्) तुझ वीरको (भयात्) कर्णादि वीरोंके डरसे (रणात्) युद्धभूमिसे (उपरतम्) भागा हुआ (मंस्यन्ते) ऐसाही विचार करेंगे और मानेंगे (च) और (येषाम्) जिन भीष्मादियोंकी दृष्टिमें (त्वम्) तू (बहुमतः) बहुत मान योग्य (भूत्वा) होकर (लाघवम्) बहुतही लघुताको(यास्यसि) प्राप्त होगा ॥३५॥

वेदगीता (मंत्रः)

दूरे तन्नाम गुह्यं पराचैर्यत् त्वा भीते अह्वयेतां
वयोधै । उदस्तभ्नाः पृथिवीं द्यामभीके भ्रातुः
पुत्रान् मघवन् तित्विषाणः ॥ (ऋ. १०।५५।१)

अर्थ– (हे मघवन्) हे धनवाले क्षत्रिय वीर ! (यत्) जिस समय (भीते) शत्रुसे डरे हुए स्त्रीपुरुष (वयोधै) अपनी आयुके धारण करनेके लिये अर्थात् अपनी रक्षाके लिये (त्वाम्) तुझ वीरको (अह्वयेताम्) बुलाते थे, तब तू उसी क्षत्रिय-बलसे (पृथिवीम्) पृथिवीपर रहनेवाले जीवोंको तथा (द्याम्) आकाशचारी वायुयानमें ठहरे हुए जीवोंको तथा (भ्रातुः पुत्रान्) पालने योग्य पुरुषोंके पुत्रोंको अथवा भाईके पुत्रोंको (तित्विषाणः) वीरताके प्रकाशसे उत्साही करता हुआ (अभीके) अपने पास [अभीके=निघंटुमें पासका अर्थ है यद्वा अ+भी+के] भयसे रहित सुख अवस्थामें, (उत्) ऊंची उन्नत अवस्थामें (अस्तभ्नाः) स्थिर करता था । अब तू यदि युद्धसे डर कर भाग जावे तो (पराचैः = परा + अञ्चु) तुझसे पराङ्मुख अर्थात् अपने शत्रुयोद्धाओंसे (तत् +नाम) वह तेरा नाम (गुह्यम्) चुपचाप लेने योग्य छिपी हुई वस्तुकी तरह (दूरे) वीरोंकी गणनासे दूर हो जाइगा ।

तुलना– गीतामें "जिनका नाम बडे बडे शूर वीर मानके साथ लेते हैं, यदि वही डरसे युद्धभूमिसे भाग जावे तो वह निन्दा के योग्य और बहुत साधारण पुरुष कहा जाता है," ऐसा बताया । वेदमें जिन वीर पुरुषोंके नाम वीरोंकी गणना मुख्यतया होती हो, यदि वह शत्रुके डरसे अथवा जीवहत्याके डर क्षात्रधर्मका परित्याग करें, तो उनका नाम वीरोंकी गणनासे बहुत दूर हटा जाता है, यह बताया गया है ।

(३६) अवाच्यवादांश्च बहून् वदिष्यन्ति तवाहिताः ।
निन्दन्तस्तव सामर्थ्यं ततो दुःखतरं नु किम् ॥

(भ. गी. अ० २, श्लो० ३६)

अर्थ– हे अर्जुन ! (तव) तेरे (अहिताः) दुर्योधन, कर्णादि शत्रुलोग (च) भी (तव) तेरी (सामर्थ्यम्) लोकप्रसिद्ध असाधारण बाहुबलके विषयमें (निन्दन्तः) निन्दा करते हुए (बहून्) बहुत प्रकारके (अवाच्यवादान्) न बोलने योग्य अश्लील वचनोंको (वदिष्यन्ति) बोलेंगे । (ततः) उससे बढकर (दुःखतरम्) अधिक दुःख (नु किम्) कौनसा है ? ॥३६॥

वेदगीता (मंत्रः)

या शशाप शपनेन याऽघं मूरमादधे ।
या रसस्य हरणाय जातमारेभे तोकमत्तु सा ॥

(अथर्व. कां. १ सू. २८, मं. ३)

अर्थ– (या) जो क्षत्रिय प्रजा (त्वाम्) तुझ डरपोकको (शपनेन×) शापके कारणरूप न बोलने योग्य अश्लील वाक्योंसे (शशाप*) क्रोधसे निन्दा करती है, (या) जो वीर क्षत्रिय प्रजा (मूरम्+) तेरी मोहित अथवा मूर्च्छित करनेवाले (अघम्) पलायनरूप पापको (आदधे) स्वीकार करती है अर्थात् युद्धभूमिसे तेरे भागनेको पाप समझती है, (या) और क्षत्रिय जनता (जातम्) तेरे शरीरमें उत्पन्न हुए हुए बलको और (रसस्य) शरीरमें रहनेवाले बलके तत्त्वके (हरणाय) विनाशके लिये (आरेभे) आरंभ हुई हुई है, (सा) वह सारी तेरे विरुद्ध खडी हुई क्षत्रिय जनता (तोकम्) अपनेसे उत्पन्न हुई हुई अपनी बलरूपी सन्तानको (अत्तु) खावे। अर्थात् तुझसे डरकर अपने शारीरिक बलको थोडा समझे ॥

तुलना– गीतामें रणभूमिसे डरकर भागनेवालोंकी पूर्ण रीतिसे निन्दा, तथा इससे अधिक दुःख और कोई नहीं है, ऐसा बताया है। वेदमें भी रणभूमिसे भागनेवालेकी पूर्णतया निन्दा, शत्रुसे कहे हुए अवाच्य शब्द, शारीरिक बलके विनाशके कारण बताये हैं तथा युद्धमें न डरकर लडनेवालेके शत्रुओंके बलके नाशको भी बताया है।

(३७) हतो वा प्राप्स्यसि स्वर्गं जित्वा वा भोक्ष्यसे महीम्। तस्मादुत्तिष्ठ कौन्तेय युद्धाय कृतनिश्चयः ॥ (भ. गी. अ. २, श्लोक ३७)

अर्थ– (कौन्तेय !) हे कुन्तीके पुत्र अर्जुन ! यदि तू (हतः) मारा गया तो (स्वर्गम्) स्वर्गको (प्राप्स्यसि) प्राप्त करेगा। (वा) अथवा (जित्वा) जय पावेगा तो जय पाकर (महीम्) पृथिवीके राज्यको (भोक्ष्यसे) भोगेगा। (तस्मात्) इसलिये (कृतनिश्चयः) दृढ निश्चय करके (युद्धाय) युद्धके लिये (उत्तिष्ठ) खडा हो जा ॥३७॥

ऊर्ध्वो भव प्रति विध्याध्यस्मदाविष्कृणुष्व दैव्यान्यग्ने। अव स्थिरा तनुहि यातुजूनां जामिमजामिं प्र मृणीहि[2] शत्रून् ॥

(ऋ. ४।४।५; वा. य. १३।१३; तै. सं. १।२।१४।२)

अर्थ– [पुरोहित कहता है–] (हे अग्ने !) हे राजन् ! (ऊर्ध्वो भव) शत्रुके मारनेके लिये खडा हो जा, घबराना न चाहिये। (प्रति विध्या) सामने युद्ध करनेवाले शत्रुओंको मार। (अधि+अस्मत्) जो अस्त्रशस्त्र मुझसे सीखे हैं, उनसे भी अधिक (दैव्यानि) दिव्यास्त्रोंको (आविष्कृणुष्व) युद्धमें प्रकट कर। (यातुजूनाम्) प्राणोंके घातक शत्रुओंके (स्थिरा) स्थिर अर्थात् अतीव दृढ शस्त्रास्त्रोंको (अव तनुहि) विनाश कर। (जामिम्+अजामिम्) युद्धमें उपस्थित हुए हुए भाई बन्धुओंको तथा बन्धुतासे रहित अन्य शत्रुओंको (प्र मृणीहि) दृढ चित्तसे मार। तथा च और मंत्र–

अभिवृत्य सपत्नानभि[3] या नो अरातयः[4]। अभि पृतन्यन्तं तिष्ठाभि यो न इरस्यति ॥

(ऋ० १०।१७४।२, अथर्व० १।२९।२)

अर्थ– [पुरोहित राजाको उपदेश देता है–] हे राजन् ! (याः) जो (नः) हमारे राज्यके (अरातयः) कुटिल शत्रु खडे हुए हुए हैं तथा (सपत्नान्) समस्त शत्रु जो कि युद्धके लिये सामने उपस्थित हुए हुए हों उनको (अभिवृत्य) पराभूत करके (अभि+तिष्ठ) सम्मुख खडा हो जा। (यः) जो शत्रु (नः) हमारे साथ (इरस्यति) दुष्टताका व्यवहार करते हैं और जो (पृतन्यन्तम्) बडी भारी सेना लेकर चढाई करनेवाला हो उसे भी (अभि+अभितिष्ठ) युद्ध करनेके लिये संमुख खडा हो जा, भय मत कर।

तुलना– युद्धको क्षत्रियधर्म समझकर शत्रुके सामने खडा हो जाना चाहिये, उस युद्धके दोनों ओर लाभ होगा। यदि क्षत्रिय शत्रुसे मारे जावे तो स्वधर्म-प्रतिपालन करनेसे सद्गतिको प्राप्त करता है। यदि शत्रुको जीत लेगा, तो निष्कण्टक राज्यको भोगेगा, यह गीतामें बतलाया गया है।

× शपनेन करणे ल्युट्। * शशाप शप् आक्रोशे। + मूरम्= मूर्च्छा–मोह–समुच्छ्राययोः " क्विप् च " इति क्विप् एलोपः " इति छकारस्य लोपः।

[1] यातुजूनाम्= जु गतौ " क्विब्वचि— " इत्यादिना क्विब्दीर्घौ। " आमि छन्दसो नुम् " [2] प्रमृणीहि– मृङ् प्राणत्यागे लोट मध्यमपुरुष एकवचनमें। [3] सपत्नान्= प्रतिपक्ष रखनेवाले शत्रु (party politics). [4] अरातयः = रातयः कर देनेवाले, अरातयः=कर न देनेवाले शत्रु।

वेदमें भी "प्रतिपक्षियोंको दबाना, वैरियोंका नाश करना, सेनाके साथ चढाई करनेवालेका प्रतिकार करना और जो दुष्ट व्यवहार करता है उसे ठीक करना ये राजाके कर्तव्य हैं," यही उपदेश दिया हुआ है।

(३८) सुखदुःखे समे कृत्वा लाभालाभौ जयाजयौ।
ततो युद्धाय युज्यस्व नैवं पापमवाप्स्यसि ॥

(भ. गी. अ. २, श्लो. ३८)

अर्थ- हे अर्जुन! (सुखदुःखे) सुख और दुःख, तथा इन दोनोंकी प्राप्तिके कारण (लाभालाभौ) लाभ और हानि और उनके कारण (जयाजयौ) जय और पराजयको (समे) एकसमान (कृत्वा) करके (ततः) फिर (युद्धाय) युद्धके लिये (युज्यस्व) उद्यत हो जा अर्थात् एकाग्रचित्त होकर संग्राम का सम्पादन कर। (एवम्) इस प्रकार करनेसे (पापम्) पापको (न) नहीं (अवाप्स्यसि) प्राप्त होगा ॥३८॥

वेदगीता (मंत्रः)

शेरभक[1] शेरभ[2] पुनर्वो यन्तु यातवः पुनर्हेतिः किमीदिनः। यस्य स्थ तमत्त यो वः प्राहैत् तमत्त स्वा मांसान्यत्त[3] ॥ (अथर्व. २।२४।१)

अर्थ—हे शेरभक! (शे+रभ+क) शयन अर्थात् आश्रयके आरंभ करनेवालोंके सुख देनेवाले! (शेरभ) हे शीर्णताके प्रकाश अर्थात् सर्वहिंसक! (वः) सुख और दुःख देनेवाले तुम दोनोंके (यातव) दूसरोंके नाश करनेवाले राक्षसी विचार (पुनः यन्तु) फिर फिर तुममेंही लीन हो जावें अर्थात् तुम सुख और दुःखको एक जैसा जानो और (हेतिः) तुम दोनोंके सुख और दुःखकी प्राप्तिके कारण जय और पराजयके प्रकाशक शस्त्र अपने क्षत्रियधर्मके पालनेके लिये (पुनः यन्तु) युद्ध-विचार फिर प्राप्त हो जावें। (किमीदिनः) अब दुःख क्या है या अब सुख क्या है? तुझमें प्राप्त हुए हुए ऐसे विचार (पुनः यन्तु) फिर लौटकर तुझमें लीन हो जावें। (यस्य) जिस सुखदुःखात्मक क्षत्रिय विचारके (स्थ) समीप स्थित हो (तम्) उस सुखदुःखात्मक जयपराजयात्मक विचारको (अत्त) खा जाओ अर्थात् दूर कर दो, और (यः) जो सुखदुःख, हानिलाभ-जयपराजयात्मक विचार (वः) तुम दोनोंके समीप (प्राहैत्) शत्रुओंने भेजा है (तम्) उस विचारको भी (अत्त) खा जाओ अर्थात् दूर कर दो। इसलिए फिर तुम (स्वा=स्वानि) अपने (मांसानि) मनको प्रसन्न करनेवाले अथवा मनको दुःख देनेवाले विचारोंको (अत्त) खा जा अर्थात् दूर कर।

तुलना- गीतामें सुखदुःख, लाभहानि, जयपराजयकी परवाह न करता हुआ पुरुष स्वधर्मपालन करता हुआ पापगतिको नहीं पाता ऐसा कहा है। वेदमें भी सुखदुःख-दाता दोनोंको सम्बोधन करके शिक्षा दी है। द्वेष करनेको दूर करनेका, तथा मनकी शुद्धि, तपश्चर्या-वृत्ति और अपने मनके मारनेका उपदेश है।

(३९) एषा तेऽभिहिता सांख्ये बुद्धिर्योगे त्विमां शृणु।
बुद्ध्या युक्तो यया पार्थ कर्मबन्धं प्रहास्यसि ॥

(भ. गी. अ. २, श्लो. ३९)

अर्थ-(हे पार्थ!) हे पृथाके पुत्र अर्जुन! (ते) तेरे लिये (एषा) पहिले बतलाई हुई यह बुद्धि (सांख्ये) साक्षात् शोकमोहादि हेतुओंके साथ दोष-निवृत्तिके कारणरूप ज्ञानयोग अर्थात् आत्मज्ञानको जाननेके विषयमें (अभिहिता) मैंने कथन की है। (तु) तो अब तू निश्चय करके (योगे) अन्तः-करण-शुद्धिद्वारा आत्मतत्त्वके प्रकाशके लिये कर्मयोगमें (इमाम्) इस आगे बताए जानेवाली बुद्धिको (शृणु) सुन। (यया) जिस कर्मयोगकी (बुद्ध्या) बुद्धिसे (कर्मबन्धम्) सब प्रकार के कर्मबन्धनोंको विशेष कर जन्ममरणरूप-संसार-बन्धनको (प्रहास्यसि) छोड देगा अर्थात् कर्मबन्धनसे मुक्त होकर स्व-धर्मपालन करता हुआ मुक्तिको प्राप्त होगा ॥३९॥

वेदगीता (मंत्रः)

उपो षु शृणुही* गिरो मघवन्माऽतथा× इव। कदा नः सूनृतावतः‡ कर इदर्थयास+ इद्योजा§ न्विन्द्र ते हरी। (साम. ४१६; ऋ. १।८२।१)

(१) शेरभक=शेते, रभते, भजते, ककते=शयानारंभभजनगत्यर्थक धातुओंके आदि अक्षरको लेकर शेरभकं शब्द सिद्ध किया है। (२) शेरभ= शॄ और भा, धातुओंसे शेरभ सिद्ध होता है। (३) मांसानि-मांसं माननं वा मानसं वा मनो वा अस्मिन् सीदति=मानके योग्य वा मनसम्बन्धी। मन इसमें बैठ जाता है अर्थात् दुःखी होता है ॥

* शृणुही-श्रु श्रवणे "उतश्च प्रत्ययाच्छन्दसि वा वचनम्" इति वचनादुतश्च प्रत्ययात् इति हेर्लुगमता। ×अतथा-तथैवाचरति तथाति सर्वप्रातिपदिकेभ्यः इत्येक इति क्विप् "तथातिरप्रत्ययः। न तथा इव अतथा इव ‡करः-डुकृञ् करणे लुङि कृमृदृरुहिभ्यश्छन्दसीति-च्लेरङादेशः +अर्थयासे-अर्थयाञ्चायां चुरादिरात्मनेपदी लेट्याडागमः। § योजा-युजिर् योगे व्यत्ययेनेति छन्दस्युभयथेति शप्। आर्द्धधातुकत्वात् "णेर नटिति" णिलोपः "द्व्यचोऽतस्तिङ इति संहितायां दीर्घत्वम्।

[ऋग्वेदे (यदा) कदास्थाने "इदर्थयास" के स्थानपर "आदर्थयास" है।]

अर्थ-[पुरोहितोक्ति] (मघवन्!) हे धनवाले क्षत्रिय वीर! (गिरः) मेरी कही हुई वीरोचित उपदेशात्मिक स्वक्षत्रिय धर्म-परिपालन करानेवाली वाणीको (उपो) अपने मनको मेरी समीपही लाकर (सु श्रृणुही) सम्यक् प्रकारसे सुन। (अतथा इव) जैसे पहिले तू क्षत्रिय धर्मपरिपालन करनेवाला वीर था उससे विपरीत अर्थात् कायर (मा) मत बन । (नः) मुझे (सूनृतावतः) अपनी सुन्दर वीरात्मक प्यारी वाणीसे युक्त (कदा) कब (करः) करेगा ? [अर्थात् मैं युद्धमें संनद्ध होकर शत्रुको मारकर वापिस लौटूंगा, मेरे सामने तू ऐसी वाणी कब कहेगा?] (अर्थयासे इत्) मेरी कही हुई वाणीको तू स्वीकार करताही है। इस कारण (इन्द्र!) हे वीर क्षत्रिय ! (ते) अपने (हरी) रथके घोडोंको (न) शीघ्र (इत्) ही (योजय) युद्धमें जानेके लिये रथमें जोड दे ॥८॥

महो§ अर्णः‡ सरस्वती प्र चेतयति केतुना। धियो विश्वा वि राजति ॥

(ऋ. १।३।१२; वा. य. २०।८६; निरु. ११।२७)

अर्थ- (सरस्वती) सदसद्विवेचनात्मक यह ज्ञानमयी वाणी [**वाग्धीः सरस्वती, यत् सारस्वतं शंसति, वाचमेवाऽस्य तत् संस्करोति** । ऐत. ब्रा. ३।१।२ वाणीही सरस्वती है जो वाणीसम्बन्धी वचनोंको बताती है। इसकी वाणीको ही वह संस्कार करता है।] (केतुना) कर्मसे अथवा प्रवाहरूप विज्ञानसे (महः) बडे (अर्णः) ज्ञानको (प्र चेतयति) प्रकर्षतासे प्रकट करती है। यह ज्ञानात्मक बुद्धि (विश्वाः) सारी (धियः) ज्ञानात्मक बुद्धियोंको (विराजति) विशेष करके प्रकाशित करती है।

तुलना-गीतामें भगवानने अर्जुनको ज्ञानयोगका उपदेश देकर कर्मयोगमें उत्साहित किया है। वेदमें भी पुरोहितने क्षत्रिय यजमानको निर्वीर्यतासे हटाकर युद्धमें प्रवेश करनेका उपदेश तथा कर्मयोगपर उपदेश दिया है।

(४०) नेहाभिक्रमनाशोऽस्ति प्रत्यवायो न विद्यते। स्वल्पमप्यस्य धर्मस्य त्रायते महतो भयात् ॥

(भ. गी. अ. २, श्लो. ४०)

अर्थ— हे अर्जुन ! (इह) इस निष्काम कर्मयोगवाले मार्गमें (अभिक्रमनाशः) कर्मके आरंभका नाश (नास्ति) नहीं है और इसके संमुख जानेमें किसी प्रकारका (प्रत्यवायः) विघ्न (अपि) भी (न) नहीं (विद्यते) है। क्योंकि (अस्य धर्मस्य) इस धर्मका (स्वल्पम्) बहुत थोडा (अपि) भी (महतः) बहुत बडे (भयात्) भयसे अर्थात् अधोगतिसे (त्रायते) रक्षा कर लेता है ॥४०॥

वेदगीता (मंत्रः)

इयमेषाममृतानां गीः सर्वताता ये कृपणन्त रत्नम्। धियं च यज्ञं च साधन्तस्ते नो धान्तु वसव्य1मसामि ॥ (ऋ. १०।७४।३)

अर्थ—(इयम्) यह (एषा) यह बताई हुई कर्मयोगपद्धति (अमृतानाम्) बुद्धिमान् जीवोंकी (गीः) वाणी है अर्थात् कथन है। (ये) जो ज्ञानी पुरुष (सर्वताता-सर्वतातौ) निष्काम कर्मयज्ञमें (रत्नम्) ज्ञानात्मक रत्नको (कृपणन्त) दूसरोंको देते हैं, (ते) वह कर्मयोग-मार्गपर चलनेवाले (धियम्) ज्ञानात्मक बुद्धिको (च) और (यज्ञम्) कर्मयज्ञको (साधन्तः) सिद्ध करते हुए (वसव्यम्) वास करने योग्य अर्थात् जगत्में स्वधर्मानुसार कीर्ति-युक्त वसने योग्य (नः) हम वीर पुरुषोंको (असामि) पूर्णतया निर्विघ्न जैसे हो वैसेही (धान्तु) धारण और पालन करते हैं।

तुलना- गीतामें, कर्मयोगीको विघ्न उपस्थित नहीं होता, यदि मध्यमें रुकभी जावे पुनः वहांसे आरंभ किया जा सकता है, तथा थोडासा धर्मका लेशभी बडाभारी भयसे बच सकता है, यह बताया है। वेदमें भी बुद्धिमान् ज्ञानी पुरुष कर्मयोगका उपदेश देते हैं, इसी कर्मयोगको उत्तम रत्न समझते हैं, इसी कर्म-योगके आधारपर अपनेसे बडोंका पालनपोषण करते हैं, उन्हें कोई विघ्न उपस्थित नहीं होता, यह बताया है ।

---

§ महः-महत् इति तकारस्य व्यत्ययेन सकारः तस्य रुत्वोत्वगुणाः। ‡ अर्णः-ऋतीति ऋ गतौ इत्यत्र "असुन्" प्रत्ययः। गतिः ज्ञानं भवति।

(४१) व्यवसायात्मिका बुद्धिरेकेह कुरुनन्दन ।
बहुशाखा ह्यनन्ताश्च बुद्धयोऽव्यवसायिनाम् ॥
(भ. गी. अ. २, श्लो. ४१)

अर्थ- (कुरुनन्दन !) कुरुकुलको आनन्द देनेवाले अर्जुन ! (इह) इस कर्मयोगके करनेमें यद्वा इस संसारमें (व्यवसायात्मिका) तात्त्विक अर्थके निश्चय करनेवाली अर्थात् निश्चयात्मिका (बुद्धिः) बुद्धि (एका) एकही है और (अव्यवसायिनाम्) नाना प्रकारकी कामनाओंके कारण अज्ञानियों तथा चञ्चल व्यवहारवालोंकी (बुद्धयः) बुद्धियाँ (बहुशाखाः) बहुतशाखावाली (अनन्ताः) असंख्य अर्थात् गिनतीसे रहित विचार होते हैं, वह विचार एक ठिकाने स्थिर होकर नहीं ठहरते ॥४१॥

वेदगीता (मंत्रः)

अनुमतिः सर्वमिदं बभूव यत् तिष्ठति चरति यदु च विश्वमेजति । तस्यास्ते देवि सुमतौ स्यामाऽनुमते अनु हि मंससे नः ॥
(अथर्व. ७।२०।६)

अर्थ- (यत्) जो (तिष्ठति) संसारमात्रमें स्थिर प्रतीत होता है, (यत्) जो (चरति) चलता फिरता प्रतीत होता है, (उ च) और (यत्) जो (विश्वम्) सबको (एजति) चला रहा है, (इदं) यह (सर्वम्) सब (अनुमतिः) निश्चयात्मिका बुद्धि (बभूव) है अर्थात् मनुष्य जो कुछ देखता है, भला बुरा करता है, अपनी निश्चयात्मक बुद्धिद्वाराही करता है। (देवि) हे व्यवसायात्मिक प्रकाशरूप बुद्धि ! (तस्याः) उस (ते) तेरी (सुमतौ) एकही व्यवसायात्मक सद्बुद्धिमें (स्याम) रहें अर्थात् हमारी सदा व्यवसायात्मिक सद्बुद्धि बनी रहे । (अनुमते) हे निश्चयात्मिक बुद्धि ! (हि) क्योंकि (नः) हमें अर्थात् व्यवसायात्मक बुद्धि धारण करनेवालोंके (अनुमंससे) अनुकूल रह अर्थात् हमसे मूर्खोंवाले प्रतिकूल बर्ताव न करावे, हमें सदा सत्कर्म करनेको ही प्रेरणा करती रहे ॥६॥

मृत्योः स मृत्युमाप्नोति य इह नानेव पश्यति ।
(कठ. ४।११)

वह मृत्युके अनन्तर फिर मृत्युको पाता है, जो इस संसारमें नाना बुद्धि रखता है।

तुलना- गीतामें "निश्चयात्मिका बुद्धि एक है जो कि वास्तविक तत्त्वका निश्चय कराकर मुक्तिपदतक पहुंचाती है। मूर्खोंकी बुद्धियाँ अनेक होती हैं, वह एकहीके निर्णय करनेमें अनेक विचार उत्पन्न करती हैं। यह ठीक है, या वह ठीक है ऐसे संदेहोंमें ही वे पड़े रहते हैं" यह बताया है।

वेदमें भी अथर्ववेद कां. ७, सू. २६ समग्रही सत्कर्मोंके लिये एकही अनुमति हो दुराचारियोंके दुराचारोंमें हमारी विमति रहे। अनुमतिसे ही सब कार्य होते हैं। कल्याणकारी कार्योंके लिये सदा एकही सुमतिमें हम रहें। अनुमतिकी शक्ति बड़ीही है, इसलिये उस अनुमतिको अच्छे कार्योंमें ही लगाना चाहिये। अन्यथा हानि होगी। तथा—

सुमृडीके अनुमतौ स्याम। (अथर्व. ७।२०।३)

(४२) यामिमां पुष्पितां वाचं प्रवदन्त्यविपश्चितः ।
वेदवादरताः पार्थ नान्यदस्तीति वादिनः ॥
(भ. गी. अ. २, श्लोक ४२)

अर्थ- हे अर्जुन ! (वेदवादरताः) वेदके केवल अर्थवादमेंही अर्थात् स्वर्गादि प्राप्तिके अर्थवादोंमें प्रेम रखनेवाले (नान्यत् अस्ति इति वादिनः) ज्योतिष्टोमादि यज्ञोंको छोड़कर मुक्त करनेवाले और कोई उपाय नहीं हैं, ऐसा कहनेवाले (अविपश्चितः) वेदोंके उपक्रम उपसंहारके तत्त्वको न जाननेवाले आत्मबुद्धि रखते हुए ज्ञानशून्य मूढ (पुष्पिताम्) चमेली, रबेलादि फलोंकी तरह "अमृतवल्लीको पीकर अमर हो जावें" "यज्ञदान करनेसेही मुक्ति प्राप्त होती है" इत्यादि अर्थवाद लक्षणोंवाले फलोंसे शून्य केवल फूलोंसेही प्रसन्न करती हुई (इमाम्) इस (वाचम्) वचनको अर्थात् अप्सरादिके सुखोंको (प्रवदन्ति) बड़े जोरसे कहते हैं ॥४२॥

अवान्यान्त्सोमपान् मन्यमानो यज्ञस्य[1] विद्वान्त्समये[2] न[3] धीरः[4] । यदेनश्चकृवान् बद्ध एष तं विश्वकर्मन् प्र मुञ्चा स्वस्तये ॥
(अथर्व. २।३५।२)

अर्थ- (यज्ञस्य विद्वान्) अर्थवादादि "पुत्रकामयागादि यज्ञ स्वर्गप्राप्तिकारक" आदि सकाम कर्मोंके समूहकोही वैदिक यज्ञको जाननेवाला (धी+रः) वेद अर्थवादादि विचारोंका उपदेश

(१) यज्ञस्य=क्रियाग्रहणे कर्तव्यम्, इति कर्मणः सम्प्रदानत्वात् चतुर्थ्यर्थे षष्ठी। (२) समये=समयन्ति संगच्छन्ते योद्धारोऽत्रेति समयः संग्रामः। (३) समये न=नकारः उपमार्थीयः, उपरितनत्वात्। (४) धीरः—धियं वेदार्थवादात्मिकां बुद्धिं राति ददातीति धीरः।

देता हुआ (सोमपान्) सोमपान यज्ञ करनेवालोंको (अदान्यान्) दानका अनधिकारी (मन्यमानः) मानता हुआ भी (समये न धीरः) संग्राममें धैर्यवाले योद्धाकी तरह (यत्) क्योंकि (एनः= आ+इन.) इसप्रकारसे ईश्वर कर्मोंके फलका दाता कोई नहीं, केवल कर्मही स्वर्गादिलोकोंको प्राप्त कराते हैं, इत्यादि सकाम कर्मोंके मोहजालात्मक वेदके अर्थवादसे (बद्धः) बन्धनमें प्राप्त हुआ यह मूर्ख (एनः) केवल कर्मही है, कर्म-फलप्रदाता ईश्वर कोई नहीं, इस प्रकारके पापको (चकृवान्) करता है । (विश्व-कर्मन्) हे विश्वके रचयिता परमात्मन्! (तत्) सकाम कर्मोंके प्रतिपादन करनेवाले, केवल वेदके अर्थवादमें लगे हुए अज्ञानी उस पुरुषको (स्वस्तये) कल्याणके लिये अर्थात् मुक्ति-मार्गके लिये (प्रमुञ्च) स्वतंत्र कर दो अर्थात् खुला दो कि वह वेदके अर्थको यथार्थ जानकर सकाम कर्मोंका त्याग करके निष्काम कर्ममें प्रवृत्त होवे ।

तुलना– गीतामें "अर्थवादके मंत्र केवल वास करने सदा सकाम कर्म करनेसे जन्ममरणके बन्धनमें पडे रहते हैं" बताया गया है । वेदमें भी " अपाम सोममसृता अभूम " इत्यादि वाक्योंके आधारपर रहनेवालोंको परमात्मा सकाम कर्मसे छुडा कर निष्काम कर्ममें लगावे, यह बताया है ।

(४३) कामात्मनः स्वर्गपरा जन्मकर्मफलप्रदाम् ।
क्रियाविशेषबहुलां भोगैश्वर्यगतिं प्रति ॥
(४४) भोगैश्वर्यप्रसक्तानां तयाऽपहृतचेतसाम् ।
व्यवसायात्मिका बुद्धिः समाधौ न विधीयते ॥

(भ. गी. अ. २, श्लो. ४३–४४)

अर्थ–(कामात्मानः) नाना प्रकारकी कामनाओंसे भरे हुए चित्तवाले (स्वर्गपराः) स्वर्गकेही सुखको श्रेष्ठ मानकर उसकी प्राप्ति करनेमें पुरुषार्थवाले सकाम कर्मोपासक मूढ लोग (जन्म-कर्मफलप्रदाम्) जन्म और कर्मके फलको देनेवाली (भोगैश्वर्य-गतिं प्रति) स्रक् चन्दनादि भोग और धनादि आदि ऐश्वर्य की प्राप्तिकी कारणरूप (क्रियाविशेषबहुलां) यज्ञदान, तप आदिके फलके लोभसे अत्यन्त प्रयत्नसे सिद्ध होने योग्य भी कर्मोंमें विशेष क्रियावाली (इमाम्) इस (वाचम्) वेदवाणीको (प्रवद-न्ति) कहते हैं । (तया) कर्मकाण्डलक्षणात्मक वेदवाणीसे (अपहृतचेतसाम्) ढकी हुई विवेक बुद्धिवाले यद्वा खेंच हुए चित्तवाले (भोगैश्वर्यप्रसक्तानाम्) भोग्य पदार्थोंसे उत्पन्न हुए सुखोंमें लिपायमान चित्तवालोंकी (समाधौ) समाधिसाधनमें (व्यवसायात्मिका) निश्चयात्मक (बुद्धिः) बुद्धि (न विधी-यते) नहीं प्रवेश करती अर्थात् ईश्वर-प्राप्तिकी ओर कभी नहीं जाती ॥४३–४४॥

वेदगीता (मंत्रः)

१. यज्ञपतिमृषय एनसाहुर्निर्भक्तं प्रजा अनुत-प्यमानम् । मथव्यान्त्स्तोकानप यान् रराध सं नष्टेभिः सृजतु विश्वकर्मा ॥

(अथर्व. २।३५।२)

२- ये भक्षयन्तो न वसून्यानृधुर्यानग्नयो अन्व-तप्यन्त धिष्ण्याः । या तेषामवया दुरिष्टिः स्विष्टिं नस्तां कृणवद् विश्वकर्मा ॥

(अथर्व. २।३५।१)

अर्थ–(ऋषयः) अतीन्द्रियार्थके देखनेवाले अर्थात् वेदके वास्तविक अर्थतत्त्वके जाननेवाले तत्त्वज्ञानी महात्मा (यज्ञ-पतिम्) ज्योतिष्टोम अतिरात्रादि यज्ञोंकी पालना करनेवाले यजमान पुरुषको (एनसा– इत्थंभावे तृतीया–एनस्विनम्) पापसंयुक्त (आहुः)कहते हैं । [क्योंकि सकाम कर्मोंके करनेसे कई प्रकारके दोष भी हो जाते हैं, इसलिये इन्हें पापी शब्दसे स्मरण किया है ।] (प्रजाः) इन सकाम कर्मोंके करनेसे संतप्त प्रजा भी (निर्भक्तम्) निर्भोग अथवा निर्भाग्य जन्ममरणादि दुर्गतिसे युक्त अर्थात् परमात्माकी भक्तिसे शून्य (अनुतप्यमानम्) फिर फिर जन्ममरणके होनेसे दुःखित होते हुए (यज्ञपतिम्) सकाम यज्ञ करनेवाले यजमानको (एनसा– एनसा युक्तम्) पापसे लिपटा हुआ (आहुः) कहते हैं । और (स्तोकान्) छोटे छोटे (मथव्यान्) मथने योग्य परमात्माके ज्ञानके कणोंको (अपरराध) अपराधित कर दिया अर्थात् परमात्माके ज्ञानमात्रको छोड दिया । (विश्वकर्मा) परमात्मा (तेभिः) उन थोडेसे ज्ञानके लेश-मात्रके साथ (नः) हम जिज्ञासु पुरुषोंको (सं सृजतु) जोड देवे, यद्वा परमात्मा उस सकाम कर्म करनेवाले हमारे सकाम कर्मोपासक यज्ञपति [सकाम यज्ञ करनेवाले]को निष्काम कर्मो-पासनामें संयुक्त करे । जिस कारण सकाम यज्ञकर्ता सकाम यज्ञों को छोडकर ज्ञानयज्ञको करे, जिससे मुक्तिको पावे॥ २॥ये भक्ष-यन्तः इति (ये) जो हम मनुष्य (वसूनि) अन्नादि भोग्य पदार्थों को (भक्षयन्तः) सेवन करते हुए अथवा धनको सकाम यज्ञोंके लिये नाश करते हुए (न आनृधुः) वृद्धि नहीं करते । यद्वा (ये) जो पुरुष (वसूनि भक्षयन्तः=न उपमार्थीयः

नकारः) लौकिक भोग्य पदार्थोंको खाते हुएकी तरह (आनृधुः) बढ गए अर्थात् लौकिक पदार्थोंके विषयभोगसे बढ गए, न कि अलौकिक परमात्मज्ञानके तत्त्वसे बढे। (धिष्ण्याः) अपने अपने स्थानोंमें स्थित हुई हुई आहवनीयादि अर्थात् (अग्नयः) अग्नियें अन्तःकरण शुद्धिपूर्वक परम पद प्राप्त करनेवाली होकर भी (यान्) सकाम कर्म करनेवाले, भोगविषयमें लम्पट जिन पुरुषोंको लक्ष्य करके (अन्वतप्यन्त) पश्चात्ताप करती हैं अर्थात् यज्ञादिमें सकाम कर्मके कर्तृत्व होनेसे यज्ञोंकी विकलतासे उन धनियोंके धन व्यर्थ हैं इसलिये ओहो, ओहो, इस तरह यह अग्न्यादि याग भी शोक करने योग्य हैं। ऐसेही (तेषाम्) उन सकाम कर्म करनेवालोंकी (या) जो (अवया.) निष्काम कर्मवाले यज्ञोंको छोडकर सकाम यज्ञ करनेकी जो अवनतिकारक (दुरिष्टिः) सदोष इष्टिकी पद्धति अर्थात् यज्ञकी विधि है। (विश्वकर्मा) परमात्मा (ताम्) अनिष्ट–दुरिष्टि-दोष-परिहारके लिये की हुई (सु+इष्टिम्) शोभन इष्टि परमात्म तत्त्वज्ञान (यज्ञ) को (नः) हम परमात्म–भक्तोंके लिये (कृणवत्) करें ॥ १ ॥

तुलना–भगवद्गीतामें सकाम यज्ञोंको केवल पुष्पमात्र, फलसे शून्य लौकिक भोग्य पदार्थोंके देनेवाले, विनश्वर स्वर्गकी झलक दिखानेवाले, फिर जन्म और कर्मफलकी प्राप्ति आवागमन बताया है। जिन यज्ञोंसे परमात्मज्ञानके विचारके समय अर्थात् योग-समाधि अवस्थामें बुद्धि स्थिर नहीं रहती, जिससे मनुष्यका पतन हो जाता है। वेदमें भी दुरिष्टि और स्विष्टि ये दो यज्ञ ऋषियोंने बताये। दुरिष्टिसे पुनः पुनः संसार-जन्म-मरण विनश्वर स्वर्गादिकी प्राप्ति होती है। स्विष्टि अर्थात निष्काम कर्मद्वारा मुक्ति प्राप्त होती है, यह बताया है।

(४५) **त्रैगुण्यविषया वेदा निस्त्रैगुण्यो भवार्जुन।**
निर्द्वन्द्वो नित्यसत्त्वस्थो निर्योगक्षेम आत्मवान्॥
(भ. गी. अ. २, श्लोक ४५)

अर्थ–(वेदाः) ऋक्, यजुः, साम, अथर्ववेद (त्रैगुण्यविषयाः) तीन गुणोंके प्रतिपादन करनेवाले हैं अर्थात् सत्त्वगुणी, रजोगुणी और तमोगुणी, तीनों प्रकारके मनुष्योंके सांसारिक विषयोंके सिद्ध करनेवाले कर्मोंको सिद्ध करनेवाले हैं। (अर्जुन!) हे अर्जुन! तू (निस्त्रैगुण्यः) तीनों गुणोंसे रहित (भव) हो जा। तीनों गुणोंके धर्मका स्वीकार करनेसे रहित होकर (निर्द्वन्द्वः) शीत, उष्ण, काम, क्रोध, लोभ, मोह, सुख, दुःखादिसे रहित हुआ हुआ (नित्यसत्त्वस्थः) [नित्यसत्त्वस्थः= सतः ब्रह्मणः भावः सत्त्वम्। सदेव सोम्येदमग्र आसीत्, ओं तत्सदिति निर्देशो ब्रह्मणस्त्रिविधः] सत्त्व=परब्रह्ममें स्थित हुआ हुआ (निर्योगक्षेमः) अप्राप्त वस्तुकी प्राप्तिका नाम योग है, और प्राप्त वस्तुकी रक्षाको क्षेम कहते हैं, तू इन दोनों (योगक्षेम) से रहित होकर अर्थात् तू इस प्रकारका निष्काम कर्म कर कि जिससे अप्राप्तकी प्राप्ति और प्राप्तकी रक्षाकी चिन्ता न हो। (आत्मवान्) अप्रमत्त और जितचित्त होकर रह। अर्थात् जैसे संसारी जीव संसारी कामनाओंमें फंसकर मतवाले और अपने आत्माकी सुधि भूल जाते हैं, ऐसे मत हो, प्रत्युत आत्मिक बलवान् बन ॥४५॥

वेदगीता (मंत्रः)

तिस्रो देष्ट्राय निर्ऋतीरुपासते दीर्घश्रुतो वि हि जानन्ति वह्नयः। तासां निचिक्युः कवयो निदानं परेषु या गुह्येषु व्रतेषु ॥ २ ॥ (ऋ. मं. १० सू. ११४ मं. २)

अर्थ—(निर्ऋतीः) निःशेषेण= परिपूर्णतया ऋच्छति = प्रतिजीव और प्रतिवस्तुमें जो प्राप्त हो, उसे निर्ऋती गुण कहते हैं। यद्वा नियता = आवश्यक ऋतिः = घृणा, संसारसे विरक्ति, पुरुषोंको जिनसे घृणा हो उसे निर्ऋति अर्थात् गुण कहते हैं। वह गुण (तिस्रः) तीन प्रकारके हैं, सत्त्वगुण, रजोगुण, तमोगुण, इन तीन गुणोंको जो जीवात्मा (देष्ट्राय) सत्त्वगुण-रजोगुण-तमोगुणोंका अपने अपने कर्मोपभोगके लिये (उपासते) ग्रहण करते हैं। वह पुरुष (दीर्घश्रुतः) चिर कालतक संसारमें मानने और देखने और सुनने योग्य पदार्थोंको सुनते और जानते हुए अर्थात् ईश्वरके वास्तविक तत्त्वके ज्ञानके स्वरूपको न जानते हुए इसलिये (वह्नयः) सांसारिक वासनाओंके धारण करते हुए (हि) निश्चयसे (विजानन्ति) सांसारिक पदार्थोंकोही विशेष कर जानते हैं, अर्थात् परमात्मज्ञानसे शून्य रहते हैं, क्योंकि त्रिगुणात्मक संसारमें फंसे रहते हैं। इनसे भिन्न (कवयः) तत्त्वज्ञानी पुरुष (तासाम्) उन गुणोंके वास्तविक बन्धनकारक स्वरूपको (निचिक्युः) अच्छी तरह जान लेते हैं। इसलिए (परेषु) मायिक गुणोंसे दूर (गुह्येषु) अति गुह्यातिगुह्य ज्ञानात्मक कर्मोंमें (व्रतेषु) यमनियमोंमें (याः) जो प्रवृत्तियाँ होती हैं, (तासाम्) उन प्रवृत्तियोंके भी (निचिक्युः) निदानको अच्छी तरह जानते हैं, अतः उनमें नहीं फंसते ॥२॥

वैदिक धर्म

वर्ष २६ की विषयसूची

जनवरी १९४५

विषय	पृष्ठ
वीर सैनिकोंका अनूठा बल	१
वेद पढनेकी सुविधा	२
अमृतका धागा	३
सांख्य दर्शनका सूक्ष्म बल	१३
चैत्रका वेदाक	२०
हम इन सापोंको जानते थे	२१
संहशिक्षण	३३

फेब्रुवरी १९४५

विषय	पृष्ठ
सबकी तेजस्विता बढे	५३
धर्मका संस्थापन	५४
डा० आंबेडकरका अवतारकार्य	५६
गीतास्य प्रथम अध्यायकी पार्श्वभूमि	७१
अंबेडकरका वेद-गीतापर कटाक्ष !	८२
पुनर्जन्म	८४
बाइबल-कुर्आनमें सूर्योपासना	८७
स्पिनोझा और उसका तत्त्वज्ञान	७३-८०

मार्च १९४५

विषय	पृष्ठ
एक परम पिता परमात्मा	९७
ऐक्य, द्वैत और त्रैत	९८
दशावतार-रहस्य	९९
मनकी पांच अवस्थाएं	१०६
प्रस्तावित हिंदू कोडपर विचार	१११
मधुच्छन्दस्-मंत्रमाला (३)	१२२
आत्मा	१२७
घरेलू तेल	१३०
स्पिनोझा और उसका तत्त्वज्ञान	८१-८८

अप्रैल १९४५

विषय	पृष्ठ
वेदमाता	१३७
वेदोंका अध्ययन	१३८
वेदमंत्रोंसे मानवधर्म	१३९
स्वा० मं० की वैदिक धर्मकी सेवा	१५३
वेदमें वर्णित समतावादकी पार्श्वभूमि	१५७
सामवेदमें अग्निदेवता	१६३
मधुच्छन्दस्-मंत्रमाला (४)	१८४
वैदिक जीवन	१९३

मई १९४५

विषय	पृष्ठ
किस भांतिकी संपत्ति प्राप्त की जाय ?	१
विश्व भ्रम नहीं, ब्रह्मही है	२
मधुच्छंदा ऋषिका दर्शन	१-३२
स्पिनोझा और उसका तत्त्वज्ञान	८९-९६

जून १९४५

विषय	पृष्ठ
धनप्राप्तिके साधन	१
मधुच्छंदा ऋषिका दर्शन	२
,, ,, ,,	३३-४०
गीताका राजकीय तत्त्वालोचन	१-३२
स्पिनोझा और उसका तत्त्वज्ञान	९७-१०४

जुलै १९४५

विषय	पृष्ठ
एकसे अनेक	१
भगवद्गीताकी राजनैतिक दृष्टिसे आलोचना	२
गीताका राजकीय तत्त्वालोचन	३३-८८

अगस्त १९४५

महान् प्रभु	२२३
सर्वव्यापक ईश्वर	२२४
आर्योंपर गोमांसभक्षणका दोषारोपण	२२५
राममाता कौसल्या	२३४
गीताका राजकीय तत्त्वालोचन	८१-११२
स्पिनोझा और उसका तत्त्वज्ञान	१०५-१२०

सितंबर १९४५

कल्याणका मार्ग	१
द्वितीय युद्ध समाप्त, तीसरा कब होगा?	२
मेधातिथि ऋषिका दर्शन	१-३२
ईशावास्योपनिषद् (समालोचना)	१-१०
स्पिनोझा और उसका तत्त्वज्ञान	१-८
” ” ”	१२१-१२६

अक्तूबर १९४५

परमेश्वरका सामर्थ्य	१
देरी क्यों हो रही है?	२
मेधातिथि ऋषिका दर्शन	३३-५६
कुर्आन-बाइबलमें सूर्योपासना	२४१

नवंबर १९४५

सबका एकमात्र प्रभु	१
एक और अनेक देव	२
मेधातिथि ऋषिका दर्शन	५७-८२
भगवद्गीता और वेदगीता	३३-४०
राष्ट्रभाषाका प्रश्न	२५१
वेदसूक्तावलि	२५७

दिसेंबर १९४५

ईश्वरकी कुशलता	२५९
धर्म केवल चर्चाका विषय नहीं	२६०
हिंदी मुसलमानोंके कारनामोंका चिट्ठा	२६१
मुस्लीम लीगका स्वतंत्र राष्ट्रीयत्व !	२८२
भारतके टुकडे करनेवाला आत्मनिर्णय	२८७
लक्ष्मणमाता सुमित्रा	२९३
भरतमाता कैकेयी	२९५
रावणका साम्राज्य नष्ट करनेवाले ऋषि	२९८
भगवद्गीता और वेदगीता	३०१
वीरोंके पराक्रम	३०९

वीरोंके पराक्रम

(लेखक- पं० गणपतराव बा० गोरे, बी. २१५८ मंगळवार पेठ, कोल्हापुर)

' वीरपूजा 'से हमारा यह अभिप्राय है कि उनके युद्धमें किए हुए पराक्रमोंका पूरा तिथिवार वृत्तान्त, उनके पूरे नाम, पते, छायाचित्रों आदि सहित पुस्तकाकारमें छपवा देनाही उनकी कीर्तिको अमर करना ही उनकी सच्ची पूजा है। आर्य जातिके क्षात्र धर्मकी यह एक अमूल्य सम्पत्ति है, जिसे हम अपनी उदासीनताके कारण सहस्रों वर्षोंसे व्यर्थही नाश करते चले आए हैं।

'कृण्वन्तो विश्वमार्यम्'× के वैदिक आदेशको ठुकराकर जिस प्रकार हिन्दूजातिने अपनेको कूप-मण्डूक बना लिया है, ठीक उसी प्रकार इसने अपने क्षात्र-धर्मकी वीर-शृङ्खला-को भी सीमित कर दिया है। संसारकी इस सबसे प्राचीन जातिसे कोई इनके शूर वीरोंके नाम पूछे तो राम, कृष्ण, अर्जुन, भीम, हनुमान् आदि प्राचीन और प्रताप, बन्दा, गोविन्दसिंह, शिवाजी आदि अर्वाचीन २५-३० नामोंके सिवा कदाचित् ही कोई अधिक गिना सकेगा। परन्तु वस्तु-स्थिति यह है कि जिस प्रकार अरण्योंमें सुगन्धि देनेवाले पुष्प ईश्वरीय नियमानुसार उत्पन्न होकर, आयुष्यभर वायुको सुगन्धित करते हुए बिना किसीको दिखाई दिये वा किसीकी प्रशंसा प्राप्त किए मुरझा जाते हैं, ❀ ठीक उसी प्रकार इस हिन्दूजातिमें ईश्वरीय अनुकम्पासे अबतक वीर उत्पन्न होते रहे हैं, और युद्धके मैदानोंमें अपने अद्वितीय पराक्रम दिखाते हुए वीरगतिको प्राप्त होते अथवा विजयी होकर घर लौट आते रहे हैं। परंतु दोनों अवस्थाओंमें हिन्दूजातिने उनकी उपेक्षा करते हुए उन्हें भुला दिया ! अब भी चेते तो ठीक।

१ क्षात्रधर्मका पुनर्जीवन

एक ओर वीर पुरुषोंकी उपेक्षा हो रही है और दूसरी ओर हिन्दुओंमें क्षात्रधर्मको पुनर्जीवित करनेकी आवश्यकता भास रही है ! जो डरके मारे अंधेरी रातमें अकेले घरसे बाहर निकल नहीं सकते, वे विद्युत्‌द्वारा प्रकाशित व्याख्यान मंचपर नवयुवकोंको उछल उछल कर वीरताका उपदेश देते हैं ! इस प्रकार हमारे सारे कार्य उलटे हो रहे हैं। बुझा हुआ दीप दूसरोंको प्रकाशित नहीं कर सकता। अत: आवश्यकता है कि नवयुवकोंको इस समयके शूरवीरोंका निःपक्ष पुरुषोंद्वारा लिखा हुआ सत्य इतिहास सुनाया तथा पढाया जाए, उन्हें वीर पुरुषोंके दर्शन कराए, फोटो दिखाए वा व्याख्यान सुनाए जाए। श्रीकृष्णजीने गोवर्धन पर्वत उंगलीपर उठा लिया था और हनुमानजी सजीवनी बूटी-का पर्वत हथेलीपर उठा लाये थे, ये बातें तो ऐसी प्रतीत होती हैं जैसे कोई कहे कि म० गांधीजी भारतीयोंको गत २० वर्षोंसे अपनी उंगलियोंपर नचाते रहे हैं ! श्रद्धालु लोग भलेही इन्हें अक्षरशः सत्य मानें, परन्तु आजके नवयुवकको समझानेके लिए और उनमें क्षत्रियत्वका उत्पादन करनेके लिए अधिक तर्क-शुद्ध, नितान्त सत्य, निकट भूतमें उपलब्ध, तथा नि.पक्ष पुरुषोंद्वारा प्रमाणित वीर-कथाओंकी आवश्यकता है।

मेरी प्रार्थना है कि इन वीरोंके पराक्रमोंसे ही वीरोंके इतिहास-लेखनका आरंभ किया जाय।

२ विक्टोरिया क्रास प्राप्तिके लाभ

यह केवल शोभाके लिए छातीपर लटकानेका पदक नहीं। इसके साथ यदि वीर जीवित है तो आयु-समाप्तिपर्यंत पेन्शन आदि अनेक जीवनोपयोगी सुविधाएं मिलती रहती हैं, और यदि वीर पराक्रम दिखाते हुए वीरगतिको प्राप्त हो चुका हो, तो उसकी विधवा, पुत्र, पुत्री, माता, पिता आदि निकट संबंधीको वी० सी०के समस्त लाभ प्राप्त कराए जाते

×अर्थ — सारे संसारको आर्य बनाओ ॥ (ऋ० ९। ६३। ५)

❀ Full many a gem of purest ray serene
The dark unfathomed caves of ocean bear,
Full many a flower is born to blush unseen
and waste its sweetness over the desert air. (Thomas Gray)

हैं। इस मरणोत्तर मिले हुए पारितोषकको Posthumous Reward कहते हैं।

इस जर्मन-जपान-इटली-विरुद्ध युद्धमें मेरे लिखे अनुसार २८ भारतीय सेनाके योद्धाओंने वी० सी० प्राप्त किया है, जिनमें २४ हिन्दू [सिखों समेत], ३ हिन्दी सेनाके ब्रिटिश आफिसर और केवल १ मुसलमान है। इनका विवरण आगे आयेगा। उसमें सं० १६ नायक यशवन्तराव घाटगेको जब मरणोत्तर वी० सी० मिला तब मुम्बई सरकारकी ओरसे एक विज्ञप्ति मराठी भाषामें प्रकाशित कराकर बांटी गई थी, जिसमें वी० सी० प्राप्तिके लाभ निम्न शब्दोंमें दिये हुए थे-

" .... उसके पराक्रमके लिए सम्राट्ने उसे सर्वोच्च बहुमान दिया है। यह क्रास लेनेके लिए वे स्वयं विद्यमान नहीं हैं, इसलिए वह अब उनके निकट संबंध रखनेवाले व्यक्तिको दिया जायगा। **इस सन्मानके साथ मुंबई सरकारकी ओरसे उसे वार्षिक ५०० दिये जाएंगे, और ३५ मासिक पेन्शन मिला करेगी। इसके सिवा मुम्बई सरकारकी ओरसे १०,००० रु० की रकम उस निकट संबंध रखनेवाले व्यक्तिके नामपर ट्रस्ट [Trust] के रूपमें प्रान्तिक सोल्जर्स सेलर्स तथा एअरमेन्स बोर्ड [Provincial Soldiers', Sailors' and Airmens' Board] को दी जायगी** छत्रपति श्री शिवाजी महाराजकी जय।"

३ वी० सी० प्राप्ति योग्य पराक्रमका एक उदाहरण।

वी० सी० प्राप्तिके उक्त लाभोंको पढकर स्वाभाविकतया पाठक यह जाननेके लिए उत्सुक हो रहे होंगे कि ऐसा बहुमान मिलता है किस प्रकारके पराक्रमोंके लिए? अतः मुम्बई सरकारके उक्त विज्ञप्तीकी दूसरी ओर जो भारत सरकारका विज्ञापन छपा है, उसीका अनुवाद कर देना मैं अधिक उपयुक्त समझता हूं-

V. C.

नाईक यशवंतराव घाटगे हिन्दुस्थानका एक महान् वीर। सरकारी विज्ञापन ॐ।

ता. १० जुलै [१९४४]को पांचवीं मराठा पलटनकी एक कम्पनीने शत्रुके एक बलाढ्य थानेपर आक्रमण किया ×। इस चढाईमें नाईक यशवन्तराव घाटगे की आज्ञामें लडनेवाले बंदूकचियों [Riflemen]पर शत्रुके मशीनगन [Machine Gun] की अत्यंत समीपसे भीषण मार पडी। +

मैं अकेला हूं और मुझे छुडानेके लिए कोई बचा नहीं, यह जानते हुए भी नाईक यशवन्त घाटगे ने निःशंक होकर शत्रुके मशीनगनके स्थानपर आक्रमण कर दिया और एक ग्रेनेड [Grenade= बम् गोला] फेंककर मशीनगन और उसके चलानेवाले सिपाही इन दोनोंको उसने नीचे गिराया। पश्चात् अपनी बन्दूकसे एक दूसरे सिपाहीको मार डाला।

अन्तमें बन्दूक भरनेका समय नहीं मिलता, * यह देखकर उसने बन्दूकके दस्ते [कुन्दे= Butt] सेही कूट कूटकर शेष बचे हुए दो सैनिकोंको यम सदन पहुंचाया।

[परन्तु] दुर्दैवसे उसी समय शत्रुके पहरेदारकी गोली उसकी छाती और पीठमें आ लगी, और जो स्थान उसने अकेलेही जीत लिया था, उसीमें उसका अन्त हुआ।

परिस्थिति सर्वस्वी प्रतिकूल है, अपनेको जीते रहनेकी अधिक आशा नहीं, यह ज्ञात होते हुए भी इस हिन्दी अधिकारीने जो धैर्य, जो दृढनिश्चय और जितनी कार्यनिष्ठा दिखलाई वह अद्वितीय थी।"

ॐ सर्व प्रथम यह बात देहलीमें १।११।१९४४ को प्रकाशित हुई थी, पश्चात् ३।११।४४ के 'केसरी' पूनामें छपी थी। [लेखक]

× यह शत्रु- थाना [Enemy out post] इटलीके केरेन नगरमें जर्मनोंका था। १०।७।१९४४ को 5th Maratha Light Infantry की एक कंपनीने इसपर चढाई की थी। [लेखक]

+ जर्मन मशीनगन इतनी समीप है, इस बातका पता चढाई करनेवालोंको न था। [लेखक]

* इस समय घाटगे ठीक मशीनगनके पास पहुंच चुका था और दो जर्मन सैनिकोंसे निपट लेना अनिवार्य बन चुका था।

हिन्दुस्थान सरकारके उक्त विज्ञापनकी दूसरी ओर जो अधिक स्पष्टीकरण 'वीर' के शीर्षक तथा श्री छत्रपति शिवाजी महाराज और घाटगेजीके चित्रों सहित मुम्बई सरकारकी ओरसे किया गया है [जिसका कुछ अंश हमने बी० सी० प्रास्तिके लांभमें दिया है,] उसे भी मराठीसे अनुवाद करके मैं पाठकोंकी जानकारीके लिए देना चाहता हूं—

वीर !

कुलाबा जिलेके माणगांव तालुकेके पळसगांव—आंब्रेची वाडीका रहिवासी और पांचवी मराठा पलटनका नाईक स्वर्गीय यशवन्तराव घाटगे को 'विक्टोरिया क्रॉस' का बहुमान मिला है। शत्रुके सामने अतिशय संकटके प्रसंगमें अद्वितीय पराक्रम करते हुए स्वार्थत्याग तथा कार्यनिष्ठा दिखानेवाले वीरोंकोही सैन्यमें मिलनेवाला यह सर्वोत्कृष्ट बहुमान है।

नाईक यशवन्तराव घाटगे ही पांचवी मराठा पलटनके इस प्रतिष्ठाको प्राप्त करनेवाले प्रथम सैनिक हैं। यह मान उन्होंने इटलीके रणभूमिपर प्राप्त किया। इसका सरकारी विज्ञापन इस पत्रकके पीछे दिया है।

इस सन्मानको सत्य घटनामें इटलीके युद्धमें घटी हुई एक अत्यंत नाट्यपूर्ण तथा प्राणान्तिक ललकारकी कथा भरी हुई है। इस लडाईमें नाईक यशवन्तराव घाटगे ने किसीकी सहायता न होते हुए अकेलेही एक मशीनगनपर हल्ला बोल दिया। यह मशीनगन एक मिनिटमें ६०० गोलियां बरसा रही थी और उसकी रक्षाके लिये कई शस्त्रधारी जर्मन सैनिक भी उपस्थित थे।

ऐसी भयानक अवस्थामें प्रसंगावधान रखकर और अपने शिक्षण और अनुभवका उपयोग करके नाईक घाटगेने अपना कर्तव्य पूरा किया। पहले तो उन्होंने एक बम् फैंक-कर शत्रु-सैनिकोंमें गडबड फैला दी और साथही अपनी बन्दूकके फैर करता हुआ आगे चल पडा। बन्दूककी गोलियां समाप्त हुईं, परंतु दो जर्मन सैनिक अब भी सामने खडे हैं! एक क्षणमें उन्होंने अपनी खाली बन्दूक उलटी पकड ली और उसका सोटे सरीखा उपयोग करके उन दोनों जर्मनोंको मार डाला।

कौशल्य, शान्तवृत्ति, दृढनिश्चय, मराठोंका परंपरागत पराक्रम दिखाते हुए और अपने जीनेकी चिन्ता न करते हुए नाईक घाटगे ने उस मशीनगनसे पूरा बदला चुका लिया, जिसने उनकी अध्यक्षतामें लडनेवाले सैनिकोंको मारा था। यही नहीं, उन्होंने अपनी कम्पनीको मिलनेवाले यशका मार्ग खोल दिया।

दुर्दैव और दुःखकी बात इतनीही है कि ऐसे अतुल तथा यशस्वी पराक्रम दिखानेके पश्चात् और उनकी कम्पनी आकर उन्हें बचाए इसके पूर्व एक जर्मन पहरेदारकी गोली लगकर उनका देहान्त हुआ!

नाईक यशवन्त घाटगे चले गए, परंतु उन्होंने अपनी कीर्ति पीछे छोडी है। हिन्दुस्थानके तथा मित्र-राष्ट्रोंके वीर-पुरुषोंकी नामावलिमें उनका नाम अमर रहेगा।

उन्होंने स्वतः सन्मान प्राप्त किया– यही नहीं अपितु अपने परिवारको, पलटनको, समस्त मराठा जातिको तथा मुम्बई प्रान्तको भी सन्मानीय बनाया है।

छत्रपति श्री शिवाजी महाराजकी जय !!

[भारत तथा मुंबई सरकारकी विज्ञप्तियां समाप्त]

४ वीर-साहित्यकी रक्षा कीजिए

उक्त मुक्त-कंठसे की गई भारतीय वीरकी प्रशंसाका आधार है ब्रिटिश युद्ध-कर्मचारियोंको रणभूमिमें मिला हुआ प्रत्यक्ष अनुभव। यह है आर्य-जातिके वीरत्वको मिला हुआ एक अयाचित प्रमाणपत्र=unsolicited testimonial! पता नहीं ऐसे कितने बहुमूल्य प्रमाणपत्रोंको हम अपने प्रमादद्वारा आजतक गुमा चुके हैं! आर्य-बालकोंमें अपने पूर्वजोंके पराक्रमोंकी स्मृति बनाए रखने, तथा उनमें वीरत्व-का पुनरुत्थान और जाति अभिमानका संचार करानेके लिए क्या ऐसे प्रमाणपत्रोंको पुस्तकाकारमें वीरोंके फोटो सहित सुरक्षित करनेकी आवश्यकता नहीं?

वीरताके आदेश ।

१. वीर राजाका मित्र बनता है।

२. वीरकी आजीविका सुरक्षित होती है।

३. वीर विद्युत्सम फुर्तीला, बलवान् बाहुओंवाला, मार्गपर विजय पानेवाला, अपनी शारीरिक शक्तिसे शत्रुका संहार करनेवाला, समूहोंको जीतनेवाला, मशीनगन ॐ जीतनेवाला है।

४ ऐसे वीरको योग्य रीतिसे प्रसन्न करो ✿ [Cheer him befittingly]

वीर घाटगेके गुणकर्म ।

१ स्व० घाटगे बन चुका है।

२ ,, ,, ने वी० सी० द्वारा अपनी विधवा तथा बालककी आजीविका सुरक्षित कर दी है।

३ उपरोक्त सरकारी विज्ञप्तियोंको पढनेसे ज्ञात होगा कि ये सारे गुण और पराक्रम स्व० घाटगे रण-भूमिमें दिखा चुके हैं।

४ श्री घाटगेजी तो वीर-गतिको प्राप्त हो चुके हैं, परंतु उनकी विधवा, उनके बच्चे आदिका सन्मान सर्वत्र हो रहा है। यह लेख भी उसी उद्देश्यसे लिखा जा रहा है।

जरा गहरा विचार करनेपर पाठकोंको ज्ञात होगा कि स्व० घाटगेजीने इस आर्योंके वीर आदर्शके एक एक अक्षरको अपने जीवनमें अज्ञात रूपसे ढाला हुआ था और योग्य समय आनेपर रणभूमिमें गुणकर्म-स्वभावानुसार आर्य क्षत्रियत्वकी परीक्षामें शत प्रति शत गुण दिखाकर प्रथम श्रेणीमें उत्तीर्ण हो दिखाया !!! घाटगेजी ! जिस प्रकार आपने मरणोत्तर वी० सी० प्राप्त किया है, ठीक उसी प्रकार मैं आपको " आर्य क्षत्रिय " पदसे सुशोभित करता हूं। मृत्युञ्जय अमर रहे !!

५ हृदयविदारक छायाचित्र ।

सरकारी घोषणाओंके पश्चात् वृत्त पत्रोंमें वीरके फोटो छपे, उनका यश-गान हुवा, कई संस्थाओंने वीरके निकट संबंधियोंका आदर सत्कार किया, जोकि अबतक हो रहा है। परंतु वीरकी १७ वर्षीय विधवाके हृदयसे भी तो पूछो ! ८ मार्च १९४५ के टाइम्स आफ इण्डियामें एक फोटो छपा है, जिसमें वाइसराय महोदय लार्ड वैवेल यशस्वी पुरुषों वा मरणोत्तर उनके संबंधियोंको विक्टोरिया क्रास अर्पण कर रहे हैं। स्व० यशवंतराव घाटगेका वी० सी० पदक लाटसाहेब उनकी युवा विधवा लक्ष्मीबाईके हाथमें दे चुके हैं। बाईका हृदय भर आया है, टांगोंने लडखडाया है' नयनोंने नीर बहाया है, और वी० सी० को हाथमें थामें हुए दोनों हाथ पसारे निढाल होकर, वह पैरोंके बल बैठकर, परमात्मासे प्रार्थना कर रही हैं! कदाचित् कह रही है कि हे पतिदेव ! इटली प्रान्तके केरेन नगरकी रणभूमिसे १०।७।४४ के दिन सीधे स्वर्गको सिधारते समय मेरी और बालक हरिश्चन्द्रकी आजीविकाका जो स्थाई प्रबंध आप कर गए हैं, वह सन्मानसहित आज हमें मिल रहा है।

वाइसराय महोदय भी इस दृश्यको सहन कर न सके और बाईके हाथमें वी० सी० पकडा कर आगे चल पडे हैं।

बाईका इकलोता चार वर्षका अजान बालक हरिश्चंद्र सैनिक गण-वेश [Military Uniform] में माताके पास स्वस्थ खडा हुआ मानो उसे ढारस बंधा रहा है कि— " हे माते ! वीरगतिको प्राप्त हुए पतिदेवके वियोगमें रोना वीराङ्गनाओंका काम नहीं— विशेषतः जब कि उसने तेरे दिल बहलानेके लिए अपना अवतार मेरे शरीरमें ले लिया है। "

छायाचित्रका दृश्य समाप्त हुआ। परंतु पाठको ! मैं तो वीरके मातापिताका दर्शन करना चाहता हूं। उनका फोटो

ॐ मंत्रमें गोजितं शब्द है। दूरसे फैंके जानेवाले शस्त्रको संस्कृतमें गो कहते हैं, इसमें कृषिकारकी गोफन से लेकर बंदूक, तोप, मशीनगन आदि सब आजाते हैं। आंग्ल भाषाका गन = GUN संस्कृतका ' गो '।

✿ योरोपिअन देशोंमें तालियां बजाकर किसीको हर्षित करनेकी जो पद्धति है, उसका मूलाधार वेदवाक्य इमं वीरमनु हर्षध्वम् (ऋ० ६।९७।३) है।

कहीं नहीं छपा। कदाचित् वे अपने वीर-पुत्रका स्वागत करनेके लिए उससे पूर्वही स्वर्गलोकको सिधार चुके हैं! धन्य है ऐसी वीर जननी! धन्य है उसका पिता!! इन दोनोंके चरणोंमें मेरे शत शत नमस्कार!

सुहृदय पाठको! यह तो एक वीरका उदाहरणार्थ वर्णन किया है। अब भारतमाताके शेष २७ वीरोंकी केवल नामावली देकर मैं अपने कर्तव्यसे उऋण होना चाहता हूं।

६ १९३९-४५ के त्रिखण्डव्यापी युद्धमें वी० सी० प्राप्त भारतीय सैनिकोंकी नामावलि।

जात्यनुसार-हिन्दू २४, ब्रिटिश ३, मुसलमान १ = योग २८ वी० सी० ×

१ प्रेमेन्द्रसिंह भगत Indian Engineers Sappers and Miners, Abbysinia, 1941. ये वी० सी० प्राप्त करनेवाले इस युद्धके प्रथम भारतीय वीर हैं, १९४१ में इटलीके विरुद्ध युद्धमें आफ्रिका खण्डके हबश देशमें इनका पराक्रम अद्वितीय समझा गया था। ये जिवन्त हैं।

२. सूबेदार रछपाल राम राजपूत Rajputana Rifles पराक्रम दिखाते वीरगतिको प्राप्त हुए। वी० सी० उत्तराधिकारीको मिला।

३. ब्रिगेडियर ए० इ० कमिंग्स [Bregadier A. E Cummings] भारतीय सेनाके ब्रिटिश अधिकारी।

४. हवालदार प्रकाशसिंह- 8th Punjab Regiment.

५. सूबेदार लालबहादुर थापा 2nd Gurkda Rifles.

६. कम्पनी हविलदार-मेजर छेलूराम 4/6 Rajputana Rifles.

७. हवालदार गाजे घाले 5th Royal Gurkha Rifles.

८. नाईक नन्द सिंह- 11 th Sikh Regiment. वे सिख हैं। फोटो केसरी ३१।७।४५ में छपा था, जिसमें वे लार्ड माउंट बॅटनसे हस्तान्दोलन कर रहे हैं।

९. जमादार अब्दुल हफीज 9th jat Regiment.

१० सिपाही कमलराम 8th Punjab Regiment केसरी ३१।७।४५ में इनका फोटो छपा था।

११ बंदूकची = Rifleman गंजू लामा 7th Gurkha Rifles.

१२ मेजर जेरल्ड ब्लेकर [Gerald Blaker] officer 9th Gurkha Rifles

१३ नाईक अगन सिंह राय 5th Royal Gurkha Rifles.

१४ सूबेदार मित्रबहादुर थापा 5th Royal Gurkha Rifles.

१५ कॅप्टन Allmand 6th Gurkha Rifles.

१६. नाईक यशवन्तराव घाटगे 5th Maratha Light Infantry. इटलीके केरेन [Keren] नगरके रणक्षेत्रमें १०।७।४४ के दिन वीर गतिको प्राप्त किया। वी० सी० इनकी विधवा लक्ष्मीबाईको मिला।

१७ सूबेदार रामस्वरूप सिंह 1st Punjabees. जापान विरुद्ध ब्रह्मी युद्धमें शौर्य दिखानेके बदले ९।२।४५ के दिन मरणोत्तर [Posthumous] वी० सी० इनके उत्तराधिकारीको दिया गया (के० १३।२।४५) इनका फोटो 'केसरी' ३१।७।४५ के अंकमें छपा है। डाढी मुंडी होनेके कारण राजपूत, जाट, वा हिन्दू पंजाबी दिखाई देते हैं।

१८ सिपाही भंडारीराम 10th Baluch Regiment ब्रह्मी युद्धमें जापान विरुद्ध शौर्य दिखाया और ९।२।४५ को विक्टोरिया क्रास पाया (के० १३।२।४५) इनका फोटो केसरी ३१।७।४५ में छपा है। गढवाली, राजपूत वा जाट प्रतीत होते हैं। जिवन्त हैं।

१९ बंदूकची तुलबहादुर पुन 6th Gurkha Rifles ब्रह्मी युद्धमें जापान विरुद्ध पराक्रम दिखाते वीर गतिको प्राप्त हुए (के० ३०।३।४५) इनका फोटो के० ३१।७।४५ में छपा है, वहां उनको हवालदार बताया गया है, बंदूकची नहीं।

२० शेर बहादुर थापा 9th Gurkha Rifles ये भी ब्रह्मी युद्धमें जापान विरुद्ध पराक्रम दिखाते हुए

× प्रथम १५ नाम टाइम्स आफ इण्डिया मुम्बईके ३१।१०।४४ के अंकसे उद्धरित किए गए हैं। १६-२८ तकके १३ नाम केसरी पूनाके विविध अंकोंसे लिए गए हैं और (के० ३।११।४४) इस प्रकार तिथिसहित दिखाए गए हैं।

स्वर्गवास हुए (के० ३०।३।४५)

२१ सिपाही बंदूकची थामन गुरुंग 5 th Gurkha Rifles. इटलीमें जर्मनोंके विरुद्ध दिखाए हुए पराक्रमके बदले इन्हें मरणोत्तर वी० सी० मिला। इनका फोटो के० ३१।७।४५ में छपा है। ५ वीं गुरखा पलटनमें वी० सी० प्राप्त करनेवाले यह चौथे वीर हैं!

२२ नाईक ज्ञानसिंह 15 th Punjabees. २ मार्च १९४५ के दिन ब्रह्मी युद्धमें विलक्षण वीरता दिखानेके बदले इन्हें वी० सी० अर्पण किया गया (के० २५।५।४५) इनका फोटो के० ३१।७।४५ में छपा है, उससे ये सिख प्रतीत होते हैं।

२३ सिपाही नामदेवराव जाधव 5 th Maratha Light Infantry एप्रिल १९४५ में इटलीके रणक्षेत्रमें जर्मनोंके विरुद्ध दिखाए गए पराक्रमके बदले इन्हें वी० सी० दिए जानेकी सूचना ता० १९।६।४५ को अधिकृत रीत्या प्रसिद्ध हुई (के० २२।६।४५) इनका फोटो के० ३१।७।४५ में छपा है। वी० सी० प्राप्त करनेवाले ये दूसरे मराठा वीर हैं। ये नीमज, जि० अहमदनगरके रहवासी हैं। भारतमें आ चुके हैं। पूछनेपर कहा कि शेष आयु क्षेती आदि करके सुखसे वितीत करनेकी इच्छा है।

२४ नाईक ज्ञानसिंह राय 2-5 Royal Gurkha Rifles. जापान विरोधी युद्धमें इन्हें वी० सी० मिला। के० ३१।७।४५ में इनका फोटो छपा है।

२५ जमादार प्रकाशसिंह 13 th N. W. Frontier Force. ये ब्रह्मी युद्धमें जापान विरोधी पराक्रम दिखाते हुए वीरगतिको प्राप्त हुए। के० ३१।७।४५ में इनका जो फोटो छपा है, उसमें वे केश तथा दाढी रहित होनेके कारण राजपूत, जाट, वा गढवाली प्रतीत होते हैं।

२६ लेफ्टिनंट कर्मजीत सिंह जज्ज- 15 th Punjab Rifles. के० ३१।७।४५ के अंकमें इनका फोटो छपा है। ये मध्य-ब्रह्मी युद्धमें वीरगतिको प्राप्त हुए। ये सिख जातिके वीर थे।

२७ बंदूकची [Rifleman] लक्ष्मण गुरुंग 8 th Gurkha Rifles. के० २४।८।४५ में इस वीरका फोटो गांधी टोपी पहने हुए छपा है और निम्न वर्णन दिया है-

'इस वीरके दाएं हातकी उंगलिया गोलियोंके स्फोटसे उड गयीं। इतना होते हुए भी उसने टाँगडाके रणक्षेत्रमें अपने बाएं हातसे बंदूक चलाते हुए अकेलेने चार घंटोंतक शत्रुका सामना किया। उसके इस पराक्रमके लिए उसे वी० सी० दिया गया।' [टाँगडा ब्रह्ममें है—ले०]

७ नेपालके महाराजाका अभिनंदन।

राइफलमन लक्ष्मण गुरुंग नेपालके महाराजाकी सेनाका सदस्य होनेके कारण हिन्दुस्थानके सर सेनापति जनरल सर ऑचिन्लेकजीने महाराजाको अभिनन्दनपरक संदेश भेजा है।

चालू महायुद्धमें गुरखा पलटनोंने जीता हुआ यह १० वां वी० सी० है।×

२८ सूबेदार सदाशिव भोगले V. C. 2558 हिन्दी तोपखानाके मराठा अधिकारी। सरकारने अधिकृतरीत्या प्रकाशित किया है कि ये रणभूमीमें वीरगतिको प्राप्त हुए। (के० २८।९।४५)

इस महायुद्धमें वी० सी० प्राप्त करनेवाले ये तीसरे मराठा जातिके वीर हैं

८ शोध तथा बोध

१. महायुद्ध आरंभ होने अर्थात् सेप्टेम्बर १९३९ से पूर्व भारतीय सेनामें पूर्व परंपराके अनुसार मुसलमानोंकी संख्या हिन्दुओंसे अधिक थी। अब युद्ध समाप्तिपरभी यदि हिन्दू अग्रणियोंने प्रमाद दिखाया तो ऐसाही होनेकी संभावना है! अतः सावधान!

२. हिन्दू महासभाके आदेशानुसार महायुद्धमें हिन्दुओंने अधिक भाग लिया है। मध्यवर्ती विधिमंडलमें सरदार संगलसिंहके प्रश्नका उत्तर देते हुए युद्धमंत्री त्रिवेदीजीने

× गुरखा हिन्दुओंमें समाविष्ट हैं और वीरतामें समस्त संसारमें नामांकित है। इस महायुद्धमें २८ भारतीय सेनाके भागमें आये वी० सी० मेंसे सं० ५,७,११,१३,१४,१९,२०,२१, २४ तथा २७ ये १० वी०सी० गुरखा लोगोंने तथा सं० १३, १५ ये इनके आफीसरोंने प्राप्त किए हैं! धन्य हो!!!

प्रांतवार सेना भरतीके अंक निम्न प्रकार ता० ६।३।४५ की बैठकमें सुनाए—

" मद्रास २२.७; मुंबई ६.१; बंगाल ६.६; युक्त-प्रांत १३.८; पंजाब २९.९; बिहार ३.३, मध्यप्रांत वन्हाड १.९; आसाम ०.८; सरहद प्रान्त ४.०; सिन्ध ०.४; ओरिसा ०.६.

जातियोंका प्रमाण इस प्रकार है— हिन्दू ४७ टके, मुसलमान ३६, सिख ६, गुरखा ५, ख्रिस्ती ५ व इतर+ ७. " (के० १३।३।४५ से)

३. इतनी सहायता करनेके पश्चात् यदि सरकारने हिन्दू सैनिकोंको नौकरीसे अधिक हटाकर इन शान्तिके दिनोंमें [on peace footing] मुसलमानोंको पूर्वके समान सेनामें अधिक रखा, तो हिन्दुओंसे बडा ही अन्याय होगा और इन्हें बेकारी और दरिद्रता बडाही दुःख देगी ! अतः **हिंदू नेता सावधान रहें !!**

४. **नामधारी हिन्दू संपादक**— हकीकतों और आंकडों [Facts and figures] को नोट करते रहना वर्तमान पत्रोंके संपादकोंका मुख्य कर्तव्य है, परंतु दुःख है कि यह कर्तव्य किसी हिन्दू संपादकने पाला नहीं ! किसी मुस्लीम प्रेमी व्यक्तिद्वारा यह गप उडाई गई कि २७ वी० सी० मेंसे २४ हिन्दुओंके मिले और ३ मुसलमानोंको और सभी हिन्दू संपादकोंने कलकत्तेसे कराची, तथा कामोरिनसे कश्मीरतक इस असत्य समाचारको छाप डाला !! उन्होंने इतना भी न सोचा कि उनकेही पत्रोंमें समय समयपर छापे हुए वी० सी० प्राप्त पुरुषोंके नामोंसे इस बातका खंडन होता है !!! हमने भी तो उन्हींके आधारपर २८ वी० सी० ऊपर गिनाए हैं। अतः जिन वर्तमानपत्रोंने उक्त असत्य छापा है, उन्होंने ब्रिटिश आफीसरोंसे अन्याय और मुसलमानोंका (अपनी अज्ञानतासेही क्यों न हो) पक्षपात किया है। यही नहीं, हिंदुओंकी तुलनामें मुसलमानोंके आंकडे ३ गुना बढाकर दिखानेसे स्वयं हिन्दुओंसे भी अन्याय किया है !!! प्रायश्चित्तस्वरूप इन्हें सारी नामावली प्रकाशित करके जनताका भ्रम निवारण करना चाहिये।

५. देहलीके प्रकाश ऊर्दू साप्ताहिकने १४।१०।४५ के अंकमें लिखा है— एक मुस्लिम लीगी वकीलकी शिकायत है कि पंजाबमें २७ मेंसे २४ विक्टोरिया क्रास हिन्दुओंको और केवल ३ मुसलमानोंको दिये गये हैं, हालांकि आबादीके तनासबसे ५५ प्रतिशत इनका जन्मसिद्ध हक है। काशकी वह साहेब यह भी कहते कि दुश्मनकी गोलियोंका शिकार भी मुस्लिम सिपाहियोंको ५५ फी सदीके हिसाबसे होना चाहिए था।"

वकील साहेबको यह जानकर दुःख होगा कि मुसलमानोंके भाग्यमें केवल एकही वी० सी० आया है ! २८ वी० सी० सारी भारतीय सेनाके हिस्से में आये हैं, केवल पंजाबियोंके नहीं !

६. **जिन्हाजीसे प्रार्थना**— आप हकीकतों और आंकडोंसे बडा प्रेम किया करते हैं। साथही मध्यवर्ती तथा प्रान्तिक विधि-मंडलोंमें आपको हिन्दुओंसे अधिक अधिकार अभीष्ट हैं और पाकिस्तान तो मुसलमानोंके बलबोतेपर लेना चाहते हैं। यदि अल्लाहके इशारोंको आप समझते हैं तो उसने ६ वर्षोंकी दीर्घकालीन परीक्षा करवाके जो परिणाम प्रकाशित किया है उसके अनुसार मुसलमानोंकी बहादुरी हिन्दुओंके मुकाबलेमें अधिकसे अधिक $\frac{3}{२४}$ ही है !!! भारतमें मुसलमानोंकी आबादी हिंदुओंकी आबादीकी $\frac{१}{३}$ है ! अब आपको वस्तु-स्थितिका ज्ञान हो जाना चाहिए।

७. **गांधीजी तथा कांग्रेसका भ्रमनिवारण**- महायुद्धके उक्त परिणामने आपके इस मन्तव्यको खंडित किया है कि मुसलमानोंकी सहायताके बिना स्वराज्य-प्राप्ति असंभव है। जो हिन्दू ब्रिटिश साम्राज्यकी रक्षाके लिए बलिदान हो सकता है, वह स्वराज्य-प्राप्तिमें विघ्न डालनेवालोंसे भी निपट सकता है।

८. **हिन्दुमहा-सभाको उत्तेजना**—महायुद्धके उक्त परिणामने सिद्ध किया है कि हिंदूमहासभाका युद्ध—प्रयत्न सफल रहा है। जो लोग वीर सावरकरकी मुसलमानोंको दी गई मंत्रणापर संदेह किया करते थे वे स्वयं भी आज

+ ' इतर ' कदाचित् वन्य और पहाडी जातियां हैं। इनके, सिखोंके और गुरखा जातिके नाम " राम, कृष्ण, विष्णु सीता, राधा " आदि हिन्दुओंके नामोंसे मिलते जुलतेही होते हैं, अतः ये सब हिन्दुजातिमेंही गिनना चाहिए। ऐसा किया गया तो हिन्दुओंकी सहायता और बढ चढकर दिखेगी।

उन्हें वही मंत्रणा देंगे कि-हे मुसलमानो ! " आवोगे तो **तुम्हारे साथ, न आवोगे तो तुम्हारे सिवा, और यदि अडचन डालोगे तो तुमसे निपटकर भी स्वातंत्र्य प्राप्त करेंगे।**" क्यों ? हिन्दूजातिको निःपक्ष ब्रिटिश अधिकारियोंनेही मुसलमानोंसे कई गुना अधिक शूरवीर सिद्ध किया है !!!

९. २८ नक्षत्रोंकी दीपमाला – ' न क्षरति ' अर्थात् जो अनश्वर तारे हैं वे नक्षत्र कहलाते हैं। इनकी सख्या २७ है। वी० सी० प्राप्त वीरभी नक्षत्रोंकी भांतिही अमर हो चुके हैं और इनकी संख्या २८ है !!! अतः १९४५ की दीपावलिका प्रकाश सूर्य-प्रकाशको भी फीका कर डालेगा। कारण ? भारतमाता अपने २८ वीर-सुपुत्रोंकी नक्षत्रमाला अपने गलेमें डाल चुकी है। हिंदू, ईसाई, तथा मुस्लिम, इन तीनोंने स्वयंस्फूर्तिसे इस मालाके मोती बनना स्वीकार कर लिया है ! अतः माताका मूक संदेश है कि—

" पुत्रो ! मैंने आप तीनोंही नहीं अपितु अन्य अनेकों जातियोंको उत्पन्न किया, अपनी गोदमें खिलाया और पालन-पोषण किया है। इस दीपावलिकी नक्षत्रमालामें जिस प्रकार हिंदू, मुस्लिम, तथा ईसाइयोंने एकही प्रेममय सूत्रके वश होकर मेरी शोभाको चार चांद लगाया है, उसी प्रकार पुत्रो ! भविष्यमें भी तुम सब एकदूसरेसे मेलमिलाप करते हुए आनन्दित रहो और पाकिस्तानादि मातृ-शरीर-विच्छेदक योजनाओंका नामतक न लो। इसीमें मेरा हित है और आपका भी। "

१०. अन्तमें फिर अपनी मनीषाको दुहराता हूं कि हिन्दू-महासभा, आर्यसमाजादि कोई संस्था अथवा कोई धनाढ्य व्यक्ति इन वी० सी० प्राप्त वीर पुरुषोंके १९१४-१९, तथा १९३९-४५ तकके किए हुए पराक्रमोंको भारत सरकार तथा प्रान्तिक सरकारोंके नियतकालिकाओंसे + सर्व प्रथम आंग्ल भाषामेंही प्रत कराके पुस्तकाकारमें छपवानेका प्रबंध करे। इससे देशके बालकोंमें क्षत्रियत्व [Martial spirit]का उत्थान, एक नये वीर पुराणका निर्माण, वीरोंका सन्मान और सरकारके लिये भी भविष्यमें युद्धमें भरती करनेका काम आसान होगा। अतः चाहिए तो यह कि स्वयं सरकार-ही इस कार्यको करवाए।

+ Government of India Gazettes and Provincial Government Gazettes